अवश्यद्रष्टव्य.

अस्माकं मुद्रणालये वेद-वेदान्त-धर्मशास्त्र-प्रयोग-योग सांख्य-ज्योतिष-पुराणेतिहास-वैद्य-मंत्र-स्तोत्र-कोश-काव्य-चम्पू-नाटकालंकार-संगीत-नीति-कथाग्रंथाः बहवः स्त्रीणां चोपयुक्ता ग्रंथाः, बृहज्ज्योतिषार्णवनामा बहुविचित्रचित्रतो ऽयमपूर्वग्रंथः संस्कृतभाषया, हिन्दीभाषयाऽन्यतरभाषाग्रन्थास्तत्तच्छास्त्राद्यर्थानुवादकाः, चित्राणि, पुस्तकमुद्रणोपयोगिन्यो यावत्यस्सामग्र्यः, स्वस्वलौकिकव्यवहारोपयोगिचित्रचित्रितालिखितपत्रवत्पुस्तकानि च; मुद्रयित्वा प्रकाशन्ते सुलभेन मूल्येन विक्रयाय । येषां यत्राभिरुचिस्तत्तत्पुस्तकाद्युपलब्धये एवं नव्यतया स्वस्वपुस्तकानि सुमुद्रयिषुभिः सुलभयोग्यमौल्येन सीसकाक्षरैः स्वच्छोत्तमोत्तमपत्रेषु मुद्रिततत्पुस्तकानां स्वस्वसमयानुसारेणोपलब्धये च पत्रिकाद्वारातैःप्रेरणीयोऽस्मि । अधिकमस्मदीयसूचीपुस्तकानां भिन्नभिन्नविषयाणां प्रापणेन "श्रीवेङ्कटेश्वरसमाचार" पत्रिकाप्रापणद्वारा च ज्ञेयमितिशम् ।

KHEMRAJ SHRIKRISHNADAS,

"SHRI VENKATESHWAR" STEAM PRESS

BOMBAY.

खेमराज श्रीकृष्णदास,

"श्रीवेङ्कटेश्वर" (स्टीम्) यन्त्रालयाध्यक्ष—मुम्बई.

हिज़ हायनेस महाराजा रामेश्वरसिंहबहादुर—
दरभङ्गाधीश भारतधर्ममहामंडलाध्यक्ष.

MOST RESPECTFULLY DEDICATED

TO

HIS HIGHNESS MAHARAJA

Rameshwar Singh Bahadur

OF

Darbhunga

The Life-President of

'Bharat Dharm Mahamundal'

BY

Pundit Jwala Parasad Misra Mahopdeshak'

MORADABAD.

समर्पणम् ।

सकलराज्यश्रीनिकेतनाय प्रभुमंत्रोत्साहादिसमस्तशक्ति-
निवासाय श्रीसरस्वत्या एकायतनाय प्रजारंजनदक्षाय
गोब्राह्मणप्रतिपालकाय भारतधर्मस्थापकाय दरभ-
ङ्गाधिपाय श्रीमहाराजरामेश्वरसिंहवीरेत्याख्याय
विज्ञप्तिरियं यद्भवदीयेन भव्येन चारित्रेण नव्येन
गुणोत्कर्षेण महासारेण देशोत्साहेनातिविपु-
लेन सनातनधर्मप्रचारेण हृतान्तःकरणोयं
जनोऽनादिसिद्धसर्ववर्णाश्रमधर्मादिप्र-
तिपादकग्रन्थस्योपहारं भाष्यादियो-
जनयोपहारीकरोतीदं हिन्दीभाष्य-
कर्ता नाम्नायं ज्वालाप्रसादाख्यः ।

पंडितवर्य्य श्रीज्वालाप्रसादमिश्र महोपदेशक,

मुरादाबाद.

॥ श्रीः ॥

धन्यवादः ।

अहो प्रज्ञावन्तो महान्तः सन्तः । प्रायो न भवतामविदितं यतो विशालेऽस्मिन्वि-श्वस्मिन्वर्णद्वयमात्रतः संघटितस्यास्य वेदशब्दस्यार्थगांभीर्यं न केनाप्युच्चारयितुं शक्यत इति । येन धर्मार्थौ सञ्चीयेते येन निर्वाणपदवी सम्पाद्यते किं प्रायो लौकि-कालौकिकेत्याद्यनेकानि:श्रेयसपरंपरापारवारिधिरपीदमेव गण्यते, परंचार्वाचीनतनानां कलिप्रभावविभंजितप्रज्ञानामज्ञानां जनानां तदर्थसरणीदुरूहत्वेन प्रतिपाद्यत इति च यजुःसंहिताज्ञानसंपादनसारग्राहिणो जना भवेयुरित्यप्ययं कायकल्पद्रुम उत्पथ-गानुसारी न भवेदित्यत एव सुधाप्रतिस्पर्धिकटाक्षनिक्षेपपुरःसरं सकलकाव्यकोष-न्यायव्याकरणवेदादिविद्यानिर्भरांतरंङ्गैर्मुरादाबादपत्तननिवासिभिःश्रीमज्ज्वालाप्रसा-दमिश्रपण्डितप्रवरैर्विरचय्य यजुःसंहिताभाष्यं केवलमक्षरज्ञानाश्चाल्पमतयोपि भारतीयजनास्तत्तारतम्यगामिनः कृतास्तदिदं निरीक्ष्य विदुषामन्तरङ्गान्य-मन्दानन्दमनुभवेयुरिति किमु ! अहो निरवद्यमेवाद्यदिनमारभ्य भारतीयप्रजानां भूरिभाग्यप्रभावमहोदयः प्रादुर्भूत एवेति किमु संशयावसरः । बताद्य निर्विवादं विज्ञापयामो वयं यदेतादृशानां प्रज्ञावतां महतां सतां प्रादुर्भावः परोपकारार्थं लोकानुग्रहार्थमेव परंच दुर्विभाव्येऽस्मिन्कार्यगौरवे श्रीमज्ज्वालाप्रसादमिश्राणां पण्डितशिरोमणीभूतानां कोटिशः सानंदधन्यवादसमर्पणमेव समुत्सहतेन्तरङ्गम-स्माकम् । अन्यथा तु तदुपकृतिशतैरपि न पारयामो वयम् "यजुःसंहिताभाष्य-" नामकस्यास्य पुस्तकस्य श्रवणमननाध्ययनावलोकनवाचनचतुरगणामिन्द्रियग्रामः सानन्दं सत्पात्रतां प्राप्स्यतीति निःसंशयम् ।

तदिदं विचार्य सनातनधर्मानुयायिप्रजाभिरात्मकार्यगौरवसाधनायास्यैव ग्रन्थस्य संग्रहं कृत्वात्मजन्मसाफल्यं श्रीमज्ज्वालाप्रसादपण्डितवर्यपरिश्रमकार्तार्थ्यं च कुर्युरितिं सानन्दं प्रार्थयते—

क्षेमराज-श्रीकृष्णदासः

"श्रीवेङ्कटेश्वर" (स्टीम्) मुद्रणालयाध्यक्षः, मुम्बयीस्थः

अथ यथार्थ गृहचित्र ।

ईशान	पूर्व					अग्नि
	देवस्थान	कूप	स्नानगृह	मंथनगृह	पाकगृह	
	सर्वधाम				आलस्यस्थान	
उत्तर	[illegible]	अंगनभूमि.			शयनस्थान	दक्षिण
	औषध				मूत्रपुरीषोत्सर्गस्थान	
	रतिस्थान					
	धान्यगृह	रोदन	भोजनस्थान	विद्याभ्यास	अस्त्रगृह	
वायव्य			पश्चिम			नैर्ऋत्य

अस्मादि यथाशक्त्या लग्नादिकं वीक्ष्य शुद्धगृहं विधेयमिति ॥

अथ तिलक नाम मण्डल चित्र।

२६ मातृका.
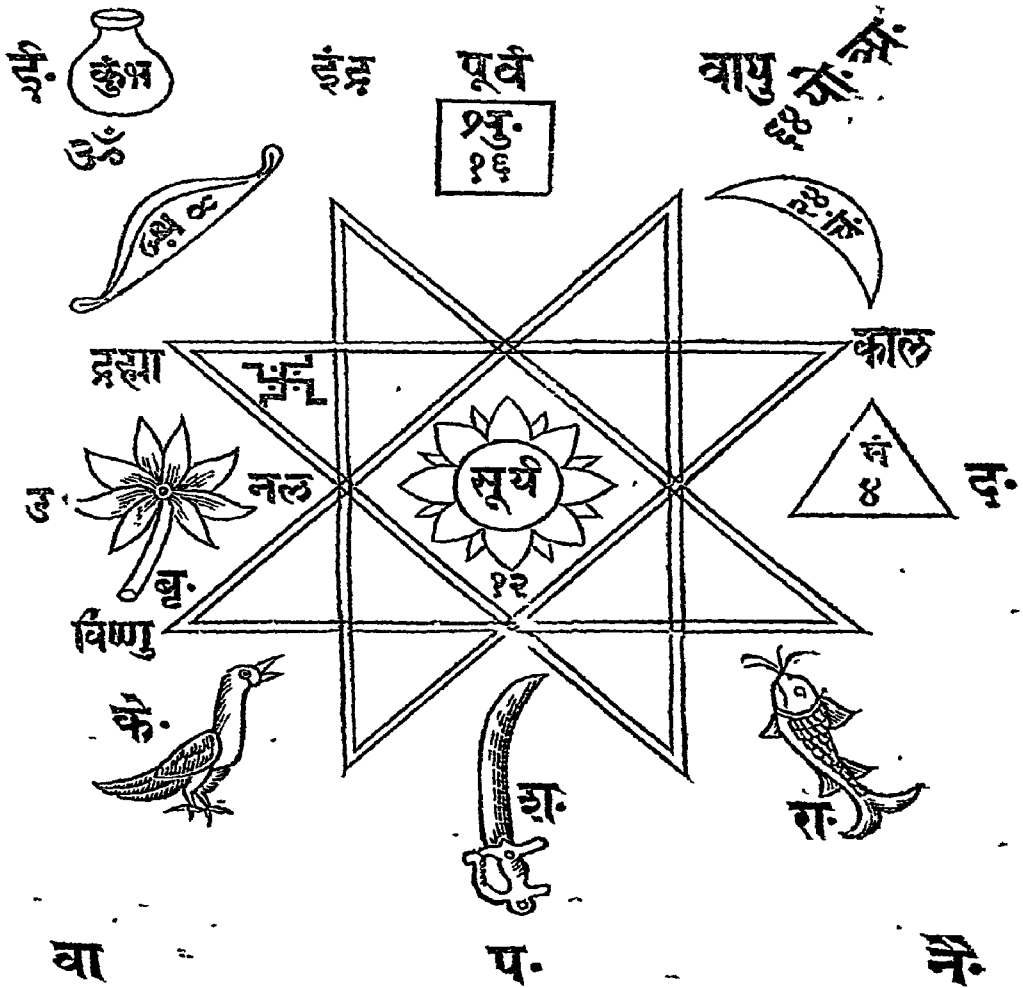
अथ पंचाग्निकुंडचित्र ।
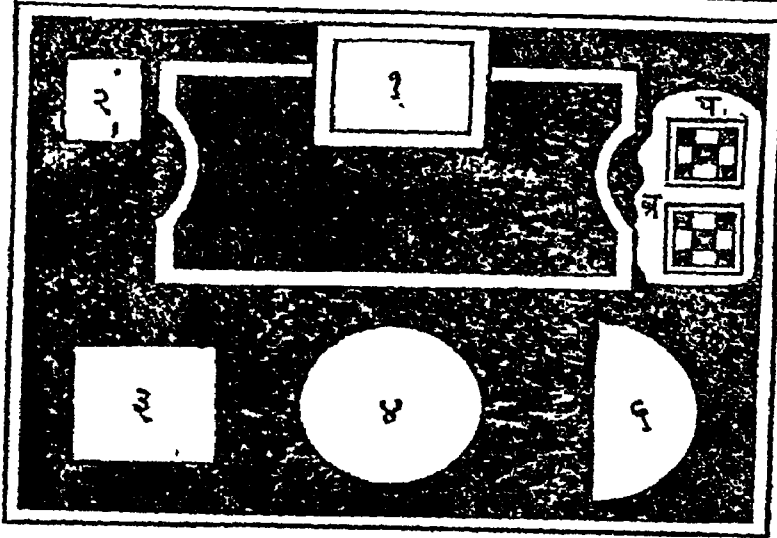
आहवनीयकुण्डम् १ आवसथ्यकुण्डम् २ सभ्यकुण्डम् ३ गार्हपत्यकुण्डम् ४ दक्षिणाग्निकुण्डमिति ५ ब्रह्मासनम्. यजमानासनम्.

अथ पात्राणामाकृतयः ।

आज्यस्थाली १

चरुस्थाली २

प्रणीतापात्रम् ३

पुरोडाशपात्रम् ४

स्रुवः ५ | उपभृतस्रुक् ६ | ध्रुवास्रुक् ७
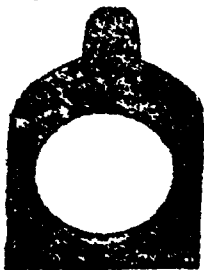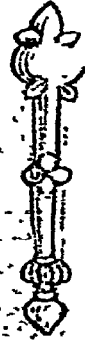
पुष्करस्रुक् ८ | अग्निहोत्रहवनी ९ | वैकङ्कतस्रुवः १०
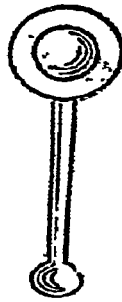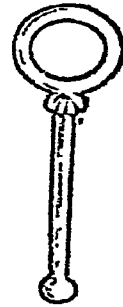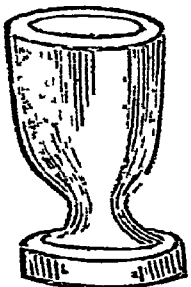
उलूखलम् ११ | मुसलम् १२ | शूर्पम् १३

१४ शम्या
१५ स्फ्यः
१६ शृतावदानम्
१७ उपवेषः
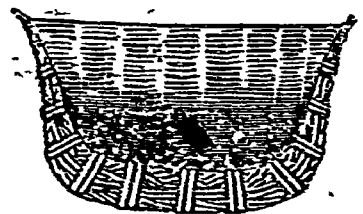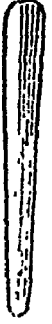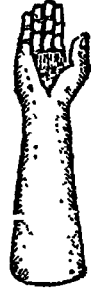
१८ कूर्चः
१९ दृषत्
२० उपलः
२१ षड्वर्तम्

२२ अग्निः
२३ अरणिः
२४ उत्तरारणिः
२५ मोविली
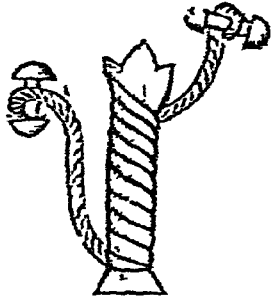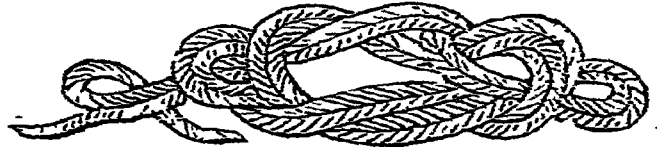
२८ अंतर्धानकटः २९ हविर्धानपात्री ३० प्राशित्रहरणम् ३१ चमसः
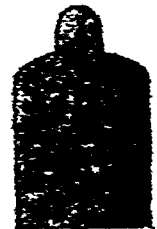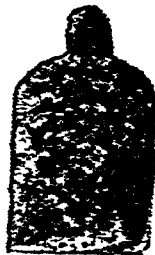
३२ इडापात्री ३३ यजमानासनम् ३४ पत्न्यासनम् ३५ होत्रासनम्
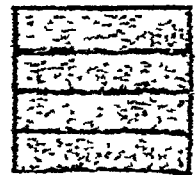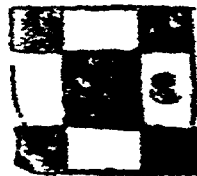
ब्रह्मासनम् ।
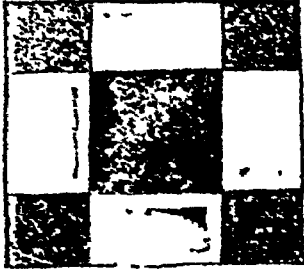
१७ यजमानस्यपात्री ।
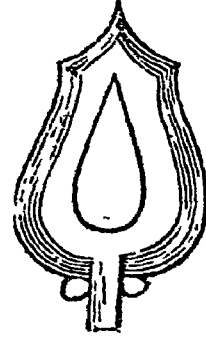
१८ पत्नीपात्री ।
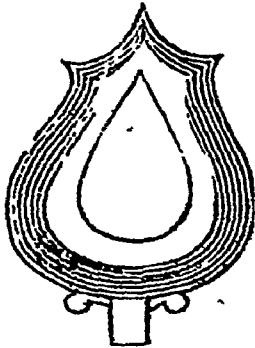
१९ कृष्णाजिनम् ।
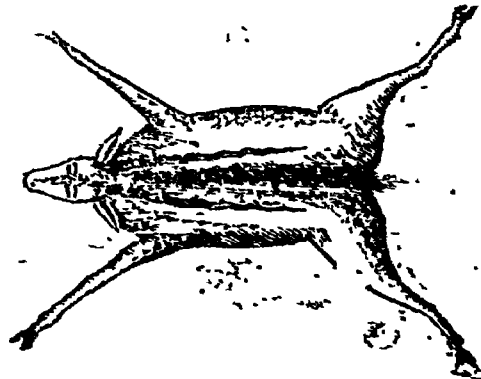
सर्वतोभद्र.
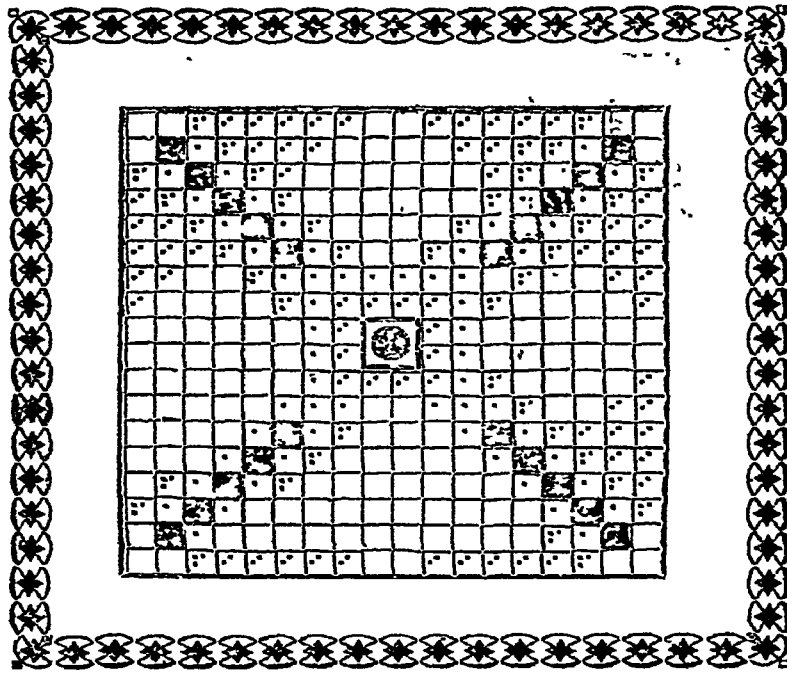
नांदीमुखश्राद्ध विवाहके प्रथम करना चाहिये। नांदी-श्राद्ध श्राद्धविवेक वा अन्य ग्रंथसे देखलें।

॥ श्रीः ॥

यजुर्वेदसंहितामिश्रभाष्य-भूमिका।

इस जगत्‌में सबका हितकारक प्रत्यक्ष यदि कोई सार पदार्थ है तो वेद है, यदि किसी पदार्थको ग्रहण करने योग्य कहकर परिचय दिया जाय तो वेदके सिवाय और कुछ वस्तु नहीं है, कल्याणकारी यदि कोई अविनश्वर सम्पत्ति अन्वेषण कीजाय तो एकमात्र वेद ही ऐसी सम्पत्ति है, वर्णाश्रमियोंका धर्ममूल यदि कुछ है तो यह वेद ही है, वेद ही आर्यधर्मकी भित्ति और एकमात्र अवलम्बन है, सब जाति और सब धर्मकी परम शत्रुरूप पापिनी राक्षसी नास्तिकता प्रायः सर्वत्र ही उपस्थित है, इससे यदि रक्षापानेका कुछ उपाय है तो वेद है, सनातन सिद्धान्तका वेद ही एकमात्र आगम परोक्ष वस्तु धर्मादिकोंका निर्भ्रान्त सूचनकरनेवाला एकमात्र वेद है, पुरातन राजर्षि महर्षि आदि इस वेदके प्रभावसे ही संसारी सुख सम्पत्तिके सर्वथा अधिकारी होकर भी परात्पर ब्रह्मकी प्राप्तिमें समर्थ हुए हैं. गोभिल, आश्वलायन, मनु प्रभृति महर्षिगण इस वेदके ही विधि निषेध वाक्योंका स्मरण और अनुशीलन करके सूत्र संहिता तथा स्मृति शास्त्र रचना कर गये हैं, मार्कण्डेय व्यासादि उपदेष्टाओंने वेदके ही आख्यायिका भागको पल्लवित करके विविध विस्तृत इतिहास पुराणका प्रचार किया है. कठ, वाल्मीकि प्रभृति महर्षियोंने वेदकी ही कविताका आश्रय करके आदिकवि नाम पाया है, याज्ञवल्क्य तथा पाणिन्यादि मुनिजनोंने जिसके बोधकी सरलताके निमित्त बहुत समयतक चेष्टा करके व्याकरण शास्त्रका प्रचार किया है. स्थौलाष्ठीवी, शाकपूणि, यास्क प्रभृति ऋषियोंने जिसका शब्दार्थ हृदयङ्गम करानेके निमित्त अंग शास्त्रका प्रचार किया है, जिसके भावगत विवादकी मीमांसा करनेके निमित्त जैमिनिप्रभृति महामुनियोंने जन्मपर्यन्त शिष्यपरम्पराका आयास प्राप्त किया है, महर्षि कपिलादि योगीगण ईश्वरादिविषयमें चाहे जैसा अभिप्राय प्रकाश करैं तथापि एकमात्र वेदकी दुहाई देनेसेही आस्तिकशिरोभूषण हुए हैं, बौद्धादिशास्त्रप्रणेतागण विज्ञान परलोक स्वर्ग नरक प्रभृति मानकर भी इस वेदकी अवमाननासे ही चिरकालके निमित्त आस्तिक समाजसे तिरस्कृत हुए हैं, जिस वेदकी रचनाका अनुकरण करके अनेक आधुनिक ग्रंथ आर्यावर्त देशके ललाटकर्मरेखाकी समान आजपर्यन्त देदीप्यमान हो रहे हैं, जिसके द्वारा शिक्षाको प्राप्तकर पुरातन आर्यगण अनेक अस्त्र, शस्त्र, व्योमयान, धूमयानादि निर्माण करके अपनी कुशलताका परिचय देगये हैं, जिनकी सन्तान उसके मूल अन्वेषणमें इस समयपर्यन्त स्तब्ध हुई बैठी है, इस आर्यभूमिमें सहस्रों वार

राजविप्लव राष्ट्रप्लवनादि परिवर्तनकारी अमोघ कारणोंके व्यतीत होनेपर भी अबतक जो वेद दृढ बन्धन मूलसे यथावत् सर्वत्र समुज्ज्वल रहा था, जिसके अनुशासनमें अनन्योपाय आर्यजनोंके गर्भाधानप्रभृति अन्त्येष्टिपर्यन्त संस्कार अवश्य ही करने होते हैं, अब भी जिसका शासन प्रत्येक आर्यगणोंके मनमें दृढ अंकित हो रहा है, जिसके कारण आदि सृष्टिमें विश्वम्भरकी एकही भाषा होरही थी, वर्णाश्रमोंका जीवनसर्वस्व वेद आर्यगणोंको सर्वथा अनुशीलनीय है, इसको कौन स्वीकार न करेगा, और इस प्रकारके अस्वीकारकारीको आर्यधर्मसे च्युत करनेमें कौन उपेक्षा करेगा ? हम आज इसी सनातन आर्यधर्मके मर्यादारूप परम पवित्र अनादि वेदके अनुशीलनमें सर्व साधारणकी प्रवृत्ति करानेके निमित्त देशीयभाषामें यथाज्ञान अनुवाद करनेमें प्रवृत्त हुए हैं ।

इस देशीय भाषाके भाष्यसे यदि और कुछ उपकार न होगा तो यह तो अवश्यही होगा कि, पुरातन समयमें दर्शपौर्णमास, अग्निष्टोम, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, यज्ञादिकोंका अनुष्ठान किस प्रकारसे होता था, किसी प्रकार भी हो एक वार तो भ्रातृगणके सोत्साह नयनाञ्चलावलोकित होनेसे ही मेरा श्रम सफल होजायगा और उनको अपनी भाषाके साथ देवभाषाका ज्ञान प्राप्त हो जायगा, यह हमारा स्थिर सिद्धान्त है कि इस महान् उद्योग, महत्कार्य, बडे परिश्रम, बडी क्षमता, बडे व्ययसे वेदधर्ममें उत्तेजकता प्राप्त होगी ।

आस्तिक जनोंमें भला बुरा विधि निषेध अपनी बुद्धिसे कल्पना नहीं किया जाता है किन्तु जिसकी वेदमें विधि हो वही धर्म और जिसका निषेध हो वही अधर्म कहाता और अधर्मसे अधोगातिकी प्राप्ति होती है, इस कारण सज्जनोंके श्रेयसाधनके निमित्त सर्व साधारणके बुद्धिगम्य होने योग्य वेदार्थ करनेमें प्रवृत्त होतेहैं.

वेद-ऋक्, यजु, साम, अथर्व इन चार अंशोंमें विभक्त है, पद्यमय रचनावलि ऋक्, गीतिमय रचनावलि साम, और शेष यज्ञमय गद्यपद्य रचनाका नाम यजु है, इस प्रकार रचनाके अनुसार वेद विभागसे पूर्व इस समस्त रचनाका नाम त्रयी विद्या है, इन्हीका एक अंश प्रत्यक्ष फलप्रद मोहन उच्चाटनादि उपयोगी यज्ञादिके प्रकरणमें स्वतंत्ररूप अथर्वके नामसे विख्यात है अर्थात् बृहदंशको त्रयी विद्या और लघु अंशको अथर्व कहते हैं, इन्ही अंशोंका वेदव्यासजीने पृथक् विभाग किया है, यहां यह भी जान लेना उचित है कि जिस समय त्रयी विद्यासे यज्ञका व्यवहार होता है, उस समय अथर्वकी आवश्यकता नहीं होती, और अथर्वके अनुसार यज्ञानुष्ठान करनेसे त्रिभागीकृत बृहदंशकी आवश्यकता नहीं होती अर्थात् त्रयी कर्म परस्पर सापेक्ष हैं, इसी कारण शास्त्रोंमें जहां तहां त्रयीका

उल्लेख किया है, जैसा कि अश्वमेध यागमें ऋक् यजु साम इन तीनों भागोंसे व्यवहार होता है, और तीनों एकत्र दुर्लभ हैं इस कारण तीनों भागोंको उपस्थित करना होता है पर अथर्वकी अपेक्षा नहीं होती इसी प्रकार अथर्ववेदीय श्येनादि यागानुष्ठानमें प्रयोजनीय गीति ऋक् यजुके मन्त्र एकत्र अथर्वमें ही सन्निविष्ट प्रयुक्त हैं इससे इसमें त्रिभागीकृत बृहदंशकी अपेक्षा नहीं होती, इससे त्रयी विद्याके कर्मसे अथर्व वेदके कृत्य भिन्न हैं ।

इसप्रकारसे यह चार वेद कहाते हैं, अब यह विचार कर्तव्य है कि प्रथम हमको किस वेदका अवलम्बन करना चाहिये, जिसमें धन्य यशके देनेवाले प्रशस्त पारलौकिकादि कार्योंका अनुष्ठान भलीप्रकारसे देदीप्यमान हो रहा हो और पुरातन पुरुषोंका भी जिसमें क्रम प्राप्त हो, यह विचार कर प्रथम त्रयी विद्यामें ही परिश्रम करनेमें प्रवृत्त हुए हैं ।

इन तीनों वेदोंमें ज्ञान कर्म उपासना कहीं मिश्रित कहीं अमिश्रित भावसे विद्यमान है, उनमें ज्ञान अवलम्बन करके पूर्वापरका निर्णय और कर्म लेकर पूर्वापरका अनायास ही निर्णय करनेवाले, तथा अन्तःकरणकी शुद्धिमें यजुर्वेदीय मन्त्रोंका प्रयोग ही यज्ञमें भित्ति रूपसे संस्थापित हुआ है, कारण कि यज्ञके अनुष्ठानकी भूमि यजुर्वेद ही प्रस्तुत करनेमें समर्थ है, ऋग्वेदी इस भित्तिपर चित्र कर्म करनेवाला, और सामवेदी उस यज्ञके उपास्य देवताकी स्तुति करनेवाला है, इससे इस सामके द्वारा रंजित देहमें मणिमुक्ताहीरकादि आभरण स्वरूप है, यही बात सर्व वेदभाष्यकार सायनाचार्य सामवेदभाष्यकी भूमिकामें कहते हैं—

"जाते देहे भवत्यस्य कटकादि विभूषणम् ।
आश्रितम्मणिमुक्तादि कटकादि यथा तथा ॥
यजुर्जाते यज्ञदेहे स्यादृग्भिस्तद्विभूषणम् ।
सामाख्यमणिमुक्ताद्या ऋक्षु तासु समाश्रिताः" ॥

इसीप्रकार ऋग्वेदके दशम मण्डलमें ८ अष्ट० २ अध्यायकी अन्तिम ऋक्में इसीका प्रकाश किया है । यथा—

"ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्करीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः" ॥

---

१ बहुवचन देनेका तात्पर्य यह कि, अध्वर्यु प्रभृति तीन ऋत्विजके सहकारी होते हैं । यज्ञमें सोलह जनोंका वरण होता है, उनमें यजमान—यज्ञकरनेवाला । ब्रह्मा कार्यका देखनेवाला, यह दो इनसे व्यतिरिक्त १४ और उनमें अध्वर्यु, होता, उद्गाता यह तीन प्रधान ऋत्विक् और नेता, पोता, प्रस्तोता आदि उनके सहकारी होते हैं ।

अर्थात् अध्वर्यु पदमें प्रतिष्ठित यजुर्वेदी ऋत्विग्गजन यज्ञका शरीर निम्र्माण करते हैं, होतृपदवीमें आरूढ ऋग्वेदी ऋत्विग्गण स्तोत्र शस्त्रादि लक्षणात्मक ऋङ्मन्त्रसमूह पाठकर यज्ञको पुष्ट करते हैं, उद्गातृ पदको प्राप्त सामवेदी ऋत्विक् शाकरी प्रभृति ऋचा सामगान रूपसे परिणत करते यज्ञकी शोभा सम्पादन करते और त्रिवेदज्ञ ब्रह्मा नामक सबका देखनेवाला ऋत्विक् इन ऋत्विग्गणके दोष अदोषके प्रति लक्ष्य करके दोष दूर करता है ।

इस प्रकारसे सम्पूर्ण यज्ञोंकी मूलभूमि यजुर्वेद है यह बात सिद्ध हुई परन्तु सब यज्ञोंकी विधि केवल इसी वेदमें है ऐसा नहीं है, गवामयनसत्रकी विधि सामवेदमें विशेष रूपसे कही है, इसमें उसका बहुत थोडा वर्णन है, इस यजुमें उसका विधान नहीं है केवल देहमात्र कहीगई है इससे यह जानना कि ऋगादिमें यज्ञ है पर यजुर्वेदमें वह विधान विशेष रूपसे है, ऋग्वेदमें यजु सामके विधानको छोडकर दूसरे यज्ञोंके भी विधान हैं जिस प्रकार यजुर्वेदीय यज्ञमें अध्वर्युका कृत्य है ऋग्वेदी और सामवेदीय यज्ञमें भी इसी प्रकार अध्वर्युके कृत्यकी आवश्यकता होती है, परन्तु वह यजुर्वेद विहित मूल यज्ञके अनुकरणसे ही सम्पन्न होते हैं, जिसमें सर्व अंगकी विधि हो उसको प्रकृतियाग वा मूलयाग कहते हैं । और जिसमें अधिकांश वा स्थूलांश मूलयज्ञकी सदृश इस यागके निमित्त विशेष विशेष विधान हो किसी स्थलविशेषमें कुछ भेद दीखता हो उसको विकृतियाग कहते हैं, यजुर्वेदमें अध्वर्युके सम्पूर्ण मन्त्र श्रुत हुए हैं, इससे प्रायः समस्त प्रकृतियाग यजुर्वेदीय हैं ऋग्वेदमें उस उस यज्ञमें व्यवहार योग्य ऋचा और साममें उसीके व्यवहार योग्य गीति मन्त्र विहित हुए हैं ।

इस प्रकारसे वेदत्रयमें प्रथम कर्मकाण्डका मूलभूत यजुर्वेद ही प्रथम अवलम्ब जानकर प्रथम इसीका व्याख्यान करते हैं ।

इस यजुर्वेदकी १०१ शाखा अध्यापकगणोंके अध्यापनभेद शैलीभेद और देशभेदके कारण हैं, गुरुके निकट अध्ययन कर जिन जिन्होंने स्वदेशमें उन उन शाखाओंका प्रचार किया है वे वे शाखा उन्हींके नामसे विख्यात हैं किसी किसी मन्त्रका एक चरण किसी के दो चरण भेदको प्राप्त होगये हैं किसी शाखामें कोई २ मंत्र है ही नहीं उन शाखाके शासन करनेवालोंने जिस प्रकारसे अपने शिष्योंको उपदेश किया है वह उसी नामसे अबतक प्रसिद्ध हैं, यह शाखायें भी प्रायः इतनी ही वृहत् हैं, कितनी एक प्रायः लुप्त होगई हैं चरणव्यूहके समयमें ८६ मिलती थीं और भाष्यकारके समय १०१ प्राप्त थीं, इनमें किन्हीं २

शाखाओंमें तो मंत्रोंके बहुत ही भेद हैं, अर्थात् दूसरे प्रकारके विदित होते हैं, कठशाखा पृथक् ही है और किन्ही २ शाखाओंमें केवल पाठमात्रका भेद है, परन्तु औरव्या, आपस्तम्बी, बौधायनी, सत्याषाढी, हिरण्यकेशी, औधेया(औधेया) यह पांच प्रकारकी खाण्डिकेयकी समष्टिमें युक्त होकरही यह छः तैत्तिरीय शाखा-नामसे प्रसिद्ध हैं और इनमें परस्पर मंत्रोंका इतना अधिक भेद है कि, जैसे कृष्ण और शुक्ल इसीसे इन तैत्तिरीय शाखाओंको कृष्ण यजु और दूसरे भेदको शुक्ल यजु कहते हैं और भुक्त अन्न वमन करनेसे जिस प्रकार विकृत और विमिश्रभाव युक्त दृष्ट होता है, शुक्ल यजुके सम्बन्धमें कृष्णयजुको इसी प्रकार कहा है, इसी कारण गुरुदोषसे याज्ञवल्क्यद्वारा यह वान्त हुआ है इस प्रवादका आविर्भाव हुआ है, अर्थात् मूल मंत्रोंसे उसमें बहुत भेद पडगया है, अस्सी शाखा सम्पन्न शुक्ल यजुके मध्यमें वाजसनेयि ऋषिने भिन्न देशीय सत्रह शिष्योंको सप्तदश प्रकारसे अध्यापन और व्यवहार कराया इस कारण अध्यापन और व्यवहारके भेदसे सत्रह शाखाओंका आविर्भाव हुआ वे जाबाली, काण्वी, माध्यन्दिनी, शीपिया, तापनीया, कापाली, पौण्ड्रवत्सी, आवटिकी, पामावटिकी [वा परमावटिकी] पाराशरीया, वैधेया, वैनेया, औधेया, गालवी, बैजवी, कात्यायनीया, और सत्रहवीं वाजसनेयिसंहिता नामसे प्रसिद्ध है, इनमें भाष्यकारोंने प्रायः माध्यंदिनी शाखाका ही अवलम्बन करके भाष्य प्रणयन किये हैं और इसी शाखाका ब्राह्मण भी पूर्ण रूपसे प्राप्त है तथा यह मूल संहिता यजुका शुद्ध स्वरूप है, इस कारण हम भी इसी शाखाके भाष्य अनुवाद में प्रवृत्तहुए हैं, कण्वशाखामें और इसमें बहुत थोडा भेद है।

इससे यह भाष्य उसका भाष्य और यह अनुवाद उसका अनुवाद है इसमें प्रथम अध्यायसे लेकर दूसरे अध्यायकी २८ कण्डिका पर्यन्त दर्शपौर्णमास याग है, उसके परे अध्यायके अवशिष्ट भागमें पिण्डपितृयज्ञ तीसरे अध्यायमें अग्न्या-धान अग्निहोत्र अग्न्युपस्थान चातुर्मास्य, चतुर्थ अध्यायमें अष्टमा-ध्यायकी ३२ कण्डिकापर्यन्त अग्निष्टोम यज्ञ उसके परे पांच कण्डिकामें षोडशी-याग, अध्यायके अवशिष्ट अंशमें द्वादशाहादि, नवम अध्यायकी ३४ कण्डिका पर्यन्त वाजपेययाग, ३ कण्डिकासे दशम अध्यायकी ३० कण्डिका पर्यन्त राजसूययज्ञ, ३१ से अध्यायके शेष पर्यन्त चरकसौत्रामणि, एकादशसे १८ अष्टादशाध्यायपर्यन्त अग्निचयनादि, १९ से २१ अध्यायतक सौत्रामणि याग, २२ से २५ के शेष पर्यन्त अश्वमेधयज्ञ श्रुत हुआ है, २६ से शेष पर्यन्त पूर्व यज्ञोंका ही परिशेष भाग है, इनमें दर्श पौर्णमास और पितृयज्ञ यह इष्टि नामसे विख्यात हैं। अग्न्याधान प्रभृति होत्र नामसे प्रसिद्ध हैं, अग्नि-ष्टोमादि दूसरे यज्ञ पाशुक कहलाते हैं।

हमारी जीवनसर्वस्व यह धर्मरूप महामणि किसी समय हमारे प्रतिगृह प्रतिशरीरमें शिरोरत्नरूपसे देदीप्यमान थी, सर्वत्रही वेदकी ध्वनि प्रतिध्वनित होरही थी, असंख्य यज्ञ प्रतिवर्ष सम्पादित होते थे, किसी प्रकारकी किसीको शंका नहीं थी, देश आस्तिकता तथा धर्मकर्मके प्रभावसे भरा पुरा होरहा था, द्विजातियोंको सार्थ सस्वर वेद संहितायें कण्ठाग्र थीं, पर समय कभी एकरूप नहीं रहता, कालक्रमसे वैदिक क्रियाकाण्ड अज्ञानान्धकारमें मग्न होने लगा, जहां सब ही वेदज्ञ थे, वहां अब बड़े यत्नसे एक वेदज्ञ मिलता है, सो भी सार्थ वेद नहीं, पाठमात्रका ज्ञाता मिलता है, यदि इस समय सामगानेवालेकी आवश्यकता हो तौ उसका मिलना कठिन ही पड़ जायगा काशीसे कान्यकुब्जतक जो देश वेदविद्याका भंडार था, वहां अब वाराणसीमें ही एक दो विद्वान् वेदज्ञ पाये जाते हैं, सुयोग्य विद्वानोंको सम्प्रदायके आग्रहोंने ऐसा दृढ बन्धनमें आवृत किया है कि, वेद क्या है इस ओर कभी उनका ध्यान भी नहीं होता. कैसे खेदकी बात है कि, एक २ सम्प्रदायी ग्रंथोंपर २० वीस वीस टीके बन जांय और ईश्वरीय ज्ञान सबके मूलभूत वेदके अर्थविस्तार करनेके निमित्त दो चार भाष्य भी प्रस्तुत न होसकें, आज इस सुविस्तीर्ण भारतसाम्राज्यमें सुवेदज्ञ विद्वानोंका प्रायः अभाव कहनेसे अत्युक्ति न होगी, इस विषयमें बहुत कहना अरण्यरोदनमात्र है तो भी हम यदि भ्रान्तिपूर्ण नहीं हैं तो किसी प्रकार भी यदि कालकी चक्रगतिसे यह सुषमापूर्ण वैदिकसमय फिर उदयको प्राप्त हो, और सब प्रकारसे ईश्वरके धर्मकी सर्वत्र उन्नति हो इसी निमित्त सम्पूर्ण विद्वानोंको वेदधर्मके विस्तारमें प्रयास करना चाहिये, यही हमारा और सब महानुभावोंका कर्तव्य है और राजा प्रजाके मङ्गलका हेतु है ।

वदज्ञ और वेद धर्मके प्रायः अभाव होनेसे ही इस देशमें अनेक प्रकारके मतमतान्तरोंका विवाद चल पडा है, जिनकी निरन्तर चर्चाके कारण विद्यानुरागियोंको वेदधर्मपर विचार करनेका अवसर ही नहीं मिलता है, और परस्परके विवाद वैर तथा फूटसे ईश्वर और महाराज की दृष्टिमें तुच्छ होरहे हैं.

अब इससे अधिक और क्या दुःखकी बात होगी कि इष्टियज्ञकी बात तो बड़ी कठिन है द्विजातियोंमेंसे नित्यअनुष्ठानीय संध्यादि पंचयज्ञ तकका लोप होगया है, जहां वेदादिकर्म सम्पादन और अध्ययनसे पदवी प्राप्त थी वहां अब वेदका प्रेम भी भुला दिया है !

जब इस प्रकार वेदधर्म हमसे बहुत दूर होगया तब वेदके नामसे स्वार्थपरायण पुरुषोंने अनेक अर्थ कल्पनाकर अपने प्रयोजन साधनकरनेके निमित्त वेदार्थका

अनर्थ करदिया, और इस समय एकाध वेदकी टीका ऐसी छपादिया है जिसमें यज्ञादिका विषय सनातन परिपाटीका सर्वथा ही लोपकरके परमपवित्र वेदार्थको नवीन सभ्यतासे दूषित किया है जिस सभ्यतामें शौच, यज्ञानुष्ठान, पूजन, जप, तपआदिका लेश भी नहीं है केवल भोले मनुष्योंके मन लुभानेकें निमित्त ही मानो यह प्रयत्न कियागया है. वेदार्थ किस प्रकार किन साधनोंसे होता है इस बातकी ओर उन्होंने किंचिन्मात्र भी ध्यान नहीं दिया है, शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द ज्योतिष के आश्रय किये विना कभी वेदार्थ होना संभव नहीं है, किस पदको अक्षर को किस प्रकार उच्चारण करना यह शिक्षा है, इस मंत्रको किस कार्यमें लाना यही कल्प है, शब्दसिद्धि तथा स्वरज्ञान यह व्याकरणका प्रयोजन है, अर्थ न बदलजाय इसी कारण प्रत्येक मंत्रके साथ बराबर स्वरोंके चिह्न किये गये हैं, स्वरोंकी ओर ध्यान न करके वेदार्थ करना बडाही भ्रम है यद्यपि स्वरके विना कोई भी वाणी नहीं कही जासकती, अकारादि वर्ण मात्र ही किसी न किसी स्वरके आधीन हैं, इससे वे स्वरनाम से ही विख्यात हैं, कण्ठ तालुआदिक स्थानसे ऊर्ध्वभागगत उच्चारण होनेसे उदात्त, नीचभागसे उच्चारण होनेसे अनुदात्त और दोनोंके मिश्र भागसे उच्चारण होनेसे स्वरित होता है। इससे कोई पदभी उदात्त अनुदात्त स्वरितभेदसे शून्य नहीं है, जैसे मृत्तिकारहित भूमिको कोई धारण नहीं करसकता इसीप्रकार स्वरवर्णको स्वरशून्य कर कोई उच्चारण नहीं करसकता, व्याकरण शास्त्रके अनुसार तीन प्रकारकी अशुद्धि होती है, वर्णकी अशुद्धि और मात्राकी अशुद्धि, स्वरकी अशुद्धि यह दोष प्रकृत अर्थके बोधमें व्याघात होते हैं वह अर्थ अनर्थ रूपसे प्रतिपादक होते हैं, यथा सकलके स्थानमें शकल लिख जाय तौ सबका अर्थ न होकर खण्डका अर्थ हो जायगा, तौ यह अनर्थ अर्थ हो जायगा, इसीप्रकार एक मात्रा ह्रस्व, दो मात्रा दीर्घ, और त्रिमात्रा प्लुतके उच्चारणमें व्यतिक्रम हो तौ भी अशुद्ध हो जायगा, और उदात्तादि स्वरके व्यतिक्रमसे भी अशुद्धि दोष होगा, यथा देवदास इस पदमें समास है, तौ देवका दास इस अर्थमें षष्ठीतत्पुरुष, देव है दास जिसका इस अर्थमें बहुव्रीहि, देव नामक दास इस अर्थमें कर्मधारय समास होता है, तब क्या निर्णय किया जाय, इसके निर्णय करनेका उपाय स्वरही है, देवदास इस शब्दमें चार स्वर हैं, इनमें यदि दूसरा स्वर उदात्त उच्चारित हो तो यह बहुव्रीहि, यदि चतुर्थ उदात्त उच्चारित हो तो तत्पुरुष, दूसरा और चौथा दोनों ही उदात्त उच्चरित हो तौ कर्मधारय होता है, इसी प्रकार दन्त्यसकारके उच्चारण स्थलमें तालव्य वा मूर्धन्यका अनियम उच्चारण करनेसे दोष होता है, ह्रस्वके उच्चारणमें दीर्घादि उच्चारणसे दोष होता है यथा—

"दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात्" ॥

जो शब्द वर्ण मात्रा वा स्वरसे मिथ्या प्रयुक्त होता है वह उस अर्थको न कहकर वाणीरूप वज्र होकर यजमानको नष्ट करता है जैसे इन्द्रशत्रु इसमें स्वरका अपराध होनेसे इन्द्रने वृत्रको मारा इससे व्याकरणमें जैसी मात्रा, वर्ण-शुद्धिकी आवश्यकता है इसीप्रकार स्वरशुद्धिकी भी बडी आवश्यकता है उदात्तका चिह्न नहीं है स्वरित (।) खडी पाईका चिह्न है अनुदात्तका (–) चिह्न है । [यह क्रम समस्त संहितामें जानना] तब जो भाष्य स्वरज्ञानके विना केवल कपोलकल्पना किया जाय तथा अंगोंसे रहित हो उससे क्या कभी श्रेयकी संभावना होसकती है? कभी नहीं. ऐसे वेदांगशून्य टीके वा भाष्यसे किसी प्रकार सत् अर्थ प्राप्त होनेकी संभावना नहीं है, और ऐसे ही स्वर कल्प ज्योतिष [मुहूर्तादि] अंगहीन भाष्योंमें देवाराधन, भजन, पूजन, श्राद्ध, अवतार, नामस्मरण, अघमर्षण, स्वर्गादि लोक, पातिव्रत्य, ध्यान, धारणा, समाधि आदि प्राचीन सनातन धर्मोंका लोप होकर कमेटी, रेल, तार, एक स्त्रीके एकादश पति, खान पानकी एकता, जाति वन्धनका ह्रास, यज्ञका लोप, तिव्वतके आर्य, शिखासे बुद्धिलोप आदि विषय दिखाई देने लगे हैं, यह किस कल्प शिक्षा और ब्राह्मण भागके अनुसार हैं सो वतानेवाला कोई भी नहीं है, इन विषयोंमें संस्कृत भाषाशून्य पुरुषही अपने अनुकूल वदार्थको देखकर उसके माननेमें शिर हिला देते हैं, और कुछ थोडी समझके पुरुष वेदमें लोकवादके सिवाय कोई अलौकिक वात नहीं कुछ चमत्कार नहीं ऐसा कहकर उदासीन हो जाते हैं, तथा इनमेंही एक कोटी ऐसी है कि जो वेदार्थको अपनी बुद्धिके अनुकूल पाया तो कहा कि, ठीक है, यदि उनके स्वभावके विरुद्ध हुआ तो कह दिया कि यह वनाया अर्थ है ठीक नहीं, करना धरना कुछ नहीं चलो छुट्टी होगई, इस प्रकारसे शुद्ध सनातन परंपराक्रमागत वेदधर्मका ह्रास संस्कृत विद्याकी न्यूनताके साथ साथही होता चलाजाता है, और रही सही वेद नाम की जो श्रद्धा थी वह भी गुप्त होती जाती है. कारण कि, वेदार्थ करनेके निमित्त पाश्चात्य अनुकरणकी ऐनक लगाई जाती है ।

इस प्रकार वेदधर्मका ह्रास देखकर वहुत समयतक मनमें ही विचार करता रहा कि किस प्रकार द्विजातियोंके हृदयमें फिर वेदधर्मकी मुर्झाई हुई शाखा हरित होकर पल्लवित होजाय, किस प्रकार वैदिक दृढ पुरातन रीतियें कर्मरेखाकी समान भारतीयोंके हृदयमें अंकित होजाय, किस प्रकारसे यह आलस्य त्यागकर कर्मकाण्डके प्रेमी होजाँय और गौरवयुक्त वेदधर्मकी मर्यादा पालन करैं तो

सत्संग और संस्कृत विद्याकी उन्नतिके विना और कोई उपाय समझमें नहीं आया, परन्तु संस्कृतकी उन्नति क्या आज हो सकती है अठारह करोड भारतवासियोंके लिये बराबर कहा जाता है कि इनकी मा मर गई है, यह बूढी माकी ठटरी छातीपर आजतक चरण रखते हैं तो क्या इनमें कोई एकभी ऐसा माईका लाल नहीं है जो बुढापेमें इस अपनी माताका पालन पोषण करे, इस समय भारतजननी बडी अभागी है पर धन्य न्यायपरायण श्रीमान् सर एन्टनीमेकडानल जी. सी. एस. आइ. लेफ़टिनेन्ट गवर्नर महोदय कि तुमने अपने दरबारमें इस बूढी को आसन दिया और धिक् है उन भारतीय सन्तानोंको जो अबभी माता का पक्ष न करके कहते हैं कि यह बाहर भीतरसे एकसी न्हाई धोई, माला तिलकधारिणी, पवित्र स्थल देवोद्यानविहारिणी हाथमें सुमिरनी ले खडाऊंपर चढनेवाली तख्तपर बैठनेवाली काली बुढिया हमारी माता होनेके योग्य नहीं है, तब ऐसे होटलके विहार समयमें सत्संग तथा संस्कृतका अध्ययन बडा कठिन हो रहा है, तब फिर दुरूह विचारमें पड़कर यह विचार किया कि वेदके पुरातन भाष्योंका अनुवाद करके ही आस्तिक सज्जनोंके सन्मुख धराजाय तब यह विचार आया कि ऐसा होनेसे तो वेद अधिकारी अनधिकारी सबहीके हस्तगत होनेसे फलभेदकी आशंका है ऐसा समझकर फिर यही विचार किया कि जब इस समय अधिकारी अनधिकारी सबही चाहैं जौनसा मुद्रित ग्रन्थ लेसक्ते हैं, फिर इस अमूल्य वेदविद्यासे आस्तिक अधिकारी पुरुष क्यों वंचित रक्खेजायं, कारण कि इस समय विदेशी अशुद्ध अनुवाद और नवीन सामाजिक अनर्गल अनुवादसे श्रद्धावान् पुरुष भी वंचित होकर वेदको गौरवकी दृष्टिसे नहीं देखते, और उन प्रमाणशून्य उलटे अनुवादोंसे अनर्थकोही अर्थ समझनेलगे हैं तब यही विचार किया कि सर्व साधारण के समझने योग्य इस का देशभाषामें भाष्यकरके सत्य सनातन वैदिक धर्मको महात्माओंके सन्मुख उपस्थित कियाजाय जिस वैदिक धर्मके कारण यह संसार पूर्व कालमें धनअन्नसे परिपूर्ण था उसका दर्शन इस भाष्यके अवलोकनसे अवश्य होगा और एकवार इसका प्रभाव अधिकारी सज्जनोंके मनपर अवश्य पडेगा कारण कि यज्ञकर्म त्रिवर्ण के सिवाय अन्य करनेके अधिकारी नहीं हैं, जिससे कि उन्हींके गर्भाधानसे लेकर सब वैदिक संस्कार हैं, इससे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यही वैदिक कर्मके अधिकारी हैं, और वही इन यज्ञीय कर्मोंको ग्रहण करसकते हैं वेदका यथायोग्य अविकल अनुवाद कर बोधगम्य करना अति कठिन काम है, इससे टीकोंका अवलम्बन करना होता है परन्तु यह दुःखका विषय है कि इस समय इस यजुर्वेद संहितापर केवल उव्वट, महीधरको छोडकर कोई पूर्ण प्राचीन भाष्य प्राप्त

नहीं होता और यदि कहीं २ कुछ २ प्राचीन टीका पाई जाती हैं परन्तु उनका भावभी मूलकी समान दुर्बोध है इस कारण उसमेंभी अर्वाचीन टीकाकारोंकी अनुकूलता प्रार्थनीय है, परन्तु नितान्त पश्चात्तापका विषय है कि आजकलके टीकाकार लोग साम्प्रदायिकता और दार्शनिकतादिदोषसंयुक्त हैं और बहुतसे ऐसे भी हैं कि जिन्होंने विज्ञानादिसे अनभिज्ञ होनेके कारण किसी २ स्थलको प्रौढतादिके द्वारा त्रुटि पूर्ण करनेमें त्रुटि नहीं रक्खी है, सिद्धान्त यह है कि यदि कभी अर्थशास्त्र रणशास्त्र, विज्ञान शास्त्र, चिकित्साशास्त्र, शिल्पशास्त्र, द्युशास्त्र, भूशास्त्र, गीतिशास्त्र, नीतिशास्त्र इत्यादि विविध शास्त्रोंका जान्नेवाला कोई पूर्णप्रज्ञ इस वेदरूप सागरके मथनेको कटिबद्ध हो तो वही इसका यथार्थ टीका या अनुवाद करनेमें समर्थ होगा, परन्तु उस समयभी इस कारण से कि आकाशचर वस्तुको मन कभी ग्रहण नहीं कर सकता न मस्तिष्क ऐसी वस्तुको स्थान देताहै, बुद्धि भी उसको चलायमान करनेमें समर्थ नहीं होती इत्यादि २ अंशोंकी अपूर्णता रह जायगी, कि जो उसके समयमें भी स्पष्ट न होगी इस यजुसंहिताके टीकाकारोंके समयमें पुरीष्य [गैस] अग्निका व्यवहार न होनेसे इसकी व्याख्या करनेके समय प्रौढतादिके बलसे जैसे तैसे अपना कार्य निकाल लिया है [समस्त अग्निचयनप्रकरण विशेष कर एकादश अध्यायकी नौमी कण्डिकाका भाष्य देखो ऐसेही वैद्युताग्नि विषयको भी ३३ अ०६१ कण्डिकाके व्याख्यानमें देखने योग्य है और भी अनेक स्थान हैं टीका और अनुवाद मिलाकर देखनेसे जाने जायँगे] इन्हीं समस्त कारणोंसे टीकाकारोंके अनुमोदन कियेहुए मार्गसेही मन्त्रोंका अनुवाद किया है तथापि जहां २ वैदिकभावकी स्पष्ट उपलब्धि हुई है वहांपर टीकाकारोंके अनुरोधको सर्वथा अङ्गीकार नहीं किया है ऐसा नहीं किंतु वह लिखकर नीचे टिप्पणीमें उस भावको खोल दिया है ।

किसी भी वैदिक शब्दका बनावटी पर्याय नहीं दिया है किन्तु टीके में वह शब्द लिखकर टिप्पणीमें विशेषरूपसे उसकी व्याख्या करदी है ऐसे पारिभाषिक शब्दोंकी एक स्थानमें व्याख्या लिखकर फिर वही शब्द आनेसे वैसी व्याख्या नहीं की है यदि ऐसा किया जाता तो भाष्य बहुत बढ जाता.

इस भाष्यके निर्माण करनेमें तैत्तिरीय संहिता, उपनिषद्, शतपथ ब्राह्मण भाग, कात्यायन कल्पसूत्र, याज्ञवल्क्यशिक्षा, आश्वलायनसूत्र, अनुक्रमणिका, सायनभाष्य, उव्वटभाष्य, महीधरभाष्य, निरुक्त, निघण्टु, व्याकरण, तथा खण्डित वैशंपायन भाष्य, हरदत्तकृतटीका, यजुर्यज्ञीयपद्धति, पिंगल, सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थोंकी सहायता लीगई है और इन्हीं ग्रन्थोंका प्रमाण अध्यायादि क्रमसे बराबर लिख दिया है जिसके अवलोकनसे उन २ ग्रन्थोंमें वह प्रमाण मिल सक्ते हैं भाष्यका क्रम

यह रक्खा है कि अध्यायके पहिले अनुवाकसूत्र लिखकर फिर कण्डिका तथा उसके मंत्रोंकी संख्या, फिर मंत्रके उपरान्त उसका ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग, कात्यायन कल्पसूत्रका अनुवाद लिखकर विधि, फिर मंत्रका अन्वययुक्त पदार्थ, भावार्थ, विशेष उपदेश, तत्त्वविचार, अध्यात्मअर्थ, पश्चात् शतपथ, निरुक्त आदि ग्रंथोंके प्रमाण, यज्ञरीति, ऋत्विगादिका विचार, इतनी बातें प्रत्येक मंत्रके साथ आवश्यकतानुसार लिखी हैं जिस मंत्रका पदार्थ कठिन होगया है उसके खोलनेको भावार्थ लिखा है, तथा यज्ञीय शब्दोंका टिप्पणीमें विवरण करदिया है, एक पुरुष-सूक्तके पढनेसेही भाष्यकी बहुतसी बातोंका भेद खुल जायगा ।

उपरोक्त ग्रंथोंकी सहायतासे तथा गुरुके चरणकमलोंकी कृपासे बहुतसे सनातनधर्मी महात्माओंकी प्रेरणासे मैंने यह भाषामें वेदार्थका विवरण करके इसका नाम मिश्रभाष्य रक्खा है और वेद ईश्वरीय ज्ञानका कैसा अथाह सागर है यहभी इसमें दिखा दिया है कारण कि बुद्धिमान् आस्तिक पुरुषको इसके एक २ मंत्रमें अनेक गूढ रहस्य लक्षित हो सकते हैं, इसका प्रत्येक मंत्र ध्यानसे पढने योग्य है, कि इसमें कैसी २ तत्त्वविद्या भरी हैं, तथापि मैं मुक्तकंठसे यह बात कहनेमें नहीं संकोच करता हूं कि जैसे कोई सागरमेंसे जलकी एक बूंद उठाले इसी प्रकार अपार वेदार्थ रूप सागरसे महानुभावोंके कहे मार्गसे एक बिन्दुरूप वेदार्थ ग्रहण कर मैंने सज्जनोंके सन्मुख उपस्थित किया है, आशा है कि सज्जन इसको अवलोकन कर और इसके अनुसार आचरण कर अवश्य परम सुखके भागी होंगे ।

यदि इस संहिताका आदिसे अन्ततक मन लगा कर पाठ किया जाय तो अनेक दिव्य चमत्कृत ज्ञानका अन्तःकरणमें अनुभव होसकता है, जो कहनेमें नहीं आता. इस संहिताके उपयोगी और भी अनेक उपकरण इसमें संयुक्त किये हैं यथा उपोद्घात [वैदिकविषयक मीमांसा तथा अनेक उपयुक्त विषय इसमें देखने ही योग्य हैं] सोमका विवरण, अध्यात्मयज्ञ, यज्ञीय पात्रोंका विवरण निर्माण मान आदि, यजुः संहिताके पद अक्षरोंका मान, अकारादि क्रमसे मंत्र, सूची, विषयसूची, याज्ञवल्क्यशिक्षा, वेदपारायणविधि यह सब सानुवाद लिखे हैं, और कात्यायनअनुक्रमणिका आदि विषय भी परिशिष्टमें सम्मिलित कर दिये हैं ।

इस प्रकार यह यजुर्वेदका मिश्रभाष्य सम्पूर्ण रूपसे अलंकृत कर सनातनधर्म-प्रचारक, परोपकारी विद्वन्मण्डलीमण्डन, जगद्विख्यात "श्रीवेङ्कटेश्वर" यंत्रालया-

ध्यक्ष सेठजी श्रीयुत खेमराज श्रीकृष्णदासजी श्रेष्ठिवर्यके निमित्त मुद्रित करनेको अर्पण किया है, कि जो अनेक प्रकारके धर्मसम्बन्धी ग्रन्थोंको छापकर सदा हमारे उत्साहको बढाते और दान मानसे सन्तुष्ट करते रहे हैं ।

पाठक महाशयोंसे प्रार्थना है कि यदि कहीं मात्रा अक्षरकी अशुद्धि पावैं तौं कृपाकर उसे सुधारलैं, कारण कि सज्जन गुणग्राही होते हैं मैं स्वयं अशुद्धिसे भरा हूं कारण कि-"जेहि मारुत गिरि मेरु उडाहीं । कहो तूल केहि लेखे माहीं"।"आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि । न हि सद्वर्त्मना गच्छन्स्खलितेष्वप्यपोद्यते" ॥

सज्जनोंका अनुगृहीत-ज्वालाप्रसाद मिश्र,
दिनदारपुरा-मुरादाबाद.

यज्ञपात्रवर्णन.

अथ यज्ञपात्राणि कात्यायनसूत्रे ।

वैकङ्कतानि पात्राणि १ खादिरःस्रुवः २ स्फ्यश्च ३ पालाशी जुहूः ४ आश्वत्थ्युपभृत् ५ वारणान्यहोमसंयुक्तानि ६ बाहुमात्र्यः स्रुचः पाणिमात्रपुष्करास्त्वग्बिलाहंसमुखप्रसेका मूलदण्डा भवन्ति ७ अरत्निमात्रःस्रुवोऽङ्गुष्ठपर्ववृत्तपुष्करः ८ स्फ्योऽस्याकृतिः ९ आदर्शाकृति प्राशित्रहरणम् चमसाकृति वा १० चत्वालोत्करावन्तरेणसञ्चरः ११ प्रणीतोत्करावतिष्टिषु १२

कातीये यज्ञपात्राणि सर्वाणि वैकङ्कतानि यथा उलूखलमुसलकूर्चेडापात्रीशम्याशृतावदानमेक्षणभूर्युपवेशान्तर्धानकटप्राशित्रहरणषड्वर्तब्रह्मयजमानासनहोतृषदनादीनि ।

अर्थ—यज्ञपात्र सामान्यतः विकङ्कत [बेहली, कंटाय] वृक्षके होने चाहिये यह स्वादुकण्टक और ग्रन्थिल कहाता है, चीतेके पैरकी समान इसकी जड़ होती है १ खैरका स्रुव २ तथा इसीकी सामान्य इष्टिमें स्फ्य होती है ३ जिससे अग्निमें आहुति दीजाती है, वह जुहू ढाककी बनानी चाहिये ४ जुहूके निकट धरी जाती है यह उपभृत् पीपलकी होनी चाहिये ५ उलूखल मूसल आदि होमसे पृथक् कार्यमें आनेवाले यज्ञपात्र सामान्यतः वरना वृक्षके होने चाहिये ६ जो एकस्थानमें निश्चल धरा रहै वह ध्रुवा विकङ्कतका होना चाहिये, तीनो स्रुवे बाहुमात्र[डेढ़हाथ] लम्बे हों, हाथके चुल्लूके बराबर मुखकी गहराईवाले त्वच भागकी ओरसे खुदे मुखवाले चीरी लकडीके भीतरसे जिनका मुख न खुदा हो हंसके मुखकी समान घृत गिरनेके निमित्त एक ढालू नाली जिनमें बनी हो मूल अर्थात् काष्ठके अग्र भागकी ओर जिनका दण्ड [मुख] हो ऐसे तीनो स्रुवे बनावै ७ स्रुवा चौबीस अंगुल लम्बा हो अंगुष्ठके पोरे प्रमाण गहरा और उतनाही गोलाकार मुख हो ८ तलवारकी आकृतिवाली [दुधारा खांडा] स्फ्य बनावै ९ दर्पणके समान गोल वा चमस तुल्य चतुष्कोण प्राशित्र प्रहरण बनावै १० उत्तर वेदी जिनमें बनाई जाती है ऐसे चत्वालवाले वरुणप्रघास महाहविष् पशुयाग और सोमयागोंमें चत्वाल और उत्करके बीचसे सबके निकलनेका संचर मार्ग होता है ११ दर्शपौर्णमासादि इष्टियोंमें प्रणीता और उत्करके मध्यसे संचर मार्ग माना जाता है १२

ऊखल मूसल कूर्च इडापात्री पुरोडाशपात्री शम्या शृतावदानमेक्षण अग्नि उपवेष अन्तर्धानकट, प्राशित्रहरण, षड्वर्त, ब्रह्मा यजमान और होताके आसन यह अहोम

संज्ञक पात्र वरनाके वनाने चाहियें क्रमसे लक्षण—"उलूखलं च मुसलं स्वायते सुदृढे तथा । इच्छाप्रमाणे भवतः शूर्पं वैणवमेव च ॥" अन्यच्च—"खादिरं मुसलं कार्यं पालाशः स्यादुलूखलः।यद्वोभौ वारणौ कार्यौ तदभावेऽन्यवृक्षजौ॥कौशः कूर्चो बाहुमात्रो मकराकार उच्यते । इच्छाप्रमाणा तु दृषत्प्रोक्ता पाषाणसंभवा ॥ उपलो वर्तुलः प्रोक्तो वितस्तिपरिमाणकः।इडापात्री तथा चान्यारत्निमात्रा प्रकीर्तिता ॥ प्रोक्ता हविर्धानपात्री विपुला द्वादशाङ्गुला । पिष्टपात्री च सैवोक्ता चतुरस्रा प्रकीर्तिता ॥ पुरोडाशस्य पात्री तु चतुरस्रा समानतः । खातेन वर्तुलेनैव युता यज्ञे प्रशस्यते॥शम्या प्रादेशमात्रीस्यात्खादिरः स्फ्यःप्रकीर्तितः।खड्गाकारोऽरत्निमात्रो वज्ररूपो मखे स्मृतः ॥ अङ्गुष्ठपर्वमात्रं तु तीक्ष्णाग्रं पृथुवक्त्रकम्।शृतावदानं प्रादेशमात्रदीर्घमुदाहृतम्॥ इध्मजातीयमिध्मार्धप्रमाणं प्रेक्षणं भवेत्।अग्निस्तीक्ष्णमुखा ज्ञेया खादिरारत्निसम्मिता॥ उपवेशोऽरत्निमात्रो हस्ताकारस्तु खादिरः।अन्तर्धानकटः प्रोक्तो द्वादशाङ्गुलसम्मितः॥अर्द्धचन्द्रसमाकारः किंचिदुच्छ्रितशीर्षकः।षडङ्गुलप्रमाणन्तु षड्वर्तं चतुरस्रकम्॥ तथा चोभयतः खातं वारणं तत्प्रचक्षते ।यजमानासनं पत्न्या आसनं च पृथक्पृथक् ॥ होत्रासनं तथा ब्रह्मासनं विस्तारयोगतः।अरत्निमात्राण्येतानि कथितानि मनीषिभिः॥

अर्थ—उलूखल मूसल काष्ठके होने चाहियें पत्थरके नहीं अच्छे पुष्ट और दृढ बने हों. लंबाई इच्छानुसार करै, अथवा नाभिमात्र ऊंचे करै, खैरका मूसल और ढाकका उलूखल बनावे, कहीं गूलरका बनाना लिखा है अथवा दोनो वरना वृक्षके बनावे, यह न हो तो अन्य यज्ञीय वृक्षके हों पर वरना मुख्य है, छाज वांसका ही हो सिरकी आदिका नहीं, कुशाका कूर्च बाहुमात्र मकराकार बनावे, अग्निहोत्रमें अग्निहोत्रहवणी व स्रुव कूर्चपर धरी जाती है, शिल पत्थरकी इच्छानुसार बनावे, लोढा गोल एक बिलस्तके परिमाणका हो, इडापात्री दो प्रादेश २४ अंगुल लम्बी, बीचमें संकुचित पतली निर्माण करै, भागपरिहरणके समयमें इसमें सब पुरोडाशादि हवियोंके अंश लेकर यजमानोंको ऋत्विज पांच भाग धरके उपहान करते हैं, इसीको पंचावत्त इडा कहते हैं दूसरी हविष धरनेकी बडी पात्रीको पिष्टपात्री कहते हैं, पुरोडाशपात्री १२ अंगुल लम्बी चौडी समचतुष्कोण अर्थात् जिसके भीतर सब ओर छः अंगुल अवकाश हो यह कितनीही हों, अर्थात् जिस इष्टिमें जितने पुरोडाश हों उतनीही पुरोडाश पात्री रक्खे, शम्या बारह अंगुल लंबी हो जिसे गाडीके जुएमें लगाते हैं जो लोकमें सैला कहाता है, यह इष्टियोंमें हविष पीसते समय उत्तरको अग्रभागकर शिलके नीचे लगाईजाती है, और सोमयागमें सोम ले चलनेके समय शकटमें बैल जोतनेके समय लगाई जाती है, यह खैरकी होती है, और स्फ्य खड्गके आकार अरत्नि (२४अंगुल) लंबा वज्ररूप होता है शृतावदान एक प्रादेशमात्र लंबा अंगुष्ठके पोरुएभर जिसका मुख मोटा चौडा हो अग्रभाग इतना तीक्ष्ण हो कि जिससे पक पुरोडाशके

टुकडे होसकें, इसीसे इसकी स्रुतावदान संज्ञा है, सामिधेनी ऋचाओंमें चढानेवाली समिधा जिन २ ढाक बेल कंभारी आदि वृक्षोंकी होती है उन्ही काष्ठोंमेंसे किसीका प्रादेश मात्र लम्बा अग्रभाग करके उसमें करछीके सदृश गोल अंगुष्ठके पोरुएकी समान व्यासवाला चरूके अवदान करनेका पात्र मेक्षण कहाता है, एक अरत्नि मात्र लम्बी अग्रभागमें तीक्ष्ण अभ्रि, वेदी खोदनेके निमित्त बनानी चाहिये, यह भी खैरकी हो, कपालोपधानादिके समय अग्निके अंगार संभालनेके निमित्त हस्ताकार खैरका एक अरत्निमात्र लम्बा उपवेश बनावै, आधे चन्द्रमाकी समान बारह अंगुलका अन्तर्धानकट कुछ ऊंचे शीर्षवाला बनावै, पत्नीसंयाजमें देवपत्नियोंको आहुति देते समय यह गार्हपत्य कुण्डसे पूर्वमें कियाजाता है, दोनोओर खानोंवाला बारह अंगुल लम्बा षड्वर्त होता है, इसमें आग्नीध्रके भोजनको द्यावा पृथिवी सम्बंधी दो भाग रक्खेजाते हैं,यजमानासन, पत्न्यासन, होत्रासन, ब्रह्मासन यह चौबीस अंगुल लम्बे हों, चतुष्कोण हौं वरनाके बनेहों, सब पात्र मूल जाननेके निमित्त मूलकी ओर कुछ गोल और मोटे रहैं, अग्रभागकी ओर वैसा चिह्न न हो।

नित्य अग्निहोत्रहोमके निमित्त अग्निहोत्रहवणीनामक स्रुव विकङ्कत का होना चाहिये पौर्णमासादि इष्टियोंमें यही प्रोक्षणीपात्र होता है, अग्निहोत्रहोमका स्रुव विकङ्कतकाही हो, पौर्णमासादिक स्रुव खैरका हो सोमयागमें ग्रहचमस और द्रोणकलशादिपात्र विकङ्कतके होने चाहिये उनमें हविर्धान [सोम ले चलनेका शकट] अधिषवण [सोमकूटनेकी चौकी] परिप्लवा संभरणीआदि होमसे भिन्न कार्योंके पात्र वरनाकेही हों, षोडशीयागका पात्र खदिरका हो, अश्वदाभ्यग्रहग्रहणका पात्र गूलरका हो, वाजपेययागमें ११ सोमग्रहपात्र और सत्रह १७ सुराग्रहपात्र वरणाकेही होतेहैं, कोई सुराग्रहपात्र मट्टीके कहते हैं, [सुरा लौकिक मद्य नहीं है यह एकप्रकारका शुद्धआसवरस पुष्टिकारक है.] यज्ञपार्श्व ग्रन्थमें यज्ञके चमस नाम सोम पीनेके पात्रोंका इसप्रकार वर्णन है.

"चमसानां प्रवक्ष्यामि दण्डाः स्युश्चतुरंगुलाः।
त्र्यंगुलस्तु भवेत्स्कंधो विस्तारश्चतुरंगुलः॥
विकंकतमयाः श्लक्ष्णास्त्वग्बिलाश्चमसाःस्मृताः।
[दशांगुलमिता दीर्घाश्चतुरंगुलविस्तृताः॥
चतुरङ्गुलखाताश्च दण्डास्तु द्व्यङ्गुला मताः।
षडङ्गुलमितोच्छ्रायास्तेषां दण्डेषुलक्षणम्॥]
अन्येभ्योवापिवाकार्यातेषांदण्डेषुलक्षणम्।
होतुर्मण्डलएवस्याद्ब्रह्मणश्चतुरस्रकः॥

उद्गातॄणांत्र्यस्त्रिः स्याद्यजमानः पृथुःस्मृतः ।
प्रशास्तुरखतष्टः स्यादुत्तष्टोब्रह्मशंसिनः ॥
पोतुरग्रेविशाखोस्यान्नेष्टुःस्याद्ग्रविगृहीतकः ।
अच्छावाकस्यरास्नाव आग्नीध्रस्यमयूखकः ॥
इत्येतेचमसाःप्रोक्ताऋत्विजांयज्ञकर्मणि ।
पलाशाद्वावटाद्वान्यवृक्षाद्वाचमसाःस्मृताः ॥"
"नैयग्रोधाश्चमसाश्चतुरस्राः प्रस्थोदकग्राहिणः ॥"
इति निगमेविशेषः । स्मृत्यर्थसारे-
"समित्पवित्रंवेदंचमुसलोलूखलंग्रहान् ।
नाभ्युखासन्द्युपरवाञ्छम्यान्त्स्रुक्पुष्कराणिच ॥
शाखास्वरुविषाणानिचरूणांमेक्षणानिच ।
कुर्यात्प्रादेशमात्राणि महावीरास्त्रयस्तथा ॥
द्रोणकलशः पलशतग्राही पारिप्लवाकृतिः ।
जानुमात्रमूलूखलंपालाशम्, पञ्चविंशतिपलमिडापात्रम् ।
मुसलंखादिरंत्र्यरत्नि । अरत्निप्रमाणाद्दृषदित्यादि" ॥

अर्थ-सब चमसोंकी डंडी चार अंगुल होनी चाहिये, उनकी डंडीके समीप तीन अंगुलके स्कंध हों, उनकी लम्बाई चार अंगुल हो यह सब विकङ्कतके हों, चिकने बनेहो. उनमें त्वचाकी ओरसे गडा खुदाहुआ हो [सब चमस दश अंगुल लम्बे चार अंगुल चौडे चार अंगुल खातवाले दो अंगुलके दण्ड और छः अंगुल ऊंचे हों] अथवा अन्य यज्ञीय वृक्षोंसे बनेहों पर उनके डंडोंमें ऐसे चिह्न करने चाहियें जिससे विदित होजाय कि, यह अमुक ऋत्विजका है, होताका गोलाकार, ब्रह्माका चतुष्कोण, उद्गाताका त्रिकोण, यजमानका हाथकी बराबर लम्बा, प्रशास्ताका नीचेसे छिन्न, ब्राह्मणाच्छंसीका ऊपरसे छिन्न, पोताका अग्रभागमें विशाखावाला, नेष्टाका अग्रभागमें गृहीत [जिसमें सब ओर दुहरी रेखा हों] अच्छावाकका रास्नाव, आग्नीध्रका मयूखके अग्रभागमें तीक्ष्ण हो, यह सब चमस यज्ञकर्ममें पलाश वा अन्य वृक्षोंके बनायेजांय, निगदमें इतना विशेष है कि, न्यग्रोधवृक्षसे बने चौकोन सेरभर जल समाने योग्य चमस हो, तथा समिध पवित्रवेद मुसल, उलूखल ग्रह नाभि हण्डी चौकी, उपरव, शम्या । चरुओंके स्रुव, शाखा, स्वरु, कृष्णाविषाणा, चरुओंके मेक्षण [कछीं] तीनों महावीर, यह सब प्रादेशमात्र बनावै सौपल रस समानेवाला तौंबेके आकार द्रोणकलश बनावें, जानुमात्र वा सवाहाथ लम्बा ढाकका उलूखल

यज्ञमें बनावै, पच्चीस पल रस समानेवाला इडापात्र बनावै, खदिरका मुसल ३ अरत्नि ढाई हाथका लम्बा हो, २० वा चौवीश अंगुलकी शिल होनी चाहिये ।

"आज्यस्थाली तैजसी वा मृन्मयी वा प्रकीर्त्तिता ।
द्वादशांगुलविस्तीर्णा प्रादेशोच्चा शुभा स्मृता ॥
आज्यस्थालीसमानैव चरुस्थाली प्रशस्यते ।
प्रणीता वारणा ग्राह्या द्वादशांगुलसम्मिता ॥
खातेन हस्ततलवदाकृत्या पद्मपत्रवत् ।
खादिरो बाहुमानस्तु जुहूस्रुक्संज्ञकः स्रुवः ॥
अरत्निमात्रो हंसास्यो वर्तुलोंगुष्ठपर्ववत् ।
अर्धपर्वप्रणाल्या च युक्तो नासाकृतिर्भवेत् ॥
उपभृत्स्रुग्ध्रुवास्रुक्च पुष्करस्रुक्तथैव च ।
अग्निहोत्रस्य हवणी तथा वैकङ्कतः स्रुवः ॥
एते चान्ये च बहवः स्रुवभेदाः प्रकीर्तिताः ।
वर्तुलास्याः शंकुमुखाः पर्वखाताः समानकाः ॥
अश्वत्थो यः शमीगर्भः प्रशस्तोर्वीसमुद्भवः ।
तस्य या प्राङ्मुखी शाखा उदीची चोर्ध्वगापि वा ॥
अरणिस्तन्मयी प्रोक्ता तन्मध्ये चोत्तरारणिः ।
सारवद्दारवं चात्रमोविली च प्रशस्यते ॥
संसक्तमूलो यः शम्याः स शमीगर्भ उच्यते ।
अलाभे त्वशमीगर्भादाहरेदविलम्बितः ॥
चतुर्विंशतिरंगुष्ठैर्दर्घ्यं षडपि पार्थिवम् ।
चत्वार उच्छ्रये मानमरण्योः परिकीर्तितम् ॥
अष्टांगुलः प्रमस्थः (प्रमन्थः) स्याच्चात्रं स्याद्द्वादशांगुलम्
ओविलीद्वादशैव स्यादेतन्मन्थनयंत्रकम् ॥
अंगुष्ठांगुलमानं तु यत्रयत्रोपदिश्यते ।
तत्रतत्र बृहत्पर्वग्रन्थिभिर्मिनुयात्सदा ॥
गोवालैः शणसंमिश्रैस्त्रिवृत्तममलात्मकम् ।
व्यामप्रमाणं नेत्रं स्यात्प्रमथ्यस्तेन पावकः ॥
मूर्द्धाक्षिकर्णवक्त्राणि कन्धरा चापि पंचमी ।
अंगुष्ठमात्राण्येतानि द्व्यंगुलं वक्ष उच्यते ॥
अंगुष्ठमात्रं हृदयं त्र्यंगुष्ठमुदरं स्मृतम् ।

एकांगुष्ठा कटिर्ज्ञेया द्वौ वस्ती द्वौ च गुह्यकम् ।
ऊरू जंघे च पादौ च चतुस्र्येकैर्यथाक्रमम् ।
अरण्यवयवा ह्येते याज्ञिकैः परिकीर्तिताः ॥
यत्तद्गुह्यमिति प्रोक्तं देवयोनिस्तु सोच्यते ।
अस्यां यो जायते वह्निः स कल्याणकृदुच्यते ॥
यजमानस्य पात्री च पत्नीपात्री तथैव च ।
मखे कृष्णाजिनं ग्राह्यं तदखण्डं विशिष्यते ॥

अर्थ–आज्यस्थाली चांदी वा मट्टीकी बनावै जो विस्तारमें बारह अंगुलकी प्रादेशमात्र ऊंची हो, आज्यस्थालीकी समानही चरुस्थाली होती है, प्रणीतापात्र वरनेका बनावै,यह बारह अंगुलका हो हथेलीकी समान खुदाहुआ आकृतिमें कमलपत्रकी समान हो, जुहूसंज्ञक स्रुवा खैरका बनाहुआ बाहुमात्र लम्बा हो, २४ अंगुल लम्बा हो अंगुष्ठके पोरुएके समान गहरा हंसके मुखकी समान घृत गिरनेके निमित्त ढालूनालीसे युक्त नासिकाकी समान आकृति हो, उपभृत्स्रुक् ध्रुवास्रुक्, पुष्करस्रुक्, अग्निहोत्रहवणी, वैकंकतस्रुव यह तथा औरभी अनेक स्रुवोंके भेद हैं यह गोलमुख शंकुमुख पर्वमें खुदेहुए समानही होते हैं । अब अरणीको कहते हैं, जो पीपल अच्छी भूमिमें उत्पन्न हुआ हो उसके मध्यमें शमीका वृक्ष उगा हो उसकी जो पूर्व उत्तर वा ऊपरको गई शाखा हो उसकी अरणी होती है उसीके मध्यकी उत्तर अरणी होतीहै और रचे हुए सारवाले काष्ठकी ओविली बनती है,जो शमीके मूलका काष्ठ है उसको शमीगर्भ कहते हैं, यदि शमीगर्भ न मिले तो ऊपरकेही काष्ठकी निर्माण करै २४ अंगुष्ठ लम्बी और छः अगुल चौडी हो, और चार अंगुलकी ऊंची हो यह अरणीका मान कहा है । अठारह अंगुलका प्रमन्थ होता है, १२ अंगुलका चात्र हो, ओविली१२ अगुलकी हो इस प्रकार यह मन्थन यन्त्र बनता है जहां जहां अंगुष्ठ अंगुलका मान दिया है वहां वहां बडे पोरुएकी ग्रन्थिसे प्रमाण मानै, गोवाल और सन मिलाकर तिलडी रस्सी करै यह रस्सी व्याममात्र*बडीहो इस्से अग्नि मथी जाती है शिर,नेत्र,कान,मुख,कन्धे यह सब एक अंगुष्ठमात्र हों, छाती दो अंगुलकी, अंगुष्ठ मात्र हृदय, तीन अंगुष्ठका उदर, एक अंगुष्ठकी कटि, दोकी वस्ती, अंगुष्ठका गुह्यस्थल, ऊरु, जंघा, चरण यह क्रमसे चार, तीन, एक अंगुष्ठके हैं, यह अरणीके अवयव यज्ञके ज्ञाताओंने कहे हैं, जो गुह्यस्थल है वही देवयोनि है, इससे जो अग्नि उत्पन्न होती है वह कल्याणकारी

* दोनों भुजाओंको मिलाकर जो घेरा बनता है उसे व्याम कहते हैं.

कहाती है, यजमानपात्री पत्नीपात्री अरत्निमात्रकी लेनी और यज्ञमें अखण्डित कृष्णाजिन मृगचर्म ग्रहण किया है, पीछे यज्ञपात्रोंकी आकृति और उनके नाम लिखे हैं। इति पात्रविचारः।

यज्ञव्याख्या।

द्रव्यं देवता त्यागः १ तदङ्गमितरत्समभिव्याहारप्रकरणाभ्याम् २ यजतयश्चाऽफलयुक्तास्तदङ्गम् ३ तिष्ठद्धोमावषट्कारप्रदानायाज्यापुरोनुवाक्यावन्तो यजतयः ४ उपविष्टहोमाः स्वाहाकारप्रदाना जुहोतयः ५ ब्राह्मणा ऋत्विजो भक्ष्यप्रतिषेधादितरयोः ६ दर्शनाच्च ७ विगुणे फलनिर्वृत्तिरङ्गप्रधानभेदात् ८ ८ प्रायश्चित्तविधानाच्च ९ तथा च दृष्टम् १० दृष्टे तत्परिमाणम् ११ ऋचो यजूंषि सामानि निगदाः मन्त्राः १२ मिथः सम्बद्धम् १३ तेषामारम्भेऽर्थतो व्यवस्था तद्वचनत्वात् १४ मन्त्रान्तैः कर्मादिसान्निपात्योभिधानात् १५ आघारे धारायां चादिसंयोगः १६ त आधुक्ताः १७ उपांशुप्रयोगः श्रुतेः १८ न सम्प्रैषाः १९ का० सू० अ० १ कं० २।३

अर्थ—पुरोडाशादि द्रव्य अग्नि आदि देवताओंके निमित्त त्यागना [आहुति-देना] यह यज्ञपदवाच्य है यही यज्ञ याग इष्टि और यज्ञादि कहाते हैं १ प्रधानयज्ञसे पृथक् अग्निउद्धरण, व्रतोपायन, ब्रह्मवरण, हविर्ग्रहण, हविःप्रोक्षणादि सब कृत्य उस प्रधान यज्ञके अंग हैं, कारण कि, ब्राह्मणभागमें इनको अंगरूपसे कहा और प्रधानका प्रकरण बांधा है २, पौर्णमासादि इष्टियोंसे भिन्न जिनका फल कुछ नहीं कहा है वे प्रयाज अनुयाजादि याग पूर्वाघारादिहोमभी प्रधान यज्ञके अंग हैं ३ जिनमें खड़े होकर होम कियाजाय और वषट्कार बोलनेपर त्यागवाक्यके अन्तके साथ जिनमें आहुति दीजाती है यथा [अग्नयेऽनुब्रू ३ हि] प्रैषके पीछे [अग्निर्मूर्द्धा०] इत्यादि होताके पढनेकी ऋचा, अनुवाक्य तथा [अग्निं यज] इत्यादि प्रैषके पढनेके पीछे [ये ३ यजामहे] से आरंभकर वौषट् पर्यन्त होताके पढनेकी ऋचा, याज्या कहीजाती है यह अनुवाक्या और याज्या जिनमें बोली जाती हैं वे यज्ञयागादि कहाते हैं ४ और बैठकर होम तथा स्वाहाकारसे जिनमें आहुती दीजाय वे होम हवनादि माने जाते हैं ५ अग्निहोत्रसे बचा दुग्ध ब्राह्मणोंसे भिन्न कोई न पिये, 'य एव कश्च पिबेत्तद्वैना ब्राह्मणः पिबेत्' श० २।३।१।३९ कारण कि, क्षत्रिय वैश्यादिको यज्ञ करानेका अधिकार नहीं है यह तथा 'प्रीणाति दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवान् ब्राह्मणाञ्छुश्रुवुषोऽनूचानान्' श० २।२।२।६ में लिखा है यज्ञमें ब्राह्मणोंको ही दक्षिणा दीजाती है अन्यको नहीं इस्से वेही अधिकारी हैं ६। ७ नित्य अग्निहोत्रादि कर्मके गौणा-

क्रममें कोई त्रुटि रहजाय और उसका प्रधानभाग ठीकठीक होजाय तो फलसिद्धि होती है. कारण कि, गौण और मुख्य भिन्न २ हैं, गौणकी हानिसे मुख्यमें बाधा नहीं पड़ती ८ अंगहीन नित्यकर्ममें प्रायश्चित्त कहनेसे सिद्ध है कि, फल होता है ९ देखाभी है कि, दूध न हो तो चावल वा जौसे हवन करै यह नित्यकर्म जिस किसी प्रकारसे हो करै यह शास्त्रान्तरमें कहा है, इससे सिद्धहै कि.कई अंगो- मेंसे किसीके छूटजाने पर अंगहीनभी श्रौतकर्म कर्तव्य मानना चाहिये.पर काम्यकर्म अंगहीन न करै, और आरंभके उपरान्त अंगहीन होजाय तो प्रायश्चित्त करके पूरा करै १० यदि आधी इष्टि होनेपर वर्षा आदि होजाय वा मनोरथपूर्ति होजाय तो भी उस कर्मको पूराकर छोडे बीचमें न त्यागे ११ जिनके पाद अक्षर और अवसान नियत हैं वे ऋचा, जिनमें पाद अवसानका नियम नहीं वे इषेत्वा आदि यजु, गान कर उच्चारण होनेवाले अग्ना इ० वाक्य साम कहाते हैं मंत्रब्रा- ह्मणोंमें पड़ेहुए अन्य ऋत्विजोंके जतानेके निमित्त कहेजानेवाले प्रैषवाक्य निगद कहाते हैं, यह वाक्य मंत्रही है उपांशु और निगद उच्चस्वरसे बोलेजाते हैं, प्रोक्षणीरासादय यजु० १ । २८ इध्मं बर्हिरुपसादय इत्यादि वाक्य संहिता और ब्राह्मणोंमें निगद कहाते हैं ११ यजुका जितना पदसमुदाय परस्पर एक दूसरेसे अन्वय सम्बन्ध रखनेवाला होता है वह एक वाक्य वा एक यजु कहाता है, और उतनाही वाक्य भिन्न २ एक एक कर्ममें विनियुक्त होताहै यथा इषेत्वा, ऊर्जेत्वा, वायवस्थ, इत्यादि एक एक वाक्यको एक एक यजु जानना चाहिये १२ उन मंत्रोंका विनियोग करनेमें विधान किये विषयका वर्णन करनेरूप सामर्थ्यसे व्यवस्था करनी चाहिये अर्थात् जो मंत्र जिस अर्थको प्रका- शित करे उसीका विनियोग उस काममें करना चाहिये, कारण कि, वह उसी करने योग्य कर्मरूप अर्थको कहता है, इससे विनियोगकी अव्यवस्था नहीं इसीसे उस उस मंत्रके विनियोगका नियम निर्धारित हो जाता है यथा [घृता- च्यसि जुहूर्नाम्ना] इससे जुहूका आसादन करना १३ मंत्रपाठकी समाप्तियोंके साथ कर्मोंके आदिका संयोग करना चाहिये, कारण कि, उसके अर्थका उस मंत्रमें वर्णन है, समिदाधानादि मंत्र पढनेके अन्तमें तत्काल कर्म करनेलगे, अर्थात् मंत्रान्तके साथ कर्मके आरंभको मिलादे १४ स्रुवमें घी भरने आदि आधारोंमें और वसोर्धारामें कर्मारंभके साथही मंत्रपाठारम्भ करै १५ जहां मंत्र ब्राह्मणमें थोडे अक्षरोंमें मंत्रप्रतीक कहेहैं वहां पूरे मंत्र पढने चाहिये यथा [यस्मान्नजात इत्येषा] इत्यादि १६ यजुर्मंत्रोंका सामान्यतः धीरे प्रयोग करै,

जहां विशेष कुछ होगा वह लिखेंगे १७ निगदपदवाच्य सम्प्रेष यजु अन्तर्गत होनेपरभी उपांशु न बोले ऊंचे स्वरसे बोले १८ आपस्तम्ब कहते हैं—अन्यत्राश्रुत-प्रत्याश्रुतप्रवरसंवादसंप्रैषेभ्यः १९ आश्रुत [ओम् ३ आश्रावय] प्रत्याश्रुत [अस्तु श्री ३ षट्] प्रवर [अग्निर्देवो देव्यो०] संवाद [संवदस्व अग्नानग्नीत्] तथा पूर्वोक्त संप्रेष निगद इनको छोड़ शेष यजु मंत्रोंको उपांशु बोलना चाहिये। अब इसके आगे यज्ञके अधिकारियोंका वर्णन करते हैं।

अथातोधिकारः १ फलयुक्तानि कर्माणि २ अङ्गहीनाश्रोत्रियषण्ढशूद्रवर्जम् ३ ब्राह्मणराजन्यवैश्यानाꣳ श्रुतेः ४ स्त्रीचाविशेषात् ५ रथकारस्याधाने ६ निषादस्थपतिर्गावेधुकेऽधिकृतः ७ [कात्या० श्रौ० सू०] अ० १ कण्डिका १

श्रौतकर्मका किसको अधिकार है सो कहते हैं। १ अधिकारीको जिन कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये वे अभीष्ट स्वर्ग धन और पुत्रादि देनेवाले हैं, निष्फल कर्ममें कर्ताका विचार नहीं किया जाता, पर फलयुक्त कर्मोंमें तो विचार कर्तव्य ही है। २ उन अपूर्व फलवाले कर्मोंका आरंभ मनुष्य कर सकते हैं इससे वे अधिकारी हैं, काने अन्धे बहरेआदि अंगहीन वेदके अज्ञाता नपुंसक और शूद्र इनका यज्ञमें अधिकार नहीं है, कारण कि, इनसे वह कार्य सिद्ध नहीं होता। ३ मनुष्योंमें ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यको अधिकार है, कारण कि, इनको श्रौत कर्मका संस्कार है। ४ इनके साथसे ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्याभी यज्ञकी अधिकारिणी हैं, कारण कि, यज्ञमें इन तीन वर्णोंकी स्त्रियोंको कार्य करने होते हैं, यथा—अदब्धेन० पत्न्याज्यमवेक्षेत इत्यादि इस मंत्रसे पत्नी आज्यको देखे इत्यादि यहां वेद पढ़नेकी बात नहीं है, किन्तु यज्ञ करनेकी बात है। ५ वर्षाऋतुमें रथकार अग्न्याधान करे यह ब्राह्मण भागमें देखनेसे रथकारका अग्न्याधानादि श्रौतकर्ममें अधिकार है, यह सुधन्वा जाति है जो वर्णसंकर है क्षत्रियसे वैश्यकन्यामें उत्पन्न माहिष्य वैश्यसे शूद्रामें उत्पन्न स्त्री करणी, करणीमें माहिष्य से उत्पन्न रथकार है, वा ब्रात्य वैश्यसे वैश्यकन्यामें उत्पन्न सुधन्वा होता है, आशय यह कि, यह संकर जाति है निषादको गावेधुक चरु बनाकर रुद्रयज्ञ करनेका अधिकार है गावेधुक गेहूंका बना पुरोडाश वा चरु, इस प्रकार मुख्य यज्ञोंका त्रिवर्णको और दो कर्मोंका रथकार और निषादको अधिकार है।

दीक्षाविधान।

यजमानको दीक्षामें सत्यवादी होकर नियमोंका पालन करना पडता है अर्थात् सत्यभाषण भूमिशयन पयोव्रतादि नियम करने होते हैं।

कण्डूयनस्वप्ननदीतरणाघमर्षणामेध्यप्रतिमन्त्रेषु च तत्कालाल्पवेतेषु का०सू० ।

यज्ञमें दीक्षित यजमान शरीरके खुजाने आदि कर्मभी मंत्रपूर्वक करे खुजाहट हो तो "विषाणे विष्यैतं" इस मंत्रसे खुजावे और काले हिरनके सींगसे खुजावे एकही बार मंत्र पढ़कर सर्व जगह खुजाले दीक्षासे ही यह सींग हाथमें धरा जाता है, सोते समय "अग्ने त्वं सुजागृहि" [४।१४] यह पढ़कर सोरहे, व्रत समय नदी तरनेकी आवश्यकता हो तो "देवीरापः" [८।२६] यह मंत्र पढ़ जलमें घुस वर्षा होते समय "उदन्तीर्बलन्धत्त०" यह मंत्र पढ़े, अपवित्र दर्शनमें "अवद्धं मनः" यह मंत्र पढ़े तो प्रायश्चित्त होकर शुद्धि हो जाती है । यज्ञमें यजमान शास्त्रमें कहे सब नियमोंका पालन करे तो यज्ञ करनेका फल भली प्रकारसे प्राप्त हो जाता है । विशेष विधि कात्यायनसूत्रमें देखो ।

अथ न दीक्षितः काष्ठेन वा नखेन वा कण्डूयेत गर्भो वा एष भवति यो दीक्षते यो वै गर्भस्य काष्ठेन वा नखेन वा कण्डूयेदपास्य मृतिमेत्यतो दीक्षितः पामनो भवितो-र्दीक्षितं वा अनुरेतांसि ततो रेतांसि पामनानि जनितोः स्वा योनी रेतो न हिनस्त्येषा वा एतस्य स्वा योनिर्भवति यत्कृष्णा विषाणा तथोहैनमेषा न हिनस्ति तस्माद्दीक्षितः कृष्णविषाणयैव कण्डूयेत नान्येन कृष्णविषाणायाः [श० का० ३] प्र० १ । ब्रा० ९ कण्डिका ३१ ।

अर्थ—अदीक्षित काष्ठ नखसे चाहें खुजाले, पर दीक्षित ऐसा न करै कारण कि यज्ञमें दीक्षा लेनेवाला गर्भके समान कोमल और विशेष रक्षाके योग्य होता है अर्थात् जैसे गर्भस्थबालक थोड़ी चोटसेभी मृतप्राय होजाता है, इसी प्रकार थोड़े अपचारसेभी यज्ञमें पूरा विघ्न मानाजाता है, जो गर्भस्थ बालक-को काष्ठ वा नखसे खुजावे तो वह दुर्गतिको प्राप्त होताहुआ मरजाय इसी प्रकार अन्य काष्ठादिके खुजानेसे दीक्षित खुजलीके रोगवाला होता है, और फिर उसके शुक्रादिसे उसके पुत्रादिमेंभी यही रोग फैलता है उसी वस्तुका कारण उसको नष्ट नहीं करता किन्तु रक्षा करताहै, जिस प्रकार अन्नसे बने शरीरोंका रक्षक अन्नही है, नाशक नहीं है, अजीर्णमें अन्न विष नहीं किन्तु वहां वैसा आचरण भोजन दुष्कर्म होकर विषसा दीखता है वैसे अपने कार्य वीर्यकोभी कृष्णविषाण नहीं बिगाड़ती यह यजमानके शुक्रका कारण है, अर्थात् इसमें कोई ऐसा विद्युत्तत्त्व है जो शुक्रादिके दोषोंका सर्वथा शान्त करने-वाला है, पार्थिव मनुष्यशरीर पृथ्वीमेंही सुरक्षित रहसकते हैं अन्तरिक्षमें नहीं इसी प्रकार कृष्णविषाण शुद्ध जंगलके अंशसे निर्मित शुद्ध हुए यजमानकी

रक्षा करती है परन्तु कारण होनेसे यजमानको दुःखका हेतु नहीं होती, इससे दीक्षित यजमान कृष्णविषाणसेही खुजावै । इसप्रकारसे यजमानको दीक्षामें रहना चाहिये, सावधान होकर नियमसे जो वैदिककर्म किये जाते हैं उनका फल अवश्य होता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं इध्म और कुशके बांधनेकी रस्सी कुशोंसे ऐंठी विषम लड़की होनी चाहिये । उत्तरको अग्रभागवाली रस्सीपर पूर्वको अग्रभाग करके अठारह वा वीस इध्मकाष्ठ बांधनेको रक्खे । 'अष्टादशेध्मं परिधि वृक्षाणाम्' [का० श्रौ० सू० अ० १ कं० ३ सूत्र १८] ढाक वेहली आदि यज्ञीय वृक्षोंकी कि जिनकी परिधि बनानी है उनमेंसे किसी वृक्षके अठारह अरत्नीमात्र इध्मकाष्ठ रखने चाहिये, प्रकृति इष्टिमें जितनी सामिधेनी ऋचा हैं उनमें जितनी अधिक ऋचा बढाई जायँ इतनीही इध्म बढावे घटानेपर न घटावे, इसकी लम्बाई एक अरत्नि २४ अंगुल हो, सामधेनी अनुवचनमें चढाई जानेवाली लकडियोंका नाम इध्म है, यह प्रकृति इष्टिमें अठारह हों इनमें दो इध्म परिधिके परिधान उपरान्त मंत्रपूर्वक चढावे तथा १९ काष्ठ सामिधेनीके साथ दश ऋचाओंके साथ एक एक तथा ग्यारहवें प्रणव पर पांच इध्म एक साथ चढादे, और बचे इध्मको अनुयाजक निमित्त रखछोडे इसप्रकार सामिधेनी ऋचाओंके ३ इध्म सब इष्टिमें अधिक रहते हैं, पर सोमयागसंबंधी उपसद्इष्टिमें अनुयाज न होनेसे दोही इध्म अधिक रक्खे हैं, सामान्य समिध काष्ठ पवित्र और वेद यह प्रादेशमात्र लंबे हों, इध्म दो प्रादेश लंबे और परिधि तीन प्रादेशमात्र लंबी होनी चाहिये । अपरिमितं प्रणयनीयं त्रियूनम् २१ । कुशमुष्टिं सव्यावृतं वत्सजानुं त्रिवृत्तं भूतकार्यं वा पशुब्रह्मवर्चसान्नाद्यकामा यथासंख्यम् २ । मध्य मध्यमें अग्निको जलानेके निमित्त अपरिमित संख्यावाले पूर्वसे अधिक प्रयोजनके अनुसार इध्म रखसकताहै १। पशुकामनावाला यजमान एकमुष्टिकुशोंको दहना लपेट कर बछडेके घोंटूकी समान वेद बनावै, ब्रह्मतेजकी इच्छावाला कुशमुष्टिको मेखलाके तुल्य त्रिवृत् लपेटकर वेद बनावे अन्नादिकी इच्छावाला अन्नरखनेके पात्र बौंडेसे बने कुठिलेके तुल्य कुशमुष्टिका वेद बनावे । प्रतिकर्मोद्धरणमप्रसंगे [का० सू० २६ ।] गार्हपत्य आहवनीय और दक्षिणाग्निका प्रत्येक कर्मोंमें पृथक् २ उद्धरण करना चाहिये । पलाश, फल्गु, न्यग्रोध, पिलखन, अश्वत्थ, विकङ्कत, उदुम्बर, बिल्व, चन्दन, सरल, देवदारु, साल, खदिर, यह यज्ञीय वृक्ष हैं यह कीटादि निवासरहित उत्तम स्थानमें हुए लेना चाहिये कर्मकाण्ड दर्शपौर्णमाससे अश्वमेधतक वर्णन किया है, कात्यायन श्रौतसूत्र उसकी पद्धति वा कल्प है उसमें यह सब विचार विस्तार पूर्वक लिखे हैं । हमने कुछ उपयोगी सूत्र यहां लिखे हैं विशेष देखना हो तो कात्यायन श्रौतसूत्र देखलेना चाहिये, यह

विश्वासपूर्वक जान लेना चाहिये कि, यथायोग्य कर्मके सम्पादन करनेसे उसका निर्दिष्ट फल अवश्य होता है ।

ॐकारपूर्वं हि योगोपासनं यानि नित्यानि पुण्यतमानि कर्माणि दान-
यज्ञतपःस्वाध्यायजपध्यानसन्ध्योपासनप्राणायाममहादैवपित्र्यमंत्रोच्चार-
ब्रह्मारंभादीनि यच्चान्यत्किंचिच्छ्रेयस्तत्सर्वं प्रणवमुच्चार्य प्रवर्तयेत्समा-
पयेच्च । स्वरितोदात्त एकाक्षर ओंकार ऋग्वेदे । सर्वोदात्त एकाक्षर ओंकारो
यजुर्वेदे । दीर्घोदात्त एकाक्षर ओंकारः साम्नि । संक्षिप्तोदात्त एकाक्षर ओंकारोऽ-
थर्वणवेदे छान्दोग्यपरिशिष्टे ।

ओंकारपूर्वक योगोपासना करनी तथा जितने नित्य नैमित्तिक पुण्यकर्म दान यज्ञ तप सन्ध्योपासन वेदपाठ जप ध्यान प्राणायाम होम दैवपित्र्यमन्त्रोच्चार ब्रह्मआरंभादि जो कुछ कल्याणकृत् कार्य हैं वह सब प्रथम ॐकार पढकर पीछे मंत्र उच्चारण किया जाय इसीसे प्रत्येक मंत्रके आरंभमें ॐ लिखा है स्वरित उदात्त एकाक्षर ओंकार ऋग्वेदमें । सर्वोदात्त एकाक्षर ओंकार यजुर्वेदमें । दीर्घोदात्त एकाक्षर ओंकार साममें । संक्षिप्तोदात्त एकाक्षर ओंकार अथर्ववेदमें पढाजाता है परन्तु हमको यहां यजुर्वेदकी नियमावली लिखनी है इससे विशेषकर यजुर्वेदकाही वर्णन किया है, अब यजुर्वेदके अध्याय शब्दादिक वर्णन करते हैं ।

सन्मूलो यजुराख्यवेदविटपो जीयात्स माध्यन्दिनिः
शाखा यत्र युगेन्द्रकाण्डसहिता यत्रास्ति सा संहिता ॥
यत्राभ्राब्धिलता विभान्ति शरशैलाङ्केन्दुभिर्ऋग्दलैः
पञ्चद्वीषुनभोंकवर्णमधुपैः खाग्न्यर्कगुंगुञ्जितैः ॥ १ ॥ यजुःकल्पतरौ ।

इस वेदरूपी वृक्षकी १४ काण्डरूपी शाखा हैं लतारूप ४० अध्याय हैं पत्ते रूप १९७५ मंत्र हैं भ्रमररूप ९०५२५ अक्षर हैं गुंजाररूप १२३०५ अनुस्वाररूपी चिह्न हैं ।

मंत्रब्राह्मणयोर्वेदस्त्रिगुणं यत्र पठ्यते ।
यजुर्वेदः स विज्ञेयो ह्यन्ये शाखान्तराः स्मृताः ।

जहां मंत्रब्राह्मणात्मक वेदमें मंत्रब्राह्मणकी वेदसंज्ञाहै विधि ब्राह्मण विधेय मंत्र, तर्क अर्थवाद, इनसे युक्त यजुर्वेद कहाता है । यह तीनों इसीमें पढेजाते हैं इसका उपवेद धनुर्वेद है सब वेदांगोंको कहते हैं ।

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।

वेदके चरण छन्द हैं, कल्प हाथ हैं, ज्योतिष नेत्र हैं, निरुक्त कान हैं, शिक्षा नासिका है, मुख व्याकरण है । छन्दमें पिङ्गलसूत्रोंके द्वारा यह बात जान लीजाती है कि, कौन छन्द है, हमने सब मंत्रोंके साथ यह छन्द लिखे हैं, लक्षणके लिये एक संक्षिप्त चक्र लिखते हैं । जिससे गायत्री छन्दआदिके भेद खुलते हैं ।

	छन्दः	गायत्री	उष्णिक्	अनुष्टुप्	बृहती	पंक्ति	त्रिष्टुप्	जगती
१	आर्षी	२४	२८	३२	३६	४०	४४	४८
२	दैवी	१	२	३	४	५	६	७
३	आसुरी	१५	१४	१३	१२	११	१०	९
४	प्राजापत्या	८	१२	१६	२०	२४	२८	३२
५	याजुषी	६	७	८	९	१०	११	१२
६	साम्नी	१२	१४	१६	१८	२०	२२	२४
७	आर्ची	१८	२१	२४	२७	३०	३३	३६
८	ब्राह्मी	३६	४२	४८	५४	६०	६६	७२

दैवी गायत्री छन्द एक अक्षरका, आसुरीगायत्री १५ का, प्राजापत्यागायत्री ८ का, याजुषी गायत्री ६ का, साम्नीगायत्री १२ का, आर्ची गायत्री १८ का, ब्राह्मीगायत्री ३६ का, आर्षीगायत्री २४ का, दैवी उष्णिगादि छन्दोंपर एक २ अक्षर बढावै आसुरीमें एक एक घटावै प्राजापत्यापर चार चार बढावै, याजुषीपर एक एक साम्नीपर दोदो, आर्चीपर तीन तीन ब्राह्मीपर छः छः आर्षीपर चार चार बढावै, यही ऊपर लिखे कोष्ठका विवरणहै, जहां एक छन्दकी संख्या दूसरे के समान हो यथा दैवी त्रिष्टुप याजुषी गायत्री आदि तो वहां निर्णयके निमित्त गायत्र्यादि छन्दोंके देवताओंसे जो कि अनुक्रमणिकाके चौथे अध्यायमें कहेहैं निर्णय करै पिङ्गल० खण्ड ३ । इसीसे इषेत्वा इसमंत्रका ३अक्षरका अनुष्टुप् छन्द मानागया ।

इति यज्ञीयविषयवर्णनम् ॥

श्रीगणेशाय नमः ।

अथ

यजुर्वेदका उपोद्घातप्रकरण।

अव जगदीश्वर परमात्माको सब प्रकारसे प्रणाम करके प्रथम यजुर्वेदकी व्याख्या की जाती है, कारण कि अध्वर्यु नामक प्रधान ऋत्विक सम्पूर्ण कार्योंको सम्पादन करता है, यदि कहो कि, सब स्थानमें प्रथम ऋग्वेदकाही नाम पढ़ा जाता है, इससे पहले ऋग्वेदकीही व्याख्या करनी उचित है, यथा—"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ३९।७॥" अर्थात् उस यज्ञ रूप सर्वहुत परमेश्वरसे ऋक् और साम उत्पन्न हुए, समस्त छन्द उत्पन्न हुए और उससे यजुः प्रकट हुआ, इस स्थलमें 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इस मंत्रसे प्रतिपादित यजनीय अर्थात् पूजनीय परमेश्वर "यज्ञो वै विष्णुः" इतिश्रुतेः, यज्ञ शब्दका अर्थभी सब जिसके उद्देश्यसे हवन करें वह परमेश्वर सर्वहुत शब्दका प्रतिपाद्य है। यद्यपि यागादिमें इन्द्र वरुण यम इत्यादि देवताओंके निमित्त यजन किया जाता है, तथापि एक परमेश्वरही इन्द्रादि अनेक देवताओंके रूपसे विराजित होनेसे इसमें कोई विरोध नहीं आता. इन्द्रादिके निमित्त हवन पूजनभी परमेश्वरकाही हवन पूजन है, मंत्रमें देखा जाता हैं कि—"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥" इति [ऋ० २।३।२२] अर्थात् इन्द्र वरुण मित्र अग्नि सुपर्ण गरुत्मान् अग्निं यम वायु एक सन्मात्र इत्यादि अनेकरूपसे ब्राह्मणगण उसको कहते हैं।

वाजसनेयि शाखाध्यायी द्विजगण अपनी शाखामें पाठ करतेहैं "तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उह्येव सर्वे देवा इति" अर्थात् इसकी पूजा करो इसके उद्देश्यसे यज्ञ करो इत्यादि जो कुछ शास्त्र अथवा महर्षि

---

१ प्रधान ऋत्विक् अध्वर्यु कहाताहै यह यज्ञकार्यका नेता है यह जो करताहै यही यज्ञमें प्रकृष्ट कार्य है, यज्ञयागादिका विधान यजुर्वेदमें है, इसके जाननेकीही प्रथम आवश्यकता है, अध्वर्युका कार्य यज्ञहोमादिका तत्त्व समझकर पश्चात् मंत्रदर्शनार्थमें ऋग्वेदका पाठ करना होता है, होता मंत्रपाठ करताहै वौषट्कार उच्चारण करताहै, याज्यानुवाक पाठकरताहै, फिर मंत्ररूप जान लेनेपर विना ऋग्वेदके काम नहीं चलता।

२ अग्नि शब्द दो वार आयाहै लौकिक वैदिक दोनों प्रकारकी अग्निही इसका अर्थ है किसीके मतमें दूसरा अग्नि शब्द यमका विशेषण है अर्थात् दीप्तिमान् यम।

कहतेहैं, यह केवल एकमात्र देवताको लक्ष्यकरकेंही कहतेहैं, यह सब एक देवताकी विभूति ही है, यह एकमात्र देवही सम्पूर्ण देवताओंमें विराजमान है इसकारण सबके द्वारा एक परमेश्वरही पूजित और हुत होताहै यह सिद्ध हुआ ।

केवल प्रथम पढ़ेजानेके कारणही ऋग्वेदकी श्रेष्ठता नहीं किन्तु यज्ञाङ्गकी दृढताभी ऋग्वेदही सम्पादन करता है, तीनों वेदोंमें बाहुल्यसे ऋग्मंत्र उच्चारण किये जातेहैं, अध्वर्यु जिन मंत्रोंको यज्ञमें पढ़ते हैं वे ऋग्वेदमें हैं, सामगान ऋग्मंत्रोंसेही होताहै, अथर्वसंहिताध्यायीभी बहु परिमाणसे ऋग्मंत्रही पाठ करते हैं, तैत्तिरीय शाखाध्यायी कहते हैं कि, "यद्वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तद्यदृचा तद्दृढमिति" [तै०सं०६।५।१०] अर्थ यजु और सामद्वारा सम्पन्न होनेवाला अंश शिथिल है, ऋचाद्वारा जो सम्पन्न हो वह दृढ है । इससे प्रथम ऋग्वेदकी व्याख्या करनी चाहिये ।

सामवेदीय छन्दोग शाखाध्यायी गणने सनत्कुमारके प्रति नारदकी उक्तिमें ऋग्वेद का प्रथम उल्लेख और पश्चात् दूसरे वेदोंका उल्लेख किया है, नारदवाक्य यथा-" हे भगवन् ! + ऋग्वेद अध्ययन किया, यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेदभी अध्ययन किया है । " मुण्डकोपनिषदमें भी लिखा है " + ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद, अथर्ववेद । " तापनीयोपनिषद्के मंत्रराजके चतुष्पाद्निर्णय प्रसंगमें " ऋक्, यजु, साम, अथर्व यह चार वेद अंग और शाखासहित चार पाद हैं " । इस प्रकार क्रमिक पाठमें ऋग्वेदका प्रथम नाम लिखाहुआ देखा जाता है । इस प्रकार सब वेद पुराणादि शास्त्रोंमें प्रथमपठित और यज्ञांगकी दृढतासम्पादक ऋग्वेदकी सबसे प्रथम व्याख्या करनाही उपयुक्त है ॥[2]

---

१ यज्ञादि समस्त क्रिया अमंत्रक अनुष्ठान करनेसे फल नहीं होता जो कर्म मंत्रद्वारा आचरण किया जाता है वही फल देता है, और वे मंत्र प्रकृत रूप से ऋग्वेद में पाये जाते है, सामवेदमें स्वरसंयोगसे प्रकारान्तरसे उच्चारित होकर विकृत हो जातेहैं, यजुर्वेदमें जितने मंत्र है उनके अन्तमें स्वाहा वौषट् इत्यादि संयुक्त होनेसे उनका स्वरूप विकृत हुआ है, यथार्थ रूपसे मंत्र ऋग्वेद में है, इसीसे ऋक् यज्ञाङ्ग दृढकरताहै, कोई कहतेहैं ऋग्वेदमें पढेहुए मंत्रोंके माहात्म्यसे यज्ञके विघ्नादि शान्त होते हैं इसकारण ऋग् भली भांतिसे यज्ञाङ्ग दृढकरता है ।

+ ऋग्वेदं भगवोध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणञ्चेति । + ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वण इति ।

२ आपत्तिकारीके मतका प्रथम उल्लेख करना प्राचीनरीति है, इसके पश्चात् अपना सिद्धान्त प्रकाश करना होता है । इस स्थानमें इसही नियमका प्रतिपालन किया है ।

जो लोग पूर्वोक्त मत प्रकाश करते हैं उनके प्रति यह बात कही जाती है कि, सब वेदोंके अध्ययन पारायण ब्रह्मयज्ञ जपादि सब प्रकारके विषयोंमें सब स्थानोंम ऋग्वेदका प्रथम उल्लेख है, किन्तु समझना चाहिये कि उचित वेदका अर्थज्ञान यज्ञानुष्ठानमें ही उपयोगी है, वह यज्ञ यजुर्वेदमें विहित है, इस कारण अर्थज्ञानमें और अनुष्ठानांशमें यजुर्वेदका प्राधान्यहै (१) इस कारणसेही यजुर्वेदकी व्याख्या प्रथम करना उचित है। यजुर्वेदकी श्रेष्ठताके विषयमें ऋक्‌में स्वयंही कहा है कि। यथा,—"ऋचांत्वःपोषमास्ते पुपुष्वान्, गायत्रंत्वो गायति शक्करीषु । ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्व" । [ऋ०८। २।२४] निरुक्तकार यास्कने इस ऋक्‌का तात्पर्य संक्षेपसे दिखाया है। उन्होंने कहा है, इस ऋक्‌में ऋत्विक् कर्म्मका नियोग अर्थात् किस ऋत्विक्‌को किस कार्य्यमें नियुक्त करना चाहिये सो कहा है। ऋक् मन्त्रके प्रथमपादकी व्याख्यामें उन्होंने कहा है। "होतानामक ऋत्विक् समस्तऋक् की पुष्टि सम्पादन करता है, अर्चनासाधन ऋक् है।" संक्षेपसे यास्कके वाक्य का अर्थ यह है कि, होता नामक एक ऋत्विक् यज्ञसमयमें अपने वेदके सम्पूर्ण ऋक्‌मन्त्रोंकी पुष्टि करता है अर्थात् भिन्न २ स्थानोंमें पठित सवऋक् मन्त्रोंको एकत्र संकलित करके इस ऋक्‌समूहका नाम यह शस्त्र (२) इस प्रकारकी कल्पना करते हैं वही पुष्टिहै, होता इस पुष्टिकार्य्यमें नियुक्त होताहै"त्व" शब्दका अर्थ एक है,इस स्थानमें वह होताका विशेषण है, ऋक्‌शब्दसे अर्चना साधन यह अर्थ समझना जिसके द्वारा देवताविशेष अथवा कार्य्यविशेष अर्चित अर्थात् प्रशंसित हो, उसका नाम ऋक् है यही ऋक्‌शब्दकी व्युत्पत्ति है। यास्क संक्षेपसे द्वितीय पादका भी इसी प्रकार अर्थ करते हैं। "उद्गाता शक्करीमें गायत्र गान करता है। स्तुति कर्म्मबोधक गायतिसे गायत्र शक्करी शब्दसे, इन्द्र इन ऋचाओंके द्वारा अपने शत्रु वृत्रको वध करनेमें समर्थ हुआ था यही शक्करीका शक्करीत्व है" यास्ककी संक्षेपोक्तिका प्रकृत अर्थ यह है कि, उद्गातानामक ऋत्विक् गायत्र नाम स्तोत्र शक्करी संज्ञक ऋक् मंत्रमें गानकरता है, प्रत्येक धातुही बह्वर्थ है, इसकारण गायति धातु स्तुतिक्रियाबोधक है और उससे उत्पन्न गायत्र शब्द स्तुतिसाधन ऋक् समूहार्थ है। शक्करी शब्द शक्नोतिरूपविशिष्ट "शक" धातुसे उत्पन्न है इन इन समस्त ऋचाओंके द्वारा वृत्रविनाशमें समर्थ हुआ था, अतएव यह शक्करी है. शक्करी शब्दकी यह व्युत्पत्ति किसी ब्राह्म-

---

(१) सबसे प्रथम पठित ऋग्वेद, सबसे प्रथम अनुष्ठेय यजुर्वेद, ज्ञान सत्वमें अनुष्ठान किया जाता है इस कारण अर्थ ज्ञानार्थमें यजुर्वेदकी प्रथम आवश्यकता है। पाठक्रमकी अपेक्षा अर्थक्रम सर्वत्रही प्रबल है।

(२) स्तुतिमंत्रसमूह ।

णमें * देखी जाती है । इसके अनन्तर तीसरे पादकी व्याख्यामें यास्क कहते हैं— "ब्रह्मानामका एक ऋत्विक् सामयिक उपस्थित प्रणयनादि कर्मोंकी अनुज्ञा प्रदान करै ब्रह्मा सर्वज्ञ है ।" यास्ककी उक्तिका अर्थ इस प्रकार है । ब्रह्मानामक एक-ऋत्विक् उस उस कालमें प्रस्तुत प्रणयनादि, कर्मोंके उपस्थित होनेपर आज्ञादान करै । "हे ब्रह्मन् ! अपः प्रणयन करैं" इसप्रकार पूंछनेपर "प्रणयन करो" इस-प्रकार अनुमति प्रदान करै । वह ब्रह्मा ऋक् यजुः सामवेदोक्त समस्त क्रियाका-काण्डमें अभिज्ञ होता है, इसकारण वह जिस कर्मके करनेमें जो ऋत्विक् समर्थ है उसकी सामर्थ्य जानकरही उस कार्यमें प्रेरणा करै और किसी कार्यमें कदाचित् भ्रम प्रमाद उपस्थित होनेपर समाधान करनेमें भी समर्थ है । वह क्षमता छन्दोग (१)गण अपने ग्रन्थमें संकलित करते हैं यथा, + इस यज्ञके दो प्रकारके मार्ग हैं, एक मनोरूप दूसरा वाक्रूप, उनमेंसे ब्रह्मा ऋत्विक् मनमनमें एक प्रकारका यज्ञमार्ग संस्कार करता है, अन्य प्रकार यज्ञमार्ग संस्कार कर्ममें होता, अध्वर्यु और उद्गाता नियुक्त होते हैं । समस्त यज्ञकर्म यथोचितप्रकारसे अनुष्ठान कर सकनेके निमित्त मनमनमें समस्त यज्ञप्रकार अनुसंधानकरना होता है, वाणीद्वारा तीनों वेदके मन्त्रपाठकरने होते हैं, होता आदि तीन ऋत्विक् मिलकर वागरूप यज्ञमार्गका संस्कार करते हैं, ब्रह्मा एकाकीही मनोरूप यज्ञमार्गका संस्कार करता है, इसकारण कहना चाहिये कि, ब्रह्माका कार्य भ्रमका दूरकरना और शक्तिके अनुसार ऋत्विक्को नियुक्त करनेकी क्षमता है । इसके पश्चात् मन्त्रके चतुर्थ पादकी व्याख्यामें यास्क संक्षेपसे कहते हैं। एक अर्थात् अध्वर्यु (२) जो अध्वर (यज्ञ) की योजना करे यज्ञका नेता यह अर्थ है यास्क महाशयके संक्षिप्त वाक्यका इसप्रकार अर्थ है अध्वर्यु नामक एकऋत्विक् यज्ञकी मात्रा अर्थात् स्वरूपविशेष प्रकारसे निष्पादित करता है जो निर्म्माण कियाजाय वही मात्रा अर्थात् स्वरूप है, उसके निष्पादनकरनेवाले अध्वर्युके नाम निरूपणसे समझलियाजाता है । (यास्कने कहा है अध्वर्य्यु अध्वरयु) अध्व-र्य्यु इसनाममें वैदिक प्रक्रियाके अनुसार अध्वर शब्दका अन्तःस्थ "अ" कार लुप्तहुआ है । इस "अ" कारके पुनर्वार सयुक्त करनेपर अध्वर्य्यु यह नाम सम्पन्न होगा । अध्वर योजितकरता है यही (अध्वरयु इस श-

* वेदके अंशविशेषका नाम ब्राह्मण है एप एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् चेति० (१) सामवेदाध्यायी छन्दोग शाखाभ्यासी गण ।

(२) यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः इस चतुर्थ पादमें "त्वः" शब्दका अर्थ जो एक है, वह एक अध्वर्य्यु, ऐसा यास्क कहते हैं ।

ब्दके) अवयवका अर्थात् प्रत्येक पदांशका संकलित अर्थ है । अध्वरका नेता यह तात्पर्य है पदांशका संकलित अर्थ नहीं है । इस तात्पर्यके अभिप्रायसे ही अध्वर्युवेद अर्थात् अध्वर्य्यु कर्म्म जिस स्थानमें उपदिष्टहुआ है उस यजुर्वेदका याग निष्पादक द्योतक निर्वचन (१) यास्क दिखाते हैं । मनन करना होता है (२) इसकारण मंत्र, छादननिमित्तसे छन्द (३) स्तवनसाधन है इसकारण स्तोम, यागनिष्पादक होनेके कारण यजुः इसप्रकार नाम निर्वाचित हुआ है । यदि इसप्रकार अवधारित हुआ कि, यजुर्वेदयागस्वरूपनिष्पादक अध्वर्युनामक ऋत्विकका कार्य्यकलाप प्रतिपादन करता है और अध्वर्य्युसम्बंधि यजुर्वेदमें निष्पादित यज्ञशरीर अवलम्बन करके यज्ञमें अपेक्षित स्तोत्रशस्त्र (४) रूप दोनों यज्ञाङ्ग ऋग्वेद और सामवेदके द्वारा पूर्ण होते हैं; इसकारण यजुर्वेद ही उपजीव्य अर्थात् अवलम्बन है ऋक् और साम उपजीवी अर्थात् आश्रित है । इस कारण उपजीव्य यजुर्वेदकी सबसे प्रथम व्याख्या करनी उचित है । इसके अनन्तर ऋक् और साममेंसे पहिले किसकी व्याख्या करना आवश्यक है इस विषयमें विचारकरनेसे देखाजाता है कि साम ऋक्के आश्रित है, अतएव सामके आश्रयभूत ऋग्वेदकी सामकी अपेक्षा प्रथम व्याख्या करना ठीक है इसकारण यजुर्वेदकी व्याख्याके, पश्चात् ऋग्वेदकी व्याख्या करनी होती है ।

इस समय वेदके अस्तित्वमें ही आपत्ति उठती है । आपत्तिकारी कहते हैं वेदही नहीं, वेदके अवान्तर विभाग ऋग्वेद आदि कहांसे आये ? (यदि कोई कहना चाहे वेद है, तो उससे पूंछते हैं) वेदनामक पदार्थ क्या है उसका

---

(१) "यजुर्यजतेः" यागनिष्पन्न करनेके कारण. यजुःसंज्ञा यह निर्वाचन है । मन्त्रा मननात् छन्दांसि छादनात् स्तोमः स्तवनात् नि० ७ । १२ ।

(२) मनन अर्थात् मन मनमें चिन्ता करना मंत्रप्रयोग कालमें कर्त्तव्य अर्थ स्मरण कराके देना मीमांसकका यह मत है, इस ग्रन्थमें आगे यह विषय प्रतिपादित होगा, मनमें चिन्ताकरने परही मंत्रके द्वारा अर्थ स्मरण होसकता है, मन मनमें आन्दोलन वा मनन व्यतीत केवल अन्यमनस्कभावसे होजाने पर मंत्रके द्वारा प्रयोगकालीन अर्थ स्मरण नहीं किया जासकता । इसकारण मंत्रका मनन चाहिये ।

(३) आच्छादन और छादन यह दो बातें हैं । मंत्रका स्वरूप आच्छादन करनेमें छन्दही पारग है, किसी मंत्रके अन्तर्गत दो अथवा एक अक्षर स्खलित होनेपर छन्दोंद्वारा हम इसको समझसकते हैं कारण कि छन्दमें अक्षरनियम है । छन्दमंत्रको आच्छादनकररखता है जिससे उसका एक अंशभी स्खलित न होसके ।

(४) प्रगीतसाध्य मंत्र साध्यति और अप्रगीत मंत्रसाध्य स्तुतिभेदसे स्तोत्र शस्त्रकी पृथक्ता दोनोंका कार्य्य ही स्तुति है । किसीकी गानद्वारा, किसीकी उससे विहीनमें ।

काइ लक्षण नहीं, इसनिमित्त कुछ प्रमाणभी नहीं । लक्षण (१) प्रमाण इन दोके न होनेपर कोई भी वस्तु सिद्ध नहीं होती । नैयायिक कहते हैं लक्षण और प्रमाणद्वारा वस्तुकी सिद्धि होती है । (इसकारण लक्षण और प्रमाण वक्तव्य है ।) यदि कहाजाय "प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम इन नैयायिकों के स्वीकार किये हुये चार प्रमाणोंमेंसे " आगम " नामक अन्तिम अर्थात् चौथा प्रमाणही वेद है, यही वेदका लक्षण है । सोभी नहीं होसकता कारण कि मनुआदि महर्षियोंके बनाये हुए स्मृति शास्त्रमें अतिव्याप्ति होती है (२) क्यों कि " समय कहनेमें सम्यक् परोक्षानुभव साधन आगम " इस प्रकार आगमका लक्षण है इसमें (मनुस्मृति आदिमें) भी है (३) यदि कहो "अपौरुषेय" यह विशेषण देनेसे कोई दोष नहीं आता, सो भी ठीक नहीं. कारण कि, वेदभी मनुस्मृत्यादिकी समान पौरुषेय है, परमेश्वररचित होनेके कारणही वेद पौरुषेय हैं । शरीरधारी जीव पुरुषरचित होनेके कारण स्मृति आदि पौरुषेय हैं वेद वैसे नहीं, अत एव "अपौरुषेय" ऐसाभी नहीं कहा जासकता, क्योंकि "सहस्रशीर्षा" इत्यादि वेदवाक्योंके द्वाराही ईश्वर शरीरधारी जीवविशेष होनेके कारण प्रतिपादित हुआ है । यदि कहाजाय कि जो शरीर अपने पूर्व जन्मोंके अर्जित कर्म्मका फलस्वरूप है उस प्रकारके शरीरधारी जीव रचित होनेपर पौरुषेय कहैंगे, नहीं तो नहीं, उस प्रकारका शरीर ईश्वरका नहीं है, केवल जीव सम्प्रदायकाही है, अतएव ईश्वररचित होनेपरभी पौरुषेय नहीं है । यह संगत नहीं, क्योंकि अग्नि वायु आदित्य आदि कर्म्म फल शरीरधारी जीवविशेषोंके

---

(१) लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः ।

(२) जिसका लक्षण निर्वचन करना होता है उसको "लक्ष्य" कहते हैं । लक्ष्यके अतिरिक्त स्थानमें यदि लक्षण पायाजाय तो लक्षणकी अतिव्याप्ति अर्थात् लक्ष्य छोडकर भी बाहर जाना होता है । यह दोष है, कारण कि कितनीही लक्ष्यके बाहर वस्तुएं भी लक्षणकी गड्डीमें पडगई हैं । मनुस्मृति वेद नहीं है किन्तु आगम है । इसकारण आगमको वेद कहनेसे वेदबहिर्भूत मनुस्मृतिभी लक्ष्य हुआ, यह अतिव्याप्ति है ।

(३) समयबलेन सम्यक्परोक्षानुभवसाधनम् । शब्द अथवा वाक्य अपरोक्षज्ञान नहीं उत्पन्न करासकता । पुत्रशब्द उच्चारण करने पर जो पुत्रबोध उत्पन्न होता है वह परोक्ष है अपरोक्ष होनेपर उच्चारणमात्रसे पुत्रको देखा जासकता है । भलीभांति परोक्षज्ञान कहनेका उद्देश्य यह है कि, इस परोक्षज्ञानमें कोई भ्रम नहीं हो इस कारण वह यथेष्ट है ।

द्वारा वेद उत्पादित है यह बात वेद स्वयंही कहता है। श्रुति यथा-* अग्निसें ऋग्वेद उत्पन्न हुआ था, वायुसे यजुर्वेद, सामवेद आदित्यसे उत्पन्न हुआ था। "ईश्वर अग्नि वायु आदिका प्रेरक है इस कारण अग्निसे उत्पन्न ऋग्वेदको ईश्वरने ही निर्माण किया था ऐसा कहाजाता है। (१) अत एव समय बलसे सम्यक्‌ परोक्ष ज्ञानसाधन अपौरुषेय वाक्य वेद है" ऐसा लक्षण नहीं होसकता। मंत्र ब्राह्मण रूप शब्दसमूह वेद है यह भी वेदका लक्षण नहीं क्योंकि "इसप्रकार मंत्र इस प्रकार ब्राह्मण" यहभी अबतक निश्चय नहीं हुआ। (मंत्रब्राह्मणका स्वरूप निर्णय नहीं हुआ) इसकारण वेदका लक्षण नहीं, वेदकी विद्यमानतामें कोई भी प्रमाण नहीं देखाजाता (ऋग्वेदं भगवोध्येमि०) हे भगवन्! ऋग्वेद अध्ययन किया है यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद भी अध्ययन किया है यह वेद-वाक्य वेदके अस्तित्वमें प्रमाण हैं यह बात नहीं कही जासकती, क्योंकि वह वाक्य भी वेदके अन्तर्गत है अतएव आत्माश्रय (२) दोषभयसे वेदके अस्तित्वमें वेदवाक्य प्रमाण स्वरूपमें गृहीत नहीं होसकता। कोई व्यक्ति चाहे कितनाही चतुर क्यों न हो परन्तु अपने कंधेपर स्वय नहीं चढसकता। वेदही द्विजाति-गणोंका परमकल्याणसाधन है + इत्यादि स्मृति वाक्यभी वेदके अस्तित्वमें प्रमाण नहीं हैं क्योंकि वहभी श्रुतिमूलक हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाणद्वारा वेदका अस्तित्व प्रमाणीकृत होगा ऐसी शंका करनाभी अयोग्य है "वेद" कहकर जो एक लोक-प्रसिद्धि है वह सर्वजनीन होनेपरभी "आकाश नीला है" इत्यादि सर्वजनीन-भ्रमात्मक प्रत्यक्षकी समान भ्रममात्र है। इसकारण शून्य और प्रमाणरहित

---

* ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यादितिश्रुतेः ऐतरेयब्रा० ५। ३२ परंतु शतपथमें अग्निवायु रवि तीन ज्योतियें लिखी हैं कि इनको तपाकर ब्रह्माने ऋक् यजुः साम प्रगट किये इस्से यह ऋषि नहीं। देखो श० ११।५।८।२

(१) ईश्वरका वेदनिर्म्मातृत्व और अग्न्यादिका वेदनिर्मातृत्व विभिन्न श्रेणीका है। अग्निआ-दिने स्वयंही किया या ईश्वरनें उनको प्रेरणा की थी। स्वयंमेंतो अग्नि, वायु आदि साक्षात् कर्ता हैं परमेश्वरकी परम्पराके न कहनेपर ईश्वर वेदरचयिता अग्न्यादि वेदरचयिता इन दोनों वाक्योंका अपने मतमेंही विरोध हुआ जाता है सो कैसे सम्भव हो सकता है। वादीकापूर्वपक्ष ठीक नहीं।

(२) अपना अपनेके आश्रय होनेपर आत्माश्रय कहते है। वेदही प्रमाण फिर उसी प्रमाण द्वारा वेदरूप प्रमेयभी सिद्ध होता है। ऐसा नहीं होसकता। प्रमाण और प्रमेय लक्षण और लक्ष्य एक नहीं हैं। लक्ष्यगत असाधारण धर्म लक्षण है लक्षणका प्रतिपादित लक्ष्य है, इसीप्रकार प्रमाणकोभी समझना।

+ वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः। याज्ञवल्क्य आचाराध्या० श्लो० ४०।

वेदका सद्भाव (अस्तित्व) स्वीकार नहीं किया जासकता । यही इसस्थानमें पूर्वपक्ष है ।

इस पूर्वपक्षका उत्तर कहाजाता है, "मंत्रब्राह्मणरूप शब्दसमूह वेद है" यह लक्षण दोषशून्य है । इसकारणही यज्ञपरिभाषामें आपस्तम्बने कहा है मंत्र (१) और ब्राह्मण इन दोनोंका नाम वेद है मंत्र और ब्राह्मणका स्वरूप आगे कथन किया जायगा, हम वेदको जिस प्रकार अपौरुषेयत्व कहते हैं इसकाभी पीछे निराकरण करेंगे । श्रुति, स्मृति, लोकप्रसिद्धि इत्यादि प्रमाण वेदविषयमें देखने चाहियें । जिस प्रकार घटादि वस्तु स्वप्रकाशक न होनेपर भी सूर्य्यादि स्वप्रकाशकसे विरोध नहीं रखतीं, इसी प्रकार मनुष्यादि जीवगण अपने कंधेपर न चढ सकनेपरभी, अकुंठितशक्ति वेद जिस प्रकार परप्रतिपादक हैं इसी प्रकार स्वप्रतिपादकभी हैं । इसी कारण सम्प्रदायज्ञोंने वेदकी अकुंठित शक्ति दिखाई है यथा, वेदवाक्यभूत, प्रेरणा (२) वर्त्तमान, भविष्यत्, सूक्ष्म, व्यवहित दूरस्थित इत्यादि सर्वजातीय पदार्थ विदित करा सकता है । "इस कारण वेद मूलक स्मृति और स्मृतिमूलक जनप्रवादका प्रामाण्य दुर्वार है इस कारण लक्षण प्रमाणसिद्ध वेद किसीभी चार्वाकादि शत्रुद्वारा उच्छिन्न नहीं हो सकता । यह स्थिर हुआ ।

इस वेदके प्रामाण्यमें फिर भी आपत्ति होती है । आपत्तिकार कहते हैं,– वेदके नामसे कोईभी पदार्थ हो, तथापि उसकी व्याख्यानयोग्यता नहीं है । क्योंकि वेद अप्रमाण है अत एव उसकी व्याख्या करना अनुचित है । वेद प्रमाण नहीं होता, वेदमें प्रमाणका लक्षण दुःसम्पाद्य है । कोई २ कहते हैं जिससे भ्रम-शून्य ज्ञानका उदय हो वही प्रमाण है, दूसरेकी समान वह अज्ञात विषय समझादे वही प्रमाण है । यह दोनों ही वेदमें नहीं हो सकते । वेद मंत्र-ब्राह्मणात्मक है । उनमेंसे कितनेही मंत्र कोईभी अर्थ नहीं समझाते । जैसे "अम्यक्सात् इन्द्र ऋष्टिः" [ऋ० २ । ४ । ८] यह एक "यादृश्मिन्धायि-तमपस्य याविदद्" [४ । २ । २४] और एक यह तथा "सृण्येवजर्भरीतुर्फरीतु" [८ । ६ । २] यह और इसी प्रकार "आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्म्मा" [८ । ४ । १४] इत्यादि और भी अनेक उदाहरण दिये जासकते हैं । इन मंत्रोंके द्वारा कोई एक अर्थभी समझमें नहीं आता । इन सबमें जब अनुभवही नहीं, तो "अनुभवका सम्पूर्णत्व" और उसका साधनत्व बहुत दूर चलागया । "अधोदेशमेंही था अथवा ऊपरमें था !" (३) इत्यादि वाक्य अर्थ होनेपर भी वह

(१) मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् स्तम्ब प्र० अ० । (२) चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः पू० मी० २ । (३) अधःस्विदासीदुपरिस्विदासीत् ८ । ७ । १७ ।

"पुरुष अथवा ठूंठ!" इत्यादि संदिग्ध वाक्यकी समान संदिग्ध अर्थज्ञापक होनेके कारण उनका प्रामाण्य नहीं १ "हे औषधे! इसकी रक्षा कर" यह मंत्र कुशविषयक है। २ "स्वधिते इसे मत मार" यह क्षुरविषयक, ३ "पाषाणसुनो" यह पाषाणविषयक है इन समस्त मंत्रोंमें अचेतन कुश क्षुर और पाषाणको चेतनकी समान सम्बोधन किया है, इसकारण "दो चन्द्र" इत्यादि वाक्यकी समान विपरीतार्थ समझानेके कारण अप्रमाण है। ४"एकही रुद्र है, दूसरा नहीं" ५ "सहस्र रुद्र पृथिवीमें आधिपत्य करते हैं" यह मन्त्र दो व्याघात समझाते हैं। यदि कोई कहे "मैं आजीवन मौनी हूं"यह वाक्य जिस प्रकार उसकी चिरकालीन मौनता समझाकर स्वयं फिर मौनताका व्याघात घटाता है इसी प्रकार पूर्वोक्त दोनों वाक्यभी इसीकारण अप्रमाण हैं। "आप उदन्तु"[तै०१।२।१] यह मन्त्र क्षौरसमयमें जलके द्वारा यजमानका मस्तक क्लेदन समझाता है। ६ "हे शुभिके तुम मेरा मुख शोभित करके मस्तकपर चढो।" यह मन्त्र विवाहसमयमें मंगलाचरणके निमित्त पुष्पकी बनी हुई शुभिकाका वधूवरके मस्तकपर अवस्थान समझाता है यह दो मन्त्र लोकप्रसिद्ध पदार्थ ही ज्ञापन करते हैं. अज्ञात पदार्थ ज्ञापक नहीं हैं। इसकारण मन्त्रभाग प्रदर्शित दोषसे प्रमाण नहीं होसकता।

इस स्थानमें प्रत्युत्तर कहा जाता है—अम्यक् सात् इत्यादि मन्त्रका अर्थ यास्ककर्तृक निरुक्त ग्रन्थमें प्रतिपादित हुआ है। निरुक्त ग्रन्थके साथ जिनका परिचय नहीं है वे यदि मन्त्रार्थ न समझें तो उसमें मन्त्रका दोष नहीं होता। इस कारणसेही इस स्थानमें लौकिककी समान (आचार्य्यलोग) उल्लेख करतेहैं यथा,—ठूंठको अंधा नहीं देखता, यह ठूंठका अपराध नहीं है, द्रष्टा पुरुषका अपराध है। "अधोदेशमें" इत्यादि मन्त्र सन्देह नहीं कराता है किन्तु जगत्कारण परम वस्तुका अतिगंभीरत्व समझानेमेंही प्रवृत्त है। इसकारण गुरुशास्त्रपरम्परा-रहित व्यक्तियोंको दुर्बोध्यत्वं:इस मन्त्रमें भङ्ग्यनुसार उपन्यस्त हुआ है। यह अभिप्राय ७ "कौन हठात् जान सकता है" इत्यादि मन्त्रमें स्पष्ट रूपसे प्रतिपादित हुआ है। ओषधि संबोधनज्ञापक मन्त्रमें अचेतन ओषधिको संबोधन नहीं किया है, ओषध्यभिमानि चेतन देवताको संबोधन किया गया है। वे समस्त अभिमानि देवता "अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् शा० अ० २ पा०१ सू० ५": इस सूत्रसे भगवान् बादरायणकर्तृक सूत्रित हुए हैं। एकही रुद्रकी

---

१ ओषधे त्रायस्व यजुः। २ स्वधिते मैनंहिंसीः यजुः।३ शृणोत ग्रावाणः तैत्तिरी० १।३।१३ ४ एक एव रुद्रो न द्वितीयोवतस्थे। ५ असंख्याता सहस्राणिं ये रुद्रा अधिभूम्याम् तै० ४।५। २१ यजु० १६।५४। ६ शुभिकेशिर आरोह० बौधाय० ७ कोअद्धावेद० ऋ० ८। ७।१७

महिमाबलसे सहस्रमूर्ति स्वीकार संभव है, अत एव परस्पर व्याघात नहीं होता । जलादि द्रव्यद्वारा मस्तकक्लेदनादि लोकप्रसिद्धि होनेपरभी, तदभिमानि देवताका अनुग्रह अप्रसिद्ध है । देवतानुग्रह मन्त्रका विषय होनेके कारण अज्ञातार्थव्यापकत्व है । अत एव अज्ञातार्थव्यापकत्वरूप प्रामाण्यलक्षणसत्त्वमें मन्त्रभागका प्रामाण्य स्थिर है । इस अभिप्रायसेंही जैमिनिने मंत्राधिकरणमें मंत्रसमूहके विवक्षितार्थ सूत्रित किया है । उन सूत्रोंको उद्धृत करके क्रमसे व्याख्या की जायगी ।

उस प्रसंगमें पूर्वपक्ष सूत्रित करते हैं । सूत्र—तदर्थशास्त्रात् १ । जै० अ० १ पाद २ सूत्र ३१ से इसका अर्थ यह है कि मन्त्रका अर्थ ब्राह्मण वाक्य समझाता है, अतएव ब्राह्मणसत्त्वमें मंत्र अविवक्षितार्थ कार्य्य है मन्त्र जो अर्थ समझनेमें समर्थ है ब्राह्मण वाक्यका भी वही प्रतिपाद्य है, अतएव मन्त्रार्थ जिसका अर्थ ऐसा ब्राह्मण वाक्य ही तदर्थशास्त्र शब्दका अर्थ ब्राह्मणवाक्य है इसकारण उसको ही तदर्थप्रतिपादक कहनाचाहिये, अतः मन्त्र अविवक्षितार्थ हुआ देखा जाता है "उरु प्रथस्व" तै० [१ । १ । ८] यह मन्त्र पुरोडाशप्रथन समझाताहै । "पुरोडाश (१) प्रथन करै" यह ब्राह्मणवाक्य भी वही समझाता है । ऐसा होनेपर मन्त्रके द्वारा पुरोडाश प्रथन समझागया है, फिर उसी अर्थबोधनमें प्रवृत्त ब्राह्मणवाक्य अनर्थक होता है । मन्त्र यदि विवक्षितार्थ (२) न हो तो नियोग बोधनेके निमित्त ब्राह्मणवाक्य उपयोगी होता है । अत एव मन्त्रसमूह उच्चारणद्वाराही यागादिका उपकार सम्पादन करते हैं । इस स्थानमें प्रश्न हो सकता है कि, मन्त्र उच्चारणार्थ होनेपर उसका कोई भी दृष्ट फल नहीं । अदृष्ट फल कल्पना करना होता है, और अर्थबोधक होनेपर अर्थज्ञानही मन्त्रपाठका दृष्ट फल है । (दृष्ट फल संभव स्थानमें अदृष्ट फल कल्पना अन्याय्य है) अतएव ब्राह्मणवाक्य अनुवाद (कहे हुए का फिर कथन) स्वीकार करके भी मन्त्र अर्थबोधक है ऐसा मानना होगा । इस प्रश्नकी आशंका करके उत्तरमें सूत्र रचना की है, "वाक्यनियमादिति २" अर्थात् वाक्यमें क्रमनियम है इस कारण मन्त्र का उच्चारणही प्रयोजन है । "अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्" इत्यादि निबद्ध मन्त्र पाठ करनेका नियम है । अर्थ प्रत्ययही यदि उद्देश्य हो तो वह "मूर्द्धा अग्निः ककुत्" इत्यादि विपरीत क्रमसे पाठ करना भी होगा इस कारण निर्दिष्ट क्रमसे पाठकी सफलतासम्पादनार्थमें उच्चारणही मन्त्रका प्रयोजन है, अर्थज्ञान नहीं यह कहना चाहिये । इस स्थानमें फिर शंका होती है पाठक्रमनियमका अदृष्ट

१ यज्ञसाधन पिष्टका विशेष ।

२ विवक्षितार्थ जिसका अर्थ विवक्षित है अर्थात् प्रतिपाद्य उसका अर्थ समझाना जिस वाक्यकी आवश्यकता है वह वाक्य विवक्षित है ।

फल स्वीकार करनेपरभी मंत्रपाठ अर्थ उत्पन्न करानेके निमित्त है । इस आशङ्का में पूर्वोक्त युक्ति होनेपरभी अपने मतकी रक्षा नहीं होती देखकर स्वतंत्र दोष कहा जाता है, बुद्धशास्त्रादिति ३। इसका अर्थ यह है कि, पूर्वमें जो समझागया है मंत्र उसकाही शासन है इस कारण मंत्र अर्थबोधक नहीं है, अग्निदग्नीत् विहर [तै० ६ । ३ । १] यह प्रैप (अनुज्ञा) वाक्य प्रयोगसमयमें पठित होताहै :। अग्नीध्र ऋत्विक् अग्निविहरण कार्य्य निजका कर्तव्य होनेके कारण स्वयं वेदाध्ययन करनेके समय में ही जानना है उस ज्ञात विषयका पुनर्वार मंत्रोच्चारणद्वारा शासन वृथा है । पादुकाविशिष्ट पादमें द्वितीयपादुका व्यवहारकी आवश्यकता नहीं होती। इस स्थानमें शङ्का की जा सकती है कि,—अग्नीध्र इस विषयके पाठकालमें विदित होनेपरभी प्रमादवश भूल जा सकते हैं, मंत्रद्वारा फिर स्मरण कराना होता है, इस आशङ्कामें पूर्वोक्त युक्ति दुर्बल हुई देखकर पर मतमें फिर दोष देते हैं, " अविद्यमानवचनात् ४ " ऐसा पदार्थ नहीं सोही समझाते हैं, अत एव अर्थबोध मंत्रोच्चारणका उद्देश्य नहीं है । "चत्वारि शृङ्गा" [ऋ० ३ । ८ । १०] इसके चार सींग, तीन पैर, दो मस्तक, सात हाथ इस प्रकार एक मंत्र है । किन्तु चार शृङ्गादिविशिष्ट कोईभी यज्ञसाधन द्रव्य नहीं, मंत्रपाठद्वारा जिसका स्मरण किया जाय । यदि कोई आपत्ति करे " इसप्रकार कोई देवता हो सकता है " तिसको समझानेके कारण दूसरा दोष सूचित करते हैं "अचेतनेऽर्थबन्धनात् ५ " अचेतन पदार्थमें चेतनोचित अर्थ निबन्ध, करनेमें मंत्र अर्थ ज्ञापन नहीं कराता यह विदित हो जाता है। हे ओषधे ! इसकी रक्षाकरो, पाषाण गण श्रवण करो इत्यादि स्थलमें अचेतन पाषाणआदि पदार्थोंमें चेतनोचित श्रवण रक्षणादि धर्म निबद्ध किया गया है, यह अत्यन्तही अनुचित है । इस स्थलमें "अभिमानिव्यपदेश०" इस सूत्रमें व्यास सूत्रमें प्रतिपादित पाषाणाद्यभिमानिनी चेतनदेवतासम्बोधनका विषय है, अत एव पूर्वोक्त दोष नहीं हो सकता, ऐसी शङ्का करके स्वतंत्र दोष लिपिबद्ध करते हैं,—"अर्थविप्रतिषेधात् ६" मंत्रका अर्थ विप्रतिषिद्ध है अत एव अर्थबोधके निमित्त मंत्रपाठ नहीं है "अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्ष०"[ऋ० १ । ६ । १६] यह मंत्र है । जो द्युलोक है वही अन्तरिक्ष है, ऐसा अर्थ विप्रतिषिद्ध है । इस स्थानमें " एकही रुद्र सहस्र रुद्र" इत्यादि वाक्यभी उदाहरणरूपमें गृहीत हो सकते हैं । कहा जासकता है " तुमही माता तुमही पिता " इत्यादि वाक्यमें जिस प्रकार पिता, माता रूपमें एकही व्यक्तिकी स्तुति की है इसीप्रकार द्युलोक अन्तरिक्षरूपमें अदितिकी स्तुति हो सकती है । इसी प्रकार एक रुद्र योगबलसे बहुतसे रूप धारण कर

सकता है। ऐसा होनेपर अर्थ विप्रतिषेध नहीं हुआ। इस आशङ्कासे अन्य दोष सूत्रित करते हैं। "स्वाध्यायवद् वचनात् ७" स्वाध्याय ग्रहणकालमें जिस प्रकार मंत्रपाठ अर्थबोध नहीं कराता, इसी प्रकार कर्म्मकालमेंभी नहीं। पूर्णिका नामक कोई एक स्त्री मुशलके द्वारा अवघात करती है, माणवक कदाचित् उसके निकट अवघात मंत्रपाठ करता है, उसके अर्थप्रकाशकी विवक्षा नहीं, क्योंकि मुशलप्रहारके साथमें नियमपूर्वक वह मंत्रपाठ नहीं करता, अक्षर ग्रहण करनेके निमित्तही वह मंत्र और अन्य मंत्र पाठ करता है। इस स्वाध्यायाभ्यास-कालमें पठित अवघात मंत्र जिस प्रकार पूर्णिकाके प्रति अर्थबोध नहीं जन्माता इसीप्रकार यज्ञसमयमें पठित होकरभी मंत्र अर्थज्ञान उत्पन्न नहीं करेगा। इस स्थानमें आपत्ति यह है कि, माणवककी अर्थविवक्षा नहीं केवल अक्षराभ्यासकीही आवश्यकता है। पूर्णिकाभी अर्थ जाननेमें असमर्थ है। किन्तु यज्ञमें अध्वर्य्युको अर्थकी विवक्षा है, बोधभी सम्भव है। इस आपत्तिके बलसे अपनी युक्ति दुर्वल होनेपर अन्य दोष सूत्रमें ग्रथित किया जाता है "अविज्ञेयात् ८" अनेक मंत्रोंका कुछभी अर्थ समझमें नहीं आता, इसकारण अर्थबोध मंत्रका उद्देश्य नहीं है। कितनेही मंत्रोंका अर्थ समझमें नहीं आता। यथा "अम्यक् सात्" इत्यादि एक "सृण्येवजर्भरी" इत्यादि इस स्थानमें शङ्का हो सकती है कि, सब मंत्रोंका अर्थ निर्णय करनेके निमित्त निगम, निरुक्त, निघण्टु, व्याकरणादि शास्त्र हैं। इसकारण अर्थ समझा जासकताहै। इस शङ्काके उपस्थित होनेपर अन्य-दोष सूत्रित करते हैं, "अनित्यसंयोगान्मंत्रानर्थक्यम् ९" अनित्य वस्तु प्रतिपादित होनेसे मंत्रकी अनर्थकता है। इसकारण अर्थप्रतिपादन उद्देश्य नहीं है। "कीकटमें तुम्हारा वथा नष्ट किया है" इत्यादि मंत्रमें कीकट जनपदका नाम पाया जाताहै इसी प्रकार नैचाशाखनगर, प्रमगन्दराजा यह सब अनित्यपदार्थ मंत्रमें हैं। यदि प्रमगन्दराजारूप अर्थबोध कराना मंत्रका उद्देश्य हो तो यह मंत्र प्रमगन्द राजाके पूर्वका नहीं ऐसा समझा जाताहै। अतएव तदर्थ शास्त्रादि इन समस्त युक्तियों द्वारा यह सिद्ध हुआ कि, मंत्रका अर्थबोध करानेके निमित्त प्रयोग नहीं है, इसका उच्चारण अदृष्टार्थ हैं। इस मंत्रके उच्चारण करनेसे अदृष्ट उत्पन्न होताहै अर्थबोधही उसका लक्ष्य नहीं हैं। इस प्रकार पूर्वपक्षका मत है।

पूर्वपक्षका मत निवद्ध करके अब उस विषयमें सिद्धान्त सूत्रित करते हैं सूत्र यथा—"अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः १०" लोकमें और वेदमें शब्दका अर्थ समान है।

---

१ किन्ते कृण्वन्ति कीकटेष्वितिः ऋ० ३ । ३ । २१ ॥ २ ऋ० ३ । ३ । २१ तैत्ति० ४।१।१।

सूत्रमें "तु" शब्दद्वारा मंत्रसमूहका अदृष्टार्थ उच्चारण निषेध कियाहै। क्रिया-कारक सम्बंधमें प्रतीयमान वाक्यार्थ लोकमें और वेदमें उभयत्र एकरूप है। ऐसा होनेपर लोकमें जिसप्रकार, अर्थप्रत्यय उत्पन्न करानेके निमित्त वाक्य उच्चारण कियाजाताहै, इसी प्रकार वैदिकप्रयोगमें भी समझना चाहिये। मंत्रके द्वारा समझाहुआ अर्थ अनुष्ठान करनेमें शक्य है, अप्रकाशित अर्थात् अज्ञात अर्थ अनुष्ठान नहीं कियाजाता। इस कारण मंत्रोच्चारणका अर्थ प्रकाश नहीं एकमात्र प्रयोजन देखा जाताहै। इस स्थलमें प्रश्न हो सकताहै कि, "अग्निरसि" इत्यादि मंत्रद्वारा प्रतीत अग्न्यादान "चार मंत्रोंद्वारा अग्नि आदान करना चाहिये" इस ब्राह्मणवाक्यमें फिर विहित होताहै। यह विधान अर्थ प्रकाश नहीं है, मंत्रोच्चारणका उद्देश्य इस मतमें व्यर्थ होताहै। इस प्रश्नकी शंका उत्तरसूत्रमें बाध करते हैं। "गुणार्थेन पुनः श्रुतिः ११" मंत्रके द्वारा प्रतीत विषयकाही ब्राह्मणवाक्यमें जो पुनः श्रवण है, वह केवल चतुःसंख्यारूप गुणविधानके निमित्तही उपयुक्त हुआहै। इस विधानके न होनेपर चार मंत्रोंमेंसे किसीकेद्वारा अग्नि आदान करना ही विधान होनेसे चारोंके द्वाराही आदान करना होगा। इस स्थानमें फिर एक शङ्का उदित होतीहै। "सत्यस्वरूप (पशु) की इस रशना (गलेकी रस्सी) का पूर्ववर्त्ती लोगोंने ग्रहण कियाहै" इस मंत्रद्वारा अश्वाभिधानी ग्रहण करनी चाहिये।

इस स्थानमें मंत्रकी सामर्थ्यसे प्राप्त रशना ग्रहणका ब्राह्मणवाक्य पुनर्वार नियोजकरूपसे पठित हुआ है। "यह आपके मतमें व्यर्थ होता है।" इस शङ्काके समाधानमें उत्तर देते हैं,—"परिसंख्या १२" इस स्थानमें परिसंख्या विधि कहनी चाहिये। गर्द्दभरशनाग्रहण इस मंत्रमें न करे इत्याकार निषेध परिसंख्या कहाता है इस कारणही "अश्वाभिधानीका ग्रहण इस मंत्रमें करना चाहिये" यह ब्राह्मणवाक्य है। यदि कहाजाय परिसंख्यामें तीन दोष हैं (१) "आदत्त" इस पदसे प्रतीत आदानरूप स्वार्थ परित्याग करती हैं, आदान निषेधरूप अन्यार्थ कल्पना की जाती है, रशना साधारणमें प्राप्त गर्द्दभ रशनाका आदान बाधित होता है यह दोष है। श्रुतार्थपरित्याग, अश्रुतार्थग्रहण, प्राप्त-बाध, यह तीन दोष परिसंख्यामें हैं। तो प्रत्युत्तरमें हम कहते हैं गर्द्दभरशनाकी प्राप्ति नहीं है। आपके (गर्द्दभरशनाप्राप्तिपक्षके) मतमें इस मंत्रका रशनादानप्रकरणमें पाठ वृथा होजानेके कारण उस अनुपपत्ति निवारणके निमित्त "इस मंत्रके द्वारा ग्रहण करे" इस प्रकार वाक्य कल्पना करनी चाहिये प्रकरणबलसे कल्पित उस वाक्यद्वारा मंत्र और ग्रहणका सम्बंध स्थिर होनेपर

---

१ इमामगृभ्णन्रशना० इत्यादि तै० सं० ५। १। २।

उसके अनन्तर "ग्रहण कौन विषयका है" इस विषयका निरूपण करनेमें मंत्र-लिङ्ग (शब्दसामर्थ्य) रूप प्रमाणद्वारा "रशनामात्रका आदान" स्वीकार करके रशनात्वसामान्यमें गर्द्दभरशनाकी प्राप्ति कहनी होगी, यह अनेक विलम्बकी बात है "अश्वाभिधानी ग्रहण करे" इस प्रत्यक्ष वाक्यद्वारा मंत्र और ग्रहणका सम्बंध सिद्ध होनेपर लिङ्गप्रमाण सिद्ध रशनामात्र ग्रहण "अश्वाभिधानी" यह विधि श्रुतिद्वारा अश्वरशनारूपविशेषमें व्यवस्थित होती है, उससेही मंत्र आकांक्षाशून्य हो जाता है इस कारण गर्द्दभरशनाकी प्राप्तिही नहीं होती । प्राप्तिका बाध नहीं अत एव निषेधार्थभी कल्पित नहीं होता, विध्यर्थ भी परित्यक्त नहीं होता, तीन दोष क्योंकर हुए १ गर्द्दभरशनाके इस अप्राप्तिरूप निषेध अभिप्रायसेही परिसंख्या यह सूत्ररचना किया है । इस स्थलमें फिर आपत्ति होती है कि, प्रथमविधायक ब्राह्मणका वैयर्थ्य जैसा था वैसाही रहा, उसकी गति क्या है ? इस आपत्तिका उत्तर सूत्रित किया जाता है । "अर्थवादो वा १३ " अर्थवाद कहाजाय । सूत्रका वाशब्द विफलतानिवारण करता है । "यज्ञपतिकोही प्रथित कराना चाहिये" यह अर्थवाद है । उस अर्थवादके साथ सम्बंध करनेके निमित्त ब्राह्मणमें विधि पढी गई है । फिर प्रश्न होता है—प्रथित करावे, इस प्रकार शब्दद्वारा प्रथनका अनुवाद करके "यज्ञपतिकोही" इत्यादि अर्थवाद द्वारा स्तुति करनी होगी, किन्तु वह प्रथन कहांसे प्राप्त है ? इसका उत्तर कहाजाता है,—"मंत्राभिधानात् १४ " मंत्रकथन है, उससे । अध्वर्य्यु पुरोडाशका उद्देश करके मंत्रमें " प्रथित हो " ऐसा कहता है । उस कथनसे अध्वर्य्युकर्तृक प्रथन प्राप्त हुआ है । जैसे लोकमें देखा जाता है कि, "कर" यह बात कहकर वही निश्चय कराताहै । इस स्थानमें अध्वर्य्यु "प्रथित होवे" कहता है, इस कारण वही प्रथित कराता है । पूर्वमें जो कहा है, अग्निर्मूर्द्धा इत्यादि मंत्रमें पाठक्रमकरनेकी उपपत्ति करनेके निमित्त मंत्र-उच्चारण दृष्टार्थ है, इस बातके उत्तरमें कहाजाता है,—"अविरुद्धं परम् १५" वह इस पक्षमें भी अविरुद्ध हैं । दूसरे सूत्रमें (वाक्यनियमात्—इस सूत्रमें) जो क्रम पाठ नियम अदृष्टार्थ कहा है, वह हमारे पक्षमें भी विरुद्ध नहीं है । पाठक्रम नियम का अदृष्ट फल हम निवारण करना नहीं चाहते; यदि कहो तो क्या ? और कुछ नहीं यह, मंत्रोच्चारणसे विदित हुआ अर्थज्ञान उच्चारणका दृष्टप्रयोजन है; इस कारण उपेक्षाका विषय नहीं है यही बात कहना चाहते हैं ।

प्रोक्षणी आसादन कर यह प्रैषमंत्र ज्ञातअर्थ ज्ञापन कराता है, यह अन्याय है, क्योंकि जिस पैरमें जूता हो उसीमें दूसरा जूता धारण करना असम्भव है । यह

१ उरु प्रथस्वेति तै० अ० ३ । २ । ८ । २ प्रोक्षणीरासादय तै० ब्रा० ३ । २ । ९

जो आपत्ति पूर्वमें कही गई है इस सूत्रमें उसका परिहार कियाजाता है। "सम्प्रैषेकर्म्मगर्हानुपलम्भः संस्कारत्वात् १६" सम्प्रैषकर्म्ममें (प्रोक्षणी आसादनकर, इस प्रैषमंत्रद्वारा जानेहुए कर्म्ममें) दोष नहीं, जो अर्थ विदित है वह मंत्रके द्वारा स्मरण करने पर (मंत्रद्वारा ही स्मरण किया जाता है, ऐसा) नियमजनित अदृष्टरूप संस्कारविशेष उत्पन्न होता है। अतएव मंत्रद्वारा स्मरण करनेका फल नियमादृष्ट है, इस कारण मंत्रका स्मरण निष्फल नहीं है। पूर्वमें जो कहागया है "चारशृङ्ग" इत्यादि मंत्र असत् (जो नहीं) अर्थ बुझाता है, अतएव अर्थज्ञानके निमित्त मंत्रका उच्चारण नहीं है, इस तर्कके उत्तरमें सूत्र कहते हैं "अभिधानोऽर्थवादः" जो वाक्य असत् अर्थ समझावे ऐसा मनमें हो, उस वाक्यमें गौणरूपसे अन्यार्थका प्रतिपादन देखा जाता है। जैसे, कर्म्मके चार शृंग, होता, अध्वर्य्यु, उद्गाता और ब्रह्मा। कर्मके तीन पाद हैं, प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन और सायंसवन (तीसरा सवन)। कर्म्मके दो मस्तक हैं यजमान और उसकी स्त्री। गायत्रीआदि सात छन्द कर्मके सात हाथ हैं। ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेद द्वारा तीन प्रकारके वन्धन हैं। कर्म्म वृषभ—अर्थात् अभिलाषित वस्तु वर्षण करता है। "रोरवीति" शब्दकरता है अर्थात् स्तोत्र शस्त्रादिरूप शब्द वारंवार करता है। प्रौढ यज्ञकर्म्मरूप देवता-मनुष्यगणमें आविष्ट हुआ है। इस स्थानमें (यज्ञकर्म्ममें) मनुष्य ही अधिकारी है। लोकमें भी इस प्रकारके गौण प्रयोग देखे जाते हैं। चक्रवाकरूपस्तननिविष्टा, हंसरूपदन्तपंक्तिधारिणी, काशरूपवस्त्रपरिधानकारिणी, शैवालकेशवती नदी शोभा पातीहै, इत्यादि प्रकारसे नदीकी स्तुति की है। इसी प्रकार हे ओषधे ! रक्षाकर, पाषाणशकल श्रवण करो इत्यादि अचेतनविषयक सम्बोधनभी स्तुतिप्रतिपादक होनेके कारण योजना करने होंगे। ओषधिविषयमें स्तुतिप्रयोग यथा—जिस वपनमें ओषधिभी रक्षा करती है, उस स्थानमें वपनकर्त्ता रक्षा करता है, इस बातमें और क्या वक्तव्य है? (अर्थात् निश्चयही करतीहै) प्रस्तर श्रवणका स्तुतिपरत्व यथा—जो प्रातरनुवाक् पाठ प्रस्तर (अचेतन होनेपर भी) श्रवण करते हैं, विद्वान् ब्राह्मणलोक जो उसको श्रवण करेंगे उसमें और बात क्या ? इन सब मंत्रोंका इसी प्रकारसे स्तुतिप्रतिपादनही अभिप्राय है। अदिति द्युलोक, अदिति अन्तरिक्ष, इस स्थलमें जो विप्रतिषेध कहा गयाहै, उसका उत्तर इस सूत्रमें दिया जाताहै। सूत्र यथा,—"गुणादप्रतिषेधः स्यात् १८" गौण प्रयोग स्वीकार करनेपर प्रतिषेध नहीं है। जैसे "तुमही पिता, तुमही माता" इत्यादि स्थलमें एकही व्यक्ति पिता और माता (गौण प्रयोगमें) होसक्ताहै, उसमें विरोध नहीं; इस स्थानमें जो

द्युलोक है, वही अन्तरिक्ष होनेपर विरोध नहीं होता; इसी प्रकार एक रुद्र देवता (जिस कर्म्ममें एक रुद्रही देवता है) कर्म्ममें एक रुद्र, और जिस कर्म्ममें शत रुद्र वहां सौ हैं, ऐसे एक रुद्र और सौ रुद्रोंका विरोध दूर किया जाताहै । पूर्वमें कहागयाहै, माणवक जिस समय वेद पाठ करताहै; उस समय अवघात मंत्र पाठ करनेपर भी पूर्णिकाका किया हुया अवघात प्रकाश करनेकी इच्छा नहीं करता, यज्ञमें भी इसी प्रकार जानों इस प्रश्नका उत्तर सूत्रमें कहा है । सूत्र "विद्यावचनमसंयोगात् १९" विद्या ग्रहण कालमें जिस अर्थका अप्रकाशन है, उसका यज्ञके साथ सम्बंध होनेसे उपपन्नता होतीहै । पूर्णिकाका अवघात यज्ञसम्बंधी नहीं है । (यज्ञका मंत्रपाठ यज्ञसम्बंधी अवघात प्रकाश करता है, अन्यत्र नहीं, यही तात्पर्य्य है ।) माणवक यज्ञ नहीं करता है । यज्ञका उपकारक न होनेके कारण माणवकके अवघात मंत्रपाठमें अर्थविवक्षा नहीं है । "अम्यक् सात्" "सृण्येवजर्भरी" इत्यादि मंत्रका अर्थ न जानेजानेके कारण कुछ भी अर्थ नहीं रखता, इस कारण मंत्रद्वारा किसका स्मरण किया जायगा, यह जो युक्ति पूर्व दिखाई गई है, उसका उत्तर कहा जाता है । सूत्र—"सतः परमविज्ञानम् २०" अर्थात् विद्यमान अर्थ भी नहीं जाना जाता । अर्थ होनेपर भी अनवधान और आलस्यादि दोषसे वह नहीं जाना जाता निगम, निरुक्त, व्याकरण इत्यादिकी सहायतासे धातुसे अर्थ कल्पना करना चाहिये जैसे,—"जर्भरी तुर्फरीतु" इत्यादि अश्विनीकुमारका नाम है । उन सब नामोंमें द्विवचनान्तत्व देखा जाता है । इस सूक्तका नाम आश्विन सूक्त है अश्वियुगलके सम्बधी सूक्तमें उनकाही वर्णन होना सम्भव है । "अश्विनोः काममप्रा", इत्यादि अश्वियुगलका नाम देखा जाता है । इसे मनमें करके ही निरुक्तकार यास्कने ऐसी व्याख्या की है । जर्भरी—दोनोभर्त्ता "तुर्फरीतु" अर्थ—हन्ता अर्थात् विनाशक तात्पर्य्याधीन अश्वियुगल भर्त्तार्भा ठीक है, विनाशक भी ठीक है, इस प्रकारही इस अंशका अर्थ सम्पन्न हुआ है इसी प्रकार "अम्यक् सात्" इत्यादि स्थलमें भी अर्थ कल्पना करनी चाहिये आगे कहागया है प्रमंगद (प्रमंगद) आदि अनित्यपदार्थप्रतिपादक होनेके कारण वेदमन्त्रोंका अनादित्व नहीं रहता, परन्तु आदिमत्ता दोषसें प्रामाण्यका भी संदेह होता है उस तर्कका इस सूत्रमें उत्तर दियाजाता है । "उक्तश्चानित्यसंयोग इति २१"—अर्थात् अनित्य संयोगसम्बन्ध कहागया है । मीमांसादर्शनके प्रथमपादके शेष

१ ऋ० ८ । ६ । २ । १ नि० १३ । ५

अधिकरणमें (१) यह अनित्यपदार्थप्रतिपादनदोष कहा गया है और उसका परिहारभी किया हुआ है । उस स्थानमें पूर्वपक्षमें वेदका पुरुषनिर्म्मातृत्व कहनेके निमित्त काठक कालापक (२) इत्यादि पुरुषसम्बंधजनितसंज्ञाको हेतुरूपमें उपन्यस्त करके "अनित्यदर्शन" रूप हेतु सूत्रित कियाहै । उसका अर्थ इसप्रकार है—ववर प्रवाहनिने कामना की थी, इत्यादिस्थानमें अनित्य ववरादि पदार्थ प्रतिपादन देखा जाताहै, जब वेद ववरका प्रतिपादक है, तो ववर वेदके पूर्ववर्त्ती हैं, वेदही उसका परकालीन है; अतएव वेद पौरुषेय और अनित्य है । इस आपत्तिका उत्तर उस स्थानमें सूत्रमें कहाहुआहै, यथा—"परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" सूत्रार्थ यह है कि, काठकआदि जो समस्त समाख्या हैं (३) वे प्रवचनके निमित्त हैं, रचनानिमित्त नहीं (४) आगे जो ववरादि अनित्यदर्शन कहे हैं, वह शब्द सामान्यमात्र हैं । उस स्थानमें ववरनामक कोईभी अनित्य व्यक्ति विवक्षित नहीं है । किन्तु शब्दका अनुकरणमात्र (ववर यह) है । ऐसा होनेपर ववर ऐसा शब्दकारी वायु ववर शब्दसे अभिहित होताहै । वह फिर प्रवाहनि, अर्थात् प्रकृष्टरूपसे वहनशील है; इसीप्रकार दूसरे स्थानोंमेंभी कल्पना करनी चाहिये । ऐसा होनेपर किसी दोषकी सम्भावना नहीं (५) अत एव केवल विवक्षितार्थ अर्थबोधके निमित्त मंत्रप्रयोग किया जाता है । यदि कोई प्रश्न करे कि, अर्थ प्रकाश मंत्रोच्चारणका उद्देश्य होनेपर दृष्ट प्रयोजन साधित होता है (अर्थप्रकाशरूप दृष्ट प्रयोजन सम्भव होनेपर अदृष्टप्रयोजन कल्पना करना अन्याय है ।) यह युक्तिमात्र है । इस स्थानमें कोईभी श्रौतलिङ्ग इसकी दृढता-

(१) अधिकरण एक सम्पूर्ण प्रस्ताव है, पहिले विषय, इसके पश्चात् संशय, उसके अन्तमें पूर्वपक्ष, उसके अनन्तर उत्तर और संगति इनके द्वारा एक प्रस्ताव पूर्णरूपसे विचारित होताहै । इस-विचार किये हुये सम्पूर्ण प्रस्तावका नाम एक अधिकरण है ।

(२) कठविरचित होनेपर काठक नाम होना युक्तियुक्त है । "वाल्मीकीय" कहनेपर जैसे वाल्मीकिरचित समझाजाताहै, इस नामका पाठ करनेपर तद्रूप उक्त शाखा कठरचित समझना चाहिये, ऐसा संदेहमें पूर्वपक्ष है ।

(३) समाख्या नाम हैं । वचन अर्थात् प्रकृष्टरूपसे कहना वा प्रचार करना । कोई एक विषय किसीकेभी द्वारा कथित होनेपर इसी प्रकार संज्ञा अथवा नाम प्रयुक्त होसकताहै ।

(४) अथवा वेदमें जो निर्देश है तदनुसार वारंवार होनाभी है ।

(५) आख्यायिकामें कुछभी नहीं, वह केवल बातकी बात है मीमांसक ऐसा कहते हैं । आख्यायिकाकी सत्यता स्वीकार कर्त्तव्य स्वीकार होनेपर वेदके प्रामाण्यमें सन्देह होसकताहै । इसको इस प्रकारभी जानना कि, यह आख्यायिका अध्यात्मउपदेशरूपभी होसकतीहै । वा जगत्के व्यापार-कीभी प्रतिपादक है ।

सम्पादन करता है, ऐसा नहीं देखा जाता। ऐसा होनेपर प्रश्नके उत्तरमें कहा जायगा "लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत् २२" अर्थात् वाक्यमात्र जो अर्थवत् है, इस विषयमें लिङ्गोपदेश है। श्रुति है (आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठेत) " आग्नेयी-ऋक् द्वारा अग्नीध्र स्थानमें उपस्थान करना चाहिये" उसका अर्थ इस प्रकार है, जिस ऋक् मंत्रका देवता अग्नि है, वह ऋक् आग्नेयी है, उसके द्वारा अग्नीध्रस्थानमें उपस्थान करे। इस स्थानमें यह उपस्थानउपदेशक ब्राह्मण वाक्य यथा-"अग्ने नय" इत्यादि ऋक् द्वारा उपस्थान करे। यह उपदेश मंत्र प्रतीक पाठ करके नहीं है, मंत्रमें आग्नेयीत्व लिङ्गप्रदर्शन करकेही यह उपदेश है। उस ऋक् में जब अग्नि प्रधानरूपसे प्रतिपादित होती है, उस समय उस ऋक्का देवता अग्निही होगा। ऐसा होनेपर आग्नेयी शब्दमें देवतावाची तद्धित प्रत्यय (वह इसका देवता है इस अर्थमें जो तद्धित प्रत्यय होती है) उपपन्न हुई समझा जाय इस प्रकारका उपदेश किया हुआ होनेके कारण मंत्रवाक्यका अर्थ है। (अर्थ न होनेपर तदर्थमें तद्धित प्रत्यय और उसके अनुसार नियोग इसको कुछभी नहीं हो सकते। मंत्र विवक्षितार्थ होनेके कारणही प्रयोगकालमें अर्थ स्मरण करनेके निमित्त मंत्रोच्चारण किया है।) मंत्रकी अर्थविवक्षा है। इस विषयमें सूत्रमें अन्य एक हेतु दिखाते हैं। यथा-"ऊहः२३" अर्थात् ऊह देखाजाताहै इसकारणही मंत्र विवक्षितार्थ है। प्रकृतियागमें पठित मंत्रके विकृतियागमें (१) समवेतार्थरक्षा करनेके निमित्त तदुपयुक्त अन्यशब्द सन्निविष्टकरके पाठकरनेका नाम ऊह है। "अन्वेनं मातामन्यताम्"इति[तै०१।२।४] इत्यादि मंत्र यथार्थपशु विषयमें पढाजाताहै। वह मंत्र जब विकृतिमें पठित होगा, उस समय मंत्रमें ऊह करना होगा। प्रकृतिमें एक पशु, विकृतिमें दो पशु हैं, इस कारण प्रकृतिमें अन्वेनं यह एकवचनान्त पाठ है, विकृतिमें अन्वेनौ ऐसा द्विवचनान्त पाठ करना चाहिये। बहुत पशु होनेपर, अन्वेनान् ऐसा बहुवचनान्त ऊह करना चाहिये। इस "अन्वेनं" इत्यादि मंत्रका व्याख्यान ब्राह्मणमें इस प्रकार कहागया है (न माता वर्धते न पिता) "पिता वृद्धि नहीं पाता, माता वृद्धि नहीं पाती।" इस स्थानमें विचारका विषय यह है कि, पितामाताकी शरीरवृद्धि क्या इस स्थानमें निषिद्ध हुई है? अथवा शब्द (पितृ मातृ) वृद्धि है? एकवचनान्त मातृशब्दका द्विवच-

(१) जिस यागप्रकरणमें समस्त वा अधिकांश अङ्गकर्म उपदिष्ट हुआहै, वह याग प्रकृति है,-जिसप्रकार सोमयाग। और जिस स्थानमें अल्प अङ्ग कर्मका उपदेश है वह यागविकृति है। प्रकृतिकी समान विकृति करै इस विधानको चोदक वाक्य कहतेहैं। इसके द्वारा प्रकृतियागके अङ्ग-समूह विकृतिमें उपस्थित होतेहैं। विकृति जैसे वाजपेय।

नान्त "मातरौ" और बहुवचनान्तकरके "मातरः" ऐसा प्रयोग करनेपर शब्द वृद्धि होती है। शरीरवृद्धि निषेध नहीं किया जासकता। बाल्य, कौमार, यौवन इत्यादि आयुके अनुसार शरीरकी वृद्धि प्रत्यक्ष है। परिशेषमें शब्दवृद्धि ही अवशिष्ट है। मातृशब्द पितृशब्दकी विशेषरूपसे वृद्धि निषेध करनेसे दूसरे "एनं" इस शब्दकी अनुसारिणी वृद्धि सूचित होती है, इसस्थानमें यदि अर्थ विवक्षा न होती तो पशुके एकत्वमें एकवचन, द्वित्वमें द्विवचन और बहुत्वमें बहुवचन होनेका कारण क्या था ? अत एव मन्त्र विवक्षितार्थ है। इस विषयमेंही अन्य एक हेतु सूत्रित किया जाताहै। "विधिशब्दाच्च २४" अर्थात् विधिशब्दसेभी विवक्षितार्थ जाना जाता है। मन्त्र व्याख्यारूप वेदके ब्राह्मणभागान्तर्निविष्ट शब्दको विधिशब्द कहाजाता है। "शतं हि मा शतं वर्षाणि जीव्यास्मेत्येवैतदाहेति" इसप्रकार ब्राह्मणगत विधिशब्द पठित है। इसमें "शतंहिमा" यही व्याख्येय मन्त्रका प्रतीक भाग है। अवशिष्टांश मन्त्रकी तात्पर्य व्याख्या है। यदि शब्दका अर्थही विवक्षित न हो तो किस तात्पर्य्यकी व्याख्या करनी होगी ? अत एव मन्त्र विवक्षितार्थ है। कर्म्म अनुष्ठानकालमें मन्त्रका अर्थ प्रकाश करनेके निमित्तही मंत्र उच्चारण करना उचित है। इन श्लोकोंमें यह सिद्धान्त निबद्ध हुआ है। इन दोनों श्लोकोंका अर्थ यह है। उरु प्रथस्व इत्यादि मन्त्रोच्चारण करनेपर क्या अदृष्ट उत्पन्न होता है अथवा यागादिमें पुरोडाशप्रथनादि अर्थका बोध उत्पन्न होता है ? ब्राह्मण व्याख्यासे पुरोडाश प्रथम कहा गया है, अतएव मन्त्रके उच्चारणमें पुण्य उत्पन्न होता है यह बातही नहीं कही जासकती; क्योंकि अर्थज्ञान दृष्टप्रोजन है, पुण्यादि अदृष्ट, दृष्टफलकल्पना अदृष्टफलकल्पनासे उत्कृष्ट है, अतएव अर्थज्ञान मन्त्र उच्चारणका उद्देश्य है।

आपत्तिकारी कहते हैं, मन्त्रभागानुष्ठानके समय अर्थस्मारकत्वके कारण (अर्थस्मरणकरानेके कारण) प्रामाण्य हो, किन्तु ब्राह्मणभाग प्रामाण्यउपयुक्त नहीं है। ब्राह्मण दो प्रकारका है, विधि और अर्थवाद। आपस्तम्ब कहते हैं, कर्म्मकी प्रेरणा अर्थात् विधि ब्राह्मण है विधिरूप ब्राह्मणका शेषभाग अर्थवाद है। विधि भी दो प्रकारकी है, आवृत्तप्रवर्तक और अज्ञातज्ञापक।

---

१ मन्त्रा उरु प्रथस्वेति किमदृष्टैकहेतवः ॥ यागेषूतपुरोडाशप्रथनादेश्च भासकाः ॥ १ ॥ ब्राह्मणेनापि तद्भानान्मन्त्राः ॥ पुण्यैकहेतवः । न तद्भानस्य दृष्टत्वाद्दृष्टं वरमदृष्टतः ॥ २ ॥ कर्मचोदना ब्राह्मणानि ब्राह्मणशेषोऽर्थवाद इति आपस्तम्बधर्मसूत्रे ।

दीक्षणीयानामक इष्टिमें (१) * अग्निदेवताका पुरोडाश (२) निर्वापकरे, इत्यादिकर्म्मकाण्डगत विधि अप्रवृत्त कर्म्मकी प्रवर्त्तक है। और "सृष्टिके पूर्वमें यह दृश्यमान जगत् एक सन्मात्र आत्मा ही था" इत्यादि ब्रह्माण्ड (उपनिषद्) गत विधिसमूह अज्ञातज्ञापक है। उसमें कर्म्मकाण्डगत "जर्त्तिल यवागूसे अथवा गवीधुक यवागूसे होमकरे" इस समस्त विधिका प्रामाण्य नहीं है, क्योंकि अनुष्ठानके अयोग्य द्रव्य विधान करनेसे इस विधिका सम्यक् ज्ञानसाधनत्व नहीं है, अर्थात् इसके द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह असम्पूर्ण है। इस विधिमें जर्त्तिल यवागू विधान किया है, जर्तिलयवाग्वा जुहुयाद्गवीधुकयवाग्वेति० तै० सं०५।४।३ वाक्यशेषमें उस जर्त्तिलकेही योगमें अयोग्यत्व कथित हुआहै। जैसे "जर्त्तिल और गवीधुक आहुतिके अयोग्यहैं" (तै० सं० ५।४ ३।) अनाहुतिर्वै जर्तिलाश्च गवीधुकाश्चेति) उस स्थानमें अरण्यतिल (जर्त्तिल) और अरण्यगोधूमकी (गवीधुककी) आहुतिद्रव्यत्व निषिद्ध हुएहैं। इसकारण जर्त्तिलादि विधानकी बाधा उपस्थित होनेमें यह सब विधि अप्रमाण हैं। इस प्रकार ऐतरेय २।२३। तैत्तिरीयादि १।१।८। ब्राह्मणमें वह समस्त अंश आदर करनेके योग्य नहीं हैं। (क्यों कि उस स्थानमें) "वह इसप्रकारसे नहीं करना चाहिये" इस वाक्यसे अनेक विधिका निषेध कियाहै। और भी ऐतरेयब्राह्मण ५।३१। में अनुदित होमकी अनेक निन्दा करके, उदितमें (सूर्य-उदय होनेपर) होमकरे, इस बातका वारंवार सिद्धान्त कियाहै। इसी प्रकार तैत्तरीयगणभी २।१।२ ब्रा० में कहते हैं, सूर्य्य उदित न होनेपर जो होम-करेगा, उसके दोनोंही आग्नेय होंगे। अग्निसम्बन्धी होगा ऐसा कहनेमें होमकी प्रशंसा की है। अग्निसंबन्धी न होकर भस्म संबन्धी होनेपर वह होम वृथा होजायगा। (लोकमें कहते हैं भस्म होम) फिर वही लोक उदित होममें दोष कहते हैं। सूर्य्य उदित होनेपर, प्रातःकालमें जो होमकरे, वह शून्य घरमें कुछ न पाकर फिर जाताहै, २।१।२ ऐसे अतिथिके निमित्त भोजन लेकर जानेका मत है। वास्तवमें अतिथि घरमें यत्न न पाकर चला जाताहै, फिर यत्न करना निन्दाजनक है। और भी अतिरात्रसंज्ञकयागमें (३) षोडशिग्रह (४) ग्रहण करनेकी विधि है।

---

(१) दीक्षणीया इष्टि ज्योतिष्टोमका अङ्ग है। दर्शपूर्णमास इष्टिकी विकृति है। इष्टिमें सामगान नहीं होता यागमें होता है, यागमी इष्टिका भेद यही है।

* आग्नवैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति ऐत०ब्रा०१।१+आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ऐत०उ०।

(२) यज्ञीय हविविशेष। व्रीहि यवादि निर्मित पिष्टकाही पुरोडाश है इसको अग्निमें डालकर होम किया जाता है।

(३) ज्योतिष्टोमके सात संस्थाओंमेंसे अतिरात्र एक संस्थाका नाम है।

(४) ग्रह सोमरस रखनेके निमित्त पात्रविशेष, उनमेंसे षोडशी एक पात्रका नाम है।

यह "अतिरात्रमें षोडशिग्रह ग्रहण न करे", निषेधके द्वारा बाधित होता है। ज्योतिष्टोमादि यागकेभी अनुष्ठानके पश्चात् स्वर्गादि फललाभ नहीं किया जाता। भोजनके पश्चात् तृप्तिकी अनुपलब्धि सम्भव नहीं। इसकारण यागान्तमेंही स्वर्ग होना उचित था इसकारणही कर्मविधिमें प्रामाण्य संस्थापन करना दुष्कर है। अज्ञातज्ञापक ब्रह्मविधि समूहमेंभी परस्पर विरोधिताके होनेसे प्रामाण्य नहीं है। "आत्मा वा इदमग्र आसीत्" सृष्टिके पूर्वमें दृश्यमान यह जगत् एक मात्र आत्मा रूपमें था, ऐतरेय शाखाध्यायिगण ऐसा कहते हैं, फिर यह पूर्वमें "असद्वा इदमग्र आसीत्" असत् था तैत्तिरीयगण ऐसा कहते हैं। इस विरोधसे बहुहेतुक वेदका समग्र विधिभाग अप्रमाण है।

ऐसी आपत्ति उपस्थित होनेपर कहीं, जर्त्तिलादि विधिका प्रामाण्य न हो क्योंकि इस विधिके प्रतिपाद्य कर्म्मका अनुष्ठान करना नहीं होगा, अनुष्ठेय अंशही प्रमाण है। अजाक्षीर (बकरीके दूध) से होम करे, इस वाक्यद्वारा विहित होमही इस स्थानमें अनुष्ठेय कर्म्म है। बकरीके दूधकी प्रशंसाके निमित्त जर्त्तिलादिकी निन्दा कीगई है (१)। जिसप्रकार गऊकी और अश्वकी प्रशंसा करनेके निमित्त गौ अश्वके अतिरिक्त दूसरे पशु नहीं हैं, "अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः" इति, इस अर्थवाद वाक्यसे छागआदिके पशुत्वकी निन्दा की है। उसीप्रकार इस स्थानमें भी ऐसा होनेपर, जैसे छागादिका यथार्थ पशुत्व है, इसीप्रकार जर्तिलादिविधिकी इस स्थानमें निन्दा करनेपर भी शाखान्तरमें उसकी प्रामाणिकता है, ऐसा कहनेपर उस शाखाध्यायीके निकटही प्रामाण्य होना चाहिये, दूसरेके निकट अप्रमाण होनेसे भी नहीं। जिसप्रकार गृहीके पक्षमें निषिद्ध परान्नभोजन गृहस्थाश्रममें अप्रमाण होनेपर भी, अन्यआश्रममें (भिक्षुकआदिका) प्रामाणिक होनेके कारण गृहीत होता है। इसीप्रकार सब स्थानोंकी परस्पर विरुद्ध विधि निषेधकी पुरुषभेदसे व्यवस्था करनी चाहिये। (जिसके प्रति विधि है, उसके प्रति निषेध नहीं है अधिकार भेदसे एक स्थानकी विधिके साथ दूसरे स्थानके निषेधका कोईभी विरोध नहीं होता।) जिसप्रकार मंत्रमें पाठभेद शाखाभेद व्यवस्थित हुआ है। तैत्तिरीयशाखीगण "वायवस्थोपायवस्थ" ऐसा मंत्रपाठ करते हैं। वाजसनेयिगण "उपायवस्थ" इस अंशका पाठ नहीं करते प्रत्युत शतपथब्राह्मणमें यह अंश उद्धृत करके निराकृत किया है। इसीप्रकार सूत्रवाकमंत्रमें अन्यशाखाका पाठ निरास करके

---

(१) निन्दाका उद्देश्य दूसरेकी प्रशंसा है। आचार्य्य कहते हैं "नहि निन्दा निन्दितुं प्रवर्त्तते इतरच्च प्रशंसितुम्।"

तैत्तिरीयोंने दूसरा पाठ ग्रथित किया है, "सूपावसाना च स्वध्यवसाना च" ऐसा कहनेपर यजमान विपदापन्न होगा । इस वाक्यसे यह पाठ निराकृत हुआ है । "सूपचरणा च स्वधिचरणा च" इसप्रकारही कहना उचित है, अन्यथा नहीं । इसप्रकार पाठान्तरका उपदेश दिया गया है । अनुष्ठाता पुरुषभेदसे इन सबमें व्यवस्था करनी चाहिये । जो मीमांसाकी बात नहीं सुनता, वह षोड़शिग्रहण में दोष देता है, पूर्वमीमांसामें दशम अध्यायके अष्टमपादमें षोड़शिग्रहण और षोड़शिग्रहण न करनेका विकल्प निर्णीत हुआ है । द्वितीयाध्यायके प्रथम पादमें कर्म विनाशके पश्चात् अनेक समयके अनन्तर प्राप्य स्वर्गादि फलकी सिद्धि करनेके निमित्त "अपूर्व" निर्णय किया है । इसीप्रकार उत्तरमीमांसामें पहले अध्यायके चौथे पादमें "कारणत्वेन च आकाशादिषु यथा व्यपदिष्टोक्तेः" १४ इस सूत्रमें जगत्कारण परमात्मा है इस विषयमें श्रुतिकी विप्रतिपत्ति विनाश की है । उत्तरमीमांसामें दूसरे अध्यायके पहले पादमें आरम्भण अधिकरणमें "असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्१७" इस सूत्रमें तैत्तिरीय वाक्यगत असत् 'शब्दका "असदेव वा इदमग्रआसीत्" इसस्थानमें अर्थ "शून्य" नहीं है, किन्तु 'जगत्की अव्यक्तावस्था है" ऐसा निर्णीत हुआ है । इसीप्रकार जैमिनिने "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः१।१।२।" इस पूर्वमीमांसासूत्रमें विधिवाक्य धर्ममें प्रमाण है, ऐसी प्रतिज्ञा करके "औत्पत्तिकस्तु ५" इस सूत्रमें उसका समर्थन किया है । व्यासदेवने भी "शास्त्रयोनित्वात् १ । १ । ३।" इस सूत्रसे वेदान्तशास्त्रका ब्रह्ममेंही प्रामाण्य है, ऐसी प्रतिज्ञा करके "तत्तु समन्वयात्" इत्यादि सूत्रोंके द्वारा उसका समर्थन किया है । अतएव अमीमांसकको इन सब स्थानोंमें यह समस्त न्याय (तर्क) अनिवार्य्यही उठता है । अभिज्ञमीमांसकका ऐसा भाव नहीं होता । अत एव विधिभागका प्रामाण्य स्थिर हुआ ।

अर्थवादभागका प्रामाण्य महर्षि जैमिनिने बहुप्रयत्न स्वीकारकरके समर्थन किया है । उनके सूत्रोंकी व्याख्या की जायगी । पहिले पूर्वपक्ष लिखते हैं । सूत्र यथा— "+आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते" पू० मी०अ०१ पा० सू० १ समस्तवेदभागही क्रिया (कर्म्म) प्रतिपादनमें प्रवृत्त है, इसकारण जिस वेदभाग द्वारा कोई कर्म प्रतिपादित न हो, उस अर्थवादसमूहका प्रामाण्य नहीं है । वह अर्थवादसमूह वेदमें पढ़ागया है, यथा,– "[1]उसने रोदन कियाथा, जो रोदन कियाथा वही रुद्रका रुद्रत्व है ।" "[2]उसने अपनी वपा उखाड़ीथी ।" "[3]देवे

+ यहांसे लेकर १८ सूत्र पूर्वमीमांसाके १ अध्यायके दूसरे पादके जाननें ।

१ "सोरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्" तै०सं०१।५।१। २ "स आत्मनो वपमुदक्खिदत्" तै०सं० २।१।१। ३ "देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्रजानन्" तै० सं० ६।१।५ ॥

गण देवयजन आरम्भ करके दिक् नहीं जानसकेथे।" इन समस्त वाक्योंका जब कोई भी विवक्षित अर्थ नहीं, तो यह सब अनित्य कहे जा सकते हैं। यद्यपि अनादि होनेके कारण स्वरूपतासे अनित्यत्व सम्भव नहीं, तथापि धर्म्मावबोधरूप नित्यकार्य्य न करनेसे अनित्यकाव्यालापादिके समान है, इसकारण अप्रमाण है। इस स्थानमें आपत्ति होती है, जो समस्त अर्थवाद वाक्य उद्धृत किये हैं, वे धर्म्मानुष्ठानके प्रमाण न होनेपर भी अपने प्रतिपाद्य अर्थमें प्रमाण होते हैं। स्वार्थ प्रतिपादन करनेपर उनका स्वतः प्रामाण्य अस्वीकार नहीं किया जायगा, ऐसी आशंका करके (पूर्वोक्त मतमें उनका अप्रमाण नहीं कहा गया इसकारण) अन्य कितनेही अर्थवाद वाक्यमें प्रत्यक्षादि प्रमाणका विरोध देखकर, उनका अप्रमाण होनेके कारण अन्तमें उस दृष्टान्तमें सब अर्थवादही अप्रमाण हैं ऐसा कहा जासकेगा यह मनमें करके सूत्रमें कहाजाता है। "शास्त्रदृष्टविरोधाच्चेति २" शास्त्र-विरोध और दृष्टविरोध तथा शास्त्रदृष्टविरोध यह तीनप्रकारका विरोध अर्थवाद वाक्यमें पाया जाता है। जैसे-"स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाक्" अर्थात् स्तेन मन मिथ्यावादिनी वाक्" इस स्थानमें श्रुत मानसचौर्य्य और वाचिक मिथ्याकथन निषेध शास्त्रके साथ विरुद्ध होता है।"इसीप्रकार दिनमें अग्निका धूम देखाजाता है लपट नहीं देखी जाती,इसी भाँति अग्निकी अर्चि रात्रिमें देखी जाती है, धूम नहीं देखाजाता" इस स्थानमें प्रत्यक्षविरोध है क्योंकि वास्तवमें देखाजाता है। (इस प्रत्यक्ष विरोधका नाम दृष्टविरोध है।) कौन उसको जानता है जो इस लोकमें है अथवा नहीं इस स्थानमें शास्त्रदृष्टके साथ विरोध है। (स्वर्गकामो यजेत) "स्वर्गकामनासे याग करना चाहिये" इत्यादि शास्त्रमें पारलौकिक फल देखा जाताहै। इस कारण विरोधनिबंधन अर्थवादका प्रामाण्य नहीं। "उसने रोदन किया था" इत्यादिका प्रयोजन होनेके कारण और "मनस्तेन" इत्यादि अर्थवादका शास्त्रदृष्टविरोध होनेसे अप्रामाण्य होनेपरभी फलप्रतिपादक अर्थवाद समूहका दोनोंकी अपेक्षा वैलक्षण्य होनेका कारण प्रामाण्य है, ऐसी आशंका करके उत्तरमें पूर्वपक्षी कहते हैं, "तथाफलाभावात् ३।" इति। अर्थात् उसप्रकारका फल न होनेके कारण भी अप्रामाण्य है। जिसप्रकार अन्य प्रमाण विरुद्ध विषय अर्थवादवाक्य कहाता है, इसीप्रकार जो फल नहीं (हो नहीं सकता) वह भी अर्थवादवाक्य कहासकता है। जैसे गर्गत्रिरात्रब्राह्मणको लक्ष्य करके वेदमें कहा है "जो इसको जानता है उसका मुख शोभित होता है" "शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद" इति। इसस्थानमें प्रकृतपक्षमें शोभा नहीं पाता, अतएव फल वाक्य भी मिथ्या है। दर्श

पूर्णमास यज्ञका वेदाभिमर्शन उपलक्ष्य करके वेदमें श्रुत हुआ है "ईसकी सन्तानादि अन्नशाली होगी जो इसको जानता है" । जो लोग जानते हैं, उनका ऐसा फल हम नहीं देखपाते. ऐहिक समस्त फल वाक्य विसंवादके कारण अप्रमाण होनेपर भी पारलौकिक फलवाक्यसमूह प्रमाणरूपसे गृहीत होवेंगे यह आशंका-करके पूर्वपक्षवादी आशंकाके उत्तर सूत्रमें कहते हैं । सूत्र यथा—"अन्यानर्थक्यात् इति ४" अर्थात् अन्य समस्त वृथा होनेके कारण आमुष्मिक फल वाक्य भी अप्रमाण है । वेदमें पढा जाता है "पूर्णाहुतिद्वारा समस्त फल प्राप्त होजाता है" । "पैशुबन्धयाजी सब लोकोंको जीतता है" ।"जो अश्वमेधयज्ञ करता है वह मृत्यु और पापसे उत्तीर्ण होता है जो इसको जानता है वह भी उत्तीर्ण होता है ।" अग्न्याधानगत पूर्णाहुतिद्वारा समस्त काम्यफलकी प्राप्ति होनेपर अग्निहोत्रादि तत्परवर्त्ती सब कर्म वृथा होजाते हैं । इसीप्रकार निरूढ पशुबन्ध याग अनुष्ठान करनेपर यदि सब लोकोंको जीतलिया जाय तो ज्योतिष्टोमादि यज्ञ वृथा हैं । अध्ययनकालमेंही अश्वमेध यज्ञका विषय जानकर उसके द्वारा ब्रह्महत्याके हाथसे मुक्ति पानेपर, अश्वमेधानुष्ठान व्यर्थ होता है । इसकारण परकालके फलवाक्यसमूहभी अनर्थक है । इस स्थानमें शंका होसकती है, फलवाक्यका प्रमाण न हो, किन्तु निषेधवाक्यसमूहोंके मध्यमें विरोध न होनेके कारण उनकाही प्रामाण्य स्थिर होताहै । इस शंकाके उत्तरमें पूर्वपक्षी कहते हैं, "अभागिप्रतिषेधात् ५" इति "पृथिवीमें अग्निचयन न करे, अन्तरिक्षमें न करे, द्युलोकमें न करे ।" इस निषेधमें अन्तरिक्षमें भी द्युलोककी निषेधभागिता नहीं है । उस स्थानमें अग्निचयनका प्रसंगही नहीं है । (प्रसंग न होनेपर निषेध वृथा है ।) निषेधवाक्यसमूहोंका प्रामाण्य न हो, किन्तु पूर्वपुरुषीय वृत्तान्तप्रतिपादक "प्रवाहणके पुत्र "ववर" ने कामना की थी" इत्यादिवाक्यका विरोध नहीं है, इसकारण प्रामाण्य सिद्ध होताहै । ऐसी आशंका करके पूर्ववादी आशंकाके उत्तरमें कहते हैं, "अनित्यसंयोगादिति ६" ववर आदि अनित्य पदार्थके (वस्तु व्यक्ति आदिके) साथ वेदवाक्यका संयोग अर्थात् प्रतिपाद्य प्रतिपादकता सम्बंध होनेपर यह वेदवाक्य ववरादिका पूर्ववर्ती नहीं है इसकारण, मनुष्योंके वाक्यकी समान पौरुषेय वाक्य होते हैं । अधिक कहनेका प्रयोजन नहीं देखते । सबप्रकारसेही अर्थवादका प्रामाण्य नहीं है । पूर्वपक्षका इस स्थानमेंही शेष है ।

---

१ आस्य प्रजायां वाजी जायते० तैत्ति० १ ।७।४ ॥२पूर्णाहुत्या सर्वान्कामानवाप्नोति ।३ पशुबन्धयाजी सर्वाँल्लोकानभिजयति । ४ तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते ।

यहांसे सिद्धान्त कहा जाता है । सिद्धान्तवादीका सूत्र–"विधानात्त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थत्वेन विधीनां स्युः ७" विधिके साथ अर्थवादकी एकवाक्यता है, अर्थवाद विधिकी स्तुति करताहै, अतएव अर्थवादका प्रामाण्य है । सूत्रका "तु" शब्द अर्थवादका अप्रामाण्यनिवारण समझाता है" वायु क्षिप्रगामी देवता इत्यादि अर्थवादवाक्यके साथ "वायु देवताको श्वेतछागल आलम्भ करे । " इस विधिकी एकवाक्यता है इसकारण उसका धर्म्ममें प्रमाण है । अर्थवादवाक्य व्यतिरेकमें विधिवाक्यमें पदान्वय सम्पूर्ण होताहै अर्थ ज्ञान भी उत्पन्न होताहै, इसकारण उस अर्थवादकी उपयोगिता नहीं ऐसी शंका नहीं हो सकती । समस्त अर्थवाद पुरुष प्रवृत्ति आकांक्षाकारी विधिगणकी स्तुतिमें उपयुक्त होताहै । स्तुति (विधेय विषयकी स्तुति) द्वारा प्रलोभित व्यक्ति विधि प्रतिपादित विषयमें प्रवृत्त होताहै । अर्थवाद समूह भ्रम प्रमादवशते पठित होनेके कारण उपेक्षित होने उचित है, एकवाक्यता करनेके निमित्त इतना प्रयत्न क्यों ? ऐसे प्रश्नकी शङ्का करकेही सिद्धान्तवादी उत्तरमें कहतेहैं. "तुल्यं च साम्प्रदायिकम् ८" अनध्यायके दिन छोड़कर नियमपूर्वक गुरुसम्प्रदायसे अध्ययनको सांप्रदायिक कहतेहैं. वह विधि और अर्थवाद दोनोंमेंही समान है इसकारण विधिकी समान अर्थवादका पाठभी भ्रम प्रमाद युक्त नहीं कहाजाता । शास्त्रदृष्ट विरोध है इससे अर्थवादमें अनुपपत्ति प्रदर्शित हुई उसका उत्तर क्या ? ऐसी आशंकाकरके सिद्धान्ती कहते हैं "अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधः स्याच्छब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्यते९" तन्त्र वार्तिकमें यह सूत्र तीन प्रकारसे व्याख्यात हुआ है। "अप्राप्तां च अनुपपत्तिः "अप्राप्ता चानुपपत्तिः" " अप्राप्तं च अनुपपत्तिम् " यह तीन प्रकारका पाठ उस स्थानमें गृहीत हुआ है । "स्तेन मन" इत्यादि स्थानमें शास्त्र विरोधादि अनुपपत्ति नहीं हो सकती।इसकारण प्रयोगमें नहीं कहा गया है। स्तेयादिका प्रयोग कहनेपर शास्त्रके साथ विरोध होता है । (क्योंकि शास्त्र चोरी आदि करनेका निषेध करता है ।) इस स्थानमें चोरी करनी चाहिये ऐसा प्रयोग उपदिष्ट नहीं हुआ है । किन्तु स्तेय शब्दार्थ कहा जाता है स्तेयशब्दार्थ इस स्थानमें प्रयोगभूत नहीं है । इसकारण शब्दार्थ वचनमात्रद्वारा शास्त्रविरोध नहीं होता, इसकारण यह अर्थवादही उपपन्न हुआ । इस स्थानमें आपत्ति हो सकती है कि विधिका स्तुति करनेवाला अर्थवाद है यह बात नहीं कही जाती क्योंकि वैयधिकरण्य है । (एककी स्तुति दूसरेकी विधि इसका नाम वैयधिकरण्य है)

१ वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता–वायव्यं श्वेतमालभेत ।

"वेतस शाखा और अवकाविकर्षण करै ।" "जलसमूह मंगलदायक है" इस स्थानमें वेतसशाखा और अवकाका विधान है । यह अनुपपत्ति शंका मनमें करकेही सिद्धान्ती उत्तर कहता है, "गुणवादस्तु१०" अर्थात् इस स्थानमें गुणवाद विवक्षित है । सूत्रका "तु" शब्द वैयधिकरण्य दोष वारण करता है । इस स्थानमें गुणवादही वक्तव्य है । जैसे लोकमें देखा जाता है, काश्मीर देशीय देवदत्त काश्मीरदेश स्तुत होनेपर अपनेको भी मनमें स्तुत समझता है । इसप्रकार इस स्थानमें भी जल स्तुत होनेपरही जलसे उत्पन्न वेतस और अवका स्तुत होते हैं, क्योंकि वह शान्तजलसे उत्पन्न हैं । वह वेतस और अवका स्वयंभी शान्तहोकर यजमानका अनिष्ट प्रशमित करती हैं इसप्रकार गुणका वाद अर्थात् वचन इस स्थानमें अभिप्रेत है "उसने रोदन कियाथा" इस स्थानमें भी रजत पतित अश्रु-स्वरूप होनेके कारण रजत दान करनेपर घरमें रोदन होसकता है इस निबन्धनकी "बर्हिषि रजतं न देयम्" इस निषेधविधिके साथ एकवाक्यता होती है । इस स्थानमें रजतदानके अभावमें रोदनका भी अभाव होगा, यह रोदनाभावही इस स्थानका विवक्षित गुण है । उस गुणसेही रजतदान निवारणरूप विधि स्तुत होती है । यद्यपि रजतसे आंसू गिरे वह वाक्य अत्यन्त असत् है, तथापि कथित नियममें विधिकी स्तुति इस अर्थवादके द्वारा सम्पन्न होती है । "जो प्रजाकाम और पशुकाम होवे वह इस प्रजापति देवताको पवित्र छाग आलम्भ करै" तै० सं० २ । १ । १ इस विधिका शेष "उसने वपा उखाडी थी" इत्यादि[3] अर्थवाद है । प्रजापतिने अपनी वपा उखाडकर अग्निमें प्रक्षेप करनेके पश्चात् उससे उत्पन्न पवित्र पशुका आलम्भन अपने निमित्त करनेके पश्चात् प्रजा और पशु प्राप्तकिये थे । इस कारण यह तूपर पशु प्रजादिसम्पादक है । इस प्रकारके तूपर गुणका वाद अर्थात् कथन इस स्थानमें अभिप्रेत है । "आदित्यः प्रायणीयः चरुः" यह विधि "दिक् जाननेमें समर्थ नहीं हुएथे" इस दिङ् मोहज्ञापक अर्थवादके द्वारा स्तुत हुई है । जिस प्रकार यह अदिति देवता दिङ्मोह हटाकर दिग्विशेषमें यथार्थज्ञान उत्पन्न करा देता है, उसी प्रकार बहुकर्म समुदायरूप सोमयागमें अनुष्ठान विषयमें भ्रम दूर करता है इसमें और वक्तव्य क्या है ? इस प्रकार अदितिदेवतागत गुणका कथन इस स्थानमें (अभिप्रेत) विवक्षित है । अपने वपाका उखाड़ना और देवयजनाध्यवसानमें दिग्भ्रम यह दोनों अर्थवाद हों या न हों, सब प्रकारके अर्थवाद स्तुति करनेवाले स्वीकार करनेपर हमारी कोई भी हानि नहीं । हे वत्स ! तुम्हारी शिखा

१—वेतसशाखया चावकाभिश्च विकर्षत्यापो वै शान्ताः । तै० सं० । ५ । ४ । ४ ।

२—आदित्यः प्रायणीयश्चरु० तै० सं० ६ । १ । ७ । ४ ॥ ३—तै० सं ६ । १ । ५ । ४ ।

बढती है, श्रद्धाकरके गुडूची पानकरो, इन सब स्थानोंमें अविद्यमान शिखा-वृद्धि द्वाराभी लोकमें गुडूचीकी स्तुति करना देखाजाता है, पूर्वपक्षवादीने शास्त्र-विरोध दिखानेमें जो "स्तेनमन" इत्यादि उद्धृत किया है । उसका उत्तर सूत्रमें कहाजाता है । सूत्र यथा, "रूपात् प्रायात्" ११ । "सुवर्ण हाथमें होगा पश्चात् ग्रहण करेगा" इस विधिकी स्तुति करनेके निमित्त यह पूर्वोक्त स्तेनमन इत्यादि अर्थवाद कहागया है । जैसे लोकमें देखाजाता है, "ऋषिसे कार्य्य क्या ? देवदत्त की ही पूजाकरनी उचित है" इन समस्त वाक्योंमें देवदत्त पूजाकी स्तुति करनेके निमित्त ऋषिमें औदासीन्य उपन्यस्त कीगई है, ऋषिका पूज्यत्व निषेध करनेके निमित्त नहीं । इसी प्रकार इस स्थानमें भी हस्तमें सुवर्ण ग्रहणकी प्रशंसा करनेके निमित्त मनकी चौरता और वाक्यके मिथ्यावादित्वका उपन्यास किया है गुण वादमें शब्दकी अर्थ योजना करनी चाहिये । जैसे स्तेन अर्थात् प्रच्छन्न रूप है इसी प्रकार मनभी, इस स्थानमें प्रच्छन्न रूप गुण है । प्रायही वाक्य मिथ्या वलसे इस स्थानमें प्रायकत्व गुण है । हस्तप्रच्छन्नभी नहीं मिथ्या वहुल भी नहीं, इस कारण हस्तमें हिरण्यधारण प्रशस्त है, इस प्रकारकी स्तुति की गई है । दृष्ट विरोध दिखानेके निमित्त "दिनमें अग्निका धूम देखा जाता है" इत्यादि जो उदाहरण दिया गया है, उसके उत्तरमें कहा जाता है, "दूरभूयस्त्वात् १२" अर्थात् वहुत दूर होनेके कारण "देखा नहीं जाता" कहा गया है । "सूर्यःस्वाहा इस मंत्रसे प्रातःकालमें होमकरना चाहिये" इत्यादि दोनों विधिकी स्तुति करनेके निमित्त पूर्वोक्त अदर्शनज्ञापक अर्थवाद उक्त हुआ है । क्योंकि अर्चि दिनमें नहीं देखी जाती, इस कारण रात्रिमें अग्नि मंत्र प्रयोग करना चाहिये, सूर्य मंत्र दिनमें प्रयोग करना चाहिये.इसप्रकार उन दोनों मंत्रोंका स्तुतिविधान कियागया है । धूम और अर्चिका अदर्शनोल्लेख वहुदूरता गुणनिवन्धन है । बहुत पर्वतोंके स्थानमें वृक्षादिभी स्पष्ट रूपसे नहीं देखेजाते किन्तु उनको तृणसदृश देखाजानेके कारण दर्शन ज्ञान असम्पूर्ण अर्थात् वह दर्शनाभास है ।इस स्थानमें उसीप्रकार समझना चाहिये। (देखना कठिन है इसकारण प्रदर्शन कहागयाहै ।) दृष्टविरोध दिखानेके निमित्त पूर्वपक्षीने जो "हम ब्राह्मण अथवा अब्राह्मण हैं सो नहीं जानते" यह अर्थवाद वाक्य उद्धृत करके दिखायाहै,सिद्धान्ती सूत्रमें उसका उत्तर कहता है । सूत्र–जैसे "स्व्यपराधात् कर्तुश्च पुत्रदर्शनम् १३" अर्थात् स्त्रीका अपराध और जनयिताका पुत्र देखाजानेके कारण, "हम नहीं जानते" यह दुर्ज्ञेयत्व (न जानना) कहा गयाहै । प्रवर

---

१ अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निःस्वाहा सायंजुहोति । सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा इति प्रातः । ऐत० ब्रा० ५ । ३१ ॥

अनुमंत्रण कालमें "देवतागण पिता" इत्यादि कहना चाहिये । इस विधिका स्तुति-कारक "हम नहीं जानते" यह अर्थवादहै।यदि यजमान"देवतागण पिता" इत्यादि मंत्रसे प्रवरानुमंत्रणकरे, तो यजमान अब्राह्मण होनेपरभी ब्राह्मण होगा इसप्रकार प्रवरानुमंत्रणकी स्तुति कीजातीहै । "यह नहीं जानते" यह न जाननेकी बात कष्टसे जाननेके कारण प्रयुक्त हुई है । क्योंकि स्त्रियोंका व्यभिचारादि अपराध होसकताहै । उपपतिभी पुत्र उत्पन्न करा सकताहै । जब उपपति और पति दोनोंके ही औरससे पुत्रोत्पत्ति देखी जातीहै, तब अपना जन्म यह दोनों कौन जातीय हैं सो जाना नहीं जाता । इस अभिप्रायसेही (अपना जन्म दुष्ट अथवा अदुष्ट यह न जाना जानेके कारण) "नहीं जानते" प्रयोग कियाहै, इसकारण प्रत्यक्ष विरुद्ध नहीं कहाहै । अपना प्रत्यक्ष ब्राह्मणत्व निषेध करनेके निमित्त "नहीं जानते" ऐसा प्रयोग नहीं कियाहै । शास्त्रीय दर्शनका विरोध दिखानेके निमित्त "कौन उसको जानताहै जो इस लोकमें है" इत्यादि जो उदाहरण दियेगयेहैं, "आकालि-केप्सा १४" इस सूत्रमें उस युक्तिका उत्तर दियागयाहै। सूत्रका अर्थ यह है कि-"कौन उसको जानताहै" यह अनिश्चयरूपसे कहनेका कारण बहुत कालके अन्तमें स्वर्गप्राप्तिकी इच्छा । "चारों तरफसे द्वार रक्षा करे" इस प्राचीन वंश नामक यज्ञमंडपका द्वार प्रस्तुत करनेकी जो विधि है, कौन उसको जानताहै यह अर्थवादवाक्य इस द्वारविधिका शेषभाग है । वर्त्तमान समयमें द्वार निर्माणका प्रत्यक्ष फल धूमादि निर्गमन है, उस प्रत्यक्ष फलद्वारा द्वारविधिकी प्रशंसा कीजातीहै । स्वर्ग प्राप्तिरूप अदृष्ट फल बहुतकालके पश्चात् होगा, इस समय न होगा । उस फल पानेकी इच्छाही "कौन उसको जानताहै" इस संशयित भावसे कहनेका कारण है । जैसे भाविकालीन पुत्रपौत्रादिका वृत्तान्त निश्चय नहीं किया जासकता । इसीप्रकार होनेवाली स्वर्गप्राप्तिभी निश्चय नहीं कीजासकती इस कारणही "कौन जानताहै" यह अनिश्चय कहागयाहै । द्वारनिर्माणका अदृष्ट स्वर्गफल अनिश्चित होनेपरभी धूम परिहार प्रत्यक्ष फल होनेके कारण निश्चित है यह अभिप्राय है । दृष्ट विरोधप्रतिपादनके निमित्त "जो इसको जानताहै उसका मुख शोभित होताहै" यह जो दूसरा एक उदाहरण दियागयाहै, उसके उत्तरमें कहतेहैं । "विद्याप्रशंसा १५" यह केवल विद्याका प्रशंसा वाक्य मात्र है।गर्गत्रिरात्र ब्राह्मण (वेदभाग) विषयक विधानका शेषभाग "जो इसको जानताहै" इत्यादि गर्गत्रिरात्र ब्राह्मण जाननाभी मुख शोभाका कारण है, अनुष्ठान मुख शोभाके हेतु हैं यह बात फिर कहनेकी आवश्यकता क्या ? इसप्रकार विद्याकी स्तुति की गई है । जैसे कर्णाभरणादिके द्वारा मुख शोभित होता है इसी प्रकार ज्ञानसम्पन्न

व्यक्तिका उत्साहप्रफुल्ल मुख शिष्यगणसे शोभितही होता है । इसकारण शोभा-सादृश्य गुणयोगनिबन्धन शोभित होताहै ऐसा कहा गयाहै । विरोध दिखानेके निमित्त "जो जानता है इसके पुत्रादि अन्न सम्पन्न होते हैं" यह जो दूसरा एक उदाहरण दिया गया है, यहभी वेदानुमंत्रण विधानका शेष भाग है । इस स्थानमें कैमुतिक न्यायके अनुसार पूर्वकी समान स्तुति समझनी होगी । (जो इसको जानता है उसकी सन्तानभी अन्नशाली होती है, जो अनुष्ठान करता है उसकी बात फिर क्या कहें । यही इस स्थानका कैमुतिक न्याय है ।) वेदज्ञका पुत्र पितृशिक्षाके वशसे स्वयं विद्वान् होसकता है, विद्वान् व्यक्तिको प्रतिग्रह स्वीकार करनेसे अन्न प्राप्त होता है, यह गुण मनमें करकेही अन्नशाली होना कहा है । एक कार्य्यके सर्व फल प्रदान करनेपर दूसरे कर्म्म व्यर्थ होजाते हैं, यह प्रतिपादन करनेके निमित्त जो "पूर्णाहुतिद्वारा सर्वकाम (प्रार्थनीय वस्तु) पाई जाती है" यह उदाहरण प्रदर्शित हुआ है, उसके उत्तरमें सूत्र कहते हैं,—"सर्वत्वमाधिकारिकम् १६" सर्व काम पाये जाते हैं, यह जो "सर्व" शब्द है, यह अधिकारिक अर्थात् प्रस्तावित विषयकी सम्पूर्णताबोधक है । यह अर्थवाद "पूर्ण होमकरे" इस विधि वाक्यका शेष भाग है । पूर्णाहुति समस्त कामप्राप्तिके हेतु है, इसकारण प्रशस्त है इसप्रकार आहुतिकी स्तुति की गई है । (अर्थवादका उद्देश्यही स्तुति है ।) जैसे सब ब्राह्मणोंको भोजन कराना होगा कहनेपर, घरमें निमंत्रित आये समस्त ब्राह्मण ऐसा समझाजाता है, जगत्के समस्त ब्राह्मण नहीं समझे जाते, इसीप्रकार पूर्णाहुतिद्वारा कर्मका साङ्गत्व सम्पादित होता है, इसकारण जिस कर्ममें जो फल संभावित है, वह समस्त फलही उस पूर्णाहुति द्वारा पाया जायगा । (एक कर्मकी पूर्णाहुति उस कर्मके सम्पन्न करनेके कारण उस कर्मका समस्त फल दे सकती है, दूसरे कर्मोंका फल नहीं दे सकती ।) पूर्णाहुति न देनेसे अग्न्याधान विफल होजाता है, वह विफलता पूर्णाहुतिद्वारा निवारित होती है, यह एक काम है, आधान समाप्त होनेपर आहवनीयादि अग्नि समस्त अग्निहोत्रादि कर्ममें उप-युक्त होती है यह दूसरा एक काम है, उस उस कर्मसे वह २ फल पाया जाता है यह और एक काम है । इसप्रकार बहु काम प्राप्ति अन्याहुतिमें भी है, पूर्णाहुतिमें सर्वकाम प्राप्ति होती है ऐसा क्यों कहा ? यह नहीं कहा जा सकता । क्योंकि दूसरी आहुतिमेंभी बहुतसे काम होनेसे हमारी कुछ हानि नहीं है । इससे पूर्णा-हुतिकी स्तुति कोईभी हानि नहीं । इस स्थानमें प्रश्न होसकता है पूर्णाहुति अङ्ग-कर्म है, (प्रधानकर्म नहीं है) अङ्गकर्ममें जो फलश्रुति है वह अर्थवाद है (वास्तव नहीं केवल प्रशंसित है) इस कारण स्तुतिमात्रबोधक है । (प्रकृतफल-

प्रतिपादक नहीं है ।) द्रव्यसंस्कार कार्य्य परार्थ अर्थात् अन्यके निमित्त है इस कारण द्रव्य संस्कार कर्म्ममें जो फलश्रुति है वह अर्थवाद अर्थात् "प्रशंसा मात्र है । "सूत्रमें महर्षि जैमिनीने यह निरूपण कियाहै । पूर्णाहुति अङ्ग कर्म है, उसका फलश्रुति अर्थवाद होवे, किन्तु "पशुवन्धयाजी सर्वलोक जयकरता है" इस स्थानमें पशुवन्ध विहित मुख्यकर्म है, सर्वलोकजय भी मुख्य फल है, इसकारण इसको अर्थवाद अर्थात् प्रशंसामात्र कहने नहीं वनता इसकारण पशुवन्ध यागमें समस्त फल पानेसे अन्यकर्म वृथा होते हैं, यह निवारण नहीं कियागया, इस आशङ्कासे सूत्रमें प्रत्युत्तर देतेहैं । सूत्र यथा "फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां: लोकवत्परिमाणतः (सारतो वा) फलविशेषः स्यात्।" १७ कर्मके द्वारा फल निष्पन्न होता है, किन्तु अन्यकर्मद्वारा उस फलकी दृढता अथवा परिमाणाधिक्य सम्पादित होता है। जैसे लोकमें देखाजाता है । यही सूत्रका अर्थ है । पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक इसके मध्यमें अन्यतम लोकाभिजयरूप फल पशुवन्धकर्मद्वारा निष्पन्न होता है, उस पृथिव्यादि जयरूप फलका कर्मान्तर द्वारा परिमाणाधिक्य सम्पादित होता है लोकमें जैसा देखाजाताहै, यह उसका दृष्टान्त है । जैसे एक मुद्राद्वारा खारी (परिमाणविशेष): परिमित शस्य मोल लेकर फिर अन्य मुद्राद्वारा औरभी कितने शस्य खरीदनेपर पूर्व शस्यके परिमाणकी वृद्धि होतीहै । अथवा एक स्वर्ण मुद्रामें एक साधारण वस्त्र पाया जाताहै, दो होनेपर उत्तम वस्त्र पाया जाताहै, इसीप्रकार अन्यकर्म्म द्वारा पशुवन्धकर्म्मके फलका परिमाणाधिक्य अथवा उत्कर्ष साधित होताहै । मनोगत ब्राह्मणहत्या पाप अश्वमेध ज्ञानमात्रसेही दूर होताहै, शरीरगत महत् ब्रह्महत्या पाप अश्वमेध अनुष्ठानद्वारा दूरीभूत होसकताहै, इसकारण "वेदन अर्थात् ज्ञानमात्रसेही फल होनेपर अनुष्ठान अनर्थक है" यह वात नहीं कही जासकती । अन्तरिक्षमें और स्वर्गमें अग्निचयनका निषेध करनेसे जो "अप्रसक्त अर्थात् असम्भावितका निषेध करना" यह दोष कहागयाहै फिर ववरने कामना कीथी इत्यादि स्थानमें जो वेदका अनित्यवस्तुप्रतिपादकत्व दिखाया गया है इन दोनों दोषोंकोही उत्तर सूत्रमें कहाहै। "अन्त्ययोर्यथोक्तम्" १८ इसका अर्थ, शेष दो उदाहरणोंका (अप्रसक्त प्रतिषेध और अनित्यप्रतिपादन) भी पूर्वोक्त उत्तर है । अन्तरिक्षमें चयन न करे, यह अन्तरिक्षमें अग्निचयनका निन्दारूप अर्थवादवाक्य "हिरण्य रखकर चयन करे" इस विधिका शेषभाग है । इसकारण इस स्थानमेंभी अर्थवाद विधिका स्तावक यह पूर्वोक्त उत्तरही यथेष्ट है । अन्तरिक्षमें अग्निचयनकी प्रसक्ति नहीं है, इसकारण उसका निषेध (सिद्ध वस्तुका उल्लेख) नित्यानुवाद होवे । जो स्वभावसे है

उसका उल्लेख करकेभी विधिकी स्तुति की जासकती है क्योंकि स्वभावसिद्ध वायुकी क्षिप्रगामिताका उल्लेख करके वायु देवताके पशुकी स्तुति की है। "ववर प्रवाहिणीने कामना की थी" इस स्थानमेंभी ववर नामक कोईभी मरणशील मनुष्य प्रतिपाद्य नहीं है। किन्तु ववर ध्वनियुक्त प्रकृष्टरूपसे वहनशील व्यावहारिक जगतमें नित्य वायुही इस स्थानका वक्तव्य अर्थ है। मीमांसादर्शनके प्रथम पादके शेष अधिकरणमें कहा गया है। अर्थवादका उक्तदोष परिहार किया गया अतएव उसका प्रामाण्य है। श्लोकोंमें यह समस्त रहस्य लिपिबद्ध किया गया है। "वायु क्षिप्रगामि देवताहै" इत्यादि अर्थवादवाक्य प्रतिपाद्य धर्ममें प्रमाण होनेके कारण परिगृहीत नहीं हो सकता, अथवा हो सकता है इस संशयमें विधि और अर्थवाद इनका अर्थ बोध उत्पन्न करानेमें कोईभी वाक्य (विधि अर्थवादकी और अर्थवाद विधिकी) किसीकीभी अपेक्षा नहीं रखता, इसकारण इनकी एकवाक्यता नहीं हो सकती,इसकारण धर्म्ममें इनका प्रामाण्य नहीं ऐसा पूर्वपक्ष है। सिद्धान्तवादी कहते हैं, विधि और अर्थवादकी परस्पर आकांक्षा है। विधि पुरुषार्थबोधक है, अर्थवाद कर्म्मका प्राशस्त्यबोधक है। (कर्म्म प्रशस्त है ऐसा जान लेनेपर कर्मकर्त्ता उत्साहके साथ प्रवृत्त होता है) जानना और प्ररोचित करना दोनोंही आवश्यक हैं, इसकारण अन्वयमें अपेक्षा न रहनेपर भी तात्पर्य्यसे अपेक्षा है. इसकारण धर्मप्रतिपादनमें अर्थवाद प्रमाण है। अतएव वेदमें विद्यमान मंत्र, विधि, अर्थवाद, इन तीनके अप्रामाण्य विषयमें कोईभी कारण, न होनेसे अर्थ बोधक वाक्यका स्वतः प्रामाण्य किया जानेके कारण, समस्त वेदकी प्रमाणता सिद्धि हुई।

इस समय तर्क होसकता है कि, वेदभी पुरुषरचित होनेके कारण वञ्चक पुरुषका वाक्य जिसप्रकार अप्रमाण है इसीप्रकार अप्रमाण होना चाहिये। जैमिनिने प्रथम पादमें पूर्वपक्षमें वेदका पौरुषेयत्व कहा है। जैसे, "वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः। पू० मी० अ० १ पाद १ सू० २७ से १" अनेक वादी लोग वेदका सन्निकर्ष अर्थात् रचयिता पुरुषके साथ संबंध होना मानते हैं। कालिदासादिरचित रघुवंशादिके समुच्चयके निमित्त "वेदांश्च" यह "च" कार लिखा है। रघुवंशादिको दृष्टान्तरूपमें समुच्चित किया है। जैसे रघुवंशादि इदानीन्तन हैं, इसीप्रकार वेदभी अनादि नहीं है। इसकारणही वेदकर्त्तारूप पुरुष कहाजाता है।

---

१. वायुर्वाइत्येवमादेरर्थवादस्यमानता । नविधेयेस्तिधर्मेकिंकिंवासौ तत्र विद्यते ॥१॥ विध्यर्थवादशब्दानां मिथोपेक्षापरिक्षयात् । नास्त्येकवाक्यता धर्मे प्रामाण्यं संभवेत्कुतः ॥ २ ॥ विध्यर्थवादौसाकांक्षौ प्राशस्त्यपुरुषार्थयोः । तेनैकवाक्यता तस्माद्वादानां धर्ममानता ॥ ३ ॥

वैयासिक महाभारत, वाल्मीकीय रामायण, इस स्थानमें जिसप्रकार महाभारतादिके कर्त्तारूपमें व्यासादिसे आख्यात हुए हैं, इसी प्रकार काठक, कौथुम, कालापक, तैत्तिरीय इत्यादि स्थलमेंभी उसी २ वेदांशके रचयिता होनेके कारण कठआदिक कहे जाते हैं, अतएव वेद पौरुषेय हैं । (वैयासिकका अर्थ व्यासकृत, इसीप्रकार काठकका अर्थ कठरचित, इसकारण कठरचित वेदभागका काठक नाम होनेपर वेदरचयिता पुरुष है ऐसा समझा जाता है ।) यदि कहा जाय नित्य वेद सबका अध्यापककी समान सम्प्रदायप्रवर्त्तक होनेके कारण काठकादि समाख्या हुआ है, (कठ जो वेदांश प्रचार करे, उसकाही काठक ऐसा भाव है) ऐसा होनेपर उस शंके के उत्तरमें अन्ययुक्तिप्रतिपादक सूत्र यथा—"अनित्यदर्शनाच्चेति २" वेदमें अनित्य जन्ममरणशाली ववरादि व्यक्तिकी वात है । (इस कारण वेद अनित्य है ।) ववर प्रवाहणीने कामना कीथी कुसुरुविन्द उद्दालकिने कामना कीथी इत्यादि वेदमें है । ऐसा होने पर ववरके पूर्वमें तथा पीछेका वना है । इस कारण वेद अनित्य है । वेदवाक्य पुरुषरचित है क्योंकि वह वाक्य, जैसे कालिदासादिका वाक्य पुरुषप्रणीत है उसी प्रकार है । यह अनुमानसमुच्चित करनेके निमित्त "दर्शनाच्च" यह "च" लिखा है ।

इसके पश्चात् जैमिनिने सिद्धान्त सूचित किया है "उक्तन्तु शब्दपूर्वत्वम् ३" (तुशब्द पक्षान्तरप्रतिपादक होनेपरभी इस स्थानमें) उक्तन्तु यह "तु" शब्द वेदका अनित्यत्व निवारण करता है, क्योंकि वेदरूप शब्दको कठआदि व्यक्तिसे प्राचीनत्व और अनादित्व पूर्वमें सूत्र द्वारा कहाहै । औत्पत्तिकस्तु इस प्रथम अध्यायके प्रथम पादके पञ्चमसूत्रमें "औत्पत्तिक" शब्दद्वारा सम्पूर्ण शब्द उनका अर्थ, शब्द और अर्थका सम्बन्ध-इन सबकी नित्यताप्रतिज्ञा करके तत्परवर्त्ती शब्दाधिकरण और वाक्याधिकरणद्वारा उसका प्रतिपादन किया है । काठक आदि आख्यायिका की गति क्या ! (किस अर्थमें काठक शब्द व्यवहृत हुआ है ?) यह आशंका करके सम्प्रदायप्रवर्त्तनद्वारा आख्या (नाम) उपयुक्त हो सक्ती है, यह उत्तर सूत्रमें कहते हैं । सूत्र—"आख्याप्रवचनात् । ४" प्रवचन अर्थात् प्रकृष्ट रूपसे कहने अथवा प्रचार करनेके निमित्तही ऐसा नाम है । (काठक अर्थ कठरचित नहीं है, कठप्रचारित है ।) आख्यायिकाकी गति इस प्रकारही होवे । उसके पश्चात ववरादि अनित्य वस्तु प्रतिपादन जो उदाहृत हुए हैं उनका उत्तर क्या है ? ऐसी आशंका करके आगे सूत्र कहते हैं, सूत्र—"परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ५" ववरादि जो कहे गये वह समस्त शब्द सामान्यमात्रही हैं । ववरनामक मनुष्य प्रतिपाद्य नहीं

---

१ कुसुरुविन्द औद्दालकिरकामयत । तै० सं० ७ । २ । २ ।

है। ववर ध्वनियुक्त प्रकृष्ट प्रकारसे वहनशील वायु इस स्थान में ववर शब्दका अभिधेय है ऐसा कहाजासकता है। फिर प्रश्न होता है, वेदमें किसी स्थानमें ऐसा सुना जाता है "वनस्पतियोंने सत्र (यज्ञ) कियाथा" "सर्पोंने सत्र(यज्ञ) कियाथा" इस स्थानमें वृक्षगणोंका अचेतनत्वनिवन्धन और सर्पगण चेतन होनेपर भी विद्याहीन हैं इस कारण सत्रयज्ञका विधान उनका संभव नहीं होसकता। इस कारण "जरद्गवमत्तक गान करता है" इत्यादि वाक्यकी समान यह सम्पूर्ण वेदवाक्य उन्मत्तवाक्य अथवा वालकके वाक्यकी समान होनेके कारण कहाजासकता है वेद किसी (अर्वाचीन) मनुष्यके द्वारा रचागया है। यह आशङ्का करके उत्तरमें कहते हैं। "कृते चाविनियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात्" इसका अर्थ यह है कि वेद यदि किसीका कृत हो तो ज्योतिष्टोमादि कर्म्म स्वर्गसाधन रूपमें विनियुक्त नहीं हो सकते। न होकर भी दोष है, क्योंकि लौकिक वाक्योंकी समान इस वाक्यमें भी साध्य साधक समान है। यदि ज्योतिष्टोमादि वाक्य किसी पुरुषके द्वारा रचित होते तो ज्योतिष्टोमका स्वर्ग साधनत्वमें नियोग नहीं हो सकताथा। ज्योतिष्टोम स्वर्गसाधन है यह साध्य साधनभाव पुरुष नहीं जान सकता। किन्तु ज्योतिष्टोमका स्वर्गसाधनरूपमें विनियोग सुनाजाताहै। यथा— "ज्योतिष्टोमसे स्वर्ग फल सम्पादन करै।" (ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत) यह वाक्य उन्मत्त वालक वाक्यकी समान नहीं है; कारण कि, लौकिक विधिवाक्यकी समान भाव्य (फल) करण (साधन) और इतिकर्त्तव्यता (प्रणाली) यह तीन अंशयुक्त भावना विदित होजाती हैं। लोकमें जिसप्रकार "ब्राह्मणभोजन करावे" इस विधिमें, किस निमित्त ? (१) क्या देकर ? (२) किसप्रकारसे ? (३) यह तीन आकांक्षा उपस्थित होनेपर तृप्तिके उद्देशसे (१) ओदनद्रव्यसे, (२) शाक सूपादिपरिवेषण प्रणालीसे, (३) इसप्रकार कहाजाताहै, उसीप्रकार, ज्योतिष्टोम विधिमें भी स्वर्गके उद्देशसे, (१) सोम द्रव्यसे, (२) दीक्षणीया नामक इष्टि आदि अंग कर्म्मोपकारप्रणालीसे, (३) यह वात कहनेपर कैसे यह वाक्य उन्मत्त वाक्यसदृश होंगे ! वृक्षादिके सत्रानुष्ठान वाक्य भी उन्मत्त वाक्यसदृश नहीं हैं, क्योंकि सत्रकर्म्म भी ज्योतिष्टोमादिकी समान है, इसकारण उन्मत्त वाक्य नहीं है, सत्रभी ज्योतिष्टोमकी समान है, इसकारण वह भी उन्मत्त वाक्य नहीं हो सकता। न्यायवेत्ता पुरुष कहते हैं, शब्दसे जो कुछ जाना जाय अर्थात् जिस तात्पर्य्यसे शब्द प्रयुक्त है, वही शब्दका अर्थ है। ज्योतिष्टोमादि वाक्य भी विधायक हैं, इस कारण अनुष्ठानमें उनका तात्पर्य्य है।[1] "वनस्पतियोंने सत्र अनुष्ठान कियाथा" इन सव वाक्योंका प्रशंसा अर्थात् स्तुतिसे तात्पर्य है, क्योंकि यह

१ वनस्पतयः सत्रमासत। सर्पाः सत्रमासत।

अर्थवाद है । प्रशंसा अविद्यमान वस्तुके उल्लेखसेभी होसकती है । अचेतन अविद्वानोंने सत्र अनुष्ठान कियाथा, चेतन विद्वान् ब्राह्मणलोग करेंगे इसमें कहनाही क्या ? इस प्रकार सत्रकी स्तुति कीजातीहै । सूत्रमें जो "च" है वह पूर्वपक्षोक्त "वाक्यत्व" हेतुका कर्त्ता न मिलनेके कारण पराहति अर्थात् असमर्थता समझाताहै । इसकारण वेदका पौरुषेयत्व नहीं है । इस स्थानमें दो संगृहीत श्लोक हैं । उनका अर्थ यह है कि वेदवाक्य पौरुषेय है, अथवा नहीं ? इस संशयमें पूर्वपक्ष वेदवाक्य पौरुषेय है, क्योंकि उसमें "वाक्यत्व" धर्म है । काठक आदि समाख्या इस स्थानमें युक्त है । अन्य महाभारतादि वाक्य जिसप्रकार पौरुषेय हैं यहभी उसी प्रकार है यह दृष्टान्त है । उत्तरवादी कहता है,प्रवचननिमित्त काठकादि आख्या है। कर्त्ता न पाये जानेके कारण वाक्यत्व हेतु अनुपयुक्त है, अतएव वेद अपौरुषेय है । यदि प्रश्न कियाजाय, भगवान् बादरायणने वेदान्तसूत्रमें वेद ब्रह्मका कार्य्य है यह बात कहीहै । [शास्त्रयोनित्वात् अ० १ पा० १ सू० ३ इस सूत्रमें] ऋग्वेद आदिका कारण होनेसे ब्रह्म सर्वज्ञ है यही उस स्थानका सूत्रार्थ है । इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं, अच्छा, इससे वेदकी पौरुषेयता सिद्ध नहीं होती क्योंकि वेद मनुष्यनिर्मित नहीं है । ब्रह्मप्रणीतत्व रूप पौरुषेयत्व मनमें करके व्यावहारिक जगत्में आकाशादिककी समान वेदकी नित्यता बादरायणने देवताधिकरणमें "अत एव नित्यत्वम्" इस सूत्रमें कही है । "विरूपनित्यवाक्यद्वारा" यह श्रुति, और "आदि विनाशरहित नित्य वाक्य ब्रह्मसे प्रगट हुआ" यह स्मृति प्रमाण है । (यदि कोईभी मनुष्य वेदका कर्त्ता नहीं है, तो कर्त्ता का दोष वेदवाक्यमें संक्रमित है यह बात नहीं कही जाती ।) ऐसा होनेपर कर्त्ताकी दोषशंका उदित न होनेके कारण, मंत्रब्राह्मणात्मक वेदका प्रामाण्य निर्विघ्न है ।

इस स्थानमें प्रश्न हो सकताहै कि, वेद मंत्रब्राह्मणस्वरूप है यह बात नहीं कही जासकती, क्योंकि मंत्र और ब्राह्मणका स्वरूप निर्वचन नहीं किया जासकता। तो यह प्रश्न उपयुक्त नहीं है । द्वितीय अध्यायके (मीमांसादर्शनके) प्रथम पादके सप्तम और अष्टम अधिकरणमें यह विषय निर्णीत हुआहै । सप्तमाधिकरण जैसे,—अग्न्याधानप्रकरणमें "अहे बुध्निय मंत्रं मे गोपाय" तै० ब्रा० १ । २ । १ [अहे बुध्निय मंत्र मेरा रक्षाकर] इस प्रकार लिखा है । इस मंत्रका

---

१ पौरुषेयं न वा वेदवाक्यं स्यात्पौरुषेयता । काठकादिसमाख्यानाद्वाक्यत्वाच्चान्यवाक्यवत् ॥ १ ॥ समाख्यानं प्रवचनाद्वाक्यत्वं तु पराहतम् । तत्कर्त्रनुपलम्भेन स्यात्ततोऽपौरुषेयता ॥ २ ॥

२ वाचाविरूपनित्ययेतिश्रुतेः तै० सं० २ । ६ । ११ ॥ ३ अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा । अहे बुध्निय मंत्रं म इति मंत्रस्य लक्षणम् ॥ १ ॥ नास्त्यस्तिवास्यनास्त्येतदव्याप्त्यादेववारणात् । याज्ञिकानां समाख्यानं लक्षणं दोषवर्जितम् । तेनुष्ठानस्मारकादौमंत्रशब्दं प्रयुञ्जते ॥ २ ॥

कोईभी लक्षण है अथवा नहीं ? यह संशय है । पूर्व पक्ष—लक्षण नहीं है, क्योंकि मंत्रका लक्षण कहने पर लक्षणका अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष निवारण नहीं किया जाता । सिद्धान्तवादी कहता है याज्ञिकगण जिनको मंत्र कहते हैं वही मंत्र हैं। यह लक्षण दोषशून्य हैं । याज्ञिकलोग कर्म्मानुष्ठान स्मारक आदि वाक्य समूह-कोही मंत्र कहते हैं । विहित अर्थका अभिधायक वाक्य मंत्र है, इसप्रकार मंत्र लक्षण कहनेपर "वसन्तमें कपिञ्जल आलम्भ करै" यह मंत्र विधि अर्थात् विधायक होनेके कारण इस मंत्रमें मंत्र लक्षणकी अव्याप्ति होती है । मननहेतु मंत्र है यह बात कहनेपर भी ब्राह्मणवाक्यमें अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि उसका (ब्राह्मणका) भी मनन आवश्यक है । जिसके शेषमें "असि" है वह मंत्र है उत्तम पुरुषान्त होनेपर मंत्र होताहै, इत्यादि लक्षणसमूहकी परस्पर अव्याप्ति होती है, अर्थात् एकमें दूसरा लक्षण नहीं रहता यह दोष होता है, यहभी नहीं कहाजासकता क्योंकि याज्ञिकलोग जिसको मंत्र कहते हैं वही मंत्र है यह लक्षण निर्दोष है। याज्ञिक समाख्यानमें अवगत होजानेसे जो अनुष्ठान स्मरण करादेते हैं वह समस्त मंत्र हैं। "उरु प्रथस्व" तै० सं० १ । १ । ८ इत्यादि मंत्रमें आमंत्रण अर्थात् सम्बोधन है । अग्निमीळेपुरोहितम् इत्यादि मंत्र स्तुतिरूप, इषेत्वा इत्यादि त्वान्त रूप । अग्न आयाहिवीतये इत्यादि आमंत्रणरूप तै० ब्रा० ३ । ५ । २ "अग्नि दग्नीन् विहर" तै० सं० ६ । ३ । १ इत्यादि मंत्र प्रैष अर्थात् अनुज्ञा है । "अधः स्वित्" तै० ब्रा० २ । ८ । ९ इत्यादि मंत्र विचाररूप समझना । "अम्बे अम्बालिके" शु० यजु० २३ । १८ इत्यादि मंत्र परिवेदन समझना । "पृच्छामित्वा" शु० यजु० २३ । ६१ इत्यादि प्रश्नबोधक है । "वेदिमाहुः" तै० सं० ७ । ४ । १७ इत्यादि उत्तर प्रतिपादक हैं । मंत्रका ऐसा कोईभी अनुगत धर्म्म नहीं जिसको लक्षण कहा जाय । इसकारण समाख्याही लक्षण है । पूर्व आचार्य्योंने लक्षणकी आवश्यकता दिखाई है । यथा "पृथक् रूपसे पदार्थ निर्वाचन कर्त्तव्य होनेपर ऋषिगणभी शेष नहीं करसकते, लक्षणद्वाराही विद्वान् लोग विद्यमान सम्पूर्ण पदार्थोंका शेष दर्शन करते हैं।" (इसकारण महापुरुषोंका "मंत्र" यह संज्ञाही लक्षण है ।) अष्टमाधिकरणमें यथा "नास्त्येतत् ब्रह्मणः" इत्यादि जो संग्रह कहा है, वह ब्राह्मणका लक्षण है अथवा नहीं ? यह संशय है (ब्राह्मण) का लक्षण नहीं यह पूर्व पक्ष है । क्योंकि वेदके यही भाग हैं यह कल्पना नहीं किया जा सकता । सिद्धान्त यह है कि मंत्र और ब्राह्मण, वेदके यही दो मात्र अंश हैं इसकारण जो मंत्रसे भिन्न है वही ब्राह्मण है ऐसा होसकता है । चातु-

---

१ ऋषयोपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः । लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः ।

२ नास्त्येतद्ब्राह्मणोन्यत्र लक्षणं विद्यतेऽथवा । नास्तीयन्तो वेदभागा इति क्लृप्तेरभावतः । मन्त्रश्च ब्राह्मणञ्चेति द्वौ भागौ तेन मंत्रतः । अन्यद्ब्राह्मणमित्येतद्भवेद्ब्राह्मणलक्षणम् ।

म्मोंस्यमें यह कहा है " एतद्ब्राह्मणानेव पञ्चहवींᳬंषि । " तै० ब्रा० १ । ७ । १ यह ब्राह्मणका लक्षण नहीं है । क्योंकि वेदभागकी इयत्ता अवधारण नहीं की जाती, इसकारण ब्राह्मण और अन्य भागमें लक्षणकी अव्याप्ति अतिव्याप्ति शोधन असम्भव है, यही पूर्वपक्षका मत है । पूर्वोक्त मंत्र एक भाग है । औरभी कितनेही वेदभाग पूर्वाचार्य्यगणोंने उदाहरणार्थमें संग्रह किये हैं जैसे,—हेतु, निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा, संशय, विधि, परक्रिया, पुराकल्प, अवधारण, कल्पना, यह समस्त ।"क्यों कि उनसे अन्न करना होता है" इत्यादि वेदांशहेतु है । "वैही दधिका दधित्व " यह निर्वचन है । "माँष अपवित्र है" यह निन्दा है । "वायुँ क्षिप्रगामी देवता है यह प्रशंसा है ।" " उन्होंने संशय किया था होम करें अथवा न करें " इत्यादि संशय है " औदुम्बर शाखा यजमानके समान होनी " यह विधान है ॥ " मेरे निमित्त उड़द पकाता है" यह परकार्य्य है । " पूर्वमें ब्राह्मण लोक भीत हुए थे" इत्यादि पुराकल्प अर्थात् पुरातन कथा है । "जितने अश्वदान करे उतने वरुण देवताको चतुष्कपाल पुरोडाश निर्वापित करे" यह विशेषावधारण कल्पना है । ऐसे और भी उदाहरण दियेजासकते हैं । इनमें हेतु आदिका कोई एक भी ब्राह्मण है ऐसा नहीं कहा जासकता; क्योंकि मंत्रमें भी हेतु आदि वर्त्तमान हैं । " इन्द्रंवो वामुशन्तिहि" ऋ० १ । १ । ३ यह मंत्र हेतु प्रतिपादक है । "उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते" तै० सं० ५ । ६ । १ इत्यादि मंत्र निर्वचन हैं । "अप्र-चेताको वृथा अन्न प्राप्ति होती है" यह मंत्रनिन्दा है । "अग्नि द्युलोकका मूर्द्धा है" यह मंत्र प्रशंसा है । "अधो देशमें था अथवा ऊपरमें था" यह मंत्र संशय-वाला है । " वसन्तमें कपिञ्जल आलम्भ करे" यह मंत्र विधि है "सहस्र-मयुता ददत्" यह मंत्र परकृति है । "देवताओंने यज्ञद्वारा यज्ञ याजन किया था" यह मंत्र पुराकल्प है । जिसमें इतिकरण अर्थात् इति शब्दका व्यवहार बहुल रूपसे है, वह भाग ब्राह्मण है, यह बातभी नहीं कही जासकती ।

---

१ हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः । परक्रिया पुरा कल्पो व्यवधारणकल्पना । अन्नं क्रियत इतिहेतुः । २ तद्दध्नो दधित्वम् इति निर्वचनम् तै० सं० २ । ५ ३ ॥ ३ अमेध्या वै माषाः तै० सं० ५ । ८ । १ इति निन्दा । ४ वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता इति प्रशंसा । ५ तद्व्यचिकित्स जुहवानि३ माहौषामिति संशयः तै० ब्रा० २।१।२॥६ यजमानेन सम्मितौदुम्बरी भवतीति विधिः तै० सं० ६।२।१०॥७ माषानेवमह्यं पचन्तीति परकृतिः।८पुरा ब्राह्मणा अभैषुरिति तै०सं०१।५॥७ पुरा कल्पः। ९ यावतोऽश्वान्प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेत् विशेषावधारणकल्पना । तै० सं० २ । ३ । १२ ॥ १० मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः इतिनिन्दा इतिं ऋ० ८ । ६ । २३ । ११ अग्निर्मूर्धा दिवः० इति प्रशंसा ऋ० ६ । ३ । ३९ ॥ १२ अधःस्विदासीत् इतिसंशयः ८ । १७ । ४ ॥ १३ वसन्तायकपिञ्जलानालभते यजु० इतिविधिः २४ । २० ॥ १४ सहस्रमयुतादददितिपरकृतिः । १५ यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः यजु० ३१ । १६ इति पुराकल्पः ।

"इत्यददा इत्ययजथा इत्यपच इति ब्राह्मणो गायेत्" इस ब्राह्मणकर्तृक गातव्यमंत्रमें अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि इस मंत्रमें इतिकरण (इति अददा इति अयजथा इत्यादि) बाहुल्य है। 'इत्याह' इस वाक्यके द्वारा उपनिबद्ध वेदांश ब्राह्मण है यह बात भी नहीं कही जासक्ती। "राजा चित्रं भगं भक्षीत्याह" ऋ० ५।४।८ एवं "योवा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह" ऋ० ५।७।८ इन दो मंत्रोंमें "इत्याह" होनेके कारण ब्राह्मण लक्षणकी अतिव्याप्ति होती है। आख्यायिका भागही ब्राह्मण है यह बात कहना भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि यमयमीसंवाद सूक्त मंत्र में अतिव्याप्ति होती है। ऋ० ७।६।६ (यमयमीसंवाद आख्यायिका होनेपरभी मंत्र है।) इस कारण ब्राह्मणका कोई लक्षण नहीं।

पूर्वपक्षीके इसप्रकार कहनेपर सिद्धान्ती कहता है, वेद; मंत्र और ब्राह्मण इन दो भागोंमें विभक्त है ऐसा अङ्गी करना होता है। मंत्रका लक्षण पूर्वमें कहा गया है, अवशिष्ट वेदभाग ब्राह्मण है ऐसा लक्षण हो सक्ता है। मंत्र और ब्राह्मण का लक्षण जैमिनी सूत्रमें कहा है। "तच्चोदकेषु मंत्राख्या, शेषे ब्राह्मणशब्दः" जै० अ० २ पा० १ सू० ३२। ३३ कितनेही प्रेरणा करनेवाले वाक्योंकी मंत्र यह संज्ञा सम्प्रदायविद व्यवहार करते हैं, "मंत्र अध्ययन करते हैं" इत्यादि। मंत्र व्यतीत अन्य भागमें वही लोक ब्राह्मण शब्द व्यवहार करते हैं। यदि कहा जाय, ब्रह्मयज्ञप्रकरणमें। (अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः।) मंत्र ब्राह्मण भिन्न इतिहास आदि और भी कई वेद भागका उल्लेख है। जैसे, ब्राह्मण, इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, नाराशंसी यह कितनेही हैं। ऐसा नहीं हो सकता क्यों कि, विप्र परिव्राजक न्यायसे ब्राह्मण आदिक अन्तरनिविष्ट इतिहास आदिका पृथक् रूपसे उल्लेख किया है। (जैसे विप्र और परिव्राजक पृथक्भावसे वर्णित होनेपरभी परिव्राजक विप्रके अन्तर्गत हैं, इसीप्रकार इतिहास पृथक् कथित होनेपरभी ब्राह्मण अथवा मंत्रके अन्तर्भुक्त है,) "देवता और असुरगण युद्ध करतेथे।" "देवासुराः संयत्ता आसन्" यह वाक्य इतिहास है " यह जगत् पूर्वमें कुछभी न था " इस प्रकार जगत्की पूर्वावस्थासे आरम्भ करके सृष्टिप्रतिपादक वाक्य समस्त पुराण हैं। आरुणकेतुकचयन प्रकरणमें : कितनेही मंत्रोंको कल्प कहा गया है। इसके पश्चात् यदि बलि प्रदान करे, तो अग्निचयनमें यमगाथा गान करे, इस प्रकारके

१ यद्ब्राह्मणानीतिहासपुराणानि कल्पान् गाथानाराशंसीरिति तै० आ० अ० २ ॥ २ इदं वा अग्रे नैव किंचनासीत् तै० ब्रा० २। २। ९। योस्य कौष्ठ्यजगतः. पार्थिवस्यैकइद्वशीइत्यादयः यमगाथा अरण्यकाण्डे पितृमेधप्रपाठके समाम्नाताः। इदं जना उपश्रुत इत्यादयस्तिस्रः कुंतापे उक्ताः। इन्हीं कथाओंको विस्तारकर सर्ग प्रतिसर्गादि सहित इतिहास पुराण प्रचरित हुए हैं इसीसे वेदमूलक हैं ॥

विहित मंत्र विशेष गाथा हैं । मनुष्यवृत्तान्तप्रतिपादक ऋचाओंका नाम नाराशंसी है । वेदका मंत्रब्राह्मणके अतिरिक्त दूसरा भाग नहीं, मंत्र और ब्राह्मणका स्वरूपभी कहा गया, इस कारण वेद मंत्र ब्राह्मणं उभयात्मक है यह स्थिर हुआ ।

मंत्रके अवान्तर विभाग सम्बंधमें उस पादमें इस प्रकार विचार किया गया है । यथा ऋक्, साम, यजु, इनका लक्षण नहीं हो सकता । क्योंकि साङ्कर्य्य (एकका लक्षण दूसरे में भी होना) दोष होता है । ऐसी आशङ्का करनेपर पादबद्ध मंत्र ऋक् है, गीति मंत्र साम, प्रश्लिष्ट पठित मंत्र यजुः ऐसा लक्षण कहनेपर शंका नहीं हो सकती । उल्लिखित हुआहै—"अहे बुध्निय मंत्र को मेरे निमित्त रक्षाकर जो मंत्र त्रैविद ऋषिगण ऋक् यजु और सामरूपसे जानते हैं । " जो तीन वेदोंको जानतेहैं वे लोग त्रिवित् हैं, तत्सम्बन्धि पढानेवाले (समस्त पाठक) त्रैविद नामसे कहेजातेहैं, वह मन्त्रभागको ऋक्, यजु और साम इस तीन प्रकारका कहतेहैं, उस मन्त्रकी रक्षा करै । यही उक्त वाक्यका विशद अर्थ है । उस त्रिविध ऋक्, साम और यजुर्मंत्रका व्यवस्थित लक्षण नहीं, क्योंकि सांकर्य्यदोष परिहार नहीं किया जासकता । अध्यापक प्रसिद्ध ऋग्वेदमें पठित मन्त्रऋक् है ऐसा लक्षण कहना चाहिये, उस लक्षणमें शंका रहगई । "देवो वः सविता" तै० सं० १।१।५। यह मंत्र यजुर्वेदमें सम्प्रतिपन्न यजुर्मंत्रके मध्यमें पठित हुआ है, किन्तु वह मंत्र यजुः नहीं है, ब्राह्मणमें सवितृदेवताक ऋक् रूपमें उसका व्यवहार कियाहै । (इसकारण इसको ऋक् अथवा यजु क्या कहैं निश्चय नहीं होता ।) "यह सामगान करै" तै० आर० ७ अ० ऐसा उपक्रम करके यजुर्वेदमें कितने ही साम मंत्र कहे हैं "अक्षितमसि" इत्यादि तीन यजुमंत्र सामवेदमें पठित हुएहैं । सामगानऋक् मंत्रमेंही करना होता है, सामके आश्रयभूत वह समस्तऋक मंत्र सामवेदमें कहे हैं, इसकारण साम वेदमें ऋक् और यजु है, अत एव इनका लक्षण नहींहै सिद्धान्ती कहताहै—ऐसा कहना ठीक नहीं । असङ्कीर्ण लक्षण है । जिस वृत्तबद्ध (छन्दोबद्ध)मंत्रका प्रतिपाद अर्थात् चतुर्थपादकाही अर्थ होसकताहै(एक पादका अर्थ करनेमें अन्यपादकी अपेक्षा नहो) ऐसा मंत्र ऋक् है, जिनका गान करना होताहै, वे समस्त साम हैं, जिनमें छन्द नहीं गानभी नहीं केवल प्रश्लिष्ट पठितहैं उन सम्पूर्ण मंत्रोंको यजु कहते हैं । इस लक्षणमें कोईभी दोष नहीं । जैमिनिने तीन सूत्रोंमें यह तीन प्रकारके लक्षण कहे हैं । यथा, "जिसे मंत्रमें अर्थानुसार पादव्यवस्था की गई है (प्रतिपाद ऐसे भावमें स्थापित है, जिससे अर्थवोध उत्पन्न करानेमें

---

१ इदं मम उपश्रुत इत्यादयः ।

२ तेषामृङ्मन्त्रार्थवशेन पादव्यवस्था, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुःशब्दः । मीमांसादर्शनम् ।

दूसरे पादकी अपेक्षा न रहे।) वही ऋक् " "गीत मंत्रकी साम यह आख्याहै।" इनके अतिरिक्त शेष मंत्रोंका नाम यजु है। मंत्रका यह अन्तर्गत श्रेणी विभाग अवलम्बन करकेही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, यह त्रैविध्य सम्पादित होते हैं। जिसमें ऋक् हों, उस वेदका नाम ऋग्वेद है—इत्यादि।

उन वेदत्रय अथवा किसी एक वेदको अपनी वृद्धिके अनुसार उपनीत व्यक्ति अध्ययन करे। मनु० अ० ३ श्लो० २ में लिखाहै। वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।"तीन वेद, दो वेद अथवा एक वेद यथानियम अध्ययन करै।"यदि एक वेदपाठ करना हो तो पितृपितामह जिस वेदको पढते आये हैं उसी वेदका अध्ययनकरना ही उचित है। ऐसा मनमें करके ही"स्वाध्याय अध्ययन करै"इस विधिमें " स्वशब्द उल्लिखित हुआ है। " (स्वाध्यायका अर्थ पूर्वपुरुषपरम्परा प्राप्त वेद हैं।)

वह वेदाध्ययन नित्य काम्य नहीं है।इसकारणही पुरुषार्थानुशासनमें कहागया है, "वेदका अध्ययन नित्य है, क्योंकि न करनेसे पाप होताहै।" पातित्यका उल्लेख देखा जाता है यथा वेदाध्ययन पापनाशक पवित्र है, इसको जो परित्याग करता है उसका वाक्यमेंभी भाग्य नहीं, स्वर्गमें भी भाग्य नहीं, वह यदि दूसरे ग्रन्थादिकोंका श्रवणकरे, तौभी व्यर्थ करता हैं, क्योंकि उनके द्वारा सुकृतिका मार्ग नहीं जाना जासकता। इस कारण वेदाध्ययन करना चाहिये। "पाठ करनेवालेको उसके प्रयासाभिज्ञानसे सखाकी समान पालनकरता है इस कारण वेद सखिवत् हैं, अनेक द्रव्य यत्नादि साध्य यज्ञफलसम्पादनही उसका पालन है। वहभी उल्लिखित हुआहै, यथा—जिस २ यज्ञका अध्ययन करता है उसी२ यज्ञसे उसका अभिलषित सम्पादित होताहै, अग्नि, वायु और आदित्यका सायुज्य प्राप्त होता है यद्यपि यह ब्रह्मयज्ञ स्वाध्याय फल है, तथापि ग्रहणार्थक अध्ययन व्यतीत ब्रह्मयज्ञ सम्पन्न होना असम्भव है इस कारण उसका फल सम्पन्न नहीं होता। इसी प्रकार सखिवत् वेद—रूप सखाको जो पुरुष अध्ययन न करके परित्याग करता है, उसका वाक्यमें भी भाग्य नहीं फलमेंभी भाग्य नहीं इसमें अधिक क्या कहें ? सम्पूर्ण देवता और परब्रह्मतत्त्वप्रतिपादक वेदवाक्य उच्चारण न करके परनिन्दा, मिथ्याकथन और कलह कारण लौकिक वाक्य जो सर्वदा सर्वत्र उच्चारण करते हैं उनका जो वाक्यमेंभी भाग्य नहीं यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है। इस कारण ही आम्नात

---

१ वेदस्याध्ययनं नित्यमनध्ययने पातात् यथा—॥२ अपहतपाप्मास्वाध्यायोदेवपवित्रं वाएतत्तं योनुसृजतीति—तैत्तिरी० आ० २ अ० ॥ ३ यस्तित्याजसखिविदंसखायं नतस्यवाच्यपि भागो अस्ति ऋ० ८।२।२४॥ ४ यंयं क्रतुमधीते तेन तेन हास्य क्रतुनेष्टंभवत्यग्नेर्वायोरादित्यस्यसायुज्यं गच्छंतीति तै० आ० २ अ०॥

हुआ है" (नानुध्यायान्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्) "वेदाध्ययन छोडकर लौकिक शब्द प्रयोग केवल वृथा वाक्यमात्र है । " वेदाध्ययन न करके यदि काव्य नाटक भी श्रवणकरे, तथापि वह श्रवण निरर्थक है उससे सुकृत मार्ग का ज्ञान नहीं होता । यह पूर्वोक्त वाक्यका अर्थ है । स्मृतिशास्त्रमें भी लिखा है " जो द्विज वेदाध्ययन न करके अन्य शास्त्रमें परिश्रम करता है, वह जीवित रहकरही वंशके सहित शीघ्र शूद्रत्वको प्राप्त होता है । "इसी प्रकार औरभी बहुतसे उदाहरण हैं । इस स्थानमें तर्क होसकता है कि, वेदमें ही वेदाध्ययनकी विधि है, वेद पाठकरनेके पश्चात् वेदपाठकी विधि जानी जाती है, फिर अध्ययनविधि जानलेनेपर अध्ययनकी प्रवृत्ति होती है [ज्ञानके अतिरिक्त प्रवृत्ति नहीं होती]यह परस्पराश्रयदोष हुआ।[विधिज्ञान और अध्ययन दोनोंमेंही दोनों की अपेक्षा रहतीहै इस कारण कोईभी नहीं होसकता] सिद्धान्ती कहता है ठीक बात है ! गुरुमतानुसारिगण इस निमित्तही, आचार्य्य अध्यापन करावे इस अध्यापन विधिसे माणवकके अध्ययनको अध्यापनकी विधि नहीं है बडा प्रयास पाकर यह सिद्धान्त करते हैं । [अध्ययनकी विधिमें परस्पराश्रय दोष हुआ, इस कारण कहना चाहिये, "आचार्य्य पढावे । "यह बात कहनेसे छात्रका अध्ययन सिद्ध हुआ, क्योंकि छात्रके अध्ययनकरनेपर गुरु किसको अध्ययन करावे ? इस कारण गूढमतमें अध्यापनविधिप्रयुक्त अध्ययन है, अध्ययन अर्थात् सिद्ध, विहित नहीं है ।] अन्यमतावलम्बी प्रकाशात्मा आदि आचार्य्य गण, वेद अध्ययनके पूर्वमें भी पिता आदिके निकटसे अध्ययनविधिविषयक ज्ञान होना संभव है, जैसे उपनयनके पूर्वमें भी पिता आदिके निकटसे संध्यावन्दनादिविषयक विधिका ज्ञान रहता है, इसी प्रकार समझना चाहिये, यह बात कहते हैं । जो कुछभी हो अध्यापन प्रसङ्गमें तात्पर्य्यसे अध्ययन आकर पडे, अथवा अध्ययनकीही विधि होवे, सर्वथाही द्विजातियोंको वेदाध्ययन करना उचित है ।

अध्ययन दृष्टार्थ [प्रत्यक्ष प्रयोजनवाला] है और अक्षरग्रहण पर्य्यन्त है यह पुरुषार्थानुशासनमें लिखा है । वह समस्त सूत्रभी उसकी अनुवृत्ति सहित उद्धृत करते हैं । अध्ययन जो दृष्टप्रयोजन है यही प्रतिपन्न करनेके निमित्त पूर्व पक्ष करते हैं । सूत्र यथा,-"अदृष्टार्थात्तु अधीतिर्विहितत्वात्, १"इसका अर्थ यह है कि, अध्ययन अदृष्टार्थके कारण विधान किया गया है । दृष्ट प्रयोजन निष्पादक

१ योनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम् ॥ स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ मनु अ० २ श्लो० १६८ ॥

भोजनादिमें विधि नहीं देखी जाती, इस कारण अध्ययन अदृष्टार्थ है (इसका दृष्ट प्रयोजन नहीं है) ऐसा जानना चाहिये । इस स्थानमें कोईभी "अदृष्ट" श्रुतिद्वारा प्रतिपादित नहीं होता है, ऐसा कहनेपर उसके उत्तरमें कहा जाता है "घृतकुल्याद्यतिदेशः स्वर्गकल्पनं वा २" अर्थात् घृतकुल्यादि रूप (घृतपुष्करिणी) में अर्थवादोक्त फलका अतिदेश करा जासकता है, अथवा स्वर्ग कल्पनाभी की जाती है । ब्रह्मयज्ञ जपाध्ययनका अर्थवाद नित्य अध्ययनका अतिदेश उस ब्रह्मयज्ञ जप अध्ययनके अर्थवादोक्त घृतकुल्यादि फल रात्रिसत्रकी समान अवलम्बन करके इस स्थानमें कल्पना की जासकती है । (१) जो लोग ब्रह्मयज्ञ जप अध्ययन अर्थवाद नित्याध्ययनमें अतिदेश करनेकी इच्छा नहीं करते, उनके मतमें रात्रिसत्रकी समान नहीं होता इस कारण विश्वजित् (२) की समान स्वर्ग फल कल्पना करनी होती है ।

इस स्थानमें शंका होसकतीहै कि, दृष्ट सम्भव होनेपर अदृष्ट फल कल्पना करना अन्याय है, इस स्थानमें संस्कार और प्राप्ति यह दो दृष्टफल हैं, इस कारण अदृष्ट स्वर्गादि फल कल्पना क्यों करें ? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं,–"अयुक्ते संस्कारप्राप्ती ३" अयुक्तमें संस्कार और प्राप्ति सम्भव नहीं होते । क्योंकि संस्कार युक्त स्वाध्याय किसीभी यज्ञमें प्रयुक्त होता नहीं देखाजाता । प्राप्ति स्वयंही अपुरुषार्थ है इसकारण इसका कोईभी फल नहीं होसकता । स्वाध्यायप्राप्ति अर्थज्ञानका कारण होनेसे पुरुपार्थ (पुरुष अर्थात् मनुष्यका अभिप्रेत) होसकताहै (इस कारण स्वाध्यायप्राप्तिको अपुरुषार्थ नहीं कहा जाता) ऐसी शंका करके उसका उत्तर सूत्रमें कहते हैं । विषक्रियानिवारणके निमित्त जो मन्त्र व्यवहार किये जाते हैं, वे समस्त जैसे अपना अर्थात् मन्त्र वाक्यका प्रतिपाद्य पदार्थको नहीं समझाते, क्यों कि उनकी उसस्थानमें आवश्यकता नहीं है । इसी प्रकार अध्ययनके अंगरूपमें विनियुक्त ज्योतिष्टोमयागादि प्रतिपादक वाक्यभी अपना अर्थ

---

(१) जिस स्थानमें विधिवाक्यमें फलश्रुति नहीं है, उस स्थानमें अर्थवाद वाक्योक्त फल विधिमें अतिदिष्ट होता है. अर्थात् इस विधिके अर्थवादमें जो समस्त फल लिखा है, वही विधिका फल माना जायगा । रात्रिसत्रनामक यागमें यह रीति स्वीकार की गई है, इस कारणही इसका नाम "रात्रिसत्रन्याय है ।" रात्रिसत्रमें जो स्वीकार किया गया है इस स्थानमें भी वही है, इस बातके समझानेसे कहना होता है कि, रात्रिसत्रन्यायानुसार इस स्थानमें व्यवस्था है ।

(२) जिस स्थानमें विधिवाक्य अथवा अर्थवादमें भी फलश्रुति नहीं है, उस स्थानमें सर्वसाधारण फल स्वर्ग कल्पना करनी होती है । विश्वजित् यागके विधिवाक्यमें और अर्थवादमें फलश्रुति नहीं, किन्तु स्वर्गकामो यजेत इस विधानके मतसे साधारण यागकी स्वर्ग फल सिद्धि है, वह साधारण फलही विश्वजित्का फल है इसका नाम विश्वजित् न्याय है ।

(ज्योतिष्टोम यागादि) प्रतिपादन नहीं करते । [विष निवारणके अंग मन्त्र जैसे निजार्थ नहीं समझासकते, इसी प्रकार अध्ययनके अंग ज्योतिष्टोम याग-बोधक वाक्यभी ज्योतिष्टोम यागादिका बोध उत्पन्न नहीं करासकते] फलतः ऐसा स्वीकार करनेपर सम्पूर्ण याग यज्ञ वेदवाक्योंके द्वारा प्रतिपादित नहीं होस-कते । सूत्र यथा–"अन्यांगंनार्थप्रमापकम्. ४" जो अन्यका अंग है वह अपना-आप समझानेमें असमर्थ है । अध्ययनविधायक वेदवाक्य अपने द्वारा विहित अध्ययनकाही अंग है ऐसा स्वार्थमें प्रामाण्य कहाजाताहै इस कारण कहते हैं कि– "अध्ययनवाक्यमनन्यांगम् ५" अध्ययनविधायक वेदवाक्य अन्यका अंग नहीं है ।

इस स्थानमें यदि कहाजाय, अध्ययन अदृष्टार्थ होनेपर (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) इस स्थानमें कर्म्मकारक जो स्वाध्याय तद्गत फल न होनेमें अध्येतव्य यह कर्म्म-वाचक तव्य प्रत्ययके विरुद्ध होताहै । उसका उत्तर कहाजाताहै "सक्तुवत् करण-परिणामः । ६" सक्तून् जुहोति (सत्तुओंसे होम करै ।)इस स्थानमें कर्म्मकारक होनेके कारण प्रधान भूत जो सक्तु उसके उद्देशमें होमरूप संस्कार विधानको समझनेपरभी निविष्ट चित्तमें चिन्ता करनेपर देखाजाताहै, द्वितीया विभक्ति (स-क्तून् इस स्थानमें यद्यपि संस्कार्य्यत्व और प्राधान्य समझा देती है, तथापि होमद्वारा संस्कृत सक्तु भस्मीभूत होजानेसे उनकी अन्यत्र उपयोगिता नहीं रहती, संस्कृत पदार्थका अन्यत्र उपयोगी होनाही आवश्यक है, नहीं तो संस्कार करना वृथा है ।) इसकारणही बाध्य होकर कर्म्मकारकके द्वारा ज्ञापित द्वितीया विभक्ति होनेपरभी कर्म्मका प्राधान्य परित्याग करके, सक्तुद्वारा होम करे इसीप्रकार कर्म्म-का "करण परिणाम" करना होताहै । सक्तुको होम करना होताहै, ऐसा कर्म्म न होकर सक्तुद्वारा होम करना होताहै ऐसा करणपरिणाम कियागया इसी प्रकार इस स्थानमें कर्म्मगत फल संस्कार और प्राप्ति असंभव होनेके कारण स्वाध्याय अध्ययन करना चाहिये ऐसा न होकर स्वाध्यायके द्वारा अध्ययन करै, यह करण परिणाम करना उचित है, अध्ययन अदृष्टार्थ है यह पूर्वपक्ष प्रति-पादित हुआ ।

अब सिद्धान्त पक्षमें सूत्र कहा जाता है कि, दृष्ट फल संभव होनेपर अदृष्ट फल कल्पना करना उचित नहीं है । पूर्वपक्षके मतसे दृष्ट फल संभव नहीं है, सिद्धान्त मतमें दृष्ट फल असंभव नहीं है । सूत्र "दृष्टे तु नादृष्टम् ७" दृष्ट फल क्या है ? इस जिज्ञासासे कहते हैं,–"दृष्टौ प्राप्तिसंस्कारौ ८" प्राप्ति और संस्कार (जो पूर्वपक्षमें असंभव कहे गये हैं) दृष्ट फल हैं । अक्षरप्राप्ति (साक्षात् न होनेपरभी) परंपरासे पुरुषार्थ कहाते हैं । "प्राप्त्यर्थबोधः ९"

अक्षरप्राप्ति निमित्त बोध उत्पन्न होता है। भोजन करनेसे तृप्ति होती है न करनेसे नहीं होती, इस अन्वयव्यतिरेकसे भोजन और तृप्तिका सम्बंध अवगत होजाता है इस कारणही भोजनमें विधान दूर नहीं किया। स्वाध्यायकी वेलाभी अन्वयव्यतिरेकसे ज्ञात होजाती है,–इस कारण विधिकी आवश्यकता नहीं होती; इस कारण विधान व्यर्थ है ऐसी शंका नहीं कीजाती, क्योंकि व्रीहिगणोंके तण्डुल निष्पत्तिके निमित्त अवघात और नखद्वारा भूसी उतारकर फेंकदेना इत्यादि अनेक उपाय रहनेपरभी व्रीहिके अवघातद्वारा तण्डुल निष्पादन करना यह नियम विधान जैसे [नियमं जन्य अदृष्टप्रतिपादक विधायक] अनर्थक नहीं होता, वैसेही इस स्थानमेंभी नियमार्थ विधान है यह बात कही जाती है। सूत्रमें यही कहते हैं–"विधिनिष्पत्त्या इति १०" ऊपर जो पूर्वपक्ष कहा है, संस्कृत स्वाध्यायका किसीभी यज्ञमें प्रयोग नहीं दीखता, इस कारण संस्कार सम्भव नहीं। उसके उत्तरमें कहा जाता है "संस्कारसिद्धिः क्रत्वध्ययनविधिद्वयोपादानात् ११" क्रतु और अध्ययन यह दोनों प्रकारकी विधि ग्रहण करनेपर ही संस्कार सिद्ध होता है। क्रतु अर्थात् यज्ञका विधान विषय ज्ञानकी अपेक्षा करता है, इस कारण विषयबोधमें स्वाध्यायको करता है, और अध्ययनविधि लिखित पाठ व्यतिरिक्त नियमित अध्ययनद्वारा स्वाध्यायका संस्कार प्रतिपादन करता है। अतएव दोनों विधिका उपादान करनेपर स्वाध्यायका संस्कार उपपन्न होता है। प्रश्न होसकता है कि, संस्कार एक अदृष्टातिशय है, वह स्वाध्यायगत नहीं होता है, "तव्य" प्रत्ययके द्वारा स्वपदप्राप्त प्रकृतिका अर्थ जो अध्ययन है, उससे उपरक्त जो भावना, उसकाही अपूर्व कथन होता है, ऐसा होनेपर स्वाध्यायका संस्कार किस प्रकार हुआ? उसके उत्तरमें कहाजाता है, "तव्यः कर्म्मगादृष्टवाचीति १२" 'तव्य' प्रत्यय इस स्थानमें कर्म्मगत अदृष्ट समझाता है। 'तव्य' प्रत्यय कर्म्मबोधक होनेके कारण, कर्म्मकारक स्वाध्याय, उस प्रकृति (धातु) का अर्थ जो अध्ययन उसकी अपेक्षाभी तव्य प्रत्ययके सन्निकृष्ट है, इस कारण तव्य प्रत्यय स्वाध्यायगत अदृष्टही समझाता है। अपूर्व धात्वर्थजन्य होनेपरभी धात्वर्थोपरक्त होगा ऐसा नियम नहीं है। जो दूसरेका अङ्ग है वह स्वार्थप्रतिपादनमें असमर्थ है, यह जो कहागया है वहभी अनुचित है। क्योंकि सम्पूर्ण स्वतंत्र अदृष्टके शेष (अङ्ग) होनेपरही ऐसा दोष होसकता है। इस स्थानमें अदृष्ट स्वाध्याय आश्रित है उसकी स्वाध्यायगत अक्षरकी सामर्थ्यसे सिद्ध अर्थज्ञान फल रहते अन्य फल कल्पना करना अन्याय है। इस कारण अदृष्ट प्रामाण्यका उपकारक है, प्रतिबन्धक नहीं, यही

सूत्रमें कहा है । "स्वतंत्राद्दष्टशेषत्वान्न स्वार्थप्रमा प्रतिबध्यते १३" स्वतंत्र अदृष्टका शेष (अङ्ग) न होनेके कारण स्वार्थबोधमें बाधा नहीं । सक्तुन्याय दृष्टान्तमें कर्म्मकारक प्राधान्य परित्याग करनेपर स्वतंत्र अदृष्ट स्वीकार करना होता है । (ऐसा होनेपरही स्वतंत्र अदृष्ट शेष हुआ) इस शङ्कासे कहते हैं,— "यथाश्रुतोपपत्तेर्न सक्तुन्यायः १४" जैसी श्रुति है, उससे उत्पन्न होनेके कारण सक्तुन्याय इस स्थानमें अनावश्यक है । सक्तुन्यायकी गति न होनेके कारण श्रुत (कर्मप्राधान्य) परित्याग करके अश्रुत (कारण परिणाम) कल्पना किया है, इस स्थानमें वह उचित नहीं क्योंकि कर्म्मकारककी गति पूर्वमेंही दिखाई गई है ।

इस प्रकारसे अध्ययनविधान दृष्टार्थ है यह प्रतिपादनकरके अध्ययनकी विधि अर्थज्ञानपर्य्यन्त है यह मत निरास करनेके निमित्त पहले पूर्वपक्षका मत लिखते हैं, सूत्र यथा—"वैधमर्थनिर्णयं भट्टगुरुविधेः पुमर्थावसानात् १" अर्थात् कुमारिल भट्ट और प्रभाकर गुरु कहते हैं, फलवत् अर्थ निश्चय और वैध अर्थात् अध्ययनविधि प्रयुक्त है, क्योंकि सर्वत्रही विधिकी (विधानकी) पुरुषार्थमें पर्य्यवसान अर्थात् समाप्ति है । यदि कहाजाय, एकवार अध्ययन अथवा बहुवार अध्ययनसेभी अर्थज्ञान लाभ नहीं किया जासकता, ऐसा होनेपर शंकाके उत्तरमें कहते हैं, अध्ययनका विधान अर्थनिश्चयसिद्धिके निमित्त अर्थनिश्चयके कारण विचारको कल्पना करेगा । इस तात्पर्य्यका ज्ञापक सूत्र—"सविचारमाक्षिपेत् २" वह अर्थात् अध्ययनविधिविचार आक्षेप अर्थात् कल्पना करती है । इस स्थानमें तर्क होसकताहै कि, विधि केवल विधेय पदार्थ और उसके उपकारी पदार्थ इन दोनोंका प्रयोजक है कि, यह सर्वत्र नियम है; ऐसा होनेपर इस स्थानमें ऐसी कल्पना क्यों करनी चाहिये ? तर्कका उत्तर यह है कि "अविधेयानुपकार्य्याक्षेपोऽवघातावृत्तिवत् ३" जो अविधेय और अनुपकारी है उसकाभी आक्षेप होता है, जैसे अवघातकी आवृत्ति है । "व्रीहि अवघात करेगा" इस स्थानमें अवघात विधेय है, अवघातकी आवृत्ति वारम्वार करना विधेय नहीं है क्योंकि वह धातुका अर्थ नहीं है । आवृत्ति जो विधेयकी उपकारिणी है वह भी नहीं कहसकती, क्योंकि आवृत्ति व्यतीत एकवार मूसलघातकरनेपरही अवघात सिद्ध हुआ, ऐसी अवस्थामें भी तंडुलनिष्पत्तिके निमित्त विधि जैसी वृत्तिका आक्षेप करती है. इस स्थानमें भी वैसाही समझना चाहिये । शंका होसकती है, वेदमात्र जिसने पाठ किया है, उसको अर्थबोध न उत्पन्न करानेसे भी व्याकरणादि अंगसहित वेद अध्ययन करनेपर अर्थज्ञान उत्पन्न

होना सम्भव है, इसकारण उस व्यक्तिके प्रति विचार अनर्थक है, इसकारण अध्ययन विधि भी वह कल्पना नहीं करै । इस शङ्काके उत्तर में कहाजाता है कि, अर्थगत विरोधपरिहारके निमित्त विचारकी अपेक्षा है, इस तात्पर्य्यका बोध करानेवाला सूत्र यथा—"साङ्गाध्ययनात्तद्भावे विचारोऽर्थविरोधापनुत् ४" अर्थात् साङ्ग वेदपाठ करके भी ज्ञानोदयसे अर्थविरोध परिहारकी आवश्यकता होती है इसकारण विचार चाहिये । इस स्थानपर्य्यन्त पूर्वपक्ष शेष हुआ ।

सिद्धान्त पक्ष कहाजाता है "प्राप्तेस्तु गवादिवत्पुमर्थत्वाद् विधिस्तदन्तः ५" प्राप्ति "गो" आदि की समान पुरुषार्थ, अतएव विधिप्राप्त्यन्त है जिसप्रकार फल स्वरूप दुग्धादिके हेतु गोआदि पुरुषके द्वारा प्रार्थित होते हैं, इसी प्रकार फलवत् अर्थज्ञानके कारण अक्षरप्राप्ति भी पुरुषार्थ है, इस निमित्त अध्ययन विधि अक्षर प्राप्तिपर्य्यंत जाननी चाहिये । शङ्का है कि, फलवत् अर्थज्ञानप्रयुक्त अक्षरप्राप्ति की पुरुषार्थता है यह यदि कहाजाय, तो बोध होना ही मुख्य पुरुषार्थ है, इस निमित्त अध्ययनविधि बोधपर्य्यन्त होनेसे हानि क्या है ? इस शङ्काके समाधानमें उत्तर यह है कि, "फलवद्बोधान्तत्वे अध्ययनाकात्स्न्र्यम् ६" अध्ययनविधि फलवत् बोधपर्य्यन्त होनेपर सम्पूर्णको अध्ययनकी आवश्यकता नहीं है । बोधका फल कर्म्मानुष्ठान हैं, ऐसा होनेसे, ब्राह्मणका बृहस्पतिसवादिमें अधिकार है, इससे ब्राह्मण उस वेदवाक्य का अध्ययनहीं करे । राजसूयादि वाक्य ब्राह्मणके द्वारा अधीत नहीं होते । क्योंकि जिसमें आवश्यकता नहीं उसमें प्रवृत्ति नहीं होती । (राजसूय राजा करे, ब्राह्मण न करे, उसके सीखने जानने में ब्राह्मणकी प्रवृत्ति क्यों होगी ?) सिद्धान्तपक्षमें यह दोष नहीं है, यह बात सूत्रमें कहते हैं । जैसे "कृत्स्न प्राप्तिर्जपार्था ७" समस्त प्राप्ति जपार्थ है अनुष्ठानके निमित्त समस्त प्राप्ति नहीं चाहिये जपके निमित्त चाहिये (बोधके पक्षमें समस्त का पढना होसकता है यहां दोष है तो किन्तु) अध्ययन अबोधक होनेपर अर्थज्ञान भी सिद्ध नहीं होसकता यह शङ्का नहीं होसकती, क्योंकि प्रमाणका स्वभाव ही यह है कि, वह प्रमेय पदार्थ प्रतिपादन करता है, लौकिक जो विद्वद्वाक्य हैं, वह विधानके अतिरिक्त भी बोधजनक होते हुए देखे जाते हैं, यह बात सूत्रमें कहते हैं,—"लोकवत् नैजो बोधः ८" बोध स्वयं ही होता है, उसमें विधान की आवश्यकता नहीं । लोकमें ज्ञानीका वाक्य दृष्टान्तका स्थल है । इस समय कहाजासकता है, बोध यदि विधिका फल है, तो जो बोधकी कामना करता है उस व्यक्तिके उद्देशसे उसका विधान किया जा सकता है; इस कारण अधिकारी सुलभ होता है । इस शङ्काके

समाधानार्थ यथार्थ उत्तर :यह है कि, प्रतिपक्षमेंभी जो प्रतिकामना करताहै ऐसा उपनीत आठ वर्षका ब्राह्मण अधिकारी सुलभ है, यह उत्तर स्पष्टही प्रतीत होता है, इस कारण इस उत्तरको उपेक्षा करके बोध "काम्यवस्तु" नहीं, यह बात कहकर बोधके काम्यत्व पक्षमें (पूर्ववादीके पक्षमें) दोष दिया जाता है, जैसे,—"सोऽकाम्यः प्राग् बोध्यभानाभानयोः ९" बोध काम्य नहीं है, क्योंकि पूर्वमेंही बोध्य वस्तु का भान और अभान होता है । वेदाध्ययनके पूर्वमेंभी पिताआदिके उपदेशसे बोध्य अग्निहोत्रादि वेदोक्त पदार्थ ज्ञात हो सकते हैं, इस कारण अर्थबोध काम्य नहीं । (क्योंकि अध्ययनके प्रथमही उपदेशद्वारा सिद्ध हुआ है ।) और यदि पूर्वमें किसी भी मतमें जाना न जाय, तो उस वस्तु-की कामनाभी नहीं हो सकती है । ज्ञात विषयमेंही कामनाके उदय होनेका नियम है । शङ्का हो सकती है कि, सामान्य प्रकारसे जो जाना जाता है, विशेष प्रकारसे उसकेही जाननेकी इच्छा होती है, अथवा पिताआदिके निकटसे विशेष रूपसे ज्ञात होनेपरभी, पिताआदिके उपदेशजनित ज्ञानका प्रामाण्य निश्चय करनेके निमित्त पुनर्वार समझनेकी कामना हो सकती है । इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं—ऐसा होनेपरभी अर्थज्ञानके उपदेशसे अध्ययनका विधान सम्भव नहीं है । सूत्रमें यही विशेष कहा जाता है । सूत्र यथा—"उद्देशायोगात् १०" अर्थात् उद्देश अनुपयुक्त है । अग्निहोत्रादि विशेष ज्ञानका एक बुद्धिद्वारा विशे-षाकारमें उद्देश सम्भव नहीं है क्योंकि यह विशेष ज्ञानसमूह अनन्त है । यदि सामान्यरूपसे उद्देश कहा जाय, तोभी सामान्यही विधिफल होता है, ज्ञान विशेष विधि फल नहीं होता । अत एव अर्थज्ञान सामान्य वा अर्थज्ञान विशे-षका उद्देश इस स्थानमें असम्भव है । प्रश्न हो सकता है कि, यदि अर्थबोध उद्देश करके उच्चारण न हो तो वेदके स्वार्थमें तात्पर्य्यही नहीं हो सकता । उत्तरमें सूत्र कहा जाता है कि, उपक्रम्य आदि लिङ्गद्वारा प्राप्त होनेवाला तात्पर्य्य शब्द बलसेही सिद्ध है । सूत्र यथा—"तात्पर्य्यशब्दात् ११" अर्थात् तात्पर्य्य शब्द सामर्थ्यसेही सिद्ध है । शब्दबलसे तात्पर्य सिद्ध होनेपर अर्थज्ञानके उद्देशसे लोकमें जो शब्दोच्चारण देखा जाता है, वह व्यर्थ होता है, ऐसाभी नहीं कहा जाता, क्योंकि पुरुषसम्बंधजनित दोषरूप प्रतिबन्धक परिहारके निमित्त अर्थज्ञानके उद्देशसे लोकमें शब्दोच्चारण देखा जाता है । सूत्रमें यह बातही कहते हैं—"उद्दिश्योच्चारणं दोषघ्नं लोके १२" (पुरुषका दोष वाक्यमें संक्रमित होता है वह तात्पर्य्यग्रहणका प्रतिबन्धक है, इस प्रतिबन्धक निरासके निमित्त लोकमें अर्थज्ञानके उद्देशसे शब्दोच्चारण करना होता है, तात्पर्य्य यह कि, शब्द-

चलसे सिद्ध होनेपरभी पुरुष दोषविनाशके निमित्त उद्देशसे उच्चारणकी आवश्यकता होती है ।) इस स्थानमें शंका हो सकती है—बोधपर्य्यंत अध्ययन विधि न होनेपर प्रयोजकका अभाव होनेसे विचार शास्त्रकी प्रवृत्तिही नहीं होती इस शंकाके उत्तरमें कहा जाता है—" विचार उत्तरविधिप्रयुक्तउपपद्यत इति १३ " उत्तरविधिप्रयुक्त विचार उपपन्न होता है । क्रतुबोधआदि विधि साङ्ग वेदाध्ययन हेतुसे सब प्रकार प्रतिपन्न होनेपरभी, विरोधपरिहारपूर्वक प्रतिष्ठित निर्णय ज्ञानके अतिरिक्त अनुष्ठान करानेमें असमर्थ होकर निर्णयके निमित्त क्रतु-विचार प्रयोजित करती है । श्रवणविधि साक्षात् ब्रह्मविद्याका विधानही करती है । यदि ऐसा हो तो, श्रवणविधिका स्वविधेय प्रयोजकत्व (अपने द्वारा विधेय ब्रह्म-विचार, तत्प्रयोजकता श्रवणविधिकी ।) और क्रतु (यज्ञ) विधि विधेय पदार्थ का जो उपकारी तत्प्रयोजक वह सम्यक् प्रकारसे उपपन्न हुआ ।

अध्ययनविधिप्रयुक्त अध्ययन इस पक्षमें, उस विधानके यज्ञसे स्वर्गसिद्धि पर्य्यन्तताानिवन्धन यज्ञानुष्ठानभी प्रयुक्त होता है, इसकारण यज्ञविधानकी व्यर्थ-ता उपस्थित होतीहै । यदि प्रश्न कियाजायकि, अध्ययनविधिकी त्रैवर्णिक (ब्रा-ह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीन वर्णोंके) अधिकारी विषयमेंही नित्यता है, इसकारण वह प्रयुक्त होनेपर विचार भी वही लब्ध होता है अन्यथा नहीं । ऐसा होनेपर इस प्रश्नविषयमें (हमारी) जिज्ञासा है । प्रथम—क्रतुविचारके त्रैवर्णिकमात्रमें नित्यता सिद्धिके कारण ? अथवा ब्रह्मविचारका त्रैवर्णिकमात्रमें नित्यतासिद्धिनिवन्धन ? इनमें प्रथम पक्ष (क्रतुविचारके त्रैवर्णिक मात्रमें नित्यता सिद्धिहेतुक यह पक्ष) हमारे पक्षमें भी समान है । यह वात कही जातीहै— "अतो नित्यः क्रतुविचारस्त्रै-वर्णिकमात्रस्येति १४ " अर्थात् इसकारणही त्रैवर्णिकमात्रका क्रतुविचार नित्य है । न करनेमें प्रत्यवाय (अनिष्ट) होनेके कारण, यज्ञ त्रैवर्णिकगणोंका नित्य है, इस कारण क्रतुविचारभी त्रैवर्णिक गणोंका नित्य है ऐसा तात्पर्य है । द्वितीयमें अनिष्टकी वात कही जाती है—"ब्रह्मविचारः पुनःपरमहंसस्यैव १५" ब्रह्मवि-चार परमहंसकाही है । नित्य इस अंशके संयोगमें जानना चाहिये । (ब्रह्मविचार परमहंसका नित्य है त्रैवर्णिकका नित्य नहीं है ।) तर्क होती है कि, यदि अध्य-यन अक्षरग्रहणपर्य्यन्त हो तो अर्थज्ञान तो अविहित होजाता है, यह तर्क उपयुक्त होता है । क्योंकि अन्य वाक्यसे वह विहित हुआ है। (स्वाध्याय अध्ययनविधिसे नहीं ।) "ब्राह्मणको निष्कारण धर्म और समस्त वेद अध्ययन करना उचित है और जाननाभी उचित है" यही वह विधि है । इस विधिवाक्यमें "निष्कारण" शब्दके

१ ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदो ज्ञेयोऽध्येयश्चेति ।

द्वारा अध्ययन और ज्ञानमें "काम्यत्व" निरास किया गयाहै। अर्थज्ञानमें जिससे पुरुषकी प्रवृत्ति हो, शाखान्तरगत वैसे दो वाक्य निरुक्त शास्त्ररचयिता यास्क ने उद्धृत कियेहैं। उसमें ज्ञानकी प्रशंसा और अज्ञानकी निन्दा है। (प्रशंसा श्रवणसे पुरुष उसमें प्रवृत्त होता है यही नियम है, इसकारण ज्ञानप्रशंसाश्रवणसे अर्थज्ञानमें पुरुषकी प्रवृत्ति हो सकती है।) जैसे "जो वेद अध्ययन करके अर्थ नहीं जानता, वह स्थाणुकी समान भारवहनही करता है, जो अर्थ जानता है, वह समस्त कल्याण प्राप्त करता है, स्वर्गमें जाताहै, ज्ञानसे पापमुक्त होता है। जो ग्रहण कियाहै किन्तु जाना नहीं, वह शास्त्र फलदायक नहीं होता जैसे सूखा काठभी अग्निशून्य स्थानमें रखनेसे नहीं जलता इसीप्रकार।" इस मंत्रमें जो अर्थ जानता है इत्यादि अर्द्धांशद्वारा वेदार्थज्ञानकी प्रशंसा कीहै। अन्य अर्द्धत्रयद्वारा ज्ञानरहितकी निन्दा कीहै। [मूल दो श्लोक हैं, उसमें चार अर्द्ध (श्लोकार्द्ध) हैं, उनमें एकसे ज्ञानप्रशंसा अर्थात् एक श्लोकका अर्द्धांश ज्ञानप्रशंसा दूसरे एक पूर्ण श्लोक और एक श्लोकके अर्द्धद्वारा अज्ञाननिन्दा है।] जो वेदार्थ जानताहै, वह इस लोकमें सम्पूर्ण कल्याण पाताहै। यह ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकारके ज्ञानका फल तैत्तिरीय शाखाध्यायिगणने मंत्र उदाहरणके द्वारा और मंत्रतात्पर्यबोधक ब्राह्मणभागके द्वारा स्पष्टरूपसे प्रतिपादन कियाहै। मंत्र जैसे "आधुनिक वा प्राचीन चाहे जिसप्रकारका हो, वेदज्ञको जो लोग दूषित करते हैं, वह आदित्यको, अग्निको, हंसको दूषित करते हैं, जितने देवता हैं, सबही वेदविद् ब्राह्मणमें वास करतेहैं, वेदविद् ब्राह्मणको नमस्कार करे, अश्लील कीर्त्तन न करे, इन सम्पूर्ण देवताओंको वह प्रसन्न करताहै।" वेदज्ञ पुरुष दो प्रकारके हैं, इस कालमें उत्पन्न चतुर्दशविद्यास्थानकुशल कोई उपाध्याय और पूर्वकालीन व्यासादि यह दो प्रकारके हैं। पंडित जो मनमें अपने समझते हैं ऐसे विद्या धन कुल मानादिसे गर्वित जो मनुष्य पूर्वोक्त दोनों प्रकारके वेदविद् ब्राह्मणको विद्यादिमें दूषित करतेहैं, वे सबही पहिले आदित्यको दूषित करते हैं। सर्वदा गमन करताहै, (हनुधातु गत्यर्थ) इस अर्थमें हंस वायु। वेदज्ञ अग्नि आदिस्वरूप है यह बात श्रुति कहती है। यथा,—"(वेदविद्) अग्नि, वायु, और आदित्यकी सायुज्यताको प्राप्त होताहै।" केवल यह तीन देवता वेदविद्में वास करतेहैं, ऐसा नहीं

१ स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा। यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥

२ ये अर्वाङ्मुत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्त्यादित्यमेव ते परिवदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं तृतीयं च हंसमिति तै० आ० २ अ०॥

३ अग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छतीति तै० आ० २ अ०॥

किन्तु सम्पूर्ण देवताही वेदविद् ब्राह्मणमें वास करते हैं। वेदविद् ब्राह्मणोंको देखकर अथवा स्मरण करके प्रतिदिन नमस्कार करै, उनका प्रकृत दोष होनेपर भी कीर्त्तन न करे, ऐसा होनेपर वेदज्ञपुरुषद्वारा स्मर्य्यमाण रूपसे उसके हृदयमें अवस्थित मंत्रार्थभूत सम्पूर्ण देवताओंकोही नमस्कार करनेवालेने प्रसन्न: किया। (वेदज्ञको नमस्कार करनेसे देवता प्रसन्न होते हैं।) यह अध्ययनका फल है ऐसा नहीं कहा जासकता, क्योंकि "विद्वान्" कहागया है, नहीं तो "वेदपाठी" कहाजाता। (जो वेद जानता है ऐसे कहनेपर ज्ञानका फल समझा जाताहै,जो वेदपाठ करता है, ऐसा कहनेपर वेद अध्ययनका फल समझा जाता है।) इस कारण प्राणियोंके द्वारा "देवतास्वरूप" होनेके कारण पूजित वेदज्ञ व्यक्तिको इस लोक और परलोक दोनोंमेंही शुभप्राप्ति उपपन्न हुई। जो वेद पढकर अर्थ नहीं जानता, वह पुरुष भारही वहन करता है, जैसे स्थाणु, यही उसका दृष्टान्त है। शाखारहित सूखी वृक्षकी जडको स्थाणु कहते हैं, वह स्थाणु जैसे बन्धनका काष्ठ करनेके उपयोगी है पुष्पफलादिके निमित्त उपयुक्त नहीं, इसी प्रकार केवल जो पाठ करता है, उसको (अर्थबोधरहित व्यक्तिको) व्रात्यत्व (एकजातीय पतितपन) ही नहीं होता, किन्तु अनुष्ठान और स्वर्गादि फल सिद्ध भी नहीं होता "किल" शब्द लोकप्रसिद्ध रूप अर्थ समझा देता है। लोकमें भी देखा जाता है, जो लोग अर्थ नहीं जानते और पाठ करते हैं, उनको जैसी धनादिप्राप्ति और सन्मान प्राप्ति है, उनकी अपेक्षा जो पुरुष अर्थज्ञ विद्वान् हैं उनको अधिक धन और सन्मान आदिकी प्राप्ति होती है, और भी जो वेदवाक्य आचार्य के निकटसे गृहीत है। किन्तु अर्थज्ञानशून्य पाठरूपसेही पुनः पुनः उच्चारित होता है, वह किसी काल में भी अपना अर्थ प्रकाश नहीं करता। वह अग्निशून्य स्थानमें फेंकाहुआ सूखा काठ जैसे नहीं जलता वैसेही है, ऐसा होनेपर उस शब्दका वेदत्वही मुख्य नहीं हुआ, अर्थात् गौण होगया। अलौकिक पुरुषार्थ उपाय इसके द्वारा जाना जाता है [वेत्ति अनेन] वेदशब्दका अर्थ निर्वचन ऐसा शास्त्रमें है, "प्रत्यक्ष और अनुमानादि द्वारा जो उपाय नहीं समझाजाता, वही वेदके द्वारा जान लिया जाता है यही वेदका वेदत्व है।" मुख्य वेदत्वसिद्धिके निमित्त वेदका अर्थ ज्ञातव्य है। और भी निरुक्तकार यास्कने इस स्थानमें अन्य एक उदाहरण उद्धृत किया है, यथा,-"कोई देखकरके भी वेदवाक्यको नहीं देखते कोई सुनकर-

---

१ प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

२ उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुतत्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उतोत्वस्मै तन्वं १ विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ऋ० ८।२।२३॥

के भी नहीं सुनते; जो व्यक्ति वेदार्थरहस्यकी मीमांसामें प्रवृत्त होता है, वेद उसके निकटही अपना शरीर प्रकाश करता है, जिसप्रकार पतिके प्रति कामयमाना सुवासा पत्नी अपने अङ्गोंको प्रकाशित करतीहै।" उदाहरण के पूर्वार्द्धका तात्पर्य उसने स्वयंही दिखाया है "कोई २ वाक्यको देखकर भी नहीं देखते, इसको सुनकर भी नहीं सुनते, यह अर्द्ध अविद्वान् को कहता है ।" संक्षिप्त यास्कवाक्यका अर्थ यह है कि, जो व्यक्ति अर्थ नहीं जानता उसके प्रति पूर्वार्द्धद्वारा मंत्र कहते हैं, जिस किसी एकने वेद पाठमात्रही कररक्खा है, अर्थ नहीं जानता वह वेदवाक्य देखकरभी नहीं देखता एकवचन वहुवचन ज्ञात न होनेसे शुद्ध रूपसे पाठ करना भी असम्भव है। "वायुमेव स्वेन भागधेयेन उपधावति स एव एनं भूतिं गमयति" तै०सं०२।१।१ (१) इत्यादि स्थानमें अव्युत्पन्न व्यक्ति किस प्रकारसे क्या पाठ शुद्ध है उसका निर्णय करेगा ? (स कर्त्ता होनेपर गमयति क्रिया होगी स पदसे वायुको समझना चाहिये, इस कारण वायु इस स्थानमें जिस प्रकार द्वितीयाका एक वचन है उसीके अनुसार स इस स्थानमें प्रथमाका एकवचन होगा वहुवचन नहीं। आदित्यान् यह द्वितीयाका वहुवचन होनेके कारण " ते " इस स्थानमें भी वहुवचन होकर और ते कर्त्ता होनेसे गमयन्ति क्रिया हुई। यह व्याकरणकी व्युत्पत्ति है इसे अनभिज्ञ नहीं जानते ।) दूसरा कोईभी व्यक्ति व्याकरणादि सम्पूर्ण वेदान्त पढकर भी मीमांसामें अनभिज्ञ होनेके कारण वेदवाक्य सुनकरभी सम्यक् प्रकारसे श्रवण नहीं करता । जितने अश्व प्रतिग्रह करे, उतने वरुण देवताको चतुष्कपाल अर्थात् मृत्तिकापात्रमें यथाविधि संस्कृत हुए हों, ऐसे पुरोडाशनामक यज्ञमें व्यवहृत पिष्टक द्वारा याग करै। इस स्थानमें सब प्रकार व्याकरणादि शास्त्र पाठको विद्यामें समझना, जो अश्वप्रतिग्रह करै उसकाही यह यज्ञ करना उचित है, किन्तु मीमांसाशास्त्रका सूक्ष्म रहस्य विदित होनेपर समझा जायगा कि अश्वदान करै, यह यज्ञ उसकाही कर्तव्य है । (मूलमें "प्रतिगृह्णीयात्" (प्रतिग्रह करै) यह शब्द है, किन्तु परवर्त्ती वाक्यके साथ एकवाक्यता करके देखनेपर स्पष्टही प्रतीत होगा कि "प्रतिगृह्णीयात्" अर्थ प्रतिग्रहण करे ऐसा नहीं, प्रतिग्रहण करावे अर्थात् दान करे । णिच् प्रत्ययका अर्थ इसके मध्यमें संयोजित करना होगा, नहीं तो दूसरे वाक्योंके साथ विरोध उपस्थित होता है, इस कारणही युक्ति अवलम्बन करके दाताका यह यज्ञ यह सिद्धान्त होता है। यह मीमांसाशास्त्रपठनका फल है, इस कारण कहा गया है, मीमांसा न जाननेसे व्याकरणादिकी सहायतासे वेद नहीं समझा जाता ।) इस कारण द्विविध अविद्वानके प्रतिही यह वात कही गई। (मूलका मंत्र जो ४९ पृष्ठमें कहा गया है,

(१) वह अपने भागधेयसे वायुके प्रति उपधावित होता है वायु इसको समृद्धि प्राप्त करताहै। आदित्यगणोंके प्रति अपने भागधेयसे उपधावित होता है वे इसको समृद्धि प्रदान करते हैं।

उतत्वः पश्यन् इत्यादि उसकेही) तृतीय पादका तात्पर्य्य विशेष रूपसे यास्क कहते हैं। "किसीकेभी प्रति तनु प्रकाश करता है, अर्थात् निजको विवृत करता है, इस वाक्यद्वारा अर्थका ज्ञान प्रकाश कहा जाता है।" संक्षिप्त यास्क वाक्य-का अर्थ इस प्रकार है। यास्ककी व्याख्यामें "किसीकेभी" इस भीके स्थानमें संस्कृतमें "अपि" है उस यास्कलिखित "अपि" वेद वाक्यमें जो "इतो" शब्द है उसका अर्थ प्रकाश करता है। पूर्वोक्त अनभिज्ञ व्यक्तिसे पृथक् अभिज्ञ व्यक्तिकी बात इस पादमें कही गई है, उसको यह "अपि" अथवा "उतो" समझाता है। निपात (एक प्रकारके अव्यय) के अनेक अर्थ हो सकते हैं (इस स्थानमें उक्त अर्थ में व्यवहृत हुआ।) जो व्यक्ति व्याकरणादि वेदांगके द्वारा वेदवाक्य और मीमांसारहस्य शोधन करनेमें प्रवृत्त होता है, एक उसीके निकट वेद अपना तनु प्रकाश करता है। वेदार्थ प्रकाशनमें समर्थ सम्यक् ज्ञान इस तृतीय पाद रूप वाक्यद्वारा वेदमन्त्र कहते हैं ऐसा तात्पर्य्य है। यास्क चतु-र्थपादका तात्पर्य्य कहते हैं यथा, "उत्तम वाक्यके द्वारा उपमा दीजाती है। जाया जिसप्रकार पतिकी कामनासे ऋतुकालमें सुवासा होती है उसीप्रकार, वह सुनता है इत्यादि वाक्यद्वारा अर्थज्ञव्यक्तिकी प्रशंसा कीजाती है।" यास्ककी संक्षेपोक्तिका मर्म यथा, उत्तम (चतुर्थपादरूप) वाक्यके द्वारा तृतीयपादोक्त पदार्थकी उपमा कही जाती है। मूल (वेद) में "उशती" शब्द है, उसकी व्याख्या (यास्ककी) कामयमाना है यद्यपि गृहकार्य्य करनेके समय स्त्री मलीन वस्त्रवाली होती है, तथापि स्वामिसंभोग कालमें वह कल्याण वस्त्र धारण करती है। ऋतुकालमें कामयमाना होती है (यही उसके वस्त्रपरिधानमें) हेतु है। पति जिस प्रकार इसको (पत्नीको) सब प्रकारसे, आदरकरके देखताहै, और उसकी बातोंको हितकारी जानकर श्रवण करता है, उसीप्रकार यह चौदह विद्यामें चतुर व्यक्ति वेदका रहस्य भलीभांति देखपाता है, वेदोक्तधर्म्म और ब्रह्म यह दो पदार्थ हितबुद्धिसे स्वीकारकरता है। यह वेदार्थज्ञाता व्यक्तिकी प्रशंसा कही-गई। औरभी एक ऋक् मन्त्र यास्कने उदाहरणमें दियाहै। (उतत्वम् इत्यादि मन्त्र है) उसका अर्थ यह है (कोई २ ऋक्मन्त्र पूर्वोक्त मन्त्रका अर्थ अधिक रूपसे निर्वाचन करता है अर्थात् उस ऋक्का अर्थ अतिशय प्रकारसे प्रतिपादन करता है। किसप्रकार? इस प्रश्नके उत्तरमें कहाजाता है) औरभी अभिज्ञगण

—आदित्यानेव स्वेन भागधेयेनोपधावति त एवैनं भूतिं गमयन्ति तै० सं० २।३।१। यावतोऽ-श्वान्प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेदिति तै० सं० २।३।१२।

१ उतत्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वंत्यपि वाजिनेषु। अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाम् अफलामपुष्पामिति ऋ० ८।२।२३।

कहते हैं, एक चौदह विद्यानिधान पंडित वेदवाक्यके सखित्वमें स्थितहोकर स्थैर्य्यद्वारा वेदोक्त अर्थरूप अमृत पानकरता है, ("सखिविदं सखायम्" ऋ० ८ । २।२४। इत्यादि मन्त्रमें वेदका सखित्व कहा है ।) अथवा स्वर्गलोकमें देवगणोंके सख्यमें अवस्थितरहकर अतिशयरूपसे अमृतपान करता है, इसप्रकार पण्डित लोग कहते हैं । सभामें जो प्रगल्भ हैं वे लोगभी इस वेदज्ञव्यक्तिको विचलित नहीं करसकते, सबही वेदज्ञके साथ विवाद करनेमें असमर्थ हैं । जिसने केवल पाठमात्रही किया है, पुष्पफलरहित वाक्यको श्रवणही किया है वह अधेनुमायाके साथ विचरण करता है । पूर्वकाण्डोक्त धर्म्मका ज्ञान "पुष्प" और उत्तर काण्डके प्रतिपाद्यपदार्थका ज्ञान फल जिसप्रकार लोकमें देखाजाताहै, पुष्पफलका उत्पादक, उसी प्रकार वेदानुवचनादि धर्म्मज्ञान अनुष्ठान द्वारा फलरूप ब्रह्मज्ञानकी इच्छा उत्पन्न करा देता है । वेदमें है "उस परमात्माके (ब्रह्मके) वेदानुवचन यज्ञ, दान, और शरीरका अनिष्ट न करै ऐसी तपस्याके द्वारा ब्राह्मण लोग जाननेकी इच्छा करते हैं । फल जिसप्रकार तृप्तिका कारण है, ब्रह्मज्ञानभी उसी प्रकार कृतकृत्य होनेका उपाय है । श्रुति कहती है—[ब्रह्माहमस्मि] "मैं वही ब्रह्म हूं" इस प्रकारसे (ब्रह्मज्ञ) कृतकृत्य होताहै । जो व्यक्ति पूर्वोक्त धर्म पुष्प और ब्रह्मज्ञानफलरहित वेदपाठ करताहै वह अधेनुमायाके साथ विचरण करताहै । नवप्रसूति दुग्धदेनेवाली गौ "धिनोति" अर्थात् प्रीतिदान करती है इस व्युत्पत्तिबलसे धेनु कही जाती है । जिसने वेदपाठ किया है, अर्थ नहीं जाना, उसको वेदवाणी धर्मज्ञान, और ब्रह्मज्ञानरूप दुःग्धदान नहीं करती अतएव वेदवाणी उसके पक्षमें धेनु नहीं अधेनु है । जब अधेनु है, तब माया हुई, क्योंकि ऐन्द्रजालिक निर्मित कृत्रिमधेनु, जैसे दुग्धदान नहीं करती; वेदवाणीने भी उसीप्रकार दुग्धदान नहीं दिया, इसकारण इसको अधेनुमाया कहते हैं । अविद्वान् व्यक्ति उस अधेनु मायाके साथ विचरण करता है, परम पुरुषार्थ लाभ नहीं करता; इसप्रकार अर्थ है । इसप्रकार यास्कमुनिने ज्ञानकी प्रशंसा और अज्ञानकी निन्दाका उदाहरण विस्तृतरूपसे दिखाया है । "जिसकी प्रशंसा करनी होती है उसका विधान भी करना होता है" इस मीमांसायुक्तिके अनुसार अध्ययन विधिकी समान अर्थ ज्ञानकी भी विधि स्वीकार करनी होगी । नक्षत्रेष्टि काण्डनामक वेदभागमें और भी देखाजाताहै, प्रत्येक इष्टिमेंही (जिसमें सामगान नहीं है ऐसा यज्ञ इष्टि है) इष्टिका फल और इष्टि जाननेका फल समान भावसेही कहागयाहै । जैसे, "अग्नि जिसप्रकार अन्नाद (हविर्ग्राही) है यह भी मनुष्योंको इसप्रकारही होगी, जो इस हविद्वारा याग करताहै अथवा जो इसको

जानताहै "(१) (याग जाननेपर और याग करनेपर समान फल कहा।) अतएव याग जिसप्रकार फलके निमित्त विहित है, यागज्ञानभी उसीप्रकार है। इस रीतिका अनुसरण करनेसे समस्त ब्राह्मणोंमेंही अर्थज्ञानकी विधि देखीजाती है। प्रश्न होसकता है कि "विद्याप्रशंसा" इस मीमांसासूत्रमें जैमिनिने कहा है, याग यज्ञादि जाननेपर जो फल होना कहागया है वह अर्थवाद है। (प्रशंसा वाक्यमात्र है।) उसके उत्तरमें कहना चाहिये, चाहे होभी, प्रकृत जो फल विद्यमान उसके द्वाराभी स्तुति वा प्रशंसा की जासकती है। (जो गुण यथार्थ है, उसके उल्लेखसे भी प्रशंसा होती है, केवल जो अविद्यमान गुणोल्लेख प्रशंसा है वह नहीं।) दर्शपूर्णमासयागका अतिपात (समय अतिक्रमसे एकवार वैधकालमें वाद पडजानेपर) होनेपर प्रायश्चित्त (दोपशान्तिके निमित्त जो करना होता है) रूप वैश्वानरइष्टि विधान करनेसे विद्यमान यथार्थ स्वर्ग फलके द्वाराही स्तुति कीगई है।

जैसे, "स्वर्गफलके निमित्तही दर्शपूर्णमासयाग करना होता है।" (२) ज्ञान फल वाक्यका स्वार्थमेंभी तात्पर्य्य है, यही दिखानेके निमित्त आचार्य्य गणोंनेभी इसका उदाहरण दिया है। [नीचे मूल श्लोक हैं, इस स्थानमें उनका संक्षिप्त अनुवाद दिया जाता है] "(३) वाक्यकी अन्यपरता (अन्यबोधकता) उस वाक्यको अर्थवाद कहनेकी इच्छा करती है, " किन्तु, यथा वस्तु (विद्यमानवस्तु) प्रतिपादन करने के कारण अविद्यमान अर्थवाद नहीं है, अर्थात् अविद्यमान फलके द्वारा प्रशंसा नहीं है। स्वर्ग लोकके निमित्त दर्शपूर्णमास याग करे, इस अतिपात प्रायश्चित्तकी वैश्वानरेष्टिमें दर्शपूर्णमासके अविद्यमानफलके द्वाराही प्रशंसा कीगई है, इस स्थानमें भी उसी प्रकार, पाप श्लोक श्रवणकी जैसे अविद्यमानफलके द्वारा प्रशंसा है इस स्थानमें वह नहीं है।

इस स्थानमें फिर शङ्का होसकती है कि, यदि याग जनानेसे ही उसका फल पाया जाता है, तो यागका अनुष्ठान व्यर्थ है। इसके उत्तरमें कहना चाहिये कि,

---

(१) यथा ह वा अग्निर्देवानामन्नादः एवं ह वा एष मनुष्याणां भवति य एतेन हविषा यजते य उ च तदेवं वेदेति तै० ब्रा० ३ । १ । ४ ।

(२) सुवर्गाय हि लोकाय दर्शपौर्णमासाविज्येते तै० सं० २ । २ । ५ ।
अर्थात् दर्शपूर्णमासका फल स्वर्ग है, इस सूचिगत प्रशंसावाक्यमें यथार्थ फल उल्लेख करकेही प्रशंसा की गई है।

(३) इच्छाम्येवार्थवादत्वं वचसोन्यपरत्वतः । यथावस्त्वभिधायित्वान्नत्वभूतार्थवादता ॥ १ ॥ इज्यते स्वर्गलोकाय दर्शादर्शौ यथा-तथा । नत्वभूतार्थवादत्वं पापश्लोका श्रुतिर्यथा ॥ २ ॥

फलाधिक्य है (अनुष्ठानमें) इसकारण अनुष्ठान व्यर्थ नहीं है । जैमिनीय सूत्रभी उदाहरणमें दियाजाता है । "फलस्य कर्म्म निष्पत्तेः तेषां लोकवत् परिमाणतः सारतो वा फलविशेषः स्यात्" यह सूत्र है "जो अश्वमेध जानता है वह भी ब्रह्म-हत्यासे उत्तीर्ण होता है जो अश्वमेध करता है वह तो होताही है" इत्यादि प्रसङ्गमें हमने इसकी व्याख्या की है । सामवेदकी छान्दोग्यशाखामें केवल यज्ञानुष्ठानकी अपेक्षा यज्ञज्ञानसहित यज्ञानुष्ठानमें अधिक फल कहा है । जैसे "इसकारण जो जानता है और जो इसको नहीं जानता दोनोंही (अनुष्ठान) करते हैं, विद्या और अविद्याभिन्न, जो विद्या श्रद्धा और उपनिषद्द्वारा करता है वही वीर्य्यशाली होता है । (ज्ञानीका अनुष्ठान अज्ञानीके अनुष्ठानसे श्रेष्ठ है इससेही यह बात कही गई) यद्यपि समस्ताङ्गयुक्त उपासना इस स्थानमें विद्या शब्दके द्वारा कही गई है, तथापि समस्त विद्यामें (ज्ञानमें) ही यह युक्ति समानभावसे कार्य्य-कारी है । यदि कोई कहना चाहे कि वेदनके (ज्ञानके) ऊपर इतनी भक्ति किसनिमित्त है ? उससे कहाजायगा कि, "ज्ञानका फल है, इस बातमें दूसरे पक्षकाही इतना द्वेष क्यों ? " ज्ञानकी प्रशंसा और अज्ञानकी निन्दा बहुत २ दिखाई गई है । निन्दा किसी स्थानमें नहीं पाई जाती । कर्म्मजन्य जो अदृष्ट उत्पन्न होता है, वह जैसे मरणान्तमें जीवके साथ जाता है, इसी प्रकार विद्या (ज्ञान) जन्य अदृष्ट भी जीवके साथ गमन करता है ।

वाजसनेयशाखाध्यायी गण कहते हैं—"विद्या और कर्म्म पुरुषके (परलोकमें) अनुगमन करते हैं, पूर्व ज्ञानभी अनुगमन करता है ।" अतएव अध्ययन जिस प्रकार विहित है, अर्थज्ञानभी उसी प्रकार है, इसकारण अर्थज्ञानके निमित्त वेद-व्याख्या करनी उचित है ।

विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी इनके ज्ञान विना श्रोतृगणोंकी प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं है, (जो सुनेगा वह अवश्य पहले, वह विषय क्या है उसको न जाननेपर सुनना नहीं चाहेगा, प्रयोजन क्या ? उसको न जाननेपर किसीकोभी कोई कार्य्य आवश्यक बोध नहीं होता । परस्परका सम्बन्धभी जानना चाहता है । इस विषयमें किसका अधिकार है यह न जाननेपर कोईभी अधिकार चर्चाकरनेमें प्रवृत्त नहीं होता, इसकारण यह समस्तही चाहता है) इस कारण विषयादि

---

१ तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते तै० सं० ५ । ३ । १२ ।

२ तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति ।

३ तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चेति तै० सं० ५।३।१२।

निरूपण करते हैं। यथा,—व्याख्यानका विषय वेद है। व्याख्यानका प्रयोजन वेदका अर्थ जानलेनेका है। वेदव्याख्यामें व्याख्यान उसकीही व्याख्या है, यही परस्परका सम्बन्ध है। जो ज्ञान लाभ करना चाहता है वही अधिकारी है। इसप्रकार विषयादि यद्यपि प्रसिद्ध हैं, तथापि वेदके विषयादि न होनेके कारण, वेदव्याख्याकाभी परम विषय नहीं होसकता। (वेदव्याख्यानका विषय, किन्तु वेदका यदि विषय न हो, तो वेद व्याख्यानका विषय यह बात अन्याय है।) इसकारण वेदका विषय आदि प्रयोजन कहाजाता है। वेदके पूर्व काण्डका विषय धर्म्म और उत्तर काण्डका विषय ब्रह्म है। क्योंकि धर्म्म और ब्रह्म वेदव्यतीत अन्यको लभ्य नहीं। पुरुषार्थानुशासनमें कहा है "धर्मब्रह्मणी वेदैकवेद्ये" धर्म और ब्रह्म एक मात्र वेदगम्य हैं जैमिनिके मीमांसादर्शनमें प्रथमाध्याय प्रथमपादके द्वितीय (चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म्मः) सूत्रमें "धर्म्ममें वेदविधिही प्रमाण है" और "वेदविधिही प्रमाण" यह दोनों नियम साम्प्रदायिक गणोंने स्वीकार किये हैं। वेदविधिही जो एकमात्र प्रमाण है यह बात समझानेके निमित्त चतुर्थ सूत्रमें धर्म्म प्रत्यक्षका विषय नहीं, यह प्रतिपादित हुआ है। प्रत्यक्ष प्रमाण धर्मके बोधमें निमित्त नहीं होसकता क्योंकि विद्यमान वस्तुकी उपलब्धिमेंही प्रत्यक्ष प्रमाण योग्य है। धर्म्म कर्मानुष्ठानके पश्चात् उत्पन्न होताहै, इसकारण वह उत्पत्तिके पूर्वमें न होनेके कारण प्रत्यक्षके अयोग्य है। उत्पत्तिके परक्षणमेंभी धर्म्म प्रत्यक्ष नहीं होसका, क्योंकि धर्म्मका रूप नहीं। (रूपकोही चक्षु ग्रहण करता है) इस निमित्तही धर्म्मका नाम अदृष्ट है। हेतु न पाया जानेके कारण धर्म्मका अनुमानभी नहीं कियाजाता। यदि कहो, धर्म्मही सुखका हेतु है, अधर्म्मही दुःखका हेतु है, अतएव अनुमान किया जाता है, इसके उत्तरमें कहा जायगा कि, धर्म्म जो सुखका हेतु है यह बातभी वेदनेही कही है, इससे जानागया, चाहे जिसप्रकार हो वेदही एकमात्र धर्म्मका प्रमाण है।

व्यासके (वेदान्तदर्शनके) तृतीय सूत्र "शास्त्रयोनित्वात्" ३ में (दूसरे प्रकारकी व्याख्यामें) ब्रह्म स्वतःसिद्ध और शास्त्रैकगम्य है ऐसा भाष्यकार शङ्कर स्वामीने व्याख्यान किया है। यथा, "शास्त्ररूप कारणसे ही ब्रह्म जगत्की उत्पत्ति विनाशका कारण है यह ज्ञात होजाता है, यह अभिप्राय है।" श्रुतिभी कहती है—"जो वेद नहीं जानता, वह ब्रह्मको मनन नहीं कर सकता।" "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" इति तै० ब्रा० ३।१२।९। इस स्थानमें पूर्वाचार्य्योंने इस प्रकार उत्पत्ति कही है, "रूपभी नहीं हेतु नहीं, इसकारण यह अन्य प्रमाण योग्य नहीं," अन्य प्रमाण लभ्य न होनेके कारण धर्म्म और ब्रह्म वेदगम्य वेदका विषय है। धर्म्म और ब्रह्मज्ञान वेदका साक्षात् प्रयोजन है। "सप्तद्वीपा वसुमती" "यह राजा जाता है"

इत्यादि वाक्यका ज्ञान जिस प्रकार पुरुषार्थ नहीं है इसी प्रकार धर्म्म और ब्रह्मज्ञान अपुरुषार्थ है, ऐसी शङ्का नहीं होसकती । धर्म्म प्रयुक्त पुरुषार्थ प्रशंसित होताहै । जैसे, "धर्म्म ही विश्व संसारकी प्रतिष्ठा है, इस कारण धर्म्मको परम कहा जाता है।" परस्पर विवाद करते हुए दो पुरुषोंमेंसे राजाकी सहायतासे दुर्बलकी वलवानके निकट जयलाभ जिस प्रकार संघटित होती है, उसी प्रकार धर्म्मभी जय-हेतु है अतः धर्मप्रयुक्त पुरुषार्थ है । सृष्टिप्रकरणमें वाजसनेयी गणोंने कहा है,— "उसने श्रेयोरूप धर्मकी सृष्टि की थी जो इस क्षत्रका क्षत्र है वही धर्म्म है, उस धर्मसे श्रेष्ठ कुछभी नहीं, धर्म्मवलसे दुर्बल वलवान् को पराजय करसकता है, जैसे दुर्बल राजाकी सहायतासे वलवान्को जीतता है।" ब्रह्मवित् परम पुरुषार्थको प्राप्त होता है, "ब्रह्म जाननेसे, वह ब्रह्म होता है," "आत्मज्ञानी शोकसे उत्तीर्ण होता है," इन समस्त श्रुतिवाक्योंमें ब्रह्मज्ञानप्रयुक्त पुरुषार्थ प्रसिद्ध है इस धर्म्म और ब्रह्मज्ञानकी इच्छावाला वेदमें अधिकारी है । किन्तु वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन त्रिवर्णका पुरुष हो स्त्री और शूद्रके ज्ञानमें अपेक्षा रहनेपरभी उपनयन न होनेके कारण वेदाध्ययनभी नहीं होसकता; इस कारण वेदमें (स्त्री शूद्रका) अधिकार नहीं, यह चिरप्रसिद्ध है। उनको धर्म्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान पुराणादिसे होगा । वेदाध्ययन द्वारा धर्म्म ब्रह्मज्ञानमें त्रिवर्णकाही अधिकार है । धर्म्म ब्रह्म प्रतिपादक वेद वेदप्रतिपाद्य धर्म्म और ब्रह्म, यह प्रतिपाद्यप्रतिपादक सम्बंध है । धर्म्म ब्रह्मज्ञानके साथ वेदका जन्यजनकभाव सम्बंध अर्थात् धर्म्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान वेदजन्य है, वेद इस ज्ञानका जनक है । त्रिवर्ण पुरुषके साथ वेदका उपकार्य्यउपकारकसम्बंध है । वेद उपकारक, त्रैवर्णिक पुरुष उपकार्य्य हैं। वेदके चारों अनुबन्ध (विषयादि) निरूपण हुए; इस समय श्रोतागण सावधान चित्तसे वेदव्याख्यान सुननेमें प्रवृत्त होवें ।

अति गंभीर वेदका अर्थ जाननेके निमित्त शिक्षा आदि छः वेदाङ्ग प्रवृत्त हुएहैं, इन शिक्षा आदिको अपरा विद्या कहनेके कारण मुण्डकोपनिषद्में अथर्ववेदीय लोगोंने कहा है यथा—"ब्रह्मवादीलोग कहते हैं विद्या दो प्रकारकी है, परा और अपरा । जिसके द्वारा अक्षर ब्रह्मज्ञान होजाय वही परा विद्या है ।"

---

१ धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति धर्मेण पापमपनुदति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम् तस्माद्धर्मं परमं वदन्तीति तै० आ० १० प्र० ।

२ तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत धर्मं तदेव क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथो अबलीयान्बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथैव राज्ञैवमिति ब्रह्मविदाप्नोति परम् । तै० आ० ८ प्र० । ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति तरति शोकमात्मवित् ॥

३ द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोथर्ववेदः शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषम् अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।

धर्म्मज्ञान ब्रह्मज्ञानका साधन है ।, साधनस्वरूप धर्म्मज्ञानका कारण होनेके कारण षडङ्गसहित कर्म्मकाण्ड [वेदका कर्म्मबोधक भाग] अपरा विद्या है। जो ब्रह्मज्ञान परम पुरुषार्थ है उसका ही कारण होनेसे उपनिषद्‌ परा विद्या है। वर्ण, स्वर आदिका उच्चारणप्रकार जिस स्थानमें कहा गया है, वह शास्त्र शिक्षा है। तैत्तिरीय शाखाध्यायिगण उपनिषद्‌के प्रथममेंही कहते हैं,—"शिक्षा व्याख्या करेंगे। वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम, सन्तान यही शिक्षा अध्याय कहागया" तै० आ० ७ प्र० वर्ण०अकरादि। शिक्षाग्रन्थमें वह स्पष्ट रूपसे कहा गया है॥ (महेश्वरके मतमें ।) यह स्वयंभूने कहा है । स्वर—उदात्तादि । वहभी शिक्षाग्रन्थमें कहे गये हैं । जैसे,—"उदात्त अनुदात्त और स्वरित तीन प्रकारके स्वर हैं।" मात्रा—ह्रस्व दीर्घ आदि। वहभी शिक्षामें उक्त हुई हैं जैसे,—"ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, यह तीन मात्रा, यह कालनियम है।" (स्वल्प कालमें ह्रस्व, उससे अधिक कालमें दीर्घ,और अत्यधिक अर्थात् गान और आह्वान आदिमें सुदीर्घकालस्थायी होनेपर प्लुत मात्रा होती है।) बल अर्थ उत्पत्ति स्थान और उच्चारण प्रयत्न॥ शिक्षामें "वर्णके उच्चारणस्थान आठ हैं" इत्यादि कहा गया है (कौन वर्ण किस स्थानसे उच्चारित होता है सो व्याकरणमेंही देखा जाता है ।) "स्पर्श वर्णोंका उच्चारण प्रयत्न स्पृष्टव "यरलव" इत्यादिका उच्चारण ईषत्स्पृष्टप्रयत्न है इत्यादि शिक्षामें कहा है। सामशब्दका अर्थ साम्य, अतिद्रुत, अतिविलम्बित, गीत और शिरःकम्पनादि रहित और माधुर्य्यआदि गुणयुक्त उच्चारणकोही साम्य कहा जाता है। "गान करते करते पाठ करना, अति शीघ्र पाठ करना, शिर हिलाकर पाठ करना, अस्पष्ट पाठ करना अथवा दन्तद्वारा ओष्ठदंशनपूर्वक पाठ करना" इत्यादिही पाठदोष कहा गया है। "माधुर्य स्पष्टाक्षरता प्रभृति गुणभी कहे गये हैं। सन्तान शब्दको अर्थात् संहिता (सन्धि) "वायो + आयाहि" इस स्थानमें "आ" कार परे होनेके कारण "ओ" कारके स्थानमें "अव्" हुआ है॥ "इंद्राग्नी+आगतम्" इस स्थानमें आकार परे रहतेभी द्विवचनके "ई" कारके स्थानमें 'य' नहीं हुआ जैसा था वैसाही रहा यह सब संहिता है। यह विषय व्याकरणमें विशेष कहा है। वर्ण स्वर आदिकी विकलता उपस्थित होनेपर दोष होता है वह शिक्षामें कहा गया है । जैसे "स्वर और वर्ण अन्यथा प्रकारसे उच्चारित होनेपर मंत्र विकृत होता है, इस प्रकारके अन्यथा प्रयोगमें वह कोईभी अर्थबोध उत्पन्न नहीं करासकता, जैसे "इन्द्रशत्रु" इस स्वरमें स्वरभ्रमवशतः शब्दका यथार्थ अर्थ जानना असम्भव होता है जो प्रकृत मंत्र वाक्य वज्रकी समान यजमानकी हिंसा करता है।" (जब मंत्रके विकृत रूपसे उच्चारित होनेसे

यजमानका अनिष्ट होता है और अर्थबोध उत्पन्न नहीं होता, तो स्वर मात्रादि ज्ञान रहनेपर हितमें विपरीत होजाता है) इसमें क्या कहना है? "इन्द्रशत्रो विवर्द्धस्व" इस मंत्रमें इन्द्रशत्रु शब्दसे यदि इन्द्रका शत्रु अर्थात् विनाशक यह अर्थ विवक्षित हो तो तत्पुरुष समास होगा, तत्पुरुषमें 'समासस्य' इस सूत्रसे अन्तस्वर उदात्त होता है किन्तु इस स्थानमें आदि स्वर उदात्त प्रयुक्त हुआ है तौ यह बहुव्रीहि समास हुआ और इन्द्र है शत्रु अर्थात् घातक जिसका ऐसा अर्थ हुवा स्वरज्ञान न होनेसे विपरीत अर्थ होजाता है, इससे इस त्रुटिपरिहारके निमित्त शिक्षाकी आवश्यकता है । आपस्तम्ब बोधायन आश्वलायन कात्यायन आदि सूत्रोंका नाम कल्पसूत्र है, इस शास्त्रमें याग प्रयोग कल्पित अर्थात् समर्थित होता है इसीसे इसको कल्प कहते हैं, यजुर्वेदके कल्पसूत्रमें संपूर्ण यज्ञोंका क्रमसे वर्णन किया है, ब्रह्मयज्ञादि जप पठन पाठनके अनुसार मंत्रकाण्ड प्रवृत्त हुआ है, यागानुष्ठानप्रणालीसे नहीं परन्तु यजुर्मन्त्र दर्शपौर्णमाससे अश्वमेधपर्यन्त क्रमसे पठित हुए हैं, परन्तु यह मंत्र किस कार्यके निमित्त है तथा किसप्रकार इसका अध्ययन है, यह मंत्रकाण्डमें कथन नहीं हुआ है परन्तु श्रुतिलिंग वाक्य प्रकरण स्मृति प्रमाणके अनुसार कल्पसूत्रोंकी रचना हुई है, " इषे त्वा" इत्यादि मंत्रोंका क्रम अवलम्बन करके यागादि कर्मकी परिपाटी क्रमभावसे विधिबद्ध कीगई है, यदि ब्राह्मणकाण्डने दीक्षणीय इष्टि सर्व प्रथम कही है तौभी यह दीक्षणीय इष्टि दर्शपौर्णमास इष्टिकी विकृति है, इसीसे दर्शपौर्णमास इष्टिकी अपेक्षा करती है, कारण कि दर्शपौर्णमास कहेविना दीक्षणीय कहना सम्पूर्ण न होसके, जिससे कि दर्शपौर्णमासकी अनेक क्रिया दीक्षणीयमें आती है, इस प्रकार विधान दिखानेको कल्प सूत्र मंत्रके विनियोग द्वारा यज्ञानुष्ठान उपदेश करनेका उपकार करता है, यदि कहो कि, किन्हीं मंत्रोंका विनियोग नहीं कहागया इसका कारण क्या है, इसका उत्तर यह है कि, शाखान्तरमें वे सब मंत्र आम्नात हुए हैं, ब्राह्मणान्तरमें उनका विनियोग सिद्ध है एक शाखामें जो गुण (आदिकर्म) उपदिष्ट नहीं हुए हैं. कर्म निर्वाहके निमित्त वह सब एकत्र समाहृत कियेहैं, अर्थात् एकत्र विहित कर्म अन्यत्र विहित गुणकी अपेक्षा करते हैं, इसी निमित्त शाखान्तर्गत मंत्र अन्यत्र विनियुक्त होते हैं, मीमांसा शास्त्र देखनेसे यह भलीभांति विदित होसकता है, इसी कारण शिक्षाके सदृश कल्पसूत्रभी वेदार्थज्ञानमें सहायक होता है । कल्पसूत्रोंमें मंत्र विनियोगद्वारा यज्ञानुष्ठान उपदिष्ट हुआ है, इस शास्त्रके बिना जाने यागादि विषयमें जो सन्देह रहजाता है, वह निवारण नहीं हो सकता इससे कल्पकी आवश्यकता है ।

३ शिक्षाकी टीका संहिताके अन्तमें है ।

व्याकरणभी प्रकृति प्रत्ययादिका उपदेश देकर पदस्वरूप और उसका अर्थबोध कराता है, इस निमित्त यह भी वेदार्थमें उपयोगी है, ऐन्द्रवायव ग्रह ब्राह्मणमें कहा है, "वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमान्नो वाचं व्याकुर्विति" इति तै० सं० ६ । ४ । ७ इसका अर्थ यह है कि "अग्निमीळे पुरोहितम्" इत्यादि वेदवाक्य पूर्वमें समुद्रध्वनिकी समान एकात्मक और अव्याकृत अर्थात् प्रकृति प्रत्यय पद वाक्यादिके विभाग करनेवाले ग्रन्थसे हीन थे, उस समय देवताओंने इन्द्रके समीप जाकर कहा इन वाक्योंकी हमारे निकट व्याख्या करो, इन्द्रने वरकी प्रार्थना की कि इन्द्र और वायु इन दोनोंके निमित्त यज्ञीय सोमरस एक पात्रमें ग्रहण किया जाय, देवताओंने कहा ऐसाही होगा, तब इन्द्रने उस अखण्ड वेदवाक्यको पद पदमें छिन्न करके प्रकृति प्रत्यय आदिका विभाग स्थापनकरके व्याख्या की, उसीभांति पाणिनि आदि महर्षिद्वारा प्रकृति प्रत्यय विभागके अनुसार व्याकृत होकर सबके द्वारा वेद पढा जाता है, इसी कारण इन्द्र और वायुको एक पात्रमें रस दिया जाता है, वररुचिने व्याकरणका प्रयोजन दिखाया है कि 'रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्' रक्षा ऊह आगम लघु असन्देह यह कै एक व्याकरणके प्रयोजन हैं, यह प्रयोजन तथा और भी कितने प्रयोजन महर्षि पतञ्जलिने महाभाष्यमें निरूपण किये हैं, वेदकी रक्षाके निमित्त व्याकरण पढना उचित है. [रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणमित्यादि] वर्णलोप वर्णागम वर्णविपर्यय इत्यादि व्याकरणविधि जिनको भली प्रकार आतीहै, वही भली प्रकारसे वेदका प्रतिपालन करसकते हैं, वेदार्थभी जान सकते हैं, ऊहभी व्याकरणद्वारा जाना जाता है, वेदके मन्त्र लिंग और सर्व विभक्ति द्वारा नहीं कहे गये हैं, इस कारण यज्ञकार्यके समय किस किस समय एक वचनके स्थानमें बहुवचन पुँल्लिंगके स्थानमें स्त्रीलिंग इत्यादि व्यत्यय करनेकी आवश्यकता होतीहै, जो व्याकरण नहीं जानते वह अग्नि शब्दकी चतुर्थीके एकवचनके स्थानमें सूर्य शब्दकी चतुर्थीका एकवचनान्त प्रयोग करदें, अथवा एक लिंगके स्थानमें अन्य लिङ्ग वा एक वचनके स्थानमें अन्य वचन व्यवहार नहीं कर सकते, इससे वेदविषयमें व्याकरणकी बडी आवश्यकता है । आगममें कहा है 'आगमः खल्वपि–ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' ब्राह्मणको विनाकारणके भी षडंग वेद जानना और पाठकरना चाहिये, षडंगमें व्याकरणही प्रधान है, इसीसे सब अंगोंकी शुद्धि और अर्थज्ञान होताहै, प्रधानमें यत्न करनेसे फल होता है, अल्पसमयमें संक्षेपशिक्षाके निमित्तभी व्याकरण पढना चाहिये, बृहस्पतिने दिव्य सहस्र वर्षतक इन्द्रके निमित्त एक २ शब्दका रहस्य वर्णन किया पर पार नहीं पाया, जहां बृहस्पति वक्ता और इन्द्र छात्र

और दिव्य सहस्र वर्षका समय, जब वहां भी पार न पाया तब आज कल सौवर्षकी परमायु पर्यन्तभी पढकर प्रतिपद पाठका आगम कहां होसकता है, सन्देह निवारणके निमित्त भी व्याकरण अध्ययन करना चाहिये जैसे याज्ञिक पाठ करते हैं 'स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत' इति। तब यहां स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा स्थूलपृषती—जिसके स्थूलपृषत हैं ऐसा अर्थ करनेसे बहुव्रीहिसमास, अथवा स्थूला चासौ पृषती स्थूला और पृषती इस अर्थमें कर्मधारय समास होता है, इसको विना वैयाकरणके कोई स्थिर नहीं कर सकता. यदि समासान्त उदात्त स्वर है तो कर्मधारय और यदि पूर्वपदप्रकृति स्वर है तो बहुव्रीहि होगा, शब्दानुशासनमें इन सब वाक्योंका प्रयोजन देखा जाता है—ते सुराः, दुष्टः शब्दः,यदधीतम्,यस्तु प्रयुङ्क्ते, अविद्वांसः विभक्तिं कुर्वन्ति, यो वा इमाम्, चत्वारि,उतत्वः सक्तुमिव सारस्वतीम् दशम्यां पुत्रस्य सुदेवो असि वरुण, महाभाष्यमें इतने वाक्योंकी प्रयोजन दिखानेको प्रतीक दी हैं क्रमसे उन वाक्योंके अर्थ करते हैं, "तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः" अर्थात् असुर हेलयः २ यह शब्द करते पराभूत हुए इससे ब्राह्मण म्लेच्छ व्यवहार न करै, अपशब्द व्यवहार न करै, अपशब्द ही म्लेच्छ है [हेलि शब्द अपभाषा से गृहीत है, बहुवचनमें 'हेलयः' होता है मीमांसा शास्त्रमें इसका अभ्यास है] हम म्लेच्छ न हों इस कारण व्याकरण पढना चाहिये, 'दुष्टः शब्दः स्वरतो०' इसका अर्थ भूमिकामें पूर्व करचुके हैं आशय यह कि यदि यागादिमें उच्चारणके समय स्वर वा वर्णदोष होजाय तो वह स्वार्थ प्रकाश न करके विपरीत अर्थ प्रकाश करता है,वह दोष करके यजमानकी क्षति करता है, इन्द्र शत्रु शब्द स्वरदोषयुक्त होनेसे प्रयुक्त हुआ, इससे अभिप्रेत अर्थ प्रकाश न करके अनिष्टरूप होगया,[इन्द्रशत्रु—इन्द्रका जो घातक यह अर्थ न होकर इन्द्र है घातक जिसका यह अर्थ होगया] प्रयोगके अनुसार उदात्तादिस्वर होता व्याकरण द्वारा तत्पुरुष न होकर बहुव्रीहि समास हुआ, ऐसा निश्चय है, इससे शिक्षाग्रन्थकी समान व्याकरणकाभी बडा प्रयोजन है. इसके ज्ञानसे दुष्ट प्रयोग न होगा [यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्] जो पढा है और समझा नहीं वह किसी प्रकार फल नहीं देता, जैसे सूखा काष्ठ जलमें डालनेसे नहीं जलता है, इससे अर्थ ज्ञानके निमित्तभी व्याकरण पढनेका प्रयोजन है, [यस्तु प्रयुंक्ते कुशलो विशेषे शब्दान्यथावद्व्यवहारकाले।सोनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद्दुष्यति चापशब्दैः] अर्थात् व्याकरणज्ञ कुशल पुरुष व्यवहारमें यथायोग्य शब्दोंका प्रयोग कर सकते हैं, जो अपशब्द नहीं प्रयोग करते उनको परलोकमें भी अनन्त जय प्राप्त

होती है; और जो वाक् योगके ज्ञाता हैं वे अपशब्दोंकाभी जानतेहैं। जैसे साधुशब्दके उच्चारणसे धर्म है इसी प्रकार अपशब्दके प्रयोगमें अधर्म है, अथवा (वाग्योगवित्) को अधिक अधर्म होता है, कारण कि उसको साधु शब्द थोडे और अपशब्द अधिक हैं एक गौशब्दके गावी गोणी गोता गोपोतलिका इत्यादि बहुतसे अपभ्रंश शब्द हैं वाग्योगविद् यदि अपशब्द जानकर व्यवहार करनेसे दूषित है तब अवाग्योगवित्का तो अज्ञान ही शरण है, अर्थात् अज्ञाता यदि अपशब्द बोले तो उसका दोष नहीं कारण कि वह अज्ञानवश ऐसा उच्चारण करता है, यदि कहो कि विना जाने क्या ब्रह्महत्याका दोष न होगा, अथवा सुरापान अनजानमें करके पतित न होगा, जैसे विना जाने इन कर्मोंका दोष है इसी प्रकार अज्ञानकृत कर्मका पाप है, तो अवाग्वित् दोषी क्यों नहीं, इसका उत्तर यह है कि जो वाग्व्यवहारमें अज्ञ हैं, और अपशब्द जानकर ही व्यय करते हैं, इससे जाना जाता है कि वाग्योगवित् और अवाग्योगवित् दोनों ही अपशब्दके प्रयोगमें दोषी हैं, इससे निष्कृति पानेके निमित्त सबकोही व्याकरण अध्ययनकी आवश्यकता है, जो वाग्योगविद् है ज्ञानही उसको शरण है, सो वह यदि जानकरभी अपशब्द व्यवहार करै तो उसको दोष है, इससे न जान सुनकर अपशब्द प्रयोग दोनोंको ही दूषण करता है, व्याकरणमें कुशल होनेसे नहीं होता इससे व्याकरण पढे।

अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः।कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेदिति। जो अज्ञानी नामके प्रत्यभिवादनमें प्लुत व्यवहार नहीं जानते उनके बीचमें बैठा हुआ वेदज्ञ 'मैं स्त्री जनोंके बीचमें स्थित हूं' यह यथेच्छरूप से उच्चारण करै, प्लुतादिके व्यवहार विना स्त्रीसंज्ञा होती है, हम स्त्रीवत् न हों इस प्रयोजनके निमित्त व्याकरण पढना चाहिये, [याज्ञिकाः पठन्ति प्रयाजाः सविभक्तिकाः कर्तव्या इति] याज्ञिक कहते हैं प्रयाजोंको विभक्तिसहित उच्चारण करे, जिसको विभक्तिका ज्ञान नहीं वह प्रयाज विभक्तियुक्तकर उच्चारण नहीं कर सकता, इससे व्याकरणकी आवश्यकता है। [यो वा इमां पदशः स्वरशो वर्णशोऽक्षरशो वा वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति] अर्थात् जो वाक्यको पद पद स्वर २ वर्ण २ अक्षरमें विभाग करके वह ऋत्विक् [ऋत्विक् कार्यका अधिकारी] होता है आर्त्विजीन होनेकी इच्छासे व्याकरण पढना चाहिये।

चत्वारि शृङ्गा० यजु० १७।९१ [चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश]इसका अर्थ चार सींग, तीन चरण, दो शिर, सात हाथ, तीन प्रकारसे बंधा हुआ, शब्दशील वृषभ महोदेव मनुष्योंमें आविष्ट हुआ है,। नाम (शब्द) आख्यात

(क्रियापद) उपसर्ग (प्र परा आदि धातुके पूर्व रहनेवाले) निपात (अव्यय) विशेष यह चार प्रकारके पद ही जिसके चार शृङ्ग हैं, भूत, भविष्य, वर्तमान यह तीन कालही जिसके तीन चरण, सुप् (शब्दके उत्तर आनेवाली २१ सुआदि विभक्ति) तिङ् (धातुके उत्तर आनेवाली तिप् तस् आदि १८ विभक्ति) यही जिसके दो मस्तक हैं, प्रथमासे सप्तमी विभक्ति तक सात विभक्ति जिसके सात हाथ हैं उर, कण्ठ और शिर देशमें तीन प्रकारसे बद्ध हुआ है, यह काम-वर्षणकारी महादेव मनुष्योंमें आविष्ट हुआ है इस देवके साथ हमारा एकीभाव हो इसीसे व्याकरण अध्ययनकी आवश्यकता है, अथवा चार वाक्य अर्थात् परिमितपद चार शृङ्ग हैं यह जिसको विदित हैं वही ब्राह्मणोंमें मनीषी है, उसके निहित तीन प्रकारके (पद) व्यवहार न करै मनुष्यके चतुर्थ प्रकारके वाक्यही व्यवहार करै जो मनुष्य बोलतेहैं वही इन वाक्योंमें चतुर्थ है ।

"उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुतत्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं[१]विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः" ऋ० ८ । २ । २३ अर्थात् कोई वाक्यको देखकर भी नहीं देखते और कोई सुनकरभी नहीं सुनते, ऋतुकालमें सुवासा होकर पत्नी जिस प्रकारसे पतिके प्रति आत्मप्रकाश करती है, इसी प्रकार अभिज्ञव्यक्तिके प्रति वाक्य अपना स्वरूप प्रकाश करता है, "मूर्खके निकट वाक्य अपना निज स्वरूप गोपन करता है इसीसे वह उसको नहीं देख पाता, जैसे पत्नी पतिके निकट अपना स्वरूप प्रकाश करती है अन्यके निकट नहीं पूर्वार्द्धमें कोई देखकर भी नहीं देखते, यह अज्ञानीकी बात कही है परार्द्धमें पत्नी ऋतु काल इत्यादिसे विद्वान् की बात कहीहै, इससे वाक्य हमारे निकट अपना स्वरूप प्रकाश करै इस हेतु व्याकरण पढनेका प्रयोजन है ।

"सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत । अत्रासखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि" ऋ०८।२।२३ । अर्थ यह कि जैसे सूपमें सक्तु भलीप्रकार धारण किये जाते हैं, इसी प्रकार ज्ञानवान् धीर पुरुष[प्रकृति प्रत्ययादिके विभागानुसार] प्रज्ञान बलसे जिस समय वाक्योंकी विवेचना करते हैं, वह उससमय उनके सखा होकर सख्यता प्राप्त करते हैं, इससे उनके वाक्योंमें भद्रा लक्ष्मी निवास करती है मूलमें सक्तु शब्द है उसकी व्युत्पत्ति सचते अर्थात् दुर्धाव होता है इसीसे सक्तु कहते हैं, कस धातुको विपरीत करनेसे सक्, उससेही सक्तु शब्द बनता है "विकसति" विकसित होता है यही उसका अर्थ है, तितउना

१ चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहात्रीणिनिहितानेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ऋ० २ । ३ । २२ ।

शूर्पद्वारा तितउशब्दका अर्थ ऊपरको गति जिसके द्वारा सक्तुओंकी ऊर्द्ध गति होती है इसीसे शूर्पको तितउ कहाजाता है, ध्यानवाले बुद्धिमान् प्रज्ञानद्वारा वाक्य संस्कार करते हैं, वही सख्यको प्राप्त होते हैं, आशय यह कि जो लोग प्रकृति प्रत्ययके विभागद्वारा वाक्यका संस्कार करते हैं, वही वैयाकरण हैं और शब्दोंकी सख्यता प्राप्त करते हैं, इसका हेतु यह कि इनके वाक्यमें भद्रा लक्ष्मी प्राप्त है इसीसे यह सख्यताको प्राप्त होते हैं [आहिताग्निरपशब्दं प्रयुञ्जानः प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेदिति प्रायश्चित्तीया मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्] इसका अर्थ यह है कि, आहिताग्नि अपशब्द प्रयोग करनेपर प्रायश्चित्तके निमित्त सारस्वती इष्टि अनुष्ठान करै। हम लोग प्रायश्चित्तके योग्य न हों इसकारण व्याकरण पढना चाहिये "दशम्यां पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्यात् घोषवदाद्यन्तरंतस्थमभिनिष्ठानान्तं द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा कृतं नाम कुर्यात् न तद्धितान्तमिति" आश्वला० गृ० अ० १ इसका अर्थ यह है कि दशमी में (द्वादश रात्रि वा दशरात्रिमें इस प्रकार विकल्पका विधान शास्त्रमें है) उत्पन्न हुए पुत्रका नाम रक्खे वह नाम घोषवत् आदि (घोषवाला वर्ण जिसकी आदिमें है अन्तस्थ मध्यमें जिसके अन्तस्थ वर्ण है,) विसर्गान्त, दो स्वरयुक्त अथवा चार स्वर युक्त और कृदन्तयुक्त होना आवश्यक है, तद्धितान्त होना ठीक नहीं। विना व्याकरण जाने कृत् और तद्धितका निश्चय नहीं होता इस कारण व्याकरण पढना चाहिये। "सुदेवो असि वरुणस्येति सप्तसिन्धवः। अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव" इसका अर्थ यह है कि हे (शब्द) वरुण ! तुम सुदेव हो तुम्हारे सात समुद्र सात विभक्ति तालु इत्यादि स्थानोंसे निकलते हैं जैसे सुषिरसे ऊर्मि ककुद् जिह्वा, वह जहां पर हैं, वही काकुत् अर्थात् तालु। सूर्मिका अर्थ ऊर्मि (व्याकरणसेही वर्ण विभक्ति और स्थानादिका वृत्तान्त जाना जाता है।) "शब्दार्थसम्बन्धसिद्धम्" इत्यादि द्वारा वार्तिकमें जो प्रयोजन कहा गया है, उसका भी यहां अनुसन्धान करना चाहिये (सिद्धान्त यह है कि व्याकरणका पढना अत्यावश्यक है नहीं तो वेद नहीं जाना जाता)।

अब निरुक्तशास्त्रका प्रयोजन कहते हैं, अर्थज्ञान विषयकी अपेक्षा न करके जिसमें सब पद उक्त हुए हैं, उसका नाम निरुक्त है गौः ग्मा इत्यादिसे आरंभ करके वसवो वाजिनः देवपत्न्यः। देवपत्न्यः यहांतक जो पद स्थापन किये हैं वह निरुक्त है इस ग्रन्थमें पदार्थ बोधके निमित्त दूसरेकी अपेक्षा नहीं है, यह सुवर्णके नाम, यह पृथिवीके नाम इस प्रकारसे जहां स्पष्ट रूपसे कहा गया है फिर वहां अर्थबोधकी अपेक्षा नहीं है; इस निरुक्त शास्त्रके तीन काण्ड हैं यह अनुक्रमणिका भाष्यमें दिखायी गयी है—

"आद्यं नैघण्टुकं काण्डं द्वितीयं नैगमं तथा । तृतीयं दैवतञ्चेति समाम्नायस्त्रिधा स्थितः ॥ गौराद्यपारपर्यन्तमाद्यं नैघण्टुकं मतम् । जहाद्युल्बमृबीसान्तं नैगमं सम्प्रचक्षते ॥ अग्न्यादिदेवपत्न्यन्तं देवताकाण्डमुच्यते । अग्न्यादि देवी ऊर्जाहुत्यन्तः क्षितिगतो गणः ॥ वाय्वादयो भगान्ताः स्युरन्तरिक्षस्य देवताः । सूर्यादिदेवपत्न्यन्ता द्युस्थाना देवता इति ॥ गवादिदेवपत्न्यन्तं समाम्नायमधीयते ।"

अर्थ–पहला नैघण्टुक काण्ड, दूसरा नैगम काण्ड, तीसरा दैवत काण्ड यह तीन प्रकारका आम्नाय निरुक्त शास्त्रमें कहा है गौसे आरंभ करके अपार पर्यन्त आद्य काण्ड अर्थात् नैघण्टुक काण्ड है, जहादिसे आरंभ करके ऋबीस पर्यन्त इसका नैगमकाण्ड कहाजाता है, अग्निसे आरंभ करके देवपत्नीपर्यन्त तीसरे काण्डका नाम देवताकाण्ड है, अग्निसे देवी ऊर्जाहुतीपर्यन्त क्षितिगण है, वायुसे भगपर्यन्त अन्तरिक्षके देवताओंका वर्णन है, सूर्यसे देवपत्नीपर्यन्त द्युस्थानके देवताओंका वर्णन है, गौसे देवपत्नीपर्यन्त तीनकाण्डमें निरुक्तशास्त्र वर्णन किया गया है, एक अर्थ की कहनेवाली पर्यायशब्दराशि प्रायः जिसमें उपदिष्ट है वह ग्रन्थ निघण्टु शब्द समझा जाताहै यह प्रसिद्ध है । तैसेही 'अमरसिंह' (अमरकोश) 'वैजयन्ती' 'हलायुध' इत्यादिमें निघण्टु नामका व्यवहार होताहै । ऐसेही यहांपर भी पर्याय शब्दोंका उपदेश दिया गया है, यह पहला काण्ड नैघण्टुक है, इस काण्डमें तीन अध्याय हैं, पहले अध्यायमें पृथिव्यादि लोक दिक् काल इत्यादि द्रव्यविषयक नाम कहे गयेहैं; दूसरेमें मनुष्यके अवयवादि द्रव्यविषयक नाम और तीसरेमें इन दोनों प्रकारके द्रव्योंका क्षुद्रत्व बहुत्व ह्रस्वत्वादि धर्मविषयक नाम कहे हैं । निगम शब्दका अर्थ वेद है, यास्कने 'इत्यपि निगमो भवति' ऐसा स्थान स्थानमें कहकर वेदवाक्य का अवतारण का है । प्रायः वेदमें जो सब शब्द वर्तमान हैं, चतुर्थाध्याय स्वरूप दूसरे काण्डमें (तीसरे अध्यायतक प्रथम काण्ड होनेपर चौथा अध्याय दूसरा काण्डही होता है) उनके विषयकोही उपदेश किया है । निरुक्त ग्रंथके पंचमाध्याय स्वरूप तीसरा काण्ड (प्रथम काण्डमें तीन अध्याय हैं दूसरेमें एक और तीसरेमेंभी एक अध्याय है, इस ही कारणसे पांचवां अध्याय तीसरा काण्ड हुआ) दैवत है सो स्पष्टही समझमें आताहै, पांच अध्याय स्वरूप तीन काण्डवाले इस ग्रंथमें परस्पर निरपेक्षरूपसे समस्त पदार्थ कहे गये हैं इसकारण इसका नाम निरुक्त है । "समाम्नायः समाम्नातः" यहांसे आरंभ करके 'तस्यास्तस्यास्तद्भाव्यमनुभवति' यहां तक बारह अध्यायोंसे यास्कने पूर्वोक्त

निरुक्त शास्त्रका व्याख्यान ग्रन्थ बनाया है, उसको भी निरुक्त कहते हैं । एक एक पदका सम्भावित अवयवार्थ उस ग्रंथमें निश्शेष प्रकारसे कहा गया है, यही निरुक्त शब्दकी व्युत्पत्ति है । (निश्शेषमें उक्त अर्थात् कहा गया है इस कारण ही निरुक्त नाम हुआ है,) इस ग्रंथमें नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, इन चार प्रकारके पदोंके विषयमें प्रतिज्ञा करके अनन्तर उच्चावच (अनेकप्रकारके) अर्थमें निपतित (व्यवहृत प्रयुक्त) होता है, इसी कारणसे "निपात नाम" यह स्वरूप निर्वाचन करके स्वयं ही उदाहरण दिया है । "न" यह निपात भाषामें प्रतिषेध (निषेध) अर्थमें. व्यवहार किया जाता है, वेदमें दोनों अर्थोंमें लगताहै । 'नेन्द्रं देवममंसत' यहां 'नकार' प्रतिषेधका अर्थ कहताहै "दुर्मदा सोनसुरायाम्" इति यहांपर उपमा अर्थमें 'नकार' का व्यवहार हुआ है । लोकमें निषेधार्थक नकारका वेदमें निषेध और उपमा इन दोनों कार्योंका उदाहरण इस निरुक्त शास्त्रसे ही जाना जाता है । इस प्रकारसे और भी कहा है "सो प्रत्येक पदका विशेष निर्वचन हम भाष्यके उस उस अवसरपर कहैंगे" यह समस्त निर्वचन (निरुक्ति) अमूलक समझने योग्य नहीं । इस व्युत्पत्तिको समझानेके निमित्तही ब्राह्मणमें (वेदांश विशेषमें) किसी २ पदका निर्वचन दिखाया गयाहै यथा 'तदाहुतीनामाहुतित्वम्' "तमिन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते" इति ऐ० आ० अ० ४ खं० ३ "यदप्रथयत्तत्पृथिव्याः पृथिवीत्वम्" इति० तै० ब्रा० १।३।३ इत्यादि ब्राह्मण वाक्योक्त निर्वचन अपने निर्वचनके मूलरूपसे निरुक्तकारने स्थान २ में उद्धृत किये हैं । कितने एक निर्वचन बलसे सिद्ध होनेपर भी समस्त सिद्ध नहीं होते । इसी कारणसे ग्रंथकारने कहाहै की (यह निरुक्त शास्त्र विद्याका स्थान व्याकरणका सम्पूर्णत्व स्वार्थ साधक है) इस कारण वेदार्थज्ञानके निमित्त निरुक्त परमोपयोगी है ।

वेदार्थ जाननेके निमित्त छन्दके जाननेकी आवश्यता होतीहै स्थान स्थानमें छन्दोंका विधान है चार २ अक्षर बढानेसे उत्तरोत्तर छन्द बनजाते हैं ऐसे सात छन्द प्रातरनुवाकमें कथन किये हैं गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपंक्तित्रिष्टुब्जगतीत्यादि- अर्थात् गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति त्रिष्टुप् जगती यह सात छन्द हैं २४ अक्षरका गायत्री छन्द होता है उसमें चार और मिलाकर २८ का उष्णिक् छन्द होता है इस प्रकार उत्तरोत्तर चार २ अक्षरोंकी वृद्धि करनेसे अनुष्टुप् आदि छन्द होते हैं औरभी श्रुत हुआहै कि "गायत्रीभिर्ब्राह्मणस्यादध्यात् त्रिष्टुब्भी राजन्यस्य जगतीभिर्वैश्यस्य" इति तैत्तिरीयब्राह्मणम् १ । १ । ९ गायत्रीसे ब्राह्मणका आधान करे, त्रिष्टुप् द्वारा क्षत्रियका और जगतीद्वारा वैश्योंका आधान-

करै मगण यगणादि द्वारा गायत्रीआदि छन्दोंका तत्त्व छन्दोग्रन्थके विना किसी प्रकारसे विदित नहीं होता कात्यायन अनुक्रमणिकामें कहाहै [यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मंत्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति वा पात्यते प्रमीयते वा पापीयान्भवति] जो कोई ऋषि छन्द दैवत ब्राह्मण आदिके विना जाने मंत्र द्वारा यज्ञ करताहै अथवा पढाता है वह स्थाणुत्वको प्राप्त होताहै गर्तमें पतित हो मृत हो अथवा पापी होताहै इससे प्रत्येक मंत्रके साथ उसका ऋषि छन्द देवता आदि जाननेकी आवश्यकता है, इसीके निमित्त छन्दोग्रन्थकी आवश्यकता होती है।

ज्योतिषका प्रयोजनभी उन्ही ग्रन्थोंमें श्रुत हुआहै यथा 'यज्ञकालार्थसिद्धयः' यज्ञकालकी सिद्धिके निमित्त ज्योतिषकी आवश्यकता है, कालका नियम भी श्रुत हुआ है यथा 'संवत्सरमेतद्व्रतंचरेत्' तै० आ० १ प्र० संवत्सरपर्यन्त यह व्रत करै 'सम्वत्सर मुख्यं भृत्वा० तै० सं ५ । ६ । ५ सम्वत्सरतक उखा अग्निधारण करै यह सब संवत्सर कालकी विधि है' "वसन्ते ब्राह्मणोग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः शरदि वैश्यः" तै० ब्रा० १ । १ । २ वसन्तमें ब्राह्मण अग्न्याधान करै, ग्रीष्ममें क्षत्रिय और शरदमें वैश्य अग्न्याधान करै यह सब ऋतुविधि हैं, "मासिमासिसत्रपृष्ठान्युपयन्ति" महीने २ सब मंत्रपृष्ठ एक अनुष्ठान करै (मासिमास्यतिग्राह्यागृह्यन्त) महीने २ अतिग्राह्य ग्रह ग्रहण करै यह मासविधि है (यं कामयेत वशीयान् स्यादिति तं पूर्वपक्षे याजयेत्) जिसको वश करनेकी कामनाहो वह पूर्व पक्षमें यज्ञकरै यह पक्षविधि है (एकाष्टकायांदीक्षेरन् फल्गुनीपूर्णमासेदीक्षेरन्) एकाष्टकामें दीक्षा ले फाल्गुनी पूर्णिमाको दीक्षा ले यह तिथिविधि है (प्रातर्जुहोति सायंजुहोतीत्यादि) प्रभातमें होम करै संध्यामें होमकरै यह प्रातरादि कालका विधान है (कृत्तिकास्वग्निमादधीत) कृत्तिका नक्षत्रमें अग्न्याधान करै यह नक्षत्रविधि है इससे समयका बोध करनेवाला ज्योतिष शास्त्र है।

शिक्षादिषडङ्गकी समान पुराण स्मृति भी वेदार्थप्रतिपादक हैं याज्ञवल्क्यस्मृतिमें कहा है कि—"पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः । वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥ इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् । बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरेदिति ।" अ० १ श्लो० ३ अर्थात् पुराण न्याय मीमांसा धर्मशास्त्र और अंगमिश्रित वेद यह मिलकर चतुर्दश विद्या धर्मका स्थान हैं। इतिहास और पुराणसे वेदका विस्तार करै अल्पश्रुतसे वेद भय करता है, कि यह मुझे प्रहार करैगा, और भी श्रुत हुआ है कि ऐतरेय, तैत्तिरीय कठादि, शाखाओंमेंभी उत्तम धर्म और ब्रह्मरूप अर्थके उपयोगी हरिश्चन्द्र नचिकेता प्रभृतिके उपाख्यान

उन उन इतिहास ग्रन्थोंमें स्पष्ट किये हैं, उपनिषदोंमें कहीहुई सृष्टि स्थिति लयादि ब्राह्म पाद्म वैष्णवादि पुराणोंमें स्पष्ट रूपसे कहींहैं [सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च । वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्] सर्ग सृष्टि प्रतिसर्ग प्रलय अथवा मन्वन्तरमें अवान्तरसृष्टि, वंश, मन्वन्तर, वंशानुचरित—'वंशमें उत्पन्न पुरुषोंके चरित्र' यह पुराणोंके पांच लक्षण हैं पुराणोंमें यह पांचों विषय अवगत होते हैं। इससे वह पांच लक्षणवाला है।

न्याय शास्त्रमें प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त आदि सोलह पदार्थोंका प्रतिपादन है, तौभी उसीके अनुसार यह वाक्य इस अर्थमें प्रमाण है और कुछ नहीं यही निर्णय करना पाया जाता है, पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसामें वेदार्थका उपयोग स्पष्ट होता है, मनु अत्रिआदिकी रचित स्मृतियोंसे वेदोक्त संध्यावन्दनादिविधियोंका विस्तार पाया जाता है, [तदु ह वा एते ब्रह्मवादिनः पूर्वाभिमुखाः सन्ध्यायां गायत्र्याभिमंत्रिता अप ऊर्ध्वं विक्षिपन्तीत्यादि तै० आ० २ प्र०] यह ब्राह्मण संध्यासमय पूर्वको मुखकर गायत्री पढ़ जल ऊपरको विक्षेप करते हैं [पंच वा एते महायज्ञाः सततं प्रजायन्ते] यह पांचयज्ञ निरन्तर किये जाते हैं, इत्यादि वेदवाक्य पंचमहायज्ञके विधायक हैं, इसीप्रकार और भी विधि देखीजाती हैं, इस प्रकारसे पुराणादिक वेदार्थज्ञानमें उपयोगी हैं, इसीसे इनको विद्याका स्थान कहा है इन पुराणादिको चौदह विद्याओंके स्थानमें कहा है, यह विद्याग्रहणके विशेष अधिकारियोंको शाखान्तरके चार मंत्रों द्वारा निरुक्तने वर्णन किया है, यथा—

"विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि । असूयकायानृजवेऽयताय न मां ब्रूया वीर्यवती तथा स्यामिति०" विद्याअभिमानी देवता उपदेष्टा आचार्यके निकट आकर कहने लगी, कि हे ब्राह्मण ! अनधिकारियोंको उपदेश न करके हमारी पालन कर मैं तुम्हारी निधिकी समान पुरुषार्थका हेतु हूं, जो हमसे और तुमसे द्वेष ईर्षा करे सरलतासे विद्याभ्यास न करे जो स्नान आचमनादि आचारका प्रतिपालन न करे, उस शिष्याभासके निकट हमको किसी प्रकार न बोलना, मैं तुम्हारेही हृदयमें स्थितहो फलवती होऊंगी । २ मंत्र "य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन् । तंमन्येतपितरंमातरंचतस्मैनद्रुह्येत्कतमच्चनाह" अर्थ— पूर्व मंत्रमें आचार्यका नियम कहकर इसमें शिष्योंके प्रति कहते हैं वितथ अर्थात् अनृतअपुरुषार्थ भूतलौकिक वाक्य उसके विपरीत सत्य वेदवाक्य अवितथ कहाते हैं इन्हीं वाक्योंसे जो आचार्य शिष्यके कर्ण पूर्ण करते हैं [उपसर्ग वशसे दूसरा अर्थ यह होता है कि जो शिष्यको सर्वदा वेदवाक्य

१ नि० २।४।

सुनाते हैं और मन्दप्रज्ञावाले शिष्यको पहले आधामंत्र, पादमंत्र अथवा उसकाभी एक अंश पद ग्रहण कराकर मोक्षदायक अमृतरूप वेदार्थका दान करते हैं] ऐसे आचार्यको शिष्य मुख्य माता पिता रूप जाने, जन्मदाता पिता और गर्भधारिणी माता अधम मनुष्य शरीर प्रदान करनेसे अमुख्य हैं, यह अमृतदान करनेसे मुख्य है इस आचार्यके प्रति द्रोह वा अन्याय आचरण कभी न करे। ३ मंत्रः—"अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा। यथैव ते न गुरोर्भोजनीया स्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्" इति अर्थात् जो अधम ब्राह्मण गुरुद्वारा शिक्षित होकर विनय भक्ति रहित चिन्तन और शुश्रूषाद्वारा गुरुका आदर नहीं करते, वे अनादर करनेवाले निकृष्ट शिष्य गुरुकी कृपाके योग्य नहीं हैं, गुरु उनपर कृपा न करे अर्थात् जैसे गुरु उनकी पालना नहीं करता तैसे वे गुरूपदिष्ट वेद वाक्यभी शिष्यका पालन नहीं करते अर्थात् फल प्रदान नहीं करते। ४ मंत्र—"यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्। यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्च नाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्"—हे आचार्य जिसको पवित्र गुणोंसे युक्त सुशिष्य जानो और जो शिष्य तुमसे कभी द्रोह न करता हो उसी शिष्यके निमित्त अपनी धनरक्षकस्वरूप मुझ वेदविद्याको उपदेश करो, विद्या देवता द्वारा यह उपदेश जनाता है कि मुख्य शिष्यकोही विद्याका उपदेश देना चाहिये, इसीसे अधिकारियोंके निमित्त हम पडङ्के अनुसार यजुर्वेदकी व्याख्याका आरंभ करते हैं। सायनाचार्यके उपोद्घात प्रकरणके आशयपर यह लेख लिखागयाहै।

इति उपोद्घातप्रकरणम् ।

यज्ञभूमिका चित्र सोमयाग.

यज्ञविषयकसूची.

ग्रंथसमाप्ति ।

श्रीः ।

यज्ञविधानके सिवाय अन्य उपयोगीविषयोंका वर्णन.

यज्ञविधानके सिवाय–

(४) यज्ञविधानकेसिवायअन्यउपयोगीविषयोंकावर्णन ।

इति ।

अथ वाजसनेयिमन्त्राणामकारादिक्रमेण सूचीपत्रम्,

मन्त्र.	अ० मं०

वाजसनेयिमन्त्राणाम्—

अकारादिसूची।

॥ इति श्रीशुक्लयजुर्वेदसंहितामन्त्राणामकारादिसूची समाप्ता ॥
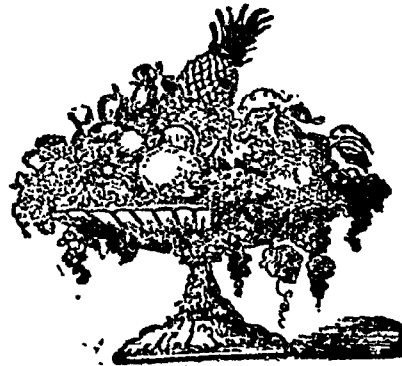
॥ श्रीः ॥

अथ शुक्लयजुर्वेदसंहिता

(वाजसनेयिसंहिता–माध्यन्दिनीशाखा)

मिश्रभाष्यसहिता ।

विष्णुं शम्भुं गणेशञ्च ब्रह्माणं भारतीं तथा ॥
अम्बिकाम्बुद्धिदात्रीञ्च वन्दे विघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥
इन्द्रादींल्लोकपालांश्च भाष्यकारान्गुरूनपि ॥
पितरौ शम्भुभक्तौ च श्रौतस्मार्तपरायणौ ॥ २ ॥
नत्वा सर्वान्मुनीन्दिव्यान्वेदमार्गप्रवर्तकान् ॥
सुखानन्दतनूजोऽहं भाष्यं कर्तुं समुद्यतः ॥ ३ ॥
जयन्ति ते गुरोः पूज्याः पादपद्मस्य पांसवः ॥
येषां प्रसादान्मन्दोऽपि महत्कर्म समारभे ॥ ४ ॥
वेदाङ्गानि समालोच्य तथ्यमर्थं करोम्यहम् ॥
स्वकल्पितत्वशङ्कात्र न कार्या पण्डितैरतः ॥ ५ ॥

दर्शपौर्णमासयज्ञविधिः ।

जब प्रतिपदातिथिको दर्शयाग[1] करना होताहै तो इससे पहले दिन अमावस्यातिथिमें प्रातःकालके नित्यकार्य और अग्निहोत्र समाप्त करनेपर उस अग्निमें "ममाग्ने वर्चः०" ऋ० अष्ट० ८ अ० ७ वर्ग १९ इत्यादि मंत्रोंसे समिदाधान (अभिमंत्रित समिधाओंको अग्निमें स्थापन करना) करनेके उपरान्त वत्सापाकरण (गायोंके समीपसे बछडोंका पृथक् करना) करे; दर्शयागमें हवनके निमित्त

१ दर्शयाग जब कि अमावस्यामें चन्द्रसूर्यका परस्पर दर्शन होताहै इसमें जो याग कियाजाता है उसको दर्श कहते हैं, और पूर्णमासीके दिन जो इष्टि कीजातीहै उसको पौर्णमासयाग कहतेहैं, इसमें अग्निहोत्र करनेवालेका अधिकार है । इस कारण प्रथम अग्न्याधानके मंत्र कहने उचित थे, परन्तु अग्न्याधानमें पवमाननामक इष्टि करनी होतीहै, कारण कि पवमानइष्टिके विना अग्न्याधान नहीं होसकता. यह पवमानइष्टि दर्शपौर्णमासकी विकृति है, इससे दर्शपौर्णमासके विना ज्ञात हुए पवमानेष्टि नहीं होसकती, इस कारणसे तथा सोमयागमें भी दक्षिणीय, प्रायणीय आदिमें दर्शपौर्णमासकी आवश्य-

दहीकी आवश्यकता होती है, उसके निमित्त रात्रिमें दूध दुहै, इसीकारण प्रातः-कालमें भी नियमानुसार गोदोहन किया जाता है और फिर वत्सापाकरण किया जाताहै [कात्या० २ । १ । ३] इस वत्सापाकरण कार्यके साधन करनेको एक दण्डकी आवश्यकता होती है । इस कारण अध्वर्युनामक यजुर्वेदीयप्रधान ऋत्विजूको पलाश (ढाक) की शाखा छेदन करनी चाहिये ॥

श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीसरस्वत्यै नमः ॥ श्रीवेदपुरुषाय नमः ॥ अथानुवाकसूत्रम्-॥ इषेत्वैका, वसोः पवित्रं तिस्रोऽग्ने व्रतपते सप्त, पवित्रे स्थो द्वे, शर्म्मासि तिस्रो, धृष्टिरसि शर्म्मासि द्विकौ, देवस्य त्वा तिस्रो, देवस्य त्वा पञ्च, प्रत्युष्टꣳ रक्षस्तिस्रो, दशैकत्रिꣳशत् ॥

ॐ इषेत्त्वोर्ज्जेत्त्वावायवंस्त्थदेवोवꣳसविताप्प्रार्प्पयतुश्रेष्ठतमायकर्म्मणऽआप्प्यायद्ध्वमघ्न्याऽइन्द्रायभागम्प्प्रजावतीरनमीवाऽअयक्ष्मामावंस्तेनऽईशतमाघशꣳसोद्ध्रुवाऽअस्स्मिन्गोपतौस्स्यातबह्वीर्य्यजमानस्यपशून्पाहि ॥ १ ॥ [१]

कण्डिका १-मन्त्र ५।

ऋष्यादि[1]-(१) ॐ इषे त्वेत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः[2] वा प्राजापत्य

कता होती है, इसकारण पहले दर्शपौर्णमास मंत्रही कहे । दर्शयागमें तीन हवि होतीहैं. आठ कपालोंमें पकाया हुआ अग्निदेवतावाला दधि । इन्द्रदेवतावाला दधि। तथा इन्द्रदेवतावाला दूध। इस दही दूध आदि हविकी प्रतिपदाके दिन हवन करनेकी आवश्यकता होतीहै. इस कारण दर्शयागकी इच्छावाला अमावस्याको प्रभात ही उठकर अग्निहोत्रके उपरान्त अग्निमें समिदाधानरूप अन्वाधान करके दधि बनानेके निमित्त अमावस्याकी रातमें गाओंको दुहे ।

१ "ऋष्यादि-" इस शब्दसे-उस उस मंत्रके ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग-इतने विषय जानने ।

२ दर्शपौर्णमासके मंत्रोंका परमेष्ठी प्रजापति ऋषि है, और उव्वटभाष्यमें " परमेष्ठिनः प्राजापत्यस्यार्षं देवानां वा प्राजापत्यानाम्" ऐसा लिखाहै, इन दर्शपौर्णमासमन्त्रोंका प्रजापत्य (प्रजापतिका अपत्य) परमेष्ठी ऋषि है, अथवा प्रजापतिके पुत्र देवता ऋषि हैं. श्रुतिमें लिखाहै "परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपश्यद्यद्दर्शपौर्णमासाविति तथा ते देवा अकामयन्त" इत्युपक्रम्य "तत एतं हविर्यज्ञं ददृशुर्यद्दर्शपौर्णमासाविति" इन प्रमाणोंसे परमेष्ठी प्राजापत्य ऋषि होताहै, सो दोनोंही जानने ।

वहुत प्रकार (स्यात) होवें । **विधि**–(५) पांचवे मंत्रसे हाथका शाखादण्ड अग्न्यगारके संमुख ऊँचे स्थानमें स्थापित करै[का ० ४।२।११] **मन्त्रार्थ**–हे पलाशशाखा ! तुम इस ऊँचे स्थानमें स्थित होकर चारों ओरसे रक्षा करती हुई इस (यजमानस्य) यजमानके (पशून्) पशुओंकी (पाहि) रक्षा करो ॥ ५ ॥ [१]

आशयः–यजुर्वेदमें कर्मकाण्डका विधान है, इस कारण प्रारंभमें दर्शपौर्णमास यज्ञका विधान करके मंत्र पढकर गायोंका लाना, लेजाना वर्णन करके संस्कारद्वारा अत्यन्त शुद्धि प्रतिपादन की है. और उन सव कार्योंमें परमात्माकी ही प्रेरणा मानी है. जब कि गौओंका वनगमन और उनको तृणदानभी मंत्रोंसे संस्कार कर किया जाता है, तो और पदार्थोंकी शुद्धिकी कितनी आवश्यकता है, यह सहजमेंही वोध हो सकता है, शुद्ध पदार्थको ही देवता स्वीकार करते हैं; अशुद्धमें रुचि नहीं करते. इस कारण सव प्रकार शुद्ध किये पदार्थ ही देवताओंको देने चाहिये ॥

यदि कहो कि पलाशशाखा आदिके सम्वोधन देनेसे क्या वह श्रवण करते हैं ? इनमें क्या लाभ है ? तो इसका उत्तर यह है कि यह सव जगत् ईश्वररूप है यथा "पुरुषऽएवेदꣳ सर्वम्" [३१ । २] तथा "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः"–[यजु ० ३२।१] और "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"–(उपनि०)इन मंत्रोंके अनुसार सव जगत् ईश्वररूप होनेसे सम्पूर्ण परमात्माकेही सम्वोधन जानने चाहिये. कारण कि "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" सव वेद उसीको कहते हैं. इसी कर्मसे उपासना सिद्ध होकर सर्वत्र ईश्वरका ज्ञान होनेको उसीके सम्वोधन जानने । व्यासजी कहते हैं कि, यद्यपि शाखादि अचेतन हैं, तथापि उनके अभिमानी देवताओंका उनसे ग्रहण होताहै "अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम"–[ब्रह्मसूत्र अ ० १।५] इस व्याससूत्र और "मृदब्रवीत्" तथा "आपोब्रुवन्" इन श्रुतियोंके अनुसार सव वस्तुओंमें देवता स्थित रहती है, इसी कारण शाखा, उखा, पय, स्त्रुक् आदि सवमें देवतापन प्राप्त है. इस कारण जडका सम्वोधन नहीं. यह सव चेतनके सम्वोधन जानने चाहिये. इसी प्रकारसे आगेके सव मंत्रोंमें यही व्यवस्था जाननी ॥

"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"–[शतपथब्राह्मण ११ । ५ । ६ । ७]इस वचनसे अपनी शाखा अवश्य पढनी चाहिये, और वे मंत्र ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग तथा अर्थयुक्त जानने चाहिये, अन्यथा दोष और निष्फल होताहै "एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवत्यथान्तरा श्वगर्तं वा पद्यते स्थाणुं वर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान्भवति"[कात्यायनीया–

नुक्रमणिका १। १] इस वचनसे इनके जाननेका फल श्रवण किया है "अथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्यवदथ योर्थवित्तस्य वीर्यवत्तरं भवति जपित्वा हुत्वेष्ट्वा तत्फलेन युज्यते"–[अनुक्र० १। १] अर्थात् जो ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग, अर्थ जानकर जप, हवन तथा अध्ययन करताहै, उसका वेद बलिष्ठ और फलप्रद होता है ॥

इस वाजसनेयिसंहितामें कुछ यजु और कुछ मंत्र (ऋचा) हैं. ऋचामें पाद-युक्त होनेसे आवश्यकीय छन्द हैं. यजुमें एक अक्षरसे लेकर १०६ अक्षर-तक पिङ्गलाचार्यने छन्दोंकी कल्पना की है, उससे अधिक " होतायक्षद्वनस्प-तिम्"–[अ० २८। मं० १०] में छन्दकल्पना नहीं है. प्रथम अध्याय में सब यजु हैं २८ अट्ठाईसवीं ऋचा है। यजुकी एक कण्डिकामें कई २ मंत्र होते हैं. जिनका विवरण भाष्यमें करते जायँगे. प्रकृति विकृति दो प्रकारके कर्म हैं. जिसमें सम्पूर्ण अंगोंका उपदेश किया जाय वह प्रकृति, और जिसमें विशेष अंगमात्र कहे जाँय, और "प्रकृतिवद्विकृतिर्वक्तव्या" इस अतिदेशसे प्रकृतिसे अङ्गान्तर लिये जायँ, वह विकृति कहातीहै। प्रकृति प्रधान होनेसे प्रथम दर्शपौर्णमासका वर्णन किया है, प्रकृति तीन प्रकारकी है अग्निहोत्र, इष्टि और सोम ॥

हेतु और प्रमाण–"यत्र वै गायत्री सोममच्छापतत्तदस्या आहरन्त्या अपाद-स्तायत्यपर्णं प्रचिच्छेद गायत्र्यै वा सोमस्य वा राज्ञस्तत्पतित्वा पर्णोऽभवत्"–इति श्रुतेः [श० १। ७। १। ८। २। १०] पलाशशाखा छेदनका आशय यह है कि एक समय गायत्रीकी अधिष्ठात्री देवताने पक्षीरूप धारण कर स्वर्गसे सोम-वल्ली हरण की, उसका पत्र भूमिमें गिरकै उग गया उससे पलाश (ढाक) हुआ, ब्रह्मतेज संयुक्त होनेके कारणसेही यज्ञमें पलाशका व्यवहार होताहै, महर्षि कात्या-यनने पलाश वा सेमलकी शाखा लेनेको 'छिनद्मि' क्रिया का अध्याहार किया है," पर्णशाखाञ्छिनात्ति शामीलीं वेषे त्वेत्यूर्जे त्वेति वा छिनद्मि–इति वोभयोः साकांक्षत्वात्संनमयामीति वोत्तर इति"–[का० ४। २। १। ३] वर्षाके निमित्त-ही इषे त्वा कहाजाता है. यथा " वृष्ट्यैतदाह यदाहेषे त्वेति" [श० १। ७। १। २] इसके अनुसार वर्षाके निमित्तही यह कार्य है. वर्षासे रस होताहै [यो वृष्टा-दूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह"–[श० १। ७। १। २।] अथवा इन दोनों मंत्रोंसे अध्वर्यु अन्नरसादि तथा बलकारक घृतरसादि यजमानमें स्थापन करताहै. तथाच "इषे त्वोर्जे त्वेत्याहेषमेवोर्जं यजमाने दधाति"–[तैत्तिरीय०] वायुमें बछड़ोंकी स्थिति पवित्रताके निमित्त है. जैसे वायु अपवित्र पदार्थोंको सुखाकर पृथ्वीको पवित्र करताहै, इसी प्रकार वत्सभी गोबरप्रदानसे पवनद्वारा भूमिको पवित्र कर-तेहैं. इससे वायुका सादृश्य कहाहै,जैसे मनुष्योंको गृहआदि बनानेकी सामर्थ्य है,

इस प्रकार पशुओंको नहीं है, अन्तरिक्षमें गमनसे अन्तरिक्षही पशुओंका देवता है उसका अधिपति वायु अपने अवयवरूप पशुओंकी रक्षा करताहै. इससे वायुरूप कहा. इस कारण पशुओंकी पालनाके निमित्त वायुदेवताका समर्पण करना कहा जाताहै । " वायवस्थेत्याह वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षोऽन्तरिक्षदेवत्याः खलु पशवो वायव एवैतान्परिददाति " [तैत्ति०] ॥

कर्म चार प्रकारके होतेहैं । प्रशस्त–परिवारादिका पोषण । अप्रशस्त–दुर्वृत्त चौर्यादि । श्रेष्ठ–वापीकूपनिर्माण । श्रेष्ठतम–यज्ञादि "यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म"– [श० १ । ७ । १।५] ॥

" ऊर्गित्यन्ननामोर्जयति इति सत् "–[निरु० ९ । २७ ।] "अघ्न्या अहन्तव्या भवत्यघघ्नीति वा"–[निरु० ११ । ४३ ।]

यज्ञके फलसे वर्षामें प्रमाण " अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ "–[मनुः] अग्निमें दी हुई आहुति आदित्यलोकमें उपस्थित होती है, आदित्यसे वर्षा होतीहै वर्षामें अन्नकी बहुतायत और उससे प्रजा होतीहै ।

उपदेशः–यज्ञके सभी संस्कार मंत्रपूर्वक करने चाहियें. और सब पदार्थोंमें ब्रह्मबुद्धि तथा देवताबुद्धि रखनी चाहिये, गायोंका सत्कार और उनकी पालना भली प्रकार करनी चाहिये, कारण कि यह यज्ञका प्रधान हेतु हैं ॥ कात्यायनसूत्रके अनुसार ऋष्यादिमें प्रत्येकमंत्रके आदिमें ॐकार लगाया जाताहै ॥

कण्डिका २–मन्त्र ३ ।

वसो॑: प॒वित्र॑मसि॒ द्यौर॑सि पृथि॒व्य॑सि मा॒तरि॑श्वनो घ॒र्मो॑ऽसि वि॒श्वधा॑ऽअसि ॥ प॒र॒मेण॒ धाम्ना॒ दृꣳह॑स्व॒ मा ह्वा॒र्मा ते॑ य॒ज्ञप॑तिर्ह्वार्षीत् ॥ २ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ वसोः पवित्रमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । याजुषी उष्णिक्छन्दः । वायुर्देवता । पवित्रबन्धने विनियोगः । (२) ॐ द्यौरसीत्यस्य दैवीजगती छन्दः । उखा देवता । स्थाल्यादाने विनियोगः । (३) ॐ मातरिश्वन इत्यस्य जगतीछन्दः । उखा देवता । अधिश्रयणे विनियोगः ।

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे इस शाखादण्डमें कुशपवित्र बाँधकर स्थापन करे " एकत्रित कुशोंको पवित्र कहते हैं इन कुशोंसे यज्ञिय दुग्ध छानाजाता है " [का० ४ । २ । १५ । १६] मंत्रार्थ–हे दर्भमय पवित्र ! (वसोः) इन्द्रदेवताके निवास दुग्धके (पवित्रं) शुद्ध करनेवाले तुम

(असि) हो. इस स्थानमें स्थिति करो। विधि-(२) दूसरे मंत्रसे उखा (दूध औटानेका पात्र) ग्रहण करे [का० ४ । २ । १९] मंत्रार्थ-हे उखे! तुम (द्यौः) जलके कारण वृष्टि देनेवाले द्युलोकरूप हो. अथवा तुम्हारी सहायतासे अधिकतर यजमानोंको द्युलोककी प्राप्ति होती है। इस कारण तुम द्युलोकरूपा (असि) हो (पृथ्वी) मृत्तिकासे वनी होनेसे पृथ्वीरूपा (असि) हो. [अर्थात् हांडाका आकाश द्युलोकरूप और मृत्तिका भूमिरूपहै।] विधि-(३) फिर गार्हपत्यनामक अग्निके उत्तरभागमें कुछेक अंगारे फैलाकर इस तीसरे मंत्रसे उनपर उखा स्थापन करे [का० ४ । २ । २०] मन्त्रार्थ-हे उखे! तुम (मातरिश्वनः) वायुके (घर्मः) संचरणस्थाल (असि) हो. अर्थात् तुम्हारे उदरमें आकाश है इससे वायुका स्थान अन्तरिक्ष तुम्हारे अधीन है, इससे तुमको अन्तरिक्षभी कहसकते हैं (विश्वधाः) हविद्वारा विश्व धारण करनेमें समर्थ होनेके कारण तुम त्रिलोकरूप (असि) हो. और (परमेण धाम्ना) समस्त दुग्धधारणकी उत्कृष्ट सामर्थ्यवाले तेजसे युक्त तुम (दृꣳहस्व) अपने तेजमें दृढ हो. कारण कि छिद्रादि होनेसे दुग्ध गिरजायगा (माह्वाः) टेढी न होना. [कारण कि तुम्हारी दृढतामें न्यूनता वा वक्रता होते ही दूध गिर जायगा.] इससे यज्ञमें विघ्न होगा, इससे (ते) तुम्हारे यह (यज्ञपतिः) यज्ञके स्वामी यजमान हमपर विरक्त होसकते हैं इस कारण वे (मा) न (ह्वार्षीत्) विरक्त हों॥ २॥

प्रमाणम्-"यज्ञो वै वसुर्यज्ञस्य पवित्रमसि"-[श० १ । ७ । १ । ९] "मातरिश्वा वायुर्मातर्य्यन्तरिक्षे श्वसिति मातर्य्याश्वनितीति वा" [निरु० ७ । २६]

आशयः-उखाआदिकी शुद्धिसे यजमान त्रिलोकीका हित करता है. उखादिके व्याजसे उसके अधिष्ठात्री देवता द्रव्योंमें पवित्रता, स्थापन करते हैं, इस यज्ञसे पृथ्वीका प्रकाश, राज्य, प्राणवायुकी पवित्रता, प्रतापकी रक्षा, सब लोकमें सुखकी वृद्धि होनी तथा कुटिलतात्यागपूर्वक जगत्की अनुकूलता प्राप्त करनेके निमित्त परमात्मासे प्रार्थना है॥ २॥

पश्चिमद्वारमें स्थापित अग्नि जहां प्रस्तोताका स्थान और प्रवर्ग्यका कार्य होता है वह गार्हपत्यअग्नि कहाती है॥ २॥

कण्डिका ३-मन्त्र ३।

वसोः᳚ पुवित्र॑मसि शुतधा॑रं वसोः᳚ पुवित्र॑मसि सुहस्र॑

धारम् ॥ देवस्त्वा॑सविता पु॑नातु॒वसोः॑ प॒वित्रे॑ण॒शत
धा॑रेणसु॒प्वा॒काम॑धुक्षः ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐवसोः पवित्रमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । याजुषं छन्दः । वायुर्देवता । उखायां पवित्रस्थापने विनियोगः । (२) ॐ देवस्त्वेत्यस्य साम्नी त्रिष्टुप्छंदः । पयो देवता । पयसः पवित्रकरणे विनियोगः । (३) ॐकामित्यस्य दैवी बृहती छंदः । प्रश्नो देवता । दोग्धुः प्रश्नकरणे विनियोगः ।

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे उस पलाशशाखामें बँधे हुए कुछेक कुशपवित्र उखाके ऊपर स्थापन करै, इनका अग्रभाग उत्तरको होना चाहिये, इनसे दुग्ध छानकर पवित्र किया जाताहै [का० ४ । २ । २१] मंत्रार्थ-हे शाखा पवित्र ! (वसोः) इन्द्रदेवताके निवासके कारण दूधके शोधक ! तुम (पवित्रम्) पवित्रनामसे विख्यात (असि) हो. [अर्थात् पवित्रद्वारा दूध छाननेसे दुग्धमें तृणादिक नहीं जायँगे (वसोः) इन्द्रदेवताके निवासके कारण दूधके शोधक तुम इस उखाके ऊपर (शतधारम्) सैंकडों धारा (सहस्रधारम्) सहस्रों धारा विस्तार करो (पवित्रमसि) तुम पवित्र हो.[पवित्राछिद्रद्वारा उखामें सूक्ष्मछिद्रोंसे दूध गिरनेके कारण सहस्रधारा कहा।] विधि-(२) दूसरे मंत्रसे कुशासे ढकी उखामें दूध डाले [का० ४ । २ । २३।] मन्त्रार्थ-हे क्षीर ! (वसोः पवित्रेण शतधारेण) यज्ञसम्बंधी भलीप्रकार पवित्र शतधारावाले इस पवित्रसे तुम (सुप्वा) शोधित होओ, (सविता) सबकी प्रेरणा करनेवाला (देवः) प्रकाशमान परमात्मा (त्वा) तुमको (पुनातु) पवित्र करे । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे गाय दुहनेवालेसे पूछे [का० ४ । २ । २४] हे दुहनेवाले ! विद्यमान इन गायोंमेंसे तुमने (काम्) किस गौको (अधुक्षः) दुहा ॥ ३ ॥

प्रमाणम्-"शतधारं शतामिति बहुनामसु पठितम्"-[निघं० ३।१।]"सविता वै देवानां प्रसविता"-[श०१।१।२७।] "अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते"-[निरु०१०।४२।]

अभिप्राय-जो मनुष्य सब कार्यमें परमात्माका स्मरण करते हैं, उनके सब कार्य सिद्ध होते हैं, और उसकी प्रार्थनासे पवित्रता होती है, यज्ञीयपदार्थ देवताओंके सन्तुष्टिकारक होनेसे विशेषकर शोधे जाते हैं. सबका शोधक परमात्मा है, इस कारण उसीका स्मरण है ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मन्त्र ५ ।

सा वि॒श्वायुः॒ सा वि॒श्वक॑र्मा॒ सा वि॒श्वधा॑याः ॥
इन्द्र॑स्य त्वा भा॒गꣳ सोमे॒नात॑नच्मि॒ विष्णो॑ ह॒व्यꣳ र॑क्ष ॥ ४ ॥ [२]

ऋष्यादि-(१) ॐ सा विश्वायुरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। दैवी बृहती छन्दः। गौर्देवता। प्रश्नोत्तरे वि०। (२) ॐ सा विश्वकर्मेत्यस्य दैवीपंक्तिश्छं०। प्रश्नोत्तरे वि०। (३) ॐ सा विश्वधाया इत्यस्य दैवी बृहती छं०। प्रश्नोत्तरे वि०। (४) ॐ इन्द्रस्य त्वेत्यस्य याजुषी जगती०। इन्द्रो दे०। क्षीरसोमयोर्मिश्रीकरणे विनियोगः। (५) ॐ विष्णोर्हव्यमित्यस्य याजुषी गायत्री छन्दः। पयो देवता। विष्णुप्रार्थने विनियोगः।

विधि-(१) अमुक गाय दुही है गोदोहक के इस प्रकार कहने पर यह मंत्र पढ़े [का० ४। २। २९] मंत्रार्थ-(सा) जिस गौको तुम ने दुहा मैंने पूँछा है वह (विश्वायुः) यज्ञसम्बन्धी सम्पूर्ण ऋत्विजोंकी आयु बढानेवाली है तथा यजमानकी आयु बढातीहै। विधि-(२) इस प्रकार पूछनेपर दूसरा मंत्र पढै। [का० ४। २। २६।] मन्त्रार्थ-(सा) वह गौ (विश्वकर्मा) यज्ञके सम्पूर्ण कार्यका सम्पादन करनेवाली है, वा सम्पूर्ण क्रियाकाण्डकी सम्पादक घृतदुग्धसे विद्याकी प्रकाशक हैं। विधि-(३) इस प्रकार कहनेपर तीसरा मंत्र पढै। [का० ४। २। २७।] मंत्रार्थ-(सा) वही (विश्वधायाः) यज्ञके सब देवताओंकी पोषण करनेवाली है, अर्थात् हवि दुग्धादि देती है। विधि-(४) इस मंत्र से इन्द्रदेवताके निमित्त दूधको पृथक् करके अर्थात् औटाये दूधको अग्निसे उतारकर प्रातःकालके हवनसे शेषरहे कुछ गरम दूधमें सोमवल्लीके रसका आतञ्चन (जामन) दे। [का० ४। २। ३२] मन्त्रार्थ-हे क्षीर! (इन्द्रस्य) इस इन्द्रके (भाग) भाग (त्वा) तुझको (सोमेन) सोमवल्लीके रससे (आतनच्मि) आतंचन अर्थात् कठिन करता हूं। विधि-(५) पांचवे मंत्रसे इस दूधको यज्ञके गृहमें किसी स्थानमें सावधानीसे रक्षित करै [का० ४। २। ३४] मन्त्रार्थ-(विष्णो) हे चराचरमें व्याप्त सबके रक्षक परमेश्वर! (हव्यम्) यह हव्यभी तुम्हारी दृष्टिमें प्राप्त होनेसे रक्षाके योग्यहै, इस कारण इसकी (रक्ष) रक्षा करो॥४॥

अभिप्राय-यज्ञकी मुख्यक्रिया गौके अधीन है, इस कारण उसका गुण इसमें वर्णन किया है। सृष्टिकी उत्पत्ति पालन संहारके ब्रह्मा विष्णु महेश क्रमसे तीन देवता हैं। पालन करनेवाले विष्णु हैं। इस कारण रक्षामें विष्णुसे प्रार्थना की॥ ४॥

दूधको दही करनेके निमित्त जो अम्लादि द्रव्य दिया जाताहै उसको आतञ्चन (जामन) कहते हैं॥ ४॥

कण्डिका ५-मन्त्र २।

अग्ने॑ व्रतपते व्रतं च॑रिष्यामि॒ तच्छ॑केयं॒ तन्मे॑ रा॒ध्यताम्॥ इ॒दम॒हमनृ॑तात्स॒त्यमुपै॑मि॥५॥

ऋष्यादि-(१) ॐअग्न इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आर्च्युष्णिक् छंदः । अग्निर्देवता । कर्मानुष्ठानेविनियोगः । (२) ॐइदमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । साम्नी गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । कर्मानुष्ठाने विनियोगः ।

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे यजमान पूर्वभागमें स्थापित आहवनीय नामक अग्निको साक्षीपूर्वक जलस्पर्श करके यज्ञका भार ग्रहण करै [का० २ । १ । ११ ।] मंत्रार्थ-(व्रतपते) हे समस्त क्रियाकाण्डके अधिपति (अग्ने) सत्य उपदेशकर्ता ईश्वरसे व्याप्त अग्नि ! तुम्हारी अनुज्ञासे मैं (व्रतं) इस क्रियाभारको (चरिष्यामि) ग्रहण करताहूं (तत्) इस कार्यके करनेमें तुम्हारी कृपासे (शकेयम्) मैं समर्थ हूं (तत्) वह (मे) मेरी क्रिया (राध्यताम्) निर्विघ्नफलपर्यन्त सिद्ध हो । विधि-(२) इसी प्रकार दूसरे मन्त्रसे यजमान अग्निको साक्षीकर जलस्पर्श कर प्रतिज्ञासंकल्प करै । मन्त्रार्थ-(इदम्) यह (अहं) मुझ यजमानने (अनृतात्) असत्यको त्यागकर वा अनृतरूप मनुष्यशरीरके भावसे (सत्यम्) सत्य वा देवशरीरका (उपैमि) आश्रय लिया. अर्थात् मैं इस यज्ञमें असत्यभाषणादि अनृत व्यवहार न करूंगा ॥ ५ ॥

प्रमाण-"अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः"-[श० १ । १ । १ । २ ।] "इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपावर्तत "-[श० १ । १ । १ । ४] ॥ ५ ॥

विवरण-पश्चिमद्वारकी गार्हपत्यअग्निके पूर्वमें प्राचीनवंश नाम दक्षिण वेदी होती है. उसके पूर्व ओर स्थापित अग्निको आहवनीय अग्नि कहते हैं. यह होताका प्रधान कार्य्यस्थान है ॥ ५ ॥

आशय-कर्मकाण्डमें यजुर्वेद प्रधान है. सब कर्मकाण्डोंमें संकल्प प्रथमाङ्ग है कारण कि "संकल्पमूलाः कामा वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः"-[मनु०अ०२] कामनासिद्धिका मूल संकल्प है. और यज्ञ संकल्पसे होते हैं. और "यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति" जो मनमें विचारता है वही वाणीसे कहता है. अर्थात् जो विचार पूर्ण दृढतासे मन और वाणीद्वारा कर्त्तव्य ठहराया जाता है. उसकी दृढ प्रतिज्ञा की जाती है. वह ठीक समर्थ अर्थात् सफल होता है. सफल होना ही संकल्पका अर्थ है. इसी कारण "ॐतत्सत्श्रीब्रह्मणो द्वितीयपरार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे० "इत्यादि प्रत्येक कार्यमें संकल्प पढा जाता है. यजुर्वेदमें मुख्य कर्मकाण्ड है. इसकारण इसके आरंभमेंही संकल्प करना चाहिये. सो इस मंत्रमें कहा गया है. प्रथम कण्डिकामें इसकारण न कहा कि आरंभमें संकल्पसे भी प्रथम अपेक्षावाले कर्मकाण्डरूप यज्ञका प्रधान भाग प्रयोजन कहा गया है. इसी कारण प्रथम प्राणियोंके जीवनाधार अन्न जलका [इष् ऊर्ज्] नामसे वर्णन

करके पीछे संकल्प लिखा है, 'इष् ऊर्ज' पदोंसे यह बात निकलती है कि, यजुर्वेदमें अन्न जल और उनके साधक प्रतिपादक वा कारणरूप यज्ञसम्बन्धिनी विद्याका पूर्णरूपसे वर्णन किया है. इसी कारण प्रथम उद्देश्य कहकर अर्थात् यज्ञरूप तत्त्वज्ञानका क्रम दिखलाकर इस मंत्रमें संकल्प किया है, और यहींसे शतपथब्राह्मणभाग आरंभ होता है। हाथमें जल लेनेका कारण यह है कि "अमेध्यो वै पुरुषः" [श०] यह पुरुष अमेध्य होताहै, अर्थात् धारणावती बुद्धिसे विपरीत होजाताहै, इसकारण "मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति" शुद्धबुद्धि होकर व्रत आचरण करताहूं "पवित्रं वा आपः पवित्रपूतो व्रतमुपायानीति तस्माद्वा अप उपस्पृशति"– [श०]जलं पवित्र हैं, पवित्र होकर व्रत करना,इससे जलस्पर्श करना चाहिये, जलके स्पर्शसे शान्तिगुण आत्मामें प्रवेश करते हैं, इससे स्वस्थता होतीहै. शान्ति शरीर-स्थित जलकाही गुण है, इसीसे क्रोध करने पर मुख सूखजाता है उसको शान्ति करनेको जल पूर्णसहायक है, इस कारण प्रतिज्ञासे शान्तिको बाह्य जलस्पर्शसे उत्तेजित करे जिससे मन वाणीके मिथ्यादि दोष प्रज्वलित शांतिमें हवन होजायँ कारण कि क्रोधादिमें अग्निके कणोंका सूक्ष्म अंश रहता है, उस जलसे वह शान्त हो जाता है, इसी कारण शान्तवचनोंसे क्रोध, सत्यसे मिथ्या, कोमलतासे कठोरता; सदा दब जाती है, इससे मेध्य होकर यजमान व्रतका आरंभ करे. अग्निको साक्षी करनेका आशय यह है कि, अग्नि सब पदार्थों में स्थायी है, जैसे सुवर्णआदि-में अग्निके परमाणु विशेषस्थायी हैं, मनुष्यके भीतर जहां ज्ञानकी शुद्धता वा प्रबलता अग्नितत्त्वका सूक्ष्म शुद्धांश है वहीं सत्यरूप व्रतभी स्थायी रहताहै, और शरीरस्थित वा बाह्य अग्निकी विषमता ही अनिष्ट अधर्म क्रोध दुःखरूप है, अग्निको सम करनेको उसमें जलरूप घृतकी आहुती दीजातीहै. अग्नि और सोम ये दो देवताही वेदमें मुख्यरूपसे वर्णन किये हैं, इन्हींसे अधिकतर संसारकी व्यवस्था चलती है, इनकी विषमता वा कोपमें अधर्म और समतामें धर्म बनता है, इसीसे यहां संकल्पमें इन दोनोंकी मुख्यता दिखाई है. अग्निके प्रधान होनेमें अग्निको व्रतपति कहा है. सत्य और अनृत दोही वस्तु संसारमें हैं, देवता सदा सत्य और मनुष्य चंचल होनेसे अनृतरूप हैं. सत्यव्यवहार कभी नहीं बदलता. अनृतमें सब प्रकारके दुःख और व्याकुलता होती है, यज्ञादि धर्मरूप है, इससे यजमानने देवरूप होकर सत्यव्यवहारकी प्रतिज्ञा की है. कारण कि, अग्निआदि देवता कभी अपने तत्त्वको नहीं छिपाते, सबको यथायोग्य अपना उपदेश करते हैं. और सत्यरूपका आशय यह है कि, यह इस भूमिरूपवेदीमें अग्न्यादि देवता प्राकृत नियमसे ही अनादिकालसे अनन्त समय पर्यन्त दिनरात मनुष्य पशु पक्षी आदिका लयरूप हवन कररहे हैं, वह इनका हवन-

रूप सत्यव्रत एकक्षणभी शान्त नहींहोता. इसीकारण यजमानकोभी एकरस होकर सत्यरूप व्रत ग्रहण करना चाहिये, दृढसंकल्प करनेसे जो अनुष्ठान होगा, उसका पूरा फल प्राप्तहोगा।इसप्रकार मंत्रोंके गू आशय हैं. आगे विस्तारभयसे संक्षेपसे लिखेंगे॥

कण्डि,का ६-मन्त्र २।

कस्त्त्वायुनक्तिसत्त्वायुनक्तिकस्म्मैत्त्वायुनक्ति तस्म्मैत्त्वायुनक्ति ॥ कर्म्मणेवांवेषायवाम् ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ कस्त्वेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । साम्नी त्रिष्टुप्छंदः । प्रजापतिर्देवता । अपां प्रणयने, आहवनीयसंप्रातिसादने च विनियोगः । (२) ॐ कर्मण इत्यस्य प्राजापत्या गायत्री छन्दः । स्रुक्छूर्पौ देवते । शूर्पादानेऽग्निहोत्रहवन्यादाने च विनियोगः ।

विधि-(१) इस प्रकारसे यजमान क्रियाभारादिको स्वीकार करके सब ऋत्विजोंके कार्य्य देखनेवाले ब्रह्माका वरण करके उसके निकट आपप्रणयन (यज्ञके सब उपकरणोंमें छिडकनेके निमित्त मंत्र पडकर जल प्रस्तुत करना) कार्य्यकी आज्ञा ले. ब्रह्मा इस विषयकी आज्ञा दे. और उसमें कहे कि, जबतक फिर कुछ आज्ञा न दीजाय [पन्द्रहवीं कण्डिकामें हविके आवपन समयमें फिर आज्ञा दी जायगी] तबतक मौन रहो. यजमानको यह आज्ञा प्राप्त करलेनेपर अध्वर्यु एकपात्रमें जल ले, और आहवनीय अग्निके उत्तरभागमें पहले मंत्रसे उसको स्थापन करे [का० २ । ३ । २ । ३] मंत्रार्थ-ईश्वरसे व्याप्त जलोंके धारण करनेवाले हे पात्र! (त्वा) तुमको (कः) कौन इस कार्य्यमें (युनक्ति) नियुक्त करते हैं (कस्मै) किस प्रयोजनके निमित्त (त्वा) तुमको (युनक्ति) नियुक्त किया जाता है (तस्मै) सब कर्म परमेश्वरकी प्रीतिके होने निमित्त करने चाहियें. इस कारण उस प्रजापति देवताके सन्तोषके निमित्त ही (त्वा) तुमको इस प्रकार से (युनक्ति) नियुक्त कियाजाता है। विधि-(२)दूसरे मंत्रसे शूर्प और अग्निहोत्रहवनी ग्रहण करे [का० २ । ३ । १०]मन्त्रार्थ-हे शूर्प! हे अग्निहोत्रहवनी! (कर्मणे) यज्ञीय कार्य्यके अर्थ (त्वाम्) तुमको ग्रहण कियाजाता है. तथा (वेषाय) अनेक कार्य्य (व्रीहिआदिका शकटसे पृथक् करना) में तुमको व्याप्त रहना होगा. इसके निमित्त ही (वाम्) तुमको ग्रहण करता हूँ ॥ ६ ॥

विवरण-शूर्प-छाजको कहते हैं. इसमें नाज लेकर ओखलीमें डालाजाता है फिर कूटकर निकाल भूसी अलग कर यज्ञकार्य्यमें वह धान्य लायाजाताहै ।

अग्निहोत्रहवनी–छकडेमें धरे धान्यका अलग करना और प्रोक्षणके निमित्त जल धारणादि इस कार्य्यकी है ॥

अभिप्राय–सत्यादिकार्योंकी प्रतिज्ञामें अभिमान न करे, किन्तु जो कुछभी यज्ञीयकार्य करे उसमें परमात्माकी ही प्रेरणा है ऐसा जाने. और जो कुछ मैं करताहूं परमात्माकी ही प्रीतिके निमित्त करताहूं ऐसा विचार करे । आदिसृष्टिमें कार्यनिर्वाहक शूर्पादिका विधान करना भी उसका उपदेश है ॥ ६ ॥

कण्डिका ७–मन्त्र २ ।

प्रत्युष्टꣳरक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳरक्षो निष्टप्ताऽअरातयः॥ उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ ७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐप्रत्युष्टमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आसुरी बृहती छन्दः । रक्षो देवता । अग्निहोत्रहवणीशूर्पयोः प्रतपने, रक्षोदहने च विनियोगः । (२) ॐ उर्वन्तरिक्षमित्यस्य प्राजापत्या गायत्री छंदः । रक्षोघ्नो देवता । अन्तरिक्षगमने विनियोगः ।

विधि–(१) ग्रहण किया हुआ यह शूर्प और अग्निहोत्रहवणी प्रथम अथवा दूसरे मंत्रसे कुछ अग्निमें तपावे [का० २ । ३ । ११ ।] मन्त्रार्थ– इनको तपानेसे (रक्षः) राक्षसजाति वा प्रत्येकबाधा वा अशुद्धता अथवा इसकी विगाडनेवाली मलिनता (प्रत्युष्टम्) दग्ध हुई (अरातयः) शत्रुगण भी (प्रत्युष्टाः) तपानेसे दग्धहुए [अथवा 'रा' दाने] हविदानके प्रतिबंधक शत्रुगण दग्ध हुए. इस तापसे शूर्पमें आश्रित (रक्षः) बाधा वा राक्षसजाति (निष्टप्तं) सब प्रकारसे दग्ध हुई (अरातयः) शत्रुगण भी (निष्टप्ताः) सम्पूर्णतः दग्ध हुए । विधि–(२) अनन्तर पुरोडाशनामक हविके पाक करनेको स्थापित गार्हपत्य नामक अग्निके पिछले भागमें आयेहुए धान्यशकटके निकट यह अगला मंत्र पढताहुआ गमन करे [का० २ । ३ । १२ ।] मन्त्रार्थ–मैं इस (उरु) बडे विस्तारवाले (अन्तरिक्षम्) आकाशका (अन्वेमि) अनुसरण करता हूं. मेरे गमनसमयमें दोनों ओरकी सब बाधा दूर हों ॥ ७ ॥

प्रमाण–" उर्विति बहुनामसु पठितम् "–[निघण्टु० ३ । १ ।] राक्षसबाधा इस मंत्रसे अग्निद्वारा वस्तुओंको तपानेसे दूर होती हैं । इसका आशय यह है कि बहुत दिनोंकी रक्खी हुई वस्तुमें रोगका कारण कोई बाधा प्रवेश होजाती है. उसके धारण करनेसे रोग संक्रमित होते हैं, उनका दूर होना अग्निके तापसे संभव है.

तथा यज्ञियपात्रोंमें असुर भी गुप्तरूपसे अशुद्धता करनेको प्रविष्ट होते हैं. वा स्पर्श करते हैं । अग्निके तापसे उनका स्पर्शदोष दूर होकर वह वस्तु शुद्ध होजाती है. इसीसे अग्निमें तपाते हैं यज्ञ करनेवाले पुरुषको उचित है. कि—यज्ञविघ्नकारी दुष्ट शत्रुआदि नास्तिक जनोंका संसर्ग न करे. इनके तापित होनेका वर्णन है, यह यज्ञको देख दुःखी होतेहैं, इस कारण इनका निराकरण लिखा है. इसी वेदमंत्रका अवलम्बन करके भारतवासी चार २ महीने उपरान्त वा वर्षा के बीतनेमें अपने वस्त्रादिको धूपमें सुखाते हैं. वेदमें बाधाको बहुधा रक्षम् लिखा है ॥ ७ ॥

कण्डिका ८—मन्त्र २ ।

धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान् धूर्वति तं धूर्व यं वयं धूर्वामः। देवानामसि वह्नितमꣳ सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम् ॥ ८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ धूरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । याजुषं छन्दः । अग्निर्देवता । शकटधुराभिमर्शने विनियोगः । (२) ॐ देवानामित्यस्य ह्वार्षीत् इत्येतदन्तमिति (९ मं) कण्डिकास्थपदपर्यन्तस्य प्र० ऋ० यजुषीछन्दः । शकटो देवता । उपस्तम्भनाभिमर्शने विनियोगः ॥

विधि–(१) उस धान्यके लानेवाले शकटके निकट जाकर उसके जुएको प्रथम मंत्रसे स्पर्श करे [का० २ । ३ । १२–१३] [इस व्रीहि आदिके लानेवाले शकटके धुर जुएके स्थानमें एक हिंसक अग्नि रहती है उसीकी प्रार्थना है ।] **मंत्रार्थ**–हे अग्ने ! तुम सब दोषनाशक अंधकारनाशक (धूः) हिंसक (असि) हो. इस कारण (धूर्वन्तम्) पापी हिंसकोंको (धूर्व) नष्टता करो. और (यः) जो पुरुष वा राक्षसादि यज्ञविघ्नद्वारा (अस्मान्) हमारी (धूर्वति) हिंसा करनेको उद्यत है (तम्) उसको भी (धूर्व) पीडित करो. (यम्) जिसको (वयम्) हम (धूर्वामः) नाश करनेकी इच्छा करें (तम्) उसको (धूर्व) हिंसा करो. [अर्थात् हम आलस्यादि शत्रुओंके नाशकी इच्छा करते हैं तुम उनको दूर करो, या सब प्रकार हमारे शत्रुओंको नष्ट करो] । **विधि**–(२)दूसरे मंत्रसे इस शकटके उपस्तंभनके[१] पिछले भाग ईषाको[२] स्पर्श करे [का० २।३।१४]

---

१ दोनों बैलोंको गाडीसे अलग करते समय जो बाँसके दो डंडे इस अभिप्रायसे पृथ्वीपर टिकाये जाते हैं कि जुआ पृथ्वीपर न लगे उसे उपस्तंभन (डँये) कहते हैं ।

२ जुएसे छकडेतक जो लम्बा काष्ठ रहता है उसको ईषा (फड) कहते हैं ।

मंत्रार्थ–(१) हे शकटके ईषादण्ड ! (त्वं) तुम (देवानां) देवताओंकी भोज्य वस्तुके (वह्नितमम्) वाहक हो, इस कारण (सस्नितमम्) अतिशय पवित्र वा दृढ (पप्रितमम्) हविके उपयोगीधान्यसे परिपूर्ण इस शकटको तुम वहन करते हो. इसीसे (जुष्टतमम्) देवताओंके अतिशय प्रियपात्र (देवहूतमम्) देवताओंके आह्वान करनेवाले (असि) हो. [अर्थात् तुमको धान्यपूर्ण शकटमें लगा हुआ देखतेही देवगण तुम्हारे स्थानका अवलम्बन करते हैं, तुम जहां स्थित होते हो देवता भी वहां स्थित होते हैं] ॥ ८ ॥

प्रमाणम्–"अग्निर्वा एष धुर्यस्तमेतदत्येष्यन् भवतीति"–[श० १ । १ । २ । १० ।] तुर्वी थुर्वी दुर्वी धुर्वी हिंसार्थाः । धुर्वतेः क्विप् ।

अभिप्राय–यज्ञआदिमें तथा अन्यप्रकारमें भी अन्नको देख कर ईश्वरका स्मरण करना चाहिये, इसी कारण शुद्धताकी इच्छासे दुष्टजनोंकी निवृत्ति और श्रेष्ठ महात्माओंकी प्राप्ति तथा देवताओंकी प्रसन्नताके निमित्त अग्निरूप ईश्वरका इस मंत्रमें स्मरण कियाहै. उपासनाकी प्राप्ति करनेको विराट्रूपमें प्रत्येक वस्तु उसके अन्तर्गत होनेसे उसीके रूपमें वर्णन की है ॥ ८ ॥

कण्डिका ९–मन्त्र ४ ।

अह्रुतमसिहविर्द्धानन्दृꣳहस्वमाह्वार्म्मातेयज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ॥ विष्णुस्त्वाक्क्रमतामुरुवातायापहतꣳरक्षोयच्छन्ताम्पञ्च ॥ ९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ विष्णुरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । याजुषी गायत्री छं० । हविर्दे० । आरोहणे विनियोगः । (२) ॐ उरुवातायेत्यस्य दैवीपंक्तिश्छं० । हविर्देवता । हविःप्रेक्षणे विनियोगः । (३) ॐ अपहतमित्यस्य याजुषी गायत्री० । रक्षोदेव० । हविरभिमर्शने विनियोगः (४) ॐ यच्छन्तामित्यस्य दैवीपंक्तिश्छन्दः । हविर्दे० । हविर्ग्रहणे विनियोगः ॥

पूर्वमन्त्रशेषार्थ–हे ईषादण्ड ! तुम (अह्रुतम्) अकुटिल सीधे (असि) हो (हविर्धानम्) देवताओंके भोजनयोग्य हविको धारण किये हो (दृꣳहस्व) मैं आरोहण करूंगा, इस कारण दृढ हो. और (माह्वाः) कुटिल न होना (ते) तुम्हारे (यज्ञपतिः) अर्थात् यजमान (माह्वार्षीत्) वक्र न हों. [अर्थात् तुम्हारे टेढे होनेसे मेरे गिरपडनेसे यज्ञ में व्याघात उपस्थित होनेसे यजमान वक्र होंगे] ॥

१–"अह्रुतमसि हविर्धानन्दृꣳहस्वमाह्वार्माते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्–"इतना मन्त्रभाग इसके पहलेकी कंडिके उत्तरार्धमें "देवानामसि०–" इस मन्त्रमें अन्वित किया है, इसकारण इसके ऋषि, छंद, देवता और विनियोग पूर्वमन्त्रविभागमें जानने (यजु० भाष्य प०२६) इसीसे यहां "विष्णुस्त्वा" यहांसे ऋष्यादिकोंका उल्लेख कियागया है ।

विधि-(१) इस मंत्रसे शकटारोहण करै [का०२।३।१५] **मन्त्रार्थ**-हे शकट ! (विष्णुः) व्यापक यज्ञपुरुष (त्वा) तुमपर आरोहण करै [अर्थात् मैं समर्थ नहीं हूं]। **विधि**-(२) दूसरे मंत्रसे शकटमें रक्खेहुए धान्यका ढकना अलग कर उसपर धानोंको फैलादे [का० २।३।१६] **मन्त्रार्थ**-हे शकट !(वाताय) वायुके प्रवेश करनेसे सूख जायँ इस कारणसे तुमको (उरु) विस्तार करता हूं, [अर्थात् वायु-रूप प्राणके प्रवेशसे हवि मंत्रसे प्राणरूप की जाती है. कारण कि, वायुके प्रवेशसे रहित सब वस्तु वरुणदेवताकी होजाती हैं, अर्थात् गीली होती हैं. वरुण बंधक होनेसे यज्ञके निरोधक हैं, उनकी निवृत्तिके निमित्त यह मंत्र है] **विधि**-(३) तीसरे मंत्रसे उन धानोंके साथ मिले हुए तृणादिको निकाल कर पृथक् करे [का० २ । ३ । ११-१२] **मन्त्रार्थ**-(रक्षः) यज्ञविघातक बाधा वा तृणं (अपहतम्) दूर हुये । **विधि**-(४) चौथे मंत्रसे मुट्ठी बांध कर सब धानोंको उठाकर शूर्पमें रक्षण करना आरंभ करै [का० २।३।१९] **मन्त्रार्थ**-(पञ्च) हे पांचो उंगलियो ! तुम व्रीहिरूप हविको (यच्छन्ताम्) ग्रहण कर इस शूर्पमें धरो ॥ ९ ॥

प्रमाणम्-"यद्वै किञ्च वातो नाभिभवति तत्सर्वं वरुणदेवत्यमुरुवातायेत्याह वारुणमेवैतत्करोति"-[तित्तिरिवचनम् ।]

अभिप्राय-ईश्वरकी आज्ञा है कि यज्ञादि सम्पूर्ण कार्योंमें परमात्मासे सहायताकी प्रार्थना करनी चाहिये. यज्ञके कार्य यथायोग्य संपादित होनेसे यजमानका मंगल होताहै, यदि किञ्चित् भी उत्पात होजाय तो यजमानके अमंगलकी संभावना है, तथा अन्नादि वायुके स्पर्शसे शुद्ध होते हैं ॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मन्त्र ३ ।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम्पूष्णो हस्ताभ्याम् ॥ अग्नये जुष्टङ्गृह्णाम्यग्नीषोमाभ्याञ्जुष्टङ्गृह्णामि ॥ १० ॥

ऋष्यादि- (१) ॐ देवस्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । प्राजापत्या बृहती छं० । सविता देवता । हविरादाने विनियोगः (२) ॐ अग्नये जुष्टमित्यस्य प्राजापत्या गा० । लिङ्गोक्ता देवता । अग्नये हविरादाने विनियोगः । (३) ॐ अग्नीषोमाभ्यामित्यस्य याजुषी पंक्तिश्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । अग्नीषोमाभ्यां हविरादाने विनि० ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे दोनों हाथोंसे धान्य ग्रहण करै [का० २ । ३ ।२०। २२] **मन्त्रार्थ**-हे हविर्धान्यसमूह ! (सवितुर्देवस्य) सब जगत्की प्रेरणा करनेवाले परमात्माकी (प्रसवे) प्रेरणासे (अश्विनोः) अश्विनीकुमारकी (बाहुभ्याम्) दोनों भुजाओंसे (पूष्णः) पूषा देवताके (हस्ताभ्याम्) दोनों

हाथों 'पहुँचा' से (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं. [अर्थात् मैं अपनी सामर्थ्यसे तुमको ग्रहण नहीं करता. किन्तु देववलसे ग्रहण करता हूं] विधि-(२) दूसरे मंत्रसे चार मुट्ठी पृथक् करै । मन्त्रार्थ-(अग्नये) अग्निदेवताके निमित्त यह (जुष्टम्) प्रिय अंश (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे फिर और चार मुट्ठी पृथक् करै । मन्त्रार्थ-(अग्नीषोमाभ्याम्) अग्नीषोम नामक दो देवताओंके निमित्त यह (जुष्टम्) प्रिय अंश (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं ॥ १० ॥

अभिप्राय-विवरण-कंधेसे लेकर पहुंचेपर्यन्त भुजा कहलाती है, पांच अंगुलियोंसे युक्त अग्रभाग हस्त कहलाता है. अश्विनीकुमार देवताओंके अध्वर्यु हैं. पूषा देवताओंका भाग पूर्ण करता है. इस कारण हविके ग्रहणसाधनमें अपनी बाहुओंमें अश्विनीकुमारकी बाहुओंकी भावना करै. हाथोंमें पूषाके हाथोंकी भावना करै. अर्थात् सर्वात्मक अग्निकी हवि मनुष्य किस प्रकार सम्पादन करसकता है, इस कारण सविता देवताकी प्रेरणाका कथन किया. देवता सत्य, मनुष्य अनृत हैं. इस कारण सत्यरूप देवताओंके स्मरणसे हविका ग्रहण सत्यफलदायक होगा. देवताओंके स्मरण विना अनृतरूप मनुष्योंका अनुष्ठान निष्फल होगा. इससे देवताओंका स्मरण किया. हविग्रहण करते समय देवता अध्वर्युको सेवन करते हैं. परस्पर व्यत्यय न हो, इस कारण देवताओंका पृथक् नाम उच्चारण किया है ॥ १० ॥

प्रमाण-"सत्यं देवा अनृतं मनुष्याः" इति श्रुतेः [श० १ । १ । २ । १७] "अश्विनौ हि देवानामध्वर्यू पूषा हि देवानां भागधुक्" [श०] ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मन्त्र ५.

भूतायत्वानारातयेस्वरभिविक्ख्येषन्दृꣳहन्तान्दुर्याः पृथिव्यामुर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ पृथिव्यास्त्वानाभौसादयाम्यदित्याऽउपस्थेग्नेहव्यꣳरक्ष ११ [७]

(१) ॐ भूतायेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । हविर्देवता । व्रीहिशेषाभिमर्शने विनियोगः । (२) ॐस्वरित्यस्य प्र० ऋ० । याजुषीगायत्री०।सूर्यो देवता । प्राक्प्रेक्षणे विनियो० । (३) ॐदृꣳहन्तामित्यस्य प्र०ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छं० । गृहं दैवतम् । शकटावरोहणे विनि० । (४) ॐ उर्वन्तरिक्षमित्यस्य प्र० ऋ० । प्राजापत्या

गायत्री० । शकटो दे० । अन्तरिक्षगमने वि० । (५) ॐ पृथिव्या इत्यस्य प्र०ऋ०साम्नीपंक्तिश्छं० । हविर्देवता । हविःसादने वि० ॥

विधि-(१) शेषको ग्रहण करै [का० २ । ३ । २३] मंत्रार्थ-हे शकटमें स्थित व्रीहिशेष ! (भूताय) ब्राह्मणोंके भोजन करानेके निमित्तही (त्वा) तुमको ग्रहण किया है (न) न कि (अरातये) आदान अर्थात् संचय करनेको ग्रहण किया है । विधि-(२) उस शकटमें स्थित रहकर ही वहांसे पूर्वमुख होकर दूसरे मंत्रका पाठ करता हुआ यज्ञभूमिका दर्शन करै [का० २।३।२४] मंत्रा०- यह मैं (स्वः) स्वर्गसाधन यज्ञभूमिको (अभिविख्येषम्) सब प्रकारसे देखताहूं । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे शकटमे उतरै [का० २ । ३ । २५] मं०-(पृथिव्याम्) पृथ्वीमें वर्तमान (दुर्य्याः) यज्ञगृह (दृंहन्ताम्) दृढ हों. [अर्थात् मैं धान्यभार लेकर उतरता हूं, मेरे उतरनेसे भूमिमें किसी प्रकारका उत्पात न हो] विधि-(४) चौथा मंत्र पाठ करके यज्ञभूमिके नाभिप्रदेशमें गमन करै [का०२।३। २६] मंत्रा०-मैं (उरु) इस विस्तीर्ण (अन्तरिक्षम्) आकाशमें (अन्वेमि) गमन करता हूं. दोनों ओरकी सम्पूर्ण बाधा दूर हों । विधि-(५)पांचवें मंत्रसे उस नाभिमें धान्योंकी रक्षा करै [का० २ । ३ । २७] मं०-हे धान्यसमूह हवि ! (पृथिव्याः) इस पृथ्वीकी (नाभौ) यज्ञीय नाभिके मध्यमें (त्वा) तुमको (सादयामि) स्थापन करता हूं (अदित्याः) माताकी (उपस्थे) गोदीमें रहनेके समान यत्नसहित रहो (अग्ने) हे अग्निदेव ! यह तुमसे आदि लेकर देवगणोंकी हव्य है तुम इस (हव्यम्) हव्यकी (रक्ष) रक्षा करो. जिससे किसीप्रकारका विघ्न न हो ॥ ११ ॥

प्रमाण-"यज्ञो वै स्वरहर्देवाः सूर्य्यः"-[श० १।१।२।२१।] 'स्वर्' शब्दका अर्थ यज्ञ, दिन, देव और सूर्यका है । दुरो द्वाराण्यर्हन्तीति दुर्याः गृहाः ।

विवरण-यज्ञगृहके पूर्वद्वारके प्रान्तमें स्थापित यूपस्तंभसे पश्चिममें बनी हुई उत्तरवेदीके मध्यभागको नाभि कहते हैं, जहां प्रतिहर्ताका कार्य स्थल होता है ।

अभिप्राय-परमात्माकी आज्ञा है कि यज्ञीयपदार्थोंसे विद्वान् महात्माओंका सत्कार करना चाहिये, कृपणता न करै. तथा सम्पूर्ण पदार्थोंकी रक्षामें ईश्वरकी प्रार्थना करै, वही अपने जनोंको पुत्रके समान पालन करता है । इस मंत्रको विचारके साथ पढनेसे इस बातका भली प्रकारसे निश्चय हो सकता है, कि यज्ञमें किंचित् मात्रभी बाधा नहीं होनी चाहिये, जब कि धान्य लेकर भूमि में कूदनेसे किसी प्रकारकी अशान्ति न होजाय इस प्रकारकी प्रार्थना है, तब

बुद्धिमान् जानसकते हैं, कि यज्ञमें कितनी सावधानी करनी होती है, जितेन्द्रिय होकर क्रोध आलस्यका त्याग कर यज्ञको पूर्ण श्रद्धासे सम्पादन करनेसे यथेष्टफल मिलता है ॥ ११ ॥

कण्डिका १२–मन्त्र ३ ।

पवित्रेस्थोवैष्णव्यौसवितुर्वःप्प्रसवऽउत्पुना म्यच्छिद्रेणपवित्रेणसूर्य्यस्यरश्मिभिः ॥ देवी रापोऽअग्रेगुवोऽअग्रेपुवोऽग्रऽइममद्ययज्ञन्नय ताग्रेयज्ञपतिꣳसुधातुंय्यज्ञपतिन्देवयुवम् ॥ १२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ पवित्र इत्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । दैवीबृहतीछन्दः । लिङ्गोक्ता देवता । पवित्रीछेदने विनियोगः । (२) ॐसवितुरित्यस्य प्रजा० ऋ० । प्राजापत्या पंक्तिश्छंदः । आपो देवता । अपां पवित्रीकरणे वि० । (३) ॐ देवीराप इत्यारभ्य अवृणीध्वं वृत्रतूर्ये (कं० १३) इत्यन्तस्य प्रजा० ऋ० । याजुषं छं० । आपो दे० । उत्पूतजलपूर्णाग्निहोत्रहवन्यूर्ध्वचालने विनियोगः ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे कितने एक कुशोंमेंसे दो कुश दीर्घ समान करके छेदन करै, ये दो कुश छेदन करनेमें इनके अन्तर्गर्भमें अग्रभागमें शुष्कता न हो [का० । २ । ३ । ३२ ।] मन्त्रार्थ–(पवित्रे) हे पवित्र करनेवाले कुशद्वय ! तुम (वैष्णव्यौ) यज्ञसम्बन्धवाले (स्थः) हो । विधि–(२) फिर हविर्ग्रहणीसे जल लेकर इन दो कुशाद्वारा दूसरे मंत्रसे पवित्र करै । [का० २ । ३ ३३ ।] जिससे यज्ञकी हवि ग्रहण कीजाय वह हविर्ग्रहणी वा अग्निहोत्रहवणी कहाती है । मं०–(आपः) हे जलो ! (सवितुः) सबके प्रेरणा करनेवाले परमात्मा सविता देवताकी (प्रसवे) प्रेरणा करनेसे (वः) आपको (अच्छिद्रेण) छिद्रशून्य (पवित्रेण) शोधक वायुरूपसे (सूर्यस्य) सूर्यकी (रश्मिभिः) शुद्ध करनेवाली किरणोंसे तुल्य इस पवित्रसे (उत्पुनामि) मंत्रद्वारा पवित्र करता हूं । विधि–(३) फिर यही जलपूर्ण अग्निहोत्रहवणी बायें हाथमें लेकर इन्हीं कुशद्वयद्वारा तीसरे मन्त्रपाठकी समाप्तिपर्यन्त निरन्तर ऊपरको छिड़के [का० २ । ३। ३९] मं०–(हे देवीः आपः) परमात्माके तेजसे प्रकाशमान जलो ! तुम (अद्य) आजके दिन (इमम्) इस वर्तमानयज्ञको (अग्रे, नयत) आगे प्रवृत्त अर्थात् निर्विघ्न समाप्त करो. कारण कि तुम (अग्रेगुवः) निरन्तर निम्नदेशमें गमन करते हो. तथा (अग्रेपुवः) प्रथम पवित्र करनेवाले हो, अथवा प्रथम सोमरसके पान करनेवाले हो. इस कारण हमारे (यज्ञपतिम्) यज्ञके अधिपति

यजमानको फलभोगनेके निमित्त प्रेरणा करो; कारण कि (सुधातुम्) दक्षिणादिसे यज्ञको पुष्ट करनेवाला विलक्षण धनी (यज्ञपतिं) यज्ञका पालन करनेवाला (देवयुवम्) देवताओंको यज्ञादिमें हविर्दान करनेकी इच्छा करता है, इस कारण इसको (अग्रेनयत) यज्ञमें अग्रेसर करो, जिससे यह हतोत्साह न हो ॥ १२ ॥

प्रमाण—"यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञियै स्थ" [श० १ । १ । ३ । १ ।] "योवा अयं पवत एषोऽच्छिद्रं पवित्रम्" इति [श० १ । १ । ३ । ६] "इदंयुरिदं कामयमानम्" [निरु० ६ । ३१]

अभिप्राय—दूसरे मंत्रके विधानसे यही आशय है कि गायत्रीका अर्थ स्मरण करते हुए समस्तकार्य्य निजकर्तृत्वअभिमान दूर करके करने चाहियें, इससे आत्मा शुद्ध होगा. छिद्रशून्य वायु और सूर्यकिरण ये जैसे शोधक हैं. यह पदार्थ विद्यावाले जानते हैं. इस कारण इन दोनोंकाही शुद्ध करनेमें प्रधान दृष्टान्त ग्रहण किया है ॥ १२ ॥

कण्डिका १३—मन्त्र ४ ।

शुष्म्मा॑इन्द्रो॑वृणीतवृत्त्रतूर्य्यैं॒यूयमिन्द्र॑मवृणीद्ध्वंवृत्त्र तूर्य्ये॒प्प्रोक्षि॑तास्त्थ ॥ अ॒ग्नये॒त्त्वाजुष्ट॒म्प्रोक्षाम्म्य ग्नीषोमा॒भ्यान्त्वाजुष्ट॒म्प्रोक्षा॑मि ॥ दैव्या॑युकर्म्म॑णे शुन्धद्ध्वन्देवयज्ज्यायै॒यद्वोशु॑द्धाःपराजघ्नुरि॒दंवु॒स्त च्छु॒न्धामि ॥ १३ ॥ [२]

ऋष्यादि—(१) ॐ शुष्मा इन्द्रो वृणीतेत्यस्य ऋष्यादि पूर्व (१२ कं०) सुक्तम् । (१) ॐ प्रोक्षितास्थेत्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । दैवी बृहती छन्दः । आपो दे० । अपां प्रोक्षणे विनियोगः । (२) ॐ अग्नय इत्यस्य प्र० ऋ० । याजुषी बृह० । लिङ्गोक्ता दे० । हविःप्रोक्षणे विनियोगः(३)। ॐ अग्नीषोमाभ्यामित्यस्य प्र० ऋ० । याजुषीत्रिष्टुप्छं० । लि० दे० । हविःप्रोक्षणे विनि० । (४) ॐदैव्यायेत्यस्य प्र० ऋ० । याजुषी छं० । पात्रं दैवतम् । यज्ञपात्रप्रोक्षणे विनियोगः ॥

विधि—इस मंत्रभागसे पूर्ववत् जल ऊर्द्धसंचालन करने चाहियें । मंत्रार्थ—हे जलो ! (इन्द्रः) इन्द्र देवता (वृत्रतूर्ये) वृत्रासुरवधके निमित्त होनेमें (शुष्मा) तुमको (अवृणीत) सहायताके निमित्त स्वीकार करता हुआ

१ ॐ शुष्मा इन्द्रो वृणीतेत्यस्य ऋषिः पूर्व (१२) मंत्रोक्तः प्रजापतिः । निच्यृदनुष्टुप्छंदः । इन्द्रो देवता । अपामूर्द्धसंचालने विनियोगः । ऐसा पुस्तकांतरमें दीखताहै ।

(यूयम्) तुम भी वृत्रतूर्ये वृत्रवधके निमित्त उस (इन्द्रम्) इन्द्रदेवताको (अवृणीध्वम्) आत्मीयतामें स्वीकार करचुके हो [अर्थात् वृत्रके साथ जितने समयपर इन्द्रका संग्राम उपस्थित रहा उतने समयतक उसने तुमको आत्मीयतामें वरण कियाथा, तुमनेभी उससे आत्मीयता स्वीकार की थी; इससे अबभी उनकी आत्मीयताके अनुरोधसे हमको इस महत् अनुष्ठानमें साहसी करो]

विधि–(१) इस मंत्रसे जलप्रोक्षण करे [का० २ । ३ । ३६] **मं०**–हे जलदेवी ! तुमसे यज्ञके समस्त पदार्थ प्रोक्षित होते हैं, इस कारण प्रथम तुमको (प्रोक्षिताःस्थ) प्रोक्षणकियाजाता है; [कारण कि संस्कारहीन दूसरेका संस्कार नहीं करसक्ते] । **विधि**–(२) दूसरे मंत्रसे अग्निभाग हवि प्रोक्षण करै, [का० २ । ३ । ३७ ।] **विधि**–(३) तीसरे मंत्रसेभी देवताका नाम लेकर हवि प्रोक्षण करे [का०७२ । ३८] **मं०**–हे हवि ! (अग्नये) अग्निदेवताके (जुष्टम्) सेवनीय (त्वा) तुमको (प्रोक्षामि), प्रोक्षण करता हूं (२) । हे हवि ! (अग्नीषोमाभ्याम्): अग्निसोमनामक देवताके (जुष्टम्) सेवनीय (त्वा) तुमको (प्रोक्षामि) प्रोक्षण करता हूं (३) । **विधि**–(४) कृष्णाजिन उलूखलादिको प्रोक्षण करै [का० २ । ३ । ३९] **मं०**–हे ऊखल मूसल प्रभृति यज्ञपात्रो ! (दैव्याय) तुम्हारा यह देवतागणका (कर्मणे) कार्य उपस्थित हुआ है । इस कारण इस कर्मके निमित्त (शुन्धध्वम्) इस प्रोक्षितजलसे शुद्ध हो (देवयज्यायै) इस देवसम्बन्धी यज्ञक्रिया दर्शकर्मके निमित्त शुद्ध होजाओ, और (अशुद्धाः) नीचजाति बढ़ई आदिने (वः) तुम्हारा जो अंग (पराजघ्नुः) छेदन भेदन किया है उससे तुम अशुद्ध होगये हो इस कारण (तदिदम्) सो यह (वः) तुम्हारा अङ्ग (शुन्धामि) प्रोक्षणसे शुद्ध करता हूं ॥ १३ ॥

प्रमाण–"वृत्रतूर्य इति संग्रामनामसु पठितम्"–[निघं० २ । १७]

अभिप्राय–इस मंत्रका आशय यह है कि, देवरूप होकर देवताका यजन करे, स्वयं अशुद्ध किसीको शुद्ध नहीं कर सक्ता. इस कारण जलकाभी संस्कार करके पीछे यज्ञपात्रकी शुद्धि करे. अध्यात्म अर्थमेंभी परमात्मा से मन इन्द्रियोंके सुधार और पापनाशकी प्रार्थना है. इन्द्र और वृत्र, सूर्य और मेघका भी नाम है. यथा "वृत्र इति मेघनामसु पठितम्"–[निघं० १ । १०] परन्तु यहां जलशुद्धिमात्र प्रकरण है, इस कारण यह अर्थ नहीं किया जाता. शुद्धिमें नीचजातिका स्पर्श हुआ पदार्थभी प्रोक्षण करना लिखा है, फिर जो अस्पर्श जातिको वेदपाठादि और यज्ञकर्मका अधिकार कहते हैं, वे वेदविरुद्ध जानने चाहियें ॥ १३ ॥

कण्डिका १४-मन्त्र ४।

शर्मास्यवधूतꣳरक्षोवधूताऽअरातयोदित्यास्त्वगसिप्रतित्वादितिर्वेत्तु ॥ अद्रिरसिवानस्पत्योग्रावासिपृथुबुध्नःप्रतित्वादित्यास्त्वग्वेत्तु ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐशर्मेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः दैव्यनुष्टुप् छं० कृष्णाजिनं दैवतम् । कृष्णाजिनादाने विनियोगः । (२) ॐअवधूतमित्यस्य प्र०। आसुर्यनुष्टुप्छन्दः । रक्षो देवता । अरातिरक्षसामपहरणे विनियोगः । (३)ॐ अदित्या इत्यस्य प्रजा० । आसुर्यनुष्टु० । कृष्णाजिनं दैवतम् । कृष्णाजिनास्तरणे विनियोगः । (४) ॐ अद्रिरित्यस्य प्रजा० । याजुष्यनुष्टुप्० । उलूखलं दैवतम् ॥ उलूखलधारणे विनियोगः ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे कृष्णमृगचर्म हाथमें धारण करे [कात्या०२।४।१] मंत्रार्थ-हे कृष्णाजिन ! तुम इस उलूखलके धारण करनेको (शर्म) सुखरूप वा उपयुक्त (असि) हो. [कृष्णमृगचर्म यह मानुषी नाम है, शर्म यह देवताओंका नाम है] । विधि- (२) दूसरे मंत्रसे इस मृगचर्मको खोल कर झाड देना [का० २ । २ । २] मं०-(रक्षः) इस कृष्णाजिनमें तृण धूलि प्रभृति जो कुछ मलद्रव्य था और गुप्तरूपसे था वह (अवधूतम्) सब दूर हुआ (अरातयः) इस प्रकार इस यजमानके विद्वेषी शत्रुभी इससे (अवधूताः) पातित किये । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे मृगचर्म भूमिपर बिछावे [का० २ । ४ । ३]मं०-हे कृष्णाजिन ! तुम (अदित्याः) इस अखण्ड पृथ्वीदेवताके (त्वक्) त्वचारूप (असि) हो. इस कारण (अदितिः) भूमि (त्वाम्प्रति) तुमको ग्रहण करके 'यह मेरी त्वचा है' इस प्रकार (वेत्तु) जाने । विधि-(४) चौथे मंत्रसे पातित मृगचर्मके ऊपर उलूखल स्थापित करे [का० २ । ४ । ४ । ९] मं०-हे उलूखल ! तुम यद्यपि (वानस्पत्यः) काष्ठके निर्मित हुये हो; परन्तु इस प्रकारसे दृढ हो कि (अद्रिः) पाषाणतुल्य (असि) हो । (पृथुबुध्नः) तुम्हारा मूलदेश स्थूलरूप है. [इस कारण मूसलके आघातके समय स्थिरतासे स्थिति कर सकते हो] । हे उलूखल ! इस कारण तुम (ग्रावासि) दृढतामें पाषाणतुल्य हो; (अदित्यास्त्वक्) नीचे बिछीहुई कृष्णाजिनरूप जो पृथ्वीकी त्वचा है वह (त्वाम् प्रति वेत्तु) तुम्हें आत्मीयभावसे जाने, अर्थात् निजशक्तिसे चैतन्य करे ॥ १४ ॥

प्रमाणगाथा-पहले यज्ञ देवताओंसे रूठकर कृष्णमृगका रूप धारण कर चलने लगा; तब देवताओंने यह जानकर उसकी त्वचा ग्रहण की; इस कारण यज्ञके

अङ्ग पूर्ण करनेको मृगचर्म विछाते हैं "यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम"–[शतपथब्रा० १ । १ । ४ । १] "अदितिरिति पृथिवीनामसु पठितम्"–[निघं० १ । १]

अभिप्राय–इसमें दुष्टजन्तु राक्षसआदिका निवारण तथा यजमानके शत्रुनिवारणकी प्रार्थना करके यज्ञीय सामग्रीके दृढ होनेके निमित्त ईश्वरसे विनयकी है तथा मृगचर्मकी शुद्धिमें हेतुवाद दिखायाहै ॥ १४ ॥

कण्डिका १५–मन्त्र ४ ।

अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनं देववीतये त्वा गृह्णामि बृहद्ग्रावासि वानस्पत्यः सऽइदं देवेभ्यो हविः शमीष्व सुशमि शमीष्व ॥ हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि ॥ १५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अग्न इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आर्ष्युष्णिक्० । हविर्देवता । हविरावपने वि० । (२) ॐ बृहद्ग्रावेत्यस्य प्र० ऋ० । आसुरी जगती छं० । मुसलो देवता । मुसलादाने वि० । (३) ॐ सऽइदमित्यस्य प्र० ऋ० । याजुषं छं० । मुसलो देवता । मुसलधारणे वि० । (४) ॐ हविष्कृदित्यस्य प्र० ऋ० । याजुषीपंक्तिश्छन्दः । वाग्वा पत्नी देवते । हविष्कृदाह्वाने वि० ॥

विधि–(१) तण्डुलआदि करनेको लाये और रक्षित हुए धान्य ग्रहण कर प्रथम मंत्रसे उलूखलमें डाले [कात्या० २ । ४ । ६] मंत्रार्थ–हे हविरूप धान्य ! तुम अग्निमें जब प्रक्षेप किये जाते हो तब अग्निकी ज्वाला बढती है, इस कारणसे तुम (अग्नेः) अग्निके (तनूः) शरीररूप (असि) हो. कारण कि तुम्हारी हवि डालतेही अग्निरूप होजाती है, और यह हवि (वाचोविसर्जनम्) यजमानका मौनव्रत त्यागन करनेसे 'वाचोविसर्जन' नामवाली है. [छठी कण्डिकामें जलके प्रणयन समय जो वाणी नियमित हुईथी, हविदानके समय उसका विसर्जन होता है] इस कारण (देववीतये) अग्निआदि देवताओंकी तृप्तिके निमित्त (त्वा) तुमको (गृह्णामि) ग्रहण करता हू । विधि–(२) दूसरे मंत्रसे मूसल ग्रहण करे [का० २ । ४ । ११] मं०–हे मूसल ! तुम यद्यपि (वानस्पत्यः) काष्ठके बने हो, तथापि (ग्रावासि) दृढतामें पाषाणके तुल्य हो. और दीर्घतामें (बृहत्) महान् हो. देवकार्यसिद्धिके– निमित्त तुमको ग्रहण करताहूं । विधि–(३) तीसरे मंत्रसे मूसल उलूखलमें रक्षाको करे [का० २ । ४ । १२]

मं०—(सः) सो हे मुसल ! तुम (देवेभ्यः) अग्निआदि देवताओंके उपकारके निमित्त (इदम्) इस व्रीहिरूप हविको (शमीष्व) भूसी आदिसे मुक्त करो (सुशमि) भली प्रकारसे इस कार्यको (शमीष्व) शान्त करो. जिससे चावलोंमें भूसी न रहे और अधिक टूट न जाँय [शान्ति दो प्रकारकी होती है, बाह्य और आन्तरिक. बाह्य तुष दूर करनेसे एक और अन्तरमालिन्य दूर करनेसे दूसरी. सो दोनों प्रकारका संस्कार करै] विधि—(४) चौथे मंत्रसे यजमान वा उसकी पत्नी अथवा उसकी आज्ञासे और जो यह तुषनिर्मुक्ति कार्य करै उनका आह्वान तीनवार करै [का० २ । ४ । १३] हे (हविष्कृत्) हवि प्रस्तुत करनेवाले ! (एहि) यहां आओ । (हविष्कृदेहि) हे हविका संस्कार करनेवाले ! यहां आओ (हविष्कृदेहि) हे हविका संस्कार करनेवाले ! यहां आओ [तीन वार उच्चारण करनेसे देवता मानते हैं, इस कारण तीन वार उच्चारण किया] ॥ १५ ॥

प्रमाण—शमु उपशमे व्यत्ययेन शपो लुक् । "तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके" इति ईडागमः [पा० ७ । ३ । ९५]

अभिप्राय—ईश्वरकी आज्ञा है कि सम्पूर्ण कार्य शान्तिसे निरभिमान मंत्रद्वारा करने चाहिये ॥ १५ ॥

कण्डिका १६—मंत्र ७।

कुक्कुटोऽसि मधुजिह्वऽइषमूर्जमावद त्वया वयᳬ संघातᳬसंघातं जेष्म वर्षवृद्धमसि प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्तु परापूतᳬरक्षः परापूताऽअरातयोऽपहतᳬरक्षो वायुर्वो विविनक्तु देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना ॥ १६ ॥ [३]

ऋष्यादि—(१) ॐकुक्कुट इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आर्षीत्रिष्टुप् छन्दः । वाग्देवता । हविःकण्डने वि० । (२) ॐ वर्षवृद्धमित्यस्य प्र० । याजुषी गायत्रीछं० । शूर्पो देवता । शूर्पादाने वि० । (३) ॐ प्रतित्वेत्यस्य प्र० । याजुषीबृहती छंदः । हविर्देवता । हविरुद्वपने वि० । (४) ॐ परापूतमित्यस्य प्र० । आसुर्युष्णिक् छन्दः । रक्षो देवता । तुषाणामधःपातने वि० । (५) ॐ अपहतमित्यस्य प्र० । याजुषीगायत्री छं० । रक्षो दे० । कृष्णाजिनात्तुषनिरसने वि० । (६) ॐ वायुरित्यस्य प्र० । याजुष्युष्णिक् छन्दः । तण्डुलो देवता । स्थापितसतुषनिस्तुषयोः

पृथक्करणे वि० । (७) ॐ देव इत्यस्य प्र० । साम्नी त्रिष्टुप्छन्दः । तण्डुलो देवता । पात्रस्थितण्डुलाभिमन्त्रणे वि० ॥

विधि-(१) इसके उपरान्त एक ऋत्विक् प्रथममंत्र पाठ करके शम्याद्वारा शिलापर दोबार और ऊपरके छोटे पत्थर (लोढे) पर एक वार आघात करै [का० २ । ४ । १५] मंत्रार्थ-(१) हे शम्यारूप यज्ञायुधविशेष ! तुम (कुक्कटः) असुरोंके निमित्त कठोर शब्द करनेवाले (असि) हो, [अथवा असुर कहां हैं ? इस प्रकार जो उन्हें मारनेके निमित्त सर्वत्र संचरण करै वह कुकुट अथवा कुत्सित शब्द करनेसे कुकुट अथवा कुकुट पक्षीके समान असुरोंके भय देनेवाली ध्वनि करनेसे कुकुट कहा है] ऐसे होकरभी तुम देवताओंको (मधुजिह्वः) मधुरभाषी हो [मधुजिह्वनाम देवताओंका कोई भृत्यभी है] हे आयुध ! अपने शब्दसे हमारे अराति और असुरोंका हृदय विदीर्ण करते यजमानके निमित्त (इषम्, ऊर्ज्जम्, आवद) अन्नरस जिसप्रकार प्राप्त हो वैसा शब्द करो. वा यज्ञके फलसे देशमें अन्न और जल अधिक हो यही प्रार्थना है, वा तुम्हारे शब्दसे असुरोंके पराभव होनेसे उनका अन्नरस यजमानको प्राप्त हों. (त्वया) तुम्हारी सहायतासे (वयम्) हम (सङ्घातं-सङ्घातं) असुरोंके साथ किये हुए संग्रामसमूहोंको (जेष्म) जीतैं । विधि-(२) दूसरे मन्त्रसे शूर्प ग्रहण करै [का० २।४।१६] मं०-हे शूर्प ! तुम (वर्षवृद्धम्) वृष्टिके जलसे बढनेवाली बाँस-की शलाकाओंसे निर्मित हुए (असि) हो । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे उलूखलमें रक्खे हुए तुषहीन चावल इस छाजमें ग्रहण करै [का० २ । ४ । १७] हे हवि तण्डुल ! (वर्षवृद्धम्) तुम वृष्टिजलसे वृद्धिको प्राप्त हुए हो, और इसी प्रकारसे यह शूर्पभी वृद्धिको प्राप्त हुआ है, इस कारण (त्वा) तुमको (प्रतिवेत्तु) आत्मीय जानै. इसके साथ स्थित हो । विधि-(४) चौथे मन्त्रसे फटक कर यह भूसी चावलोंसे पृथक् करदे उडादे [का०२।४।१८] मं०-(रक्षः) भूसीआदि विरोधी द्रव्य और असुर (परापूतम्) दूर हुए अर्थात् जैसे भूसी पृथ्वीमें पटकी इसी प्रकार राक्षस पृथ्वीमें पातित किया. (अरातयः) हविके प्रतिकूल आलस्यादि और शत्रु (परापूताः) दूर हुए । विधि-(५) पांचवें मन्त्रसे हविमेंसे भूसी कंक-रादि दूर करे [का०२। ४। १९] (रक्षः) हविसम्बन्धी समस्त बाधा (अपहतम्) दूर लेजाकर नष्ट की, अर्थात् भूसी आदि दूर फेंक दो । विधि-(६) छठे मन्त्रसे सूक्ष्म कण धूलि आदि उडादे [का० २।४।२०] मं०-हे तण्डुलो ! शूर्प चालनसे उठी हुई (वायुः) पवन (वः) तुमको (विविनक्तु) सूक्ष्मकणोंसे पृथक् करै । विधि-(७) सातवें मन्त्रसे भूसी आदि विहीन सम्यक् संस्कार किये चावलोंको अच्छिद्र अञ्जलिद्वारा शूर्पमेंसे दूसरे पात्रमें धरै [का० २ । ४ । २१]

मं०—हे चावलों ! (सवितादेवः) सब जगत्के प्रेरणा करनेवाले सविता देवता जो कि (हिरण्यपाणिः) सुवर्णके अलङ्कार धारण किये हैं वा सुवर्णमय हाथवाले हैं वे (अच्छिद्रेण पाणिना) अंगुली मिलेहुए छिद्ररहित अपने हाथोंसे (वः) तुमको (प्रतिगृभ्णातु) पात्रान्तरमें ग्रहण करें ।

प्रमाण—"इषमित्यन्ननामसु पठितम्"—[निघं० २ । ७ ।] "संवात इति संग्रामनामसु पठितम्"—[निघं० २ । १७ ।] "ज्योतिर्वै हिरण्यम्" [शत०६।७।१।२।]

अभिप्राय—परमेश्वरकी आज्ञा है कि यज्ञसे अच्छी वृष्टि, आलस्यादिका नाश, यजमानके वलकी वृद्धि, संग्राममें जय और दुष्ट पदार्थोंका त्याग होता है; इस कारण यज्ञके योग्य प्राणियोंको अभिमानरहित होकर परमात्मामें स्थित सव पदार्थोंको देवरूप चिन्तन करना चाहिये ॥ १६ ॥

गाथा—इस कण्डिकाके पहले और सातवें मंत्रमें गाथाभी मिश्रित है. राजा मनुके यहां एक वृषभ था उसमें असुरघ्नी वाणी प्रविष्ट थी. जिस समय वह शब्द करता उसके सुनतेही असुर मरजाते थे, तव किलाताकुली नामक दो असुरऋत्विक् इस भयके दूर करनेके निमित्त छद्मवेश धारण कर मनुके पास जाकर उनसे आत्मीयता करके वञ्चित कर उस वृषभका यज्ञ करानेको कहा. तव देवताओंकी चातुरीसे वह वाणी उसमेंसे निकलकर मनुकी स्त्रीके मुखमें प्रविष्ट हुई तव फिर असुरोंको वडी चिन्ता हुई फिर कौशल कर उस पत्नीको यजन करानेको कहा. तव वह वाणी उससे निकल कर यज्ञके पात्रोंमें प्रविष्ट हुई. और वह मन्त्र नष्ट न हुआ. तवसे ऋत्विकगण असुरोंके किये उपद्रव शान्त करनेके निमित्त इस शम्यासे पत्थर शिलापर दृढ आघात करते हैं, इसके शब्दसे वह असुरनाशक मंत्रका शब्द प्रगट होता है, जिससे कि असुर और उनका उपद्रव सव नाश होता है. इस कारण शम्याआदि यज्ञका आयुध कहीजाती है [श० १ । १ । ४ । १४] बह्वृचब्राह्मणमें लिखा है कि एक समय दैत्योंके प्राशित्र शस्त्रप्रहारसे सविता देवताके हस्त छिन्न हुए तव देवताओंने उनके सुवर्णके हस्त सम्पादन किये इस कारण हिरण्यपाणि कहा है ।

कण्डिका १७—मंत्र ४ ।

धृष्टिरस्यपाग्नेऽअग्निमामादञ्जहि निष्क्रव्यादᳪ सेधादेवयजंवह ॥ ध्रुवमसि पृथिवीन्दृᳪह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय ॥ १७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ धृष्टिरित्यस्य प्र०ऋ०। दैवीबृहती छन्दः। उपवेषो देवता उपवेषादाने वि०। (२) ॐ अपाग्ने इत्यस्य प्र०। प्राजापत्यानुष्टुप्०। उपवेषो दे०। अङ्गारापोहने वि०। (३) ॐ आदेवयजनमित्यस्य प्र०। दैवीजगती छं०। उपवेषो दे०। अङ्गाराहरणे वि०। (४) ॐ ध्रुवमित्यस्य प्र०। याजुषं०। कपालो देवता। अङ्गाराच्छादने वि०॥

विधि–(१) प्रथम मन्त्रसे उपवेष ग्रहण करै [का० २। ४। २६] (ढाककी शाखाके मूलदेशसे छिन्न किया स्थूलांश काष्ठ उपवेष कहाताहै) मन्त्रार्थ–हे उपवेष! तुम तीव्र अङ्गारोंको इधर:उधर चलानेमें समर्थ हो इस कारण (धृष्टिः) प्रगल्भ (असि) हो। विधि–(२) तीन अग्नि होतीहैं (आमात्) कच्चे पदार्थको खानेवाली लौकिकअग्निः (क्रव्यात्) शवदाहमें मांसभक्षण करनेवाली चिताग्नि, और तीसरी (यागयोग्य) यजनकरने योग्य. इसमें देवताओंके उद्देश्यसे पक्कपुरोडाशादि हवि दीजाती है. सो तीन अंगारोंको गार्हपत्य अग्निसे प्राग्भागमें पृथक् करके यज्ञकी योग्यतासे हीन आमात् और क्रव्यात् अग्निके निवारणकरनेको गार्हपत्यअग्निके प्रति कहते हैं [का० २। ४। २६] मं०–(अग्ने) हे आहवनीय अग्ने! (आमादमग्निम्) आमाद्अग्निको (अपजहि) त्यागन कर। तथा (क्रव्यादम्) क्रव्याद् अग्निको (निःषेध) विशेष करके दूर निवारण कर। विधि–(३) तीसरे मन्त्रसे तीसरी अग्निके आविर्भावकी प्रार्थना कर अंगार लावे [का० २। ४। २७] मं०–हे गार्हपत्य अग्नि! (देवयजम्) देवताओंके यजनयोग्य तीसरे अंगारेको (आ वह) समीप लाओ. आविर्भूत कर। विधि–(४) फिर कितने एक अंगारोंको स्थापन कर चौथे मंत्रसे देवयजन अंगारेको कपाल (सिकोरे) से ढक कर रक्षा करै [का० ४। २। २७] मं०–हे कपाल! (त्वम्) तुम (ध्रुवमसि) स्थिर हो, इस स्थानमें दृढतासे स्थित रहो (पृथिवीम्) इस स्थानकी भूमिको (दृंह) दृढ करो. अर्थात् पुरोडाश पाक करते समय तुम्हारे किये व्यवधानसे पृथिवीकी दाहद्वारा शिथिलता न हो। किञ्च (ब्रह्मवनि) हविसिद्धिके निमित्त ब्राह्मणसे स्वीकारयोग्य (क्षत्रवनि) क्षत्रियोंसे स्वीकारयोग्य (सजातवनि) समानकुलमें उत्पन्न यजमानके ज्ञातिजनोंके पुरोडाश हवि प्रस्तुत करनेके योग्य (त्वा) तुमको (भ्रातृव्यस्य) शत्रु, असुर, वा पापके (वधाय) नाश करनेके निमित्त (उपदधामि) अंगारेपर स्थापन करता हूं, अर्थात् निर्विघ्न पुरोडाशके कार्य्यमें नियुक्त करता हूं॥ १७॥

प्रमाण–अपजहि "व्यवहिताश्च" इति [पा० १। ४। ८२] क्रियापदोपसर्गयोर्व्यवधानम्।

अभिप्राय-इस मंत्रसे यह लिखाया है कि जो कार्य्य जिस योग्य है उसको उसी प्रकारसे करना. जैसे तीन अग्नि अपने २ कार्य्यमें पृथक् वरण की गई हैं, तथा ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तीनवर्ण विशेष कर यज्ञ को सम्पादन करें गार्हपत्य अग्नि हमारे यहां रहै ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मन्त्र ६।

अग्ने॒ ब्रह्म॑ गृभ्णीष्व ध॒रुण॑मस्य॒न्तरि॑क्षन्दृꣳह ब्रह्म॒वनि॑न्त्वा क्षत्र॒वनि॑ सजात॒वन्युप॑दधामि॒ भ्रातृ॑व्यस्य व॒धाय॑ ॥ ध॒र्त्रम॑सि॒ दिव॑न्दृꣳह ब्रह्म॒वनि॑न्त्वा क्षत्र॒वनि॑ सजात॒वन्युप॑दधामि॒ भ्रातृ॑व्यस्य व॒धाय॑ ॥ विश्वा॑भ्यस्त्वा॒शाभ्य॒ऽउप॑दधामि॒ चित॑स्थोर्ध्व॒चितो॒ भृगू॑णा॒मङ्गि॑रसा॒न्तप॑सा तप्यध्वम् ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ अग्न इत्यस्य प्र० ऋ० ।याजुषीउष्णिक्० । अग्निर्देवता । सव्याङ्गुल्या शून्येऽङ्गारोपनिधाने विनियोगः । (२) ॐ धरुणमित्यस्य प्र० । याजु० । कपालो देवता । मध्यमकपालस्य पश्चाद्द्वितीयकपालोपधाने विनियोगः । (३) ॐ धर्त्रमित्यस्य प्र० । आर्षी त्रिष्टुप्० । कपा० दे० । प्रथमस्य पूर्वभागे तृतीयकपालोपधाने विनियोगः । (४) ॐ विश्वाभ्य इत्यस्य प्र० । याजुषीत्रिष्टुप्० । कपा० दे० । प्रथमकपालस्य दक्षिणे चतुर्थकपालोपधाने विनियोगः ।(५) ॐ चित इत्यस्य प्र० । याजुषी गायत्री छं० । कपालो दे० । पुरोडाशकपालोपधाने विनियोगः । (६) ॐ भृगूणामित्यस्य प्र० । आसुर्य्यनुष्टुप्० । कपालो देवता । अङ्गारैः कपालाच्छादने विनियोगः ॥

विधिः-(१) प्रथम मंत्रको पढ़ कर वाम हाथकी अंगुलीसे एक अंगार शून्यमें स्थापित करे [का० २ । ४ । ३०] मंत्रार्थ-(अग्ने) हे शून्यस्थानमें क्षिप्त अग्नि ! (ब्रह्म) हमारे द्वारा संपादन किये बृहत् यज्ञानुष्ठानको (गृभ्णीष्व) ग्रहण कर बाधा शून्य करो. [विघ्नकारी राक्षसवधद्वारा अनुग्रह करो. अथवा 'ब्रह्म' मुझ ब्राह्मणपर अनुग्रह करो] विधि-(२) दूसरे मन्त्रसे पूर्वमें स्थापित कपालके पीछे एक और कपाल स्थापन करै [का० २ । ४ । ३१] मं०-हे द्वितीय कपाल ! तुम (धरुणम्) पुरोडाशके धारण

करनेवाले (असि) हो. इस कारण (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (दृंह) दृढ करो. अर्थात् पुरोडाशके पकानेसे उत्पन्न हुई अग्निसे अन्तरिक्षमें कोई उपद्रव उपस्थित न हो. [यद्यपि यह कपाल ज्वाला और अन्तरिक्षके मध्यमें व्यवधायक नहीं है, तथापि अन्तरिक्षदृढताके निमित्त कपालदेवतासे प्रार्थना है] (ब्रह्मवनि) ब्राह्मण (क्षत्रवनि) क्षत्रिय (सजातवनि) समानजातीय वैश्यसे स्वीकारयोग्य पुरोडाश हविके सम्पादन करने और (भ्रातृव्यस्य) शत्रु, असुर, पाप, वा बाधाके (वधाय) नाश करनेके निमित्त (त्वा) तुमको (उपदधामि) नियुक्त करता हूं। **विधि**–(३) तीसरे मंत्रसे पूर्वस्थापित कपालके पूर्वभागमें तीसरे सिकोरेको स्थापित करै [का० २ । ४ । ३२] **मं०**–हे तृतीय कपाल ! तुम (धर्त्रम्) पुरोडाशके धारण करनेवाले (असि) हो. (दिवम्) द्युलोकको (दृंह) दृढ करो. अर्थात् ज्वालासे द्युलोकमें कोई उपद्रव न हो (ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि त्वा भ्रातृव्यस्य वधाय उपदधामि) ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीन वर्णोंसे सम्पादित पुरोडाश हवि प्रस्तुत करने और वाधा दूर करनेके कार्यमें तुमको नियुक्त करता हूं। **विधि**–(४) चौथे मंत्रसे पूर्व स्थापित कपालके दक्षिणभागमें चौथा कपाल स्थापित करै [का० २ । ४ । ३३] **मं०**–हे चतुर्थ कपाल ! (विश्वाभ्यः) सम्पूर्ण (आशाभ्यः) दिशाओंके दृढ करनेके निमित्त (त्वा) तुमको (उपदधामि) स्थापन करता हूं। **विधि**–(५) पंचम मंत्रसे इन चारों कपालोंके उत्तरमें दो कपाल और दक्षिणमें दो कपाल ऐसे चार कपाल स्थापन करै [का० । २ । ४ । ३४] **मं०**–हे चारों कपालो ! तुम (चितःस्थ) पृथक् कपालके वृद्धिकारक अर्थात् सहायक हो. तथा ऊर्ध्वस्थित दूसरे कपालोंके उपकारी हो। **विधि**–(६) छठे मंत्रसे आठों कपालोंके नीचे चारों ओर अच्छी प्रकारसे अंगारे स्थापन करै [कात्या० २ । ४ । ३८] **मं०**–हे सम्पूर्ण कपालो ! तुम (भृगूणामङ्गिरसाम्) भृगु और अंगिरस वंशवाले देवर्षियोंके (तपसा) तपरूप अग्निसे (तप्यध्वम्) तप्त हो (इस अग्निका वही रूप ध्यान करै) ॥ १८ ॥

प्रमाण–"अन्तरिक्षं कस्मादन्तरा क्षान्तं भवत्यन्तरेमे इति वा शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा" [निरु २ । १०]

अभिप्रायादि–इस मंत्रमें पुरोडाशके निमित्त कपाल स्थापन है. पहले चारोंमें तीन कपालके स्थापनसे यजमान तीन लोकका जय करता है चौथेसे सब दिशाओंको जय करताहै. आशय यह है कि, यह पुरोडाश लोकत्रयरूप होकर देवताओंको तृप्त करता है. तथा अग्निदेवताके निमित्त जो पुरोडाश किया जाताहै वह आठ कपालोंमें किया जाता है, इसी कारण अग्निको अष्टाकपाल कहते हैं.

(६) हे मंत्रका विशेप पहले अग्निका व्यवहार विशेषरूपसे नहीं जाना गयाथा; भृगुने प्रथम इसका व्यवहार प्रकाश किया है. इस कारण उनके तपसे तपना कहा. सामवेद छन्दआर्चिक प्रथम प्रपाठकका नवम और अठारहवां मंत्र देखो, और "प्राणो वा अंगिराः"–[श०] मे प्राणभी कोई ग्रहण करते हैं. परमात्माकी आज्ञा है कि जब यज्ञसे श्रेष्ठकर्ममें त्रिलोक दिशा अन्तरिक्षादिकी शान्ति चिन्तन की जाती है. इसी प्रकार सब प्राणीमात्रका हित विचार करना चाहिये ॥ १८ ॥

कण्डिका १९–मन्त्र ६ ।

शर्म्मास्यवधूतꣳरक्षोऽवधूताऽअरातयोऽदित्या
स्त्वगसिप्रतित्वाऽदितिर्वेत्तु॥धिषणासिपर्वतीप्र
तित्वाऽदित्यास्त्वग्वेत्तुदिवस्कम्भनीरसिधिष
णासिपार्वतेयीप्रतित्वापर्वतीवेत्तुधान्यमसि॥ १९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐशर्मेत्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । दैव्यनुष्टुप् छन्दः । कृष्णाजिनं दैवतम् । कृष्णाजिनदाने विनियोगः । (२) ॐ अवधूतमित्यस्य प्र० । आसुर्यनुष्टुप् छन्दः । [illegible] देवता । अरातिरक्षसामपहरणे विनियोगः । (३) ॐ अदि[illegible] त्यस्य प्र० । आसुर्यनु० । कृष्णाजिनं दैवतम् । कृष्णाजिनास्त[illegible] विनियोगः । (४) ॐ धिषणेत्यस्य प्र० । आसुरीगायत्री छन्दः । [illegible] देवता । कृष्णाजिने शिलास्थापने विनियोगः । (५) ॐ [illegible] प्र० । याजुष्युष्णिक् छं० । शम्या देवता । दृषदः पश्चाद्भा[illegible]स्थापने विनियोगः । (६) ॐ धिषणेत्यस्य प्र० । प्राजापत्या [illegible] । उपला दे० । उपलाग्रहणे विनियोगः ॥

विधि–प्रथम मन्त्रसे तीसरे मंत्रतककी व्याख्या और कार्य चौदहवीं कण्डिकामें लिख चुके हैं. मृग[illegible] [illegible]दूरीकरण. और मृगचर्मका बिछाना, ये तीन कार्य तीनों मंत्रों [illegible] का० २ । ५ । २] मन्त्रार्थ–(१) हे कृष्णाजिन ! तुम शिला[illegible] (शर्म) सुखरूप वा उपयुक्त (असि) हो. सं०–(२)–(रक्षः) इस कृष्णाजिनमें तृण धूलिप्रभृति जो कुछ मलद्रव्य था और गुप्तरूपमें था वह (अवधूतम्) सब दूरहुआ (अरातयः) इसप्रकार इस यजमानके विद्वेषी शत्रुभी इससे (अवधूताः) पातित किये । सं०–(३) हे कृष्णाजिन ! तुम (अदित्याः) इस अखंड पृथ्वी देवताके (त्वक्)

त्वचारूप (असि) हो. इसकारण (अदितिः) भूमी (त्वां प्रति) तुमको ग्रहण करके 'यह मेरी त्वचा है' इसप्रकार (वेत्तु) जाने । विधि–(४) चौथे मंत्रसे बिछाये हुए कृष्णाजिनके ऊपर शिला स्थापन करै [का० २ । ५ । ३] **मंत्रार्थ**–(४) हे पीसनेकी आधारभूत शिल ! (पर्वती) पर्वतके खण्डसे उत्पन्न हुई तुम (धिषणासि) बुद्धिकर्मको व्याप्त वा धारण करनेवाली हो [पर्वत जिस प्रकार स्थिरभावसे वृक्ष गुल्मादिको धारण करते हैं, इसी प्रकार तुम तण्डुलोंको धारण करो] (अदित्याः) पृथ्वीकी (त्वक्) त्वचा यह मृगचर्म है. और तुम पृथ्वीके अस्थिरूप हो सो इसप्रकार परस्पर (त्वा) तुम्हारा परमभाव (प्रतिवेत्तु) दृढतासे जानकर आलिंगन करै । **विधि**–(५) पंचम मंत्रसे इस शिलाखण्डके पश्चाद्भागमें शम्या स्थापन करै [का० २ । ५ । ४ । मं०–हे शम्या ! तुम (दिवः) द्युलोककी (स्कम्भनीः) स्तम्भन करनेवाली (असि) हो [इस कारण इस शिलाको स्तम्भन करनेमें] अवश्य समर्थ हो [गिरनेसे रक्षा करै. इस कारण अन्तरिक्षरूपसे कहा] **विधि**–(६) छठे मंत्रसे शिलापर उपल ग्रहण करै [का०२।५।५] **मं०**–हे शिलवट्टे ! तुम (धिषणासि) पीसनेके व्यापार धारण करनेवाली हो । एवं (पार्वतेयी) पर्वतसे उत्पन्न हुई नीचेकी शिलाकी पुत्रीरूप हो. इस कारणसे (पर्वती) यह पर्वतकी शिला माताके समान (त्वा) तुमको (प्रतिवेत्तु) पुत्रीभावसे जानकर वक्षःस्थलमें धारण करै ॥ १९ ॥

प्रमाण–"अन्तरिक्षेण हीमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे"–[श० १ । २ । १ । १६] "कनीयसी ह्येषा दुहितेव भवतीति"–[श० १ । २ । १ । १७]

अभिप्राय यज्ञके पदार्थोंको अपने विज्ञानसे एकत्र करके यज्ञका अनुष्ठान करना चाहिये. इससे विद्या, बल और बुद्धिकी वृद्धि होती है ॥ १९ ॥

कण्डिका २०–मन्त्र ७ ।

धान्यमसि धिनुहिदेवान्प्राणायत्त्वोदानायत्त्वा व्यानायत्त्वा ॥ दीर्घामनुप्प्रसितिमायुषेधान्देवो वः सविताहिरण्यपाणिः प्रतिगृब्भ्णात्वच्छिद्रेण पाणिनाचक्षुषेत्त्वामहीनाम्पयोसि ॥ २० ॥ [३]

ऋष्यादि–(१) ॐधान्यमित्यस्य प्र० ऋ० । याजुषी बृहती छं०।हविर्देवता । शिलोपरि तण्डुलावपने वि० । (२) ॐ प्राणायेत्यस्य प्र० । दैवी

पंक्तिश्छन्दः । हविर्दे० । पेषणे वि० । (३) ॐ उदानायेत्यस्य प्र० । दैवीपंक्तिश्छंद । हविर्दे० । पेषणे वि० । (४) ॐ व्यानायेत्यस्य प्र० । दैवी बृहती० । हविर्दे० । पेषणे वि० । (५) ॐ दीर्घामित्यस्य प्र० । आर्षी त्रिष्टुप्० । हविर्दे० । कृष्णाजिने पिष्टपातने वि० । (६) ॐ चक्षुष इत्यस्य प्र० । दैवी बृहती० । हविर्दे० । पिष्टेक्षणे वि० । (७) ॐ महीनामित्यस्य प्र० । दैवीत्रिष्टुप्० । आज्यं दैवतम् । पिष्यमाणेष्वाज्यनिर्वपण वि० ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे शिलाके ऊपर चावलोंको ग्रहण करै [का०२।५।६] **मंत्रार्थ**-हे हवि ! तुम (धान्यमसि) धान्यसम्भूत तृप्ति करनेवाली हो. इस कारणसे (देवान्)अग्निआदि देवताओंको(धिनुहि)प्रसन्न प्रीतिमान् करो ।विधि-(२-३-४) दूसरे तीसरे व चौथे मंत्रसे चावलोंको पीसैं [का० २ । ५ । ६] मं०-(प्राणाय) हे हवि ! जो प्रकृष्टतासे सदा मुखमें चेष्टा करता है उसप्राणके वृद्धिके निमित्त मैं यजमान (त्वा) तुमको पीसता हूं (२). (उदानाय) ऊर्ध्वमें चेष्टा करनेवाले उदानकी वृद्धिके निमित्त (त्वा) तुमको पीसताहूं (३). (व्यानाय) सब शरीरमें व्याप्त होकर चेष्टा करनेवाले व्यानकी वृद्धिके निमित्त मैं यजमान (त्वा) तुमको पीसताहूं [देवताओंकी सजीव हवि होती है, इस कारण इन मंत्रोंसे सजीव की- जाती है] (४) । **विधि**-(५)पांचवें मंत्रसे ये चावल अच्छिद्र अंगुलीसे कृष्णाजिनपर गिरावै [का० २ । ५ । ७] मं०-हे हवि ! (दीर्घाम्) अविच्छिन्न (प्रसितमनु) कर्मसन्ततिको विचार कर (आयुषे) यजमानकी आयुवृद्धिके निमित्त तुमको (धाम्) कृष्णाजिनपर धारण करता हूं । [यजमानकी आयु बढैगी तो कर्मका विस्तार होगा. वा हविके निमित्त कहते हैं कि हे हवि ! दीर्घ कृष्णाजिनपर दीर्घायुके निमित्त तुमको धारण करताहूं. पूर्व मंत्रसे प्राणदान कीहुई हविको अब दीर्घायुयुक्त किया] (हिरण्यपाणिः) सुवर्ण वा ज्योतिरूप वा मोक्षरूप हाथवाले (सविता देवता) सबके प्रेरक सविता देवता (अच्छिद्रेण) छिद्ररहित (पाणिना) हाथसे (प्रतिगृभ्णातु) तुमको ग्रहण करैं। **विधि**-(६) छठे मंत्रसे हविको निरीक्षण करै [का० २ । ५ । ८] मं०-हे हवि! (चक्षुषे) यजमानकी चक्षुरिन्द्रियकी उत्कर्षता साधनके निमित्त (त्वा) तुमको देखताहूं । अथवा हे हवि ! तुमको चक्षुरिन्द्रिय देनेके निमित्त देखताहूं[सजीव हवि कर अब उसको नेत्रयुक्त किया] । **विधि**-(७) सातवें मंत्रसे इसमें गौका घी मिलावै [का० २ । ५ । ९] मं०-हे घृत ! तुम (महीनाम्) गौओंके (पयोसि) दूध हो [दूधसे उत्पन्न होनेसे घीको पय कहा है] ॥ २० ॥

प्रमाण—"महीति गोनाम"—[निघं०२ । ११] "अमृतं हिरण्यम"—[श० ६ । ७ । १ । २]

अभिप्राय—यज्ञसे शुद्ध हुए पदार्थ वृद्धि, पराक्रम और दीर्घायु बढ़ानेके लिये समर्थ होते हैं. इस कारण यज्ञका अनुष्ठान निरन्तर परमेश्वरकी प्रार्थनापूर्वक करना चाहिये. यज्ञके पदार्थोंके सम्बोधनसे उनमें स्थित परमात्माकाही सम्बोधन जानना ॥ २० ॥

कण्डिका २१—मन्त्र ३ ।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ॥ संवपामि समापऽओषधीभिः समोषधयो रसेन ॥ सꣳरेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्ताꣳ सम्मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम् ॥ २१ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐदेवस्येत्यस्य प्र० । प्राजापत्याबृहती छं० । सविता देवता । सपवित्रपात्र्यां पिष्टावपने विनियोगः । (२) ॐ संवपामीत्यस्य प्र० । दैवीबृहती छं० । हविर्देवता । पिष्टावपने विनियोगः । (३) ॐसमाप इत्यस्य प्र० ऋ० । याजुषं छं० । आपो देवता । उपसर्जन्यानयने, पवित्राभ्यामुपसर्जनीग्रहणे च विनियोगः ॥

विधि—(१—२) प्रथम और द्वितीय मंत्र पढकर पवित्रसंयुक्त पात्री (स्रुवाजुहूआदि) से यह पिसे चावल ग्रहण करै [का० २ । ५ । १०] मंत्रार्थ—हे पिष्ट ! (सवितुः) सबकी प्रेरणा करनेवाले परमात्मा (देवस्य) देवताकी (प्रसवे) प्रेरणासे (अश्विनोः) अश्विनीकुमारकी (बाहुभ्याम्) दोनों भुजाओंद्वारा (पूष्णः) पूषा देवताके (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथोंकी सहायतासे तुमको (संवपामि) पात्रीके मध्यमें डालता हूं । विधि—(३) अगले मंत्रसे इस पिष्टसमुदायमें उपसर्जनी शिल धोया हुआ जल मिलावै [का० २ । ५ । १२ । १३] इस जलको अध्वर्यु पवित्रीद्वारा ग्रहण करै । मंत्रार्थ—(आपः) हे उपसर्जनीभूत जल ! (औषधीभिः) पिष्टरूप धान्यऔषधियोंसे (सम्पृच्यन्ताम्) सम्यक् प्रकारसे मिलो. तथा (ओषधयः) ये पिसे हुए चावल (रसेन) उपसर्जनीभूत जलसे (सम्पृच्यन्ताम्) अच्छीप्रकार मिलो; क्यों कि जल औषधियोंका रस है तथा (रेवतीः) इस उपसर्जनमें जो रेवतीनाम जलभाग है वह (जगतीभिः) इस पिष्टसमुदायमें जगतीनामके सहित (सम्पृच्यन्ताम्) अच्छी

प्रकार मिश्रित हो । (मधुमतीः) इस उपसर्जनमें जो मधुमती नाम जलका भाग है सो वह (मधुमतीभिः) इस पिष्टसमुदायके माधुर्य्यके सहित (सम्पृच्यन्ताम्) मिश्रित हो ॥ २१ ॥

प्रमाण–"रेवत्य आपो जगत्य ओषधय इति"–[श० १ । २ । २ । २ ।] "ओषधय ओषध्यन्तीति वौषत्येनाधयन्तीति वा दोषं धयन्तीति वा"–[निरु०९। २७] फलपाक होनेपर जिस सम्पूर्ण वृक्षका नाश होजाय उसे औषधी कहते हैं इस कारण धान्य गोधूम औषधी कहाते हैं ॥ २१ ॥

अभिप्राय–परमात्माकी आज्ञा है कि सब कार्यमें परमात्माकी सहायता मानकर उसको करना चाहिये और पदार्थोंके सम्मेलन व्यवहारकोभी भलीप्रकार जानना चाहिये ॥ २१ ॥

कण्डिका २२–मन्त्र ८ ।

जन॑यत्यै त्वा॒ संय्यौ॑मी॒दम॒ग्नेरि॒दम॒ग्नीषोम॑योरि॒षे त्वा॑ घ॒र्म्मो॑सि वि॒श्वायु॑रु॒रुप्र॑था॒ऽउ॒रु प्र॑थस्वो॒रु ते॑ य॒ज्ञप॑ति॑ः प्रथताम॒ग्निष्टे॒ त्वचं॒ मा हि॑ꣳसीद्दे॒वस्त्वा॑ सवि॒ता श्र॑पयतु॒ वर्षि॑ष्ठे॒ऽधि॒ नाके॑ ॥ २२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐजनयत्यै त्वेत्यस्य प्र० ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छं० । हविर्देवता । अप्पिष्टमिश्रीकरणे विनियोगः । (२–३) ॐ इद-मित्यस्य प्र० । दैवीबृहती० । हवि० । ॐ इदमित्यस्य प्र० । दैवी जगती० । हविर्दे० । पिण्डद्वयस्यालंभने विनियोगः । (४) ॐ इषे त्वेत्यस्य प्र० । दैव्यनुष्टप्छं० । आज्यं दैवतम् । आज्याधिश्रयणे विनियोगः । (५) ॐ घर्म्म इत्यस्य प्र० । याजुषीगायत्री० । पुरोडाशो देवता । पुरोडाशा-धिश्रयणे विनियोगः । (६) ॐ उरुप्रथा इत्यस्य प्र० । आर्षीगायत्री० । पुरोडा० दे० । पुरोडाशस्य पृथक्करणे विनियोगः । (७) ॐ अग्न इत्यस्य प्र० । प्राजापत्या गायत्री० । पुरोडाशो दे० । अद्भिरभिमर्शने विनि-योगः (८) ॐ देवइत्यस्य प्र० । प्राजापत्यानुष्टुप्० । पुरोडाशो देवता । पुरोडाशश्रपणे वि० ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे उपसर्जनी जलको पिष्टसमुदायमें भली प्रकार मिलावे [का० २ । ५ । १४] मंत्रार्थ–हे उपसर्जनी और पिष्टसमुदाय !

(जनयत्यै) पुरोडाश प्रस्तुत करनेके निमित्त (त्वा) तुमको (संयौमि) भले प्रकारसे मिश्रित करता हूं. अथवा (जनयत्यै) यजमानके सन्तानउत्पत्तिके निमित्त तुमको मिलाता हू. [जैसे जल पिष्ट मिलते हैं; इस प्रकार शुक्रशोणित मिलनेसे प्रजा उत्पन्न होती है] **विधि**–(२) दूसरे मन्त्रसे दो पिण्ड करके एक पिण्ड अग्निके भागके निमित्त रक्खे [का० २ । ५ । १५] **मन्त्रार्थ**–(इदम्) यह भाग (अग्नेः) अग्निसम्बन्धि हो, [ऐसा कह प्रथम पिण्ड स्पर्श करै] **विधि**–(३) तीसरे मन्त्रसे अग्नीषोम नामक दोनों देवताओंको भाग निरूपण करै [कात्या०५।५।१७] **मन्त्रार्थ**–(इदम्) यह भाग (अग्नीषोमयोः) अग्नि सोम नामक दो देवताओंका है [ऐसा कह दूसरे पिण्डको स्पर्श करै] **विधि**–(४) चौथे मंत्रसे पूर्वस्थापित अष्टकपालमें पुरोडाशपाकके उपयुक्त गौका घी मिलावै [का० २ । ५ । १७] **मन्त्रार्थ**–हे आज्य ! (इषे) देवगणके अन्न प्रस्तुत करनेके निमित्त तथा वर्षाके निमित्त (त्वा) तुमको इस तप्त आठ कपालोंमें डालताहूं । **विधि**–(५) पांचवें मंत्रसे तापे हुए घीमें पुरोडाश डालै [का० २ । ५ । १९] **मन्त्रार्थ**–हे पुरोडाश ! तुम (घर्मोसि) इस घृतके ऊपर देदीप्यमान हो. तथा (विश्वायुः) हमारा यजमान इस कार्यसे दीर्घायुको प्राप्त हो । **विधि**–(६) छठे मन्त्रसे आठ कपालोंमें तत्ते नये घृतमें डाले हुए पुरोडाशको चलाकर भूने [का० २ । ५ । २०] **मन्त्रार्थ**–हे पुरोडाश ! तुम स्वभावसेही (उरुप्रथाः) विस्तीर्ण हो. इस कारण अब भी (उरुप्रथस्व) इस कपालमें भी भले प्रकार विस्तृत अर्थात् व्याप्त हो. किञ्च (ते यज्ञपतिः) तेरा यह यजमान (उरु) विस्तीर्ण पुत्र पशु आदिसे (प्रथताम्) सबलोकमें प्रख्यात हो । **विधि**–(७) सातवें मंत्रसे इसमें जल डाले [का० ५ । २ । २१] हे पुरोडाश ! पक्व करनेमें प्रवृत्त हुई (अग्निः) पावक (ते) तेरी (त्वचम्) त्वचाके सदृश ऊपरके भागको (माहिंसीत्) विनाश न करे. अर्थात् अतिदाहसे श्यामता न हो जाय. [इसी अभिप्रायसे जलसेक करते हैं । अवघात पेषण भूननेसे उत्पन्न हुआ हविका उपद्रव जलस्पर्शसे शान्त हो जाय, यह अभिप्राय है] **विधि**–(८) अष्टम मंत्रसे वारंवार संचालन-पूर्वक भलीप्रकार पकावै [का० २ । ५ । २३] **मन्त्रार्थ**–हे पुरोडाश ! (सवितादेवः) सर्वप्रेरक परमात्मा देवता (त्वा) तुमको (वर्षिष्ठे) अत्यन्त वृद्ध (नाके) द्युलोकमें वर्तमान नाकनामक अग्निमें (त्वा) तुमको (अधि) आश्रय करके (श्रपयतु) पाक करो. [मनुष्यके पाक करनेका कर्तृत्व न हो इस कारण देवताका स्मरण किया] स्वर्गमें नाकनामक अग्नि राक्षस विनाशीहै–[तैत्तिरीय०] ॥२२॥

प्रमाण–"अधीत्युपरिभावमैश्वर्यं प्राह"–[निरु० १ । ३] ॥ २२ ॥

अभिप्राय–सुख, आरोग्य, बल, पवित्रता, पुत्र–पौत्र, पशु, धन सम्पत्ति सब यज्ञसे प्राप्त होती हैं, इस कारण यज्ञका कभी त्याग न करना चाहियें ॥ २२ ॥

कण्डिका २३-मन्त्र ५ ।

माभेर्म्मासंविक्क्थाऽअतमेरुर्य्यज्ञोतमेरुर्य्यजमानस्यप्प्रजाभूयात्त्रितायत्वाद्द्वितायत्वैकतायत्वा ॥ २३ ॥ [२]

ऋष्यादि-(१) ॐमाभेरित्यस्य प्रजा० । याजुषीगायत्री० । पुरोडाशो दे० । पुरोडाशालम्भने विनियोगः । (२) ॐअतमेरुरित्यस्य प्रा० । आर्षीगायत्री छं० । पुरोडा० । आच्छादने विनियो० । (३) ॐत्रितायेत्यस्य प्रा० । दैवीबृहती छं० । त्रितोदे० । (४) ॐ द्वितायेत्यस्य प्र० । दैवीबृहती० । द्वितो देव० । (५) ॐएकतायेत्यस्य प्र० । दैवी पंक्तिश्छं० । एकतो दे० । मंत्रत्रयस्यापि पात्र्यंगुलिप्रक्षालने आप्तेभ्यो नियमने च विनियोगः ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे यह पुरोडाश अग्निसे उतार कर उन तीनपात्रोंमें रक्षा करे [का० २ । ५ । ४२] मंत्रार्थ-हे पुरोडाश ! तुम [माभेः] भय मत करो (मासंविक्थाः) चंचल मत हो स्थिर रहो. अर्थात् चालन करते समय भूमिमें पतित न होना । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे भस्मद्वारा अथवा उपवेशद्वारा इस पुरोडाशको आच्छादित करे [का० २ । ५ । २५] (यज्ञः) यज्ञका हेतु पुरोडाश (अतमेरुः) भस्मआच्छादनसे ग्लानिरहित हो (यजमानस्य) यजमानकी (प्रजा) सन्तति (अतमेरुः) ग्लानिरहित (भूयात्) हो [यजमानके पुत्रपौत्रादिकोंको कभी दुःख न हो] । विधि-(३-४-५) तीसरे मंत्रसे लेकर पांचवेंतक पात्री और अंगुलीके धोनेसे पुरोडाश अंशमें मिश्रित जल देवत्रयको प्रदान करे. [का० २ । ५ । २६] मन्त्रार्थ-हे पात्री अंगुलीप्रक्षालनसे सम्भूतजल ! (त्रिताय) त्रितनाम देवताके तृप्तिके निमित्त (त्वा) तुमको देता हूं । तथा (द्विताय) द्वितनाम देवताकी तृप्तिके निमित्त (त्वा) तुम्हें देता हूं । (एकताय) एकतनाम देवताकी तृप्तिके निमित्त (त्वा) तुमको देताहूं ॥ २३ ॥

गाथाप्रमाण-किसी समय किसी कारणसे भीत होकर अग्नि जलमें प्रवेश कर गये. देवता यह जानकर उनको वहांसे फिर लाये. जलवासके समय अग्निके वीर्यसे एकत द्वित और त्रित नामक तीन आप्त देवता हुए. तब यज्ञमें उनके भाग कल्पनाकी विवेचना होनेपर यज्ञमें पात्रीप्रक्षालनके जलका भाग उनके निमित्त निश्चित हुआ. [ब्राह्मणभाग-श० १ । २ । ३ । १] ॥ २३ ॥

अभिप्राय–जैसे यज्ञका जलमात्र भी निरर्थक न जानकर देवताओंके भागके निमित्त कल्पना किया जाता है, इस प्रकार परमेश्वरकी आज्ञा है कि संसारके यावन्मात्र पदार्थ यथायोग्य कार्यमें लाने चाहियें और पुत्र पौत्रादिकी वृद्धिके निमित्त यज्ञका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ २३ ॥

कण्डिका २४–मंत्र २ ।

देवस्यत्त्वा सवितुः प्प्रसवेश्विनोर्ब्बाहुब्भ्याम्पूष्णो हस्ताब्भ्याम् ॥ आददेध्वरकृतन्देवेब्भ्यऽइन्द्रस्य ब्बाहुरसिदक्षिणꣳसहस्रभृष्टिꣳशततेजाव्वायुरसितिग्ग्मतेजाद्विषतोव्वधः ॥ २४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ देवस्येत्यस्य प्र० । प्राजापत्या बृहती० । सविता देवता । स्फ्यादाने विनियोगः । (२) ॐ इन्द्रस्येत्यस्य प्र० । प्राजापत्या जगती० । स्फ्यं दैवतम । जपे विनियोगः ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे बायें हाथमें सतृण स्फ्य ग्रहण करै [का० २ ।६। १३]मंत्रार्थ–हे स्फ्य ! खुरपी कुदाली ! (सवितुः) सविता (देवस्य)देवताकी (प्रसवे) प्रेरणासे (अश्विनोर्बाहुभ्याम्) अश्विनीकुमार देवताओंका भुजयुगल और (पूष्णः) पूषा देवताके (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथोंकी सहायतासे (त्वा) तुझको ग्रहण करता हूं । (देवेभ्यः) देवताओंके तृप्तिसाधन उपकारके निमित्त (अध्वरकृतम्) यज्ञकार्य वेदीखननरूप व्यापारके अर्थ तुमको (आददे) ग्रहण करता हूं । विधि–(२) अगले मंत्रका पाठ करता हुआ तृणसहित स्फ्यको बायेंसे दहिने हाथमें ले [का० २ । ६ । १३] मंत्रार्थ–हे स्फ्य ! तुम (इंद्रस्य) इन्द्र देवताकी (दक्षिणः) दहिनी (बाहुरसि) भुजारूप हो. अर्थात् इन्द्रकी भुजाके समान तुममें बल प्राप्त हो; कारण कि तुम (सहस्रभृष्टिः) सहस्रों शत्रुओं असुरोंके नाशक (क्षततेजाः) अनेक प्रकार तेजोंसे दीप्यमान और केवल इन्द्रके बाहुके सदृश नहीं; किन्तु (वायुरसि) वायुके समान भी हो. तथा (तिग्मतेजाः) तीक्ष्णतेजयुक्त हो जैसे वायु अग्निका सहायक होकर तीव्रज्वाला उत्पन्न करता है, तीक्ष्णतेज युक्त होता है, इस प्रकार यह स्फ्य स्तम्बच्छेदनरूप कर्ममें तीव्रतेज कहाजाता है, तथा (द्विषतः) कर्मद्वेषी असुरादिकोंका (वधः) नाशक है [तुम्हारे प्रयोगसे इस यज्ञमें कोई उपद्रव न हो यह आशय है] ॥ २४ ॥

प्रमाण-"अध्वरो वै यज्ञो यज्ञकृतम्"-[श० १ । २ । ४ । ९] "सहस्रमिति बहुनामसु पठितम्"-[निघं० ३ । १ । १] "शतमिति बहुनामसु पठितम्"-[निघं० ३ । १] ॥ २४ ॥

अभिप्राय-यज्ञसे सम्पूर्ण जगत्का महान् उपकार है पूर्ववत् ॥ २४ ॥

कण्डिका २५-मन्त्र ४ ।

पृथिविदेवयजन्योषध्यास्तेमूलम्माहिꣳसिषंव्रज ङ्गच्छगोष्ठानंवर्षतुतेद्यौर्ब्बधानदेवसवितःपरमस्यां म्पृथिव्याꣳशतेनपाशैर्योस्मान्द्वेष्टियञ्चवयन्द्विष्मस्तमतोमामौक् ॥ २५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पृथिवीत्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । याजुषी० । वेदिर्देवता । तृणाद्यपाकरणे विनियोगः । (२) ॐव्रजमित्यस्य प्र० । दैवी जगती० । पुरीषं दैवतम् । पुरीषग्रहणे विनियोगः ।(३) ॐ वर्षत्वित्यस्य प्र० । दैवीपंक्ति० । वेदिर्दैव० । वेदिप्रेक्षणे विनियोगः ।(४) ॐबधानेत्यस्य याजुषी छं० । सविता देवता । उत्करे मृत्क्षेपणे विनियोगः ॥

विधि-(१) जिस स्थानमें यूपस्तम्भ खडा किया जाय उस स्थानके तृणादि दूर करे और इस प्रथम मंत्रको पढकर खनन करे [का० २ । ६ । १५ । १६] मंत्रार्थ-(पृथिवि) हे भूमि ! (देवयजनि) हे देवताओंके यजनयोग्य ! (ते) तुम्हारी (ओषध्याः) प्रियसन्तति ओषधीकी (मूलम्) मूलतृणादिको (माहिꣳसिषम्) मैं विनाश नहीं करता हूं । विधि-(२) दूसरे मन्त्रसे पुरीषके प्रति कहै [का० २ । ६ । १७] मं०-हे पुरीष ! तुम (गोष्ठानम्) गौओंके स्थान (व्रजम्) गोष्ठको (गच्छ) जाओ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे वेदीका दर्शन करे [का० २ । ६ । १८] मं०-हे वेदि ! (ते) तुम्हारे निमित्त (द्यौः) द्युलोकाभिमानी सूर्य देवता (वर्षतु) जल सेचन करे । वर्षणसे खननजनित दुःख शान्त हो । विधि-(४) चौथे मंत्रको पाठकर (उत्खात) गढेके मध्यसे निकालीहुई मृत्तिकाको उत्कर गढे आदि स्थानमें फेंकदे [का० २ । ६ । १९] मं०-हे देव ! (सवितः) सबको निज कार्यमें प्रेरणा करनेवाले प्रकाशरूप परमात्मन् ! (यः) जो कोई (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) द्वेष करता है और (वय च) हम भी (यम्) जिससे (द्विष्मः) द्वेष करते हैं, ऐसे दोनों प्रकारके शत्रुओंको (परमस्यां पृथिव्याम्) इस पृथ्वीकी

१ स्फ्यके प्रहारसे जो चारों ओर मृत्तिका उछलकर गिरती है उसे पुरीष कहते हैं ।

अन्तसीमा अन्धतामिस्र नरकमें (शतेन) सैंकडों (पाशैः) बन्धनोंसे [बधान] बांधलो और इस (तमसः) अन्धतामिस्रः नरकसे उसको कभी भी (मा) मत (मौक्) त्याग करो ॥ २५ ॥

प्रमाण–"अन्धे तमसि बधानेति यदाह परमस्यां पृथिव्याम्"–[श० १।२।४।१६] मौक् 'मुच् मोक्षणे' इत्यस्माल्लोडर्थे लुङ्चडभावे च्लेः सिजादेशे "बहुलं छन्दसि" इतीडभावः। "वद व्रज हलन्ते"ति वृद्धिः, "संयोगान्तस्य लोपः" इति सिज्लुक् ॥ २५ ॥

आशय–इसका गर्भित आशय यह है कि महात्माओंको उचित है, जो कोई उनके निमित्त कुछ उपकार करे वे उसके निमित्त प्रत्युपकार करें और जो असुरादि हों तथा खल कुटिल हों उनके दमनकी ईश्वरसे प्रार्थना करें यह भी विदितहै कि पृथिवीकी अन्त सीमामें विशेष अंधकार रहता है ॥ २५ ॥

कण्डिका २६–मन्त्र ९।

अपाररुम्पृथिव्यै देवयजनाद्वध्यासं व्व्रजङ्गच्छ गोष्ठानं व्वर्षतु ते द्यौर्ब्बधान देव सवितः परमस्याम्पृथिव्याᳪं शतेन पाशैर्य्योऽस्मान्द्वेष्टि यञ्च वयन्द्विष्मस्तमतो मा मौक् ॥ अररो दिवम्मा पप्तो द्रप्सस्ते द्याम्मा स्कन्व्व्रजङ्गच्छ गोष्ठानं व्वर्षतु ते द्यौर्ब्बधान देव सवितः परमस्याम्पृथिव्याᳪं शतेन पाशैर्य्योऽस्मान्द्वेष्टि यञ्च वयन्द्विष्मस्तमतो मा मौक् ॥ २६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐअपाररुमित्यस्य प्रजा०। आसुरीगायत्री छन्दः। असुरो देवता। उत्करे मृत्क्षेपणे विनियोगः। (२–३–४) व्रजंगच्छेति मंत्रत्रयस्य ऋष्यादिकं पूर्व–(२५) कण्डिकास्थ–(२–३–४) मन्त्रवत्। (५) ॐअररो दिवमित्यस्य प्रजा०। याजुषी०। असुरो दे०।–(६) ॐद्रप्स इत्यस्य प्र०। याजुषी छं०। असुरो दे०।–(७–८–९) एषां मन्त्राणामृष्यादि–(२५) कण्डिकास्थ–(२–३–४) मंत्रवत् ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे पूर्ववत् पुनः खनन करै [का० २। ६। २१]

मंत्रार्थ–(पृथिव्यै देवयजनात्) पृथिवीसम्बन्धि देवयजनस्थानसे अर्थात् पृथिवीमें

स्थित इस वेदीके अभ्यन्तरमें स्थित यूपखण्डप्रोथनमें बाधा करनेवाले (अररुम्) अररु नाम असुरको(अपवध्यासम्)निकालकर वध करताहूं वा दूर करताहूं[गर्त खनन करनेके समय जो ईंटोंके खण्ड कंकर आदि निकलते हैं, उनको 'अररु' कहते हैं] विधि–(२–३–४) "व्रजं गच्छ" इत्यादि तीन मंत्रोंकी विधि–(२५) वीं कण्डिकामें कही हुई रीतिसे जाननी । इन मन्त्रोंसे पूर्ववत् खनन करे [का० २ । ६ । २२] विधि–(५) इससेभी खनन करे । मं०–हे(अग्ने)असुर (दिवम्) यज्ञके फलरूप द्युलोक श्रेष्ठस्थानको तू (मा) मत (पप्तः) प्राप्त हो । विधि–(६)इनमन्त्रोंके विधान–पूर्ववत् जानलेने [का० २।६।२३] मं०–हे वेदि ! (ते) तुम्हारा पृथ्वी रूप जो (द्रप्स) उपजीव्य रस है सो (द्याम्) द्युलोकको (मा) मत (स्कन्) गमनकरे । " व्रजं गच्छ (७।८।९)" इत्यादि तीन मंत्रोंकी विधि और मन्त्रार्थभी (२५) वीं कण्डिकामें कहेहुए प्रकारसे जानने ॥ २६ ॥

प्रमाण–"द्यौर्वै सर्वेषां देवानामायतनम्"–[श० १४ । २ । ३ । ८] ॥२६॥

आशय–जिस प्रकार सम्पूर्ण बाधा निवारण कर यज्ञ आरम्भ करते हैं इसी प्रकार प्रत्येक कार्य बहुत सोच समझकर प्रारम्भ करना चाहिये और बाधा दूर होनेपर कार्य आरम्भ करे ॥ २६ ॥

कण्डिका २७–मन्त्र ६ ।

गा॒य॒त्रेण॑ त्वा॒ छन्द॑सा॒ परि॑गृह्णामि॒ त्रैष्टु॑भेन त्वा॒ छन्द॑सा॒ परि॑गृह्णामि॒ जाग॑तेन त्वा॒ छन्द॑सा॒ परि॑गृह्णामि ॥ सु॒क्ष्मा चासि॑ शि॒वा चा॑सि स्यो॒ना चासि॑ सु॒षदा॑ चा॒स्यूर्ज॑स्वती चासि॒ पय॑स्वती च ॥ २७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐगायत्रेणेत्यस्य: प्र० ऋ० । आसुर्यनुष्टुप् छं० विष्णुर्देवता । पूर्वपरिग्रहे वि० । (२) ॐत्रैष्टुभेनेत्यस्य प्र० ऋ० आसु० छं० । विष्णु० । पूर्वपरिग्रहे वि० । (३) ॐजागतेनेत्यस्य प्र० आसु० । विष्णु० । पूर्वपरिग्र०वि० । (४) ॐसुक्ष्मेत्यस्य प्र० ऋ० । प्राजापत्या गायत्री० । वेदिर्देवता । उत्तरपरिग्रहे वि० । (५) ॐस्योनेत्यस्य प्र० । आसुरी जगती० । वेदिर्दे० । उत्तरपरिग्रहे वि० । (६) ॐऊर्जस्वतीत्यस्य प्र० ऋ० । आसुरी पंक्तिश्छन्दः । वेदिर्देवता । उत्तरपरिग्रहे वि० ॥

विधि–(१–२–३) प्रथमादि तीन मंत्रोंसे उसी गर्तके उत्तर दक्षिण और पश्चिमसे स्फ्यद्वारा पूर्व परिग्रह[1] करै [का० २।६।२९] **मंत्रार्थ**–हे सर्वव्यापक परमात्मन् विष्णो! (त्वा) आपको (गायत्रेण छन्दसा) जपनेवालेकी रक्षा करनेवाले गायत्री छन्दसे भावित स्फ्यद्वारा तीनों दिशाओंमें (परिगृह्णामि) ग्रहण करताहूं १। (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रैष्टुभछन्दसे (त्वा) तुमको (परिगृह्णामि) ग्रहण करता हूं २। (जागतेन) जगती (छन्दसा) छन्दसे (त्वा) तुमको (परिगृह्णामि) ग्रहण करताहूं अर्थात् अजवानी करताहूं ३। [अथवा छन्दोंके देवता तीनों दिशाओंमें असुरोंसे वेदीकी रक्षाकरै. पूर्वमें आहवनीय रक्षा करताहै. यथा हे वेदि! उत्तरदिशामें गायत्रीछन्दसे तुम्हारी रक्षा करता हूँ १। हे वेदी! दक्षिण दिशामें त्रिष्टुप्छन्दसे तुम्हारी रक्षा करता हूँ २। हे वेदी! पश्चिमदिशामें जगती छन्दसे तुम्हारी रक्षा करता हूँ ३]। **विधि**–(४–५–६) चतुर्थ प्रभृति तीनमंत्रोंसे इसी गर्तके उत्तर दक्षिण और पश्चिममें स्फ्यद्वारा उत्तर परिग्रह करे [का० २।६।३१] **मन्त्रार्थ**–हे वेदि! तुम (सुक्ष्मा) प्रस्तर खण्ड आदि रहित होनेसे सुन्दर (च) भी (असि) हो (शिवा च) अररुप्रभृति असुरोंके उपद्रवशून्य होनेसे शान्तिरूप (असि) हो ४। हे वेदि! तुम (स्योनाच) सुखकी आधार (असि) हो तथा (सुखदा च) देवताओंके सुखसे बैठने योग्य भी (असि) हो ५। हे वेदि! तुम (ऊर्जस्वती) अन्नवाली (पयस्वती च) रस वा दुग्धयुक्त (असि) हो [अर्थात् तुमपर हवनीय अन्न और रस स्थापित किया जायगा] ६ ॥२७॥

प्रमाण–"ते प्रार्श्वं विष्णुं निपाद्य छन्दोभिरभितः पर्य्यगृह्णन्"–[श० १।२।३।६]

गाथा–प्रथम प्रजापतिके पुत्र देवता और असुरोंमें क्लेश हुआ उसमें देवता बलहीन हुए तब असुरोंने भूमि विभाग करके भोगी तब देवताओंने वामनरूप विष्णुको आगे करके दैत्योंसे कहा कि, हमको कुछ भूमिका भाग दो दैत्योंने हँस कर कहा कि, यह तुम्हारा आगेका विष्णुपुरुष जितने भूमिभागमें शयन करजायगा उतना भाग तुम्हारा होगा. देवता बोले–हमारे निमित्त यही बहुत होगा. ऐसा कहकर वे वामनरूप विष्णुको लिटा करके गायत्री आदि मन्त्रोंसे यज्ञभूमिको ग्रहण करते हुए. यज्ञ विष्णुरूप है, वे जहां स्थित हैं वही यज्ञभूमि कहाती है. "तैर्वेदि–

---

१ पूर्वपरिग्रह और उत्तरपरिग्रहका लक्षण यह है कि लक्ष्मण जानकीके चारों ओर रेखा खेंच कर रामके निकट गयेथे यह प्रसिद्ध है इस प्रकारकी रेखा करनेको परिग्रह कहते हैं, वेदी खनन करनेसे पूर्व यह इतनी है, ऐसा निश्चय करनेको दक्षिणादि तीन दिशाओंमें स्फ्यसे तीन रेखा करनेको 'पूर्वपरिग्रह' कहतेहैं, खननके पीछे जो तीनं रेखा करते हैं उसे उत्तरपरिग्रह कहते है।

तत्वाद्वेदिरिति तद्वेमेर्नाम" [श० १ । २ । ५ । १-७] इस श्रुतिकथासे वेदीका ग्रहण होता है. छन्दोंसे उनके अधिष्ठात्री देवताओंका तथा विष्णु भगवान्का ध्यान ग्रहण होता है, "स्योनमिति सुखनाम"-[निघण्टु ३ । ६] ॥ २७ ॥

आशय-वेदी जिस प्रकार शुद्ध की जाती है उससे असुरादि दूर किये जाते हैं. इसी प्रकार मनरूपी वेदीसे कामक्रोधादि असुरोंको दूर करके उसमें धर्मका परिग्रह करना चाहिये, जिससे अधर्म प्रवेश न करसके, तब हृदय परमात्माकी स्थितिके योग्य होजाता है. श्रुतिका आशय यह है कि-जब हृदयमें कामादि वासना व्याप्त हो उस समय यदि किञ्चित्भी विष्णुसहित सत्पदार्थोंका स्मरण हो तो वह अभ्याससे कामादिकको दूर कर तेलकी बूंदके समान सर्वत्र फैलकर सर्व दोषोंको दूर कर देता है ॥ २७ ॥

काण्डिका २८-मन्त्र ३ ।

पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नुदादाय पृथिवीं जीवदानुम् । यामैरयँश्चन्द्रमसि स्वधाभिस्तामु धीरासो ऽअनुदिश्य यजन्ते ॥ प्रोक्षणीरासादय द्विषतो वधोसि ॥ २८ ॥ [५]

ऋष्यादि-(१) ॐ पुराक्रूरस्येत्यस्य अघशंस ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । चन्द्रो देवता । वेदिसमीकरणे विनियोगः । (२) ॐ प्रोक्षणीरित्यस्य अघशं०ऋ० । याजुष्युष्णिक्० । प्रैषो देव० । प्रोक्षण्यासादने विनियोगः । (३) ॐ द्विषत इत्यस्य अघ० । याजुषीगायत्री० । अभिचारिकं दैवतम् । स्फ्यप्रहरणे विनियोगः ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे विषमता निवारण करनेको वेदी सम्मार्जन कर अर्थात् समान (एकसी) करै [का० २ । ६ । ३२] [यज्ञमें वेदित्वको प्राप्त हुये विष्णु भगवान् से कहते हैं-]**मंत्रार्थ**-हे (विरप्शिन्) यज्ञमें वेदत्रयरूपसे अनेकविध शब्द करनेवाले विष्णो ! परमेश्वर आप कृपाकर सुनिये (विसृपः) अनेक योधाओंसे युक्त (क्रूरस्य) युद्धसे (पुरा) पूर्वकालमें देवता गण (जीवदानुम्) जीवोंके धारण करनेवाली सारभूत (याम्) जिस (पृथिवीम्) पृथ्वीको (उदादाय) ऊर्ध्व ग्रहण करके (स्वधाभिः) वेदोंके साथ (चन्द्रमसि) चन्द्रलोकमें (ऐरयन्) स्थापित करते हुए (धीरासः) बुद्धिमान्

(ताम्) उसी चन्द्रमामें स्थित पृथ्वीके (अनुदिश्य) दर्शनसे सम्पादन करके अर्थात् वही भूमि इस वेदिमें विद्यमान है. ऐसी भावना करके (यजन्ते) यज्ञ करते हैं। **विधि**-(२) दूसरे मन्त्रसे आग्नीध्रको आदेश करै। **मन्त्रार्थ**-हे आग्नीध्र ! वेदी समान होगई, इस कारण इसके ऊपर (प्रोक्षणी) जिसके द्वारा जल छिडके जाते हैं उसको लाकर (आसादय) वेदीमें स्थापन करो। **विधि**-(३) तीसरे मन्त्रसे स्फ्य त्याग करै [का० २ । ६ । ४२] **मन्त्रार्थ**-हे स्फ्य ! तुम (द्विषतः) शत्रुओंकी (वधोऽसि) हिंसक हो. हमारे शत्रुका नाश कर ॥ २८ ॥

गाथा-इस मंत्रमें यह आख्यायिका गर्भित है. एक समय देवताओंका असुरोंके साथ संग्राम उपस्थित हुआ तब देवताओंनें परस्पर सम्मति की कि इस पृथ्वीका उत्कृष्ट देवयजन भाग चन्द्रमामें स्थापन करके युद्ध करें. यदि हमारी पराजय होगी तो देवयजनमें यज्ञ कर फिर दैत्योंको जीतैंगे. ऐसा विचारकर देवयजनरूप सार भागको चन्द्रमामें स्थापन करतेहुए वही कृष्णवर्ण इस समय भी दीखता है [श० १ । २ । ५ । १८] ॥ २८ ॥

प्रमाण-"विरप्शिन् विरप्शीति महन्नाम" [निघं० ३ । ३] विविधं रपति वेदत्रयरूपेण शब्दं करोतीति विरप्शी तत्सम्बुद्धौ "संग्रामो वै क्रूरम्"-[श० १ । २ । ३ । १९] "यां चन्द्रमसि ब्रह्मणा दधुः" इति ब्राह्मणभागे [श०१।२।३।१९] ब्रह्मणा वेदेन सहेत्यर्थः । "धीर इति मेधाविनामसु पठितम्" [निघं० ३ । १९]

अभिप्राय-चन्द्रमाका मन और अन्नसे सम्बन्ध विशेष है, इन कारणोंसे सूक्ष्म विचार करनेसे यह भी विदित होता है. जिसप्रकार बाह्य यज्ञ किये जाते हैं इसी प्रकार मानसिक यज्ञ किये जाते हैं, जैसे पृथ्वी चन्द्रमाके अधिक निकट होनेसे पृथ्वीपर उसका असर अधिक पडता है, इसी प्रकार अन्नका भाव मनपर अधिक पडता है जैसे बाह्यशत्रु निरस्त कर यज्ञ होता है इसी प्रकार कामादिशत्रु दूर कर मानसिक यज्ञ होता है इसमें नक्षत्र तारागण ईश्वरनिर्मित हैं. यह विद्या भी कथन करी है. इन सबके उत्पादक परमात्माके ध्यानकी विशेषता भी कथन की है इससे यह भी सिद्ध है कि चन्द्रमामें भूमिकी छायाहै भूमि और चन्द्रका विशेष सम्बन्धहै ॥ २८ ॥

कण्डिका २९-मन्त्र ३ ।

प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टा ऽअरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता ऽअरातयः ॥ अनिशितोसि सपत्नक्षिद्वाजिनं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि ॥ प्रत्युष्टꣳ रक्षः

---

१ अग्निमें निरन्तर समिधू प्रक्षेप करनेवाला होतृविशेष।

प्रत्युष्टाऽअरातयोनिष्टप्तᳯरक्षोनिष्टप्ताऽअरातयः॥ अनिशितासिसपत्नक्षिद्वाजिनीन्त्वावाजेध्यायैसम्मार्ज्मि ॥ २९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐप्रत्युष्टमित्यस्य प्र० ऋ० । आसुरी बृहतीछं० । स्रुवो देवता । एकतः स्रुवप्रतपने वि० । (२) ॐनिष्टप्तमित्यस्य प्र० । आसुरी० । स्रुवो दे० । अन्यतः स्रुवप्रतपने वि० । (३) ॐअनिशित इत्यस्य प्र० ऋ० । प्राजापत्या बृहतीछन्दः । स्रुवो देवता । स्रुवसंमार्जने वि० । (४) प्रत्युष्टमित्यस्य प्र० ऋ० । आसुरी बृ० छं० । स्रुग्देवता । एकतः स्रुक्प्रतपने वि० । (५) ॐनिष्टप्तमित्यस्य प्रजा० ऋ० । आसु० छं० । स्रुग्दे० । अन्यतः स्रुक्प्रतपने वि० । (६) ॐअनिशिते-त्यस्य प्र० ऋषिः।प्राजापत्या बृहती छं० । स्रुग्दे० । स्रुक्संमार्जने वि० ॥

विधि-(१-२) पहले और दूसरे मंत्रसे शूर्प और अग्निहोत्रहवनीको जिस प्रकार प्रतपन आदि किया था इसी प्रकार स्रुवको भी तपावै [का०२ । ६ । ४६] मन्त्रार्थ-(रक्षः प्रत्युष्टम्) इस तापसे राक्षसादि प्रत्येक बाधा सम्पूर्ण दग्ध हुई (अरातयः प्रत्युष्टाः) प्रत्येक शत्रुगण दग्ध हुए १ । (रक्षः निष्टप्तम्) इस तापसे यहांकी आश्रित सब बाधा और राक्षस दग्ध हुए (अरातयः निष्टप्ताः) शत्रुगण भी सब दग्ध हुए २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे स्रुवको सम्मार्जन करै [का० २ । ६ । ४६] मन्त्रार्थ-हे स्रुव ! तुम (अनिशितोसि) तीक्ष्णधारवाले नहीं हो अर्थात् हमारे विषयमें तीक्ष्ण उपद्रवकारी नहीं होते हो, तथा (सपत्नक्षित्) शत्रुओंके क्षय करनेवाले हो (वाजिनम्) देश यज्ञद्वारा बहुत अन्नयुक्त हो इस निमित्त तथा (वाजेध्यायै) यज्ञकी दीप्ति प्रकाश करनेके निमित्त तुमको अन्नवान् करनेको (सम्मार्ज्मि) प्रक्षालन करताहूं [शोधितस्रुवसे घृतग्रहण करनेसे अग्नि प्रदीप्त होती है, उसमें आहुतिफलभूत अन्न प्रकाशित होता है] विधि-(४-५) चौथे और पांचवें मंत्रसे तीन स्रुचीको तपा तपाकर वेदीमें स्थापन करनेको अध्वर्युको दे [का० २ । ६ । ४७ । ४८] म०-(प्रत्युष्टमिति) इस तापसे प्रत्येक बाधा दग्ध हुई प्रत्येक शत्रुगण दग्ध हुए ४ । इस तापसे निश्शेष इसके आश्रित बाधा दग्ध हुई सम्पूर्ण शत्रुगण भी दग्ध हुए ५ । विधि-(६) छठे मंत्रके भी तीसरेकी समान व्याख्यान है, केवल स्त्रीलिङ्गका निर्देश है स्रुव पुँल्लिङ्ग है उसका सम्मार्जन पहले और स्रुच स्त्री होनेसे पीछे (अनिशितासि) हे स्रुक्त्रय! तुम तीक्ष्णधार न होकर भी शत्रुनाशक हो, देश बहुत अन्नवाला हो, इसी कामनासे तुमको अन्नवान् करनेको सम्मार्जन करता हूं ॥ २९ ॥

प्रमाण—"यज्ञो हि देवानामन्नम्" इति श्रुतेः [श०५।१।१।२]"योषा वै स्रुग्वृषा स्रुवः" इत्यादिश्रुतेः [श० १ । ३ । १ । ९] अभिप्रायः पूर्ववत् ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०—मन्त्र ४।

अदि॑त्यै॒ रास्ना॑सि॒ विष्णो॑र्वे॒ष्पो᳖ऽस्यू॒र्जे त्वाद॑ब्धेन त्वा॒ चक्षु॒षाव॑पश्यामि ॥ अ॒ग्नेर्जि॒ह्वासि॑ सु॒हूर्दे॒वेभ्यो॒ धाम्ने॑धाम्ने मे भव॒ यजु॑षेयजुषे ॥ ३० ॥

ऋष्यादि—(१) ॐअदित्या इत्यस्य प्रजा० ऋ०। याजुषी गायत्री छं०। योक्त्रं दैवतम्। यजमानपत्नीकट्यां मेखलाबन्धने वि०। (२) ॐविष्णोरित्यस्य प्र०। दैवी पंक्तिश्छं०। योक्त्रं दैवतम्। दक्षिणपाशस्योत्तरत उद्गूहने वि०। (३) ॐ ऊर्जे इत्यस्य प्र० ऋ०। दैव्यनुष्टुप्०। आज्यं दैवतम्। आज्यद्रवीकरणे वि०। (४) ॐअदब्धेनेत्यस्य प्र० ऋ०। याजुषी०। आज्यं दैवतम्। पत्न्या आज्ये मुखावेक्षणे वि०॥

विधि—(१) गार्हपत्य अग्निके दक्षिणमें बैठी हुई यजमानपत्नीकी कमरमें तीन लडवाली पतली मूंजकी मेखला प्रथम मंत्रसे बांधे [का० २।७।१]मन्त्रार्थ—हे योक्त्र! तुम (अदित्यै) भूमिकी (रास्नासि) मेखलारूप होती हो। विधि—(२) दूसरे मंत्रसे दक्षिणओरके पाशको उत्तरकी ओर प्रतिमुक्त कर उद्गूहन (मुक्त) करे [का०२।७।२—३]मन्त्रार्थ—हे दक्षिणपाश! तुम (विष्णोः) इस सर्वव्यापी यज्ञकी (वेष्पोसि) व्यापक हो। विधि—(३)तीसरे मंत्रसे अग्निसे तपाकर आज्यको द्रव करे [का०२।७।४]मन्त्रार्थ—हे आज्य! (ऊर्जे)उत्तम रस प्राप्तिके निमित्त(त्वा) तुमको द्रवीभूत करता हूं [द्रवीभूत घृत सुस्वादु होजाता है] विधि—(४)चौथे मंत्रसे यजमानकी पत्नी नीचेको मुखकर घृतदर्शन करै [का०२।७।४] मन्त्रार्थ—हे आज्य! (अदब्धेन) प्रीतियुक्त (चक्षुषा) दृष्टिसे (त्वा) तुमको (अव पश्यामि) नीचा मुखकर देखती हूं. हे आज्य! तुम (अग्नेः) अग्निकी (जिह्वासि) जिह्वा हो [कारण कि जब आज्य अग्निमें डाला जाता है तब जिह्वाके समान ज्वाला उठती है] और (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (सुहूः) सम्यक् प्रकारसे जिह्वाद्वारा बुलानेवाले हो। [ज्वालाको देखकर देवता आते हैं] इस कारण (मे) मेरे (धाम्ने धाम्ने) इस यज्ञफलके उपभोग स्थानसिद्धिके निमित्त तथा (यजुषे यजुषे) उस यज्ञसिद्धिके योग्य (भव) हो. अर्थात् प्रतियज्ञमें देवताओंको भलीप्रकार आह्वान करो तुम्हारी प्रीतिसेही देवता यज्ञस्थानमें आते हैं ॥ ३० ॥

प्रमाण—"यज्ञो वै विष्णुः" इति श्रुतेः—[श० १ । १ । २ । १३] ॥ ३० ॥

आशय-यज्ञके करनेमें परमात्माने सब पदार्थोंके प्रयोगका वर्णन किया है इन पदार्थोंकी स्तुतिका यह फल है कि, अमुकामुक पदार्थ इस प्रकारसे प्रयोगमें लाने चाहिये. मनुष्योंको उचित है पदार्थोंके उपयोगको जानकर भली प्रकारसे यज्ञ सम्पादन करै ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१-मंत्र ४।

सवितुस्त्त्वा प्प्रसवऽउत्त्पुनाम्म्यच्छिद्द्रेणपवित्त्रेणसूर्य्यस्यरश्मिभिः ॥ सवितुर्वः प्प्रसवऽउत्पुनाम्म्यच्छिद्द्रेणपवित्त्रेणसूर्य्यस्यरश्म्मिभिः ॥ तेजोसिशुक्क्रमस्यमृतमसिधामनामासिप्प्रियन्देवानामनाधृष्टन्देवयजनमसि ॥ ३१ ॥

इति वाजसनेयिश्रीशुक्लयजुर्वेदसंहितायां प्रथमोऽध्यायः॥ १॥ १०॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सवितुरित्यस्य प्रजा० । साम्नीजगतीछन्दः । आज्यं दैवतम् । आज्यस्योत्पवने विनियोगः । (२) ॐ सवितुर्व इत्यस्य प्र० । प्राजापत्या पंक्तिश्छं० । आपो देवता । प्रोक्षण्याप्छोधने विनियोगः । (३) ॐ तेज इत्यस्य प्र० ऋ० । याजुषीत्रिष्टुप्छं० । आज्यं दैवतम् । आज्यावेक्षणे विनियोगः । (४) ॐ धामेत्यस्य प्र० । आर्ष्युष्णिक्छं० । आज्यं दैवतम् । स्रुवेणाज्यग्रहणे विनियोगः ॥

विधि-(१) प्रथममन्त्रसे आज्य शोधन करै [का० २।७।७।] मंत्रार्थ-हे आज्य ! (सवितुः) सविता देवताकी (प्रसवे) आज्ञामें वर्तमान मैं (अच्छिद्रेण) छिद्रशून्य (पवित्रेण) वायुरूप पवित्र और (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्यकी किरणों द्वारा (त्वा) तुमको (उत्पुनामि) शोधन करता हूं । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे प्रोक्षणीको शोधन करै [का० २।७।८] मंत्रार्थ-हे प्रोक्षणी ! (सवितुः) सविता देवताकी (प्रसवे) आज्ञामें वर्तमान (अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिर्व उत्पुनामि) छिद्रशून्य वायु और सूर्यकी किरणों इन दोनों पवित्रों द्वारा तुमको शोधन करता हूं । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे घृतको देखै [का० २।७।९] मन्त्रार्थ-हे आज्य ! तुम (तेजोसि) शरीर में कान्ति करनेसे तेजस्वरूप हो (शुक्रम्) स्निग्धरूप होनेसे दीप्तिमान् (असि) हो (अमृतमसि) विनाशरहित हो. अर्थात्

बहुत दिनोंतक स्थापित रहनेसे भी वासीआदिके दोषरहित हो। **विधि**-(४) चौथे मंत्रसे एक वार स्रुक्द्वारा और चार वार जुहूद्वारा आज्य ग्रहण करै [का० २।७। ११-१२] **मन्त्रार्थ**-हे आज्य! तुम (धाम) स्थान हो अर्थात् देवता चित्तकी वृत्ति तुममें स्थापन करते हैं इससे देवताओंके आनन्दके स्थान हो. तथा (नामासि) देवताओंके निकट तुम गृहीतनाम हो, अथवा अपने प्रति सबको नमातेहो [घृतको देखकर सवही खानेको नमते हैं.] तथा (देवानाम्) देवताओंके (प्रियम्) इष्ट अर्थात् अतिप्रिय हो (अनाधृष्टम्) सारयुक्त होनेसे तिरस्काररहित (देवयजनम्) देवताओंके यज्ञके प्रधान साधन (असि) हो. इसकारण तुमको ग्रहण करता हूं॥ ३१॥

अभिप्राय-यज्ञ सूर्यकी किरण और वायुके साथ प्राप्त होकर सब जगत्को शुद्ध करता है, इन पदार्थोंके गुण जानने योग्य हैं. तथा घृतका व्यवहार विद्वानोंके और देवताओंके मध्यमें होना उचित है. यह बल पुष्टि और कान्तिको देताहै. यज्ञमें इसकी आहुति देनेसे आयु, बल, बुद्धि, कान्ति सब जगत्को प्राप्त होतीहैं॥ ३१॥

इति श्रीकान्यकुब्जवंशदिवाकरसकलगुणगणालंकृतश्रीमन्मिश्रसुखानन्दसूनुपण्डित-
ज्वालाप्रसादमिश्रकृते शुक्लयजुर्वेदीयमिश्रभाष्ये शाखाद्याज्यग्रहान्तः
प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः २.

कण्डिका १-मं० ३।

अनुवाकसूत्रम्॥ कृष्णोसिषड,-ग्ग्नेवाजजित्तिस्रो, मयीदम ग्ग्नीषोमयोः पञ्चका,-वग्ग्नेदब्धायो चतस्रः, संव्वर्चसापञ्चा,-ग्ग्नयेकव्यवाहनायषट्, सप्तचतुस्त्रिꣳशत्॥

कृष्णोस्याखरेष्ठोग्ग्नयेत्त्वाजुष्टम्प्प्रोक्षामिवेदिरसि ब्बर्हिषेत्त्वाजुष्टम्प्प्रोक्षामिब्बर्हिरसिस्रुग्भ्यस्त्वाजुष्टम्प्प्रोक्षामि॥ १॥

ऋष्यादि-(१) ॐकृष्णोसीत्यस्य प्रजा० ऋषिः। आसुर्युष्णिक् छं०। इध्मं दैवतम्। इध्मप्रोक्षणे विनियोगः। (२) ॐ वेदिरित्यस्य

प्र० । आसुर्यनुष्टुप्० । लिंगोक्ता देवता । वेदिप्रोक्षणे विनियोगः । (३) ॐबर्हिरित्यस्य प्र० । प्राजापत्या उष्णिक्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । बर्हिःप्रोक्षणे विनियोगः ॥

विधि-(१) पूर्व स्थापित प्रोक्षणीको लेकर प्रथम [१ अ० छठी कण्डिकामें] कहे अनुसार होमीयकाष्ठको गांठ खोलकर प्रोक्षणकरै [का०२।७।१९]
मंत्रार्थ-हे इध्म ! प्रियकाष्ठखण्ड ! तुम (कृष्णोसि) कृष्णमृगरूप यज्ञ हो (आखरेष्ठः) तथा कठिन वृक्षसे उत्पन्न हुए हो. अथवा स्वर्गदाता वा आहवनीयमें स्थित होनेवाले हो. इस कारण (अग्नये) अग्निके प्रदान करनेके निमित्त (जुष्टम्) प्रिय (त्वाम्) तुमको शुद्धिके निमित्त जलसे (प्रोक्षामि) प्रोक्षण करता हूं । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे वेदीको प्रोक्षण करै [का० । २ ।.७ । १९]
मन्त्रार्थ-हे प्रियवेदि ! तुम (वेदिरसि) वेदि हो, इस कारण (बर्हिषे) कुशा धारण करनेके निमित्त (जुष्टम्) प्रियपूर्वक (त्वा) तुमको (प्रोक्षामि) प्रोक्षण करताहूं । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे कुशाकी ग्रन्थिको भलीप्रकार प्रोक्षण करै ।
मन्त्रार्थ-हे दर्भ ! तुम (बर्हिरसि) प्रभूत कुशसमूह होनेसे समर्थ हो, तुमको तीन स्रुक्के सहित अवलम्बन करना होगा इस कारण (स्रुग्भ्यः) स्रुचोंके धारणसे (जुष्टम्) प्रिय (त्वा) तुमको (प्रोक्षामि) प्रोक्षण करताहूं ॥ १ ॥

प्रमाण-एक समय यज्ञ देवताओंसे अपक्रान्त हो अपनेको छिपानेके निमित्त कृष्णमृग होकर वनमें यज्ञीय तरुके मध्यमें प्रवेश करके कठिनवृक्षमें स्थित हुवा, इस कारण कृष्ण और आखरेष्ठ ये दो पद कहे हैं "यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम । स कृष्णो भूत्वा चचार" इत्यादिश्रुतेः [श० १ । १ । ४ । ९] अन्तोदात्त कृष्णशब्द वर्णवाची होताहै यह कृष्णशब्द आद्युदात्त होनेसे मृगवाची है ॥ १ ॥
भाव-काष्ठ वेदी और कुशके प्रोक्षणसे यज्ञीय शुद्ध पदार्थ देवताओंके भोज्य होते हैं. पृथ्वीरूप वेदीमें प्रजारूप कुशोंका धारण करना युक्तही है, यज्ञद्वारा सबको सुखप्राप्तिका उपदेश है ॥ १ ॥

कण्डिका २-मन्त्र ६ ।

अदि॑त्यै॒ व्युन्द॑नमसि॒ विष्णो॑स्स्तु॒पो᳖स्यूर्ण॑म्म्रदसन्त्वा॑स्तृणामि स्वास॒स्थान्दे॒वेभ्यो॒ भुव॑पतये॒ स्वाहा॒ भुव॑नपतये॒ स्वाहा॑ भू॒ताना॒म्पत॑ये॒ स्वाहा॑ ॥ २ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अदित्या इत्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । प्राजापत्यागायत्री छं०।आपोदेवता । बर्हिर्मूलेषु प्रोक्षणीनिनयने वि० । (२) ॐ विष्णोरित्यस्य प्र० ऋ० । दैवीपंक्तिश्छं० । प्रस्तरोदे० । प्रस्तरग्रहणे वि० । (३) ॐऊर्णम्रदसमित्यस्य प्र० ऋ० । आसुरीगायत्रीछं० । वेदिर्दे० । वेदिसंस्तरणे वि० । (४) ॐ भुवपतय इत्यस्य प्र० ऋ० । दैवी जगती० । अग्निर्देवता । स्कन्नाभिमर्शने वि० । (५) ॐभुवनपतय इत्यस्य प्र०ऋ०। प्राजापत्या गायत्री छं० । अग्निर्दे० । स्कन्नाभिमर्शने वि० । (६) ॐभूतानामित्यस्य प्र० ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छं० । अग्निर्देवता । स्कन्नाभिमर्शने वि० ॥ २ ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे अवशिष्ट प्रोक्षणीके जलसे वेदीके मूलमें प्रोक्षण करै [का० २ । ७ । २०] मंत्रार्थ–हे प्रोक्षणशेषजल ! तुम (अदित्यै) इस वेदिरूप भूमिको (व्युन्दनम्) विशेषरूपसे सींचनेवाले (असि) हो १ । विधि–(२) दूसरे मंत्रसे कुशाकी पूली खोलकर बन्धनशून्य करै [का० २ । ७ । २१] मंत्रार्थ–हे कुशसमूह ! तुम (विष्णोः) यज्ञके (स्तुपोसि) शिखारूप हो २ । विधि–(३) तीसरे मंत्रसे कुछ कुशाओंको वेदीपर बिछावै [का०२ ७ । २२] मंत्रार्थ–हे वेदि ! (ऊर्णम्रदसम्) ऊनके समान अतिकोमल हो [जैसे कि भूमिपर बैठनेको उसके कठिनता दूर करनेको कम्बल गलीचा आदि बिछाते हैं] (देवेभ्यः) देवताओंके (स्वासस्थां) सुखसे बैठने योग्य स्थानवाली (त्वा) तुझको (स्तृणामि) कुशोंसे आच्छादन करताहूं । विधि–(४–५–६) आज्य हवि ग्रहण करतेमें जो हवि वेदीसे बाहिर गिरे उस आज्यको चतुर्थप्रभृति तीन मंत्रोंसे अग्निके पार्षद भ्राता तीन देवताओंको दे । मंत्रार्थ–(भुवपतये) भुवपति देवताके उद्देशसे यह हवि (स्वाहा) प्रदान की । (भुवनपतये) भुवनपति देवताके निमित्त यह हवि (स्वाहा) प्रदान की (भूतानां पतये) भूतोंके पति देवताके उद्देशसे यह हवि (स्वाहा) प्रदान की ॥ ४–६ ॥ २ ॥

विशेष–' स्वाहा ' शब्द निपातन है और देवताओंको दानमें आता है । " स्वाहाकारश्च वषट्कारश्च देवा उपजीवन्ति " इति श्रुतेः ।

गाथा प्रमाण–पहिले कभी अग्निके भ्राता यज्ञभागमें विवाद कर अन्तमें वषट्कारके भयसे भीत होकर भूमिमें प्रविष्ट हुए उनके दुःखसे अग्निभी जलमें प्रविष्ट हुई, तब देवता इनको अभय देकर लाये, और अपने अधिकारमें स्थापित कर इनसे कहा कि वेदीकी परिधिके बाहिर जो कुछ हवि पतित होगी उसमें इन तीनों भाइयोंका अधिकार होगा । " अथ परिधीन् परिदधाति " इत्यादिश्रुतेः ।

" तथेति देवा अब्रुवन् यद्बहिष्परिधि कन्त्स्याति " इत्यादिश्रुतेः [शत० १ । ३ । ३ । १३ । १६] ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मन्त्र ३.

गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः ॥ इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः ॥ मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्म्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ गन्धर्वइत्यस्य प्रजापतिर्ऋ०।याजुषीगा०छं०।परिधिर्देवता । मध्यमपरिध्याधाने वि० । (२) ॐइन्द्रस्येत्यस्यप्र० ऋ० । याजुषीछं० । परिधिर्दे० । दक्षिणपरिध्याधाने वि० । (३) ॐमित्रावरुणा इत्यस्य प्र०ऋ० । यजुश्छं० । परिधिर्दे० । उत्तरपरिध्याधाने वि० ॥ ३ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकाके तीन मंत्रोंसे वेदीके ऊपर पश्चिम दक्षिण और उत्तर क्रमसे तीन परिधि प्रदान करे तहां प्रथम मत्रसे पश्चिम परिधिको रेखा संयुक्त करै [कात्या० २ । ८ । १] मंत्रार्थ-हे परिधि ! (विश्वावसुर्गन्धर्वः) सब विश्वमें निवास करनेवाला गन्धर्व (विश्वस्य) आहवनीयरूप विश्वकी (अरिष्ट्यै) हिंसा वा विघ्नके निवारण करनेके निमित्त (त्वा) तुमको (परिदधातु) आहवनीयके पश्चात् सब ओरसे स्थापन करै, और केवल अग्निकी ही परिधि नहीं (यजमानस्य) असुरोंसे रक्षा करनेको यजमानकी (परिधिरसि) परिधि हो, पश्चिम देशमें स्थापित हो (अग्निरिडः, ईडितः) आहवनीयके प्रथम भ्राता भुवपति नाम अग्निरूप होत्रादिसे स्तुतियोग्य हो[अर्थात् तुम अनेकोंके मध्य अग्निमय होनेसे स्वयं अग्निरूप हो हे स्तुतियोग्य तुम्हारी हम स्तुति करते हैं] विधि-(२) दूसरे मंत्रसे दक्षिण परिधिको रेखासंयुक्त करै । मंत्रार्थ-हे दूसरी दक्षिण परिधि ! तुम (इन्द्रस्य) इन्द्रकी (दक्षिणः) दाहिनी (बाहुरसि) भुजा हो (विश्वस्यारिष्ट्यै) आहवनीयरूप विश्वके हिंसा और विघ्ननिवारण करनेके निमित्त यजमानस्य परिधिरसि) यजमानकी परिधि अर्थात् रक्षक हो (अग्निरिडऽईडितः) आहवनीयके दूसरे भ्राता भुवनपति स्तुतियोग्य होत्रादिसे स्तुति कियागया २ ।

विधि–(३) तीसरे मंत्रसे उत्तर परिधि को रेखासंयुक्त करै । **मन्त्रार्थ**–हे तृतीय परिधे ! (मित्रावरुणौ) मित्रावरुण नाम दो देवता वा वायु आदित्य (ध्रुवेण) स्थिर (धर्मणा) धारनेसे (उत्तरतः) उत्तर दिशामें (त्वा) तुझको (परिधत्ताम्) सब ओरसे स्थापन करें (विश्वस्यारिष्टयै) आहवनियरूप विश्वकी हिंसा और विघ्नके निवारणके निमित्त वा संसारके सुखके निमित्त (यजमानस्य परिधिरासि) तुम यजमानके रक्षक हो (अग्निरिडईऽडितः) भूतोंका पति अग्निका तीसरा भाई स्तुतियोग्य होत्रादिसे स्तुति किया गया ॥ ३ ॥

भावार्थ–तीनों परिधियोंसे तीनों दिशाओंकी रक्षा होतीहै पूर्वदिशाके स्वयं सूर्य रक्षक हैं [श० २ । ३ । ४८ ।] श्रुत्यन्तरमें लिखाहै कि द्युलोकमें स्थित सोमकी रक्षा करनेको उसके पार्श्वमें सर्वत्र गन्धर्व रहते हैं। परिधि न करनेसे उसमें असुर प्रवेश करजातेहैं, और हिंसा करतेहैं रक्षणमें समर्थ होनेसे इन्द्रकी भुजारूप कहा है मंत्रोंके पाठसे गुप्तरूप विघ्न दूर होते हैं ॥ ३ ॥

कण्डिका ४–मन्त्र १ ।

वीतिहोत्रन्त्वाकवेद्युमन्तꣳसमिधीमहि ॥ अग्ने बृहन्तमध्वरे ॥ ४ ॥

ऋष्यादि–ॐवीतिहोत्रमित्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । गायत्रीछन्दः । अग्निर्देवता । आहवनीये समित्प्रक्षेपणे वि० ॥ ४ ॥

विधि–(१) इस काण्डिकासे प्रथमपरिधिके ऊपर प्रज्वलित समित् स्थापन करै (यह ऋचा है) [का० २ । ७ । २] **मंत्रार्थ**–हे (कवे) क्रान्तदर्शी भूत भविष्य तथा दूरस्थित पदार्थोंका ज्ञान एक साथ रखनेवाले (अग्ने) अग्निदेवता (अध्वरे) यज्ञ करनेके निमित्त(वीतिहोत्रम्)पुत्रपौत्र धनादिकी सम्रृद्धिके निमित्त वा होम करनेसे सम्रृद्धि देनेवाले वा होत्रकर्ममें अभिलाषावाले (द्युमन्तम्) स्वयंप्रकाशमान (बृहन्तम्) महान् (त्वा) आपको (समिधीमहि) इस इध्मकाष्ठसे प्रदीप्त करते हैं ॥ ४ ॥

अभिप्राय–यह मंत्र परमात्माकीभी प्रार्थनाका है उन उन विशेषणयुक्त परमात्माको हम ज्ञानाग्नि प्रज्वलित कर जानते हैं [ऋ०अष्टक ४ । अध्याय १ । वर्ग १९] आगे इसी प्रकार जानो ॥ ४ ॥

कण्डिका ५–मन्त्र २ ।

समिदसिसूर्य्यस्त्वापुरस्तात्पातुकस्याश्चिदभिशस्त्यै ॥ सवितुर्ब्बाहूस्थऽऊर्णम्म्रदसन्त्वास्तृ

णासिस्स्वासुस्त्थन्देवेब्भ्युऽआत्त्वावसंवोरुद्द्राऽआ द्दित्त्याःसंदन्तु ॥ ५ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐसमिदित्यस्य प्र० ऋ० । दैवीबृहती छं० । अग्निर्देवता । आहवनीयेसमित्प्रक्षेपणे विनि० ।(२) ॐसूर्यइत्यस्य प्र० ऋ० । आसुरीगायत्रीछन्दः । लिंगोक्तादेवता । जपे वि० । (३) ॐसवितुरित्यस्य प्र० ऋ० । याजुषीगायत्रीछं० । विधृतिर्देवता । बर्हिस्तृणतिर्यङ्निधाने वि० । (४) ॐऊर्णम्रदसमित्यस्य प्र० ऋ० । आसुरी गायत्रीछं० । प्रस्तरो देवता । तृणोपरिप्रस्तरास्तरणे वि० । (५) ॐआत्वेत्यस्य प्र० ऋ० । आसुरीगायत्री छंदः । प्रस्तरोदेवता । प्रस्तरोपस्पर्शनेवि० ॥ ५ ॥

विधि—(१) प्रथम मंत्रसे दूसरी परिधिसे समित् रक्षा करै फिर उस परिधिको स्पर्शन करै [का० २ । ८ । ३] मंत्रार्थ—हे इध्मकाष्ठ ! तुम (समिद्) अग्निको सम्यक् दीप्त करनेवाले (असि) हो १ । विधि—(२) दूसरे मंत्रका पाठ करते हुए आहवनीयका निरीक्षण करै [का० २ । ८ । ४]हेआहवनीय (सूर्यः)सूर्य देवता (पुरस्तात्) पूर्व दिशामें (कस्याश्चिदभिशस्त्यै) जो कोई विघ्न उपस्थित हो उस सब प्रकारकी हिंसासे (त्वा) तुमको (पातु) रक्षा करै [और तीन दिशाओंमें तीन परिधि रक्षा करती हैं; पूर्वमें रक्षा न होनेसे सूर्यसे रक्षा की. तथा च श्रुतिः "गुप्त्यै वा अभितः परिधयो भवन्त्यथैतत्सूर्य्यमेव पुरस्तात् गोप्तारं करोति" इति श० १ । ३ । ४ । ८ ।] विधि—(३) तीसरे मन्त्रसे दो कुशा तिर्यग्भावसे स्थापित करै [का० २ । ८ । ९] मन्त्रार्थ—हे तृण ! दोनों तुम (सवितुः) सविता देवताकी(बाहू स्थः) बाहुस्वरूप हो (अर्थात् प्रस्तर धारण करनेसे सवितादेवताकी भुजास्वरूप हो)३।विधि—(४)चौथे मन्त्रसे इन कुशाओंपर प्रस्तर (दर्भपूली)स्थापन करै [का० २ । ८ । १०] हे कुशसमूह ! (देवेभ्यः) देवताओंके (स्वासस्थम्) सुखसे ऊंचे स्थानमें बैठनेके निमित्त (ऊर्णम्रदसम्) ऊनकी समान कोमल (त्वा) तुमको (स्तृणामि) बिछाता हूं ४ । विधि—(५)इन बिछाये कुशोंको हाथसे स्पर्शकर पांचवां मंत्र पढै [का० २ । ८ । ११ ।] मन्त्रार्थ—(वसवः) वसुगण (रुद्राः) रुद्रगण (आदित्याः) आदित्यगण प्रातः मध्याह्न सायम् इन तीनों सवनके अभिमानी तीनों देवता (आत्वा) सब ओरसे तुमपर (सदन्तु) स्थित हों॥५॥

आशय—समिधादिको इस प्रकार मंत्रोंसे अभिमंत्रित कर यज्ञकार्य करनेसे

देवता बलवान् होते हैं, कारण कि मंत्रोंमें देवताओंका निवास है इस कारण अन्न धन जनकी वृद्धिके निमित्त देवताओंकी उपासना करै ॥ ५ ॥

कण्डिका ६–मन्त्र ६ ।

घृताच्यसिजुहूर्न्नाम्नासेदम्प्रियेणधाम्नांप्प्रियᳪसदऽआसीदघृताच्यस्युपभृन्नाम्नासेदम्प्रियेणधाम्नांप्प्रियᳪसदऽआसीदघृताच्यसिध्रुवानाम्नासेदम्प्रियेणधाम्नांप्प्रियᳪसदऽआसीदप्प्रियेणधाम्नांप्प्रियᳪसदऽआसीद ॥ ध्रुवाऽअसदन्नृतस्ययोनौताविष्णोपाहिपाहियज्ञम्पाहियज्ञपतिंपाहिमांय्यज्ञन्यम् ॥ ६ ॥ [६]

ऋष्यादि–(१) ॐघृताचीत्यस्य प्र० ऋ० । साम्नीत्रिष्टुप् छं० । जुहूर्देवता । प्रस्तरे प्रागग्रजुह्वासादने वि० । (२) ॐघृताचीत्यस्य प्र०ऋ० । साम्नीत्रि० । उपभृद्दे० । बर्हिष्युपभृदासादने वि० । (३) ॐघृताच्यसीत्यस्य प्र० ऋ० । साम्नीत्रिष्टुप्० । ध्रुवादेवता । बर्हिषिध्रुवासादने वि० । (४) ॐप्रियेणेत्यस्य प्र० ऋ० । याजुषीजगती छं० । हविर्दे० । वेदिस्थहविरालम्भने वि० । (५) ॐध्रुवेत्यस्य प्र० ऋ० । यजुश्छं० । विष्णुर्देवता । वेदिस्थसर्वहविरालम्भने वि० । (६) ॐपाहीत्यस्य प्र० ऋ० । याजुषीगायत्री छं० । विष्णुर्देवता । हस्तेन हृदयालम्भने वि० ॥ ६ ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे वामहस्तसे युक्त दक्षिणहस्तसे प्रस्तरके ऊपर जुहू[1] स्थापित करै [का० २ । ८ । १२ । १३] मन्त्रार्थ–हे जुहू ! (जुहूनाम्ना) जुहूनामसे प्रसिद्ध तुम (घृताच्यसि) घृतपूर्ण होते हो सो तुम (प्रियेण धाम्ना) देवताओंके प्रिय घृतके साथ (इदम्) इस (प्रियम्) प्यारे (सदः) प्रस्तरनाम आसन पर (आसीद) बैठो १ । विधि–(२) दूसरे मंत्रसे उपभृत्[2] स्थापन करै । मंत्रार्थ–हे उपभृत् ! तुम (नाम्ना उपभृत्) उपभृत्नामसे प्रसिद्ध (घृताच्यसि) घृतसे पूर्ण

१ जुहू एक प्रकारका स्रुक् होताहै यह पलाश (ढाक) का बनाया हुआ अर्धचन्द्र आकारवाला बाहुप्रमाण यज्ञपात्र होता है होम करनेमें साधक होता है । २ उपभृत् भी एक स्रुक् है जुहूके समीपमें रक्खे घृत धारण करै इसी कारण इसको उपभृत् कहते है ।

होते हो (सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳसद आसीद) इस समय देवताओंके प्रिय इस घृतसे परिपूर्ण हो इस प्रिय आसन प्रस्तरपर स्थित हो २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे ध्रुवा स्थापन करै । **मन्त्रार्थ**-(नाम्नाध्रुवा) तुम ध्रुवा नामसे प्रसिद्ध (घृताच्यसि) सर्वदा घृतसे सिञ्चित हो (सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीद) इस समय देवताओंके प्रिय इस घृतसे परिपूर्ण होकर इस प्रिय आसन प्रस्तरपर स्थित हो ३ । **विधि**-(४) चौथे मंत्रसे पुरोडाश वेदीके ऊपर ग्रहण करै [का० २ । ८ । १९ ।] **मन्त्रार्थ**-हे हवि (प्रियेण धाम्ना) घृतके साथ (प्रियम्) प्रिय(सदः) इस पर (आसीद) स्थित हो ४ । विधि-(५) अवशिष्ट पुरोडाश प्रभृति देखते हुए पांचवां मंत्र पढै [का० २ । ८ । १९ ।]**मन्त्रार्थ**-हे (विष्णो) सर्वव्यापक परमेश्वर (ऋतस्य) फलके अवश्य प्राप्त होनेके कारण सत्यस्वरूप यज्ञकी (योनौ) स्थानमें जो हवियें (असदन्) स्थित हैं (ताः) उन हवियोंको (पाहि) रक्षा करो. केवल पुरोडाशकी ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण (यज्ञश्च) यज्ञकी भी (पाहि) रक्षा करो. (यज्ञपतिम्) यज्ञकर्ताको (पाहि) रक्षा करो. ५ । **विधि**-(६) छठे मंत्रसे आत्मरक्षाकी प्रार्थना करै [का० २ । ८ । २०] हे परब्रह्म परमात्मन् ! (यज्ञन्यम्) यज्ञके प्रवर्तक (माम्) मुझ अध्वर्युकी (पाहि) रक्षा करो ॥ ६ ॥

प्रमाण-"एतद्वै देवानां प्रियतमं धाम यदाज्यम्" इति श्रुतेः [श० २ । ३ । २ । १७] हूयते अनयेति जुहूः । "क्विपि द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च जुहोतेर्दीर्घश्च" [पा० क० ३ । २ । १७८ प० २ । ३] इति द्वित्वं दीर्घश्च ।

अभिप्राय-रक्षाके निमित्त परमात्मासे ही प्रार्थना करनी चाहिये कारण कि आत्मासे ईश्वरका सम्बन्ध है और वही सबका नियन्ता है ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मन्त्र ४ ।

अग्ने॑ वाजजिद्वाजं॑न्त्वा सरिष्यन्तं॑ वाजजित॒ꣳ सम्मा॑र्ज्मि ॥ नमो॑ दे॒वेभ्यः॑ स्व॒धा पि॒तृभ्यः॑ सु॒यमे॑ मे भूयास्तम् ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअग्नइत्यस्य प्र० ऋ० । यजुश्छं० । अग्निर्देवता । आहवनीयस्योपरिमध्यप्रदेशे त्रिः संमार्जने वि० । (२) ॐनमइत्यस्य

१-ध्रुवा भी स्रुक् है विकङ्कतवृक्ष के काष्ठ से निर्मित बाहुप्रमाण वटपत्राकृति यज्ञीयपात्र को ध्रुवा कहतेहैं इसमें होमीय आज्य रखते हैं ।

प्र० ऋ० । दैवीपंक्तिश्छन्दः । देवा देवताः । आहवनीयप्रत्यञ्जलिकरणे वि० । (३) ॐस्वधेत्यस्य प्र० ऋ० । दैवी पंक्ति० । पितरोदेवताः । आहवनीयाद्दक्षिणतउत्तानाभ्यां पाणिभ्यां पितॄन्प्रत्यञ्जलिकरणे वि० । (४) ॐसुयमइत्यस्य प्र० ऋ० । आर्च्युष्णिक् छं० । जुहूपभृतौ देवते । जुहूपभृदादाने वि० ॥ ७ ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे रज्जुमें बंधी समिध् लेकर उससे प्रत्येक परिधिके प्रदक्षिणक्रमसे तीन वार अग्निसम्मार्जन करै [का० ३ । १ । १३] **मंत्रार्थ**–(वाजजित् अग्ने) हे अन्नके जीतनेवाले अग्नि ! (वाजंसरिष्यन्तम्) अन्नके उद्देशसे जाते हुए वा तुमसे अनेक अन्न उत्पन्न होंगे इस निमित्त (वाजजितम्) अन्नका प्रतिबंध निवारण करनेवाले वा अन्नके उद्देशसे जययुक्त (त्वा) तुमको (सम्मार्ज्मि) मार्जन [शोधन] करता हूं १ । **विधि**–(२) आहवनीयके प्राङ्मुख हो हाथ जोड़ दूसरे मंत्रसे देवताओंको नमस्कार करै [का० ३ । १ १९] जो देवता इस अनुष्ठानपर अनुग्रह करते हैं, उन (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (नमः) नमस्कार है २ । **विधि**–(३) दक्षिणकी ओर मुखकर उत्तान अञ्जलिसे पितरोंको नमस्कार करै [का० ३, १, १९] जो पितृगण इस अनुष्ठानपर अनुग्रह पालन करते हैं (पितृभ्यः) उन पितरोंके निमित्त (स्वधा) स्वधा अन्न देते हैं [नमस्कार करते हैं] [स्वधाशब्द पितरोंके उद्देशसे जो द्रव्य दिया जायँ उसके दानमें वर्तता है इन दोनों मंत्रसे देवता पितरोंका सत्कार किया गया] ३ । **विधि**–(४) चौथे मंत्रसे जुहू और उपभृत् ग्रहण करै [का० २ । ४ । १६] हे जुहू ! हे उपभृत् ! तुम दोनों (मे) मेरे इस यज्ञमें (सुयमे) सावधान (भूयास्तम्) होवो जिस कारण तुममें स्थित घृत न गिरे इस प्रकार धारण करो ॥७॥

प्रमाण–"वाजइत्यन्ननामसु पठितम्" [निघं० २ । ७ ।] "स्वधेत्यन्ननामसु पठितम्" [नि० १ । १२]

विचार–इस मंत्रमें देवता पितरोंका भेद प्रतिपादन किया है देवताओंको पूर्वमुख पितरोंको दक्षिणमुख हो नमस्कार करे इससे विदित हुआ कि पितृगण दक्षिण दिशामें निवास करते हैं और देवताओंसे भिन्न हैं ॥ ७ ॥

कण्डिका ८–मन्त्र ३ ।

अस्कन्नमद्य देवेभ्युऽआज्ज्यꣳसम्म्भ्रियासमङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्क्रमिषंवसुमतीमग्ग्नेते च्छा

यामुपस्थेषं विष्णोस्स्थानमसीतऽइन्द्रो वीर्य्यमकृणोदूर्ध्वोऽध्वरऽआस्थात् ॥ ८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐअङ्घ्रिणेत्यस्य प्रजा० ऋ० । याजुषीत्रिष्टुप् छं० । विष्णुर्देवता । वेद्यारोहणे वि० । (२) ॐवसुमतीमित्यस्य याजुषी छं० । अग्निर्देवता । वेद्यामैशान्यभिमुखावस्थाने वि० । (३) ॐइत इन्द्र इत्यस्य याजुषी गायत्री छं० । इन्द्रो देवता । आज्येनोत्तराघारहवने वि० ॥ ८ ॥

पूर्वमंत्रशेषार्थ–हे जुहू ! हे उपभृत् ! ऐसा होनेपर (अद्य) इस अनुष्ठानके दिनमें (देवेभ्यः) देवताओंके उपकारके निमित्त (आज्यम्) तुममें रक्खा हुआ घृत (अस्कन्नम्) भूमिमें जिस प्रकार न गिरे इस प्रकार (सम्भ्रियासम्) सम्यक् प्रकारसे पोषण वा धारण करता हूं [इस मंत्रभागका पूर्वमंत्रसे सम्बन्ध है]

विधि–(१) इस मंत्रसे वेदीपर आरोहण करै [का० ३, १, १६] मंत्रार्थ–(विष्णो) हे व्यापक यज्ञपुरुष (अंघ्रिणा) चरणद्वारा मैं (त्वा) तुमको (मा) नहीं (अवक्रमिषम्) आक्रमण करता हूं वेदीपर चरण रखनेका दोष मुझे प्राप्त न हो १ । विधि– (२) अगला मंत्र पढ़ कर प्रज्वलित अग्निके छायाभागमें स्थिति करै [का० ३ । १ । १९] मंत्रार्थ–(अग्ने) हे अग्नि ! (ते) तुम्हारी (छायाम्) छायावत् समीपवर्तिनी (वसुमतीम्) पृथ्वीमें (उपस्थेषम्) बैठता हूं हे वसुमति ! तुम (विष्णोः) यज्ञका (स्थानमसि) स्थान हो । [यहां स्थित होकर यज्ञ किया जासकता है । आहवनीय के समीपवर्ती है इसके होनेसे भूमि को यज्ञस्थान कहा] अथवा हे अग्ने ! तुम्हारी (वसुमतीम्) धन प्राप्त करनेवाली छायाके आश्रयको लेता हूं तुम्हारी चरण छायामें निवास करूं. कारण कि तुम यज्ञका स्थान हो २।विधि–(३)अगले मंत्रसे हवन करै [का० ३,२,१] [पूर्व मंत्रमें जो यज्ञसम्बन्धि स्थान कहाहै वह देवताओंका विजयहेतु होनेसे इतनामसे कहा जाताहै देवयजनसे अतिरिक्त भूमि असुरोंके अधीन होने से वहां देवताओंके प्रभव न होनेसेभी यज्ञस्थान पराजयरहित है वही इस मंत्रमें कहा है] (इन्द्रः)इन्द्र(इतः)इस देवयजनस्थानसे उद्युक्त होकर (वीर्यम्)शत्रुवधरूप पराक्रम को(अकरोत्) करता हुआ इसी कारण (अध्वरः) यज्ञ (ऊर्ध्वः) उन्नत (आस्थात्)स्थित हुआ है । [आशय यह कि इन्द्र के पराक्रमसे शत्रुओं के किये विघ्न न होनेसे यज्ञ उन्नत होगा] ॥ ८ ॥

कण्डिका ९–मन्त्र १ ।

अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यमवतान्त्वान्द्यावापृथिवीऽअ-

वुत्त्वन्द्यावांपृथिवीस्स्विष्टकृद्देवेभ्यऽइन्द्रऽआज्ज्यें नहुविषांभूत्स्वाहासञ्ज्योतिंषाज्ज्योतिः॥९॥ [३]

ऋष्यादि-(१) ॐअग्र इत्यस्य प्राजापत्य ऋ० । आर्षीजगती छं० । आज्यं दैवतम् । जौहवेनाज्येनध्रौवसमञ्जने वि० ॥ ९ ॥

मंत्रार्थ-(१) (अग्ने) हे अग्ने ! तुम (होत्रम्) होताके कर्मको अवश्य (वेः) जानो (दूत्यम्) अपने दूतपनके कार्यको अवश्यही (वेः) जान इस प्रकारके तुझको (द्यावापृथिवी) स्वर्ग और भूमि (अवताम्) पालन वा रक्षा करैं. हे अग्ने ! (त्वं) तूभी (द्यावापृथिवी) लोकद्वय देवताकी (अव) रक्षाकर. इस प्रकार अन्योन्यकी पालना होनेसे (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् इन्द्र (आज्येन हविषा) हमारी दीहुई घृतरूप हविसे (देवेभ्यः) देवतोंके निमित्त (स्विष्टकृत्) संतुष्ट करनेवाला हो अर्थात् हम यह हवि देकर देवताओंको संतुष्ट करते हैं वह तुष्ट होकर हमारे इष्ट सिद्ध करें हमारा यज्ञ विकलतारहित हो (स्वाहा) यह आहुति अच्छी आहुति हो इन्द्रदेवताके उद्देशसे यह घृत दिया ।

विधि-अगले मंत्रसे जुहूद्वारा ध्रुवाको अञ्जित करै [का० ३,२,२] मंत्रार्थ-(ज्योतिषा) इस ध्रुवामें स्थित घृतकी ज्योतिके साथ (ज्योतिः) जुहूद्वारा सिच्यमानरूप ज्योति (सं-"गच्छतामित्यध्याहारः") प्राप्त हो ॥ ९ ॥

प्रमाण-"उभयं वा एतदग्निर्देवाना छं होता च दूतश्च" इति [श०१।४।५।४] "अग्निमीडे पुरोहितम् होतारम्" इत्यादि [ऋ० १ । १ । १ । १ ।] "अग्नि दूतं" [साम० १ । १ । १ । ३ ।]

आशय-जिस प्रकार देवता और यज्ञकर्ता परस्पर सहायकारी होकर तेज बलसंयुक्त होते हैं इसीप्रकार परस्पर मनुष्योंको एकको दूसरेका कार्य साधन करना चाहिये ।

कण्डिका ३-मन्त्र ३ ।

मयीदमिन्द्रऽइन्द्रियन्दधात्वस्म्मान्न्रायोमुघवानःसचन्ताम् ॥ अस्माकंꣳसन्त्वाशिषःसुत्त्या नःसन्त्वाशिषऽउपहूतापृथिवीमातोपमाम्पृथिवीमाताह्वयतामुग्निराग्नींध्रात्स्वाहा ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐमयीदमित्यस्य प्राजापत्य ऋ० । यजुश्छं० । आशी-

देवता । आशीःप्रार्थने वि० । (२) ॐउपहूतेत्यस्य प्र० ऋ० । याजुषीगा० छं० । पृथिवी देवता । भागप्राशने वि० ॥ २ ॥

विधि-(१) प्रधान यज्ञ होचुकने पर पुरोडाशशेष भोजन करनेके समयमें होता यजमान को आशीर्वाद करें उस समय यजमान इस प्रकार जप करै [का० ३ । ४ । २१] मन्त्रार्थ-(इन्द्रः) परमऐश्वर्यवान् परमेश्वर (इदम्) इस प्रकार अपेक्षित (इन्द्रियम्) वीर्य पराक्रमको (मयि) मुझ यजमानमें (दधातु) स्थापन करैं अर्थात् मेरी इन्द्रिय सबल हों. किञ्च (रायः) अनेक प्रकारके धन अर्थात् देवता मनुष्योंके भेदसे दो प्रकारके (मघवानः) धनवाले (अस्मान्) हम यजमानोंको (सचन्ताम्) सेवन करें (अस्माकम्) हमारे (आशिषः) सम्पूर्ण अभीष्ट (सन्तु) सिद्ध हों. किञ्च (नः) हमारी (आशिषः) प्रार्थना मनोरथ (सत्याः) सत्य (सन्तु) हों १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे अग्नीध्र हुतशेष पुरोडाश भक्षण करे [का० ३ । ४ । १८ । १९ । २०] जिस समय होता द्यावापृथ्वीका उपह्वान करता है तव दोनों पुरोडाशोंमेंसे एक एक अंश छः छः भाग-करके अग्नीध्र को देता है वह उपहूता मंत्र से उसे भक्षण करता है । मन्त्रार्थ-(उपहूता) आराधना की हुई, जो यह (पृथिवी) है सो जगत् की (माता) निर्माण करनेवाली है सो मुझसे आराधना की हुई (माता) पालन करनेवाली मातारूप पृथिवी (माम्) मुझको (उपह्वयताम्) हविशेष भक्षण करने की आज्ञा दे मेरी (अग्नीध्रात्) हे माता अग्निमें आहुतिप्रदान करनेसे जाठराग्नि अतिप्रदीप्त हुई है इस कारण से (अग्निः) अग्निरूपसे उस भाग को खाताहू (स्वाहा) जाठराग्नि में सुहुत हो ॥ १० ॥

प्रमाण-"मघमिति धननाम" [निघं० । २, १०] तद्विद्यते येषान्ते मघवानः ।

अभिप्राय-परमात्माकी प्रार्थना उपासना से ही मनुष्यों के सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध होते हैं इस कारण उस की आराधना करनी सब को उचित है ॥१०॥

काण्डिका ११-मन्त्र ४ ।

उपहूतो द्यौष्पितोप मान्द्यौष्पिता ह्वयताम् अग्निराग्नीध्रात्स्वाहा ॥ देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम्पूष्णो हस्ताभ्याम् ॥ प्रतिगृह्णाम्यग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामि ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐउपहूतइत्यस्यप्रजापतिर्ऋषिः । साम्नीत्रिष्टुप् छं० द्यौर्देवता । स्वर्गह्वाने वि० । (२) ॐदेवस्येत्यस्यबृहस्पतिर्ऋषिः । प्राजापत्याबृहतीछं० । सविता देवता । स्वर्गह्वाने वि० । (३) ॐप्रतिगृह्णामीत्यस्य बृ० ऋ० । दैवीपंक्तिश्छन्दः । प्राशित्रं दैवतम् । प्राशित्रग्रहणे वि० । (४) ॐअग्नेरित्यस्य प्र० ऋ० । प्राजापत्यागायत्री छं० । प्राशित्रं दैवतम् । प्राशित्रभक्षणे वि० ॥

विधि-(१)दूसंरार्भी इसीप्रकार। मंत्रार्थ-(उपहूतः)आराधना किया हुआ (द्यौः) जगत्पालक सविता हमारा(पिता)पालक है(पिता) पालक पितारूप (द्यौः)सविता वा स्वर्ग (मा)मुझे(उपह्वयताम्)शेषभक्षण की अनुमति प्रदान करै(आग्नीध्रात् अग्निः स्वाहा) हे पितः ! अग्निमें अनुक्षण समित्प्रदान करते २ जाठराग्नि अतिशय प्रदीप्त हुई है उस की तृप्ति के निमित्त यह सुन्दर आहुति हो १।विधि-(२) दूसरे मंत्र से ब्रह्मा प्राशित्रग्रहण करै [का० २,७, १६] मंत्रार्थ-(देवस्य त्वेति) हे प्राशित्र ! सविता देवता की प्रेरणा अश्विनीकुमार की बाहुद्वय और पूषा देवताके दोनो हाथोंकी सहायतासे तुमको ग्रहण करता हूं २।विधि-(३)दांत न लगे इस प्रकार प्राशित्रभक्षण करै [का०२, २,१८] मंत्रार्थ-हे प्राशित्र !(अग्नेः) अग्निदेवता के (आस्येन) मुख से (त्वा) तुमको (प्राश्नामि) भक्षण करता हूं ॥ ११ ॥

आशय-यजमान को उचित है कि समस्त यज्ञकार्य अहंकाररहित होकर करै ऐसा जाने कि यह जो कुछ होता है सो देवता ही करते हैं मैं कर्ता नहीं हूं तथा यज्ञका शेषभाग आत्माग्निकी उन्नति के निमित्त भक्षण करै, इससे सत्त्वगुण की वृद्धि होकर पापक्षय होनेसे परम पिता परमात्माके निकट प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मन्त्र १ ।

एतन्ते देवसवितर्य्यज्ञम्प्राहुर्बृहस्प्पतयेब्रह्मणे ॥ तेनंयज्ञमंवुतेनंयज्ञपंतिन्तेनमामंव ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐएतमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । यजुश्छं० । विश्वेदेवादेवता । ईश्वरप्रार्थने वि० ॥ १२ ॥

विधि-(१)इस मंत्र से तेरहवें मंत्रतक ब्रह्मा सविता देवता की आराधनापूर्वक यजमान को समिदाधान की आज्ञा दे [का० । २ । २ । २१ ।] मंत्रार्थ-हे (देव) दानादिगुणयुक्त हे (सवितः) सब के उत्पन्न प्रेरण करता (एतं यज्ञम्) इस समय किये जाते इस यज्ञ को (ते) तुम्हारे निमित्त यजमान (प्राहुः) अनुज्ञा

* यवमात्र वा पिप्पलमात्र भाग ।

करते हैं, अर्थात् यज्ञ यह आपके निमित्त है ऐसा कहते हैं. और आपसे प्रेरित हुए इस यज्ञ मैं (ब्रह्मणे) ब्रह्माके निमित्त (बृहस्पतये) बृहस्पतिके निमित्त कहते हुए " बृहस्पतिर्वै देवानां ब्रह्मा " बृहस्पति देवताओंका ब्रह्मा है उससे अधिष्ठित होकर यह मनुष्य ब्रह्मत्व करता है. अर्थात् हे सवितः सब से प्रथम इस यज्ञ में यथाकर्तव्य उपदेश में बृहस्पति प्राप्तहुए हैं इस कारण वह तुम्हारे यज्ञीय ब्रह्मा हैं इतना यह यज्ञ आपहीके शिक्षानुसार होता है (तेन) इस कारणसे (यज्ञम्) इस यज्ञ की (अव) रक्षा करो (तेन) इसीकारण (यज्ञपतिम्)यजमान की (अव) रक्षा करो (तेन) तिसी कारण (माम्) मेरी (अव) रक्षा करो ॥ १२ ॥

अर्थात् मुझे ब्रह्मा को पालन करो, परमात्मा की प्रेरणासे सब कार्य होता है इस कारण रक्षा और प्रार्थना उसीसे करते हैं ॥ १२ ॥

कण्डिका १३—मन्त्र १ ।

मनोजूतिर्जुषतामाज्ज्यस्यबृहस्प्पतिर्यज्ञमिमन्तनोत्वरिष्टंयज्ञꣳसमिमन्दधातु ॥ विश्वेदेवासऽइहमादयन्तामो३म्प्रतिष्ठ ॥ १३ ॥

ऋष्यादि—(१) मनोजूतिरित्यस्य प्र० ऋ० । यजुश्छं० । विश्वेदेवा देवताः । ब्रह्मणोऽनुज्ञाने वि० ॥ १३ ॥

विधि—(१) ब्रह्माको आज्ञा देवै । मन्त्रार्थ—सवितादेवताको (जूतिः) सर्वव्यापी (मनः) चित्त (आज्यस्य) यज्ञसम्बन्धी आज्य घृतको (जुषताम्) सेवन करै (बृहस्पतिः) बृहस्पति देवता (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञको (तनोतु) विस्तार करो वह (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञको (अरिष्टम्) हिंसारहित वा निर्विघ्न (सन्दधातु) सम्पूर्ण करो (विश्वेदेवासः) सम्पूर्ण देवता (इह) इस यज्ञकर्म- में (मादयन्ताम्) तृप्तिलाभ करें, यजमानके प्रति इस प्रकारसे प्रार्थना किये सविता देवता (ओ ३ म्प्रतिष्ठ) ऐसा ही हो ऐसी आज्ञा दें ॥ १३ ॥

भावार्थ—हमारी प्रार्थना स्वीकार करके परमात्मा तुम को समिदाधान की अनुमतिप्रदान करै कि जाओ समिदाधान में प्रवृत्त हो. मनुष्यों को श्रेष्ठ कार्योंमें परमात्माकी सहायता लेनी चाहिये । यहांपर ब्रह्मत्व पूर्ण हुआ ।

कण्डिका १४—मंत्र २ ।

एषातेऽअग्नेसमित्तयावर्द्धस्वचाचप्प्यायस्व ॥ वृद्धि

धीमहिंचकुथमाचंप्यासिषीमहि ॥ अग्नेंवाजजिद्वाजंन्त्वासमृवाꣳसंवाजुजितर्ठ्सम्मार्ज्मि॥१४॥[५]

ऋष्यादि-(१) ॐएषातइत्यस्य प्र० ऋ० । अनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । होत्रा समिदनुमन्त्रणे वि० । (२) ॐअग्नइत्यस्य प्र० ऋ० । यजुश्छं० । अग्निर्देवता । अग्निसंमार्जने वि० ॥

विधि-(१) प्रथम मन्त्रसे अग्निमें एक समित् प्रदान करे [का० ३, ९, २] (अग्ने) हे अग्नि ! (एषा) यह (ते) तुम्हारी (समित्) दीप्ति करनेवाली समिधा है (तया) इस समिधा के द्वारा तुम (वर्धस्व) वृद्धिको प्राप्त हो (आप्यायस्व च) हम सब को भी वृद्धि को प्राप्त करो, ऐसा होनेसे तुम्हारे प्रसाद से (वयम्) हम (वर्धिषीमहि) वृद्धि को प्राप्त होंगे (आप्यासिषीमहिच) और तुम्हारे तृप्त होनेसे हम अपने पुत्रपशुआदिकों की सब ओरसे वृद्धि करसकैंगे।

विधि-(२) दूसरे मंत्रका पाठ करता हुआ अग्निसम्मार्जन करे । सातवें खण्डमें अग्नि का जैसे तीन परिक्रमा से सम्मार्जन किया था इस में परिक्रमण के विना ही एकवार मार्जन करे [का० ३, ९, ४] मन्त्रार्थ-(वाजजित् अग्ने) हे अन्न के जीतनेवाले अग्नि ! (वाजम्) अन्नके उद्देश से (ससृवाꣳसम्) जाते हुए वा अन्न सम्पादन करते हुए (वाजजितम्) अन्न के जीतनेवाले (त्वा) तुम को (सम्मार्ज्मि) शोधन करता हूं ॥ १४ ॥

आशय-इस मंत्रसे आत्माग्नि प्रदीप्त करनेसे परमात्मा प्रसन्न हो मनुष्योंके मनोरथ पूर्ण करता है यह आशय गर्भित है ॥ १४ ॥

कण्डिका १५-मन्त्र ३ ।

अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषंवाजस्यमाप्रसवेनप्प्रोहामि ॥ अग्नीषोमौतमपनुदतांय्योस्मान्द्वेष्टियञ्चवयन्द्विष्मोवाजस्यैनम्प्रसवेनापोहामि॥इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषंवाजस्यमाप्प्रसवेनप्प्रोहामि॥ इन्द्राग्नीतमपनुदतांय्योस्म्मान्द्वेष्टियञ्चवुयन्द्विष्म्मोवाजस्यैनम्म्प्रसवेनापोहामि ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअग्नीषोमयोरित्यस्य प्रजा० । यजुश्छं० । लिंगोक्ता देवता । जुहूपभृतोर्व्यूहने वि० । (२) ॐइन्द्राग्न्योरित्यस्य आर्ष्युष्णिक्छं० । लिङ्गोक्तादेवता । प्रतीच्यामुपभृतोनिधाने विनि० । (३) ॐइन्द्राग्नीइत्यस्यआर्षीपंक्तिश्छन्दः । लिङ्गोक्तादेवता । शत्रुनाशने वि० ॥ १५ ॥

विधि-(१-२) पहले और दूसरे मंत्रसे जुहू और उपभृत् को व्यूहन करे. व्यूहन का अर्थ स्थानच्युत अन्योन्य को विपरीत दिशा में रखकर उत्साहित करै, पश्चिमदिशा में स्थित जुहू को पूर्व दिशामें और पूर्वदिशा में स्थित उपभृत् को पश्चिम में स्थित करै [का० ३, ५, १७, १८] मन्त्रार्थ-(अग्नीषोमयोः) द्वितीयपुरोडाश के देवता अग्निसोम के (उज्जितिम् अनु) विघ्नरहित हवि स्वीकार करने से उत्कृष्ट विजय को अनुसरण करके (उज्जेषम्) उत्कृष्ट जय को प्राप्तहूं (वाजस्य) पुरोडाशादि अन्न के (प्रसवेन) अनुज्ञा करके (मा) मैं जुहूरूपधारी यजमान को (प्रोहामि) उत्साह देता हूं अर्थात् पुरोडाशादिने हमको उत्साहित किया है हम भी उस उत्साहसे जुहू और उपभृत् नामक दोनों स्रुक् को उत्साहित करते हैं १ । विधि-(२) उपभृत् को प्रतीचीदिशा में प्रेरणा करे । मन्त्रार्थ-(यः) जो शत्रु असुरादि (अस्मान्) हमारे यज्ञ नाश करनेके निमित्त हमसे (द्वेष्टि) द्वेष करता है (यश्च) जिस अनुष्ठानावरोधी शत्रु से (वयम्) हम (द्विष्मः) द्वेष करते हैं (अग्नीषोमौ) अग्नि और सोम देवता उस को निराकृत करें (वाजस्य) पुरोडाशादि हविके (प्रसवेन) देवता की अनुज्ञासे हविको निर्विघ्न स्वीकार करनेके कारण (अपोहामि) इन दोनों स्रुक् को निराकरण [त्याग] करता हूं २ ।

विधि-(३) अगले दोनों मंत्र दर्शदेवताविषयक समान अर्थवाले हैं केवल प्रथम द्वितीय में (अग्नीषोम) देवता और इन दोनों मंत्रोंमें (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्निका वर्णन है अर्थ वही है ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मन्त्र ६ ।

वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वादित्येभ्यस्त्वा सञ्जानाथान्द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम् ॥
व्यन्तु वयोक्तꣳ रिहाणा मरुताम्पृषतीर्गच्छ वशा पृ

ग्निर्भूरवादिवंङ्गच्छततोनोवृष्टिमावह ॥ चक्षुष्पाऽअंग्नेसिचक्षुर्म्मेपाहि ॥ १६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐवसुभ्यइत्यस्यप्र० ऋषिः। दैवीबृहतीछं० । परिधिर्देवता । जुह्वामध्यमपरिधिमार्जने वि० । (२) ॐरुद्रेभ्यइत्यस्य प्र० ऋ०। दैवीबृ० छं० । परिधिर्दे० । जुह्वादक्षिणपरिधिमार्जने वि० । (३) ॐआदित्येभ्य इत्यस्य प्र० ऋ० । दैवी पंक्ति० । परिधिर्दे० । जुह्वोत्तरपरिधिमार्जने वि० । (४) ॐसञ्ज्ञानाथामित्यस्य प्र० ऋ० । यजुश्छं० । प्रस्तरो दे० । हस्तेनप्रस्तरादाने वि० । (५) ॐव्यन्तुवयइत्यस्य प्र० ऋ० । प्राजापत्यागायत्रीछं० । प्रस्तरोदे० । प्रस्तरस्याग्रमध्यमूलानांजुहूपभृद्ध्रुवास्वञ्जने वि० । (६) ॐमरुतामित्यस्यप्र० ऋ० । बृहतीछं० । परिध्यग्नीदे० । प्रस्तरात्पृथक्कृतस्यैकस्य कुशस्याग्नौ प्रक्षेपणे वि० ॥ १६ ॥

विधि–(१) प्रथम मन्त्रसे मध्यम परिधि जुहूद्वारा घृत से सिक्त करै [का० ३।५।२४] **मंत्रार्थ**–हे मध्यम परिधि! (वसुभ्यः) वसुदेवताओंकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुम को घृतसे सिक्त करता हूं १ । **विधि**–(२) दूसरे मंत्र से दक्षिण परिधि को सिक्त करै । **मन्त्रार्थ**–हे दक्षिणपरिधि ! (रुद्रेभ्यः) रुद्रदेवता की प्रीति के निमित्त (त्वा) तुम को घृतसिक्त करता हूं २ । **विधि**–(३) तीसरे मंत्र से उत्तरपरिधिको घृतसिक्त करै । **मंत्रार्थ**–हे उत्तरपरिधि ! (आदित्येभ्यः) आदित्यदेवताओंकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुम को घृतसिक्त करता हूं [तीनों परिधि के सींचने से तीनों सवन के देवता प्रसन्न होते हैं] ३ । **विधि**–(४) चौथे मन्त्र से प्रस्तरग्रहण करै [का० ३, ६, ३] **मन्त्रार्थ**–(द्यावापृथिवी) हे द्यावापृथिवी ! द्युलोक भूलोक के अधिष्ठितदेवता ! (सञ्ज्ञानाथाम्) तुम ग्रहण किये हुये इस प्रस्तर को भली प्रकारसे जानो हे प्रस्तर ! (मित्रावरुणौ) मित्रावरुण देवता वायु और सूर्य वा प्राण अपान वायु (त्वा) तुमको (वृष्ट्या) जलवर्षासे (अवताम्) रक्षा करै ४ । **विधि**–(५) पांचवें मंत्र से ग्रहण किये हुए प्रस्तर के अग्रभाग में जुहू अधोभाग में उपभृत्नाम स्रुच् मूलभाग में ध्रुवा से घृताक्त करै [का० ३ । ६ । ४ । ७] (अक्तं रिहाणाः) घृतलिप्त प्रस्तर को आस्वादन करते हुए (वयः) अन्तरिक्षचारी देवतागण वा पक्षिरूप गायत्रीआदि छन्द (व्यन्तु)यथातथा ' प्रस्तर ' लेकर विचरण करैं ५ । **विधि**–(६) इस प्रस्तर (पूली) में से एक कुशा पृथक् करके नीचे

हाथसे छठे मंत्र से अग्नि में प्रक्षेप करे [का० ३ । ६ । ८] मंत्रार्थ— हे प्रस्तर ! तुम (मरुताम्) अन्तरिक्ष में मरुतोंकी (पृषतीः) विचित्र गति अवलम्बन कर (गच्छ) जाओ वा मरुत्देवतासम्बन्धिनी वाहनरूप चित्रवर्णता को प्राप्त हो. भाव यह कि अन्तरिक्ष को जाओ (वशा) स्वाधीना (पृश्निः) अल्पशरीरवाली गौ होकर (दिवं गच्छ) स्वर्ग को जा अर्थात् कामधेनु की समान तृप्तिकरी होकर स्वर्ग को जा वा पृथ्वी की मंगलकामनासे द्युलोक को गमन कर (ततः) स्वर्गप्राप्ति के अनन्तर (नः) हमारे निमित्त (वृष्टिमावह) भूलोक में वृष्टि को लाओ अथवा (वशापृश्निर्भूत्वा) पृथ्वी होकर स्वर्ग को जा अर्थात् पृथ्वीसम्बन्धी भागों को लेकर भूलोक को तृप्त कर. आशय यह है कि प्रस्तर अन्तरिक्ष में वाहनसहित मरुतों को तृप्तकर स्वर्ग में देवताओं को तृप्त कर आहुतिके परिणाम से पृथ्वी में वर्षा करे । इस मंत्रसे आत्माको हृदयस्थान पर स्पर्श करके आमचन करे[का० ३. ६. १७.] (अग्ने) हे अग्निदेवता ! जिस कारण से कि तुम (चक्षुष्पाः) नेत्रोंकी रक्षा करनेवाले तेजोरूप (असि) हो इस कारण (मे) मेरी (चक्षुः) नेत्रों की रक्षा करो. प्रस्तरग्रहण में लगे हुए नेत्रों के उपद्रव दूर करो ।

प्रमाण—"य एव वर्षस्येष्टे" [श० १. १. ३. १२] "यजमानो वै प्रस्तरः" इति श्रुतेः [१. ८. १. ४४] " इयं वै वशा पृश्निर्यदिदमस्यां मूलि चामूलं चान्नाद्यं प्रतिष्ठितं तेनेयं वशा पृश्निः" इति श्रुतेः [श० १, ८, ३. १५]

गर्भित आशय—वर्षा का अधिपति वायु अध्यात्मगत प्राण उदानरूप मित्रावरुण देवताओंके नामसे कहा गया है वह प्रस्तररूप यजमान की रक्षा करे यजमान प्रस्तररूप है यदि सम्पूर्ण प्रस्तर अग्निमें प्रक्षेप किया जाय तो यजमान शीघ्र ही परलोकगामी हो इस कारण एक तृण निकालने में भी रक्षा की प्रार्थना करने से पूर्णायुतक जीता है. जहां इस का प्रस्तररूप दूसरा आत्मा गया वहां ही इसे प्रेरण करते हैं इस कारण तृण को एक मुहूर्त उपरान्त अग्नि में डालतेहैं यदि तृण न डाला जाय तो यजमान वहां न पहुंचे.

यज्ञसे देवता मनुष्य वायु की तृप्ति, अच्छी वर्षा, देशमें अरोगता होती है इस कारण यज्ञ का तीनों वर्णों को कभी त्याग न करना चाहिये ॥ १६ ॥

यम्परिधिम्पर्यधत्थाऽअग्ने देवपणिभिर्गुह्यमानः ॥ तन्तऽएतमनुजोषम्भराम्येषनेत्त्वदपचेतयाताऽअग्नेः प्रियम्पाथोपीतम् ॥ १७ ॥

(१) ॐयंपरिधिमित्यस्य देवल ऋषिः । विराड्रूपात्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देव० ॥ प्रथमपरिध्यनुप्रहरणे वि० । (२) ॐअग्नेरित्यस्य देवल ऋषिः । याजुषी छं० । अग्निर्देवता । युगपद्दक्षिणोत्तरपरिधिप्रहरणे वि० ॥

विधि—(१) पहले मंत्रसे मध्यमपरिधिको अग्निमें प्रक्षेप करै [का० ३ । ६ । १७] (अग्नेदेव) हे आहवनीय देवता (पणिभिः) असुरोंसे (गुह्यमानः) घिरे हुए तुमने (यम्) जिस (परिधिम्) परिधिको असुरोंका उपद्रव निवारण करने के निमित्त पश्चिमदिशामें (पर्यधत्थाः) स्थापित किया (ते) तुम्हारे (जोष्यम्) प्रिय (तम्) उस (एतम्) इस परिधि को (अनुभरामि) तुम्हारे समर्पण करता हूं अर्थात् अग्नि में डालता हूं (एषः) यह परिधि (त्वत्) तुम्हारे सकाश से (न इत् अपचेतयाते) वियुक्त नहो अर्थात् वियोगको न जान कर तुममें ही स्थित रहे १। विधि—(२)दूसरी दोनों परिधि एकही कालमें दूसरे मंत्रसे अग्निमें प्रक्षेप करै । मंत्रार्थ—हे दक्षिण उत्तर परिधि ! तुम (अग्नेः) अग्निके (प्रियम्) प्रिय (पाथः) भक्षणयोग्य अन्नके (इतम्) भावको प्राप्त हो अर्थात् आप अग्नि के अन्नभाव को प्राप्त हो ।

प्रमाण—"पाथ इत्यन्ननाम" [निघं० । ६ । ७] ॥ १७ ॥

कण्डिका १८—मन्त्र २ ।

सँस्रवभागास्त्थेषाबृहन्तंः प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्चदेवाः ॥ इमांवाचमभिविश्वेगृणन्तऽआसद्यास्मिन्बर्हिषिमादयद्ध्वँ स्वाहावाट् ॥ १८ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐसँस्रवभागा इत्यस्य सोमशुष्म ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः ॥ विश्वेदेवा देवताः । संस्रवहवने वि० । (२) ॐस्वाहावाडित्यस्य सोमशुष्मऋ० । यजुश्छं० । विश्वेदेवा देवताः । हवने वि० ॥ १८ ॥

विधि—(१)प्रथम मंत्र से घृतसे गीले प्रस्तर को अग्निमें हवन करै [का० ३।६।१८]। मंत्रार्थ—हे विश्वेदेवा! तुम(सँस्रवभागाः)द्रवीभूत घृतके भोजन करनेवाले (इषा)घृतयुक्त भक्षणवाले अन्नसे(बृहन्तः)महान् हो और (प्रस्तरेष्ठाः च) प्रस्तरपर स्थित (परिधेयाः स्थ)परिधिसे प्रादुर्भूत अर्थात् परिधिके ऊपर रक्षित प्रस्तरपर बैठनेवाले हैं वे (विश्वेदेवाः)समस्त देवगण (इमाम्)इस मेरी(वाचम्)वाणीको (अभिगृणन्तः) सादर ग्रहण कर वर्णन करतेहुए कि यह यजमान सम्यक् यजन करता है इस प्रकार सब देव—

तोंके मध्यमें कथन करते हुए तुम (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) यज्ञ में (आसद्य) प्राप्त होकर (मादयध्वम्) तृप्त वा प्रसन्न हो१। विधि-(२)दूसरे मंत्रसे होम करदेवै। मंत्रार्थ-(स्वाहा वाट्) सम्यक् प्रकार से यह आहुति गृहीत हो सम्यक् प्रकारसेही आहुति स्वीकृत हो ॥ १७ ॥

आदरसे देने के निमित्त दोनो शब्दों का प्रयोग है यद्यपि स्वाहाकार वषट्-कार भी दानार्थ हैं तथापि देवता परोक्षप्रिय हैं इस कारण प्रत्यक्ष परिहार के निमित्त वाट्शब्द का प्रयोग किया है ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मन्त्र २ ।

घृताचीस्थोधुर्य्यौपातᳪँसुम्नेस्थᳪँसुम्नेमाधत्तम् ॥ यज्ञनमश्चतऽउपचयज्ञस्यशिवेसन्तिष्ठस्व स्विष्टेमेसन्तिष्ठस्व ॥ १९ ॥ [५]

ऋष्यादि-(१)ॐघृताची इत्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । अनुष्टुप्छं० । स्रुक्स्रुचौ देवते । अनसो धुरि जुहूपभृत्स्थापने वि० । (२) ॐयज्ञनमश्च त इत्यस्य शूर्पादय ऋषयः । यजुश्छं० । यज्ञो देवता । वेद्यालम्भने वि० ॥ १९ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे जुहू और उपभृत् को शकट की धुरीपर रखदे [का० ३।६।१९] मंत्रार्थ-हे जुहू उपभृत् तुम (घृताची) घृत से युक्त वा घृत को प्राप्त करनेवाले (स्थ) हो (धुर्य्यौ) शकट के वहन करनेवाले दोनों बैलोंको वा धुरी को घृताक्त कर (पातम्) रक्षाकरो तुम (सुम्ने) सुखरूप (स्थ)हो (सुम्ने) सुख में अर्थात् परमानन्द में (मा) मुझ को (धत्तम्) स्थापन करो १। विधि-(२) दूसरे मंत्र से वेदी को स्पर्श करै [का० ३ । ६ । २१] मंत्रार्थ-हे (यज्ञ)वेदी ! (ते) तुम्हारे निमित्त (नमः च) नमस्कार हो (उपच) तुम्हारी वृद्धि हो(यज्ञस्य) यज्ञके (शिवे) कल्याण में (सन्तिष्ठस्व) स्थित हो अर्थात् इस अनुष्ठान का न्यूना-तिरिक्त दोष शान्त कर (मे) मेरे (स्विष्टे) सुन्दर याग में (संतिष्ठस्व) प्राप्त हो अर्थात् यह सुन्दर अनुष्ठान कहाजावे ॥ १९ ॥

प्रमाण-'नमः'और 'उप'शब्दके उच्चारणसे जो कुछ यज्ञमें न्यूनाधिक हुआ है उस की पूर्ति होती है. यथा-"स यदतिरेचयति तन्नमस्कारेण शमयाते अथ यदूनं करोत्युपचोति तेन तदन्यूनं भवति"इति श्रुतेः । "यद्वै यज्ञस्य न्यूनातिरिक्तं तच्छिवं तेन तदुभयं शमयति" इति श्रुतेः ॥ १९ ॥

---

१ शूर्प पवमान कृषि उद्दलवान् धानान्तर्वान् पंच ऋषयः ।

अभिप्राय–मनुष्यों से कृत्यमें जोअपराध बनताहै सो यज्ञादिके नमस्कारसे दूर होता है इस कारण यज्ञादिमें बड़ी सावधानी करनी चाहिये ॥ १९ ॥

कण्डिका २०–मन्त्र ३।

अग्नेऽदब्धायोऽशीतम पाहि मा दिद्योः पाहि प्रसित्यै पाहि दुरिष्ट्यै पाहि दुरद्मन्याऽअविषं नः पितुं कृणु सुषदा योनौ स्वाहा वाडग्नये संवेशपतये स्वाहा सरस्वत्यै यशोभगिन्यै स्वाहा ॥ २० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐअग्नेदब्धायोइत्यस्य प० ऋषिः । यजुश्छं० । गार्हपत्याग्निर्देवता । अध्वर्युणा स्रुक्स्रुवग्रहणे वि० । (२) ॐअग्नयइत्यस्य प०ऋ०।याजुषी त्रिष्टुप्छं० । दक्षिणाग्निर्देवता । दक्षिणाग्नौ हवने वि० । (३) ॐसरस्वत्या इत्यस्य प०ऋ० । याजुषी त्रिष्टु० । लिङ्गोक्ता देवता । दक्षिणाग्नौ हवने वि० ॥ २० ॥

विधि– (१) प्रथम मंत्र से ध्रुवा स्रुक् द्वारा अध्वर्यु गार्हपत्य अग्नि में हवन करे [का० ३ । ७ । १७ ।] मन्त्रार्थ–(अदब्धायः) अहिंसक यजमानवाले वा यजमान के मंगलकारी (अशितम्) बहुभोजी वा सर्वत्र व्यापक (अग्ने) हे गार्हपत्य अग्नि ! (मा) मुझ को (दिद्योः) शत्रु के प्रेरण किये वज्र की समान आयुधसे (पाहि) रक्षा करो (प्रसित्यै) बंधन के हेतु जाल से मेरी (पाहि) रक्षा करो (दुरिष्ट्याः) अशास्त्रीय याग से मेरी (पाहि) रक्षा करो (दुरद्मन्याः) कुत्सित भोजन से मेरी (पाहि) रक्षा करो । किञ्च (नः) हमारे (पितुम्) अन्न जलको (अविषम्) विषरहित (आकृणु) करो (सुखदायोनौ) सम्यक् अवस्थानयोग्य घर में मुझ को स्थापन करो वा घरमें स्थित हमारे अन्न विषरहित हों (स्वाहावाट्) यह आहुति भली प्रकार स्वीकार हो १। विधि–(२–३) स्रुवद्वारा दूसरे तीसरे मंत्र से दक्षिणाग्निमें हवन करे [का० ३ । ७ । १८] मन्त्रार्थ–(संवेशपतये) स्त्रीपुरुषों के अभिलापपूर्वक एकत्र शयन करनेको संवेश कहते हैं ऐसे संवेशपति (अग्नये) अग्नि के निमित्त (स्वाहा) सुन्दर आहुति हो अर्थात् इस आहुतिके फल से हम को संवेशका सुख लाभ हो । (यशोभगिन्यै) जीवित पुरुष की प्रशंसा को यश कहते हैं उस प्रख्यातयश की

भजनेवाली महोदया (सरस्वत्यै) वायुरूप सरस्वती देवी के निमित्त (स्वाहा) यह सुन्दर आहुति है इस के फल से हम भी यशस्वी हों ॥ २० ॥

प्रमाण-"दभ्नोतिः हिंसाकर्मा" [निघं० २ । १९ । १] "आयुरिति मनुष्यनाम" [नि० २ । ३ । १७ ।] "दिद्युरिति वज्रनाम" [निघ० २ । २० । १] "प्रसितिः प्रसयनात्तन्तुर्वा जालं वेति यास्कः" [नि० ६ । २] "योनिरिति गृहनाम" [निघं० ३ । ४] ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मंत्र २ ।

वेदोसि येन त्वन्देव वेद देवेभ्यो वेदो भवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः ॥ देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित ॥ मनसस्पत ऽइमन्देव यज्ञ ꣼ स्वाहा वाते धाः ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वेदोसीत्यस्य प्र०ऋषिः । याजुषी छं० । वेदो देवता । वेदविमोचने वि० । (२) ॐ देवागातुविद इत्यस्य मनसस्पतिर्ऋषिः । त्रिपदाविराड् छन्दः । वातो देवता । योक्त्रविमोचने वि० ॥ २१ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्र से यजमानपत्नी वेद त्याग करे (कुशमुष्टिनिर्मित पदार्थविशेष को वेद कहते हैं) यह वेदी बनाने से पहले ही प्रस्तुत किया जाता है [कात्या० ३ । ८ । १] मन्त्रार्थ-हे कुशमुष्टिनिर्मित पदार्थ तुम (वेदोसि) ऋगादिरूप हो वा जाननेवाले हो (देव) हे प्रकाशात्मक (वेद) सब के ज्ञाता (येन) जिस कारणसे तुम यज्ञका समस्त वृत्तान्त आद्योपान्त जानते हो जिस कारण से (देवेभ्यः) देवताओं को वह समस्त ही (वेदोऽभवः) वृत्तान्त विदित करते हो (तेन) उसी कारण से (मह्यम्) मेरे निमित्त (वेदोभूयाः) मंगलसंवाद को विदित करो । विधि-(२) दूसरे मंत्र से यज्ञके आगे से देवगण को विसर्जन करे (कमरमें बँधे मुञ्जयोक्त्रका भी विसर्जन यहीं करे) [का० ३ । ८ । ४] मन्त्रार्थ-हे (गातुविदः) यज्ञ के जाननेवाले (देवाः) देवताओं! (गातुंवित्वा) हमारे यज्ञ के समस्त वृत्तान्त को जानकर (गातुमित) यज्ञ के प्रति आओ वा हमारे यज्ञ से सन्तुष्ट होकर अपने २ मार्ग को जाइये । हे (मनसस्पते) हे मनके अधिपतिचन्द्र वा हे मनके प्रवर्तक परमेश्वर हे देव (इमम्) इस अनुष्ठान किये हुए (यज्ञम्) यज्ञ को (स्वाहा) तुम्हारे अर्पण करता हूं आप इस यज्ञ को (वाते) वायुरूप देवतामें (धाः) स्थापित करो ॥ २१ ॥

प्रमाण-वायु में ही यज्ञ स्थित रहता है यही श्रुति कहती है । "वायुरेवाग्निस्तस्माद्यदैनाध्वर्युरुत्तमं कर्म करोत्यथैतमेवाप्येति" इति श्रुतेः ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मन्त्र १।

सम्बर्हिरङ्क्ताᳬहविषाघृतेनसमादित्यैर्वसुभिः सम्मरुद्भिः। समिन्द्रोविश्वेभिर्देवेभिरङ्क्तान्दिव्यन्नभोगच्छतुयत्स्वाहा॥ २२॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सम्बर्हिरित्यस्य प्र० ऋषिः। विराड्रूपा त्रिष्टुप्छं०। बर्हिर्देवता। कुशहवने वि०॥ २२॥

विधि-(१) यह ऋचा है, इस मंत्रसे जुहूद्वारा कुशाका हवन करै [का० ३।८।९] मंत्रार्थ-(इन्द्र) परमैश्वर्यवान् इन्द्र (बर्हिः) कुशाओंको (हविषा) हविसंस्कार-युक्त (घृतेन) घृत से (समङ्क्ताम्) भली प्रकार लिप्त करो और केवल इन्द्र ही नहीं किन्तु (आदित्यैः) वारह आदित्यों के (सम्) साथ (वसुभिः) आठ वसुओंके (सम्) साथ (मरुद्भिः) ४९ उनंचास पवन देवताओंके (सम्) साथ (विश्वदेवेभिः) विश्वनामक देवगणों के साथ (समङ्क्ताम्) लिप्त करो वह बर्हि (यत्) जो (दिव्यम्) दिव्यप्रकाशात्मक (नभः) आदित्यलक्षणवाली ज्योति है तहां को (गच्छतु) प्राप्त हो (स्वाहा) यह बर्हि देवताके उद्देश से दिया॥ २२॥

प्रमाण-"नभ इत्यादित्यनामसु पठितम्" [निघं० १, ४]

कण्डिका २३-मन्त्र २।

कस्त्वाविमुञ्चतिसत्त्वाविमुञ्चतिकस्मैत्वाविमुञ्चतितस्मैत्वाविमुंचति॥ पोषायरक्षसाम्भागोसि॥ २३॥ [४]

ऋष्यादि-(१) ॐ कस्त्वेत्यस्य प्र० ऋषिः। याजुषी गा० छं०। प्रजापतिर्देवता। प्रणीतानिनयने वि०। (२) ॐरक्षसामित्यस्य प्र० ऋ०। याजुषीगायत्री छं०। रक्षो देवता। उत्करे कणप्रक्षेपणे वि०॥ २३॥

विधि-पूर्वस्थापितपात्र (१, ६,) प्रथम मन्त्रसे विसर्जन करै [का० ३, ८ ६] मंत्रार्थ-"अध्वर्यु स्वयं आहवनीयकी परिक्रमा देकर वेदीके दक्षिणभागमें उत्तर की ओर मुखकर प्रणीतापात्रको लेकर वेदीके मध्यमें स्थापन कर किसी स्थान-पर पलट दे" हे प्रणीतापात्र! (कः) कौन (त्वा) तुमको (विमुञ्चति) त्याग करता है (सः) वह प्रजापति (त्वा) तुमको त्याग करता है (कस्मै) किस प्रयोजनके निमित्त (त्वा) तुझको विमुक्त करता है (तस्मै) उस प्रजापतिदेवताके सन्तोषार्थ (त्वा) तुमको (विमुञ्चति) त्याग करता है (पोषाय) यजमानके पुत्रपौत्रादि पोषण करनेके निमित्त तुझे विसर्जन करताहूं॥ १॥

विधि-(२) दूसरे मंत्रसे पुरोडाशके कपालसे चावल निकाल कर कृष्णाजिन-के अधोभागमें उत्कर में निक्षेप करै [का० ३, ८, ७] मंत्रार्थ-हे कणसमूह! तुम (रक्षसाम्) राक्षसोंके (भागोसि) भाग हो इससे यथेष्ट गमन करो "निकृष्ट अन्न निकृष्ट जातियोंको दिया" ॥ २३ ॥

प्रमाण-यज्ञको करके प्रणीतापात्रका विसर्जन न करनेसे यजमान की अप्रतिष्ठा होती है इस कारण अवश्य विसर्जन करे तथा च श्रुतिः " यो वै यज्ञं प्रयुज्य न विमुञ्चत्यप्रतिष्ठानो वै स भवति" इति श्रुत्यन्तरवचनात् ।

कण्डिका २४-मंत्र १ ।

संवर्च्चसापयसासन्तनूभिरगन्महिमनसासᳪं शिवेन ॥ त्वष्टासुदत्रोविदधातुरायोनुमार्ष्टुतन्न्वोयद्विलिष्टम् ॥ २४ ॥

ऋष्यादि-ॐसंवर्च्चसेत्यस्य ब्र० ऋषिः । त्रिष्टुप् छं० । त्वष्टा देवता । पूर्णपात्रनिनयने वि० ॥ २४ ॥

विधि-यजमान अंजलिपुटसे पूर्णपात्र ग्रहण कर यह मंत्र पढै [का० ३, ८, ८,-१०] "अध्वर्यु आहवनीयकी परिक्रमा कर दक्षिण ओर बैठा हुआ उत्तरको मुख कर पूर्णपात्रको ले तथा यजमान अञ्जलीमें जल ले मुख शुद्ध करै" हम आज (वर्चसा) ब्रह्मतेजसे वा अन्नसे (समगन्महि) संयुक्त हो (पयसा) क्षीरादि रससे संगत हो (तनूभिः) अनुष्ठानमें समर्थ शरीरके अवयवोंसे संयुक्त हों अर्थात् अपने शरीरके तेज बल सौन्दर्यप्रभृतिकी उन्नति लाभ करैं, अथवा (तनूभिः) भार्यापुत्रादिकसे संगत हों (शिवेन) शान्तकर्म श्रद्धायुक्त (मनसा) मनसे संयुक्त हों (अर्थात् यज्ञमें जो तेजादि व्यय हुआ है वह इस प्रार्थनासे फिर पूर्ण होजाय) (सुदत्रः) विख्यात वदान्य, शोभन दानी (त्वष्टा) त्वष्टा देवता (रायः) हमारे निमित्त धनोंको (विदधातु) विधान करे और (यत्) जो (तन्वः) मेरे शरीरका (विलिष्टम्) दोषरूप न्यून अङ्ग है उसको (अनुमार्ष्टु) न्यूनत्व दूर कर शोधन करै. अर्थात् हमारे पापादि दोष दूर होकर शरीर निर्मल और ऐश्वर्य-वान् हो ॥ २४ ॥

कण्डिका २५-मंत्र ७।

दिविविष्णुर्व्यक्रᳪंस्तजागतेनच्छन्दसाततोनिर्भक्तोयोस्मान्द्वेष्टियञ्चवयन्द्विष्मोन्तरिक्षेविष्णु

र्व्यक्रꣳस्तत्रैष्टुभेनच्छन्दसाततोनिर्भक्तोयोऽस्मा
न्द्वेष्टियञ्चवयन्द्विष्मः पृथिव्यांविष्णुर्व्यक्रꣳस्त
गायत्रेणच्छन्दसाततोनिर्भक्तोयोऽस्मान्द्वेष्टियञ्चव
यन्द्विष्मोऽस्मादन्नादस्यैप्रतिष्ठायाऽअगन्मस्वः
सञ्ज्योतिषाभूम ॥ २५ ॥

ऋष्यादि-(१) दिविविष्णुरित्यस्य प्र० ऋषिः। याजुषी छं०। विष्णुर्देव०। वेदिदक्षिणश्रोणिप्रदेशादारभ्य क्रमणे वि०। (२) अस्यै प्रतिष्ठाया इत्यस्य प्र० ऋ०। याजुषी गा० छं०। विष्णुर्दे०। क्रमणे वि०। (३) ॐपृथिव्यामित्यस्य प्र० ऋ०। याजुषीगा०छं०। विष्णुर्दे०। क्रमणेवि०। (४) अस्मादन्नादित्यस्य प्र० ऋ०। दैवीबृहतीछं०। भागोदेवता। स्वभागावेक्षणेवि०। (५) अस्यैप्रतिष्ठाया इत्यस्य प्र० ऋ०। याजुषीगायत्रीछं०। भूमिर्दे०। वेदिभूवेक्षणेवि०। (६) अगन्मस्वरित्यस्यप्र० ऋ०। दैवीबृहती०। दिवादेवताः। प्राग्दिक्प्रेक्षणेवि०। (७) संज्योतिषेत्यस्य प्र० ऋ०। याजुषीगायत्री०। आहवनीयोदेवता। आहवनीयप्रेक्षणेवि० ॥ २५ ॥

विधि-(१-२-३) यजमान अपने आसनसे उठ वेदीपर दण्डायमान होकर धीरे २ कतिपय पद विचरण करै, अर्थात् दक्षिणदेशसे आरंभ कर तीन प्रदक्षिणा करै, और मनमें यह विचारे कि यज्ञपति विष्णुही यह चरण रखते हैं। प्रथमादि तीन मंत्रोंसे विष्णुक्रम क्रमण करै [का० ३। ८। ११]

मंत्रार्थ-(विष्णुः) यज्ञपुरुष सर्वव्यापी भगवान्ने (जागतेन छन्दसा) जगतीछन्दरूप स्वकीयचरणसे (दिवि) द्युलोकमें (व्यक्रंस्त) विशेष आक्रमण किया है (ततः) ऐसा होनेपर (यः) जो (अस्मान्द्वेष्टि) हमसे द्वेष करता है और (यं च) जिससे हम (द्विष्मः) द्वेष करते हैं वे दोनो प्रकारके शत्रु (निर्भक्तः) भागरहित करके निकाले गये १। (विष्णुः) यज्ञपुरुष सर्वव्यापी भगवान्ने (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रिष्टुप्छन्दरूप चरणसे (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षलोकमें (व्यक्रंस्त) विशेष आक्रमण किया है (ततः योस्मान्द्वेष्टि यश्च वयं द्विष्मः निर्भक्तः) ऐसा होनेपर जो हमसे द्वेष करता है वा हम जिससे द्वेष करते हैं वे दोनों प्रकारके शत्रु भागरहित कर अन्तरिक्षसे निकाले गये २। (विष्णुः) सर्वव्यापक यज्ञपुरुषने (गायत्रेण छन्दसा) गायत्रीछन्दरूप तीसरे चरणसे (पृथि-

व्याम्) पृथ्वीमें (व्यक्रंस्त) विशेष आक्रमण किया है (ततः योस्मानित्यादि०) ऐसा होनेपर जो हमसे द्वेष करता है वा हम जिससे द्वेष करते हैं वे दोनों प्रकारके शत्रु भागरहित कर इस पृथ्वीलोकसे बाहिर किये गये, अर्थात् उनको भाग न देकर दूर किया ३। विधि-(४) चौथे मंत्रसे यजमान अन्नभाग निरीक्षणा करै [का० ३।८।१३] मंत्रार्थ-जो यह अन्नका भाग देखा गया है (अस्मात्) इस (अन्नात्) अन्नसे [द्वेष्टि] वर्गको निराश किया ४ । विधि-(५) पञ्चम मंत्रसे यजमान भूमि निरीक्षण करे [का० ३ । ८ । १४] मंत्रार्थ-(अस्यै) इस आगे दृश्यमान यज्ञभूमिके (प्रतिष्ठायै) प्रतिष्ठाप्राप्तिके निमित्त ही [द्वेष्टि] वर्गको निराश किया गया ५ । विधि-(६) छठे मंत्रसे पूर्वदिशामें बैठा हुआ सूर्यको देखे [का० ३ । ८ । १५ ।] मंत्रार्थ-हम इस यज्ञके फलसे पूर्वदिशामें स्थित (स्वः) स्वर्ग वा सूर्यको (अगन्म) प्राप्त हुए ६ । विधि-(७) सप्तम मंत्रसे आहवनीय निरीक्षण करै [का० । ८ । १६] मंत्रार्थ-(ज्योतिषा) आहवनीय लक्षणरूप ज्योति वा ब्रह्मज्ञानसे हम (समभूम) संयुक्त हुए ७ ॥ २५ ॥

अभिप्राय-त्रिलोकीमें परमात्मा व्याप्त है और जिस प्रकार इस लोकमें गायत्रीसे उसकी उपासना करते हैं इस प्रकार दूसरे लोकोंमें पूर्वोक्तछेदोंसे उपासना होती है तथा द्वेष करनेवाला परमात्माके निकट प्राप्त नहीं हो सक्ता इस कारण किसीके साथ द्वेष नहीं करना चाहिये इसमें प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती देवता प्रसन्न नहीं होते हैं ।

कण्डिका-२६ मंत्र ३ ।

स्वयम्भूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदाऽअसि वर्चो मे देहि ॥ सूर्य्यस्यावृतमन्वावर्त्ते ॥ २६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐस्वयम्भूरसीत्यस्य प्र० ऋ० । याजुषी छं० । सूर्यो देव० । सूर्यप्रेक्षणे वि० ।(२) ॐवर्चोदाअसीत्यस्य प्र० ऋ० । याजु० छं० । सूर्यो दे० । सूर्यप्रार्थने वि० । (३) ॐसूर्यस्येत्यस्य प्र० ऋ० । याजुषी बृहती छं० । सूर्यो देवता । सूर्यप्रदक्षिणाकरणे वि० ॥ २६ ॥

विधि-(१-२) प्रथम द्वितीय मंत्रसे सूर्यको अवलोकन करै [का०३ । ८ । १७] मन्त्रार्थ-हे सूर्य ! तुम (स्वयम्भूः) अकृतक स्वयं सिद्ध (असि) हो तथा (श्रेष्ठः) अत्यन्त श्रेष्ठ (रश्मिः) मंण्डलशरीराभिमानी हिरण्यगर्भ पुरुष श्रेष्ठ हो [सूर्यकी सात रश्मि हैं चारों दिशाओंमें चार एक ऊपर एक नीचे सातवां मण्डलाभिमानी हिरण्यगर्भ रश्मिपुञ्ज इसी कारण सप्तरश्मि सप्ताश्वआदि सूर्यके नाम हैं] जिस कारणसे कि तुम (वर्चोदा) तेजके देनेवाले (असि) हो

इस कारण (मे) मेरे निमित्त (वर्चः) ब्रह्मतेजको (देहि) दो १ । २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे प्रदक्षिणा करै [का० ३ । ८ । १९] मन्त्रार्थ-(सूर्यस्य) सूर्यसम्बन्धिनी (आवृत्तम्) प्रदक्षिणा को (आवर्ते) आवर्तन करता हूं ३ ॥ २६ ॥

आशय-इस मंत्रसे सूर्यमें सगुण उपासनाका प्रभाव वर्णन किया है सूर्यमें उपासना करनेसे तेज वलकी वृद्धि होती है ॥ २६ ॥

कण्डिका-२७ मंत्र २।

अग्ने॑गृहपते सुगृहपतिस्त्वया॑ग्ने॒हङ्गृहप॑तिना भूयासꣳ सुगृहपतिस्त्वम्मया॑ग्ने॒गृहप॑तिना भूयाः । अस्थूरि णौ॒ गार्ह॑पत्त्यानि सन्तु श॒तꣳ हिमाः॑ सूर्य॑स्या॒वृत॒मन्वाव॑र्ते ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअग्नेगृहपत इत्यस्य प्र० ऋ० । ब्राह्मी बृहती छं० । गार्हपत्याग्निर्देवता । गार्हपत्यप्रेक्षणे वि० । (२) ॐ सूर्यस्येत्यस्य याजुषीबृहती छं० । सूर्योदेवता । सूर्यप्रदक्षिणे वि० ॥ २७ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे गार्हपत्यका उपस्थान करै [का० ३, ८, २१] मंत्रार्थ-(गृहपते)हे हमारे घरके पालक ! (अग्ने) हे अग्निदेवता ! (त्वया) आप को (गृहपतिना) गृहपाति करके (अहम्) मैं (सुगृहपतिः) सुन्दर गृहपति (भूयासम्) होऊं तथा हे (अग्ने)हे अग्नि ! (त्वं) तू (मया गृहपतिना)मुझ गृहपालक द्वारा (सुगृहपतिः) श्रेष्ठ गृहपालक (भूयाः) हो [आशय यह कि तुम्हारे प्रसाद-से मैं गृहपति हो जाऊं और हमारे यत्नसे तुम गृहपालक होकर रहो और तुम्हारी कृपासे हमारा घर विरोधविवादरहित होनेपर] हे (अग्ने)हे अग्नि ! (नौ) हम दोनोंके (गार्हपत्यानि) परस्पर उपकार करनेमें स्त्रीपुरुषोंद्वारा किये हुए कर्म (शतम्) अनेक बहुत(हिमाः)हेमन्त या वर्षोंतक (अस्थूरि) निरन्तर (सन्तु)हों अर्थात् जैसे वलीवर्दयुक्त शकट निरन्तर अव्यवहित चलता है तैसे हमारे गृहकार्य चलते रहें १। विधि (२) अगलेसे सूर्यकी परिक्रमा करे [का० ३, ८, २३] मंत्रार्थ-(सूर्यस्य) सूर्य-सम्बन्धिनी (आवृतम्) परिक्रमा को (आवर्ते) करता हूं ॥ २७ ॥

विवरण-पूर्वकालमें हेमन्त ऋतुसे नये वर्षका आरम्भ मानते थे इसी कारण वर्षके पहले मासका नाम आग्रहायण 'अर्थात् वर्षका पहला महीना' प्रसिद्ध है इस से हेमन्तसे वहुत वर्षोंका बोध होताहै श्रुतिमें वहुत स्थानों में 'शरत्' शब्दका

प्रयोग होता है उसका भी यही अभिप्राय है 'शरद्' कहनेसे वर्षका अन्त जानना शरद् बीचनेमे हेमन्त आती है. और 'शत' शब्द बहुवाची है युगोंमें अवस्थाका मान भिन्न २ है इस कारण पूर्णायु पर्यन्त ही अर्थ संगत होता है ॥ २७ ॥

कण्डिका २८-मंत्र २ ।

अग्ने॑ व्रतपते व्र॒तम॑चारि॒षन्तद॑शक॒न्तन्मे॑राधी॒द मि॒दम॒हं य एवास्मि॒ सो॑ऽस्मि ॥ २८ ॥ [५]

ऋष्यादि-(१) ॐअग्नेव्रतपत इत्यस्य प्र० ऋ० । साम्नीपंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता । व्रतविसर्जने वि० । (२) ॐइदमहमित्यस्य प्र०ऋ०।याजुषीपंक्तिश्छं० । अग्निर्देवता । यथावस्थाय कर्मसमापने वि० ॥ २८ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे स्वीकृत दर्शपौर्णमास व्रत विसर्जन करे [का० ३, ८, २९] मन्त्रार्थ-(अग्ने)हेअग्नि देवता! (व्रतपते) सम्पूर्ण व्रतके नायक वा कर्मपालक ! (व्रतम्) जो कर्मानुष्ठान (अचारिषम्) आचरण किया है अर्थात् यह जो व्रतानुष्ठान समाप्त किया है (तत्) सो (अशकम्) मैं उसके करनेमें असमर्थ था तुम्हारी कृपासे ही [शकितवान्] उस कर्मके करनेमें समर्थ हुआ (तत्) उस (मे) मेरे कर्मको तुमने भी (अराधि) सिद्ध किया १ । विधि-(२) दूसरे मन्त्रपाठ में यथावस्थान करके कर्म समाप्त करे । मन्त्रार्थ-(इदम्) यह (अहम्) मैं (यः) जो पहले (अस्मि) था (सः) वह (एव) ही मनुष्य (अस्मि)हूं२॥२८॥

आशय-व्रत पूर्ण करनेसे पहले "देवो भूत्वा देवं यजेत्" इस के अनुसार जो यजमान अपने को देवरूप जानता था अव वह कर्मसमाप्ति होने पर अपने में वही मनुष्य भावना करनी चाहिये ॥ २८ ॥

दर्शपौर्णमासइष्टिमंत्र समाप्त हुए।

इस स्थल में यजुर्वेदीय ऋत्विक् अध्वर्यु प्रभृति के जो जो कर्तव्य हैं सो सो मंत्र कथन किये गये. इस के अन्य कर्तव्य दूसरे वेदों में देखने चाहिये, उन में भी दर्शपौर्णमासमें जो विशेष कर्तव्य है वह प्रकरणअनुसार श्रुत हुआ है, इस का भी परिशिष्ट २६ अध्यायमें इसके उत्तर खण्डमें प्रकाशित किया गया है ।

कण्डिका-२९ मंत्र ३ ।

अथ पिण्डपितृयज्ञमन्त्राः । सर्वेषां प्रजापतिर्ऋषिः ।

अ॒ग्नये॑ कव्य॒वाह॑नाय॒ स्वाहा॒ सोमा॑य पितृ॒मते॒ स्वाहा॑ ॥ अप॑हता॒ऽअसु॑रा॒ रक्षा॑ᳪसि वेदि॒षदः॑ ॥ २९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअग्नयइत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । याजुषीगा० छं० । देवो देवता । मेक्षणेनचरुहवने वि० । (२) ॐ सोमायेत्यस्य प्र० ऋ० । याजु० छं० । देवो दे० । मेक्षणेन चरुहवने वि० । (३) ॐ अपहता इत्यस्य प्र० ऋ० । उष्णिक् छं० । असुरो देव० । दक्षिणेनोल्लेखने वि० ॥ २९ ॥

विधि-(१-२) सार चावलों को कुछेक पकाकर अभिघारण उद्वासन और देखने के पश्चात् उन की अग्नि में प्रथम और दूसरे मंत्रसे दो आहुति प्रदान करै [का० ४, १, ७] मंत्रार्थ-(कव्यवाहनाय) क्रान्तदर्शी पितृसम्बन्धी हवि को कव्य कहते हैं उस पितृसम्बन्धी पिण्डादि हवि के वहन करनेवाले (अग्नये) अग्निदेवता के निमित्त पितृगण के उद्देश से यह कव्य समर्पित करते हैं तुम्हारे निमित्त (स्वाहा) यह आहुतिं स्वाहुति हो (पितृमते) पितृसंयुक्त वा पितृगणके अधिष्ठान (सोमाय) सोमदेवताके निमित्त (स्वाहा) आहुति स्वाहुति हो अर्थात् सोम के उद्देश से यह अग्निमें कव्य आहुति देते हैं । १ । २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे दक्षिणओर रेखा करै [का० ४, १, ८] मन्त्रार्थ-(वेदिपदः) वेदी में स्थित होनेवाले (असुराः) असुर तथा (रक्षाᳬसि) राक्षस (अपहताः) वेदीसे दूर किये गये. [असुर और राक्षस यह देवविरोधी राक्षसों की जाति है] ॥२९॥

कण्डिका-३० मंत्र १ ।

येरूपाणिंप्प्रतिमुञ्चमानाऽअसुराःसन्तः स्वधया चरन्ति ॥ पुरापुरोनिपुरोयेभरन्त्यग्निष्टाँल्लोका त्प्रणुदात्त्यस्म्मात् ॥ ३० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ये रूपाणीत्यस्य प्रजाप० ऋ० । त्रिष्टुप्छन्दः । कव्यवाहनाग्निर्देवता । रेखायाः परस्ताद्दक्षिणे दक्षिणाग्न्येकदेशोल्मुक-निधाने वि० ॥ ३० ॥

विधि-(१) वेदी के आगे एक उल्मुक (जलती लकडी) घुमाकर रख दे [का०४।१।९] मन्त्रार्थ-(स्वधया) पितरोंका अन्न हम भक्षण करजांय इस कारण से अपने (रूपाणि) रूपोंको (प्रतिमुञ्चमानाः) पितरोंकी समान करते (सन्तः) हुए (ये) जो (असुराः) असुर (चरन्ति) पितृयज्ञस्थान में विचरते हैं तथा (ये) जो असुर (परापुरः) स्थूल देह (निपुरः) सूक्ष्म देहों को अपना असुरत्व छिपाने के निमित्त (भरन्ति) धारण करते हैं (अग्निः) उल्मुकरूप अग्नि (अस्माल्लोकात्) पितृयज्ञरूप स्थानसे (तान्) उन असुरों को (प्रणुदतु) दूर हटावें ॥ ३० ॥

कण्डिका-३१ मंत्र २ ।

अत्रपितरोमादयध्वँ्यथाभागमावृषायध्वम् ॥ अमीमदन्तपितरोयथाभागमावृषायिषत ॥३१॥

ऋष्यादि-(१) ॐअत्र पितर इत्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । साम्नी बृहती छं० । पितरो देवताः । जपे विनि० । (२) ॐअमीमदन्तेत्यस्य प्र० ऋ० । साम्नी बृ० छं० । पितरो दे० । जपे वि० ॥ ३१ ॥

विधि-(१) यजमान षडञ्जली कर चुके तब पिण्ड के सन्मुख श्वास रोककर जबतक न थके तबतक प्रथम मंत्रको जपे [का० ४. १. १३,-१४] मंत्रार्थ-(पितरः) हे पितरो ! तुम (अत्र) इस कुशमयमूलपर (मादयध्वम्) बैठकर प्रसन्न हो और हवियों मे (यथाभागम्) अपने २ भागों को ही (आवृषायध्वम्) जिस प्रकार वृषभ यथेष्ट भोजन कर तृप्त हो जाता है इस प्रकार तुम इस हवि को स्वीकार कर तृप्तिपर्यन्त भोगो १। विधि-(२)दूसरे मन्त्रसे श्वासत्याग करै । मंत्रार्थ-(पितरः) जिन पितरों के प्रति भागस्वीकार करने को कहा वे पितर (अमीमदन्त) अत्यन्त प्रसन्न होकर (यथाभागम्) अपने २ भाग को (आवृषायिषत) अंश के अनुसार ग्रहण कर तृप्त होने को स्वीकार करते हुए ॥ ३१ ॥

प्रमाण-"यथाभागमाश्नीपुरित्येवैतदाह" इति श्रुतिः [श० २.४, २.२२]

कण्डिका-३२ मंत्र ८ ।

नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो मन्यवे नमो वः पितरः पितरो नमो वो गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मैतद्वः पितरो वासऽआधत्त ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि-(१-६)ॐनमो व इति षण्मन्त्राणाम्प्रजापतिर्ऋषिः । याजु० बृहती छं० । षष्ठ्यार्षी उष्णिक्छं० । लिङ्गोक्ता देवताः । षड्भिर्मन्त्रैः षडञ्जलिदाने वि० । (७) ॐगृहान्न इत्यस्य प्र० ऋ० । साम्नीअनुष्टुप्छं० । पितरो देवताः । पिण्डानामुपरि सूत्रत्रयनिधाने वि० । (८) ॐएतद्व इत्यस्य प्र० ऋ० । प्राजापत्यागायत्री० । पितरो देवताः । पिण्डानामुपरि सूत्रत्रयनिधाने वि० ॥ ३२ ॥

---

१ मंत्रों मानस्पंको चिह्न करते है ।

विधि-(१) प्रथमादि छः मन्त्रों से अञ्जलिकर पितरों को नमस्कार करै [का० ४, १, १९] मंत्रार्थ-(पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे सम्बन्धी (रसाय) रसरूप वसन्त ऋतु को (नमः) नमस्कार है, अर्थात् आपके प्रसाद से वसन्त ऋतु के उदय से सब वस्तु रसवान् हों देशमें अच्छे प्रकार से वसन्त का प्रचार हो १ । (२) (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारेसम्बन्धी (शोषाय) ग्रीष्मऋतु को (नमः) नस्कार है अर्थात् आपके प्रसादसे ग्रीष्म भली प्रकार वर्त्ते (३) (पितरः) हे पितरो! (वः) तुम्हारेसम्बन्धी (जीवाय) प्राणियोंके जीवन स्वरूप वर्षाऋतु के लिये (नमः) नमस्कार है अर्थात् वर्षासे वस्तुमात्र सजीव होती हैं सो आपके प्रसाद से अच्छी वर्षा हो ३ । (४) (पितरः) हे पितरो । (वः) तुम्हारे सम्बन्धी (स्वधायै) स्वधारूप शरदृऋतु के निमित्त (नमः) नमस्कार है अर्थात् आपके प्रसाद से श्रेष्ठ अन्न उत्पन्न करनेवाली शरद् व्याप्त हो ॥ ४ ॥ (५) (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे सम्बन्धी (घोराय) जीवमात्र को विषम हेमन्त ऋतु को (नमः) नमस्कार है अर्थात् यह ऋतु भली प्रकार वर्तै ५ । (६) (पितरः) हेपितरो !(वः)तुम्हारेसम्बंधी (मन्यवे) क्रोधरूप शिशिरके निमित्त (नमः) नमस्कार है "अर्थात् आपकी कृपा से शीतऋतु में भली प्रकार स्वास्थ्य लाभ करसके शीत ऋतु में बिगाड न हो" (पितरः) हे षड्ऋतुरूप पितरो ! (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (पितरोनमोवः) हे पितरो ! आपको नमस्कार है, इस मंत्र से स्त्री को निरीक्षणकरे (पितरः) हे पितरो ! (नः) हमारे निमित्त (गृहान्) भार्या पुत्र पौत्रादिक गृहों को (दत्त) प्रदान करो (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे निमित्त (सतः) यह विद्यमान प्रदेय वस्तु (देष्मः) देते हैं आशय यह कि दान करते हुए हमारा धन कभी क्षय न हो ७ । विधि-(८) अष्टम मंत्र से पितृपिण्डोंपर तीन सूत्र ऊन के वा साठ-वर्षसे अधिक अवस्था का यजमान अपनी छाती के वाल रखता है [का० ४, ७, १६-१८] मन्त्रार्थ-(पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे निमित्त (एतत्) यह (वासः) सूत्ररूप परिधेयवस्त्र (आधत्त) परिधानरूप हो ॥ ३२ ॥

प्रमाण-"षड्ऋतवः पितरः " इति श्रुतेः "स्वधा वै शरत् स्वधा वै पितॄणा-मन्नम् " इति श्रुतेः । " एतद्व इत्युपास्यति सूत्राणि प्रतिपिण्डमूर्णा दशा वा वय-स्युत्तरे यजमानलोमानि वा " इति [का० ४ । ७ । १६ । १८],

आशय-दिव्य पितरों से इस मंत्र में प्रार्थना की है वेही सामर्थ्य और दिव्य गुणयुक्त होने से उपरोक्त कार्य सम्पादन करसक्ते हैं [जीतेहुए माता पिता वि-द्वानों का अर्थ जो दयानन्द पंडित करता है वह सर्वथा अशुद्ध है] ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३-मंत्र १।

आधत्तपितरोगर्ब्भङ्कुमारम्पुष्करस्त्रजम् ॥ यथेह पुरुषोसत् ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐआधत्तेत्यस्य प्र० ऋ० । गायत्री छन्दः । पितरो देवताः । पुत्रकामनया पत्न्या मध्यपिण्डप्राशने वि० ॥ ३३ ॥

विधि-(१) पुत्रकामना रखनेवाली पत्नी बीचके पिण्ड को उठाकर भोजन करे [का० ४ । १ । २२] मन्त्रार्थ-(पितरः) हे पितरो ! (यथा) जिस प्रकार (इह) इस ऋतु में (पुरुषः) देवता पितर मनुष्यों को अपेक्षित अर्थ का पूर्ण करनेवाला (असत्) होवे इस प्रकार (पुष्करस्त्रजम्) पुष्करमालाधारी अश्विनीकुमारों की तुल्य मालाधारी रोगहीन सुन्दर (कुमारम्) पुत्ररूप (गर्भम्) गर्भ को (आधत्त) सम्पादन करो ॥ ॥ ३३ ॥

आशय-दिव्यगुणवाले पितर कृपा करके अपने श्राद्धादि करनेवालोंको इस विधिके अनुसार सन्तानदान में समर्थ होते हैं ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मन्त्र १।

ऊर्जुंवहन्तीरमृतङ्घृतम्पयः कीलालम्परिस्रुतम् ॥ स्वधास्त्थतर्प्पयतमेपितॄन् ॥ ३४ ॥ [६]

ऋष्यादि-(१) ॐऊर्जंवहन्तीरित्यस्य प्र० ऋ० । त्रिपदाविराट् छं० । आपो देवताः । पिण्डानामुपर्यवनेजनावशिष्टोदकनिषिञ्चने वि० ॥ ३४ ॥

विधि-(१) कुशा के मार्जन से बचे जल को पिण्डोंपर सींचे [का० ४ । १ । १९ ।] मन्त्रार्थ-(ऊर्जम्) विविध प्रकार के स्वादिष्ट सार रस (अमृतम्) सबरोग मृत्युनाशक (परिस्रुतम्) पुष्पों से निकले सार (घृतम्) घृत (कीलालम्) सर्व बन्धन के दूर करनेवाले (पयः) दुग्ध के (वहन्तीः) धारण करने वाले जलो ! तुम (स्वधा स्थ) पितरोंकी हवि स्वरूप हो इस कारण (मे) मेरे (पितॄन्) पितरों को (तर्पयत) तृप्त करो १ ॥ ३४ ॥

भावार्थ-हे जलदेव ! अन्न घृत और दुग्ध वहन करनेवाली यही जलधारा तुम्हारे पितरों के उद्देश से देते हैं हमारे पितर इस से तृप्त हों ॥ ३४ ॥

इन दोनों अध्यायों का अर्थ दयानंदसरस्वतीने सर्वथा ब्राह्मणकल्पसूत्रमीमांसा के विरुद्ध किया है इससे वह माननीय नहीं है.

इति श्रीकान्यकुब्जकुलचूडामणिसकलगुणगणालंकृतश्रीमन्मिश्रसुखानन्दसूनुपण्डित-ज्वालाप्रसादमिश्रकृते शुक्लयजुर्वेदीयमिश्रभाष्ये इषप्रोक्षादि-पित्र्यान्तो द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ३.

पिछले दो अध्यायों में दर्शपौर्णमासके मन्त्र कथन किये अब अमावस्यामें अग्न्याधानके मंत्र कहते हैं ।

समिधाग्निम्, भूर्भुवःस्वश्चतुष्कावग्निर्ज्योतिर्द्वे, उपप्रयन्तःषड्ᳬशतिर्भूर्भुवः स्वश्चतस्रो, गृहामा तिस्रः,प्रघासिनः पञ्च, पूर्णादर्व्वि द्वे, अक्षन्नमी मदन्त षडेषते, सप्तदश ॥ १० ॥

कण्डिका १–मंत्र १ ।

स॒मिधा॒ग्निन्दु॑वस्यत घृ॒तैर्बो॑धय॒ताति॑थिम् ॥ आ-स्मि॒न्ह॒व्या जु॑होतन ॥ १ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐसमिधाग्निमित्यस्य आंगिरस ऋषिः । गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । अग्नौ समिदाधाने वि० ॥ १ ॥

विधि–चार ऋत्विजोंके भोजन करने योग्य चावल पकाकर उनका मांड निकालकर थाली में धरै, और उस उखामें स्थित अन्नके मध्यमें एक गढा करके उसमें घृत स्थापन करै,और उसमें घी भरै जब वह तेजाय तो उसमें तीन पीपलकी समिधा भिजोकर होता, उपहोता, आग्नीध्र, यह तीन ऋत्विक् यथाक्रमसे तीन कण्डिका पढ़कर अग्निमें आहुति प्रदान करैं [का० ४ । ७ । १]

मंत्रार्थ–हे ऋत्विजो ! तुम (समिधा) समिधा करके (अग्निम्) अग्निकी (दुवस्यत) परिचर्या करो (घृतैः) घृतोंके प्रदान से (अतिथिम्) आतिथ्यकर्मवाले पूजनीय अग्नि को (बोधयत) प्रज्वलित करो (अस्मिन्) इस प्रज्वलित अग्नि में (हव्या) अनेक प्रकार के हव्य पदार्थ (आजुहोतन) सब प्रकार से हवन करो ॥ १ ॥ [ऋ० ६ । ३ । ३६]

गूढार्थ–अध्यात्म पक्ष में इस मंत्र में यह उपदेश किया है कि प्राणरूप समिधा से आत्माग्नि की उपासना करनी, इन्द्रियों की शक्ति से उस की वृद्धि करनी और मनोवृत्तिरूप हविप्रदान करै यह अर्थ सब मन्त्रोंमें आसकते हैं ॥ १ ॥

कण्डिका २–मन्त्र १ ।

सु॒स॑मिद्धाय शो॒चिषे॑ ॥ घृ॒तन्ती॒व्रञ्जु॑होतन ॥ अ॒ग्नये॑ जा॒तवे॑दसे ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐसुसमिद्धायेत्यस्य वसुश्रुत ऋषिः । गायत्री छं० । अग्निर्देवता । हवनाय ऋत्विजां प्रेरणे वि० ॥ २ ॥

विधि-(१) होमके अर्थ ऋत्विजोंको प्रेरणा करे । मन्त्रार्थ-हे ऋत्विजो ! तुम (सुसमिद्धाय) अच्छी प्रकारसे दीप्तिमान् (शोचिषे) प्रज्वालित (जातवेदसे) जातप्रज्ञ अर्थात् सब कुछ जाननेवाले (अग्नये) अग्निदेवता के निमित्त (तीव्रम्) अतिस्वादु वा अधिक शुद्ध (घृतम्) घृतको (जुहोतन) प्रदान करो अर्थात् हवन करो ॥ २ ॥ [ऋ० ३ । ८ । २०]

कण्डिका ३-मन्त्र १ ।

तन्त्वा॑ स॒मिद्भि॑रङ्गिरो घृ॒तेन॑ वर्द्धयामसि ॥ बृ॒हच्छो॑चा यविष्ठ्य ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐतन्त्वेत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । गायत्रीछं० । अग्निर्देवता । जपे विनियोगः ॥ ३ ॥

विधि-(१) इस मन्त्रका जप करे । मंत्रार्थ-हे (अङ्गिरः)कम्पनस्वभाव अग्नि (तं) उक्तगुणयुक्त (त्वा) तुमको (समिद्भिः)यज्ञसम्बन्धिकाष्ठ और(घृतेन)संस्कार किये घृतसे (वर्द्धयामः) बढ़ाते हैं (यविष्ठ्य) हे चिरतरुण तुम सदा तरुण रहनेवाले (असि) हो (बृहत्) बडे वा वृद्धिको प्राप्त होकर (शोचा)प्रदीप्त हो॥३॥

प्रमाण-"अङ्गिरा उ ह्यग्निः" इति श्रुतेः[श० १. ४. १.२५] [ऋ०४।५।२३]

कण्डिका ४-मन्त्र १ ।

उप॑ त्वाग्ने ह॒विष्म॑तीर्घृ॒ताची॑र्यन्तु हर्य्यत ॥ जुष॑स्व स॒मिधो॒ मम॑ ॥ ४ ॥ [४]

ऋष्यादि-(१) ॐउपत्वेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । सर्वान्प्रतिलक्ष्य कथने वि० ॥ ४ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे सबके प्रति लक्ष करके कथन करै [का० ४, ८, ६] (अग्ने) हे अग्निदेवता ! (हविष्मतीः)हविसे युक्त(घृताचीः) घृतमें डूबी-हुई यह समिधा (त्वा) तुमको (उपयन्तु) प्राप्त हों (हर्यत) हे कान्तिमान् (मम) मेरी (समिधः) समिधाओंको (जुषस्व) प्रीतिसे सेवन करो ॥ ४ ॥

प्रमाण-"हर्यत आचक इति कान्तिकर्मसु पठितम्" [निघं०२, ६. १०]

कण्डिका ५-मन्त्र ५ ।

भूर्भुवः॒ स्व॒र्द्यौरि॑व भू॒म्ना पृ॑थि॒वीव॑ वरि॒म्णा ॥ तस्या॑स्ते पृथिवि देवयजनि पृ॒ष्ठे॒ऽग्निम॑न्ना॒दम॒न्नाद्या॒याद॑धे ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐभूरिति प्रजापतिर्ऋ० । दैवीगायत्रीछं० । अग्निर्देवता । आहवनीयाधाने वि० । (२) ॐभुवइति प्र० ऋ० । दैव्युष्णिक्छन्दः । वायुर्देवता । आहवनीयाधाने वि० । (३) ॐस्वरिति प्र० ऋ० । दैवीगायत्री छं० । सूर्यो देवता । आहवनीयाधाने० । (४) ॐद्यौरिवेति प्र० ऋ० । याजुषी गा०छं०।लिङ्गोक्ता देवता । आहवनीयाधाने वि० ॥५॥

विधि-(१-२-३) स्फ्यद्वारा रेखा की हुई भूमिमें सम्भारों (जल सुवर्ण क्षारमृत्तिका मूषककी खोदी मृत्तिका और शर्करा एकपात्रमें पृथक्२स्थित)को स्थापन कर उन पर शुष्क काष्ठ से प्रज्वलित अग्निको "भूर्भुवः" इन शब्दोंको उच्चारण करके स्थापन करै यह आहवनीय स्थापन है, इस प्रकार आठ अक्षरयुक्त होनेसे श्रुति में अग्निको गायत्रत्व कहाहै कारण कि गायत्रीसहित अग्नि प्रजापतिके मुखसे उत्पन्न हुई है [का-४. ९, १] तथा [का० ४, ९, १६] इन आधान मन्त्रोंमें (भूः) यह प्रथम व्याहृति है (भुवः) यह दूसरी और (स्वः) यह तीसरी है यह तीनो व्याहृति पृथ्वीआदि तीन लोकके नाम हैं, इनको उच्चारण कर प्रजापतिने तीन लोकोंकी रचनाकीहै इस कारण इनको स्थापन करते में त्रिलोकी का स्मरण करै, तो इन व्याहृतियोंकी महिमा होती है, अथवा भूर्भुवः स्वः इन तीन शब्दोंसे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य अथवा आत्मप्रजा और पशुओंका ग्रहण है यह सब मेरे वशीभूत हों ऐसी प्रार्थना कर अग्नि में आधान करै । **मंत्रार्थ**-हे अग्नि! तुम भूलोक भुवर्लोक और स्वर्लोक सर्वत्रही विद्यमान हो १-२-३ । **विधि**-(४) इध्म का पूर्वार्ध ग्रहण करै [का० ४, ९, १७] **मन्त्रार्थ**-(देवयजनि) हे देवताओं के यज्ञ करने योग्य पृथिवी ! (तस्यास्ते) उस तुम्हारी (पृष्ठे) देवयजन योग्य पृष्ठ पर (अन्नाद्याय) योग्य अन्न की सिद्धिके निमित्त अथवा अन्नादि लाभ कामना के निमित्त (अन्नादम्) अन्नके खानेवाले गार्हपत्यादिरूप (अग्निम्) अग्निको(आदधे)स्थापन करता हूं तुम्हारी पृष्ठपर अग्निको स्थापन करके (भूम्ना) बहुतायत से (द्यौरिव) द्युलोक की समान होजाऊं, जैसे द्युलोक तारकादिसे पूर्ण है, इस प्रकार मैं पुत्र पशु आदिसे बहुत हो जाऊं (वरिम्णा)बहुतों के आश्रयवाली (पृथ्वीव) पृथ्वी की समान होजाऊं, जैसे पृथ्वी उरु होनेसे सब प्राणियों को आश्रय देती है, इसी प्रकार में भी सब प्राणियोंका आश्रयरूप होजाऊं, अथवा यह अग्नि के विशेषण हैं कि महिमा से द्युलोक की समान अर्थात् जैसे ग्रह नक्षत्र से द्युलोक व्याप्त है इसी प्रकार अग्नि अनेकज्वालायुक्त है, वरिमा में पृथ्वी की समान जैसे पृथ्वी सब प्राणियों का आश्रय रूप है इसी प्रकार सब वस्तुओंका शोधक होनेसे अग्नि श्रेष्ठ है ॥ ५ ॥

प्रमाणान्तर-"भूरिति वा अयं लोकः।भुव इत्यन्तरिक्षम्।सुवइत्यसौ लोकः। भूरिति वा अग्निः। भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः। भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूꣳषि। मह इति ब्रह्म।ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते। भूरिति वै प्राणः। भुव इत्यपानः। सुवरिति व्यानः। मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते। ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा। चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः। ता यो वेद स वेद ब्रह्म" [तैत्तिरीय०अनु०५] अर्थ-तीन लोक, अग्नि, वायु, सूर्य, ऋक्, यजुः, साम, तीन वेद ,प्राण, अपान, व्यान, यह सब तीनों व्याहृति हैं महरूप ब्रह्ममें स्थित हैं जो इन्हें जानता है वह ब्रह्म को जानता है यह संक्षेपसे वाक्य संग्रह किया है विस्तार तैत्तिरीय उपनिषद्में देखलेना ॥ ५ ॥

कण्डिका ६-मन्त्र १।

आयङ्गौः पृश्निंरक्रमीदसंदन्मातरम्पुरः ॥ पितरं ञ्च प्प्रयन्त्स्वः ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐआयंगौरिति सर्पराज्ञीकद्रूर्ऋषिः। गायत्री छन्दः। अग्निर्देवता। गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निस्थापने वि० ॥ ६ ॥

विधि-(१) अगले तीन मन्त्रों से क्रम से गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि इन तीनों अग्निका स्थापन करै [का० ४।९।१८।१९] इन तीनों मंत्रों का सर्पराज्ञी नाम है सर्पराज्ञी कद्रू पृथ्वीअभिमानी है।

मन्त्रार्थ-(अयम्) इस दृश्यमान अग्निने (गौः) यज्ञनिष्पत्तिके निमित्त यजमानके गृहों में जानेवाला (पृश्निः) चित्रवर्ण लोहित कृष्ण शुक्लादि ज्वालायुक्त होकर (आ अक्रमीत्) सब प्रकार आहवनीय गार्हपत्य दक्षिणाग्नि स्थानोंमें पादविक्षेप करते हुए (पुरः) प्राची दिशामें (मातरम्) पृथ्वीको (असदत्) प्राप्त किया अर्थात् आहवनीयरूप से प्राप्त किया तथा (स्वः) सूर्यरूपसे (प्रयन्) आदित्यरूप से स्वर्गमें सञ्चरण करते हुए (पितरंच) द्युलोककोभी (असदत्) प्राप्त किया अर्थात् मातापितारूप भूलोक द्युलोक में अग्नि विद्यमान है जिस के द्वारा जगत् पालन होता है ॥ ६ ॥

प्रमाण-"स्वः सूर्यः" [निघं० १, ४, १। ऋ० ८।८।४७]

१ पंडित दयानन्दने इस मंत्रका अग्निदेवता लिखकरभी इसका अर्थ पृथ्वीका घूमना लिखा है जो किसी विनियोग सूत्र ब्राह्मण श्रुतिसे सिद्ध नहीं होता, इससे सर्वथा त्याज्य है।

कण्डिका ७—मं० १ ।

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती ॥ व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥ ७ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐअन्तश्चरतीति प्र०ऋ० । गायत्रीछं० । अग्निर्देवता । अग्न्युपस्थाने वि० ॥ ७ ॥

विधि—(१) आदित्यरूपसे अग्निकी स्तुति कर वायुरूपसे स्तुति करते हैं।

मन्त्रार्थ—(अस्य) इस अग्निकी (रोचना) दीप्ति अर्थात् वायुनामा कोई शक्ति (प्राणात् अपानती) प्राणव्यापारके अनन्तर अपानव्यापारको करती हुई अर्थात् प्राण अपानकी सामर्थ्य वढ़ाती हुई (अन्तः चरति) द्यावा पृथ्वी वा शरीरके मध्यमें चलती है कारण कि यही जठराग्निरूप शरीरका जीवन है, इस के होनेसे ही प्राण अपान प्रवृत्त होते हैं, इस प्रकार वायु आदित्यरूप अपनी शक्तिसे जगत्के ऊपर अनुग्रह करके (महिषः) अग्नि (दिवम्) द्युलोकको भोग-स्थानके अनुष्ठान करनेके निमित्त (व्यख्यत्) विशेष करके प्रकाशित करता हुआ वा प्रकाश करता है ॥ ७॥

प्रमाण—"अग्निर्वै महिषः स इदं जातो महान्" इति श्रुतेः ।

कण्डिका ८—मन्त्र १ ।

त्रिंशद्धाम विराजति वाक्पतङ्गाय धीयते ॥ प्रति वस्तोरहद्युभिः ॥ ८ ॥ [४]

ऋष्यादि—(१) ॐत्रिंशद्धामेत्यस्य प्र०ऋ० । गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । अग्न्युपस्थाने वि० ॥ ८ ॥

विधि—(१) इस मन्त्रसे अग्निका उपस्थान करै। मन्त्रार्थ—(वाक्)जो वेदवाणी (त्रिंशद्धाम) तीस मुहूर्तरूपस्थानोंमें (विराजति) शोभाको प्राप्त होती है स्तुति-को प्राप्त हुई वही वाणी (पतङ्गाय) अग्निके निमित्त (धीयते) उच्चारण की जाती है और केवल तीस ही स्थानों में नहीं किन्तु (प्रतिवस्तोः) प्रतिदिनकी स्तुतिलक्षणा वाणी (अहद्युभिः) यज्ञपारायणादि उत्सवोंसे प्राप्त हुई प्रतिदिन अग्निदेवताके निमित्त ही उच्चारण की जाती है औरोंके निमित्त नहीं अर्थात् सब कालमें सब प्रकार अग्निही स्तुतिके योग्य है ॥ ८ ॥

अथवा—जो वाणी तीसों दिन आलस्यरहित यजमानोंके मुखसे आहवनीयादि अग्निके स्थानमें उच्चारण की हुई विशेष करके विराजमान होती है वह अग्निके निमित्तही उच्चारण होती है अग्निको पतङ्ग इस कारण कहा है कि जिस प्रकार

पक्षी एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जाता है इसी प्रकार अग्नि भी गार्हपत्य स्थानसे आहवनी स्थानको जाता है अथवा प्रतिदिन अग्निस्तुति कीजाती है ॥ ८ ॥

प्रमाण-"धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानि" इति [निरु० ९,२८. २९] "वस्तोः द्युः भानुरित्यहर्नामसु पठितम्" [निघं० १, ९, १] "सुपां सुलुक्" इत्यादिना [७. १. ३९] त्रिंशच्छन्दधामशब्दाच्च सुपो लुक् ।

अन्यस्थानोंमें अग्निके नाम लिखे हैं ।

लौकिकमें पावक । गर्भाधानमें मारुत । पुंसवनकर्ममें चमस । शुभ कर्मोंमें शोभन । सीमन्तमें अनल । जातकर्ममें प्रगल्भ । नामकरणमें पार्थिव । अन्नप्राशनमें शुचि । चूडाकरणमें सभ्य । व्रतादेशमें समुद्भव । गोदानमें सूर्य । केशान्तमें याजक । विसर्गमें वैश्वानर । विवाहमें बलद् । आधानकर्ममें आवसथ्य । वैश्वदेवमें रुक्मक । गार्हपत्यमें गृह्याग्नि । शिवस्वरूपमें दक्षिणाग्नि । आहवनीयमें विष्णुस्वरूप । लक्षहोममें अभीष्टद । कोटिहोममें महाशन । ध्यानमें धृतार्चिष् । रुद्रादिमें मृड । शान्तिकर्ममें शुभकृत् । पौष्टिकमें वरद । अभिचारकर्ममें क्रोधन । वशीकरणमें वशकृत् । वनदाहमें पोषक । उदरमें जाठराग्नि । शवभक्षणमें क्रव्याद । समुद्रमें वडवानल । प्रलयमें सम्वर्तक । इनमें आवसथ्य आहवनीय दक्षिणाग्नि अन्वाहार्य गार्हपत्य यह वैदिक अग्निहैं । सूर्यमें कपिल अग्नि।चन्द्रमामें पिंगल।मंगलमें धूमकेतु । बुधमें जठर । बृहस्पतिमें शिखि । शुक्रमें हाटक । शनैश्चरमें महातेजा । राहुकेतुमें हुताशन अग्नि है । जो जिसस्थान कर्मकी अग्नि है उसी कर्ममें उसीके नामसे वह कर्म करनेसे विशेष फल होताहै ।[ऋ० ८ । ८ । ४७] ॥ ८ ॥

इत्यग्न्याधेयमन्त्राः ।

अथ अग्निहोत्रहोममन्त्राः ।

यह मंत्र प्रातःकाल और संध्याकालमें होम करनेके हैं।

अ॒ग्निर्ज्ज्योति॒र्ज्ज्योति॑र॒ग्निः स्वाहा॒ सूर्य्यो॒ ज्ज्योति॒र्ज्ज्योति॒ः सूर्य्य॒ः स्वाहा॑ ॥ अ॒ग्निर्वर्च्चो॒ ज्ज्योति॒र्वर्च्च॒ः स्वाहा॒ सूर्य्यो॒ वर्च्चो॒ ज्ज्योति॒र्वर्च्च॒ः स्वाहा॑ ॥ ज्योति॒ः सूर्य्य॒ः सूर्य्यो॒ ज्ज्योति॒ः स्वाहा॑ ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१-२) ॐअग्निर्ज्योति०सूर्योज्योति०इति मंत्रद्वयस्य तक्षा ऋषिः । एकपदा गायत्री छं० । लिङ्गोक्ता देवता । समिद्धोमे वि०।(३-४) ॐअग्निर्वर्च्च इति सूर्योवर्च्चइति द्वयोः प्रजापतिर्ऋ० । एकपदा गा० । लिङ्गो-

क्तादे० । समिद्धोमे वि० । (५) ॐज्योतिःसूर्यइत्यस्य जीवलश्चैल-किर्ऋ० । एकपदागा० । लिङ्गोक्ता देवता । हवने वि० ॥ ९ ॥

विधि-(१) सायंकालमें प्रदीप्त समिध से हवन करे [का० ४. १४, १४] अग्निर्ज्योतिषामिति [अध्या० ३. २, १] कण्वशाखा के मंत्र से समित्प्रक्षेप करे ।

मन्त्रार्थ-(अग्निः) जो यह अग्नि देवता है वही (ज्योतिः)दृश्यमान ज्योतिः-स्वरूप वा ब्रह्मज्योति है, और जो यह दृश्यमान (ज्योतिः) ज्योति वा ब्रह्म-ज्योति है वही (अग्निः) अग्निदेवता है (स्वाहा) ज्योतिरूप अग्निके निमित्त हविप्रदान की १ । विधि-(२) प्रातःकाल होमके मन्त्र । मन्त्रार्थ-(सूर्यः) यह जो सूर्यदेवता है वही (ज्योतिः)ब्रह्मज्योति है। "योसावादित्ये पुरुषः सोसावहम्" इति [यजु ०अ०४० मं०१७] (ज्योतिः)जो यह ज्योति है वही (सूर्यः) सूर्य है (स्वाहा) उनके निमित्त हवि दिया २ । [सूर्यसम्बन्धी तेज रात्रिको अग्निमें प्रवेश करता है इस कारण सन्ध्याका 'अग्निर्ज्योति' मंत्र है । उदयकाल में अग्निसम्बन्धी ज्योति सूर्यमें प्रवेश करती है इस कारण 'सूर्यो ज्योति' यह प्रातःकालका मंत्र है संध्याको सूर्य अग्निमें प्रवेश करता है इस कारण दूर से अग्नि रात्रि में दीखता है । "उभे हि तेजसी सम्पद्येते उद्यन्तं वादित्यमग्निरनुसमारोहति । तस्माद्धूम एवाग्ने-र्दिवा ददृशे" इति तैत्तिरीयश्रुतेः] विधि-(३) ब्रह्मतेजकी कामना करने वाला इस तीसरे मंत्रसे संध्याकाल में हवन करे [का० ४, १४, १६] मन्त्रार्थ-(अग्निः) जो अग्नि (वर्च्चः) अनन्यभूत ब्रह्मतेजसे युक्त है उसकी (ज्योतिः) ज्योति (वर्च्चः) अनन्यभूत तेजयुक्त है उस अग्निदेवके निमित्त (स्वाहा) श्रेष्ठ होम हो ॥ ३ ॥ विधि-(४) ब्रह्मतेजकी कामनासे प्रातःकाल हवन करनेका मंत्र[का० ४, १९, ११-] मन्त्रार्थ-(सूर्यः) जो सूर्य है वही (वर्च्चः) ब्रह्मतेज है (ज्योतिः) जो ज्योति है वही (वर्च्चः) तेज है उस सूर्यदेवताके निमित्त (स्वाहा) श्रेष्ठ होम हो ॥४॥ विधि-(५)अथवा इस पांचवें मंत्र से प्रभात समय हवन करे । मन्त्रार्थ-(ज्योतिः)जो ज्योति है वही (सूर्य्यः) सूर्य्य है (यः) जो (सूर्य्यः) सूर्य्य है वही (ज्योतिः) ब्रह्मज्योति है (स्वाहा) उसके निमित्त श्रेष्ठ होम हो ॥ ९ ॥

इन मंत्रों से प्रतिदिन आहुतिप्रदान करनेसे उपरोक्त फल प्राप्त होता है ।

प्रमाण-"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"-[यजु ७ । ४२] ॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मंत्र २ ।

सजूर्देवेन सवित्रासजूरात्र्येन्द्रवत्त्या ॥ जुषाणोऽ

अग्निर्वेतु स्वाहा॥ सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥ १० ॥ [२]

ऋष्यादि–(१) ॐसजूर्देवेनेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। एकपदा गायत्री०। लिङ्गोक्तादे०। हवने वि०। (२) ॐसजूर्देवेने त्यस्य प्र० ऋ०। एकपदा गायत्री छन्दः। लिङ्गोक्ता देवता। हवने विनि० ॥ १० ॥

विधि–(१)इस कण्डिकामें दो मंत्र विकल्पसे संध्या प्रातःकाल हवन करनेके हैं[का० ४,१४,९]मन्त्रार्थ–(सवित्रा)सबके प्रेरण करनेवाले(देवेन)सूर्यरूप परमेश्वरके संग (सजूः) समान प्रीति करनेवाले तथा (इन्द्रवत्या) इन्द्र है देवता जिसका ऐसे (रात्र्या) रात्रिदेवताके साथ (सजूः) समान प्रीति करनेवाले (जुषाणः)हमपर-भी प्रीति करनेवाले (अग्निः) अग्निदेवता (वेतु) इसको जाने (स्वाहा) इन अग्निदेवताके निमित्त श्रेष्ठ आहुति प्रदान की श्रेष्ठ होम हो १। विधि–(२) प्रातःकाल हवन करनेका मंत्र। मन्त्रार्थ–(सवित्रा) सबके प्रेरक (देवेन) ज्योतिस्वरूप परमात्माके साथ (सजूः) समान प्रीतिवाले (इन्द्रवत्या) इन्द्रदे-वतावाली (उषसा) उषाकालके साथ (सजूः) समान प्रीतिवाले तथा (जुषाणः) हमपर प्रीति करनेवाले (सूर्यः) सूर्यदेवता (वेतु) आहुतिको ग्रहण करो वा हमारे कर्मको प्राप्त करो (स्वाहा)उनके निमित्त श्रेष्ठ होम हो [पूर्वार्धमें रात्रिदेवताके स्थानमें उखादेवता प्रयुक्त करना] ॥ १० ॥

कण्डिका ११–मन्त्र १।

उपप्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये ॥ आरे अस्मे च शृण्वते ॥ ११ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐउपेत्यस्य गौतम ऋषिः। निचृद्गायत्री छन्दः। अग्निर्देवता। अग्न्युपस्थाने वि०।

विधि–(१) सायंकालकी आहुतिप्रदान कर चुकनेपर वत्सप्रीगोत्रमें उत्पन्न गौतमविरूपादि ऋषियोंके देखे हुए मंत्रोंसे इस ग्यारहवीं कण्डिकासे ३६ वीं कण्डिकासमाप्तिपर्यन्त पच्चीस कण्डिकाओंके मंत्र तीन तीन बार पाठ कर तीन तीन आहुति प्रदान करे इनसे आहवनीय और गार्हपत्य दोनों प्रकारकी अग्निका उपस्थान होता है। प्रथम आहवनीय उपस्थान है [का० ४, १२. १। ३] मन्त्रार्थ–(यज्ञम) यज्ञके प्राप्ति (उपप्रयन्तः) गमन करतेहुए अथवा यज्ञ-

कार्यमें प्रवृत्त हम (आरेच) दूर (अस्मे) समीप (शृण्वते) सुन्तेहुए (अग्नये) अग्नि देवताके निमित्त (मन्त्रम्) मनन करते ही रक्षा करनेवाले अथवा उच्चारण करते ही इष्टसिद्धि करनेवाले शब्दसमूहको (वोचेम) उच्चारण करते हैं [ऋ० १ । ९ । २१] ॥ ११ ॥

भावार्थ–अग्नि दूर हो वा निकट उसके प्रीतिसाधनके निमित्त यज्ञसाधनमें प्रवृत्त हुए हम कुछ मंत्र उच्चारण करते हैं, वह समस्त ही श्रवण करे । अध्यात्म-अर्थमें अग्निरूप परमात्मा है ॥ ११ ॥

प्रमाण–"आर इति दूरनामसु पठितम्"–[निघं० ३ । २६] ॥ ११ ॥

कण्डिका १२–मन्त्र १ ।

अग्निर्म्मूर्द्धा दिवःकुकुत्पतिः पृथिव्याऽअयम् ॥ अपाᳬरेताᳬसिजिन्वति ॥ १२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अग्निर्मूर्द्धेत्यस्य विरूप ऋषिः । निच्यृद्गायत्री छं० । अग्निर्देवता । अग्न्युपस्थाने वि० ॥ १२ ॥

मंत्रार्थ–(अयम्) यह(अग्निः)अग्निदेवता(दिवः)द्युलोकके शिरकी समान अर्थात् अग्निने द्युलोकके शिरकी समान प्रधानता लाभ कीहै जैसे शिर सब शरीरसे ऊपर है इसी प्रकार यह अग्निदेव अपने तेजसे आदित्यमें प्रवेश करके द्युलोकके ऊपर वर्तता है (ककुत्) अथवा जैसे बैलका स्कंध सब स्थानसे उन्नत होता है इस प्रकार अग्निने सर्वोन्नत स्थान लाभ किया है अथवा ककुद नाम महत्‌काहै "ककुदमिति महन्नाम"–[निघं० ३, ३, १९] इससे यही जगत्‌का 'महान्' कारण है (पृथिव्याः) पृथ्वीका (पतिः) पालक है अर्थात् पृथ्वीलोकमें ककुद समान उच्छ्रित सर्वत्रही अग्निने आधिपत्य लाभ किया है यही अग्नि (अपाम्) जलोंके (रेतांसि) सारोंको (जिन्वति) पुष्ट करता है अर्थात् द्युलोकके गिरते हुए वृष्टिरूप जलोंके सारोंको व्रीहियवादिरूपसे परिणत करता है वा अन्तरिक्ष लोकमें वृष्टिके कारण मेघोंको पुष्ट करता है, वा आहुतिके परिणामसे वृष्टि उत्पन्न करता है "ते वा एते आहुती उत्क्रामतः" इत्यादिश्रुतेः । वाहक प्रकाशादिसे यह अग्नि पृथ्वीका पालक है । अध्यातममें अग्निरूप परमात्माकी प्रार्थना है [ऋ० ६ । ३ । ३९] ॥ १२ ॥

कण्डिका १३–मन्त्र १ ।

उभावामिन्द्राग्नीऽआहुवद्ध्याऽउभाराधसᳬसह

मादयद्ध्यै ॥ उभा दातारा विषाᳬ रयीणामुभा वा जस्य सातये हुवे वाम् ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) उभावामिति भरद्वाज ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । इन्द्राग्नी देवते । उपस्थाने वि० ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ-(१) (इन्द्राग्नि) हे इन्द्र अग्नि दोनों देवताओ ! (वाम्) तुम (उभा) दोनोंको (आहुवध्यै) आह्वान करनेकी इच्छा करता हूं, किञ्च (उभा) तुम दोनोंको (सह) साथही (राधसः) हविलक्षणवाले धनसे (मादयध्यै) प्रसन्न करनेकी इच्छा करता हूं जिस कारणसे कि (उभा) तुम दोनो ही(इषाम्) अन्न और (रयीणाम्) धनोंके वा पानीके (दातारौ) देनेवाले हो (उभा)दोनों (वाम्) तुमको (वाजस्य) अन्नजलके (सातये) देनेके निमित्त (हुवे) आह्वान करता हूं ॥ १३ ॥

विशेष-"इन्द्र शब्दसे आहवनीय अग्नि जानना कारण कि वह यज्ञसाधकरूप ऐश्वर्यसे युक्त है अग्निशब्दसे गार्हपत्य अग्नि लेनी "अग्रे नीयत इत्यग्निः " इति यास्कव्युत्पत्तेः । दो अरणीसे अग्नि निकालकर प्रथम गार्हपत्यस्थानमें लाई जाती है इस कारण यह अग्नि कहाती है । [ऋ० ४ । ८ । १९] ॥ १३ ॥

कण्डिका १४-मंत्र १ ।

अयन्ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो ऽअरोचथाः ॥ तञ्जानन्नग्न ऽआरोहाथा नो वर्द्धया रयिम् ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अयन्तइत्यस्य देवश्रवोदेववातावृषी । स्वराडनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्दे० । उपस्थाने वि० ॥ १४ ॥

मंत्रार्थ-(१)(अग्ने)हे आहवनीय अग्नि ! (ते) तुम्हारा (अयम्)यह(ऋत्वियः) ऋतुविशेषलब्ध गार्हपत्याग्नि (योनिः)उत्पत्तिस्थान है.सायं प्रातःकालमें आहवनीय स्थानमें प्रादुर्भूत होती है (यतः) जिस ऋतुकालसे युक्त गार्हपत्यसे (जातः)उत्पन्न हुए तुम (अरोचथाः) कर्मकालमें प्रदीप्त हो,हे अग्ने(तम्) उस गार्हपत्यको(जानन्) जानकर (आरोह) कर्मान्तरसाधनके निमित्त दक्षिणकुण्डमें आरोहण कर(अथ) इसके उपरान्त (नः) हमारे निमित्त (रयिम्) फिर यज्ञ करनेके निमित्त धनको (आवर्धय) सब प्रकार बढ़ाओ ॥ १४ ॥

विशेष—ब्राह्मणादि तीनों वर्णोंको ऋतुविशेषमें यज्ञदीक्षाके निमित्त अग्नि-लाभ होती है वसन्तकालमें ब्राह्मण अग्निग्रहणके निमित्त दीक्षा ले, शरत्कालमें क्षत्रिय इत्यादि ॥ १४ ॥

कण्डिका १५—मंत्र १ ।

अयमिह प्प्रथमोधायिधातृभिर्होतायजिष्ठोऽअध्वरेष्ष्वीड्यः ॥ यमप्प्नवानोभृगवोविरुरुचुर्वनेषु चित्रंविभ्वंविशेविशे ॥ १५ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐअयमिहेत्यस्य वामदेव ऋषिः । जगती वा भुरिक् त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्दे० । उपस्थाने वि० ॥ १५ ॥

मंत्रार्थ—(१) (अयम्) यह अग्नि (होता) देवताओंका आह्वान करनेवाला (यजिष्ठः) यज्ञोंमें स्थित वा अतिशय यज्ञ करानेवाला (अध्वरेषु) सोमयागादि में (ईड्यः) ऋत्विजोंसे स्तुतिको प्राप्त हुआ (इह) इस कर्मानुष्ठान स्थानमें (प्रथमः) मुख्य (धातृभिः) स्थापन करनेवालोंसे (आधायि) स्थापित किया गया है (अप्नवानः) पुत्रवान् "अप्नशब्दोऽपत्यनामसु पठितः" [निघं० २,२,७] (भृगवः) भृगुवंशोत्पन्न यज्ञविद्याके जाननेवाले मुनिगणोंने (विशेविशे) यजमानरूप मनुष्यके उपकारके निमित्त (चित्रं) विविध कर्मोपयोग्य होनेसे आश्चर्यरूप (विभुम्) व्यापक शक्तिसे युक्त (यम्) जिस अग्निको (वनेषु) वनोंमें (विरुरुचुः) प्रदीप्त किया है ॥ १५ ॥

प्रमाण—"विडिति मनुष्यनाम"—[निघं०२.३.९] [ऋ०३।९।६] ॥ १५ ॥

कण्डिका १६—मन्त्र १ ।

अस्यप्प्रत्नामनुद्युतꣳशुक्रन्दुदुह्रेऽअह्रयः ॥ पयःसहस्रसामृषिम् ॥ १६ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐअस्यप्रत्नामित्यस्य अवत्सार ऋषिः । गायत्री छन्दः । गोग्निपयो देवता । उपस्थाने वि० ॥ १६ ॥

मंत्रार्थ—(१) (अह्रयः) संस्कारसे शुद्ध होनेके कारण अयोग्यताकी लज्जासे हीन सब विद्याओंके प्राप्त करनेवाले ऋषि (अस्य) इस अग्निकी (प्रत्नाम्) चिरन्तनकालीन (द्युतम्) कान्तिको (अनुसृत्य) अनुसरण करके (ऋषिम्) गायकेद्वारा (सहस्रसाम्) सहस्र २ कार्यके उपयोगी क्षीर दधि आज्य हविके

सार्थक (शुक्रम्) शुद्ध (पयः) दूधको (दुदुहे) दुहते हुए ॥ [सन्ध्या उपरान्त गोदुहनेके समय अग्निके प्रकाश न होनेके कारण दुहते समय कदाचित् दूधकी कोई धार भूमिमें गिर जाय इस शंकासे दुहनेवालेको लज्जा होती है और प्रकाश होनेसे गिरनेकी शंकारहित होनेसे गोदुहनेवालोंको (अहयः) लज्जाशून्य कहा. अथवा (अहयः) मलीन न होनेके कारण प्रशंसनीय गौएं इस अग्निकी चिरन्तन आत्मामें अनुरक्त हुई- शुक्ररूपसे परिणत कान्तिरुप दुग्धको क्षरण करती है. अर्थात् गौओंका दुग्ध शुक्ररूपसे परिणत हुई कान्ति है जो दुग्ध चातुर्मास्य सोमादियागका सम्पादक है अथवा (ऋषिम्) देखनेवाला है] [ऋ० ७ । १ । १०] ॥ १६ ॥

प्रमाण-"मा हैनानुदीक्ष्य हिङ्ङ्कारेत्युपक्रम्य ते देवा विदाञ्चक्रुरेष साम्ने हिङ्कार इति तामुहाग्निरभिदध्यौ मिथुन्येऽनया स्यामिति ताᳬसम्बभूव तस्याᳬरेतः प्रासिञ्चत्तत्पयोऽभवत्" इति श्रुतेः [श० २. २. ४. १५] ॥ १६ ॥

कण्डिका १७-मन्त्र १।

तनूपाऽअग्नेऽसि तन्वम्मे पाह्यायुर्दाऽअग्नेऽस्यायुर्म्मे देहि वर्च्चोदाऽअग्नेऽसि वर्च्चो मे देहि ॥ अग्ने यन्मे तन्वाऽऊनन्तन्मऽआपृण ॥ १७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐतनूपाइत्यस्य अवत्सार ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । उपस्थाने वि० ॥ १७ ॥

मंत्रार्थ- (१) (अग्ने) हे अग्ने ! वा परमात्मन् ! तुम (तनूपाः) स्वभावसेही शरीरके रक्षक वा अग्निहोत्री शरीरियोंके रक्षक (असि) हो उदरमें अग्नि होनेसे जीर्ण शरीरके पालक हो इस कारण (मे) मेरे (तन्वम्) शरीरको (पाहि) पालन करो (अग्ने) हे अग्ने ! तुम (आयुर्दाः) आयुके देनेवाले (असि) हो (मे) मेरे निमित्त (आयुर्देहि) अपमृत्युको दूर कर पूर्ण आयु दो [अर्थात् जबतक उदरमें उष्णता रहती है तबतक पुरुष नहीं मरता] (अग्ने) हे अग्ने ! तुम (वर्चोदाः) कान्तितेजके देनेवाले (असि) हो इस कारण (मे) मेरे निमित्त (वर्चः) तेज (देहि) प्रदान कीजिये (अग्ने) हे अग्ने ! (मे) मेरे (तन्वाः) शरीरका (यत्) जो अंग चक्षुरादिरूप (ऊनम्) दृष्टिकी पटुता आदि वा बुद्धिआदि न्यून हो (तत्) उस अंगको (आपृण) सब प्रकारसे पूर्ण करो ॥ १७ ॥

भावार्थ-तेजकी प्रार्थनामें वैदिक अनुष्ठान प्रयुक्त तेज जानना जिसके दर्शनसे

यह कोई महान् विद्वान् तेजमें अग्निकी समान तपता है ऐसी बुद्धि मनुष्योंको होती है. अग्निके कार्योंका महा उपदेश इस मंत्रमें किया है. ॥ १७॥

कण्डिका १८—मन्त्र १ ।

इन्धा॑नास्त्वा श॒तꣳहिमा॑ द्यु॒मन्त॒ꣳ समि॑धीमहि ॥ वय॑स्वन्तो वय॒स्कृत॒ꣳ सह॑स्वन्त॒ꣳ सह॒स्कृत॑म् ॥ अ॑ग्ने॑ सपत्न॒दम्भ॑नु॒मद॑ब्धासो॒ऽअदा॑भ्यम् ॥ चित्रा॑वसो॒ स्व॒स्ति ते॑ पा॒रम॑शीय ॥ १८ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐइन्धानास्त्वेत्यस्यावत्सार ऋषिः । निचृद्ब्राह्मीपंक्ति र्वा महापंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता । उपस्थाने विनियोगः ॥ १८ ॥

मंत्रार्थ—(१) (अग्ने) हे अग्निदेव! (इन्धानाः) तुम्हारे अनुग्रहसे दीप्तिमान (वयस्वन्तः) अन्नवान् (सहस्वन्तः)बलवान्(अदब्धासः) किसीसे भी हिंसा वा पीड़ा न पानेवाले हम यजमान (द्युमन्तम्) कान्तिमान् (वयस्वन्तम्) अन्नवान् (सहस्वन्तम्) बलवान् (सपत्नदम्भनम्) शत्रुओंके हिंसक (अदाभ्यम्) किसीसे पीड़ा न पानेवाले (त्वा) तुमको (शतꣳ हिमाः) शतवर्षपर्यन्त व पूर्णायुपर्यन्त (समिधीमहि) निरन्तर प्रदीप्त करैं [अर्थात् उक्त विशेषणसे युक्त अग्निदेवता यह सब वस्तु हमको प्रदान करैं पूर्वमन्त्रवत्]

चित्रावसोरात्रिदेवत्यं यजुर्ऋषिर्दृष्टम् ।

(चित्रावसो) विविध चन्द्र नक्षत्र अन्धकाररूपकी निवासरूप हे रात्रि!(स्वस्ति) कल्याणपूर्वक मैं यजमान (ते) तेरे(पारम्) समाप्तिको (अशीय) प्राप्तहूं अर्थात् जैसे मनुष्योंके सोजाने पर चोर गृहोंमें प्रवेश करजाते हैं इसी प्रकार इस देवयजनमें राक्षस न प्रवेश कर जायँ इस शंकासे उनके निवारणके अर्थ रात्रिसे प्रार्थना है ॥ १८ ॥

प्रमाण—" वय इति अन्ननाम"—[निघं० २, ७, ७ ।] " सह इति बलनाम—" [निघं० २, ९, १७ ।] " रात्रिर्वै चित्रावसुः साह्यस्ꣳसंगृह्येव चित्राणि वसाति " इति श्रुतेः [श० २. ३. ४, २२]॥ १८ ॥

कण्डिका १९—मंत्र १ ।

सन्त्वमग्ने॒ सूर्य॑स्य॒ वर्च॑सागथा॒ꣳ समृषी॑णाꣳ स्तु॒ते

न ॥ सम्प्रियेणधाम्नासमहमायुषासंवर्चसास
म्प्रजयासᳯरायस्पोषेणग्मिषीय ॥ १९ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐसन्त्वमित्यस्य अवत्सारऋषिः । जगती छन्दः । अग्निर्देवता । जपे विनि० ॥ १९ ॥

[द्वादशाक्षर चार चरणयुक्त जगती छंद होताहै]

विधि—(१)उपस्थान न करके पीछे बैठकर अगला मंत्र जपै [का० ४. १२. ४] मंत्रार्थ—(अग्ने) हे अग्निदेवता ! (त्वम्) तुम रात्रिमें (सूर्यस्य)सूर्यके (वर्चसा) तेजसे (समगथाः) संगतिको प्राप्त हुए हो तथा (ऋषीणाम्)महर्षियोंके (स्तुतेन) स्तोत्रसे (सम्) संगतिको प्राप्त हुए हो बहुतसे मंत्र अग्निकी स्तुति करते हैं (प्रियेण) प्रिय (धाम्ना) आहुतियोंसे (समगथाः) संगतिको प्राप्त हुए हो जिस प्रकार तुम इन तीन वस्तुओंसे संगतिको प्राप्त हुए हो उसी प्रकार (अहम्) मैं (आयुषा)आपकी कृपासे अपमृत्युदोषरहित आयुसे (संग्मिषीय) संगतिको प्राप्त हूं तथा (वर्चसा) विद्यैश्वर्यादिप्रयुक्त तेजसे (सम्) संगतिको प्राप्त हूं । (प्रजया) पुत्रादिसे (सम) संगतिको प्राप्त करूं तथा(रायस्पोषेण) धनकी पुष्टिसे (सम) संगतिको प्राप्त हूं ॥ १९ ॥

प्रमाण—"तद्यदस्तं यन्नादित्य आहवनीयं प्रविशति तेनैतदाह"—इति श्रुतेः । [श०२. ३. ४. २४] "तद्यदुपतिष्ठते तेनैतदाह" इति श्रुतेः [श० २. ३. ४.२४] "आहुतयो वा अस्य प्रियं धाम" इति श्रुतेः [श० ३. ४. २४] ॥ १९ ॥

कण्डिका २०—मन्त्र १ ।

अन्धस्स्थान्धोवोभक्षीयमहस्स्थमहोवोभक्षीयो
र्जस्स्थोर्जंवोभक्षीयरायस्पोषस्स्थरायस्पोषंवो
भक्षीय ॥ २० ॥

ऋष्यादि—(१) ॐअन्धस्थेत्यस्य याज्ञवल्क्य ऋषिः । भुरिग्बृहती छं० । गौर्देवता । गवोपसर्पणे वि० ॥ २० ॥

विधि—(१)दो कण्डिकाओंको पढकर गौके समीप गमन करै[कात्या०४.१२.५] मंत्रार्थ—हे गौओ ! तुम (अन्धस्थः) अन्नरूप हो क्षीराज्यादिरूप अन्नकी उत्पन्न करनेवाली हो इस कारण तुम्हारी कृपासे (वः) तुम सम्बन्धी (अन्धः) क्षीरघृतादिरूप अन्नको (भक्षीय) मैं सेवन करूं तथा तुम (महस्थः) पूज्यरूप हो इस कारण तुम्हारे प्रसादसे (वः) तुम्हारे सम्बन्धी (महः) पूज्यताको

(भक्षीय) में प्राप्त करूं तथा तुम (ऊर्ज्जः) बलरूप (स्थ) हो अर्थात् तुम्हारा दुग्धादि बलकारक है इस कारण तुम बलरूप हो (वः) तुम्हारे प्रसादसे मैं (ऊर्जम्) बलको (भक्षीय) सेवन करूं हे गौओ ! तुम (रायस्पोषस्थ) धनकी पुष्टिरूप हो "कारण कि बहुत व्यापारी घी दूध बेचकर धनसंग्रह करते हैं" (वः) तुम्हारे प्रसादसे मैं (रायस्पोषम्) धनकी पुष्टिको (भक्षीय) सेवन करूं॥ २० ॥

भावार्थ—गौओंका पूजन करना उनको चरणसे न छूना तथा गौओंके उपकार इस मंत्रमें दिखाये हैं महःशब्दसे श्रुतियोंमें दशवीर्यका वर्णन किया है यथा "गावै प्रतिधुक् तस्यै श्रृतं तस्यै शरस्तस्यै दधि तस्यै मस्तु तस्या आतञ्चनं तस्यै नवनीतं तस्यै घृतं तस्या आमिक्षा तस्यै वाजिनम्" इति श्रुत्युक्तानि। अर्थ—तत्कालका दूध, औटाया दूध, दुग्धमण्ड, दही, दधिरस, दधिपिण्ड, मक्खन, घी, फटा दूध, यह क्रमसे जानने. ऐसी दशवीर्यवाली गौके सेवनसे मनुष्य उपरोक्त गुण पूर्ण होते हैं यह तात्पर्य है ॥ २० ॥

कण्डिका २१—मंत्र १।

रेवतीरमध्वमस्मिन्योनावस्मिन्गोष्ठेऽस्मिँल्लोकेऽस्मिन्क्षये ॥ इहैव स्त मापगात ॥ २१ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐरेवतीरित्यस्य याज्ञवल्क्य ऋ० । उष्णिक्छन्दः । गौर्देवता । गवोपसर्पणे वि० ॥ २१ ॥

मंत्रार्थ—(१) (रेवतीः) हे धनवाली गायो धनप्राप्तिमें हेतुवाली होनेसे धनवान् कहा "पशवो वै रेवन्तः" इति श्रुतेः[२,३,४,२६] (अस्मिन्) इस दृश्यमान (योनौ) अग्निहोत्रहविर्दोहनस्थानमें तथा (अस्मिन्) दोहनके उपरान्त इस (गोष्ठे) गोठमें तथा सदा (अस्मिन्) इस (लोके) लोकदर्शन यजमानकी दृष्टिविषयमें, रात्रिमें (अस्मिन्) इस यजमानके (क्षये) निवासस्थानमें (रमध्वम्) क्रीडा करो. किञ्च (इहैव) इसी यजमानके गृहमें (स्त) स्थित रहो इस स्थानसे कहीं (मा) मत (अपगात) जाओ ॥ २१ ॥

उपदेश—ईश्वरका, गौकी सेवा करना इस प्रकार चाहिये यह उपदेश है. घरमें गौको रखना सदैव चाहिये- परन्तु कालकी करालगतिसे दूध न देनेवाली गौओं को ब्राह्मणादिवर्णभी केवल घरसे ही नहीं निकालते किन्तु विधर्मियोंके हाथ बेच देते हैं, क्यों न हो जब कि पंडित दयानंदने दूध न देनेवाली गौको गधीके बराबर कहा है क्या ऐसे कथन करनेवालोंपर परमात्माका कोप न होगा? ॥ २१ ॥

कण्डिका २२–मंत्र २।

सᳬहितासि विश्वरूप्यूर्जा माविश गौपत्येन ॥ उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ॥ नमो भरन्तऽएमसि ॥ २२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐसंहितेत्यस्य वैश्वामित्रो मधुच्छंदा ऋ० । भुरिगासुरीगायत्रीछन्दः । गौर्देवता । गवालंभने विनि० । (२) ॐउपत्वेत्यस्य वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्रीच्छं० । अग्निर्देवता । गार्हपत्यं प्रत्युपसर्पणे वि० ॥ २२ ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे गौको स्पर्श करै [का० ४, १२, ६] **मंत्रार्थ**–हे गौ! तुम (विश्वरूपी) विश्वरूपवाली वा शुक्लकृष्णादि विचित्र वर्णोंसे युक्त (सᳬहिता) दूधघृतरूप हविर्दानके निमित्त यज्ञकर्मोंमें संगतिवाली (असि) हो (ऊर्जा) क्षीरादिरसद्वारा (गोपत्येन) गोस्वामित्वमें (माम्) मुझमें सबप्रकारसे (आविश) प्रवेश करो अर्थात् हमारा गोस्वामित्व अविचलित रक्खो १ । **विधि**–(२) दूसरे मन्त्रसे गार्हपत्यमें गमन करै [का० ४, १२, ७,] **मन्त्रार्थ**–(दोषावस्तः) रात्रिमें भी निरन्तर निवास करनेवाले (अग्ने) हे अग्नि देवता ! (वयं) हम यजमान (दिवे दिवे)प्रतिदिन (धिया) श्रद्धायुक्त बुद्धिसे (नमोभरन्तः) तुमको नमस्कार करते हुए । यद्वा "नम इत्यन्ननाम" [निघं० २, ७, २१] तुमको हवि देते हुए (त्वा) तुम्हारे प्रति (उपएमसि) गमन करते वा प्राप्त होते हैं ॥ २२ ॥

कण्डिका २३–मंत्र १।

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम् ॥ वर्द्धमानᳬस्वे दमे ॥ २३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐराजन्तमिति वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा ऋ० । गायत्री छं० । अग्निर्देवता । गार्हपत्यं प्रत्युपसर्पणे वि० ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ–(१) (राजन्तम्) दीप्तिमान् (अध्वराणाम्) यज्ञोंके (गोपाम्) रक्षा करनेवाले (ऋतस्य) सत्यवचन रक्षणवाले व्रतके (दीदिविम्) प्रदीप्तकरनेवाले [आशय यह कि व्रत ग्रहण कर अग्निके समीप सत्य बोले] (स्वे)अपने(दमे) गृहमें (वर्द्धमानम्) सोम चातुर्मास्यादि यज्ञसे वृद्धिको प्राप्त होतेहुए अग्निके निकट हम प्राप्त होतेहैं [पूर्वमंत्रसे क्रियापदकी अनुवृत्ति लेनी ऋ० १।१।२]॥२३॥

जो अपेक्षित फलधारकत्व है अर्थात् हमको प्रदान करनेके निमित्त तुमने जो फल धारण किया है (तत्) सो (मयि) मुझ अनुष्ठान करनेवालेमें तुम्हारी कृपासे- (भूयात्) हो तुम्हारे प्रसादसे मैं अभीष्ट फलका धारणकरनेवाला हूं ॥ २१ ॥

प्रमाण-"इडेनि पृथ्वीनामसु पठितम्"-[निघं० १, १] ॥ २७ ॥

कण्डिका २८-मन्त्र १।

सोमानꣳस्वरणङ्कृणुहिब्ब्रह्मणस्पते ॥ कक्षीवन्तंय्यऽऔशिजः ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐसोमानमित्यस्य मेधातिथिर्ऋ० । गायत्री छं० । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । आहवनीयोपस्थाने वि० ॥ २८ ॥

विधि-(१) अग्निका दर्शन कर पूर्वकी ओर बैठाहुआ यहांसे नौ मंत्रों तक आहवनीय उपस्थान कर जप करै [का० ४, १२, १०] मंत्रार्थ-(ब्रह्मणस्पते) वेदके पाठक परमात्मन् ! (सोमानम्) सोमके अभिषव करनेवाले (स्वरणम्) स्तुतिरूपशब्दसे युक्त मुझको (कृणुहि) कीजिये अर्थात् धनप्रदानसे मुझको सोमयागका कर्ता तथा स्तुतिशब्दोंसे युक्त कीजिये जैसे (यः) जो (औशिजः) उशिकका पुत्र कक्षीवान् था उस (कक्षीवन्तम्)कक्षीवान् नाम ऋषिको सोमयागमें और स्तुतिरूप शब्दोंसे युक्त किया इसी प्रकार मुझे करो ॥ २८ ॥

अथवा-हे ब्रह्मणस्पते ! उशिक्से उत्पन्न कक्षीवान्* नाम हमको सोमके अभिषव कार्यका अधिकारी कर [१ । १ । ३४] ॥ २८ ॥

विशेष-कक्षीवान्के पिताका नाम दीर्घतमा माताका नाम उशिक् था। सोम-लताके रस निकालनेको अभिषव कहते हैं इसका विवरण सोमप्रकरणमें प्रकाशित करैंगे ॥ २८ ॥

प्रमाण-यास्कमुनिरिमं मंत्रमेवं समाचष्टे " सोमानं सोतारं प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते कक्षीवन्तमिव यः औशिजः कक्षीवान् कक्ष्यावानौशिज उशिजः पुत्र उशिग्वष्टेः कान्तिकर्मणोपि त्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः स्यात्तं सोमानं सोतारं मां प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते" [निरु० ६, १०] ॥ २८ ॥

कण्डिका २९-मन्त्र १।

योरेवान्योऽअमीवहावसुवित्पुष्टिवर्द्धनः ॥ सनः सिषक्तुयस्तुरः ॥ २९ ॥

---

* अथवा अश्वसम्बन्धिनी रज्जु जिसके हो वह कक्षीवान्,और कान्तिसे जो उत्पन्न हो वह उशिज यह ऋषियोंके वर्णन वैदिक हैं और चाहैं उससमय होनेवाले हों पर वेदपुरुषके ज्ञानमें नित्य हैं।

ऋष्यादि-(१) योरेवानित्यस्य मेधातिथिर्ऋ० । गायत्री छं० । ब्रह्मणस्पतिर्देव० । आहवनीयोपस्थाने वि० ॥ २९ ॥

मंत्रार्थ-(१)(यः) जो ब्रह्मणस्पति वेदपालक जगदीश्वर (रेवान्)सब प्रकारके धनोंसे युक्त है (यः) जो (अमीवहा) रोगोंका वा संसारके जन्ममरण रोगोंका छुडानेवाला है तथा(वसुवित्)जो सब धन और पदार्थोंको जानता है तथा(पुष्टिवर्द्धनः) पुष्टिका बढानेवाला है (यः) जो (तुरः) शीघ्रकारी है क्षणमात्रमें सब कुछ करसक्ता है (सः) वह परमात्मा (नः) हमको (सिषक्तु) इन सबमें संयुक्त करो वा सेवन करो [ऋ० १ । १ । ३४] ॥ २९ ॥

अथवा इस मंत्रमें पुत्रकी प्रार्थना है.

जो पुत्र धनवान् व्याधिनाशक जयादिसे धन लेकर पुष्टिका बढानेवाला तथा शीघ्रकारी है ऐसा पुत्र अग्निरूप परमात्माकी कृपासे हमको प्राप्त हो ॥ २९ ॥

प्रमाण-"सचते सिषक्ति इति सेवमानस्य" [निरु० ३, २१]॥ २९ ॥

कण्डिका ३०-मन्त्र १ ।

मानुःशर्ᳬसोऽअररुषोधूर्त्तिःप्प्रणङ्मर्त्यस्य ॥ रक्षाणोब्रह्मणस्प्पते ॥ ३० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐमानइत्यस्य सत्यधृतिर्वारुणिर्ऋ० । निच्यृद्गायत्री छं० । ब्रह्मणस्पतिर्दे० । आहवनीयोपस्थाने वि० ॥ ३० ॥

मंत्रार्थ-(ब्रह्मणस्पते) हे वेदादिके रक्षक वा पालक जगदीश्वर! (अररुषः)यज्ञसे विमुख कभी भी देवताओंके उद्देशसे वा पितरोंके उद्देशसे जो कुछ भी व्यय नहीं करते हव्य कव्य नहीं देते ऐसे (मर्त्यस्य) मनुष्यका (शंसः) अनिष्टचिन्तन (धूर्तिः) हिंसा वा द्रोह (नः) हमको (मा) मत(प्रणक्)सताओ हे जगदीश्वर! सब प्रकारसे (नः) हमको (आरक्ष) रक्षा करो [ऋ० १ । १। ३४] ॥३०॥

भावार्थ-परमात्माकी प्रार्थना करनी सबको उचित है तथा नास्तिक धूर्त और हव्य कव्यन करनेवालोंका संसर्ग कभी मत करो यह इस मंत्रका भाव है ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१-मन्त्र १ ।

महित्रीणामवोस्तुद्युक्षम्मित्रस्यार्य्यम्मणः ॥ दुराधर्षंवरुणस्य ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐमहित्रीणामित्यस्य सत्यधृतिर्वारुणिर्ऋ० । विराड्गायत्री० छं० । आदित्यो दे० । आहवनीयोपस्थाने वि० ॥ ३१ ॥

मंत्रार्थ–१ (मित्रस्य) प्राणवृत्ति और दिवसका अधिष्ठात्री देवता मित्र (अर्यम्णः) चक्षु वा सूर्यके अधिष्ठात्री अर्यमा देवता (वरुणस्य) अपान और जलोंके अधिष्ठात्री देवता वरुण (त्रीणाम्) इन तीनों देवताओंसे सम्बन्ध रखनेवाली (महि) बृहत् (द्युक्षम्) कान्तिमान् सुवर्णादि द्रव्योंसे युक्त(दुराधर्षम्) तिरस्कार पानेको अशक्य (अवः)पालना रक्षा (अस्तु) हमको प्राप्त हो ॥३१॥

भावार्थ–मित्र, अर्यमा और वरुण यह तीन देवता महाशक्तिमान् हैं परमात्मा के भजन करनेवाले मुझको अपने २ अधिकारके पदार्थोंसे रक्षा करैं [ऋ० ८ । ८ । ४३] ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२–मन्त्र १ ।

नहितेषाममाचुनना॒ध्वसुवा॒रणेषु ॥ ईशे॑रि॒पुर॒घशँ॑सः ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ नहितेषामित्यस्य सत्यधृतिर्वारुणिर्ऋ० । निचृद्गायत्री छं० । आदित्यो देवता । आहवनीयोपस्थाने वि० ॥ ३२ ॥

मंत्रार्थ–जो ईश्वर और इन तीन देवताओंसे रक्षित हैं जो इनकी उपासना करते हैं (तेषाम्) उनको (अमा) घरमें (अध्वसु) मार्गमें (वारणेषु) दुर्गम गहन काननमें जहां चोर डाँकू व्याघ्रादि पथिकोंको निवारण करते हैं अथवा संग्रामोंमें (चन) भी स्थित यजमानके निमित्त उपद्रव करनेको (अघशंसः) पापकर्मा नृशंस (रिपुः) शत्रु (नहि ईशे) समर्थ नहीं होता है ॥ ३३ ॥

भावार्थ–परमात्मा वा देवताओंसे रक्षित प्राणी घर वन चोर व्याघ्र शत्रु किसीसे तिरस्कारको प्राप्त नहीं होता इस कारण सर्वदा उनसे रक्षाकी प्रार्थना करनी चाहिये [ऋ० ८ । ८ । ४३] ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३–मन्त्र १ ।

तेहिपु॒त्रासो॒ऽअदि॑तेः॒प्रजी॒वसे॒मर्त्या॑य ॥ ज्योति॒र्यच्छ॒न्त्यज॑स्रम् ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐतेहीत्यस्य वारुणिः सत्यधृतिर्ऋषिः । विराड्गायत्री छं० । आदित्यो दे० । उपस्थाने वि० ॥ ३३ ॥

मंत्रार्थ–(१) (हि) जिस कारणसे कि (ते) वे मित्र अर्यमा वरुणादि (आदितेः) अखण्डशक्तिरूप देवमाताके (पुत्रासः) पुत्र (मर्त्याय) इस मनुष्य-यजमानके निमित्त (अजस्रम्) निरन्तर (ज्योतिः) अखण्डतेजको (प्रजीवसे) चिरजीवनके निमित्त (प्रयच्छन्ति) प्रदान करते हैं ॥ ३३ ॥

भावार्थ-अखण्डशक्तिमान् देवमातासे उत्पन्न वे तीनों देवता मनुष्योंको उपरोक्त बलप्रदान करते हैं प्राणादिकी उत्पत्ति अदितिसे है ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मन्त्र १ ।

कुदाचुनस्तुरीरसिनेन्द्रसश्चसिदाशुषे ॥ उपोपेन्नुमघवुन्भूयुऽइन्नुतेदानन्देवस्यपृच्यते ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐकदाचनेत्यस्य मधुच्छं० ऋ० । पथ्याबृहती छं० । इन्द्रो देवता । जपे वि० ॥ ३४ ॥

[जिसका तीसरा चरण बारह अक्षरका और तीन चरण आठ अक्षरके हों वह पथ्याबृहती छंद है । जपमें विनियोग है] ॥

मन्त्रार्थ-(१) (इन्द्र) हे परमैश्वर्ययुक्त (कदाचन) कभी भी तुम (स्तरीः) हिंसक (न) नहीं (असि) हो (दाशुषे) हवि देनेवाले यजमानके (उपइन्नु) हविको शीघ्र (सश्चसि) सेवन करते हो (मघवन्) हे सब प्रकारके ज्ञानादिधनयुक्त जगदीश्वर ! (देवस्य) प्रकाशमान (ते) तुम्हारे (भूय इत्) बहुतसे (दानम्) दानको (नुइत्) शीघ्रही यजमान (उपपृच्यते) प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

भावार्थ-हे परमात्मन् ! तुम अपने भक्तोंपर क्रोध नहीं करते किन्तु उनको पवित्र करतेहो हे मघवन् ! तुम्हारे आश्रित जन तुम्हारे दिये मुक्तिरूप धनको प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५-मन्त्र १ ।

तत्सवितुर्वरेण्यम्भर्गोदेवस्यधीमहि ॥ धियो योनः प्रचोदयात् ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐतत्सवितुरित्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । निच्यृद्गायत्री छं० । सविता देव० । जपे वि० ॥ ३५ ॥

मंत्रार्थ-(१) (तत्) उस (देवस्य) प्रकाशात्मक (सवितुः) प्रेरक अन्तर्यामी विज्ञानानन्दस्वभाव हिरण्यगर्भोपाध्यवच्छिन्न अथवा आदित्यके अन्तरस्थित पुरुष "योसावादित्ये पुरुषः" [यजु० अ० ४०] वा ब्रह्मके (वरणीयम्) सबसे प्रार्थना कियेहुये (भर्गः) सम्पूर्ण पापके वा सब संसारके आवागमन दूर करनेमें समर्थ सत्य ज्ञान आनंदादि तेजको हम (धीमहि) ध्यान करते हैं (यः) जो सविता देव (नः) हमारी (धियः) बुद्धियोंको सत्कर्मके अनुष्ठानके लिये (प्रचोदयात्) प्रेरणा करता है [ऋ० ३ । ४ । १०] ॥ ३५ ॥

अथवा—सविता देवके उस वरणीय तेजको हम ध्यान करते हैं जो हमारी बुद्धियोंको प्रेरणा करता है वह सविताही है ॥ ३९ ॥

मण्डलपुरुषकी किरण भी भर्ग है वीर्यको भी भर्ग कहते हैं।

प्रमाण—" वरुणाद्ध्वा अभिषिषिचानाद्भर्गोपचक्राम वीर्यं वै भर्गः " [श० ५, ४, ५, १] ॥ ३९ ॥

तथा च योगियाज्ञवल्क्यः

तच्छब्देन तु यच्छब्दो बोद्धव्यः सततं बुधैः ॥
उदाहृते तु यच्छब्दे तच्छब्दः स्यादुदाहृतेः ॥ १ ॥
सविता सर्वभूतानां सर्वभावान्प्रसूयते ॥
सवनात्पावनाच्चैव सविता तेन चोच्यते ॥ २ ॥
दीव्यते क्रीडते यस्माद् द्योतते रोचते दिवि ॥
तस्माद्देव इति प्रोक्तः स्तूयते सर्वदैवतैः ॥ ३ ॥
चिन्तयामो वयं भर्गं धियो यो नः प्रचोदयात् ॥
धर्मार्थकाममोक्षेषु बुद्धिवृत्तीः पुनः पुनः ॥ ४ ॥
भ्रस्ज पाके भवेद्धातुर्यस्मात्पाचयते ह्यसौ ॥
भ्राजते दीप्यते यस्माज्जगच्चान्ते हरत्यपि ॥ ५ ॥
कालाग्निरूपमास्थाय सप्तार्चिः सप्तरश्मिभिः ॥
भ्राजते यत्स्वरूपेण तस्माद्भर्गः स उच्यते ॥ ६ ॥
भेति भीषयते लोकान् रेति रञ्जयते प्रजाः ॥
गेत्यागच्छत्यजस्रं यो भगवान्भर्ग उच्यते ॥ ७ ॥
वरेण्यं वरणीयं च संसारभयभीरुभिः ॥
आदित्यान्तर्गतं यच्च भर्गाख्यं वा मुमुक्षुभिः ॥ ८ ॥
जन्ममृत्युविनाशाय दुःखस्य त्रिविधस्य च ॥
ध्यानेन पुरुषो यस्तु द्रष्टव्यः स सूर्यमण्डले ॥ ९ ॥

अर्थ—उसका तेज हम ध्यान करते हैं यहां तत् भर्गका विशेषण नहीं है तथापि तत्के प्रयोगसे ही यत्का प्रयोग प्राप्त होजाता है, यही इस श्लोकका आशय है

कि तत्के साथमें यत्शब्द सदा जानना ॥ १ ॥ सम्पूर्ण प्राणी और सम्पूर्ण भावों-का उत्पन्नकर्ता सवन और पवित्र करनेसे उसे सविता कहते हैं ॥ २ ॥ जिस कारण कि वह प्रकाशित होता क्रीडा करता आकाशमें दीप्तिमान् होता सब देवता-ओंसे स्तुतिको प्राप्त होता है, इस कारण उसे देव कहते हैं ॥ ३ ॥ हम उस भर्ग तेजका ध्यान करते हैं जो हमारी बुद्धिवृत्तियोंको वारंवार धर्म अर्थ काम मो-क्षमें प्रेरणा करता है ॥ ४ ॥ भ्रस्ज धातु पकानेमें है जिस कारण यह पकाता शोभित दीप्तिमान् होता अन्तमें जगत्को हरण करता है ॥ ५ ॥ कालाग्निरूपमें स्थित होकर अग्नि सूर्यमें स्थित अपने रूपसे प्रकाशित होता है इस कारण उसको भर्ग कहते हैं ॥ ६ ॥ भकारसे सब लोकोंको भयभीत करता, रसे प्रजाको प्रसन्न करता है, गसे जो निरन्तर गमनागमन करता है इस कारण उसको भर्ग कहते हैं । परमार्थचिन्तामें सविता और भर्गमें भेद नहीं है ॥ ७ ॥ जिसकी संसारके भयसे भीत हुए प्राणी प्रार्थना करते हैं जो यह सूर्यके अन्तर्गत भर्ग हैं इसको मुमुक्षु जन्म मृत्यु और दैहिक दैविक भौतिक दुःखके नाश करनेके लिये ध्यान करते हैं वह पुरुष सूर्यमण्डलमें ध्यान करना चाहिये ॥ ८ ॥ ९ ॥

इस प्रकार गायत्रीका माहात्म्य वर्णन करके उसीके महाप्रभावमें सात व्याहृ-तियोंका विशेषण जानना । किस प्रकारका वह भर्ग है जो भूरादि सात लोकोंको व्याप्त कर स्थित होरहा है अर्थात् भूः (भूमि) भुवः (अन्तरिक्ष) स्वः(स्वर्गलोक)महः (महर्लोक) जनः (जनलोक) तपः (तपलोक) सत्यम् (सत्यलोक) इस प्रकार क्रमसे लोकोंको व्याप्त कर वह भर्ग इन सात लोकोंको दीपकी समान प्रकाश करता है, अथवा सात महाव्याहृतिही भूरादिका भर्गादिसे भेद करके प्रकाश करती हैं अर्थात् वह तेज कैसा है जो (आपोज्योतीरसोऽमृतंब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्) जल ज्योति रस अमृत ब्रह्म भूः भुवः स्वः ॐ रूप है ।

इसकी विशेष व्याख्या हमारे बनाये दयानंदतिमिरभास्करके गायत्रीप्रकर-णमें देखो ॥

कण्डिका ३६-मन्त्र १ ।

परि॑ ते दू॒डभो॒ रथो॒ऽस्माँ२ऽअ॑श्नोतु वि॒श्वतः॑ ॥ येन॒ रक्ष॑सि दा॒शुषः॑ ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐपरित इत्यस्य वामदेव ऋ० । निचृद्गायत्री० । अग्निर्देवता । उपस्थाने वि० ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ-(१) हे अग्ने ! (ते) तुम्हारा (दूडभः) अप्रतिहत किसीसे जो

दमन न होसके स्वच्छन्दगतिवाला (रथः) रथ वा विज्ञान (अस्मान्) हमको (विश्वतः) सम्पूर्ण दिशाओंमें (पर्य्यश्नोतु) सब ओर स्थित हो (येन) जिस विज्ञानरूप रथसे तुम (दाशुषः) यजमानको (रक्षसि) रक्षा करते हो ॥ ३६ ॥

[परमात्मासे अपनी रक्षाके निमित्त निरन्तर प्रार्थना करनी चाहिये यह भाव है।]

बृहदुपस्थान समाप्त हुआ।

अथ क्षुल्लकोपस्थान अर्थात् संक्षेप उपस्थान (आग्नेरहृष्टम्)

कण्डिका ३७–मंत्र ४।

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳬ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ॥ नर्य्य प्रजां मे पाहि शᳬस्य पशून्मे पाह्यथर्य्य पितुं मे पाहि ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ भूर्भुव इत्यस्य वामदेव ऋषिः । ब्राह्म्युष्णिक्छं० अग्निर्देवता । उपस्थाने वि० । (२) ॐनर्येत्यस्य वामदेव ऋषिः यजुश्छं० । अग्निर्देवता । उपस्थाने वि० (३) ॐशᳬस्येत्यस्य वामदेव ऋ० । यजुश्छं० । अग्निर्दे० । उप०वि० (४) ॐअथर्येत्यस्य मंत्रस्य वामदेव० । यजुश्छं० । अग्निर्दे० । उपस्थाने वि० । ॥ ३७ ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे क्षुल्लकोपस्थान सम्पन्न करै [का० ४, १२, १२] अर्थात् अग्निहोत्र करने उपरान्त उपस्थान करै । मंत्रार्थ–हे अग्ने ! तुम (भूः भुवः स्वः) पूर्वोक्त तीन व्याहृतिरूप वा लोकत्रयात्मक हो तुम्हारे प्रसादसे मैं (प्रजाभिः) बन्धुभृत्यादिरूप साधु कुटुम्बादिसे (सुप्रजाः) प्रशंसित प्रजावान् कहाकर विख्यात हूं, तथा (वीरैः) जिस उद्देशसे सर्वगुणालंकृत वीर पुत्रलाभ करूं उन वीर पुत्रोंसे (सुवीरः) प्रशंसित पुत्रवाला होकर विख्यात हूं अर्थात् शास्त्रके अनुष्ठान करने-वाला सुन्दर पुत्र प्राप्त हो तथा (पोषैः) उत्कृष्ट और अधिक सम्पत्तियोंसे (सुपोषः) प्रशंसित सम्पत्तिमान् विख्यात (स्याम्) हूं १ । विधि–(२) नित्यअग्निहोत्री ग्रामान्तरगमनसमयमें दूसरे मंत्रसे गार्हपत्यउपस्थान करै । [का० ४, १२, १३] "आदित्यदृष्टम्" मंत्रार्थ–(नर्य) हे मनुष्योंके हितसाधक गार्हपत्य ! [कारण कि यही घरका अधिपति है] अग्ने ! (मे) मेरी (प्रजाम्) पुत्रादिप्रजाकी (पाहि) रक्षा कर २ । विधि–(३) तीसरे मंत्रसे आहवनीय उपस्थान करै । मंत्रार्थ–(शंस्य) अनुष्ठान करनेवालोंसे बारंवार प्रशंसाके योग्य आहवनीय! (मे) मेरे (पशून्) गौआदि पशुओंकी (पाहि) रक्षा करना [आहवनीयमें अधिक आहुति दीजाती हैं इससे आहव-नीय नाम है] । विधि–(४) चौथे मंत्रसे दक्षिणाग्निका उपस्थान करै । मंत्रार्थ–

हे (अथर्य) निरन्तरगमनशील दक्षिणाग्नि! (मे) मेरे (पितुम्) पिताकी (पाहि) रक्षा करना। दक्षिणाग्नि गार्हपत्य अग्निमे सदा लाईजाती है और स्थापित की जाती है ॥ ३७ ॥

भावार्थ—परमात्माकी आज्ञा है कि जब अग्निहोत्री किसी दूसरे स्थानमें जाय तो इस प्रकारसे प्रार्थना कर अग्निरूप मुझ परमात्माका उपस्थान करके गमन करे इससे मंगल होकर रक्षा होगी ॥ ३७ ॥

कण्डिका ३८—मन्त्र १।

आगन्म विश्ववेदसमुस्मभ्यंवसुवित्तमम् ॥ अग्नेसम्म्राडुभिद्युम्नमुभिसहऽआयच्छस्व ॥३८॥

ऋष्यादि—(१) ॐआगन्मेत्यस्य आसुरिर्ऋ० । अनुष्टुप्छं० । आहवनीयाग्निर्देवता । आहवनीयोपस्थाने वि० ॥ ३८ ॥

विधि—परदेशसे आया हुआ नित्याग्निहोत्री प्रथम ही विना किसीसे मिले समिध् हाथमें ले अग्निशालामें प्रवेश कर प्रथम इस मंत्रसे आहवनीयोपस्थान करे [का० ४, १२, १८] **मंत्रार्थ**—हे (सम्राट्) सम्यक् प्रदीप्त (अग्ने) आहवनीय अग्नि! हम प्रधानतः तुम्हारे उद्देशसे वा तुमहीको लक्ष करके (अभ्यागन्म) ग्रामान्तर से आये हैं, कारण कि तुम (विश्ववेदसम्) विश्वके सब चरित्र जानते हो वा विश्वही तुम्हारा धन है तुम हमारे घरका समस्त वृत्तान्त जानते हो सर्वज्ञ हो तथा (अस्मभ्यम्) हमारे निमित्त (वसुवित्तमम्) अत्यन्त धनके प्राप्त करानेवाले हो, कारण कि तुम अतिऐश्वर्यवान् हो हे अग्ने (द्युम्नम् सह) धन अन्न बलके सहित हमारे निकट (अभिआयच्छस्व) आइये हममें बल और यश स्थापित कीजिये ॥ ३८ ॥

[पक्षान्तरमें परमात्माकी प्रार्थना भी अग्निरूपसे जाननी ।]

प्रमाण—"द्युम्नम् द्योततेर्यशो वान्नं वा"—[निरु० ५. ५] "सह इति बलनाम"—[निघं० २, ९] ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९—मन्त्र १।

अयमुग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्त्यःप्रजायांवसुवित्तमः ॥ अग्नेगृहपतेभिद्युम्नमुभिसहऽआयच्छस्व ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐअयमग्निरित्यस्य आसुरिर्ऋ० । न्यङ्कुसारिणी बृहती० । गार्हपत्याग्निर्दे० । गार्हपत्योपस्थाने वि० ॥ ३९ ॥

[जिसका दूसरा पाद बारह अक्षरका तीन आठ अक्षरके हो वह न्यङ्कुसारिणी बृहती होती है । यहां तीसरा नौ अक्षरका है भुरिग्बृहतीभी है.]

विधि–(१)अनन्तर इस मंत्रसे गार्हपत्योपस्थान करे । **मन्त्रार्थ**–(अयम्) यह (गार्हपत्यः) गार्हपत्य (अग्निः) अग्निही (गृहपतिः) हमारे घरका अधिपति है (प्रजायाः) (पुत्रपौत्रादिके अनुग्रह करनेको (वसुवित्तमः) प्रभूतऐश्वर्यवान् है वा धनयुक्त है (गृहपते) गृहपालक (अग्ने) हे अग्निदेवता ! आप (द्युम्नम्) धनको यश को (अभि) सब ओरसे और (सह अभि) बलको भी सब प्रकारसे (आयच्छस्व) दीजिये ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०–मन्त्र १ ।

अयमग्निः पुरीष्यो रयिमान्पुष्टिवर्द्धनः ॥ अग्ने पुरीष्याभि द्युम्नमभि सहऽआयच्छस्व ॥ ४० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐअयमग्निरित्यस्य मन्त्रस्य आसुरिर्ऋ० । निचृदनुष्टुप्छं० । दक्षिणाग्निर्देव० । दक्षिणाग्न्युपस्थाने वि० ॥ ४० ॥

विधि––(१) अनन्तर इस मंत्रसे दक्षिणाग्निका उपस्थान करे **मंत्रार्थ**–(अयम्) यह (अग्निः) दक्षिणाग्नि (पुरीष्यः) पशुओंका हितकारी (रयिमान्) धनी (पुष्टिवर्द्धनः) पुष्टिका बढ़ानेवाला है उसकी प्रार्थना करता हूं (पुरीष्य) हे पशुओंके हितकारी (अग्ने) दक्षिणाग्ने ! (द्युम्नम् अभि) सब ओरसे धनको (सहअभि) सब ओरसे बलको (आयच्छस्व) दीजिये ॥ ४० ॥

प्रमाण–"पशवो वै पुरीषम्"–इति श्रुतेः ।

कण्डिका ४१–मन्त्र १ ।

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जम्बिभ्रतऽएमसि ॥ ऊर्जम्बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐगृहामेत्यस्यआसुरिर्ऋ० । आर्षी पंक्तिश्छं० । वास्तुरग्निर्देवता । जपे वि० ॥ ४१ ॥

विधि–(१) अनन्तर आगेकी तीन कण्डिकाओंसे जप कर ग्रामान्तरसे आया हुआ घरमें प्रवेश करे [का० ४, १२, १२]

मंत्रार्थ-(गृहाः) हे गृहो ! वा गृहके अधिष्ठात्रीदेवताओ ! तुम (मा) मत (विभीतः) डरो अर्थात् पालक यजमान घरसे बाहर गया है ऐसा जानकर मत डरो (माच) और मत (वेपध्वम्) कांपो. कदाचित् कोई शत्रु आकर घरविनाश करे इस भयसे मत कांपो जिस कारणसे हम (ऊर्ज्जम्) बलको (विभ्रतः) धारण करनेवाले अक्षीण तुम्हारे निकट (एमसि) प्राप्त हुएहैं जैसे तुम बलयुक्त हो उसी प्रकार मैं भी (उर्ज्जम्) बलको (विभ्रत्) धारण करताहुआ (सुमनाः) श्रेष्ठमन-वाला (सुमेधाः) श्रेष्ठ बुद्धिसे युक्त (मनसा) दुःखरहित मनसे (मोदमानः) प्रसन्न हुआ तुम (गृहान्) घरोंमें (ऐमि) प्राप्त हुआ हूं ॥ ४१ ॥

भाव-इन मंत्रोंको जपकर घरमें आनेसे यजमानको सदा मंगल होता है तथा घरसे कुटुम्बियोंका भी लक्ष्य है ॥ ४१ ॥

कण्डिका ४२-मन्त्र १ ।

येषामुद्ध्येति प्प्रवसन्येषुसौमनुसोबुहुः ॥ गृहानु पंह्वयामहेतेनोजानन्तुजानुतः ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ येषामित्यस्य शंयुर्ऋ० । अनुष्टुप्० । वास्तुपतिर-ग्निर्देवता । जपे वि० ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ-(१)(प्रवसन्) देशान्तरमें जाता हुआ यजमान (येषाम्) जिन गृहों-की कुशल (अध्येति) चाहता है वा जिनको स्मरण करता है तथा(येषु)जिन गृहों-में (बहुः)यजमान बहुत (सौमनसः) प्रीति करता है हम उन (गृहान्)गृहोंको(उपह्व-यामहे) प्रीतिसे आह्वान करते हैं अर्थात् गृहके अधिष्ठात्री देवता हमारे निकट आवे [लक्षणा] (ते) वे घरके अधिष्ठात्री देवता हमारेद्वारा बुलाये हुए (जानतः)हमारे उपकारको जानते (नः) हमको (जानन्तु) यह कृतघ्न नहीं है ऐसा जाने ॥४२॥

कण्डिका ४३-मन्त्र १ ।

उपहूताऽइहगावुऽउपहूताऽअजावयः ॥ अथोऽ अन्नस्यकीलालुऽउपहूतोगृहेषुनः ॥ क्षेमायवुःशा न्त्यैप्रपंद्येशिवᳬशग्मᳬशंय्योःशंय्योः॥४३॥[३]

ऋष्यादि-(१) ॐ उपहूता इत्यस्य शंयुर्बार्हस्पत्य ऋ० । भुरिग्जग-ती छं० । वास्तुपतिर्दे० । जपे वि० । (२) ॐ क्षेमायेत्यस्य शंयुर्बार्हस्पत्य ऋषिः । यजुश्छं० । वास्तुपतिर्देवता । गृहप्रवेशे वि० ॥ ४३ ॥

मंत्रार्थ-(१) (इह) यहां (नः) हमारी (गृहेषु) गृहोंमें (गावः) गौएं (उपहूताः) हमारी अनुज्ञासे सुखसे ठहरो (अजावयः) बकरी भेड़ आदि (उपहूताः) हमारी आज्ञासे सुखपूर्वक रहो (अथ) और (अन्नस्य) अन्नसम्बन्धी (कीलालः) रसविशेष (उपहूतः) हमारे घरोंमें समृद्ध हो ऐसी तुमसे प्रार्थना की थी १ ।

विधि-(२) फिर अगला मंत्र पढ घरमें प्रवेश करै [का० ४. १२. २३] **मन्त्रार्थ**-हे गृहो! (क्षेमाय)विद्यमान धनकी रक्षणरूप क्षेमकामनाके निमित्त(शान्त्यै) अपने सम्पूर्ण अरिष्टशान्तिके निमित्त (वः) तुम्हारे समीप (प्रपद्ये)प्राप्त होता हूं (उशंय्योः) सब सुखोंके साधनोंके इच्छा करनेवाले मुझ यजमानका (शिवम्) कल्याण हो तथा (शंय्योः) परलोकके सुख चाहनेवाले मुझ यजमानका पारलौकिक (शग्मम्) सुख वा मंगल प्राप्त हो अर्थात् इन गृहोंमें गृहस्थाश्रमधर्म करते हुए मुझको उभयलोकमें कल्याणकी प्राप्ति हो ॥ ४३ ॥

प्रमाण-"कीलाल इत्यन्ननामसु पठितम्"-[निघं० २. ७] "शंयोः शमिति सुखनाम" [निघं० ३. ६. १९] "इदंयुरिदं कामयमान इति"-[निरु० ६. ३१] "शिवं शग्ममिति द्वे सुखनामनी"-[निघं० ३. ६. १८-२२]

आशय-परमात्माकी आज्ञा है कि द्विजाति जब कहीं घरसे बाहर जाय तब इस प्रकार अग्निकी प्रार्थना उपस्थानादि करै और जब आवैं तब भी यही विधान करै पीछे किसीसे साक्षात् करै परंतु काल ऐसा कराल है कि आते जाते देवताओंको अब प्रणामभी नहीं होता ॥ ४३ ॥

इत्युपस्थानमन्त्राः समाप्ताः ।

अथ चातुर्मास्यमन्त्राः ।

कण्डिका ४४-मन्त्र १ ।

प्रघासिनो हवामहे मरुतश्च रिशादसः ॥ करम्भेण सजोषसः ॥ ४४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रघासिन इत्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । गायत्री छं० । मरुतो दे० । मरुदाह्वाने विनि० ॥ ४४ ॥

चातुर्मास्य नाम यज्ञके चार पर्व हैं । वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध, शुनासीरीय. इनमें वैश्वदेव और शुनासीरीयका इस स्थलमें उपदेश नहींहै अवशेष दोमें प्रथमका विधान करते हैं ।

विधि-(१) वरुणप्रघास नाम दूसरे पर्वके अनुष्ठानमें दक्षिण और उत्तर दोनों वेदियोंमें जब आहुतिप्रदान होचुके तब प्रतिप्रस्थाता यजमानकी पत्नीको

लाकर उस्से प्रश्न करै कि तुम्हारा धर्म पूर्ण है कि नहीं यह सत्य कहो उसके सत्य कथन करनेपर ऋत्विक् यह मंत्र पढैं [का० ५, ५, १०]

मन्त्रार्थ-(रिशादसः) शत्रुकृतहिंसाको दूर करनेवाले (करम्भेण) दधिमिश्रित सक्तुके साथ (सजोषसः) प्रीति करनेवाले (च) तथा (प्रघासिनः) प्रघासनाम हविके भक्षण करनेवाले पापहारी (मरुतः) हे मरुद्गण (हवामहे) हम आपको बुलाते हैं ॥ ४४ ॥

कण्डिका ४५-मन्त्र १।

यद्ग्रामेयदरण्ण्येयत्त्सभायांय्यदिन्द्रिये ॥ यदेनं श्चकृमावयमिदन्तदवयजामहेस्वाहा ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐयद्ग्रामेइति प्रजा० ऋ० । स्वराडनुष्टुप्छं० । मरुतो देवता । दक्षिणाग्नौ करम्भपात्रहवने वि० ॥ ४५ ॥

विधि-यजमान और यजमानकी पत्नी दोनों एकत्र होकर करम्भ (दधिमिश्रित सक्तु) पूर्ण कितने एक करंभपात्र शूर्पके द्वारा मस्तकमें धारण कर वेदीके पूर्व और पश्चिमभागमें स्थित हो इस मंत्रसे दक्षिणाग्निमें हवन करैं [का० ५, ५, ११]

मन्त्रार्थ-(यत्) जो हमने (ग्रामे) ग्राममें निवास करते ग्रामोपद्रवरूप (एनः) पाप कियाहै (अरण्ये) वनमें मृगोपद्रव रूप (यत्) जो पाप किया है (यत्) जो (सभायाम्) सभामें असत्य वा महाजनतिरस्काररूप जो पाप किया है तथा (इन्द्रिये) जिह्वा उपस्थ इन्द्रियसे यत् जो कलञ्जभक्षण तथा परस्त्रीगमनरूप पाप (आचकृम) सव प्रकार भृत्यताडनादि किया है (तत्) उस (इदम्) इस पापको (अवयजामहे) आहुतिप्रदानकर नष्ट करता हूं (स्वाहा) यह पापनाशक देवताके निमित्त हवि प्रदान किया ॥ ४५ ॥

विवरण-जितनी सन्तति हों वा जितनी इच्छा हो उतने करम्भपात्र वनावे जौकी पिट्ठीसे वाटीके आकारके वनाने चाहिये । यह पापनाशक मंत्र है इसके द्वारा अवश्य पाप दूर होताहै ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६-मन्त्र १।

मोषूणऽइन्द्रात्रपृत्त्सुदेवैरस्तिहिष्ष्मातेशुष्ष्मिन्नवयाः ॥ महश्चिद्यस्यमीढुषोयव्याहविष्मतोमरुतोवन्दतेगीः ॥ ४६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐमोषूणइत्यस्य अगस्त्य ऋ० । भुरिक्पंक्तिश्छं० । इन्द्रमरुतौ देवते । जपे विनियोगः ॥ ४६ ॥

विधि- (१) यजमान जपकरता है [कात्या० ५, ५, १२] **मंत्रार्थ-** (शुष्मिन्) हे बलवान् (इन्द्र) इन्द्रदेवता ! (अत्र) इस (पृत्सु) संग्राममोंमें वर्तमान (देवैः) सख्यताको प्राप्त हुए मरुत् देवताओंके सहित तुम (नः) हमको (मा) मत विनाश करो (सु) अच्छे प्रकार रक्षा करो अर्थात् हमारी लेशमात्र भी हानि न करो (ते) तुम्हारा (अवयाः) यज्ञीय भाग अवश्य ही पृथक् (हिस्म) स्थित है (मीढुषः) वर्षाके द्वारा जगत्को सींचनेवाले (हविष्मतः) हविके योग्य तुम्हारी (यव्याः) यवकी पिष्टीके बने करम्भपात्रोंसे निष्पन्न हुई होमकी क्रियासे (महश्चित्) निश्चयही पूजा करते हैं. किञ्च (गीः) हमारी स्तुति रूप वाणी (मरुतः) आपके सखा मरुत्देवताओंको (वन्दते) नमस्कार करती है अर्थात् "नमो मरुद्भ्यः" ऐसा कहनेसे भी आप हमपर कृपा करते हो । [ऋ० । २ । ४ । १९] ॥ ४६ ॥

विवरण- कोई ऐसा भी अर्थ करते हैं कि इन्द्रशब्द इस स्थानमें मेघचालक कोई विशेष तेजहै वृत्रही मेघ है मेघोंको चालन करना ही संग्राम है। करंभपात्रद्वारा करंभ ही प्रदान किया जाता है ॥ ४६ ॥

कण्डिका ४७-मन्त्र १ ।

अक्रुन्कर्म्मकर्म्मकृतः सहवाचामयोभुवा ॥ देवेभ्युङ्कर्म्मकृत्त्वास्तम्प्रेतसचाभुवः ॥ ४७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअक्रन्नित्यस्यागस्त्य ऋ० । विराडनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । जपे वि० ॥ ४७ ॥

विधि- (१) प्रतिप्रस्थाता यजमान और उसकी पत्नीको करम्भपात्रके होमप्रदेशसे अपने स्थानको लेजाता हुआ यजमानसे यह मंत्र पढ़े [का० ५, ५, १३] **मन्त्रार्थ-** (कर्मकृतः) वरुणप्रघास अनुष्ठानरूप कर्म करनेवाले ऋत्विज् (मयोभुवा) सुखरूप (वाचा) स्तुतिरूप वाणिके (सह) साथ (कर्म) वरुणप्रघास अनुष्ठानरूप कर्मको (अक्रन्) करचुके (सचाभुवः) परस्पर यजमान वा पत्नीके साथ इस कर्ममें स्थित हे ऋत्विजो ! (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (कर्म) वरुणप्रघासनामक अनुष्ठान (कृत्वा) करके (अस्तम्) घरको (प्रेत) जाओ ॥ ४७ ॥

प्रमाण- "मय इति सुखनाम"-[निघं० ३, ६, ७] "अस्तमिति गृहनाम"-[निघं० ३, ४, ५] ॥ ४७ ॥

विवरण-प्रतिप्रस्थाता यज्ञीयकर्मचारी, कार्यविशेषमें आह्वान करनेवाला तथा सगोष जानेकी इच्छा करनेवाले यज्ञीयव्यक्तियोंको बुलाना उसका कार्य होताहै ॥४७॥

कण्डिका ४८-मन्त्र १ ।

अवभृथनिचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः ॥ अव देवैर्देवकृतमेनोयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतम्पुरुरा व्णो देवरिषस्पाहि ॥ ४८ ॥ [५]

ऋष्यादि-(१) ॐ अवभृथेत्यस्य और्णवाभ ऋ० । ब्राह्म्यनुष्टुप्छं० । यज्ञो दे० । अवभृथस्नाने वि० ॥ ४८ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे वरुणप्रघासपर्वके अन्तमें स्त्रीपुरुषको जलमें अवभृथस्नानक्रिया करावे [कात्या० ५. ५. ३०]

मन्त्रार्थ-(१) हे (निचुम्पुण) मन्दगति जलाशय (अवभृथ) अवभृथ नाम यज्ञ ! (निचेरुः) यद्यपि तुम अत्यन्तगमनशील (असि) हो तोभी इस स्थान में (निचुम्पुण) मन्दगति हूजिये, कारण कि, (देवैः) ज्ञानेन्द्रियद्वारा (देवकृतम्) ज्ञानपूर्वक जो कुछ हविके स्वामी देवताओंका (एनः) पाप किया है, वह इस जलाशयमें (अवयासिषम्) मैंने त्याग किया । तथा (मर्त्यैः) हमारे सहायभूत ऋत्विजोंसे (मर्त्यकृतम्) यज्ञदर्शनके निमित्त आये हुए मनुष्योंका अवज्ञारूप जो पाप है सो (अव) इस जलमें त्याग किया, यह हमारा किया पाप जिस प्रकार तुम्हें प्राप्त न हो इस प्रकार मन्द गमन करो । किञ्च हे (देव) अवभृथयज्ञ ! (पुरुराव्णः) विरुद्धफल देनेवाले (रिषः) वध वा हिंसासे हमारी (पाहि) रक्षा करो ॥ ४८ ॥

भावार्थ-मनुष्योंको पापनिवृत्तिके निमित्त और धर्मकी वृद्धिके निमित्त परमात्माकी प्रार्थना करनी चाहिये वही इस मन्त्रमें जलरूपसे उपदेश है हे मन्दगति जलाशय ! यद्यपि तुम वेगसे गमन करते हो, किन्तु इस समय मन्दगति अवलम्बन करो यही प्रार्थना है अर्थात् हम तुम्हारे वेगसे व्याकुलीभूत न होकर आनन्दसे स्नान करें हम विश्राम करते हैं ज्ञानेन्द्रियद्वारा ज्ञानपूर्वक जो कुछ पाप किया है आज वह अवभृथक्रियासे सम्पूर्ण ही दूर वा प्रक्षालित होजाय, एवं मनुष्यस्वभाव सुकर अज्ञानसे जो कुछ पाप कियाहै वह भी प्रक्षालित हो हे देव परमात्मन् ! आपके प्रसादसे हम अनेक प्रकारसे अनिष्टकारी पापी शत्रुसे रक्षा पावें; सदा हमारी रक्षाकरो हमसे कोई पाप किसी प्रकार न हो इस मंत्रसे यह भी पाया जाता है कि नदी जलाशयोंमें स्नान करनेसे भी पाप दूर होता है ॥ ४८ ॥

विवरण—नदी वा किसी जलाशयके निकट गमन करके जलके मध्यमें कलशी आदि स्नानपात्र अधोमुख स्थापन कर कुछ मन्त्र पढै फिर दम्पति को स्नान कराय लौटा लावै इसको अवभृथाक्रिया कहते हैं, फिर यज्ञमण्डपमें उपस्थित करके ब्रह्मा अर्थात् सर्वयज्ञीय प्रधान कर्मचारी कर्मद्रष्टा उनसे पूछे तुमने 'सुस्नात' अच्छा स्नान किया ऐसे पूछनेवालेको सौस्नातिक कहते हैं ॥ ४८ ॥

कण्डिका ४९—मन्त्र १।

पूर्णा दर्वि परा पत सुपूर्णा पुनरा पत। वस्नेव वि क्रीणावहा इषमूर्जꣳ शतक्रतो ॥ ४९ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ पूर्णा दर्वीत्यस्यौर्णवाभ ऋ०। अनुष्टुप्छं०। इन्द्रो देवता। चरुग्रहणे वि० ॥ ४९ ॥

विधि—(१) अब साकमेधपर्वमें कुछ कथन करते हैं। दर्वीद्वारा स्थालीसे ओदन ग्रहण करै और पहले दूसरे मंत्रसे ग्रहण करै [का० ५. ६, ३४] **मंत्रार्थ**—(दर्वि) अन्नप्रदानसाधनभूत काष्ठादिनिर्मितपात्र! तुम (पूर्णा) पूर्ण स्थालीके निकटसे अन्नको ग्रहण कर और पूर्ण होकर (परा) पूर्णतासे उत्कृष्ट हो (पत) इन्द्रके प्रति गमन करो (सुपूर्णा) कर्मफलसे सम्यक् पूर्ण होकर (पुनः) फिर (आपत) हमारे निकट आओ [इन्द्रके प्रति] (शतक्रतो) हे बहुकर्मा इन्द्र! हमारे और तुम्हारे मध्यमें पण्यव्यवहार प्रवृत्त हो अर्थात् (वस्नेन) मूल्यकी समान (इषम्) अभीष्ट हविस्वरूप अन्न (ऊर्ज्जम्) हविर्दानस्वरूप रसविशेष (विक्रीणावहै) परस्पर बेचैं [अर्थात् मैं तुमको हविर्दान करता हूं तुम मुझे बल और पुण्य दो।] ॥ ४९ ॥

कण्डिका ५०—मन्त्र १।

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे। निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा ॥ ५० ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ देहि म इत्यस्यौर्णवाभ ऋषिः। भुरिगनुष्टुप् छन्दः। इन्द्रो देव०। हवने वि० ॥ ५० ॥

विधि—(१) इस मंत्रसे आहुति प्रदान करै [का० ५, ६, ३८] [मनमें यह कल्पना करै कि इन्द्र कहते हैं] **मंत्रार्थ**—हे यजमान! तुम (मे) मुझ इन्द्रके निमित्त (देहि) प्रथम हविप्रदान करो (ते) तुझ यजमानके निमित्त (ददामि) पीछे अपेक्षित हविप्रदान करूंगा (मे) मुझ इन्द्रके निमित्त (निधेहि) प्रथम तू हविसंपादन कर (ते)

फिर मैं तुझ यजमानके निमित्त (निदधे) अपेक्षितफलको प्रदान करूंगा [यजमान कहता है] (निहारम्) मूल्यद्वारा क्रेतव्य पदार्थ अर्थात् हे इन्द्र मूल्यद्वारा क्रेतव्यरूप फल (मे) मेरे निमित्त (हरासि) प्रदान कीजिये (निहारम्) मूल्यभूत हविको (ते)तुम्हारे निमित्त (निहराणि) अत्यन्त समर्पण करता हूं (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार कृतकार्य हो ॥ ५० ॥

कण्डिका ५१-मन्त्र १ ।

अक्षुन्नमीमदन्तह्यवंप्प्रियाऽअधूषत ॥ अस्तोषतस्वभानवोविप्प्रानविंष्ठयामतीयोजान्विन्द्रतेहरी ॥ ५१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अक्षन्नित्यस्य गोतम ऋषिः । विराट्पंक्तिश्छं० । इन्द्रो देवता । पितृयजने वि० ॥ ५१ ॥

विधि-(१) साकमेधयज्ञमें पितृयज्ञकर्म करे इसके पश्चात् आहवनीयउपस्थान ५२ कण्डिकासे करना [का० ५. ९. २१] मंत्रार्थ-इस पितृयज्ञकर्ममें जो पितर हैं वे हमारे दिये हविस्स्वरूप अन्नको (अक्षन्) खाचुके (हि) जिसकारणसे कि (अमीमदन्त) प्रसन्नताको प्राप्तहुए और हमारी भक्तिको जानकर (प्रियाः) प्रीतियुक्त हो (अधूषत) अपना शिर कम्पित करतेहुए अथवा (प्रियाः) अपनें शरीरोंको (अवाधूषत) कम्पितकरतेहुए किञ्च (स्वभानवः) स्वयं दीप्तियुक्त (विप्राः)वे बुद्धिमान् शास्त्रादिके ज्ञाता (नविष्ठया) नूतन (मती) बुद्धिसे युक्त हो (अस्तोषत) स्तुति करतेहुए अहो बडा स्वादु अन्न हमको दिया यह स्तुति है अर्थात् हमारी आहुतिआदिको स्वीकार कर कृतज्ञता प्रकाश की इस कारण (इन्द्र) हे इन्द्र ! तुम भी सन्तुष्ट होकर इन पितृगणोंके सहित सम्मिलनेके उद्देशसे (नु) शीघ्रही (ते) तुम अपने (हरी) हरितवर्णके दोनों घोडोंको (आयोज) जानेके निमित्त रथमें जोतो अर्थात् पितरोंकी तृप्तिसे सन्तुष्ट हो तुम्हें आना चाहिये ॥ ५१ ॥

तत्त्वविचार-समुद्रसे जल आहरण करनेसे इनका नाम हरि और इनकी अतिशीघ्र गति है. इन्द्रनामक तेजविशेषको वहन करनेसे अश्व कहाते हैं गतिकार्यका प्रधान उपयोगी मनही इस स्थलमें रथ है इसकारण ही मनका नामान्तर मनोरथ प्रसिद्ध है ऐसा तत्त्वविवेचक कहते हैं ॥ ५१ ॥

कण्डिका-५२ मंत्र १ ।

सुसन्दृशन्त्वा व्वयम्मघवन्वन्दिषीमहि ॥ प्रनूनम्पूर्णबन्धुरस्तुतो यासि वशाँ२॥ऽअनु योजान्विन्द्र ते हरी ॥ ५२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सुसन्दृशमित्यस्य गोतम ऋ० । विराट्पंक्ति० । इन्द्रो देवता । आहवनीयोपस्थाने वि० ॥ ५२ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे आहवनीय उपस्थान करना । मंत्रार्थ-हे (मघवन्) परमैश्वर्यवान् इन्द्र ! (वयम्) हम (सुसन्दृशम्) शोभन दर्शन वा अच्छीप्रकार देखनेवाले, अथवा समदर्शी अनुग्रहदृष्टिसे सबके देखनेवाले (त्वा) आपकी (वन्दिषीमहि) प्रार्थना करते हैं इस प्रकार हमसे (स्तुतः) स्तुति किये हुए तुम (वशान्) कामना करते हुए यजमानोंको (अनु) देखकर (नूनम्) अवश्य (प्रयासि) आओगे कारण कि, तुम (पूर्णबन्धुरः) हमारी कामना परिपूर्ण करनेके निमित्त पूर्णबन्धुर हो [रथनीड अर्थात् रथसे संयुक्त एक रक्षित स्थान] अर्थात् स्तुतिकरनेवालोंको देनेयोग्य धनोंसे सम्पूर्ण रथनीड होकर जाते हो सो हे (इन्द्र) इन्द्र ! तुम (ते) अपने वे (हरी) घोडे (आयोज) रथमें जोतो [ऋ० १ । ६ । ३] ॥ ५२ ॥

कण्डिका ५३-मन्त्र १ ।

मनो न्वाह्वामहे नाराशꣳसेन स्तोमेन ॥ पितॄणाञ्च मन्मभिः ॥ ५३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐमनोन्वित्यस्य बन्धुर्ऋ०[१] । अतिपादनिच्यृद्गायत्री छं० । मनो देव० । गार्हपत्योपस्थाने वि० ॥ ५३ ॥

विधि-(१) गार्हपत्यका उपस्थान करैं [का० ५, ९, २२] मंत्रार्थ-हम (नाराशंसेन) मनुष्योंके योग्य अथवा मनुष्यसम्बन्धी (स्तोमेन) स्तोत्रोंसे(च) और (पितॄणाम्) पितरोंके (मन्मभिः) आकांक्षितस्तोत्रोंसे (नु) शीघ्र (मनः) मनको वा मनके अधिष्ठात्री देवताको (आह्वामहे) आह्वानकरते हैं [अर्थात् पितृयज्ञ अनुष्ठानमें जो हमारा मन पितृलोकको गया था उसे बुलाते हैं ॥] [ऋ० । ८ । १ । १९] ॥ ५३ ॥

---

१ बन्धनहेतु ।

विशेष-स्तोत्र दो प्रकारके होते हैं एक देवशंस और दूसरा नाराशंस जिनसे अन्तस्थदेवता इन्द्रादि वा द्युलोकास्थित सूर्यादिककी प्रशंसा प्रकाशको प्राप्त हो वह देवशंस. और जिससे नरलोकका शंसन हो वह नाराशंस बोलाजाय. मन नरलोककी शरीरान्तरी वस्तु इस मन्त्रसे प्रकाश पाती है इसकारण यह नाराशंस कहीजाती है ॥ ५३ ॥

कण्डिका-५४ मंत्र १ ।

आनऽएतुमनःपुनःक्रत्वेदक्षायजीवसे ॥ ज्योक्चसूर्य्यन्दृशे ॥ ५४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐआनऽएत्वित्यस्य बन्धुर्ऋषि० । विराड्गायत्री छं० । मनो देवता । गार्हपत्योपस्थाने वि० ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ- (नः) हमारा (मनः) मन (क्रत्वे) यज्ञसंकल्पके निमित्त (दक्षाय) कर्मानुष्ठानमें उत्साहके निमित्त (ज्योक्) चिरकालतक (जीवसे) जीवनके निमित्त (सूर्यन्दृशे) चिरकालतक सूर्यके दर्शनके निमित्त (च) भी (आएतु) प्राप्त हो ॥ ५४ ॥

भावार्थ-हमारे मन एकाग्र होकर यज्ञानुष्ठान निर्विघ्न समाप्त करैं, सब कार्य-में दक्षता प्रकाश करैं, अधिक जीवनधनके उपयुक्त होकर और जगत्में सुखानुभव करैं परमात्माकी आज्ञा है कि जब जो कार्य करो सब ओरसे मन हटाकर उसीमें लगाओ ॥ ५४ ॥

प्रमाण-"तदेव मनसा कामयत इदं मे स्यादिदं कुर्वीयेति स तव क्रतुरथ यदस्मै तत्समृध्यते स दक्षः" इति श्रुतेः ॥ ५४ ॥

कण्डिका-५५ मंत्र १ ।

पुनर्नःपितरोमनोददातुदैव्योजनः ॥ जीवंव्व्रातꣳसचेमहि ॥ ५५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐपुनर्न इत्यस्य बन्धुर्ऋषिः । निचृद्गायत्री छं० । मनो देवता । गार्हपत्योपस्थाने वि० ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ-(१)(पितरः) हे पितरो! आपकी अनुज्ञासे (दैव्यः) देवसम्बन्धी(जनः) पुरुष (नः) हमारे (मनः) पूर्वोक्त मनको (पुनः) फिर (ददातु) इस कार्यके निमित्त दे अर्थात् प्रेरणा करै इस प्रकार अनुष्ठान करहम आपके प्रसादसे (जीवम्) जीवनवन्त (व्रातम्) पुत्र पशु आदि गणको (सचेमहि) हम सेवन करैं ॥ ५५ ॥

अथवा–हमारा मन सब प्रकार पितरोंके अर्पित है उनकी प्रेरणासे हमारे निकट प्राप्त हो जिससे संसारकार्य करनेमें समर्थ हौं [ऋ०।८।१।१९] ॥ ५५ ॥

कण्डिका ५६–मन्त्र १।

वयꣳसोमव्रतेतवमनस्तनूषुबिभ्रतः ॥ प्रजावन्तꣳ सचेमहि ॥ ५६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐवयमित्यस्य बन्धुर्ऋषिः । गायत्री छं० । सोमो देवता । दक्षिणाग्न्युपस्थाने वि० ॥ ५६ ॥

विधि–(१) अनन्तर इस मंत्रसे दक्षिणाग्निका उपस्थान कर जप करे । मंत्रार्थ–(सोम) हे सोम ! [पितृयज्ञका सोम देवता है सोमाय पितृमते स्वधा, इस मंत्रसे हवि दीजातीहै] (वयम्) हम यजमान (तव) तेरे (व्रते) व्रतसम्बन्धी कर्ममें वर्तमान हुए (तनूषु) आपके शरीरावयवमें वा जाग्रत् स्वप्न सुषुप्तिमें (मनः) मन (बिभ्रतः) धारणकरते वा लगायेहुए आपहीकी कृपासे (प्रजावन्तः) पुत्रपौत्रादिसे युक्त हुए हम (सचेमहि) सेवन करते हैं वा सदा तुम्हारे सम्बन्धवाले हों ॥ ५६ ॥

आशय–हे चंद्र ! अनेक प्रकारके सुखदेनेवाले हम आपकी उपासनामें प्रवृत्त हुए हैं तुम्हारे प्रसादसे हम मनस्वी होकर प्रजा पशुसम्पत्ति अनेक सुखभोग करैं । यह पितृयाण मार्ग है चन्द्ररूपपरमात्माकी प्रार्थना है । "तदु चन्द्रमाः" वही चन्द्रमा है [यजु०] [ऋ० ८ । १ । १९] ॥ ५६ ॥

कण्डिका ५७–मंत्र २।

एषतेरुद्रभागःसहस्वस्राम्बिकयातञ्जुषस्व स्वाहैषतेरुद्रभागऽआखुस्तेपशुः ॥ ५७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐएषत इत्यस्य मन्त्रस्य बन्धुर्ऋषिः । प्राजापत्या बृहती छं०।रुद्रो दे० । अवदानहोमे वि० । (२) ॐ एष त इत्यस्य मन्त्रस्य याजुषी जगती छं० । रुद्रो देवता । पुरोडाशनिर्वपणे वि० ॥ ५७ ॥

विधि–(१) साकमेधके अङ्गभूत पितृयज्ञके शेषांश त्र्यम्बकयाग [चन्द्रयाग] आरम्भ होता है उसमें इस कण्डिकाके प्रथम मंत्रसे अवदान हवन करे । [कात्या० ५, १०, १२] मन्त्रार्थ–(रुद्र) विरोधियोंको पापियोंको अधर्मियोंको अन्यायियोंको उनके कर्मका फल देकर रुवानेवाले हे रुद्र देवता ! (ते) तुम्हारी (स्वस्रा) भगिनी (अम्बिकया) अम्बिकाके साथ (एषः) यह हमसे दिया

हुआ पुरोडाश (भागः) स्वीकार करनेके योग्य है (तम्) इस उस पुरोडाशको (जुषस्व) सेवन करो १। विधि–(२) यजमानके जितने पुत्र पौत्रादि पुरुष हों प्रतिपुरुपका एक एक पुरोडाश निर्वपण कर फिर उनसे अधिक एक और पुरोडाश निर्वपण करे, उसे अतिरिक्त कहते हैं उसको न होमैं किन्तु मूसेके बिलके निकट जो मट्टी मूसेकी खोदी है उसपर 'एप ते भागः' इस मंत्रसे रखदे [कात्या० ५, १०, १३. तथा ५. १०. १. २] मन्त्रार्थ–(रुद्र) हे रुद्र (एषः) हमारे द्वारा अवकीर्ण [बखेरा हुआ] यह पुरोडाश (ते) तुम्हारा (भागः) सेवनीय है तथा (ते) आपका बिलमध्यमें रहनेवाला (आखुः) मूसा (पशुः) रक्षणीय पशु है इस कारण शेप भाग इसको भी देते हैं ॥ ५७ ॥

विशेष–अम्बिका नाम रुद्रकी बहन है उसके साथ रुद्रदेव विरोधियोंके मारने की इच्छा करते हैं सो यह क्रूरदेवता अम्बिकाके साथ उसे मारते हैं अर्थात् अम्बिका शरद्रूपको प्राप्त हो जरादिक उत्पन्न कर उस विरोधीको मारती है. रुद्र. अम्बिकाकी उग्रता इस हविसे शान्त होती है [२, ६, २. ९] केवल तत्त्ववादी कहते हैं रुद्रशब्द मेघगर्जनका आदिकारण विद्युदग्निविशेष है। अम्बिकाशब्दका प्रकृत अर्थ गमन-शील अर्थात् जगत् है यही शरद्रूपसे रुद्रकी भगिनी होकर कार्यप्रायल कर्त्ती है रुद्राध्यायमें मेघऋतु आदिमें भी रुद्रका निवास लिखा है इससे यह भी होसक्ता हैं मेघनिर्याण होनेसे शरदृतु प्राप्त होती है वही उनकी भगिनी रूप है. प्राचीन कालमें शरत्के अन्तसे ही नवीन वर्ष प्रारम्भ होता था और एक वर्ष बीतनेसे शरीरमें परिवर्तन होता है वही जरा है. अथवा शरद्में वर्षाके उपरान्त एक नवीन ज्वर प्रारंभ होता है जो बडा कष्ट करता है. इसको ही अम्बिकाकृत जरा कहते हैं. इसमें बहुधा मनुष्य असावधानीसे मृतक होजाते हैं. इसके निमित्त हवन अवश्य करना चाहिये और इन्हीं रोगोंकी शान्तिके निमित्त चातुर्मास्यके अन्तर्गत यह भी हवन है. इस समय भी शरत्काल नवदुर्गोंमें जो हवन होता है वह अम्बिका देवीका ही विधान है परन्तु घरघर होनेसे बहुत उपकार होसक्ता है. इस मंत्रमें बडा गूढतत्त्व है बुद्धिमान् इसमेंसे बहुत कुछ जानसक्ते हैं. इस कारण दिग्दर्शन मात्र लिखा है।

प्रमाण–तित्तिरिः "एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकयेत्याह शरद्वा अस्याम्बिका सा भिया एषा हिनस्ति य६ हिनस्ति तयैवैन६ शमयति" इति ॥ १ ॥
मनो देवैतेति रुतो रोरूयमाणो द्रवतीति वा रोदयतेर्वा यदरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति

मन्त्रार्थ–(१)(तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकम्" [निरु० १०। ५] [अम्बिका पुरुप (नः) हमारे (तयास्यैष सह भागः" इति [श० २। ६। २। ९] पशु निमित्त दे अर्थात् प्रेरणागत रखने और उसे रुद्रके समर्पण करनेसे यजमानकी जीवनवन्त (व्रातम्) पुत्र पौता ॥ ५७ ॥

कण्डिका ५८–मंत्र १।

अवरुद्रमदीमुह्यवदेवन्त्र्यम्बकम्॥ यथानोवस्य सस्करद्यथानःश्रेयसस्करद्यथानोव्यवसाय यात्॥ ५८॥

ऋष्यादि–(१) ॐअवरुद्रमित्यस्य बन्धुर्ऋषिः। विराट्पंक्तिश्छंदः। रुद्रो देवता। जपे वि० ॥ ५८ ॥

विधि–(१) आखूत्करस्थानसे आकर जप करे। मंत्रार्थ–(रुद्रम्) पापियोंको रुलानेवाले (त्र्यम्बकम्) तीन नेत्र, वा भूलोक अन्तरिक्षलोक द्युलोकरूप वा गमनशील वा जिनके नेत्रसे तीन लोक प्रकाशित होते हैं वा जिनके नेत्रप्रकाशसे तीन लोक आकृष्ट होते हैं अथवा तीन वेद तीन काल आधिदैविक आध्यात्मिक आधिभौतिक ही जिनके नेत्र हैं ऐसे (देवम्) सर्गादिसे क्रीडाकरनेवाले शत्रुजेता प्राणियोंमें आत्मरूपसे वर्तमान द्युतिमान् स्तोत्रोंसे स्तुति किये हुए रुद्रदेवको (अव) और देवताओंसे पृथक् कर वा उत्कृष्ट जानकर (अदीमहि) सब दुःख नाश करते हैं वा उनके अनुग्रहसे अन्न भक्षण करते हैं वा त्रिनेत्र जानकर उनको भाग देते हैं (यथा) जिस प्रकार (नः) हमको वह (वस्यसस्करत्) उत्तम प्रकारसे निवास करनेवाले करैं (यथा) जिसप्रकार (नः) हमको (श्रेयसस्करत्) ज्ञातियोंमें श्रेष्ठतर करैं (यथा) जिसप्रकार (नः) हमको (व्यवसाययात्) सब कार्योंमें निश्चययुक्त करैं इस प्रकार इनका जप करते हैं [आशीर्वाद है] ॥५८॥

तत्त्वविचार–जिनकी अम्बिका भगिनी है वह त्र्यम्बक होते हैं तीनलोकमें गमन होनेसे अम्बिका विद्युदग्निविशेष रुद्रदेवताकी भगिनीस्थानीय है ॥ ५८ ॥

भावार्थ–तीनों कालोंमें एकरसरूप परमात्माको भजन करना सबको उचित है वह रुद्ररूपसे प्रार्थनीय है धनसम्पत्ति वही देता है तेजकी वृद्धि वही करता है ॥५८॥

कण्डिका ५९–मंत्र १।

भेषजमसिभेषजङ्गवेश्वायपुरुषायभेषजम्॥ सुखम्मेषायमेष्यै॥ ५९॥

ऋष्यादि–(१) ॐभेषजमसीत्यस्य बन्धुर्ऋषिः। स्वराड्गायत्री छं०। रुद्रो देवता। जपे वि० ॥ ५९ ॥

मंत्रार्थ-हे रुद्र ! आप (भेषजम्) औषधिवत् सम्पूर्ण उपद्रवके निवारण करनेवाले (असि) हो इस कारण हमारे (गवे) गौ (अश्वाय) घोडे (पुरुषाय) पुत्र पौत्र भ्राता परिजनके निमित्त (भेषजम्) सब रोग दूरकरनेको औषधि दो वा औषधिरूप प्रकाश करो तथा (मेषाय) मेष (मेष्यै) मेषी आदि पशुओंके उपद्रवरहित जीवनके निमित्त (सुखम्) सुखदायक अपना भेषजस्वरूप प्रकाश करो [इस मंत्रसे गृहपशुओंकी क्षेम प्राप्ति होती है ।] ॥ ५९ ॥

विशेष-पदार्थविद्यावाले यहां विद्युत्का अर्थ करके कहते हैं. कि विद्युत् कितनी उत्कृष्ट भेषज है यह भेषजके व्यवसायी ही विशेषरूपसे जानसकते हैं ॥ ५९ ॥

कण्डिका ६०-मंत्र २ ।

त्र्यम्बकँय्यजामहे सुगन्धिम्पुष्टिवर्द्धनम् ॥ उर्वारुकमिवबन्धनान्मृत्योर्मुक्षीयमामृतात् ॥ त्र्यम्बकँय्यजामहेसुगन्धिम्पतिवेदनम् ॥ उर्वारुकमिवबन्धनादितोमुक्षीयमामुतः ॥ ६० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐत्र्यम्बकमित्यस्य वसिष्ठ ऋ० । बाह्मब्राह्मी त्रिष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । परिक्रमणे वि० । (२) ॐत्र्यम्बकमित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । बाह्मब्राह्मी त्रिष्टुप् छंदः । रुद्रो देवता । कन्यायाः परिक्रमणे वि० ॥ ६० ॥

विधि-(१) जैसे पितृमेधमें पुत्रादिपुरुष अपनी वामऊरु ताडनकरके उलटी प्रदक्षिणा करते हैं तथा देवताकी सेवामें दहिनी जंघा ताडन करकै तीन प्रदक्षिणा करते हैं इसीप्रकार इसमेंभी पुरुष प्रथम मंत्र जपकर तीन अग्निकी प्रदक्षिणा करते हैं [कात्या० ५. १०. १५. १६] मन्त्रार्थ-(सुगन्धि) दिव्यगन्धसे युक्त मर्त्यधर्महीन उभयलोकके फलदाता (पुष्टिवर्द्धनम्) धनधान्यादिसे पुष्टि बढानेवाले (त्र्यम्बकम्) पूर्वोक्त नेत्रत्रयसम्पन्न शिव शंकरको (यजामहे) पूजन करते हैं वह रुद्र हमको (मृत्योः) मृत्यु अपमृत्यु वा संसारके मरणसे (मुक्षीय) मुक्त करैं वा छुडावैं. जिसप्रकार (बन्धनात्) अपने बंधनसे (उर्वारुकमिव) पकेहुये कर्कटीफलकी समान अर्थात् जैसे पक्व फल अपनी ग्रन्थीसे टूटकर भूपतित होता हैं इस प्रकार शिवकी कृपासे जन्ममरण बंधनसे चिरमुक्त होजायँ और (अमृ-

तात्)स्वर्गरूप मुक्तिसे (मामुक्षीय) न छूटूं,अभ्युदयनिश्रेयस रूप दोनां फलसे भ्रष्ट न हूं १।विधि–(२)यजमानकी कन्या भी अगले मंत्रसे तीन परिक्रमा करैं[का०५, १०, १७] (पतिवेदनम्) पतिके प्राप्तकरनेवाले वा सम्पूर्ण गुणसंपन्न सुन्दर पतिके विधानकरनेवाले (सुगंधिम्) दिव्ययश सौरभपूर्ण धर्माधर्मके ज्ञाता (त्र्यम्बकम्) त्र्यम्बकदेव शिवको (यजामहे) पूजनकरती हैं (उर्वारुकम् इव) जैसे उर्वारुकफल (वन्धनात्) वन्धनसे छूट जाता है इस प्रकार (इतः) इस माता पिता भ्रातृ वर्गसे वा इनके गोत्रसे (मुक्षीय) छूटकर (अमुतः) विवाहउपरान्त पतिके समीपसे (मां) मत छुटाओ. आशय यह कि पिताके गोत्र और घरको छोडकर पति के गोत्र और घरमें शिवजीके प्रसादसे सदा निवास करैं २ ॥ ६० ॥

प्रमाण–"सा यदित इत्याह ज्ञातिभ्यस्तदाह मामुत इति पतिभ्यस्तदाह" इति श्रुतेः [२, ६, २. ४] ॥ ६० ॥

विशेष–पहला मंत्रही महामृत्युंजय कहलाता है इसको विधिपूर्वक शिवपूजन करकै जप करनेसे अपमृत्यु निवारण होती है इसमें सन्देह नहीं और इस मंत्रसे भी विदित होता है कि मुक्त होकर फिर संसारमें नहीं आता [ऋ० । ९ । ४ । ३०] ॥ ६० ॥

कण्डिका–६१ मंत्र १ ।

एतत्ते रुद्रावसन्तेनपरोमूजवतोतीहि ॥ अवततधन्वापिनाकावसःकृत्तिवासाऽअहिंᳬसन्नःशिवोतीहि ॥ ६१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐएतत्त इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । भुरिगास्तारपंक्तिश्छं० । रुद्रो देवता । स्थाण्वादौ वंशयष्टिसंसर्जने वि० । (२) ॐकृत्तिवासा इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । भुरिगास्तारपंक्तिश्छंदः । रुद्रो देवता । उदकोपस्पर्शने वि० ॥ ६१ ॥

[जिसके दोनों चरणोंमें बाहर अक्षर, आदिके दोनों पादोंमें आठ हों वह आस्तारपंक्ति है ।]

विधि–(१)त्र्यम्बकयागके हवनसे बचे हुए पुरोडाश (चावल जौ) आदिको बांध तृण वांसादिके बनेहुए मूर्ति (टोकरे) नाम दो पात्रोंमें रखकर एक बांसकी लकडीके दोनों सिरोंमें उसको बांधकर कंधेपर रखकर उत्तराभिमुख कुछ दूर जाकर किसी ऊंचे स्थान वृक्ष बांसदंड अथवा वल्मीकपर जहां उसको गऊ न इस मंत्रको पढकर स्थापन करै इससे गौओंको रोग न होगा [का०

मन्त्रार्थ—हे (रुद्र) उक्तगुणसम्पन्न महादेव ! (एतत्) यह (ते) आपका (अवसम्) हविःशेषाख्यनाम भोजन है [देशान्तरको जातेहुए मार्गमें जो तडागादिके समीप बैठकर ओदनादि भक्ष्य खायाजाय उसे अवस कहते हैं] (तेन) इसके साथ तुम (अवततधन्वा) हमारे विरोधियोंके निवारण होनेसे ज्या उतारेहुए धनुषको ले (पिनाकावसः) अपने पिनाक धनुषको वस्त्रमें छिपायें (मूजवतः) मूंजवान् नाम पर्वतके (परः) परभागवर्ती होकर (अतीहि) गमनकरो अर्थात् इस अपने भागको लेकर दीर्घ गन्तव्यपथ अतिक्रमण कर अपने निवासभूत मुंजवान् नाम पर्वतके शिखरपर उपस्थित हो "अथवा तुम्हारा निरन्तर विस्तृत धनुष है तुम अपने तेजसे (नाकः) अर्थात् स्वर्गपर्यन्त आच्छन्न करके गमनकरनेमें समर्थ हो तुमको किसीप्रकारकी सहायताकी आवश्यकता नहीं." [धनुष छिपाकर जानेका कारण यह कि प्राणी भयभीत न हों, अर्थात् रुद्रने अपना धनुष अब उतार लिया] १।

विधि—(२) वे दोनों मूर्ति वृक्षादिके ऊपर स्थापन करनेके उपरान्त वेदीके निकट आकर यजमान दूसरे मंत्रसे जलस्पर्श करै [का० ५, १०, २२, २३]

मंत्रार्थ—हे रुद्र! तुम (कृत्तिवासाः) चर्म्माम्बर धारणकिये हो वा सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तर रहनेसे चर्माम्बरधारी हो (नः) हमारी (अहिंसन्) हिंसा न करते अर्थात् हमारी समस्त शारीरिक विपत्को अतिक्रम कर रक्षाके अभिप्रायसे (शिवः) हमारी पूजासे सन्तुष्ट वा कोपरहित होनेके कारण कल्याणस्वरूप होकर (अतीहि) अपने स्थानमें निवास करो वा पर्वतको अतिक्रम कर जाओ ॥ ६१ ॥

विशेष—शिवके धनुषका नाम पिनाक है गजचर्म धारण करनेसे कृत्तिवास है पौराणिक पदार्थविद्यावाले कहतेहैं पर्वतके ऊपर मेघोंके उदय होनेसे सदा इन्द्रधनुष देखाजाता है इसकारण वहां ही रुद्रका निवासस्थान कथनकिया है विद्युत् सम्पूर्णशरीरके चर्म्मान्तरवर्ती है इस कारण रुद्रको विद्युत्में होनेसे कृत्तिवास और महादेव कहा है ॥ ६१ ॥

"पं० दयानन्दने रुद्रका अर्थ यहां योधाका कियाहै सो सर्वदा हास्यसूचक है और त्याज्य है कारण कि कोई प्रमाण नहींहै" ॥ ६१ ॥

कण्डिका ६२—मंत्र १ ।

त्र्यायुषञ्जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ॥ यद्देवेषु त्र्यायुषन्तन्नोऽअस्तु त्र्यायुषम् ॥ ६२ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ त्र्यायुषमित्यस्य नारायण ऋषिः । उष्णिक्छन्दः । रुद्रो देवता । वपनादौ जपे वि० ॥ ६२ ॥

[जिसके चार पाद सतरह अक्षर हों वह उष्णिक् छंद है ।]

विधि-(१) अनन्तर यजमान मस्तक मुण्डित करावै क्षौरकर्मके समयके प्रथम इस मंत्रको जपै [कात्या० ५, २, १६] मंत्रार्थ-हे रुद्र ! (जमदग्नेः) जमदग्नि ऋषिकी जो (त्र्यायुषम्) बाल्य यौवन वृद्धावस्था है तथा (कश्यपस्य) कश्यपप्रजापतिकी जैसी (त्र्यायुषम्) तीनों अवस्था हैं (यद्) जैसी (देवेषु) देवगणकी (त्र्यायुषम्) अवस्थाके चरित्र हैं (तत्) वह सब (त्र्यायुषम्) त्र्यायुष (नः) मुझ यजमानको (अस्तु) प्राप्त हो अर्थात् इन पूर्वोक्त महात्माओंकेसे चरित्र हमारे होजायं ॥ ६२ ॥

प्रमाणानि -"चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः" [श० । ८ । १ । २ । ३ ।] "कश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः" इति [श० ७ । ४ । १ ।] भाव-इन प्रमाणोंके अनुसार नेत्र जमदग्नि और कश्यप कूर्मरूप ईश्वर हैं तो ईश्वरका तेज हमारी नेत्र इन्द्रियोंमें आवै. और योगके बलसे अनन्तकालतक हम जियें, वेदमें तीनों कालका कथन है इस कारण प्रथम मंत्रके अर्थमें भी संदेह नहीं है. वैदिक ऋषि नित्य है ॥ ६२ ॥

कण्डिका ६३-मन्त्र २ ।

शिवोनामासिस्वधितिस्तेपितानमस्तेऽअस्तुमामाहिꣳसीः ॥ निवर्त्तयाम्यायुषेन्नाद्यायप्प्रजननायरायस्पोषायसुप्रजास्त्वायसुवीर्य्याय॥६३॥ १० [७]

इति संहितायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐशिवो नामासीत्यस्य नारायण ऋषिः। भुरिग्जगती छं० । क्षुरो देवता । क्षुरग्रहणे वि० । (२) ॐनिवर्तयामीत्यस्य नारायण ऋषिः । भुरिग्जगती छं० । लिङ्गोक्ता देवता । वपने वि० ॥ ६३ ॥

विधि-(२) प्रथम मंत्रसे लोहक्षुर ग्रहण करै [का० ५, ३, १७] मंत्रार्थ-सर्वव्यापी होनेसे क्षुरमें व्याप्त क्षुराधिष्ठित देव ! तुम (नाम) नामकरके (शिवः) शान्तस्वभाव कल्याणकारक (असि) हो (स्वधितिः) वज्र (ते) तुम्हारा (पिता) पालक रक्षक है (ते) तुम्हारे निमित्त (नमः) नमस्कार है (मा) मुझको (मा) मत (हिꣳसीः) आघात करना १ । विधि-(२) दूसरा मंत्र पढ़कर मुण्डन करै [का० ५, २, १७] मंत्रार्थ-हे यजमान ! इस क्रियाके फलसे (आयुषे) जीवनके निमित्त (अन्नाद्याय) अन्नादि भक्षणके निमित्त (प्रजननाय) बहुतप्रजा (रायस्पो-

षाय) वहुत धनपुष्टि (सुप्रजास्त्वाय) उत्कृष्ट प्रजननसामर्थ्य (सुवीर्य्याय) प्रशंसनीय बलकी प्राप्तिके निमित्त (निवर्तयामि) मुण्डन करताहूं ॥ ६३ ॥ *

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदीयवाजसनेयिसंहितायां पण्डित ज्वालाप्रसादमिश्रकृतमिश्रभाषाभाष्ये अग्न्याधानादिपित्र्यान्तस्तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः ४.

एदंद्वे, महीनाम्पयश्चतस्र, आकूत्या, ऋक्सामयो,-र्द्विकौ, व्रतंकृणुतषडे,-षतेचतस्रो,-वस्व्यसितिस्र, एषतेद्वे, शुक्रन्त्वाच तस्रो,-दित्यास्त्वगष्टौ, दशसतत्रिꣳशत् ॥ १० ॥

अग्निष्टोम.

कण्डिका १-मंत्र ४ ।

एदमंगन्मदेवुयजंनम्पृथिव्यायत्रदेवासोऽअजुंषन्तविश्वे ॥ ऋक्सामाभ्याꣳसन्तरन्तोयजुंर्भीरायस्पोषेणसमिषामंदेम ॥ इमाऽआपःशमुंमेसन्तुदेवीरोषधेत्रायस्वस्वधितेमैनꣳहिꣳसीः ॥१॥

ऋष्यादि-(१) ॐएदमगन्मेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । विराड्ब्राह्मी जगती छं० । देवयजनदेवता । यज्ञशालाप्रवेशे वि० । (२) ॐआप इत्यस्य प्र० ऋ० । विराड्ब्राह्मीजगती छंदः । आपो देवता । केशानामद्रार्द्रीकरणे वि० । (३) ॐओषध इत्यस्य प्र० ऋ० । विराड्ब्राह्मी पं० छं० । औषधिर्देवता । उदपात्रे क्षुरच्छिन्नकुशाग्रप्रक्षेपणे वि० । (४) ॐस्वधित इत्यस्य प्र० ऋ० । विराड्ब्राह्मी पं० छं० । क्षुरो देवता । क्षुरेण केशश्मश्रुवपने वि० ॥ १ ॥

विधि-(१) आधान अग्निहोत्र अग्न्युपस्थान चातुर्मास्यके मंत्र तीसरे अध्यायमें कथन किये अव चौथे अध्यायसे आठवें की ३२ वत्तीस काण्डिकापर्यन्त अग्नि-

* अथवा हे रुद्र तुम 'स्वधिति' अविनाशी होनेसे वज्रमय हो जिन आपका (शिवः) शिव नाम है सो आप मेरे (पितासि) पिताहो आपको प्रणाम है तुम मुझै मत मारना मैं तुमको अन्न प्रजा-सुवीर्य और धन प्राप्तिके अर्थ जपकर आपके आश्रयसे सब दुःखोंको दूरकरताहूं ॥ ६३ ॥

ष्टोमके मंत्र कथन कियेजाते हैं । सो चौथे अध्यायमें यजमानके संस्कारपूर्वक सोमक्रयमंत्र प्रधानतासे कहे जातेहैं सो आदिमें यजमान सोलह ऋत्विजोंको वरण करके अरणीमें अग्निको समारोपण कर प्रथम मंत्रसे यज्ञशालामें प्रवेश करै [का०७।१।३६] मन्त्रार्थ–हम(इदम्)इस(पृथिव्याः)पृथ्वीसम्बन्धी (देवयजनम्) देवयजनस्थानमें (आअगन्म)प्राप्तहुए हैं (यत्र)जिस देवयजनस्थानमें (विश्वेदेवाः)सम्पूर्णदेवता(अजुषन्त)प्रीतिसे स्थित हुए हैं (ऋक्सामाभ्यां)ऋक् और सामके मंत्रोंद्वारा(यजुर्भिः)तथा यजुमंत्रोंसे (सन्तरन्तः) समुद्रवद्गम्भीर सोमयागको सम्पादन करतेहुए (रायः) धनकी (पोषेण) पुष्टि और (इषा) अन्नद्वारा (सम्मदेम) प्रसन्न हों अर्थात् बल पुष्टिसाधन अतुल ऐश्वर्यलाभ करके तृप्त हों१।विधि–(२) अनन्तर यजमानके मस्तकके केश और श्मश्रुका मुण्डन हो उससे पहले इस दूसरे मंत्रसे जलद्वारा यजमानके बाल भिजोये जाय [का०७।२।९] मंत्रार्थ–(देवीः)दीप्तिमान् निर्मल (आपः) जल (मे) मेरे निमित्त (शमु) निश्चय कल्याणकारी (सन्तु)हों ॥२॥विधि–(३) तीसरे मंत्रसे अचिरोत्पन्न कुशाओंको छेदनकर जलमें डाले क्षुरकी तीक्ष्णताकी परीक्षाः करै [कात्या० ७, २, १०, १०] मंत्रार्थ–(ओषधे) हे कुशतृणदेवता ! तुम यजमानकी (त्रायस्व) क्षुरसे रक्षा करो [अर्थात् कुशद्वारा परीक्षित होकर यह क्षुर यजमानको कष्टकारी न हो] ३ । विधि–(४) चौथे मंत्रको पढलेनेपर क्षौर करै । मंत्रार्थ–(स्वधिते) हे क्षुर ! (एनम्)इस यजमानको (माहिंसीः) मत मारो अर्थात् कष्ट न देना ॥ १ ॥

कण्डिका २–मन्त्र २ ।

आपोऽअस्म्मान्म्मातरः शुन्धयन्तुघृतेननोघृतप्प्वः पुनन्तु॥विश्श्वꣳहिरिप्प्रम्प्रवहन्तिदेवीरुदिदाब्भ्यःशुचिरापूतऽएमि ॥ दीक्षातपसोस्त्तनूरसितान्त्वाꣳशिवाꣳशग्ग्माम्परिदधेभद्द्रंवण्णम्म्पुष्ष्यन् ॥ २ ॥ [२]

ऋष्यादि–(१) ॐआपइत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । स्वराड्ब्राह्मी त्रिष्टुप्छं० । आपो देवता । अप्सुस्नात्वाद्भ्य उद्गमने वि० । (२) ॐदीक्षातपसोरित्यस्य प्र० ऋ० । स्वराड्ब्राह्मी त्रि० छं० । वासो देवता । वासःपरिधाने वि० ॥ २ ॥

विधि–(१)प्रथम मंत्रसे स्नान कर जलसे उद्गमन करै(का०७।२ । १९)मन्त्रार्थ–(मातरः) माताकी समान जीवनरक्षक (आपः)जल(अस्मान्)हमको (शुन्धयन्तु) पवित्र करैं अर्थात् क्षौरकर्मनिमित्त अपहतिको दूर करैं (घृतप्वः) क्षरित जलोंसे पवित्र

करनेवाले जलदेवता (घृतेन) क्षरित जलसे (नः) हमको (पुनन्तु) पवित्र करैं अथवा हम घृतसे परिप्लुत हुए हैं हमको जल पवित्र करैं (हि) निश्चयही (देवीः) द्युतिमान् निर्मल (आपः) जल (विश्वम्) सम्पूर्ण (रिप्रम्) पापको वा मलको (प्रवहन्ति) दूरकरते हैं अर्थात् मस्तकके ऊपर दीयमान वा वहमान यह जलधारा हमारे सब पाप दूर करै, मैं (शुचिः) स्नानसे शुद्ध (आपूतः) स्नानादिसे तथा आचमनसे वाहर भीतर पवित्रहुआ (आभ्यः) इनसे (उत्इत्-एमि) इस जलसे उत्थान करता हूं. १। विधि–(२) दूसरे मंत्रसे क्षौमवस्त्र धारण करै अथवा घरकी धुलीहुई पवित्र धोती धारण करै नीवी न करै. [का० । ७ । २ । १६ । १९] मंत्रार्थ–हे क्षौम ! तुम (दीक्षातपसोः) दीक्षणीय इष्टि तथा उपसदइष्टि दोनों प्रकारके यज्ञके (तनूः) अङ्गीभूत (असि) हो. अर्थात् दीक्षाभिमानी और तपोभिमानी देवताके शरीरवत् प्रिय हो (ताम्) उस दीक्षातपके शरीर वा देवताद्वयके शरीरभूत (शिवाम्) कल्याणकारक (शग्माम्) कोमल होनेसे सुखस्पर्श (त्वा) तुमको (भद्रम्) कल्याणयुक्त (कान्तिम्) कान्तिको (पुष्यन्) पुष्ट करताहुआ (परिदधे) मैं धारण करता हूं २ ॥ २ ॥

प्रमाण–"रिपोरिप्रमिति पापनामनी भवतः"–[निरु० ४ । २१] [ऋ० । ७ । ६ । २४] ॥ २ ॥

विवरण–सन वा अलसीकी छालसे जो वस्त्र वनता है उसको क्षौम कहते हैं. दीक्षा प्रथम उपदेशको कहते हैं. जैसे सोमयागके मध्यमें अग्निष्टोम सोमयागमें जिसप्रकार सोमाहरणादि कियाजाता है; वह यहांसे ही उपदिष्ट है इसकारण इसको दीक्षणीय यज्ञ कहा ।

उपसद–समीप प्राप्त जैसे राजसूयादिमें अग्निष्टोममें उपदिष्ट होकर ही वाजपेयादिमें अधिकार होताहै इससे और सोमाहरणादिके उपदेशकी अपेक्षा नहीं होती केवल कुछेक विशेष२नियम पालन करने होते हैं इसीप्रकार तप उपसदका नामान्तर मात्र है, तपशब्दका अर्थ नियम है ॥ २ ॥

कण्डिका ३–मन्त्र २ ।

म॒हीना॒म्पयो॑ऽसि वर्चो॒दाऽअ॑सि॒ वर्चो॑ मे देहि ॥ वृ॒त्रस्या॑सि क॒नीन॑क॒श्चक्षु॒र्दाऽअ॑सि॒ चक्षु॑र्मे देहि ॥ ३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐमहीनामित्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । भुरिक्त्रिष्टुप्छं० । नवनीतं दैवतम् । शरीराभ्यञ्जने वि० । (२) ॐवृत्रस्यासीत्यस्य प्र० ऋ० । भुरिक्त्रिष्टुप्छं० । अञ्जनं दैवतम् । अक्ष्यञ्जने वि० ॥ ३ ॥

विधि–(१) यज्ञशालाके पूर्वभागमें कुशासनपर बैठकर यजमान पावँसे लेकर मस्तकपर्यन्त अनुलोमक्रमसे गौका मक्खन प्रथम मंत्रसे मले [का० ७ । २ । ३३] **मन्त्रार्थ**–हे गव्य नवनीत ! तुम (हीनाम्) गौओंके (पयः) दुग्धरूप हो. (वर्चोदाः) तेज सम्पादन करनेमें समर्थ (असि) हो इसकारण (मे) मेरे निमित्त (वर्चः) तेजको (देहि) सम्पादन कीजिये १ । **विधि**–(२) दूसरे मंत्रसे त्रिककुत् पर्वतके अंजनके (अभावमें दूसरे अंजनको) अध्वर्युयजमानकी दहिनी आंखमें दोवार और बाँईमें तीनवार लगावे [का० । ७ । २ । ३४] **मंत्रार्थ**–हे अञ्जन ! तुम (वृत्रस्य) वृत्रासुरकी (कनीनकः) कनीनिका कालीपुतलीरूप (असि) हो (चक्षुर्दाः) चक्षुइन्द्रियके उत्कर्ष साधनमें समर्थ (असि) हो इस कारण (मे) मेरेनिमित्त (चक्षुः) चक्षुइन्द्रियकी उत्कृष्टता (देहि) प्रदान करो २ ॥ ३ ॥

प्रमाण–"महीति गोनामसु पठितम्"–[निघं० २, ११, ९] "यत्र वा इन्द्रो वृत्रमहंस्तस्य यदक्ष्यासीत्" इत्यादि श्रुतिः [३, १, २, १२] तथा च तित्तिरिः "इन्द्रो वृत्रमहन् तस्य कनीनिका परापतत्तदेवाञ्जनमभवत्" इति । इन्द्रने वृत्रासुरको मारा उसकी कनीनिका गिरी वही अंजन हुआ ।

विवरण–अनुलोम शरीरके लोम जिसप्रकार अपनी गतिपर अनुसृत हैं उनकी गति विरुद्ध नहीं है मस्तकआरंभ क्रमसे पादअंगुष्ठपर समाप्त होते हैं. ऊपरसे नीचेको अनुलोम इससे विपरीतक्रमको प्रतिलोम कहतेहैं ।

त्रिककुत् नाम पर्वतश्रेणीसे उत्पन्न हुए अंजनको त्रिककुत् कहते हैं इस समय इसको ऐन्द्रजादि अथवा 'सातपुड' पर्वत कहते हैं । वृत्रशब्दसे द्युमण्डल आवरण कर्ता और चक्षुमध्यस्थ कृष्णविन्दुको कनीनिका कहते हैं.

त्रिककुत् पर्वतके तीन अतिउच्च शिखर हैं मेघवृन्द चलतेसमय उससे छिन्नभिन्न हो गिरजाते हैं उनमेंही यह अंजन उत्पन्न होता है, यही कृष्णवर्ण एवं इसी पर्वत पर मेघ निरन्तर गमन करते हैं, इसी कारण वृत्ररूप मेघकी कनीनिका वर्णन किया है और यही वैद्यक शास्त्रमें नेत्ररोगकी प्रधान औषधि कहीहै ॥ ३ ॥

कण्डिका ४–मंत्र ३ ।

चित्पतिर्म्मापुनातुवाक्पतिर्म्मापुनातुदेवोमासवितापुनात्त्वच्छिद्द्रेणपवित्त्रेणसूर्य्यस्यरश्मिभिः ॥ तस्यतेपवित्त्रपतेपवित्त्रपूतस्ययत्कामःपुनेतच्छकेयम् ॥ ४ ॥

ऋष्यादि–(१–२–३) ॐचित्पतिर्मेत्यस्य मंत्रत्रयस्य प्र० ऋ० । निच्यृद्ब्राह्मी पंक्तिश्छं० । प्रजापतिसवितारौ देवते । नाभेरधोऽग्मार्जने वि० ॥ ४ ॥

विधि–(१-२-३) इस कण्डिकाके तीनोंमंत्रोंसे पृथक् पृथक् सात २ वार पाठ-करके कुशपवित्रद्वारा शिरपर मार्जन करै [का० ७ । ३ । १] मन्त्रार्थ–(१–३) (चित्पतिः) ज्ञानके अधिपति वा मनके अधिष्ठात्रीदेवता (अच्छिद्रेण) छिद्रशून्य (पवित्रेण) वायुरूपपवित्रसे तथा (सूर्यस्य) सूर्यकी (रश्मिभिः)किरणोंसे (मा) मुझ यजमानको (पुनातु) पवित्र करो [वायुही अच्छिद्र और शुद्ध होनेसे पवित्र है अथवा आदित्यमण्डल ही शुद्ध और अच्छिद्र है] (वाक्पतिः) वाणीके अधिष्ठात्री देवता छिद्रशून्य वायु और सूर्य रश्मिद्वारा (मा) मुझको (पुनातु) पवित्र करै (सविता) सर्वान्तर्यामी (देवः) देवता छिद्रशून्यवायु और अपनी ज्ञानरूप रश्मिद्वारा मुझे (पुनातु) पवित्र करै (पवित्रपते) हे पवित्रात्माके रक्षा करने-वाले परमात्मन् ! (तस्य) उस (पवित्रपूतस्य) पूर्वोक्त पवित्रपूत (ते) आपके पवित्र द्वारा मैं पवित्र हुआ हूं. हमारे अभीष्ट सिद्ध करो (यत्कामः)जिस कामनाको मैं (पुने) पवित्र हूं (तत्) आपके प्रसादसे उसको (शकेयम्) करनेको समर्थ हूं, अथवा सोमयाग अनुष्ठानमें अपनेको मैं शोधन करता हूं उसके अनुष्ठानमें समर्थ हूं अन्तर्यामी देवता मुझे पवित्र करै ॥ १–२–३ ॥ ४ ॥

प्रमाण–"मनो वै चित्पतिरिति तित्तिरिः । प्रजापतिर्वै चित्पतिः" इति श्रुतेः । [३ । १ । २ । २२] ॥ ४ ॥

भावार्थ–सब अनुष्ठानमें पवित्र होकर मनुष्योंको प्रथम परमात्माकी उपासना करनी चाहिये जिससे कार्य करनेमें समर्थ हों ॥ ४ ॥

कण्डिका ५–मन्त्र १ ।

आवो॑देवास॒ऽईमहे॒वा॒मम्प्र॑य॒त्त्य॒ध्व॒रे ॥ आवो॑देवा स॒ऽआ॒शिषो॑य॒ज्ञियो॑सोहवामहे ॥ ५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐआवो देवास इति प्रजा० ऋ० । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । आशीर्देवता । यजमानं प्रत्याशीर्वाचने वि० ॥ ५ ॥

विधि–(१) अनन्तर अध्वर्यु यजमानको यह मंत्र पाठ करावै [का०७।३।६]

मंत्रार्थ–(देवासः)हे देवताओ!(अध्वरे) इस यज्ञके (प्रयति)वर्तमान होनेके कारण (वामम्) आपके निकट वरणीय यज्ञके फलको (वः) आपसे (आईमहे) सब प्रकारसे प्रार्थना करते हैं (देवासः) हे देवताओ ! (यज्ञियासः) यज्ञसम्बन्धी

(आशिषः) फलोंको (आ) लानेके निमित्त (वः) आपको (हवामहे) बुलाते हैं ॥ ५ ॥

प्रमाण–"ईमहे याचितकर्मसु पठितः"–निघं० ३ । १९ । १] ॥ ५ ॥

कण्डिका ६–मन्त्र ४ ।

स्वाहा॑य॒ज्ञंमन॑सुः॒स्वाहो॒रोर॒न्तरि॑क्षा॒त्स्वाहा॒द्यावा॑पृथि॒वीभ्या॒ᳬस्वाहा॒वाता॒दार॑भे॒स्वाहा॑ ॥६॥[४]

ऋष्यादि–(१–४) ॐस्वाहा यज्ञमित्यस्य मंत्रचतुष्टयस्य प्रजा० ऋ० । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । यज्ञो दे० । अंगुलिसंकोचनोत्पवने वि० ॥ ६ ॥

विधि–(१–४)इस काण्डिकामें स्थित चार मंत्रोंमें एक एक क्रमसे एक कालमें दोनों हाथकी चार अंगुलियोंको सकोडकर मुट्ठी बांधकर स्वाहा कहकर चौथे मंत्रसे मौन हो खोलै [का० ७ । ३ । ७ । १०] मंत्रार्थ–हम (मनसः) चित्तसे (यज्ञम्) यज्ञकरनेमें (स्वाहा) प्रवृत्त हुए हैं (उरोः) विस्तीर्ण (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्षसे (स्वाहा) यज्ञलाभकरते हैं (द्यावापृथिवीभ्याम्) हम द्युलोक और भूलोकसे (स्वाहा) यज्ञलाभ करते हैं (वातात्) हम प्रवहमान वायुसे (स्वाहा) यज्ञलाभ करते हैं (आरभे) यज्ञको आरंभ करते हैं (स्वाहा) यह अनुष्ठान आरंभक्रिया सुसिद्ध हो १–४ ॥ ६ ॥

विशेष–इस मंत्रसे यह प्रगट होताहै कि यज्ञ त्रिलोकव्यापी है, अर्थात् जगत्की सम्पूर्ण वस्तुओंमें निवास करता है उपरोक्त वस्तुओंसे प्राप्त होता है और सावधान मनसे यज्ञ करना चाहिये,स्वाहाशब्द निपातन है ब्राह्मणके अनुसार अनेक अर्थ होते हैं सो यहां लिखे हैं. मन हृदय प्राण वाणी आदिके नियमसे यज्ञ आरंभ करै यह तात्पर्य है ॥ ६ ॥

कण्डिका ७–मंत्र ५ ।

आकू॑त्यै॒प्प्रयुजे॒ग्नये॒स्वाहा॑मे॒धायै॒मन॑से॒ग्नये॒स्वाहा॑दी॒क्षायै॒तप॑से॒ग्नये॒स्वाहा॒सर॑स्वत्यैपू॒ष्णे॒ग्नये॒स्वाहा॑ ॥ आपो॑देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवो॒द्यावा॑पृथिवी॒ऽउरो॑ऽअन्तरिक्ष ॥ बृह॒स्पत॑येह॒विषा॑विधे॒मुस्वाहा॑ ॥ ७ ॥

ऋष्यादि–(१–४) ॐआकूत्यैप्रयुज इत्यस्य प्रजाप० ऋ० । पंक्तिश्छं० ॥ अग्निर्देवता । औद्ग्रभणहवने वि० । (५) ॐआपोदेवीरित्यस्य प्र० ऋ० । आर्षी बृहती छं० । लिङ्गोक्ता देवता । जपे वि० ॥ ७ ॥

विधि–(१–५) इस कण्डिकामें स्थित पांच मंत्र हैं पहले चार मंत्रोंसे अन्न ग्रहण कर फिर पंचम मंत्र और पर कण्डिकामें स्थित मंत्रसे स्थालीमेंसे स्रुवद्वारा दो उद्ग्रभण (कार्यारम्भसूचक) आहुति प्रदान करै [का० ७ । ३ । १६]

मंत्रार्थ–(आकूत्यै) यज्ञ करूं करूं इस प्रकार धारावाहिनी प्रबल इच्छा मनकी संकल्पपूर्तिके अर्थ (प्रयुजे) प्रेरक (अग्नये) अग्निके उद्देशसे यह आहुति दीजातीहै (स्वाहा) यह आहुति सुसिद्ध हो १ । (मेधायै) श्रुतमंत्रकी धारणशक्तिकी सिद्धिके निमित्त (मनसे) मनके प्रवृत्त करनेवाले (अग्नये) अग्निके उद्देशसे यह आहुति दीजाती है (स्वाहा) यह आहुति सुसिद्ध हो "मनके स्वास्थ्य होनेमें विद्याधारणकी शक्ति होती है २ । [जपकरै] (दीक्षायै) व्रतनियमदीक्षाके सिद्धकरनेवाले तथा (तपसे) तपके सिद्धकरनेवाले अर्थात दीक्षा और तपके प्रवर्तक (अग्नये) अग्निदेवताके उद्देशसे यह आहुति दीजाती है (स्वाहा) यह आहुति सुसिद्ध हो ३ । (सरस्वत्यै) मन्त्रोच्चारणशक्ति और (पूष्णे) पुष्टिके साधक (अग्नये) अग्निदेवताके निमित्त यह आहुति दीजाती है (स्वाहा) यह आहुति सुसिद्ध हो ४ । (देवीः) हे प्रकाशमान (बृहतीः) बृहत् (विश्वशंभुवः) जगत्के आनंद करनेवाले (आपः) जलो ! (द्यावापृथिवी) हे द्युलोक भूमिके अधिष्ठात्री देवता (उरो अन्तरिक्ष) विस्तीर्ण अन्तरिक्ष तुम्हारे निमित्त और (बृहस्पतये) बृहस्पतिके निमित्त (हविषा) हवि (विधेम) देते हैं (स्वाहा) श्रेष्ठ होम हो॥५॥७॥

विवरण–यज्ञीय प्रथम उपदेशग्रहणको दीक्षा कहते हैं। दीक्षाग्रहणकर आरम्भ किये यज्ञसम्बन्धी नियमके पालनको तपश्चर्या कहते हैं । उच्चारित मंत्रके यथाभाव व्यवहाररक्षणको पुष्टि कहते हैं । जगत्पालक सूर्य वा ब्रह्म जगत्पति हैं ॥ ७ ॥

अभिप्राय–मनुष्योंको यज्ञानुष्ठान उत्साह बुद्धि सत्य वाणी धर्माचरणकी रीति तप धर्मानुष्ठान विद्यापुष्टियुक्त करना चाहिये, यज्ञ करनेसे उपरोक्त सब प्रकारकी सिद्धि होती है ॥ ७ ॥

कण्डिका ८–मन्त्र १ ।

विश्वोदेवस्यनेतुर्मर्तोवुरीतसुख्यम् ॥ विश्वोराय्ऽइषुध्यतिद्युम्नंवृणीतपुष्यसेस्वाहा ॥८॥ [२]

ऋष्यादि-(१) ॐविश्वोदेवस्येत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋ०। आर्ष्यनुष्टु-प्छं०। सविता दे०। पंचमौद्ग्रभणहवने वि०॥ ८॥

विधि-(१) पंचम औद्ग्रभण हवन करै। मंत्रार्थ-(विश्वः) सम्पूर्ण (मर्तः) जगत्के मनुष्योंके (नेतुः) कर्मानुसार फल प्राप्तकरानेवाले शिक्षक वा पालक (देवस्य) दानादिगुणयुक्त (सवितुः) सवितादेवताके (सख्यम्) भक्तिभावको (वुरीत) प्रार्थना करो (पुष्यसे) प्रजापालन वा ज्ञानकर्मउपासनाकी पुष्टिके निमित्त (द्युम्नम्) यश वा अन्नको (वृणीत) चाहो (विश्वः) सम्पूर्ण मनुष्य (राये) धनकी वा मुक्तिकी प्राप्तिके निमित्त (इषुध्यति) उस परमात्माकी प्रार्थना करते हैं (स्वाहा) उस सबके प्रेरकके निमित्त श्रेष्ठ हवन हो [ऋ० ४। ३। ४]॥ ८॥

भावार्थ-क्या धनके निमित्त क्या बल क्या पुष्टि सम्पूर्ण इष्टिके साधक सम्पूर्ण मनुष्योंके नियन्ता 'एकमेवाद्वितीयम्' देवताकी सख्यता प्रार्थना करते हैं, उन्हीके निमित्त यह हवि देते हैं यज्ञसाधनके निमित्त परमात्माकी सहायता प्रार्थना करनी चाहिये॥ ८॥

प्रमाण-"इषुध्यतिर्याच्ञाकर्मसु पठितः" [निघं० ३। १९। १४]॥ ८॥

कण्डिका ९-मंत्र १।

ऋक्सामयोःशिल्पेस्त्थस्तेवामारंभेतेमापातमास्ययज्ञस्योदृचः॥ शर्म्मासिशर्म्ममेयच्छनमस्तेऽअस्तुमामाहिꣳसीः॥ ९॥

ऋष्यादि-(१) ॐऋक्सामयोरित्यस्य मंत्रस्य आंगिरस ऋ०। आर्षी पंक्तिश्छं०। कृष्णाजिनं दे०। हस्तेन कृष्णाजिनशुक्लकृष्णसंधिस्पर्शने वि०। (२) ॐ शर्मासीत्यस्यांगिरस ऋषिः। आर्षी पंक्तिश्छं०। कृष्णाजिनं देवतम्। कृष्णाजिनोपर्युपवेशने वि०॥ ९॥

विधि-(१) यजमान और यजमानकी पत्नीके बैठनेके निमित्त दो मृगचर्म विछाये जायँ उनके शुक्लकृष्ण रोमोंकी संधिको हाथसे स्पर्श करै १। मंत्रार्थ-हे दोनों कृष्णाजिनकी शुक्लकृष्णरेखा! तुम (ऋक्सामयोः) ऋक्सामके मंत्रोंके अधिष्ठात्री देवताओंके (शिल्पे) चातुर्य्यरूप (स्थः) हो (ते) उन (वाम्) इसप्रकारकी तुमको (आरभे) स्पर्शकरताहूं (ते मा) इस प्रकारके वे मुझको (अस्य) इस (यज्ञस्य) यज्ञके (उदृचः) समाप्तिपर्यन्त (पातम्) रक्षाकरैं [अर्थात् जबतक यज्ञकी शेष ऋक् पठित न हो तबतक आश्रय प्रदानकरो] विधि-(२) मृगचर्म,

पर दहिनी जानुसे चढे पश्चिम भागमें दक्षिण जानुसे बैठे [का० २ । ३७ । ३ । ५४ ।] मन्त्रार्थ—हे कृष्णाजिन ! तुम (शर्म) शरणदाता (असि) हो इसकारण (मे) मेरे निमित्त (शर्म) शरणको (यच्छ) दो अर्थात् तुम्हारा यह स्थान आधारस्वरूप है इसकारण मुझे तुम आधार हो (ते) तुम्हारे निमित्त (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो (मा) मुझ यजमानको (माहिंसीः) पीडा मत दो ॥ ९ ॥

आख्यायिका—एक समय ऋक् सामके देवता देवताओंके यज्ञमें स्थित हो किसी कारणसे कृष्णमृगरूप धारण कर दूर स्थित हुए. मृगचर्ममें शुक्लवर्ण ऋक् है कृष्णरेखा साम है [कृष्णयजु० । ६ । १ । ३ ।] ॥ ९ ॥

प्रमाण—" यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम् " इति श्रुतेः [श० ३ । २ । १ । ५] "ऋक्सामे वै देवेभ्यो यज्ञार्थं तिष्ठमाने कृष्णमृगरूपं कृत्वापक्राम्यातिष्ठतामेष वा ऋचो वर्णो यच्छुक्लं कृष्णाजिनमस्यै साम्नो यत्कृष्णमिति" [तित्तिरिः ६ । १ । ३ ।] ॥ ९ ॥

भावार्थ—यज्ञमें शिल्पविद्या और मंत्रविद्याका अच्छीप्रकार अनुष्ठान कर परमात्माकी महिमा ध्यान करनेसे सब प्रकारके सुख प्राप्त होतेहैं जैसे परमात्मा सर्वत्र है इसीप्रकार उसकी विद्या है ॥ ९ ॥

कण्डिका १०—मंत्र ६ ।

ऊर्गस्याङ्गिरस्यूर्णम्म्रदाऽऊर्जम्मयिधेहि ॥ सोमस्यनीविरसिविष्णोःशर्म्मासिशर्म्मयजमानस्येन्द्रस्ययोनिरसिसुसस्याःकृषीस्कृधि ॥ उच्छ्रयस्ववनस्पतऽऊर्ध्वोमापाह्यꣳहसऽआस्य यज्ञस्योदृचः ॥ १० ॥ [२]

ऋष्यादि—(१–४) ॐऊर्गसीत्यस्यांगिरस ऋषिः । कृधीत्यन्तस्य निच्यृदार्षी जगती छंदः । मेखलानीवीवस्त्रकृष्णविषाणा देवताः । (१) परिधानवस्त्रमध्ये मेखलाबन्धने (२) विकिरणे (३) उष्णीषधारणे (४) उत्तरीयवस्त्रदशायां कृष्णविषाणबन्धने च वि० । (५–६) ॐउच्छ्रयस्वेत्यस्यांगिरस ऋषिः । साम्नी त्रिष्टुप्छन्दः । मेखलादण्डादयो देवताः । (५) प्राचीरेखाकरणे (६) दण्डस्योर्ध्वकरणे च वि० ॥ १० ॥

विधि(१)यजमान वेणीके आकार तिहरी सन और मूँजसे बनी मेखलाको धोतीकें भीतर प्रथममंत्रसे धारण करै [का०७।३।३६।]मन्त्रार्थ-हे मेखला! तुम(आङ्गिरसी) अंगिरानामक ऋषियोंकी सम्बन्धवाली वा अग्निआदिपदार्थोंसे सिद्ध(ऊर्क्)अन्नरस रूप (ऊर्णम्म्रदाः) ऊनकी समान अतिकोमल(आसि) हो(ऊर्जम्)अन्नरसको(मयि) मुझमें (धेहि) स्थापन करो १। विधि-(२) दूसरे मत्रसे मेखलाका नीवीबंधन करै। (दोमुख एकत्रकरकै ग्रन्थिवन्धनको नीवीवन्धनकहते हैं) [का०७।३।२७] मंत्रार्थ-हे मेखला! तुम (सोमस्य)सोमदेवताकी प्रियतम हमारी(नीविः) नीवीस्वरूप हो २। विधि-(३) तीसरे मंत्रसे शिरपर पगडी धारण करै [का० ७।३।३८]हे उष्णीष! तुम इस (विष्णोः) बहुव्यापीयज्ञकी (शर्म) कल्याण स्वरूप (असि) हो इसकारण (यजमानस्य) मुझ यजमानका (शर्म) सुख करो ३। विधि-(४)जिसमें तीन वा पांच रेखा हो ऐसे काले मृगके सींगको चौथे मंत्रसे उत्तरीय वस्त्रके किनारेमें बांधे इससे खुजानेका कार्यसंपादन करना होताहै तथा दक्षिणभौंहके ऊपर ललाटमें स्पर्शकरै [का० ७, ३, २९-३१] मंत्रार्थ-हे कृष्णाविषाण! तुम (इन्द्रस्य) जैसे इन्द्रकी (योनिः)स्थान हो इसीप्रकार मुझ यजमानकी हो४।विधि-(५)पांचवें मंत्रसे विषाणसे वेदीके वाहर पूर्वमें रेखा करै [का० ७।३।३२] मंत्रार्थ-हे कृष्णाविषाण! तुम (कृषेः) हमारे देशको कृषिको (सुशस्याः) सुन्दर धान्ययुक्त (कृधि) करो"इसी कारण भूमिको कुरेदता हूं"५। विधि-(६) छठे मंत्रसे यजमान अपने मुखके बराबर गूलरका दण्ड ग्रहणकर उसे खडाकरै [कात्या० ७, ४, १-२] मन्त्रार्थ-(वनस्पते) हे वनस्पति-सम्भूतदण्ड! (उच्छ्रयस्व) तुम उन्नत होओ (ऊर्ध्वः) ऊंचेहोकर (अस्य) इस (यज्ञस्य) यज्ञके (उहचः) ऋक्समाप्तिपर्यन्त (मा) मुझको (अंहसः) पापसे (पाहि) रक्षा करो ६ ॥ १० ॥

आख्यायिका-एक समय अंगिरावंशी ऋषिगण स्वर्गलोकमें गमन करते समय मार्गमें आहारके निमित्त अन्नरसका विभाग करते हुए, उससे जो अवशिष्ट अन्नरस भूमिमें गिरा, उसीसे सन और मुंज दो तृण उत्पन्न हुए, इस कारण मुञ्जमयी सनयुक्त मेखला बनाते हैं इस कारण मेखलाको आंगिरसत्व कहा (तित्तिरिः) अदीक्षितकी पितृदेवता नीवी है दीक्षितकी सोमयागके निमित्त सोमसे नीवी कही गई है।

एक समय यज्ञपुरुष दक्षिणादेवीको प्राप्त हुए, उसकी सम्भावनासे इन्द्र हुवा तब अन्यअन्यकी उत्पत्ति नहो यह विचार कर इन्द्रने अपने उत्पत्तिस्थानको दक्षिणासे आच्छादितकर मृगमें धारण किया वह कृष्णाविषाण हुई इससे इसको इन्द्रकी योनि कहाहै [तैत्तिरीय०] अध्यात्ममें यज्ञने महावाक् को ध्यानाकिया, कि मेरा

इसके साथ संयोग हो,इन्द्ररूप यजमानने विचार किया कि इस यज्ञ और महावाक्के मिथुनसे वडा प्रतापी होगा वह मेरा तिरस्कार नकरै यह विचारा इन्द्रही गर्भ होकर मिथुनमें प्रविष्ट हुआ एक वर्षमें प्रगटहो विचारा कि यह योनि वडे योगयुक्त है जिसमें मैं स्थित हुआ और महान् हुआ अब कोई और इससे प्रकट नहो ऐसा विचारकर उसे सूर्य में धारण किया ॥ १० ॥

कण्डिका-११ मंत्र ३ ।

व्व्रतङ्कृणुताग्ग्निर्ब्ब्रह्माग्ग्निर्य्यज्ञोवनस्प्पतिर्य्यज्ञियः॑ । दैवीन्धियम्मनामहेसुमृडीकामभिष्टये॥ वर्च्चोधाँय्यज्ञवाहसᳬसुतीर्त्थानोऽअसद्वशे ॥ येदेवामनोजातामनोयुजोदक्षक्क्रतवस्तेनोवन्तुतेनः॑पान्तु तेब्भ्यःस्वाहा ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐव्रतंकृणुतेत्यस्याङ्गिरस ऋषयः । स्वराड्ब्राह्म्यनुष्टुप्छं० । यज्ञो देवता । वाग्विसर्जने वि० । (२) ॐ दैवींधियमित्यस्याङ्गिरस ऋ० । प्राजापत्याजगती छं० । यज्ञो दे० । आचमने वि० । (३) ॐये देवा इत्यस्यांगिर० ऋ० । प्राज्यापत्या त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निमित्रावरुणादित्यविश्वेदेवा देवताः । दुग्धप्राशने वि० ॥ ११ ॥

विधि-(१) पूर्वमुखस्थित दीक्षित यजमान आहवनीयके सन्मुख हो तीनबार "व्रतं कृणुत" इस मंत्रको पढकर "अग्निर्ब्रह्म"इस एकवार पढे मंत्रसे वाग्विसर्जनकरै, ऋत्विकजनोंको यज्ञानुष्ठानका आदेश करै [का० ९ । ४ । १५]मन्त्रार्थ- हे ऋत्विग्गण ! (व्रतं कृणुत) दुग्धको दोहनादि सम्पादन करो वा व्रतानुष्ठान करो (दीक्षितके भोजन करनेको जो दुग्ध नियत है उसको व्रत कहते हैं)(अग्निः)यह यज्ञाग्नि (ब्रह्म) वेदत्रयरूप है (अग्निः) यह अग्नि (यज्ञः) यज्ञसाधनरूप है (वनस्पतिः) यज्ञयोग्य जो खदिरादि वनस्पति है (यज्ञियः) वहभी यज्ञस्वरूप है,कारण कि यज्ञके योग्य है "नहि मनुष्या यजेरन्यद्वनस्पतयो न स्युः" इति श्रुतेः [३ । २ । २ । ९] १ । **विधि**-(२)दूसरे मंत्रसे यजमान आचमन करै [का० ७ । ४ । ३२] हम (अभिष्टये) आरब्धअनुष्ठानकी सिद्धिके निमित्त (दैवीम्) देवसम्बन्धिनी वा देवताके उद्देशसे प्रवृत्त हुई (सुमृडीकाम्) सुन्दरसुखकी कारण (वर्चोधाम्) तेजकी धारण करनेवाली (यज्ञवाहसम्) यज्ञको निर्वाहकरनेवाली (धियम्)बुद्धिकी

(मनामहे) परमात्मासे प्रार्थना करतेहैं (सुतीर्थाः) इसप्रकारकी सर्व प्रशंसनीय बुद्धि (नः) हमारे (वशे) वशमें (असत्) हो २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे मृन्मय पात्रमें यजमान दुग्धपान करे [७ । ४ । ३३] (ये) जो (मनोजाताः) दर्शन श्रवणादिइच्छारूप मनसे प्रादुर्भूत वा मनके प्रेरक (मनोयुजः) रूपादिके दर्शनकालमें मनसे युक्त (दक्षक्रतवः) कुशलसंकल्पवाले (देवाः) चक्षुरादि इन्द्रियरूप प्राण (ते) वे सब (नः) हमको (अवन्तु) यज्ञानुष्ठाके विघ्न दूरकर पालन करो (तेभ्यः) उन प्राणरूप देवताओंके निमित्त यह क्षीर (स्वाहा) सुन्दर आहुतिं हो ॥ ११ ॥

प्रमाण-"मनामहे इति याच्ञाकर्मसु पठितः"-[निघं० ३ । १९ । १६ ।] "वागेवाग्निः प्राणोदानौ मित्रावरुणौ चक्षुरादित्यः श्रोत्रं विश्वेदेवाः"-इति श्रुतेः [श० ३. २. २. १३] ॥ ११ ॥

उपदेश-इस मंत्रसे यहभी प्रगट है कि क्षीरपानसे बुद्धि बढती और इन्द्रिय बलवती होती हैं. ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मंत्र १ ।

श्वात्राः पीता भवत यूयमापोऽअस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः ॥ ताऽअस्मभ्यमयक्ष्माऽअनमीवाऽअनागसः स्वदन्तु देवीरमृताऽऋतावृधः ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐश्वात्रा इत्यस्याङ्गिरस ऋ० । जगती छं० । आपो देवताः । नाभिस्पर्शने वि० ॥ १२ ॥

विधि-इस मंत्रको पाठकर यजमान अपनी नाभिस्पर्श करे [का० ७ । ४ । ३९] मन्त्रार्थ-(आपः) हे दुग्धरूप जलो ! (यूयम्) तुम (पीताः) मुझसे पान किये हुए (श्वात्राः) शीघ्रही जीर्ण (भवत) हो जाओ । किञ्च (अस्माकम्) हम पीनेवालोंके (अन्तरुदरे) उदरके अन्तर (सुशेवाः) सुखकारी हों (ताः)उपरोक्त गुणवाले दुग्ध जल (अयक्ष्माः) प्रबल रोगराजरहित (अनमीवाः) सामान्यरोगके निवर्तक (अनागसः) क्षुत्पिपासादिदोषहारक वा रहित(ऋतावृधः) यज्ञवृद्धिके कारण (देवीः)प्रकाशमान(अमृताः)मरणके निवर्तक वा स्वयंमरणधर्म-रहित (अस्मभ्यम्) हमारे निमित्त उपकारको (स्वदन्तु) स्वादुत्वयुक्त हों॥१२॥

अथवा (ताः) वे (अमृताः) मरणधर्मरहित प्राणादि देवता (अपः स्वदन्तु) जलोंको स्वादुत्वयुक्त स्वीकार करै इत्यादि ॥ १२ ॥

प्रमाण-"खात्रमिति क्षिप्रनामसु अतनं भवति" इति यास्कः [निरु० २.३] "शेवमिति सुखनाम" [निघं० ३. ६. १७] ॥ १२ ॥

अभिप्राय-उपरोक्त मंत्रमें जल और दुग्धके गुण भी वर्णन किये हैं ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मंत्र ३ ।

इ॒यन्ते॑ य॒ज्ञिया॑ त॒नूर॒पो मु॑ञ्चामि॒ न प्र॒जाम् ॥ अ॒ꣳहो॒मुचः॒ स्वाहा॑कृताः पृथि॒वीमावि॑शत पृथि॒व्या सम्भ॑व ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इयंत इत्यस्याङ्गिरस ऋषयः । प्राजापत्या गायत्री छं० । यज्ञो देवता । कृष्णविषाणया मृत्खण्डलतृणकाष्ठाद्यन्यतमग्रहणे वि० । (२) ॐ अपोमुञ्चामीत्यस्याङ्गि० ऋ० । याजुषी छं० । यजमानो देवता । मूत्रकरणे पुरीषकरणे वा वि० । (३) ॐ पृथिव्या सम्भवेत्यस्याङ्गि० ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छं० । पृथिवी दे० । मूत्रोपरि मृत्तिकाद्यन्यतमप्रक्षेपणे वि० ॥ १३ ॥

विधि-(१) मूत्रकरनेके समय यजमान हिरनके काले सींगसे मट्टी वा कुछ तृण इस मंत्रको पाठकर ग्रहण करे [का० ७ । ४ । ३६] मंत्रार्थ-हे यज्ञपुरुष ! (इयम्) यह पृथ्वी (ते) तुम्हारा (यज्ञिया) यज्ञयोग्य (तनूः) देश है इसकारणसे यहां मूत्रअपहति दूरकरनेको मट्टीका ढेला वा तृण ग्रहण करता हूं अथवा हे पृथ्वी ! यह लोष्ठरूप तुम्हारा यज्ञीय शरीर ग्रहण करता हूं १ । विधि-(२) दूसरा मंत्र पाठकर मूत्रादित्याग करे [का० ७ । ४ । ३७] मन्त्रार्थ-मैं (अपः) मूत्रको (मुञ्चामि) त्यागन करता हूं (न) न कि (प्रजाम्) वीर्यको [कारण कि दुग्धपानकी विकृतिका जल ही त्यागयोग्य है न कि प्रजा उत्पत्तिका कारण वीर्य] हे मूत्ररूप जल ! (अंहोमुचः) अशुचिरूप तुम (स्वाहाकृताः) क्षीरपानकालमें स्वाहारूपसे स्वीकार किये हुए थे विकाररूप होकर अब (पृथिवीम्) हमारे शरीरसे पृथक् होकर पृथ्वीमें (आविशत) प्रवेश करो २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे दुर्गन्धि दूरकरनेको वह ग्रहण की हुई मृत्तिका वा तृण मूत्रपर डालदे [का० ७. ४, ३८] मंत्रार्थ-हे लोष्ठादि ! तुम (पृथिव्या) पृथिवीके साथ (सम्भव) एकीभावको प्राप्त हो ॥ १३ ॥

विशेष–परमात्माकी आज्ञा है कि जितनी वस्तु दुर्गन्धयुक्त हों उनको गर्त्तादिमें इस प्रकार निक्षेप करना चाहिये जिससे उनकी दुर्गन्धि न फैले रोगानिवृत्ति रहै ॥ १३ ॥

कण्डिका १४–मंत्र १ ।

अग्ने त्वᳬ सुजागृहि वयᳬ सुमन्दिषीमहि ॥ रक्षा णोऽअप्रयुच्छन्प्रबुधे नः पुनस्कृधि ॥ १४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अग्ने त्वमित्यस्याङ्गिरस ऋषयः । अनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वेद्यधः शयने वि० ॥ १४ ॥

विधि–(१) इस मंत्रको पढकर यजमान वेदीके अधोभागमें पूर्व दक्षिण कोनमें शयन करे [का० ७, ४, ३९] मन्त्रार्थ–(अग्ने) हे अग्नि ! (त्वं) तुम (सुजागृहि) सम्यक् निद्रारहित हूजिये (वयम्) हम (सुमन्दिषीमहि) सुखपूर्वक शयन करें (अप्रयुच्छन्) अप्रमादपूर्वक (नः) हमको (आरक्ष) चारों ओरसे रक्षा करो (नः) हमको (पुनः) फिर (प्रबुधे) प्रबोधके निमित्त(कृधि) युक्तकरो[सोनेपर अग्निरूप परमात्माकी प्रार्थना राक्षसोंके नाशकरनेके निमित्त है जैसा तैत्तिरीयमें है कि " अग्निमेवाधिपं कृत्वा स्वापाते रक्षसामपहत्यै" इति] ॥ १४ ॥

कण्डिका १५–मंत्र १ ।

पुनर्म्मनः पुनरायुर्म्मऽआगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा मऽआगन्पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रम्मऽआगन् ॥ वैश्वानरोऽअदब्धस्तनूपाऽअग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥ १५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ पुनर्मन इत्यस्याङ्गिरस ऋषयः । भुरिग्ब्राह्मी बृहती छं० । अग्निर्देवता । जाग्रता मंत्रजपे विनि० ॥ १५ ॥

विधि–(१) फिर जागकर यह मंत्रपाठ करै [का० ७ । ४ । ४०] मंत्रार्थ–(मे) मुझ यजमानका (मनः) मन (पुनः) सुषुप्तिकालमें विलीन होकर फिर शरीरमें (आगन्) प्राप्तहुआ (आयुः) स्वप्नमें मेरी आयु नष्टप्राय होकर (पुनः) अब फिर प्राप्त हुई (प्राणाः) वेही प्राण (पुनः) फिर (आगन्) प्राप्तहुए(मे) मेरी (आत्मा) जीवात्मा (पुनः) फिर प्राप्त हुई (चक्षुः) नेत्र इन्द्रिय (पुनः) फिर प्राप्त हुई (मे) मेरी (श्रोत्रम्) श्रोत्र इन्द्रिय (पुनः) फिर (आगन्) प्राप्त हुई (वैश्वानरः) सम्पूर्णपुरुषोंका उप–

कारक (अदृब्धः) किसीसे भी हिंसा न पानेवाला (तनूपाः) हमारे शरीरोंका पालक (अग्निः) अग्निदेव (अवद्यात्) कहनेके अयोग्य निन्दित (दुरितात्) पापसे (नः) हमको (पातु) रक्षा करे अथवा दुर्यशरूप पापसे रक्षाकरै ॥ १५ ॥

प्रमाण-"सर्वे ह वा एते स्वपतोऽपक्रामन्ति" इति श्रुतेः[श० ३।२।२।२३] ॥ १५ ॥

विवरण-सोतेमें सब इन्द्रिय अपने कारणमें लीन होजाती हैं उनके फिर यथास्थानमें प्राप्त करनेकी इच्छासे प्रार्थना करी है. अग्नि ही जीवन है. इस कारण अग्निसे प्रार्थना की है। इस मंत्रसे यह बात भी प्रतीत होती है कि जिस प्रकारसे मनुष्य जागकर फिर इन्द्रियोंको प्राप्त होता है. इसी प्रकार पुनर्जन्ममें प्राप्त होताहै अपनी रक्षाके निमित्त परमात्माकी प्रार्थना करनी चाहिये ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मन्त्र २।

त्वमग्ने व्रतपाऽअसि देवऽआमर्त्त्येष्वा ॥ त्वं यज्ञेष्वीड्यः ॥ रास्वेयत्सोमाभूयोभरदेवो नः सविता वसोर्दाता वस्वदात् ॥ १६ ॥ [६]

ऋष्यादि-(१) ॐ त्वमग्न इत्यस्य वत्स ऋषिः । भुरिगार्षी पंक्तिश्छं० । अग्नीषोमौ देवते । क्रोधशान्तये जपे वि० । (२) ॐ रास्वेयदित्यस्य वत्स ऋषिः । भुरिगार्षी छं० । सोमो देवता । अनुप्राप्तधनं स्पृष्ट्वा जपे वि० ॥ १६ ॥

विधि-यज्ञदीक्षित यजमान किसीकारणसे क्रुद्ध होजाय वा यज्ञविरुद्ध भाषण करै तब क्रोध शान्त होनेपर इस दोषके दूर करनेको प्रथम मंत्र जप करै [का० ७ । ५ । १-२] मंत्रार्थ-(अग्ने) हे प्रकाशात्मक अग्ने! (देवः) द्योतनात्मक (त्वम्) तुम (आमर्त्येषु) मनुष्यपर्यन्त सब प्राणियोंमें (व्रतपाः) यज्ञानुष्ठानके पालक (असि) हो (यज्ञेषु) यज्ञोंमें (आ) सबप्रकारसे (ईड्यः) स्तुतियोग्य हो वा याचना और पूजनयोग्य हो अथवा हे अग्ने! तुम देवताओंसे लेकर मनुष्योंतक व्रतपालक हो. १ । विधि-(२) अग्निमें हवनके निमित्त लाये उपस्थित सुवर्णखण्डको स्पर्श करके यह मंत्र पाठकरै [का० ७ । ५ । १६] मन्त्रार्थ-(सोम) हे सोम! (इयत्)इतना धन (रास्व) दीजिये (भूयः)फिरभी (आभर) धन दीजिये कारण कि (वसोः) धनके (दाता) देनेवाले (सविता) सविता (देवः) देवता (नः) हमको (वसु) धन (अदात्) प्रथम प्रदान करचुके हैं इसीकारण तुम भी वारंवार धन प्रदानकरो [ऋ० ५ । ८ । ३५] ॥ १६ ॥

कण्डिका १७—मन्त्र २ ।

एषातेशुक्रतनूरेतद्वर्चस्तयासम्भवभ्राजङ्गच्छ ॥ जूरसिधृतामनसाजुष्टाविष्णवे ॥ १७ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ एषात इत्यस्य वत्स ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । हिरण्याज्ये देवते । आज्ये दर्भेतृणबद्धाज्यक्षेपणे वि० । (२) ॐ जूरसीत्यस्य वत्स ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छंदः । वाग्देवता । आज्यहोमे वि० ॥ १७ ॥

विधि—(१) यज्ञशालाका द्वार रुद्ध करके ध्रुवामें स्थित घृतमेंसे जुहूको चार वार भरकर कुशाखण्डमें सुवर्णखण्डको बांधकर प्रथम मंत्रपाठपूर्वक अग्निमें निक्षेप करे [का० ७. ६. ७—८] मंत्रार्थ—(शुक्र) हे शुक्लवर्ण अग्ने ! (एषा) यह घृत (ते) तुम्हारा (तनूः) शरीर है (एतत्) इस घृतमें प्रक्षिप्यमाण सुवर्ण तुम्हारा (वर्चः) तेज है (तया) घृतरूप इस शरीरसे (सम्भव) एकीभावको प्राप्त हो तदनन्तर (भ्राजम्) सुवर्णमें प्राप्त कान्तिको(गच्छ)प्राप्त हो [इस मंत्रके पाठसे अग्निका तेजस्वी और घृतरूप शरीर कथन कियाहै "सतेजसमेवैनं सतनुं करोति" इति तैत्तिरीयश्रुतिः] अथवा हे शुक्र ! हे घृत ! यह सुवर्णलक्षणवाला तुम्हारा शरीर है यह तुम्हारी कान्ति है "समानजन्म वै पयश्च हिरण्यं चोभयं ह्यग्निरेतसम्" इति श्रुतेः [३ । २ । ४ । ९] इस हिरण्यलक्षणसे एकीभूत होकर भ्राज अर्थात् सोमको प्राप्त हो "सोमो वै भ्राड्" इति श्रुतेः [श० ३ । २ । ४ । ९] विधि—(२) फिर इस कण्डिकाके अवशिष्ट अंश और अग्रिम कण्डिकाका आदि अंशको मिलाकर पाठकर हवन करे [का० ७।६।९] मंत्रार्थ—हे वाक् वाणी ! तुम (जूः) वेगवान् (असि) हो अथवा प्राणधारण कराने वा जीवन देनेवाली (मनसा) मनद्वारा (धृता) धारणकीहुई (विष्णवे) यज्ञकार्य सिद्धिके निमित्त वा यज्ञपुरुषके निमित्त (जुष्टा) प्रीतियुक्त हो "यज्ञो वै विष्णुः" इति श्रुतेः २ ॥ १७ ॥

विवरण—यज्ञमण्डपमें प्रकाशरूपसे सुवर्ण व्यवहार होताहै ऐसा जानकर दस्यु-जन उत्पात न करें इस कारण द्वाररुद्धकी व्यवस्था की है. घृतकी आहुतिसे अग्निशिखा वढती है यह प्रत्यक्षसिद्ध है इस कारण घीको अग्निका शरीर कथन किया है ॥ अग्निका तेज सुवर्ण है यह तैत्तिरीयमें लेख है [३।२।४।८] ॥ १७ ॥

कण्डिका १८—मंत्र १ ।

तस्यास्तेसत्यसवसऽप्प्रसवेतन्न्वोयन्त्रमशीयस्वा

हा॥ शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐतस्यास्त इत्यस्य वत्स ऋषिः । सुराडार्षी बृहती छं० । वाक्यहिरण्ये देवते । वेद्यां तृणप्रक्षेपणे वि० ॥ १८ ॥

विधि-(१) अगले इस मंत्रसे कुशतृणबद्ध सुवर्णको जुहूमेंसे निकालकर वेदीके मध्यमें रक्खै [का० ७ । ६ । १०] मन्त्रार्थ-(तस्याः) उस (ते) तुम्हारी (सत्यसवसः) अभ्यर्थमयुक्त वाणीके (प्रसवे) अनुज्ञामें वर्तमानमें (तन्वाः) शरीरके (यन्त्रम्) नियमनकी दृढताको (अशीय) प्राप्तकरूं (स्वाहा) यह घृत सुन्दर आहुति हो.

हे सुवर्ण ! तुम (शुक्रम्) कान्तिमान् (असि) हो (चन्द्रम्) आनंदकरनेवाले हो (अमृतम्) विनाशरहित (असि) हो (वैश्वदेवम्) सब देवताओंके सम्बन्धी (असि) हो [सुवर्णदानसे देवता संतुष्ट होते हैं सुवर्ण अग्निमें डालनेसे भस्म नहीं होता इस कारण विनाशरहित कहा] ॥ १८ ॥

विशेष-प्रथम मंत्रका यह आशयभी झलकताहै कि हे परमात्मन् ! आपकी कृपासे मैं अनेक प्रकारकी दृढतायुक्त यंत्ररचनाको प्राप्त करूं ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मन्त्र १ ।

चिदसि मनासि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि यज्ञियास्यदितिरस्युभयतःशीर्ष्णी ॥ सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि मित्रस्त्वा पदि बध्नीताम्पूषाध्वनस्पात्विन्द्रायाध्यक्षाय ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐचिदसीत्यस्य वत्स ऋषिः । भुरिग्ब्राह्मी पंक्तिश्छन्दः । वाग्देवता । सोमक्रयणीगोस्तवने वि० ॥ १९ ॥

विधि-(१) उन्नीस और बीस कण्डिकासे सोमक्रयणी मन्त्रपूत करै (जिसके पलटेमें सोमलता क्रयकरनेका उपक्रम किया जाय उस गौको सोमक्रयणी कहते हैं वाग्रूप अध्यारोपकल्पना कर सोमक्रयणी गौकी स्तुति करते हैं) [का०७।६।१९] मन्त्रार्थ-हे वाग्देवतारूप सोमक्रयणी तुम (चित् असि) चित्तस्वरूपा हो (मनासि) तुम मनकी स्वरूपा हो (धीरसि) बुद्धिस्वरूपा हो (दक्षिणासि) दक्षिणारूप हो (क्षत्रियासि) सोमक्रय धनमें क्षत्रिया हो (यज्ञियासि) यज्ञसम्बन्धी होनेसे यज्ञके योग्य हो (अदितिः असि) अखण्डित अदीन देवमातारूप

हो (उभयतः) प्रायणीय उदयनीय दो (शीर्ष्णी) शिरवाली हो (सा) सो इसप्रकार चिदादिरूप तुम (नः) हमारे इस यज्ञमें (सुप्राची) पूर्वमुखी (सुप्रतीची) पश्चिममुखी (एधि) हो (मित्रः) सूर्य (पदि) दक्षिणपादमें (त्वा) तुझको (बध्नीताम्) बांधे तथा (पूषा) पूषादेवता सूर्य अथवा पूषा पृथ्वी (अध्यक्षाय) यज्ञके स्वामी (इन्द्राय) इन्द्र देवताकी प्रसन्नताके अर्थ तुमको (अध्वनः) मार्गमें (पातु) रक्षाकरो ॥ १९ ॥

प्रमाण–(१)"यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रोवरुणा सोमो रुद्रः" इति [बृहदा० माध्य० १ । २ । १३ काण्व० १ । ४ । ११] "अदितिरदीना देवमातेति यास्कः–" [निरु० नै० ४ । २२]

"द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये"इति यास्कोक्तेः[निरु० १३ ।७]"सयदेनया समानं सद्विपर्यासं वदति" इति श्रुतेः [श० ३ । २ । ४। १६] "सुप्राचीन एधि सोमं नोऽच्छेहीत्येवैतदाह सुप्रतीचीन एधि सोमेन नः सह पुनरेहीत्येवैतदाह " इति श्रुतेः । [श० १ । ३ । २ । ४ । १७] "इयं वै पृथ्वी पूषा" इति श्रुतेः [श० ३ । २ । ४ । १९] ॥ १९ ॥

विवरण–यह गौ वास्तविक सुवर्णका मूल्य नहीं है यह मूल्यका प्रतिभूमात्र है इस कारण यह सोमक्रयणी वाक्यमात्र ही जाने इससे इसको वाक्यदेवता वा वाङ्मय वा वाङ्मात्र कहा जाता है ॥ १ ॥

अन्तःकरण तीन प्रकार है चित्त मन बुद्धि इस स्थलमें इन तीनों वृत्तियोंसे सोमक्रयणी गौकी स्तुति होती है, अचेतनदेहादिसंघातमें चेतनता संपादन करनेवाली बाह्य वस्तुओंमें अथवा निर्विकल्परूप सामान्यज्ञानको उत्पन्न करनेवाली वृत्ति चित्त कहाती है अर्थात् किसी पदार्थको देखकर सबसे प्रथम हमने यह जो कुछ देखा है इस प्रकार जो चैतन्यज्ञान है यह चित्तका कार्य है कोई पदार्थ लोकमें देखकर यह ऐसा है वा नहीं ऐसी संकल्प विकल्पवाली वृत्ति मन कहलाती है यह इसी प्रकार है ऐसी निश्चयरूप वृत्ति बुद्धि वा धी कहलाती है जिस प्रकार इन हस्त पदादि दशइन्द्रियोंद्वारा वस्तुओंका बाह्यग्रहण सम्पादन होता है इसी प्रकार इन तीन वृत्ति (करण) द्वारा अन्तः ग्रहण संपादन होता है इसीकारण इसको अन्तः–करण कहते हैं ॥ २ ॥

बृहदारण्यमें लेख है कि इन्द्र वरुण सोम एवं चन्द्र यह चार देवता क्षत्रिय हैं सोमशब्दसे चन्द्र और सोमलता गृहीत है वेदमें सोमलता और चन्द्र देवता एकात्मस्वरूप सर्वत्र श्रुत हुए हैं सोमलता वा चन्द्रलता सोम वा चन्द्र यह दोनों-

ही क्षत्रिय हैं इस स्थलमें उनके पलटेकी प्रतिभूस्वरूप प्रदेय गौभी इसीके अनुसार क्षत्रिया है ॥ ३ ॥

द्विशीर्ष शब्दसे संवत्सरमें ज्योतिष्टोमादि सोमयाग लिया है यह याग दो भागमें विभक्त है पहले छः मासके मध्य आदि भागको प्रायणीय और दूसरे षण्मासमध्य शेषभागको उदयनीय कहते हैं यह प्रायणीय और उदयनीय दोनों काल इस यज्ञमें विशेष आदरणीय हैं इस कारण यह शीर्ष नामसे श्रुत हुए हैं इस कारण ऐसे यागको द्विशीर्ष कहते हैं तथा यज्ञस्वरूपमें स्तुतिको प्राप्त हुए हैं ॥ ४ ॥

प्रथम सोमक्रीत समय वेचनेवालेकी ओर प्राङ्मुखी पश्चात् यज्ञीय अन्यान्य ऋत्विग्जनोंके प्रति प्रत्यङ्मुखी ॥ ५ ॥

प्राचीन वैदिक कालमें गौके गले में रस्सी नहीं बांधते थे इसमें दोष मानकर चरणमें रज्जु बांधतेथे ॥ ६ ॥

रक्षा करे अर्थात् आलोक प्रदान करै ॥ ७ ॥ १९ ॥

कण्डिका २०—मन्त्र १ ।

अनु॑त्वामा॒ता म॑न्यता॒मनु॑ पि॒तानु॒ भ्राता॒ सग॑र्भ्यो॒ऽनु॒ सखा॒ सयू॑थ्यः ॥ सा दे॑वि दे॒वमच्छे॒हीन्द्रा॑य॒ सोम॑ᳪ रु॒द्रस्त्वाव॑र्त्तयतु स्व॒स्ति सोम॑सखा॒ पुन॒रेहि॑ २०[४]

ऋष्यादि—(१) ॐअनुत्वेत्यस्य वत्स ऋषिः । पूर्वार्धस्य साम्नी जगती छंदः । उत्तरार्धस्य भुरिगार्च्युष्णिक्छं० । वाग्गावौ देवते । सोमक्रयणीगोस्तवने वि० । ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—हे गौ!वा हे वाक् !सोमआहरणमें प्रवृत्त हुई(त्वा)तुमको(माता)तुम्हारी माता (अनुमन्यताम्) आज्ञादे (पिता) पिता (अनु) आज्ञादे (सगर्भ्यः) सहोदर (भ्राता) भाई (अनु) आज्ञा दें (सयूथ्यः) एक यूथ गोसमूहमें होनेवाले (सखा) मित्र (अनु) वत्सादि आज्ञा दे (देवि) हे दिव्यगुणयुक्त सोमक्रयणी ! (सा) सो तुम (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (सोमम्) सोमलता (देवम्) देवताको (अच्छेहि) प्राप्त करनेको गमन करो (रुद्रः) रुद्रदेवता (त्वा) सोमग्रहणकर स्थित हुई तुझको (वर्तयतु) हमारे प्रति निवृत्त करै अथवा रुद्र तुझको प्रवृत्त करै कारण कि पशु रुद्राज्ञा नहीं अतिक्रमण करते (सोमसखा) सोम देवके सख्यतायुक्त अर्थात् सोमसहित तुम (स्वस्ति) क्षेमपूर्वक (पुनः) फिर (एहि) हमारे यहां प्राप्त हो ॥ २० ॥

प्रमाण—" अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः " [निरु० नै०५।२८] ॥ २० ॥

कण्डिका २१–मन्त्र १ ।

वस्व्यस्यदि॑तिरस्यादि॒त्यासि॑रु॒द्रासि॑च॒न्द्रासि॑ ॥ बृह॒स्पति॑ष्ट्वासु॒म्ने र॑म्णातु रु॒द्रो वसु॑भि॒रा च॑के ॥ २१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ वस्वीत्यस्य वत्स ऋषिः । विराडार्षी बृहती छं० । वाग्गावौ देवते । सोमक्रयण्यनुगमने वि० ॥ २१ ॥

विधि–(१)सोमक्रयणीको उत्तरकी ओर गमन कराते उसके पीछे पीछे गमन करके यह स्तुतिकरै[का० ७ । ६ । १६]मंत्रार्थ–हे सोमक्रयणी! तुम (वस्वी) वसुदेवताकी शक्तिस्वरूप (असि) हो (अदितिः) देवमाता (असि) हो (आदित्या) द्वादशआदित्यरूप (असि) हो (रुद्रा) एकादशरुद्ररूपा (असि) हो (चन्द्रा) चन्द्ररूपा (असि) हो (बृहस्पतिः) बृहस्पतिदेवता (त्वा) तुमको (सुम्ने) सुखमें (रम्णातु) रमणकराओ (रुद्रः) रुद्रदेवता (वसुभिः) आठ वसुओंके सहित तुमको (आचके) रक्षाकरनेकी कामना करै ॥ २१ ॥

प्रमाण–"रम्णातिः संयमनकर्मा विसर्जनकर्मा वा"इति यास्कः [नै० १०,९] "आचक इति चकमान इति कान्तिकर्मसु पठितः" [निघं० २ । ६ । ११] अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, सूर्य, स्वर्ग, चन्द्र, नक्षत्र, यह आठ वसु हैं ॥२१॥

कण्डिका २२–मन्त्र ७ ।

अदि॑त्यास्त्वा मू॒र्द्धन्नाजि॑घर्म्मि देव॒यज॑ने पृथि॒व्याऽइडा॑यास्प॒दम॑सि घृ॒तव॒त्स्वाहा॑ ॥ अ॒स्मे र॑मस्वा॒स्मे ते॒ बन्धु॒स्त्वे रायो॒ मे रायो॒ मा व॒यꣳ रा॒यस्पोषे॑ण॒ वियौ॑ष्म॒ तोतो॒ रायः॑ ॥ २२ ॥

ऋष्यादि–(१)ॐ अदित्यास्त्वेत्यस्य वत्स ऋषिः । ब्राह्मी पंक्तिश्छन्दः । आज्यं देवतम् । सप्तमपदे आज्यहवने वि० ॥ (२) ॐ अस्मेरमस्वेत्यस्य व० ऋ० । ब्रा० पं० छं० । स्थानं दैवतम् । स्फ्येन रेखात्रयकरणे वि० । (३) ॐ अस्मेते बंधुरित्यस्य वत्स ऋ० । ब्रा० पं० छं० । पदं देवतम् । स्थाल्यां पदस्थमृत्क्षेपणे वि० । (४) ॐ त्वेराय इत्यस्य व०

ऋ० । ब्रा० पं० छं० । यज़मानो देव० । यजमानाय पदप्रदाने वि० । (५) ॐ मेराय इत्यस्य व० ऋ० । ब्रा० पं० छं० । यजमानो दे० । यजमानेन पदग्रहणे वि० । (६) ॐमावयमित्यस्य व० ऋ० । ब्रा० पं०छं अध्वर्युर्देव० । हृदयालंभने वि० । (७) ॐ तोत इत्यस्य व० ऋ० । ब्रा० पं० छं० । पत्नी दे० । यजमानेन पदे प्रदत्ते पत्न्या पाठकरणे वि० ॥२२॥

विधि-(१) सोमक्रयणीके पीछे षट् पद गमन करकै सातवां पग जहां पडै, अर्थात् सोमक्रयणीके खुरका चिह्न जहां हो वहां किंचित् हिरण्यखण्ड स्थापन करके उसके ऊपर प्रथम मंत्रसे घृतकी आहुति दे [का० ७ । ६ । १७ । १८] मन्त्रार्थ-(आदित्याः) अखण्डित (पृथिव्याः)पृथ्वीके(मूर्धन्)शिररूप (देवयजने) देवताओंके यज्ञयोग्यस्थानमें हे घृत ! (त्वा) तुमको (आजिघर्मि) क्षरण करताहूं हे स्थानविशेष ! तुम (इडायाः) गौके (पदमसि) चरणचिह्न हो उस पदको (घृतवत्) घृतयुक्त करनेको (स्वाहा) हवन करताहूं १ । विधि-(२)दूसरे मंत्रको पढ अध्वर्यु स्फ्यसे गौकी पदांकित भूमिमें तीन रेखाकरै [का०७।६।१९] मंत्रार्थ-हे सोमक्रयणीके पदचिह्न ! तुम (अस्मे) हममें (रमस्व)क्रीडाकरो २ । विधि-(३)तीसरे मंत्रसे लिखितभूमिकी मट्टी सुवर्णको हटाकर हाथसे थालीमें डालै [का०७ । ६ । २०] मंत्रार्थ-हे सोमक्रयणीपदचिह्न ! (ते) तुम्हारे (अस्मे) हम (बन्धुः)बन्धुरूप हैं ३ । विधि-(४) चौथे मंत्रसे गौके उठायेपदके स्थान पर जल डालकर पद यजमानको प्रदानकरे[का०७।६।२१] मन्त्रार्थ-हे यजमान ! (त्वे)तुममें(रायः)धन इस पदरूपसे स्थित हो अथवा "पशवो वै रायः" इति श्रुतेः [श० ३ । ३ । १ । ८] तुममें पशु स्थित हौं अथवा हे यजमान!यह तुम्हारा ऐश्वर्य है ४ । विधि-(५)पंचम मंत्र पढकर यजमान ग्रहण करै [का० ७ । ६।२२] मन्त्रार्थ- (मे) अवश्य यह हमारे (रायः) ऐश्वर्य हैं अथवा मुझ यजमानमें धन पदरूपसे स्थितहौं मेरे पशु हौं ५ । विधि-(६) छठा मंत्र पाठकर अध्वर्यु अपना हृदय स्पर्शकरै [का० ७ । ६ । २३] मंत्रार्थ-(वयम्) हम ऋत्विग्गण (रायः) धनकी (पोषेण) पुष्टिसे (मा) न (वियौष्म) वियुक्त हौं अर्थात् ऐश्वर्यसे वंचित न हौं ६। विधि-(७)अध्वर्यु यजमानसे मृत्पिण्डरूप पदको लेकर पत्नीको प्रदान करै और नेता (सहकारी अध्वर्यु) सप्तम मंत्र उसे पाठ करावै. मंत्रार्थ-(तोतः) कुलवधूमें (रायः) धन, वा पशु पदरूपसे स्थित हौं अथवा तुममें धन स्थित हौं ॥ २२ ॥

प्रमाण-"पृथिव्या ह्येष मूर्धा यद्देवयजनम्" इति तैत्तिरीयश्रुतिः ॥ २२ ॥

विवरण–जिस भूमिमें देवताओंकी प्रीतिसाधनके निमित्त पूजन यज्ञ किया-जाय उसे देवयजन कहते हैं १ ।

(१) मृत्के अन्तरमें प्रविष्ट वर्तुल त्रिकोण वा चतुरस्रादि प्रकार खननोपयोगी चिह्न ॥ २२ ॥

कण्डिका २३–मन्त्र १ ।

समक्ख्ये देव्याधियासन्दक्षिणयोरुचक्षसा ॥ माम्मऽआयुःप्प्रमोषीम्मोऽअहन्तवव्वीरंविदेयन्तव देविसन्दृशि ॥ २३ ॥ [३]

ऋष्यादि–(१) ॐसमख्य इत्यस्य वत्स ऋषिः । आस्तारपंक्तिश्छन्दः । वाग्देवता । यजमानतत्पत्न्योः परस्परसमंजने वि० ॥ २३ ॥

विधि–(१) अनन्तर सोमक्रयणीकी दृष्टिके सहित यजमान पत्नीकी दृष्टियोग करै, अर्थात् वे दोनो परस्पर अवलोकन करैं. उस समय यजमान पत्नीको यह आशीर्मंत्र पाठ करावे वा अध्वर्यु पाठ करावे. [का० ७ । ६ । २६]

मन्त्रार्थ–हे सोमक्रयणी ! (देव्या) प्रकाशमान (दक्षिणया) यज्ञीयप्रधान दक्षिणाके योग्य (उरुचक्षसा) विशालनेत्र वा विस्तीर्ण दर्शनवाली तुम (धिया) प्रकाशित बुद्धिसे (समख्ये) भली प्रकार हमको देखती हो वा तुम्हारी विशाल बुद्धिसे मैं देखीगई (मे) मेरी (आयुः) अवस्था (मा) मत (प्रमोषीः) खण्डितकर (तव) तेरी (आयुः) जीवन (अहम्) मैं (मा उ) नहीं खंडितकरतो हूं (देवि) हे मंत्रपूत दिव्य गो ! (तव) तेरे (सन्दृशि) सुन्दर दर्शनके फलसे (वीरम्) वलीपुत्रको (विदेय) प्राप्त करूं ॥ २३ ॥

विशेष–इस मंत्रसे यह बात प्रगट है कि विधिपूर्वक गौके पूजनसे पुत्रकी प्राप्ति होती है ॥ २३ ॥

कण्डिका २४–मंत्र १ ।

एषतेगायत्रोभागऽइतिमेसोमायब्रूतादेषतेत्रैष्टुभो भागऽइतिमेसोमायब्रूतादेषतेजागतोभागऽइति मेसोमायब्रूताच्छन्दोनामानाᳬंसाम्म्राज्ज्यङ्गच्छे

तिंमेसोमायब्रूताद्दास्म्माकोसिशुक्रस्तेग्ग्रह्योवि
चितस्त्वाविचिन्वन्तु ॥ २४ ॥

ऋष्यादि-(१-२-३) ॐ एष त इत्यस्य मन्त्रत्रयस्य वत्स० ऋ० । ब्राह्मी जगती छं० । लिङ्गोक्ता दे० । जपे वि० । (४) ॐआस्माकोऽसीत्यस्य वत्स ऋ० । याजुषी पंक्तिश्छं । सोमालंभने वि० ॥ २४ ॥

विधि-(१-२-३) यजमान अध्वर्युको लक्षकरके यह चार मंत्र पाठकरता क्रीत सोमको चार भाग करै [का० ७ । ७ । ८] मन्त्रार्थ-हे अध्वर्यु ! (सोमाय) सोमअधिष्ठात्रीदेवताके निमित्त (मे) मेरे (इति) इस प्रकारके वचन तुम (ब्रूतात्) निवेदन करो कि हे सोम ! (ते) तुम्हारा (एषः) यह आगे दृश्यमान (भागः) भाग (गायत्रः) गायत्रीसम्बन्धी है. गायत्री छन्दके निमित्त तुम्हारा क्रय है अन्य निमित्त नहीं १ । हे अध्वर्यु ! (ते) तुम्हारा (एषः) यह (भागः) भाग (त्रैष्टुभः) त्रिष्टुप्छन्दसम्बन्धी है (इति) इस प्रकार (मे) मेरे वचन (सोमाय) सोम देवतासे कहो २ । हे अध्वर्यु ! (एषः) यह (ते) तेरा (भागः) भाग (जागतः) जगतीछन्दसम्बन्धी है (इति) इस प्रकार (मे) मेरे वचन (सोमाय) सोमदेवतासे (ब्रूतात्) कहो हे अध्वर्यु (छन्दोनामानाम्) तुम उष्णिक्प्रभृतिसमस्तछन्दोंके (साम्राज्यम्) आधिपत्यको (गच्छ) प्राप्तहो (इति) इस प्रकार (मे) मेरे वचन (सोमाय) सोमके अर्थ (ब्रूतात्) कहो ३ । **विधि**-(४) फिर यजमान पूर्वमुख बैठकर इस मंत्रसे सोम आलभन (स्पर्श) करै [का० ७ । ७।९] हे सोम ! क्रयमार्गसे प्राप्त हुए तुम (आस्माकः) हमारे (असि) हो (शुक्रः) यह शुक्रसंज्ञक सब (ते) तुम्हारे (ग्रह्यः) ग्रहणयोग्य है (विचितः) यह सब महात्मा तुम्हारे सारासार जाननेमें समर्थ हैं (त्वा) तुझको (विचिन्वन्तु) सारासार विचार कर तुम्हारे सार भागको संचय करै ॥ २४ ॥

विशेष-जो सोमको छन्दोंका आधिपत्य देकर क्रयकरता है वह अपनोंके आधिपत्यको प्राप्त करता है । प्रमाण "यो वै सोमं राजानꣳ साम्राज्यलोकं गमयित्वा क्रीणाति गच्छति स्वानाꣳ साम्राज्यम्" इति [तैत्तिरीयश्रुतिः] गायत्र्यादिछन्दोंके लोक जहां रहते हैं वह छन्दलोक हैं वहां सोमका आधिपत्य है यह मंत्रसे प्रगट है गायत्रीसम्बन्धीका अर्थ यह कि आप अग्निदेवताके हव्य हो सामवेदके दैवत ब्राह्मणमें कहा है कि गायत्रीछन्दके मंत्र प्रायशः आग्निजन्य हैं, त्रिष्टुप् छन्द इन्द्रदेवताका हव्य है जगतीछन्दसे विश्वेदेवा देवताओंके हव्य हैं । उष्णि-

कुछन्दसे सविता देवताकी आराधना, अनुष्टुप्से सोम, बृहतीसे बृहस्पति, विराट् छन्दसे मित्रावरुणकी हव्य वा आराधना है। ग्रहशब्दसे सोमरसके आधारका पात्र है, इन पात्रोंका नाम शुक्र इन्द्रवायव अग्नीषोमीय इत्यादि हैं। सारासारका ज्ञान यह कि कौन वल्ली असार और कौन रससे पूर्ण है यह परीक्षाकर पात्रोंमें रक्षा करै॥ २४॥

कण्डिका २५-मंत्र ३।

अभित्त्यन्देवꣳसवितारमोण्योः कविक्क्रतुमर्च्चामिसत्त्यसवꣳरत्त्नधामभिप्प्रियम्मतिङ्कविम्॥ ऊर्द्ध्वा यस्यामतिर्ब्भाऽअदिद्युतत्सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्क्रतुः कृपास्वः॥ प्रजाब्भ्यस्त्वा प्प्रजास्त्वानुप्प्राणन्तु प्प्रजास्त्वमनुप्प्राणिहि॥ २५॥

ऋष्यादि-(१) ॐअभित्यमित्यस्य वत्स ऋषिः। विराट् ब्राह्मी जगती अथवा अष्टि छं०। सविता दे०। सोमराजमाने वि०। (२) ॐप्रजाभ्यस्त्वेत्यस्य वत्स ऋ०। निच्यूदार्षी गायत्री छन्दः। सविता देवता। उष्णीषेण ग्रन्थिबन्धने विनि०। (३) ॐप्रजास्त्वेत्यस्य व० ऋ०। यजुश्छं०। ग्रन्थिमध्येंगुल्यैकच्छिद्रकरणे वि०॥ २५॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रको दशवार पाठकरते २ मस्तककी पगडी उत्तरीय वा अन्य शुद्धवस्त्रको द्विगुण वा चतुर्गुणकरके (रस्सीकी समान अमैंठकर) उससे दश चुकटी सोम ग्रहणकरै [का० ७, ७, १२-१३] मंत्रार्थ-(तम्) उस (ओण्योः) द्यावापृथ्वीके मध्यमें वर्तमान (देवम्) दिव्यगुणयुक्त सर्वत्रंदीप्तिमान् (कविक्रतुम्) बुद्धिके प्रदानकरनेवाले क्रान्तकर्मा (सत्यसवम्) अप्रतिहतक्रिया वा सिद्धप्रेरणावाले (रत्नधाम) रमणीयरत्नोंके धारक पोषक वा दाता वा रत्नरूपब्रह्मविद्याके धाम (अभि प्रियम्) समस्त चराचरके प्रियतम (मतिम्) मननयोग्य अनुपमकल्पनाशक्तिसम्पन्न (कविम्) क्रान्तदर्शी वेदविद्याके उपदेष्टा (सवितारम्) सविता सूर्य देवता अर्थात् सबके उत्पादक परमात्माको (अभ्यर्चामि) सबप्रकारसे पूजन करताहूं (यस्य) जिसकी (आमितिः) अपरिमेय (भाः) दीप्ति (ऊर्ध्वा) गगनमण्डलमें सबके ऊपर विराजती है (सवीमनि) आकाशमण्डलमें अनन्त नक्षत्र-

मण्डल (अविद्युतत्) जिनकी दीप्तिसे दीप्तिमान् हैं अथवा जिसकी आत्मप्रकाशरूप भाति सर्वत्र विराजमान है जो सबको कर्मकी अनुज्ञा करता है (हिरण्यपाणिः) ज्योतिरूप हाथ वा प्रकाशमान व्यवहारवाले (सुक्रतुः) सिद्धसंकल्प तथा जिसकी (कृपाः) कृपासे (स्वः) स्वर्ग निर्मित हुआ है उस देवकी पूजा करता हूं १ । विधि—(२) दूसरे मंत्रसे उष्णीषके दोनो मुख मिला कर गांठ लगावै [का० ७, ७, १०] मन्त्रार्थ—हे सोम ! (प्रजाभ्यः) प्रजा तुमको देखकर सुखी होगी वा प्रजाके उपकारके निमित्त (त्वा) तुमको बांधताहूं २ । विधि—(३) तीसरे मंत्रसे गांठके मध्यमें अंगुलीदानपूर्वक एक छिद्र करै जिससे उष्णीषमें बद्ध सोमका श्वासरोध नहो [का० ७, ७, २२] मन्त्रार्थ—हे सोम ! (प्रजाः) प्रजा (त्वा) तुझको (अनुप्राणन्तु) श्वास लेतेहुए तुमको अनुसरण करकै जीवित रहैं तथा हे सोम ! (त्वम्) तुम (प्रजाः) श्वासलेती प्रजाको (अनु) अनुसरण करो (प्राणिहि) श्वास लो अर्थात् तुम्हारा और प्रजाका कभी श्वासरोध न हो ३ ॥ २५ ॥

प्रमाण—"ओण्योरिति द्यावापृथ्वीनामसु—" [निघं० ३ । ३० । १९]

विशेष—विवर इस कारण करते हैं कि वायु प्रवेश होता रहै वायुके प्रवेश विना शुष्क नष्ट होनेका भय है कपडा भग्न नहीं करै किन्तु उस ग्रन्थिको ही शिथिल करदे जिससे वायु आती जाती रहै ॥ २५ ॥

कण्डिका २६—मंत्र ३ ।

शुक्रन्त्वा शुक्रेण क्क्रीणामि चन्द्रञ्चन्द्रेणामृतममृतेन ॥ सुग्मे ते गोरस्मे ते चन्द्राणि तपसस्तनूरसि प्रजापतेर्वर्णः परमेण पशुना क्क्रीयसे सहस्रपोषम्पुषेयम् २६

ऋष्यादि—(१) ॐ शुक्रन्त्वेत्यस्य वत्स ऋ० । भुरिग्ब्राह्मी पंक्तिश्छं० । सोमो देवता । हिरण्यमालभ्य जपे वि० । (२) ॐ सग्मेत इत्यस्य वत्स ऋ० । भुरिग्ब्राह्मी पं० छं० । लिङ्गोक्ता देवता । हिरण्येन सोमविक्रयिणोऽभिकंपने वि० । (३) ॐ अस्मेत इत्यस्य व० ऋ० । भुरिग्ब्राह्मी पं० छं० । सोमविक्रयिणः पुरतो गोद्रव्यनिधाने वि० (४) ॐ तपजस्तनूरसीत्यस्य व० ऋ० । भुरि० छं० । अजा दैवता । प्राङ्मुख्यजालम्भने वि० ॥ २६ ॥

विधि—(१) जितने परिमित सुवर्णसे सोमक्रय करना स्थिर किया है वह सोममूल्य सुवर्णखण्ड तथा सोमपुञ्ज स्पर्श करकै प्रथम मंत्र पढै [का० ७।८।१६]

मन्त्रार्थ–हे सोम ! (चन्द्रम्) तुम आह्लाद करनेवाले (अमृतम्) स्वादुमें अमृतकी समान (शुक्रम्) दीप्तिमान् हो (त्वा) तुमको (शुक्रेण) दीप्तिमान् (अमृतेन) विनाशरहित (चन्द्रेण) आह्लादकारक सुवर्णसे (क्रीणामि) क्रय करताहूं १ । विधि–(२) दूसरे मंत्रसे यह सुवर्ण सोम बेचनेवालेको देकर उसे कंपित करे [का० ७ । ८ । १७] मन्त्रार्थ–हे सोमके बेचनेवाले!(गोः) सोमके मूल्यमें जो गौ तुझको दी थी वह (ते) तेरी गौ फिर लौटकर (सग्मे) यजमानके घरमें स्थित हो सुवर्ण तेरा हो न कि गौ २ । विधि–(३ (तीसरे मंत्रसे सोमविक्रेताको फिर सोममूल्यकी प्रतिभू एक गौ प्रदानकरै और दियेहुये सुवर्णको फेर ले [का०७ । ८ १९] मन्त्रार्थ–हे सोमविक्रेता ! (ते चन्द्राणि) तुमको जो सुवर्ण दिये हैं वे (अस्मे) हमारे पास आकर स्थित हों तुम्हारी गौही मूल्य हो सुवर्ण न हो ३ । विधि–(१४) चौथे मंत्रका प्रथमार्ध पाठकरते पश्चिमाभिमुख अजाके प्रति कहै और दूसरे आधेको पाठकरके सोमक्रेयको उत्तेजितकरै [का०७। ८ । २०.।] मन्त्रार्थ–हे अजे ! तुम (तपसः) पुण्यका (तनूः) शरीर हो तथा (प्रजापतेः) प्रजापतिका (वर्णः) देह (असि) हो इसकारण अतिशय स्तुतियोग्य हो [सोमके प्रति] हे सोम ! (परमेण) उत्तमलक्षणवाले इस अजारूपी (पशुना) पशुद्वारा तुम (क्रीयसे) क्रय किये जाते हो तुम्हारे प्रसादसे :(सहस्रपोषम् :) पुत्र पशु आदि सहस्रोंकी पुष्टि जिस प्रकार हो तैसे (पुषेयम्) मैं पुष्ट हूं वा पुष्ट करनेमें समर्थ हूं ४ ॥ २६ ॥

अथवा–हे अजे ! तुम प्रजापतिके शरीर हो कारण कि प्रजापतिसे उत्पन्न हुई हो प्रजापतिका रूप तुम हो त्रिगुण होनेसे कारण कि अजा प्रतिवर्ष तीनवार प्रसूत होती है इसमें प्रमाण "तपसो ह वा एषा प्रजापतेः सम्भूता यदजा" इति श्रुतेः [श० ३ । ३ । ३।८] "सा यत्त्रिः संवत्सरस्य जायते तेन प्रजापतेर्वर्णः" इति [श० ३ । ३ । ३ । ९] स्वर्गमें स्थित याज्ञिय पदार्थ :सोमके लेनेको अजाको लेकर गायत्री गईथी इस कारण अजाका पुण्य शरीर कहा ॥ २६ ॥

विशेष–हस्तमें सुवर्ण ग्रहण करकै कोई दस्यु छीन न ले इस भयसे हस्त कम्पित होताहै अथवा अप्राप्य वस्तुकी प्राप्तिसे प्रसन्नताके कारण हाथ कम्पित होताहै ॥ २६ ॥

इस मंत्रमें सुवर्ण सोमका मूल्य और उसका स्वाद अमृतमय कहाहै.इससे विदित है कि सोम बहु मूल्य और स्वादिष्ठ पदार्थ है तथा यज्ञकालमें बहुसुवर्णव्यय होता था. सोमका वर्णन भूमिकामें देखो ॥ २६ ॥

कण्डिका २७-मन्त्र १।

मित्रोनुऽएहिसुमित्रधुऽइन्द्रस्योरुमाविशदक्षिण मुशन्नुशन्त७स्योनःस्योनम् ॥ स्वानभ्राजा ङ्घारेबम्भारेहस्तसुहस्तकृशानवेतेवःसोमक्रयणा स्तान्द्रक्षध्वम्मावोदभन् ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐमित्रोन इत्यस्य वत्स ऋषिः । भुरिग्ब्राह्मीपंक्तिश्छन्दः। सोमो देव०। अजां दत्त्वा सोमग्रहणे वि०। (२) ॐउशन्नित्यस्य वत्स ऋ०। भुरि०छं० । सोमो दे० । दक्षिणोरौ वासोबद्धसोमनिधाने वि०। (३) ॐस्वानेत्यस्य वत्स ऋ० । भुरि०छं० । सोमरक्षका देवताः । सोमविक्रयाधिदेवताभूतगन्धर्वेभ्यः सोमनिवेदने वि० ॥ २७ ॥

विधि-(१) वाम हाथसे सोमविक्रेताको अजा प्रदानकरके प्रथम मंत्र पाठकरके दक्षिण हाथसे सोमग्रहण करै [का० ७।८।२१] मन्त्रार्थ-हे सोम! तुम (मित्रः) सखा प्रीतियुक्त बंधुरूप अथवा रविरूप (सुमित्रधः) साधुमित्रवर्गके पालक (नः) हमारे प्रति (एहि) आगमनकरो १। **विधि**-(२) अनन्तर अध्वर्यु यजमानकी दक्षिण ऊरुपर वस्त्र बिछाकर उसपर सोम स्थापन करै [का० ७ । ८ । २३] मन्त्रार्थ-हे सोम ! (उशन्) कान्तिमान् ऊरुकी इच्छा करनेवाले (स्योनः) सुखरूप तुम (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्यवान् इन्द्ररूप यजमानकी (उशन्तम्) सोमकी इच्छा करनेवाली(स्योनम्) सुखकारी (दक्षिणम्) दहिनी (ऊरुम्) जंघामें (आविश) स्थित हो अर्थात् तुम इसकी इच्छा करो तुम्हारा इस प्रकार यह सम्बन्ध परस्पर सुखकारी होगा २। **विधि**-(३) फिर सोम बेचनेवालेके ऊपर दृष्टिपात करके यह तीसरा मंत्र पाठ करै और गौआदि सोमके मूल्यको सोमविक्रयीके अधिदेवता भूतगन्धर्वोंको निवेदन करै [का० ७। ८। २४] मंत्रार्थ-(स्वान) शब्द उपदेश करनेवाले (भ्राज) प्रकाशमान (अङ्घारे) पापके शत्रु (बम्भारे) विश्वके पोषक वा विचारविरोधियोंके शत्रु (हस्त) सर्वदा प्रसन्न (सुहस्त) सुन्दर हाथवाले(कृशानो)दुर्बलके जिवानेवाले स्वानादि सोमरक्षक सात देवताविशेष (वः) तुम्हारे (एते) यह (सोमक्रयणाः) सोम क्रय करनेसे प्राप्त आगे स्थापित पदार्थ हैं (तान्) इनको (रक्षध्वम्) तुम रक्षा करो (वः) तुमको शत्रुगण (मा) न (दभन्) पीडा दें अर्थात् शत्रुओंकी बाधा हमको न हो हमारे पदार्थ अपहृत न हों ॥ २७ ॥

विवरण–सोमको बंधन करनेमे कदाचित् उसके अधिष्ठात्रीदेवता क्रोधकरै इस कारण बंधु कहकर स्तुति कीहै १ । देवताओंने सोमवल्ली क्रय करके इन्द्रकी दक्षिण ऊरुपर स्थापित कीथी इस कारण इस प्रसंगमें यजमानको भी इन्द्र कहा जाताहै [तैत्तिरीय] २ ॥ २७ ॥

प्रमाण–"वारुणो वै क्रीतः सोम उपनद्धो मित्रो न एहि सुमित्रध इत्याह शान्त्यै" [तैत्ति० १] "एप वा अत्रेन्द्रो भवति यद्यजमानः" इति श्रुतेः [श० ३ । ३ । ३ । १०] "देवा वै सोममक्रीणंस्तमिन्द्रस्योरौ दक्षिण आसादयन् स खलु वा एतर्हीन्द्रो यो यजते तस्मादेवमाह" इति [तित्तिरिः] । "स्वान भ्राजेत्याह ते चामुष्मिँल्लोके सोममरक्षन्" इति [तैत्तिरीयश्रुतिः] ॥ २७ ॥

कण्डिका २८–मन्त्र २।

परिमाग्ग्नेदुश्चरिताद्बाधस्वामासुचरितेभज ॥ उ दायुषास्वायुषोदस्थामृताँ२ऽअनु ॥ २८ ॥

ऋष्यादि–(१)ॐपरिमाग्न इत्यस्य वत्स ऋषिः । साम्नी बृहती छं० । अग्निर्देवता । उपविश्य जपे वि० । (२) ॐउदायुषेत्यस्य साम्नी उष्णिक् छं० । अग्निर्देवता । उत्थाय जपे वि० ॥ २८ ॥

अभिप्राय–पापसे निवृत्त होने और धर्ममें प्रवृत्त होनेको मनुष्योंको परमात्माकी प्रार्थना सत्यप्रेमसे करनी चाहिये वह सबका प्रेरक पापसे निवृत्तकर सुचरित्र कर देताहै सुचरित्रका उपदेश इस मंत्रमें है ॥ २८ ॥

विधि–(१) गृहीतसोम यजमान बैठाहुआही इस मंत्रका प्रथमार्द्धपाठ करै अनन्तर उठकर उत्तरार्द्धपाठ करै [का० ७ । ९।१ ।] मंत्रार्थ–(अग्ने) हे अग्निदेवता ! परमेश्वर ! (दुश्चरितात्) पापसे (मा) मुझे (परिबाधस्व) सब ओरसे निवारण करो मैं पापमें प्रवृत्त नहूं (सुचरिते) सदाचाररूप पुण्यमें (मा) मुझ यजमानको (आभज) सब प्रकारसे स्थापित करो १ । विधि–(२) दूसरे मंत्रसे उत्थान करै [का० ७ । ९ । ३] मंत्रार्थ–(उदायुषा) उत्कृष्ट चिरजीवनलक्षणवाले आयुसे तथा (स्वायुषा) याग दानादिद्वारा शोभन आयुसे (अमृतान्) सोमादि देवताओंको लक्ष्य करके (अनु) वा अनुसरण करके (उदस्थाम्) मैने उत्थान किया ॥ २८ ॥

कण्डिका २९–मंत्र १ ।

प्रतिपन्थामपद्महिस्वस्तिगामनेहसम् ॥ येन विश्श्वाऽपरिद्विषोवृणक्ति विन्दतेवसु ॥ २९ ॥ [४]

ऋष्यादि-(१) प्रतिपन्थामित्यस्य वत्स ऋषिः । निचृदार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । पथो दे० । शकटं लक्षीकृत्य गमने वि० ॥ २९ ॥

विधि-(१) सोमकी गांठको मस्तकके ऊपर रखकर दोनों हाथ शरीर और वस्त्रके मध्यमें वा पीठकी ओर करके यह मंत्र पढकर शकटको लक्ष्यकर गमन करै । **मंत्रार्थ**-(स्वस्तिगाम्) क्षेमसे गमनकरनेके योग्य (अनेहसम्) पापरूप चोरादिकी बाधासे रहित (पन्थाम्) मार्गको (प्रत्यपद्महि) प्राप्त होते हैं (येन) जिस मार्गसे गमन करनेसे पुरुष (विश्वाः) सम्पूर्ण (द्विषः) चोरादिको (परिवृणक्ति) सब प्रकारसे वर्जित करता है (वसु) धनको (विन्दते) प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

अभिप्राय-मनुष्योंको उचित है कि मार्गमें गमनकेलिये परमात्मासे प्रार्थना करैं जिससे निर्विघ्न प्राप्त हो. ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०-मंत्र २।

अदित्त्यास्त्वगुस्यदित्त्यैसदुऽआसीद ॥ अस्त्तभ्नाद्द्यांवृषुभोऽअन्तरिक्षुममिमीतवरिमाणम्पृथिव्याः ॥ आसीदुद्विश्वाभुवनानिसम्म्राड्विश्वेत्तानिवरुणस्यव्रुतानि ॥ ३० ॥

ऋष्यादि-(१)ॐअदित्यास्त्वगित्यस्य वत्स ऋ०।स्वराड् याजुषी त्रिष्टुप्छन्दः । कृष्णाजिनं दे० । कृष्णाजिनास्तरणे वि० । (२) ॐअदित्यै सद इत्यस्य वत्स ऋ० । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । सोमो दे० । ग्रन्थिबन्धने वि० । (३) ॐअस्तभ्नादित्यस्य व० ऋ० । स्वराड् ब्राह्मी० । वरुणो दे० । सोमालंभने वि० ॥ ३० ॥

विधि-(१)प्रथम मंत्रसे शकटके ऊपर मृगचर्म बिछावै [का०७।९।१]**मन्त्रार्थ**-हे कृष्णाजिन ! इस शकटमें तुम(अदित्याः)अखण्डित पृथ्वीके(त्वक्)त्वचारूप(असि) हो १ । **विधि** (२) दूसरे मंत्रसे इसके ऊपर सोमकी गांठ रक्खै [का० ७।९ १]**मन्त्रार्थ**-हे सोम ! तुम (अदित्यै) इस अदिति भूमिसम्बन्धी (सदः) स्थानमें (आसीद) सब प्रकारसे स्थित हो २ । **विधि**-(३) अनन्तर सोमको स्पर्श कर तीसरा मंत्र पाठ करै [का० ७ । ९ । ८] (वृषभः) श्रेष्ठ ब्रह्मरूप वरुण (द्याम्) द्युलोकको (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (अस्तभ्नात्)स्थितकरता हुआ जिस्से कि वह पतित न हो (पृथिव्याः) पृथिवीके(परिमाणम्) विस्तारको(अमि-

मीत) जान्ताहै इतनी भूमि है इस परिमाणको जान्ता है (सम्राट्) सम्यक् प्रकाशमान ब्रह्म (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) संसारमें (आसीदत) प्रविष्ट हुआ है (विश्वा) सम्पूर्ण (इत्) ही (वरुणस्य) वरुणदेवके (व्रतानि) कर्म हैं अर्थात् जगन्निर्माणादि कर्म वह सदा करता है ३ ॥ ३० ॥

अभिप्राय-वर्षा करनेवाले वृष्टिप्रभृति कारण तेजविशेषको वृषभ कहते हैं यही परमात्माकी शक्ति है वृषभ देवताने द्युलोकको स्तंभित किया है इस समय किसी प्रकारका वृष्टिपातादि उपद्रव नहो एवं अन्तरिक्षको स्तंभित करो जिससे इस समय स्खलनादि कोई उत्पात उपस्थित नहो, और पृथ्वीकी विस्तृतताको भी परिमित करो अर्थात् चारोंओर दृष्टि तीक्ष्ण विधान करो किसी ओरसे कोई शत्रु आक्रमण नकरै. समस्त भुवन इस समय शान्तभाव अवलम्बन करै सम्राट्त्वको प्राप्तहो, यह समस्तक्रिया वरुणदेवताके सन्तोपके निमित्त होती है वरुण दुःखको आवरण करते हैं सो आगे कहते हैं ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१-मन्त्र १ ।

वनेषु व्यन्तरिक्षन्ततान वाजमर्वत्सु पय उस्रियासु ॥ हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निं दिवि सूर्यमदधात्सोममद्रौ ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐवनेष्वित्यस्य वत्स ऋ० । विराडार्षी त्रिष्टुप्छ० । वरुणो देवता । कृष्णाजिनेन सहोष्णीषवस्त्रशेषबन्धने वि० ॥ ३१ ॥

विधि-(१) उष्णीष वस्त्रके शेषभागको कृष्णाजिनके सहित दृढबंधने पर यह मंत्र जप करै [का० ७ । ९ । ९] मन्त्रार्थ-(वरुणः) वरुण देवने (वनेषु) वनमें प्राप्त हुए वृक्षाग्रोंमें वा जलमें (अन्तरिक्षम्) आकाशको (विततान) विस्तार किया है. यद्यपि सर्वगत अन्तरिक्ष है तथापि मूर्तद्रव्यके अभावसे अत्यन्त विस्तारित किया है (अर्वत्सु) घोडोंमें (वाजम्) बलको विस्तार किया है अथवा "वीर्यं वै वाजः पुमाꣳसोऽर्वन्तः" इति श्रुतेः [श० ३।३।४।७।] पुरुषोंमें वीर्यको विस्तार किया है तथा (उस्रियासु) गौओंमें "उस्रियाशब्दो गोनामसु पठितः" [निघंटु २ । ११ । ३] (पयः) दुग्धका विस्तार किया है (हृत्सु) हृदयोंमें (क्रतुम्) संकल्पशक्तियुक्त मनको विस्तार कियाहै (विक्षु) प्रजाओंमें (अग्निम्) जाठराग्निको विस्तार किया है (दिवि) द्युलोकमें (सूर्यम्) सूर्यको (अद्रौ) पर्वतोंमें (सोमम्) वल्लीरूप सोमको स्थापित किया है ॥ ३१ ॥

प्रमाण–"सोममद्राविन्याह ग्रावाणो वा अद्रयस्तेषु वा एष सोमं निदधाति" इति श्रुतेः। पर्वत पाषाणसन्धिमें सोमवल्ली उत्पन्न होती है जिसमें इन दोनों मंत्रोंमें कहे द्युलोकादिके स्तंभनकी शक्ति है उस वरुणरूप परब्रह्मकी हम प्रार्थना करते हैं यह भाव है ॥ ३१ ॥

अभिप्राय–जिसने समुद्रमें जलराशि और उसके गर्भमें अन्तरिक्ष विस्तार किया है, पुरुषजातिमें वीर्य स्थापित किया है, स्त्रीजातिके स्तनोंमें दुग्ध संचार किया है प्राणीमात्रके हृदयमें संकल्प उत्थापित कियाहै जीवमात्रके हृदयमें जाठराग्नि उद्दीपित की है, द्युलोकमें सूर्य स्थापित किया है पर्वतशिखरमें पाषाणकी संधिमें सोमवल्लीकी उत्पत्तिका नियम किया है, वही हमारा उपास्य है उसीको हम नमस्कार करते हैं [ऋ० ४ । ४ । ३०] ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२–मन्त्र १ ।

सूर्य॑स्य॒चक्षु॒रारो॑हा॒ग्नेर॒क्ष्णः॑क॒नीन॑कम् ॥ यत्रै॒त॑शेभि॒रीय॑से॒भ्राज॑मानो॒विप॒श्चिता॑ ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐसूर्यस्येत्यस्य वत्स ऋषिः । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । कृष्णाजिनं दैवतम् । शकटस्योपरि युगसमीप एकतमकृष्णाजिनासञ्जने वि० ॥ ३२ ॥

विधि–(१) इस मंत्रसे अश्वयुक्त शकटके ऊपर सम्मुख भागमें उस कृष्णाजिन आच्छादित उष्णीष वस्त्रमें दृढबंधेहुए सोमको अच्छी प्रकार स्थापित करै, अथवा आसनके लिये जो दो मृगचर्म हैं उनमेंसे एकको शकटके पूर्वभागमें युगके समीप ऊंचे दंडमें लगावै, यदि आसनका एक ही मृगचर्म हो तो उसकी ग्रीवाकी ओरके भागको पृथक् कर शकटके पूर्वभागमें लगावै [का० ७ । ९ । ९]

मंत्रार्थ–हे अपने उदरमें सोम रखनेवाले कृष्णाजिन ! तुम (सूर्यस्य) सूर्यके (चक्षुः) नेत्रमें आरोहणकरो तथा (अग्नेः) अग्निके (अक्ष्णः) नेत्रकी (कनीनकम्) तारापर (आरोह) आरोहण करो अर्थात् सूर्य और अग्निके दृष्टिपथमें गमन करो (यत्र) जहां इन दोनोंके दर्शनमें वा प्रकाशमें (विपश्चिता) सर्वज्ञ सूर्य अग्निद्वारा (भ्राजमानः) प्रकाशित हुआ (एतशेभिः) अश्वोंके द्वारा (ईयसे) गमन करता है ॥ ३२ ॥

प्रमाण–"एष वास्य खलु रक्षोहणः पन्था योग्निश्च सूर्यश्च" इति [तित्तिरिः ।] सूर्य और अग्निकी दृष्टिका विषय होनेसे मार्गमें कुटिल पुरुष और राक्षसोंकी बाधा नहीं होती दिनमें सूर्य रात्रिमें अग्नि प्रकाश करती है १ । "एतश इत्यश्वनामसु पठितम्" [निघंटु १ । ४ । १०] ॥ ३२ ॥

भावार्थ—तात्पर्य यह है कि परमात्माकी प्रार्थना करके सोमको राजमार्गसे प्रकाशमें लाना चाहिये ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३—मन्त्र १।

उस्रावेतन्धूर्षाहौयुज्येथामनुश्श्रूऽअवीरहणौ ब्रह्मचोदनौ॥ स्वस्तियजमानस्यगृहान्गच्छतम् ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐउस्रावेतमित्यस्य वत्स ऋषिः । ऊर्ध्वबृहती छंदः । अनड्वाहौ देवते । अनडुद्योजने वि० ॥ ३३ ॥

विधि—(१)इस मंत्रसे सोमवाही दूसरे शकटमें दो वृषभ योजना करे [का०७।९९] मंत्रार्थ—(उस्रौ) हे अनड्वाहो ! (धूर्षाहौ) शकटधूरके धारण करनेमें समर्थ हो (अनश्रू) तुम शकटवहन क्लेशके कारण अश्रुपात न करना उत्साहसे रहना, (अवीरहणौ) सींगोंसे बालकोंको न मारनेवाले (ब्रह्मचोदनौ) ब्राह्मणोंको यज्ञमें प्रेरण करनेवाले (एतम्) इस शकटमें (युज्येथाम्) युक्त हूजिये (स्वस्ति) कल्याण वा मंगलपूर्वक (यजमानस्य) यजमानके (गृहान्) घरोंकूं (गच्छतम्) जाओ ॥ ३३ ॥

अर्थात्—तुमको शकटमें युक्त देखकर ऋत्विग्गण स्वस्थ होकर अपने २ कार्यविशेषमें मनोयोगी होंगे, अतएव तुम आकर सानन्द शकटमें युक्त हो तथा निरापद यजमानके घरमें उपस्थित हों ॥ ३३ ॥

विशेष—यद्यपि मूलमें दूसरे पदका उल्लेख नहीं है, किन्तु इससे पहले मंत्रमें दो अश्वोंका उल्लेख है, इस मंत्रमें दो वृषभोंका उल्लेख है इससे यही जानना कि दो शकट होते हैं यह बात २१ कण्डिकामें आगे प्रतीत होगी ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४—मन्त्र १।

भद्रोमेसिप्रच्च्यवस्वभुवस्पतेविश्श्वान्यभिधामानि॥मात्त्वापरिपरिणोविदन्मात्त्वापरिपन्थिनोविदन्मात्त्वावृकाऽअघायवोविदन् ॥ श्येनोभूत्त्वापरापतयजमानस्यगृहान्गच्छतन्नौसंस्कृतम् ॥ ३४॥

ऋष्यादि-(१) ॐभद्रोमेसीत्यस्य वत्स ऋ० । पूर्वस्य भुरिगार्षी गायत्री छं० । मात्वेत्यस्य भुरिगार्षी बृहती छं० । सोमो देवता। आलब्धसोमं यजमानं प्रति वाचने वि० ॥ ३४ ॥

विधि-(१) यह मंत्रपाठ कर यजमान शकट चालन करे [७ । ९ । १९].

मन्त्रार्थ-(मे) हे सोम ! तुम हमारे निमित्त (भद्रः) कल्याणरूप (आसि) हो (भुवः पते) हे भूमिके वा यजमान अध्वर्यु आदिके पालक ! (विश्वानि)सम्पूर्ण (धामानि) पत्नीशालाप्रभृति समस्त स्थानोंको (अभिप्रच्यवस्व) सम्यक्प्रकार गमन करो (त्वा) तुमको (परिपरिणः) सब ओर फिरनेवाले तस्कर (मा) न (विदन्) जाने तथा हमारे मार्गमें लेजाते तुमको (परिपन्थिनः) यज्ञद्रोही (मा विदन्) नजानें (अघायवः) दूसरेका घातकरनेवाले (वृकाः) भेडिये वा विकर्तनशील दुर्जन (त्वा) मार्गमें तुमको (मा विदन्) न प्राप्त हों (श्येनः)तथा श्येनकी समान वेगगामी होकर (परापत) द्रुत गमन कर (यजमानस्य) यजमानके (गृहान्) घरोंको (गच्छ) चलो (तत्) उन घरोंमें (नौ) हमारा तुम्हारा (संस्कृतम्)सब उपकरणसंयुक्त स्थान है तुम्हारे निमित्त संस्कृत स्थान है ॥ ३४ ॥

प्रमाण-"प्रच्यवस्व भुवस्पत इत्याह भूतानाᳪ ह्येष पतिः"इति[तित्तिरिः] ॥ ३४ ॥

विशेष-इतने विधानसे यज्ञसाधक सोमक्रय किया जाता था. इस प्रकार शुद्धिसे देवता भाग ग्रहण करतेथे, अब हवनादिमें व.जारसे घी बूरा, पूजाकी हीन सामग्री गली सडी लाकर देवताओंका प्रसन्न करना चाहते हैं, सो क्योंकर होसक्ते हैं. इस कारण देवताओंके निमित्त बहुत शुद्ध पदार्थ देने चाहियें ॥ ३४ ॥

सोमक्रयणी समाप्त।

कण्डिका ३५-मन्त्र १ ।

नमो॑ मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्य॒ चक्ष॑से म॒हो दे॒वाय॒ तदृ॒तᳪ स॑पर्यत ॥ दू॒रे॒दृशे॑ दे॒वजा॑ताय के॒तवे॑ दि॒वस्पु॒त्राय॒ सूर्या॑य शᳪसत ॥ ३५

ऋष्यादि-(१)ॐनम इत्यस्य वत्स ऋ० । निचृदार्षी जगती० । सूर्यो दे० । अग्नीषोमीयं कृष्णसारंगं लोहितसारंगं वालभ्य जपे वि० ॥ ३५ ॥

विधि-(१) प्रतिप्रस्थाता प्राचीनवंशा यज्ञशालाके सन्मुख जहां कि उत्तर वेदी प्रस्तुत होगी उस स्थानमें कृष्णसारंग उसके अभावमें लोहित मृग लेकर सोमागमनकी प्रतीक्षाकरे और सोमवाही दो शकटके उपस्थित होनेपर यह मृग(आल-

भन) लेकर यह मंत्रपाठ करे [का० ७ । ९ । २१–२२] मन्त्रार्थ–(मित्रस्य) दृश्यमान चराचरके एक मात्र मित्र (वरुणस्य) समस्त दुःखोंके आवरण करनेवाले अर्थात् वह मित्रवरुण देवतारूपसे वर्तमान जगत्के हितकारी किरणोंसे जगत्को आवरण करनेवाले देवताके (चक्षसे) सन्मुख तथा (महो देवाय) महा तेजरूप प्रकाशमान (दूरे दृशे) दूर वर्तमान प्राणियोंसे भी दीखनेवाले अथवा समस्त जगत्को दूरसेही देखनेवाले (देवजाताय) परब्रह्मसे उत्पन्न वा देवता जिनसे उत्पन्न हुए वा देवताओंपर अनुग्रह करनेको उत्पन्न हुए (केतवे) प्रज्ञारूप प्रज्ञानघन (दिवः पुत्राय) द्युलोकको पुत्रवत् प्रिय वा पुरुरक्षक वा द्युलोकके पालक अधिपति (सूर्याय) सूर्यदेवताके निमित्त (नमः) नमस्कार है (तत्) वह (ऋतम्) सत्य अवश्य फलप्रद ज्योतिष्टोमरूप कर्म है ऋत्विजो ! तुम (सपर्यत) अनुष्ठानसे सेवा करो सूर्यके निमित्त यज्ञ करो अथवा ऋत सूर्यरूप सत्यब्रह्मकी सेवाकरो (शंसत) सूर्यदेवताकी स्तुति करो शास्त्रोंको पढो कारण कि यज्ञानुष्ठानमें उनकी आवश्यकता होती है ॥ ३५ ॥

प्रमाण–"केतुरिति प्रज्ञानाम"–[निघं० ३ । ९ । १] "सपर्यतिः परिचरणकर्मा" [निघं० ३ । ५ । ३] ॥ ३५ ॥

विवरण–यज्ञशाला दो अंशमें विभक्त होती है प्राचीनवंशा और उदग्वंशा, उदग्वंशा इस समयतक निर्मित नहीं होती यह उत्तरवेदी निर्माणके उपरान्त निर्मित होती है ।

जिस प्रकार इस समय सन्मानार्थ तोपका शब्द करते हैं इस प्रकार सोमके सन्मान और आह्लादके कारण सोमागमनमें प्रथम मृग लेकर उपस्थित होते थे ।

स्तुतिमंत्र दोप्रकारके होतेहैं स्तोत्र और शस्त्र जो मंत्र सोमकार्यमें गाये जाते हैं वे स्तोत्र तथा गद्यपद्यमय स्तुतिको शस्त्र कहते हैं यह सूर्यरूपसे सोमकी प्रार्थना कीहै अध्यात्मपक्षमें परमात्माकी प्रार्थना है [ऋ० ७ । ८ । १२] ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६–मन्त्र ५ ।

वरुणस्योत्तम्भनमसि वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थो वरुणस्यऽऋतसदन्यसि वरुणस्यऽऋतसदनमसि वरुणस्यऽऋतसदनमासीद ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐवरुणस्येत्यस्य वत्स ऋ० । विराड्ब्राह्मी बृहती छं० । वरुणो देवता । विष्कम्भककाष्ठेनशकटप्रतिबन्धने त्रि० ।

(२) ॐवरुणस्येत्यस्य वत्स ऋषिः । विराड्ब्रा० छं० । वरुणो देव० । शम्याया वृषभमोचने वि० । (३) ॐवरुणस्येत्यस्य वत्स ऋ० । विरा० छं० । वरुणो देवता । आसंदीस्पर्शने वि० । (४) ॐवरुणस्येत्यस्य वत्स ऋ० । विरा० छं० । वरुणो देवता । आसन्द्यां मृगचर्मास्तरणे वि० । (५) ॐवरुणस्येत्यस्य वत्स ऋ० । विरा० छं० । वरुणो दे० । कृष्णाजिनोपरि वासोबद्धसोमस्थापने वि० ॥ ३६ ॥

विधि-(१) शालाके समीप शकटको पूर्वमुख खड़ा कर तिपाईसे बांधैं[का० ७।९।२५] मंत्रार्थ-हे काष्ठदण्ड ! तुम (वरुणस्य) वरुणदेवताके प्रीतिके निमित्त इस शकटमें (उत्तम्भनम्) उत्तम्भनरूपसे व्यवहृत होते हो अर्थात् वस्त्रबद्ध सोमके उन्नमन हो न कि शकटके १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे दोनों बैलोंको शम्यासे मुक्त करै [का० ७ । ९ । २६]मन्त्रार्थ-हे शम्ये ! तुम दोनो (वरुणस्य) वरुणकी (स्कम्भसर्जनी) रोधकारिणी (स्थः) हो अर्थात् तुमही शकटमें बैलोंको रुद्धकर वहनकराती हो [प्रथम वरुणसे यहांभी वस्त्रबद्ध सोम लेना वरुण देवताकी प्रीतिके निमित्त तुमको उन्मुक्त करताहूं २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे अध्वर्युआदि चारों ऋत्विज् गूलरकी लकड़ीसे बनीहुई नाभिप्रमाणवाले पायोंसे युक्त अरत्निपरिमित तथा दिव्य कार्पासतन्तुसे मण्डित मञ्चिकाको आसन्दी कहते हैं उसे सोम रखनेको शकटके समीप लावै और हाथसे स्पर्शकर रक्षाकरै [का० ७ । ९ । २७ । २८] मंत्रार्थ-हे आसन्दी ! तुम (वरुणस्य) वरुणदेवताकी वा सोमकी प्रीतिके निमित्त (ऋतसदनी) यज्ञकी मासिका स्थान हो इस सोमवल्लीकी पोटलीके रक्षाका आधार हो ३ । विधि-(४) चौथे मंत्रसे मंचिकापर मृगचम बिछावे [का० ७ । ९ । २९] मन्त्रार्थ-हे कृष्णाजिन ! तुम (वरुणस्य) बद्ध सोमके (ऋतसदनम्) यज्ञके निमित्त बैठनेका स्थान (आसि) हो अथवा वरुणदेवताके प्रीतिके निमित्त तुमको लायाहूं इस सोमवल्लीकी पोटके रखनेके निमित्त आसन्दीपर तुमको बिछाता हूं ४ । विधि-(५) पांचवें मंत्रसे मृगचर्मपर सोमवल्लीकी गांठको स्थापन करै [का० ७।९।३०] मंत्रार्थ-हे सोम ! तुम (वरुणस्य) वरुणदेवताके प्रीतिके निमित्त लाये गये हो इस (ऋतसदनम्) यज्ञके निमित्त उपवेशनस्थानरूप आसन्दी (चौकी पीढी) में स्थित मृगचर्मपर (आसीद) सुखसे स्थित हो ॥ ३६ ॥

विवरण-जुएके अन्तभागमें दो छिद्रकर उसमें दो कील जिनको लोकमें सैला

१ फैली कनिष्ठिकासे युक्त मुट्ठीसे उपलक्षित हाथ अरत्नि कहाताहै ।

कहते हैं उनको लगाकर जोत बांधदेनेसे बैल इधर उधर नहीं जासकते उन्हीं कीलोंको शम्या कहते हैं.

यह आसन्दी प्राचीनवंशा शालाके पूर्व उदग्वंशा शालाके स्थानमें रखकर उसके पहले प्रस्तुत किये उत्तर दक्षिणकी ओर दीर्घसोमिक वेदीके ऊपर रक्खाकरै इसके पूर्वही उत्तर वेदीके निर्माणका स्थान है; गूलरके काष्ठसे निर्मित "नाभि-परिमाणमें दीर्घ चारों दिशाओंमें अरत्निपरिमित प्रशस्त दीर्घकार्पासतन्तुओंसे मण्डित पीढीको आसन्दी कहते हैं" ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७–मन्त्र १।

यातेधामानिहविषायजन्तितातेविश्श्वापरिभूरस्तुयज्ञम् ॥ गयस्फानः प्प्रतरणः सुवीरोवीरहा प्प्रचरासोमदुर्य्यान् ॥ १० ॥ ॥ ३७ ॥ [८]

इति संहितापाठे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥ १० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यात इत्यस्य गोतम ऋ०। निचृदार्षी त्रिष्टुप्छं०। सोमो देवता। प्रवेश्यमानसोमप्रार्थने विनि० ॥ ३७ ॥

विधि–(१) सोमको स्थापित कर इस मंत्रसे प्रार्थना करै [का० ७।९।३२] मंत्रार्थ–(सोम) हे सोम! (ते) तुम्हारा (या) जो (धामानि) प्रातः सवनादिको प्राप्तकर (हविषा) तुम्हारे रसरूप हविसे (यज्ञम्) यज्ञ वा यज्ञपुरुष ब्रह्मको (यजन्ति) ऋत्विक् पूजन करते हैं (ते) तुम्हारे (ता) वे (विश्वा) सम्पूर्णस्थान (परिभूः) तुमसे व्याप्त (अस्तु) हों (गयस्फानः) गृहकी वृद्धि करनेवाले (प्रतरणः) यज्ञपारको प्राप्तकरानेवाले (सुवीरः) हम ऋत्विज वा यजमानके पुत्रपौत्रादिसे सम्पन्न तुम (अवीरहा) वीरपुरुषोंको पालनेवाले (दुर्यान्) यज्ञगृहोंको (प्राचर) प्राप्त हूजिये ॥ ३७ ॥

भावार्थ–हे सोम! ऋत्विग्गण तुमको लेकर जिस जिस स्थान पर जिस जिस समय यज्ञकार्य सम्पन्न करैं उसी उसी स्थानमें उसी उसी समय तुमको जिसप्रकार बहुतायतसे लाभकरसकें ऐसा करो हे सोम! तुम यजमानके गृहमें कल्याण वृद्धि करते हो तुम यजमानके परिवार तारनेको नौका हो तुम्हारे प्रसादसे यजमान पुत्रलाभ करै, तुम्हारी कृपासे शत्रु परास्त हों इस यज्ञगृहमें तुम प्रचारित हो [ऋ० १।६।२२] ॥ ३७ ॥

प्रमाण-"दुर्या इति गृहनाम" [निघं० ३ । ४ । ९] "गय इति गृहनाम" [निघं० ३ । ४ । १] ॥ ३७ ॥

विशेष-यज्ञप्रकरणमें यह मंत्र सोमस्तुतिपर है पृथक् ईश्वरस्तुतिपरत्व जानना इस चतुर्थ अध्यायमें वृष्टिसंपादन, शिल्प यज्ञानुष्ठान अग्नि वायु जलका वर्णन, पुनर्जन्म, ईश्वरकी प्रार्थना, पूजन वृद्धिकी प्राप्तिके उपाय सूर्यमहिमा क्रय विक्रयविधि मित्रता चोरदस्युआदिका निवारण, आलोकमें गमन सुवर्णव्यवहार मित्रताआदि शालाप्रवेशसे प्रारंभकर सोमक्रीत कर शालाप्रवेशपर्यन्त वर्णन किया है. पं० दयानंदने इस अध्यायकी भी सर्वथा सूत्र और यज्ञविधिके विरुद्धही व्याख्या की है इस कारण वह अमान्य है ॥ ३७ ॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदांतर्गतवाजसनेयिसंहितायां मंत्रभागे पण्डित-ज्वालाप्रसादमिश्र-कृतमिश्रभाषाभाष्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पंचमोऽध्यायः ५.

सोमनिर्वपण.

चौथे अध्यायमें ऋत्विजुसहित यजमानके शालाप्रवेशसे सोमक्रय करके शाला आगमनतकके मंत्र कहेहैं अब पंचम अध्यायमें आतिथ्येष्टि हविर्ग्रहणादिके मन्त्र कथन करते हैं ।

अग्नेस्तनू,-रापतयेचतुष्कौ, तप्तायनीद्वे, इन्द्रघोषस्तिस्रो, युञ्जतेष्टौ, देवस्यत्वाचतस्रो, देवस्यत्वापञ्च, विभूरसिचतस्रो, ज्योतिरसिषड्, उरुविष्णोतिस्रो, दशत्रिचत्वारिंशत् ॥

कण्डिका १-मन्त्र ५ ।

अ॒ग्नेस्त॒नूर॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा॒ सोम॑स्य त॒नूर॑सि॒ विष्ण॑वे त्वाति॑थेराति॒थ्यम॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा श्ये॒नाय॑ त्वा सोम॒भृते॒ विष्ण॑वे त्वा॒ग्नये॑ त्वा रायस्पोष॒दे विष्ण॑वे त्वा ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअग्नेस्तनूरित्याद्यस्य मंत्रपञ्चकस्य गोतम ऋ० । स्वराड् ब्राह्मीबृहती छं० । विष्णुर्देवता । हविर्ग्रहणे विनियोगः ॥ १ ॥

विधि–(१) इस कण्डिकामें पांच मंत्र हैं प्रति मंत्रको पांच पांच वार पाठ करके सोम (निर्वपण) खण्ड२करै.प्रतिपाठमें एक२खण्ड करै अर्थात् पच्चीस खण्ड करै [का० ८ । १ । ४] **मन्त्रार्थ**–हे सोम ! तुम (अग्नेः) अग्निके (तनूः) शरीर (असि) हो (विष्णवे) परमात्माकी प्रीतिके निमित्त(त्वा)तुमको खण्ड २ करताहूं १ । हे सोम ! तुम (सोमस्य) सोमनामक किसी देवराजाके भृत्य त्रिष्टुप्छन्दके अधिष्ठाताके तृप्तिकारण (तनूः) शरीर (असि) हो (त्वा) तुमको (विष्णवे)विष्णुदेवताकी प्रीतिके निमित्त खण्ड करता हूं २ । हे सोम!तुम (अतिथेः) यज्ञमण्डपमें आयेहुए अतिथिके(आतिथ्यम्) अतिथिसत्कारसे सन्तुष्ट करनेवाले हो अथवा अतिथिसंज्ञक सोमदेवराजके अनुचर जगतीछन्दके अधिष्ठाताका हे हवि ! तुम आतिथ्यनामक संस्काररूप हो (विष्णवे) विष्णुदेवताकी प्रीतिके अर्थ (त्वा) तुमको खण्ड २ करता हूं ३ । हे सोम ! (सोमभृते) सोमाहरण करनेवाले (श्येनाय) शत्रुके दमनकरनेको श्येनवत् उद्योगी मुझ यजमानकी कल्याणकामनाके निमित्त यज्ञाधिष्ठात्री (विष्णवे)विष्णुदेवताकी प्रसन्नताके अर्थ (त्वा) तुमको खण्डशः करता हूं अथवा सोमराजाका अनुचर श्येननाम देवता है जो श्येनरूप धारण कर स्वर्गसे सोम लाया उस गायत्रीके अधिष्ठात्री श्येनके तथा विष्णुके निमित्त सोमको निर्वपण करता हूं ४ । हे सोम ! (रायस्पोषदे) धनसम्बन्धी पुष्टि सम्पादन करनेवाले अथवा पुण्य धन क्रयविक्रयादिसे अनेक प्रकारकी पुष्टिकर अपने राजाको पुष्ट करनेवाले अग्निसंज्ञक सोमदेवके अनुचर अनुक्त छन्दके अधिष्ठातादेव (अग्नये) अग्निके निमित्त (त्वा) तुझको निर्वपण करता हूं (विष्णवे) यज्ञके अधिष्ठात्री विष्णु देवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझको निर्वपण करता हूं ५ ॥ १ ॥

अभिप्राय–विष्णुही सोमराजा हैं उनको हविसे और उनके अनुचर अग्नि आदि देवताओंकी उनके द्वारा उनके सम्बन्धी गायत्रीआदि छन्दोंसे तृप्ति होती है इसमें प्रमाण–"यावद्भिर्वै राजानुचरैरागच्छति सर्वेभ्यो वै तेभ्य आतिथ्यं क्रियते छन्दांसि खलु वै सोमस्य राज्ञोनुचराणि" इति–[तैत्तिरीय० ।] "सा यद्गायत्री श्येनीभूत्वा दिवः सोममाहरत्"–इति श्रुतेः [श० ३ । ४ । १ । १२] गायत्री श्येनरूपसे सोम लाई. प्रथम मंत्रमें गायत्रीछन्दके अधिष्ठात्री अग्निदेवताको सोमका अनुचर जानना चाहिये ॥ १ ॥

अग्निचयन ।

कण्डिका २–मन्त्र १ ।

अ॒ग्नेर्ज॒नित्र॑मसि॒ वृष॑णौ स्थऽउ॒र्वश्य॑स्या॒युर॑सि पु॒रूर॑वाऽअसि ॥ गा॒य॒त्रेण॑ त्वा॒ छन्द॑सा मन्थामि॒ त्रैष्टु॑भेन त्वा॒ छन्द॑सा मन्थामि॒ जाग॑तेन त्वा॒ छन्द॑सा मन्थामि ॥ २ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐअग्नेर्जनित्रमित्यस्य पञ्चममन्त्रपर्यन्तस्य गोतम ऋषिः। आर्षीगायत्री छन्दः । शकलादि दे० । प्रथमस्य (१) वेद्यां शकलस्थापने वि० । (२) तस्मिञ्छकले दर्भतृणनिधाने वि० । (३) कुशतृणयोरुपर्यधरारणिनिधाने वि० । (४) अधरारण्युपर्युत्तरारणिनिधाने वि० । (५) अधरारण्यभिमुख उत्तरारणिनिधाने वि० । (६–७–८) ॐगायत्रेत्युत्तरस्य षष्ठमारभ्याष्टममन्त्रपर्यंतस्य मन्त्रत्रयस्य गोतम ऋ० । आर्षी गायत्री त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । अरणिमन्थने वि० ॥ २ ॥

विधि–(१)यज्ञसम्बन्धी वृक्षके खण्डको लेकर वेदीपर उत्तराग्र रक्खै अथवा सोमवल्लीके किसी एक खण्डको प्रथम मंत्रसे वेदीके ऊपर ग्रहण करै[का०५।१।२९] मंत्रार्थ–हे खण्ड ! तुम (अग्नेः) अग्निके (जनित्रम्) उत्पत्तिकारण (असि) हो १ । विधि–(२) दूसरे मंत्रसे उस खण्डपर कुशतरुणको रक्खै [का० ५। १ । २९] मन्त्रार्थ–हे कुशाद्वय ! तुम (वृषणौ) सींचनेवाले अर्थात् अरणिकाष्ठमें अग्निजनन सामर्थ्यको देनेवाले (स्थः) हो २ । विधि–(३)तीसरे मंत्रसे इन दोनों कुशाओंपर अधरारणि स्थापन करै [का० ५ । १ । ३०] मंत्रार्थ–हे अधरारणि ! नीचेकी अरणी!अग्निकी उत्पत्तिके निमित्त हमने तुमको स्त्रीरूपमें कल्पना किया है आजसे तुम (उर्वशी) उर्वशी नामवाली(असि)हो ३। विधि–(४) चौथे मंत्रसे आज्यस्थालीसे उत्तरारणि स्पर्श करै [का० ५ । १।३१] मंत्रार्थ–हे स्थालीगत आज्य ! तुम (आयुः) दो अरणि से उत्पन्न अग्निकी आयु(असि) हो ४ । विधि–(५)पंचम मंत्रसे नीचेकी अरणीके ऊपर उत्तर अरणि स्थापन करै[का० ५ । १ । ३२] मन्त्रार्थ–हे उत्तर अरणि ! अग्निके उत्पन्न करनेको हम तुमको उत्तररूपमें कल्पना करते हैं इस कारण तुम (पुरूरवाः) पुरूरवा नामवाली (असि) हो ५ । विधि–(६–७–८) छठे सातवें और आठवें मंत्रसे

अरणीद्वयको मन्थन करके अग्नि प्रकाश करै [का० ९।२।२] मंत्रार्थ–हे अग्ने! (गायत्रेण) गायत्री (छन्दसा) छन्दके अधिष्ठाता अग्नि देवताके बलसे (त्वा) तुझको मन्थनसे प्रगट करता हूं (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रिष्टुप्छन्दके अधिष्ठाता इन्द्रदेवताके बलसे (त्वा) तुझको (मन्थामि) दोअरणीके मध्यसे मथन करता हूं हे अग्ने! (जागतेन छन्दसा) जगती छन्दके अधिष्ठाता विश्वेदेवा देवताके बलसे (त्वा) तुमको दोअरणी मध्यसे (मन्थामि) मथन करता हूं ६–७–८ ॥ २ ॥

प्रमाण–"उर्वशी वा अप्सराः पुरूरवाः पतिरथ यत्तस्मान्मिथुनादजायत तदायुः" इति–[श० ३।४।१।२२] ॥ २ ॥

विवरण–जिस काष्ठखण्डसे अग्नि मथी जाती है उसको अरणी कहते हैं इसमें प्रथम स्थापित अरणिको अधरारणि कहते हैं यही स्त्रीस्थानीय है, एवं इसके ऊपर स्थाप्यमान अरणिको उत्तरारणि कहते हैं यही पुरुषस्थानीय है इसी स्त्रीका नाम उर्वशी और इसी पुरुषका नाम पुरूरवा है इस प्रकार स्त्रीपुरुष संयोगके मन्थनद्वारा अग्नि उत्पत्तिक्रियाको अग्निचयन कहते हैं ॥ २ ॥

कण्डिका ३–मन्त्र १।

भवंतन्नुः समनसौ सचेतसावरेपसौ ॥ मायुज्ञꣳ हिꣳसिष्टुम्मायुज्ञपतिञ्जातवेदसौ शिवौ भवतमुद्य नः ॥३॥

ऋष्यादि–(१) ॐभवतन्न इत्यस्य गोतम ऋ०।आर्षी पंक्ति०। निर्मथ्याहवनीयावग्नी दे०। आहवनीये मन्थनोत्थाग्निप्रक्षेपणे वि० ॥ ३ ॥

विधि–(१) इस मंत्रसे मथित अग्निको आहवनीय अग्निके सहित युक्त करै [का० ९।२।३] मंत्रार्थ–(जातवेदसौ) हे दोनो अग्नि! (नः) हमारे कार्यसिद्धिके निमित्त (समनसौ) एकाग्रमन (सचेतसौ) समानचित्त (अरेपसौ) भ्रमप्रमादादिदोषशून्य अथवा हमपर पाप होनेसे भी कोप न करनेवाले (भवतम्) हूजिये (यज्ञम्) यज्ञको (माहिꣳसिष्ट) मतविनाश कीजिये (यज्ञपतिम्) यज्ञपति यजमानको (मा) मत क्षतग्रस्त होने दो (अद्य) अब (नः) हमको (शिवौ) कल्याणस्वरूप (भवतम्) हो ॥ ३ ॥

कण्डिका ४–मंत्र १।

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टऽऋषीणाम्पुत्रोऽअभिशस्तिपावा ॥ सनः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्यꣳ सदमप्प्रयुच्छन्त्स्वाहा ॥ ४ ॥ [४]

ऋष्यादि–(१) ॐअग्नावग्निरित्यस्य गौतम ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । प्रक्षिप्ताग्नेरुपर्याज्यहवने वि० ॥ ४ ॥

विधि–(१) आज्यस्थालीसे स्रुवद्वारा आज्य ग्रहण करके इस मंत्रसे अग्निमें आहुति प्रदान करै [का० ५ । २ । ६] मंत्रार्थ–(ऋषीणाम्) वेदविद् ऋत्विजऋषियोंके (पुत्रः) उत्पन्न कियेहुए ऋषिकुमार (वा) या (अभिशस्तिपा) वैकल्यनिमित्त अभिशापसे रक्षा करनेवाला वा दुष्टोंके आक्रमणसे रक्षक (अग्निः) मथित अग्नि (अग्नौ) आहवनीय अग्निमें (प्रविष्टः) प्रविष्ट हुआ (चरति) हविको भक्षण करता है हे अग्ने ! (सः) वह तुम (नः) हमको (स्योनः) सुखरूप होकर (सुजया) सुन्दर यागसे (इह) इस स्थानमें (सदम्) सदा (अप्रयुच्छन्) प्रमादरहित होकर (देवेभ्यः) इन्द्रादि देवतोंके निमित्त (हव्यम्) हवि (यज) उपस्थित करो (स्वाहा) तुम्हारे लिये घृतका श्रेष्ठ होम हो ॥ ४ ॥

कण्डिका ५–मंत्र २ ।

आपतये त्वा परिपतये गृह्णामि तनूनप्त्रे शाक्वराय शक्वन ओजिष्ठाय ॥ अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोजोऽनभिशस्त्यभिशस्तिपा अनभिशस्तेन्यमञ्जसा सत्यमुपगेषꣳ स्विते मा धाः ॥ ५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐआपतयेत्वेत्यस्य गोतम ऋ० । आर्ष्युष्णिक्छं० । वायुर्देवता । पात्रे द्विराज्यग्रहणे वि० । (२) ॐअनाधृष्टमित्यस्य गोतम ऋषिः । भुरिगार्षी पंक्तिश्छन्दः । आज्यं दैवतम् । वेदिश्रोणिस्थाज्यपात्रस्पर्शे वि० ॥ ५ ॥

विधि–(१) व्रतप्रदान नाम पात्रमें स्रुवद्वारा इस मंत्रको पढकर दोवार आज्यग्रहण करै [का० ८ । १ । १९–२०]मंत्रार्थ–हे आज्य ! (त्वा) तुमको (परिपतये) सर्वज्ञ (तनूनप्त्रे) सब जगतके विस्तार करनेवाले आत्माके पौत्र (शाक्वराय) आकाशके पुत्र (शक्वने) सब कर्मोंमें समर्थ (ओजिष्ठाय)बलवान् (आपतये) सदागतिवायुदेवताके निमित्त(गृह्णामि)ग्रहण करताहूं अथवा हे आज्य! (त्वा)तुझको(आपतये)प्राणदेवताकी प्रीतिके निमित्त "प्राणो वा आपतिः प्राणमेव प्रीणाति" इति[तैत्तिरिः](परिपतये)इष्टप्राप्ति अनिष्टका निवारण चिन्तन कर सब ओरसे रक्षक मनकी प्रीतिके निमित्त तुझे ग्रहण करता हूं "मनो वै परिपतिर्मन एव प्रीणाति"

[तैत्तिरीयः] (तनूनप्त्रे) शरीरके पात न करनेवाली जठराग्निकी प्रीतिके निमित्त (शाक्कराय) शक्तिस्वरूपदेवताके निमित्त (शक्मने) शक्तिमान् पुरुषके सारके निमित्त तुझे ग्रहण करताहूं १। विधि—(२) वेदीकी दक्षिणश्रोणीपर आज्यपात्र रखकर ऋत्विग्गण और यजमान सब मिलकर पात्रस्पर्शपूर्वक यह मंत्र उच्चारण करैं [का० ८। १। २४–२६] मंत्रार्थ—हे आज्य! तुम (अनाधृष्टम्) आजतक किसीसे तिरस्कार न पानेवाले (अनाधृष्यम्) आगे भी किसीसे तिरस्कार न पानेवाले हो आजपर्यन्त सबही तुमको पूज्य जान्ते हैं कारण कि तुमही पूजाके उपयुक्त हो तुम (देवानाम्) देवताओंके (ओजः) सारपदार्थ (अनभिशस्ति) तुम स्वयं अनिन्दनीय (अभिशस्तिपम्) हमको निन्दित कार्यसे रक्षा करनेवाले (असि) हो कारण कि घृतसे हविके सुस्वादित होनेपर कोई निन्दा नहीं करसक्ता इस कारण हे आज्य! (आअञ्जसा) ऋजु सीधे मार्गसे (अनभिशस्त्येनम्) अनिन्दित मोक्षके प्राप्तकरानेवाले हो (सत्यम्) आज हम सरल अन्तःकरणसे तुमको स्पर्शकर शपथपूर्वक (उपगेषम्) यज्ञ अनुष्ठानका भार ग्रहण करते हैं हे आज्य! अब (स्विते) शोभनमार्गवाले यज्ञकर्ममें (मा) मुझे (धाः) स्थापन कर अर्थात् हमको उत्कृष्ट मार्ग दिखा जिस मार्गसे आपत्तिरहित हो हम निरापद यज्ञानुष्ठान करसकैं ॥ ९ ॥

प्रमाण—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत आकाशाद्वायुः"—इति [तैत्तिरीयारण्यक ८, १] परमात्मासे आकाश आकाशसे वायु उत्पन्न हुई इस कारण पहले मंत्रमें वायुको आत्माका पोता आकाशका पुत्र कहा है।

पहले मन्त्रका भावार्थ—हे आज्य! तुमको सदागति (वायु) देवताके उद्देशसे बहुव्याप्त प्रवाहशाली (जल) देवताके उद्देशसे शरीररक्षणकारी (अग्नि) देवताके उद्देशसे सर्वव्यापी (आकाश) के उद्देशसे हमारे आधारभूत (भूमि) देवताके उद्देशसे एवं इस सबमें अधिष्ठित ओजिष्ठ (आत्मा) देवताके उद्देशसे इस पात्रमें ग्रहण करते हैं ॥ ९ ॥

विवरण—जिस पात्रमें आज्य ग्रहणकर ऋत्विग्जन व्रतकार्य सत्यबद्ध होकर अनुष्ठान आरंभ करते हैं उस पात्रको व्रतदानपात्र कहते हैं ओज शरीरकी अष्टम धातु है यही शरीरका सार है इसको ही बल कहते हैं यही ओज जिसके ठीक है उसीको ओजिष्ठ कहते हैं.

१ वेदीके आग्नेय और ईशानकोणका अंश स्कन्धदेश है एवं वायव्य और नैर्ऋत्यकोणका अंश श्रोणिभाग कहा जाता है इसप्रकार इसी स्थलमें वेदीकी दक्षिण-श्रोणी कहनेसे वेदीका नैर्ऋत्यकोण जानना।

कण्डिका६-मन्त्र १ ।

अग्ग्नेंव्व्रतपास्त्त्वेव्व्रतपायातवंतनूरियꣳसामयियो ममंतनूरेषासात्त्वयिं ॥ सहनौव्व्रतपतेव्व्रताग्न्यनुमे दीक्षान्दीक्षापतिर्म्मन्न्यंतामनुतपस्तपस्प्पतिः ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअग्न इत्यस्य गोतम ऋ०। विराड्ब्राह्मीपंक्तिश्छं०। अग्निर्देव०। आहवनीयगार्हपत्ययोः समिदाधाने वि० ॥ ६ ॥

विधि-(१) यजमान आहवनीय अग्निमें एक समिधा प्रदानकर इस मंत्रसे दीक्षानुमति प्रदान करै [का० ८ । २ । ४] मन्त्रार्थ-हे (व्रतपाः) ज्योतिष्टोमादि व्रतके पालक (अग्ने) हे अग्निदेवता ! (त्वे) तुम (व्रतपाः) हमारे व्रतके पालक हूजिये (तव) इस प्रकारके व्रतपालक तुम्हारा (या) जो (तनूः) शरीर है (सा) वह (इयम्) यह शरीर (मयि) मुझमें प्राप्त हो (या) जो (मम) मेरा (तनूः) शरीर है (सा) सो (एषा) यह (त्वयि) तुममें हो (व्रतपते) हे व्रतपालक ! व्रतानुष्ठान कर्म (नौ) हम अग्नि और यजमानके (सह) संग प्रवृत्त हों (दीक्षापतिः) दीक्षाके पालक सोम ! (मे) मेरी (दीक्षाम्) दीक्षाको (अनुमन्यताम्) माने तथा (तपस्पतिः) उपसद्रूप तपके पति सोमदेवता (तपः) मेरे उपसद्रूप तपको (अनु) माने ॥ ६ ॥

विवरण-(१) ज्योतिष्टोमादि यज्ञका प्रथम कार्य दीक्षा है यह सोमकी दीक्षा होकर ही पीछे समस्त कार्य होते हैं इस कारण इस मंत्रमें दीक्षाकी प्रार्थना होकर फिर सोमाप्यायन सोमकंडन आदि अनुष्ठान होता है.

(२) सोमयागमें किसी विशेष अग्निको उपसद् कहते हैं इसीकी उपासना उपसदतपस्या है सो आगे विदित होगा ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मन्त्र २ ।

अꣳशुरꣳशुष्टेदेवसोमाप्प्यायतामिन्द्रायैकधनविदे॥आतुब्भ्यमिन्द्रःप्प्यायतामात्त्वमिन्द्रायप्प्यायस्व ॥ आप्प्याययास्म्मान्त्सखीन्त्सन्न्यामेधया स्वस्तितेदेवसोमसुत्त्यामशीय ॥ एष्टारायःप्प्रेषे भगायऽऋतमृतवादिब्भ्यो नमोद्यावापृथिवीब्भ्याम् ॥ ७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अꣳशुरꣳशुष्ट इत्यस्य गोतम ऋ० । आर्षी बृहती छं० । सोमो दे० । सोमाप्यायने वि० । (२) ॐ एष्टराय इति वत्स ऋषिः । आर्षी जगती० । लिंगोक्ता देवता । सोमपरिचरणे वि० ॥ ७ ॥

विधि–(१) ब्रह्मा उद्गाता होता अध्वर्यु अग्नीध्र यह पांचौ ऋत्विक् और छठा यजमान यह इस मंत्रको पढकर सोमको आप्यायन करैं, अर्थात् शुष्कसोमवल्लीको जलसेकादिद्वारा सजीव प्राप्त करैं [का० ८ । २ । ६] [प्रकृति ८४ अक्षर] **मन्त्रार्थ**–हे (देव सोम) हे सोमदेवता ! (ते) तुम्हारे (अंशुः) सम्पूर्ण अवयव (अꣳशुः) गांठ (एकधनविदे) एक सोमरूपी मुख्य धन प्राप्त करनेवाले अथवा सोम पर जिन घडोंसे जल छिडका जाता है वह एकधन सोमवृद्धिके निमित्त जलकुंभ लाये गये हैं इसके जाननेवाले (इन्द्राय) इन्द्रदेवताकी प्रीतिके निमित्त(आप्यायताम्) वृद्धिको प्राप्त हो हे सोम (तुभ्यम्) तुम्हारे पानकरनेसे (इन्द्रः) इन्द्र (आप्यायताम्) वृद्धिको प्राप्त हो (त्वम्) तुम (इन्द्राय) इन्द्रके पानके निमित्त (आप्यायस्व) सव प्रकारसे वृद्धिको प्राप्तहो"उभावेवेन्द्रश्च सोमं चाप्यायति"इति [तैत्ति०] (सखीन्) हे सोम ! सखाकी समान प्रीतिके विषय (अस्मान्) हम ऋत्विजोंको (सन्या) धनदान (मेधया) बुद्धिशक्तिद्वारा (आप्यायस्व) वृद्धिको प्राप्तकर (सोमदेव) हे दिव्यगुणयुक्त सोम ! (ते) तुम्हारे निमित्त (स्वस्ति) कल्याण हो तुम्हारे प्रसादसे मैं (सुत्याम्) सोमाभिषवक्रियाकी समाप्तिको (अशीय) प्राप्तकरूं १ । **विधि**–(२) फिर यह सकल ऋत्विग्गण अपने २ वामें हाथको पत्थरके ऊपर चित्त हाथ करके निह्नवन (एक प्रकारकी वस्तुको अन्य प्रकार विकृत) कर परिचर्या करैं [का० ८ । २ । ९]**मन्त्रार्थ**–हे सोम!(एष्टाः) हमारे अपेक्षित (रायः) धन (प्रेषे) प्रेष्यमाण [जिसे तुम अवश्यही प्रेरण करो] (भगाय) ऐश्वर्यके निमित्त अथवा अन्न और ऐश्वर्यके निमित्त हमको प्राप्त करो अर्थात् ऐश्वर्य्यादि हमको प्राप्त हो (ऋतवादिभ्यः) अग्निहोत्रियोंको अथवा सत्य बोलनेवाले हमारा (ऋतम्) अवश्यभावियुक्त कर्म सम्पादन करो (द्यावापृथिवीभ्याम्) द्यावापृथ्वीके अभिमानी देवताओंको (नमः) नमस्कार हो हमारी विघ्नरहित कार्यकी प्राप्ति हो "द्यावापृथिव्यामेव नमस्कृत्यास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठति" इति [तैत्तिरीयः] ॥ ७ ॥

भावार्थ–प्रेष्यमाण ऐश्वर्यसे प्रादुर्भूत अभीप्सित सम्पत्ति हमको प्राप्त हो हम इस समय सत्यवादी हैं इस कारण हमारी यह प्रार्थना अवश्य ही सत्य होगी द्युलोकसे भूलोकपर्यन्त सबको नमस्कार है ॥ ७ ॥

प्रमाण–"यद्देवस्य शुष्यति यन्म्लायते तदेवास्यै तेनाप्यायति" इति श्रुतेः [तैत्तिरी०] ॥ ७ ॥

विशेष-उलूखलमें मूसलद्वारा सोम कूटने अथवा हाथसे मलने और उस पर जल डालने आदि क्रियाओंको सोमाभिषव कहते हैं नमस्कार करनेसे लोकमें प्रतिष्ठा होती है ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मंत्र ३ ।

याते॑ऽअग्नेऽयःश॒या त॒नूर्वर्षि॑ष्ठा गह्वरे॒ष्ठा ॥ उ॒ग्रं वचो॒ऽअपा॑वधीत्त्वे॒षं वचो॒ऽअपा॑वधी॒त्स्वाहा॑ ॥ या ते॑ऽअग्ने रजःश॒या त॒नूर्वर्षि॑ष्ठा गह्वरे॒ष्ठा ॥ उ॒ग्रं वचो॒ऽअपा॑वधीत्त्वे॒षं वचो॒ऽअपा॑वधी॒त्स्वाहा॑ ॥ या ते॑ऽअग्ने हरिश॒या त॒नूर्वर्षि॑ष्ठा गह्वरे॒ष्ठा ॥ उ॒ग्रं वचो॒ऽअपा॑वधीत्त्वे॒षं वचो॒ऽअपा॑वधी॒त्स्वाहा॑ ॥८॥[४]

ऋष्यादि-(१) ॐयात इत्यस्य गोतम ऋ० । विराडार्षी बृहती छं० । अग्निर्देवता । परिध्याधानात्पूर्वमुपसदहवने वि० । (२-३) ॐयात इति द्वितीयतृतीययोर्वत्स ऋषिः । निच्यृदार्षी बृहती छं० । अग्निर्दे० । द्वितीयतृतीयदिनयोर्द्वितीयतृतीयोपसदहवने वि० ॥ ८ ॥

विधि-(१)जुहूआदिमें प्रस्तरको लगाकर परिधिपर स्थापनपूर्वक स्रुवासे उपसद् अग्निमें हवन करे पहले दूसरे और तीसरे दिन उपसद देवताकी प्रीतिके निमित्त तीन आहुति दे [का० ८ । २ । ३९] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे उपसदनाम अग्ने!(या) जो (ते) तुम्हारा (तनूः) शरीर (अयःशया) लोहमय पुरमें निवासकारी है तथा (वर्षिष्ठा) देवताओंको अभिमत फलका वर्षानेवाला तथा (गह्वरेष्ठा) असुरोंके विषम देशमें स्थित रहनेवाला है (उग्रंवचः) वह तुम्हारा शरीर दैत्योंकी उग्र वाणीको (अपावधीत्) नाशकारी है (त्वेषम्) असुरोंके कहे देवताओंपर आक्षेपरूप (वचः) प्रदीप्त वाक्यको (अपावधीत्) नष्ट करता हुआ (स्वाहा) इस प्रकारके उपकार करनेवाले तुम अग्निके निमित्त श्रेष्ठ होम हो. १ ।

विधि-(२) दूसरे दिनका दूसरा मंत्र [का० ८ । २ । ३८] (अग्ने) हे अग्निदेवता ! (या) जो (ते) तुम्हारा (रजःशया) रजत पुरमें वास करनेवाला (तनूः) शरीर है जो कि (वर्षिष्ठाः) देवताओंको अभिमत फलका वर्षानेवाला (गह्वरेष्ठा) असुरोंके विषम देशमें स्थित रहनेवाला है (उग्रं वचो अपावधीत्त्वेषं

वचो अपावधीत् स्वाहा) वह तुम्हारा शरीर दैत्योंकी छिन्धि भिन्धिरूप उग्र वाणीको नाश करता हुआ तथा असुरोंके कहे आक्षेपरूप वचनको विनाश करता हुआ इस प्रकारके उपकार करनेवाले अग्निके लिये श्रेष्ठहोम हो। **विधि**–(१) तीसरे दिनका मंत्र। **मन्त्रार्थ**–हे उपसद ! (अग्ने) अग्नि (या) जो (ते) तुम्हारा (हरिशया) सुवर्ण गृहमें वास करनेवाला (तनूः) शरीर है इत्यादि पूर्वोक्तके लिये श्रेष्ठ होम हो ॥ ८ ॥

आख्यायिका–एक समय देवताओंसे पराजित होकर असुरोंने तपकरकै त्रिलोकीमें तीन पुर बनाये पृथ्वीमें लोहेका,अन्तरिक्षमें चांदीका, द्युलोकमें सुवर्णका तब देवताओंने अग्निकी उपासना की वह उपसदनामवाली हुई जब वह अग्नि उन पुरोंको जलानेको उनमें प्रविष्ट हुई और जलादिये तब वह तीन पुर अग्निके शरीर हुए इसमें प्रमाण "ततोऽसुरा एषु लोकेषु पुरश्चक्रिरे अयस्मयीमेवास्मिन् लोके रजतामन्तरिक्षे हरिणीं दिवि" इत्यादिश्रुतेः [श० ३ । ४ । ४ । ३] असुरोंने पराजित होकर अन्न पान न प्राप्त करनेसे क्षुत्पिपासासे व्याकुल हो जो वचन बोले वह उग्र अथवा क्या हमने वीरहत्यादि महापातक किये हैं. ऐसे क्लेशके सन्तापादि वाक्य दीप्त कहाते हैं इसमें प्रमाण ["अशनायापिपासे ह वा उग्रं वच एनश्च वै वीरहत्यञ्च त्वेषं वचः" इति [तित्तिरिः]

यह कथा अध्यात्मपरत्व भी है जीवके स्थूल सूक्ष्म और कारण तीन शरीर हैं ज्ञानाग्नि उनको भस्मकर जीवके स्वरूपको प्राप्त करती है ॥ ८ ॥

भावार्थ–हे अग्नि ! तुम्हारे जिस शरीरने इन गृहोंमें वास किया है वह शरीर हमको अभिमत फलदानमें समर्थ हैं, जो शरीर गह्वरादिमें प्रविष्ट है, वह शरीर हमारे उग्रवचन विनष्टकरैं, तथा हमारे कष्टके त्वेषवाक्य नष्टकरैं, अर्थात् महाआपत्ति मनका सन्ताप क्षुधापिपासाके क्लेश हमको प्राप्त न हों ॥ ८ ॥

कण्डिका ९–मन्त्र १४ ।

तप्तायनीमेसिवित्तायनीमेस्यवतान्मानाथितादवतान्माव्यथितात् ॥ विदेदग्निर्नभोनामाग्नेऽअङ्गिरऽआयुनानाम्नेहियोस्याम्पृथिव्यामसियत्तेनाधृष्टन्नामयज्ञियन्तेनत्त्वादधेविदेदग्निर्नभोना

माग्नेऽअङ्गिरऽआयुंनानाम्नेहियोद्वितीयस्याम्पृथिव्यामसियत्तेनाधृष्टन्नामंयज्ञियन्तेनत्त्वादधेविदेदग्निर्नभोनामाग्नेऽअङ्गिरऽआयुंनानाम्नेहियस्तृतीयस्याम्पृथिव्यामसियत्तेनाधृष्टन्नामंयज्ञियन्तेनत्त्वादधे ॥ अनुत्त्वादेववीतये ॥ ९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐततायनीत्यस्य गोतम ऋषिः । भुरिगार्षी गायत्री छं० । पृथ्वी देवता । प्रथमरेखाकरणे वि० । (२) ॐ वित्तायनीत्यस्य गोतम ऋ० । भुरिगार्षी गा० छं० । पृथ्वी दे० । द्वितीयरेखाकरणे वि० । (३) ॐअवतादित्यस्य गो० ऋ० । भुरि० छं० । पृथ्वी दे० । तृतीयरेखाकरणे वि० । (४) ॐ अवतादित्यस्य गौत० ऋ० । भुरि० छं० । पृथ्वी दे० । चतुर्थरेखाकरणे वि० । (५) ॐविदेदग्निरित्यस्य वत्स ऋ० । भुरिग्ब्राह्मी बृहती छं० । अग्निर्देवता । स्फ्येन चात्वाले प्रहरणे वि० । (६) ॐअग्ने अङ्गिर इत्यस्य वत्स ऋषिः । निच्यृद्ब्राह्मी जगती छं० । लिङ्गोक्ता देवता । पुरीषप्रहरणे वि० । (७) ॐ योऽस्यामित्यस्य वत्स ऋ० । यजुश्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । उत्तरवेदिस्थाने मृन्निक्षेपणे वि० । (८) ॐ विदेदग्निरित्यस्य वत्स ऋ० । भुरिग्ब्राह्मी बृहती छं० । अग्निर्देव० । स्फ्येन चात्वाले प्रहरणे वि० । (९) ॐ अग्ने अंगिर इत्यस्य वत्स ऋ० । निच्यृद्ब्राह्मी जगती छं। लिङ्गोक्ता देवता । पुरीषप्रहरणे वि० । (१०) ॐयोऽस्यामित्यस्य वत्स० ऋ० । यजुश्छं० । लिंगोक्ता दे० । उत्तरवेदिस्थाने मृन्निक्षेपणे वि० । (११) ॐ विदेदग्निरित्यस्य वत्स ऋ० । भुरि० छं० । अग्निर्दे० । स्फ्येन चात्वाले प्रहरणे वि० । (१२) ॐ अग्ने अंगिर इत्यस्य वत्स ऋ० । निच्यृद्ब्राह्मी जगती छं० । लिंगोक्ता दे० । पुरीषप्रहरणे वि० । (१३) ॐयोऽस्यामित्यस्य वत्स ऋ० । यजुश्छं० । लिंगोक्ता देवता । उत्तरवेदिस्थाने मृन्निक्षेपणे वि० । (१४) ॐअनुत्वेत्यस्य वत्स ऋ० । याजुष्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता देवता । मृदमाहृत्य प्रक्षेपणे वि० ॥ २ ॥

विधि–(१)उत्तर वेदीके निर्माण करनेमें चत्वाल खनन करना होता है इन चार मंत्रसे बराबर सूत रखकर चारों दिशामें चार शम्या गाडकर स्फ्यद्वारा

चार चतुरस्र [चौकोन] रेखा करै, जिस स्थानमें वेदीनिर्माणके निमित्त मृत्तिका खोदीजाय उस स्थानको चत्वाल कहते हैं, यह चत्वाल प्राचीनवंश शालाके पूर्वमें उदग्वंशशालाके प्रस्तुत करनेको उपयुक्त स्थानत्यागकर उससे पूर्वमें निर्मित करै, पूर्वांशसे पश्चिमांशतक श्रेष्ठ हो चौदह मंत्र हैं [का० ९ । ३ । २० । २५] मंत्रार्थ–(१) हे पृथ्वी ! तुम (मे) हमारे ऊपर अनुग्रह करनेको (तप्तायनी) सन्तप्त दुःखी पुरुषोंको शरण देनेवाली वा निर्धनियोंके आश्रयवाली (असि) हो १ । दूसरी रेखा करै । (२) हे भूमि ! तुम (मे) मेरी दृष्टिमें (वित्तायनी) अनन्तरत्नकी आकर (असि) हो वित्तके निमित्त निर्धन पुरुषको प्राप्त होती हो जिससे वह कृषीआदिसे धन प्राप्त करताहै २।तीसरी रेखा करै (३) हे पृथ्वीदेवि ! (मा) मुझै (नाथितात्) याचनाकी वृद्धिसे (अवतात्) रक्षा करो अर्थात् हम याचना करके निर्वाह न करैं ३ । चौथी रेखा करै (४) हे पृथ्वी ! (मा) मुझै (व्यथितात्)मनकी पीडासे(अवतात्)रक्षाकरो जिससे हम मनोवेदनासे कातर न हौं४। विधि–(५) पांचवें मंत्रसे स्फ्यद्वारा चार रेखाकें अन्यतर चत्वाल खननकरै [का० २ । ३ । २६] मन्त्रार्थ–हे मृत्तिकें ! हम तुमको खनन करते हैं (नभः) नभ (नाम) नामवाली (अग्निः) अग्नि (विदेत्) जानै अर्थात् तुम्हारा अधिष्ठात्री नभ नाम अग्नि यह वात जाने [अग्निका नाम लेकर खोदे] प्रमाण ". स वा अग्नीनामेव नामानि गृह्णन् हराति" इति [श० ३ । ५ : १ । ३१] विधि–(६) छठे मंत्रसे गढेसे खोदी मृत्तिका निकालै [का० ५ । ३ । २७] मंत्रार्थ–(अङ्गिरः) हे कम्पनशील ! (अग्ने) अग्निदेव ! (आयुना) आयु (नाम्ना) नामसे तुम इस स्थानमें (एहि) आओ ६ । विधि–(७) सातवें मंत्रसे उत्तर वेदीके स्थानमें यह सब मृत्तिका निक्षेप करै [का० ३ । ५ । २८] मंत्रार्थ–हे अग्ने ! जो तुम (अस्याम्) इस दृश्यमान (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें (असि) रहते हो इस कारण (ते) तुम्हारा (यत्) जो रूप (यज्ञियम्) यज्ञके योग्य (अनाधृष्टम्) तिरस्कार अयोग्य अनिन्दनीय नाम है (तेन) उस नामसे (त्वा) तुमको (आदधे) इस स्थानमें स्थापन करता हूं ॥ ७ ॥ विधि–(८) अष्टम मंत्रसे अपर रेखा अवलम्बन कर स्फ्यद्वारा चत्वाल खनन करै [का०५।३।३०–३१] मंत्रार्थ–(नभः) हे मृत्तिके ! तुमको खनन करता हूं नभनामा अग्नि जानै पांचवें मंत्रवत् ८ । विधि–(९) नवम मंत्रसे गर्तसे खोदी मट्टी निकाले । मंत्रार्थ–(अङ्गिरः) कम्पनशीलादि छठे मंत्रवत् ९ । विधि–(१०) दशम मंत्रसे उत्तर वेदीके स्थानमें सब मृत्तिका निक्षेप करै । मन्त्रार्थ–हेअग्ने ! जिस कारण तुम (द्वितीयस्याम्) दूसरी (पृथिव्याम्)

पृथ्वी अर्थात् अन्तरिक्षमें(असि)हो इस कारण तुमको स्थापन करता हूं इत्यादि १०। विधि-(११) ग्यारहवें मंत्रसे और रेखा करै । मन्त्रार्थ-(अंगिरः) इत्यादि छठे और नभादि अष्टममंत्रवत् अर्थ जान्ना.११ । विधि-(१२) वारहवें मंत्रसे मृत्तिका निकालै । मन्त्रार्थ-सप्तम नवममंत्रवत् ॥१२॥ विधि-(१३) तेरहवें मंत्रसे मृत्तिका निक्षेपकरै । मंत्रार्थ-हे अग्ने ! जिसकारण कि तुम (तृतीयस्याम्) तीसरा (पृथिव्याम्) पृथ्वी द्युलोकमें स्थित (असि) हो इस कारण यज्ञयोग्य नामवाले तुमको स्थापन करता हूं पूर्ववत् १३ । विधि-(१४) चौदहवें मंत्रसे चौथी रेखा खननमृत्तिका निकालना तथा मृत्तिकाप्रक्षेपादि सम्पूर्ण कार्य करै [का० ९ । ३ । ३२] मंत्रार्थ-हे मृत्तिके ! (देववीतये) देवाताओंकी प्रीतिके निमित्त उत्तरवेदी प्रस्तुत होगी इस कारण पूर्ववत् (त्वा) तुझको (अनु) आहरणादि करता हूं ॥ ९ ॥

विशेष-अग्निमें कम्पन स्वाभाविक है लपट सदा चलायमान रहती है इस कारण अग्निको (अङ्गिराः) कहते हैं । अगधातुसे दोनों शब्द बनते हैं ॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मन्त्र ३ ।

सिᳫंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्व सिᳫंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुन्धस्व सिᳫंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुम्भस्व ॥ १० ॥ [२]

ऋष्यादि-(१) ॐ सिᳫंह्यसीत्यस्य गोतम ऋ० । ब्राह्म्युष्णिक्छं० । वेदिर्देवता । वेदिसमीकरणे वि० (२) ॐ सिᳫंह्यसीत्यस्य गोतम ऋ० । ब्राह्म्युष्णिक्छन्दः । वेदिर्देवता । प्रोक्षणे वि० । (३) ॐसिᳫंह्यसीत्यस्य मंत्रस्य गोतम ऋषिः । ब्राह्म्युष्णिक्छं० । वेदिर्देवता । सिकताप्रकिरणे वि० ॥ १० ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे शम्याके द्वारा ठीक करके वेदीको चारों ओर मध्य भागमें समान करै [का० । ९ । ३ । ३० ।] मंत्रार्थ-हे वेदी ! तुम (सिंही) सिंहनीके समान होकर (सपत्नसाही) शत्रुओंका पराभव करनेवाली (असि) हो (देवेभ्यः) देवताओंके उपकारके निमित्त (कल्पस्व) उत्तर वेदीरूपसे समर्थ हो१। विधि-(२) दूसरे मंत्रसे वेदीको प्रोक्षण करै [का० ९ । ३ । ३३] मंत्रार्थ-हे उत्तरवेदी!तुम (सिᳫंह्यसि सपत्नसाही असि) सिंही हो शत्रुगण तुम्हारे प्रभावसे

तिरस्कृत हैं (देवेभ्यः) देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (शुन्धस्व) शुद्ध हो २। विधि-(३) तीसरे मंत्रसे वेदीके कंकरआदि दूर करे। मंत्रार्थ-हे उत्तरवेदि! तुम (सिꣳह्यसि सपत्नसाही असि) सिंही शत्रुगणोंका तिरस्कार करनेवाली हो इस कारण (देवेभ्यः) देवताओंकी प्रीतिके लिये (शुम्भस्व) सिकतादिरहित होनेसे शोभित हो ॥ १० ॥

प्रमाण-"वाक्पूर्वमसुरेभ्यः क्रुद्धा सिंही भूत्वा चचार" इति [श० ३। ५।१। ३२]एक समय वाणी असुरोंसे क्रुद्ध हो सिंहीरूपसे विचरती थी ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मन्त्र ५।

इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिꣳ पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा रुद्रैꣳ पश्चात्पातु मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु विश्वकर्म्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पात्विदमहं तप्तं वार्बहिर्द्धा यज्ञान्निःसृजामि ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१-२-३-४) ॐ इन्द्रघोषस्त्वेत्यस्य मन्त्रचतुष्टयस्य गोतम ऋ०। निच्यृद्ब्राह्मी त्रिष्टुप्०। उत्तरवेदिर्दे०। उत्तरवेदिचतुर्दिक्षु मार्जने वि०। (५) ॐ तप्तमित्यस्य गोतम ऋषिः। निच्यृद्ब्राह्मी त्रिष्टप्छं०। वेदिर्देवता। वेदेर्बहिर्देशे प्रोक्षणीशेषनिनयने विनि० ॥ ११ ॥

विधि-(१-२-३-४) इस कण्डिकाके चार मंत्रोंसे उत्तर वेदीके पूर्वादि चारों दिशाओंमें चारोंओर जलद्वारा हाथसे मार्जन करै [का० ५। ४। ११] मंत्रार्थ-हे उत्तरवेदी! (इन्द्रघोषः) इन्द्र नामसे विख्यात देवता (वसुभिः) आठ वसुओंके सहित (त्वा) तुझको (पुरस्तात) पूर्वदिशाकी ओरसे (पातु) रक्षाकरैं१। (प्रचेताः) वरुणदेवता (रुद्रैः) एकादश रुद्रोंके साथ (पश्चात्) पश्चिमदिशाकी ओरसे (त्वा) तुझे (पातु)रक्षाकरै २। (मनोजवाः) मनकी समान वेगवान् यम देवता (पितृभिः) दिव्यपितरोंके साथ (दक्षिणतः) दक्षिणकी ओरसे (त्वा) तुझको (पातु) रक्षा करैं ३। (विश्वकर्मा) विश्वकर्मा देवता जगन्निर्माता (आदित्यैः) बारह आदित्योंके साथ (उत्तरतः) उत्तरकी ओरसे (त्वा)तुझको (पातु) रक्षाकरैं ४। विधि -(५) पंचममंत्रसे मार्जनावशिष्ट जल वेदीबहिर्भागमें दक्षिण भागसे लगाहुआ निक्षेप करै [का० ५। ४। १२] मंत्रार्थ-(अहम्) मैं (तप्तम्) असुरनिवारणके निमित्त जिस जलसे प्रोक्षण किया था वह उग्ररूप

होनेसे तप्त कहाता है तप्त अर्थात् अग्राह्य (इदम्) यह (वाः) जल (यज्ञात्) यज्ञीयवेदीसे (वहिर्धाः) बाह्यप्रदेशमें (निःसृजामि) फेंकता हूं ॥ ११ ॥

रक्षामें प्रमाण-"असुरा वज्रमुद्यम्य देवानभ्यायन्त तानिन्द्रघोषो वसुभिः पुरस्तादपानुदत्" इत्यादि [तित्तिरिः ।] एक समय असुर देवताओंके मारनेको आये तब देवसेनापतियोंने चारोंओरसे उनको निराकरण किया ॥ ११ ॥

कण्डिका-१२ मन्त्र ६ ।

सिᳫं᳭ह्यसिस्वाहासिᳫं᳭ह्यस्यादित्यवनिᳫं᳭स्वाहासिᳫं᳭ह्यसिब्रह्मवनिः क्षत्रवनिᳫं᳭स्वाहासिᳫं᳭ह्यसिसुप्प्रजावनीरायस्प्पोषवनिᳫं᳭स्वाहासिᳫं᳭ह्यस्यावहदेवान्यजमानायस्वाहाभूतेभ्यस्त्वा ॥१२॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सिᳫं᳭ह्यसीत्यस्य मन्त्रपञ्चकस्य गोतम० । भुरिग्ब्राह्मीपंक्तिश्छं० वेदिर्देवता । पंचाहुतिहवने वि० । (२) ॐभूतेभ्यस्त्वेत्यस्य गोतम ऋषिः । यजुः० । स्रुग्देवता । स्रुगूर्ध्वकरणे वि० ॥ १२ ॥

विधि-(१) वेदीकी दोनों श्रोणी और दोनों अंशमें तथा नाभिमें किञ्चित् २ सुवर्ण स्थापन करकै उसके देखते २ अध्वर्यु जुहूमें आज्यको लेकर पांच मंत्रसे पांच आहुती दे [का० ५।४।१४] तहां पहली आहुति दक्षिण अंश आग्नेय कोणमें । मंत्रार्थ-हे उत्तरवेदी ! विक्रममें असुरोंके नाशकरनेको तुम(सिंही)सिंहीरूप (असि) हो(स्वाहा) तुम्हारे निमित्त यह हवि देतेहैं सुन्दररूपसे ग्रहण करो१। विधि-(२) दूसरी आहुति उत्तर श्रोणी वायुकोणमें दे । मंत्रार्थ-हे उत्तम वेदी ! तुम (आदित्यवनिः) आदित्यगणोंको प्रीतिकरनेवाली (सिंही) सिंहीरूपा (असि) हो (स्वाहा) तुम्हारे निमित्त हवि देते हैं सुन्दररूपसे ग्रहण करो २ । विधि-(३) तीसरी आहुति दक्षिणश्रोणी नैर्ऋत्यकोणमें दे । मंत्रार्थ-हे उत्तर वेदी ! तुम (ब्रह्मवनिः) ब्राह्मण क्षत्रिय जातिकी प्रीतिजनक, पराक्रममें (सिंही) सिंहीरूप (असि) हो (स्वाहा) यह आहुति तुम्हारे निमित्त दीजाती है ३ । विधि-(४)चौथी आहुति उत्तर अंश ईशानकोणमें दे । मंत्रार्थ-हे उत्तर वेदी ! तुम (सुप्रजावनिः)अच्छी प्रजा और(रायस्पोषवनिः)धन और पुष्टिकी देनेवाली पराक्रममें (सिंही)सिंहीरूप (असि) हो (स्वाहा)यह आहुति तुम्हारे निमित्त दीजाती है इसको

श्रेष्ठरूपसे स्वीकार करो ४ । **विधि**–(५) पांचवीं आहुति उत्तर वेदीके मध्यबिन्दु नाभिमें दे । **मन्त्रार्थ**–हे उत्तरवेदी ! तुम विक्रममें (सिंही) सिंहीरूपा (असि) हों (यजमानाय) यजमानके उपकारके निमित्त (देवान्) देवताओंको (आवह) यहां लाओ (स्वाहा) यह हवि तुमको दीजाती है सुन्दररूपसे ग्रहण हो । **विधि**–(६) छठे मंत्रसे वेदीके ऊपर जुहूको ग्रहणकरै [का० ५ । ४ । १५] **मन्त्रार्थ**–हे घृतयुक्त जुहू ! (भूतेभ्यः) जरायुजादि सब प्रकारके प्राणियोंकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको वेदीके ऊपर ग्रहण करताहूं तुम जरायुजादिके भाग हो ६ ॥ १२ ॥

प्रमाण–"तेभ्योपक्रम्योत्तरवेदी सिंहीरूपं कृत्वोभयानन्तरातिष्ठत्" इति [तैत्ति०] एक समय उत्तरवेदीदेवता वाक्देवतोंको छोड देवता असुर दोनोंके मध्यमें सिंहीरूपसे स्थित हुई थी वह आशय इस मंत्रमें है ॥ १२ ॥

आशय–यज्ञसे चराचरका उपकार होता है इस कारण यज्ञसाधन अवश्य है "भूतेभ्यस्त्वेतिस्रुचं गृह्णाति य एव देवा भूतास्तेषां तद्भागधेयं भवति तानेव तेन प्रीणाति" इति [तित्तिरिः] ॥ १२ ॥

कण्डिका १३–मन्त्र ४ ।

ध्रुवोऽसिपृथिवीन्दृꣳहध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षन्दृꣳहाच्युतक्षिदसिदिवन्दृꣳहाग्नेःपुरीषमसि ॥१३॥ [२]

ऋष्यादि–(१) ॐध्रुवोसीत्यस्य गोतम ऋ० । भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छं० । परिधिर्दे० । वेदिनाभिपरिधाने वि० । (२) ॐध्रुवक्षिदसीत्यस्य गोतम ऋ० । भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छं० । परिधिर्देवता । वेदिनाभिपरिधाने वि० । (३) ॐअच्युतक्षिदित्यस्य गोतम ऋ० । भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छं० । परिधिर्दे० । वेदिनाभिपरिधाने वि० । (४) ॐ अग्नेरित्यस्य गोतम ऋ० । दैवी जगती० । संभारो देवता । गुग्गुलुप्रभृतिसंभारसमूहनिर्वपने वि० ॥ १३ ॥

विधि–(१–२–३) देवदारुकाष्ठकी बनी तीन परिधियोंके द्वारा उत्तर वेदीकी नाभिसे प्रथमके तीन मंत्रोंसे दर्शपौर्णमास इष्टिकी समान पश्चिम दक्षिण उत्तर तीन दिशाओंमें परिधि करै [का० ५ । ४ । १६] **मंत्रार्थ**–हे मध्यम परिधि ! तुम (ध्रुवः) स्थिर (असि) हो (पृथिवीम्) इस स्थलकी पृथ्वीको (दृꣳह) दृढकरो हे दक्षिण परिधि ! तुम (ध्रुवक्षित्) स्थिर यज्ञमें निवास करती (असि) हो (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (दृꣳह) दृढकरो २ । हे उत्तरपरिधि ! तुम (अच्युतक्षित्) विनाशरहित यज्ञमें निवास करती (असि) हो (दिवम्) द्युलोकको (दृꣳह) दृढ-

करो आशय यह कि तीनो लोकोंका उत्पात नहो ३ । विधि-(४) चौथे मंत्रसे नाभिके मध्यविन्दुमें सम्भार (गूगल तेजपत्र भेडके वाल) स्थापन करै [का० ९ । ४ । १७] मन्त्रार्थ-हे सम्भार ! तुम (अग्नेः) अग्निके (पुरीषम्) पूरक हो "अग्नेर्ह्येतत् पुरीषं यत्संभाराः" इति [तैत्तिरी०] ॥ १३ ॥

कण्डिका-१४ मंत्र १ ।

युञ्जतेमनऽउतयुञ्जतेधियोविप्राविप्रस्यबृहतोविपश्चितः ॥ विहोत्राँदधेवयुनाविदेकऽइन्मही देवस्यसवितुःपरिष्टुतिःस्वाहा ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐयुञ्जतेमन इत्यस्य श्यावाश्व ऋषिः । स्वराडार्षी जगती छं० । सविता दे० । शालाद्वार्येऽग्नौ हवने वि० ॥ १४ ॥

विधि-(१) इस समयतक यह आहवनीय गार्हपत्यरूपसे अवस्थितहै इस मंत्रसे इस अग्निमें आहुति प्रदान कर हविर्धानारम्भ करै अर्थात् मंडप बनाकर अध्वर्युशालामें प्रवेश कर आज्यका संस्कार कर चारबार ग्रहण किये आज्यको परिस्तरण समिदाधानपूर्वक अग्निमें आहुति दे [का० ८ । ३ । २९] मन्त्रार्थ-(बृहतः) वेदपाठसे महत्त्वको प्राप्त (विपश्चितः) विचक्षण सर्वज्ञ (विप्रस्य) ब्राह्मण यजमानके सम्बन्धी (विप्राः) ब्राह्मण ऋत्विगादि (होत्राः) हवनकरनेमें व्रती (मनः) मनको लौकिक चिन्तासे निवारण करके यज्ञचिन्तामें (युञ्जते) लगाते हैं (उत धियः) और इन्द्रियोंको भी यज्ञकार्यमें (युञ्जते) युक्त करते हैं (वयुनावित्) सब प्राणियोंकी मनोवृत्तिके जाननेवाले साक्षी (एकः) अद्वितीय उस एकहीने (इत् विदधे) इन ब्राह्मणोंकी मनोनियमनादि सामर्थ्यको रचा है जिस कारण कि (सवितुः) प्रेरक अन्तर्यामी (देवस्य) देवपरमात्माकी (परिष्टुतिः) सदा कहीहुई स्तुति (मही) महान् है (स्वाहा) उनकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति देते हैं सुन्दर रूपसे ग्रहण हो [ऋ० ४ । ४ । २४] ॥ १४ ॥

आथर्वणिकाः-"यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः" इति । बृहदारण्यकेऽपि [४ । २ । २४ । का० ४ । ४ । २४] "स एव सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच" इति । श्वेताश्वतराश्च "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इति ॥ १४ ॥

अर्थांतर-(विप्राः) ऋत्विज् (विपश्चितः) "यज्ञो वै विपश्चित्" इति श्रुतेः [श० ३ । ५ । ३ । ११] यज्ञकर्ममें मन बुद्धि और वाणीको लगाते हैं जो यज्ञ

(विप्रस्य) फलदान प्राप्त क्रियाकी शक्ति हैं सर्वसाधनसम्पन्न सात वषट् करने-वालोंको (विदधे) विधानकरता है उसमें (वयुनाविदेकः) त्रिवेदज्ञानवान् एक ब्रह्माही है सविता देवकी महान् स्तुति है ब्रह्मादि ऋत्विज् जो कर्म करते हैं वह सविता देवताकी प्रेरणासे ही है ॥ १४ ॥

विवरण—वेदीके पूर्वदिशामें स्थापित अग्निको आहवनीय और पश्चिमस्थापित अग्निको गार्हपत्य कहते हैं, इस समय प्राचीनवंशाशालाके मध्यमें ऐष्टिक वेदी है उस शालाके आगे ३६ पद दीर्घ सोमकी वेदी करै उस वेदीके पूर्व स्थापित आहवनीय अग्निके पूर्व,उदग्वंशा शालाकी पूर्वसीमामें उत्तर वेदीनामक एक नवीन वेदी करै, इस प्रकार मध्यप्राप्तहुई इस आहवनीयको उत्तर वेदीके सम्बन्धसे गार्हपत्य कहते हैं.

आहवनीय अग्निके ईशान और अग्निकोणमें सोमादि हव्यवाही दोनों शकटकी रक्षा होतीहै. इन शकटोंको हविर्धान अर्थात् देवगणके हव्यवाही शकट कहते हैं, यह वृष्टि वा धूपसे न विगडैं इस कारण इनकी रक्षाके निमित्त दो प्रकोष्ठका एक मण्डप निर्माण करै यह मण्डप उदग्वशाशालाकी पूर्णसीमामें उत्तर वेदीके किंचित् *पश्चिममें सोमकी वेदीके दक्षिणमें निर्माण करै, इस स्थलमें* प्रथम यही दो शकट प्राप्त कर, पीछे, उसके ऊपर मण्डपरचना करै, इसका नाम हविर्धान मण्डप है, यहांसे आहुतिप्रदानक्रियाको हविर्धानके निमित्त प्रारंभ करते हैं यह दो शकट सावित्र होमके निमित्त हैं तदाह तैत्तिरिः—"सावित्र्यर्चा हुत्वा हविर्धाने प्रवर्तयति" इति ॥ १४ ॥

कण्डिका १५—मंत्र १ ।

इदंविष्णुर्विचक्रमेत्रेधानिदंधेपदम् ॥ समूढमस्यपाᳫंसुरेस्वाहा ॥ १५ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ इदंविष्णुरित्यस्य मेधातिथिर्ऋ० । भुरिगार्षी गायत्री छं० । विष्णुर्दे० । शालाद्वार्येग्नौ हवने वि० ॥ १५ ॥

विधि—(१)उदग्वंशा शालाको दाक्षिण ओर करके दक्षिण शकट [आहवनीय अग्निके आग्नेय कोणमें रक्षित] के निकट होकर पथिमध्यमें उसके दाक्षिण चक्रमें यह मंत्र पढकर आहुति दे तात्पर्य यह कि घृतको संस्कार कर वारवार ग्रहण किये हुएको लेकर दक्षिण हविर्धानके दक्षिण चक्र मार्गमें सुवर्णको रखकर शालाद्वारकी अग्निमें होम करै [का० ८ । ३ । ३१] मन्त्रार्थ—(विष्णुः) सर्वव्यापी

त्रिविक्रमावतारधारी विष्णुने (इदम्) इस चराचर जगत्को (विचक्रमे) विभक्तकर आक्रमण किया है (त्रेधापदम्)प्रथम भूमि दूसरा अन्तरिक्ष और तीसरा द्युलोकमें पद (निदधे) धारण किया है अथवा वह सर्वव्यापक अग्नि वायु,सूर्यरूपसे व्याप्त है (पाꣳसुरे) इस विष्णुके पदमें (समूढम्) सम्यक् प्रकार विश्वअन्तर्भूत है(स्वाहा) उस परमात्मा देवताके निमित्त हविर्दान करते हैं अथवा (अस्य विष्णोः) इन विष्णुका अद्वैताख्य पद वा स्वरूप (समूढम्) अकृतात्माओंको दुर्लक्ष्य है जैसे रजस्थलमें रक्खी हुई वस्तु नहीं देखीजाती है तदुक्तम् "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः" इति [ऋ० १ । ७] ॥ १९ ॥

भावार्थ-सर्वव्यापी परमात्माने इस चराचरको आक्रमण किया है भूलोक अन्तरिक्षलोक और द्युलोकमें यथाक्रमसे अग्नि वायु और सूर्य पद स्थापन किये हैं इनका पद प्रत्येक रजोगुणरूप धूलिमें, अन्तर्हित हुआ है हम इस पदके उद्देशसे यह आहुति प्रदान करते: हैं सम्यक् प्रकार स्वीकृत हो ['वामनो ह विष्णुरास' श०२ । २ । ५ । ५ ।] वामनावतारकी कथा गर्भित है,**निरुक्तकारका कथन**-"यदिदं किंच विक्रमते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदम् त्रेधाभावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः । समारोहेण विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णनाभः । समूढमस्य पांसुरे प्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यतेपिवोपमार्थे स्यात्समूढमस्य पांसुर इव पदं न दृश्यत इति पांसवः पादैः सूयन्त इति वा पन्नाः शेरत इति वा पंसनीया भवन्तीति वा"-[निरु० १२ । १९ ।] ॥ १९ ॥

कण्डिका १६-मंत्र १ ।

इरा॑वतीधेनु॒मती॒हिभू॒तꣳसू॑यव॒सिनी॒मन॑वेदश॒स्या ॥ व्य॑स्कभ्ना॒रोद॑सीविष्णवे॒तेदा॒धर्त्थ॑पृथि॒वीम॒भितो॑म॒यूखैः॒स्वाहा॑ ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इरावतीत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । विष्णुर्दे॰ । उत्तरशकटसंबंध्युत्तरचक्रमार्गे चतुर्गृहीताज्यहवने वि० ॥ १६ ॥

विधि-(१) आहवनीय अग्निके ईशानकोणमें रक्षित शकटको उत्तर शकट कहते हैं प्रतिप्रस्थाता और अध्वर्युके दियेहुए स्रुवा और स्थालीको लेकर उत्तर हविर्धानके दक्षिण चक्रमार्गमें सुवर्ण रखकर चारवार लिये हुए घृतको हवन करै [का० ८ । ३ । ३९] **मन्त्रार्थ**-(रोदसी) हे द्यावापृथ्वी ! तुम इस यजमानके कल्याणार्थ (इरावती) अन्नशस्यवाली (धेनुमती) बहुत धेनुओंसे युक्त (सूयव

सिनी) बहुत उत्कृष्ट खाद्यपदार्थवाली (मनवे) विज्ञानकी बढानेवाली अथवा यजमानको (दशस्या) यज्ञसाधनोंकी देनेवाली (भूतम्) हो (विष्णो) हे सर्वव्यापी परमात्मन् ! (एते) इन द्यावापृथ्वीको (व्यस्कभ्नाः) विभक्तकर स्तंभित किये हो. और (पृथ्वीम्) पृथ्वीको (मयूखैः) अपने तेजोंसे वा वाराहादि अनेक अवतारोंसे वा सर्वदिग्व्यापी अनुपम अमित किरणोंके प्रभावसे (अभितः) सब ओर से (दधर्थ) धारण कररहे हो (स्वाहा) उन विष्णुके निमित्त आहुति देते हैं [ऋ० ५ । ६ २४] ॥ १६ ॥

कण्डिका १७–मंत्र ४ ।

देवुश्श्रुतौदेवेष्ष्वाघोषतम्प्राचीप्प्रेतमध्वुरङ्कुल्पयन्तीऽऊर्द्धं यज्ञन्नयतम्माजिह्वरतम् ॥ स्वङ्गोष्ठमावदतन्देवीदुर्य्येऽआयुर्म्मानिर्वादिष्टम्प्रजाम्मानिर्वादिष्टमत्ररमेथांवर्ष्मन्पृथिव्याः ॥ १७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐदेवश्रुतावित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । याजुषी पंक्तिश्छन्दः । अक्षधुरौ दे० । पत्न्याक्षधुराञ्जने वि० । (२) ॐप्राचीप्रेतमित्यस्य वसिष्ठ ऋ० । निच्यृदार्षी गायत्री छं० । हविर्धाने दैवतम् । हविर्धानशकटाभिमन्त्रणे वि० । (३) ॐस्वंगोष्ठमित्यस्य वसिष्ठ ऋ० । भुरिगार्षी गायत्री छं० । अक्षखर्जने वि० । (४) ॐ अत्ररमेथामित्यस्य वसिष्ठ ऋ० । याजुषी पं० छं० । वेदिनिकटे स्थापितशकटद्वयाभिमन्त्रणे वि० ॥ १७ ॥

विधि–(१) जहां हविर्धाननामक शकट रक्षा करनेको मण्डप प्रस्तुत किया है उसके समीप हविर्द्धान द्वारमें शकटके उपस्थित होनेपर प्रतिप्रस्थाता (अध्वर्यु का प्रधान सहकारी ऋत्विक् इसको अध्वर्युसे आधी दक्षिणा मिलती है) यजमानपत्नीको वहां उपस्थित करै पत्नी हुतशेष आज्य लेकर यह मंत्र पाठकर शकटकी धुरीके अग्रभागको सिक्तकरै [का० ८ । ३ । ३२]मन्त्रार्थ–हे अक्षधुरौ ! तुम (देवश्रुतौ) देवसभामें प्रसिद्ध (देवेषु) देवताओंमें (अघोषतम्) यह बात कि यजमान यज्ञ करता है ऊंचे स्वरसे कहो १ । विधि–(२) अनन्तर शकटके यथास्थानमें उपस्थित होनेसे यजमान यह मंत्र पाठ करकै इसकी प्राङ्मुख दृढरूपसे रक्षा करै[का०८।४।३]मन्त्रार्थ–हे दोनों हविर्धान शकट! (अध्वरं कल्पयन्ती) इस यज्ञकर्मको समर्थन करते हुए (प्राची] पूर्वमुख (प्रेतम्) जाओ (यज्ञम्)

इस हमारे यज्ञको (ऊर्ध्वम्) ऊर्ध्वलोकवर्तीदेवताओंके निकट (नयतम्) प्राप्त करो (मा जिह्वरतम्) सावधान;कुटिल होकर भूमिपर पतित न होना २ । विधि–(३) तीसरे मंत्रसे यजमान अक्षको आघातकर शब्द करे [का० ८ । ४।४ ।] मंत्रार्थ–(देवी दुर्ये) गृहसदृश शकटद्वयरूपवाले दोनों देवता (स्वम्) अपने (गोष्ठम्) गोशालामें (आवदतम्) सब प्रकारसे कहो अर्थात् तुम्हारे वाहक पशुगणके रहने योग्य उपयुक्त स्थान भी यजमानके घरमें अपर्याप्त हैं इस प्रकार आदेश करो(आयु) यजमानकी जबतक आयु है तबतक पशु धन आदिसे रहित (मा)मत (निर्वादिष्टम्) उच्चारण करो (प्रजाम्) यजमानके पुत्रादिको (मानिर्वादिष्टम्) दुष्टवाक्य मत कहो यजमानकी आयु और प्रजावृद्धिकी अनुमति करो[आशय यह कि अक्षके शब्दसे आयु और प्रजानिराकरण न हो क्योंकि दोनो ओर बंधी अक्ष वरुणदेवतारूप दुष्ट वाक् है सो शापरूप वाक्यके परिहारार्थ इस मंत्रसे आशीर्वाद प्रार्थना किया है: तथा च श्रुतिः "वरुणो वा एष दुर्वागुभयतो बद्धो यदक्षः" इति [श० ३। ५ । ३ । १८] विधि–चतुर्थ मंत्रसे उत्तर वेदीके पश्चिममें तीन परिक्रमा हो जाने पर दोनो शकटको मध्यफलकारधास्थ करके स्थापन कर अभिमंत्रित करै [का० ८ । ४ । ५] मंत्रार्थ–हे शकटद्वय ! (पृथिव्याः) पृथ्वीके (अत्र) इस (वर्ष्मन्) भूमिके शरीरभूत विस्तीर्ण इस रमणीक देशमें (रमेथाम्) आनन्दसे वास करो ॥ १७ ॥

प्रमाण–"वर्ष्म ह्येतत् पृथिव्या यद्देवयजनम्" इति तित्तिरिः । "गृहा वै दुर्याः" इति श्रुतेः [श० ३ । ५ । ३ । १८]

शकटआदिका स्थापन धुरीको घृत लगाकर करना उचित है जिससे मोरचा आदि न लगे ॥ १७ ॥

कण्डिका १८–मंत्र २ ।

विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजाᳪसि ॥ योऽअस्कभायदुत्तरᳪ सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वा ॥ १८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐविष्णोर्नुकमित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । विष्णुर्देवता । स्थूणानिखनने वि० । (२) ॐविष्णवे त्वेत्यस्यौतथ्योदीर्घतमा ऋ० । यजुश्छन्दः । विष्णुर्देवता । दक्षिणतः स्थूणोपनिधाने वि० ॥ १८ ॥

विधि-(१)अध्वर्यु इस मंत्रसे दोनो हविर्धानको परिक्रमण कर दक्षिण हविर्धानको स्तंभपर स्थित करै शकट बांधनेके निमित्त स्थूणको अग्निकोणमें गाडै[का० ८।४।६।] मंत्रार्थ-(विष्णोः) सर्वव्यापी विष्णु भगवानके (नुकम्) किन किन (वीर्याणि) कर्मोंको(प्रवोचम्) मैं कहूं अर्थात् परमात्माकी क्या स्तुति करूं उसकी महिमा असीम है (यः) जिस परमात्माने (पार्थिवानि रजांसि)पृथ्वी अन्तरिक्ष द्युलोकादिस्थान वा सम्पूर्ण पार्थिव परमाणुतक (विममे) निर्माण किये हैं वा सब परमाणुतक गणित किये हैं (यः) जो परमात्मा (त्रेधा विचक्रमाणः) तीन लोकमें अग्नि वायु सूर्य रूपसे तीन पद धारण करता हुआ और (उरुगायः) बहुत अर्थोंको वेदद्वारा उपदेश करनेवाला अथवा उरु गमनवाला वा महात्माओंसे स्तुतिको प्राप्त (उत्तरम्) ऊपरके (सधस्थम्) देवताओंके स्थानरूप द्युलोकको (अस्कभायत) स्तंभित किया है। विधि-(२) अग्निकोणमें स्थूणको गाडै [का० ८।४।७] मंत्रार्थ-हे स्थूणकाष्ठ ! (विष्णवे) सबमें व्यापक विष्णु देवताकी प्रसन्नताके निमित्त (त्वा) तुझे गाडता हूं ॥ १८ ॥

प्रमाण-"लोका रजांस्युच्यन्ते" [निरु०४।१९] [ऋ० २।२।२४] ॥१८॥

भावार्थ-जिस परमेश्वरने परमाणुओंसे सकल जगत्को निर्माण किया है और अन्तरिक्ष द्युलोकको ऊपर भागमें स्थापित किया है तथा अग्नि वायु सूर्यको त्रिलोकमें स्थापित किया है और तीन लोकमें जो अग्नि वायु सूर्यकी स्तुतिसे स्तुतिको प्राप्त होता है उस परमात्माकी अनन्त महिमा है उसकी स्तुति करनी सबको उचित है ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मंत्र १।

दिवोवांविष्णऽउतवांपृथिव्यामहोवांविष्णऽउरोरन्तरिक्षात् ॥ उभाहिहस्तावसुंनापृणस्वाप्रयच्छदक्षिणादोतसव्याद्विष्णवेत्त्वा ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐदिवोवेत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । निचृदार्षी जगती० । विष्णुर्दे० । हविर्धानोपस्तम्भने वि० ॥ १९ ॥

विधि-( ) प्रतिप्रस्थाता इस मंत्रसे उत्तर शकटको खडा करता हुआ भूमिमें पूर्ववत् स्तंभको खनन कर गाडे [का० ८।४।८-९] मन्त्रार्थ-हे (विष्णो) परमात्मन् ! (विष्णो) सर्वव्यापिन् ! (दिवः) इस महामण्डल द्युलोकसे (वा) तथा (पृथिव्याः) भूलोकसे (उत वा) और (महः) महान् (उरोः)

विस्तीर्ण (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्षसे (वा) या लायेहुए (वसुना) धनसे (उभाहि) दोनोही अपने (हस्ता) हाथ (पृणस्व) पूर्ण करो तब धनपूर्ण (दक्षिणात्) दहिने (उत) वा (सव्यात्) वाम हस्तसे (आमयच्छ) अनेक प्रकारके धनरत्न हमको प्रदान करो [हे काष्ठस्तम्भ] (विष्णवे) विष्णुदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझको गाडता हूं ॥ १९ ॥

आशय-परमात्माकी प्रार्थना सबको करनी उचित है हे परमात्मन् ! कृपाकर हमको आप वामदहिने अपने दोनो हाथोंसे सब प्रकारके धन दान करो वा अपना ज्ञान दो हाथ वर्णन करनेसे साकारता है "अथाकाराचिन्तनं देवतानां पुरुषविधाः स्युः" [निरु०] ॥ १९ ॥

सावधान-दयानन्दने अपने भाष्यमें भाषाका पदार्थ करते समय (हस्ता) यह शब्दही छोडदिया जिससे कोई परमात्माको हाथवाला न जानै ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मन्त्र १ ।

प्रतद्विष्णुँस्तवते वीर्य्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ॥ यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐप्रतद्विष्णुरित्यस्योतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । विराडार्षी त्रिष्टुप्० । विष्णुर्देव० । मध्यमच्छद्यालम्भने वि० ॥ २० ॥

विधि-(१) यह मन्त्र उच्चारण कर मध्यमछदिका अवलम्बन करै (मध्यमछदि गृहाच्छादक विस्तृत तृणसमूह) [का० ८ । ४ । १३] मन्त्रार्थ-(तत्) वह (भीमः) जिससे सब चराचर भीत होता है "भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः"इति श्रुतेः । (मृगः) शुद्ध करनेवाला (कुचलः) पृथ्वीमें मत्स्यादिरूपसे विचरनेवाला(गिरिष्ठाः)गिरि वेदवाणी वा देहमें अन्तर्यामी रूपसे स्थित होनेवाला वा शिवरूपसे पर्वतपर स्थित[अथवा न इवार्थमें भी आता है] (गिरिष्ठाः) पर्वतमें स्थित (कुचरः) कुत्सिताचारी प्राणिवधसे जीनेवाले (भीमः) भयंकर (मृगोन) सिंहकी समान (विष्णुः) सर्वव्यापी परमात्मा (वीर्य्येण) साधारण वीरकर्मसे (स्तवते) स्तुतिको प्राप्त होता है (यस्य) जिस विष्णुके (ऊरुषु) महान् (त्रिषु) तीन (विक्रमणेषु) पादप्रक्षेपस्थानवाले लोकोंमें (विश्वा) सम्पूर्ण प्राणिजात (अधिक्षियन्ति) निवास करते हैं ॥ २० ॥

अथवा (भीमः मृगोन) भयंकर नृसिंहरूपधारी अथवा अवतार धारणकर शत्रुरूप असुरोंके भयदाता विष्णु स्तुतिको प्राप्त होते हैं, यह मंत्र अवतारबोधक है [ऋ० २ । २ । २४ ।] ॥ २० ॥

भावार्थ-इन सर्वव्यापी देवताके विक्रमस्थान भूरादि पादत्रय हैं यह समस्त चराचरमें वास करते हैं इन विष्णुके प्रभावसे पृथ्वीचर गिरिगह्वरशायी भयानक सिंहकी समान यह विश्वमें सबसे स्तुतिको प्राप्त होने योग्य है. जैसे गिरिशायी सिंह सब मृगोंसे पूज्य और सबका राजा है इसी प्रकार परमात्मा विष्णु भी सब जीवोंके अधिपति और पूज्यहैं उनका शासन अनिर्वार्य और भयानक है. ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मन्त्र ५।

विष्णो॑र॒राट॑मसि॒ विष्णोः॒ श्नप्त्रे॑ स्थो॒ विष्णोः॒ स्यूर॑सि॒ विष्णो॑र्ध्रु॒वोऽसि ॥ वै॒ष्ण॒वम॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा ॥ २१ ॥ [८]

ऋष्यादि-(१) ॐविष्णोरराटमित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । याजुषी उष्णिक्० । विष्णुर्देव० । हविर्धानोपरिमण्डपकरणे वि० । (२) ॐविष्णोरित्यस्यौतथ्योदीर्घतमा ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । रराटीप्रान्तावुपस्पृश्य जपे वि० । (३) ॐविष्णोरित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । विष्णुर्देवता । काष्ठमयसूचीप्रोतरज्ज्वा द्वारशाखासीवने वि० । (४) ॐविष्णोर्ध्रुवोऽसीत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । यजुश्छंदः । विष्णुर्देवता । परिषीवणारम्भे रज्जुमूले ग्रन्थिकरणे वि० । (५) ॐवैष्णवमित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । याजुषी बृहती छं० । विष्णुर्देवता । प्राग्वंशहविर्धानं निष्पाद्यालम्भने वि० ॥ २१ ॥

विधि-(१) दोनों हविर्धान शकटको दक्षिण उत्तर स्थापन करके उनके ऊपर आवरण करनेको मण्डप बनावे, और विष्णुदेवता होनेसे मंडपको भी विष्णु कहते हैं और विष्णुके सब अवयव होनेसे जैसे ललाट उच्च अवयव है उसी प्रकार हविर्धानमण्डपके पूर्वद्वारवर्ती स्तंभके मध्यमें एक कुशोंकी माला गूंथी जातीहै उस माला वा उसके बंधनाधार तिरछे बांसका सम्बोधन कर उसका ललाटरूप सम्बोधन कर वर्णन किया है [का० ८ । ४ । १९] मन्त्रार्थ-हे दर्भमालाधारवंश ! तुम (विष्णोः) यज्ञरूप विष्णुके (रराटम्) ललाटस्थानीय(असि) हो १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे उच्छ्रायी ललाटके प्रान्तोंको स्पर्श करे [का०

४ । ८ । १६] मं०–हे ररारी अर्धवृत्ताकार तिर्यग्वंश दोनों तुम (विष्णोः) यज्ञरूप विष्णुके (श्नप्त्रे) ओष्ठसन्धिरूप (स्थः) होते हो २ । विधि–(३) तीसरे मंत्रसे अध्वर्यु सूयेमें सुतली पिरोकर उससे ररार्टके चारों थूणद्वारशाखाओंको सिये [का० ८ । ४ । १८] मंत्रार्थ–हे बृहत्सूची ! तुम (विष्णोः) यज्ञीय मण्डपकी (स्यूः) सूची (असि) हो ३ । विधि–(४) चौथे मंत्रसे रज्जुकी ग्रन्थि दे [का० ८ । ४ । १९] मंत्रार्थ–हे ग्रन्थि ! तुम इस (विष्णोः) यज्ञीय विष्णुरूप मण्डपकी ग्रन्थि हो सुतरां (ध्रुवः) अतिदृढ (असि) हो ४ । विधि–(५) पांचवें मन्त्रसे प्राग्वंश (पूर्व पश्चिम लम्बायमानरूपसे स्थापित मण्डपकी छविके प्रधान अवलम्बन बृहत् बांस) को स्पर्श कर उनकी दृढता देखे [का० ८ । ४ । २१] मन्त्रार्थ–हे हविर्धान ! तुम (वैष्णवम्) विष्णुदेवतावाले होनेसे विष्णुरूप हो इस कारण (विष्णवे) सर्वव्यापक परमात्मा विष्णुकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको स्पर्श करता हूं "आशय यह कि तुम इस यज्ञीय मण्डपके छदि मध्यगत प्रधानवंश हो इस मण्डपकी दृढतापरीक्षाके अर्थ तुमको स्पर्श करता हूं परमात्माकी सत्तासे दृढरहो" अथवा यह सब जगत् विष्णु परमेश्वरके प्रकाशसे प्रगट होकर प्रकाशित है, यज्ञानुष्ठानके निमित्त उसीका आश्रय लेतेहैं । विष्णुरूपसे भावना है ॥ २१ ॥

कण्डिका २२–मन्त्र ४ ।

उपरव[1].

देवस्यत्त्वासवितुः प्प्रसवेऽश्विनोर्बाहुब्भ्यांम्पूष्णो हस्ताब्भ्याम् ॥ आददेनार्य्यसीदमहर्ठ० रक्षसाङ्ग्रीवाऽअपिकृन्तामि ॥ बृहन्नसिबृहद्रवाबृहतीमिन्द्रायवाचंवद ॥ २२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐदेवस्यत्वेत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । प्राजापत्या बृहती० । अग्निर्दे० । अभ्यापूपावटवत्परिलेखने वि० । (२) ॐआददेइत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । याजुषीगायत्री छं० । अग्निर्दे० । अवटार्थमभ्यादाने वि० । (३) ॐइदमित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० ।

१ जिस स्थानमें सोम कूटा जाता है उस स्थानको उपरव कहते हैं इस स्थानमें चारों सीमाके कोनोंमें चार गर्तोंको भी उपरव कहते हैं ।

आसुरी उष्णिक् छं० । रक्षोघ्नो दे० । यूपावटपरिलेखने वि० । (४) ॐ बृहन्नसीत्यारभ्य (२३) कण्डिकास्थवैष्णवीमित्यन्तस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । आर्षी पंक्तिश्छं० । उपरवो देवता । परिलेखनक्रमेणावटखनने वि० ॥ २२ ॥

विधि—(१)प्रथम मंत्रसे काष्ठनिर्मित कुद्दाल ग्रहण करै यूपअवटकी समान चार गर्तोंको चिह्नित करै [का० ६ । २ । ८] तथा [८ । ४ । २९–९१ तक] मन्त्रार्थ—हे अभ्रि ! (सवितुः देवस्य) सविता देवताकी (प्रसवे) प्रेरणासे (अश्विनोः बाहुभ्याम्) अश्विनीकुमारोंकी भुजायुगल (पूष्णः) पूषादेवताके (हस्ताभ्याम्) हाथोंसे (त्वा) तुझको उपरवकार्यमें (आददे) ग्रहण करताहूं १। विधि—(२) इस अभ्रिको खननोन्मुख करके दूसरे मंत्रसे दृढ मुष्टि करै मन्त्रार्थ—हे अभ्रे ! तुम (नारी) हमारी उपकारिणी (असि) हो २। विधि—(३) तीसरे मंत्रसे अभ्रिद्वारा अग्निकोणसे आरंभ करके चार कोण अग्नि नैर्ऋत्य वायु और ईशानमें चार अवट (गर्त) खननके निमित्त परिलेखन करै यह प्रादेशमात्र प्रशस्त वर्तुलाकार निर्माण करै [का० ६ । २ । ८ ।] [प्रादेश—बिलस्तभर अंगूठेसे कनउंगलीतक] मन्त्रार्थ—(इदम्) यह जो मैं चार अवट प्रस्तुत करनेको चार परिलिखन करता हूं इसके द्वारा (अहम्) मैं (रक्षसाम्) यह यज्ञ विघ्नकारी राक्षसोंकी (ग्रीवा) गर्दन (अपिकृन्तामि)कृन्तन करता हूं३।विधि(४) चौथे मंत्रसे और परकण्डिकाके प्रथम मंत्रतक चारों ओर लिखनेके अनुसार बाहुपरिमाण चार अवट प्रस्तुत करै [का० ८ । ५ । ७] मन्त्रार्थ—हे घोरतरशब्दकारी उपरव ! तुम (बृहत्) महान् हो (बृहद्रवाः) महाशब्द करनेवाले (असि) हो (इन्द्राय) इन्द्र देवताकी प्रीतिके निमित्त (बृहतीम्) इस प्रकार की उच्चध्वनिवाली (वाचम्) वाणीको (वद) कथन करो ॥ २२ ॥

कण्डिका २३—मन्त्र ९ ।

रक्षोहणँवलगहनँवैष्णवीमिदमहन्तंवलगमुत्किरामियम्मेनिष्ट्योयममात्त्योनिचखानेदमहन्तंवलगमुत्किरामियम्मेसमानोयमसमानोनिचखानेदमहन्तंवलगमुत्किरामियम्मेसबन्धुर्य्यमसबन्धुर्न्निचखानेदमहन्तंवलगमुत्किरामियम्मेसजातोयमसजातोनिचखानोत्कृत्त्याङ्किरामि ॥ २३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐइदमित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । निचृद्दार्षी गायत्री छं० । लिङ्गोक्ता दे० । उपरवेभ्यः पांसुनिष्कासने वि० । (२–३–४) ॐइदमहमित्यस्य मन्त्रत्रयस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । भुरिगार्षी गायत्री छं० । (५) ॐ कृत्यामित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । याजुषी गायत्री छं० । सर्वेभ्य उपरवेभ्यः कृत्योत्किरणे वि० ॥ २३ ॥

पूर्वमंत्रशेषार्थ–जो पूर्वोक्त वाणी (रक्षोहणम्) यज्ञविघ्नकारी राक्षसोंकी विनाशक तथा (वलगहनम्) कृत्यानाशक अर्थात् पराजयको प्राप्त हुए राक्षसोंद्वारा इन्द्रादिके वधके निमित्त अभिचाररूपसे भूमिमें गाडेहुए अस्थिकेश नखादि पदार्थ "वलो वृणोतेरिति यास्कः" [निरु० ६ । २] जिसकेवधके निमित्त जो कृत्य किया जाय उसको आच्छादन कर चलानेवाली, उन वलगोंको बाहुमात्र नीचे खोदकर निकालै "तान्बाहुमात्रान्खनेत्" इति श्रुतेः । [श०३।५।४।९] "असुरा वै निर्यन्तो देवानां प्राणेषु वलगान्यखनन् तान्बाहुमात्रे त्वविन्दंस्तस्माद्बाहुमात्रास्खायन्त" इति[तैत्तिरीय०][असुरोंके गाडे अभिचार एक हाथ खोदनेसे पाये इस कारण एक हाथ पर्यन्त खोदै] (वैष्णवीम्) विष्णुदेवयज्ञस्वरूपवाली है वह इन्द्रसे कहो। विधि–(१) इस मंत्रसे अग्निकोणके गर्तसे मृत्तिका निकालै [का० ८ । ५ । ८] मंत्रार्थ–(निष्ट्यः) अत्यन्त संघातरूपसे वर्तमान चाण्डाल आदि अथवा शरीरके सम्बन्धी आदिने (यम्)जो अथवा (अमात्यः) घरके कृत्यज्ञाता अमात्यमन्त्रीने सम्मतिदाताने किसी निमित्तसे क्रोधित होकर (यम्)जो अभिचार के निमित्त अस्थिकेशादि मेरे अनिष्टके निमित्त (निचखान) गाडे हैं (अहम्) मैं (तम्) उस (इदम्) इस (वलगम्) अभिचारको (उत्किरामि) उनके सहित निकालता हूं १ । विधि–(२) दूसरे मंत्रसे नैर्ऋतकोणके अवटसे मृत्तिका निकाल कर फेंके । मन्त्रार्थ–(समानः) धनमें कुलशीलादि और मानसे समान (यम्) जो तथा (असमानः) न्यूनाधिकने " यं मे निचखान अहं तमिदं वलगमुत्किरामि" मेरी अहित चेष्टासे यदि कोई अभिचार स्थापित किया हो तो मैं इस उत्खातके सहित उसको भी उत्किरण करताहूं अर्थात् निकाल कर फेंकताहूं २ । विधि–(३)तीसरे मंत्रसे वायुकोणकी मृत्तिका निकालै । मंत्रार्थ–(सवन्धुः) मातुलादि समान कुलके सम्बन्धीने (यम्) जो अथवा (अवन्धुः) असंवन्धीने (यम्) जो मेरे निमित्त अहित किया है इत्यादि पूर्ववत् ३ । विधि (४) चौथे मंत्रसे ईशानकोणके गर्तकी मृत्तिका निकाल फेंके । मन्त्रार्थ–(सजातः) समानजन्मा वा समवयस्क भ्राता आदिने (यम्) जो तथा (असजातः) न्यूनातिरेक

अवस्थाके ने जो उपचार किया है इत्यादि पूर्ववत् ४ । विधि-(५) पंचम मंत्रसे चारों अवटमेंसे यथाक्रमसे सब मृत्तिका निकाल डाले [का० ८ । ५ । ९] मन्त्रार्थ-हमारी अहित चेष्टासे शत्रुगणोंने जिस जिस स्थलमें कृत्या स्थापितकी है, वह सबही वलगरूप (कृत्याम्) इस अस्थिकेशादि शत्रुगणोंके कृत्यासहित (उत्किरामि) निकाल कर फेंकता हूं शत्रुगण शून्यमनोरथ हों ५ । २३ ॥

विवरण-भूमिकी एक हाथ मृत्तिका निकालकर फेंकनेसे फिर कोई दोष नहीं रहता है ॥ २३ ॥

गाथा-एक समय राक्षस इन्द्रसे हार गये तब उन्होंने मारणादि अभिचार भूमिमें गाडे तब इन्द्रके पीडित होनेसे यज्ञ कर गर्तमेंसे देवताओंने अस्थिकेशादि निकाले जिससे राक्षसगण विफलमनोरथ हुए ॥ २३ ॥

कण्डिका २४-मन्त्र ४ ।

स्वराडसिसपत्नहा सत्त्रराडस्यभिमातिहा जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहा ॥ २४ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐस्वराडसीत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छं० । उपरवो दे० । उपरवावमर्शने वि० । (२)ॐसत्रराडसीत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । याजुषी बृहती छं० । उपरवो दे० । उपरवावमर्शने वि० । (३) ॐजनराडसीत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छं० । उपरवो देवता । उपरवावमर्शने वि० । (४) ॐसर्वराडसीत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छन्दः । उपरवो देवता । उपरवावमर्शने वि० ॥ २४ ॥

विधि(१-२-३-४) इन चारों मंत्रोंसे आग्नेयादिकोणमें यथाक्रमसे अध्वर्यु सजल हस्तसे उपरवोंको चिक्कन करे [का० ८ । ५ । १३] यजमानके हाथसे स्पर्श करावे । मंत्रार्थ-हे प्रथम अवट ! तुम (स्वराट्) स्वयंही दीप्तिमान् हो इसकारण (सपत्नहा) शत्रुघाती (असि) हो तुम्हारे प्रसादसे हमारे शत्रु नष्ट हों ॥ १ ॥

हे द्वितीय अवट ! तुम (सत्रराट्) द्वादशाहादिसत्रोंमें दीप्तिमान् हो (अभिमातिहा असि) जो हमारे प्रति दर्प प्रकाश करे उसके तुम नाशक हो तुम्हारे प्रसादसे हम शत्रुशून्य हों ॥ २ ॥

हे तृतीय अवट ! तुम (जनराट्) इन यजमान ऋत्विक् सबके सन्मुख दीप्यमान (असि) हो (रक्षोहा) राक्षस असुरघाती हो तुम्हारे प्रसादसे रक्षोगणके विघ्न नष्ट हों ॥ ३ ॥

हे चतुर्थ अवट ! तुम (सर्वराट्) सर्वत्र दीप्यमान सबके अधिपति (अमित्रहा) शत्रुघाती (असि) हो तुम्हारे प्रसादसे हमारे अमित्र नष्ट हों ॥ ४ ॥ २४ ॥

विशेष—सोमयाग तीन प्रकारका होता है एकाह अहीन और सत्र जो एक दिनमें सम्पादन हो जाय वह एकाह. जो दो दिनसे अधिक द्वादशदिन पर्यन्त सम्पन्न हो वह अहीन और अधिक काल पर्यन्त जो स्थित रहै वह सत्र कहाता है [अवट—गर्त] २४ ॥

कण्डिका २५—मन्त्र ७ ।

रक्षोहणो॑वो॒वलग॒हन॒ः प्रोक्षा॑मिवैष्ण॒वान्र॑क्षोहणो॑वो॒वलग॒हनो॒वनया॑मिवैष्ण॒वान्र॑क्षोहणो॑वो॒वलग॒हनो॒वस्तृणा॑मिवैष्ण॒वान्र॑क्षोहणौ॑वां॒वलग॒हना॒ऽउपद॑धामिवैष्ण॒वीर॑क्षोहणा॑वां॒वलग॒हनो॒पर्यू॑हामिवैष्ण॒वीवै॑ष्ण॒वम॑सिवैष्ण॒वास्थ॑ ॥२५॥ [४]

ऋष्यादि—(१) ॐरक्षोहण इत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । विष्णुर्दे० । प्रोक्षणे वि० । (२) ॐरक्षोहण इत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । भुरिक्प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । उपरवो दे० । प्रोक्षणशेषजलावनयने वि० । (३) ॐ रक्षोहणौ वामित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । आर्षी गायत्री छं० । विष्णुर्दे० । अवस्तरणे वि० । (४) ॐरक्षोहण इत्यस्यौतथ्य ऋ० । भुरिक्प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । उपरवो देव० । उपधाने वि० । (५) ॐवैष्णवमित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । दैवी पंक्तिश्छं० । विष्णुर्देवता । पर्यूहणे वि० । (६) ॐवैष्णवमित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । यजुश्छं० । विष्णुर्देवता । अधिषवणस्थापने वि० । (७) ॐवैष्णवास्थेत्यस्यौतथ्यो दी० ऋ० । दैवी बृहती छं० । पञ्चपाषाणनिधाने वि० ॥ २५ ॥

विधि—(१) प्रथम मंत्रसे अध्वर्यु यथाक्रमसे इन उपरवोंको जलसे प्रोक्षणकरे [का०८।५।२२—२३] अग्निकोणसे प्रारंभ करै। मंत्रार्थ—(रक्षोहणः) राक्षसोंके नष्ट करनेवाले (वलगहनः) अभिचारसाधनके नष्ट करनेवाले (वैष्णवान्) विष्णुदेवता सम्बन्धी (वः) तुम गर्तोंको मैं (प्रोक्षामि) प्रोक्षण करताहूं. १ । विधि—(२) दूसरे मंत्रसे गर्त्तप्रोक्षणसे शेषजल अलग डालदे [का० ८ । ५ । २४] मन्त्रार्थ—(रक्षोहणः) राक्षसघाती (वलगहनः) अभिचारसाधननाशक (वैष्णवान्)

विष्णुदेवतासम्बन्धी (वः) तुमको (अवनयामि) सींचकर शेष जल पृथक् करताहूं २ । **विधि**–(३) तीसरे मंत्रसे अवस्तरण [गर्तोंपर कुछ कुशाका विछाना] करे । **मन्त्रार्थ**–(रक्षोहणः) राक्षसघाती (वलगहनः) अभिचारसाधननाशक (वैष्णवाम्) विष्णुदेवताके सम्बन्धी (वः) तुम गर्तोंको मैं (अवस्तृणामि) कुशासे आच्छादन करताहूं ३ । **विधि**–(४) चौथे मंत्रसे उपधान करै [का०८।९।२५]

मन्त्रार्थ–(रक्षोहणौ) राक्षसघाती (वलगहनौ) अभिचारसाधननाशक(वैष्णवी) विष्णुदेवताके सम्बन्धवाले (वाम्) सोम निचोडनेके तुम दोनो फलकको(उपदधामि) दो गर्तके ऊपर एक एक फलक स्थापित करताहूं ४। **विधि**–(५)पंचममंत्रसे पर्यूहण करे अर्थात् फलकका मुख जो गर्तके मध्यमें निविष्ट है उसके ऊपर गर्तके मुखमें मृत्तिका लगाकर यह दोनो फलक दृढ करैं जिससे चलायमान नहीं हो । **मन्त्रार्थ**–(रक्षोहणौ) राक्षसविनाशी (वलगहनौ) अभिचारसाधननाशक (वैष्णवी) विष्णुदेवताके सम्बन्धि (वाम्) तुम दोनों फलकको (पर्य्यूहामि) पर्यूहण करताहूं५ । **विधि**–(६) छठे मंत्रसे उसके ऊपर लोहितवर्ण अधिषवण स्थापन करै यह लालसे रंगका चर्म है इसपर सोम कंडन होता है इसको अधिषवण कहते हैं [का० ८ । ९ । २६] **मन्त्रार्थ**–हे अधिषवण ! तुम (वैष्णवम्) विष्णुदेवतासम्बन्धी यज्ञके प्रधान उपकरण (असि) हो ६ । **विधि**–(७) सातवें मंत्रसे उसके ऊपर पांच पत्थर स्थापित करै इनसे सोम कूटाजाता है [का०८।९। २७] **मन्त्रार्थ**–हे ग्रावासमूह ! तुम (वैष्णवाः) यज्ञरक्षक विष्णुसम्बन्धी (स्थ) हो ॥ २५ ॥

विवरण–इन्द्र वा यजमान इन गर्त करनेमें प्रवृत्त हुए हैं इससे शत्रुगणके किये सम्पूर्ण अभिचार साधक प्रगट होजायं और फिर समर्थ न हो इस कारण गर्तको वलगहन कहा वस्तुतः पृथ्वीमें गर्त करते समय जो उसमेंसे अस्थिकेशादि निकालकर इधर उधर फेंक दिया है उसका कारण यह गर्तही है इस कारण गर्तकी वलगहन कह कर स्तुति कीहै.

इन वलगोंके प्रकाश होनेसे राक्षसोंके मनोरथ पूर्ण न होसकैं इसकारण रक्षोहण कहा गर्तसे निकली ईंट कंकर केश अस्थि प्रभृति भी रक्षस् शब्दसे ग्रहण करने योग्य हैं कारण कि अपवित्रमें राक्षस निवास करते हैं.

उपधानक्रियाका विवरण–बाँसका बना अधिषवण फलक उभयमुख सूचीवत् तीक्ष्णाग्र करै और फिर उसके ऊपर दो अंगुलके अंतरसे अरत्नि (समुष्टि हाथ) प्रमाण दीर्घ कुशा बिछावे इस अधिषवण फलकके सहित ग्रन्थि बंधन

---

१ इनपर सोम निचोडते हैं ।

करै इस प्रकारके दोनोंको अधिषवण फलक कहते हैं, इस प्रकारके दो फलक बनाकर एक आग्नेयसे वायव्यकोणतक दूसरा उसके ऊपर ईशानसे नैर्ऋत्यकोण-तक इस गर्तसमूहसे ग्रोथित करै, अर्थात् एकका एक अग्रभाग और दूसरा का अग्रभाग वायव्यकोणके गर्तके भीतर रहै, दूसरेका एक अग्रभाग ईशानकोण के गर्तके भीतर और अपरका अग्रभाग इस प्रथम फलकके मध्यभागके ऊपर होकर नैर्ऋत्यकोणके गर्तके भीतर रहै इन दोनों फलकके दोनो मुख गर्तके मध्य बाहु-प्रमाणतक प्रविष्टहो, और अपर मध्यअंश सम्पूर्णभूभागके ऊपर मृत्तिकाके सहित संलग्न रहै, इस समस्त क्रियाको उपधानक्रिया कहते हैं ॥ २९ ॥

औदुम्बरी प्रयोग.

सदोमण्डप अर्थात् प्राग्वंशा शालाके पूर्व और उदग्वंशाशालाकी शेष सीमामें हविर्धानमण्डपके पश्चिम अर्थात् उदग्वंशाशालाके आदिभागके मध्यस्थलमें औदुम्बरी स्थापित होतीहै, इस औदुम्बरीके ऊपर अतिवृहत् आच्छादन मण्डप निर्मित होताहै यही सभामण्डप नामसे प्रसिद्ध है, इस समय यही भविष्यत्नामसे व्यवहृत होताहै.

कण्डिका २६—मन्त्र ७।

देवस्यत्त्वा सवितुःप्प्रसवेश्विनोर्ब्बाहु॑ण्णोहस्ताॅभ्याम् ॥ आददेनार्यसीदमहꣳरक्षसाङ्ग्रीवाऽअपिकृन्तामि ॥ यवोसियवयास्म्मद्द्वेषोयवयारातीर्दिवेत्त्वान्तरिक्षायत्त्वापृथिव्यैत्त्वा शुन्धन्ताँल्लोकाःपितृषदनाःपितृषदनमसि ॥२६।

ऋष्यादि—(४) ॐयवोसीत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । आसुरी उष्णिक्छं० । यवो देवता । यवानोप्य प्रोक्षणे वि० । (५) ॐदिवे इत्यस्यौतथ्यो दी० ऋ० । याजुषी जगती छं० । औदुम्बरी दे० । मूलमध्याग्रप्रोक्षणे विनि० । (६) ॐशुन्धन्तामित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । याजुषी पं० । पितरो देव० । अवटे शेषोदकासिंचने वि० । (७)ॐपितृसदनमित्यस्यौतथ्यो दी० ऋ० । दैवी जगती छन्दः । पितरो दे० । प्रागग्रोदगग्रदर्भास्तरणे वि० ॥ २६ ॥

विधि—(१-२-३) सभामण्डपके मध्यमें जिस स्थलमें यजमानके शरीरकी समान ऊंची गूलरकी शाखा गाडी जाय, वहां एक गर्त करना अवश्यहै इस कारण

२२ कण्डिकाकी समान इस मंत्रमें अभ्रिस्वीकार, दूसरे मंत्रसे दृढ मुष्टिधारण और तीसरे मंत्रसे परिलिखन करे २२ कण्डिकामें तीनों मंत्रोंका विनियोग और व्याख्या हो गई. जबतक गर्त खनन हो तबतक शाखा मण्डपके एक स्थानमें पडी रक्खे। मन्त्रार्थ–(१-२-३) हे अभ्रि ! सविता देवताकी प्रेरणासे इत्यादि. [८ । ९ । ३०–३२]

विधि (४) चौथे मंत्रसे इस गर्तके चारों ओर जल छिडककर गीली भूमिमें जौ बोवै [का० ६ । २ । १९] मन्त्रार्थ–हे शस्य ! तुम (यवः) यव (असि) हो इस कारण हमारे (द्वेषः) शत्रु वा दुर्भाग्यको (अस्मत्) हमसे (यवय) दूर वा पृथक् करो (अरातीः) हमारे शत्रुसमूहको (यवय) हमसे दूरकरो हमें सौभाग्य धन दो। विधि–(५) पांचवें मंत्रसे गूलरकी शाखाके तीन अंश अग्र मध्य और मूलमें जलपात्रमें जौ डालकर प्रोक्षण करे [का० ६ । २ । १५–१६] मंत्रार्थ–हे औदुम्बरीके अग्रभाग ! (दिवे) द्युलोककी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझको प्रोक्षण करताहूं (अन्तरिक्षाय) हे उदुम्बरीके मध्यभाग ! अन्तरिक्षकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझको प्रोक्षण करता हूं हे उदुम्बरीके मूलभाग ! (पृथिव्यै) पृथ्वीकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझे प्रोक्षण करताहूं ५। विधि–(६) प्रोक्षणसे अवशिष्ट जल इस छठे मंत्रसे उस गर्तमें डाले [का०६ । २ । १७] मन्त्रार्थ–(पितृषदनाः) जहां पितर निवास करतेहैं (लोकाः) वे लोक (शुन्धन्ताम्) इस जलसे शुद्ध होजायँ ६। विधि–(७) सप्तम मंत्रसे इस गर्तके चारोंओर पूर्वाग्र और उत्तराग्र कुशा विछावै [का० ६ । २ । १८] मन्त्रार्थ–हे कुशासमूह ! तुम (पितृषदनम्) पितृगणका आसन (असि) हो पितृगण इस स्थानमें सुखसे बैठेंगे ॥ ७ ॥ २६ ॥

प्रमाण–"क्रूरमिव वा एतत्करोति यत्खनति यत्पयोऽवनयति शान्त्यै तत्" इति [तैत्तिरीये] खननसे जो पृथ्वीमें क्रूरता होतीहै वह इससे शान्त हो। तथा इस मंत्रसे पितृलोक भी सूचित होता है ॥ २६ ॥

कण्डिका–२७ मंत्र ४।

उद्दिवँ स्तभानान्तरिक्षम्पृण दृँहस्व पृथिव्यान्द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोतु मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणा ॥ ब्रह्मवनिन्त्वा क्षत्रवनिँ रायस्पोषवनिम्पर्यूहामि ॥ ब्रह्म दृँह क्षत्रन्दृँहायुर्दृँह प्रजान्दृँह ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐउद्दिवमित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । भुरिक्प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । औदुम्बरी दे० । औदुम्बर्यूर्ध्वकरणे वि० । (२) ॐद्युतान इत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । आर्ष्युष्णिक्छं० । औदुम्बरी दे० । अवट औदुम्बरीप्रक्षेपणे वि० । (३) ॐब्रह्मवनीत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । भुरिक्साम्नी बृह० छ० । औदुम्बरी दे० । पांसुभिः पर्यूहणे वि० । (४) ॐब्रह्मेत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । औदुम्बरी देवता । परितो दृढीकरणे वि० ॥ २७ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे औदुम्बरीको खडा करै [का० ८ । ५ । ३३] मंत्रार्थ-हे औदुम्बरी देवता ! (दिवम्) द्युलोकको (उत्तभान) स्तंभितकर अर्थात् हम तुमको उच्छ्रित करते हैं (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (पृण) पूर्णकर [अवकाश परिपूर्ण हो] (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें (दृꣳह्स्व) दृढहो वा पृथ्वीको दृढकर १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे गूलरशाखा गर्तमें रक्खे [का० ८ । ५ । ३४] मंत्रार्थ-हे औदुम्बरि ! (द्युतानः) दीप्तिमान् (मारुतः) मरुत् देवता (ध्रुवेण) स्थिर (धर्मणा) धर्मसे (त्वा) तुमको इस गर्तमें (मिनोतु) प्रक्षेप करें तथा (मित्रावरुणौ) मित्रावरुण देवता [सूर्य चन्द्र वा दिनरात] चिरकालतक तुमको रक्षा करते निजकर्तव्य साधन करें "इस समय प्रवल वायु न चले यह भाव है" विधि-(३) तीसरे मंत्रसे पांसुद्वारा पर्यूहण करै अर्थात् यूपकी समान मृत्तिका डालकर जलसे पूरित करै [का० ८ । ५ । ३५] मन्त्रार्थ-हे औदुंवरि ! (ब्रह्मवनि) ब्राह्मणजातिसे स्तवनीय (क्षत्रवनि) क्षत्रियजातिसे स्तवनीय (रायस्पोषवनि) वैश्यजातिसे स्तवनीय (त्वा) तुझको (पर्यूहामि) इस अवटमें पर्यूहण मृत्तिका डालकर दृढ करताहूं ३ । विधि-(४) चौथे मंत्रसे मित्रावरुण सम्बन्धी दण्डके द्वारा चारों ओर तीनवार मट्टीको अवटके भीतर प्रवेशकर कूटे [का० ६ । ३ । ११] "यह दण्ड अ० १ का० १ में अग्न्यागारके सन्मुख उच्च देशमें रक्षित है." मंत्रार्थ-हे औदुम्बरि ! (ब्रह्म) ब्राह्मणजातिको (दृꣳह) दृढकरो (क्षत्रम्) क्षत्रियजातिको (दृꣳह) दृढकरो (आयुः) आयुको (दृꣳह) दृढकरो (प्रजाम्) पुत्रादिको (दृꣳह) दृढकरो ४ ॥ २७ ॥

विवरण-ब्राह्मण क्षत्रियादिके आयु पुत्रादिकी वृद्धि हो गूलरके सन्निधानसे यह गुण हैं ॥ २७ ॥

विनियोग छोडकर परमात्माकी प्रार्थना है ॥ २७ ॥

कण्डिका २८-मन्त्र ३ ।

ध्रुवासि ध्रुवोयंयजमानोस्मिन्नायतनेप्रजयापु

शुभिर्भूयात् ॥ घृतेनद्यावापृथिवीपूर्य्येथामिन्द्रं स्यच्छदिरसिविश्श्वजनस्यच्छाया ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐध्रुवासीत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ०। निच्यृदार्षी गायत्री छं०। औदुम्बरी दे०। औदुम्बर्यालम्भने वि०। (२) ॐघृतेनेत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ०। याजुषी त्रिष्टुप्छं०। द्यावापृथिवी दे०। औदुम्बरीविशाखे घृतेन हवने वि०। (३) ॐइन्द्रस्येत्यस्य साम्न्युष्णिक्छं०। इन्द्रो देवता। सदोमण्डपोपरि प्रावरणाय मध्यकटारोपणे वि० ॥ २८ ॥

विधि-(१)औदुम्बरी स्पर्श कर प्रथम मंत्र पाठकरै [का० ८। ५। ३९] मंत्रार्थ-हे औदुम्बरि ! तुम (ध्रुवा) इस स्थलमें स्थिर (असि) हो (अयम्)यह (यजमानः) यजमान (अस्मिन्) इस (आयतने) स्थानमें तुम्हारे प्रसादसे (प्रजया) सन्तान (पशुभिः) पशुओंके सहित(ध्रुवः) सुखी (भूयात्) हो इस शरीरसे सुस्थिर हो १। विधि-(२) दूसरे मंत्रसे अध्वर्यु औदुम्बरीके विशाखोत्पत्तिप्रदेशमें स्रुवाद्वारा घृतसे होम करै [का० ८। ५। ३७] मंत्रार्थ-इस हूयमान (घृतेन) घृतसे (द्यावापृथ्वी) द्युलोक और पृथ्वी (पूर्य्येथाम्) पूर्ण हो २। विधि-(३) फिर तीसरे मंत्रसे सभामण्डपके ऊपर छदिआरोपण करै अर्थात् औदुम्बरी स्थापनके उपरान्त सदोमण्डप निर्माण कर उसके आवरणके निमित्त मण्डप मध्यमें प्रधान बांसके ऊपर वंश तृणादिसे बनी चटाईकी छत्त लगावै[का०८। ५। ६। १०]मन्त्रार्थ-हे तृणमय कट ! तुम (इन्द्रस्य) इन्द्र अथवा ऐश्वर्यसम्पन्न यजमानकी (छदिः) इस सभामण्डपकी छादक (असि) हो इसकारण तुम (विश्वजनस्य) यजमान ऋत्विगादि समस्तजनोंको (छाया) छायारूप हो अर्थात् तुम्हारी छायामें समस्त ऋत्विगादि बैठकर अपना २कर्तव्य अनुष्ठान करैंगे३॥२८॥

कण्डिका २९-मन्त्र १।

परित्वागिर्वणोगिरऽइमाभवन्तुविश्श्वतः ॥ वृद्धायमनुवृद्धयोजुष्टाभवन्तुजुष्टयः ॥ २९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐपरित्वेत्यस्य मधुच्छन्दा ऋ०। अनुष्टुप्छं०। इन्द्रो दे०। परितः सद आच्छादने वि० ॥ २९ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे छदिके ऊपर भलीप्रकारसे कुटच्यवदारण करे [का० ८ । ६ । १२ मन्त्रार्थ-(गिर्वणः) हे स्तोत्र और शस्त्रसे स्तुतियोग्य सभाके अधिष्ठात्रीदेवता इन्द्र ! (इमाः) यह स्तोत्ररूप (अनुवृद्धयः) सवनक्रमसे वृद्धियुक्त [प्रातः सवनमें शनैः २ मध्यम सवनमें उच्चस्वर, महा उत्तान स्वरसे तीसरा सवन] (गिरः) स्तुतियें (त्वा) तुमको (विश्वतः) सब ओरसे (परिभवन्तु) कटरूपसे ग्रहण करो (वृद्धायुम्) दीर्घायु मनुष्य यजमानादि वा मरुतवाले तुमको यह स्तुति दीर्घायुवाली हो (जुष्टयः) यह हमारी सेवा तुम्हारी (जुष्टा) प्रिया (भवन्तु) हों अर्थात् हमारी सेवासे तुम प्रसन्न हो [ऋ० १ । १ । २०] २९ ॥

कण्डिका ३०-मन्त्र ४ ।

इन्द्र॑स्य स्यूर॒सीन्द्र॑स्य ध्रु॒वो॑सि ॥ ऐ॒न्द्रम॑सि वैश्वदे॒वम॑सि ॥ ३० ॥ [५]

ऋष्यादि-(१) ॐइन्द्रस्येत्यस्य मधुच्छन्दा ऋ० । याजुषी गायत्री छं० । इन्द्रो देवता । परिषीवणे वि० । (२) ॐइन्द्रस्येत्यस्य मधुच्छन्दा ऋ० । याजुषी गायत्री छं० । इन्द्रो देवता । ग्रन्थिकरणे वि० । (३) ॐ ऐन्द्रमित्यस्य मधुच्छंदा ऋ० । दैवी बृहती छं० । इन्द्रो देवता । अभिमर्शने वि० । (४) ॐवैश्वदेवमित्यस्य मधुच्छन्दा ऋ० । यजुश्छं० । विश्वेदेवा दे० । आलंभने वि० ॥ ३० ॥

विधि-(१) पूर्वादिके दक्षिणस्थूणादि प्रदक्षिणा क्रमसे चारों द्वारोंका परिषीवण (रस्सीमें ग्रन्थिदान) करै प्रथम मंत्रसे लम्पूजनी ग्रहण करै [का० ८ । ६ । १२] मंत्रार्थ-हे रज्जो ! तुम (इन्द्रस्य) सभाअधिष्ठात्री इन्द्रदेवताकी सम्बन्धिनी (स्यूः) सीवन (असि) हो तुमको इस छदिके ऊपर कुटी सीवनके अर्थ ग्रहण करता हूं १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे ग्रन्थि दे । मंत्रार्थ-हे ग्रन्थि ! तुम (इन्द्रस्य) इन्द्रसम्बन्धिनी होकर (ध्रुवः) स्थिर (असि) हो अर्थात् इन्द्र देवताकी प्रीतिके निमित्त तुम्हें प्रदान करता हूं अविचल भावसे स्थिति करो २ ।

विधि-(३) तीसरे मंत्रसे सभासम्बोधन । मंत्रार्थ-हे सभा ! तुम(ऐन्द्रम्)इन्द्रदेवताके प्रीतिसाधनके निमित्त मेरे द्वारा निर्मित (असि) हो ३ । विधि-(४) हविर्धान मण्डपके अपरपार्श्व वायुकोणमें और इस सभामण्डपके किंचित् बाहरे उत्तरभागमें आग्नीध्रनामक अग्निस्थान बनावै उसे इस चतुर्थ मंत्रसे स्पर्श करै [८ ।

१ अर्थात् परिवारकोंसे आच्छादन करै ।

६ । १३–१४] मंत्रार्थ–हे आग्नीध्र ! तुम (वैश्वदेवम्)समस्तदेवताओंके आवाहन स्थानहो. ४ ॥ ॥ ३० ॥

विवरण–सभाशब्दसे नव निर्मित सभामण्डप अर्थात् प्राचीनवंश शालाके मध्यमें ऐष्टिक वेदी पश्चिममें गार्हपत्य अग्नि दक्षिणमें दक्षिणाग्नि उत्तरमें प्रतिहार भूमि पूर्वमें आहवनीयाग्नि इस सम्पूर्ण स्थानका नाम देवयजन हैं, इसीको (देवानामोकः) नामसे कथन किया है यही देवमंदिर कहाजाता है इसीके पूर्वदिक् सन्मुखमें यह सभामण्डप प्रस्तुत होता है, इसी मण्डपमें ऋत्विगादिगणकी कार्यसभा है, इसीके अनुसार इस समय शिवालयादिं और उसके सन्मुख सभामंडप बनानेकी रीति चली आती है.

यद्यपि इस सभामण्डपके मध्यमें होता आदि सब ऋत्विजोंका अग्निकुण्ड पृथक् २ निर्दिष्ट होताहै, उसके मध्यमें आग्नीध्र नामक एक ऋत्विक्काभी एक अग्निकुण्ड होताहै परन्तु यह उसीके अन्तर्गत वा समकक्षामें नहीं है जिस प्रकारसे आग्नीध्र और गार्हपत्य हैं इसी प्रकारसे यह भी एक प्रधान अग्निकुण्ड है.

धिष्ण्यप्रकरण ।

कण्डिका ३१–मंत्र ४ ।

विभूरसि प्प्रवाहणो वह्निरसि हव्यवाहनः ॥ श्वात्रोसि प्प्रचेतास्तुथोसि विश्ववेदाऽउशिगसि॥३१॥

ऋष्यादि–(१) ॐविभूरसीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। प्राजापत्या गायत्री छन्दः । अग्निर्देव० । आग्नीध्रीयधिष्ण्यनिवापे वि० । (२) ॐ वह्निरसीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । याजुषी बृहती छं० । अग्निर्देवता । होतृधिष्ण्यनिवापे वि०। (३) ॐश्वात्रोसीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । याजुषी गायत्री छं० । अग्निर्दे० । मैत्रावरुणधिष्ण्यनिवापे वि० । (४) ॐतुथोसीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋ० । दैवी जगती छं० । अग्निर्दे० । ब्राह्मणशंसिधिष्ण्यनिवापे वि० ॥ ३१ ॥

विधि–(१) सभामण्डपके ईशानकोणमें आग्नीध्रधिष्ण्य प्रस्तुत करके उसके ऊपर यथाविधि अग्नि स्थापन करनेके अनन्तर इस प्रथम मंत्रसे उस अग्निका नामकरण करै [का० ८ । ६ । १९ ।] मन्त्रार्थ–हे आग्नीध्रधिष्ण्य ! सबसे प्रथम तुमपर ही अग्नि स्थापन होती है यही अग्नि क्रमसे होतृधिष्ण्यादिसे गमन करैगी इसी कारण तुमसे अधिष्ठित अग्नि (विभूः) विविधरूपसे होनेवाली व्यापक (असि) है और तुम्हारे दक्षिण उत्तर ऋत्विग्गणका

गमनागमन मार्ग है इस कारण तुम्हारा दूसरा नाम (प्रवाहणः) प्रवाहण है १। विधि-(२) इसके अनन्तर सभामण्डपमें जो प्रशस्तमार्ग है उसी पथके द्वारा दक्षिण पार्श्वमें एवं पूर्वस्थापित औदुम्बरीके अग्निकोणमें होतृधिष्ण्यनिर्माणादिके परे उसके ऊपर स्थापित अग्निका इस दूसरे मंत्रसे नामकरण करै [का० ८। ६। १८-२१] मन्त्रार्थ-हे होतृधिष्ण्य ! तुमसे अधिष्ठित अग्नि इस यज्ञका प्रधान कार्यनिर्वाहक है इस कारण तुम (वह्निः) वह्निनामसे प्रसिद्ध (असि) हो और सम्पूर्ण देवताओंके उद्देशसे दी हवि ही इसमें प्रदत्त होती है, इन समस्त हवियोंको वहन करनेसे (हव्यवाहनः) तुम्हारा नाम हव्यवाहन है २। विधि-(३) इसी होतृधिष्ण्यसे दक्षिण मैत्रावरुणधिष्ण्यनिर्माणादि करके उसके ऊपर स्थापित अग्निका इस तीसरे मंत्रसे नामकरण करै। मन्त्रार्थ-हे मैत्रावरुणधिष्ण्य ! तुमसे अधिष्ठित यह अग्नि हमारी प्रकृतामित्र है इस कारण इसको (श्वात्रः) श्वात्र कहते हैं और यह होताके दोष आवरण करता है इस कारण इसको (प्रचेताः) प्रकृष्ट ज्ञानवान् वरुण कहते हैं ३। विधि-(४) सदोमण्डपके मध्यगत पथद्वारा उत्तर पार्श्व एवं होतृधिष्ण्यके भी उत्तर ब्राह्मणशंसि धिष्ण्य निर्माण करके उसपर अधिष्ठित इस अग्निका चतुर्थ मंत्रसे नामकरण करै मन्त्रार्थ-हे ब्राह्मणशंसी धिष्ण्य ! तुम स्थापित इस अग्निदेवताके प्रीति उद्देश प्रदक्षिणादिके विभाग करनेवाले हो अथवा ब्रह्मरूप हो इसकारण तुमको (तुथ) कहते हैं एवं जिस ऋत्विगादिको जिस रूपसे भागादि प्राप्त हो वह सब ही जान्ते हो इसकारण तुम (विश्ववेदाः) विश्ववेद नामसे विख्यात (असि) हो "ब्रह्म वै तुथः" इतिं श्रुतेः [श० ४। ३। ४। १९]॥ ३१॥

विवरण-१ अग्निके आश्रय स्वल्पमृत्तिकासे निर्मित सामान्य वेदीको धिष्ण्य कहते हैं, आग्नीध्र, मैत्रावरुण, होता, ब्राह्मणशंसि, पोता, नेष्टा और अच्छावाक् इन सात ऋत्विक्को सात पृथक् पृथक् धिष्ण्य होती हैं, यहां सातों वेदी सभामण्डपके मध्यमें निर्मित होती हैं उसके मध्य दक्षिणभागमें दो और उत्तर भागमध्य प्राचीनवंशा शालासे उत्तर वेदी गमनागमनका मार्ग है १।

२ तैत्तिरीयश्रुतिमें कहाहै कि धिष्ण्यगत अग्निके दोदो नामकरणकी सदैव कालकी विधि है इस कारण यह आग्नीध्र अग्निविभु और प्रवाहण इस दोनामसे अंचित होती है यह धिष्ण्य आग्नीध्र नामक ऋत्विक्का प्रधान कार्यस्थान है आग्नीध्र उद्गाता दूसरे सहकारी यह सामवेदी हैं इनकी दक्षिणा उद्गाताकी दक्षिणासे तिहाई होती है प्रमाण "ते वै द्विनामानो भवन्ति" इति श्रुतेः [श० ३। ६। २। २४] "तान्देवा अब्रुवन्द्वे द्वे नामनी कुरुत" इति [तैत्ति०] २।

३ यह धिष्ण्य होतृनामकऋत्विक्का प्रधान कार्यस्थान होता ऋग्वेदीय प्रधान ऋत्विक् अध्वर्यु उद्गाता और ब्रह्माके सहित इसकी तुल्य दक्षिणा है ३।

४ यह धिष्ण्य मैत्रावरुणनामक ऋत्विक्का प्रधान कार्यस्थान, मैत्रावरुण होताका प्रथम सहकारी ऋग्वेदी हैं यह होतासे आधी दक्षिणाका अधिकारी है ४।

५ यह धिष्ण्य ब्राह्मणशंसी नामक ऋत्विक्का प्रधानकार्यानुष्ठानस्थान है ब्राह्मणशंसी ब्रह्माका प्रथम सहकारी त्रिवेदवित् होताहै इसकी ब्रह्मासे आधी दक्षिणा होतीहै ५॥ ३१॥

कण्डिका ३२—मन्त्र ९।

उशिगसि कविरङ्घारिरसि बम्भारिरवस्यूरसि दुवस्वाञ्छुन्ध्यूरसि मार्जालीयः सम्राडसि कृशानुः परिषद्योऽसि पवमानो नभोऽसि प्रतक्वा मृष्टोऽसि हव्यसूदनऽऋतधामासि स्वर्ज्योतिः समुद्रोऽसि॥ ३२॥

ऋष्यादि—(१) ॐउशिगसीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋ०। याजुषी गायत्री छं०। अग्निर्देवता। पोतृधिष्ण्यनिवापे वि०।(२)ॐ अङ्घारीत्यस्य मधुच्छं०। याजुष्यनुष्टुप्छं०। अग्निर्देवता। नेष्टृधिष्ण्यनिवापे वि०।(३) ॐअवस्यूरसीत्यस्य मधुच्छं० ऋ०। याजुष्यनुष्टुप्छंदः। अग्निर्देवता। अच्छावाग्धिष्ण्यनिवापे वि०। (४) ॐ शुन्ध्यूरसीत्यस्य मधुच्छं० ऋ०।याजुष्यनुष्टुप्छं०। अग्निर्देवता। मार्जालीयधिष्ण्यनिवापे वि०।(५) ॐसम्राडसीत्यस्य मधुच्छं०। याजुष्युष्णिक्छं०। आहवनीयो दे०। आहवनीयधिष्ण्यनिवापे वि०। (६) ॐ परिषद्योऽसीत्यस्य मधुच्छं०। याजुषी गायत्री०। बहिष्पवमानो दे०। बहिष्पवमानदेशधिष्ण्यानिवापे वि०। (७) ॐनभोऽसीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। याजुष्यनुष्टु०। चात्वालो देवता। चात्वालधिष्ण्यनिवापे वि०। (८) ॐमृष्टोसीत्यस्य मधुच्छं० ऋ०। याजुष्यनुष्टुप्छं०। शामित्रो दे०। शामित्रधिष्ण्यनिवापे वि०। (९) ॐऋतधामेत्यस्य मधुच्छंदा ऋ०। याजुष्यनुष्टुप्छं०। औदुम्बरिर्देव०। औदुम्बरिधिष्ण्यनिवापे वि०॥ ३२॥

विधि—(१) ब्राह्मणशंसी धिष्ण्यके किंचित् उत्तरमें पोतृधिष्ण्य निर्माणादि करै, उसपर अधिष्ठित अग्निका इस मंत्रसे नामकरण करै। मन्त्रार्थ—हे पोतृधिष्ण्य

तुमपर स्थापित यह अग्नि अधिकतर सुसज्जित है इस कारण यह (उशिक्) कमनीय और (कविः) क्रान्तदर्शीनामवाली (असि) है १ । विधि-(२) पोतृधिष्ण्यके कुछ दूर नेष्टृधिष्ण्य निर्माणादि करे उसपर आधिष्ठित अग्निका इस दूसरे मंत्रसे नामकरण करै। मन्त्रार्थ-हे नेष्टृधिष्ण्य! तुमपर स्थापित यह अग्नि(अङ्घारिः) सोमरक्षक पापहारी और(बम्भारिः)यजमानके पालनकरनेवाली इन दोनो नामोंके योग्य (असि) हो २ । विधि-(३) नेष्टृधिष्ण्यके किंचित् दूर एवं मण्डपमध्यगत आग्नीध्रके किंचित् दक्षिण अच्छावाक्धिष्ण्यनिर्माणादि करके उसपर अधिष्ठित अग्निका इस तीसरे मंत्रसे नामकरण करै । मन्त्रार्थ-हे अच्छावाक्धिष्ण्य ! तुमपर स्थापित यह अग्नि पुरोडाशका भाग लाभकरती है पुरोडाश प्रधान हव्य अन्न है इस कारण (अवस्यूः) अन्नकी इच्छा करनेवाले (दुवस्वान्) हविवाले यह दोनाम तुम्हारे (असि) हैं ३ । विधि-(४) सदोमण्डपके मध्यमें इसीप्रकार होतृप्रभृति सप्तधिष्ण्य प्रस्तुत करके उनके नामकरण करै, इसके उपरान्त इस मण्डपके वाह्यदक्षिण कोण उत्तरकोणमें स्थापित आग्नीध्र अग्निके समसूत्रपातसे दक्षिण मार्जालीयधिष्ण्य निर्माण करके उससे अधिष्ठित इस अग्निका इस चतुर्थ मन्त्रसे नामकरण करै [का० ८ । ६ । २२] मन्त्रार्थ-हे धिष्ण्य ! तुममें स्थापित यह अग्नि समस्त ऋत्विगादिकी शोधक है, इस कारण (शुन्ध्यूः) शोधक और समस्त यज्ञपात्र धौत और मार्जन करनेसे (मार्जालीयः) मार्जन करनेवाली (असि) है ४ । विधि-(५) अनन्तर सभामण्डपके पूर्वभागवर्ती उत्तरवेदीमें स्थित आहवनीय अग्निका नामकरण करै [का० ८ । ६ । २३] हे उत्तरवेदीके आहवनीय अग्ने ! तुम अनेक देवताओंकी तुष्टिसाधन आहुति ग्रहण करते हो इस कारण (सम्राट्) सम्यक् प्रकारसे दीप्तिमान् और (कृशानुः) पयोव्रतादि अनुष्ठानसे कृशतनु यजमानको अभीष्ट फलप्रदान करके अनुग्रह प्रकाश करतेहो इस कारण तुम कृशानु (असि) हो. ५ । विधि-(६) सदोमण्डपके पश्चिम एवं ऐष्टिक वेदीके उत्तर वहिष्पवमान धिष्ण्य निर्माणादि करके छठे मंत्रसे उनका नामकरण करै । मन्त्रार्थ-हे वहिष्पवन ! जिस कारण कि तुम (परिषद्यः) परिषद्गणकी आधारभूमि हो इसकारण परिषद्य कहलातेहो (पवमानः) तुम्हारे आश्रयसे सबही पवित्र होते हैं इस कारण तुम पवमान नामवाले (असि) हो ६ । विधि-(७) सदोमण्डपके पूर्वद्वारमें स्थित उत्तरवेदीके समसूत्र उत्तर चत्वालमें प्रस्तुत हुआ है इस सप्तम मंत्रसे उसका नामकरण करै । मन्त्रार्थ-हे चत्वाल ! जिस कारण कि तुम शून्यगर्भ हो इसी कारण तुमको (नभः) नभ कहते हैं एवं ऋत्विग्गण तुमको प्रदक्षिण करके गमनागमन करते

हैं इस कारण (मतका) गमनरूप (असि) हो ७ । विधि-(८) इस चत्वालके दक्षिणमें निकटही शामित्रधिष्ण्य है इस अष्टम मंत्रसे उसका नामकरण करै । मन्त्रार्थ-हे शामित्रे ! तुम्हारेद्वारा हवि स्वादिष्ठ होजाती है इस कारण तुम (मृष्टः) मृष्ट अर्थात् पवित्र कहे जाते हो तथा हविके पाक कारण हो इस कारण तुम (हव्यसूदनः) हवि पाचक नामवाले (असि) हो ८ । विधि-(९) नवम मंत्रसे सदोमण्डपके मध्य पश्चिमप्रान्तवर्ती उदुम्बरीका नामकरण करै । मंत्रार्थ-हे उदुम्बरि ! तुम (ऋतधामा) उद्गाताके प्रधान कार्यस्थान हो इस कारण ऋत-धामा नामसे विख्यात हो तथा (स्वर्ज्योतिः) उन्नत होनेसे स्वर्गप्रकाशक वा सूर्य-ज्योति (असि) हो ९ ॥ ३२ ॥

विवरण-१ यह स्थान पोताका प्रधान कार्यस्थान है पोता उद्गाताका तृतीय सहकारी ऋत्विक् सामवेदी होता है इसकी उद्गातासे चतुर्थांश दक्षिणा है १ ।

२ यजु० ४ अ० २७ मंत्रमें अङ्घारी बम्भारी यह सोमरक्षक समस्त देवताओंके अन्तर्गत हैं पापनाशक होनेसे अङ्घारी । चराचरका पालन करनेसे बंभारी नामसे विख्यात है २ ।

३ यह नेष्टाका प्रधान कार्यस्थान है यह नेष्टा अध्वर्युका दूसरा सहकारी है इसकी अध्वर्युसे तृतीयांश दक्षिणा है ३ ।

४ यह अच्छावाक्का कार्यस्थान है अच्छावाक् होताका दूसरा सहकारी है यह होतासे तृतीयांश दक्षिणा पाता है ४ ।

५ अवस शब्द अन्नवाची उसकी इच्छा करनेसे (अवस्यू) दुवस् शब्दसे हव्य ग्रहण है ५ ।

६ यह स्थान अध्वर्युका प्रधान स्थान है अध्वर्यु यजुर्वेदीय प्रधान ऋत्विक है इसकी होता आदिके तुल्य दक्षिणा है ६ ।

७ अग्निकी आधारभूमि स्वल्पवेदीको आहवनीय धिष्ण्य कहाजाता है यह प्रतिप्रस्थातानामक ऋत्विजोंका प्रधान कार्यस्थान है, यह ब्रह्मानामक प्रधान ऋत्विक्का द्वितीय सहकारी प्रतिहर्ता नामक ऋत्विक्का तुल्यपद है, इसकी दक्षिणा भी प्रतिहर्ताकी समान ब्रह्मासे तृतीयांश है इसका कार्यद्वारा रक्षण है ७ ।

८ यह धिष्ण्य सदोमण्डपके बाहर एवं यही स्थान ऋत्विक् गणके मन्त्रस्नानादि द्वारा पवित्र हुआ है इस कारण इसको बहिष्पवमान कहते हैं ८ ।

९ स्तवपाठकरनेके निमित्त संघटित ऋत्विक्मण्डलीको परिषद् कहते हैं ९ ।

१० यह चतुष्कोणरूप पुष्करिणीकी समान खातभूमि है इस गर्त्तकी खोदी हुई मृत्तिका लेकर समस्त वेदी निर्मित की जाती हैं १० ।

११ चत्वालके निकट दक्षिण पार्श्वमें बलिस्थान हैं इस स्थानमें गमनागमनका अन्य मार्ग नहीं इस कारण इस चत्वालको प्रदक्षिणा किया जाता है ११ ।

१२ इस स्थानमें बलिआहुति पक्क की जाती है १२ ।

१३ सामवेदीय प्रधान ऋत्विक् होता अध्वर्यु और ब्रह्माकी समान दक्षिणा पाता है इसका प्रधान कार्य सामगान, ऋतशब्दसे सामगान इसका जो धाम स्थान सो ऋतधामा उदुम्बरीका स्पर्श कर उद्गाता गान करै यह श्रुति विधान है ॥ ३२ ॥

कण्डिका २१-मंत्र ६ ।

समुद्रोसि विश्वव्यचाऽअजोस्येकपादहिरसि बुध्न्योवागस्यैन्द्रमसि सदोस्यृतस्य द्वारौ मामासन्ताप्तमध्वनामध्वपते प्रमातिरस्वस्तिमेस्मिन्पथिदेवयाने भूयात् मित्रस्यमा ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐसमुद्रोसीत्यस्य मधुच्छंदा ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छं० । ब्रह्मासनं दे० । ब्रह्मासनविलोकने वि० । (२) ॐअजोसीत्यस्य मधुच्छंदा ऋ० । दैवी पंक्ति० । अग्निर्देवता । शालाद्वार्यविलोकने वि० । (३) ॐअहिरसीत्यस्य मधु० ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । गार्हपत्याग्निर्दे० । प्राजहितविलोकने वि० । (४) ॐवागसीत्यस्य याजुषी बृहती छं० । सदो दे० । सदोविमर्शने वि० । (५) ॐऋतस्येत्यस्य मधु० ऋ० । याजुषी पंक्तिश्छं० । द्वार्यशाखा देवता । द्वार्यशाखाभिमर्शने वि० । (६) ॐअध्वनामित्यस्य मधुच्छंदा० ऋ० । निच्यृदार्षी गायत्री छं० । सूर्यो देवता । सूर्याभिमंत्रणे वि० ॥ ३३ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे ब्रह्मासन नामकरण करै यह नामकरण सदोमण्डपके मध्य अग्निकोणप्रान्तमें उत्तर दक्षिणको दीर्घ हुई स्वल्प आठ वेदियोंका है मंत्रार्थ-हे ब्रह्मासन धिष्ण्य ! तुम्हारे अधिष्ठाता ब्रह्मा चतुर्वेदवेत्ता ज्ञानका समुद्र है, इस कारण तुम उसके अधिष्ठानसे (समुद्रः) ज्ञानसागररूप हो तथा (विश्वव्यचाः) समस्त ऋत्विग्जनोंके यज्ञीय कृताकृत देखनेसे तुम विश्वव्यचा नामसे प्रसिद्ध (असि) हो ब्रह्मा सम्पूर्ण यज्ञभूमिके गुणदोषनिरीक्षण करनेसे विश्वव्यचा कहेजाते हैं, उसके कारण वेदीके भी यही विशेषण हैं जो इस योग्य हो वह यहां स्थिति करै, १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे शालाद्वार्यके धिष्ण्यके

ऊपर स्थापित अग्निका नामकरण करै । मन्त्रार्थ–हे शालाद्वार्यवर्ती अग्ने ! तुम आहवनीयरूपसे यज्ञप्रदेशमें गमन करती हो (एकपात्) एकही रक्षाकरनेवाली (असि) हो अथवा (अज) जन्मरहित (एकपाद्) जिसके सब संसार एक चरणमें है वा जो अद्वितीय पालक है "पादोस्य विश्वा भूतानि" [पुरुषसूक्त] उस पर ब्रह्मके तुष्टिसाधन होनेसे तुमको भी अज और एकपात् कहतेहैं २ । विधि–(३) तीसरे मंत्रसे प्राजहित धिष्ण्यमें स्थित अग्निका नामकरण करै। मंत्रार्थ–हे प्राजाहित अग्ने ! तुम्हारा क्षय नहीं इस कारण तुम (अहिः) क्षीणतारहित हो और तुम मूलें अग्नि हो इस कारण (बुध्न्यः) मूलमें होनेवाले बुध्न्य नामसे विख्यात (असि) हो "स्तुतिः स्वनाम्ना कर्मणा वाथ रूपैः" इति ।

षोडशधिष्ण्यप्रकरण समाप्त ।

विधि–(४) चौथे मंत्रसे सदोमण्डपका हस्तसे मार्जन करै [का० । ८ । २२] मंत्रार्थ–हे सदोमण्डप ! तुम (वाक्) वाणी (असि) हो अर्थात् इस स्थानमें ऋत्विग्जन अपने२ कर्तव्य अनुष्ठानान्तर्गत मन्त्रवाक्य सकल सदाही प्रयोग करैंगे इस कारण तुम वाक्का अधिष्ठान होनेसे वाक् हो (ऐन्द्रम्) इन्द्रदेवका प्रधान स्थान होनेसे इन्द्ररूप (असि) हो ऋत्विग्गणका प्रधान कार्य सभा होनेसे (सदः) सभा (असि) हो ४ । विधि–(५) पंचम मंत्रसे द्वार प्रदेशमें दोनों ओर स्थापित कदलीस्तंभादि जलसे धोवै [का० ९ । ८ । २३] मन्त्रार्थ–(ऋतस्य) यज्ञके (द्वारौ) द्वारदेशमें स्थापित हे शाखे ! तुम (मा) मुझको (मा सन्ताप्तम्) किसी प्रकार सन्तापित न करना अर्थात् प्रवेश निष्क्रमणमें स्खलित न होना ५ । विधि–(६) छठे मंत्रसे यजमान देवयानमार्गके संस्कारार्थ सूर्यका अभिमंत्रण करै [का० ९ । ८ । २४ । २५] मंत्रार्थ–(अध्वपते) हे मार्गके पालक सूर्य ! हम किसी मार्गसे गमन करैं तुम (अध्वनाम्) मार्गोंके मध्यमें वर्तमान (मा) मुझको (प्रतिर) वर्द्धित करो किंच (अस्मिन्) इस (देवयाने) देवयान (पथि) मार्गमें (मे) मेरा (स्वस्ति) कल्याण (भूयात्) हो ६ ॥ ३३ ॥

यज्ञीय विवरण–१ शाला प्राचीनवंशा शाला उसका द्वारदेश, उदग्वंशा शालाका पश्चिम प्रदेश, इन दोनो शालाके मध्यमें प्राप्त धिष्ण्यपर स्थित आहवनीय अग्नि ही यह अग्नि है.

२ प्राचीनवंशा शालाके मध्य पश्चिममें किंचित् दक्षिणांशमें पत्नीशाला है, इस

---

१ अर्थात् मेरे यज्ञद्वारमें कोई विघ्न न हो द्वारपतनसे दस्युआदिका प्रवेश न हो ।

स्थलमें यजमानकी पत्नी सदा स्थित रहै, उसकेही पश्चिम यह प्राजहित धिष्ण्य-स्थित अग्नि है प्रजागणकी हितकारक अग्नि अर्थात् गार्हपत्य अग्नि प्राजहित है.

३ प्राचीनवंशा शालाके मध्यगत ऐष्टिक वेदीके पूर्वभागमें स्थापित आहवनीय अग्निको गार्हपत्यत्व प्राप्त होताहै किन्तु यह गार्हपत्यत्व पूर्ववत् अवितथ ही है [१४ कण्डिका देखो] यहांतक कि इसका मान हीन नहीं होता इस कारण इसको अहि हीनताशून्य कहतेहैं.

४ अग्न्याधान कालमें सबसे प्रथम इस अग्निकाही आधान हुआहै पीछे क्रमसे और अग्निका आधानादि होताहै इस कारण मूलरूप यही है. [तीसरे अ० ७ । ८। कण्डिका देखो]

५ ऐन्द्र शब्दसे अमितऐश्वर्यवान् ईश्वर, वा ऐश्वर्यवान् यजमान, मेघचालक वायु सूर्य वा तेजविशेष ।

६ प्राचीनवंशा शालाके मध्यस्थ ऐष्टिक वेदीके उत्तरद्वारसे पूर्वाभिमुख होकर आहवनीय कुंण्डकें ईशान कोणमें किंचित् दक्षिणाभिमुख होकर फिर पूर्वमुख उदग्वंशा शालाके मध्यगत उदुम्बरीको दक्षिण करके सरल रेखाक्रमसे सदोमण्डपको मध्य देकर गमन करते वाम ओर ब्राह्मणशंसिधिष्ण्य दक्षिणमें होतृधिष्ण्य रक्षाकरते सदोमण्डपके बाहर उत्तराभिमुख होकर सदोमण्डपके ईशानकोणमें अधिष्ठित आग्नीध्र धिष्ण्यको दहिने हाथकी ओर करके फिर पूर्वाभिमुखसे सोमिक वेदीके उत्तर किंचित् जाकर चत्वालके पश्चिमओर सोमिक वेदीके पूर्वभागमें फिर दक्षिणाभिमुख चलकर यत्किंचित् वामओर तिरछे चलकर उत्तर वेदीके पश्चिम द्वारमें जो प्राप्त हुआ है इस मार्गको यज्ञमें देवयान मार्ग कहते हैं "इस देवयानमें सूर्य मंगलपूर्वक दृष्टि करैं यह प्रार्थना है: देवता देवलोकसे जिस मार्ग-द्वारा गमन करते हैं वह देवयान मार्ग है और भूमिपर जब यज्ञस्थलमें गमनागमन करे तब उपरोक्त मार्ग उनसे अधिष्ठित होनेसे देवयान मार्ग कहाता है"

जिस कारण कि सम्पूर्ण मार्ग शुष्क वा सरस सुवात वा कुवात प्रकाश वा अप्रकाश इन सबके कारण सूर्यही है इस कारण सूर्यको अध्वपति अर्थात् मार्गके शुभाशुभ कारणमें समर्थ कहा जाता है ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मन्त्र २ ।

मित्रस्यमा चक्षुषेक्षद्ध्वमग्नयःसगराःसगरास्त्थ

सगरेणनाम्नारौद्रेणानीकेनपातमाग्नयःपिपृतमा ग्नयोगोपायतंनमोवोस्तुमामाहिᳬसिष्ट॥ ३४ ॥

(ऋष्यादि–(१) ॐमित्रस्येत्यस्य मधुच्छंदा ऋ०।याजुषी बृहती छं० । ऋत्विजो देवताः । ऋत्विगभिमन्त्रणे वि० (२) ॐअग्न इत्यस्य मधुच्छं०। निच्यृद्ब्राह्म्यनुष्टुप्छन्दः । धिष्ण्यो देवता । धिष्ण्याभिमन्त्रणे वि० ॥ ३४ ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे ऋत्विजोंका अभिमंत्रण करै अर्थात् उनके प्रति दृष्टिपूर्वक प्रार्थना करै [का० ९ । ८ । २६] मंत्रार्थ–हे ऋत्विग्गण ! (मित्रस्य) मित्रकी (चक्षुषा) नेत्रोंसे (मा) मुझको (ईक्षध्वम्) अवलोकन करो, अर्थात् मित्र जिस प्रकार देखते हैं इस प्रकार तुम हमको देखो इस कार्यको स्वीकार करो । विधि–(२) दूसरे मंत्रसे आठों धिष्ण्यांको अभिमंत्रण अर्थात् दृष्टिपातपूर्वक प्रार्थना करै [का०९।८।२७] मन्त्रार्थ–(सगराः) स्तुतिके सहित वर्तमान (अग्नयः) हे धिष्ण्यगत सम्पूर्ण अग्नियो (सगरेण नाम्ना) स्तुतिसहित धिष्ण्य इस नाम करके (सगराःस्थ) समान स्तुतिवाली हो (अग्नयः) हे अग्नियो ! (रौद्रेण) उग्र(अनीकेन) अपनी सेना वा मुखसे (मा) मुझको (पातम्) रक्षा करो अथवा रुद्रदेवताके मुखसे मेरी रक्षा करो (अग्नयः) हे अग्नियो (मा) मुझको (पिपृत) धनादिकोंसे पूर्णकरो (मा) मुझको (गोपायत) रक्षाकरो "अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते" इति [निरु० १० । ४२] अर्थात् मेरी निरन्तर रक्षा करो (वः) तुम्हारे निमित्त (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो (मा) मुझे (मावधिष्ट) मत मारना अर्थात् तुम्हारे द्वारा किसी प्रकार यज्ञविघ्न उपस्थित न हो ॥ ३४ ॥

विशेष आशय–सगर स्तुतियुक्त विभुप्रवाहण प्रभृति प्रत्येकके दोदो स्तुति नाम प्रसिद्ध हैं समान रूप स्तुतिका आशय यह कि आग्नीध्रीयधिष्ण्य, क्या होतृधिष्ण्य सबकीही समभावसे स्तुति की जाती है । १ अर्थात् जिस मार्गसे हम भीत होवैं ऐसे मार्गसे हमारी रक्षा करो ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५–मन्त्र २ ।

ज्योतिरसि विश्वरूपंविश्वेषान्देवानाᳬसमित ॥ त्वᳬसोमतनूकृद्भ्योद्वेषोभ्योन्यकृतेभ्यऽउरुयन्तासिवरूथᳬस्वाहाजुषाणोऽअप्तुराज्ज्यस्यवेतुस्वाहा ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐज्योतिरसीत्यस्य मधुच्छंदा ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छं० । विश्वेदेवा दे० । पृषदाज्येन समिदग्राञ्जने वि० । (२) ॐत्वंसोमेत्यस्य भृगुसुतक्रतुर्ऋ० । अनवसाना गायत्री छं० । सोमो दे० । प्रचरण्यां स्रुचा सकृद्गृहीताज्याहुतिहवने वि० । (३) ॐजुषाण इत्यस्य भृगुसुत-क्रतुर्ऋ० । एकपदा विराट् छं० । सोमो देवता । द्वितीयाज्याहुति-हवने वि० ॥ ३५ ॥

विधि–(१) इसके उपरान्त सोमानयनक्रिया (सोम लेकर शकटपर रक्षा करना) अनुष्ठित होती है इस कारण उसका पहला कृत्य पृषदाज्यहोम है । इस कारण प्रथम मंत्रसे पांचवार स्रुवमें पृषदाज्य ग्रहण करके उससे समिधाओंका अन्तभाग सिक्त करे [का० ९ । ४ । २६] (पृषदाज्यसे इस स्थलमें दधिवि-न्दुयुक्त घृत ग्रहण करना.) मन्त्रार्थ–हे आज्य ! तुम (विश्वरूपम्) सर्वरूप अथवा बहुत आहुतियोंके उपयुक्त होनेसे सर्वरूप (ज्योतिः) ज्योति प्रकाशरूप (असि) हो (विश्वेषां) सम्पूर्ण (देवानाम्) देवताओंके (समित्) दीपक प्रकाशक हो आज्य भोजन करही देवता प्रदीप्त होतेहैं उनके सन्तोषके निमित्त यह समिधाका अन्त सिक्त करताहूं । विधि–(२–३) दूसरे मंत्रसे पृषदाज्य समित् प्रचरनी जुहू (किसी होमसाधनका एक प्रकारका स्रुक्) से ग्रहण करके दोवार दूसरे और तीसरे मंत्रसे प्रदीप्त आहवनीय अग्निमें आहुति प्रदान करे [का० ८ । ७ । १] मंत्रार्थ– (सोम) हे ईश्वररूप सोमदेवता ! (त्वम्) तुम (अन्यकृतेभ्यः) हमारे विरोधि-योंसे प्रेरित (द्वेषोभ्यः) द्वेषी शत्रु वा दुर्भाग्य (तनूकृद्भ्यः) शरीरछेदक राक्ष-सोंके (यन्ता) दण्डदाता हो अर्थात् अनिष्टकारी चोरगण, अन्यरूप उपद्रवकारी द्वेषीवृन्द और तनूकृन्तक राक्षस वा दस्युदलके पक्षमें यमस्वरूप हो, और हमारे निमित्त (उरु) अत्यन्त (वरूथम्) बलरूप (असि) हो (स्वाहा) तुमको दी हुई यह हवि सुन्दररूपसे गृहीत हो । (जुषाणः) प्रीयमाण सोमदेवता (अप्तुः) मेरे दिये हुए इस (आज्यस्य) घृतका (वेतु) पानकरो (स्वाहा) हमारी दीहुई यह आहुति सुन्दर रूपसे गृहीत हो ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६–मन्त्र १ ।

अग्ग्नेनय सुपथाराये॒ऽअस्स्मान्विश्श्वानिदेववयु नानिविद्वान् ॥ युयोद्ध्यस्स्मज्जुंहुराणमेनोभूयिं ष्ठान्ते नमऽउक्तिंविधेम ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअग्नेनयेत्यस्यागस्त्य ऋषिः। त्रिष्टुप्छं०। अग्नि-र्देवता। अग्निं प्रति गमने वि० ॥ ३६ ॥

विधि-(१) अग्नीध्रके प्रति गमन करते समय यजमान यह मंत्र पाठ करै [का० ८। ७। ६।] मन्त्रार्थ(अग्ने) हे विश्वज्योति ! परमात्मन् ! (देव) दिव्यगुण-सम्पन्न (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) मार्ग वा ज्ञानोंको (विद्वान्) जाननेवाले आप (अस्मान्) हम अनुष्ठान करनेवालोंको (राये) धन वा यज्ञफलके निमित्त (सुपथा) शोभन मार्गसे (नय) प्राप्तकरो किञ्च (अस्मत्) हम अनुष्ठान करने-वालोंसे (जुहुराणम्) अभिलषित क्रियाके प्रतिबन्धक (एनः) पापको(युयोधि) पृथक् करो (ते) आपके निमित्त (भूयिष्ठाम्) अत्यन्त (नमउक्तिम्)याज्यपर अनु-वाक्य लक्षणवाले हविरूप वचनको "नम इत्यन्ननाम" [निघं०२।७।२२] अथवा नमस्कारविषय उक्तिको (विधेम) सम्पादन करते हैं ॥ ३६ ॥

भावार्थ-हे विश्वज्योति ! हम आपके प्रसादसे न्यायमार्गसे धनलाभ करैं, हे देव ! आप विद्वान् हो आपके प्रसादसे हम भी सब पदार्थविषयक ज्ञान लाभ करैं हमको निन्दनीय कुटिल पापमार्गसे दूर रक्षा करो आपको अनेक २ नमस्कार हैं [ऋ० २।५।१०]॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७-मन्त्र १।

अयन्नोऽअग्निर्वरिवस्कृणोत्वयम्मृधः पुरऽएतुप्रभिन्दन् ॥ अयंवाजाञ्जयतुवाजसातावयᳪशत्रूञ्जयतुजर्हृषाणः स्वाहा ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअयन्न इत्यस्यागस्त्य ऋषिः। आर्षी त्रिष्टुप्छं० अग्निर्देवता। आग्नीध्रीये धिष्ण्ये स्थापितेऽग्नावाज्याहुतिहोमे वि० ॥ ३७ ॥

विधि-(१) सदोमण्डपके ईशानकोणमें निर्मित आग्नीध्रीय मण्डपमें स्थित धिष्ण्यके ऊपर अग्निस्थापनके अनन्तर इस स्थानमें ग्रावा (पत्थर) द्रोणकलश सोमपात्र रक्षण करै और फिर इस मंत्रसे अग्निमें घृतकी आहुति प्रदानकरै [का० ८। ७। ७-९] मन्त्रार्थ-(अयम्) यह (अग्निः) अग्निदेवता (नः) हमको (वरिवः) धन (कृणोतु) प्रदान करै (अयम्) यही अग्निदेव (मृधः) संग्राम

में (अभिन्दन्) द्वेषी सेनादलको छिन्नभिन्न करते करते (पुरः) अग्रसर (एतु) प्राप्तहो (अयम्) यह अग्नि (वाजसातौ) अन्नके विभाग करनेमें निमित्त(वाजान्) शत्रुवलाक्रान्त अन्नको (जयतु) हमारे देनेके निमित्त जयकरो (जर्हृषाणः) अत्यन्त प्रसन्न होताहुआ (अयम्) यह अग्नि (शत्रून्) शत्रुओंको (जयतु) जीतो अर्थात् यह आनन्दके सहकारी विनाही क्लेश हमारे सब अनिष्ट दूरकरै (स्वाहा) हमारी यह आज्यआहुति सुन्दर रूपसे गृहीत हो ॥ ३७ ॥

कण्डिका-३८ मंत्र १।

उरुविष्णो॒विक्र॑मस्वो॒रुक्षया॑यनस्कृधि ॥ घृ॒तङ्घृ॑तयोनेपिब॒प्रप्र॑य॒ज्ञप॑तिन्तिर॒स्वाहा॑ ॥ ३८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐउरुविष्णवित्यस्यागस्त्य ऋषिः । भुरिगार्ष्युनुष्टुप्छं० । विष्णुर्देवता । आहवनीयाग्निधिष्ण्यस्थापितेऽग्नावाज्याहुतिहोमे वि० ॥ ३८ ॥

विधि-(१)इस मंत्रसे उत्तर वेदीमें स्थित आहवनीयाग्नि कुण्डमें आहुतिदे[का०८।४।१९]मंत्रार्थ-(विष्णो) व्यापक आहवनीयाग्निरूपपरमात्मन् ! (उरुविक्रमस्व) हमारे शत्रु तथा कामादिके प्रति बहुत पराक्रम करो (क्षयाय) ब्रह्मगृहनिवासके निमित्त (नः) हमको (उरु कृधि) अधिकतर करो (घृतयोने) हे घृतसे वृद्धि पानेवाले (घृतम्) हूयमान इस घृतको (प्रपिब)विशेष कर पान करो (यज्ञपतिम्) यजमानको (प्रतिर) अतिशय वृद्धिको प्राप्त करो (स्वाहा) यह आहुति तुम्हारे निमित्त देते हैं "अग्निर्यस्य योनेरसृज्यत तस्य घृतमुल्वमासीत्" इति श्रुतेः । "आशय यह कि हमारे निवासादि वृहत् हों" ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मंत्र ३।

दे॒वस॑वितरे॒षते॒सोम॒स्तꣳर॑क्षस्व॒मात्वा॑दभन् ॥ ए॒तत्त्वन्दे॑वसोमदे॒वोदे॒वाँ२ऽ उपा॑गाऽइ॒दम॒हम्म॑नु॒ष्यान्त्स॒हरा॒यस्पोषे॑ण॒स्वाहा॒निर्वरु॑णस्य॒पाशा॑न्मुच्ये ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐदेवसवितरित्यस्यागस्त्य ऋषिः । आर्षी गायत्री छं० । सविता दे० । दक्षिणेन स्वास्तीर्णेकृष्णाजिने सोमनिधाने वि० ।

(२) ॐएतत्त्वमित्यस्यागस्त्य ऋषिः । प्राजापत्या त्रिष्टुप्छं० । सोमो दे० । सोमोपस्थाने वि० । (३) ॐस्वाहेत्यस्यागस्त्य ऋ० । याजुषी त्रिष्टुप्छं० । लिङ्गोक्ता दे० । हविर्धानमण्डपान्निर्गमने वि० ॥ ३९ ॥

विधि—(१) हविर्धानमण्डपके मध्यमें रक्षित दक्षिण शकटके ऊपर कृष्णाजिन बिछाकर प्रथम मंत्रसे उसके ऊपर गांठबँधेहुए सोमको रक्खे [का० ८ । ७ । १७] मंत्रार्थ—(सवितः) हे सबके प्रेरक ! (देव) दिव्यगुणयुक्त (एषः) यह (सोमः) सोम (ते) आपके अर्पित है आपकी प्रेरणासे इसको लाभ किया है इस कारण आपही (तम्) इस सोमको (रक्षस्व) रक्षाकरो (त्वा) सोमके रक्षक आपको (मा) मत (दभन्) कोई उपद्रव प्राप्तहो अर्थात् आपके प्रसादसे कोई दुरात्मा इसको नष्ट न करें १ । विधि—(२) दूसरे मंत्रसे इस कृष्णाजिनपर गांठ खोलकर सोम फैलावे [का० ८ । ७ । १८] मंत्रार्थ—हे सोमदेव ! (त्वम्) तुम (देवः) देवता हो इस कारण अपने (देवान्) देवताओंको (एतत्) इस समय यहां (उपागाः) प्राप्त करो (इदम्) यह (अहम्) मैं यजमान (रायस्पोषेण सह) धन और पुष्टिके सहित (मनुष्यान्) अपने ऋत्विगादि मनुष्योंके लिये इस स्थानमें प्राप्त हुआ हूं २ । विधि—(३) तीसरे मंत्रसे हविर्धान मण्डपसे निर्गत होवे [का० ८ । ७ । १९] मंत्रार्थ—(स्वाहा) सोमरूप अन्न देवताओंको देकर, अथवा यह जो हमारा मन अबतक सोममें दत्तचित्त था सो अब मैं इससे (निर्) विरत होकर (वरुणस्य) वरुणदेवताके (पाशात्) पाशसे (मुच्ये) मुक्तहुआ ३ ॥ ३९ ॥

विवरण—इसी मंत्रसे यह स्पष्ट है कि देवजाती अन्य मनुष्यजाती अन्य हैं ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०—मंत्र १ ।

अग्ने॑ व्रतपास्त्वे॒ व्रतपा॒ या तव॑ त॒नूर्मय्यभू॑दे॒षा सा त्वयि॒ यो मम॑ त॒नूस्त्वय्यभू॑दि॒यँ सा मयि॑ ॥ य॒था य॒थं नौ॑ व्रतपते व्र॒तान्यनु॑ मे दी॒क्षां दी॒क्षाप॑ति॒रम॑ꣳस्त॒ानु॒ तप॒स्तप॑स्पति॑ः ॥ ४० ॥ [६]

ऋष्यादि—(१) ॐअग्ने व्रतपा इत्यस्यागस्त्य ऋषिः । निचृद्ब्राह्मी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्दे० । गाढतरमुष्टिमेखलकरणे वि० ॥ ४० ॥

विधि-(१) यजमानने पहले अग्निके सहित अपना शरीर परिवर्तित किया था अब इस मंत्रसे उसको प्रतिप्रदान करै [का० ८ । ३ । ४ ।] मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! तुम (व्रतपाः) स्वभावसे सम्पूर्ण व्रतोंके पालन करनेवाले हो इस कारणसे अवभी (त्वे) तुम (व्रतपाः) मेरे व्रतके पालक हो हे अग्ने ! व्रतके प्रार्थनाकालमें (तव) तुम्हारे सम्बन्धका (या) जो (तनूः) शरीर (मयि) मुझमें (अभूत्) स्थित हुआ था (सा) वह (एषा) यह तुम्हारा शरीर (त्वयि) तुम्हाराही हो (या उ) और जो यह मेरा (तनूः) शरीर (त्वयि) तुझमें (अभूत्) स्थित था (सा) वह (इदम्) यह मेरा शरीर (मयि) मुझमें स्थित हो (व्रतपते) हे व्रतपालक ज्योतिष्टोमादियज्ञरक्षक अग्ने ! [वा सोम] (नौ) हमारे (व्रतानि) व्रतकर्मोंको (यथायथम्) यथायोग्य सम्पादन करो अर्थात् अनुष्ठानरूपव्रत मेरा और पालनरूप व्रत तुम्हारा हो (दीक्षापतिः) दीक्षापालक अग्निने (मे) मेरी (दीक्षाम्) दीक्षानियमको (अन्वमंस्त) अंगीकार कियाहै (तपस्पतिः) उपसद् तपके पालक अग्निने मेरा (तपः) व्रतपालन उपसदरूप तप (अनु) स्वीकार किया ॥ ४० ॥

आशय-निर्दोष अनुष्ठान करना मनुष्यका कर्तव्य है पूर्ण फलदान ईश्वरका कर्तव्य है ॥ ४० ॥ इस मंत्रमें शरीर परिवर्तनका विधान है ।

कण्डिका-४१ मंत्र १ ।

यूपप्रकरण ।

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि ॥ घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐउरुविष्णवित्यस्यागस्त्य ऋषिः । भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छं० । विष्णुर्देवता । आहवनीये चतुर्गृहीताज्यहवने वि० ॥ ४१ ॥

विधि-(१) यूपस्तंभछेदन करनेके निमित्त वनमें गमन करना होता है यह गमन सुफल हो इस कारण स्रुवमें वारवार आज्य ग्रहण करके इस मंत्रसे आहवनीय कुण्डमें हवन करै [का०६ । १ । ३-४] मन्त्रार्थ-(विष्णो) व्यापक आहवनीयाग्निरूप परमात्मन् ! (उरुविक्रमस्व) हमारे शत्रु तथा कामादिके प्रति बहुत पराक्रम करो । (क्षयाय) ब्रह्मगृहनिवासके निमित्त (नः) हमको (उरुकृधि) अधिकतर करो (घृतयोने) घृतसे वृद्धिपानेवाले (घृतम्) हूयमान

१ अ० ५ मं० ६ देखो ।

इस घृतको (प्रपिब) विशेषकर पान करो (यज्ञपतिम्) यजमानको (प्रतिर) अतिशय वृद्धिको प्राप्त करो (स्वाहा) यह आहुति तुम्हारे निमित्त देते हैं ॥४१॥

कण्डिका ४२–मंत्र ४ ।

अत्त्युन्न्याँ२ऽअगान्नान्न्याँ२ ऽउपांगामर्वाक्क्त्वा पुरेब्भ्योविंदम्पुरोवरेब्भ्यः ॥ तन्त्वांजुषामहेदेवव नस्प्पतेदेवयज्ज्यायैदेवास्त्वांदेवयज्ज्यायैजुष न्तांविष्णवेत्त्वा ॥ ओषधेत्रायस्स्वस्वधितेमैनं हिᳬसीः ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐअत्यन्यानित्यस्यागस्त्य ऋषिः । भुरिग्ब्राह्मी बृहती छं० । वनस्पतिर्दे० । यूपमभिमृश्याभिमन्त्रणे वि० । (२) ॐ विष्णवेत्वेत्यस्यागस्त्य ऋषिः । भुरिगार्षी बृहती छं० । वनस्पतिर्देवता । घृताक्तेन स्रुवेण च्छेदनप्रदेशे यूप्यवृक्षोपस्पर्शने वि० । (३) ॐ औषध इत्यस्यागस्त्य ऋषिः । याजुषी गायत्री छं० । कुशतरुणो दे० । कुशतरुणान्तर्धाने वि० । (४) ॐस्वधित इत्यस्यागस्त्य ऋषिः । दैवी जगती छं० । परशुर्देव० । परशुना प्रहरणे वि० ॥ ४२ ॥

विधि–(१) हुतशेष आज्य ग्रहण कर तक्षा (बढई) के सहित वनमें गमन करे इस प्रथम मंत्रसे एक यूप्य वृक्ष जो पूर्वमुख हो उसको अभिमर्शन वा अभिमंत्रण करै [का०६।१।५–७] पलाश (ढाक) खैर बिल्वादि यूपके उपयुक्त वृक्षोंको (यूप्य) कहतेहैं इसके व्यतिरिक्त निम्बजम्बीरादिको अयूप्य कहते हैं अभिमर्शनका अर्थ घृतद्वारा वृक्षका अंग मर्दन कर मंत्रपाठ करे । मन्त्रार्थ–हे पुरोवर्ति यूपवृक्ष ! तुमसे (अन्यान्) व्यतिरिक्त अन्य अयूप्य वृक्षोंको जो कि सम प्रदेशमें जन्मादिके लक्षणसे रहित थे उनको (अत्यगाम्) अतिक्रमण करके आयाहूं (अन्यान्) यूपके अयोग्य वृक्षोंके समीप (न)नहीं (उपगाम्) गया (त्वा) तुझको (परेभ्यः) दूरवर्ती वृक्षोंसे (अर्वाक्) निकट जानकर (अवरेभ्यः) निकटोंसे (परः) श्रेष्ठ (अविदम्) पाकर तुम्हारे निकट आयाहूं(वनस्पते) हे वनके पालक ! (देव) हे देव ! दीप्यमान वृक्ष (देवयज्यायै) देवयजनकार्यके निमित्त (तम्) उस (त्वा) तुमको (जुषामहे) सेवन करतेहैं (देवाः) देवताभी (त्वा तुमको (देवज्यायै) देवयजन कार्यके निमित्त (जुषन्ताम्) सेवन करैं १ ।

विधि-(२) इस मंत्रसे हुतशेष घृत जो स्रुवमें अध्याय ५. है उससे वृक्षको स्पर्श करै [का०६।१।११] मंत्रार्थ-हे यूपवृक्ष ! (त्वा) तुमको (विष्णवे) परमात्माकी प्रीतिके निमित्त वा यज्ञके निमित्त स्पर्श करताहूं "यज्ञो वै विष्णुः" इति श्रुतेः २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे कुशान्तर्धान करै अर्थात् जिस स्थानसे दो खण्ड करै उस स्थानमें कुशाबन्धनद्वारा चिह्नित करै जिससे अन्यस्थानमें कुठाराघात न हो [का० ६ । १ । १२] मंत्रार्थ-(ओषधे) हे औषध ! कुठारके भयसे मुझे (त्रायस्व) रक्षाकर ३ । विधि-(४) अगले मंत्रसे यूप्यवृक्ष पर कुठाराघात करै [का० ६ । १ । १३] (स्वधिते) हे कुठार ! (एनम्) इस यूपके अन्य स्थानको (मावधीः) मत व्याघातकरो अर्थात् कुशचिह्नित स्थानसे निम्न वा ऊर्ध्व रक्षणीय भागमें आघात प्राप्त न हो ॥ ४२ ॥

कण्डिका ४३-मन्त्र ५ ।

द्याम्मालेखीरन्तरिक्षम्माहिँ᳖सीः पृथिव्यासम्भव ॥ अयᳯहि त्वास्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनायमहते सौभगाय ॥ अतस्त्वन्देववनस्पतेशतवल्शोविरोह सहस्रवल्शाविवयᳯरुहेम ॥ ४३ ॥ [३] ॥ १० ॥

इति संहितायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ द्यांमालेखीरित्यस्यागस्त्य ऋ० । निच्यृत्साम्नी बृहती० । वनस्पतिर्दे० । पतच्छाखाभिमन्त्रणे वि० । (२) ॐअयमित्यस्यागस्त्य ऋ० । साम्नी त्रिष्टुप्छं० । वनस्पतिर्देवता । छिन्नयूप वृक्षशोधने वि० । (३) ॐअतस्त्वमित्यस्यागस्त्य ऋ० । आर्षी बृहती छं० । वनस्पतिर्देवता । छेदनप्रदेशे सकृद्गृहीताज्येन हवने वि० ॥ ४३ ॥

विधि-(१) जिस समय यह छिन्न वृक्षशाखा भूमिमें गिरती हो उस समय यह मंत्र पाठकरै [का० ६ । १ । १६] मंत्रार्थ-हे यूपवृक्ष ! (द्याम्) द्युलोकको (मालेखीः) मत हिंसा करो अर्थात् मत विगाडो (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (माहिंᳯसीः) मत नष्टकरो (पृथिव्याः) पृथ्वीके साथ (सम्भव) संगतिकर अर्थात् तीनों लोकोंमें शान्ति हो तुम पृथ्वीकी वस्तु हो इस कारण पृथ्वीके सहित संगत हो १ । विधि-(२) इस मंत्रसे वृक्षकी शाखाके पत्रादि छोटी शाखा पृथक् करै [का० ६ । १ । १८ । १९] मन्त्रार्थ-हे छिन्नवृक्ष ! (हि) अवश्यही कि (तेतिजानः) अत्यन्त तीक्ष्ण (अयम्) यह (स्वधितिः) कुठार (महते) बडे (सौभगाय)सौभाग्य दर्शनीयत्वादिके निमित्त वा शोभन यज्ञके निमित्त

(त्वा) तुझको (प्रणिनाय) यूपत्वमें प्राप्त करता है २ । विधि—(३) आज्य-स्थालीसे एकबार लिये घृतको जुहूमें लेकर छेदनप्रदेशमें आहुति प्रदान करै [का० ६ । १ । २० । २१] मंत्रार्थ—(वनस्पते देव) हे वनस्पति देव ! (अतः) इस स्थानसे (त्वम्) तुम (शतवल्शः) सैंकडों अंकुरवाले होकर (विरोह) विशेषकर उपजो (वयम्) हम (सहस्रवल्शः) इस कार्यबल से सहस्र २ पुत्रपौत्रादि शाखारूपसम्पन्न हों ॥ ४३ ॥

भावार्थ—परमात्माकी आज्ञा है कि चराचरका उपकार करना मनुष्योंको सर्वथा उचित है वृक्षकी शाखा ग्रहण करनेको भी उसकी उन्नतिकी इच्छा करो ॥ ४३ ॥

इस अध्यायका अर्थ भी पंडित दयानन्दने विरुद्धही कियाहै कारण कि उनका अर्थ देखकर किसी यज्ञका निश्चयही नहीं होता कि क्या प्रकरण है केवल विजली विद्वान् और उपदेशकका पता मिलताहै ।

इस अध्यायमें आतिथ्यसे स्थाणुहोमपर्यन्त अनेक प्रकारके पदार्थोंके गुण ईश्वर महिमा, वाणीका महत्त्व, ब्रह्मउपासना, यज्ञयोग्य पंचभूतके कार्य, दुष्टोंका तिरस्कार, महात्माओंका सत्कार आदि वर्णन किया है ।

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदान्तर्गतवाजसनेयिसंहितायां पण्डितज्वाला-
प्रसादकृतमिश्रभाषाभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः ६.

देवस्यत्वाषड्डुपावीरसिपञ्च माहिःषट् सन्तेतिस्रःसमुद्रंगच्छ हविष्मतीर्द्विकौ हृदेत्वापञ्च देवस्यत्वाष्टावष्टौसप्तत्रिꣳशत् ।

पांचवें अध्यायमें आतिथ्यसे लेकर यूपनिर्माण पर्यन्तके मंत्र कहे अब छठे अध्यायमें यूपसंस्कारसे प्रारंभ कर सोमाभिषवउद्योग पर्यन्त मंत्र कथन करते हैं

उत्तर वेदीके पूर्व भागमें यज्ञशालाके-पूर्वभागीय प्रतीहारभूमिके पश्चिम द्वारके निकट यूप गाडना होताहै इस कारण इस कण्डिकाके प्रथम मंत्रसे अभ्रिस्वीकार, दूसरेसे दृढ मुष्टिकरण, तीसरेसे खोदना, चौथेसे यववपन, पांचवेंसे अग्र मध्य और मूलमें प्रोक्षण, छठेसे आसिंचन, सातवेंसे कुशासन कार्य सम्पन्न होताहै. इस कण्डिकाका अर्थ ५ अ० २२ काण्डकामें पहले तीन मंत्र और शेष २६ कण्डिका देखनेसे विदित होगा, अधिक ऊंचे स्तम्भके दण्डायमानादि कार्य करनेको तीन अंशकरके कल्पना करते हैं जब यह स्थापन समय ऊपरको स्थापित किया जाताहै तब स्तंबाकार धारण करताहै [का०६ । २ । ८ । ६ । २ । १५–१८]

कण्डिका-१ मंत्र ३ ।

देवस्यत्वा सवितुः प्प्रसुवेश्श्विनोर्ब्बाहुब्भ्याम्पूष्णोहस्ताभ्याम् ॥ आददेनार्य्यसीदमहर्ठरक्षसाङ्ग्रीवाऽअपिकृन्तामि ॥ यवोसियवयास्म्मद्द्वेषो यवयारातीर्द्दिवेत्त्वान्तरिक्षायत्त्वापृथिव्यैत्त्वाशुन्धन्ताँल्लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि ॥१॥

देवस्यत्वेति व्याख्याता २६ क० ५ अध्यायमें ।

कण्डिका-२ मंत्र ४ ।

अग्ग्रेणीरसिस्वावेशऽउन्नेतॄणामेतस्यवित्तादधित्त्वास्त्थास्यतिदेवस्त्वासवितामद्ध्वानक्क्तुसुपिप्पलाब्भ्यस्त्वौषधीब्भ्यः ॥ द्यामग्ग्रेणास्पृक्षऽआन्तरिक्षम्मद्ध्येनाप्प्राः पृथिवीमुपरेणादृर्ठहीः ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअग्रेणीरित्यस्य शाकल्य ऋषिः । निच्यृद्गायत्री छं० । शकलो देवता । यूपावटे प्रथमशकलप्रक्षेपणे वि० । (२) ॐदेवस्त्वेत्यस्य शाकल्य ऋ० । याजुषी पंक्तिश्छं० । यूपो देवता । आज्येन यूपम्रक्षणे वि० । (३) ॐसुपिप्पलाभ्यस्त्वेत्यस्य शाकल्य ऋषिः । याजुषी बृहती छं० । चषालो दे० । यूपाग्र आज्यलिप्तचषालस्थापने वि० । ॐद्यामित्यस्य शाकल्य ऋषिः । निच्यृद्गायत्री छं० । यूपो देव० । यूपोच्छ्रयणे वि० ।

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे यूपावटमें शकल यूपस्तम्बके मूलभागका खंभ डाले [का० ६ ।२।१९]मंत्रार्थ-हे यूपखण्ड ! (उन्नेतॄणाम्) ऊपरको उठानेवाले ऋत्विग्गणको (स्वावेशः) लघुहोनेसे सुखसे प्रवेश करने योग्य (अग्रेणीः) अग्रसर (असि) हो तुम (एतस्य) इस कर्मको (वित्तात्) जानो जो कि (त्वा) तुम्हारे ऊपर दूसरा और खण्ड (आधस्थास्यति) स्थित होगा १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे इस शकलके ऊपरके भागमें घृत लिप्तकरे [का०६ । ३।२]मन्त्रार्थ-हे यूप ! (सविता देवः) सबके प्रेरक देव (मद्धा) मधुरघृतसे (त्वा) तुमको

(युनक्तु) सिंचित करैं २ । **विधि**—(३) तीसरे मंत्रसे चषालके आदिअन्त दोनों भाग घृतसे चिकने कर शकलके ऊपर स्थापन करैं [का० ६ । ३ । ३-४] **मन्त्रार्थ**—हे चषाल ! (सुपिप्पलाभ्यः) सुन्दरफलसे युक्त (औषधीभ्यः) व्रीहिआदि औषधियोंकी प्राप्तिके निमित्त (त्वा) तुझको इस शकल नामक यूपांशके ऊपर स्थापन करताहूं । **विधि**—(४) चौथे मंत्रसे इसके ऊपर तीसरा रक्खै [का० ६।३।७।] **मंत्रार्थ**—हे यूप ! तुमने (अग्रेण) अग्रभागसे (द्याम्) द्युलोकको (अस्पृक्षः) स्पर्शकियाहै (मध्येन) मध्यभागसे (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (आअप्राः) पूर्णकिया है (उपरेण) अधोभागसे (पृथ्वीम्) पृथ्वीको (अदृꣳहीः) दृढकिया है ॥ २ ॥

विवरण—पहले शकलका नाम आदिखण्ड, दूसरेका चषाल नाम मध्य खण्ड, तीसरेका यूपनामक अग्रभाग इस प्रकार खण्ड २ स्थापनकरनेमें क्लेश नहीं पडताहै अन्यथा एक साथ खडाकरनेमें कठिनाई पडै बलकरना पडै इस कारण लघु अक्लेश कहा, गायत्रीके अर्थसे सबही सविता देवताकी प्रेरणासे होताहै मेरा कर्तृत्व नहीं है ।

फल पक्व होजानेसे समस्त वृक्ष शुष्क होजाय उसको औषधिं कहते हैं यथा धान्य गेहूं आदि ॥ २ ॥

कण्डिका ३—मन्त्र ३ ।

यातेधामान्युश्मसिगमंद्ध्यैयत्रुगावोभूरिशृङ्गाऽअयासंः ॥ अत्राहतदुरुगायस्यविष्णोः परमम्पुदमवंभारिभूरिं ॥ ब्रह्मवनिंत्त्वाक्षत्रवनिंरायस्पोषवनिपर्य्यूहामि ॥ ब्रह्मंदृꣳह क्षत्रन्दृꣳहायुर्दृꣳह प्प्रजान्दृꣳह ॥ ३ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ यात इत्यस्य दीर्घतमा ऋ० । त्रिष्टुप्छं० । यूपो देवता । अवटमध्ये यूपमूलप्रवेशने वि० । (२) ॐ अत्राहेत्यस्य साम्न्युष्णिक्छं० । यूपो देवता । पांसुभिर्यूपावटपरिपूरणे वि० । (३) ॐ ब्रह्मवनित्वेत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । निच्यृत्प्राजापत्या बृहती छंदः । यूपो देवता । पांसुपूरितं गर्तं परितो दण्डेन कुट्टने वि० ॥ ३ ॥

विधि—(१) प्रथम मंत्रसे यूपको गर्तमें भली प्रकार दृढतासे गाड दे [का० ६। ३ ।८] **मन्त्रार्थ**—हे यूप ! (या) जो (ते) तेरे (धामानि) स्थान (गमद्ध्यै)

गमन करनेको हम (उश्मसि) कामना करैं (यत्र) जहां (भूरिशृंगाः) सूर्यदेवताकी अति प्रकाशमान (गावः) किरणजाल (अयासः) विस्तार होते वा वर्तते हैं "प्रज्वलन्नामसु शृंगाणीति पठितम्" [निघं० १ । १४ । ११](अह) वा (उरुगायस्य) महान् गमनवाले अथवा महात्माओंसे स्तुतिको प्राप्त होनेवाले वा सामगानसे उच्चरूप स्तुतिको प्राप्त होनेवाले (विष्णोः) व्यापक परमात्माका (तत्) वह (परमम्) उत्कृष्ट (पदम्) स्थान (भूरि) वडे आदित्यमण्डललक्षणवाले (अत्र) इसस्थानमें ही (अवभारि) शोभित होताहै अथवा इन्हीं स्थानोंमें शोभितहोताहै वह यह यज्ञीय उत्कृष्ट स्थान तुम्हाराही है १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे पांसुपर्यूहण करै [का० ६ । ३ । १० । ११] [मृत्तिका डालै] मन्त्रार्थ-हे यूप! तुम (ब्रह्मवनि) ब्राह्मण जातिसे स्तवनीय (क्षत्रवनि) क्षत्रिय जातिसे स्तवनीय (रायस्पोषवनि) वैश्यजातिसे स्तवनीय हो (त्वा) तुमको इस अवटमें (पर्य्यूहामि) पर्यूहण करता हूं २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे मित्रावरुणदंडद्वारा चारों ओर तीनवार पर्य्यूहण करै अर्थात् डंडेसे मट्टी ठोकदे । मन्त्रार्थ-हे यूप ! (ब्रह्मदृꣳह) ब्राह्मण जातिकी दृढता सम्पन्न कर (क्षत्रन्दृꣳह) क्षत्रिय जातिकी दृढता सम्पन्नकर (आयुर्दृꣳह) वैश्य जातिकी दृढता सम्पन्नकर यजमानकी आयुको दृढकर (प्रजान्दृꣳह) सन्तानकी दृढता सम्पन्नकर ॥ ३ ॥

पक्षान्तरमें परमात्माकी प्रार्थना है. यह भी भावहै कि जहां बहुतसी गऊहैं वहां परमात्माका निवासहै यथा व्रज आदि.

कण्डिका ४-मंत्र १.

विष्णोः कर्म्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ॥ इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विष्णोरित्यस्य मेधातिथिर्ऋ० । निच्यृदार्षी गायत्री छं० । विष्णुर्देवता । यजमानेन पठने वि० ॥ ४ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु शकल नाम यूपका मध्यभाग यजमानको स्पर्शकराकर यह मंत्र पाठ करावै [का० ६ । ३ । १२] मन्त्रार्थ-हे ऋत्विजो ! (विष्णोः) यज्ञके अधिष्ठातृ देव परमात्माके (कर्म्माणि) सृष्टि संहारादि चरित्रोंको (पश्यत) ...आस , जिनकर्मोंसे (व्रतानि) तुम्हारे लौकिक वैदिक कर्मोंको (पस्पशे) तुम्हारे ऊपर दूसरा ...ह विष्णु (इन्द्रस्य) इन्द्रके (युज्यः) वृत्रवधादि कर्ममें अनु- दूसरे मंत्रसे इस शकल हे यूप ! (सविता देवः) अथवा हे ऋत्विग्गणो ! यह दृश्यमान समस्त पदार्थ हीं

सर्वव्यापी विष्णु देवताके कार्य्यकौशलकी अपूर्व परीक्षा देते हैं, इनके कार्य प्रभावसे हमारी यह कार्यजाति स्वतः ही आबद्ध हुई है वह देदीप्यमान इस समस्त पदार्थके ही उपयुक्त सखा हैं अथवा यज्ञरूप विष्णुके वे कार्य देखो जिसने आधान सोमादि कर्म अपनेमें बद्ध किये हैं जिस व्रतमें अग्नि वायु सूर्यको निज२कर्ममें बद्ध किया है ॥ ४ ॥

कण्डिका ५–मंत्र १ ।

तद्विष्णोः॑ पर॒मम्प॒दꣳ सदा॑ पश्यन्ति सू॒रयः॑ ॥ दि॒वीव॒ चक्षु॒रात॑तम् ॥ ५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐतद्विष्णोरित्यस्य मेधातिथिर्ऋ० । निच्यृदार्षी गायत्री छं० । विष्णुर्दे० । चषालं प्रदर्श्य वाचने वि० ॥ ५ ॥

विधि–(१) अध्वर्यु चषाल नाम मध्यभाग यजमानको दिखाकर यह मंत्र पाठ करावे [का० ६ । ३ । १३] मन्त्रार्थ–(सूरजः) वेदान्तपारगामी विद्वान् (विष्णोः) सर्वव्यापी परमात्माके (तत्) उस (परमं पदम्) मोक्षस्वरूप परमपदको (सदा) सदाही सर्वत्र (पश्यन्ति) देखते हैं (दिवि) निरावरण आकाशमें (चक्षुरिव) चक्षुकी समान (आततम्) व्याप्त है वा आकाश में चक्षुरूप आदित्यमण्डल विस्तार किया है "चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्य" [७ अ०४२ का०] और "तच्चक्षुर्देवहितम्" [३६ अ०का० २४] [ऋ० १ । २ । ७ ।] ॥ ५ ॥

कण्डिका ६–मंत्र ३ ।

प॒रि॒वीर॑सि॒ परि॑त्वा॒ दैवी॒र्विशो॑ व्ययन्ता॒म्परी॒मं यज॑मान॒ꣳ रायो॑ मनु॒ष्या᳖णाम् ॥ दि॒वः सू॒नुर॑स्ये॒ष ते॑ पृथि॒व्याँल्लो॒कऽआ॑र॒ण्यस्ते॑ प॒शुः ॥ ६ ॥ [६]

ऋष्यादि–(१) ॐपरिवीरित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । प्राजापत्या त्रिष्टुप्छं० । यूपो देवता । यूपावेष्टने वि० । (२) ॐ दिवःसूनुरसीत्यस्य दीर्घ० ऋ० । दैवी त्रिष्टुप्छं० । स्वरुर्देवता । स्वरुशकलावसर्जने वि० । (३) ॐएष त इत्यस्य दीर्घ० ऋ० । साम्न्युष्णिक्छं० । यूपो देवता । वाषट्यूपदक्षिणभागेऽनष्टाखीकृतयूपनिधाने वि० ॥ ६ ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे इस यूपमें नाभिपरिमाण उच्चस्थानमें तीन लडवाली त्रिव्यामा [दोनों भुजा फैलानेका जितना स्थान है वह व्याम कहा जाता है इससे तिगुनी] कुशाद्वारा एक रज्जु बनावे जो यूपमें तीनवार लिपट जाय [का० ६ । ३ । १९] मंत्रार्थ–हे यूप ! तुम (परिवीः) रज्जुसे चारोंओरसे वेष्टित (असि) हो अथवा हमसे परिवारित हो (दैवीः) देवसम्बन्धिनी (विशः) मरुद्गणादि प्रजा (त्वा) तुझे (परिव्ययन्ताम्) चारों ओरसे घेरें, अथवा, यज्ञसम्बन्धी मनुष्यगण वा पशु तुमको भली प्रकारसे वेष्टित करें (मनुष्याणाम्) मनुष्यसम्बन्धी (रायः) धन (इमम्) इस मनुष्य श्रेष्ठ यजमानको (परि) चारों ओरसे वेष्टित करे १ । विधि–(२) दूसरे मंत्रसे अग्निष्ठके उत्तर भागमें स्वरू अवगूहन करे [का० ६।३।१७ ।] मन्त्रार्थ–हे स्वरू ! तुम (दिवः) स्वर्गके (सूनुः) पुत्र (असि) हो [आशय यह द्युलोकसे वर्षा वर्षासे वृक्ष वृक्षसे यूप यूपसे स्वरू होताहै इससे पुत्रवत् कहा]२। विधि–(३) तीसरे मंत्रसे वर्षिष्ठ यूपके दक्षिणभागमें वितष्ट नामक बारह यूप स्थापन करे । मन्त्रार्थ–हे यूप ! (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें (एषः) यह (ते) तुम्हारा (लोकः) आश्रयस्थान है (आरण्यः) वनमें होनेवाले (पशुः) पशु (ते) तुम्हारे हैं ३ ॥ ६ ॥

प्रमाण–"दैव्यो वा एता विशो यत्पशवः" इति श्रुतेः । "पशवो वै यूपमुच्छ्रयन्ति" इति श्रुतेः [श० ३ । ७ । ३ । ४] ॥ ६ ॥

विवरण–अग्निष्ट यूपका प्रथम भाग यही है, शकल नामसे प्रसिद्ध है यह आठ अस्रि (आठपल) की निर्मित होती है उसमें यह अस्रि ऊपर वेदीमें स्थित अग्निके सन्मुख होताहै इसी पश्चिम भागवाली अस्रिको अग्निष्ट कहाजाता है इसके उत्तर भाग अर्थात् शामित्र वेदी दक्षिण भागमें स्वरुकाष्ठ रक्खाजाता है बोध होताहै स्तम्बानिर्माणके समय गडनेके समय पहला गिरा यूपका टुकडा यही है यह भी नालिका यूपकाही एक विशेष अंश है इसको शामित्र वेदीके नीचेके स्थानमें गुप्तरूपसे रक्षा करे ।

वर्षिष्ठका अर्थ अतिशय प्रवृद्ध है इस स्थानमें बारह यूप वा यूपांशोंका व्यवहार होताहै प्रथम खण्ड आठ कौन होनेसे उसकी आठ संख्या गिनी हैं नौमा चषाल और ऊपर दूसरा, ग्यारहवां स्वरु और बारहवां वितष्ट [काष्ठखण्ड] है इनके दूसरे मंत्रसे इस शकलका स्वरु [पहला गिरा काष्ठखण्ड] ही वृद्ध है इस कारण हे यूप ! (सविता देवः) ।६ ॥

कण्डिका ७–मन्त्र १ ।

उपावीरस्युपदेवान्दैवीर्विशःप्रागुरुशिजोवह्नितमान् ॥ देवत्त्वष्टर्वसुरमहव्यातेस्वदन्ताम् ॥ ७ ॥

अग्नीषोमीय पशुप्रयोग.

जो क्षत्रियजाति अतिशय आखेट व्यवहारमें प्रवृत्त हैं उनके निवृत्त करनेके निमित्त वेदमें अग्नीषोमीय पशुप्रयोग दीखताहै और यह यज्ञ सोमयागका अंगभूत है इसमें पशुका संस्कार होताहै [तैत्तिरीय कृष्णयजु० काण्ड० ६ प्रपा० १ अनुवाक ९ में लिखाहै] "आसोमं वहन्त्यग्निनाप्रतिष्ठते । तौ सम्भवन्तौ यजमानमभि संभवतः । यदग्नीषोमीयं पशुमालभते । आत्मानिष्क्रय एव सः" । इति । जिससमय ऋत्विक् प्राग्वंशाशालामें अग्निके समीप सोम लातेहैं उस समय अग्नि सोम यजमानको देखकर संगति प्रकट करतेहैं उस समयसे दीक्षित हुआ यजमान अपने देहको यज्ञार्थ समर्पित मान्ताहै, यह जो अग्नि सोमदेवतावाला पशु लियाजाता है यह मानो यजमान अपनी आत्माका निष्क्रय मूल्यही देता है. इस स्थानमें छागपशुका ही ग्रहण है यथा "अजं पशुमुपाकरोतीति, अग्नीषोमाभ्यां छागस्य वपायै मेदसोनुब्रूहि" इत्यादयः श्रुतयः । इस प्रकार छागद्वारा यह हवि सम्पादन होती है [निरुक्त] अग्नीषोमीयका आशय यह कि जिस पशुका अग्नि और चन्द्रके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है केवल उसी पशुको सोमयागमें ग्रहण करना चाहिये, इससे अन्य पशुओंका निषेध होगया, यज्ञके सिवाय अन्यस्थलमें पशुप्रयोगका दोष है. इस वचनसे यथेच्छाचारकी निवृत्ति की है, और शास्त्रोंमें भी जहां इस प्रकार कथन है, वहां स्वाभाविक हिंसाशीलोंको प्रतिबंध डालकर उनके कामचारका संकोच किया है, जैसे जो पशुमें अत्यन्त प्रीति हो तो वह यज्ञके निमित्त ही लेना. और वह भी विख्यात सोमादिमें ही लेना, और वहभी अग्नीषोमीय ही पशुहो अन्य नहीं. वह भी क्षत्रियोंकोही लेना औरको नहीं इत्यादि नियम बांधकर अतिप्रवृत्तिवालोंका संकोच किया है, इससे पशुकृत्यकी विधि है यह नहीं जान्ना, जो बालक अतिशय खेलकूद में लगाहो, एक साथ उसके मनकी प्रवृत्ति रोकनेसे न रुकेगी, कुछ नियमकर दिये जायं कि यदि तू खेलै तो अपना पाठ पढकर, खेललिया कर सो भी अच्छे लड़कोंके साथ, सो भी नियत समयतक खेलो, इस

---

१ अग्नि और सोमात्मक जगत् है, इस कारण जगत्के उपकारको अग्नीषोमात्मक (रतूबत-हरारत) रूप पशु लेते है यह पशुरूपसे अलंकृत कियाहै इस स्थलमें अग्नीषोमका वर्द्धन और प्रयोग पशुरूप के अलंकारसे लिखाहै.

प्रकार खेलनेमें संकोच करते २ विद्या और संगति के कारण कुछ दिनोंमें वह आपही खेलना छोड देगा, इसीप्रकार जो निगमागम प्रवृत्तिवालोंको एक साथ निवृत्त करैं तो उनका यथोचित शासन नहीं होता, उससे अच्छा परिणाम न निकलै इस कारण कुछ नियम लिखकर इसमें संकोच कियाहै, बालकको खेलनेका नियम बांधनेसे माता पिताका खिलाना आशय नहीं किन्तु खिलाना छुडानेसे आशय है.

वास्तविक रीतिसे वेद यद्यपि निवृत्तिका ही निरूपण करता है परन्तु जबतक उसका विचार न कियाजाय तबतक विधानसा दीखताहै, तलस्पर्शकरतेही पूर्ण निवृत्ति दीखतीहै, प्रथम तो यह वाक्य विधिरूप है ऐसा नहीं कहसकते, कारण कि जो क्रिया अत्यन्त अप्राप्त हो उसे प्राप्त करनेके निमित्त जो वाक्य हों वे विधिवाक्य कहलातहैं, जैसे सन्ध्या अग्निहोत्रादि क्रिया, जो किसी रीतिसे प्राप्त नहीं होती उनके प्राप्त करनेके निमित्त मंत्र विधिवाक्य कहाते हैं, सुरामांसादि तो विना विधिकेभी प्राप्तहैं, इससे इनके निरूपण करनेवाले वाक्य विधि नहीं है और नियमवाक्य भी नहीं है. जो क्रिया एकपक्षमें अप्राप्तहो उसे प्राप्त करनेके निमित्त वाक्य नियम वाक्य कहातेहैं, जैसे यज्ञमें उपयोगी व्रीहिको कूटकर छडना, यह नियमवाक्य है, भूसा दूर करनेको जिस पक्षमें व्रीहिको नखसे छीलें उस पक्षमें उलूखलमें डालकर छडना अप्राप्त है, इससे एक पक्षमें अप्राप्त क्रिया दूसरे वचनसे प्राप्त की गई, व्रीहिको छडना चाहिये यह नियमवाक्य है, इस प्रकार मद्य आमिष रतिकी रीति सदा प्राप्त है किसी पक्षमें अप्राप्त नहीं, इस कारण इनके कहनेवाला वाक्य नियमवाक्य नहीं है, और परिसंख्यारूप भी इन वाक्योंको नहीं कह सकते, कारण कि जहां दोनों क्रियाओंकी एक साथ प्राप्ति हो, वहां एककी निवृत्तिके तात्पर्यवाले वाक्यको परिसंख्यावाक्य कहते हैं, जैसे सोमयागी राजाको अग्नीषोमीय ही पशु लेना अन्य नहीं ऐसे अभिप्रायवाले वाक्य परिसंख्या कहाते हैं, यद्यपि हुतशेष आमिषका सूंघना वा भक्षण करना, ऋतुमें भार्यागमन, सौत्रामणिमें आसवपान, इन वाक्योंको परिसंख्या कहनेमें कोई अडचड नहीं, परन्तु परिसंख्या कहनेमें भी स्वार्थत्याग परार्थकल्पना परार्थवाद यह तीन दोष आपडते हैं, ऋतुमें भार्यागमन करना जिस वाक्यका ऐसा अर्थ है उसका त्याग हुआ यह स्वार्थत्याग दोष आया, ऋतुविना प्रसंग नहीं करना इस दूसरे अर्थसे परार्थकल्पना दोष आया, इसी प्रकार स्वाभाविक रीतिसे प्राप्तका बाध हुआ, यह प्राप्त बाधका दोष आया, यही सुरा और आमिषमें दोष प्राप्त है, इस कारण यह परिसंख्यावाक्य भी नहीं है इन वाक्योंकी व्यवस्था इस प्रकारसे है कि यह वाक्य नियमरूप है, किन्तु

इनमें एक पक्षमें अप्राप्तिकी प्राप्ति करने रूप फल न होनेसे वे नियमद्वारा फलितार्थ परिसंख्यारूप होते हैं. इससे यह प्राप्त हुआ कि, ऋतुमें भार्यागमन, हुतशेष आमिषको तथा सौत्रामणिके अन्तमें सुराको सूंघे वा पान करै तो दोष है, ऐसी दृढ आज्ञारूप यह वाक्य नहीं है किन्तु उतने अवकाश मिलने रूप है कि जिससे न ब्रह्मचर्य होसके वह ऋतुकालमें स्वभार्यागमन करनेको विवाह करै, जिसको आमिषके विना न सरै वह हुतशेष आमिष स्वीकार करै, तथा जिसको मद्यविना न सरै वह यज्ञान्तमें ऋत्विजोंके निर्मित सुरा महौषधियोंके रसको सेवन करै, जहां-तक बने वहांतक इनके त्यागमें ही मधुरतापूर्वक वेदका आशय है, कामना होनेपर जो ऋतुस्नातासे संयोग न करै उसमें कामनापरत्व दोष है, वेदकी यह आज्ञा नहीं कि भक्षणही करो किन्तु यदि यज्ञ करते २ चित्त शुद्ध होजाय तो सूंघले, अधिक अरुचि होय तो न सूंघे यह अभिप्राय है. इस कर्मकी वेदमें प्रशंसा नहीं कीहै किन्तु इसी प्रसंगपर २० कण्डिकामें कहा है कि हमने जो पशुके साथ कुत्सित व्यवहार किया है वह पाप हमारा दूर हो, तथा हमारे घर पशु आदि बहुत रहैं इससे प्रगट है कि जिनको उपदेश का अवसर नहीं मिलता उनको इस प्रकार उपदेश प्राप्त होकर शीघ्र लगसकता है. कारण कि, इस समय यजमान सावधान तथा व्रतमें स्थित है, फिर आगे उपासना और ज्ञानमें तोइसका सर्वथा ही निषेध है इस कारण निवृत्ति है. देखो इस समय राज्यकी ओरसे मदकारक वस्तुओंपर बहुत बढा हुआ कर है, और उसके क्रय करनेके भी नियम हैं. इसका तात्पर्य यह है कि, इस कार्यकी न्यूनता हो जाय यादि इनमें प्राणी स्वच्छन्द करदिये जाँय तो इसके प्रचारका ठिकाना न रहै । ऐसेही विचारसे महर्षियोंने सूत्र बद्धकर यह नियम कुछ मंत्रोंके साथ संगठित किया है जो कि पाठकोंको देखनेसे विदित होगा कि वेदमंत्रोंके साथ कितना सूक्ष्मरीतिसे इसका सम्बन्ध है, धर्म अधर्मका ज्ञान हमको वेदसे होता है इस कारण जो कुछ वेदमें कर्तव्य लिखा है वही धर्म है जिसका निषेध है वह अधर्म है इसमें कथन की आवश्यकता नहीं है,वेदमें जो कर्त-व्य है सो अशुद्ध भी शुद्ध है तद्व्यतिरिक्त संस्कारशून्य है जैसे ज्वरकी औषधि ज्वरके ही उपयोगी है अतिसारको वही अनुपयोगी है इसी प्रकार वेदप्रतिपाद्य जो कर्म श्रेयस्कर माना है वह वेदके प्रतिकूल करनेसे शुभदायक नहीं होता अथवा इस भूमिरूप वेदीमें जो प्राकृतिक नित्य हवन यज्ञ होता रहता है यह यज्ञमें उसका सूक्ष्म रूपसे दर्शन है ।

"इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः" [यजुः २३।११] वेदीही पृथ्वीका अन्त है जहां सर्वत्र यज्ञ हो रहे हैं यह यज्ञ भुवनकी नाभि है सह-

लचतुर्युगी वीचनेपर परिमित कालको इसकी छुटी होती है उसीका रूप यज्ञ है, जिसमें सूक्ष्ममें सब कुछ दिखाया जाता है ।

पशुओंके स्वर्ग गमनका उपाय नहीं है,तथा प्राणियोंपर उपकार करना ही महात्माओंका कर्तव्य है. कारण कि, तुरीयावस्था प्राप्त होनेसे प्राणीकी स्वर्गप्राप्ति वा मुक्ति होजाती है, नादसे पशुओंमें भी-तुरीया प्रगट होती है. इसीसे बीनसे सर्प मृग पकड लिये जाते हैं, तुरीयामें सुख दुःखका ज्ञान नहीं रहता है, ऐसे समयमें ही पशु स्वर्ग गमन करते हैं, जिस समय सामदेवका नाद होता है. यथायोग्य प्रयोगसे ब्रह्माऋत्विक् जान लेतेथे कि, इस समय इसको तुरीया प्राप्त हुई, उसी समय उसको परलोकगमनकी आज्ञा देते थे, जिससे वह स्वर्गको गमन करतेथे. दूसरे पशुओंकेही निमित्त यह किया है. मनुष्यादिके निमित्त नहीं, जैसे रमणका विधान भार्यामें है अन्यमें नहीं अथवा यह चिकित्सा है वन्ध्यगुणयुक्त अग्नीषोमीय पशुकी चिकित्सा है, चिकित्साके निमित्त शरीरखण्डनका दोष नहीं इसी प्रकार यज्ञीय पशु पुनर्जीवित होकर दिव्यदेह धारणकर स्वर्गमें गमन करते थे वह इसी प्रसंगके मंत्रमें दिखावेंगे तुरीयाकी प्राप्ति न होने और तपका प्रभाव न होनेसेही कलियुगमें इन यज्ञोंकी अधिकाई नहीं है, उपासना ज्ञानमें यह कृत्य रहता ही नहीं, ब्राह्मण वैश्योंको दूसरे यज्ञ हैं आगे ऋषि कल्पसूत्रोंके अनुसार मंत्र लिखते हैं वेदका लेख शिरोधार्य है यह सिद्धान्त है.

ऋष्यादि-(१) ॐउपावीरित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । दैवीपंक्तिश्छन्दः । तृणं देवतम् । तृणादाने वि० । (२) ॐउपदेवानित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । निच्यृत्साम्नी बृहती छन्दः । लिङ्गोक्ता देवता । तृणेन पशूपस्पर्शने वि० । (३) ॐद्वेत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । प्राजापत्या गायत्री छं० । त्वष्टा देवता । प्रार्थने वि० । (४) ॐहव्या इत्यस्य मेधा० ऋ० । दैवी त्रिष्टुप्छं० । पशुर्देवता । प्रार्थने वि० ॥ ७ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे तृणग्रहण करै [का० ६ । ३ । १९] मन्त्रार्थ-हे तृणसमूह ! तुम (उपावीः) निकटमें उपस्थित होनेवाले अथवा समीपमें रक्षा करनेवाले अथवा पशुके सखा (असि) हो तुमको देखकर पशु समीप आतेहैं १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे यह तृणसमूह मेध्यपशुके मुखमें स्पर्श कराकर क्रमसे यथेच्छ स्थानमें लेजाय [का० ६ । ३।२०] मन्त्रार्थ-(देवीर्विशः) दिव्यगुणयुक्त यह पशु (देवान्) अग्नीषोमादिदेवताओंके (उपप्रागुः) समीपमें गमन करैं जो कि देवता (उशिजः) महाबुद्धिमान् (वह्नितमान्) अग्निद्वारा हविकी इच्छा करनेवाले अथवा यजमानकी स्वर्ग प्राप्तिमें श्रेष्ठ हैं आशय यह कि जो देवता हविकी

कामना करते और यजमानको स्वर्ग प्राप्ति करातेहैं उनके समीप पशुओंने आगमन कियाहै २ । विधि-(३) त्वष्टाकी प्रार्थनाकरै । मंत्रार्थ-(देवत्वष्टः) हे त्वष्टादेवता ! तुम (वसु) इस अपने पशुरूप धनमें (रम) रमण करो अर्थात् अपने कार्यमें प्राप्त करो ३ । विधि-(४) पशुको संबोधित करै । मंत्रार्थ-हे पशो ! (ते) तुम्हारी (हव्या) हवि (स्वदन्ताम्) स्वादवाली हो अर्थात् देवता हवियोंको स्वीकार करें ॥ ४ ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मन्त्र २ ।

रेवतीरमध्वम्बृहस्पतेधारयावसूनि ॥ ऋतस्यत्वा देवहविःपाशेनप्प्रतिमुञ्चामिधर्षामानुषः ॥ ८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐरेवतीरमध्वमित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । बृहस्पतिर्दे० । पशुप्रार्थने वि० । (२) ॐऋतस्येत्यस्य निचृत्प्राजापत्या बृहती छं० । पशुर्देवता । पशुबन्धने वि० ॥ ८ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे पशुकी प्रार्थना करै । मन्त्रार्थ-(रेवतीः) हे क्षीरादिकधनवाले पशुओ ! (रमध्वम्) यजमानके यहां सदा रमण करते रहो (बृहस्पते) हे परमात्मन् ! हमारे यहां (वसूनि) अनेक प्रकारके पशु आदि धन (धारय) निश्चल कीजिये "ब्रह्म वै बृहस्पतिः पशवो वसु" इति श्रुतेः [३ । ७ । ३ । १३] विधि-(२) दूसरे मंत्रसे तीन लडीवाली कुशाकी रस्सी दो व्यामप्रमाण परिमित लम्बी इस पशुके सींगमें नागफांस बंधनसे बांधै इस बंधनकी गांठ वा मुख दक्षिण शृंगकी ओर हो, दूसरा आधा पाठ करके इसे शामित्र अर्थात् शमन करनेवाले पुरुषको समर्पण करै [का० ६ । ३ । २६] मन्त्रार्थ-(देवहविः) हे देवताओंके हविरूप ! (ऋतस्य) अवश्य होनेवाले फलसे युक्त यज्ञके (पाशेन) पाशसे (त्वा) तुझको (प्रतिमुञ्चामि) बांधताहूं और कर्मबंधनके पाशसे यज्ञद्वारा मुक्तकरताहूं (मानुषः) मनुष्य (धर्षा) तुझको शमन करनेमें समर्थ है ॥ ८ ॥

विवरण-यज्ञीय पशु मंत्रके प्रभावसे कर्मबंधनसे मुक्त हो स्वर्गमें जाते हैं ॥ ८ ॥

प्रमाण-"रेवन्तो हि पशवः" इति श्रुतेः [श० ३ । ७ । ३ । १३] ॥ ८ ॥

---

१ टेढे फैले २ हाथके सहित बाहुओंके अन्तरको व्याम कहते हैं-"व्यामो बाह्वोः सकरयोस्ततयोस्तिर्यगन्तरम्" इत्यमरः ।

कण्डिका ९-मंत्र २ ।

देवस्यत्त्वा सवितुः प्प्रसवेश्विनोर्ब्बाहुभ्याम्पूष्णो हस्ताभ्याम् । अग्नीषोमाभ्याञ्जुष्टन्नियुनज्मि ॥ अद्भ्यस्त्वौषधीभ्योनुत्त्वामातामन्यतामनुपितानुभ्रातासगर्ब्भ्योनुसखासयूथ्यः ॥ अग्नीषोमाभ्यान्त्वाजुष्टम्प्प्रोक्षामि ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐदेवस्य त्वेत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । भुरिगार्षी पंक्तिश्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । यूपे पशुबंधने वि० । (२) ॐअद्भ्यस्त्वेत्यस्य दीर्घत० ऋ० । आर्षी पंक्तिश्छं० । पशुर्देवता । पशुप्रोक्षणे वि० ॥ ९ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे पशुको उस यूपमें बंधन करै [का० ३ ।६ ।२७।] मंत्रार्थ-(सवितुः) सबके प्रेरक सविता (देवस्य) देवताकी (प्रसवे) प्रेरणासे (अश्विनोः) अश्विनीकुमारकी (बाहुभ्याम्) दोनों भुजा और (पूष्णः) पूषा देवताके (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथोंसे (अग्नीषोमाभ्याम्) अग्नि और सोम देवताके(जुष्टम्) प्रीतिपात्र (त्वा) तुझको (युनज्मि)बंधन वा नियुक्त करताहूं १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे: औषधी तृणद्वारा जल ग्रहण करके पशुको प्रोक्षण मार्जन करै [का० ६ । ३ । ३०] मंत्रार्थ-(अग्नीषोमाभ्याम्) अग्नि और सोम देवताकी (जुष्टम्) प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझको (अद्भ्यः) जल और (ओषधीभ्यः)ओषधियोंसे (प्रोक्षामि)प्रोक्षण करता हूं (त्वा) तुझको तेरी (माता) माता वा भूमि (अनुमन्यताम्) इस कार्यमें आज्ञा दो (पिता) पिता वा द्युलोकरूप पिता (अनु) आज्ञा दो (सगर्भ्यः) समानगर्भमें हुआ सहोदर (भ्राता) भाई (अनु) आज्ञा दे (सयूथ्यः) समान यूथके होनेवाले (सखा) मित्र (अनु) आज्ञा दे तृण जलसे पशुकी पुष्टि है इस कारण तृणधारक भूमि माता और जलधारक द्युलोक पिता है और दोनोंहीसे प्रोक्षण करते हैं ॥ ९ ॥

प्रमाण-"अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः प्रोक्षामीत्याहाद्भ्यो ह्येष ओषधीभ्यः सम्भवति" [तैत्तिरीय०] ॥ ९ ॥

विशेष- प्रोक्षण करनेसे शुद्धि होती है प्रत्येक वस्तु जो यज्ञकार्यके [illegible] (उशिजः) [illegible]ग करना चाहिये जहां पशुकृत्य न हो इसी मंत्रसे अन्य करनेवाले अथवा यजमानकी ॥ ९ ॥

कण्डिका १०—मन्त्र १।

अपाम्पेरुरस्यापोदेवीःस्वदन्तुस्वात्तश्चित्सद्देवहविः ॥ सन्तेप्प्राणोवातेनगच्छताᳪंसमङ्गानियजत्रैःसंय्यज्ञपतिराशिषा ॥ १० ॥

ऋष्यादि—(१) ॐअपांपेरुरित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । याजुषी गायत्री छं० । पशुर्देवता । पशोर्मुखाधःप्रोक्षणीधारणे वि० । (२) ॐआपोदेवीरित्यस्यासुरी गायत्री छं० । आपो दे० । पशोरुदरहृदयप्रदेशे प्रोक्षणे वि० । (३) ॐसन्तइत्यस्य भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छं० । पशुर्देवता । आज्येन पश्वंगम्रक्षणे वि० ॥ १० ॥

विधि—(१) जिस तृणमुष्टिद्वारा प्रोक्षण किया है इस मंत्रको पढकर वह तृण जलके सहित पशुके मुखमें दे [का० ६ । ३ । २१] मन्त्रार्थ—हे पशु ! तुम (अपाम्) जलोंके (पेरुः) पीनेवाले (असि) हो इस कारण इस जलको पान करो १ । विधि—(२) दूसरे मंत्रसे पशुका हृदय प्रोक्षण करै [का० ६ । ३ । ३२] मंत्रार्थ—(आपो देवीः) यह दिव्य जल तुझको (स्वदन्तु) आस्वादन करैं (चित्) जिस कारण कि (देवहविः) देवताओंकी हवि (स्वात्तम्) आस्वादित हुई (सत्) सुन्दर देवताओंके योग्य होजाती है. [आशय यह कि जलदेवता तुमको आस्वादन करैं जिस कारण कि पहले तुमने इनके पदार्थ आस्वादन किये हैं इस कारण देवयोग्य हविनामसे गृहीत हुए] २ । विधि—(३) इसके उपरान्त उत्तराधार होम करनेपर तीसरे मंत्रसे भागक्रमसे पशुके ललाट दोनो कंधे और श्रोणी भागमें जुहूसे घी लगावे [का० ६ । ४ । २] ललाटमें घृत लगानेका मंत्र । मन्त्रार्थ—हे पशो ! (ते) तेरे (प्राणः) प्राण (वातेन) बाह्यपवनके साथ (सङ्गच्छताम्) सम्मिलित हों ॥ ३ ॥ [दोनों कंधोंपर घृत लगावै] तेरे (अङ्गानि) कंधे आदि अंग (यजत्रैः) यज्ञकार्यके उपयोगमें (सम्) संगतिको प्राप्तहों ॥ ४ ॥ [श्रोणीभागमें घी लगावै.] (यज्ञपतिः) यजमान (आशिषः) आशीर्वादके सहित (सम्) संगति प्राप्त करै ॥ १० ॥

प्रमाण—"उपरिष्टात्प्रोक्षत्युपरिष्टादेवैनं मेध्यं करोति पाययत्यन्तरत एवैनं मेध्यं करोति" इति श्रुतेः [तैत्तिरी०] अर्थात् प्रोक्षणसे पवित्रता होती है. वेदमें जिसको जिस प्रकार पवित्र करना कहाहै उसको वैसेही पवित्र करनेसे शुद्धता होजाती है ।

अध्यात्मपक्ष—भूतात्मा ब्रह्मज्योतिरसका पान करनेवाला है ब्रह्मज्योतिरूप जल उसे भक्षण करैं जिस कारण कि ईशकी हविश्रेष्ठ भक्षित होती ब्रह्मरूप होतीहै

हे भूतात्मन् ! तुम्हारे प्राण समष्टि प्राणसे अंगदेवताओंसे संयुक्त हो आत्मारूप यजमान योगयज्ञके फलको प्राप्त हो ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मन्त्र ५ ।

घृतेनाक्तौ पशूँस्त्रायेथाᳯ रेवति यजमाने प्रियं धाऽआविश ॥ उरोरन्तरिक्षात्सजूर्देवेन वातेनास्य हविषस्त्मना यज समस्य तन्वा भव ॥ वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः स्वाहा देवेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐघृतेनाक्ताावित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । याजुष्यनुष्टुप्छं० । स्वरुशासौ देवते । असिस्वरुभ्यां पशोर्ललाटस्पर्शने वि० । (२) ॐरेवतीत्यस्य मेधा० ऋ० । ब्राह्म्युष्णिक्छं० । वाग्दे० । मंत्रवाचने वि० । (३) ॐवर्ष इत्यस्य मेधा० ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । तृणं दैवतम् । शामित्रस्य पश्चात्प्रागग्रतृणस्पर्शने वि० । (४-५) ॐदेवेभ्य इतिद्वयोर्मेधा० ऋ० । दैवी पंक्तिश्छन्दः । यज्ञो देवता । आहवनीये आज्यहवने वि० ॥ ११ ॥

विधि-(१) शमिताद्वारा दीहुई शास [द्विधाकारी छुर] और यूपसे स्वरुको लेकर इसको जुहूके मध्य घृतसे लिप्तकर इनके द्वारा पशुका ललाट स्पर्श करै [का० ६ । ४ । १२] मंत्रार्थ-हे स्वरुशास ! तुम (घृतेन) घृतके द्वारा (अक्तौ) सिक्तहुए (पशून्) पशुओंको (त्रायेथाम्) यज्ञके प्रभावसे रक्षाकरो बहुवचन आदरके निमित्त है अथवा निर्दिष्ट स्थानसे अन्य स्थानमें लगनेसे रक्षा करो अथवा इसको पशुजन्मसे उद्धार करके रक्षाकरो जिससे इसको निकृष्टयोनि

१ इसपर निरुक्तकार कहतेहै-

"औषधे त्रायस्वैनं स्वधिते मैन हिंसीरित्याह हिंसन्नथापि विप्रतिपिद्धार्था भवन्ति०" [निरु० अ० १ पा० ५ खं० १] "आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयते" [अ० १ पा० ५ खं० २ निरु०] हे औषधे ! इसकी रक्षाकरो हे स्वधिते ! इसको मतमारो यह कहकर फिरभी औषधीको छेदन करते और छुर प्रहार करते है इस विप्रतिपिद्धार्थ वचनका निरुक्तकार स्वयंही उत्तर देतेहैं कि 'आम्नायवचनादहिंसा' कि वेदवचनसे ही यह अहिंसा प्रतीत होतीहै कारण कि हिंसाकरते भी वेद 'मैनं हिंसीः' कहताहै यह हिंसा और यह अहिंसाहै वह ज्ञानभी तो वेदसेही होताहै और वह वेद सम्पूर्ण जगत्के कल्याणके निमित्त उत्पन्न हुआ कर्ताको इस कार्यमें नियुक्तकरताहै फिर यह हिंसा किसप्रकार होसकती है यह प्रत्यक्ष अहिंसा है, कारण कि औषधि वनस्पति पशु मृग पक्षी सरीसृप भलीप्रकार उपयुक्त हो यज्ञमें परम उत्कर्षताको प्राप्त होतेहै इस कारण यह अभ्युदयही है हिंसा नहीं यह हिंसा नहीं किन्तु यज्ञ अनुग्रह करताहै इत्यादि वाक्योंसे सिद्ध है जो वेद कर्तव्य कर्म कहता है वह धर्म है ।

प्राप्त नहो १ । विधि-(२) दूसरा मंत्र यजमान पाठ करे [का० ६ । ५ । ११] मंत्रार्थ-(रेवति) हे धनयुक्त हमारे निमित्त आशीर्वाक्! "वाग्वै रेवती" इति श्रुतेः [श० ३ । ८ । १ । १२] (यजमाने) इस यजमानमें (प्रियम्) अभीष्टको(धाः) प्रधान करो (आविश)ज्ञानप्रदानके निमित्त मुझ यजमानमें प्रवेश कर और(वातेन) वायु (देवेन) देवताके साथ (सजूः) समान प्रीतिवाली होकर (उरोः) विस्तीर्ण (अन्तरिक्षात्) आकाशमें व्याप्तहोकर (अस्य) इस (हविषस्त्मना) स्वयं हविवाले यज्ञमें (यज) यजनकर वा प्रवृत्त हो (अस्य) इस पशुके (तन्वा) शरीरसे (सम्भव)एकीभावको प्राप्तहो(आशय यह कि, हे रेवती वाक्! तुम ही यजमान और पशुरूप होकर आत्माद्वारा यजनकरो)२।विधि-(३) कृतकार्य होनेपर पशुका भूमिस्पर्श निवारण करनेको पूर्वाग्र तक तृण पृथ्वीपर डाले [का० ६ । ५ । १५] मन्त्रार्थ-(वर्षो) हे वर्षासे उत्पन्नहुए तृण ! तुम (वर्षीयसि) अतिविस्तीर्ण (यज्ञे) यज्ञमें (यज्ञपतिम्) यजमानको (धाः) धारण करो ३ । विधि-(४-५) इन दोनों मंत्रोंसे आहुतिदे [का० ६ । ५ । २४] मन्त्रार्थ-(देवेभ्यः) देवताओंके उद्देशसे (स्वाहा) यह आहुति दीजाती है भलीप्रकार गृहीत हो (देवेभ्यः स्वाहा) देवताओंके निमित्त श्रेष्ठ होम हो ४-५॥ ११ ॥

प्रमाण-"पुरस्तात् स्वाहाकृतयोऽन्ये देवा उपरिष्टात्स्वाहाकृतयोऽन्ये स्वाहा देवेभ्यः स्वाहा" इति [तैत्तिरी०] दोबार स्वाहा कहनेसे पृथक् पृथक् देवताओंका ग्रहणकरै, अध्यात्ममें हे मन ! और बुद्धि ! तुम दोनों इन्द्रियशक्ति समूहसे लिप्त होते भूतात्माके अंगप्राणादिकी रक्षाकरो शेषअर्थ महावाक् सम्बन्धमें है ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मंत्र २।

माहिर्भूर्म्मा पृदाकुर्न्नमस्त्तऽआतानानर्वाप्प्रेहि ॥ घृतस्यं कुल्ल्याऽउपऽऋतस्य पत्थ्याऽअनुं ॥१२॥

ऋष्यादि-(१) ॐ माहिर्भूरित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । दैवी जगती छं० । रज्जुर्देवता । चात्वाले पशुबन्धनरज्जुप्रक्षेपणे वि० । (२) ॐ नमस्त इत्यस्य मे० ऋ० । प्राजापत्या पंक्तिश्छन्दः । यज्ञो देवता । पत्न्या वहने वि० ॥ १२ ॥

विधि-(१)पशु बांधनेकी रज्जु 'नियोजनी' को दूनी लडी करके वपाश्रपणके दोनों काष्ठद्वारा चत्वालमें डाल दे [का० ६ । ५ । २६] मंत्रार्थ-हे नियोजनी ! इस चत्वालमें डाली हुई तुम (अहिः) सर्पाकार (पृदाकुः) अजगराकार(मा) मत (भूः) होना आशय यह कि तुमको कोई सर्पाकार पडा देखकर सर्पका भ्रम न करै १ । विधि-(२) अनन्तर प्रतिप्रस्थाता पत्नीशालासे 'पान्नेजन'

हाथमें लिये यजमानपत्नीको इस दूसरे मंत्रका पाठ करलावे [जिस कलशके जलसे पशुके पाद आदि सब अंग धोये जाते हैं उस कलशेको पान्नेजन कहते हैं] [का०६।६।१]"यज्ञो वा आतानो यज्ञꣳहि तन्वत" इति श्रुतेः [श०३। ८। २। २] मंत्रार्थ–(आतान) हे विस्तीर्ण यज्ञदेव ! (ते) तुम्हारे निमित्त (नमः) नमस्कार है (अनर्वा) शत्रुरहित होकर (प्रेहि) समाप्तिपर्यन्त यहां गमन करो अर्थात् विद्यमान रहो अथवा हे यजमानपत्नि ! इस समय यह विस्तृत यज्ञशाला शत्रुशून्य है इस कारण (ऋतस्य) यज्ञके (पथ्याः) देवयान मार्गकी (घृतस्य) घृतकी (कुल्याः) नदीवत् धाराको (अनु) देखकर (उपप्रेहि) आगमन करो आशय यह कि घृतकुल्यासदृश यज्ञमार्गमें आओ ॥ १२ ॥

प्रमाण–"ईर्यति वधार्थमित्यर्वा नास्त्यर्वा यस्यासावनर्वा"। "अनर्वाप्रेहीत्यसपत्नेन प्रेहि" इति श्रुतेः। "अनर्वा प्रेहीत्याह भ्रातृव्यो वा अर्वा भ्रातृव्यापनुत्त्यै" इति [तित्तिरिः]।

आशय–घृतकुल्या कहनेका आशय यह कि इस यज्ञमें इतना घृत हुत हुआ है कि यज्ञवाटमें घृतने नहरकी समान आकार धारण किया है.

एक पात्रमें वपा रखकर दूसरेसे उसको इस प्रकार ढक देना कि उसमें वायु प्रवेश न हो फिर उसको पाक करै वह पाकके यन्त्र वपाश्रपणी कहाते हैं ॥ १२ ॥

कण्डिका १३–मंत्र २।

देवीरापः शुद्धा वोढ्वꣳ सुपरिविष्टा देवेषु सुपरिविष्टा वयम्परिवेष्टारो भूयास्म ॥ १३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐदेवीराप इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः। साम्न्यनुष्टुप्छन्दः। आपो देवता०। जल प्रार्थने वि०। (२) ॐदेवेष्वित्यस्यासुरी गायत्री छं०। आशीर्देवता। आशीर्वचने वि० ॥ १३ ॥

विधि–(१–२) प्रथम मंत्रसे पान्नेजन पात्रमें जल ग्रहण करके जलकी प्रार्थना करै और दूसरे मंत्रसे आशीःप्रार्थना करै। मंत्रार्थ–(देवीः) हे दिव्यगुणयुक्त (आपः) जलो ! तुम (शुद्धाः)स्वभावसे शुद्ध (सुपरिविष्टाः)पान्नेजन पात्रमें सब ओरसे व्याप्त (देवेषु) देवताओंमें (वोढ्वम्) स्थातिग्योग्य इस पशुको देवताओंके प्रति प्राप्त करो अर्थात् देवकार्यसिद्धिके निमित्त हम पशुसाधन करते हैं इस कारण इस पान्नेजन पात्रमें प्रवेश करो और (वयम्) हम भी(सुपरिविष्टाः)तुम्हारे प्रसादसे सब प्रकार देवकार्यमें प्रविष्ट होते हैं उन देवताओंके द्वारा तृप्त होकर

(परिवेष्टारः) उन देवताओंके निमित्त सब प्रकार हवि देनेवाले (भूयास्म) हों । पक्षान्तरमें योगीके भूतात्माकी देवत्वमें प्राप्ति हो ॥ १३ ॥

कण्डिका १४–मंत्र ८ ।

वाचन्तेशुन्धामिप्प्राणन्तेशुन्धामिचक्षुस्तेशुन्धा मिश्रोत्रन्तेशुन्धामिनाभिन्तेशुन्धामिमेढ्रन्तेशुन्धा मिपायुन्तेशुन्धामिचरित्रांस्तेशुन्धामि ॥ १४ ॥

ऋष्यादि–(१–७) ॐ वाचं ते शुन्धामीत्यादिमन्त्रसप्तकस्य मेधातिथिर्ऋषिः । दैवी त्रिष्टुप्छन्दः । पशुर्देवता । पत्न्याद्भिर्मृतस्य पशोः प्राणाद्युपस्पर्शने वि० । (२) ॐचरित्रानित्यस्य मेधाति० ऋ० । दैवी-जगती छन्दः । पशुर्देवता । पशुपादोपस्पर्शने वि० ॥ १४ ॥

विधि–(१-८) पत्नी शान्त पशुके समीपमें उपस्थित होकर पात्नेजन पात्रके जलसे उसके आठ अंग शोधन करे अर्थात् जल छिडकदे [का० ६ । ६ ।२। ३]

मंत्रार्थ–हे पशो! मैं (ते) तेरी (वाचम्) वागिन्द्रियको) शुन्धामि) शोधन करती हूं (ते) तेरे (प्राणम्) प्राण वायुको (शुन्धामि) पवित्र करती हूं (ते) तेरी (चक्षुः) चक्षु इन्द्रियको (शुन्धामि) पवित्र करतीहूं (ते) तेरी (श्रोत्रम्) श्रोत्र इन्द्रियको (शुन्धामि) पवित्र करती हूं (ते) तेरी(नाभिम्) नाभिको (शुन्धामि) पवित्र करती हूं (ते) तेरे) मेढ्रम्) जननेन्द्रियको (शुन्धामिं) पवित्र करतीहूं (ते) तेरी (पायुम्) गुदेन्द्रियको (शुन्धामि) पवित्र करती हूं (ते) तेरे (चारित्रान्) चरणोंको अथवा सब इन्द्रिय और कर्तव्य कर्मोंको (शुन्धामि) पवित्र करतीहूं । इससे पवित्र किया ॥ १४ ॥

इस मंत्रका अन्यत्र भी विनियोग होता है.

कण्डिका १५–मन्त्र ९ ।

मनस्तऽआप्प्यायतांवाक्तऽआप्प्यायताम्प्राणस्तऽआप्प्यायताञ्चक्षुस्तऽआप्प्यायताᳯंश्रोत्रन्तऽआप्प्यायताम् ॥ यत्तेक्रूरंयदास्थितन्तत्तऽआप्प्यायतान्निष्ट्यायतान्तत्तेशुद्ध्यतुशमहोभ्यः ॥ ओषधेत्रायस्स्वधितेमैनᳯंहिᳯंसीः ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मनस्त इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः। दैवी जगती छं०। पशुर्देवता । पशोःशिरआद्यनुषेचने वि० । (२) ॐवाक्त इत्यस्य मेधा०ऋ०। दैवी त्रिष्टुप्छं० । पशुर्देवता । पशोरङ्गप्रोक्षणे वि० । (३-४-५) ॐप्राणइत्यादित्रयाणां मंत्राणां मेधा० ऋ० । दैवी जगती० । पशुर्दे० । पशोरङ्गप्रोक्षणे वि० । (६) ॐयत्त इत्यस्य मे० ऋ० । साम्नीत्रिष्टुप्छं० । पशुर्दे० । पशोरवशिष्टांगप्रोक्षणे वि० । (७) ॐशमित्यस्य मे०ऋ० । दैवी बृहती छं० । लिङ्गोक्ता दे० । पशोः पश्चात्सेचने वि० ।(८) ॐ ओषध इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । यजुश्छंदः । तृणं दैवतम् । पशोर्नाभेरग्रे तृणनिधाने वि० । (९) ॐस्वधितइत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । यजुश्छंदः । अग्निर्देवता । पशूदरत्वग्भेदने वि० १५ ॥

विधि-(१-५)इसके पीछे यजमान और अध्वर्यु दोनों इस पात्नेजनके शेष जलसे इस पशुके मस्तकप्रभृति सब शरीरको पांच मंत्रोंसे भली प्रकार धोवें[का०६ । ६। ४-५]मन्त्रार्थ-हे पशो ! (ते)तेरे (मनः) मन (आप्यायताम्) शान्तहो (ते) तेरी (वाक्) वाणी (आप्यायताम्) शान्त हो (ते) तेरे (प्राणः) प्राण (आप्यायताम्) शान्त हो (ते) तेरे (चक्षुः) नेत्र इन्द्रिय (आप्यायताम्) शान्त हो (ते) तेरे (श्रोत्रम्) श्रोत्र(आप्यायताम्) शान्त हो १-५।विधि-(६) छठा मंत्र पढकर सर्वाङ्ग सिंचन करै [का०६ । ६ । ६] (ते) तुम्हारे सम्बन्धमें (यत्) जो (क्रूरम्) बन्धन निरोधादि हमने किया है (यत्) जो (ते) तुम्हारे विषय (आस्थितम्) शामित्र छेदनादि कर्तव्य है (तत्) वह (आप्यायताम्) शान्त हो (तत्) वह सब (निष्ट्यायताम्) संघात दोषशून्य हो अथवा जो न्यूनता है वह दोषशून्य हो (ते) तुमको (शुध्यतु) शुद्ध करै अर्थात् तुम शुद्ध हो६। विधि-(७) सातवें मंत्रसे इस पात्नेजनके शेष जलसे पशुकी जंघा प्रोक्षण करै [का० ६ । ६ । ७] (अहोभ्यः) चिरकालपर्यन्त (शम्) इस यजमानका कल्याण हो वा चिरकालपर्यन्त हमको और पशुको सुख हो ७ । विधि-(८) आठवें मंत्रसे पशुको उठाकर इसकी नाभिके अग्रभागमें चार अंगुलके व्यवधानसे इस मंत्रसे तृणबंधन करै [का० ६ । ६ । ८]मंत्रार्थ-(ओषधे)हे औषधि तृण इस पशुकी (त्रायस्व) रक्षा करो ८। विधि-(९) नववें मंत्रसे मौन होकर इस तृणबद्ध स्थानमें घी लगाकर शाससे वहां उदरके समीपकी त्वचा भेदन करै [का०६ । ६ । ९] मंत्रार्थ-(स्वधिते) हे शास ! (एनम्) इस पशुको (मा) मत (हिꣳसीः) मारना अर्थात् इस चिह्नसे व्यतिरिक्त प्रदेशमें इसको न आघात पहुँचाना । १५ ॥

विशेष-यदि यह कार्य वेदको अभिमत होता तो निष्ठुरताकी शान्ति करनेकी

आवश्यकता न होती इसीसे आन्तरिक भाव विदित होता है मंत्रकी सामर्थ्यको ही लिङ्ग कहते हैं ॥ १५ ॥

पक्षान्तरमें हे इन्द्रियशक्तिसमूह ! संसारसे रक्षाकरो । हे मन ! इस भूतात्माको संसारबंधनसे मत नाश करो ॥ १५ ॥

कण्डिका १६—मन्त्र ७ ।

रक्षसाम्भागोऽसि निरस्तꣳ रक्षऽइदमहꣳ रक्षोऽभितिष्ठामीदमहꣳ रक्षोऽवबाधऽइदमहꣳ रक्षोऽधमन्तमो नयामि ॥ घृतेन द्यावापृथिवी प्प्रोर्णुवाथां वायो वेस्तोकानामग्निराज्ज्यस्य वेतु स्वाहा स्वाहाकृते ऽऊर्ध्वनभसम्मारुतङ्गच्छतम् ॥ १६ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐरक्षसामित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । याजुषी गायत्री छं० । लिङ्गोक्ता देवता । रक्तेन तृणाञ्जने वि० । (२) ॐनिरस्तमित्यस्य मेधा० ऋ० । दैवी पंक्तिः । रक्षोहणं दैवतम् । उत्करे तृणमूलप्रक्षेपणे वि० । (३) ॐइद-मित्यस्य मेधा० ऋ० । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । उत्करक्षिप्ततृणाभिष्ठाने वि० । (४) ॐघृतेनेत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । याजुषी जगती छं० । द्यावापृथिवी देवते । वपां निष्कास्य प्रच्छादने वि० । (५) ॐवा-योवेरित्यस्य मे० ऋ० । याजुषी गायत्री छं० । वायुर्देवता । आहवनीये वाम-हस्तधृततृणाग्रप्रक्षेपणे वि० । (६)ॐअग्निरित्यस्य मेधा० ऋ० । याजुषी बृहती छं० । अग्निर्देवता । वपाभिहवने वि० । (७)ॐस्वाहाकृत इत्यस्य मेधा० ऋ० । आसुरी गायत्रीछं० । वपाश्रपण्यौ देवते । अग्नौ वपाश्रपणी-प्रक्षेपणे वि० ॥ १६ ॥

विधि—(१) नाभिके अग्रभागमें जो तृण बांधा है अध्वर्यु बायें हाथसे उसका अग्रभाग और दाहिने भागसे मूलभाग ग्रहण करके उसे दुहराकर नाभिके रक्तमें भिजोवे [का० ६ । ६ । १०] मन्त्रार्थ—हे रक्तालिप्त तृण ! तुम (रक्षसाम्) राक्षसोंका (भागः) भाग (असि) हो १। विधि—(२) दूसरे मंत्रसे इस तृणको उत्करमें डालदे [का० ६ । ६ । १०] (रक्षः) विघ्नकारी राक्षसगण (निरस्तम्) दूर हुए २। विधि—(३) अध्वर्युके फेंकेहुए तृणके ऊपर स्थित हो यजमान यह मंत्र पाठ करे [का० ६ । ६ । ११] मन्त्रार्थ—जो तृण अध्वर्युने त्यागन किया

है सो (अहम्) मैं (इदम्) इस (रक्षः) राक्षसगणके ऊपर (अभितिष्ठामि) चरणसे आक्रमण कर स्थित होता हूं और (अहम्) मैं (इदम्) इस (रक्षः) राक्षसगणको (अवबाधे) विनाश करताहूं (अहम्) मैं (इदम्) इस राक्षसगणको (अधमम्) निकृष्ट (तमः) नरकको (नयामि) प्राप्त करताहूं ३ । विधि–(४) फिर यत्किंचित् वसा लेकर इसके पूर्वभाग वपाश्रपणीमें ग्रहण कर उसमें घृत मिलाय चौथे मंत्रसे उसे उत्तर भागसे ढकदे [का० ६ । ६ । १२] मंत्रार्थे–(द्यावापृथिवी) द्यावापृथिवी रूप यह दोनो पात्र (घृतेन) घृतसे (प्रोर्णुवाथाम्) परस्पर आच्छादित हैं ४ । विधि–(५) पांचवें मंत्रसे अध्वर्यु वायें हाथमें रक्खेहुए तृणके अग्र वपाबिन्दु ग्रहण कर आहवनीय अग्निमें डालैं [का० ६ । ६ । १५] मन्त्रार्थे–(वायो) हे वायुदेवता ! (स्तोकानाम्) सबके सार इन बिन्दुओंको (वेः) जानकर पानकरो ५ । विधि–(६) छठेमंत्रसे स्रुवद्वारा वपा लेकर धारापातसे आहवनीय अग्निमें डालै [का०६।६।१७।] मन्त्रार्थ–आहवनीय (अग्निः) अग्निदेवता (आज्यस्य) इस घृतको (वेतु) जानकर पानकरो (स्वाहा) यह आहुतिं भलीप्रकार गृहीत हो । विधि–(७) इसके उपरान्त इस अग्निमें विशाखा (द्विशृंगा) नामक वपाश्रपणी पात्र उत्तराग्र करके और दूसरी एकशृंगा श्रपणीको इस मंत्रसे अग्निमें डालदे [का० ६ । ६ । २८] मन्त्रार्थ–हे दोनोश्रपणी ! (स्वाहाकृते) हम तुमको इस अग्निमें भलीप्रकार आहुत करते हैं स्वाहाकारसे आहुतिको प्राप्त हुई तुम (ऊर्ध्वनभसम्) ऊर्ध्वआकाशमें वर्तमान हुई (मारुतम्) वायुके सहित (गच्छतम्) सम्मिलितहो अर्थात् तुम्हारा परिणाम इस आकाशमें वायुसे मिले ॥ १६ ॥

विशेष–इस प्रकार सूत्रकारोंने इस मंत्रके साथ यह विधान लिखकर उन पात्रोंतकको भी अग्निमें आहुत करनेका वर्णन किया कि इस कृत्यका कुछ शेष न रखना चाहिये ॥ १६ ॥

कण्डिका १७–मन्त्र १ ।

इदमापः प्रवहतावद्यं च मलं च यत् ॥ यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपेऽअभीरुणम् ॥ आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु ॥ १७ ॥ [६]

ऋष्यादि–(१) ॐइदमित्यस्य दीर्घतमा ऋ० । त्र्यवसाना महापंक्तिछं० । आपो देवताः । मार्जने वि० ॥ १७ ॥

विधि-(१) तब पत्नीके सहित यजमान और ऋत्विज् सब एकत्र होकर चत्वालमें स्थित जलसे इस मंत्रद्वारा मार्जन करैं [का० ६ । ६ । २९] मंत्रार्थ-(आपः) हे जलो ! (इदम्) इस पशुकल्पके पापको (प्रवहत) दूर करो और जो (अवद्यंच) अभिशापादि अकथनीय हैं (मलं च) उसके संक्रमणसे जो हमारे शरीरमें मल लगाहुआ है उसको भी विशेष कर दूरकरो (यत्च) और जो हमने (अनृतम्) मिथ्याव्यवहारद्वारा (अभिदुद्रोह) किसीसे द्रोह किया है और (यत्) जो (अभीरुणम्) अपराधहीन व्यक्तिको (शेपे) यह अपराधी है ऐसा कहकर शापित किया है (आपः) जल (पवमानः) सबके शोधक सोम और वायु (तस्मात्) उस (एनसः) पापसे (मा) मुझको (मुञ्चतु) पृथक् करैं ॥ १७ ॥

विशेष-इस मंत्रमें जलके उद्देशसे परमात्माकी प्रार्थना की है, विना दयाके अपराध क्षमा नहीं होता दया आर्द्र और आर्द्रता जलका गुणहै इस कारण जलसे शीतल गुणका उल्लेख कर प्रार्थना कीहै यहां पशुकल्पको अपराध मानकर राजोंको देश कालपर उपदेश कियाहै जिस्से वे अकारण अपरिमित जीवघातसे विरतहौं यह आभ्यन्तरीय आशय है ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मंत्र ३ ।

सन्तेमनोमनसासम्प्राणःप्प्राणेनगच्छताम् ॥ रेडस्यग्निष्ट्वाश्रीणात्त्वापस्त्वासमरिणन्वातस्य त्वाद्ध्राज्यैपूष्णोरंह्याऊष्मणोव्यथिषत्प्रयुतन्द्वेषः ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐसन्त इत्यस्य दीर्घतमा ऋ०।प्राजापत्या अनुष्टुप्छं० । हृदयं दैवतम् । पशुहृदयालम्भने वि० ।(२) ॐरेडसीत्यस्य दीर्घतमा०ऋ० । आर्षी पंक्तिश्छन्दः । वसा दे० । वसाग्रहणे वि०। (३) ॐप्रयुतमित्यस्य दीर्घत० ऋ०।दैवी पंक्तिश्छं०।लिङ्गोक्ता दे०।आज्यवसामिश्रणे वि०॥१८॥

विधि-(१) पशुका हृदयभाग आलभनकर उससे प्रथम मंत्रसे पृषदाज्यके जुहूमें रखकर धारापात करै [का०६।८।६] मन्त्रार्थ-हे पशो ! (ते) तेरा(मनः) मन (मनसा) देवताओंके मनसे (संगच्छताम्) सम्मिलितहो (प्राणः) तेरे प्राण (प्राणेन) देवताओंके प्राणोंके साथ (सम्) सम्मिलित हों १ ।

विधि-(२) दूसरे मंत्रसे आमिषपाक पात्रसे आज्यपात्रमें दोबार वसाधारा क्रम-

से ग्रहण करै [का०६ ।८।१२] मंत्रार्थ-हे वसा ! तुम(रेट्)सिसात्मक होनेसे अल्प (असि) हो (अग्निः) अग्निदेवता (त्वा) तुमको (श्रीणातु) पाक करके अधिक करै (आपः) जल (त्वा) तुमको (समीरणम्) भली प्रकार रसयुक्त करैं [अर्थात् जलके सहकार और अग्निके पाकसे विलक्षण वृद्धि होती है.] (वातस्य) वायुकी (ध्राज्यै) अन्तरिक्षमें सम्यक् गतिके लिये (पूष्णः) आदित्यकी (रंह्यै) श्रेष्ठ गतिके निमित्त (त्वा) तुझको ग्रहण करताहूं (ऊष्मणः) इसकी गरमीसे अन्तरिक्ष (व्यथिषत्) व्यथित हो [आशय यह कि वसाको प्राप्त होनेसे अन्तरिक्षमें जलके निमित्त व्यथा होती है इससे अन्तरिक्षके निमित्त ग्रहण कीजाती है इसकी तृप्तिसे वायु सूर्यके कर्मकी क्षमता होकर ऊष्माके निवारणको अच्छी वर्षा होती है] २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे पार्श्वभागस्थित वसापात्रमें स्थित घृतसे छुरद्वारा मिलावै [का० ६ । ८ । १२] मंत्रार्थ-(द्वेषः) वसाका जो कुछ दुर्भाग रूप दोष था वह (प्रयुतम्) घृत मिलनेसे दूर हुआ ॥ १८ ॥

पक्षान्तरमें भूतात्माके दिव्य गुणोंसे संयोग होनेसे ब्रह्माग्निरूप क्षुधाकी व्यथा प्राप्ति और कामरूपी राक्षसका दोष पृथक् किया है ॥ १८ ॥

कण्डिका-१९ मंत्र ७ ।

घृतङ्घृतपावानः पिबतु वसांवसापावानः पिबतान्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहा ॥ दिशः प्रदिशऽआदिशो विदिशऽउद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहा ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐघृतमित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आर्षी पंक्तिश्छं० । विश्वेदेवा देवताः । वसैकदेशहवने वि० । (२) ॐदिश इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । दैव्युष्णिक्छन्दः । दिग्देवता । वसाशेषेण दिग्व्याघारे वि० । (३-४-५-६) ॐप्रदिशइत्यादिचतुर्णां मंत्राणां दीर्घतमा ऋ० । दैव्यनुष्टुप्छन्दः । दिग्देवता । वसाशेषेण दिग्व्याघारे वि० । (७) ॐदिग्भ्य इत्यस्य मंत्रस्य दीर्घतमा ऋषिः । दैव्युष्णिक्छन्दः । दिग्देवता । वसाशेषेण दिग्व्याघारे वि० ॥ १९ ॥

विधि-(१) जो वसा ग्रहण की है उससे आधी हवनहवनीसे लेकर प्रथम मंत्रसे अग्निमें हवन करै [का० ६ । ८ । १७] और घृत भी अलग ले पहले घृत दे । मंत्रार्थ-(घृतपावानः) हे घृतके पानकरनेवाले देवताओ ! तुम (घृतम्) घृतको

(पिवत) पियो (वसापावानः) हे वसाके पान करनेवाले ! तुम (वसाम्) वसाको (पिवत) पानकरो हे घृतमिश्रित हवि ! तुम (अन्तरिक्षस्य) अन्तरिक्षकी (हविः) हवि (असि) हो (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो १ । विधि-(२-३-४-५-६) अवशिष्ट भाग ग्रहण कर दूसरे मंत्रसे सात मंत्रतक धाराक्रमसे प्रदक्षिणानुसार दो आहुति दे [का० ६ । ८ । २१] मन्त्रार्थ-(दिशः) पूर्वादि दिशाओंमें स्थित देवगणोंके उद्देशसे यह आहुति दीजाती है भली प्रकार गृहीत हो २ । (प्रदिशः) अग्निकोणादिप्रदिशामें स्थित देवता आहुति ग्रहण करें ३ । (आदिशः) अधोभागादिमें स्थित देवताओंको आहुति दीजातीहै ४ । (विदिशः) विदिशाओंमें स्थित देवताओंको अर्थात् मध्यभागके देवताओंको आहुति देतेहैं भलीप्रकारसे ग्रहण करैं ५ । (उद्दिशः) उच्चभागादि दिशाओंमें स्थित देवताओंके उद्देशसे आहुति देते हैं । (दिग्भ्यः)दृश्य अदृश्य सम्पूर्ण दिशाओंके देवताओंको आहुति देते हैं (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकारसे गृहीत हो ॥ १९ ॥

दिशा आदि सब मंत्रोंमें स्वाहा लगाना चाहिये [का० ४ । ४ । १६-१७ । तथा० ४ । ४ । १८] ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मन्त्र १ ।

ऐन्द्रः प्राणोऽअङ्गेऽअङ्गे निदीध्यदैन्द्रऽउदानोऽअङ्गेऽअङ्गे निधीतः ॥ देव त्वष्टर्भूरि ते सꣳसमेतु सलक्ष्मा यद्विषुरूपं भवाति ॥ देवत्रा यन्तमवसे सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु ॥ २० ॥ [३]

ऋष्यादि-(१) ॐऐन्द्रः प्राण इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । ब्राह्म्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्तदेवता । पशुसंमर्शने वि० ॥ २० ॥

विधि-(१) पशुके सब अंगोंको यथायोग्य स्थित कर उनको स्पर्श करै [का०६।९।१]मन्त्रार्थ-(ऐन्द्रः) आत्मासम्बन्धी(प्राणः)प्राण इस पशुके (अङ्गे अङ्गे) प्रत्येक अंगमें (निदीध्यत्)प्रकाशित किये (ऐन्द्रः) इन्द्रसम्बन्धी(उदानः)कंठस्थानीय उदान वायु (अङ्गेअङ्गे) प्रत्येक अंगमें(निधीतः)धारणकिया गया इसप्रकार पशुके अंगमें प्राणोंको देकर त्वष्टा परमात्माकी प्रार्थना करै (देवत्वष्टः) हे देव त्वष्टा ! सूत्रधर ज्योतिरूप परमात्मन् ! (यत्) जो पशुके सम्पूर्ण अंग (सलक्ष्मा) समानलक्षणवाले छेदन करनेसे (विपुरूपम्) आमिष लेनेसे न्यूना-

धिक छिन्न भिन्न (भवाति) हुएथे वह सव (ते) तुम्हारे अनन्त प्रसादसे (भूरि) अत्यन्त (सम्) संयुक्त होकर (समेतु) भलीप्रकारसे यथायोग्य एकीभावको प्राप्त हों अर्थात् यथायोग्य होकर जीवित होजाओ हे पशो ! प्राण और अपने अंगसे इस मंत्रसे दृढहुए तुम जीवित हुए (देवत्रा) देवताओंके प्रति (यन्तम्) जातें हुए (त्वा) तुझको (सखायः) मित्रभूत दूसरे पशु (माता) तुम्हारी माता (पितरः) पितृगण (अवसे) प्रसन्नताके वा रक्षाके अथवा तुम्हारे सुखसे अपने सम्पूर्ण कुलको स्वर्गप्राप्तिके निमित्त (अनुमदन्तु) अनुमति प्रदान करें ॥ २० ॥

विवरण–इस मंत्रसे स्फुट यह वात झलकती है कि यज्ञनिहत पशुके प्रयोजनीय आमिषकी हवि निर्मित होनेपर उसके अंग समकरके महर्षिजनोंकी प्रार्थनासे उसके अंग उनकी सत्य भक्ति और तपस्याके कारण पूर्ववत् होजाते थे, फिर उसमें प्राणोंका संचार होनेसे सवके देखते२ वह पशु देवलोकको गमन करताथा इसप्रकार यज्ञका निर्वाह पशुका उद्धार भी हो जाता था, जैसे जीवन धारणके निमित्त रोगीका कोई रुग्ण अंग छेदन करनेमें दोष नहीं है इसी प्रकार उद्धार और दिव्य देहके निमित्त पशुकल्पमें हिंसा नहीं है, इसी कारण वैदिकहिंसा हिंसा नहीं है कालक्रमसे तप क्षीण होनेके कारण महर्षियोंका अभाव है, इस कारण वही मंत्र होनेसे भी उनकी शक्ति लुप्तप्राय होरही है, जिस प्रकार मूर्खके हाथमें सितार देनेसे उसकी ध्वनि लुप्तप्राय हो जाती है, किन्तु उलटी ही ध्वनि निकलती है, और सितार भी टूट जाता है इसी प्रकार तपके विना वेदमंत्रोंका प्रभाव लुप्त रहता है तपसे प्रगट होता है· शौनककृत ऋग्विधान तथा अथर्वके सूत्रोंमें इनके सिद्धिके विधान लिखे हैं ऋग्विधानमें लिखा है–

"निष्कृतिर्न हि वेदानां मंत्राणां कलिदोषतः ।
अतस्तद्दोषनाशार्थं गायत्रीमाश्रयेद्द्विजः ॥ १ ॥"

अर्थात् कलिके प्रभावसे वेदमंत्रोंका उद्धार नहीं है इस कारण इस दोषनाशके निमित्त गायत्री का आश्रय करै पुरश्चरणकरके पश्चात् जपादि करनेसे सिद्धि होती है अव विधानका तो स्वीकार है परन्तु सामर्थ्यका अभावहै इस कारण वह अर्थही गुप्त करदेते हैं यज्ञका तात्पर्य चराचरके कल्याणसे है यह विचारकर देशकालके अनुसार यज्ञका आरंभ करै.

व्यासजीने अ० ३ पा० १ सू० २५ वेदान्तदर्शनमें लिखा है.

"अशुद्धमिति चेन्न, शब्दात्" व्याससूत्र.

वेदमें पशुकल्प लिखा होनेसे इसको अशुद्ध नहीं कहसक्ते क्योंकि धर्माधर्म वेदसे जाना जाता है। अलमतिविस्तरेण ॥ २० ॥

कण्डिका २१–मन्त्र १३।

समुद्रङ्गच्छ स्वाहान्तरिक्षङ्गच्छ स्वाहा देवꣳ सवितारङ्गच्छ स्वाहा मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहाहोरात्रे गच्छ स्वाहा च्छन्दाꣳसि गच्छ स्वाहा द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा यज्ञङ्गच्छ स्वाहा सोमङ्गच्छ स्वाहा दिव्यन्नभो गच्छ स्वाहाग्निं वैश्वानरङ्गच्छ स्वाहा मनो मे हार्दि यच्छ दिवन्ते धूमो गच्छतु स्वर्ज्ज्योतिः पृथिवीम्भस्मनापृण स्वाहा ॥ २१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐसमुद्रमित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। याजुष्युष्णिक्छन्दः। लिङ्गोक्ता देवता। पशुगुदखण्डहवने वि०। (२) ॐअन्तरिक्षमित्यस्य दी० ऋ०। प्राजापत्या गायत्री छं०। लिंगोक्ता देवता। पशुगुदखण्डहवने वि०। (३) ॐदेवमित्यस्य दी० ऋ०। याजुषी पंक्तिश्छं०। लिंगोक्ता दे०। पशुगुदखण्डहवने वि०। (४) ॐमित्रावरुणावित्यस्य दी० ऋ०। याजुषी बृहती छं०। लिंगोक्ता दे०। पशुगुदखण्डहवने वि०। (५) ॐ अहोरात्र इत्यस्य दी० ऋ०। याजुष्यनुष्टुप्छं०। लिंगोक्तं दे०। पशुगुदखण्डहवने वि०। (६) ॐछन्दांसीत्यस्य दी० ऋ०। याजुष्युष्णिक्छं०। लिंगोक्ता दे०। पशुगुदखण्डहवने वि०। (७) ॐद्यावापृथिवीत्यस्य दी० ऋ०। याजुषी बृहती छं०। लिंगोक्ता दे०। पशुगुदखण्डहवने वि०। (८) ॐयज्ञमित्यस्य दी० ऋ०। याजुषी गायत्री छं०। लिंगोक्ता दे०। पशुगुदखण्डहवने वि०। (९) ॐसोमइत्यस्य दी० ऋ०। याजुषी गायत्री छं०। लिंगोक्ता दे०। पशुगुदखण्डहवने वि०। (१०) ॐदिवमित्यस्य दी० ऋ०। याजुष्यनुष्टुप्छं०। लिंगोक्ता दे०। पशुगुदखण्डहवने वि०। (११) ॐअग्निमित्यस्य दी० ऋ०। याजुषी पंक्तिश्छं० लिङ्गोक्ता दे०। पशुगुदखण्डहवने वि०। (१२) ॐमन इत्यस्य दी० ऋ०। याजुष्युष्णिक्छन्दः। लिंगोक्ता दे०। मुखोपस्पर्शने

वि० । (१३) ॐदिवंत इत्यस्य दी० ऋ० । यजुश्छं० । स्वरुर्देव० स्वरुहवने वि० ॥ २१ ॥

विधि-(१-११) पूर्वसेही पृथक् रक्खे हुए पशुके पश्चाद्भागीय आमिषके तीन अंश करके एक २ के तिर्यक् रूप ग्यारह भाग करै प्रतिप्रस्थाता एक २ अंशको ग्रहणकर ग्यारहमंत्रसे ग्यारह आहुति दे और प्रत्येक आहुति शेषमें वषट्कारकर्ता वषट्कार करै [का० ६ । ९ । १०] मन्त्रार्थ-हे हवि ! (समुद्रम्) समुद्रके अधिष्ठात्री देवताओंके तृप्त करनेको (गच्छ) गमनकर (स्वाहा) यह आहुति सुन्दररूपसे गृहीत हो (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षके देवताओंको तृप्तकरनेको (गच्छ) गमनकर (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो (देवम्) देवता (सवितारम्) सविता सूर्यके प्रति (गच्छ) गमनकर (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो (मित्रावरुणौ) मित्रावरुण देवताकी प्रीतिके निमित्त (गच्छ) गमन कर (स्वाहा) यह आहुति० । (अहोरात्रे) दिनरातके देवताओंको तृप्त करनेको (गच्छ) जा (स्वाहा) यह आहुति० । (छन्दांसि) छन्दोंके देवताओंकी तृप्तिके निमित्त (गच्छ) गमनकर (स्वाहा) यह आहुति० । (द्यावापृथिवी) पृथ्वीस्वर्गके देवताओंके प्रति (गच्छ) गमनकर (स्वाहा) यह आहुतिं भली० । (यज्ञम्) यज्ञदेवताके प्रति (गच्छ) गमनकर (स्वाहा) यह आहुति० । (सोमम्) सोमकी तृप्तिको (गच्छ) गमनकर (स्वाहा) यह आहुति० । (दिव्यम्) दिव्य (नभः) आकाशके प्रति (गच्छ) गमनकर (स्वाहा) यह आहुति० । (वैश्वानरम्) जठराग्नि वा विश्वकी हितकारक (अग्निम्) अग्निकी तृप्तिको (गच्छ) गमन कर (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो । विधि-(१२) अनन्तर बारहवें मंत्रसे अपना मुख स्पर्श करै [का० ६ । ९ । ११] मन्त्रार्थ-हे समुद्रादि देवतासमूह ! (हार्दि) हृदयसम्बन्धी (मे) मेरे (मनः) मनको (यच्छ) निश्चल करो जिससे चंचलता नहो १२ । विधि-(१३) तेरहवें मंत्रसे स्वरुहवन करदे [का० ६ । ९ । १२] मंत्रार्थ-हे स्वरुकाष्ठ हुतहुआ (ते) तेरा (धूमः)धुआं (दिवम्) द्युलोकको (गच्छतु) प्राप्त हो वर्षाके निमित्त तेरी (ज्योतिः) ज्वाला (स्वः) आदित्य वा अन्तरिक्षके प्रति गमन करै (भस्मना) भस्मसे (पृथिवीम्) पृथिवीको (आपृण) पूर्णकर (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ॥ २१ ॥

विवरण-पशुके साथ जो बंधनादि व्यापार हुआ है उससे होमादिकार्यमें बहुत कालतक व्यत्यय रहा इससे कोमल मनमें वैचित्त्यताकी संभावना है इस कारण यहां मंत्र पढकर मन सावधान किया, अथवा लोभी जनोंका चित्त यज्ञीय पदार्थ ग्रहण करनेको चंचल हुआ हो इससे उनको सावधान किया । २ पार्थिव

द्रव्यके भस्म करनेसे धूम ज्योति और भस्म यह तीन दृश्य देखेजाते हैं जिसका जो अंश है वह अपनेमें मिल जाता है इसमें पदार्थविद्याकाभी उपदेश है कि पदार्थोंके तत्त्वोंको सब मनुष्योंको जानना चाहिये १६ काण्डिकामें वपाश्रपणी और यहां स्वरुका होमकर निवृत्ति दिखाई ॥ २१ ॥

काण्डिका २२–मंत्र ३ ।

मापोमौषधीर्हिꣳसीर्द्धाम्नोधाम्नोराजँस्ततोव रुणनोमुञ्च ॥ यदाहुरघ्न्याऽइतिवरुणेतिशपामहे ततोवरुणनोमुञ्च ॥ सुमित्रियानऽआपऽओषध यः सन्तुदुर्म्मित्रियास्तस्म्मैसन्तुयोऽस्म्मान्द्वेष्टि यञ्चवयन्द्विष्म्मः ॥ २२ ॥ [२]

ऋष्यादि–(१) ॐआप इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । दैवी जगती छन्दः । हृदयशूलं दैवतम । शुष्कार्द्रभूप्रदेशसन्धौ पशुहृदयशूलनिगूहने वि० । (२) ॐधाम्न इत्यस्य दीर्घतमा ऋ० । साम्न्युष्णिक्छं० । वरुणो देवता । मार्जने वि० । (३) ॐसुमित्रियान इत्यस्य दीर्घतमा ऋ० निच्यृत्प्राजापत्या गायत्री छं० । आपो देवता । जलाभिमंत्रणे वि०॥२२॥

विधि–(१)प्रथम मंत्रपाठकर कुछ गीली कुछ सूखी भूमिमें लोहशलाका गाड दे वा नीचेको मुखकर भूमिमें डालदे [का० ६ । १० । ३] मंत्रार्थ–हे शूल ! तुम (आपः) इस स्थानके जलोंको (मा) मत (हिꣳसीः) हानिकरो (ओषधीः) औषधियोंको (मा) मत हानिकरो १ । विधि–(२) फिर सम्पूर्ण ऋत्विक और यजमान दूसरे तीसरे मंत्रसे मार्जन करैं [का० ६ । १० । ५] मन्त्रार्थ–(राजन् वरुण) हे जलोंके राजा वरुण देवता ! (धाम्नोधाम्नः) जिस जिस तुम्हारे पाशसमन्वित स्थानसे हमको भय हो (ततः) उस उस स्थानसे (नः) हमको (मुञ्च) छुडाओ रक्षाकरो अथवा (धाम्नः) जिस कारण कि तुम सम्पूर्ण दृश्य अदृश्यके पति हो इस कारण एक मात्र आपहीके समीप प्रार्थना करते हैं कि प्रत्येक भयस्थानसे हमारी रक्षाकरो (वरुण) हे वरुण (अघ्न्याः) गौकी समान मारनेके अयोग्य अन्य पशुभी हैं (इति) इस प्रकार (यत्) जो (आहुः) प्रथम अ० पहली कण्डिकामें कहा है (वरुण) हे वरुणदेव ! (इति) इसी प्रकार अन्यपशुभी है अर्थात् हिंसाके अयोग्य है हमने यज्ञकार्यके अनुरोधसे जो (शपामहे)

पशुकल्प किया है (ततः) उस हिंसारूप पापसे (नः) हमको (मुञ्च) छुडाओ २ । विधि-(३)तीसरे मंत्रसे जलका अभिमंत्रण करे । मंत्रार्थ-(आपः) जल (ओषधयः) ओषधी (नः) हमको (सुमित्रियाः) परमबन्धुरूप (सन्तु) हों (यः) जो हमसे सत्कार्यमें (द्वेष्टि) द्वेष करता है (च) और (वयम्) हम (यम्) जिस्से (द्विष्मः) द्वेष करते हैं (तस्मै) उसके निमित्त यह जल और औषधी (दुर्मित्रियाः) शत्रुरूप (सन्तु) हों ॥ २२ ॥

प्रमाण-"अघ्न्या इति गोनाम" [निघं० २।११।] ॥ २२ ॥

विशेष-जब कि यज्ञके अनुरोधसे भी पशुकार्यजनित दोष शान्त करने अर्थात् उस दोषसे मुक्त होनेकी वरुणरूप परमात्मासे प्रार्थना की है तब स्फुट पूर्व लिखित आशय झलकता है कि जिनके स्वभावमें हिंसा है उन क्षत्रियादिकोंको प्रथम यह कह कर कि वेदके अनुसार करनेसे हिंसा न लगेगी अन्यत्र महापाप लगेगा.यज्ञमें प्रवृत्त कराया, और यज्ञमें उसका चित्त शुद्ध कराय फिर भी उस कृत्यको अपराध मानकर उसके दूर होनेकी प्रार्थना की, अविधिसे पशुवधका दोष दूर नहीं होता और वेदानुसारका दोष दूर होजाता है यह विशेष है, यह उपदेश लगनेका समय है कारण कि इस समय यज्ञकर्ता शान्तचित्त नियममें तत्पर होता है इससे इसको शीघ्र उपदेश लगजाता है तब यह शीघ्र उपासना और ज्ञानको प्राप्त होकर मुक्त हो जाता है इससे पशुयज्ञ भी क्षत्रिययजमानका कल्याण करनेवाला है यहां भी वरुणसे परमात्माकी ही स्तुति है यद्यपि वह जीवित हो स्वर्ग गया है तथापि पीडारूप पाप क्षमाकी प्रार्थना है ॥ २२ ॥

अग्नीषोमीयपशुप्रयोगः सम्पूर्णः ।

कण्डिका २३-मन्त्र १ ।

सोमाभिषवका शेष भाग.

हविष्मतीरिमाऽआपो हविष्माँ२ऽआविवासति ॥ हविष्मान्देवोऽअध्वरो हविष्माँ ऽअस्तु सूर्यः ॥ २३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐहविष्मतीरित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । निचृदार्षी गायत्री छन्दः । लिंगोक्ता देवता । वसतीवर्यग्रहणे विनियोगः ॥ २३ ॥

प्रथम प्रयोग अ०६ कं० ७ तक पूर्ण कर आये अब शेष कृत्य लिखतेहैं चात्वालेगमनसे पहले २ मार्जनान्त उपरोक्त कृत्य सम्पादन करके प्रवाह-

वाली नदीसे वसतीवरी जल ग्रहण करै और यदि ऊपरके कार्य करते सूर्य अस्तहो जाय तौ यदि यजमानने इससे पहले सोमयाग कियाहोय तो अपने घरमें स्थित निनाह्यमणिक (मट्टीका बनाहुआ मटका) में से अथवा स्वयं न किया होय तो सोमयज्ञ करनेवाले किसी पडोसीके घरसे उस सोमयज्ञीय मटकेमेंसे वसतीवरी संज्ञक जल ग्रहण करै यदि समीपमें किसी सोमयाजीका स्थान न हो तो उल्का वा सुवर्णखण्ड रखकर प्रवाहयुक्त जलाशयसे इस मंत्रसे वसतीवरीसंज्ञक जल ग्रहण करै जिस जलसे सोमाभिषव किया जाता है, उसको वसंतीवरी कहते हैं [का० ८ । ९ । ७—१०] मन्त्रार्थ—(हविष्मान्) हविसे संयुक्त यजमान (हविष्मतीः) हविसे संयुक्त (इमाः) इन वसतीवरीनाम (आपः) जलोंको (आविवासति) परिचर्या अर्थात् जल समूहसे पृथक् कर जलांश ग्रहण करता है (देवः) प्रकाशमान (अध्वरः) यज्ञ अपने शरीरकी प्राप्तिके निमित्त (हविष्मान्) हविसंयुक्त (अस्तु) हो (सूर्यः) सूर्य देवता भी यजमानके फल देनेको तृप्तिके निमित्त (हविष्मान्) हविसे संयुक्त हो अर्थात् सम्पन्न हों ॥ २३ ॥

प्रमाण—[यत्र वै यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत्तस्य रसो द्रुत्वापः प्रविवेश] इति [श० ३ । ९ । २ । १] "एतस्मै वै गृह्णाति य एष तपति" इति [श० ३ । ९ । २ । १२]

शतपथ ब्राह्मणमें अलंकारिक कथा है कि यज्ञका शिररूप रस जलमें प्रविष्ट हुआहै इस कारण यज्ञका अंग पूर्णकरनेको जलको हविरूप कहा, और इसीकारण उसका ग्रहण है । हवियोंका अधिपति होनेसे यजमान हविष्मान् कहाता है यज्ञकी प्रशंसाके निमित्त देवता कहा है । इस जलसे सोमके अभिषवद्वारा सोमरूप हवि प्रस्तुत होकर यज्ञकी सम्पत्ति होगी इस कारण यज्ञका सम्पत्तिमान् हविष्मान् कहा सूर्य हविग्रहण करतेहैं इस कारण सूर्यको हविष्मान् कहा ॥ २३ ॥

कण्डिका २४—मन्त्र ५ ।

अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्यसदसिसादयामीन्द्राग्न्योर्भागधेयीस्थमित्रावरुणयोर्भागधेयीस्थविश्वेषान्देवानाम्भागधेयीस्थ ॥ अमूर्याऽउपसूर्येयाभिर्वासूर्यः सह ॥ तानोहिन्वन्त्वध्वरम् ॥२४॥ [२]

ऋष्यादि—(१)ॐअग्नेर्व इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिःआसुरी गायत्री छं० । आपो देवता । गार्हपत्यात्पश्चिमभागे वसतीवर्यासादने वि० । (२) ॐ

इन्द्राग्न्योरित्यस्य मे० ऋ० । प्राजापत्या गायत्री० । ॐआपो दे०।उत्तरवे-देर्दक्षिणश्रोणौ वसतीवरीनिधाने वि० । (३) ॐमित्रावरुणयोरि-त्यस्य मे०ऋ० । याजुषी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । उत्तरवेदेरुत्तरश्रोणौ वसतीवरीनिधाने वि० । (४) ॐविश्वेषामित्यस्य याजुषी त्रिष्टुप्छं० । आपो देवता । आग्नीध्रीयस्य पश्चाद्वसतीवरीनिधाने वि० । (५)ॐसो-मस्सूर्या इत्यस्य मे०ऋ० । आर्च्युष्णिक्छन्दः । आपो देवता । आग्नीध्री-यस्य पश्चाद्वसतीवरीनिधाने वि० ॥ २४ ॥

विधि-(१) प्रथममंत्रसे वसतीवरीको लाकर शालाके द्वारे पश्चिम भागमें स्थापन करे [का० ८ । ९ । ११] मंत्रार्थ-हे सम्पूर्ण वसतीवरी ! (वः) तुमको (अपन्नगृहस्य) अविनश्वर घरवाले (अग्नेः) अग्निके (सदसि) निकट (साद-यामि) स्थापन करताहूं १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे यह वसतीवरी दक्षिण द्वारके मार्गमें लाकर उत्तर वेदीके दक्षिण ओर स्थापन करे [का० ८ । ९ । १८] मन्त्रार्थ-हे वसतीवरीसमूह ! तुम (इन्द्राग्न्योः) इन्द्र और अग्नि देवताके (भागधेयी) भागस्थान (स्थ) हो २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे यह वसतीवरी उत्तर वेदीके उत्तर भागमें स्थापन करे [का० ८ । ९ । २१-२२] मन्त्रार्थ-हे वसतीवरीसंज्ञक जलो ! तुम (मित्रावरुणयोः) मित्रावरुण देवताके (भागधेयी) भाग (स्थ) हो ३ । विधि-(४) चौथे मंत्रसे वसतीवरी जल आग्नीध्रीयके पीछे स्थापन करे [का० ८ । ९ । २३] मन्त्रार्थ-हे वसतीवरी जलो ! तुम (विश्वेषाम्) सम्पूर्ण (देवानाम्) देवताओंके (भागधेयी) भागरूप (स्थ) हो ४ । विधि-(५) पांचवाँ मंत्र पाठ करे । मन्त्रार्थ-जो सम्पूर्ण जल बहुत कालतक रहनेके कारण (असूर्याः) सूर्यकी किरणोंसे अदृश्य वा रक्षित बंधनर-हित (उपसूर्ये) सूर्यके समीप स्थित हैं (याभिर्वा) अथवा जिनके (सह) साथ (सूर्यः) सूर्य गमन करते हैं (ताः) वे जल (नः) हमारे (अध्वरम्) यज्ञको (हिन्वन्तु) परितृप्त करो ॥ २४ ॥

कण्डिका २५-मन्त्र १ ।

हृदेत्वा मनसेत्त्वा दिवेत्त्वा सूर्य्यायत्त्वा ॥ ऊर्द्ध्वमिमम्मध्वरन्दिवि देवेषु होत्रा यच्छ ॥ २५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐहृदेत्वेत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । विराडनुष्टुप्छन्दः । सोमो देवता । अभिषवार्थं ग्रावाणेषु सोमनिधाने वि० ॥ २५ ॥

विधि-(१) फिर घृतासादन क्रिया सम्पन्न करनेपर सोमको ग्रहणकर हविर्धान मण्डपमें गमन करके विशेषरूपसे उसे विस्रंसन (नीचे डालना) करके दक्षिण शकटके ईशान और अभिषवके निमित्त लाये हुए पाषाणके स्थूल भागपर इस मंत्रसे स्थापन करै [का० ९ । १ । ५] मंत्रार्थ-हे सोम ! (हृदे) हृदयवान् मनुष्योंके निमित्त वा निश्चयात्मक बुद्धिके निमित्त (त्वा) तुमको निमंत्रित करता हूं अर्थात् मेरा यह संकल्प पूर्ण होजाय इस कारण तुमको निमंत्रित करताहूं (मनसे) संकल्पविकल्पात्मक मनके निमित्त वा मनस्वी पितृगणके निमित्त (त्वा) तुमको (दिवे)द्युलोककी प्राप्तिके निमित्त (त्वा) तुमको अथवा द्युलोकवासी देवतोंके निमित्त विशेषकर (सूर्याय) सूर्यदेवताके निमित्त (त्वा)तुमको उपाहरण करताहूं (इमम्) इस (अध्वरम्) यज्ञको (ऊर्ध्वम्) उन्नत करके (होत्रा)यज्ञके वषट्कर्ता सात होताओंको (दिवि) देवलोकमें (देवेषु) देवताओंके मध्ये देवत्व (यच्छ) प्रदान करो ॥ २५ ॥

प्रमाण-"स वा अध्वर्युः सोममुपावहरन् सर्वाभ्यो देवताभ्य उपावहरेदिति हृदे त्वेत्याह मनुष्येभ्य एवैतेन करोति मनसे त्वेत्याह पितृभ्य एवैतेन करोति दिवे त्वा सूर्य्याय त्वेत्याह देवेभ्य एवैतेन करोत्येतावतीर्वै देवतास्ताभ्य एवैनꣳ सर्वाभ्य उपावहराति" इति [तैत्तिरीय०]

उपावहार-निमंत्रितव्यक्तिका उपहार ॥ २५ ॥

काण्डिका २६-मंत्र ३ ।

सोमꣳराजन्विश्वास्त्वम्प्रजाऽउपावरोहविश्वास्त्वाम्प्रजाऽउपावरोहन्तु ॥ शृणोत्वग्निः समिधाहवम्मेशृण्वन्त्वापोधिषणाश्चदेवीः ॥ श्रोताग्रावाणोविदुषोनयज्ञꣳशृणोतुदेवः सविताहवम्मे स्वाहा ॥ २६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐसोमराजन्नित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । साम्न्युष्णिक् छं० । सोमो देवता । उपावरोहणे वि० । (२) ॐविश्वास्त्वामित्यस्य याजुषी त्रिष्टुप्छं० । सोमो दे० । उपावहरणे वि० । (३) ॐशृणोत्वग्निरित्यस्य मेधा० ऋ० । त्रिष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । हवने वि० ॥२६ ॥

विधि-(१-२) पहले और दूसरे मंत्रसे सोमको उपावरोहण करै, उपांशुसवनसे निम्न पात्रान्तमें ग्रहण करै वस्त्रसे खोलकर स्थापित करै[का०९ । १ । ६]. मन्त्रार्थ-(सोमराजन्) हे राजा सोम ! (त्वम्) तुम इन (विश्वाः) सम्पूर्ण

ऋत्विग्गणोंको अपनी (प्रजा) प्रजा जानकर (उपावरोह) कृपा वा आधिपत्य करो हे सोम ! (विश्वाः) सम्पूर्ण (प्रजाः) प्रजा (त्वाम्) तुमको (उपावरोहन्तु) प्रणामद्वारा प्राप्त हों १-२ । विधि-(३) फिर होताके "अभूदुषारुशत् पशुः" कथन करनेपर अध्वर्यु प्रचरणीद्वारा सोमरसमें चार वार आज्य ग्रहण कर तीसरे मंत्रसे चार आहुति दे [का० ९ । २ । २४-३-१] मंत्रार्थ-(अग्निः) अग्निदेवता (सामिधा) समिधापूर्वक (मे) मेरी इस (हव) आहुतिसे हमारे आह्वानको (शृणोतु) श्रवण करैं (आपः) जल देवता (च) भी (धिषणाः) वाग्वादिनी (देवीः) देवी (च) भी हमारे आह्वानको सुने (ग्रावाणः) हे ग्रावासमूह ! अभिषवके निमित्त प्राप्त हुए तुम (विदुषः) विद्वानोंकी (न) समान एकाग्रचित्तसे (यज्ञम्) मेरे यज्ञके आह्वानको (आश्रोत) सब प्रकार सुनो (सवितादेवः) सबका प्रेरक परमात्मा देवता (मे हवम्) मेरे आह्वानको (शृणोतु) श्रवण करो (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २६ ॥

प्रमाण-"धिषणा धीसादिन्यो वा धीमानिन्यो वा" इति यास्कः [निरु० ८ । ४ ।] ॥ २६ ॥

कण्डिका २७-मन्त्र २।

देवीरापोऽअपान्नपाद्यो वऽऊर्म्मिर्हविष्यऽइन्द्रियावान्मदिन्तमः । तन्देवेभ्यो देवत्रा दत्त शुक्रपेभ्यो येषाम्भागस्थ स्वाहा ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐदेवीराप इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । भुरिगार्षी पंक्तिश्छं० । आपो देवता । जलाशयतटं प्रति गमने वि० । (२) ॐस्वाहेत्यस्य मेधा० ऋ० । दैव्युष्णिक्छन्दः । आपो दे० । चतुर्वारगृहीताज्याहुतिहोमे वि० ॥ २७ ॥

विधि-(१-२) जिस चारवार लिये घृतको साथ लिया है उसकी जलाशयके तटमें प्रथममंत्रसे जाकर दूसरे मंत्रसे आहुति दे [का० ९ । ३ । ७] मन्त्रार्थ-(आपोदेवीः)हे जलदेवियो ! (वः) तुम्हारे (अपाम्) जलोंके (नपात्) अपत्यरूप (हविषः) हवियोग्य (इन्द्रियावान्) वीर्य्यवान् (मदिन्तमः) तृप्त करनेवाली, वा पीनेवालोंको प्रसन्न करनेवाली (ऊर्मिः) कल्लोल वा लहर है (देवत्रा) देवताओंके प्रति जानेवाली (तम्) उस ऊर्मिको (शुक्रेभ्यः) शुक्रादि सोमग्रह पीनेवाले अथवा सोमपान करनेवाले (देवेभ्यः) देवताओंको (दत्त) प्रदान करो (येषाम्) जिन (देवानाम्) देवताओंके तुम (भागः)भाग (स्थ)

हो अर्थात् तुम सम्पूर्ण देवगणके भाग हो इन सबके उद्देश्यसे तुमको हवि देते हैं (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २७ ॥

विवरण-ग्रह शब्दसे सोमपानके पात्रमें स्थित विभाग किये सोम रसका ग्रहण है आगे विस्तारसे लिखैंगे । शुक्र-दीप्तिमान् ॥ २७ ॥

प्रमाण-"देवीरापो अपानपादित्याहाहुत्या वै निष्क्रीय गृह्णाति" इति [तैत्ति०] तैत्तिरीयमें लिखा है कि, वसतीवरीके ग्रहणसे पहले यह आहुति दी जाती है. कारण कि, यह ग्रहण किये जलका मूल्यरूप है ॥ २७ ॥

कण्डिका २८-मन्त्र ३ ।

कार्षिरसि समुद्रस्य त्वाक्षित्याऽउन्नयामि ॥ समापोऽअद्भिरग्मत समोषधीभिरोषधीः ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐकार्षिरसीत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । दैवी बृहती छं० । आज्यं दैवतम् । मैत्रावरुणचमसेनाज्योपाहने वि० । (२) ॐसमुद्रस्येत्यस्य मेधा०ऋ० । याजुषी त्रिष्टुप्छं० । आपो देवता । चमसेन जलग्रहणे वि० । (३) ॐसमाप इत्यस्य मेधा० ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छं० । चात्वालोपरि मैत्रावरुणचमसस्य वसतीवरीभिः सह संस्पर्शने वि० ॥ २८ ॥

विधि-(१) चार बार लिये हुए घीको जलमें हवन किया है उस घृतको मैत्रावरुणचमसद्वारा यह मंत्र पढकर छोडदे [का० ९ । ३ । ८] मंत्रार्थ-हे घृत ! तुम (कार्षिः) देव उच्छिष्ट अथवा अन्तर्गत पापके दूर करनेवाले (असि) हो १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे इस चमससे जल ग्रहण करै [का० ९ । ३ । ९] मंत्रार्थ-हे जलो ! (समुद्रस्य) वसतीवरी लक्षणवाले सागररूप जलके (अक्षित्यै) अक्षीणताके निमित्त (त्वा) तुमको (उन्नयामि) ग्रहण करताहूं "आपो वै समुद्रः" इति श्रुतेः [श० ३ । ९ । ३ । २७] अर्थात् हे जलो ! मैं वसतीवरीके परिमाण वृद्धिके निमित्त तुमको ग्रहण करताहूं २ । विधि-(३) फिर जलाशयसे लौटकर चत्वालके प्रान्तमें इस वसतीवरीके सहित मैत्रावरुणके चमसमें स्थित जल इस तीसरे मंत्रसे ग्रहण कर मिलावे [का० ९ । ३ । १२] मंत्रार्थ-(आपः) हे मित्रावरुण चमसमें स्थित जलो ! तुम (अद्भिः) इस वसतीवरीके जलके संग (समग्मत) भली प्रकार मिश्रित हो (ओषधीः) सम्पूर्ण औषधी (ओषधीभिः) औषधियोंके साथ (सम्) भलीप्रकारसे मिश्रित हों ३ ॥ २८ ॥

कण्डिका २९-मंत्र १ ।

यमंग्नेपृत्सुमर्त्यमवुावाजेषुयञ्जुनाः॥ सयन्ता शश्वंतीरिषुःस्वाहा॥ २९॥ [५]

ऋष्यादि-(१) ॐयमग्न इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । भुरिगार्षी गायत्री छं० । अग्निर्देवता० । अग्निष्टोमे प्रचरणीसंस्रवहवने वि० ॥ २९ ॥

विधि-(१) यदि अग्निष्टोमके साथ ज्योतिष्टोम हो तब इस प्रचरणीमें लगे हुए शेष घृतको लेकर इस मंत्रसे हवन करै और यदि उक्थसंस्थ ज्योतिष्टोम हो तो इस मंत्रसे पहली परिधिसे स्पर्श मात्र करावे। यदि षोडशीसंस्थ ज्योतिष्टोम हो तो इस मंत्रसे रराटीस्पर्श करावे। यदि अतिरात्रसंस्थ ज्योतिष्टोम हो तो इस मंत्रसे छदि स्पर्श करावे। यदि अन्यान्यसंस्थ ज्योतिष्टोम हो तो इस मंत्रको पढकर हविर्धान मण्डपमें प्रवेश करावे [का० ९ । ३ । १६] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव ! (पृत्सु) बडे संग्रामोंमें (यम्) जिस (मर्त्यम्) मनुष्यको (अवाः) तुम रक्षाकरते हो किञ्च (वाजेषु) हविलक्षणवाले अन्नोंमें अन्नके निमित्त (यम्) जिस मनुष्यके निकट तुम (जुनाः) हविग्रहण करनेको उपस्थित होतेहो (सः) वह मनुष्य तुम्हारे प्रसादसे (शाश्वतीः) निरन्तर अक्षय (इषः) अन्नों तथा धनोंको (यन्ता) लाभ करताहै (स्वाहा) हमारी यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २९ ॥

प्रमाण-"वाज इति अन्ननाम" [निघं० २ । ७ । २] ॥ २९ ॥

विवरण-ज्योतिष्टोम यज्ञ सप्तसंस्थ अर्थात् सात प्रकारका होताहै उसमें अग्निष्टोम उक्थ षोडशी और अतिरात्र इस चार प्रकारके ज्योतिष्टोमकी पृथक् पृथक् व्यवस्था है इस कारण अन्यान्य पदसे अत्यग्निष्टोम आप्तोर्याम और वाजपेय लेना [ऋ० १ । २ । २३] ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०-मन्त्र ३ ।

देवस्यंत्त्वासवितुःप्प्रंसुवेश्विनोर्बाहुभ्यांम्पूष्णोहस्ताभ्याम् ॥ आदंदेरावांसिगभीरमिमम्ध्वरङ्कृधीन्द्रांयसुषूत्तंमम् ॥ उत्तमेनंपुविनोर्ज्जस्वन्तुम्मधुंमन्तुम्पयंस्वन्तंन्निग्ग्राभ्यास्थदेवश्रुतंस्तर्प्पयंतमामनोमे ॥ ३० ॥

ऋष्यादि–(१–२) ॐदेवस्यत्वेत्यस्य मंत्रद्वयस्य मधुच्छंदा ऋषिः । ब्राह्मी पंक्तिश्छंदः । अद्रिर्देवता । उपांशुसवनग्रहणे वि० । (३) ॐ निग्राभ्य इत्यस्य मधु० ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । आपो देवता । उपांशुसवनग्रहणे वि० ॥ ३० ॥

विधि–(१–२) इन दोनो मंत्रोंसे उपांशुसवन ग्रहण करै । सोमाभिषवके पत्थरको उपांशुसवन कहते हैं इस पत्थरके ग्रहण करनेकी अवधि तबतक है कि, जबतक हिङ्कर्ताद्वारा हिङ्कार शब्द न हो, तबतक मौन होकर सोमका सवन अर्थात् अभिषवकार्य सम्पन्न करा जाता है इसी कारण इस शिलाखण्डको उपांशुसवन कहते हैं [का० ९ । ४ । ५ । ६] मंत्रार्थ–हे उपांशुसवन ! (सवितुः देवस्य प्रसवे) सविता देवताकी प्रेरणासे (अश्विनोर्बाहुभ्याम्) अश्विनीकुमारकी बाहु (पूष्णो हस्ताभ्याम्) पूषा देवताके हाथोंसे (त्वा) तुझको (आददे) ग्रहण करताहूं तुम (रावा) अभीष्ट फलके देनेवाले (असि) हो (इमम्) इस हमारे (अध्वरम्) यज्ञको (गम्भीरम्) महान् (कृधि) करो (उत्तमेन) उत्कृष्ट श्रेष्ठ (पविना) वज्रसदृश तुम्हारे द्वारा (इन्द्राय) इन्द्रदेवताके निमित्त (सुषुत्तमम्) प्रीतिवर्द्धक (ऊर्जस्वन्तम्) बलयुक्त (मधुमन्तम्) स्वादिष्ट मधुररसयुक्त (पयस्वन्तम्) दुग्ध वा जलके स्वादुरससे युक्त सोमको अभिषुततम करताहूं १–२। विधि–(३) यजमान अपने हृदयमें निग्राभ्यनाम जलको ग्रहण कर तीसरा मंत्र पाठ करै [का० ९ । ४ । ७] (निग्राभ्यः) हे जलो ! तुम हमसे सम्यक् प्रकारसे ग्रहण किये गये (स्थ) हो (देवश्रुतः) देवताओंके मध्यमें चिरप्रसिद्ध हो इस प्रकार बहुत मानसे युक्त तुम इस समय इस यज्ञमें (मा) मुझको वा मेरी (तर्पयत) तृप्तिसाधन करो ॥ ३० ॥

विवरण–सोमाभिषवसमयमें जो जल बारंबार सोमपर छिडका जाताहै उस जलको निग्राभ्य कहते हैं, इन्द्रके उरसे ग्रहण करनेके कारण स्वयंभी वक्षस्थलसे ग्रहण करै ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१–मन्त्र १।

मनो॑मेतर्प्पयत॒वाचम्मे॑तर्प्पयत॒प्प्रा॒णम्मे॑तर्प्पयत॒ चक्षु॑र्म्मेतर्प्पयत॒श्श्रोत्र॑म्मेतर्प्पयता॒त्त्मान॑म्मेतर्प्प यत॒प्प्र॒जाम्मे॑तर्प्पयत॒प॒शून्मे॑तर्प्पयत॒ग॒णान्मे॑तर्प्प यत॒ग॒णा मे॒मावि॑तृषन् ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐमनो म इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । विराड् ब्राह्मी जगती छन्दः । आपो देवता । आशीःप्रार्थने वि० ॥ ३१ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे निग्राभ्यके निकट आशीर्वादकी प्रार्थना करै
मन्त्रार्थ-हे निग्राभ्य ! (मे) मेरा (मनः) मन (तर्पयत) तृप्त करो (मे) मेरी (वाचम्) वाणीको (तर्पयत) तृप्तकरो (मे) मेरे (प्राणम्) प्राणको (तर्पयत) तृप्तकरो (मे) मेरी (चक्षुः) नेत्रं इन्द्रियको (तर्पयत) तृप्तकरो (मे) मेरे (श्रोत्रम्) कर्णोंको (तर्पयत) तृप्तकरो (मे) मेरी (आत्मानम्) आत्माको (तर्पयत) तृप्तकरो (मे) मेरी (प्रजाम्) पुत्र पौत्रादि प्रजाको (तर्पयत) तृप्त करो (मे) मेरे (पशून्) पशुओंको (तर्पयत) तृप्तकरो (मे) मेरे (गणान्) मनुष्यसमूहोंको (तर्पयत) तृप्त करो अर्थात् हमारे आत्मीय बन्धु परिजन सम्पूर्णही तृप्त हों (मे) हमारे (गणाः) आत्मीयजन (मा) किसी प्रकारसे न (वितृषन्) तृष्णासे कातर हों ॥ ३१ ॥

ईश्वरसे भी प्रार्थनामें विनियोग होसक्ता है ।

कण्डिका ३२-मन्त्र ५ ।

इन्द्राय॑त्त्वा॒वसु॑मते॒रुद्र॑वतु॒ऽइन्द्राय॑त्त्वादि॒त्त्यव॑तु॒ऽइन्द्राय॑त्त्वाभिमाति॒घ्घ्ने ॥ श्ये॒नाय॑त्त्वासोम॒भृते॒ग्ग्नये॑त्त्वारा॒यस्प्पो॑ष॒दे ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐइन्द्रायत्वेत्यस्य मधुच्छंदा ऋ० । साम्नी गायत्री० । सोमो देवता । अभिषोतव्यसोममुष्टिप्रक्षेपणे वि० । (२) ॐइन्द्राय त्वेत्यस्य मधु० ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छं० । सोमो दे० । अभिषोतव्यसोममुष्टिप्रक्षेपणे वि० । (३) ॐइन्द्रायत्वेत्यस्य मधु० ऋ० । याजुषी बृहती छं० । सोमो देवता । अभिषोतव्यसोममुष्टिप्रक्षेपणे वि० । ॐश्येनायत्वेत्यस्य मधु० ऋ० । याजुषी बृहती छं० । सोमो दे० । अभिषोतव्यसोममुष्टिप्रक्षेपणे वि० । (५) ॐअग्नयेत्वेत्यस्य मधु० ऋ० । याजुषी बृहती छं० । सोमो देवता । अभिषोतव्यसोममुष्टिप्रक्षेपणे वि० ॥ ३२ ॥

विधि-(१) अधिसवन चर्मके ऊपर यह उपांशुसवन स्थापन करके उसपर पांच मंत्रोंसे पांच मुट्ठी सोम ग्रहण करै [का०९।४।८] हे सोम ! [प्रातःसवनके] (वसुमते) वसुनाम देवतासे युक्त (रुद्रवते) माध्यन्दिन सवनके रुद्र देवतासे युक्त (इन्द्राय) इन्द्र देवताके निमित्त(त्वा)तुमको परिमित करताहूं १(आदित्यवते) हे सोम! तीसरे सवनके आदित्य देवताके सहित वर्तमान (इन्द्राय) इन्द्रदेवताके निमित्त (त्वा) तुझको परिमित करताहूं २। हे सोम ! (अभिमातिघ्ने) शत्रुघाती (इन्द्राय)

इन्द्र देवताके निमित्त (त्वा) तुमको परिमित करताहूं ३ । हे सोम (सोमभृते) सोमहारी (श्येनाय) श्येनरूप गायत्रीके निमित्त (त्वा) तुझको परिमित करताहूं ४ । हे सोम ! (रायस्पोषदे) धन और पुष्टि देनेवाले (अग्नये) अग्नि देवताके निमित्त (त्वा) तुमको परिमित करताहूं ५ ॥ ३२ ॥

प्रमाण–"इन्द्राय सोम त्वां मिमे सपत्नो वा अभिमातिः" इति श्रुतेः [श० ३ । ९ । ४ । ९] "गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत्" इति श्रुतेः। [श० ३ । ९ । ४ । १०] ॥ ३२ ॥

विवरण–जो कि आठ वसु ग्यारह रुद्र बारह आदित्य प्रसिद्ध हैं प्रजापति और इन्द्र यह सब तेतीस देवता हैं यह मुख्य हैं और अनेक दूसरे देवता, इनकी विभूति रूप हैं । वसुगण पृथ्वीके देवता, अग्नि और रुद्र अन्तरिक्षके देवता, वायु आदित्यगण द्युलोकके देवता, सूर्य, प्रजापति और इन्द्र शब्दसे ईश्वरकाही प्रायः लक्ष होता है अनेक स्थलमें अग्निवायु आदिभी ईश्वरके बोधक होतेहैं इस स्थलमें इन्द्रशब्दसे ईश्वरकाही ग्रहण है ईश्वर जो कि जगत्पति समस्त चराचरका नियन्ता है, इसको कौन अस्वीकार करैगा ।

गायत्रीने श्येनरूपसे द्युलोकसे सोम आहरण किया यह आख्यायिका ऊपर शतपथकी श्रुतिमें कथित है, इस गायत्रीका यह अर्थ है कि जो इसका गान करता है यह उसकी त्राता अर्थात् रक्षा करतीहै, गायत्रीशब्दसे ईश्वरहीका लक्ष्य है, ईश्वरका श्येनरूपसे वर्णन अनेक स्थलोंमें देखा जाताहै "श्येनो गृध्राणाम्" इत्यादि ।

पहले चारमंत्रोंके सहित इस मंत्रमें स्थित अग्निपद ब्रह्माग्निवाचक भी होता है ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३–मन्त्र १ ।

यत्ते॑ सोम दि॒वि ज्योति॒र्यत्पृ॑थि॒व्यां यदु॒रावु॒न्तरि॑क्षे ।
तेना॒स्मै यज॑मानायो॒रु रा॒यं कृ॒ध्यधि॑ दा॒त्रे वो॑चः ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐयत्त इत्यस्य मधुच्छंदा ऋ० । भुरिगार्षी बृहती छं० । सोमो दे० । सोमस्पर्शने वि० ॥ ३३ ॥

विधि–(१) उपांशुसवनमें गृहीत सोमको इस मंत्रसे स्पर्श करै [का० ९ । ४ । ९] मन्त्रार्थ–(सोम) हे सोम ! (दिवि) द्युलोकके (यत्) जो (ते) तुम्हारी (ज्योतिः) ज्योति है (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें (यत्) जो ज्योति है (उरौ) विस्तीर्ण (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें (यत्) जो ज्योति है (तेन) उस

ज्योतिके प्रभावसे (अस्मै) इस (यजमानाय) यजमानके निमित्त इष्ट धन विस्तार कर अथवा इसके यज्ञमें अपने शरीरको (उरु) विस्तार (कृधि) कर अथवा (राये) ऋत्विग्गणोंको धनप्राप्तिके निमित्त (उरुकृधि) अपने शरीरका विस्तार करो (दात्रे) दाता यजमानके निमित्त (अधिवोचः) मैं सम्पूर्ण ज्योतिसे प्राप्त हुआ ऐसा कह अथवा हे सोम तीन लोकमें जो तुम्हारी ज्योति है उस ज्योतिसे इस यजमानको (राये) धनसे समृद्ध और (उरुकृधि) विस्तीर्णस्थानवाला करो (दात्रे) यज्ञफल देनेवाले परमात्मा इन्द्रको (अधिवोचः) यह यजमान अधिक है इसप्रकार कहकर यजमानके अनुकूल करो ॥ ३३ ॥

प्रमाण–"यदा सोमो देवानां हविरभूत्तदा तिस्रः स्वतनूरेषु लोकेषु न्यदधात्" इति [श० ३ । ९ । ४ । १२] जिस समय सोम देवताओंकी हवि हुआथा, उस समय उसने तीनों लोकमें अपना शरीर स्थापित किया, इस मंत्रसे उनकी प्राप्ति कीजातीहै ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४–मंत्र १।

श्वात्रास्थ वृत्रतुरो राधोगूर्त्ताऽअमृतस्य पत्नीः । ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञन्नयतोपहूताः सोमस्य पिबत ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐश्वात्रास्थ इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । सुराडार्षी पथ्या बृहती छन्दः । आपो देवता । निग्राभ्यासिंचने वि० ॥ ३४ ॥

विधि–(१) इस मंत्रसे होत्रचमसके द्वारा सोमके ऊपर निग्राभ्य सिंचन करै [का० ९ । ४ । १२] मन्त्रार्थ–हे जलो ! तुम (श्वात्राः) शीघ्रकार्यकारी वा शिवरूप (वृत्रतुरः) शत्रुहृदयमर्दनकारी (राधोगूर्तः) इष्टकामनाके देनेवाले (अमृतस्य) सोमके (पत्नीः) पालक (स्थ) हो (देवी) हे सम्पूर्ण निग्राभ्य देवता ! (ताः) इस प्रकारके तुम (इमम्) इस यज्ञको (देवत्रान्) देवताओंके प्रति (नयत) प्राप्तकरो (उपहूताः) अनुज्ञाको प्राप्तहुए तुम (सोमस्य) सोमको (पिबत) पिओ. [आशय यह कि, तुम्हारे द्वारा प्रयुज्यमान सिञ्चन कार्य शीघ्र चलायमान हो सोम शोषित हो] ॥ ३४ ॥

प्रमाण–"श्वात्रमिति क्षिप्रनाम" [निरु० ५ । ३] ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५–मन्त्र १।

मा भेर्मा संविक्था ऽऊर्जन्धत्स्व धिषणे वीड्वी सती वीडयेथामूर्जन्दधाथाम् । पाप्मा हतो न सोमः ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐमाभेरित्यस्य मधुच्छंदा ऋ० । भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छं० । अर्द्धस्य द्यावापृथिवी देवते । अर्धस्य सोमो देवता । उपांशुसवनेन सोमेन त्रिः प्रहरणे वि० ॥ ३५ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे उपांशुसवनके द्वारा सोम ग्रहण करै [का० ९ । ४ । १९] **मंत्रार्थ**-हे सोमसमूह ! तुम (माभेः) आघातसे भय मत करना (मासंविक्थाः) कम्पित मतहोना (ऊर्ज्जम्) रसको (धत्स्व) धारण करो वा प्रदान करो (धिषणे) हे द्यावापृथिवी ! (वीड्वीसती) दृढताको प्राप्त हुई(वीडयेथाम्) इस उपांशुसवनके आघात और सोमसवनको दृढ करो (ऊर्ज्जम्) इस सोमके रसको (दधाथाम्) वृद्धिकर प्रदान करो इस वज्राघातसे यजमानके सम्पूर्ण (पाप्मा) पाप (हतः) नष्ट होते हैं और (सोमः न) सोम नहीं हतहोता किन्तु संस्कारयुक्त होता है ॥ ३५ ॥

प्रमाण-"वीड्वीसती बलनामसु पठितम्"[निघं० २ । ९ ।] ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६-मन्त्र १ ।

प्रागपागुदगधराक्सर्वतस्त्वादिशऽआधावन्तु ॥ अम्म्बनिष्परसमरीर्विदाम ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐप्रागपा इत्यस्य मधुच्छंदा ऋषिः । आर्ष्युष्णिक्छं० । सोमो देवता । पठने वि० ॥ ३६ ॥

विधि-(१) प्रतिप्रहार वर्ग सोमके अंशोंको होत्रचमसके मध्यमें ग्रहण करके यजमानको यह दो निग्राभ्यमंत्र पाठ करावे [का० ९ । ४ । २०] **मंत्रार्थ**-हे सोम ! (प्राक्) पूर्व (अपाक्) पश्चिम (उदक्) उत्तर (अधराक्) दक्षिणादि सम्पूर्ण (दिशः) दिशा (सर्वतः) सब ओरसे (त्वा) तुम्हारे (आधावन्तु) सन्मुख धावमान हों अर्थात् चारों ओरसे सोम अंश सकल आगमन करो [और वह परस्पर सब इस प्रकार कहैं] (अम्ब) हे माता ! अपने भागोंसे (निष्पर) सोमको पूर्ण करो अर्थात् हम तुम्हारे सहित मिलित होकर क्षतिके पूर्ण करनेमें प्रवृत्तहों (अरीः) सब प्रजा (सम्विदाम्) इस यज्ञको जाने [आशय यह कि हमारे सोमसमागमको अनेक देश चारों दिशाओंके प्राणी जाने और यज्ञदर्शन करनेको आवैं] ॥ ३६ ॥

प्रमाण-"प्रजा वा अरीः" इति श्रुतेः [श० ३ । ९ । ४ । २१] ॥ ३६ ॥

विवरण–३७ और इस ३६ कण्डिकाके मंत्र निग्राभ्य कहातेहैं. कूटनेमें जो सोमके अंश चारोंओर उडते हैं इन दोनो मंत्रोंके पाठसे उन सबको संग्रह करै ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७–मंत्र १ ।

त्वमङ्ग प्प्रशᳫं᳭सिषोदेवः शविष्ठमर्त्यम् ॥ नत्त्वद्न्योमघवन्नस्त्तिमर्ड्डितेन्द्र ब्रवीमितेवचः ॥३७॥[८]

इति श्रीशुक्लयजुस्संहितायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐत्वमित्यस्य गोतम ऋ० । पथ्याबृहती अथवा भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । प्रार्थने वि० ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ–(अङ्ग) हे सर्वत्र प्राप्त ! "अङ्गेति क्षिप्रनाम" [निरुक्त ५ । १७] (शविष्ठ) अतिशय बलवान् (मघवन्) सुखकारी धनवान् (इन्द्र) परमैश्वर्यसम्पन्न (देवः) परमात्मा ! (त्वम्) आप (मर्त्यम्) इस मनुष्य यजमानको (प्रशᳫं᳭सिषः) प्रशंसा देतेहो अर्थात् यह यजमान होता श्रद्धावान् है इस प्रकार प्रशंसा प्राप्त कराते हो (त्वत्) आपके सिवाय (अन्यः) और कोई (मर्डिता) सुख देनेवाला (न) नहीं (अस्ति) है (ते) आपका (वचः) आपही सुखरूप हैं यह वचन (ब्रवीमि) कहताहूं ॥ ३७ ॥

भावार्थ–हे अंग इन्द्र ! [परमात्मन्] तुम अति बलवान् देवता हो तुम्हारे प्रसादसे मनुष्यगण प्रशंसालाभ करतेहैं, हे मघवन् ! [वेदधन] तुम्हारे सम्बन्धमें इतना बोलनाही बहुत है कि तुमही हमको सुखी करनेमें समर्थ हो तुमसे अन्य और कोई नहीं तुमही एकमात्र हमारे सुखदाता हो "इस मंत्रसे स्पष्टही एक ईश्वरवाद प्रकाशित होताहै" [वैशंपायनभाष्य] ॥ ३७ ॥

इस अध्यायमें यज्ञके कृत्य, परमात्माकी उपासना, सब कार्योंमें उसका ध्यान पशुहिंसाकी निवृत्ति, अनेक पदार्थोंके गुण, और उनका उपयोग कथन कर अन्तमें एक परमात्माही उपास्य है यह कथनकियाहै, इससे पांचवें अध्यायके संग इसकी संगति होगई इस अध्यायका अर्थभी दयानन्दसरस्वतीने सूत्रकल्प ब्राह्मणके विरुद्ध कियाहै, इससे वह मानने योग्य नहींहै ॥ ३७ ॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदान्तर्गतवाजसनेयिसंहितायां मन्त्रभागे पण्डितज्वालाप्रसाद-मिश्रकृतमिश्रभाषाभाष्ये ऋष्यादानाद्यचनान्तः षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

शुभमस्तु.

अथ सप्तमोऽध्यायः ७.

ग्रहग्रहणप्रकरण ।

प्रातःसवन.

ग्रहशब्दसे यज्ञीय देवगणके उद्देशसे गृहीत सोम, और किसी किसी स्थलमें सोमपात्रको भी ग्रह कहते हैं प्रातःसवनके साकल्यमें २५ ग्रह गृहीत होते हैं उपांशुप्रभृति उनके परिचायक नामकरण हैं यथा उपांशु १ अन्तर्याम २ इन्द्रवायव ३ मैत्रावरुण ४ आश्विन ५ शुक्र ६ मन्थी ७ आग्रहायण ८ उक्थ ९ ध्रुव १० ऋतुग्रह १३ ऐन्द्राग्नि २४ और विश्वेदेव २५ किन्तु इन पच्चीस आधारपात्र २४ हैं. कारण कि, अन्तिम ग्रह छठे ग्रहके पात्रसेही गृहीत होता है ।

अग्निष्टोमादि सोमयागके तीन सवन होते हैं सोमघटित क्रियाकोही सवन कहा जाता है इस कारण प्रातःसवन शब्दसे प्रातःकालीन सोमविभाग सोमग्रहण सोमाहुतिप्रभृतिं जानना ।

वाचस्पतयउपयामगृहीतोसि त्रिकावावायोयंवा द्विकौ यस्त एका प्राणाय तिस्रो मत्रवइन्द्राग्नी आगतमावौमासश्चर्षणीधृतो विश्वेदेवासऽआगतेन्द्रमरुत्वो मरुत्वन्तं वृषभं मरुतान्त्वौजसे सजोषाऽइंद्रमरुत्वाँ २॥ऽइन्द्र महाँ २ ॥ऽइन्द्रो महाँ २ ॥ ऽइन्द्रऽ एकैकोदुत्यमष्टौपञ्चविꣳशतिरष्टाचत्त्वारिꣳशत् ॥

कण्डिका १—मन्त्र २ ।

प्रातःसवन.

वाचस्पतयेपवस्ववृष्णोऽअꣳशुभ्याङ्गभस्तिपूतः ॥ देवोदेवेभ्यः पवस्वयेषाम्भागोसि ॥ १ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐवाचस्पतय इत्यस्य गोतम ऋषिः।साम्नी बृहती० । प्राणो दे० । उपांशुग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐदेव इत्यस्य गोतम ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । प्राणो देवता । उपांशुग्रहग्रहणे वि० ॥ १ ॥

विधि—(१) सूर्योदयसे पूर्वही इस कण्डिकाके दो मंत्र और दूसरी कण्डिकाके प्रथम मंत्रसे साकल्यके तीनों मंत्रपूर्वक तीन बार वैकंकत स्रुवसे उपांशुनामक प्रथम ग्रह ग्रहण करै-[९ । ४ । २३] मंत्रार्थ—हे सोम ! तुम (वृष्णः) सम्पूर्ण कामनाके फलवर्षी (अꣳशुभ्याम्) अंशुद्वय: तथा (गभस्तिपूतः) हमारे हाथसे

पवित्र हुए तुम(वाचस्पतये)प्राणोंकी प्रीतिके निमित्त (पवस्व)इन पात्रमें गमन करो "प्राणो वै वाचस्पतिः" इति श्रुतेः [श० ४ । १ । १ । ९] "पाणी वै गभस्तौ" इति श्रुतेः [श० ४ । १ । १ । ९] 'दूसरा ग्रहग्रहण ' हे सोम ! (देवः) देवतारूप तुम (देवेभ्यः) देवतोंकी प्रीतिके निमित्त (पवस्व) इस पात्रमें गमन करो (येषाम्) जिन देवताओंका (भागः) भाग (असि) है ॥ १ ॥

विवरण-इस समय अंशुद्वय ग्रहण करै वाचस्पति देवता मनकाभी नामान्तरहै इसके निमित्त मौनभावसे होमादि करते हैं इसी कारण यह उपांशुग्रह कहा जाता है ॥ १ ॥

कण्डिका २-मन्त्र ३ ।

मधुमतीर्न्नऽइषस्कृधियत्तेसोमादाभ्युन्नामुजागृं वितस्मैतेसोमुसोमायुस्वाहास्वाहोर्वुन्तरिक्षमन्वे मिस्वाङ्कृतोसि ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐमधुमतीरित्यस्य गोतम ऋषिः । याजुषी बृहती छं० । लिंगोक्ता देवता । तृतीयग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐयत इत्यस्य गोतम ऋ० । आर्ष्युष्णिक्छं० लिंगोक्ता दे० । सोमे स्वीकृतांशुस्थापने वि० । (३) ॐस्वाहा इत्यस्य गोतम ऋ० । आसुरी जगती० । लिंगोक्ता देवता । हविर्धाननिष्क्रामणे वि० ॥ २ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे तीसरा ग्रह ग्रहण करै । मंत्रार्थ-हे सोम ! (नः) हमारे (इषः) अन्न (मधुमतीः) मधुर रसयुक्त सुस्वादु (कृधि) करो १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे इस ग्रहण किये अंशुद्वयको सोमाधार पात्रमें फिर निक्षेप करै [का० ९ । ४ । २८] मंत्रार्थ-(सोम) हे सोम ! (ते) तुम्हारा (यत्) जो (अदाभ्यम्) हिंसाशून्य (जागृवि) जागरणशील (नाम) नाम है (सोम) हे सोम! (तस्मै ते)उस तुम्हारे निमित्त(स्वाहा)यह अंशुद्वय फिर प्रदान करते हैं २ । विधि-(३) उपांशुग्रह हाथमें लेकर होम करनेकी इच्छासे उठकर इस सोमिक वेदीसे निकलनेको उद्यत हो आहवनीयके संमुख गमन करै [का ९ । ४ । ३४] मंत्रार्थ-(स्वाहा) उद्देश्य देवताकी प्रीतिके निमित्त यह भलीप्रकार आहुत होता है (उरु) इस विस्तीर्ण (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षके मध्यमें (अन्वेमि) गमन करताहूं ३ ॥ २ ॥

विवरण-जिसका नाम हिंसारहित है इस कारण सोम सबकी प्रियवस्तु है हिंसारहित पद बारबार वेदमें आया है इस कारण हिंसा न करनाही वेदका उद्देश

हैं जागरणशीलका आशय यह कि सोमको कोई पान करै या न करै सबकेही अन्तःकरणमें सोमका नाम जागता है ॥ २ ॥

कण्डिका ३--मंत्र ५ ।

स्वाङ्कृतोसि विश्वेभ्यऽइन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यो देवांशो यस्मै त्वेडे तत्सत्यमुपरिप्रुता भङ्गेन हतोसौ फट् प्राणाय त्वा व्यानाय त्वा ॥ ३ ॥ [३]

ऋष्यादि-(१) स्वांकृतोसीत्यस्य गोतम ऋषिः । भुरिक्प्राजापत्या जगती० । उपांशुर्दे० । पात्रमार्जने वि० । (२) ॐ देवेभ्यस्त्वेत्यस्य गोतम ऋ० । याजुषी बृहती छं० । देवा दे० । पश्चिमस्थे परिधौ सोमलिप्तोत्तानपाण्युपमार्जने वि० । (३) ॐ देवांश इत्यस्य गोतम ऋ० । साम्नीत्रिष्टुप्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । अभिचारार्थ वस्त्रादिश्लिष्टसोमांशहवने वि० । (४) ॐप्राणायत्वेत्यस्य गोतम ऋ० । दैवी बृहती छन्दः । ग्रहो देव० । स्वस्थाने उपांशुग्रहपात्रासादने वि० । (५) ॐव्यानायत्वेत्यस्य गोतम ऋ० । उपांशु देवता । उदगभिमुखग्रहसंलग्नोपांशुसवनरक्षणे वि० ॥ ३ ॥

विधि-(१) गृहीत उपांशुग्रहको प्रथम मंत्रसे हवन करै [का० ९ । ४ । ३७] "प्राणो वा अस्यैप ग्रहः स स्वयमेव कृतः स्वयं जातः" इति श्रुतेः [श० ४ । १ । १ । २२] मंत्रार्थ-हे प्राणरूप उपांशुग्रह! (विश्वेभ्यः) सम्पूर्ण (इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियोंसे (पार्थिवेभ्यः) सम्पूर्ण पार्थिव द्विपद चतुष्पद और (दिव्येभ्यः) दिव्य प्राणियोंसे (स्वांकृतः) स्वयंप्रादुर्भूत (असि) हो अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियोंके हितार्थ दिव्य-एवं पार्थिव प्राणीगणके हितार्थ तुम मेरे द्वारा स्वीकृत हुएहो (मनः) मन प्रजापति (त्वा) तुम्हारे प्रति (अष्टु) आधिपत्य करै "प्रजापतिर्वै मनः प्रजापतिष्ट्वाश्नुताम्" इति [श० ४ । १ । १ । २२] (सुभव) हे प्रशंसितजन्मन्! (सूर्याय) सूर्यरूप प्रजापतिकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको आहुत करताहूं (स्वाहा) यह आहुति सुन्दररूपसे गृहीत हो १ । दूसरे पक्षमें देवजन्ममें स्थित और पार्थिव मनुष्यजन्ममें स्थित सम्पूर्ण इन्द्रियोंके अर्थ तुझे ग्रहण करताहूं मन उन इन्द्रियोंका अधीश्वर तुझको प्राप्त हो (सुभव) हे प्राणरूप उपांशुग्रह ! वही प्राणरूप सूर्यके निमित्त तुमको हुत करताहूं प्रमाण

"आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णीत" इस आथर्वणिक श्रुतिसे सूर्यको बहिःप्राण कहा, स्वांकृत शब्दसे प्राणरूप ग्रहका स्वाधीनत्व दिव्य और पार्थिव शब्दसे दो जन्म कहे हैं इसमें प्रमाण "स्वांकृतोऽसीत्याह प्राणमेव समकृत विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यः दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्य इत्याहोभयेष्वेव देवमनुष्येषु प्राणान् दधाति" इति[तैत्तिरीयश्रुतिः]१ । विधि-(२) पश्चिमविभागीय परिधिके ऊपर सोमलिप्तहस्त अपने सामने ऊंचे करके उसके ऊपर यह पात्र रक्षाकर इस दूसरे मंत्रसे मार्जन करै [का० ९ । ४ । ३८] मन्त्रार्थ-हे लेपपात्र ! (मरीचिपेभ्यः) मरीचिपालक (देवेभ्यः) देवगणकी तृप्तिके निमित्त (त्वा) तुमको वा परिधिको मार्जन करताहूं । विधि-(३) अभिचारकर्म मारण मोहनादि करनेवाला पुरुष इस समय वस्त्र, वक्षस्थल, बाहुप्रभृतिमें लगी हुई सम्पूर्ण अंशु [कूटनेसे उडे खण्ड] तीसरे मंत्रसे हवन करै [का० ९ । ४ । ३९] मन्त्रार्थ-(देव) हे दीप्यमान (अंशो) अंशुदेव ! (यस्मै) जिसके अभिचार मारणादिकी कामनाके निमित्त (त्वा) तुमको (ईडे) प्रार्थना वा साधन वा स्तुति करताहूं (तत्) वह यह अमुक [यहां शत्रुका नाम ले] मेरा शत्रु (सत्यम्)सत्यही (उपरिप्लुता) अकस्मात् प्राप्तहुई (भङ्गेन) महापीडासे (हतः) निहत हुआ (असौ) यह शत्रु (फट्) विशीर्ण होजाय ३ । विधि-(४) चौथे मंत्रसे यह उपांशुग्रह यथास्थानमें स्थापन करै [का० ९ । ४ । ४१ ।] मन्त्रार्थ-हे उपांशुग्रह ! प्राणदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करता हूं ४ । विधि-(५) फिर उपांशुसवन लाकर उत्तराभिमुखकरके पंचम मंत्रसे उपांशुग्रहके सहित संलग्नकर रक्षाकरै [का० ९ । ४ । ४२] मन्त्रार्थ-हे उपांशुसवन ! (व्यानाय) व्यानदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करताहूं ५ ॥ ३ ॥

विवरण-प्रायः होममात्रमें स्वाहा शब्दका प्रयोग होता है किन्तु अभिचार होममें स्वाहाके स्थानमें फट् शब्द प्रयुक्त होता है फट्-अर्थात् छिन्न भिन्न हो जाओ ॥ ५ ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मन्त्र १ ।

उपयामगृहीतोस्यन्तर्य्यच्छमघवन्पाहिसोमम् ॥ उरुष्ष्यरायऽएषोयजस्व ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐउपयामित्यस्य गोतम ऋ० । प्राजापत्या त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । अन्तर्यामग्रहग्रहणे वि० ॥ ४ ॥

विधि-(१) सूर्योदयपर इस कण्डिका अथवा पर कण्डिकाके मंत्रसे उपयाम द्वारा अन्तर्याम नाम दूसरा ग्रह ग्रहण करै [का० ९ । ६ । १] **मंत्रार्थ**-हे अन्तर्याम ग्रह 'सोमरस' तुम (उपयामगृहीतः) क्षुद्रकलशद्वारा गृहीत (असि) हो (मघवन्) इन्द्र ! तुम इस गृहीत सोमरसको (अन्तः) अन्तर्ग्रहपात्रमें (यच्छ) ग्रहण करो (सोमम्) सोमरसको (पाहि) शत्रु आदिसे रक्षाकरो तथा (रायः) धन अथवा "पशवो रायः" [श० ४।१।२।१९] पशुओंको (उरुष्य) रक्षाकरो (इषः) अन्नोंको (आयजस्व) सब प्रकारसे दो अथवा अन्नसे उत्पन्न होनेसे अन्नलक्षणवाली प्रजा (आयजस्व) यज्ञ करनेवाली करो " प्रजा वा इष" इति श्रुतेः [४ । १ । २ । १९] अर्थात् यही हमारी यज्ञीय सम्पत्ति है इसकी रक्षासे यज्ञरक्षा होगी ॥ ४ ॥

विवरण-जिन सम्पूर्ण पात्रोंमें ग्रहनामक सोमांश समूह गृहीत और रक्षित होते हैं उन सम्पूर्ण क्षुद्र २कलशोंको उपयाम कहते हैं उपांशु नामक प्रथम ग्रहको स्रुवमें ग्रहण करा जाता है उसके निमित्त उपयामकी आवश्यकता नहीं होती । २ इस स्थलमें इन्द्रसे सूर्यका ग्रहण है ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मंत्र १ ।

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम् ॥ सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन्मादयस्व ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअन्तस्त इत्यस्य गोतम ऋषिः । पंक्तिश्छंदः । मघवा देवता । अन्तर्यामग्रहग्रहणे वि० ॥ ५ ॥

विधि-(१) अन्तर्याम ग्रहका ग्रहण करै । **मंत्रार्थ**-हे मघवन्!(ते)आपके अनुग्रहसे (द्यावापृथिवी) स्वर्ग और पृथ्वी (अन्तर्दधामि) अन्तः स्थापन करता हूं अथवा उपयाम पात्रके अन्तः द्यावापृथ्वी स्थापन करता हूं अथवा हे अन्तर्याम ! प्राण रूप अन्नवाले तुम्हारे शरीरके मध्यमें द्यावापृथ्वी स्थापन करता हूं (उरु) विस्तीर्ण (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (अन्तर्दधामि) द्यावापृथिवीके मध्यमें स्थापनकरताहूं हे (मघवन्) इन्द्र ! (अवरैः) पृथ्वीके स्थानवाले (परैः) द्युस्थाननिवासी (देवैः) देवताओंसे (सजूः) समान प्रीतिवाले तुम (अन्तर्यामे) अन्तर्याम ग्रहमें (मादयस्व) अपनेको तृप्तकरो अर्थात मेरी सन्तुष्टताके निमित्त अन्यान्य समस्त आत्मीय देव गणके सहित इस अन्तर्याम लाभमें स्वयं परितृप्त हो और लोकत्रयको परितृप्त करो ॥ ५ ॥

कण्डिका ६–मन्त्र ३ ।

स्वाङ्कृतोसिविश्वेभ्यऽइन्द्रियेभ्योदिव्येभ्युः पार्थिवेभ्योमनस्त्वाष्टुस्वाहात्त्वासुभवुसूर्यीय देवेभ्यस्त्वामरीचिपेभ्यऽउदानायत्त्वा ॥ ६ ॥[३]

ऋष्यादि–(१) ॐस्वाङ्कृतोसीत्यस्य गोतम ऋषिः । भुरिक्प्राजापत्या जगती० । अन्तर्यामो दे० । पात्रमार्जने वि० । (२) ॐदेवेभ्य इत्यस्य गोतम ऋषिः । याजुषी बृहती छं० । देवो दे० । उत्तानपाण्युपमर्शने वि० । (३) ॐउदानायेत्यस्य गोतम ऋ० । दैवी पं० । ग्रहो देवता । सोमाभिषवपाषाणस्योपांशुसवनसंलग्नस्थापने वि० ॥ ६ ॥

विधि–(१–२) इस कण्डिकाके प्रथम और दूसरे मंत्र एवं प्रदर्शित तीसरी कण्डिकाके प्रथम और दूसरे मंत्र एकहीरूप हैं इस कारण इसकी व्याख्या ३ कण्डिकामें देखो. १–२ । विधि–(३) तीसरे मंत्रसे यथास्थानमें पात्र स्थापन करे [का०९ । ६ । ४] मन्त्रार्थ–हे अन्तर्याम ग्रह ! (उदानाय) उदानदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझको इस स्थानमें स्थापन करता हूं ॥ ६ ॥

कण्डिका ७–मन्त्र १ ।

आवायोभूषशुचिपाऽउपनःसुहस्रन्तेनियुतोविश्ववार ॥ उपोतेऽअन्धोमद्यमयामियस्यदेवदधिषेपूर्वपेयंवायवेत्त्वा ॥ ७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐआवायोभूषेत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । निच्यृदार्षी जगती छं० । वायुर्देव० । ऐन्द्रवायवग्रहार्थग्रहणे वि० ॥ ७ ॥

विधि–(१) इस मंत्रसे ऐन्द्रवायवनाम तीसरा ग्रह अर्द्ध ग्रहण करे [का०९ । ६ । ५] मंत्रार्थ–(शुचिपाः) हे अग्नि ! पवित्र पानकारी (वायो) वायुदेव ! तुम (नः) हमारे(उप) समीप(आभूष) आक्रमण करके आगमन करो(विश्ववार)हे सर्व व्यापिन् ! (ते) आपके (सहस्रम्) सहस्र सहस्र (नियुतः) वाहनहैं उनके द्वारा शीघ्र हमारे समीप आगमन करो (मद्यम्) तृप्तिका करनेवाला (अन्धः) सोम लक्षण अन्न (ते) तुम्हारे (उप) समीपमें (आयामि) समर्पण करके भिजवाता हूं (देव) हे दीप्यमान वायो ! (यस्य) जिस सोमका (पूर्वपेयम्) प्रथम वषट्कार लक्षणवाला पूर्वपान तुम (दधिषे) धारण किये हो उसीको इस समय तुम्हारे निकट उपस्थित करते हैं ।

हे तृतीय ग्रह सोमरस ! (वायवे) वायुदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं [ऋ० ९ । ६ । १४ ॥] ॥ ७ ॥

प्रमाण—"नियुतो वायोः" इत्युक्तेः [निघं० १ । १५ । १०] ॥ ७ ॥

विशेष—प्राचीन टीकाकारोंने वायुका वाहन मृग वर्णन कियाहै शीघ्रगामी होनेसे, देवता महाभाग्यशाली होनेसे वाहनआदि करनेमें समर्थ हैं प्रमाण निरुक्त "महाभाग्यादेकैकस्या बहूनि नामधेयानि भवन्ति" [नि० दै० अ० ७ पा० २] "आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माश्व आत्मायुध आत्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य" [निरु० ७ । १ ।] ॥ ७ ॥

कण्डिका ८—मन्त्र २ ।

इन्द्रवायूऽइमे सुताऽउपप्प्रयोभिरागतम् ॥ इन्दवोवामुशन्तिहि ॥ उपयामगृहीतोसिवायवऽइन्द्रवायुब्भ्यान्त्वैषतेयोनिः सजोषोब्भ्यान्त्वा ॥८॥ [२]

ऋष्यादि—(१) ॐ इन्द्रवायू इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । आर्षी गायत्री० । इन्द्रवायू दे० । ऐंद्रवायवग्रहापरार्धग्रहणे वि० (२) ॐ एषते योनिरित्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । यजुश्छं० । इन्द्रवायू दे० । ऐन्द्रवायवग्रहापरार्धग्रहणे वि० ॥ ८ ॥

विधि—(१) आधे ग्रहण कियेहुएको पृथक् रखकर फिर अपरार्धको इस कण्डिकाके मंत्रद्वयसे उपयाममें ग्रहण करै [का० ९ । ६ । ६] **मन्त्रार्थ**—(इन्द्रवायू) हे इन्द्रवायु ! तुम्हारे निमित्त (इमे) यह सोम (सुताः) अभिषवणाकिये हैं (प्रयोभिः) ईस सोमरसरूप अन्नपानके निमित्त (उपआगतम्) हमारे समीप आइये अथवा शीघ्रगामी वाहनद्वारा आइये (हि) जिस कारण कि (इन्दवः) यह सोमरस (वाम्) तुम्हारे प्रिय होनेकी (उशन्ति) इच्छा करते हैं, हे तृतीय ग्रह सोमरस ! तुम (वायवे) वायुदेवताके उद्देशसे (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रद्वारा ग्रहण किये गये (असि) हो (इन्द्रवायुभ्याम्) युगचर इन्द्रवायु देवताके संतोषके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं । **विधि**—(२) फिर दशापवित्र वस्त्रकी अञ्चलीद्वारा इस उपयामपात्रमें लगे सोमको पोंछकर इस तीसरे मंत्रसे यथास्थानमें स्थापित करै [का० ९ । ९ । २९] **मन्त्रार्थ**—हे इन्द्रवायू ग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (सजोषोभ्याम्)

युगचर इन्द्रवायु देवताद्वयके प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करताहूं ॥ ८ ॥

प्रमाण-"प्रय इत्यन्ननाम" [निघं० २ । ७ । ६]

विशेष-कोई कहते हैं अन्तरिक्षस्थित वायुके सहचर तेजविशेषहीको इस स्थलमें इन्द्र कहा है इस कारण इस तेजके सहित वर्तमान वायुको इन्द्रवायु कहा इन्हींके अनुग्रहसे सुवृष्टि होती है ॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मंत्र २ ।

अयंवाम्मित्रावरुणासुतःसोमऽऋतावृधा ॥ ममेदिहश्श्रुतꣳहवम् ॥ उपयामगृहीतोसिमित्रावरुणाभ्यान्त्वा ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअयंवामित्यस्य गृत्समद ऋषिः । गायत्री छं० । मित्रावरुणौ दे० । मैत्रावरुणग्रहग्रहणे वि० (२) ॐउपयामित्यस्य गृत्समद ऋषिः । आसुरी गायत्री छन्दः । मित्रावरुणौ दे० । मैत्रावरुणग्रहग्रहणे वि० ॥ ९ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकामें स्थित दो मंत्रसे मैत्रावरुणनामक चौथे ग्रहको उपयाममें ग्रहण करै [का० ९ । ६ । ७] मन्त्रार्थ-(मित्रावरुणा) हे मित्रावरुण ! (ऋतावृधा) हे सत्य वा यज्ञके वृद्धि करनेवाले देवताओ ! (वाम्) तुम्हारी प्रीतिके निमित्त (अयम्) यह सोमरस (सुतः) अभिषवण किया है (इह) इस यज्ञमें (ममेत्) हमारे ही इस (हवम्) आह्वानको (श्रुतम्) श्रवणकरो १ । हे चतुर्थ ग्रह ! सोमरस ! तुम (उपयामगृहीतः) मित्रावरुणसंज्ञक उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (मित्रावरुणाभ्याम्) मित्रावरुणसंज्ञक देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं २ ॥ ९ ॥

तत्त्वविचार-पदार्थविद्यावाले इस स्थलमें मित्रावरुणसे अहोरात्रका ग्रहण करते हैं [ऋ० २ । ८ । ७] ॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मन्त्र १ ।

रायाव्वयꣳससवाꣳसोमदेमहव्येनदेवायवसेनगावः ॥ तान्धेनुम्मित्रावरुणायुवन्नोव्विश्वाहाधत्तमनपस्फुरन्तीमेषतेयोनिर्ऋतायुभ्यान्त्वा ॥१०॥ [२]

ऋष्यादि—(१) ॐरायावयमित्यस्य त्रसदस्युर्ऋषिः। आर्षी त्रिष्टु० । मित्रावरुणौ दे० । लौकिकेन दुग्धेन मैत्रावरुणग्रहश्राणने वि० । (२) ॐएषत इत्यस्य त्रसद० ऋ० । याजुषी पंक्तिश्छं० । ग्रहो देवता । पात्रासादने वि० ॥ १० ॥

विधि—(१) मैत्रावरुणग्रहको ग्रहणकर उसपर कुशाच्छादन करके उसके ऊपर इस प्रथम मंत्रसे दुग्धधारापात करै [का० ९ । ६ । ८] मन्त्रार्थ—जिस गौके घरमें होनेसे (वयम्) हम (राया) धनसे (ससवाछसः) सम्पन्न होकर (मदेम) प्रसन्न होते हैं (देवाः) देवगण (हव्येन) हविलाभसे जैसे प्रसन्न होते हैं(गावः)गौ जैसे (यवसेन) घासादिसे प्रसन्न होती हैं (मित्रावरुणा) हे मित्रावरुण देवताओ! (युवम्) तुम (ताम्) उस (अनपस्फुरन्तीम्) दूसरे पुरुषके निकट न जानेवाली (धेनुम्) धेनुको (नः) हमारे निमित्त (विश्वाहा) सर्वदा (धत्तम्) प्रदान करो (एषः) हे ग्रह ! यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (ऋतायुभ्याम्) मित्रावरुण देवता वा सत्य यज्ञद्वारा ब्रह्मकी संतुष्टिके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करताहूं [ऋ० ३ । ७ । १८ ।] ॥ १० ॥

प्रमाण—"ब्रह्म वा ऋत ब्रह्म हि मित्रो ब्रह्मो ह्यृतं वरुण एवायुः" इतिश्रुतेः [श० ४ । १ । ४ । १०] ऋतशब्दसे मित्र, आयु शब्दसे वरुण यह श्रुतिद्वारा सिद्धान्त है पदकारने 'ऋताऽऽयुभ्याम्' ऐसा पद किया है उस अर्थसे ऋत—अर्थात् सत्यकी जो कामना करै सो यज्ञ उसकी इच्छा करनेवाले मित्रावरुणके निमित्त ग्रह स्थापनकरताहूं ॥ १० ॥

भावार्थ—देवता जैसे हविसे, गौ जैसे घाससे प्रसन्न होती हैं, इसी प्रकार बहुत दुग्धवाली गौ पाकर हम प्रसन्न होते हैं, जिसके प्रसादसे यह सम्पूर्ण श्रेष्ठ कार्य करनेमें समर्थ हुआ जाताहै । हे मित्रावरुण ! तुम सदाही हमारी गौकी रक्षा करो जिससे यह कहीं अन्यत्र गमन न करै ॥ १० ॥

कण्डिका ११—मन्त्र २ ।

याव्वाङ्कशामधुमत्त्यश्श्विना सूनृतावती ॥ तयायज्ञम्मिमिक्षतम् ॥ उपयामगृहीतोस्यश्श्विभ्यान्त्वैषतेयोनिर्म्माद्ध्वीभ्यान्त्वा ॥ ११ ॥ [१]

ऋष्यादि—(१)ॐयावामित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । भुरिगार्षी गायत्री छं० । अश्विनौ दे० । आश्विनग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐउपयामेत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । याजुषी त्रिष्टुप्छं० । ग्रहो देवता । पात्रासादने वि० ॥ ११ ॥

विधि–(१–२) द्रोणकलशद्वारा आश्विननामक पंचम ग्रहका ग्रहणकरै [का० ९ । ७ । ८ ।] मंत्रार्थ–(अश्विना) हे अश्विनीकुमार ! द्वय (वाम्) तुम्हारी (या) जो (कशा) प्रकाशकरनेवाले वाणी (मधुमती) ब्रह्मवती ब्राह्मण उपनिषद् प्रशंसासे युक्त (सूनृतावती) प्रिय और सत्यतासे युक्त है (तया) उस वाणीसे (यज्ञम्) इस यज्ञको (मिमिक्षतम्) सींचकर पूर्ण करो । हे पंचमग्रह ! तुम अश्विनीदेवताकी प्रीतिके निमित्त इस (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें ग्रहण किये हुए (असि) हो । हे अश्विग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (माध्वीभ्याम्) मधुमय मंत्रब्राह्मण पढनेवाले अश्विनीकुमारके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं ॥ ११ ॥

प्रमाण–"दध्यङ् ह वा आभ्यामाथर्वणो मधुनाम ब्राह्मणमुवाच" इति [श० ४ । १ । ५ । १८] श्रुतेः । "कशेति वाङ्नामसु पठितम्" [निघं० १ । ११ । ४३ ।] पदार्थविद्यावाले अश्विनीशब्दसे अण्डकटाहका ऊपर नीचेका भाग कहते हैं ॥ ११ ॥

कण्डिका १२–मंत्र ६ ।

तम्प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्ज्येष्ठतातिम्बर्हिषदं स्वर्विदम् ॥ प्रतीचीनं वृजनन्दोहसे धुनिमाशुञ्जयन्तमनु यासु वर्द्धसे ॥ उपयामगृहीतोसि शण्डाय त्वैष ते योनिर्वीरतां पाह्यपमृष्टः शण्डो देवास्त्वा शुक्रपाः प्रणयन्त्वनाधृष्टासि ॥ १२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐतमित्यस्यावत्सार ऋ० । निच्यृदार्षी जगती छं० । विश्वेदेवा दे० । शुक्रग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐउपयामेत्यस्यावत्सार ऋ० । आर्ष्युष्णिक्छं० । ग्रहो दे० । ग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐएषत इत्यस्यावत्सार ऋ० । यजुश्छ० । लिंगोक्ता दे० । स्वस्थाने ग्रहस्थापने वि० । (४) ॐअपमृष्ट इत्यस्यावत्सार ऋ० । याजुषी गायत्री छं० । आभिचारिकं दैवतम् । मार्जने वि० । (५) ॐदेवास्त्वेत्यस्यावत्सार ऋ० । याजुषी पंक्तिश्छं० । शुक्रपा दे० । हविर्धानमण्डपान्निष्क्रमणे

१ दिशा सब प्राणियोंमें मधु हैं सब प्राणी इन दिशाओंके मधु हैं इनमें जो तेजोमय अमृतमय पुरुष है वही यह ब्रह्म है वही आत्मा है ।

वि० । (६) ॐअनाधृष्टासीत्यस्यावत्सार ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । वेदिश्रोणी देवते । वेदेर्दक्षिणोत्तरयोः शुक्र–मन्थीग्रहयोरासादने वि०॥ १२ ॥

विधि–(१–२)प्रथम और दूसरे मंत्रसे शुक्रनामक छठे ग्रहको ग्रहण करे इस ग्रहका उपयाम (पात्र) बेल वा विकंकत (शमी) काठका होता है [का० ९।६।१०] **मन्त्रार्थ**–हे इन्द्र ! तुम (यासु) जिन यज्ञ क्रियाओंमें पुनः पुनः सोमरस पान करके (अनुवर्द्धसे) वृद्धिको प्राप्त होते हो तृप्त होते हो (तम्) उस (ज्येष्ठतातिम्) उत्कृष्ट विस्तारवान् सर्वज्येष्ठ (वर्हिपदम्)यज्ञमें कुशासनके सेवी (स्वर्विदम्) स्वर्गवेत्ता (धुनिम्)शत्रुओंके कम्पित करनेवाले (आशुम्) जेतव्यवस्तुओंके शीघ्र (जयन्तम्) जीतनेवाले (वृजनम्) बलपूर्वक यज्ञफलको (दोहसे) यजमानके प्रति देते हो (प्रत्नथाः) समस्तयज्ञके प्राचीन नियमकी समान वा प्राचीन योगी महर्षियोंकी समान (पूर्वथा) पूर्वप्रथाके अनुसार वा पूर्वऋषिसाध्य भृगु आदिकी समान (विश्वथा) सब प्रकार वा सब ऋषिपुत्रादिकी समान (इमथा) इस समयके यजमानकी समान इस यज्ञका फल देते हो (ते) उस आपकी हम स्तुति करते हैं ।

अथवा इसका दूसरा अर्थ–हे इन्द्र ! जो कि तुम (प्रतीचीनम्) हमसे प्रतिकूल गमन करनेवाले (वृजनम्)आलस्य अश्रद्धादिको हमसे (दोहसे)रिक्त अर्थात् विनाश करते हो (यासु) जिन क्रियाओंमें (धुनिम्) आपके अनुग्रहसे शत्रुओंको कम्पित करते (आशुम्) शीघ्रकारी(जयन्तम्) सम्यक् अनुष्ठानसे और यजमानोंसे अधिक इस यजमानके पीछे सोमपान और स्तुतिसे जो तुम (वर्धसे) वृद्धिको प्राप्त होते हो उन क्रियाओंमें सर्वश्रेष्ठ (तम्) उस तुमको हम स्तुति करतेहैं जैसे(प्रत्नथा)पुरातन भृगुआदिने(पूर्वथा)पूर्वपितरादिने(विश्वथा) अतीत यजमानोंने (इमथा) इस समयके यजमानोंने तुम्हारी स्तुति कीहै उसीप्रकार हम करते हैं जो कि तुम(ज्येष्ठतातिम्) सर्वज्येष्ठ(वर्हिपदम्)यज्ञके सन्निधानमें स्थित(स्वर्विदम्)यजमानके देनेयोग्यस्वर्गको जान्तेहो हे षष्ठ ग्रह ! शुक्र (उपयामगृहीतः) तुम उपयामपात्रमें गृहीत हुए (असि) हो (शण्डाय) शण्ड नामक जनके निवासके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं ।

विधि–(३) तीसरे मंत्रसे यह ग्रह यथानिर्दिष्ट स्थानमें स्थापन करे । **मंत्रार्थ**–हे शुक्र ग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है इस स्थानमें अवस्थान करके यजमानके (वीरताम्) वीरत्वकी (पाहि) रक्षा करो । **विधि**–(४)चतुर्थमंत्रसे अध्वर्यु इस ग्रहको अपमार्जन करे वह इस प्रकार जैसे कि यूप प्रस्तुत करनेके समय

जो समस्त काष्ठ छीलागया है उसमें कितनी एक छीलन तो यूपमांथन और श्वात्रादि कार्य तथा पाकक्रियामें व्यवहार हुईथी शेषमेंसे दो खण्ड अध्वर्यु ग्रहण करके एक खण्ड प्रोक्षित करके इस ग्रहके ऊपर आच्छादन करै और दूसरे अप्रोक्षित खण्ड द्वारा इस ग्रहको अपमार्जन करै मन्थीग्रहभी इसी प्रकार इस मंत्रसे अपमार्जन करना होगा और प्रतिप्रस्थाता यह अपमार्जन करै "अपमार्जनका अर्थ विपरीत मार्जन और स्थानोंमें प्रोक्षित मार्जनीद्वारा मार्जन होता है इसमें अप्रोक्षित मार्जनकि द्वारा होता है [का० ९ । १० । १ । ५।] मन्त्रार्थ–(शण्डः) असुरनेता (अपमृष्टः) अपमार्जित हुआ. ४ । विधि–(५)पांचवें मंत्रसे अध्वर्यु शुक्र ग्रह हाथमें लेकर प्रतिप्रस्थाता मन्थीग्रह हाथमें लेकर हविर्धान मण्डपसे बहिर्गत होकर उत्तर वेदीमें स्थित आहवनीयके सन्मुख यात्रा करै [का ९ । १० । ६] मंत्रार्थ–(शुक्रपाः) हे ग्रह ! शुक्रनामक ग्रहमें स्थित सोमपान करनेवाले (देवाः) देवता (त्वा) तुमको (प्रीणयन्तु) निरापद आहवनीय स्थानमें प्राप्त करैं ५ । विधि–(६) फिर उत्तरवेदीके समीपमें स्थित होकर छठे मंत्रद्वारा दक्षिण श्रोणीसे अरत्नियोगकरके उसके ऊपर अध्वर्यु शुक्रग्रह एवं उत्तर श्रोणीसे अरत्नियोग करके उसके ऊपर प्रतिप्रस्थाता मन्थीग्रह स्थापन करै [का० ९ । १० । ७] मन्त्रार्थ–हे उत्तरवेदी श्रोणी ! तुम (अनाधृष्टा) अनुपहिंसित (असि) हो अर्थात् तुम्हारे द्वारा इस ग्रहको हानिकी संभावना नहीं है ऋ० [४ । २ । २३] ॥ १२ ॥

प्रमाण–"वृजिनमिति बलनाम" [निघं० २ । ९ । २७] ॥ १२ ॥

विशेष–इस स्थानमें इन्द्रसे शुक्रकाभी ग्रहण करते हैं (ज्येष्ठतातिम्) इससे सर्व ज्येष्ठका अर्थ करते हैं कि सब साधारण ग्रहोंके मध्यमें शुक्रही बडा देखा जाता है ।

शण्ड असुर पुरोहितके नाममें व्यवहार होता है इतिहासपुराणोंमें शुक्रपुत्र भी लिखा है परन्तु यह एक पदवीसी दैत्योंकी विदित होती है अभिचारमें गृहीत होनेसे असुरवाचक है ।

तत्त्वविचारक शण्ड शब्दसे वृष्टिप्रतिबन्धक सूर्यका कोई तेजविशेष कथन करतेहैं ॥ १२ ॥

कण्डिका १३–मन्त्र ४ ।

सुवीरो॑ वी॒रान्प्र॑ज॒नय॒न्परी॑ह्य॒भि रा॒यस्पोषे॑ण॒ यज॑मानम् ॥ सञ्ज॒ग्मा॒नो दि॒वा पृ॑थि॒व्या शु॒क्रः शु॒क्रशो॑चिषा॒ निर॑स्तः॒ शण्डः॑ शु॒क्रस्या॑धि॒ष्ठान॑मसि ॥ १३ ॥

ऋष्यादि–ॐसुवीर इत्यस्यावत्सारः काश्यप ऋषिः। साम्नी त्रिष्टुप्०। शुक्रं दैव०। यूपदेशं प्रति गमने वि०। (२) ॐसञ्जग्मान इत्यस्यावत्सारः काश्यप ऋषिः। साम्न्यनुष्टुप्०॥ शुक्रं दै०। अरत्निसंधाने वि०। (३) ॐनिरस्त इत्यस्यावत्सारः काश्यप ऋ०। दैवी पंक्तिश्छं०। आभिचारिकं दै०। अप्रोक्षितमार्जनीपरित्यागे वि०। (४) ॐशुक्रस्येत्यस्यावत्सारः काश्यप ऋ०। प्राजापत्या गायत्री च्छं०। शकलं दैवतम्। आहवनीये प्रोक्षितयूपशकलप्रक्षेपणे वि०॥ १३॥

विधि–(१) अध्वर्यु यूपके दक्षिण भागमें गमन करके यह मंत्र पाठ करे [का० ९। १०। ८] मन्त्रार्थ–हे ग्रह! तुम (सुवीरः) सुन्दर वीरतासे युक्त हो इस यजमानके (वीरान्) शूरतासे युक्त पुत्र भृत्यादिको (प्रजनयन्) उत्पन्न करते हुए (रायस्पोषेण) अनेक प्रकारकी धनपुष्टिद्वारा (यजमानम्) यजमानके ऊपर कृपाकर (अभि) सब प्रकारसे (परिहि) प्राप्त करो अर्थात् यहां आओ१।

विधि–(२)फिर अध्वर्यु यूपके पश्चिमभागमें गमन करके दूसरे मंत्रसे अरत्नि संधान करे [का० ९। १०। १०।]मन्त्रार्थ–(शुक्रः) यह शुक्रग्रह (शुक्रशोचिषा) अपनी पवित्र कान्तिके साथ (पृथिव्या) पृथ्वी और (दिवा) द्युलोकसे (संजग्मानः) संगतिको प्राप्त हो दीप्तिमान् हो रहे हो २॥

विधि–(३) तीसरे मंत्रसे अध्वर्यु यह अप्रोक्षित मार्जनी परित्याग करे[का० ९॥ १०। १२] मन्त्रार्थ–(शण्डः) शण्ड नामक असुर (निरस्तः) दूर हुआ ३॥

विधि–(४) अध्वर्यु अपने ग्रहपात्रके आच्छादन इस प्रोक्षित यूपकाष्ठखण्डको चौथे मंत्रसे आहवनीयमें प्रदान करे [का० ९। १०। १३] मंत्रार्थ–हे यूपकाष्ठखण्ड! तुम (शुक्रस्य) शुक्रग्रहके (अधिष्ठानम्) अधिष्ठान (असि) हो॥१३॥

विशेष–ग्रहगणोंके सहित पार्थिव जलादिका सम्बन्ध है यह बात पूर्णिमाको समुद्रमें ज्वारभाटा तथा रोगीकी अन्तर्वृद्धि यातना देखकर जान ली जाती है इतनेसे शुक्र ग्रहके सम्बन्धके अनुसारही शरीरमें वीर्यकी न्यूनाधिकता होती है इस कारण वीर्यका नामान्तर शुक्र है। २। कृष्णपक्षमें शुक्रका प्रकाश कितना अधिक होता है यह सब जान्ते हैं॥ १३॥

कण्डिका १४–मंत्र २।

अच्छिन्नस्यते देवसोमसुवीर्य्यस्यरायस्पोषस्य ददितारः स्याम॥ साप्प्रथमासँस्कृतिर्विश्श्ववाराँसप्प्रथमोवरुणोमित्रोऽअग्निः॥ १४॥

ऋष्यादि-(१)ॐअच्छिन्नस्येत्यस्यावत्सारः काश्यप ऋ०। प्राजापत्या पंक्तिश्छं०। सोमो देवता। जपे वि०। (२) ॐसाप्रथमा इत्यस्यावत्सारः काश्यपः ऋषिः। विराडार्षी त्रिष्टुप्छं०। इन्द्रो देवता। शुक्रग्रह-मन्थीग्रहहवने वि० ॥ १४ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रका जप यजमान करै [का०९। १०।१४] मन्त्रार्थ-(सोमदेव) हे सोम देवता ! (अच्छिन्नस्य) खण्डरहित निरन्तर (सुवीर्यस्य) कल्याण प्रभाववाले बली (ते) आपके प्रसादसे हम (रायः पोषस्य) धनपुष्टिके (ददितारः) देनेवाले (स्याम) हों अर्थात् निरन्तर कुलपरम्परासे दानशील रहैं १। विधि-(२) अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता यूपको दोनो ओर होकर पश्चिमाभिमुख होकर प्रथम अध्वर्यु इस मन्त्रसे शुक्रग्रह और प्रतिप्रस्थाता अन्य मंत्रसे मन्थीग्रह हवन करें [का० ९। ११। १] मन्त्रार्थ-(सा) वह (विश्ववारा) सम्पूर्ण ऋत्विग्जनोंसे वरणीय यह (संस्कृतिः) संस्कारक्रिया जिस कारण कि इन्द्रके निमित्त की जाती है इससे यह (प्रथमा) मुख्य है और जगत् उत्पत्तिका कारण होनेसे सोमका (वरुणः) वरुण (मित्रः) मित्र (सः) वह (अग्निः) अग्निदेवता (प्रथमः) मुख्य भृत्य है अथवा इस क्रियामें वरुणमित्र और अग्निही मुख्य है ॥ १४ ॥

विशेष-[४ अ० २० क०] में "सा देविदेवमच्छेहीन्द्राय सोमम्" इति। इस प्रमाणसे इन्द्रकेही निमित्त यह क्रिया की जाती है इन्द्रभी तेजवान् है शुक्रभी तेजवान् है इस कारण यहां शुक्रहीका अर्थ है ॥ १४ ॥

कण्डिका १५-मंत्र ३।

सप्प्रथमो बृहस्प्पतिँश्चिकित्वाँस्तस्म्मा ऽइन्द्राय सुतमाजुहोत स्वाहा ॥ तृम्पन्तु होत्रा मध्वो याः स्विष्टा याः सुप्प्रीताः सुहुता यत्स्वाहायाडग्नीत् १५ [४]

ऋष्यादि-(१) ॐ सप्रथम इत्यस्यावत्सारः काश्यप ऋषिः। विराडार्षी०। इन्द्रो दे०। प्रशास्तृचमसहवने वि०।(२) ॐतृम्पन्त्वित्यस्यावत्सार ऋ०। प्राजापत्या बृहती०। होत्रा दे०। होतृसमीपे प्रत्यङ्मुखोपवेशने वि०। (३) ॐ अयाडित्यस्यावत्सार ऋ०। दैवी बृहती०। लिंगोक्ता दे०। होतुः पश्चादुपसदने वि० ॥ १५ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकाका प्रथम भाग पूर्वोक्त मंत्रका ही अवशिष्ट है ऐसा

व्यवहृत होताहै । मंत्रार्थ-(सः) वह (चिकित्वान्) अनुपम चेतनावान् (बृहस्पतिः) महाबुद्धिसम्पन्न बृहस्पति (प्रथमः) मुख्यमंत्री है (तस्मै) उस (इन्द्राय) इन्द्रके उद्देशसे (सुतम्) यह अभिषुत सोमरस आहुत होता है (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार स्वीकृत हो इस प्रकार स्वाहाकार कर (आजुहोत) हवनकरो १ । विधि-(२) दूसरा मंत्र पाठ करै [का० ९ । ११ । ९] मंत्रार्थ-(होत्राः) छन्दोंके अभिमानी वे देवता (तृम्पन्तु) तृप्तहों (या) जो (मध्वः) मधु स्वादवाले सोमको (स्विष्टाः) इष्टवाले प्रेम करनेवाले (याः) जो (सुप्रीताः) अत्यन्त प्रसन्न हैं(यत्) जिस कारणसे (स्वाहा) स्वाहाकारद्वारा (सुहुताः) होमके निमित्त नियुक्त हुए हैं अर्थात् होताओंद्वारा स्वाहा उच्चारणपूर्वक जो सोम आहुत हुआ है उसके पानसे इष्ट देवता प्रसन्न हुए, और सुहुत जान परितृप्त हुए २। विधि-(३)तीसरे मंत्रसे अध्वर्यु होता को कर्मसमाप्ति जनावै [का० ९ । ११ । १०] मन्त्रार्थ-(अग्निः) शुक्रग्रह होम (अयाट्) सम्पन्न हुआ ३ ॥ १९ ॥

विशेष-यद्यपि बृहस्पतिके अर्थ सूर्यकेभी हैं परन्तु इस स्थलमें बृहस्पति ग्रहकाही अर्थ विदित होता है इन्द्रशब्दसे इसी प्रकार शुक्र ग्रहका ग्रहण है इन दोनों ग्रहोंका परस्पर राजा मंत्रीभाव अलंकारमात्र है, यही गाथा पुराणोंमें अलंकार रीतिसे वर्णन कीहै ॥ १९ ॥

कण्डिका १६-मन्त्र २ ।

अयंवेनश्चोदयत्पृश्निगर्भाज्ज्योतिर्जरायूरजसो विमाने ॥ इममपाᳪसंङ्गमेसूर्यस्यशिशुन्नविप्रा मतिभीरिहन्ति॥उपयामगृहीतोसिमर्कायत्वा ॥१६॥

ऋष्यादि-(१ :) ॐ अयंवेन इत्यस्यावत्सारः काश्यप ऋषिः । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं । सामो दे० । मन्थीग्रहग्रहणे वि० (२) ॐउपयामेत्यस्यावत्सारः काश्यप ऋ० । साम्नी गायत्री छं० । सोमो देवता । मन्थीग्रहग्रहणे वि० ॥ १६ ॥

विधि-(१-२) इस कण्डिकाके दो मन्त्रोंसे मन्थीनामक ग्रह ग्रहण करै [का० ९ । ६ । १२] मंत्रार्थ-(अयम्) यह (ज्योतिर्जरायुः) विद्युत्लक्षणवाली ज्योतिसे वेष्टित (वेनः) अनुपमकान्तिमान् चन्द्र (रजसः) जलके निर्माण करनेमें अर्थात् ग्रीष्मान्तमें (पृश्निगर्भाः) जलोंको अर्थात् द्युलोक और सूर्य में

स्थित जलोंको (अचोदयत् (प्रेरणकरता अर्थात् वरसाताहै) (विप्राः) बुद्धिमान्
ब्राह्मण (सूर्यस्य) सूर्यके (अपाᳪंसंगमे.) जलकी संगति समयमें (इमम्) इस
सोमको (शिशुंन) प्रियपुत्र वा बालककी समान (मतिभिः) बुद्धिपूर्वक वाणि-
योंसे (रिहन्ति) स्तुति करते हैं अथवा अनुपमकान्तिमान् चन्द्रदेवता जलवर्षण
करनेको उद्यत होतेहैं तब पृश्निगर्भ और ज्योतिर्जराय वृष्टि प्रेरण करते हैं
मेधावी ब्राह्मण उदक संगम विषयमें इसको सूर्यका प्रियपुत्र जानकर स्तुति
करते हैं ।

हे सप्तम ग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रद्वारा ग्रहण किये गये
(असि) हो (मर्काय) मर्क असुरके निमित्त(त्वा) तुमको स्थापन करताहूं॥ १६॥

प्रमाण-"वेनो वेनतेः कान्तिकर्मणः" इति यास्कः [निरु० १० । ३८] "रिह-
तिरर्चनकर्मसु पठितः" [निघं० ३ । १४ । ११] [ऋ० ८ । ७ । ७ ।]

विशेष- पृश्निशब्दसे सूर्य और द्युलोक सम्पूर्ण पार्थिव रस सूर्यकी किरणोंसे
आकृष्ट होकर द्युलोकमें मेघरूपसे वृद्धिको प्राप्त होता है, समयपर वृष्टि होती है
इस कारण इस स्थलमें गर्भका पिता सूर्य और माता द्युलोक है । बिजलीकोही
इस स्थलमें 'जरायुः' गर्भवेष्टन करनेवाला कहा है । इस वर्षाका निदान सूर्यही है
परन्तु चन्द्रमाकी भी सहायता है यह आशय प्रगट है । शुक्रपुत्र मर्क भी दैत्य
पुरोहितका नाम हैं प्रह्लादकी कथामें शण्डामर्कका वर्णन है यह इतिहासवेत्ताओंका
मत है । परन्तु पदार्थके विचारसे मर्क नाम वृष्टिकी प्रतिबधक चन्द्रज्योति है॥ १६ ॥

कण्डिका १७-मन्त्र ४ ।

मनोन येषुहवनेषुतिग्ममंविपुᳪंशच्च्यावनुथोद्द्रवन्ता॥ आयᳪंशग्र्मीभिस्तुविनृम्णोऽअस्याश्श्रीणीतादिशङ्गभस्तावेषतेयोनिᳪंप्प्रजाᳪंपाह्यपमृष्टो मर्कोदेवास्त्वामन्थिपाᳪंप्प्रणयन्त्वनाधृष्टासि १७

ऋष्यादि-(१) ॐ मनोनयेष्वित्यस्यावत्सारः काश्यप ऋषिः ।
आर्षी पंक्तिश्छं० । सोमो दे० । सक्तुभिः सह मन्थीग्रहसंमिश्रणे वि० ।
(२) ॐएषते इत्यस्यावत्सार ऋ० । याजुषी बृहती छं० । ग्रहो दे०।
अपमार्जने वि० (३) ॐ देवास्त्वेत्यस्यावत्सार ऋ० । याजुषी पंक्ति० ।
मन्थी दैवतम् । हविर्धानान्निष्क्रमणे वि० । (४) ॐ अनाधृष्टासीत्यस्य
याजुषी गायत्री० । अभिचारं दे० । मन्थ्यासादने वि० ॥ १७ ॥

विधि–(१) गृहीत मन्थी ग्रहको इस प्रथम मंत्रसे सक्तू (जोके सत्तू) ओंसे मिश्रित करै [का० ९ । ६ । १३] **मन्त्रार्थ**–(द्रवन्ताः) लघुहस्त क्षिप्रकारी (विपः) बुद्धिमान् [अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता] (शच्या) कर्मद्वारा (मनोनयेषु) मनके उत्साहपूर्वक (हवनेषु) जिन सोमरसके हवनोंमें (तिग्मम्) मनकी समान तीक्ष्ण उत्साहसे विशेष (वनुथः) मन लगाये रहे हैं वा व्याप्त रहे हैं (यः)जो (तुविनृम्णः) बहुत धन वा महादक्षिणावाला 'अध्वर्यु' ऋत्विक् (गभस्तौ) हाथोंमें स्थित (अस्य) इसको (शर्याभिः) अंगुली समूह द्वारा(आदिशम्) सबओरसे(अश्रीणीत) सक्तुओंसे मिश्रित करता है १ । **विधि** (२) दूसरे मंत्रसे ग्रह यथास्थानमें स्थापित करै। **मन्त्रार्थ**–हे मन्थिग्रह ! (ते) तेरा (एषः) यह (योनिः) स्थान है इस स्थानमें स्थित करते यजमानकी (प्रजाः) प्रजाकी (पाहि) रक्षा करो २ ॥ **विधि**–(३) तीसरे मंत्रसे प्रतिप्रस्थाता इस ग्रहको १२ कंडिकाके ४ मंत्रवत् अपमार्जन करै [का० ९ । १० । ५] **मंत्रार्थ**–(मर्कः) मर्क असुर (अपमृष्टः) अपमार्जित हुआ ३ । **विधि**–(४–५) चौथे और पांचवें मंत्रसे १२कण्डि०५मंत्रकी समान हविर्धानसे बाहर हो [का० ९ । १० । ६] **मंत्रार्थ**–हे मन्थीग्रह ! (मन्थिपाः देवाः) मन्थिग्रहके पान करनेवाले देवता (त्वा) तुझको (प्रणयन्तु) यज्ञस्थानमें प्राप्त करैं, हे वेदिश्रोणी ! (अनाधृष्टा) अनुपहिंसित (असि)हो ॥१७॥

प्रमाण–"शचीति कर्मनाम" [निघं० २ । १] "तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मण इति यास्कः" [निरु० १० । ६] "शर्याभिः अंगुलीभिः" [निघं० २ । ५ । ५] "तुवीति बहुनाम" [नि० ३ । १ । २] "नृम्णमिति धननाम" [निघं० २ । १० । २० ।] [ऋ० ८ । १ । ३६] ॥ १७ ॥

विशेष–प्रतिप्रस्थाताकी अपेक्षासे अध्वर्युकी दक्षिणा अधिक होती है, इसीकारण इस स्थलमें अध्वर्युको बहुधन कहा है ॥ १७ ॥

कण्डिका १८–मंत्र १ ।

सुप्प्रजाः प्प्रजाः प्प्रंजनयन्न्परीह्यभिरायस्प्पोषेणयर्जमानम् ॥ सुञ्जग्ग्मानो दिवा पृथिव्व्या मन्न्थी मन्न्थिशोचिषा निरस्त्तो मर्क्को मन्न्थिनोधिष्ठानमसि ॥ १८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ सुप्रजाः प्रजा इत्यस्यावत्सारः काश्यप ऋषिः । साम्न्यनुष्टुप्छं० । मन्थी दैवतम् । यूपदेशं प्रति गमने वि० । (२) ॐ सञ्जग्मान इत्यस्यावत्सारः काश्यप ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० ।

अरत्निसंधाने वि०। (३) ॐ निरस्त इत्यस्यावत्सारः काश्यप ऋ०। दैवी पंक्तिश्छं०। अभिचारिकं दैवतम् । अप्रोक्षितयूपशकलनिरसने वि०। (४) ॐ मन्थिन इत्यस्यावत्सारः काश्यप ऋषिः। प्राजापत्या गायत्री छं०। शकलं दैवतम्। आहवनीये प्रोक्षितयूपशकलप्रक्षेपणे वि० ॥ १८ ॥

विधि-(१) प्रतिप्रस्थाता यूपके उत्तर भागमें गमन करते यह मंत्र पाठ करै [का० । ९ । १० । ९] मंत्रार्थ-हे ग्रह ! (सुप्रजाः) तुम सुप्रजा हो यजमान-सम्बन्धिनी (प्रजाः) प्रजाको (प्रजनयन्) उत्पन्न करते हुए (रायस्पोषेण) धनकी पुष्टिके साथ (यजमानम्) यजमानके (अभि) सन्मुख (परीहि) आगमन कीजिये १। विधि-(२) अनन्तर प्रतिप्रस्थाता यूपके अपर भाग [पश्चात्] में गमन करके दूसरे मंत्रसे अरत्नि सन्धान करै [का०९।१०। १० ।] मं०-(मन्थी) यह मन्थीनाम ग्रह (मन्थिशोचिषा) अपनी दीप्तिसे (दिवा) द्युलोक (पृथिव्या) और भूलोकके सहित (सञ्जग्मानः) संगतिको प्राप्त होकर यूपकी पालना करता है २। विधि-(३) तीसरे मंत्रसे प्रतिप्रस्थाता यह अप्रोक्षित मार्जनी त्याग करै [का० ९ । १० । ११] मन्त्रार्थ-(मर्कः) मर्क (निरस्तः) निरस्त हुआ दूर हुआ। विधि-(४) प्रतिप्रस्थाता अपने ग्रह पात्रके आच्छादक इस प्रोक्षित यूपकाष्ठको चौथे मंत्रसे आहवनीयमें प्रदान करै [का० ९ । १० । १२] मन्त्रार्थ-हे यूपकाष्ठखण्ड ! तुम (मन्थिनः) मन्थीग्रहके (अधिष्ठानम्) अधिकरण (असि) हो. ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मन्त्र १।

ये दे॑वासो दि॒व्येका॑दश॒ स्थ पृ॑थि॒व्यामध्येका॑दश॒ स्थ ॥ अ॒प्सु॒क्षितो॑ महि॒नैका॑दश॒ स्थ ते दे॑वासो य॒ज्ञमि॒मं जु॑षध्वम् ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ये देवास इत्यस्य परुच्छेप ऋ०। त्रिष्टुप्छं०। विश्वेदेवा देवताः। आग्रयणग्रहग्रहणे वि० ॥ १९ ॥

विधि-(१) इस कण्डिका और बीसवीं कण्डिकाका पाठ करके दोनों धाराओंसे झरतेहुए आग्रयणनामक अष्टमग्रहको ग्रहण करै [का० ९ । ६ । १४] मंत्रार्थ-(देवासः) हे देवताओ ! (ये) जो तुम (महिना) अपनी महिमाके प्रभावसे (दिवि) द्युलोकमें (एकादश) ग्यारह (स्थ) हो तथा महाभाग्यहानस (पृथिव्याम्) पृथिवीके (अधि) ऊपर (एकादश स्थ) ग्यारह हो (अप्सु-

क्षितः) अन्तरिक्षमेंभी (एकादशस्थ) ग्यारहस्थित हो (देवासः) हे देवताओ ! (ते) उपरोक्त तीन प्रकारके तुम (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञको वा यजनीय आग्रयण ग्रहको (जुषध्वम्) सेवन करो ॥ १९ ॥

विशेष–"ग्यारहसे रुद्रका बोध होताहै" [ऋ० २ । २ । ४] ॥ १९ ॥

कण्डिका २०–मन्त्र १ ।

उपयामगृहीतोस्याग्रयणोसिस्वाग्रयणः ॥ पाहियज्ञम्पाहियज्ञपतिंविष्णुस्त्वामिन्द्रियेणपातुविष्णुन्त्वम्पाह्यभिसवनानिपाहि ॥ २० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐउपयामेत्यस्य परुच्छेप ऋषिः । निच्यृदार्षी जगती छं० । आग्रयणो देव० । आग्रयणग्रहग्रहणे वि० ॥ २० ॥

विधि–(१) आग्रयणग्रहग्रहणमें विनियोग है । मंत्रार्थ–हे ग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयाम पात्रद्वारा गृहीत (असि) हो (आग्रयणः) आग्रयण नामवाले (स्वाग्रयणः) श्रेष्ठताके प्राप्त करानेवाले (असि) हो (यज्ञम्) इस यज्ञकी (पाहि) रक्षा करो (यज्ञपतिम्) यज्ञपति यजमानकी (पाहि) रक्षा करो (विष्णुः) यज्ञके अधिपति विष्णुदेव (इन्द्रियेण) अपनी सामर्थ्यसे (त्वाम्) तुझको (पातु) रक्षा करै (त्वम्) तूभी (विष्णुम्) यज्ञदेवको (पाहि) रक्षा कर (सवनानि) प्रातरादि तीनसवनको (अभि) सब ओरसे (पाहि) रक्षा कर ॥ २० ॥

कण्डिका २१–मन्त्र ३ ।

सोमः पवतेसोमः पवतेस्म्मैब्रह्मणेस्म्मैक्षत्त्रायास्म्मैसुन्वतेयजमानायपवतऽइषऽऊर्ज्जेपवतेद्भ्यऽओषधीभ्यः पवतेद्यावापृथिवीभ्याम्पवतेसुभूतायपवतेविश्श्वेभ्यस्त्वादेवेभ्यऽएषतेयोनिर्विश्श्वेभ्यस्त्वादेवेभ्यः ॥ २१ ॥ [३]

ऋष्यादि–(१) ॐसोमं इत्यस्य परुच्छेप ऋ० । भुरिग्ब्राह्मी पंक्तिश्छं० । विश्वेदेवा देवता । हिंकारपूर्वकं त्रिर्जपे वि० । (२) ॐविश्वेभ्य इत्यस्य परुच्छेप ऋ० । दैवी जगती छं० । ग्रहो दे० । सकृज्जपे वि० । (३) ॐएषत इत्यस्य परुच्छेप ऋ० । याजुषी जगती छं० । यथास्थाने पात्रासादने वि० ॥ २१ ॥

विधि-(१) अनन्तर तीनवार (हिम्) शब्द उच्चारण कर यह मंत्र पाठ करै [का० ९ । ६ । १९] मन्त्रार्थ-(सोमः) यह सोम (अस्मै) इस (ब्रह्मणे) ब्राह्मण जातिकी प्रीतिके निमित्त (पवते) ग्रहपात्रमें क्षरित होता है (सोमः) सोम (अस्मै) इस (क्षत्राय) क्षत्र जातिकी तुष्टिके निमित्त (पवते) ग्रह पात्रमें क्षरित होता है (अस्मै) इस (सुन्वते) सोमाभिषव करनेवाले (यजमानाय) यजमानके निमित्त (पवते) ग्रहपात्रमें क्षरित होता है (इषे) अन्नकी वृद्धिके निमित्त (ऊर्ज्जे) क्षीरादि रसके निमित्त (पवते) ग्रहपात्रमें क्षरित होता है(अद्भ्यः) अच्छी वर्षाके निमित्त (ओषधीभ्यः) ओषधियोंसे अर्थात् व्रीहिधान्य आदिकी वृद्धिके निमित्त (पवते) क्षरित होता है (द्यावापृथिवीभ्याम्) दोनों लोककी सन्तुष्टताके निमित्त (पवते) क्षरित होता है (सुभूताय) लोकत्रय और समस्त चराचरकी सन्तुष्टताके निमित्त (पवते) क्षरित होता है समस्तकेही आनन्दके निमित्त यह सोमग्रह पात्रमें क्षरित होता है १ । विधि-(२) वैश्वदेवग्रह ग्रहण करै । मंत्रार्थ-हे आग्रयण ग्रह ! (विश्वेभ्यः) सम्पूर्ण (देवेभ्यः) देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं । विधि-(३) अगले मंत्रसे यथास्थानमें पात्र स्थापन करै । मन्त्रार्थ-हे ग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (विश्वेभ्यः) सम्पूर्ण (देवेभ्यः) देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझे स्थापन करता हूं ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मंत्र ३ ।

उपयामगृहीतोसीन्द्रायत्त्वाबृहद्वतेवयस्वतऽउक्थायुङ्गृह्णामि ॥ यत्तऽइन्द्रबृहद्वयस्तस्मैत्त्वाविष्णवेत्त्वैषतेयोनिरुक्थेभ्यस्त्वादेवेभ्यस्त्वादेवाव्यं यज्ञस्यायुषेगृह्णामिमित्रावरुणाभ्यान्त्वा २२॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उपयामेत्यस्य परुच्छेप ऋषिः । आर्षी पंक्तिश्छं० । लिंगोक्ता दे० । उक्थग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ एषत इत्यस्य परुच्छेप ऋ० दैवी जगती छं० । लिंगोक्ता दे० । उक्थपात्रे त्रेधाविभक्तसोमासादने वि० । (३) ॐ देवेभ्य इत्यस्य परुच्छेप ऋ० । आर्षी गायत्री छं० । लिंगोक्ता दे० । उक्थपात्रे त्रेधाविभक्तोक्थसोमग्रहणे वि० ॥ २२ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे उक्थनाम नवम ग्रह ग्रहण करै [का० ९ । ६ । २०] मन्त्रार्थ-हे सोम ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयाम पात्रद्वारा गृहीत (असि) हो

हे उक्थग्रह ! (उक्थाव्यम्) मित्रावरुण ब्राह्मणाच्छंसि वा उक्थके साहित्य देवताओंका तृप्तिकारक जानकर (त्वा) तुमको (बृहद्वते) बृहत्साम [सामवेदका आ० गा० १ । २ । १२] मंत्रके प्रिय (वयस्वते) सोमरूप [चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेय] अन्नवाले अथवा युवावस्थायुक्त (इन्द्राय) इन्द्र देवताकी प्रीतिके निमित्त (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं (इन्द्र) हे परम भाग्यवान् इन्द्र ! (यत्) जो (ते) तुम्हारा (बृहत्) महान् (वयः) सोमरूप अन्न है (तस्मै) उसके पानके निमित्त (त्वा) तुम्हारी प्रार्थना करते हैं [फिर सोमके प्रति] हे सोम ! (विष्णवे) यज्ञके अधिष्ठात्री देवता विष्णुकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझको ग्रहण करताहूं १ । विधि-(२) अगले मंत्रसे आसादन करै । मंत्रार्थ-हे उक्थ ग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (उक्थेभ्यः) उक्थप्रियदेवताओंकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करताहूं २ । विधि-(३) प्रतिप्रस्थाता उक्थ स्थालीमें स्थित सोमके तीन अंशकरके इस तीसरे मंत्रसे एकही समय अथवा अग्रिम कण्डिकाके मंत्रसे भिन्न २ रूप अंशसे मित्रावरुण, इन्द्र और इन्द्राग्नि इन तीन देवताके निमित्त ग्रहण करै [का० ९ । १४ । ८] मंत्रार्थ-हे सोम ! (देवाव्यम्) मित्रावरुणादिदेवताओंके प्रीतिकारक जानकर (देवेभ्यः) देवताओंकी संतुष्टिके अर्थ (त्वा) तुझको ग्रहण करताहूं तथा (यज्ञस्य) यज्ञकी समाप्तिके (आयुष) फलपर्यन्त अथवा यजमानकी "आयुषे" आयु प्राप्तिके निमित्त (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं ।

विशेष-गीतिशून्य मंत्रको शस्त्र कहते हैं उसीको उक्थ कहतेहैं इन्ही गृह्यमाण ग्रहोंके तीन अंश करके प्रशास्ता वा मैत्रावरुण ब्राह्मणशंसी और अच्छावाक यह तीनों ऋत्विक् मंत्रपाठपूर्वक मित्रावरुणादि देवत्रयको भाग देते हैं इस कारण यह उक्थ देवताओंकी तृप्ति करनेवाला है ॥ २२ ॥

कण्डिका २३-मन्त्र ६ ।

मित्रावरुणाभ्यान्त्वादेवाव्यंयज्ञस्यायुषेगृह्णामीन्द्रायत्वादेवाव्यंयज्ञस्यायुषेगृह्णामीन्द्राग्निभ्यान्त्वादेवाव्यंयज्ञस्यायुषेगृह्णामीन्द्रावरुणाभ्यान्त्वादेवाव्यंयज्ञस्यायुषेगृह्णामीन्द्राबृहस्पतिभ्यान्त्वादेवाव्यंयज्ञस्यायुषेगृह्णामीन्द्राविष्णुभ्यान्त्वादेवाव्यंयज्ञस्यायुषेगृह्णामि २३ [२]

ऋष्यादि-(१) ॐ मित्रावरुणाभ्यामित्यस्य परुच्छेप ऋषिः।आर्षी गायत्री छं० । लिंगोक्ता दे० । उक्थपात्रउक्थसोमतृतीयांशासादने वि० । (२)ॐ इन्द्रायेत्यस्य परुच्छेप ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । लिङ्गोक्ता दे०। उक्थपात्रे उक्थसोमद्वितीयतृतीयांशग्रहणे वि० । (३) ॐ इन्द्राग्निभ्या-मित्यस्य परुच्छेप ऋ० । प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । उक्थपात्रे उक्थसोमतृतीय-तृतीयांशग्रहणे वि० । (४) ॐ इन्द्रावरुणाभ्यामित्यस्य परुच्छेप ऋ०। आर्षी गायत्री छं० । उक्थग्रहणे वि० । (५) ॐ इन्द्राबृहस्पतिभ्या-मित्यस्य परुच्छेप ऋ० । निचृत्प्राजापत्या बृहती छं० । उक्थसोमवि-ग्रहणे वि० । (६) ॐ इन्द्राविष्णुभ्यामित्यस्य परुच्छे० ऋ० । भुरिक्साम्न्यनुष्टुप्छंदः । लिङ्गोक्ता देवता । उक्थसोमविग्रहणे वि० ॥ २३ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु पहले किये तीन अंशोंमेंसे एक अंश ग्रहणकर प्रथम प्रशास्ताके समीप समर्पण करै [का० ९ । १४ । ९ ।] मंत्रार्थ-(देवाव्यम्) देवगणोंका तृप्तिकारक जानकर (मित्रावरुणाभ्याम्) मित्रावरुण देवताकी प्रीतिके निमित्त तथा (यज्ञस्य) यज्ञकी (आयुषे) निर्विघ्नसमाप्तिके निमित्त (त्वा) तुझ अंशको ग्रहण करता हूं १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे दूसरा अंश ब्राह्मणाच्छंसी के समीपमें समर्पण करै [का० ९ । ४ । १९] मन्त्रार्थ-(देवाव्यम्) देवगणोंकी तृप्तिकारक जानकर (इन्द्राय) इन्द्रदेवताकी प्रीतिके निमित्त (यज्ञस्य आयुषे) यज्ञसमाप्तिके निमित्त (त्वा) तुझको ग्रहण करताहू २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे तीसरा अंश अच्छावाकके समीप समर्पण करै । मंत्रार्थ-(देवाव्यम्) देवसमूहोंका तृप्तिकारक जान (इन्द्राग्निभ्याम्) इन्द्र अग्नि देवताके निमित्त तथा (यज्ञस्यायुषे) यज्ञकी समाप्ति वा वृद्धिके निमित्त (त्वा) तुझको ग्रहण करताहूं ३ । विधि-(४-५-६) उक्थादि सोमसंस्थासे तीसरे सवनमें पूर्वमें कहे तीन मंत्रोंके परिवर्तनमें यह चौथा पांचवां और छठा मंत्र व्यवहार किया जायगा उक्थ ग्रहण मत्र [का० १० । ७ । ११] मन्त्रार्थ-(देवाव्यम्) देवगणोंका तृप्तिकारक जानकर(इन्द्रावरुणाभ्याम्)इन्द्रवरुण देवताकी प्रीतिके निमित्त तथा(यज्ञस्य आयुषे) यज्ञकी निर्विघ्न समाप्तिके निमित्त (त्वा) तुझ प्रथम अंशको ग्रहण करताहूं । (देवाव्यम्) देवगणोंका तृप्तिकारक जानकर (इन्द्राबृहस्पतिभ्याम्) इन्द्र और बृहस्पति देवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं (यज्ञस्य) यज्ञकी (आयुषे) निर्विघ्न समाप्तिके निमित्त ग्रहण करताहूं ५ । (देवाव्यम्) देवताओंका तृप्तिकारक जानकर (इन्द्राविष्णुभ्याम्) इन्द्र और विष्णु देवताकी

प्रीतिके निमित्त (यज्ञस्य) यज्ञके (आयुषे) निर्विघ्न समाप्तिके निमित्त (त्वा) तुझ तीसरे अंशको ग्रहण करताहूं ६ ॥ २३ ॥

विशेष—सप्त सोमसंस्था होती है अर्थात् सोमयाग सात प्रकारका होता है अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, अतिरात्र, वाजपेय, और आप्तोर्याम, इनमें अग्निष्टोमही सर्व प्रधान है औरोंमें किसी २ स्थलमें कुछ २ भिन्नता प्रतीत होती है इस कारण अग्निष्टोम प्रकृतियाग और एवं दूसरे दोको विकृति यज्ञ कहते हैं इस स्थलमें उक्थादि कहकर पांच प्रकारके सोमयागका ग्रहण है ॥२३॥

कण्डिका २४—मन्त्र १।

मूर्द्धानन्दिवोऽअरतिम्पृथिव्यावैश्वानरमृतऽआ जातमग्निम् ॥ कविँ सम्म्राजमतिथिञ्जनाना मासन्नापात्रञ्जनयन्तदेवाः ॥ २४ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ मूर्द्धानमित्यस्य भरद्वाज ऋषिः। आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः। वैश्वानरो देव०। वैश्वानरग्रहग्रहणे वि० ॥ २४ ॥

विधि—(२) ध्रुवनामक दशम ग्रह ग्रहण करे [का० ९। ६। २१] मन्त्रार्थ—(देवाः) देवगण (दिवः) द्युलोकके (मूर्द्धानम्) मस्तकस्वरूप सूर्य रूपसे प्रकाशित (पृथिव्याः) पृथ्वीके अथवा अन्तरिक्ष "पृथिवीत्यन्तरिक्षनाम" [निघं० १। ३। ३] के (अरतिम्) सीमा वा पूरकस्वरूप [पृथिवीमें दाह प्रकाश पाक प्रकाश करकेभी रति न करते हुए आकाशमें यथाकालमें वर्षाकर प्राणियोंको पोषण करतेहैं] (वैश्वानरम्) जाठराग्नि रूपसे समस्त नरलोकके हितकारी (ऋते) यज्ञ वा सत्यमें (आजातम्) अरणीद्वयसे उत्पन्न अविचल तथा दीप्तिमान् (कविम्) क्रान्तदर्शी भक्तोंके सन्मुख होनेवाले (सम्राजम्) नक्षत्रमण्डलीमें सम्राट् वा सम्यक् दीप्तिमान् ऐश्वर्यसे युक्त (जनानाम्) यजमानादि समस्त जनोंके (अतिथिम्) अतिथिवत् हविसे आदरणीय (अग्निम्) इस ब्रह्माग्निको (आपात्रम्) मुख्य पात्र चमस करके (अजनयन्त) प्रगट करते हुए ॥ २४ ॥

प्रमाण—"चमसेन ह वा एतेन भूतेन देवा भक्षयन्ति" इति श्रुतेः [श० १। ४। २। १४] देवताओंका पानपात्र चमस कहाताहै यही उनका प्रिय है इस मंत्रसे ब्रह्मज्ञानका सम्बन्धभी है सर्वत्र उसका ध्यान करनेसे नियमादिके सेवनसे बुद्धि प्रगट होतीहै [ऋ० ४। ५। ९] ॥ २४ ॥

कण्डिका—२५ मंत्र ४।

उपयामगृहीतोसि ध्रुवोसिध्रुवक्षितिर्ध्रुवाणान्ध्रुव तमोच्युतानामच्युतक्षित्तमऽएषतेयोनिर्वैश्वानरा

यँत्त्वा ॥ ध्रुवन्ध्रुवेणमनँसाव्वाचासोमुमवँनयामि ॥ अथांनुऽइन्द्रुऽइद्विशोऽसपत्क्काःसमँनसुस्करँत् ॥ २५ ॥ [२]

ऋष्यादि-(१) ॐउपयामेत्यस्य भरद्वाज ऋ० । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छन्दः। ध्रुवो देव० । ध्रुवग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ एषत इत्यस्य भरद्वाज ऋ० । याजुषी त्रिष्टुप्छं० । ध्रुवासादने वि० । (३) ॐध्रुवमित्यस्य भरद्वाज ऋ० । निच्यृत्साम्नी बृह० । होतृचमसे सोमासिंचने वि० । (४) ॐ अथान इत्यस्य भरद्वा० ऋ० निच्यृदार्षीगायत्री छं० । इन्द्रो देवता । प्रार्थने वि० ॥ २५ ॥

विधि-(१) ध्रुवग्रह ग्रहण करै । मन्त्रार्थ-हे सोम ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (ध्रुवक्षितः) स्थिर निवासवाले (ध्रुवाणाम्) समस्त गृह नक्षत्र मण्डलकी अपेक्षा (ध्रुवतमः) अत्यन्त अचल तथा (अच्युतानाम्) च्युतिरहितोंके मध्यमें भी (अच्युतक्षित्तमः) अत्यन्त अच्युत वा च्युतिरहित पात्रमें निवास करनेवाले (ध्रुवः) ध्रुवनामसे प्रसिद्ध (असि) हो ध्रुवदेवके प्रीतिके निमित्त ग्रहण करताहूं १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे आसादन करै । मन्त्रार्थ-हे ध्रुवग्रह ! (एषः) यह (ते) तेरा (योनिः) स्थान है (वैश्वानराय) समस्त नरलोकके हितकारी देवके प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करताहूं २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे ध्रुवपात्रमें स्थित समस्त सोम होतृचमसमें सिंचन करै । मंत्रार्थ-(ध्रुवेण) स्थिर (मनसा) मन और (वाचा) वाणसि (ध्रुवम्) इस ध्रुवग्रहमें स्थित (सोमम्) सोमको (अवनयामि) होतृचमस पात्रान्तरमें सिंचन करताहूं ३ । विधि-(४) इन्द्रकी प्रार्थना करै । मंत्रार्थ-(अथआ) इसके अनन्तर (इन्द्रः) इन्द्रदेवता (इत्) ही (नः) हमारी (विशः) प्रजाको (असपत्नाः) शत्रुशून्य (समनसः) स्थिरप्रतिज्ञ वा सुन्दर मनवाली (करत्) करै ॥ २५ ॥

कण्डिका २६-मन्त्र २ ।

यस्तेंद्द्रप्सस्कन्दंतियस्तेऽअँᳫशुर्ग्रावंच्युतोधिषणंयोरुपस्त्थांत् ॥ अद्ध्वर्य्योंर्व्वापरिंवायःपुवित्त्रात्तन्तेंजुहोमिमनंसाव्वषंट्कृतᳫंस्वाहांदेवानांमुत्त्क्रमंणमसि ॥ २६ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ यस्त इत्यस्य देवश्रवा ऋ० । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छंदः । सोमो देवता । आज्यहोमे वि० । (२) ॐ देवानामित्यस्य आसुरी जगती छं० । चत्वालो देवता । चत्वाले तृणप्रक्षेपणे वि० ॥ २६ ॥

विधि-(१) सोमाभिषवके समय और ग्रहपात्रमें ग्रहण करते समय अवश्यही सोमका अंश भूमिमें पतित होताहै इस कण्डिकाका प्रथम मंत्र पाठकर घृतका होम कर यह प्रत्यवाय दूर करे [का० ९ । ६ । २८] मंत्रार्थ-हे सोम ! (ते) तुम्हारा (यः) जो (द्रप्सः) किंचित् रस (स्कन्दति) पात्रमें करते समय भूमिमें पतित होताहै (यः) और जो (ते) तुम्हारा (अंशुः) खण्ड (ग्रावच्युतः) अभिषवकालमें पत्थर द्वारा कण्डन करते करते ग्रावच्युत होकर इधर उधर उडताहै और जो तुम्हारा अंश रस (धिषणयोः) अधिषवण फलकके (उपस्थात्) मध्यसे गिरता है (वा) या (अध्वर्योः) अध्वर्युके व्यवहार समयमें जो कुछ नष्ट हुआहै (वा यः) या जो (पवित्रात्) पवित्रासे सकलरसबिन्दु (परि) भूमिमें पतित हुई हैं हे सोम ! (तम्) तुम्हारे यह सब अंश (मनसा) मनसे ग्रहण कर (वषट्कृतम्) वषट्कारपूर्वक (स्वाहा) स्वाहाकारपूर्वक (जुहोमि) आहुतिप्रदान करताहूं १ विधि-(२) अध्वर्युने वेदीके सहित जो दो तृण ग्रहण किये हैं उनमेंसे एक इस दूसरे मंत्रसे चत्वालमें डाले [का० ९ । ६ । ३२]मंत्रार्थ-हे चत्वाल ! तुम (देवानाम्) देवताओंके (उत्क्रमणम्) स्वर्गगमनके उत्क्रमण [सोपान] हो. "अतोहि देवाः स्वर्गमुपादक्रामन्" इति श्रुतेः[श० ४ । २ । ५।५] [ऋ० ७ । ६ । २५] २ ॥ २६ ॥

काण्डिका २७-मंत्र ७।

प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व व्यानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वोदानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व वाचे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व क्रतूदक्षाभ्यां मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व श्रोत्राय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व चक्षुर्भ्यां मे वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम् ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्राणायेत्यस्य देवश्रवा ऋषिः । आसुर्यनुष्टुप्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । ग्रहावेक्षणे वि० । (२) ॐ व्यानायेत्यस्य देवश्रवा ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । ग्रहावेक्षणे वि० ।(३)ॐ उदानायेत्यस्य देवश्रवा ऋषिः । आसुर्युष्णिक्छं० । लिंगोक्ता दे० । ग्रहावेक्षणे

वि० । (४) ॐ वाचेम इत्यस्य देवश्रवा ऋ० । साम्नी गायत्री छं० । लिंगोक्ता दे० । ग्रहावेक्षणे वि० । (५) ॐ क्रतूदक्षाभ्यामित्यस्य देवश्रवा ऋ० । आसुरी गायत्री छन्दः । लिंगोक्ता देवता । ग्रहावेक्षणे वि० । (६) ॐ श्रोत्रायेत्यस्य देवश्रवा ऋषिः । आसुर्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । ग्रहावेक्षणे वि० । (७) ॐ चक्षुर्भ्यामित्यस्य देवश्रवा ऋषिः। आसुर्युष्णिक्छं० लिंगोक्ता दे० । ग्रहावेक्षणे वि० ॥ २७ ॥

विधि–(१–२–३–४–५–६–७) अनन्तर यजमान सब गृहीत ग्रहोंको यथा क्रमसे एक एकको अवकाश मंत्रसे निरीक्षण करै[इस कण्डिका और अगली कण्डिकाके मंत्र अवकाश कहलाते हैं][का०९।७।९।] मंत्रार्थ–यह ग्रह,यज्ञके प्राण हैं. इस कारण प्राणरूपसे स्तुतिकरते हैं–हे उपांशु ग्रह ! जिस कारणसे कि तुम स्वभावसे (वर्चोदाः) तेजके देनेवाले हो इस कारण (मे) मेरे (प्राणाय) हृदयमें स्थित प्राणवायुमें (वर्चसे) तेज बढानेके निमित्त (पवस्व) प्रवृत्त हो १ । हे उपांशु ! सवन ! तुम स्वभावसेही (वर्चोदाः) कान्ति देनेवाले हो (मे) मेरे (व्यानाय) व्यानवायुसम्बन्धी (वर्चसे) कान्ति बढानेके निमित्त (पवस्व) प्रवृत्त हो२ । हे अन्तर्याम ग्रह ! जिस कारणसे कि तुम (वर्चोदाः) कान्ति देनेवाले हो (मे) मेरी (उदानाय) उदानवायुसम्बन्धी (वर्चसे) कान्ति बढानेके निमित्त (पवस्व) प्रवृत्त हो ३ । हे इन्द्रवायव ग्रह ! तुम स्वभावसे ही (वर्चोदाः) कान्तिप्रद हो (मे) मेरी (वाचे) वाक्यसम्बन्धी (वर्चसे) कान्ति बढानेके निमित्त (पवस्व) प्रवृत्त हो ४ । हे मैत्रावरुण ग्रह ! तुम स्वभावसे (वर्चोदाः) कान्ति देनेवाले हो (मे) मेरे (क्रतूदक्षाभ्याम्) कामना और समृद्धि तथा कार्य और निपुणता सम्बन्धी (वर्चसे) कान्ति बढानेके निमित्त (पवस्व) प्रवृत्त हो ५ । हे आश्विन ग्रह ! तुम स्वभावसेही (वर्चोदाः) कान्तिदेनेवाले हो (मे) मेरे (श्रोत्राय) श्रोत्रेन्द्रियकी (वर्चसे) कान्तिदानके निमित्त (पवस्व) प्रवृत्त हो ६ । हे शुक्र ! और मन्थिग्रह ! जिस कारण कि तुम (वर्चोदसौ) स्वभावसेही कान्तिप्रद हो (मे) मेरी (चक्षुर्भ्याम्) नेत्रसम्बन्धी (वर्चसे) कान्तिबढानेके निमित्त (पवेथाम्) प्रवृत्त हो ७ ॥ २७ ॥

कण्डिका २८–मंत्र ४ ।

आ॒त्मने॑मे वर्चो॒दा वर्च॑से पवस्वौज॑से मे वर्चो॒दा व॒र्च॑से पवस्वायु॑षे मे वर्चो॒दा वर्च॑से पवस्व वि॒श्वाभ्यो॑ मे प्र॒जाभ्यो॑ वर्चो॒दसौ॒ वर्च॑से पवेथाम् ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आत्मन इत्यस्य देवश्रवा ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । ग्रहावेक्षणे वि० । (२) ॐ ओजसेम इत्यस्य देवश्रवा ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । ग्रहावेक्षणे वि० । (३) ॐ आयुषेम इत्यस्य देवश्रवा० ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । ग्रहावेक्षणे वि० । (४) ॐ विश्वाभ्य इत्यस्य देवश्र० ऋ० । भुरिक्साम्न्युष्णिक्छं० । लिंगोक्ता दे० । ग्रहावेक्षणे वि० ॥ २८ ॥

मंत्रार्थ-हे आग्रयण ग्रह ! (वर्चोदाः) तुम स्वभावसे ही कान्तिप्रद हो (मे) मेरी (आत्मने) आत्मसम्बन्धी (वर्चसे) कान्ति देनेको (पवस्व) प्रवृत्त हो १ । हे उक्थग्रह ! (वर्चोदाः) तुम स्वभावसेही कान्तिप्रद हो (मे) मेरे (ओजसे) शरीरादिबलसम्बन्धी (वर्चसे) कान्तिवृद्धि करनेको (पवस्व) प्रवृत्त हो २ । हे ध्रुवग्रह ! (वर्चोदाः) स्वभावसे कान्ति देनेवाले हो (मे) मेरी (आयुषे) आयुसम्बन्धी (वर्चसे) कान्तिवृद्धि करनेको (पवस्व) प्रवृत्त हो ३ । हे पूतभृत ! आहवनीय ग्रह ! तुम स्वभावसे (वर्चोदसौ) कान्तिप्रद हो (मे)मेरी (विश्वाभ्यः) सम्पूर्ण (प्रजाभ्यः) प्रजावर्गको (वर्चसे) कान्ति देनेको (पवस्व) प्रवृत्त हो ॥ २८ ॥

कण्डिका २९–मंत्र २ ।

कोऽसि कतुमोऽसि कस्याऽसि को नामाऽसि ॥ यस्य ते नामामन्महि यन्त्वा सोमेनातीतृपाम भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳩ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ॥ २९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ कोसीत्यस्य देवश्रवा ऋ० । आर्षी पंक्तिश्छन्दः । प्रजापतिर्देवता । द्रोणकलशावेक्षणे वि० । ॐ भूर्भुवः स्वरित्यस्य देवश्रवा ऋ० । भुरिक्साम्नी पंक्तिश्छन्दः । प्रजापतिर्देवता । जपे विनियोगः ॥ २९ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे द्रोणकलश निरीक्षण करै [का० ९ । ७ । १४]
मन्त्रार्थ-हे द्रोणकलश ! तुम (कः) कौन प्रजापति (असि) हो (कतमः) कौनसे अतिशय वा बहुतोंके मध्यमें कौन (असि) हो (कस्य) किस प्रजापतिके (असि) हो (कः) क्या (नामासि) नाम है (यस्य) जिस (ते) तेरे (नाम) नामको (अमन्महि) हम जाने अर्थात् हम तुम्हारा नाम सदा अन्तःकरणमें जागरूक रक्खैं (यम्) जिस (त्वा) तुमको जानकर (सोमेन) सोमरससे (अती-

तृपाम) तृप्तकर चुकेहैं अर्थात् तुमको सोमरससे पूर्णकर अतिशय तृप्तकर चुकेहैं क्या तुम वही हो तुम हमको विदित नामकर कामनासे तृप्तकरो १। विधि-(२) दूसरे मंत्रसे कलशके ऊपर जपकरै [का० ९ । ७ । १९] (भूर्भुवःस्वः) हे अग्नि ! वायु ! और सूर्य ! आपके प्रसादसे मैं (प्रजाभिः) प्रजाओंसे(सुप्रजाः)अच्छी प्रजावाला (स्याम) हों अर्थात् सुप्रजावान् होकर विख्यात हूं (वीरैः) वीरतायुक्त पुत्रपौत्रादि लाभ करके (सुवीरः) सुपुत्रवान् विख्यात हूं (पोषैः) उत्कृष्ट धनसंपत्तिसे प्रसिद्ध होकर (सुपोषः) अच्छीसम्पत्तिवाला विख्यात हूं ॥ २९ ॥

विशेष-यह प्रश्नरूप कण्डिका है वेद आज्ञा देता है कि जो कोई पुरुष मिलै यदि उससे साक्षात् करना हो तो सभ्यतापूर्वक आप कौन हैं कहांके हैं क्या कुल है कहांसे आये हैं यहां रहोगे इत्यादि नम्र वचनसे पूँछना चाहिये यज्ञप्रकरणमें द्रोणकलशकी स्तुति है ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०-मन्त्र १३ ।

उपयामगृहीतोसि मधवे त्वोपयामगृहीतोसि माधवाय त्वोपयामगृहीतोसि शुक्राय त्वोपयामगृहीतोसि शुचये त्वोपयामगृहीतोसि नभसे त्वोपयामगृहीतोसि नभस्याय त्वोपयामगृहीतोसीषे त्वोपयामगृहीतोस्यूर्जे त्वोपयामगृहीतोसि सहसे त्वोपयामगृहीतोसि सहस्याय त्वोपयामगृहीतोसि तपसे त्वोपयामगृहीतोसि तपस्याय त्वोपयामगृहीतोस्यꣳहसस्पतये त्वा ॥ ३० ॥ [१]

ऋष्यादि-(१-२-३-४-५) ॐ उपयामेत्यस्य प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चममन्त्रपञ्चकस्य देवश्रवा ऋषिः । साम्नी गायत्री छं । ऋतवो देवता । उपयामपात्रे ऋतुग्रहग्रहणे वि० । (६) ॐ उपयामेत्यस्य देवश्रवा ऋषिः । आसुर्यनुष्टुप्छं० । ऋतवो देवता । उपयाम ऋतुग्रहग्रहणे वि० । (७-८) ॐ उपयामेत्यस्य सप्तमाष्टमेतिमन्त्रद्वयस्य देवश्रवा ऋषिः । याजुषी पंक्तिश्छं० । ऋतवो देवताः । उपयामे ऋतुग्रहग्रहणे वि० । (९) ॐ उपयामेत्यस्य देवश्रवा ऋ० । साम्नी गायत्री छन्दः । ऋतवो देवताः । ऋतुग्रहग्रहणे वि० । (१०) ॐ उपयामेत्यस्य

देवश्र० । आसुर्यनुष्टुप्छन्दः । ऋतवो देवताः । ऋतुग्रहग्रहणे वि० ।(११) ॐ उपयामेत्यस्य देवश्र० । साम्नी गायत्री छं० । ऋतुर्देवता । ऋतुग्रहग्रहणे वि० । (१२) उपयामेत्यस्य दे० ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । ऋतुर्देवता । ऋतुग्रहग्रहणे वि० । (१३) ॐ उपयामेत्यस्य दे० ऋ० । आसुर्युष्णिक्छं० । ऋतुर्दे० । ऋतुग्रहग्रहणे वि० ॥ ३० ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे अध्वर्यु उपयामपात्रमें ग्रह ग्रहण करै [का० ९ । १३ । १४ । १-४] मंत्रार्थ-हे प्रथम ऋतुग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत हुए (असि) हो (मधवे) मधुदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं [मधुनाम चैत्रमास इसी मासमें पुष्पादिसे अतिरिक्त मधु उत्पन्न होताहै चैत्र वैशाख वसन्तऋतु है] विधि-(२) प्रतिप्रस्थाता दूसरे मंत्रसे उपयामपात्रमें दूसरा ग्रह ग्रहण करै । मंत्रार्थ-हे द्वितीय ऋतुग्रह ! (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें ग्रहीत हुए (असि) हो (माधवाय) वैशाखकी सन्तुष्टिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे अध्वर्यु तीसरा ग्रह ग्रहण करै । मंत्रार्थ-हे तृतीय ऋतुग्रह ! (उपयामगृहीतः) तुम उपयामपात्रमें गृहीत हुए (असि) हो (शुक्राय) ज्येष्ठके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं ३। विधि-(४) प्रतिप्रस्थाता चौथे मंत्रसे चौथा ग्रह ग्रहण करै । मन्त्रार्थ-हे ऋतुग्रह ! (उपयामगृहीतः) तुम उपयामपात्रमें गृहीत हो (शुचये) आषाढ मासके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं [शोषण अर्थमें होनेमें यह दोनो मास ग्रीष्म हैं] ४। विधि-(५) अध्वर्यु पंचम मंत्रसे पंचम ग्रह ग्रहण करै। मन्त्रार्थ-हे पंचम ऋतुग्रह तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (नभसे) श्रावणमासके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहणकरताहूं ५ । विधि-(६) प्रतिप्रस्थाता छठे मंत्रसे छठा ग्रह ग्रहण करै । मन्त्रार्थ-हे षष्ठ ऋतुग्रह! तुम(उपयामगृहीतः)उपयामपात्रमें गृहीत (असि)हो (नभस्याय) भाद्रमासके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं [जिससमय सूर्य न भाते अर्थात् प्रकाशित न होकर मेघोंसे ढका रहता है और नभस् अर्थात् मेघ प्राप्त होते हैं यह दोनो शब्द वर्षा ऋतुके बोधक हैं] ६। विधि-(७) अध्वर्यु सप्तम मंत्रसे सप्तम ग्रह ग्रहण करै । मंत्रार्थ-हे सप्तमग्रह! (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (इषे) आश्विन मासके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं । ७ । विधि-(८) प्रतिप्रस्थाता अष्टम मंत्रसे अष्टम ग्रह ग्रहण करै । मंत्रार्थ-हे अष्टमग्रह ! (उपयामगृहीतः) तुम उपयामपात्रमें गृहीत हो (ऊर्जे) कार्तिकमासके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं इष अन्न, ऊर्ज्जन उसका सेचन दधिआदि बहुत होता है इससे यह शरद है ८ । विधि-(९) नवम मंत्रसे अध्वर्यु नवम ग्रह ग्रहण करै । मंत्रार्थ-हे नवम ऋतुग्रह ! (उपयामगृहीतः)

तुम उपयामपात्रद्वारा गृहीत (असि) हो. (सहसे) मार्गशीर्षके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं ९। विधि-(१०) प्रतिप्रस्थाता दशम मंत्रसे दशमग्रह ग्रहण करै। मन्त्रार्थ-हे दशमग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रद्वारा गृहीत (असि) हो (सहस्याय) पौषमासके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं [इस मासमें शीत सहनकरना होता है एवं वल होवा है इससे दोनो मास हेमन्त जानो] १०। विधि-(११)एकादश मंत्रसे अध्वर्यु ग्यारहवां ग्रह ग्रहण करै। मंत्रार्थ-हे एकादश ग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (तपसे) माघ मासके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं ११। विधि-(१२) द्वादशवें मंत्रसे प्रतिप्रस्थाता वारहवां ग्रह ग्रहण करे। मंत्रार्थ-हे द्वादश ऋतुग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (तपस्याय) फाल्गुन मासके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं इन महीनोंमें सूर्यका ताप वढने लगता है इससे शिशिर ऋतु जानो। विधि-(१३) यदि इच्छा हो तो तेरहवें मंत्रसे अध्वर्यु तेरहवां ग्रह ग्रहण करै [का० ९ । १३ । १८] मंत्रार्थ-हे त्रयोदश ग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रद्वारा गृहीत (असि) हो (अꣳहसस्पतये) पापके अधिपति मलमास अथवा अꣳह नाम वेगवान् सूर्यकी गतिसे होनेवाले अधिकमासके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं ॥ १३ ॥ ३० ॥

विशेष-द्वादश मास और एक त्रयोदश मास इनके देवताके आराधनार्थ उपयामपात्रमें गृहीत सम्पूर्ण सोमरसको सोमरस ऋतुग्रह बोला जाता है यह त्रयोदश पात्र सोमरसद्वारा वसन्तादिषट्ऋतुकी उपासना सिद्ध होतीहै इस निमित्त इनको ऋतुग्रह कहते हैं । शतपथकी श्रुतिमें लेख है जो वाक् है वही अग्नि है जो चक्षु है वह सूर्य है, जो मन है वह चंद्रमा है, जो श्रोत्र है वह दिशा है इस, वातको जानकर जो पुरुष देह त्याग करता है वह वाक्से अग्निको, चक्षुसे सूर्यको, मनसे चन्द्रमाको, श्रोत्रसे दिशाको प्राप्त होता है। पुरुषही संवत्सर है संवत्सरमें षट् ऋतु हैं पुरुषमें छः प्राण हैं इस कारण समान है संवत्सरमें वारह मास हैं पुरुषमें वारह प्राण हैं संवत्सरके तेरहमास हैं पुरुषमें तेरह प्राण हैं तेरहवीं नाभि है इससे समान है ॥ ३० ॥

कण्डिका-३१ मंत्र ३ ।

इन्द्राग्नीऽआगतꣳसुतङ्गीर्भिर्नभोवरेण्यम् ॥ अस्यपातन्धियेषिता ॥ उपयामगृहीतोसीन्द्राग्निभ्यान्त्वैषतेयोनिरिन्द्राग्निभ्यान्त्वा ॥ ३१ ॥ [1]

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्राग्नीत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः। निचृदार्षी गायत्री छं०। इन्द्राग्नी दे०। इन्द्राग्निग्रहग्रहणे वि०। (२) ॐ उपयामेत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः। आर्ष्युष्णिक्छं०। ग्रहो देवता। ग्रहग्रहणे वि०। (३) ॐ एषत इत्यस्य विश्वामित्र ऋ०। यजुश्छं०। इन्द्राग्नी देवते। यथास्थाने ग्रहपात्रासादने वि० ॥ ३१ ॥

विधि-(१-२) प्रतिप्रस्थाता इस कण्डिकाके प्रथम दो मंत्रोंसे इन्द्राग्नी नाम चौवीसवां ग्रह ग्रहण करै [का० ९ । १३ । २०] मंत्रार्थ-(इन्द्राग्नी) हे इन्द्राग्नी देवताओ ! तुम (सुतम्) अभिषवण अर्थात् भली प्रकार संस्कार किये (गीर्भिः) ऋक् यजुःसामके मंत्रोंसे (नभः) आदित्यकी समान (वरेण्यम्) प्रार्थनीय अथवा नभमें स्थित देवतोंसे वरणीय, सोमरसपानके निमित्त (आगतम्) आओ (धिया) यजमानकी बुद्धिसे (इषिता) प्रार्थनीय होकर तुम (अस्य) इस सोमरसके (पातम्) स्वभागको पानकरो १। (उपयामगृहीतः) हे चौवीसवें ग्रह ! तुम उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (इन्द्राग्निभ्याम्) इन्द्राग्नी देवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं २। विधि-(३) तीसरे मंत्रसे यथास्थानमें ग्रहपात्र स्थापन करै। मंत्रार्थ-हे इन्द्राग्नी ग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (इन्द्राग्निभ्याम्) इन्द्राग्नी देवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करताहूं ३ ॥ ३१ ॥

विशेष-ध्रुवग्रहपर्यन्त दशग्रह गिनेथे, तेरह ऋतुग्रह सब मिलकर २३ हुए यह चौवीसवां है। यदि अधिमास ग्रह ग्रहण न किया जाय तो यह तेईसवां उपांशुसवनकोभी ग्रहस्वीकार किया जाय तौ यह छव्वीसवां, पक्षान्तरमें पच्चीसवां होताहै, अथवा ऋतुग्रहकी एक संख्या की जाय तौ यह ग्यारहवां और बारहवां है। [ऋ० ३ । १ । ११] ॥ ३१ ॥

प्रमाण-यास्कने नभको आदित्य लिखाहै "नभ आदित्यो भवति" [निरु० २ । २२] ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२-मन्त्र ३।

आघायेऽअग्निमिन्धतेस्तृणन्तिबर्हिरानुषक् ॥ येषामिन्द्रोयुवासखा ॥ उपयामगृहीतोस्यग्नीन्द्राभ्यान्त्वैषतेयोनिरग्नीन्द्राभ्यान्त्वा ॥ ३२ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ आघाय इत्यस्य त्रिशोक ऋ०। आर्षी गायत्री छं०। अग्नीन्द्रौ दे०। इन्द्राग्निग्रहग्रहणे वि०। (२) ॐ उपयामेत्यस्य

त्रिशोक ऋ० । आर्च्युष्णिक्छं० । ग्रहो दे० । उपयामे ग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य त्रि० ऋ० । यजुश्छंदः । अग्नीन्द्रौ दे० । यथास्थाने ग्रहासादने वि० ॥ ३२ ॥

विधि-(१-२) कात्यायन महर्षिने इसका विनियोग नहीं लिखा परन्तु शाखान्तरमें ग्रहग्रहणका विनियोग है । इस कण्डिकाके प्रथम दो मंत्रोंसे प्रतिप्रस्थाता इन्द्राग्निनामक चतुर्विंश (२४ वां) ग्रह ग्रहण करै । मन्त्रार्थ-(ये) जो यजमान गण (अग्निम्) अग्निको (वा) हो (आइन्धते) इष्टिसोमादिकर नित्य अग्निहोत्र करतेहैं (आनुषक) और जो क्रमपूर्वक (बर्हिः) कुशा (स्तृणन्ति) बिछाते हैं (येषाम्) जिनका (युवा) सदैव युवावस्याको प्राप्त (इन्द्रः) इन्द्र (सखा) सखा है हे ग्रह (उपयामगृहीतः) यजमानके यज्ञमें तुम उपयाम पात्रमें गृहीत (असि) हो (इन्द्राग्निभ्याम्) इन्द्राग्नी देवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझको ग्रहण करताहूं २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे ग्रह यथास्थानमें स्थापित करै । हे इन्द्राग्नीग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (अग्नीन्द्राभ्याम्) अग्नीन्द्र देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझे इस स्थानमें स्थापित करताहूं [ऋ० ६ । ३ । ४२] ॥ ३२ ॥

प्रमाणं-"आनुषगिति नामानुपूर्वस्यानुषक्तं भवति" इति [निरु० ६ । १४ ।]

कण्डिका ३३-मंत्र ३ ।

ओमा॑सश्चर्षणीधृतो॒ विश्वे॑ देवास॒ऽआग॑त ॥ दा॒श्वाꣳसो॑ दा॒शुषः॑ सु॒तम् ॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि॒ विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्य॑ऽए॒ष ते॒ योनि॒र्विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्यः॑ ॥ ३३ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१)ॐ ओमास इत्यस्य मधुच्छं०ऋ० । आर्षी गायत्री छं० । विश्वेदेवा दे० । वैश्वदेवग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य मधु० । आर्षी बृहती छं० । ग्रहो देवता । उपयामे ग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ ए- मधुच्छंदा ऋ० । यजुश्छं० । विश्वेदेवा देव० । यथास्थाने ॥ ३३ ॥

(१-२) इस कण्डिकाके प्रथम मंत्रसे अथवा पर कण्डिकाके मंत्रद्वयसे अध्वर्यु द्रोणकलशसे शुक्रपात्रमें वैश्वदेव ग्रह ग्रहण करै [का० ९ । १४ । १] मन्त्रार्थ-(विश्वेदेवासः) हे विश्वेदेवा ! तुम सब

(ओमासः) हमारे सब प्रकारसे रक्षक हो (चर्षणीधृतः) तथा मनुष्योंको पुष्ट करनेवाले हो मनुष्य तुम्हारे प्रसादसे ही पुष्ट होते हैं (सुतम्) अभिषुतसंस्कार किये सोमको (दाशुषः) देनेवाले यजमानको (दाश्वांसः) फल देनेवाले वा कामना पूर्णकरनेवाले तुम सोमपानके निमित्त (आगत) आओ १ । हे पंचविंशग्रह ! (उपयामगृहीतः) तुम उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (विश्वेभ्यः देवेभ्यः) विश्वेदेवा देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं २। विधि-(३) इस तीसरे मंत्रसे वा परकण्डिकाके तीसरे मंत्रसे यह ग्रह यथास्थानमें स्थापन करे ॥ मन्त्रार्थ-हे वैश्वदेव ग्रह ! (एषः) यह (ते) आपका (योनिः) स्थान है (विश्वेभ्यः देवेभ्यः) विश्वेदेवा देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करता हूं [ऋ० २ । ८ । ९] ॥ ३३ ॥

प्रमाण-"अवन्तीत्योमारक्षितारः अवितारोवावनी या वा" इति [निरु० १२ । ४०]

कण्डिका ३४-मन्त्र ३ ।

विश्वे॑ देवासऽआग॑त शृणु॒ता म॑ऽइ॒मꣳ हव॑म् ॥ एदं ब॒र्हिर्निषी॑दत ॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि॒ विश्वे॑भ्य स्त्वा दे॒वेभ्य॑ऽए॒ष ते॒ योनि॒र्विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्यः॑ ॥ ३४ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्वेदेवास इत्यस्य गृत्समद ऋषिः । आर्ची गायत्री० । विश्वेदेवा दे० । वैश्वदेवग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य गृत्समद ऋ० । आर्ची बृहती छं० । ग्रहो देवता । उपयामे ग्रहस्थापने वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य गृत्समद ऋ० । यजुश्छं० । विश्वेदेवा देवताः । यथास्थाने ग्रहसादने वि० ॥ ३४ ॥

विधि-वैश्वदेवग्रहग्रहणकरे । मंत्रार्थ-(विश्वेदेवासः) हे विश्वेदेव देवताओ ! (आगत) हमारे इस यज्ञमें आओ (मे) मेरे (इमम्) इस (हवम्) आह्वानको (आशृणुत) सब प्रकारसे श्रवण करो (इदम्) इस विस्तीर्ण (बर्हिः) कुशापर (आनिषीदत) स्थित हो १ ।

दूसरा और तीसरा मंत्र पूर्व (३३) वत् ।

प्रातः सवनके ग्रह पूर्ण हुए ।

अथ माध्यन्दिनसवनग्रहाः ।

कण्डिका ३५—मन्त्र १ ।

इन्द्रं मरुत्वऽइह पाहि सोमं यथा शार्याते ऽअपिबः सुतस्य ॥ तव प्रणीती तव शूर शर्म्मन्ना विवासन्ति कवयः सुयज्ञाः ॥ उपयामगृहीतोसीन्द्राय त्वा मरुत्वतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते ॥ ३५ ॥ [१]

ऋष्यादि—(१) ॐ विश्वेदेवास इत्यस्य विश्वामित्र ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । विश्वेदेवा दे० । वैश्वदेवग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य विश्वामित्र ऋ० । आर्ष्युष्णिक्छं० । ग्रहो देवता । उपयामे ग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐएषत इत्यस्य विश्वामित्र ऋ० । यजुश्छं० । ग्रहो देवता । यथास्थाने ग्रहासादने वि० ॥ ३५ ॥

विधि—(१–२–३) मरुत्वतीय नामक तीन ग्रह क्रमसे तीन मंत्रोंसे ग्रहण करे प्रथम मरुत्वतीय ऋतुग्रह पात्रमें ग्रहण करे [का० १०। १। १४] मंत्रार्थ—(मरुत्वः) मरुत् देवताओंवाले (इन्द्र) हे इन्द्र ! (यथा) जिस प्रकार(शार्याते) बडे परिश्रम करनेवाले शर्याति पूर्वजनके यज्ञमें (सुतस्य) अभिषुत सोमके अंशोंको (अपिबः) तुमने पिया था,इसी प्रकारसे (इह) इस हमारे यज्ञमें (सोमम्) सोमकी (पाहि) रक्षा करो और पियो (शूर) हे विक्रान्तवीर ! (तव) तुम्हारी (प्रणीती) सुनीती और अनुज्ञासे (सुयज्ञाः) श्रेष्ठ यज्ञ करनेवाले (कवयः) दूरदर्शी (तव) तुम्हारे (शर्मन्) सुखप्रद स्थानमें (आविवासन्ति) चिरकाल-तक तुम्हारी परिचर्या करते हैं १ ।

हे प्रथम ग्रह ! (उपयामगृहीतः) तुम इस उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (मरुत्वते) मरुत् देवतोंसे युक्त (इन्द्राय) इन्द्र देवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं ॥ २ ॥

हे प्रथम मरुत्वतीय ग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (मरुत्वते) मरुत् देवताओंसे युक्त (इन्द्राय) इन्द्रदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझको इस स्थानमें स्थापन करता हूं [ऋ० ३ । ३ । १६] ॥ ३५ ॥

प्रमाण—"माध्यन्दिनसवने मरुत्वतीया गृह्यन्ते" तित्तिरिः । "शार्यातो वा ह इदं मानवो ग्रामेण चचार" इति श्रुतेः [श० ४ । १ । ५ । २] "विवास-

तीति परिचरणकर्मसु पाठितम्" [निघं० ३ । ५] "कविरिति मेधाविनामसु पाठितम्" [निघं० ३ । १५] ॥ ३५ ॥

पदार्थविचार—तत्त्व और पार्थिव विचारवाले कहते हैं पार्थिवतेज अन्तरिक्ष तेज और उपरितन द्युलोकका तेज इन तीन प्रकारके तेजका नाम इन्द्र है इस स्थानमें मरुत्वत्शब्द विशेषण हैं अन्तरिक्षके सहचारी वायुका साथी होनेसे वह तेजोमय देवेन्द्र मघवान् कहाता है ।

(शर्याति) वेदमें जो शब्द किसी व्यक्तिविशेषके नामवाचक सुनेजाते हैं यह काल्पनिक हैं वस्तुतः यह किसी प्रकृत व्यक्तिका नाम नहीं, यह वेदपुरुषके मनःकल्पित नाम हैं यहां शर्याति नाम मानवका है ।

अथवा सृष्टिका प्रवाह अनादिकालसे है और ईश्वरका ज्ञान त्रिकालमें एकसा है और यदि कोई नामही नहीं हो तो सृष्टि अनादि कैसे, इससे वेदमें जो कुछ आता है वह नहीं हुआहो तो पूरा होता है, और मनुष्योंकी दृष्टिमें वह भूतकालका बोधक होता है । कारण कि शर्याति किसी राजाकाभी नाम है वह वेदका शब्द देखकरही हुआ है ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६—मन्त्र ४ ।

मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिं दिव्यꣳ शासमिन्द्रम् ॥ विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रꣳ सहोदामिह तꣳ हुवेम ॥ उपयामगृहीतोसीन्द्राय त्वा मरुत्वतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते ॥ उपयामगृहीतोसि मरुतान्त्वौजसे ॥ ३६ ॥ [१]

ऋष्यादि—(१) ॐ मरुत्वन्तमित्यस्य विश्वामित्र ऋ० । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रो दे० । मरुत्वतीयग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य विश्वा० । आर्च्युष्णिक्छं० । ग्रहो देवता । उपयामे मरुत्वतीयग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ उपयामेत्यस्य वि० ऋ० । साम्न्युष्णिक्छं० । मरुतो देवताः । उपयामे मरुत्वतीयग्रहग्रहणे वि० । (४) ॐ मरुत्वतामित्यस्य विश्वा० ऋ० । यजुश्छं० । मरुतो देव० । मरुत्वतीयग्रहग्रहणे वि० ॥ ३६ ॥

विधि—(१—२—३) दूसरे मरुत्वतीय रिक्तपात्रमें सशस्त्र ग्रह ग्रहण करे [का० १० ३।६] मंत्रार्थ—(मरुत्वन्तम्) मरुद्गणोंसे युक्त (वृषभम्) उचित समय जल वर्षानेवाले (वावृधानम्) व्रीहिधान्यादिके बढानेवाले (अकवारिम्) उत्कृष्ट ऐश्वर्यवान् (दिव्यम्)

द्युलोकमें रहनेवाले (शासम्) दुष्टोंके वा मेघोंके शासक (विश्वसाहम्) आलस्य रहित विश्वके पालक वा स्वधर्मच्युतके तिरस्कारकर्ता (सहोदाम्) सह अर्थात् वलके देनेवाले (नूतनाय) नूतन यजमानके (अवसे) रक्षण करनेके निमित्त (उग्रम्) निरन्तर उद्यत वज्रवाले (तम्) उस (इन्द्रम्) इन्द्रको (इह) इस यज्ञमें रक्षाके निमित्त (आहुवेम) आह्वान करतेहैं. हे द्वितीय ग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत हो पूर्ववत् द्वितीय ग्रहग्रहण है इतनाही विशेष है १–२–३ । विधि–(४) चौथे मंत्रसे ऋतुपात्रमें तीसरा मरुत्वतीय ग्रह ग्रहण करै [का० १० । ३ । ३] हे तृतीयमरुत्वतीयग्रह ! (मरुत्वताम्) मरुत्देवताओंके (ओजसे) वलसम्पादनके निमित्त (त्वा) तुमको इस ऋतुग्रहमें ग्रहणकरता हूं "ओज इति वलनाम" [निघं० २ । ९ । १] इसके ग्रहणसे मरुत् वली हो जाय यह आशय है [ऋ० ४ । ६ । ८] ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७–मंत्र ३ ।

सजोषाऽइन्द्रसगणोमरुद्भिःसोमम्पिबवृत्रहाशूर विद्वान् ॥ जहिशत्रूँ२ऽरपमृधोनुदस्वाथाभयङ्कृणुहि विश्वतोनः ॥ उपयामगृहीतोसीन्द्रायत्वामरुत्वतऽएषतेयोनिरिन्द्रायत्वामरुत्वते ॥३७॥[१]

ऋष्यादि–(१) ॐ सजोषा इत्यस्य विश्वामित्र ऋ०। निचृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । मरुत्वतीयग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य विश्वामि० ऋ० । प्राजापत्या त्रिष्टुप्छं० । ग्रहो देवता । मरुत्वतीयग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य विश्वा० । यजुश्छं० । मरुतो दे०। मरुत्वतीयग्रहग्रहणे वि० ॥ ३७ ॥

विधि–(१) इस कण्डिकाके तीन मंत्र और उत्तर कण्डिकाके तीन मंत्र मरुत्वतीयग्रहग्रहणमें नियुक्त हैं [का० २२ । ६ । २४] मंत्रार्थ–(शूर) हे विक्रान्त (इन्द्र) इन्द्र ! तुम (सजोषः) हमारे यज्ञको प्रीतिसे सेवन कर हमसे सन्तुष्ट होने वाले (सगणः) परिवारसहित वर्तमान (वृत्रहा) सोमपानकर वृत्रके मारनेवाले (विद्वान्) सब कुछ जाननेवाले (मरुद्भिः) मरुत् गणोंके परिवारसहित (सोमम्) सोमको (पिब) पानकरो (शत्रून्) शत्रुओंको (जहि) मारो (मृधः) संग्रामसे (अपनुदस्व) शत्रुओंको निवृत्त करो पलायन कराओ वा संग्रामको निवृत्त करो (अथ)

शत्रुनाशके अनन्तर (नः) हमको (विश्वतः) सबप्रकारसे (अनयम्) अभय वा निर्भय (कृणुहि) कीजिये १। (उपयामगृहीतः) हे ग्रह ! तुम उपयाम पात्रमें गृहीतहो इत्यादिकी व्याख्या पूर्ववत् जाननी [ऋ० ३ । ३ । ११] ॥ ३७ ॥

कण्डिका ३८—मंत्र २ ।

मुरुत्वाँ२ऽइन्द्र वृषुभोरणायुपिबुासोमंमनुष्ष्वुधं स्मदाय ॥ आसिंञ्चस्वजुठरेमध्वंऽऊर्म्मिन्त्वर्ठ० राजासिप्प्रतिपत्त्सुतानाम् ॥ उपुयामगृंहीतोसीन्द्रा यत्वामुरुत्वतऽएषते योनिरिन्द्रायत्त्वामुरुत्वते ॥ ३८ ॥ [१]

ऋष्यादि—(१) ॐ मरुत्वानित्यस्य विश्वामित्र ऋ० । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रो दे० । मरुत्वतीयग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य प्राजापत्या त्रिष्टुप्छं०।ग्रहो देवता । मरुत्वतीयग्रहग्रहणे वि० ॥३८॥

मन्त्रार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! (मरुत्वान्) मरुद्गणोंसे संयुक्त (वृषभः) जलके वर्षानेवाले तुम (अनुष्वधम्) स्वधापूर्वक पुरोडाश धान्यमन्थ दधिपय लक्षणवाले (सोमम्) सोमरसको (मदाय) तृप्तिके निमित्त (रणाय) दैत्योंसे युद्धके निमित्त (आपिब) पान कीजिये (मध्वः) इस मधुर रसकी (ऊर्मिम्) कल्लोलको (जठरे) उदरमें (आसिञ्च) आसिञ्चनकरो (त्वम्) तुम (प्रतिपत्सुतानाम्) प्रतिपत् प्रभृति तिथियोंमें अभिषुत हुए सोमके (राजा) राजा (असि) हो हे ग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयाम पात्रमें गृहीत इत्यादि पूर्ववत् । [ऋ० ३ । ३ । ११] ॥ ३८ ॥

विशेष—धान्य मन्थी दही दूध आदि अन्नको सुधा कहते हैं वर्षाक्रिया सम्पादनके निमित्त वृत्र (मेघ) गणके सहित युद्ध करना होगा, इस निमित्त तृप्त होना आवश्यक है. १ यजुर्वेदी जनोंके प्रतिपत् तिथिसे सोमाभिषव आरंभ नहीं होता किन्तु सामवेदियोंका होता है। राजा कहनेका भाव यह कि तुम्हारी प्रीतिके निमित्तही यह बृहत् अनुष्ठान है तुम तृप्त होकर सोमरस पान करो ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९—मन्त्र ३ ।

महाँ२ऽइन्द्रोनृवदाचर्षणिप्प्राऽउतद्विबर्हाऽअमिनः सहोभिः ॥ अस्मद्र्यग्वावृधेवीर्य्यायोरुः पृथुः

सुकृतङ्कर्तृभिर्भूत ॥ उपयामगृहीतोसिमहेन्द्रा यत्वैषतेयोनिर्म्महेन्द्रायत्वा ॥ ३९ ॥ [१]

ऋष्यादि–(१)ॐ महानित्यस्य भरद्वाज ऋषिः । भुरिगार्षी पंक्तिश्छं० । महेन्द्रो दे० । माहेन्द्रग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । साम्नी त्रिष्टुप्छं० । ग्रहो देवता । उपयामग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐएषत इत्यस्य भरद्वाज ऋ० । यजुश्छं० । लिंगोक्ता दे० । यथास्थाने ग्रहासादने वि० ॥ ३९ ॥

विधि–(१–२) प्रथम और दूसरे मंत्रसे माहेन्द्र नामक ग्रह ग्रहण करै [का० १० । ३ । १] मं०–राजा जिस प्रकार प्रजावर्गकी अभिलाषा पूर्ण करताहै तद्वत् (आचर्षणिप्राः) मनुष्योंके अभीष्ट पूर्ण करनेवाले (द्विबर्हाः) प्रकृति विकृतिरूप सोमयागके बढानेवाले वा अन्तरिक्ष और द्युलोकके प्रभु (सहोभिः) बलोंकरके (अमिनः) उपमारहित (उत) तथा (अस्मद्र्यक्) हमारे प्रति अनुकूल (महान्) महाप्रभावशाली (इन्द्रः) इन्द्र (वीर्याय) वीरकर्मके निमित्त (वावृधे) वृद्धिको प्राप्त होता है तथा (उरुः) यशसे विस्तीर्ण (पृथुः) बलसे विस्तृत इन्द्र (कर्तृभिः) यजमानोंद्वारा (सुकृतः) सत्कारित वा पूजित (अभूत्) हुआ हमारी बलवीर्यकी वृद्धि करै १ । हे चतुर्थ ग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (महेन्द्राय) महेन्द्रदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं २ विधि (३) तीसरे मंत्रसे स्थापन करै । मंत्रार्थ–हे माहेन्द्रग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (महेन्द्राय) महेन्द्रदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझको इस स्थानमें स्थापन करताहूं [ऋ० ४ । ६ । ७] ॥ ३९ ॥

प्रमाण–"अमिनोऽमितमात्रो महान् भवत्यभ्यमितो वा" इति [निरु० ६ । १६ ।] ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०–मंत्र ३ ।

मुहाँ२ऽइन्द्रोयऽओजसापुर्ज्जन्योवृष्टिमाँ२ऽइव ॥ स्तोमैर्वृत्सस्यवावृधे ॥ उपयामगृहीतोसिमहेन्द्रा यत्वैषतेयोनिर्म्महेन्द्रायत्वा ॥ ४० ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ महानित्यस्य वत्स ऋ० । आर्षी गायत्री छं० । महेन्द्रो दे० । माहेन्द्रग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य वत्स ऋ० । विराडार्षी गायत्री० । ग्रहो देवता । माहेन्द्रग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य वत्स ऋ० । यजुश्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । यथास्थाने ग्रहासादने वि० ॥ ४० ॥

विधि-(१-२-३) यदि इच्छा हो तो इसी कण्डिकाके प्रथम और दूसरे मंत्रसे माहेन्द्रग्रह ग्रहण करै और तीसरे मंत्रसे यथास्थानमें स्थापित करै। मन्त्रार्थ-(यः) जो (महान्) महाप्रभावशाली (इन्द्रः) इन्द्र (ओजसा) तेजसे महान् (वृष्टिमान्) वर्षावाले (पर्जन्यः इव) मेघके समान (वत्सस्य) बसनशील वा वत्सस्थानीय यजमानके (स्तोमैः) स्तुतियोंसे (आववृधे) वृद्धिको प्राप्त होताहै १ । हे ग्रह ! (उपयामगृहीतः) तुम उपयाममें गृहीत हो पूर्ववत् । [ऋ० ९ । ८ । ९] ॥ ४० ॥

माध्यन्दिनग्रह पूर्ण हुए ।

अथ दक्षिणा ।

कण्डिका ४१-मन्त्र १ ।

उदुत्त्यञ्जातवेदसन्देवंवहन्तिकेतवः॥दृशेविश्श्वाय सूर्य्यꣳस्वाहा ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि- (१) ॐ उदुत्यमित्यस्य प्रस्कण्व ऋषिः । भुरिगार्षी गायत्री० । सूर्यो दे० । चतुर्गृहीतेनाज्येन शालाद्वार्येऽग्नौ हवने वि० ॥ ४१ ॥

विधि-(१) वस्त्रबद्ध सुवर्ण जुहूके मध्यमें रखकर चारवार ग्रहण किये घृतको शालाद्वार्य नाम अग्निमें इस मंत्रसे प्रथम आहुति प्रदानकरै [इसीकोही दाक्षिण होम कहतेहैं] [का० १० । २ । ४ । ९]. मन्त्रार्थ-(केतवः) किरणसमूह (त्यम्) उस प्रसिद्ध (जातवेदसम्) सब पदार्थोंको जाननेवाले वा वेदज्ञानरूपी धनवाले (देवम्) प्रकाशात्मक (सूर्यम्) सूर्यदेवको (विश्वाय) इस समस्त विश्वके (दृशे) प्रकाश करनेके निमित्त (उ) वितर्कके साथ (उद्वहन्ति) प्रतिनियत ऊर्ध्ववहन करतीहैं (स्वाहा) इन्हीं देवके उद्देशसे दीहुई यह हवि भली प्रकार गृहीत हो ॥ ४१ ॥

प्रमाण-"देवो दानाद्वा द्योतनाद्वा" इति [निरु० ७ । २० ।] "उद्वहन्ति तं जातवेदसं रश्मयः केतवः सर्वेषां भूतानां दर्शनाय सूर्यमिति कमन्यमादित्या-

देवमवक्ष्यत्'' [निरु० १२ । १९] ''जातवेदाः कस्माज्जातानि वेद जातानि वैनं विदुर्जाते जाते विद्यत इति वा जातवित्तो जातधनो जातविद्यो वा जातप्रज्ञानो यत्तज्जातः पशून् विंदते इति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम्'' इति [निरु० ७ । १९] ॥ ४१ ॥

विशेष-''इन रश्मियोंकोही सप्ताश्वभी कहतेहैं'' ॥ ४१ ॥

कण्डिका ४२-मन्त्र १ ।

चित्रन्देवानामुदगादनीकञ्चक्षुर्म्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ॥ आप्प्राद्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षꣳसूर्य्यऽआत्माजगतस्तस्थुषश्चस्वाहा ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ चित्रमित्यस्य कुत्स ऋ० । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं० । सूर्यो देवता । चतुर्गृहीतेनाज्येन शालाद्वार्येऽग्नौ हवने विनि० ॥ ४२ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे चारवार लिये घृतसे शालाद्वार्य अग्निमें दूसरी आहुति प्रदान करै [का० १० । २ । ६ ।] मन्त्रार्थ-(चित्रम्) यह कैसा आश्चर्य है कि (देवानाम्) किरणोंके (अनीकम्) पुञ्ज तथा (मित्रस्य) मित्रके (वरुणस्य) वरुणके (अग्नेः) अग्निके (चक्षुः) नेत्रवत् प्रकाशमान (जगतः) जंगम और (तस्थुषः) स्थावर जगत्का (आत्मा) अन्तर्यामी (सूर्यः) सूर्य सब जगत्का प्रकाशक (उदगात्) उदयको प्राप्त होता हुआ (द्यावापृथिवी) भूलोकसे द्युलोकपर्यन्त (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष अर्थात् लोकत्रयको (आप्राः) अपने तेजसे पूर्ण करता है (स्वाहा) इन देवताके निमित्त दीहुई आहुति भलीं प्रकारसे स्वीकारहो [ऋ० १ । ८ । ७] ॥ ४२ ॥

भावार्थ-यह क्या आश्चर्य है, कि, किरणपुञ्ज देव प्रतिदिन उदित होतेहैं भूलोकसे द्युलोकपर्यन्त लोकत्रयमें अपनी किरणजालका विस्तार करके समस्त विश्वसंसारके नेत्ररूपसे दीप्यमान हैं [पररूपसे स्तुति] यह स्थावर जंगम समस्त पदार्थकेही जीवन और सूर्यनामसे प्रसिद्ध हैं इनके उद्देशसे हवि देते हैं ॥ ४२ ॥

प्रमाण-जो इस आदित्यमें परमात्माको जानतेहैं वही इन्द्र प्रजापति और ब्रह्मको प्राप्त होतेहैं । ''यमेतमादित्ये पुरुषं वेदयन्ते स इन्द्रः स प्रजापतिस्तद्ब्रह्म'' इति श्रुतेः ।

- निरुक्तकारने यों व्याख्या कीहै-

"चायनीयं देवानामुदगमदनीकं ख्यानं मित्रस्य वरुणस्याग्नेश्चापूपुरद् द्यावापृथिव्यौ चान्तरिक्षे च महत्त्वेन तेन सूर्य्य आत्मा जङ्गमस्य च स्थावरस्य च" [निरु० १२ । १६] इस मंत्रसे सूर्यमें परमात्माकी उपासना वर्णनकीहै इस प्रकार सर्वत्र परमात्माको जानकर प्राणी उसकी उपासना करनेसे उसके द्वारा सफलमनोरथ होतेहैं ॥ ४२ ॥

कण्डिका–४३ मंत्र १ ।

अग्नेनयं सुपथाराये अस्म्मान्विश्वानिदेववयुनानिविद्वान् ॥ युयोद्ध्यस्म्मज्जुहुराणमेनोभूयिष्ठान्तेनमऽउक्तिंविधेमस्वाहा ॥ ४३ ॥

विधि–आग्नीध्र अग्निमें एक बार लिये घृतको हवन करै [का०१० । २ । ७] (अग्ने) इस मंत्रकी व्याख्या ५ अ० ३६ मंत्रमें होगई ॥ ४३ ॥

कण्डिका ४४–मन्त्र १ ।

अयन्नोऽअग्निर्वरिवस्कृणोत्त्वयम्मृधः पुरऽएतुप्रभिन्दन् ॥ अयंवाजाञ्जयतुवाजसातावयꣳशत्रूञ्जयतुजर्हृषाणःस्वाहा ॥ ४४ ॥

विधि–दूसरी आहुतिको आग्नीध्रअग्निमें हवन करै [का० १० । २ । ८] (अयन्नो) अ० ५ मं० ३७ में इसकी व्याख्या होगई ॥ ४४ ॥

कण्डिका ४५–मंत्र ३ ।

रूपेणवोरूपमभ्यागान्तुथोवोविश्ववेदाविभजतु ॥ ऋतस्यपथाप्रेतचन्द्रदक्षिणाविस्वःपश्यव्यन्तरिक्षंयतस्वसदस्यैः ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ रूपेणेत्यस्याङ्गिरस ऋषिः । प्राजापत्या जगती० । दक्षिणा दे० । वेदिदक्षिणस्थाभिमन्त्रणे वि० । (२) ॐ विश्व इत्यस्याङ्गिरस ऋ० । याजुष्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता देवता । गोरक्षित्रा सह सभां प्रत्यागमने वि० । (३) ॐ यतस्वेत्यस्यांगिरस ऋ० । दैवी त्रिष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । ऋत्विग्जनावेक्षणे वि० ॥ ४५ ॥

विधि-(यजमान अपने हाथमें सुवर्ण लेकर शालाके पूर्व भागमें स्थित हो और आग्नीध्रीयवेदीके बाहर दक्षिणमें बैठेहुए दक्षिणाभागी जनोंको इस मंत्रसे अभिमंत्रित करै [का० १० । २ । १०] **मंत्रार्थ**-(चन्द्रदक्षिणाः) सुवर्ण दक्षिणावाली हे गौओ ! मैं (रूपेण) मूर्तिसे (वः) तुम्हारे (रूपम्) रूपको (अभ्यगाम्) प्राप्तहुआहूं [अर्थात् हमने तुम्हारा रूपं धारण किया है इसकारण हमारे निकट आनकर मिलित हो कारण कि सबही अपने रूपमें मिलित होतेहैं] (विश्ववेदाः) सर्वज्ञ (तुथः) ब्रह्म "ब्रह्म वै तुथः" [श० ४ । ३ । ४ । १४] (वः) तुमको (विभजतु) यथायोग्य विभाग करके ऋत्विजोंके निमित्त प्रदान करै अथवा यज्ञमें किस ऋत्विक्की क्या दक्षिणा है उसको यह ब्राह्मण आग्नीध्र ऋत्विक् समस्तही जानता है उसीके अनुसार तुमको यज्ञीयनियममें दक्षिणारूप प्रदान करैंगे. तुम (ऋतस्य) यज्ञके (पथा) मार्गसे (प्रेत) गमनकरो १। **विधि**-(२) दूसरा मंत्र पाठ करके यजमान गाय पालनेवालेके साथ सभामण्डपके मध्यमें गमन करै [का० १० । २ । १७] **मन्त्रार्थ**-हे दक्षिणारूप सम्पूर्ण गौ ! आज हम तुमको प्राप्त करकै (स्वः) स्वर्ग देवयानमार्ग (विपश्य) देखतेहैं (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष पितृयाण मार्गको (वि) देखताहूं अर्थात् दोनों मार्गको प्रत्यक्ष करताहूं २। **विधि**-(३) तीसरे मंत्रसे ऋत्विग्गणोंके प्रति दृष्टिपात करै [का० १० । २ । १८] **मन्त्रार्थ**-हे ऋत्विग्गण ! तुम इस प्रकार (यतस्व) यत्नकरो कि जिस प्रकार (सदस्यैः) सभासदोंको यथाभाग पूर्ण होकर भी कुछ गोदक्षिणा शेष रहजायं ॥ ४५ ॥

विवरण-१. चंद्रशब्दसे सुवर्णका अर्थ है यज्ञमें गौदक्षिणा देनेके अनन्तर सुवर्णकी दक्षिणा दीजातीहै, इसकारण गौ पाकर सुवर्णके पानेकी भी अभिलाषा होती है इसकारण चंद्रप्राप्तिरूप आशाका आदिकारण गोदक्षिणा है इसीसे इसको चन्द्रदक्षिणा भी कहते हैं ।

२. इस स्थलमें एक आख्यायिका है पूर्व कालमें पशुगणने अपना दान न सहन करकै रूपान्तर ग्रहण किया, देवतागण भी वही रूप धारणकर उनको अपनी जातिमें विवेचनको मिलित हुए, तव उन्होंने अपना रूप धारण किया प्रमाण-"पूर्व पशवः स्वदानमसहमाना रूपान्तराणि जगृहुर्देवाः स्वैस्तानुपागतास्ततस्ते स्वै रूपैराजग्मुः" इति श्रुतेः [श० ४ । ३ । ४ । १४]

३. अपनी जातिसे मिलन चेतन अचेतन सब ही पदार्थ करते हैं, यह स्वभाव है गौ गोपालसे अजागण अजापालसे मेषगण मेषपालसे ऊपर फैंकीहुई वस्तु नीचेकी पृथ्वीसे ऊपर प्रक्षिप्तजल जलसे मिलतेहैं इसीप्रकार सब वस्तु हैं ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६-मंत्र २।

ब्राह्मणमद्य विंदेयम्पितृमन्तम्पैतृमत्त्यमृषिमार्षेयꣳसुधातुदक्षिणम्॥ अस्मद्रातादेवत्राऽगच्छत प्रदातारमाविशत॥ ४६॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ब्राह्मणमित्यस्याङ्गिरस ऋषिः। आर्ची बृहती छं०। लिंगोक्ता दे०। आग्नीध्रर्त्विजं प्रति गमने वि० (२) ॐ अस्मदित्यस्य आंगि० ऋ०। आर्ची गायत्री छं०। दक्षिणा देवता। आग्नीध्रर्त्विजे हिरण्यप्रदाने वि०॥ ४६॥

विधि-(१) यजमान यह प्रथम मंत्र पाठ करके आग्नीध्रीय वेदीमें उपविष्ट आग्नीध्र ऋत्विक्के समीप गमन करै [का० १०। २। १९] मन्त्रार्थ-मैं (अद्य) आज (पितृमन्तम्) विख्यात विद्वान् यशस्वी पितावाले (पैतृमत्यम्) जनमान्य पितामहवाले (ऋषिम्) मंत्रोंके व्याख्या करनेवाले (आर्षेयम्) ऋषियोंमें विख्यात स्वयं ऋषि वा ज्ञानसे विख्यात (सुधातुदक्षिणम्) जिसके निकट सम्पूर्ण सुवर्णदक्षिणा संचय की जाय ऐसे (ब्राह्मणम्) सर्वकुलगुणसम्पन्न ब्राह्मण [आग्नीध्र] को (विदेयम्) प्राप्त करूं १। विधि-(२) यजमान दूसरे मंत्रसे आग्नीध्रीय वेदीमें उपविष्ट हुए समस्त ऋत्विग्जनोंकी दक्षिणा इस आग्नीध्र ऋत्विकके हाथमें प्रदान करै [का० १०। २। २०] मन्त्रार्थ-हे सम्पूर्ण दक्षिणा! तुम (अस्मद्राताः) हमारे द्वारा दी हुई (देवत्रा) देवताओंसे अधिष्ठित ऋत्विग्गणके समीप (गच्छत) यथाभाग उपस्थित हो, और देवताओंको तृप्तकर (दातारम्) इस यज्ञका फल देनेके लिये (दातारम्) दातायजमानमें (प्राविशत) प्रवेश करो॥ ४६॥

विशेष-इस मंत्रसे यह बात प्रगट है कि वंशके प्रतिष्ठित ब्राह्मण जिनके पिता पितामह विख्यात हों वेही आग्नीध्र ऋत्विक् किये जायं तथा प्रतिष्ठित वंशवालेकोही द्रव्यका अधिकार देनाचाहिये कुलगोत्र न माननेवाले पंडित दयानंदको इसपर विचार करना चाहिये था.॥ ४६॥

कण्डिका ४७-मन्त्र ४।

अग्नयेत्त्वामह्यंवरुणोददातुसोमृतत्त्वमशीयायुर्दात्र एधिमयोमह्यम्प्रतिग्रहीत्रेरुद्रायत्त्वामह्यंवरु

णोददातुसोमृतत्त्वमंशीयप्प्राणोदात्रऽएंधिमयो मह्यम्प्रतिग्ग्रहीत्रेबृहस्पतयेत्वामह्यंवरुणोददातु सोमृतत्त्वमशीयत्वग्गदात्रऽएधिमयोमह्यम्प्रति ग्ग्रहीत्रेयमायत्वामह्यंवरुणोददातुसोमृतत्त्वमशी यहयोदात्रऽएधिवयोमह्यम्प्रतिग्ग्रहीत्रे ॥ ४७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्न इत्यस्याङ्गिरस ऋ०। आर्ची त्रिष्टुप्छं० । हिरण्यं दैवतम् । सुवर्णप्रतिग्रहणे वि० । (२) ॐ रुद्रायेत्यस्याङ्गिरस ऋ० । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं० । गौर्दे० । गोप्रतिग्रहणे वि० । (३) ॐ बृहस्पतय इत्यस्याङ्गिरस ऋ०। निच्यृदार्षी जगती०। वस्त्रं दैवतम्। वस्त्रप्रतिग्रहणे वि० । (४) ॐ यमायेत्यस्याङ्गिरस ऋ०। भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं०। अश्वो देवता । अश्वप्रतिग्रहणे वि० ॥ ४७ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता प्रथम मंत्रसे सुवर्ण ग्रहण करे [का० १०। २ । २८] मन्त्रार्थ-हे सुवर्ण ! (वरुणः) वरुणदेवता (अग्नये) अग्निरूपको प्राप्तहुए (मह्यम्) मेरेनिमित्त (त्वा) तुमको (ददातु) प्रदान करते हुए [पूर्वकालमें वरुणने कनकादि अग्निको दिया था इस कारण अग्निआत्मावाले ब्राह्मण उसके लेनेसे नष्ट नहीं होते] इस प्रकारसे ग्रहण कियेहुए सुवर्णसे (सः) वह मैं (अमृतत्त्वम्) आरोग्यता (अशीय) प्राप्तकरूं हे सुवर्ण ! तुम (दात्रे) दाताकी (आयुः) परमायुकी (एधि) वृद्धिकरो (प्रतिग्रहीत्रे) प्रतिग्रहकरनेवाले (मह्यम्) मुझको (मयः) सुखकी प्राप्ति हो अर्थात् यजमान आयुष्मान् और मैं सुखी हूं १। विधि-(२) दूसरे मंत्रसे गौ ग्रहण करे [का० १० । २ । २९] मंत्रार्थ-हे गौ ! (वरुणः) वरुणदेवता (रुद्राय) रुद्ररूप (मह्यम्) मुझे (त्वा) तुमको (ददातु) प्रदान करताहै (सः) वह मैं (अमृतत्वम्) आरोग्यताको (अशीय) प्राप्त हूं तुम (दात्रे) दाताके (प्राणः) बलप्राणकी (एधि) वृद्धिकरो (मह्यम्) मुझ (प्रतिग्रहीत्रे) प्रतिग्रहीताकी (वयः) अन्नपशुवृद्धि करनेवाली हो वा अवस्थाकी वृद्धिकरो २। विधि-(३) तीसरे मंत्रसे वस्त्रप्रतिग्रहण [का० १० । २ । ३०] मन्त्रार्थ-हे वस्त्र ! (वरुणः) वरुण देवता (बृहस्पतये) बृहस्पतिरूप (मह्यम्) मेरे निमित्त (त्वा) तुमको (ददातु) देता है (सः) वह मैं तुमको प्राप्त करकै (अमृतत्वम्) अमृतत्वको (अशीय) प्राप्त करूं तुम (दात्रे) दाताकी (त्वक्) त्वगिन्द्रियशक्ति (एधि) वृद्धिकरो (प्रतिग्रहीत्रे) प्रतिग्रहीता मेरी (मयः) सुखकी वृद्धि करो ३।

विधि-(४) चौथे मंत्रसे अश्वप्रतिग्रहण करै [का० १० । २ । ३०] मंत्रार्थ- हे अश्व ! (वरुणः) वरुणदेवता (यमाय) यमरूप धर्मरूप (मह्यम्) मेरे निमित्त (त्वा) तुझको (ददातु) देता है (सः) वह मैं तुमको प्राप्तकर (अमृतत्वम्) आरोग्यताको (अशीय) प्राप्तकरूं (दात्रे) दाताके यहां (हयः) घोडोंकी(एधि) वृद्धिकरो (प्रतिग्रहीत्रे) प्रतिग्रह करनेवाले (मह्यम्) मेरी (वयः) पशुसम्पत्ति वृद्धिकरो ॥ ४७ ॥

विशेष-दान लेनेसे प्रायश्चित्त होता है, विद्वान् ही उसके ग्रहण करनेको समर्थ हैं सोभी अपनेको देवरूप मानकर लेसकतेहैं जो कि चार वस्तु वरुणने प्रथम दी थीं सो यहां दक्षिणारूपसे ग्रहण है,इन देवताओंकी प्रसन्नताके निमित्त स्वीकार करै इस मंत्रके द्वारा आशीःप्रार्थना है इससे उसका दोष शान्त होताहै दान लेनेदेनेवाले के कल्याणकी वृद्धि होतीहै ॥ ४७ ॥

काण्डिका४८-मंत्र १ ।

कोऽदात्कस्मा॑ऽअदात्कामो॑ऽदात्कामा॑याऽदात् ॥ कामो॑ दाता काम॑÷प्प्रतिग्रहीता कामै॒तत्ते॑ ॥४८॥ [८] ॥ २९ ॥

इति श्रीशुक्लयजुस्संहितायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ कोऽदादित्यस्याङ्गिरस ऋषिः । प्राजापत्या त्रिष्टुप्छं० । कामो दे० । मन्थौदनतिलादिग्रहणे वि० ॥ ४८ ॥

विधि-(१) मन्थौदन तिलादि अन्यान्य वस्तुओंके प्रतिग्रहका मंत्र [का० १० । १ । २३] [दाताको दानाभिमान और लेनेवालेको ग्रहण सम्बन्धी दोष नहो इस कारण इन्द्रियसमूहमें कामसम्बन्ध देतेहैं]

मन्त्रार्थ-(कः) कौन महात्माने (अदात्) दानकिया (कस्मै)किसके निमित्त (अदात्) प्रदानकिया [उत्तर] (कामाय) यज्ञफल कामनाहीके निमित्त (अदात्) दानकिया (कामः) कामनाही (दाता) देनेवाली (कामः) अभिलाषाही (प्रतिग्रहीता) प्रतिग्रह करनेवाली है (काम) हे अभिलाष (एतत्) अभिलाष करने योग्य यह समस्त वस्तु (ते) तुम्हारीही है ।

इति श्रीमाध्यन्दिनीयायां वाजसनेयिसंहितायां शुक्लयजुर्वेदीयायां मंत्रभागे सम्पूर्णविद्याविशारदमिश्रसुखानंदसूनु-पण्डित-ज्वालाप्रसादमिश्रकृत-मिश्रभाष्य-उपांश्वादिप्रदानान्तः सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

ॐ ३ मू ।

अष्टमोऽध्यायः ८.

उपयामगृहीतोसि आदित्येभ्यः पञ्च वाममद्य द्वे सुशर्मास्येका बृहस्पतिसुतस्य द्वे हरिरसिचतस्रः समिन्द्रेणोष्टौ माहिरे जतुदशमास्यःपञ्चकावातिष्ठयुक्ष्वाहीन्द्रमिदेकैका अस्मान्नद्वेग्नेपव स्वोत्तिष्ठन्नऽहश्रमुदुत्त्यमेकैका जिघ्रद्वेविनइन्द्रवाचस्पतिंविश्वकर्मन्नेकैकाग्नयेत्त्वाचतस्र इहरतिस्तिस्रः परमेष्ठीदश त्रयोविꣳशति स्त्रिषष्टिः ॥

तृतीयसवनग्रहग्रहण ।

कण्डिका-१ मंत्र ३ ।

उपयामगृहीतोस्यादित्येभ्यस्त्वा ॥ विष्णऽ उरुगायैषतेसोमस्तꣳरक्षस्वमात्त्वादभन् ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उपयामेत्यस्याङ्गिरस ऋषिः। याजुष्यनुष्टुप्छं०।सोमो देवता। द्रोणकलशादुपयामे आदित्यग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ आदित्येभ्य इत्यस्याङ्गिरस ऋ०। दैवी पंक्तिश्छं०।आदित्यस्थाल्यां शेषासिञ्चने वि०। (३) ॐ विष्ण इत्यस्याङ्गिरस ऋ०। साम्नी बृहती छं० । विष्णुर्दे० । आदित्यपात्रेणादित्यस्थाल्यपिधाने वि० ॥ १ ॥

विधि-(१) प्रथम कण्डिकासे तीन आदित्य [अर्थात् पूतभृत] नामक ग्रह ग्रहण करै, उनके मध्यमें इस प्रथम मंत्रसे प्रतिप्रस्थाता द्रोण कलशसे उपयामद्वारा सोम ग्रहण करै [का० ९ । ९ । १९] मन्त्रार्थ-हे सोम ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो १ । विधि-(२) उपयाम पात्रमें लगे हुए सोमको दूसरे मंत्रसे आदित्यस्थालीसे सिंचन करै[का० ९।९।२०]मन्त्रार्थ-हे सोम!(आदित्येभ्यः)आदित्य गणोंकी प्रीतिके निमित्त(त्वा)तुमको ग्रहण करताहूं२। विधि-(३) तीसरे मंत्रसे आदित्यस्थालीसे संस्रव सिंचनकरके आदित्यपात्रद्वारा इसको आच्छादित करै (का० ९ । ९ । २१] मन्त्रार्थ-(विष्णु) हे बहुस्तुत ! यज्ञपुरुष (उरुगाय) हे बडी स्तुतिको प्राप्त होनेवाले ! (एषः) यह (सोमः) सोम (ते) तुम्हारे निमित्त अर्पित है (तम्) उस (सोमम्) सोमको (रक्षस्व) रक्षाकरो, रक्षा करनेमें प्रवृत्त तुमको असुरदल (मा) नहीं (दभन्) पीडा दे ॥ १ ॥

कण्डिका २–मन्त्र २ ।

कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे ॥ उपोपेन्नु मघवन्भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यत आदित्येभ्यस्त्वा ॥ २ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ कदाचन इत्यस्याङ्गिरस ऋ० । आर्षी बृहती छं० । आदित्यो देव० । इन्द्रप्रार्थने वि० । (२) ॐ आदित्येभ्य इत्यस्याङ्गिरस ऋ० । दैवी पंक्तिश्छंदः । ग्रहो देवता । आदित्यपात्रेणादित्यग्रहग्रहणे वि० ॥ २ ॥

विधि–(१–२) आदित्य ग्रह ग्रहणमें इन्द्रकी प्रार्थना [का० १० । ४ । ४] मन्त्रार्थ–(इन्द्र) हे इन्द्रदेव ! तुम (कदाचन) कभी भी (स्तरीः) हिंसक (न असि) नहीं हो और (दाशुषे) हवि देनेवाले यजमानकी हविको (उत नु उप) यजमानके अत्यन्त समीपमें (सश्चसि) सेवन करते हो (मघवन्) हे धनवन् ! इन्द्र ! (इन्नु भूयः) फिर भी [यजमानके हविके परिवर्तनमें] (देवस्य) देवता (ते) आपका (दानम्) हविरूप दान (उपपृच्यते) तुम्हारे द्वारा सम्बन्धित होता है अर्थात् यजमानकी दी हुई हवि अंगीकार करके अपरिमित अभीष्ट प्रदान करो हे ग्रह ! (आदित्येभ्यः) इस प्रकार आदित्य देवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं ॥ २ ॥

कण्डिका ३–मंत्र २ ।

कदाचन प्रयुच्छस्युभे निपासि जन्मनी ॥ तुरीयादित्य सवनन्त इन्द्रियमातस्थावमृतन्दिव्यादित्येभ्यस्त्वा ॥ ३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ कदाचनेत्यस्याङ्गिरस ऋ० । निच्यृदार्षी बृहती छं० । आदित्यो दे० । धारातोविच्छिद्यपूतभृतः सकाशादादित्यग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ आदित्येभ्य इत्यस्याङ्गिरस ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । ग्रहो देवता । ग्रहग्रहणे वि० ॥ ३ ॥

विधि–(१–२) धाराको तोडकर पूतभृतमेंसे अपने समीप लाकर उसी प्रकार आदित्य ग्रहको ग्रहण करै [का० १० । ४ । ५] मंत्रार्थ–(आदित्य) हे आदित्य ! तुम (कदाच) कभीभी (न) नहीं (प्रयच्छसि) प्रमाद करते

हो, अर्थात् उदय ताप पाक प्रकाशसे प्राणियोंपर अनुग्रह करते हुए कभी आलस्य नहीं करते (उभे) देव मनुष्यसम्बन्धी दोनों (जन्मना) जन्ममें (निपासि) अतिरक्षा करते हो (ते) तुम्हारा (तुरीये) चौथा मायासे परे (अमृतम्) अविनश्वर शुद्ध (सवनम्) जगत्प्रवर्तक, विज्ञानानन्दस्वभाव (इन्द्रियम्) जो इन्द्रियरूप पराक्रम है सो (दिवि) द्युलोकमण्डलान्तरमें (आतस्थौ) अभिमुख्यतासे स्थित है "पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" अथवा हे आदित्य ! तुम कभी प्रमाद न करके हमारे दोनों जन्मकी रक्षा करते हो, यह दिव्य तीसरा सवन तुम्हारी प्रीतिके निमित्त है,यह इन्द्रिय वृद्धि करनेवाली स्वधाकी समान हवि तुम्हारे निमित्त प्रस्तुत है १ । हे ग्रह ! (आदित्येभ्यः) आदित्य देवोंकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं २ ॥ ३ ॥

विशेष-ब्राह्मणादिवर्णत्रयके दो जन्म होते हैं एक मातासे जन्म, दूसरा यज्ञोपवीत यह दो जन्मका भी अर्थ संभव होसकता है ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मन्त्र १ ।

यज्ञो देवानाम्प्रत्त्येति सुम्म्नमादित्त्यासो भवतामृडयन्तः ॥ आवोर्वाची सुमतिर्व्ववृत्त्यादृ॑होश्चिद्या वरिवोवित्तरासदादित्त्येब्भ्यस्त्त्वा ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यज्ञ इत्यस्य कुत्स ऋषिः । विराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । आदित्यो देव० । गृहीतसोमे दधिमिश्रणे वि० । (२) ॐ आदित्येभ्य इत्यस्याङ्गिरस ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । ग्रहो देवता । गृहीतसोमे दधिमिश्रणे वि० ॥ ४ ॥

विधि-(१-२) इन दोनों मंत्रोंसे इस गृहीत सोममें दही मिलावै [का० १० । ४ । ६ ।] मन्त्रार्थ-(यज्ञः) यज्ञ (देवानाम्) आदित्य देवतोंकी (सुम्नम्) सुख वा प्रीतिकरनेको (प्रत्येति) आगमन करताहै इसकारण (आदित्यासः) हे आदित्यगणो ! तुम (आमृडयन्तः) हमको अवश्यही सुखकारी (भवत) हो (वः) तुम्हारी (सुमतिः) जो स्वभावसिद्ध अनुग्रहबुद्धि है वह (अर्वाची) हमारे अभिमुख (आववृत्यात्) प्रवृत्त हो (अंहः) पापकारीकी वा नास्तिकदलकी (चित्) भी (या) जो सुमति (वरिवोवित्तरा) धनके उपार्जन करनेवाली (असत्) है वह हमारे सन्मुख हो १ । हे सोम ! (आदित्येभ्यः) आदित्य ग्रहकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मंत्र २ ।

विवंस्वन्नादित्त्यैषतेंसोमपीथस्तस्मिन्मत्स्व ॥ श्रदंस्म्मैनरोवर्चसेदधातनुयदाशीर्दादम्पतीवाम मंश्नुतः ॥ पुमान्पुत्रो जायतेविन्दतेवस्वधाविश्वाहारपऽएंधतेगृहे ॥ ५ ॥ [५]

ऋष्यादि-(१) ॐ विवस्वानित्यस्य कुत्स ऋ० । प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । आदित्यो देवता । उपांशुसवनेनादित्यग्रहमिश्रणे वि० ॥ (२) ॐ श्रदित्यस्य कुत्स ऋ० । निच्यृदार्षी जगती छं० ।आशीर्देवता । पत्न्या पूतभृत्पात्रावेक्षणे वि० ॥ ५ ॥

विधि-(१) अनन्तर प्रथम मंत्रसे उपांशुसवनके द्वारा इस दहीसे पीसकर भलीप्रकार मिश्रित करै [का० १० । ४ । ७] मंत्रार्थ-(विवस्वन्) हे अंधकारके दूरकरनेवाले ! (आदित्य) हे आदित्य ! (एषः) यह पात्रमें स्थित (ते) तुम्हारे (सोमपीथः) पीनेयोग्य सोम है (तस्मिन्) इसके पानकरनेमें (मत्स्व) प्रसन्नहो । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे पत्नी इस पूतभृतपात्रका दर्शन करै [१० । ९ । ४] (नरः) हे यज्ञीय कर्मचारीगण ! (आशीर्दाः) आशीस देनेवाले तुम (अस्मै) इस (वचसे) आशीर्वचनमें (श्रद्दधातन) श्रद्धाकरो (यत्) जिस कारण यह (दम्पती) यजमान और उसकी पत्नी (वामम्) वरण करने योग्य क्रियमाण यज्ञके फलको (अश्नुतः) लाभ करै, और इस फलसे इस यजमानके (पुमान्) पुंस्त्वधर्मसम्पन्न (पुत्रः) पुत्र (जायते) हो और यह पुत्र (वसु) धन सम्पत्ति को (विन्दते) प्राप्तकरै (अध) अनन्तर (विश्वाहा) सम्पूर्ण दिन (अरपः) पापरहित ऋणादिहीन होकर (गृहे) घरमें (आएधते) सव प्रकारसे वृद्धिको प्राप्त हो ॥ ५ ॥

भावार्थ-दोनों स्त्रीपुरुष यज्ञके फलको प्राप्तहों उनके पुत्र हो वह धन लेकर पापरहित हो अपने घरमें वृद्धिको प्राप्त हो, इस आशीर्वचनमें श्रद्धा आस्तिक बुद्धि करो ॥ ५ ॥

प्रमाण-"श्रत् इति सत्यनामसु पठितम्" निघं० [३ । १० । ३] "रपोरिप्रमिति पापनामनी भवतः" इति यास्कः [निरु० ९ । ४ । २१] ॥ ५ ॥

कण्डिका ६-मंत्र १ ।

वामम्द्यसवितर्वाममुश्वोदिवेदिवेवाममुस्म्मभ्यं

६सावीः॥ वामस्यहिक्षयस्यदेवभूरेरयाधियावा मभाजःस्याम ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐवाममित्यस्य भरद्वाज ऋ० । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । सविता दे० । सावित्रग्रहग्रहणे वि० ॥ ६ ॥

विधि-(१) ऋत्विग्गण सवनीय पुरोडाश इडा (पुरोडाशरूप खाद्य) भक्षण करके और सवन सम्बन्धी सम्पूर्ण कार्य समाप्त करके उपांशुपात्र वा उपयामपात्रमें इस कण्डिकाके दोनों मंत्रसे सावित्रनामक दूसरा ग्रह ग्रहण करै [का० १० । ९ । १३ ।] (सवितः) हे जगत्के उत्पन्नकरनेवाले ! (अद्य) आज (अस्मभ्यम्) हमारे निमित्त (वामम्) वरणीय यज्ञफलको (सावीः) प्रेरणा करो, (श्वः) अगले दिन (उ) भी (वामम् उ) यज्ञफलको दीजिये (दिवे दिवे) प्रतिदिन (वामम्) यज्ञ फलको दीजिये (वामस्य) संभजनीय (भूरे) विस्तीर्ण वा बहुतकालीन (क्षयस्य) स्वर्गलोकनिवासकी सिद्धिके निमित्त (हि) जिस कारणसे (देव) हे देव ! हम (अया) इस (धिया) श्रद्धायुक्त बुद्धिसे (वामभाजः) यज्ञफलके भोगनेवाले (स्याम) होवैं । अथवा हे देव ! "वामस्य" भजनीय "भूरेः" धनपूर्ण "क्षयस्य" निवासके दाता हूजिये ॥ ६ ॥

प्रमाण-"दिवेदिवे इत्यह्नो नामसु" [निघं० १ । ९ । ११] "धीरिति कर्मनाम" [निघं० २ । १ । २१] [ऋ० ९ । १ । १९] ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मन्त्र १ ।

उपयामगृहीतोसि सावित्रोसिचनोधाश्चनोधाऽअसिचनोमयिधेहि ॥ जिन्वयज्ञञ्जिन्व यज्ञपतिम्भगायदेवायत्वासवित्रे ॥ ७ ॥ [२] शतम्-३००॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उपयामेत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । विराड्ब्राह्म्यनुष्टुप्छंदः । सविता दे० । सावित्रग्रहग्रहणे वि० ॥ ७ ॥

मंत्रार्थ-हे सोम ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (सावित्रः) हे सोमग्रह ! तुम सविता देवता सम्बन्धि (असि) हो (चनोधाः) अन्यके धारण करनेवाले (चनोधाः) अधिकतर अन्नके धारण करनेवाले हो इस कारण (चन) अन्न (मयि) मुझको (धेहि) दो (यज्ञम्) यज्ञको (जिन्व) प्रीति करो (यज्ञपतिम्) यजमानको (जिन्व) प्रीतिकरो (भगाय) ऐश्वर्यादिगुणयुक्त-

(सवित्रे) सबके उत्पादक सविता (देवाय) देवताके निमित्त (त्वा) तुझको ग्रहण करता हूं ॥ ७ ॥

विवरण—सम्पूर्ण ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्यको ऐश्वर्य कहते हैं ॥७॥

कण्डिका ८—मन्त्र २।

उपयामगृहीतोसि सुशर्म्मासिसुप्रतिष्ठानोबृहदुक्षायनमः॥ विश्वेब्भ्यस्त्वादेवेब्भ्यऽएषतेयोनिर्विश्वेब्भ्यस्त्वादेवेब्भ्यः॥८॥ [१]

ऋष्यादि—(१) ॐ उपयामेत्यस्य भरद्वाज ऋषिः। निच्यृत्प्राजापत्या जगती छं०। विश्वेदेवा दे०। सावित्रग्रहपात्रे महावैश्वदेवग्रह-ग्रहणे वि०।(२) ॐ एषत इत्यस्य भरद्वाज ऋ०। याजुषी जगती छं०। ग्रहा देवता। यथास्थाने समासादने वि० ॥ ८ ॥

विधि—(१) प्रथम मंत्रसे सावित्र ग्रह पात्रमें महावैश्वदेव नामक तीसरा ग्रह ग्रहण करै [का०। १०।६।२] मन्त्रार्थ—हे महावैश्वदेवग्रह! (उपयाम-गृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (सुशर्मा) श्रेष्ठ कल्याणकी खान वा सुखके आश्रय (सुप्रतिष्ठानः) भले प्रकार पात्रमें स्थित [इन दोनो विशेषणोंसे प्राणरूप कथन किया यथा "प्राणो वै सुशर्मा सुप्रतिष्ठानः" इति श्रुतेः [४, ४, १, १४] ग्रह अन्नरूप और अन्न प्राणहेतु होनेसे ग्रहका प्राणत्व कहा] (बृहदु-क्षाय) अत्यन्तसेचनमें समर्थ जगत्के उत्पन्न करनेवाले प्रजापतिके निमित्त (नमः) यह अन्न (असि) है १। (विश्वेभ्यः देवेभ्यः) विश्वेदेवा देवता-ओंकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको उपयामपात्रमें ग्रहण करताहूं १। विधि—(२) अगले मंत्रसे यथास्थानमें स्थापन करै। मन्त्रार्थ—हे महावैश्वदेवग्रह! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (विश्वेभ्यः देवेभ्यः) विश्वेदेवा देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करता हूं ॥ ८ ॥ प्रमाण—"प्रजापतिर्वै बृहदुक्षः" इति श्रुतेः [श० ४।४।१।१४] "नम इत्यन्ननामसु" [निघं० २।७।२२] ॥ ८ ॥

कण्डिका ९—मंत्र १।

उपयामगृहीतोसिबृहस्पतिसुतस्यदेवसोमतऽइन्द्रोरिन्द्रियावतःपत्नीवतोग्ग्रहाँ२ऽऋद्ध्यासम्॥ अहम्परस्तादहमवस्ताद्यदन्तरिक्षन्तदुमेपिता

भूत ॥ अहꣳसूर्य्यमुभयतोददर्शाहन्देवानाम्पर रमङ्गुहायत ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उपयामेत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । ब्राह्मी गायत्री छं० । सोमो देवता । पत्नीवद्ग्रहमिश्रणे वि० (२) ॐ अहमित्यस्य भरद्वाज ऋ० । आर्ष्युष्णिक्छं० । प्रजापतिरूपात्मा देवता । प्रचर्षणीशिष्टघृतेन पत्नीवद्ग्रहमिश्रणे वि० ॥ ९ ॥

विधि-(१) उपांशुग्रहपात्रमें वा अन्तर्याम ग्रहपात्रमें प्रतिप्रस्थाता प्रथम मंत्रसे पत्नीवत् नामक चतुर्थ ग्रह ग्रहण करै [का० १० । ६ । १६] मंत्रार्थ-(देवसोम) हे दीप्यमान देव सोम ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो इस कारण (बृहस्पतिसुतस्य) यज्ञकर्मवाले यजमानसे अभिषुत अथवा ब्राह्मण ऋत्विगादिसे अभिषुत (ते) तुम्हारे सम्बन्धी (न्द्रोः) रसयुक्त (इन्द्रियावतः) वीर्यवान् (पत्नीवतः) पत्नीसंयुक्त तुम्हारे अनुग्रहसे (ग्रहान्) अन्यान्य उपांशुप्रभृतिग्रहोंको (आऋध्यासम्) समर्द्धित करता हूं १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे प्रचर्पणीशिष्ट घृतसे पत्नीवत् ग्रहको मिश्रित करै [का० १० । ६ । १७] मंत्रद्रष्टा सर्वगत परमात्मारूप मानकर उच्चारण करता है । मन्त्रार्थ-(अहम्) मैं परमात्मारूप होकर (परस्तात्) ऊपर द्युलोकादिमें (अहम्) मैंही (अधस्तात्) नीचे भूलोकादिमें स्थित हूं (यत्) जो (अन्तरिक्षम्) मध्यवर्ती लोक है (तत उ) वहही (मे) मुझ देहधारीका (पिता) पितृवत् पालक होता है (अहम्) मैं परमरूप हुआ (उभयतः) ऊपर नीचे स्थित होकर (सूर्यम्) सूर्यको (ददर्श) देखताहूं (देवानाम्) देवताओंको (यत्) जो (परमम्) अत्यन्त (गुहा) गोप्य हृदय है सो (अहम्) मैं हूं ॥ ९ ॥

विशेष-होम करते २ प्रचरणीमें अवशिष्ट घृत रहगया वही लेना पूर्ण ज्ञान होनेसे सर्वत्र ईश्वर ही व्याप्त हैं उसीकी सत्ता लक्षित होती है "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इति श्रुतेः ॥ ९ ॥

कण्डिका १२-मन्त्र २ ।

अग्ना३ऽइपत्त्नीवन्त्सजूर्द्देवेनत्त्वष्ट्रासोमम्पिब स्वाहा ॥ प्रजापतिर्वृषासिरेतोधारेतोमयिधेहिप्प्रजापतेस्तेवृष्णोरेतोधसोरेतोधामशीय ॥ १० ॥ [२]

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्न इत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । भुरिगार्ची गायत्री छं० । अग्निर्देवता । अग्नेरुत्तरभागे पत्नीवद्ग्रहहवने वि०। (२) ॐ प्रजापतिरित्यस्य भरद्वा० ऋ० । आर्ची : त्रिष्टुप्छं० । प्रजापतिर्देवता । अवेक्षणे वि० ॥ १० ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे अध्वर्यु पत्नीवत् नाम ग्रहको अग्निके उत्तर भागमें हवन करै [का० १० । ६ । १९] मन्त्रार्थ-(पत्नीवतँ) पत्नीवत् हे (अग्ना३ इ) अग्नि ! (त्वष्टा) त्वष्टा (देवेन) देवताके (सजूः) साहित (सोमम्) सोमको (पिव) पानकर (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो १ ॥ विधि-(२) उद्गातापत्नीको उत्तरद्वारपथमेंके सदोमण्डपमें प्रवेश कराके आप दक्षिण भागमें उपविष्ट होकर इस पत्नीको अवलोकन करै अनन्तर नष्टा इस पत्नीको पश्चिम द्वारसे सदोमण्डपमें फिर प्रवेश करावै, उद्गाताके उत्तर भागमें इसको बैठाकर कहै कि उद्गाताको अवलोकन कर,तव पत्नी इस मंत्रको पाठ करते उसको अवलोकन करै [का० १० । ७ । ३] मन्त्रार्थ-हे उद्गातः ! [प्रजापातिः) प्रजाओंके पालक (वृपा) सिंचनमें समर्थ (रेतोधाः) वीर्यके धारण करनेवाले (असि) हैं (रेतः) वीर्य (मयि) मुझमें (धेहि) स्थापन करै (वृष्णः) वीर्यके सिंचन करनेवाले (रेतोधसः) वीर्यके धारणकरनेवाले (प्रजापतेः) प्रजापति (तें) आपके अनुग्रहसे (रेतोधाम) प्रजोत्पादनमें समर्थ वीर्यवान् पुत्रको (अशीय) मैं प्राप्त करूं २ ॥ १० ॥

विशेष-गार्हपत्य अग्निके समीप ही यजमानपत्नीका वासस्थान है इस कारण इसको पत्नीवान् कहते हैं ।

इस मंत्रद्वारा तपकी शक्तिसे यजमानपत्नी गर्भधारणकरनेमें समर्थ होती थी तपस्विमहर्षियोंके दर्शनसेही सन्तानकी प्राप्ति वेदमंत्रोंद्वारा होतीहै. यह गूढ विषय है ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मंत्र २ ।

उपयामगृहीतोसिहरिरसिहारियोजनोहरिभ्यान्त्वा ॥ हर्य्योर्द्धानास्त्थसहसोमाऽइन्द्राय॥११॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उपयामेत्यस्य भरद्वाज ऋ० । आर्च्युष्णिक्छं० । ऋक्सामे दे० । उपयामे हारियोजनग्रहग्रहणे वि० (२) ॐ हर्योरित्यस्य भरद्वाज ऋ० । याजुषी जगती छं० । धाना देवता । धानावपने वि० ॥ ११ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे हारियोजननामक पंचम ग्रहको उपयामपात्रद्वारा ग्रहण करै [का० १० । ८ । १] मंत्रार्थ-हे पंचम ग्रह ! (उपयामगृहीतः) तुम उपयामपात्रद्वारा गृहीत (असि) हो (हारियोजनः) हारियोजननामवाले [अर्थात्

इस ग्रहको प्रस्तुत हुआ जानकर इस स्थलमें आनेके निमित्त इन्द्र अपने रथमें हरि [अश्व योजन करते हैं इस कारण हारियोजन कहा] (हरिः) हरितवर्ण रश्मि वा सोमरूप (असि) हो (हरिभ्याम्) ऋक्‌और सामवेदकी प्रीतिके निमित्त(त्वा) तुझको ग्रहण करताहूं[ऋक्सामे वै हरी ऋक्सामाभ्याᳪ॑ह्येनं गृह्णाति" इति श्रुतेः[श०४।३।६]विधि-(२) दूसरे मंत्रसे हारियोजन ग्रहमें भुने जौ रक्खै [का०१० । ८। २] मन्त्रार्थ-(सहसोमाः) सोमके सहित (धानाः) हे धान्यसमूह ! तुम(इन्द्राय) इन्द्रदेवताके (हर्योः) दोनों हरित अश्वोंकी प्रीतिके निमित्त (स्थ) इस हारियोजननामक ग्रह सोमसे मिश्रित होते हो ॥ ११ ॥

विशेष-किसीके मतमें 'हरिभ्याम्' पदसे इन्द्रके अश्वद्वयकी उपासना कथन है प्रकृतपक्षमें इन्द्रसे सूर्य और किरणजाल उसके अश्व हैं ॥ ११ ॥

तृतीयसवनग्रह पूर्ण हुए ।

अथ शेषक्रिया ।

कण्डिका १२-मन्त्र १ ।

यस्ते॑ऽअश्व॒सनि॑र्भ॒क्षो यो गो॒सनि॒स्तस्य॑तऽइ॒ष्टय॑जुष स्तु॒तस्तो॑मस्य श॒स्तोक्थ॒स्योप॑हूत॒स्योप॑हूतो भक्षयामि ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यस्त इत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । आर्षी पंक्तिश्छं० । भक्ष्यद्रव्यं दैवतम् । प्राणभक्षं भक्षयित्वोत्तरवेदौ निवपने वि० ॥ १२ ॥

विधि-(१) अनन्तर समस्त ऋत्विग्गण इस मंत्रके पाठपूर्वक यह सोमरससिक्त धान्य भक्षण करैं,शेष उत्तरवेदीमें डालदें[का० १०।८।५] मंत्रार्थ-हे सोमसिक्त धान्यरूप उत्कृष्ट खाद्य ! (इष्टयजुषः) यजुर्मन्त्रोंसे इष्ट (स्तुतस्तोमस्य) उद्गातृद्वारा ऋकमंत्रोंसे स्तुत (शस्तोक्थस्य) होताओं द्वारा सामके उक्थ मंत्रोंसे शस्त (उपहूतस्य) इस समय उपहूत (ते) तुम्हारा (यः) जो (भक्षः) भक्षण फल (अश्वसनिः) घोडोंका देनेवाला है (यः) जो भक्ष (गोसनिः) गौओंका दाता है (तस्य) उस (ते) तुम्हारे उस भक्षफलको (उपहूतः) अनुज्ञाको प्राप्तकरके (भक्षयामि) मैं भक्षण करता हूं ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मन्त्र ६ ।

दे॒वकृ॑त॒स्यैन॑सोऽव॒यज॑नमसि मनु॒ष्य॒कृतस्यैन॑सोऽव॒यज॑नमसि पि॒तृकृ॑त॒स्यैन॑सोऽव॒यज॑नमस्या॒त्मकृ॑त॒स्यैन॑सोऽव॒यज॑नम॒स्यैन॑सऽएन॑सोऽव॒यज॑नमसि ॥

यच्चाहमेनो विद्वाँश्चकार यच्चाविद्वाँस्तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवकृतस्येति मन्त्रस्य भरद्वाज ऋ० । आसुर्य-नुष्टुप्छं० । अग्निर्देव० । आहवनीये शकलाधाने वि० । (२) ॐ मनुष्यकृतस्येत्यस्य भरद्वाज ऋ० । आसुर्युष्णिक्छं० । आहवनीये शकलाधाने वि० । (३-४) ॐ पितृकृतस्येत्यस्य आत्मकृतस्येत्यस्य च मन्त्रद्वयस्य भरद्वाज ऋषिः । आसुर्यनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । आहवनीयेऽग्नौ शकलाधाने वि० । (५) ॐ एनस इत्यस्य भरद्वाज ऋ० । आसुरी बृहती छं० । आहवनीये शकलाधाने वि० । (६) ॐ यच्चाहमित्यस्य भरद्वाज ऋ० । आर्ची बृहती च्छन्दः । अग्निर्देवता । आहवनीये शकलाधाने वि० ॥ १३ ॥

विधि-(१-२-३-४-५-६) इस कण्डिकाके मंत्रोंसे यूपनिर्मितिसमय जो काष्ठखण्ड अवशिष्ट रहे थे उनको हवन करदे [का० १० । ८ । ६] मन्त्रार्थ-हे शकल ! अग्निमें आहूयमान तुम (देवकृतस्य) देवताओंके विषय किये हुए यजन अभावादिलक्षणवाले (एनसः) पापके (अवयजनम्) दूरकरनेवाले (असि) हो १ । हे काष्ठखण्ड ! तुम (मनुष्यकृतस्य) मनुष्योंने किये हुए द्रोह निन्दादि (एनसः) पापके (अवयजनमसि) निवारण करनेवाले हो २ । मन्त्रार्थ-हे काष्ठखण्ड ! तुम (पितृकृतस्य) पितरोंमें किये श्राद्धआदि नकरनेवाले (एनसः) पापके (अवयजनम्) विनाश करनेवाले (असि) हो ३ । हे काष्ठखण्ड ! तुम (आत्मकृतस्य) अपनी आत्मामें किये निन्दादि (एनसः) पापके (अवयजनम्) नाशक (असि) हो ४ । हे काष्ठखण्ड ! तुम (एनसः एनसः) सम्पूर्ण संसर्गसे उत्पन्नपापोंके (अवयजनम्) नाशक (असि) हो ५ । हे हूयमान काष्ठखण्ड ! (च) और (विद्वान्) जान बूझकर (यत्) जो (एनः) पाप (अहम्) मैने (चकार) किया है (च) और (अविद्वान्) विनाजाने (यत्) जो पाप कियाहै (तस्य) उस (सर्वस्य) संपूर्ण (एनसः) पापके (अवयजनम्) नाशकरनेवाले (असि) हो हमारे सव पाप विनष्ट करो ६ ॥ १३ ॥

विवरण-यहां काष्ठखण्डमें व्यापकतासे परमात्माका सम्बोधन है ॥ ११ ॥

कण्डिका १४-मन्त्र १ ।

सं वर्चसा पयसा सन्तनूभिरगन्महि मनसा सꣳशिवेन ॥ त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥ १४ ॥ [४]

ऋष्यादि-(१) ॐ संवर्चसेत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । त्वष्टा दे० । चमसाभिमन्त्रणे वि० ॥ १४ ॥

विधि-(४) यजमान चत्वालकी अपर दिशामें कुछ उदकपूर्णकलशके ऊपर हरित कुशा विछाकर यह मंत्र पाठ करै [का० १० । ८ । ७] मन्त्रार्थ-(संवर्चसा) इसकी व्याख्या २ अध्या० २४ कण्डिकामें होगई है ॥ १४ ॥

कण्डिका १५-मन्त्र २ ।

प्रथम मंत्र ।

समिन्द्रणोमनसानेषिगोभिः सᳪ सूरिभिर्म्मघवन्त्सᳪ स्वस्त्या ॥ सम्ब्रह्मणादेवकृतंय्यदस्ति सन्देवानाᳪ सुमतौयज्ञियानाᳪ स्वाहा ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ समिन्द्रमित्यस्य अत्रिर्ऋषिः । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं० । विश्वेदेवा देवता । समिष्टयजुर्हवने वि० ॥ १५ ॥

विधि-(१) इन नौ मंत्रोंसे समष्टि यजुहोम करै अर्थात् इन नौ मंत्रोंकी आहुतिको समष्टियजु कहतेहैं [का० १०।८।११] मंत्रार्थ-(मघवन्) हे धनवन्! (इन्द्र) इन्द्र देव ! (मनसा) मनके अनुग्रहसे(नः) हमको (सन्निषि) संयोग करो अर्थात् हमको उत्कृष्ट मन प्राप्त करो (गोभिः) वाणी वा गवादि पशुओंको (सम्) प्राप्त कराओ अर्थात् हमारी सव इन्द्रिय उत्कृष्ट हों (सूरिभिः) पण्डित वा उत्कृष्ट होत्रादिसे वा बडे बुद्धिमानोंसे (सम्) संयुक्त करो (स्वस्त्या) उत्कृष्ट कल्याण प्राप्त कराओ (ब्रह्मणा) परब्रह्मसे वा अर्थज्ञानसहित वेदकरके (सम्) संयुक्त करते हो (देवकृतम्) देवताओंके निमित्त किया हुआ कर्म (यत्) जो (अस्ति) है तथा (यज्ञियानाम्) यज्ञसम्वन्धि (देवानाम्) देवताओंकी (सुमतौ) अनुग्रहबुद्धिसे (सम्) संयुक्त करता है (स्वाहा) इस प्रकार आपके निमित्त श्रेष्ठ होम हो । [आशय यह कि यज्ञीय देवगणोंके निमित्त जो जो अनुष्ठान हुआहै वह वह सुदृष्टिसे प्राप्त कराओ] [ऋ० ४ । २ । १७ में कुछ वदल है] ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मन्त्र १ ।

दूसरा मंत्र ।

संव्वर्च्चसापयसासन्तनूभिरगन्महिमनसासᳪ शिवेन ॥ त्वष्टासुदत्रोविदधातुरायोनुमार्ष्टुतन्वोयद्विलिष्टम् ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ संवर्चसेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । त्वष्टा देवता । यजुर्हवने वि० ॥ १६ ॥

इसकी व्याख्या दूसरे अध्यायकी २४ कण्डिकामें होगई ॥ १६ ॥

कण्डिका १७-मंत्र १ ।

तीसरा मंत्र ।

धाता रातिः सविता इदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपा देवो अग्निः ॥ त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणा यजमानाय द्रविणं दधात स्वाहा ॥ १७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ धाता इत्यस्यात्रिर्ऋषिः । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । धातृसवितृप्रजापतिदेवाग्नित्वष्टृविष्णुदेवा देवताः । यजुर्हवने वि० ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ-(रातिः) दानशील (धाता) धाता देवता (सविता) सविता देवता (निधिपाः) पद्म महाशंखादि निधियोंके पालनकरनेवाले (प्रजापतिः) प्रजापति (देवः) दीप्यमान (अग्निः) अग्निदेवता (त्वष्टा) त्वष्टृदेवता (विष्णुः) भगवान् विष्णु (इदम्) इस हमारी समष्टियजुलक्षण हविको (जुषन्ताम्) सेवन करैं और यह देवता (प्रजया) यजमानसम्बन्धि संततिके साथ (संरराणाः) भली प्रकार रमण करते हुए (यजमानाय) यजमानके निमित्त (द्रविणम्) धनपुष्टिको (दधात) प्रदान करैं (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो अर्थात् आहुतिके विनिमयसे यजमानके धनसम्पत्ति पुत्र हों ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मंत्र १ ।

चौथा मन्त्र ।

सुगा वो देवाः सदना अकर्म य आजग्मेदं सवनं जुषाणाः ॥ भरमाणा वहमाना हवीं ष्यस्मे धत्त वसवो वसूनि स्वाहा ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सुगाव इत्यस्यात्रिर्ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । देवा देवताः । यजुर्हवने वि० ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ-(देवाः) हे देवताओ ! (ये) जो तुम (इदम्) इस (सवनम्) यज्ञको (जुषाणाः) सेवन करते हुए (आजग्म) इस स्थानमें आये हो (वः) तुम्हारे (सदना) स्थान (सुगाः) सुखसे प्राप्त होनेयोग्य (अकर्म) हमने करदियेहैं (वसवः) हे सबमें निवासकरनेवाले देवताओ ! (हवीꣳषि) यज्ञसमाप्तिमें हवियोंको (भरमाणाः) भरणकरनेवाले जो रथमें बैठनेवाले हैं वे रथोंमें धारण करैं जिनके पास रथ नहीं हैं वे स्वयं (वहमानाः) वहन करते हुए (अस्मे) हमने (वसूनि) धनोंको (धत्त) धारण करो (स्वाहा) यह आहुति सम्यक् प्रकारसे आहुत हो ॥ १८ ॥

इति शेषक्रिया ।

अथ विसर्जन ।

कण्डिका १९-मन्त्र १ ।

पञ्चम मन्त्र ।

याँ२ऽआवहऽउशतोदेवदेवाँस्तान्प्रेरयस्वेऽअग्नेसधस्थे ॥ जक्षिवाꣳसः पपिवाꣳसश्चविश्वेसुं घर्मꣳस्वरातिष्ठतानुस्वाहा ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यानित्यस्यात्रिर्ऋषिः । भुरिगार्षीत्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । हवने वि० ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (देव) हे दीप्यमान देवता ! (यान्) जिन (उशतः) हविकी कामना करनेवाले (देवान्) देवताओंको तुम (आवहः) बुलाकर लाये हो (तान्) उन (देवान्) देवताओंको (स्वे) अपने २ (सधस्थे) स्थानोंमें (प्रेरय) भेजो (विश्वे) सब तुम (जक्षिवांसः) सवनीय पुरोडाशादिको भक्षण करते (पपिवांसः) सोमपान करते हुए (च) भी इस समय यज्ञसमाप्तिमें (असुम्) हिरण्यगर्भ प्राणलक्षणवाले वायुमण्डलमें (घर्मम्) आदित्यमण्डलको (स्वः) वा द्युलोकको (अन्वातिष्ठत) आश्रयकरो इस प्रकार निवेदन कर उनको उनके निज निज स्थानमें प्रेरणकरो (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीतहो ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मन्त्र १ ।

छठा मंत्र ।

यद्धित्वाप्प्रयतियज्ञेऽअस्मिन्नग्नेहोतारमवृ

णीमहीह ॥ ऋधंगयाऽऋधंगुताशंमिष्ठाःप्रजान
न्यज्ञमुपंयाहिविद्वान्त्स्वाहा ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वयमित्यस्यात्रिर्ऋषिः । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । हवने वि० ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव ! (हि) जिस कारणसे कि (इह) इस दिन वा स्थानमें (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञके (प्रयति) प्रवृत्त होनेमें (होतारम्) देवताओंके आह्वान करनेवाले वा होमके निष्पादक (त्वा) तुझको (वयम्) हमने (अवृणीमहि) वरणकिया था "अग्निर्वै देव्यो होता" इतिश्रुतेः । इसी कारण (ऋधक्) समृद्धिपूर्वक अथवा यज्ञको वृद्धि देते हुए तुमने (अयाः) यज्ञकराया अर्थात् अपना स्वीकृतकार्य जिसप्रकार उत्कृष्ट होजाय इसप्रकार यज्ञकराया (उत्) और (ऋधक्) यज्ञकी वृद्धि देते हुए (अशमिष्ठाः) यज्ञके प्रायश्चित्तको शान्त किया अर्थात् इतने समयतक यज्ञके विघ्न शांत रक्खे (विद्वान्) ज्ञानवान् तुम (यज्ञम्) यज्ञको पूर्ण हुआ (प्रजानन्) जानकर (उपयाहि) अपने स्थानको गमन करो (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मन्त्र १ ।

सप्तम मन्त्र ।

देवांगातुविदोगातुंवित्त्वागातुमित ॥ मनंसस्प
तऽइमन्देवयज्ञᳬस्वाहावातेधाः ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवा इत्यस्यात्रिर्ऋषिः । स्वराडार्ष्युष्णिक्छं० । मनसस्पतिर्दे० । हवने वि० ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ-(देवा इति) इस मंत्रकी व्याख्या २ अध्यायकी २१ कण्डिकाके दूसरे मंत्रमें होगई 'इसका वायु देवता भी है' ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मन्त्र २ ।

अष्टम नवम मंत्र ।

यज्ञंयज्ञङ्गच्छयज्ञपतिङ्गच्छस्वांय्योनिङ्गच्छस्वा
हा ॥ एषतेंयज्ञोयज्ञपतेसहसूक्तवाकᳬसर्वंवीरस्तञ्जु
षस्वस्वाहा ॥ २२ ॥ [८]

ऋष्यादि—(१) ॐ यज्ञ यज्ञमित्यस्यात्रिर्ऋषिः । भुरिक्साम्न्युष्णिक्छं० । यज्ञो देवता । हवने वि० । (२) ॐ एषत इत्यस्यात्रिर्ऋषिः । भुरिक्साम्न्युष्णिक्छं० । यज्ञो देवता । हवने वि० ॥ २२ ॥

मंत्रार्थ—(यज्ञ) हे यज्ञ ! (यज्ञम्) अपनी प्रतिष्ठाके निमित्त विष्णु भगवानके प्रति (गच्छ) गमन कर (यज्ञपतिम्) फलदान करनेको यजमानके प्रति (गच्छ) गमन कर (स्वाम्) अपनी (योनिम्) कारणभूतवायुकी क्रियाशक्तिके प्रति अथवा द्रव्यदेवताके प्रति (गच्छ) गमन कर (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो १ । मन्त्रार्थ—(यज्ञपते) हे यजमान ! (एषः) यह अनुष्ठान किया हुआ (यज्ञः) यज्ञ (ते) तेरा है जो कि यह यज्ञ (सह सूक्तवाकः) ऋग्वेदके सूक्त और सामवेदीय वाक्योंसे युक्त है तथा (सर्ववीरः) सोमसवनचरुपुरोडाशादिसे पूर्णाङ्ग है (तत्) उस यज्ञको (जुषस्व) फल भोगनेसे सेवनकरो (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ॥ २२ ॥

कण्डिका २३—मन्त्र ३ ।

माहिर्भूर्मापृदाकुः उरुꣳहिराजावरुणश्चकार सूर्यायपन्थामन्वेतवाऽउ ॥ अपदेपादाप्प्रतिधातवेकरुतापवक्ताहृदयाविधश्चित् ॥ नमोवरुणायाभिष्ठितोवरुणस्यपाशः ॥ २३

ऋष्यादि—(१)ॐ माहिर्भूरित्यस्यात्रिर्ऋषिः । दैवी जगती छं० । रज्जुर्देवता । चात्वाले कृष्णविषाणामेखलाप्रक्षेपणे वि० । (२) ॐ उरुमित्यस्य शुनःशेप ऋषिः । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । वरुणो देव० । प्राङ्मुखेन यजमानेन पठने वि० । (३) ॐ नम इत्यस्य शुनःशेप ऋ० । आसुरी गायत्री छन्दः । वरुणो दे० । पठित्वा गमने वि० ॥ २३ ॥

विधि—(१) यजमानके हाथमें स्थित कृष्णविषाण [२ अ १० क० ४ मंत्रसे गृहीत और कटिमें स्थित मेखला [२ अध्यायकी दशम कण्डिकाके प्रथम मंत्रसे गृहीत] को प्रथम मंत्रसे चत्वालमें निक्षेप करे [का० १० । ८ । १३] मन्त्रार्थ—हे मेखलारज्जु ! तुम जलमें पतित होकर (आहिः) सर्पाकार (मा) मत (भूः) होना [विषाणके प्रति] हे कृष्णविषाण ! तुम (पृदाकुः) अजगररूप (मा) मतहोना १ ।

अथ अवभृथक्रिया ।

विधि-(२) अवभृथ कार्यको गमनोद्यत चत्वालके समीपमें उपस्थित प्राङ्मुख यजमानको अध्वर्यु इस दूसरे मंत्रका पाठ करावै [का० १० । ८ । १९] मन्त्रार्थ-(वरुणः) वरुण (राजा) राजाने (सूर्य्याय) सूर्यके (अन्वेत) प्रतिदिन गमन करनेके निमित्त (वाउ) और (हि) जिस कारणसे (अपदे) अन्तरिक्षमें (उरुम्) विस्तीर्ण (पन्थाम्) मार्गको (चकार) किया है इस कारण हमकोभी अन्तरिक्षमें (पादा) चरण (प्रतिधातवे) निक्षेप करनेको (अकः) मार्ग करो अर्थात् स्वर्गगमनके निमित्त मार्ग करो (उत्) और जो वरुण (हृदयाविधः) हृदयके पीडा देनेवाले (चित्) तथा निन्दककेभी (अपवक्ता) तिरस्कार करनेवाले हैं अथवा सूर्यकी उपासना करके अवभृथस्नानके निमित्त गमनोद्यत यजमानके गमनक्लेश निवारणके निमित्त वरुण राजाने राजमार्ग सुप्रशस्त किया है और मर्मभेदी वाक्यप्रयोग करनेमें पटु दुरात्माओंके हृदयान्तरिक्षमें यह पद्क्रमण विहित हो २ । विधि-(३) तीसरा मंत्र पाठ करते गमन करै। मन्त्रार्थ-(वरुणस्य) वरुण देवताका (पाशः) पाश (अभिष्ठितः) संयत वा वशीभूत हुआ अव वंधन न करैगे (वरुणाय) वरुण देवताके निमित्त (नमः) नमस्कार हो ३ ॥ २३ ॥

विवरण-याज्ञिक जनोंको यज्ञक्रियात्मक अवभृथस्नानके निमित्त नदीतटमें जाना होता है, ऋत्विक् और अन्यान्य दर्शक गण उनके साथ जाते हैं, उस कारण वह मार्ग प्रशस्त कराजाता है, यह राजाका कर्तव्य है जिस स्थलमें राजाही स्वयं यजमान हो उस स्थलमें इस मंत्रसे मार्गकी प्रशस्तताका आदेश जानना, अर्थात् इस कर्मसमाप्तिकी अवस्था दर्शनसे निन्दकगण अतिशय क्लेश पावै ॥ २३ ॥

कण्डिका २४-मन्त्र १ ।

अग्नेरनीकमुपऽआविवेशापान्नपात्प्रतिरक्षन्नसुर्य्यम् ॥ दमेदमेसमिधंय्यक्ष्यग्नेप्रतितेजिह्वा घृतमुच्चरण्यत्स्वाहा ॥ २४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्नेरित्यस्यात्रिर्ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । अप्सु प्रास्तायां समिधि चतुर्गृहीताज्यहवने वि० ॥ २४ ॥

विधि-(१) जलके मध्यमें समिधप्रक्षेप करकै उसके ऊपर चतुर्गृहीत आज्य इस मंत्रसे हवन करै [का० १० । ८ । २२] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्नि

देव ! अंगनशील तुम्हारा (अपान्नपात्) अपान्नपात्संज्ञक (अनीकम्) मुख है उसको (अपः) जलोंमें (आविवेश) प्रवेश करो (दमेदमे) उस उस यज्ञस्थानमें (असुर्यम्) असुरकृत यज्ञ विघ्नसे (प्रतिक्षन्) रक्षाकरते हुए (समिधम्) समिधाके साधन घृतसे (यक्षि) संगत करो अर्थात् सब अवभृथमें समिधयाग होता है (अग्ने) हे अग्ने ! (ते) तुम्हारी (जिह्वा) ज्वाला (घृतम्) घृतके (प्रतिउच्चरण्यत्) प्रति उद्यत हो अर्थात् प्रति अवभृथमें तुम्हारी जिह्वा घृतास्वादन करती है [अश्वमेधमें कई अवभृथ होते हैं](स्वाहा)यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ॥२४॥

कण्डिका २५-मन्त्र १ ।

समुद्रेते हृदयमुप्स्वुन्तः सन्त्वाविशुन्त्वोषधीरुता पः॥ यज्ञस्यंत्त्वा यज्ञपते सूक्तोक्तौ नमोवाके विधेमुयत्स्वाहा ॥ २५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ समुद्र इत्यस्यात्रिर्ऋषिः । भुरिगार्षी पंक्तिश्छं० । सोमो दे० । अप्सु ऋजीषकुम्भप्रक्षेपणे वि० ॥ २५ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे ऋजीषकुंभको जलमें प्रक्षेप करै किन्तु बहाव नहीं [का० । १० । ९ । १] मन्त्रार्थ-हे सोम ! (यत्) जो (ते) तेरा (हृदयम्) हृदय (समुद्रे) समुद्रके (अप्सु) जलोंमें (अन्तः) अन्तर स्थित है वहां तुमको प्रेषित करताहूं वहां स्थित (त्वा) तुमको (ओषधीः) औषधियें (उत) और (आपः) जल (संविशन्तु) प्रवेश करैं (यज्ञपते) हे यज्ञके पालक सोम ! (यज्ञस्य) यज्ञके (सूक्तोक्तौ) शोभन वचनोच्चारणमें (नमोवाके) नमस्कारवचनमें(त्वा) तुमको (विधेम) स्थापन करते हैं अर्थात् यज्ञीय सूक्तवाक्य 'सामवेदाय नमः' साम तुम्हारी प्रीतिके निमित्त विधान करते हैं (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २५ ॥

विवरण-सारहीन सोमको ऋजीष कहते हैं यह समस्त ऋजीष इस कुम्भमें रक्षित हैं यह ऋजीषपूर्णकुम्भ ऋजीषकुम्भ कहता है ॥ २५ ॥

कण्डिका २६-मंत्र २ ।

देवीराप एष वो गर्भस्तꣳ सुप्रीतꣳ सुभृतम्बिभृत ॥ देवसोमैष ते लोकस्तस्मिञ्छञ्च वक्ष्व परि च वक्ष्व ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ देवीराप इत्यस्यात्रिर्ऋषिः ।भुरिक्साम्नी बृहती छं० । आपो देवता । उपस्थाने वि० । (२) ॐ देव इत्यस्यात्रिर्ऋषिः । निच्यृत्साम्नी पंक्तिश्छं० । सोमो देवता । उपस्थाने वि० ॥ २६ ॥

विधि-(१) जो ऋजीषकुंभ जलमें स्थित है उसको छोडकर उपस्थान करै [का० १० । ९ । २] मन्त्रार्थ-(देवीः आपः) हे दिव्यगुणयुक्त जलो ! (वः) तुम्हारा (एषः) यह सोमकुंभ (गर्भः) गर्भस्थानीय है (तम्) इस प्रकार इसको (सुप्रीतम्) प्रीतिपूर्वक (सुभृतम्) पुष्टिपूर्वक (विभृत) धारण करो (देव-सोम) हे देवसोम ! (ते) तुम्हारा (एषः) यह (लोकः) जललक्षणवाला स्थान है (च) और (तस्मिन्) इसमें अवस्थित होकर (शम) सुखको (वक्ष्व) वहन करो सुख दो(परिवक्ष्व च)और हमारे सब दुःख दूरकर रक्षा करो "तस्मिन्नः शश्वोधि सर्वाभ्यश्चन आर्तिभ्यो गोपाय" इति श्रुतिः [श०४।४।५।२१] ॥ २६ ॥

कण्डिका २७-मंत्र २।

अवभृथनिचुम्पुण निचेरुरसिनिचुम्पुणः ॥ अव देवैर्देवकृतमेनोयासिषमवमर्त्यैर्मर्त्यकृतम्पुरु राव्णोदेवरिषस्पाहिदेवानाᳪसमिदसि॥२७॥[५]

ऋष्यादि-(१) ॐ अवभृथेत्यस्यात्रिर्ऋषिः । ब्राह्म्यनुष्टुप्छं० । यज्ञो देवता।अप्सु ऋजीषकुम्भनिमज्जने वि० (२) ॐ अवदेवैरित्यस्यात्रिर्ऋ० । याजुष्युष्णिक्छं० । अग्निर्देवता । आहवनीये समिदाधाने वि० ॥ २७ ॥

विधि-(१) अनन्तर इस प्रथम मंत्रका पाठ करके यह कुंभ जलमग्न कर यजमान स्वयं स्नान करे [का० १० । ९ । ३] मन्त्रार्थ-हे (अवभृथ) अव-भृथ यज्ञविशेष ! तुम(नि चुम्पुण)अतिमन्द गतिसे गमन करो यद्यपि तुम(निचेरुः) अत्यन्त गमनशील (असि) हो तो भी (निचुम्पुणः) अतिमन्दगतिसे गमन करो (देवैः) प्रकाशमान हमारी इन्द्रियोंसे (देवकृतम्) हविके स्वामी देवताओंमें किया हुआ जो (एनः) पाप है सो (अवयासिषम्) जलमें त्यक्त किया (मर्त्यैः) हमारे सहायभूत ऋत्विजोंने (मर्त्यकृतम्) यज्ञदर्शनको आये हुए मनुष्योंकी अवज्ञारूप जो पाप किया है वह भी (अव) जलमें त्याग किया (देव) हे अव-भृथाख्य यज्ञ ! (पुरुराव्णः) बहुत विरुद्ध फल देनेवाले (रिषः) वधसे (पाहि) हमारी रक्षा करो तुम्हारे प्रसादसे कोई दोष हमको न लगे । विधि-(२)अनन्तर यज्ञागारमें फिर आकर नित्यस्थापित आहवनीय अग्निमें दूसरे मंत्रसे समिदाधान

करै[का० ९ । ९ । ३९] मंत्रार्थ-(देवानाम्) देवताओंकी सम्बन्धवाली (समित्) समिधा दीप्तिमान् (असि) होती है । इति विसर्जनम् । अवभृथसमाप्तिः ॥ २७ ॥

गर्भिणीप्रायश्चित्त ।

कण्डिका २८-मंत्र १ ।

एजतु दश॑मास्यो॒ गर्भो॑ ज॒रायु॑णा स॒ह ॥ यथा॒यं वा॒युरेज॑ति॒ यथा॑ समु॒द्र ए॒जति॑ ॥ ए॒वायं दश॑मास्यो॒ऽअस्र॑ज्ज॒रायु॑णा स॒ह ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एजत्वित्यस्यात्रिर्ऋषिः । त्र्यवसानामहापंक्तिश्छंदः । गर्भो दे० । गर्भाभिमन्त्रणे वि० ॥ २८ ॥

विधि-(१) गर्भको इस अवसरमें जल लेकर इस मंत्रसे अभिमंत्रण करै[का० २५ । १० । ७] मंत्रार्थ-(दशमास्यः) दश महीनेका पूरा (गर्भः) गर्भ (जरायुणासह) गर्भवेष्टन जरायुके साथ (एजतु) चलायमान अर्थात् कम्पित हो (यथा) जिस प्रकार (अयम्) यह (वायुः) पवन (एजति) कम्पित होती है (यथा) जैसे (समुद्रः) समुद्र (एजति) अपनी लहरोंसे कम्पित होता है (एवम्) इसीप्रकार(अयम्) यह (दशमास्यः) दश महीनेका पूर्ण गर्भ(जरायुणा) जरायुके (सह) साथ (अस्रत्) उदरसे बाहर हो ॥ २८ ॥

विवरण-यदि गर्भको पूरे दश महीने न हुएहों तो भी यही मंत्र उस न्यूनताको पूर्ण करताहै; "तमेतदप्यदशमास्यं सन्तं ब्रह्मणैव यजुषा दशमास्यं करोति" इति श्रुतेः [श० ४ । ५ । २ । ४] यही मंत्र ग्यारहसहस्र जपनेसे स्त्रीके बालक उत्पन्न होनेमें कष्ट होता हो तौ सुखसे प्रसव होताहै इसी प्रकार गोजातिके भी उपयोगी है ॥ २८ ॥

कण्डिका२९-मंत्र १ ।

यस्यै॑ ते य॒ज्ञियो॒ गर्भो॒ यस्यै॒ योनि॑र्हिर॒ण्ययी॑ ॥ अङ्गा॒न्यह्रु॑ता॒ यस्य॒ तं मा॒त्रा सम॑जीगम॒ꣳ स्वाहा॑ ॥ २९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यस्या इत्यस्यात्रिर्ऋषिः।भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छं० । वशा देवता । अवदानहोमे वि० ॥ २९ ॥

विधि-(१) अवदान हवन करै [का०२५ । १० । ११] मन्त्रार्थ-(यस्यै) जिस श्रेष्ठ लक्षणवाली (ते) तेरा (गर्भः) गर्भ (यज्ञियः) यज्ञसम्बन्धी है

(यस्यै) जिस (ते) तेरी (योनिः) जन्मस्थान (हिरण्ययी) सुवर्ण सदृश शुद्ध है [मंत्रद्वारा योनिकी गर्भसे सगाति करीजाती है] (यस्य) जिस गर्भके (अंगानि) अंग (अह्रुता) अकुटिल अखडित और सरल हैं (तम्) उस गर्भको (मात्रा) मातासे (समजीगमम्) भली प्रकार मंत्रद्वारा सम्मिलित करताहूं (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०–मन्त्र १।

पुरुदस्म्मो विषुरूपऽइन्दुरन्तर्म्महिमानमानञ्ज धीरः॥ एकपदीन्द्विपदीन्त्रिपदीञ्चतुष्पदीमष्टापदीम्भुवनानुप्प्रथन्ताᳬस्वाहा ॥ ३० ॥

ऋष्यादि–(१)३० पुरुदस्म इत्यस्यात्रिर्ऋषिः । आर्षी जगती० । गर्भो देवता । स्विष्टकृतमनु हवने वि० ॥ ३० ॥

विधि–(१) प्रतिप्रस्थाता प्रचरणीसे रस ग्रहण कर अध्वर्यु द्वारा स्विष्टकृत हवन सम्पन्न होनेपर हवन करे [का० २९ । १० । १९] इन्द्ररूपसे गर्भस्तुति. मन्त्रार्थ–(पुरुदस्मः) बहुत दानसे युक्त (विपुरूपः) बहुत रूपवाला (अन्तः) उदरमें स्थित (धीरः) बुद्धिशाली वा धीरतायुक्त (इन्दुः) सोम सदृश क्लेदन-रूप गर्भ (महिमानम्) महिमाको (आनञ्ज) प्रगट करो इस प्रकार गर्भकी महिमा वाली माताको (भुवना) भुवनसमूह (एकपदीम्) एक ब्रह्मवाचक अक्षरवाली (द्विपदीम्) दोपद मनुष्यता युक्त वा कर्म उपासना ज्ञानवाली (त्रिपदीम्) कर्म उपासना ज्ञान अथवा तीनपदा गायत्री वा तीन अवस्थायुक्त अथवा कर्मप्रति-पादक वेदत्रयरूप वा अर्थ धर्म कामरूप (चतुष्पदीम्) चारों आश्रमसे प्राप्त होनेवाला, वा अर्थ धर्म काम मोक्षयुक्त अथवा पत्नी और सयाजकसे चार पदवाली अथवा चारवर्णसे प्रशंसित (अष्टापदीम्) चार वर्ण चार आश्रमसे आठ पदयुक्त, वा अष्टांगयोगयुक्त [पशुपक्षमें] चारपद गर्भके और चारपद पशुके इस प्रकार अष्टपादयुक्त (अनुप्रथन्ताम्) विख्यात करैं (स्वाहा) श्रेष्ठ होम हो ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१–मंत्र १।

मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः॥ स सुगोपातमो जनः॥ ३१ ॥

ऋष्यादि-(१) मरुत इत्यस्य गोतम ऋ० । आर्षी गायत्री छं० । मरुतो देवताः । शामित्रवेदिस्थितेऽग्नौ हवने ॥ ३१ ॥

विधि-(१) पूर्वविहित समिष्टि होमके उपरान्त शामित्रवेदीमें स्थित अग्नि में हवनकरै मंत्रके अन्तमें स्वाहा शब्दका प्रयोग करै [का० २५ । १० । १] मन्त्रार्थ-(दिवः) द्युलोक सम्बन्धी (विमहसः) विशिष्ट तेजसे युक्त अथवा अतिपूजनीय (मरुतः) मरुत् देवता (यस्य) तुमने जिस यजमानके (क्षये) यज्ञस्थानमें (पाथा) सोमपानकिया (हि) निश्चय करके (सः) वह यजमान नामक (सुगोपातमः) वहुत कालतक तुम्हारे द्वारा रक्षित हौं [ऋ० १ । ६ । ११] ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२-मंत्र १ ।

मुहीद्यौः पृथिवीचंनऽइमंय्यज्ञम्मिमिक्षताम् ॥ पिपृतान्नोभरींमभिः ॥ ३२ ॥ [५]

ऋष्यादि-(१) ॐ महीद्यौरित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । आर्षी गायत्री छं० । द्यावापृथ्वी दे० । अङ्गारैरभ्यूहने वि० ॥ ३२ ॥

विधि-(१) शामित्रस्थानमें स्थित इस गर्भको अंगारोंसे आच्छादित करै [का० २५ । १० । १८] मंत्रार्थ-(मही) वडा (द्यौः) द्युलोक (पृथिवी) भूलोक (नः) हमारे (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञको (मिमिक्षताम्) अपने २ भागोंसे पूर्ण करै कृपाजल वर्षण करै (भरीमभिः) हिरण्य धन धान्य पशु प्रजा आदि अनेक वस्तुओंद्वारा जो प्रयोजनीय हौं उन २ अपने भागोंसे (नः) हमारा घर (पिपृताम्) पूर्णकरै [ऋ० १ । २ । ६] ॥ ३२ ॥

विशेष-यह पांच मंत्र प्रायश्चित्तके हैं यज्ञोंके अन्तमें यादि कोई कर्म न्यूनाधिक होजाय तो प्रायश्चित्त होता है सोमयागमें प्रथम जो पशुकल्प विधान किया है उसका इस विधिमें प्रायश्चित्तभी है कारण कि यज्ञीय पशु दैवात् यादि सगर्भ हो और विदित न हो तो विशसन कार्यके पीछे उसके प्राप्त होनेपर प्रायश्चित्त लगता है इसके शोधनके निमित्त गर्भसंस्कार करना होता है अर्थात् गर्भस्थ जीवकी सुगतिके निमित्त इन पांच मंत्रोंद्वारा हवन करना होता है, और यज्ञीय ऋत्विगादि शामित्र कुण्डमें इस कृत्यको निर्वाह करते हैं कात्यायनसूत्र याज्ञदेवकृतभाष्य २५ अध्यायमें इस प्रकार लेख है । दूसरे पक्षमें गर्भकी रक्षा प्रतिपादन कीहै । सोष्यती कर्ममें 'एजतु गर्भः' इसका विनियोग है बालक सुखसे होता है २ ॥ ३२ ॥

इति अग्निष्टोम समाप्त ।

अथ षोडशीयाग ।

कण्डिका ३३—मन्त्र ३ ।

आतिष्ठवृत्रहन्त्रथंयुक्तातेब्रह्मणाहरी ॥ अर्वाचीनर्ठ॰सुतमनोग्ग्रावाकृणोतुवग्नुना ॥ उपयामगृहीतोसीन्द्रायत्वाषोडशिनऽएषतेयोनिरिन्द्रायत्वाषोडशिन ॥ ३३ ॥ [१]

ऋष्यादि—(१) ॐ आतिष्ठेत्यस्य गोतम ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छ० । इन्द्रो देवता । षोडशिग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य गोतम ऋषिःआसुरी गायत्री छं० । सोमो दे० । षोडशिग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य गोतम ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । ग्रहो दे० । षोडशिं ग्रहग्रहणे वि० ॥ ३३ ॥

विधि—(१-२-३) प्रातःसवनके आग्रयण ग्रह ग्रहणके अनन्तर आग्नेय अतिग्राह्य ग्रहण करनेके उपरान्त चतुष्कोण खैरके उलूखलको इस कण्डिकात्मक तीन मंत्र वा परकण्डिकात्मके तीन मंत्र अथवा ३५ कण्डिकाके तीन मंत्रसे षोडशी नामक एक अतिरिक्त ग्रह ग्रहण करे [का० १२ । ५ । २] मन्त्रार्थ—(वृत्रहन्) हे वृत्रघाती इन्द्र ! (ते) तुम्हारे (हरी) हरितवर्ण दोनों अश्व (ब्रह्मणा) तीन वेदलक्षणवाले 'इन्द्रागच्छ' इत्यादि मंत्रोंसे (युक्ता) रथमें युक्तहुए हैं इस कारण तुम (रथम्) रथमें (आतिष्ठ) आरोहण करो (ग्रावा) सोमाभिषवमें व्यवहारको प्राप्त हुआ यह पाषाण (ते) तुम्हारे (मनः) मनको (वग्नुना) सोमाभिषवका वाणीद्वारा (अर्वाचीनः) यज्ञके सन्मुख (सुकृणोतु) भली प्रकार करो "वग्नुरिति वाङ्नामसुपठितम्" इति [निघं० १।११।२५] हे नवमग्रह सोम ! (उपयामगृहीतः)तुम उपयामपात्रमें गृहीत (असि)हो (षोडशिने) सोलह स्तोत्रवाले षोडशीयागमें आहूत (इन्द्राय) इन्द्रदेवताके निमित्त (त्वा) तुझको ग्रहण करताहूं २ । (एषः) हे ग्रह ! यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (षोडशिने) षोडशी यागमें आहूत (इन्द्राय) इन्द्र देवताके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं ३ । [ऋ० १ । ६ । ५] ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४—मन्त्र ३ ।

युक्ष्वाहि केशिनाहरीवृषणाकक्ष्यप्प्रा ॥ अथा

नऽइन्द्रसोमपागिरामुपश्रुतिञ्चर ॥ उपयामगृहीतोसीन्द्रायत्त्वाषोडशिनऽएषतेयोनिरिन्द्राय त्त्वाषोडशिने ॥ ३४ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ युक्ष्वाहीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋ० । विराडार्ष्यनुष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । षोडशिग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य मधुच्छंदा ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । सोमो दे० । षोडशिग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य मधुच्छंदा ऋ० । आसुर्य्यनुष्टुप्छं० । ग्रहो दे० । षोडशिग्रहग्रहणे वि० ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ-(इन्द्र) हे इन्द्र ! (केशिना) बहुत लम्बीकेशरवाले (वृषणा) तरुण सेचनमें समर्थ (कक्ष्यप्रा) स्थूल अवयववाले कक्ष्या बन्धन [अश्वोंकी मध्यबन्धनरज्जु] में सुबद्ध (हरी) दोनो अश्वोंको (हि) दृढतापूर्वक (आयुक्ष्व) निश्चयही रथमें युक्त करो (अथ) तदनन्तर (सोमपाः) सोमपान करतेहुए (नः) हमारी (गिराम्) ऋगादिवेदवाणीको (उपश्रुतिम्) कर्णगोचर कर (आचर) प्राप्तहो अर्थात् हमारे वचन सुनकर आओ १ । (उपयामेति) पूर्ववत् व्याख्या जानो. [ऋ० १ । १ । १९] ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५-मन्त्र १ ।

इन्द्रमिद्धरीवहतोप्रतिधृष्टशवसम् ॥ ऋषीणाञ्च स्तुतीरुपयज्ञञ्चमानुषाणाम् ॥ उपयामगृहीतोसीन्द्रायत्त्वाषोडशिनऽएषतयोनिरिन्द्रायत्त्वाषोडशिने ॥ ३५ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रमित्यस्य गोतम ऋषिः । विराडार्ष्यनुष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । षोडशिग्रहग्रहणे वि० । ॐ उपयामेत्यस्य गोतम ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । सोमो दे० । षोडशिग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य गोतम ऋषिः । आसुर्यनुष्टुप्छं० । ग्रहो देव० । षोडशिग्रहग्रहणे वि० ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ-(हरी) हरित वर्णके दोनों अश्व (अप्रतिधृष्टशवसम्) अप्रतिहतबलवाले (इन्द्रम्) इन्द्र देवताको (इत्) ही (ऋषीणाम्) ऋषियों वा ऋत्विजोंकी (स्तुतीः) स्तुति श्रवण करानेको (उप) समीप (वहत) प्राप्त करते हैं (च)

और (मानुषाणाम्) मनुष्य यजमान गणके (यज्ञम्) यज्ञके (उप) समीपमें (च) भी प्राप्त करते हैं १ । (उपयामगृहीतः) पूर्ववत् व्याख्या जाननी [ऋ० १ । ६ । ५ ।] ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६-मंत्र १ ।

यस्म्मान्न जातः परोऽअन्न्योऽअस्तियऽआविवेश भुवनानिविश्श्वा ॥ प्रजापतिःप्प्रजयासᳬरराणस्त्रीणिज्ज्योतीᳬषिसचतेसषोडशी ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यस्मान्नेत्यस्य विवस्वानृषिः।भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता ।उपस्थाने विनि० ॥ ३६ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे षोडशीग्रहोपस्थान करै [का० १२ ।५।१९] षोडशी नाम परब्रह्मकी उपासना है । मन्त्रार्थ-(यस्मात्) जिस पुरुषसे (अन्यः) दूसरा कोई उत्कृष्ट (न) नहीं (जातः) प्रादुर्भूत हुआ (अस्ति) है (यः) जो (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) विश्वलोकोंमें (आविवेश) अन्तर्यामी रूपसे प्रविष्ट है (सः) वह (षोडशी) सोलह कलात्मक लिङ्ग शरीरसे उपहित अर्थात् सबके व्यवहारका आश्रय सब भूतोंमें स्थित (प्रजापतिः) जगत्का स्वामी (प्रजया) प्रजारूपसे (सᳬरराणः) सम्यक् रमणकरता हुआ प्रजापालनके निमित्त (त्रीणि) तीन अग्नि वायु सूर्यलक्षणवाली (ज्योतीᳬषि) तेजोंको अपने तेजसे (सचते) उज्जीवन करता है "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" इति श्रुतेः ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७-मंत्र १ ।

इन्द्रश्श्चसम्म्राड्वरुणश्श्चराजातौतेभक्षञ्चक्रतुरग्ग्रऽएतम् ॥ तयोरहमनुभक्षम्भक्षयामिवाग्ग्देवीजुषाणा सोमस्यतृप्प्यतुसहप्प्राणेनस्वाहा ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रश्चेत्यस्य विवस्वानृषिः । साम्नी त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रवरुणौ देवते । षोडशिग्रहभक्षणे वि० ॥ ३७ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे षोडशिग्रह भक्षण करै [का० १२ । ५ । २०] मन्त्रार्थ-हे षोडशिग्रह ! (सम्राट्) सम्यक प्रकार दीप्तिमान्(इन्द्रः) इन्द्र (च) और (राजा वरुणः) वरुण राजा (तौ) इन दोनोंने (च) ही (ते) तुम्हारा (एतम्) यह सोम (अग्रे) प्रथम (भक्षम्) भोजन(चक्रतुः) किया था(तयोः)उन

इन्द्र और वरुण सम्बन्धी (भक्षम्) भक्षको (अनु) पश्चात् (अहम्) मैं (भक्षयामि) भक्षण करताहूं (जुषाणा) मेरे सेवनसे अर्थात् मेरे भक्षसे सेवमान (वाग्देवी) सरस्वती (प्राणेन) प्राण देवके साथ (सोमस्य) सोमद्वारा (तृप्यतु) तृप्त हो (स्वाहा) श्रेष्ठ होम हो ॥ ३७ ॥

विशेष-इस स्थलमें वाजपेय यज्ञ करनेवालेका नाम सम्राट् और इन्द्र है राजसूययज्ञ करनेवालेका नाम राजा और वरुण है "राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति सम्राट् वाजपेयेन" इति श्रुतेः [श० ५ । १ । १३] ॥ ३७ ॥

इति षोडशी यागः सम्पूर्णः ।

अथ द्वादशाह ।

कण्डिका ३८-मंत्र ४ ।

अग्ग्नेपवस्वुस्स्वपाऽअुस्म्मेवर्च्चः सुवीर्य्यम् ॥ दधंद्रयिम्मयिपोषम् ॥ उपयामगृहीतोस्यग्ग्नयेत्त्वावर्च्चसऽएषतेयोनिरग्ग्नयेत्त्वावर्च्चसे ॥ अग्ग्नेवर्च्चस्विन्वर्च्चस्वाँस्त्वन्देवेष्ष्वसिवर्च्चस्वानुहम्मनुष्ष्येषुभूयासम् ॥ ३८ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्न इत्यस्य वैखानस ऋ० । विराट्त्रिपदा गायत्री छं० । अग्निर्देव० । अतिग्राह्यग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य वैखानस ऋ० । आसुर्युष्णिक्छं० । सोमो दे० । अतिग्राह्यग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य वैखानस ऋ० । याजुषी जगती छं० । सोमो देव० । आसादने वि० । (४) ॐ अग्न इत्यस्य वैखानस ऋ० । भुरिगार्षी गायत्री छं० । अग्निर्देवता । शेषभक्षणे वि० ॥ ३८ ॥

विधि-(१) द्वादशाह यज्ञके मध्यम विशेषतः छःदिनमें सम्पाद्य सुतरां षडह नामसे प्रसिद्ध एक अङ्ग याग है उसको पृष्ठ्ययागभी कहते हैं,इस यज्ञके पहले तीन दिनमें प्रतिदिन एकएक अतिग्राह्य ग्रहग्रहण किया जाताहै.इस कण्डिकाको आदि लेकर तीन कण्डिकाके प्रथम २ भागसे यह तीन अतिग्राह्य क्रमसे ग्रहण करै,और पर पर भागसे उस २ शेष ग्रहको भक्षण करै [का० १२ । ३ । १-२] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव ! (स्वपाः) अच्छे कर्म करनेवाले तुम (मयि) मुझ यजमानमें (रयिम्) धन (पोषम्) पुष्टिको (दधत्) धारण करो (अस्मे) हम ऋत्विगा-

दिको (सुवीर्यम्) सुन्दर सामर्थ्यसे युक्त (वर्चः)ब्रह्मतेज (पवस्व) प्राप्त करो १। विधि-(२) दूसरे मंत्रसे ग्रहण। मंत्रार्थ-हे प्रथम अतिग्राह्य ग्रह! तुम (उपयामगृहीतः) उपयाम पात्रमें गृहीत (असि) हो (वर्चसे) कान्तिप्रद (अग्नये) अग्नि देवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं २। विधि-(३) तीसरे मंत्रसे आसादन करै। मंत्रार्थ-हे प्रथम अतिग्राह्य ग्रह! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (वर्चस्विने) तेजःप्रद(अग्नये) अग्निदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करताहूं ३। विधि-(४) चतुर्थ मंत्रसे शेष भक्षण करै। मंत्रार्थ-(वर्चस्विन्) हे विशिष्टतेजयुक्त! (अग्ने)अग्निदेव! (त्वम्) तुम (देवेषु) देवताओंमें (वर्चस्वान्) अति दीप्तिमान् (असि) हो इस कारण तुम्हारे प्रसादसे (अहम्) मैं (मनुष्येषु) मनुष्योंमें (वर्चस्वान्) कान्तियुक्त अतितेजस्वी (भूयासम्) हो जाऊं॥ ३८॥

प्रमाण-स्वपाः-"अप इति कर्मनाम" [निघं० २। १। १। ऋ०७।२।११]

विशेष-सोमयागके तीन सवनमें नियमित जितने ग्रह ग्रहण किये हैं, उससे पूर्व अग्निष्टोम प्रकरणमें भली प्रकार प्रकाशित हुए हैं, विशेष यज्ञोंमें जो अतिरिक्त ग्रह ग्रहण करते हैं, उनको अतिग्राह्य ग्रह कहते हैं॥ ३८॥

कण्डिका ३९-मन्त्र ४।

उत्तिष्ठन्नोजसासुहपीत्वीशिप्प्रेऽअवेपयः॥ सोमुमिन्न्द्रचुमूसुतम्॥ उपयामगृहीतोसीन्द्रायत्त्वौजसऽएषतेयोनिरिन्न्द्रायत्त्वौजसे॥ इन्द्रौजिष्ठौजिष्ठुस्त्वन्देवेष्ष्वस्योजिष्ठोहम्मनुष्ष्येषुभूयासम्॥ ३९॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ उत्तिष्ठन्नित्यस्य कुरुस्तुतिर्ऋषिः। आर्षी गायत्री छं०। इन्द्रो देवता। अतिग्राह्यग्रहोद्बोधने वि०। (२) ॐ उपयामेत्यस्य कुरुस्तुतिर्ऋ०। आसुर्यनुष्टुप्छं०। सोमो दे०। अतिग्राह्यग्रहग्रहणे वि०। (३) ॐ एषत इत्यस्य कुरुस्तुतिर्ऋषिः। याजुषी त्रिष्टुप्छं। सोमो देवता। आसादने वि०। ॐ इन्द्रेत्यस्य कुरुस्तुतिर्ऋ०। आर्च्युष्णिक्छं०। इन्द्रो देवता। शेषभक्षणे वि०॥ ३९॥

विधि-(१) द्वितीय अतिग्राह्य प्रथम मंत्रसे उद्बोधन करै। मंत्रार्थ-(इन्द्र) हे इन्द्र! तुम (ओजसा) अपने बलके (सह) साथ (उत्तिष्ठन्) उठतेहुए (चमू-

सुतम्) अधिषवण चर्ममें अभिषुत हुए (सोमम्) सोमको (पीत्वी) पानकरके (शिप्रे) अपनी ठोडी और नासिका (अवेपयः) कम्पित करो १। विधि–(२) दूसरे मंत्रसे ग्रहण करै । मंत्रार्थ–हे द्वितीय अतिग्राह्य ग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (ओजसे) बलवान् (इन्द्राय) इन्द्रदेवकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं २ । विधि–(३) तीसरे मंत्रसे आसादन करै । मन्त्रार्थ–हे द्वितीय अतिग्राह्य ग्रह ! (एषः) यह (ते)तुम्हारा (योनिः) स्थान है (ओजसे) बलवान् (इन्द्राय) इन्द्रदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझको आसादन करता हूं ३। विधि–(४)चतुर्थ मंत्रसे शेष भक्षण करै । मन्त्रार्थ–(ओजिष्ठ) हे बलवत्तम ! (इन्द्र)इन्द्रदेव ! (त्वम्) तुम (देवेषु) सब देवताओंमें (ओजिष्ठः) बलवान् (असि) हो (मनुष्येषु) तुम्हारे प्रसादसे मनुष्योंमें (अहम्) मैं (ओजिष्ठः) अतिबलवान् (भूयासम्) होऊं ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०–मंत्र ४ ।

अदृ॑श्रमस्यके॒तवो॒ वि र॒श्मयो॒ जनाँ॒२ऽअनु॑ ॥ भ्राज॑न्तोऽअ॒ग्नयो॒ यथा ॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोसि॒ सूर्य्या॑य त्वा भ्रा॒जायै॒ष ते॒ योनि॒ः सूर्य्या॑य त्वा भ्रा॒जाय॑ ॥ सूर्य॑ भ्राजिष्ठ॒ भ्राजि॑ष्ठ॒स्त्वं दे॒वेष्व॑सि॒ भ्राजि॑ष्ठो॒हम्म॑नु॒ष्ये॑षु भूयासम् ॥ ४० ॥

ऋष्यादि–(१)ॐ अदृश्रमित्यस्य प्रस्कण्व ऋ०। आर्षी गायत्री छं०।सूर्यो देवता। अतिग्राह्यग्रहोद्बोधने वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य प्रस्क० ऋ० । आसुरी गायत्री छं । सोमो देव० । अतिग्राह्यग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य प्रस्कण्व ऋ० । साम्नी गायत्री छं० । सोमो दे० । आसादने वि० । (४) ॐ सूर्येत्यस्य प्रस्कण्व ऋ० । आर्षी गायत्री छं०। ग्रहो देवता । शेषभक्षणे वि० ॥ ४० ॥

विधि–(१) तृतीय अतिग्राह्य प्रथम मंत्रसे उद्बोधन करै । मन्त्रार्थ–(अस्य) इस सूर्यकी (केतवः) प्रज्ञाकी हेतु सम्पूर्ण पदार्थका ज्ञान करानेवाली (रश्मयः) किरणें (जनान्) सम्पूर्ण प्राणियोंके (अनु) अनुगत (वि) विशेष कर (अदृश्रम्) दीखती हैं अर्थात् सूर्यकिरण सबमें व्याप्त हैं (यथा) जिस प्रकार (भ्राजन्तः) प्रज्वलित (अग्नयः) अग्नि सर्वत्र भासती है १ । विधि–(२) दूसरे

मंत्रसे ग्रहण । मन्त्रार्थ–हे तृतीय अतिग्राह्यग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयाम पात्रमें गृहीत (असि) हो (भ्राजाय) दीप्तिमान् (सूर्याय) सूर्यकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं २ । विधि–(३) तीसरे मंत्रसे आसादन । मंत्रार्थ–हे तृतीय अतिग्राह्य ग्रह ! (एष) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (भ्राजाय) दीप्तिमान् (सूर्याय) सूर्यदेवकी तुष्टिके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें आसादन करताहू ३ । विधि–(४) चौथे मंत्रसे शेष भक्षण । **मन्त्रार्थ**–(भ्राजिष्ठ) हे प्रदीप्त (सूर्य) सूर्य ! (त्वम्) तुम (देवेषु) सब देवताओंमें (भ्राजिष्ठः) अतिदीप्तिमान् (असि) हो तुम्हारे प्रसादसे (मनुष्येषु) मनुष्योंमें (अहम्) मैं (भ्राजिष्ठः) अतिशय दीप्तिमान् (भूयासम्) होऊं ॥ ४० ॥

प्रमाण–"केतुरिति प्रज्ञानामसु पठितम्" [निघंटु ३ । ९ । १ । ऋ० अ० १ अ० ४ व० ७] ॥ ४० ॥

द्वादशाह समाप्त ।

अथ गवामयनसत्र ।

कण्डिका ४१–मंत्र ३।

उदुत्त्यञ्जातवेदसन्देवंवहन्तिकेतवः ॥ दृशेविश्वायसूर्य्यम् ॥ उपयामगृहीतोसिसूर्य्यायत्त्वाभ्राजायैषतेयोनिःसूर्य्यायत्त्वाभ्राजाय ॥४१॥[१]

ऋष्यादि–(१) ॐ उदुत्यमित्यस्य प्रस्कण्व ऋषिः । निच्यृदार्षी गायत्री छं । सूर्यो देवता । अतिग्राह्यग्रहोद्बोधने वि० । ॐ उपयामेत्यस्य प्रस्कण्व ऋ० ।आसुरी गायत्री छं० । सोमो दे० । अतिग्राह्यग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य प्रस्कण्व ऋ० । साम्नी गायत्री छं० । सोमो दे० । आसादने वि० ॥ ४१ ॥

विधि–(१) गवामयनसत्रमें विषुवन्नामक मध्यम दिनमें सौर्य पशु उपालंभके उपरान्त इस कण्डिकात्मक दो मंत्रसे एक अतिग्राह्य ग्रह ग्रहण करै [का० १३ । २ । ११] मन्त्रार्थ–(केतवः) प्रज्ञाकी हेतु किरण (त्यम्) उस (जातवेदसम्) सबके देखने वा प्रजाओंके ज्ञाता (यम्) जिस (देवम्) देव (सूर्यम्) सूर्यको (विश्वाय) समस्त जगतकी (दृशा) दृष्टि देनेके निमित्त (उद्वहन्ति) उद्वहन करती हैं । आशय यह कि सूर्योदयपर अन्धकार दूर होकर दृष्टि फैलती है अन्यथा अंधकारमें दृष्टि नहीं फैलती १ । विधि–(२–३)दूसरे मंत्रसे ग्रहण तीसरेसे आसादन । मंत्रार्थ–(उपयामगृहीतः) पूर्ववत् व्याख्या जानो ॥ ४१ ॥

विवरण-सोमयाग तीन प्रकारका होता है, एकाह, अहीन, और सत्र, एक दिवसमें सम्पूर्ण यज्ञ तीन सवन यह सब पूर्ण किया जाय वह एकाह. यथा अग्निष्टोम षोडशी आदि. उससे अधिक कालमें जो यज्ञ पूर्ण हो उसको अहीन कहते हैं जैसे गर्गात्रिरात्र द्वादशाह. बारह दिनसे अधिक कालमें जो यज्ञ पूर्ण किया जाय उसको सत्र कहते हैं जैसे गवामयन अश्वमेध आदि ।

१गवामयन यज्ञ दशमास और बारह मासमें सम्पादन होता है उसमें संवत्सरके मध्य गवामयन सत्रके प्रथम दिन प्रायणीय अतिरात्रनाम प्रसिद्ध हैं, द्वितीयमें चतुर्विंश, तीसरेमें उक्थ. चतुर्थमें ज्योतिर्गो, पंचममें आयुर्गो, षष्ठमें आयुर्ज्योति, इन छः दिनको आभिप्लविक षडह कहते हैं, इस प्रकार २४ दिनमें चार आभिप्लविक होते हैं, फिर त्रिवृत्स्तोमके मध्य एकाह, पञ्चदशस्तोमके मध्यमें द्वितीयाह, सप्तदशस्तोमके मध्यमें तृतीयाह, एकविंशस्तोमके मध्यमें चतुर्थाह त्रिनव २७ स्तोमके मध्यमें पञ्चमाह, ३३ त्रयस्त्रिंशस्तोमके मध्यमें षष्ठाह. इन्हीं छः दिवसको पृष्ठ्य षडह कहते हैं इस प्रकार एक मास सम्पन्न होकर दूसरे तीसरे चौथे और पंचम मासमें भी इसी प्रकार सम्पन्न करै, छठे महीनेके प्रथमही तीन आभिप्लविक सम्पादन करनेपर फिर पृष्ठ और चतुर्विंश संपादन करै २५ वें दिन अभिजित् उसके परे तीन दिनमें प्रथम स्वर द्वितीय स्वर और तृतीय स्वर । २९ उनतीसवें दिन प्रायणीय और इसी मासके शेष दिवसको चतुर्विंश कहते हैं, इस प्रकार वर्षके प्रथम छःमास व्यतीत होतेहैं दूसरे षण्मासके प्रथम दिन तृतीयस्वर द्वितीय दिन द्वितीयस्वर तृतीय दिन प्रथमस्वर, चतुर्थमें विश्वजित्, फिर पृष्ठ्य छठे दिन एवं आभिप्लविकत्रय, इस प्रकार २८ दिन बीतते हैं उन्तीसवें दिनको महाव्रत और महीनेके शेष दिनको अतिरात्र कहते हैं, अष्टम नवम दशम और एकादश इन चार महीनेके प्रथम छः दिन पृष्ठ्य, एवं इनके उपरान्त प्रतिलोमक्रमसे आभिप्लविक चतुष्टय (चार) शेष मासके प्रथमही आभिप्लविक तीन, १९ वें दिन गोष्टोम २० वें दिन आयुष्टोम २१ वें दिनसे दशदिनतक दशरात्र इस प्रकारसे उत्तर षण्मास व्यतीत होते हैं, इस प्रकार ३६० दिन बचते हैं किन्तु वैदिक वत्सर ३६१ दिनका परिगणित हुआ है इस कारण १८० दिनके परे और पिछले १८० दिनके पूर्व षण्मास दोकी सन्धिस्थानमें एक मध्यम दिवस सत्रयाग नामसे व्यवहृत होता है इसी मध्यम दिनको 'विषुवत्' कहते हैं ॥ ४१ ॥

कण्डिका ४२-मंत्र १ ।

आजिंघ्रकुलशंम्मुह्यात्त्वांविशन्त्विन्दवः ॥ पुन

ऊर्ज्जानिवर्त्तस्वसानं॑सुहस्र॑न्धुक्ष्वोरुधा॑रापयस्वतीपुनुर्म्माविंशताद्र्यिः ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ आजिघ्रेत्यस्य कुसुरुबिन्दुर्ऋ०। स्वराड् ब्राह्म्युष्णिक्छं०। गौर्देवता। द्रोणकलशाघ्रापणे वि० ॥ ४२ ॥

विधि–(१) हविर्धानमण्डप और आग्नीध्रवेदी इन दोनोंके मध्य स्थलमें रोहिणी गौको इस मंत्रसे द्रोणकलश सुंघावै [का० १३। ४। १९] गर्गातिरात्र नामक त्रिसुत्या, अहीन यागमें एक सहस्र गौदक्षिणाकी व्यवस्था है उनमें सहस्र संख्याकी पूरण करनेवाली गौ रोहिणी कहलाती है इस यागमें तीनदिन तीन सुत्य सम्पन्न होते हैं, इस कारण इसको त्रिसुत्य कहते हैं। मन्त्रार्थ–(महि) हे पूजनीय गौ! तुम इस (कलशम्) द्रोणकलशको (आजिघ्र) सूंघो (इन्दवः) यह सोमके सार (त्वा) तुम्हारी नासारंध्रमें (आविशन्तु) प्रवेश करें (सा) वह तुम (ऊर्जा) श्रेष्ठ रस दुग्धके साथ (पुनः) फिर हमारे प्रति (निवर्तस्व) निवृत्त हो इस प्रकारसे स्तुतिको प्राप्त हुई तुम (नः) हमको (सहस्रम्) सहस्र संख्याके धनसे (धुक्ष्व) पूर्ण करो अथवा हमने जो सहस्र गौ दी हैं उतनी ही फिर हमारे पास हों और तुम्हारे प्रसादसे (पुरुधारा) बहुत दूधकी धारावाली (पयस्वती) दुधारी गायें (रयिः) तथा धन सम्पत्ति (पुनः) फिर (मा) मुझको (आविशतात्) हमारे घरको प्राप्त हों, अर्थात् सहस्र गोदानसे जितनी सम्पत्ति निर्गत हुई है, इस कार्यके फलसे उसकी पूर्त्ति हो ॥४२॥

कण्डिका ४३–मंत्र १।

इडेरन्तेहव्येकाम्म्येचन्द्रेज्ज्योतेदितिसरस्वतिमहिविश्श्रुति ॥ एतातेऽअघ्न्येनामानिदेवेब्भ्योमासुकृतम्ब्रूतात ॥ ४३ ॥ [२]

ऋष्यादि–(१) ॐ इडेरन्त इत्यस्य कुसरुबिन्दुर्ऋ०। आर्षी पंक्तिश्छं०। गौर्देवता। रोहिणीश्रोत्रे जपे वि० ॥ ४३ ॥

विधि–(१) रोहिणीके कानमें यजमान यह मंत्र जप करे [का०१३।४।२०] मंत्रार्थ–(इडे) हे सबसे स्तुतिको पानेवाली (रन्ते) सबकी दृष्टिमें रमणीय (हव्ये) यज्ञमें सब मनुष्य जिसका आह्वान करते हैं वा जिसके दुग्धका हवन करते हैं (काम्ये) देव मनुष्य जिनकी कामना करते हैं "मनुष्याणा-

ह्येतासु कामाः प्रविष्टाः" इति श्रुतेः (चन्द्रे) जिसको देख आह्लाद होता है (ज्योते) प्रकाशमान वा तेजकी दाता (अदिते) पूर्ण अवयववाली अदीन (सरस्वति) दुग्धवती "सर इति उदकनाम सर्तेः" इति [निरु० ९ । २६] (महि) महामान्य (विश्रुति) अनेक प्रकारकी स्तुतिवाली (अघ्न्याः) अवध्य मारनेके अयोग्य हे धेनु ! (ते) तुम्हारे (एता) यह अतिशय गुणयुक्त (नामानि) नाम हैं इन नामोंसे आह्वान की हुई तुम (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (सुकृतम्) इस हमारे सुन्दर कर्मको. और (मा) इस कर्म करनेवाले मुझको (ब्रूतात्) देवताओंसे कथन करो. देवता हमारे इस कार्यको जानें ॥ ४३ ॥

कण्डिका ४४-मंत्र ३।

विन॑ऽइन्द्र॒मृधो॑जहि॒नी॒चाय॑च्छपृतन्य॒तः ॥ योऽअ॒स्माँ२ऽअ॑भि॒दास॒त्यध॑रङ्गमया॒तमः॑ ॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒सीन्द्रा॑यत्त्वा॒वि॒मृध॑ऽए॒षते॒योनि॒रिन्द्रा॑य त्त्वा॒वि॒मृधे॑ ॥ ४४ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ विन इत्यस्य भारद्वाजशास ऋ० । भुरिगनुष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । इन्द्रग्रहोद्बोधने वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य भारद्वाज ऋ० ॥ आसुर्य्युष्णिक्छं० । ग्रहो दे० । ग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एष त इत्यस्य भारद्वाज ऋ० । याजुषी जगती छं० । लिङ्गोक्ता दे० । शेषभक्षणे वि० ॥ ४४ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकाके तीन मंत्र और पर कण्डिकाके तीन मंत्रसे महाव्रताह (सातवें मासका २९ वे दिन) में (प्राजापत्यपशूपालम्भके अनन्तर इन्द्रनाम ग्रह गृहीत होताहै प्रथम मंत्रसे उद्बोधन [का० १३।२।१७] मन्त्रार्थ-(इन्द्र) हे इन्द्र ! (नः) हमारे (मृधः) संग्राममें शत्रुओंको (विजहि) विशेषकर जीतो (पृतन्यतः) संग्रामकी इच्छा कर सेनासंग्रह करनेवाले शत्रुओंका (नीचाः) नीचोंकी समान (यच्छ) निग्रह करो अर्थात् जो तुमको पराजयकी इच्छा करते हैं उनको अधःपतन करो (यः) जो (अस्मान्) हमको (अभिदासति) क्लेश देता है उसको (अधरम्) निकृष्ट (तमः) अंधकाररूप नरकको (आगमय) प्राप्त करो १। विधि-(२) दूसरे मंत्रसे ग्रहण । मंत्रार्थ-हे महाव्रतीय इन्द्रग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (विमृधे) विशिष्ट संग्रामवाले (इन्द्राय) इन्द्र देवताकी संतुष्टिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण

करता हूं २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे आसादन । मन्त्रार्थ-हे महाव्रतीय इन्द्रग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारी (योनिः) स्थान है (विमृधे) विशिष्ट संग्रामवाले (इन्द्राय) इन्द्रदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको आसादन करताहूं [ऋ० ८ । ८ । १० । ॥ ४४ ॥

कण्डिका ४५-मंत्र ३ ।

वाचस्पतिं विश्वकर्म्माणमूतयेमनोजुवंवाजेऽअद्याहुवेम ॥ सनोविश्वानिहवनानिजोषद्विश्वशम्भूरवसेसाधुकर्म्मा ॥ उपयामगृहीतोसीन्द्राय त्वाविश्वकर्म्मणऽएषतेयोनिरिन्द्रायत्वाविश्वकर्म्मणे ॥ ४५ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ वाचस्पतिमित्यस्य शास ऋ० । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । इन्द्रग्रहोद्बोधने वि० । (२) ॐ उपयामित्यस्य शास ऋ० । साम्न्युष्णिक्छं० । ग्रहो दे० । इन्द्रग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य शास ऋ०।साम्नी गायत्री छं० । लिङ्गोक्ता देवता। शेषग्रहासादने वि० ॥ ४५ ॥

विधि-(१) दूसरा ग्रहग्रहण, प्रथम मंत्रसे उद्बोधन करै । मंत्रार्थ-(अद्य) आज हम (वाजे) महाव्रतीय लक्षणवाले अन्नके विषय (वाचस्पतिम्) वाचोंके पालक वा अधिपति (मनोजुवम्) मनकी समान वेगवाले (विश्वकर्माणम्) सृष्टिके उत्पादक तथा पालक प्रलयके निदानको (ऊतये)रक्षाकरनेको(हुवेम)आह्वान करतेहैं (सः) वह (विश्वशम्भूः) संसारके कल्याणका करनेवाला (साधुकर्मा) शोभन कर्मका करनेवाला उपास्य देव (नः) हमारे (विश्वानि) सब (हवनानि)आह्वान (अवसे) अन्नसमृद्धिके निमित्त वा रक्षणके निमित्त (जोषेत्) प्रीतिपूर्वक सेवन करै१।विधि-(२)दूसरे मंत्रसे ग्रहण।मंत्रार्थ-हे महाव्रतीय इन्द्रग्रह ! (उपयामगृहीतः) तुम उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (विश्वकर्मणे) विश्वकर्मा (इन्द्राय) इन्द्रकी तुष्टिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं २। विधि-(३) तीसरे मंत्रसे आसादन मन्त्रार्थ-हे महाव्रतीय इन्द्र ग्रह ! (एषः)यह (ते) तुम्हारा(योनिः)स्थान है (विश्वकर्मणे) विश्वकर्मा (इन्द्राय)इन्द्रके निमित्त(त्वा) तुमको आसादन करताहूं॥४५॥

प्रमाण-"वाचस्पतिं तस्मादाहुरिन्द्रो वाक्"इति श्रुतेः ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६-मन्त्र ३ ।

विश्श्वकर्म्मन्न्हविषावर्द्धनेनत्त्रातारमिन्न्द्रमकृणोरवद्ध्यम् ॥ तस्म्मैविशःसमनमन्तपूर्वीरयमुग्ग्रोविहव्योयथासत् ॥ उपयामगृहीतोसीन्न्द्रायत्त्वाविश्श्वकर्म्मणऽएषतेयोनिरिन्न्द्रायत्त्वाविश्श्वकर्म्मणे ॥ ४६ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्वकर्मन्नित्यस्य शास ऋषिः । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं० । विश्वकर्मेन्द्रो दे० । ग्रहोद्बोधने वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य शास ऋ० । साम्न्युष्णिक्छं० । ग्रहो दे० । ग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य साम्नी गायत्री छं० । ग्रहो दे० । आसादने वि० ॥ ४६ ॥

विधि-(१) तृतीय मंत्रका विकल्प, प्रथम मंत्रसे उद्बोधन।मन्त्रार्थ-(विश्वकर्मन्) हे विश्वकर्मन् परमात्मन् ! (वर्धनेन) वर्धमान वा भक्तोंको वढानेवाले (हविषा) हविष्प्रदानद्वारा वर्द्धन [वढावे] के वाक्यांसे प्रीति करनेवाले तुमने (इन्द्रम्) इन्द्रको (त्रातारम्) जगतके रक्षक (अवध्यम्) जिनको कोई न मारसकै ऐसा (अकृणोः) किया (तस्मै) इस प्रकार इन्द्रके निमित्त(पूर्वीः) पूर्व कालकी (विशः)प्रजा महर्षि आदि(समनमन्त)प्रणाम करते हुए (यथा)जिस प्रकारसे (अयम्)यह इन्द्र (उग्रः) वज्र उठाय (विहव्यः) अनेक कार्योंमें आह्वानयोग्य (असत्)हुआ है इस कारण सब प्रणाम करते हैं हे परमात्मन् ! आपके ही सामर्थ्यसे इन्द्रका यह प्रभाव है १ । विधि-(२-३) दूसरे मंत्रसे ग्रहण, तीसरेसे आसादन । मंत्रार्थ-(उपयाम-गृहीतः) हे ग्रह ! तुम उपयामपात्रमें गृहीत हो पूर्ववत् ॥ ४६ ॥

कण्डिका ४७-मंत्र ३ ।

उपयामगृहीतोस्यग्ग्नयेत्त्वागायत्त्रच्छन्दसङ्गृह्णामीन्न्द्रायत्त्वात्त्रिष्टुप्छन्दसङ्गृह्णामिविश्श्वेब्भ्यस्त्त्वादेवेब्भ्योजगच्छन्दसङ्गृह्णाम्म्यनुष्टुप्तेभिगरः ॥ ४७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उपयामेत्यस्य देवा ऋषयः।स्वराडार्ची गायत्री छं०।

अदाभ्यो देवता । अदाभ्यग्रहोद्बोधने वि० । (२) ॐ इन्द्रायेत्यस्य देवा ऋ० । साम्नी गायत्री छं० । अदाभ्यो दे० । अदाभ्यग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ विश्वेभ्य इत्यस्य देवा ऋ० ।आसुरी गायत्री छं०।अदाभ्यो दे०। अदाभ्यग्रहासादने वि० (४) ॐ अनुष्टुबित्यस्य देवा ऋ०। दैवी जगती छन्दः । अदाभ्यो दे० । अदाभ्यप्रशंसने वि० ॥ ४७ ॥

विधि–(१) जिस उदुम्बरीपात्रमें अंशु गृहीत हुई हैं उस पात्रसे चमसद्वारा कुछ निग्राभ्य जल ग्रहण करके उसमें तीन सोमलता प्रक्षेप करनेके अनन्तर इस पात्रसे इस कण्डिकाके तीन मंत्रोंसे अदाभ्य ग्रह ग्रहण करै.प्रथम अदाभ्यग्रहण[का० १२ । ४ । १३–१९] मन्त्रार्थ–हे प्रथम अदाभ्य ग्रह सोम ! (उपयामगृहीतः) तुम उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (गायत्रच्छन्दसम्) गायत्री छन्द के वरणीय (त्वा) तुझको (अग्नये) अग्निदेवताकी प्रीतिके निमित्त (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं १ । विधि–(२) द्वितीय अदाभ्यग्रहण । मंत्रार्थ–(त्रिष्टुप्छंन्दसम्) उपयामपात्रमें गृहीत त्रिष्टुप्छन्दसे वरणीय (त्वा) तुमको (इन्द्राय) इन्द्र देवताकी प्रीतिके निमित्त (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं २ । विधि–(३) तृतीय अदाभ्यग्रहण । मंत्रार्थ–हे तृतीय अदाभ्य ग्रह ! तुम उपायामपात्रमें गृहीत हो (जगच्छन्दसम्) जगतीछन्दसे वरणीय (त्वा) तुमको (विश्वेभ्यः) सम्पूर्ण विश्वेदेवा (देवेभ्यः) देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (गृह्णामि) ग्रहण कराताहूं ३ ।

विधि–(४) चौथे मंत्रसे तीनों अदाभ्यकी स्तुति सम्पादन करै [का०१२ । ५ । १७] मंत्रार्थ–हे अदाभ्य नामसे गृहीत सोम !(अनुष्टुप) अनुष्टुप्छन्द (ते) तुम्हारी (अभिगरः) स्तुतिके निमित्त है ॥ ४७ ॥

प्रमाण–"ऊर्ध्वꣳसवनेभ्यस्तदानुष्टुभम् इति श्रुतेः [श० ११।२।९।७।] ॥ ४७ ॥

कण्डिका ४८–मंत्र ६ ।

व्रेशीनान्त्वापत्त्मन्नाधूनोमिकुकूननानान्त्वापत्त्मन्नाधूनोमिभन्दनानान्त्वापत्त्मन्नाधूनोमिमदिन्तमानान्त्वापत्त्मन्नाधूनोमिमधुन्तमानान्त्वापत्त्मन्नाधूनोमिशुक्रन्त्वाशुक्रऽआधूनोम्यह्नोरूपेसूर्य्यस्यरश्मिषु ॥ ४८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ व्रेशीनामित्यस्य देवा ऋषयः । याजुषी पंक्तिश्छं० । सोमो देवता । अदाभ्यग्रहस्थजलचालने वि० । (२) ॐ कु-

कूननानामित्यस्य देवा ऋ० । याजुषी जगती छं० । सोमो देवता । अदाभ्यग्रहस्थजलचालने वि० । (३) ॐ भन्दनानामित्यस्य देवा ऋ० । याजुषी त्रिष्टुप्छं । सोमो दे० । अदाभ्यग्रहस्थजलचालने वि० । (४) ॐ मदिन्तमानामित्यस्य देवा ऋ० । याजुषी जगती छं० । सोमो देवता । अदाभ्यग्रहस्थजलचालने वि० । (५) ॐ मधुन्तमानामित्यस्य देवा ऋ० । याजुषी जगती छं० । सोमो देवता । अदाभ्यग्रहस्थितजलचालने वि० । (६) ॐ शुक्रन्त्वेत्यस्य देवा ऋ० । भुरिक्साम्नी बृहती छं० । सोमो दे० । अदाभ्यग्रहस्थजलचालने वि० ॥ ४८ ॥

विधि–(१–२–३–४–५–६) अनन्तर इस मंत्र और पर कण्डिकाके प्रथम मंत्रसे आहवनीयके समीपमें गमन करके कतिपय अंशुद्वारा अदाभ्य ग्रहस्थित सोम परिचालन करै [का० १२ । ५ । १७] मंत्रार्थ–हे सोम ! (व्रेशीनाम्) इधर उधर धावमान मेघोंके उदरमें वर्तमान जो जलके समूह हैं उन सबके (पत्मन्) वर्षनेके निमित्त (त्वा) तुझको (आधूनोमि)कम्पित करताहूं. हे सोम!(कुकूननानाम्) शब्द करते हुए जगत्के कल्याणकारी मेघोंके उदरमें जो जल है उसके (पत्मन्) वर्षणके निमित्त (त्वा) तुझको (आधूनोमि) कम्पित करताहूं, हे सोम ! (भन्दनानाम्) हमको अत्यन्त प्रसन्न करनेवाले जो मेघोंके उदरमें जल हैं उनके (पत्मन्) वर्षनेके निमित्त (त्वा) तुमको (आधूनोमि) कम्पित करताहूं, हे सोम ! (मदिन्तमानाम्) अत्यन्त तृप्तिकारी जो मेघोंके उदरमें जल है, उनके (पत्मन्) वर्षनेके निमित्त (त्वा) तुमको (आधूनोमि) कम्पित करताहूं (मधुन्तमानाम्) अमृतस्वरूप जो मेघोदक है तिनके (पत्मन्) भूमिपर वर्षणके निमित्त (त्वा) तुमको (आधूनोमि) कम्पित करताहूं. हे सोम ! (शुक्रम्) अक्लिष्टकर्मा शुद्ध (त्वा) तुमको (शुक्रे) शुद्ध अक्लिष्टकर्मवाले निग्राभ्य लक्षणवाले जलमें (आधूनोमि) कम्पित करताहूं (अह्नः) दिनके (रूपे) रूप (सूर्यस्य) सूर्यकी (रश्मिषु) किरणोंसे कम्पित करताहूं ॥ ॥ ४८ ॥

कण्डिका ४९–मन्त्र २ ।

कुकुभꣳरूपं वृषभस्यरोचतेबृहच्छुक्रः शुक्रस्यपुरोगाः सोमः सोमस्यपुरोगाः ॥ यत्तेसोमादाभ्यन्नामजागृवितस्मैत्वागृह्णामितस्मैतेसोमसोमायस्वाहा ॥ ४९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ककुभमित्यस्य देवा ऋ० । निच्यृदार्षी जगती छं०। सोमो देवता । सोमग्रहणे वि० । (२) ॐ यस्मैत इत्यस्य देवा ऋ० । याजुषी पंक्तिश्छन्दः । सोमो देवता । अदाभ्यहवने वि० ॥ ४९ ॥

विधि-(१) सोम ग्रहण करै । मन्त्रार्थ-हे सोम ! (वृषभस्य) श्रेष्ठ वर्षणकारी तुम्हारा (ककुभम्) ककुद् महत् आदित्यलक्षण (रूपम्) रूप (रोचते) प्रदीप्त होता है "ककुभमिति महन्नामसु पठितम्" [निघं० ३ । ३ । १९] (बृहत्) महान् (शुक्रः) शुद्ध आदित्य (शुक्रस्य) शुद्ध सोमका (पुरोगाः) पुरोगामी है (सोमः) सोमही (सोमस्य) सोमका (पुरोगाः) पुरोगामी है (ते) तुम्हारे (अदाभ्यम्) अनुपहिंसित (जागृवि) जागरणशील (यत्) जो (नाम) नाम है (तस्मै) उस (त्वा) तुमको (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे अदाभ्य हवन करै [का० १२ । ५ । १७] मंत्रार्थ-(सोम) हे सोम ! (तस्मै) उस (ते) आप (सोमाय) सोमरूपके निमित्त (स्वाहा) श्रेष्ठ होम हो ॥ ४९ ॥

कण्डिका ५०-मन्त्र १ ।

उशिक्त्वन्देवसोमाग्ग्नेः प्प्रियम्म्पाथोपीहिवशी त्त्वन्देवसोमेन्द्रस्यप्प्रियम्म्पाथोपीह्यस्म्मत्त्सखा त्त्वन्देवसोमविश्श्वेषान्देवानाम्प्रियम्पाथोपीहि ॥ ५० ॥ [४]

ऋष्यादि-(१)ॐ उशिक्त्वमित्यस्य देवा ऋषयः । आसुर्युष्णिक्छं० । सोमो दे० । सोमेंऽशुनिधाने वि० । (२)ॐ वशीत्वमित्यस्य देवा ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । सोमेंशुनिधाने वि० । (३) ॐ अस्मादित्यस्य देवा ऋ० । आर्च्युष्णिक्छं० । सोमो दे० । सोमेंऽशुनिधाने वि० ॥ ५० ॥

विधि-(१-२-३) इस कण्डिकात्मक तीन मंत्रोंसे उलूखलमें स्थित अंशुओंको सोममें डालै [का० १२ । ५ । १८] मंत्रार्थ-(देव सोम) हे सोम देवता ! (उशिक्) तुमको पाकर सब कामना करते हैं इस कारण (त्वम्) तुम (अग्नेः) अग्निके (प्रियम्) प्रिय (पाथः) खाद्यभावको (अपीहि) प्राप्त हो (देव) हे दीप्यमान ! (सोम) सोम ! (वशी) कान्तिमान् (त्वम्) तुम(इन्द्रस्य) इन्द्रके (प्रियम्) प्रिय (पाथः) अन्नको (अपीहि) प्राप्त हो २ । (देवसोम) हे देव सोम ! (अस्मत्) हमारे (सखा) बन्धु (त्वम्) तुम (विश्वेषाम्) सम्पूर्ण (देवानाम्) विश्वेदेवाओंके (प्रियम्) प्रिय (पाथः) अन्नको (अपीहि) प्राप्त हो । "अग्निर्वै प्रातःसवनमिन्द्रो माध्यन्दिनꣳ सवनꣳ विश्वेदेवास्तृतीयꣳ सवनम्" इति श्रुतेः" ॥ ५० ॥

सत्रोत्थान ।

कण्डिका ५१-मंत्र २ ।

इहरतिरिहरमध्वमिहधृतिरिहस्वधृतिः स्वाहा ॥ उपसृजन्धरुणम्मात्रेधरुणोमातरन्धयन् ॥ रायस्पोषमुस्म्मासुदीधरुत्स्वाहा ॥ ५१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इहरतिरित्यस्य देवा ऋषयः । प्राजापत्या वृहती छं० । पशुर्देवता । शालाद्वार्यधिष्ण्ये हवने वि० । (२) ॐ उपसृजन्नित्यस्य भुरिगार्ष्युष्णिक्छं० । अग्निर्देवता । हवने वि० ॥ ५१ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु समस्त दीक्षितगणको जिज्ञासा करके फिर नूतन गार्हपत्य (शालाद्वार्यधिष्ण्य) में इन मंत्रोंसे प्रथम आहुति प्रदान करे [का० १२ । ४ । १०] मंत्रार्थ-हे गोवृन्द ! तुम्हारी (रतिः) रमण वा प्रीति (इह) इस यजमानमें हो (इह) इस यजमानमें (रमध्वम्) तुम रमण करो (इह) इस यजमानमें (धृतिः) तुम्हारा संतोष हो (स्वधृतिः) इसीके स्थानमें स्वकीयोंका सन्तोष हो अर्थात् इसके घरमें तुम्हारे सन्तोषसे दृढमूल हो (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार स्वीकारहो १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे दूसरी आहुति प्रदान करै. [का० १२ । ४ । ११] मंत्रार्थ-(धरुणः) धारण करनेवाला अग्नि (मात्रे) पृथ्वीके (धरुणम्) धारण करनेवाले अग्निको (उपसृजन्) समीप प्राप्त कराता हुआ तथा (मातरम्) पृथ्वीको (धयन्) पीता हुआ अर्थात् उससे उत्पन्न हविको भक्षण करता हुआ (अस्मासु) हमको (रायः) धन पशु पुत्र सुवर्णादिकी (पोषम्) पुष्टिको (दीधरत्) प्रदान करै (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार स्वीकार हो ॥ ५१ ॥

विशेष-अग्नि पृथ्वीकेही पदार्थोंसे प्रकाश पाती है और उन्ही पार्थिव पदार्थोंसे प्रगट होती है इस कारण अग्निकी माता पृथ्वी अग्निभिन्न पृथ्वी वा पार्थिव कोईभी पदार्थ नहीं, समस्त पदार्थमें ही अग्निकी सत्ता है, अग्नि अपने समीप कोई पार्थिव पदार्थ आनेसे दहन करनेमें पराङ्मुख नहीं होता, इस कारण अग्नि यहीं धरुण देवता हैं इस निमित्त इसको स्वयोनिभक्षभी कहते हैं ॥ ५१ ॥

कण्डिका-५२ मंत्र १ ।

सत्रस्यऽऋद्धिरस्यगन्मज्ज्योतिरमृताऽअभूम ॥

दिवंम्पृथिव्याऽअद्ध्यारुहामाविदामदेवान्त्स्वुर्ज्ज्योतिः ॥ ५२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ सत्रस्येत्यस्य देवा ऋषयः । भुरिगार्षी बृहती छन्दः । सोमो देवता । सामगायने वि० ॥ ५२ ॥

विधि–(१) सम्पूर्ण दीक्षितगण एकत्र होकर उत्तर हविर्धानके अपर कूवरी (चन्द्रकाष्ठ युगंधर) अवलम्बन करके सत्रर्द्धिसंज्ञक सामगान करैं [का० १२। ४। १२] मंत्रार्थ–हे उत्तर हविर्धान! तुम (सत्रस्य) यज्ञकी (ऋद्धिः) समृद्धिरूप (असि) हो तुम्हारे प्रसादसे ही हम यजमान (ज्योतिः) आदित्यलक्षण वाली ज्योतिको (अगन्म) प्राप्त होकर (अमृता) मरणधर्मसे रहित (अभूम) होनेकी आशा करतेहैं (पृथिव्याः) पृथ्वीसे (दिवम्) द्युलोकको (अध्यारुहाम) आरूढ हुए (देवान्) देवगण इन्द्रादि (अविदाम) जानैं वा देखैं (ज्योतिः) ज्योतिरूप (स्वः) स्वर्गके देखने जाननेकी आशा करतेहैं ॥ ५२ ॥

कण्डिका ५३–मंत्र ३।

युवन्तमिन्द्रापर्वतापुरोयुधायोनंः पृतन्न्यादपतन्तमिद्धंतंवज्ज्रेणतन्तमिद्धंतम् ॥ दूरेचत्तायंच्छन्त्सुद्गहंनंयदिनंक्क्षत ॥ अस्म्माकंशत्रून्परिशूरविश्श्वतोदर्म्मादर्षीष्टविश्श्वतंः ॥ भूर्भुवःस्वंःसुप्प्रजाःप्प्रजाभिंःस्यामसुवीरांवीरैःसुपोषाःपोषैंः ॥ ५३ ॥ [३]

ऋष्यादि–(१) ॐ युवमित्यस्य परुच्छेप ऋ०। आर्ष्यनुष्टुप्छं०। इन्द्रापर्वतौ देवते । प्राङ्मुखनिःसरणे वि०। (२) ॐ दूरेचेत्यस्य परुच्छेप ऋ०। विराडार्षी बृहती छं०। इन्द्रो दे०। प्राङ्मुखनिःसरणे वि०। (३) ॐ भूर्भुवः स्वरित्यस्य परुच्छेप ऋ०। विराट् प्राजापत्या पंक्तिश्छन्दः। विराट् पुरुषो देवता । वाग्विसर्जने वि० ॥ ५३ ॥

विधि–(१–२) अनन्तर यह दीक्षितगण इस कण्डिकाका प्रथम और दूसरा मंत्र पाठकरके दक्षिण हविर्धानके अक्षके अधोमार्गसे निकलैं [का० १२। ४। १४] मंत्रार्थ–(पुरोयुधा) हे आगे युद्धकरनेवाले (इन्द्रापर्वता) शत्रुओंके सन्मुख युद्ध

करनेवाले इन्द्र और पर्वत (युवम्)तुम दोनों(तंतम्)उस उस शत्रुको और(तम् इत्)विशेष करही उस शत्रुको (अपहतम्) विनाश करो (वज्रेण)वज्रनामक अपने तीक्ष्ण आयुधसे (ततम् इत्)उसी शत्रुको विशेष करके(हतम्)विनाश करो (यः) जो शत्रु(नः)हमसे (पृतन्यात्) सेनाद्वारा युद्ध करै (शूर) हे शूर हे इन्द्र ! तुम्हारा वज्र (यत्) जब (गहनम्) अत्यन्त गम्भीर वन वा जलके प्रति (दूरे) दूर वर्तमान (चत्ताय) दूर गये शत्रुके निमित्त (छन्त्सत्) कामना करै तब उस दूर गये हुएको (इनक्षत) प्राप्त करले "इनक्षाति व्याप्तिकर्मा"[निघं० २ । १८ । २] (दर्मा) विदारण करनेवाला वज्र (अस्माकम्) हमारे (विश्वतः) सब ओर स्थित (विश्वतः) सम्पूर्ण (शत्रून्) शत्रुओंको (परिदर्षीष्ट) सब ओरसे विदीर्ण करो १-२ विधि-(३) तीसरा मंत्र मन मनमें पाठ करके सब यजमानादि मौनभावसे अपना अभीष्ट चिन्तन करैं [का० १२ । ४ । ८] मंत्रार्थ-(भूर्भुवः स्वः) हे अग्नि वायु सूर्यादि!आपके प्रसादसे हम (प्रजाभिः) प्रजाओंद्वारा (सुप्रजाः) अच्छी प्रजावाले (वीरैः) वीर पुत्रोंसे (सुवीराः) सुपुत्रवान् (पोषैः) उत्कृष्ट सम्पत्तिलाभ करके तुम्हारे प्रसादसे (सुपोषाः) सुसम्पत्तिमान् (स्याम) विख्यात हों [शत० ३ । ३७ । ७।१९] में यह मंत्र एकवचनान्त और यहां बहुवचनांत है [ऋ० २ । १ । ११] ॥ ५३ ॥

सत्रोत्थानं समाप्तम् ।

यज्ञचिकित्सा ।

कण्डिका ५४-मन्त्र ६ ।

परमेष्ठ्यभिधीतः प्रजापतिर्वाचि व्याहृतायामन्धोऽअच्छेतः सविता सन्यां विश्वकर्म्मा दीक्षायाम्पूषा सोमक्रयण्यामिन्द्रश्च ॥ ५४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ परमेष्ठीत्यस्य वसिष्ठ ऋ० । दैवी जगती छं० । आहुतिप्रदाने वि० (२) ॐ प्रजापतिरित्यस्य वसिष्ठ ऋ० । याजुषी पंक्तिश्छं० । लिंगोक्ता दे० । आहुतिप्रदाने वि० । (३) ॐ अन्ध इत्यस्य वसिष्ठ ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । लिंगोक्ता देवता । हवने वि० । (४) ॐ सवितेत्यस्य वसिष्ठ ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । लिंगोक्ता दे० । हवने वि० । (५) ॐ विश्वकर्मेत्यस्य वसिष्ठ ऋ० । दैवी जगती छं० । लिंगोक्ता दे० । होमे वि० । (६) ॐ पूषेत्यस्य मन्त्रस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी जगती छं० । लिंगोक्ता दे० । हवने वि० ॥ ५४ ॥

विधि-(१-२-३-४-५-६) मृन्मय घर्मपात्र (दुग्धकी पकी दोहनी) यदि भग्न हो जाय तो उसको स्पर्शकर "परमेष्ठिने स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, सलिलाय स्वाहा" इस मंत्रतक ३४ आहुतिसे होमे यदि घर्मदुहा गौ मृत होजाय तो उसके स्थानमें दूसरी एक घर्मदुहा गौको उत्तराभिमुख अथवा पत्नीशालाके पूर्व भागमें पूर्वाभिमुख खड़ी करके उसकी पूंछके दक्षिणभागी अस्थिके ऊपर "परमेष्ठिने स्वाहा" ऐसी ३४ आहुति घृतकी देकर दुहै और स्थालीमें स्थित वा स्रुकमें स्थित अथवा पृषदाज्यगत हवनीय पदार्थ घृत दुग्ध चरु सोम इत्यादि भ्रष्ट या पतित होजायं तो इस कण्डिकासे प्रारंभ कर ५९ कण्डिकाके दूसरे मंत्र पर्यन्त ३४ मंत्रोंमेंसे यथा आवश्यक किसी मंत्रसे आहुति प्रदान करै [का० २५ । ६ । १ । ६] तथा च श्रुतिः [श० १२ । ६ । १ । १ । २] "सोमो वै राजा यज्ञः प्रजापतिस्तस्यैतास्तन्वो या एता देवता या एता आहुतीर्जुहोति १ स यद्यज्ञस्यार्छेद्यां तत्प्रतिदेवतां मन्येत तामनु समीक्ष्य जुहुयाद्यदि दीक्षोपसत्स्वाहवनीये यदि प्रसुत आग्नीध्रे विवा एतद्यज्ञस्य पर्व स्रꣳसते यद्धलति सा यैव तर्हि तत्र देवता भवति तयैवैतद्देवतया यज्ञं भिपज्यति तया देवतया यज्ञं प्रति सन्दधाति" इति [श०] मंत्रार्थ- जिस समय यजमान सोम याग करनेको प्रवृत्त हो मन मनमें सोम (अभिधीतः) चिन्ता किया हुआ (परमेष्ठी) परमेष्ठी होता है इस समय यदि उल्लिखित प्रकार [घर्मपात्र भग्न इत्यादि] कोई विघ्न उपस्थित हो तो "परमेष्ठिने स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति प्रदान करै "सयद्येनं मनसाभिध्यातो यज्ञोनोपनमेत् परमेष्ठिने स्वाहेति जुहुयात् परमेष्ठी हि स तर्हि भवत्यपपामानꣳहत उपैनं यज्ञो नमति" इति [श०१२। ६ । १ । ३] जिस कालमें यजमान यज्ञके निमित्त सोम आवश्यक है, इत्यादि (वाचि) वाणीके (व्याहृतायाम्) उच्चारण करनेमें (प्रजापतिः) सोम प्रजापति नाम होता है इस समय यदि उल्लिखित किसी प्रकारका विघ्न उपस्थित हो तो "प्रजापतये स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति प्रदान करै २ । जिस कालमें यजमानके सोम (अच्छः) अभिमुख (इतः) प्राप्त हुआ तब (अन्धः) अन्धनामवाला होता है इस समय यदि कोई विघ्न उपस्थित हो तो "अन्धसे स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति प्रदान करै ३ । सोमके (सन्याम्) यथाभाग रक्षित होनेपर (सविता) सविता नाम होता है उस समय यदि कोई उल्लिखित विघ्न हो तो "सवित्रे स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति प्रदान करै ४ । (दीक्षायाम्) दीक्षामें (विश्वकर्मा) सोमका विश्वकर्मा नाम होता है उस समय यदि कोई विघ्न हो तो "विश्वकर्मणे स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति प्रदान करै ५ । (सोमक्रयण्याम्) सोमक्रयणी गौको लानेमें सोम (पूषा) पूषा नामवाला होता है उसके प्राप्त होनेमें यदि कोई विघ्न उपस्थित हो तो "पूष्णे स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति प्रदान करै ६ ॥ ५४ ॥

कण्डिका ५५-मन्त्र ५ ।

इन्द्रश्च मरुतश्च क्रयायोपोत्थितोसुरः पण्यमानो मित्रः क्रीतो विष्णुः शिपिविष्टऽऊरावासन्नो विष्णुर्न्नरन्धिषः प्रोह्यमाणः ॥ ५५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्र इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता देवता । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (२) ॐ असुर इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी जगती छं० । लिंगोक्ता दे० । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (३) ॐ मित्र इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (४) ॐ विष्णुरित्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी त्रिष्टुप्छन्दः । लिंगोक्ता दे० । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (५) ॐ विष्णुरित्यस्य वशिष्ठ० । याजुषी पंक्तिश्छं० । लिंगोक्ता दे० । प्रायश्चित्तहोमे वि० ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ-(क्रयाय) सोमके क्रयार्थ (उपोत्थितः) उपस्थित होनेमें सोम (इन्द्रः) इन्द्र (च) और (मरुतः च) मरुत् नामवालाभी होता है उस समय यदि कोई विघ्न हो तो "इन्द्राय मरुद्भ्यश्च स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति प्रदान करे १ । (पण्यमानः) क्रयकरनेके समय सोम (असुरः) असुरसंज्ञक है उस समय यदि कोई विघ्न हो तो "असुराय स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति प्रदान करे २ । (क्रीतः) मोललिया हुआ सोम (मित्रः) मित्रसंज्ञक होता है यदि उससमय कोई विघ्न हो तो "मित्राय स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति प्रदान करै ३ । (ऊरौ) यजमानकी गोदीमें (आसन्नः) स्थित सोम (शिपिविष्टः) प्राणी वा यज्ञमें प्रविष्ट (विष्णुः) विष्णुनामवाला होताहै उस समय यदि कोई विघ्न हो तो "विष्णवे शिपिविष्टाय स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति प्रदान करै ४ । (प्रोह्यमाणः) शकटमें वहनकरते समय सोम (नरन्धिषः) जगत्संहर्ता वा जगत्पालक (विष्णुः) विष्णु नामवाला होता है उस समय यदि कोई विघ्न उपस्थित हो तो "विष्णवे नरन्धिषाय स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति प्रदान करै ५ ॥ ५५ ॥

कण्डिका ५६-मन्त्र ६ ।

प्रोह्यमाणः सोमऽआगतो वरुणऽआसन्द्यामासन्नोऽग्निराग्नीध्रऽइन्द्रो हविर्द्धानेथर्वोपावह्रियमाणः ॥ विश्वेदेवाः ॥ ५६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रोह्यमाण सोम इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (२) ॐ वरुणेत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (३) ॐ अग्निरित्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । लिंगोक्ता दे० । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (४) ॐ इन्द्र इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी त्रिष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (५) ॐ अथर्वेत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । प्रायश्चित्तहोमे वि० ॥ ५६ ॥

मंत्रार्थ-शकटसे (आगतः) आरूढ सोम (सोमः) सोम होताहै उस समय विघ्न हो तो "सोमाय स्वाहा" इससे आज्याहुति दे१ । (आसन्द्याम्) सोम रखनेकी मञ्चमें (आसन्नः) रक्षित सोम (वरुणः) वरुणसंज्ञक होताहै उस समय विघ्न उपस्थित हो तो "वरुणाय स्वाहा" इससे आज्याहुति दे २ । (आग्नीध्रे) आग्नीध्रमें विद्यमान सोम (अग्निः) अग्निसंज्ञक है उस समयके विघ्नमें "अग्नये स्वाहा" इससे आज्याहुति दे३।(हविर्धाने) हविर्धानमें विद्यमान होते सोम (इन्द्रः) इन्द्रसंज्ञक है उस समय विघ्नहोनेमें "इन्द्राय स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति दे४।"हृदे त्वा मनसे त्वा" [अ० ३७ क० १९] में कहे मंत्रसे कंडनके निमित्त(उपावह्रियमाणः)कूटनेको लायाहुआ सोम (अथर्वः) अथर्वनामवाला होताहै उस समय यदि कोई विघ्न हो तो "अथर्वाय स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति दे ५ ॥ ५६ ॥

कण्डिका ५७-मंत्र ८.

विश्वेंदेवाऽअᳮशुषुन्न्युप्तोविष्णुंराप्प्रीतपाऽआप्प्याय्यमानोयमःसूयमानोविष्णुः सम्भ्रियमाणोवायुःपूयमानᳮशुक्रःपूतःशुक्रःक्षीरश्रीर्म्मन्थीसक्तुश्रीर्विश्वेदेवाः ॥ ५७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्वेदेवा इत्यस्य वशिष्ठ ऋ०।याजुषी बृहती छं०। लिंगोक्ता देवता । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (२) ॐ विष्णुरित्यस्य वशिष्ठ ऋ० । आसुरी पंक्तिश्छं० । लिंगोक्ता दे० । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (३) ॐ यम इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी त्रिष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (४) ॐ विष्णुरित्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी जगती छं०। लिंगोक्ता दे० । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (५) ॐ वायुरित्यस्य वसिष्ठ

ऋ० । दैवी त्रिष्टुप्छं० । लिंगोक्ता देवता । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (६) ॐ शुक्र इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी बृहती छं० । लिंगोक्ता देवता।प्रायश्चित्तहोमे वि० । (७) ॐ शुक्र इत्यस्य वशिष्ठ ऋ ॥ दैवी पंक्तिश्छं० । लिंगोक्ता दे० । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (८) ॐ मन्थी इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी पंक्तिश्छन्दः । लिंगोक्ता दे० । प्रायश्चित्ताज्यहोमे वि० ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ-(अंशुषु) सोमके खण्डोंमें(न्युप्तः)कण्डन करके आरोपित किया सोम (विश्वेदेवाः)विश्वेदेवासंज्ञक है उस समय यदि कोई विघ्न उपस्थित हो तो "विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति दे १ । "अꣳशुरꣳशुष्टे" [अ० ९ मं०७]से (आप्यायमानः) वृद्धिको प्राप्त हुआ सोम (आप्रीतपाः) सब प्रकार अपने भक्तोंकी रक्षा करनेवाला (विष्णुः) विष्णुसंज्ञक होताहै उस समय विघ्न उपस्थित होनेमें "विष्णवे आप्रीतपाय स्वाहा"इस मंत्रसे घृताहुति दे २ ।(सूयमानः) सोम-अभिषवके समय (यमः) यमनाम है उस समय विघ्न हो तो "यमायस्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति दे ३ । (सम्भ्रियमाणः) पुष्यमाण अभिषुत सोम (विष्णुः) विष्णुरूप है उस समय विघ्न उपस्थित हों तो"विष्णवे स्वाहा"इससे आज्याहुति दे४। (पूयमानः) पवित्रद्वारा छानाहुआ सोम(वायुः) वायु नाम है उस समय यदि कोई विघ्न उपस्थित हो तो "वायवे स्वाहा"इस मंत्रसे आज्याहुति दे५। (पूतः)पवित्र हुआ सोम (शुक्रः) शुक्र होताहै उस समय यदि कोई विघ्न हो तो"शुक्राय स्वाहा"इससे आज्याहुति दे ६ । (क्षीरश्रीः) पूतसोम दुग्धसे मिलानेके समय (शुक्रः) शुक्र होताहै उस समय विघ्न हो तो "शुक्राय स्वाहा" इससे आज्याहुति दे ७ । (सक्तुश्रीः) सक्तुसे मिश्रित सोम (मन्थी) मन्थीनाम होताहै उस समय विघ्न हो तो "मन्थिने स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति दे ८ ॥ ५७ ॥

कण्डिका ५८-मन्त्र ७ ।

विश्वेदेवाश्चमसेषून्नीतोसुर्होमायोद्यतो रुद्रो हूयमानो वातोभ्यावृत्तो नृचक्षाः प्रतिख्यातो भक्षो भक्ष्यमाणः पितरो नाराशꣳसाः सन्नः सिन्धुः ५८

ऋष्यादि- (१) ॐ विश्वेदेवा इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी पंक्तिश्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । प्रायश्चित्ताज्यहोमे वि० । (२) ॐ असुर इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुष्युष्णिक्छं० लिंगोक्ता देवता । प्रायश्चित्ताज्य

होमे वि० । (३) ॐ रुद्र इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी गायत्री छं० । लिङ्गोक्ता दे० । प्रायश्चित्ताज्यहोमे वि० (४) ॐ वात इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । लिङ्गोक्ता दे० । प्रायश्चित्ताज्यहोमे वि० । (५) ॐ नृचक्षा इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी जगती छन्दः । लिङ्गोक्ता दे० । प्रायश्चित्ताज्यहोमे वि० । (६) ॐ भक्ष इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी त्रिष्टुप्छं० । लिङ्गोक्ता दे० । प्रायश्चित्ताज्यहोमे वि० । (७) ॐ पितर इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी बृहती छं० । लिङ्गोक्ता देवता । प्रायश्चित्ताज्यहोमे वि० ॥ ५८ ॥

मंत्रार्थ–(चमसेषु) ग्रहपात्रोंमें (उन्नीतः) ग्रहण किया सोम (विश्वेदेवाः) विश्वेदेवसंज्ञक है उस समय यदि कोई विघ्न उपस्थित हो तो "विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति दे १ । (होमाय) ग्रहहोम करनेको (उद्यतः) उद्यत हुआ सोम (असुः) असुसंज्ञक होता है, उस समय यदि कोई विघ्न उपस्थित हो तो "असवे स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति दे २ । (हूयमानः) हवन करते समय सोम (रुद्रः) रुद्रसंज्ञक है उस समय कोई विघ्न हो तो "रुद्राय स्वाहा" इस मंत्रसे आहुति दे ३ । (अभ्यावृतः) हुतशेष सोमभक्षणार्थ सदोमण्डपमें लाया हुआ (वातः) वातसंज्ञक है उस समय यदि कोई विघ्न उपस्थित हो तो "वाताय स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति दे ४। (प्रतिख्यातः) हे ब्रह्मन् ! यह हुतशेष पानकरो. इसप्रकार भक्षणके निमित्त पूछाहुआ सोम (नृचक्षाः) मनुष्योंका शुभाशुभ देखने वाला नृचक्ष नाम होता है उस समय यदि कोई विघ्न हो तो "नृचक्षसे स्वाहा" इससे आज्याहुति दे ५ । (भक्ष्यमाणः) भक्षण करते हुए सोम (भक्षः) भक्षसंज्ञक है उस समय यदि कोई विघ्न उपस्थित हो तो "भक्षाय स्वाहा" इससे आज्याहुति दे ६ । (सन्नः) भक्षण करनेके अनन्तर खरीपर रक्खा सोम (नाराशंसाः) नाराशंस गुणविशिष्ट वा यज्ञहितकारी (पितरः) पितरसंज्ञक होता है उस समय कोई विघ्न उपस्थित हो तो "पितृभ्यो नाराशंसेभ्यः स्वाहा" इससे आज्याहुति प्रदान करै ७ ॥ ५८ ॥

कण्डिका ५९–मन्त्र १ ।

सुन्नऽसिन्धुरवभृथायोद्यतऽसमुद्रोऽभ्यवह्रियमाणऽसलिलऽप्रप्लुतो ययोरोजसास्कभिता रजाᳬसि वीर्येभिर्वीरतमा शविष्ठा ॥ यापत्येते अप्रतीता सहोभिर्विष्णूऽअगन्वरुणापूर्वहूतौ ॥ ५९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सिन्धुरित्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी बृहती छं० । लिङ्गोक्ता दे० । प्रायश्चित्ताज्यहोमे वि० । (२) ॐ समुद्र इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी बृहती छं० । लिङ्गोक्ता दे० ।प्रायश्चित्ताज्यहोमे वि० । (३) ॐ सलिल इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी गायत्री छं० । लिङ्गोक्ता देवता । प्रायश्चित्ताज्यहोमे वि० । (४) ॐ ययोरित्यस्य वशिष्ठ ऋ० । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । विष्णुवरुणौ देवते । जलेन स्कन्नसोमोपसिंचने वि० ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ-(अवभृथाय) अवभृथके निमित्त (उद्यतः) उद्यत हुआ सोम (सिन्धुः) सिन्धु होता है उस समय यदि कोई विघ्न हो तो "सिन्धवे स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति दे १ । (अभ्यवह्रियमाणः) जलके ऊपर उस ऋजीषकुम्भमें उपस्थित करते समय जलके अभिमुख लेजायाहुआ सोम (समुद्रः) समुद्र होता है, उस समय यदि कोई विघ्न हो तो "समुद्राय स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति दे २ ।(प्रप्लुतः) ऋजीषकुम्भ जलमें मग्न करते समय सोम (सलिलः) सलिलसंज्ञक होता है उस समय यदि कोई विघ्न उपस्थित हो तो "सलिलाय स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति प्रदान करे, इन चौंतीस ३४ आहुतियोंसे चिकित्सित यज्ञ पूर्ण होता है । तथाच श्रुतिः "ता वा एताश्चतुस्त्रिꣳशतमाज्याहुतीर्जुहोति त्रयस्त्रिꣳशद्वै देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिꣳश एतदु सर्वैर्देवैर्यज्ञं भिषज्यति सर्वैर्देवैर्यज्ञं प्रति सन्दधाति" इति [श० १२ ९ । १ । ३७] तैंतीस देवता चौंतीसवां प्रजापति परमात्मा है उनके निमित्त आहुति देनेसे यज्ञ पूर्णाङ्ग होजाता है । [इति यज्ञचिकित्सा] ३ । विधि-(४) सोमरस भूमिआदिमें पतित हो अथवा कलशसे गिरे वा आतपमें शुष्क हुआ हो किसी प्रकार गिराहो तो इस अगले मंत्रसे जलसे सींचै [का० २५ । २ । ९] (ययोः) जिन विष्णु और वरुणके (ओजसा) प्रभावसे (रजाꣳसि) लोक "लोका रजांस्युच्यन्त इति" [निरु० ४ । १९] (स्तभिताः) स्तंभित हैं (याः) जो विष्णु वरुण (वीर्येभिः) अपने बलोंसे (वीरतमाः) अत्यन्त वीर (शविष्ठाः) अत्यन्त बलवान् "शव इति बलनाम" [निघं० २ । ९ ३] (सहोभिः) जो अपने बलोंसे (अप्रतीताः) अप्रतिम है अर्थात् जिनके तुल्य कोई नहीं जिनके सन्मुख युद्ध करनेको किसीकी सामर्थ्य नहीं वे (पत्येते) लोकत्रयका आधिपत्य करते हैं, अर्थात् जगत्के ईश्वर हैं, अथवा शत्रुओंकी सेनापर श्येनकी समान पतित होते हैं (पूर्वहूतौ) यज्ञमें प्रथमही आह्वान किये (विष्णुवरुणौ) विष्णु और वरुणके प्रति (अगन्) हमसे स्कन्न हुआ सोम गया अर्थात् उनकेप्रति प्राप्त हुआ तुल्यकार्य होनेसे दोनोही विष्णु और दोनोही वरुण हैं यह प्रसन्न हविभी उनके निकट प्राप्त हुई ॥ ४ ॥ ५९ ॥

कण्डिका ६०–मन्त्र २ ।

देवान्दिवमगन्यज्ञस्ततो॑मा॒द्रविणमष्टु मनुष्याँ२ऽ अ॒न्तरिक्षमगन्यज्ञस्ततो॑मा॒द्रविणमष्टु पितॄन्पृथिवी मगन्यज्ञस्ततो॑मा॒द्रविणमष्टु यङ्कञ्च लोकमगन्यज्ञ स्ततो॑मेभ॒द्रमभूत् ॥ ६० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ देवानित्यस्य वशिष्ठ ऋषिः । अत्यष्टिश्छं० । यज्ञो देवता । स्कन्नसोमाभिमर्शने वि० ॥ ६० ॥

विधि–(१) सोम स्कन्न होनेपर पूर्व मंत्रसे जलसिंचन अथवा इस मन्त्रसे अभिमर्शन करै [का० २५।२।८।] मन्त्रार्थ–(यज्ञः) यह यज्ञ (दिवम्) द्युलोकमें (देवान्) देवताओंके प्रति (अगन्) गया (ततः) उस द्युलोकमें स्थित यज्ञ-फलसे (द्रविणम्) विशिष्ट भोगसाधनरूप धन यज्ञका फलरूप (मा) मुझको (अष्टु) प्राप्त हो । इससे सुकृतियोंका आरोहणक्रम कहकर इस समय अवरोहण क्रम कहते हैं । (यज्ञः) द्युलोकसे अवरोहणसमय यह यज्ञ (मनुष्यान्) मनुष्य-लोकमें आताहुआ (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षलोकमें (अगन्) प्राप्त हुआ (ततः) वहां स्थित यज्ञके फलसे (द्रविणम्) अनेक प्रकार धनकी प्राप्ति (मा) मुझको (अस्तु) हो । अब दक्षिणायनका गमनागमन कहते हैं (यज्ञः) यह यज्ञ धूमादि-मार्गसे (पितॄन्) पितरोंको प्राप्त होकर (पृथ्वीम्) भूलोकको(अगन्)आताहुआ (ततः) उस स्थानमें स्थित यज्ञके फलसे (द्रविणम्) धनादि (मा) मुझको (अष्टु) प्राप्त हो बहुत क्या (यज्ञः) यह यज्ञ (यम्) जिस (कंच) किसी भी (लोकम्) लोकको (अगन्) गया हो (ततः) इसके फलसे (मे) मेरा (भद्रम्) कल्याण (अभूत्) हो ॥ ६० ॥

विशेष–अथवा द्युलोकके देवताओंके निकट गमन करता हुआ इसका यह आशय है द्युलोकवासी सुकृतरूप हैं ॥ ६० ॥

कण्डिका ६१–मन्त्र १ ।

चतु॑स्त्रि॒ꣳशत्तन्त॑वो॒ये वि॑तत्नि॒रे य॑ऽइमं य॒ज्ञꣳ स्व॒धया॒ दद॑न्ते ॥ तेषां॒ छि॒न्नꣳ सम्वे॒तद्द॑धामि॒ स्वाहा॑ घ॒र्म्मोऽअप्ये॑तु दे॒वान् ॥ ६१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ चतुस्त्रिꣳशदित्यस्य वशिष्ठ ऋ० । ब्राह्म्युष्णिक्छन्दः । घर्मो देवता । आज्यहोमे वि० ॥ ६१ ॥

विधि–(१) सोमलताको आवर्जन करते समय घर्मपात्रमें ग्रहण करै उसके भेदमें यह समस्त हवन करै कात्यायन महर्षिने इसका विनियोग नहीं लिखा परन्तु शाखान्तरमें महावीर वा घर्महोममें प्रसिद्ध है महावीरके भेदमें घृतहोम करै । मंत्रार्थ–(ये) जो (चतुस्त्रिंशत्) चौंतीस (तन्तवः) प्रायश्चित्त उपरान्त यज्ञका विस्तार करनेवाले प्रजापति आदि चौंतीस देवता (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञकू (वितत्निरे) विस्तार करतेहुए (ये) जो (स्वधया) अन्नादिद्वारा (ददन्ते) पुष्ट करते हैं (तेषाम्) उन यज्ञके विस्तार करनेवाले देवताओंका जो (छिन्नम्) अंश छिन्न हुआ है (उएतत्) उसको (सन्दधामि) घर्मपात्रमें संग्रह करता हूं सन्धान करता हूं (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो इस घृत से महावीर संहित हो (घर्मः) महावीर (देवान्) देवताओंके प्रति (अप्येतु) प्रसन्न करनेको गमन करै ॥ ६१ ॥

विशेष–यह जो सोमकी चिन्तासे सोमप्लावनपर्यन्त ३४ आहुति हैं उन्हींका वर्णन इस मन्त्रमें है ॥ ६१ ॥

कण्डिका ६२–मंत्र १ ।

यज्ञस्य दोहो वितत: पुरुत्रा सो ऽअष्टधा दिवमन्वाततान ॥ स यज्ञ धुक्ष्व महि मे प्रजायाꣳ रायस्पोषं विश्वमायुरशीय स्वाहा ॥ ६२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यज्ञस्येत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । यज्ञो देवता । मन्त्रपाठे वि० ॥ ६२ ॥

विधि–(१) पूर्वोक्त ३४ आहुतिमेंसे कोई एक आहुति देनेपर यजमान यह मंत्र पाठ करै [का० २५।६।७]मन्त्रार्थ–(यज्ञस्य) जिस यज्ञका (दोहः) आहुति परिणाम हुआ (सः) वह प्रसिद्ध यज्ञका फलरूप (पुरुत्रा) बहुतप्रकारसे (विततः) विस्तारको प्राप्त होताहुआ (अष्टधा) आठों दिशाओंमें वा दिग्भेदसे आठ प्रकार भिद्यमान हो (दिवम्) द्युलोकमें (अन्वाततान) व्याप्त हुआ अर्थात् भूमि अन्तरिक्षमें व्याप्त होकर स्वर्गमें व्याप्त हुआ है (सः) वह (यज्ञः) यज्ञ (मे) मुझको (प्रजायाम्) सन्ततिमें (महि) महिमाको (धुक्ष्व) प्रदान करै (रायः) धनकी (पोषम्) पुष्टि (विश्वम्) सम्पूर्ण

(आयुः) अवस्थारूप आयुको (अशीय) प्राप्त करूं (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो [आशय यह कि ब्रह्माजीसे प्रारम्भकर समस्त भूतग्राम यज्ञका परिणाम है] ॥ ६२ ॥

कण्डिका ६३–मन्त्र १।

आपवस्वहिरण्यवदश्ववत्सोमवीरवत् ॥ वाजङ्गोमन्तमाभरस्वाहा ॥ ६३ ॥ १० ॥ २३ ॥

इति संहितायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ आपवस्वेत्यस्य कश्यप ऋ० । स्वराडार्षी गायत्री छं० । सोमो दे० । शान्त्यर्थे होमे वि०॥ ६३ ॥

विधि–(१) यदि यूपस्तम्भके ऊपर काक बैठ जाय तब उद्गाता इस मंत्रसे आहुति प्रदान कर शान्ति करै यही पशु सोमपर काकके बैठनेमें है[का०२५ । ६ । ९] मंत्रार्थ–(सोम) हे सोम ! तुम (आपवस्व) आकर इस यूपस्तंभको पवित्र करो (हिरण्यवत्) सुवर्णयुक्त (अश्ववत्) अश्वयुक्त (वीरवत्) वीरयुक्त होकर अर्थात् हिरण्य अश्वपुत्र तथा (गोमन्तम्) धेनुयुक्त (वाजम्) अपर्याप्त अन्न (आभर) हमको सब प्रकारसे प्रदान करो (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो [ऋ० ७ । १ । ३३] ॥ ६३ ॥

इति प्रायश्चित्त गवामयन समाप्त.

इति श्रीमाध्यन्दिनीयायां वाजसनेयिसंहितायां पण्डितज्वालाप्रसाद-
मिश्रकृतमिश्रभाष्ये ग्रहग्रहान्निमित्तान्तोष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः ९.

वाजपेय यज्ञ .

चौथे अध्यायसे लेकर आठवें अध्यायपर्यन्त अग्निष्टोम और उसके प्रासंगिक मंत्र कहे हैं अब नौमें अध्यायकी ३४ कण्डिकातक वाजपेयमंत्र कहते हैं ।

देवसवितश्चतस्रःइंद्रस्यव्वज्रःपञ्चदेवस्याहंदशआपयेतिस्रः वाजस्येममष्टौअग्निरेकाक्षरेणैषतेचतुष्कौसविताद्वे अष्टौचत्वारिंशत्।

कण्डिका १–मन्त्र १ ।

देवसवितःप्प्रसुवयज्ञम्प्रसुवयज्ञपतिम्भगाय ॥

द्दिव्योगन्धर्व्वःकेतपूःकेतन्नऽपुनातुव्वाचस्पतिर्व्वाजन्नऽस्वदतुस्वाहा ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवसवितरित्यस्य बृहस्पतीन्द्रौ ऋषी । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । सविता दे० । आज्याहुतिहोमे वि० ॥ १ ॥

विधि-(१) कार्यारम्भमें इस मंत्रसे आज्याहुतिप्रदान करै [का० १४ । १।११] मंत्रार्थ-(देव सवितः) हे दीप्यमान सबके प्रेरक परमात्मन् ! (यज्ञम्) इस वाजपेयनामक यज्ञको (प्रसुव) प्रवृत्त करो (यज्ञपतिम्) यजमानको (भगाय) ऐश्वर्यलाभके निमित्त वा भजनीय अनुष्ठानके निमित्त (प्रसुव) प्रेरणा करो (दिव्यः) दीप्यमान (केतपूः) अन्नके पवित्रकरनेवाले (गन्धर्वः) रश्मियोंके धारणकरनेवाले सूर्यमण्डलमें वर्तमान नारायण (नः) हमारे (केतम्) अन्नको (पुनातु) पवित्र करैं (वाचस्पतिः) वाक्यके अधिपति प्रजापति (नः) हमारे (वाजम्) हविलक्षणरूप अन्नको (स्वदतु) आस्वादन करै (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ १ ॥

भावार्थ-हे सवितृदेव ! हम प्रभूत ऐश्वर्यके लाभके निमित्त वाजपेयनामक यज्ञानुष्ठान करनेकी वाञ्छा करते हैं इस यज्ञमें हमको यज्ञपतिरूपसे प्रवृत्त करो हे दीप्यमान सहस्ररश्मि ! तुम सम्पूर्ण अन्नके सृष्टिस्थितिलयकारी हो और समस्त वाक्यके अधिपति हो इसकारण तुम्हारे निकट प्रार्थना करते हैं इस यज्ञके सम्पादनके निमित्त हमको यथेष्ट अन्नप्रदान करो और हमारे वाक्योंको आस्वादयुक्त करो यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ॥ १ ॥

काण्डिका २-मन्त्र ९ ।

ध्रुवसदन्त्वा नृषदम्मनऽसदमुपयामगृहीतोसीन्द्रायत्त्वाजुष्टङ्गृह्णाम्म्येषतेयोनिरिन्द्रायत्त्वाजुष्टतमम् ॥ अप्सुषदन्त्वाघृतसदंव्योमसदमुपयामगृहीतोसीन्द्रायत्त्वाजुष्टङ्गृह्णाम्म्येषतेयोनिरिन्द्रायत्त्वाजुष्टतमम् ॥ पृथिवीसदन्त्वान्तरिक्षसदन्दिविसदन्देवसदन्नाकसदमुपयामगृहीतोसीन्द्रायत्त्वाजुष्टङ्गृह्णाम्म्येषतेयोनिरिन्द्रायत्त्वाजुष्टतमम् २

ऋष्यादि-(१) ॐ ध्रुवसदमित्यस्य बृहस्पतिर्ऋ०।याजुषी जगती छं०। इन्द्रो देवता। प्रथमैन्द्रग्रहोद्बोधने वि०।(२) ॐ उपयामेत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः। साम्न्यनुष्टुप्छं०। ग्रहो देवता। ऐंद्रग्रहग्रहणे वि०। ॐ एषत इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ०। आसुर्यनुष्टुप्छं०। इन्द्रो देवता। ऐन्द्रग्रहासादने वि०। (४) ॐ अप्सुषदमित्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः। याजुषी जगती छं०। इन्द्रो देवता। ऐन्द्रग्रहोद्बोधने वि०। (५)ॐ उपयामेत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः। याजुषी जगती छं०।ग्रहो देवता।ऐन्द्रग्रहग्रहणे वि०। (६) ॐ एषत इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः। आसुर्यनुष्टुप्छं०।इन्द्रो देवता। ऐन्द्रग्रहासादने वि०। (७) ॐ पृथिवीसदमित्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः। निच्यृदार्षी गायत्री छन्दः।इन्द्रो देवता। ऐन्द्रग्रहोद्बोधने वि०।(८)ॐ उपयामेत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ०। साम्न्यनुष्टुप्छं०। ग्रहो देवता। ऐन्द्रग्रहग्रहणे वि०। (९) ॐ एषत इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ०। आसुर्यनुष्टुप्छं०। इन्द्रो देवता। ऐन्द्रग्रहासादने वि०॥ २॥

विधि-(१-२-३) प्रातःसवनके पूर्वविहित आग्रयण ग्रहके ग्रहणानन्तर पूर्वोक्त तीन अतिग्राह्य ग्रहण कर षोडशिनामक ग्रह ग्रहण करनेके परे फिर परन्तु ऐन्द्रग्रह ग्रहण करै [का० १४।१।२६।२।१] प्रथम तीन मंत्रसे प्रथम ग्रहग्रहण करै मन्त्रार्थ-हे प्रथम ग्रह! तुम इन्द्रदेवताकी प्रीतिके निमित्त (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (ध्रुवसदम्) स्थिर इस लोकमें स्थित होनेवाले (नृषदम्) मनुष्योंके बीचमें स्थित होनेवाले (मनःसदम्) मनमें स्थित होनेवाले (त्वा) तुम (इन्द्राय) इन्द्र देवताके (जुष्टम्) प्रिय हो इस प्रकार (त्वा) तुमको (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (इन्द्राय) इन्द्र देवताके (जुष्टतमम्)अत्यन्त प्रिय(त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करताहूं १-२-३। विधि-(४-५-६) द्वितीयग्रहग्रहण। मंत्रार्थ-हे द्वितीय ग्रह! तुम (उपयामगृहीतः) उपयाम पात्रमें गृहीत (असि) हो (अप्सुषदम्) जलमें स्थित होनेवाले (घृतसदम्) घृतमें स्थित होनेवाले (व्योमसदम्) आकाशमें स्थित होनेवाले(त्वा) तुम हो (इन्द्राय) इन्द्र देवताके (जुष्टम्) प्रिय (त्वा) तुमको (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (इन्द्राय) इन्द्र देवताके (जुष्टतमम्) अत्यन्त प्रिय (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करताहूं ४-५-६। विधि-(७-८-९) तृतीय ग्रहग्रहण। मन्त्रार्थ-हे तृतीय ग्रह! तुम (उपयामगृहीतः) उपयाम पात्रमें गृहीत (असि) हो (पृथिवीसदम्)पृथ्वीमें स्थित होने-

वाले(अन्तरिक्षसदम्) अन्तरिक्षमें स्थित होनेवाले (दिविसदम्) द्युलोकमें स्थित होनेवाले (देवसदम्) देवताओंमें स्थित होनेवाले (नाकसदम्) दुःखरहित देवस्थानमें स्थित होनेवाले (त्वा) तुम हो (इन्द्राय) इन्द्रके (जुष्टम्) प्रिय (त्वा) तुमको (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (इन्द्राय) इन्द्रके (जुष्टतमम्) अत्यन्त प्रिय (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करताहूं ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मंत्र १ ।

अपाॅं रसमुद्वयसॅं सूर्य्ये सन्तॅं समाहितम् ॥ अपाॅं रसस्य यो रसस्तं वो गृह्णाम्युत्तममुपयामगृहीतोसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ अपामित्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । रसो देवता । चतुर्थग्रहोद्बोधने वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । साम्न्यनुष्टुप्छं० । ग्रहो देवता । चतुर्थग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । इन्द्रो दे० । ग्रहासादने वि० ॥ ३ ॥

विधि-(१-२-३) इस कण्डिकाके तीन मंत्रोंसे चौथा ग्रह ग्रहण करै ।

मंत्रार्थ-हे चतुर्थ ग्रह ! (सूर्ये) सूर्यमें (समाहितम्) स्थापित (सन्तम्) विद्यमान (उद्वयसम्)समस्त अन्नके उत्पादक (अपाम्) जलोंके (रसम्) रससाररूप वायु "एष वा अपाॅं रसो योयं पवते" इति श्रुतेः [श० ५ । १ । २ । ३] (अपाम्) जलोंके (रसस्य) सारका (यः) जो (रसः) सार है अर्थात् वायुके सार प्रजापति हिरण्यगर्भ जो कि यज्ञलोक कालाग्नि वायु सूर्य ऋक् यजुःसामादि शरीर है, हे देवताओ ! (तम्) उस (उत्तमम्) श्रेष्ठ उत्कृष्ट प्रजापतिको (वः) तुम्हारे निमित्त (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं अथवा सोमरूपसे वायुके अभिमानी प्रजापतिको ग्रहण करता हूं १ । (उपयामगृहीतः) इत्यादि ग्रहण आसादनके मंत्र पूर्ववत् ॥ ३ ॥

विशेष-जलसे वायुकी समान एक प्रकारका सार पदार्थ निर्गत होता है जल मंत्रितकरनेसे दो अंशोंमें विभक्त होताहै उसमें वायुके अंशको जलका सार दूसरे अंशको जलके सारका सार कहतेहैं ॥ ३ ॥

जिस प्रकार क्षेत्रमें बीज रोपित होकर उसकी उस अवस्थासे अंकुरोत्पादनके उपयोगी नहीं हुआजाता किन्तु विगलित होजाताहै इसी प्रकार क्षेत्रमें जल सिंचन करकेभी वह अन्नके उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होता किन्तु उसके सार तथा सारके साररूपसे परिणत होकर प्रकृत उपयोगी होते हैं वही अंश सार कहेजाते हैं पदार्थविद्या. ॥ ३ ॥

कण्डिका ४–मन्त्र ५ ।

ग्रहाऽऊर्ज्जाहुतयोव्यन्तोविप्प्रायमतिम् ॥ तेषांविशिंप्प्रियाणांवोहमिषमूर्ज्जꣳसमग्ग्रभमुपयामगृहीतोसीन्द्रायत्त्वाजुष्टङ्गृह्णाम्म्येषतेयोनिरिन्द्रायत्वाजुष्टतमम् ॥ सम्म्पृचौस्त्थꣳसम्म्माभद्द्रेणपृङ्क्तंविपृचौस्त्थोविमापाप्मनापृङ्क्तम् ॥ ४ ॥ [४]

ऋष्यादि–(१) ॐ ग्रहा इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । ग्रहो देवता । पंचमग्रहोद्बोधने वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छं० । ग्रहो दे० । पञ्चमग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । आसुर्यनुष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । ग्रहासादने वि० । (४) ॐ समित्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । विराडासुर्यनुष्टुप्छं० । ग्रहो दे० । अध्वर्युनेष्ट्रोः स्वस्वग्रहानयने वि० । (५) ॐ वीत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । विराडासुर्यनुष्टुप्छं० । ग्रहो दे० । अध्वर्युनेष्ट्रोः खरे-ग्रहासादने वि० ॥ ४ ॥

विधि–(१-२-३)प्रथम तीन मंत्रसे पंचम ग्रह ग्रहणकरै । मन्त्रार्थ–(ग्रहाः) हे सम्पूर्ण ग्रहो! (ऊर्जाहुतयः)अन्नरसका आह्वानकरनेवाले अथवा अन्नरसके आह्वानके कारण तुम (विप्राय)बुद्धिमान् इन्द्रके निमित्त(मतिम्) विशिष्ट बुद्धिको(व्यन्तः) प्राप्त कराते हुए अथवा मेधावी इन्द्रकी प्रीतिके निमित्त माननीय हो (तेषाम्) उन (विशिप्रियाणाम्) विशिप्र यजमानोंके प्रिय (वः)तुम्हारे सम्बन्धी (इषम्) अन्न (ऊर्ज्जम्) रसको (अहम्) मैं (समग्रभम्) सम्यक् प्रकारसे (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं १ । हे पञ्चम ग्रह ! (उपयामगृहीतः) तुम उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (इन्द्राय) इन्द्रदेवताके (जुष्टम्) प्रिय (त्वा) तुमको ग्रहण करता

हूं हे पंचम ग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारी (योनिः) स्थान है (इन्द्राय) इन्द्र देवताके (जुष्टतमम्) अतिप्रिय जानकर (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करता हूं, ३ । विधि–(४) अध्वर्यु अक्षके ऊपर सोम ग्रह एवं नेष्टा अक्षके अधोभागमें सुराग्रह एक कालमें धारण करके यह चतुर्थ मन्त्र पाठकरै [का० १४ । २ । ७] मन्त्रार्थ–हे सोम ! सुराग्रह जो कि, तुम दोनों (सम्पृचौ) मिले हुए (स्थः) हो सो तुम दोनों (मा) मुझको (भद्रेण) कल्याणसे (सम्पृक्तम्) संयुक्त करो ४ । विधि–(५) फिर पांचवां मंत्र पाठकरकै अध्वर्यु और नेष्टा इन ग्रहोंको अपने समीप प्राप्त करैं [का० १४ । २ । ८] मन्त्रार्थ–हे सोम सुराग्रह ! तुम दोनों (विपृचौ) परस्पर वियुक्त (स्थः) हो इस कारण (मा) मुझको (पाप्मा) पापाचरणसे (विपृङ्क्तम्) पृथक् करो ॥ ४ ॥

विशेष–शिप्रशब्दसे हनु और नासिकाका ग्रहण है, परन्तु इस स्थलमें हनु ठोढी जान्नी कारण कि सोमपानमें हनुचालनका प्रयोजन नहीं इस कारण इसको शिप्र कहाजाताहै. सब प्रकारकेही पेयपदार्थके स्थूलभागको अन्न और तरल भागको रस कहतेहैं जैसे दुग्ध पीनेवाले बालकके पेय पदार्थ दुग्धसे दोनोंप्रकार प्रगट होतेहैं ॥ ४ ॥

कण्डिका ५–मंत्र २ ।

इन्द्र॑स्य॒ वज्रो॑ऽसि वाज॒सास्त्वया॒यं वाज॑ꣳ सेत् ॥ वाज॑स्य॒ नु प्र॑स॒वे मा॒तरं॑ म॒हीमदि॑तिं॒ नाम॒ वच॑सा करामहे ॥ यस्या॑मि॒दं विश्वं॒ भुव॑नमावि॒वेश॒ तस्यां॑ नो दे॒वः स॑वि॒ता धर्म॑ साविषत् ॥ ५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ इन्द्रस्येत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । रथो दे० । शकटाद्रथावतारणे वि० । (२) ॐ वाजस्येत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । विराडतिजगती छं० । पृथिवीसवितारौ दे० । वेदिमध्ये रथस्थापने वि० ॥ ५ ॥

विधि–(१) महामरुत्वतीय ग्रह ग्रहण करनेके उपरान्त माहेन्द्रग्रहग्रहणसे पहले यह मंत्रपाठ करके रथवाही शकटसे रथ उतारै [का० १४ । ३ । १] मन्त्रार्थ– हे रथ ! तुम (वाजसाः) अन्न देनेवाले हो (इन्द्रस्य) इन्द्रके (वज्रः) वज्र (असि) हो अर्थात् वज्रसदृश काष्ठसे निर्मित हो (अयम्) यह यजमान (त्वया) तुम्हारी वज्रतुल्य सहायसे (वाजम्) अन्नको (सेत्) प्राप्त होवै १ । विधि– (२) उतारेहुए इस रथकी धुर ग्रहण करके चत्वालके दक्षिण ओर प्रदक्षिणा कराकर इस द्वितीय मंत्रका पाठकरकै निर्दिष्ट वेदीके ऊपर

स्थापन करें [का० १४। ३ ।२] मंत्रार्थ-(वाजस्य) अन्नके (प्रसवे) अनुज्ञानमें वर्तमान (नु) हम जिस (मातरम्) माता जगतकी निर्माण करनेवाली (अदितिम्) अदीन वा अखण्डित (महीम्) पूजनीय (नाम) प्रसिद्ध भूमिको (वचसा) वेदवाक्यद्वारा (करामहे) अनुकूल करते हैं (यस्याम्) जिसमें (इदम्) यह (विश्वम्) सम्पूर्ण (भुवनम्) संसार (आविवेश) प्रविष्ट है (देवः) प्रकाशात्मक (सविता) सबके प्रेरक परमात्मा (तस्याम्) इस भूमिमें (नः) हमारी (धर्म) दृढ धारणाकी (साविषत्) प्रेरणा करें अर्थात् हमको इस वसुमतीमें स्वस्थतापूर्वक स्थापित करें २ ॥ ५ ॥

प्रमाण-"इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार"इत्यादि [श० १।२।४।१] ॥५॥

विशेष-उस समय वंशादिनिर्मित भारवाही शकटके ऊपर आवश्यकतानुसार काष्ठादिनिर्मित देवमन्दिरकी समान एक क्षुद्र युग्म गृह स्थापित होताहै वही यह रथ है पंचालादि देशोंमें अब भी इसका व्यवहार है ॥ ५ ॥

कण्डिका ६-मंत्र १ ।

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तिष्वश्वा भवत वाजिनः ॥ देवीरापो यो व ऊर्मिः प्रतूर्त्तिः ककुन्मान्वाजसास्तेनायं वाजं सेत् ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अप्स्वन्तरित्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । विराडार्ष्युष्णिक्छं० । अश्वो दे० । अश्वप्रोक्षणे वि० । (२) ॐ देवीरित्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । निच्यृत्प्राजापत्या पंक्तिश्छं० । आपो देवता । अश्वप्रोक्षणे वि० ॥ ६ ॥

विधि-(१) स्नान करनेको जातेहुए सब अश्वोंको इस मंत्रद्वारा प्रोक्षण करें [का० १४ । ३ । ३।५] मन्त्रार्थ-(अप्सु) जलोंके (अन्तः) मध्यमें (अमृतम्) अमृत स्थितहै (उत) और (अप्सु) जलोंके मध्यमें (भेषजम्) आरोग्य और पुष्टिकारक औषधि स्थित है (अश्वाः) हे अश्वो ! इस प्रकारसे अमृत भेषजयुक्त जलोंमें (वाजिनः) वेगवान् वा अन्नवान् (भवत) हो तथा (अपाम्) जलोंके (प्रशस्तिषु) प्रशस्त भागोंमें (भवत) स्नानके निमित्त प्रवेश करो १ । विधि-(२) स्नान करके आये हुए अश्वोंको दूसरे मंत्रसे प्रोक्षण करे ।मन्त्रार्थ-हे (देवीः) दीप्यमान (आपः) जलो ! (वः) तुम्हारी (यः) जो (प्रतूर्तिः) शीघ्रचलनेवाली (ककुन्मान्) ककुदकी समान ऊंची (वाजसाः) अन्नकी

देनेवाली (ऊर्मिः) तरंगें हैं (तेन) उनसे सिक्त हुआ (अयम्) यह अश्व (वाजम्) यजमानके ईप्सितानुरूप अन्नको (सेत्) प्रदानकरनेमें समर्थ हो २ । [ऋ० १ । १ । २ । ११] ॥ ६ ॥

कण्डिका ७–मंत्र १ ।

वातो॑ वा॒ मनो॑ वा ग॒न्धर्वाः॑ स॒प्तवि॑ᳪंशतिः । ते अग्रे॒ ऽश्व॑मयुञ्ज॒ँस्ते अ॑स्मिञ्ज॒वमाद॑धुः ॥ ७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ वातोवेत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । भुरिगार्ष्युष्णिक्छं० । अश्वो देव० । रथदक्षिणेऽश्वसंयोजने वि० ॥ ७ ॥

विधि–(१) इस मंत्रसे दक्षिण ओर के घोडेको रथ में जोडे [का० १४ । ३।६] मन्त्रार्थ–(वातः) वायु (वा) या (मनः) मन (वा) या (सप्तविᳪंशतिः) सत्ताईस (गन्धर्वाः) गंधर्व भूमिके धारण करनेवाले नक्षत्र (ते) वे सब वातादिकें (अग्रे) प्रथम (अश्वम्) अश्वको (अयुञ्जन्) रथमें युक्त करतेहुए (ते) वेही (अस्मिन्) इस (अश्वम्) अश्वमें (जवम्) अपने२ वेगके अंशको(आदधुः) धारण करते हुए ॥ ७ ॥

कण्डिका ८–मन्त्र १ ।

वात॑रᳪंहा भव वाजिन्यु॒ज्यमा॑न॒ इन्द्र॑स्येव॒ दक्षि॑णः श्रि॒यैधि॑ ॥ यु॒ञ्जन्तु॑ त्वा म॒रुतो॑ वि॒श्ववे॑दस॒ आ ते॒ त्वष्टा॑ प॒त्सु ज॒वं द॑धातु ॥ ८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ वातरंहेत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं० । अश्वो देवता । रथवामेऽश्वसंयोजने वि० ॥ ८ ॥

विधि–(१) इस मंत्रसे रथमें वामओर अश्व जोडे [का० १४ । ३ । ७ ।] मन्त्रार्थ–(वाजिन्) हे वेगवान् अश्व ! (युज्यमानः) जुतेहुए तुम (वातरंहाः) वायुकी समान वेगवान् (भव) हूजिये (दक्षिणः) दक्षिण भागमें स्थितहुए (इन्द्रस्य) इन्द्रके अश्वकी (इव) समान (श्रिया) शोभासे (एधि) युक्त हो (विश्ववेदसः) सर्वज्ञ वा सर्व धनवाले (मरुतः) मरुत्देवता (त्वा) तुमको (युञ्जन्तु) रथमें नियुक्तकरैं (त्वष्टा) त्वष्टा देवता (ते) तुम्हारे (पत्सु) चरणोंमें (जवम्) वेगको (आदधातु)स्थापन करैं ॥ ८ ॥

कण्डिका ९–मन्त्र २ ।

ज॒वो यस्ते॑ वाजि॒न्निहि॑तो॒ गुहा॒ यः श्ये॒ने परी॑तो॒ अच॑रच्च॒ वाते॑ ॥ तेन॑ नो वाजि॒न्बल॑वा॒न्बले॑न वाज॒जिच्च॒ भव॒ सम॑ने च पारयि॒ष्णुः ॥ वाजि॑नो वाजजितो॒ वाज॑ᳬसरि॒ष्यन्तो॒ बृह॒स्पते॑र्भा॒गम॑वजिघ्रत ॥९॥ [५]

ऋष्यादि–(१)ॐ जव इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः ।आर्षी जगती छं० ।अश्वो दे० । दक्षिणधुरि तृतीयाश्वसंयोजने वि० । (२) ॐ वाजिन इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । आर्षी गायत्री छं० । अश्वो देवता । अश्वं प्रति बार्हस्पत्यचर्वाघ्रापणे वि० ॥ ९ ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे इस रथकी दक्षिण धुरिमें तृतीय अश्व योजित करै [का० १४ । ३ । ८] मंत्रार्थ–(वाजिन्) हे अश्व ! (यः) जो (ते) तेरा (जवः) वेग (गुहानिहितः) हृदयमें स्थापित है (यः) जो (श्येने) श्येन पक्षीमें (परीतः) तुम्हारा दिया वेग है (च) और (वाते) वातमें जो वेग (अचरत्) स्थित है (वाजिन्) हे अश्व ! (तेन) उस (बलेन) बलकरके (बलवान्) बलवान् होते हुए (नः) हमारे निमित्त (वाजजित्) अन्नको जीतनेवाला हो (च) और (समने) संग्राममें (पारयिष्णुः) शत्रुके सेनानिवेशको पराभव करके हमारे निमित्त प्रचुर अन्न जयकर १ । विधि–(२) दूसरे मन्त्रसे इसको बार्हस्पत्यचरु सुंघावै [का० १४ । ३ । १०] मंत्रार्थ–(वाजजित्) अन्नके जीतने वाले (वाजम्) अन्नके प्रति (सरिष्यन्तः) जाते हुए (वाजिनः) हे अश्वो ! (बृहस्पतेः) बृहस्पतिके (भागम्) भाग चरुको (अवजिघ्रत) सूंघो २ ॥ ९ ॥

कण्डिका १०–मंत्र २ ।

दे॒वस्या॒हᳬस॑वि॒तुः स॒वे स॒त्यस॑वसो॒ बृह॒स्पते॑रुत्त॒मन्नाक॑ᳬरुहेयम् ॥ दे॒वस्या॒हᳬस॑वि॒तुः स॒वे स॒त्यस॑वस॒ इन्द्र॑स्योत्त॒मन्नाक॑ᳬरुहेयम् ॥ दे॒वस्या॒हᳬस॑वि॒तुः स॒वे स॒त्यप्र॑सवसो॒ बृह॒स्पते॑रुत्त॒मन्नाक॑मरुहम् ॥ दे॒वस्या॒हᳬस॑वि॒तुः स॒वे स॒त्यप्र॑सवस॒ इन्द्र॑स्योत्त॒मन्नाक॑मरुहम् ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवस्येत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । निच्यृदार्षी बृहती छं० । लिङ्गोक्ता देवता । ब्रह्मणो रथचक्रारोहणे वि० । (२) ॐ देवस्येत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । साम्नी जगती च्छं० । लिंगोक्ता देवता । ब्रह्मणो रथचक्रारोहणे वि० । (३) ॐ देवस्येत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । आर्ची बृहती छं० । लिङ्गोक्ता दे० । ब्रह्मणो रथचक्रादवतरणे वि० ।(४) ॐ देवस्येत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । भुरिक्साम्नी जगती छं० । लिङ्गोक्ता दे० । ब्रह्मणो रथचक्रादवतरणे वि० ॥ १० ॥

विधि-(१) उत्कर प्रदेशमें नाभिप्रमाणपर्यन्त ऊंचा एक स्तंभ स्थापित रहता है उसीके ऊपर रथचक्र रक्षित रहता है ब्राह्मणयज्ञमें ब्रह्मा इस प्रथम मंत्रको पाठ करकै इस चक्रपर आरोहण करै [का० १४ । ३ । १२] मन्त्रार्थ-(सत्यसवसः) सत्यप्रेरक अर्थात् जिनकी प्रेरणा अनुल्लंघनीय है उन (सवितुः) सविता (देवस्य) देवकी (सवे) अनुज्ञामें वर्तमान (अहम्) मैं (बृहस्पतेः) बृहस्पतिसम्बन्धि (उत्तमम्) श्रेष्ठ (नाकम्) स्वर्गमें (रुहेयम्) अरोहण करूं अर्थात् बृहस्पति [ब्राह्मण यजमान] की उत्कृष्ट स्वर्गलाभकामनाके निमित्त इस चक्रमें आरोहण करताहूं १ । विधि-(२) क्षत्रियके वाजपेयमें ब्रह्मा इस मंत्रसे चक्रारोहण करै । मन्त्रार्थ-(सत्यसवसः) अनुल्लंघनीय प्रेरणा-वाले (सवितुः) सविता (देवस्य) देवकी (सवे) अनुज्ञामें वर्तमान मैं (इन्द्रस्य) इन्द्रसंबन्धी अथवा क्षत्रिययजमानकी (उत्तमम्) उत्कृष्ट (नाकम्) स्वर्गकामनासे (रुहेयम्) चक्रपर आरोहण करताहूं २ । विधि-(३) यजमानादि सप्तदश रथ देवयजनस्थानसे सत्र शरप्रक्षेप देशमें स्थापित उदुम्बरीको प्रदक्षिणा करते देवयजन स्थानमें पुनः आगमन करै ब्रह्मा ब्राह्मणके यज्ञमें यह तीसरा मंत्रपाठ पूर्वक इस रथचक्रसे उतरै [का० १४ । ४ । ८] मन्त्रार्थ-(सत्यस-वसः सवितुः देवस्य सवे) अनुल्लंघनीय प्रेरणावाले सविता देवकी प्रेरणावश (अहं बृहस्पतेः उत्तमम् नाकम्) मैं बृहस्पतिके उत्कृष्ट स्वर्गकामनासे (अरुहम्) इस रथ चक्रमें आरूढ हुआथा ३ । विधि-(४) क्षत्रियके यज्ञमें इस चतुर्थ मंत्रको पढ कर अवरोहण करै । मन्त्रार्थ-(सत्यसवसः सवितुः देवस्य सवे) अनुल्लंघनीय सविता देवताकी आज्ञामें वर्तमान (अहम् इन्द्रस्य उत्तमं नाकम् अरुहम्) मैं इन्द्रकी उत्कृष्ट स्वर्गलाभकामनासे इस चक्रमें चढा था ॥ १० ॥

विशेष- उदुम्बरीकी चक्राकार प्रदक्षिणा होती है. ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मंत्र १ ।

बृह॑स्प्पते॒वाजं॑जय॒बृह॒स्प्पत॑ये॒वाचं॑वद॒तबृह॒स्प्पतिं॑

वार्जञ्जापयत ॥ इन्द्रवाजञ्जयेन्द्रायवाचंवदतेन्द्रं वार्जञ्जापयत ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ बृहस्पत इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । बृहस्पतिर्दे० । दुन्दुभिवादने वि० । (२) ॐ इन्द्र इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० प्राजापत्या बृहती छं० । इन्द्रो दे० । दुन्दुभिवादने वि० ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ-(१) वेदीके समीप ऊंचे स्थाणुपर आरोपित सत्रह दुन्दुभियोंके मध्य एक दुन्दुभिको मन्त्र पाठ से वजावे दूसरे नगाडोंको विना मंत्र पढे बजावे उसमें ब्राह्मणके यज्ञका प्रथम मंत्र [का० १४ । ३ । १५] मन्त्रार्थ-हे दुन्दुभियो ! तुम (बृहस्पतये) बृहस्पतिके निमित्त (वाचम्) इस प्रकार वचनको(वदत) कहो (बृहस्पते) हे बृहस्पते ! तुम (वाजम्) अन्नको (जय) जयकरो. हे दुन्दुभियो ! तुम (बृहस्पतिम्) बृहस्पतिको (वाजम्) अन्न (जापयत) जयकराओ विधि-(२) क्षत्रिययज्ञमें दुन्दुभि वादनका मंत्र । मन्त्रार्थ-हे दुन्दुभियो ! तुम (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त इस प्रकार (वाचम्) वाणीको (वदत) कहो (इन्द्र) हे इन्द्र ! (वाजम्) अन्नको (जय) जीतो (इन्द्रम्) तुमभी इन्द्रको (वाजम्)अन्न (जापयत) जय कराओ २ ॥ ११ ॥

विशेष-प्राचीनवंशा शालामें स्थित उदुम्बरीके उत्तर थोडी दूरपर उच्च मञ्चके ऊपर वाद्यागार "नौवतस्थान" वनाया जाता है उसके मध्यमें सप्तदश प्रकार दुन्दुभी वडा ढोल भेरी तुरही आदि रक्षित और व्यवहृत होते हैं ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मन्त्र २ ।

एषाबुऽस्सासुत्त्यासंवागंभूद्याबृहस्प्पतिंवाजमजीजपताजीजपतबृहस्पतिंवाजंवनंस्प्पतयोविमुंच्यद्धम् ॥ एषावुऽसासत्त्यासंवागंभूद्येन्द्रंवाजमजीजपताजीजपतेन्द्रंवाजंवनंस्प्पतयोविमुंच्च्यद्धम् ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एषाव इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । ब्राह्म्युष्णिग्वा छं० । दुन्दुभयो दे० । दुन्दुभ्यवतारणे वि० । (२) ॐ एषाव इत्यस्य बृहस्पति-

र्ऋ० । ब्राह्मी गायत्री छन्दः । दुन्दुभयो देवताः । दुन्दुभ्यवतारणे वि० ॥ १२ ॥

विधि–(१) जो दुन्दुभि मंत्रपाठपूर्वक बजाई गई है वह विप्रयज्ञमें प्रथम मंत्रसे, क्षत्रिययज्ञमें दूसरे मंत्रसे वाद्यागारसे नीचे उतारै औरोंको विना मंत्र उतारै [का० ४ । ४ । ९–१०] मन्त्रार्थ–हे दुन्दुभियो! (वः) तुम्हारी (एषा) यह (सा) वह (वाक्) वाणी (सत्या) सत्य (समभूत्) हुई (यया) जिससे (बृहस्पतिम्) बृहस्पतिको (वाजम्) अन्न (अजीजपत) जय कराया (बृहस्पतिं, वाजम्, अजीजपत) बृहस्पतिको अन्न जय कराया "अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते" [निरु० १० । ४२] (वनस्पतयः) हे वनस्पतिकाष्ठनिर्मित दुन्दुभियो!(विमुच्यध्वम्) अब कृतकृत्य होकर अनुमति दो बृहस्पतिका रथ धावमान हो ॥ १२ ॥

क्षत्रियमन्त्र–हे दुन्दुभियो ! (वः एषा सा वाक् सत्या समभूत्)तुम्हारा दिया हुआ वह आशीर्वादरूप वचन सत्य हुआ (यया) जिससे (इन्द्रम्) इन्द्रको (वाजम्, अजीजपत) अन्न जयकराया (इन्द्रं,वाजम्, अजीजपत) इन्द्रको अन्न जयकराया (वनस्पतयः विमुच्यध्वम्) हे काष्ठनिर्मित वनस्पतियो ! अब कृतकृत्य होकर अनुमति करो यजमानका रथ धावमान हो २ ॥ १२ ॥

कण्डिका १३–मंत्र २ ।

दे॒वस्या॒हᳯस॑वि॒तुः स॒वे स॒त्यप्र॑सवसो॒ बृह॒स्पते॑र्वा॒जजितो॒ वाजं॑ जेषम् ॥ वाजि॑नो वाज॒जितो॒ऽध्व॑नस्क॒भ्नु॒वन्तो॒ योज॑ना॒ मिमा॑ना॒ः काष्ठां॑ गच्छत ॥१३॥

ऋष्यादि–(१) ॐ देवस्येत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । आर्षी बृहती छं० । लिंगोक्ता देवता । रथारोहणे वि० । (२) ॐ वाजिन इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । साम्नी जगती छन्दः । अश्वो देवता । मन्त्रपठने वि० ॥ १३ ॥

विधि–(१) यजमान प्रथम मन्त्रपाठपूर्वक रथारोहण करै [का० १४ । ३ । १८] मन्त्रार्थ–(सत्यसवसः) सत्य आज्ञावाले (सवितुः) सबके प्रेरक सविता (देवस्य) देवके (सवे) अनुज्ञामें वर्तमान (अहम्) मैं (वाजजितः) अन्न जीतनेवाले (बृहस्पतेः) बृहस्पतिसम्बन्धि (वाजम्) अन्नको (जेषम्) जय करूं अर्थात् इस भविष्यत् वाक्यके अनुसार रथारोहण कर वाजजयमें समर्थ हूं १ । विधि–(२) अश्वोंको लक्षकर दूसरा मंत्र पाठ करै [का० १४ । ३ । २२] मन्त्रार्थ–(वाजिनः) हे घोडो ! (वाजजितः) अन्नके जीतनेवाले तुम (अध्वनः)

मार्गोंको (स्कभ्नुवन्तः) क्षुभित करते हुए (योजना) योजनोंको (मिमानाः) अतिशीघ्रतासे गमन करते (काष्ठाम्) अठारह निमेष वा बहुत थोडे कालमें (गच्छत) प्राप्त होतेहो अर्थात् अपने पादविक्षेपसे पदस्तंभितप्राय करते काष्ठामात्र कालमें योजनपर्यन्त गमन करते हो। योजन चारकोश। "क्रान्त्वा स्थितो भवति" इति [निरु० २ । १८ ।] ॥ १३ ॥

कण्डिका १४–मन्त्र १।

एषस्यवाजीक्षिपणिन्तुरण्ण्यतिग्ग्रीवायाम्बद्धोऽअपिकक्षऽआसनि॑ ॥ क्रतुन्दधिक्क्राऽअनुसह्ँसनिष्ष्यदत्त्पथामङ्काह्ँस्यन्वापनीफणत्स्वाहा १४॥

ऋष्यादि–(१) ॐ एषस्येत्यस्य दधिक्रावा ऋ० । आर्षी जगती छं० अश्वो दे० । अश्वाभिमन्त्रणे वि० ॥ १४ ॥

विधि–(१) यहांसे लेकर १८ कण्डिकातक दो मंत्रसे घृतका होम करै और अश्वको अभिमंत्रणकरै [का० १४ । ४ । ३–४] मंत्रार्थ–(एषः) यह (वाजी) घोडा (यः) जो (ग्रीवायाम्) ग्रीवामें (कक्षे) कक्षमें (आसनि) मुखमें(अपि) भी (बद्धः) बंधाहुआ अर्थात् ग्रीवामें उरोबद्ध कक्षके समीप पर्याण स्थानमें सन्नाहरज्जुसे बंधा मुखमें कविका [लगाम] से बँधाहुआ (सः) वह यह (दधिक्राः) अश्ववारको लेकर मार्ग अवरोधक पाषाण गर्त कण्टकादिका भी आक्रमण करनेवाला (क्रतुम्) रथीके अभिप्रायको (अनु) जानकर उसके अनुसार (संसनिष्यदत्) सम्यक् अनुसन्धानकरताहुआ अर्थात् रथारोहीके संकल्पअनुसार चलता हुआ (पथाम्) मार्गोंके(अङ्कांसि) ऊंचे नीचे वक्र नावके चिह्नोंको (अन्वापनिफणत्) अति शीघ्रगतिसे समत्व प्रतिपादन करता (क्षिपणिम्) चाबकके आघातकी अपेक्षा न करके भी किंचित् इंगितसे (तुरण्यति) शीघ्र धावमान होताहै (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ॥ १४ ॥

कण्डिका १५–मन्त्र १।

उतस्म्मास्यद्द्रवतस्तुरण्ण्यतः पर्ण्णन्नवेरनुवातिप्प्रगर्द्धिनः॑ ॥ श्येनस्येवद्ध्रजतोऽअङ्कसम्परिदधिक्क्राव्वण्णः॑ सुहोर्ज्जातरित्रतः स्वाहा ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उतेत्यस्य दधिक्रावा ऋ० । आर्षी जगती छं० । अश्वो देवता । अश्वाभिमन्त्रणे वि० ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ-(अस्य) इस (दधिक्राव्णः) अद्रिपाषाण गर्त कण्टकादिका अतिक्रमण कर(द्रवतः)गमन करनेवाले(तुरण्यतः)शीघ्रतासे(प्रगर्द्धिनः)अवधिको प्राप्त होनेवाले (श्येनस्य इव) श्येनपक्षीकी समान (ध्रजतः) वेगसे गमन करते (ऊर्जा) बलके (सह) साथ (तरित्रतः) अतिशय मार्गको तरते (उतस्म) भी (अङ्कसम्) इस अश्वके शृंगार चिह्न वस्त्र चामरादि(परि)सम्पूर्ण देहमें वर्तमान होते (अनुवाति) जातेहुएमें लक्षित होते हैं (न) जिस प्रकार (वेः) पक्षीके (पर्णम्) पंख दिखाई देते हैं [ऋ० ३ । ७ । १४] ॥ १५ ॥

भावार्थ-लक्ष्य स्थानमें शीघ्रतासे उपस्थित होनेके निमित्त अतिशय वेगसे गमन करते अद्रि पाषाण गर्त कण्टकादि अतिक्रम करते ऊंचे धावमान श्येन पक्षीकी समान वेगसे उडते दौडान करते इस अश्वके सम्पूर्ण अंग भूषणोंसे पक्ष्याकार धारण करनेसे मानो पृथ्वी इसके वेगको न सहकर स्वयंही पलायन करती है "जो कभी जहाजमें बैठकर भूमि देखते हैं उनको यह भली प्रकार दृष्टिगत होता है" ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मंत्र १ ।

शन्नोभवन्तुव्वाजिनोहवेषुदेवतातामितद्द्रवः स्वर्काः ॥ जम्भयन्तोहिंव्वृकᳫं रक्षाᳫं सिसनेम्यस्म्मद्युयवन्न मीवाः ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ शन्न इत्यस्य दधिक्रावा ऋ० । भुरिगार्षी पंक्तिश्छं० । अश्वो देवता । अश्वाभिमन्त्रणे वि० ॥ १६ ॥

विधि-(१) इन तीनों मंत्रोंसे घृतका होम वा घोडेका अभिमंत्रण करै [का० १४ । ४ । ४९] मंत्रार्थ-(देवताता) देवताओंके कार्यनिमित्त यज्ञमें (हवेषु) आह्वान करनेपर (मितद्रवः) परिमित धावमान होनेवाले (स्वर्काः) श्रेष्ठ प्रकाशवाले (अहिम्) सर्प (वृकम्) भेडिये (रक्षांसि) राक्षसोंको (जम्भयन्तः) नाशकरतेहुए (वाजिनः) घोडे (नः) हमारे (शम्) कल्याणको (भवन्तु) करनेवाले हो (अस्मत्) हमसे (सनेमि) सब प्रकारकी दीर्घ कालकी वा नई (अमीवाः) व्याधियोंको (युयुवन्) पृथक् करै [ऋ० ५ । ४ । ५] ॥ १६ ॥

प्रमाण–"सनेमीति पुराणनाम" [निघं० ३ । २७ । ४ ।] परन्तु यहां क्षिप्रका अर्थ है [ऋ० ५ । ४ । ५ ।] ॥ १६ ॥

कण्डिका १७–मंत्र १ ।

तेनोऽअर्वन्तोहवनश्श्रुतोहवंविश्श्वेशृण्वन्तुवाजिनोमितद्रवः ॥ सहस्त्रसामेधसातासनिष्ष्यवोमहोयेधनᳬसमिथेषुजभ्रिरे ॥ १७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ तेन इत्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋ० । आर्षी जगती छं० । अश्वो देवता । अश्वाभिमंत्रणे वि० ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ–(ते) वे (विश्वे) सम्पूर्ण (मितद्रवः) यजमानके चित्तके अनुसार मितगामी (हवनश्रुतः) हमारे आह्वानको सुनेवाले (अर्वन्तः) कुटिल गतिवाले (सहस्रसाः) अनेक जनोंको तृप्त करनेवाले अर्थात् अन्नराशिके देनेवाले (मेधसाता) यज्ञशालाके (सनिष्यवः) पूरक (वाजिनः) घोडे (नः) हमारे (हवम्) आह्वानोंको (शृण्वन्तु) श्रवण करैं (ये) जो (समिथेषु) संग्रामोंमें (महः) बडे वा पूज्य (धनम्) धनको (जभ्रिरे) लेआते हैं [ऋ० ८ । २ । ७] ॥ १७ ॥

कण्डिका १८–मंत्र १ ।

वाजेवाजेवत वाजिनोनोधनेषुविप्प्राऽअमृताऽऋतज्ञाः ॥ अस्यमद्ध्वः पिबतमादयद्ध्वन्तृप्प्तायातपथिभिर्देवयानैः ॥ १८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ वाज इत्यस्य वसिष्ठ ऋ० । निच्यूदार्षी त्रिष्टुप्छं० । अश्वो दे० । अश्वाभिमंत्रणे वि० ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ–(वाजिनः) हे अश्वो ! (विप्राः) तुम बुद्धिमान् (अमृताः) दीर्घजीवी (ऋतज्ञाः) सत्य वा यज्ञके जाननेवाले (वाजे वाजे) सम्पूर्ण अन्न और (धनेषु) धनोंमें (नः) हमारी (अवत) पालना करो अर्थात् प्रत्येक यज्ञमें यजमानके अभीष्टसाधनार्थ तुम आहूत होतेहो (अस्य) इस धावमान होनेसे पहले (मध्वः) नीवार सूंधे हुए मधुर लक्षण हविको वा मधुको (पिबत) पान करके (मादयध्वम्) तृप्त होजाओ और तृप्त होकर (देवयानैः) देवयानमें अधिष्ठित (पथिभिः) मार्गोंसे (यात) गमन करो ॥ १८ ॥

विवरण–विप्रपूजनमें भी यह मंत्र चरितार्थ हो सकता है [ऋ० ५ । ४ । ५]॥ १८ ॥

कण्डिका १९–मन्त्र २।

आमावाजस्यप्रसवोजगम्म्यादेमेद्यावापृथिवी विश्वरूपे ॥ आमागन्ताम्पितरामातराचामासो मोऽअमृतत्त्वेनगम्म्यात् ॥ वाजिनोवाजजितोवा जᳬसमृवाᳬसोबृहस्प्पतेर्भ्भागमवजिघ्रतनिमृ जानाः ॥ १९ ॥ [१०]

ऋष्यादि–(१) ॐ आमावाजस्येत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । निच्यदार्षी त्रिष्टुप्छं० । प्रजापतिर्दे० । चत्वालोत्करास्थितनैवारचरुस्पर्शने वि० । (२) ॐ वाजिन इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । प्रजापत्या त्रिष्टुप्छं० । अश्वो देवता । अश्वगणं प्रति सोमाघ्रापणे वि० ॥ १९ ॥

विधि–(१) यजमान रथसे उतरकर इस मंत्रसे चत्वाल उत्करके मध्यमें स्थित नैवार चरुको स्पर्श करें [का० १४ । ४ । ११] मन्त्रार्थ–(वाजस्य) अन्नकी (प्रसव) उत्पत्ति (मा) हमारे घरमें (आजगम्यात्) आगमन करै (इमे) यह (विश्वरूपे) सर्वरूपात्मक (द्यावापृथिव्यौ) स्वर्ग और पृथ्वी (आ) सब प्रकार (पितरामातरा) हमारे माता पिता रूप (मा) हमारें रक्षण और प्रतिपालनको (आगन्ताम्) आवैं अर्थात् भूलोक द्युलोक हमारी रक्षा करैं (च) और (सोमः) सोम (अमृतत्वेन) अमृतभावसे (मा) हमारे प्रति (आगम्यात्) प्राप्त हो अर्थात् यह सोम हमारे पानमें अमृत हो १ । विधि–(२) दूसरे मंत्रसे अश्वगणको सोम सुंघावै [का० १४ । ४ । १२] मन्त्रार्थ–(वाजिनः) हे अश्वो (वाजाजितः) अन्नके जीतनेवाले (वाजम्) अन्नके जीतनेको (ससृवाᳬसः) प्रतिक्षण गमन करनेवाले (निमृजानः) इस चरु वा यजमानको शोधन करते हुए (बृहस्पतेः) बृहस्पतिसम्बन्धि 'हमारे' (भागम्) भागको (अवजिघ्रत) सूंघो अर्थात् यह हमारी चरु पवित्र अन्तःकरणसे आघ्राण करो ॥ २ ॥ १९ ॥

कण्डिका: २०–मन्त्र १।

आपयेस्वाहास्वापयेस्वाहापिजायस्वाहाक्रतवे स्वाहावसवेस्वाहाहर्प्पतयेस्वाहाह्नमुग्ग्धायस्वा हामुग्ग्धायवैनᳬशिनायस्वाहाविनᳬशिनऽआ

न्त्यायनायस्वाहान्त्यायभौवुनायस्वाहाभुवनस्य पतंयेस्वाहाधिंपतयेस्वाहा ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१-२)ॐ आपय इति स्वापये इति च प्रथमद्वितीयमन्त्रद्वयस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी पंक्तिश्छन्दः ।प्रजापतिर्दे० । आज्याहुतिहोमे वि० । (३) ॐ अपिजायेत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी गायत्री छं० । प्रजापतिर्देवता । आज्याहुतिहोमे वि० । (४-५) ॐ क्रतव इति वसव इति च मंत्रद्वयस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी पंक्तिश्छन्दः । प्रजापतिर्दे० । आज्याहुतिहोमे वि० । (६-७) ॐ अहर्पतये इति अह्ने मुग्धायेति मन्त्रद्वयस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुष्युष्णिक्छं० । प्रजापतिर्दे० । आज्याहुतिहोमे वि० । (८) ॐ मुग्धायेत्यस्य वसिष्ठ ऋ०।याजुषी पंक्तिश्छन्दः। प्रजापतिर्दे० । आज्याहुतिहोमे वि० । (९) ॐ विनांशेन इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी त्रिष्टुप्छन्दः ।प्रजापतिर्दे०। आज्याहुतिहोमे वि० । (१०-११) ॐ अन्त्यायेति भुवनस्पतय इति च मंत्रयोर्वशिष्ठ ऋ० । याजुषी बृहती छं० । प्रजापतिर्देवता । आज्याहुतिहोमे वि० । (१२) ॐ अधिपतय इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । प्रजापतिर्दे० । आज्याहुतिहोमे वि० ॥ २० ॥

विधि-(१-१२) प्रजापति देवताकी प्रीतिकी कामनासे इस कण्डिकाके बारहमंत्रोंसे बारह आहुति प्रदानकरे [का० १४ । ९ । १] संवत्सराभिमानी प्रजापतिकी स्तुति है उसकि यह बारह नाम हैं । मन्त्रार्थ-(आपये) व्यापक संवत्सर कालात्मक आदित्य प्रजापति देवताके प्रीतिके निमित्त यह आहुति दीजातीहै (स्वाहा) यह भलीप्रकार गृहीत हो (स्वापये) सर्वव्यापी प्रजापतिके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (अपिजाय) पुनः पुनः प्रगट होनेवालेके निमित्त (स्वाहा) आहु० । (क्रतवे) संकल्प भोगादिविषय वा यज्ञरूपके निमित्त (स्वाहा) आहु० । (वसवे) जगत्की स्थिति कारणके निमित्त (स्वाहा) आहु० । (अहर्पतये) दिनके स्वामीके निमित्त (स्वाहा) आहु० । (मुग्धाय) मुग्ध (अह्ने) दिवसके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (वैनंशिनाय) विनाशशील (मुग्धाय) मुग्धनामकके निमित्त (स्वाहा) श्रेष्ठहोम० (आन्त्यायनाय) सीमावान् (विनंशिने) विनाशशीलनामकके निमित्त (स्वाहा) श्रेष्ठ हो० (भौवनाय) त्रिभुवनकी (अन्त्याय) सीमावान्के निमित्त (स्वाहा) आहुति० । (भुवनस्य) सम्पूर्ण भुवनके (पतये) पतिके निमित्त (स्वाहा) आहुति० अर्थात् त्रिभुवनकी सृष्टि स्थिति लय करनेमें समर्थ (अधिपतये) समस्त प्राणिवर्गकी

उत्पत्ति स्थिति विनाशमें समर्थके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार दी जातीहै सम्यक् स्वीकार हो ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मंत्र ९।

आयुर्य्यज्ञेन कल्पताम्प्राणो यज्ञेन कल्पताञ्चक्षुर्य्यज्ञेन कल्पताᳬ श्रोत्रंय्यज्ञेन कल्पताम्पृष्ठंय्यज्ञेन कल्पतांय्यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्॥ प्रजापतेः प्रजाऽ अभूम स्वर्द्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१-२-३-४-५-६) ॐ आयुरित्यादिषण्मन्त्राणां वशिष्ठ ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छं । प्रजापतिर्देवता० । हवने वि० । (७) ॐ प्रजापतेरित्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी बृहती छं० । यजमानो देवता। यूपारोहणे वि० । (८) ॐ स्वरित्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी त्रिष्टुप्छं० । यजमानो देवता । चषालस्पर्शने वि० । (९) ॐ अमृतामित्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी गायत्री छन्दः । यजमानो दे० । यूपाग्रादुर्ध्वं शिरउन्नयने वि० ॥ २१ ॥

विधि-(१-६) इस कण्डिकाके प्रथम द्वितीय मंत्रसे यजमान आशीर्वाद प्रार्थना करै ! इन छःमन्त्रोंसे हवन करै [का० १४ । ५ । २] मंत्रार्थ-(यज्ञेन) इस वाजपेय यज्ञके फलसे हमारी (आयुः) आयु (कल्पताम्) वृद्धिको प्राप्त हो १। (यज्ञेन) इस वाजपेय यज्ञके फलसे (प्राणः) पांचोंप्राण (कल्पताम्) वृद्धिबलको प्राप्त हों २ । (यज्ञेन) इस यज्ञके फलसे (चक्षुः) चक्षुरिन्द्रिय(कल्पताम्) सामर्थ्यको प्राप्त हो ३ । (यज्ञेन) इस यज्ञके फलसे (श्रोत्रम्) श्रोत्र इन्द्रियका बल (कल्पताम्) वृद्धिको प्राप्त हो ४ । (यज्ञेन) इस वाजपेय यज्ञके फलसे (पृष्ठम्) हमारा पृष्ठिवल (कल्पताम्) वृद्धिको प्राप्त हो ५ । (यज्ञेन) इस वाजपेययज्ञके फलसे (यज्ञम्) यज्ञके अधिष्ठातृ देवता विष्णु तथा यज्ञकरनेकी क्षमता (कल्पताम्) वृद्धिको प्राप्त हो ६ । विधि-(७) सप्तम मंत्रसे पत्नीके सहित एकत्र होकर निश्रे[णी सीढी] द्वारा यूपपर आरोहणकरै [का० १४ । ५ । ६] मन्त्रार्थ-हम (प्रजापतेः) प्रजापतिकी (प्रजा) सन्तति (अभूम) हुए । विधि-(८) अष्टम मंत्रसे य[जमान गो]धूमका आटा स्पर्श करै [का० १४ । ५ । ७] मंत्रार्थ-हे ऋत्विग्गण ! ([दे]वाः) हमने स्वर्गलाभ (अगन्म) प्राप्त कियाहै अर्थात् स्वर्गलाभमें निश्चय कियाहै ८ । विधि-(९) नवम मंत्रसे यजमान अपना मस्तक

यूपाग्रसे ऊंचा करै [का० १४ । ५ । ८ ।] मन्त्रार्थ–हम (अमृताः) दीर्घायु अमर चिरकीर्तिवाले (अभूम) हुए ९ ॥ २१ ॥

कण्डिका २२–मन्त्र ४ ।

अस्म्मेवोऽअस्त्त्विन्द्रियमुस्म्मेनृम्म्णमतक्क्रतुंर्स्म्मेवर्च्चाᳩंसिसन्तुवः ॥ नमोमात्रेपृथिव्यैनमोमात्रेपृथिव्याऽइयन्तेराड्यन्तासियमनोध्रुवोसिधरुणः ॥ कृष्ष्यैत्त्वाक्षेमायत्त्वारय्यैत्त्वापोषायत्त्वा ॥ २२ ॥ [३]

ऋष्यादि–(१) ॐ अस्मेव इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । निच्यृदार्षी गायत्री छं० । दिशो देवताः । दिग्वीक्षणे वि० । (२) ॐ नमोमात्र इत्यस्य वसिष्ठ ऋ० । साम्न्युष्णिक्छं० । पृथ्वी देवता । भूम्यवेक्षणे वि० । (३) ॐ इयन्त इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी बृहती छं० । आसन्दी देवता । चर्मास्तरणे वि० । (४) ॐ यन्तासीत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । निच्यृदार्षी बृहती छं० । यजमानो दे० । आसन्द्यामुपवेशने वि० ॥ २२ ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे यूपारूढ यजमान चारों दिशा निरीक्षण करै [का०१४।९।११] मन्त्रार्थ–हे दिक्चतुष्टय ! (वः) तुम्हारे सम्बन्धी (इन्द्रियम्) वीर्य (अस्मे) हमारे विषय वा हममें (अस्तु) हों (नृम्णम्) तुम्हारा सम्बन्धी धन (अस्मे) हमको प्राप्त हों (उत) और (वः) तुम सम्बन्धि (क्रतुः) यज्ञकर्म (वर्चांᳩसि) तथा तुम्हारे सम्बन्धी तेज (अस्मे) हमारे विषय (सन्तु) हों-अर्थात् इस जगत्में हम सबसे अग्रगण्य हों १ । विधि–(२) दूसरे मंत्रको पाठ करकै निम्नप्रदेशमें दृष्टिपात करै [का० १४ । ९ । १२] मन्त्रार्थ–(मात्रे) मातारूप (पृथिव्यै) पृथ्वीके निमित्त (नमः) नमस्कार है (नमो मात्रे पृथिव्यै) पृथिवी माताको नमस्कार है २।विधि–(३)फिर उत्तर वेदीके अपर भागमें स्थापित उदुम्वरीको आसन्दीसे इस तीसरे मंत्रसे चर्मास्तरण करै [का० १४ । ९ । १३] मन्त्रार्थ–हे आसन्दी ! (इयम्) यह (ते) तुम्हारा (राट्) राज्य है वा यही तुम्हारा राजा है ३ । विधि–(४) आसन्दीके ऊपर फैलायेहुए चर्मके ऊपर चौथा मंत्र पाठ कर यजमानको बैठावै [का० १४ । ९ । १४] मंत्रार्थ–हे यजमान ! तुम (यन्ता) सबके नियम करनेवाले (असि) हो (यमनः) स्वयं संयमन करता (ध्रुवः) स्थिर (धरुणः) धारक (असि) हो अर्थात् तुम

राज्यके नियन्ता सब प्रजाके शासन करता, राज्यके चिरशान्तिरक्षक हो (कृष्यै) कृषिकार्य्यके उन्नतिनिमित्त (त्वा) तुमको (क्षेमाय) राज्यकी शान्ति पूर्णताके निमित्त (त्वा) तुमको (रय्यै) धनसम्पत्तिके वर्धनार्थ (त्वा) तुमको (पोषाय) प्रजा पालनेके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें उपवेशन कराते हैं ॥ २२ ॥

कण्डिका २३—मन्त्र १ ।

वाजस्येमम्प्रसुवः सुषुवेऽग्ग्रेसोमꣳराजानमोषधी ष्वप्प्सु ॥ ताऽअस्म्मभ्युम्मधुमतीर्भवन्तुव्वय ꣳराष्ट्रेजागृयामपुरोहिताः स्वाहा ॥ २३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वाजस्येत्यस्य वसिष्ठ ऋ० । सुराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । प्रजापतिर्देवता । आज्याहुतिहोमे वि० ॥ २३ ॥

विधि-(१) यहांसे आरंभकर सप्तकण्डिकात्मक सात मंत्रसे उदुम्बरीपात्रस्थ सम्भृत स्रुवद्वारा आहवनीयमें सप्त आहुतिप्रदान करै [का० १४ । ५ । २१] दुग्ध व्रीह्यादि धान्य स्रुवमें रक्खै । यह सप्त आहुति परब्रह्मकी उपासना है । मन्त्रार्थ-(वाजस्य) अन्नके (प्रसवः) उत्पन्न करनेवाले प्रजापतिने (अग्रे) सबसे प्रथम आदि सृष्टिमें (ओषधीषु) औषधी (अप्सु) और जलोंके मध्यमें (इमम्) इस (सोमम्) सोमवल्लीरूप (राजानम्) दीप्तिमान् पदार्थको (सुषुवे) उत्पन्न किया है (ताः) वे सोमउत्पादक ओषधी जल (अस्मभ्यम्) हमारे निमित्त (मधुमतीः) रसवाली माधुर्य्यसे युक्त (भवन्तु) हों (पुरोहिताः) यागअनुष्ठानादिमें प्रधान (वयम्) हम उनसे अभिषिक्त होकर(राष्ट्रे)अपने राज्यमें सर्वसाधारणके हितकारी होकर (जागृयाम) अप्रमत्त होकर कालयापन करैं॥२३॥

विशेष-परमात्माकी राजाओंको आज्ञा है कि, प्रजाके हितकारी कार्यका अनुष्ठानकरके राज्यशासनमें अप्रमत्त रहैं ॥ २३ ॥

कण्डिका २४—मन्त्र १ ।

वाजस्येमाम्प्रसवः शिश्श्रियेदिवमिमाचविश्श्वा भुवनानिसम्म्राट् ॥ अदित्त्सन्तन्दापयतिप्प्रजान न्त्सर्ववीरन्नियच्छतुस्वाहा ॥ २४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वाजस्येत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । आर्षी जगती छन्दः। प्रजापतिर्देवता । आज्याहुतिहोमे वि० ॥ २४ ॥

मंत्रार्थ-(वाजस्य) इस समस्त अन्नके (प्रसवः) उत्पन्न करनेवाले परमात्माने (इमाम्) इस (दिवम्) द्युलोकको (इमा) इन (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) भुवनोंको (शिश्रिये) सृजन वा आश्रित कियाहै (सः) वह (सम्राट्) सवका अधिपति (अदित्सन्तम्) हवि देनेकी अनिच्छावाले मुझको (प्रजानन्) जानता हुआ, मेरी बुद्धिमें प्रेरणाकर (दापयति) मुझसे आहुति दिवाताहै (नः) हमारे निमित्त (सर्ववीरम्) सव पुत्र भृत्यादिसे युक्त (रयिम्) धनको (नियच्छतु) हमें प्रदान करै (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ॥ २४ ॥

आशय-उस परमात्माने त्रिलोकी रचीहै, वह सब चराचरको अपने आश्रय कियेहैं हम अपनी इच्छासे आहुति नहीं देते उसीने हमको प्रवृत्त कियाहै यह जान कर वह धनसम्पत्ति पुत्र हमको प्रदान करै ॥ २४ ॥

कण्डिका २५-मन्त्र १ ।

वाजस्यनु प्प्रसवऽआबभूवेमाचविश्श्वाभुवनानिसर्वतः ॥ सनेमिराजापरियातिविद्वान्प्रजाम्पुष्टिंवर्द्धयमानोऽअस्म्मेस्वाहा ॥ २५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वाजस्येत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । प्रजापतिर्देवता । आज्याहुतिहोमे वि० ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ-(नु) कैसे विस्मयकी वात है (वाजस्य) अन्नके (प्रसवः) सृजनेवाले प्रजापतिने (इमा) इन (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) भुवनोंको (सर्वतः) सव ओरसे ब्रह्मासे स्तम्बपर्यन्त (आवभूव) उत्पन्न कियाहै (च) और (सनेमि) पुरातन (विद्वान्) सव कुछ जाननेवाला (राजा) दीप्तिमान् (अस्मे) हमारे निमित्त (प्रजाम्) सन्तति (पुष्टिम्) धनपुष्टिको (वर्धयमानः) वृद्धिको प्राप्तहोता हुआ है (स्वाहा) उसके निमित्त यह आहुति दीजातीहै । "सनेमि पुराणनाम" [निघं० ३ । २७ । ४] ॥ २५ ॥

आशय-जो समस्त अन्नका उत्पादक प्रजापति ब्रह्मासे स्तम्बपर्यन्त समस्त भुवनके भीतर वाहर सव प्रकार व्याप्त है जो पुरातन प्रकृत राजा, जो प्रकृत विद्वान् जिसकी शक्तिका परिचय सर्वत्र पायाजाताहै जो वहुतकालतक हमारी प्रजासम्पत्ति वृद्धि करतेहैं उनकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ॥ २५ ॥

कण्डिका २६-मंत्र १।

सोमुꣳराजानमवसेऽग्निमन्वारभामहे ॥ आदित्यान्विष्णुꣳसूर्यम्ब्रह्माणञ्च बृहस्पतिꣳस्वाहा ॥ २६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सोममित्यस्य तापस ऋषिः । आर्ष्यनुष्टुप्छं० । सोमादयो दे० । आज्याहुति होमे वि० ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ-जो सम्पूर्ण अन्नके उत्पादक हैं जिन प्रजापतिने हमारे (अवसे) प्रतिपालनार्थ (राजानम्) राजा (सोमम्) सोमको (अग्निम्) वैश्वानर अग्निको (आदित्यान्) बारहआदित्योंको (विष्णुम्) सबके प्रसवकर्ता (सूर्यम्) सूर्यको (ब्रह्माणम्) ब्रह्माको (बृहस्पतिम्) बृहस्पतिको (च) भी नियुक्त कियाहै अथवा जो स्वयं इन देवताओंका रूप है उसको (अन्वारभामहे) आह्वान करतेहैं (स्वाहा) उसके उद्देशसे दीहुई आहुति सम्यक् गृहीत हो [ऋ० ८ । ७ । २९] ॥ २६ ॥

कण्डिका २७-मंत्र १।

अर्युमणम्बृहुस्पतिमिन्द्रन्दानायचोदय ॥ वाचंविष्णुꣳसरस्वतीꣳसवितारञ्चवाजिनꣳस्वाहा ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अर्यमणमित्यस्य तापस ऋ० । स्वराडार्ष्यनुष्टुप्छं० । अर्य्यमाद्या देवताः । आज्याहुतिहोमे वि० ॥ २७ ॥

मंत्रार्थ-हे परमात्मन्! तुम (अर्यमणम्) अर्यमा देवताके (बृहस्पतिम्) बृहस्पतिको (इन्द्रम्) इन्द्रको (वाचम्) वाणीकी अधिष्ठात्री (सरस्वतीम्) सरस्वतीको (विष्णुम्) सबके प्रसवकर्ता (सवितारम्) सूर्यको (वाजिनम्) जो कि यह सब देवता अन्नके देनेवाले तुमने सृजे हैं इनको (दानाय) धनप्रदानके निमित्त (चोदय) प्रेरणाकरो (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो जो तुम्हारी प्रीतिके उद्देशसे ऋ० ८ । ७ । २९] २७ ॥

कण्डिका २८-मंत्र १।

वाजस्येमम्प्रसुवः सुषुवेऽग्रे सोमꣳराजानमोषधीष्वप्सु ॥ ता ऽअस्मभ्यम्मधुमतीर्भवन्तु व्युयꣳराष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा ॥

वाजस्येमम्प्रसवः

वाजस्यैमंप्रसवच्छावदेहनुऽप्रातिनꣳसुमनाभव ॥ प्रनो भुवनानिसम्राजित्वꣳहिधनदाऽअसिस्वाहा ॥ २८ ॥ न्त्सनोरयिꣳस०

ॐ अग्न इत्यस्य तापस ऋ० । भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छं० । होमे वि० ॥ २८ ॥

मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निमें अधिष्ठित देव ! (इह) इस यज्ञमें (नः) हमारे हितको (अच्छावद) सन्मुख आकर कहो (नः) हमारे प्रति (सुमनाः) करुणार्द्रचित्त (भव) हो (सहस्रजित्) हे सबके जीतनेवाले (हि) जिस कारणसे (त्वम्) तुम स्वभावसे (धनदाः) धनके देनेवाले (असि) हो इस कारण (नः) हमको (प्रयच्छ) धन दीजिये (स्वाहा) तुम्ही एक मात्र प्रार्थना पूर्ण करनेमें समर्थ हो. इस कारण इस आहुतिसे हमारी प्रार्थना स्वीकार करो, यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ॥ २८ ॥

कण्डिका २९-मन्त्र १ ।

प्रनोयच्छत्वर्य्यमाप्रपूषाप्रबृहस्पतिः ॥ प्रवाग्देवीददातुनःस्वाहा ॥ २९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रन इत्यस्य तापस ऋ० । भुरिगार्षी गायत्री छं० । वागाद्यो दे० । आज्याहुतिहोमे वि० ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ-हे परमात्मन् ! आपके प्रसादसे (अर्यमा) अर्यमा देवता (नः) हमारे निमित्त (प्रयच्छतु) अभीष्ट प्रदान करे (पूषा) पूषा देवता (प्र) अभीष्ट प्रदान करे (बृहस्पतिः) बृहस्पति (प्र) अभीष्ट प्रदान करे (देवी वाक्) सरस्वती वाणीकी अधिष्ठात्री (नः) हमारे निमित्त (ददातु) अभीष्टदान करै ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०-मन्त्र १ ।

देवस्यत्वासवितुःप्रसवेश्विनोर्ब्बाहुभ्याम्पूष्णो हस्ताभ्याम् ॥ सरस्वत्यैवाचोयन्तुर्य्यन्त्रियदधामिबृहस्पतेष्ट्वासाम्म्राज्ज्येनाभिषिञ्चाम्म्यसौ ३०॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवस्येत्यस्य तापस ऋ० । आर्षी जगती छं० । सम्राट् देवता । हुतशेषेण यजमानासिञ्चने वि० ॥ ३० ॥

विधि-(१) अन्तर हुतशेष लेकर यजमानको आसिंचन करै [का० १४ । ५ । २२] मन्त्रार्थ-(सवितुः) सविता (देवस्य) देवताकी (प्रसवे) प्रेरणावश होकर (त्वा) तुझको (अश्विनोः) अश्विनीद्वयकी (बाहुभ्याम्) भुजयुगल (पूष्णः) पूषादेवताके (हस्ताभ्याम्) हाथोंसे (बृहस्पतेः) बृहस्पतिके (साम्राज्येन) साम्राज्यभावसे (अभिषिञ्चामि) अभिषेक करता हूं, हे यजमान ! (त्वा) तुमको

सरस्वत्यै) सरस्वतीके (यन्त्रिये) ऐश्वर्यमें (दधामि) स्थापन करताहूं तुमको (वाचः) वाणी वागधिष्ठात्रीदेवी सरस्वती (यन्तुः) नियमन करै (असौ) अमुक नाम यजमानको अभिषेक करताहूं यहां यजमानका नाम उच्चारण करै ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१-मंत्र ४ ।

अग्निरेकाक्षरेणप्प्राणमुदंजयुत्तमुज्जेषमुश्विनौ द्व्यक्षरेणद्विपदामनुष्ष्यानुदंजयतान्तानुज्जेषुंविष्ष्णुस्त्र्यक्षरेणत्रीॅंल्लोकानुदंजयुत्तानुज्जेषुᳬसोमुश्चतुरक्षरेणचतुष्ष्पदᳬपुशूनुदंजयुत्तानुज्जेषम् ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निरित्यस्य तापस ऋ० । निच्यृदार्षी गायत्री वा साम्नी बृहती छं० । लिंगोक्ता देवता । आज्याहुतिहोमे वि० । (२) ॐ अश्विनावित्यस्य तापस ऋ० । साम्नी त्रिष्टुप्छं० । लिंगोक्ता देवता । आज्याहुतिहोमे वि० (३) ॐ विष्णुरित्यस्य तापस ऋ० । निच्यृदार्षी गायत्री वा साम्नी बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । आज्याहुतिहोमे वि० । (४) ॐ सोम इत्यस्य तापस ऋ० । साम्नी त्रिष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । आज्याहुतिहोमे वि० ॥ ३१ ॥

विधि-(१) यहांसे लेकर चार कण्डिकापर्यन्त सत्रह उज्जितिसंज्ञक मंत्रोंसे सप्तदश अक्षरात्मक प्रजापतिकी प्रीतिके उद्देशसे सतरह आहुति प्रदान करै [का० १४ । ५ । २६] मन्त्रार्थ-(अग्निः) अग्नि देवताने (एकाक्षरेण) एकाक्षरके प्रभावसे अर्थात् छन्दसे (प्राणम्) उत्कृष्टरूप प्राणको (उदजयत्) जय किया है मैं भी (तम्) उस प्राणको एकाक्षरके प्रभावसे (उज्जेषम्) जय करूं १ । (अश्विनौ) अश्विनीकुमारने (द्व्यक्षरेण) दो अक्षरवाले छन्दके प्रभावसे (द्विपदः) दोपदवाले (मनुष्यान्) मनुष्योंको (उदजयताम्) उत्कृष्टरूपसे जय किया है मैं भी (तान्) दो अक्षरके प्रभावसे उन मनुष्योंको (उज्जेषम्) जय करसकूं २ । (विष्णुः) विष्णुदेवने (त्र्यक्षरेण) तीन अक्षरके छन्दसे (त्रीन्) तीन (लोकान्) लोकोंको (उदजयत्) जय किया (तान्) मैं भी उनके प्रभावसे उन तीनों लोकोंको (उज्जेषम्) जय करूं ३ । (सोमः) सोम देवताने (चतुरक्षरेण) चतुरक्षर मंत्रके प्रभावसे (चतुष्पदः) पादचतुष्टयात्मक (पशून्) पशुओंको (उदजयत्) जय किया है मैं भी उसके प्रभावसे (तान्) उनको (उज्जेषम्) जय करूं ४ ॥ ३१ ॥

विवरण—"ओऽश्रावय" यह चार अक्षर "अस्तु श्रौषट्" यह चार अक्षर "यज" द्व्यक्षर "ये यजामहे" यह पांच अक्षर "वषट् कार" यह दो अक्षर यह सप्तदश अक्षरात्मक प्रजापति सब यज्ञमें व्यवहृत होता है प्रजापति रूपसे यह सत्रह अक्षरके मंत्रसे उपासनाकी है ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२–मंत्र ४।

पूषापञ्चाक्षरेण पञ्चदिशऽउदजयत्ताऽउज्जेषꣳ सविताषडक्षरेणषड्ऋतूनुदजयत्तानुज्जेषम्मरुतꣳ सप्ताक्षरेणसप्तग्ग्राम्म्यान्पशूनुदजयँस्तानुज्जेषम्बृहस्पतिरष्टाक्षरेणगायत्रीमुदजयत्तामुज्जेषम् ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि–(१–२) ॐ पूषेति सवितेतिमंत्रयोस्तापस ऋ०। निचृत्साम्नी पंक्तिश्छं०। लिंगोक्ता देवता। आज्याहुतिहोमे वि०। (३) ॐ मरुत इत्यस्य तापस ऋ०। साम्नी त्रिष्टुप्छं०। लिंगोक्ता देवता। आज्याहुतिहोमे वि०। (४) ॐ बृहस्पतिरित्यस्य तापस ऋ०। साम्नी पंक्तिश्छन्दः। लिंगोक्ता देवता। आज्याहुतिहोमे वि० ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ–(पूषा) पूषादेवताने (पंचाक्षरेण) पंचाक्षर छन्दके प्रभावसे (पञ्च-दिशः) पांचदिशा चार पूर्वादि एक ऊपरकी (उदजयत्) उत्कृष्ट रूपसे जय की उसीके प्रभावसे मैं (ताः) उन दिशाओंको (उज्जेषम्) जय करूं १। (सविता) सविता देवताने (षडक्षरेण) षडक्षर छन्दके प्रभावसे (षट्) छः (ऋतून्) ऋतुओंको (उदजयत्) उत्कृष्टरूपसे जय किया उसीके प्रभावसे (तान्) उन छःऋतुओंको मैं (उज्जेषम्) जय करूं २। (मरुतः) मरुत् देवताने (सप्ताक्षरेण) सप्ताक्षर मंत्रके प्रभावसे (सप्त) सात (ग्राम्यान्) ग्राम्य गवादि पशुओंको (उदजयन्) जय किया (तान्) मैं भी उनको (उज्जेषम्) जीतूं ३। (बृहस्पतिः) बृहस्पतिने (अष्टाक्षरेण) अष्टाक्षर मंत्रके प्रभावसे (गायत्रीम्) गायत्री छन्दके अभिमानी देवताको (उदजयत्) वशीभूत किया मैं भी उसके प्रभावसे (ताम्) उसको (उज्जेषम्) वशीभूत कर सकूं ४ ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३–मन्त्र १।

मित्रोनवाक्षरेणत्रिवृतꣳ स्तोममुदजयत्तमुज्जेषंवरुणोदशाक्षरेणविराजमुदजयत्तामुज्जेषमिन्द्रऽए

कादशाक्षरेणत्रिष्टुभमुदजयत्तामुज्जेषंविश्वेदेवा
द्वादशाक्षरेणजगतीमुदजयँस्तामुज्जेषम् ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मित्र इत्यस्य तापस ऋ० । प्राजापत्या बृहती छं० । लिंगोक्ता देवता । आज्याहुतिहोमे वि० । (२) ॐ वरुण इत्यस्य तापस ऋ० । निच्यृत्साम्नी बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । आज्याहुतिहोमे वि० । (३) ॐ इन्द्र इत्यस्य तापस ऋ० । साम्नी पंक्तिश्छन्दः । लिंगोक्ता दे० । आज्याहुतिहोमे वि० । (४) ॐ विश्वेदेवा इत्यस्य तापस ऋ० । आर्ष्युष्णिक्छंदः । लिंगोक्ता देवता । आज्याहुतिहोमे वि० ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ-(मित्रः) मित्र देवताने (नवाक्षरेण) नवाक्षर छन्दसे (त्रिवृतम्) त्रिवृत् स्तोमको (उदजयत्) जयकिया (तम्) इसी प्रकार मैं भी (तम्) उसको (उज्जेषम्) जय करूं १ । (वरुणः) वरुणदेवने (दशाक्षरेण) दशाक्षर छन्दसे (विराजम्) दशाक्षरा विराट्के अभिमानी देवताको (उदजयत्) जय किया मैंभी इसी प्रकार (तम्) उसको (उज्जेषम्) जय करूं २ । (इन्द्रः) इन्द्रने(एकादशाक्षरेण) एकादश अक्षरसे (त्रिष्टुभम्) एकादशाक्षर त्रिष्टुप्छंदके अभिमानी देवताको (उदजयत्) जय किया (ताम्) उसको मैं (उज्जेषम्) जय करूं ३ । (विश्वेदेवाः) विश्वेदेवाओंने (द्वादशाक्षरेण) वारह अक्षरसे (जगतीम्) जगती छन्दके अभिमानी देवताको (उदजयन्) जय किया है (ताम्) मैंभी इसको (उज्जेषम्) वशीभूत करसकूं ४ ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मंत्र ५।

वसवस्त्रयोदशाक्षरेणत्रयोदशꣳस्तोममुदजयँस्त
मुज्जेषꣳरुद्राश्चतुर्दशाक्षरेणचतुर्दशꣳस्तोममुद
जयँस्तमुज्जेषमादित्याऽपञ्चदशाक्षरेणपञ्चदशꣳ
स्तोममुदजयँस्तमुज्जेषमदितिऽषोडशाक्षरेणषो
डशꣳस्तोममुदजयत्तमुज्जेषम्प्रजापतिऽसप्तद
शाक्षरेणसप्तदशꣳस्तोममुदजयत्तमुज्जेषम् ३४ [४]

ऋष्यादि–(१) ॐ वसव इत्यस्य तापस ऋ० । आर्च्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । आज्याहुतिहोमे वि० । (२) ॐ रुद्रा इत्यस्य तापस ऋ० । भुरिक्साम्नी त्रिष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । आज्याहुतिहोमे वि० । (३)ॐ आदित्या इत्यस्य तापस ऋ० । आर्च्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । आज्याहुतिहोमे वि० । (४) ॐ अदितिरित्यस्य तापस ऋ० । साम्नी त्रिष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । आज्याहुतिहोमे वि० । (५) ॐ प्रजापतिरित्यस्य तापस ऋ० । भुरिगार्षी गायत्री छन्दः । लिंगोक्ता देवता । आज्याहुमिहोमे वि० ॥ ३४ ॥

मंत्रार्थ–(वसवः) वसुओंने (त्रयोदशाक्षरेण) तेरह अक्षरवाले छन्दसे (त्रयोदशꣳस्तोमम्) त्रयोदशस्तोमको (उदजयन्) उत्कृष्टरूपसे वशीभूत किया (तम्) उसीको (उज्जेषम्) मैं जय करूं १ । (रुद्राः) रुद्रोंने (चतुर्दशाक्षरेण) चौदह अक्षर छन्दसे (चतुर्दशम्) चौदहवें (स्तोमम्) स्तोमको (उदजयन्) उत्कृष्ट रूपसे जय किया (तम्) उसको (उज्जेषम्)मैं जय करूं २ । (आदित्याः) आदित्योंने (पंचदशाक्षरेण) पंचदश अक्षरके छन्दसे (पंचदशम्) पन्द्रहवें (स्तोमम्) स्तोमको (उदजयन्) उत्कृष्टरूपसे जय किया (तम्) उसको मैं (उज्जेषम्) सम्यक् प्रकारसे जय करूं ३ । (आदितिः) अदिति देवमाताने (षोडशाक्षरेण) सोलह अक्षरके छन्दसे (षोडशम्) सोलह (स्तोमम्) स्तोमको (उदजयत्) उत्कृष्टरूपसे जय किया (तम्) उसको मैं (उज्जेषम्) उत्कृष्टरूपसे जय करू ४ । (प्रजापतिः) प्रजापतिने (सप्तदशाक्षरेण) सप्तदशाक्षर छन्दसे (सप्तदशꣳस्तोमम्) सप्तदशाख्य स्तोमको (उदजयत्) जय किया (तम्) उसको (उज्जेषम्) मैं वशीभूत करूं ॥ ३४ ॥

विवरण–इन मंत्रोंको जपै वा इनसे आहुति दे. त्रिवृत्स्तोम आदिसे कर्म उपासना ज्ञानादिका भी ग्रहण किया है एकाक्षरसे पक्षान्तरमें छन्द कल्पना इस प्रकार है कि एकाक्षर ओम् दैवी गायत्री । दो अक्षर दैवी उष्णिक् । तीन अक्षर दैवी अनुष्टुप् । ४ दैवी बृहती । ५ दैवी पंक्ति । ६ दैवी त्रिष्टुप् । ७ दैवी जगती । ८ याजुषी अनुष्टुप् । ९ याजुषी बृहती । १० याजुषी पंक्ति । ११ आसुरी पंक्ति । १२ साम्नी गायत्री । १३ आसुर्यनुष्टुप् । १४ साम्न्युष्णिक् । १५ आसुरी गायत्री । १६ साम्नी अनुष्टुप् । १७ निच्यृदार्षी गायत्री छन्द जानना । तेरह अक्षरसे १०प्राण,जीव, महत्तत्त्व, अव्यक्त कारणरूप स्तोम । चौदह अक्षरसे १० इन्द्रिय मन बुद्धि चित्त और अहंकार जानना । पन्द्रह अक्षरसे ४ वेद ४ ब्राह्मण ६

अंग १ इतिहास जानना सोलह अक्षरसे प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास,छल, जाति और निग्रहस्थान इन सोलह पदार्थोंको जानना। सत्रहसे ४ वर्ण ४ आश्रम श्रवण, मनन निदिध्यासन ४ पुरुषार्थ और मोक्षकी प्राप्ति जाननी ॥ ३४ ॥

इति वाजपेय।

अथ राजसूय।

कण्डिका ३५–मंत्र ६।

एषते निर्ऋतेभागस्त्तञ्जुषस्वस्वाहाग्निनेत्रेभ्योदेवेभ्यः पुरः सद्भ्यः स्वाहायमनेत्रेभ्योदेवेभ्योदक्षिणासद्भ्यः स्वाहाविश्वदेवनेत्रेभ्योदेवेभ्यः पश्चात्सद्भ्यः स्वाहामित्रावरुणनेत्रेभ्योवामरुन्नेत्रेभ्योवादेवेभ्यऽउत्तरासद्भ्यः स्वाहासोमनेत्रेभ्योदेवेभ्यऽउपरिसद्भ्योदुवस्वद्भ्यः स्वाहा ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि–(१–२) ॐ एषत इत्यस्य अग्निनेत्रेभ्य इत्यस्य च वरुण ऋ० । साम्न्युष्णिक्छं० । पृथिवी दे० । उल्मुकाग्नौ हविर्हवने वि० । (३) ॐ यमनेत्रेभ्य इत्यस्य वरुण ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । देवा दे० । पश्चवातीयाहवनीयाग्नौ हवने वि० । (४) ॐ विश्वदेवनेत्रेभ्य इत्यस्य वरुण ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छं० । देवा देवताः । पश्चवातीयाहवनीयाग्नौ हवने वि० । (५) ॐ मित्रावरुणेत्यस्य वरुण ऋ० । भुरिगार्षी गायत्री छं० । देवा देवताः । पश्चवातीयाहवनीयाग्नौ हवने वि० । (६) ॐ सोमेत्यस्य वरुण ऋ० । भुरिक्साम्नी बृहती छन्दः । देवा देवताः । पश्चवातीयाहवनीयाग्नौ हवने वि० ॥ ३५ ॥

विधि–(१) फाल्गुन महीनेकी प्रथम दशमीसे अनुमति देवताकी प्रसन्नताके निमित्त अष्टाकपाल पुरोडाश प्रस्तुत करना होता है, इस हविके पीसनेके समय दृषद्के नीचे भागमें स्थापित शम्याके पश्चाद्भागमें पतित तन्दुलपिष्टको स्रुवमें ग्रहण करके और दक्षिणाग्निसे जलता उल्मुक लेकर दक्षिणओरको किंचित् गमन करते जहां पृथ्वीका भाग स्वयं स्फुटित हुआ हो वहां अथवा ऊपर भूमिमें

इस उल्मुक अग्निको स्थापन करके हवन करै इसीको वर्षेष्टि कहते हैं [का० १५ । १ । १९ १०] मंत्रार्थ-(निर्ऋते)हे पृथिवि ! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (भागः) भाग है (तम्) इसको (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक सेवनकरो (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो १ । विधि- (२-६) आहवनीय हवि पूर्वादिक्रमसे चारोंओरमें स्थापित चार अग्निकुण्डमें भागक्रमसे स्थापित करै अवशिष्ट अंशके मध्यमें स्थापित अग्निमें स्थापित करके इस पंचाग्निमें स्रुवद्वारा द्वितीयादि पांच मंत्रसे पांच आज्यआहुति प्रदान करै इसे पंचवातीय कर्म कहते हैं [का० १५ । १ । २०] मंत्रार्थ-(अग्नि-नेत्रेभ्यः) जिनका अग्नि नेता है (पुरःसद्भ्यः) पूर्वदिशामें वसनेवाले (देवेभ्यः) देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति दीजाती है भलीप्रकार गृहीत हो [यह आहुति उत्तर वेदीमें स्थित आहवनीय अग्निमें दीजाती है] २ । (यमनेत्रेभ्यः) यम जिनका नेता है (दक्षिणासद्भ्यः) उन दक्षिणदिशावासी देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति देते हैं भलीप्रकार गृहीत हो । यह दूसरी आहुति ऐष्टिक वेदीके दक्षिणमें स्थापित दक्षिणाग्निमें देनी ३ । (विश्वदेवनेत्रेभ्यः) विश्वे देवा जिनके नेता हैं (पश्चात्सद्भ्यः) उन पश्चिम दिशामें निवासकरनेवाले (देवेभ्यः) देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति दीजातीहै भली प्रकार गृहीत हो । यह तीसरी आहुति ऐष्टिक वेदीके पश्चिम स्थापित गार्हपत्या-ग्निमें देनी ४ । (वा) या (मित्रवरुणनेत्रेभ्यः) जिनके नेता मित्रावरुण हैं (वा) या (मरुन्नेत्रेभ्यः) जिनके नेता मरुत् देवता हैं (उत्तरासद्भ्यः) उत्तर दिशामें निवासकरनेवाले (देवेभ्यः) देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति दीजातीहै भलीप्रकार गृहीत हो । यह चतुर्थ आहुति उदग्वंशाशालामें स्थित सदोमण्डपके बाहर भागमें स्थापित आग्नीध्र अग्निमें होमे ५ । (सोमनेत्रेभ्यः) जिनका नेता सोम है ऐसे (दुवस्वद्भ्यः) परिचर्यावाले वा हविभोजी (उपरिसद्भ्यः) ऊपरभाग अन्तरिक्ष वा द्युलोकनिवासी (देवेभ्यः) देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार दीजाती है सम्यक् गृहीत हो ६ । यह आहुति ऐष्टिक वेदीके पूर्व और सदोमण्डपके पश्चिम सुतरां भागद्वयमें विभक्त यज्ञशालाके मध्यमें स्थापित आहवनीय अग्निमें देनी ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६-मंत्र ५ ।

येदेवाऽअग्निनेत्राःपुरःसदस्तेभ्यःस्वाहा येदेवा यमनेत्रादक्षिणासदस्तेभ्यःस्वाहा येदेवाविश्वदेवनेत्राःपश्चात्सदस्तेभ्यःस्वाहा येदेवामित्राव

रुणनेत्रावामुरुन्नेत्रावोत्तरासदुस्तेभ्युःस्वाहायेदे
वाःसोमनेत्राऽउपरिसदोदुवस्वन्तस्तेभ्युःस्वा
हा ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ येदेवा इत्यस्य मन्त्रपञ्चकस्य वरुण ऋषिः । आसुरी गायत्री प्राजापत्यानुष्टुप् भुरिक्प्राजापत्यानुष्टुप् आर्च्यनुष्टुप् प्राजापत्या बृहती छं० । देवा दे० । प्रतिमन्त्रमेकीकृताहवनीयाग्नौ हवने वि० ॥ ३६ ॥

विधिं-(१–५) पांच अग्निकुण्डमें क्रमसे स्थापित इस आहवनीयको एकत्र करके इस कण्डिकाके पांच मंत्रोंसे उत्तर वेदीमें स्थापित नाभिप्रदेशीयादि पांच अग्नियोंमें पांच आहुति प्रदान करै यह पंचवातीय कर्म है [का० १९ । १ २१] मंत्रार्थ-(ये) जो (देवाः) देवता (अग्निनेत्राः) अग्निनेता संयुक्त हैं (पुरःसदः) पूर्वमें निवास करते हैं (तेभ्यः) उन देवताओंके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति दीजाती है १ । (ये देवा यमनेत्रा दक्षिणासदः) यम जिनका नेता वे देवता दक्षिण दिशानिवासी हैं (तेभ्यः) उनके निमित्त (स्वाहा) आहुति० २ । (ये देवाः) जो देवता (विश्वदेवनेत्राः) विश्वदेवनेतावाले (पश्चात्सदः) पश्चिम निवासी हैं (तेभ्यः) उनके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति दीजाती है ३ । (ये देवाः) जो देवता (मित्रावरुणनेत्राः) मित्रावरुणनेतावाले (वा) अथवा (मरुन्नेत्राः) मरुतनेतावाले (वा) और (उत्तरासदः) उत्तरदिशानिवासी हैं (तेभ्यः) उनके निमित्त (स्वाहा) आहुति दीजातीहै ४ । (ये देवाः) जो देवता (सोमनेत्राः) सोमके नेतावाले (दुवस्वन्तः) हविके स्वीकार करनेवाले (उपरिसदः) द्युलोकवासी हैं (तेभ्यः) उनके निमित्त (स्वाहा) श्रेष्ठ आहुति प्राप्त हो ॥ ५ ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७–मन्त्र १ ।

अग्नेसहस्वपृतनाऽअभिमातीरपास्य ॥ दुष्टरस्त
रन्नरातीर्वर्चोधायुज्ञवाहसि ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्नेसहस्वेत्यस्य देवश्रवा देववात ऋ० । भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छं० । अग्निर्दे० । उल्मुकादाने वि० ॥ ३७ ॥

विधि-(१) अपामार्ग (चिरचिटा) तंडुलहोम करनेके निमित्त प्रथम मंत्रसे

१ इसीके वाजोंकी मींग ।

दक्षिणाग्निसे उल्मुक ग्रहण करै [का० १९ । २ । ५] मन्त्रार्थ—(अग्ने) हे अग्निदेव ! तुम (पृतनाः) शत्रुसेनाओंको (सहस्व) पराभवकरो (अभिमातीः) शत्रुओंको (अपास्य) विदारितकरो (दुष्टरः) दुर्निवार तुम (अरातीः) शत्रुओंको (तरन्) तिरस्कार करतेहुए (यज्ञवाहसि) यज्ञनिर्वाहकारी इस यजमानको (वर्चः) अन्न वा तेज (धेहि) प्रदानकरो [ऋ० ३ । १ । २४]॥३७॥

कण्डिका ३८—मंत्र ३ ।

देवस्यत्वासवितुःप्प्रसवे ऽश्विनोर्ब्बाहुभ्याम्पूष्णो हस्ताभ्याम् ॥ उपाᳬशोर्व्वीर्य्येणजुहोमिहतᳬरक्षःस्वाहारक्षसान्त्वावधायावधिष्ष्मरक्षोवधिष्ष्मामुमसौहतः ॥ ३८ ॥ [४]

ऋष्यादि—(१)ॐ देवस्येत्यस्य देवश्रवा देववात ऋ० । निच्यृद्ब्राह्मी गायत्री छं० । रक्षोघ्नो देवता । अपामार्गतंडुलहवने वि० । (२) ॐ रक्षसामित्यस्य देवश्रवा देववात ऋ० । याजुष्युष्णिक्छं० । रक्षोघ्नो देवना । स्रुवप्रक्षेपणे वि० । (३) ॐ अवधिष्मेत्यस्य देवश्रवा देववात ऋ० । साम्न्युष्णिक्छं० । रक्षोघ्नो देवता । देवयजनं प्रत्यागमने वि० ॥ ३८ ॥

विधि—(१) देवयजनप्रदेशके उत्तर व पूर्व कुछ दूर यह गृहीत उल्मुक स्थापन करके प्रथम मंत्रको पाठपूर्वक स्रुग्द्वारा उससेही अपामार्गतंडुलोंको हवन करै [का० १९ । २ । ६] मंत्रार्थ—जिस देवताने इस समस्त जगत्को निज निज कर्तव्य करनेमें प्रेरित किया है उस (सवितुः) सविता (देवस्य) देवकी (प्रसवे) आज्ञामें वर्तमान (अश्विनोः) अश्विनीकुमारके(बाहुभ्याम्) बाहु युगलसे (पूष्णः) पूषा देवताके (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथोंसे (त्वा) तुझको (उपाᳬशोः) उपांशु नाम प्रथम ग्रहके (वीर्येण) पराक्रमसे (जुहोमि) आहुति प्रदान करताहूं (रक्षः) राक्षसकुल इस आहुतिके प्रभावसे (हतम्) निहत हुआ (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो १ । विधि—(२) जिस दिशामें होम करै उसी दिशामें इस दूसरे मंत्रका पाठ करकै स्रुवत्याग करै [का० १९ । २ । ७ ।] अर्थात् यदि पूर्वदिशामें गमन करना हो तो पूर्वदिशामें निक्षेप करै अन्यथा उत्तरमें । मन्त्रार्थ—हे स्रुव ! (रक्षसाम्) राक्षसोंके (वधाय) वधके निमित्त (त्वा) तुमको प्रक्षेप करताहूं २ । विधि—(३) अनन्तर अध्वर्युप्रभृति सब ही पीछेको देखे विना इस तीसरे मंत्रका पाठ करके देवयजनमें पुनः प्रवेश करै [का० १९ ।

२ । ७] मन्त्रार्थ-(रक्षः) राक्षसकुलको (अवधिष्म) विनष्ट किया (अमुम्) अमुक शत्रुको 'इस स्थलमें जो प्रधान शत्रु हो उसका नाम ले' (अवधिष्म) मारा (असौ) यह शत्रु (हतः) मारा गया ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मंत्र १ ।

स॒वि॒ता त्त्वा॑ स॒वाना॑ᳲ सुवताम॒ग्निर्गृ॒हप॑तीनाᳲ सोमो॒ वन॒स्प्पती॑नाम् ॥ बृह॒स्प्पति॒र्वा॒चऽइन्द्रो॒ ज्ज्यैष्ठ्याय रु॒द्रः प॒शुभ्यो॑ मि॒त्रः स॒त्त्यो वरु॑णो॒ धर्म॑पतीनाम् ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सवितेत्यस्य देववात ऋ० । अतिजगती छन्दः । यजमानो देवता । यजमानदक्षिणबाहुग्रहणे वि० ॥ ३९ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु वाम हाथमें दो स्रुव धारण करके दक्षिण हाथसे यजमानकी दक्षिणबाहु ग्रहण करके इस कण्डिका और अगली कण्डिकाके मंत्र पाठ करे [का० १९ । ४ । १३ । १९] मन्त्रार्थ हे यजमान !(सविता) जगत्का नियन्ता परमात्मा (सवानाम्) आज्ञाओंके आधिपत्य अर्थात् प्रजावर्गके नियन्त्रित कार्यमें (त्वा) तुझको (सुवताम्) प्रेरण करे (अग्निः) अग्नि देवता गृहस्थगणके उपास्यदेव (गृहपतीनाम्) गृहस्थोंके आधिपत्यमें तुमको प्रेरणा करे (सोमः) वनस्पति प्रधान सोमदेवता (वनस्पतीनाम्) तुमको वनस्पति विषय आधिपत्य प्रदान करे (बृहस्पतिः) वाक्यप्रकाशक बृहस्पति देवता (वाचे) वाग्विषयक आधिपत्यमें (इन्द्रः) इन्द्र देवता (ज्यैष्ठ्याय) ज्येष्ठ आधिपत्यमें (रुद्रः) पशुगणके जीवोंके रक्षक रुद्रदेवता (पशुभ्यः) पशुदलके आधिपत्यमें (मित्रः) सत्यस्वरूप मित्र देवता (सत्यः) सत्यव्यवहारके आधिपत्यमें (वरुणः) धर्मरक्षक वरुण देवता तुमको (धर्मपतीनाम्) धर्मके आधिपत्यमें प्रेरणा करे अर्थात् तुमको धर्माधिपत्य प्रदान करे ॥ ३९ ॥

विशेष-इस कण्डिकामें प्रार्थना किये परमदेवतासे वरुण देवतापर्यन्त आठ देवता सुहवि देवता कहाते हैं ।

कण्डिका ४०-मंत्र १ ।

इ॒मन्दे॑वाऽअसप॒त्नᳲ सु॑वद्ध्वम्मह॒ते क्ष॒त्राय॑ मह॒ते ज्ज्यैष्ठ्या॑य मह॒ते जान॑राज्ज्या॒येन्द्र॑स्येन्द्रि॒याय॑ ॥

इमममुष्यं पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विशऽएष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाᳬं राजा ॥४०॥ [२]

इति संहितायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ इममित्यस्य देववात ऋ० । अत्यष्टिश्छन्दः । यजमानो देवता । यजमानायाशीःप्रदाने वि० ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ–(देवाः) हे सुहविर्देवगण ! तुम (अमुष्यपुत्रम्) अमुक महाशयके पुत्र 'यहां यजमानके पिताका नाम लेना' (अमुष्यै) अमुकी देवीके (पुत्रम्)पुत्र 'यहां यजमानकी माताका नाम लेना' (इमम्) इस यजमानको (महते क्षत्राय) महत क्षत्रधर्म वा महत् क्षत्र पदवीके निमित्त (महते) महत् (ज्येष्ठाय) ज्येष्ठताके निमित्त (महते) महान् (जानराज्याय) जनोंके आधिपत्यमें (इन्द्रस्य)आत्माके (वीर्य्याय) ज्ञानमें सामर्थ्यके निमित्त (असपत्नम्) शत्रुशून्य करके (सुवध्वम्) प्रेरण करो अपने प्रसादसे (इमम्) इस यजमानको (अस्यै) इस (विशे अमुक जातिका राजा करो (अमी) हे अमुकजाति प्रजागण ! (वः) तुम्हारा (एषः) यह अमुक नाम(राजा) राजा हो और(अस्माकम्) हमें (ब्राह्मणानाम्) ब्राह्मणोंका (राजा) राजा(सोमः) राजा सोम चन्द्रमा हो[सोमसे प्रजापतिका भी ग्रहण है] ॥ ४० ॥

विशेष–इस स्थलमें यजमानका नाम ले १ इस स्थानमें राजाको जिस देशके आधिपत्यमें अभिषिक्त किया हो उस देशका व्यक्तिका और जो जो जाति उसमें हो उसका नाम ले यथा कुरुपांचालादि ।

२ इससे विदित है कि तपके प्रभावसे ब्राह्मणोंका अधिपति राजा नहीं होता था उसका अधिकार तीन वर्णोंपर ही चलता था अब समयके प्रभावसे क्या दशा हुई है !

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदीयमाध्यन्दिनीयायां वाजसनेयिसंहितायां मन्त्रभागे पण्डितज्वालाप्रसादमिश्रकृतमिश्रभाष्ये राजसूयारम्भान्तो नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः १०.

नवम अध्यायमें वाजपेय राजसूय सम्बन्धी किंचित् कर्मका उल्लेख किया। दशम अध्यायमें अभिषेकार्थ जलदानादि राजसूय शेष और चरक सौत्रामणि कथन करते हैं।

अनुवाकसूत्र।

अपोदेवाश्चतस्रः सोमस्यत्त्विषिःपञ्च अवेष्टाःसप्त सोमस्यत्वा चतस्रः इन्द्रस्यवज्रःपञ्च स्योनासिचतस्रः सवित्रेकाश्विभ्यांचतस्रः अष्टौचतुस्त्रिꣳशत् ॥

कण्डिका १–मन्त्र १।

अपोदेवामधुमतीरगृभ्णन्नूर्जस्वती राजस्वश्चितानाः ॥ याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्याभिरिन्द्रमनयन्नत्त्यरातीः ॥ १ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अपो देवा इत्यस्य वरुण ऋ०। निचृदार्षी त्रिष्टुप्छं०। आपो देवताः। सारस्वताग्रहणे वि० ॥ १ ॥

विधि–(१) यजमानके अभिषेकके निमित्त सत्रह उदुम्बर पात्रमें नैमित्तिक अनैमित्तिक सत्रह प्रकारका जल ग्रहण कियाजाताहै [का०१५।४।३३] उसमें इस प्रथम मन्त्रसे सरस्वतीनदीका जल ग्रहण करै [का० १५ । ४ २०–२२] मन्त्रार्थ–(देवाः) इन्द्रादिक देवताओंने (मधुमतीः) मधुरस्वादसे युक्त (ऊर्जस्वतीः) विशिष्ट अन्नरसयुक्त (राजस्वः) राज्याभिषेक करनेवाले (चितानाः) चेतयमान ज्ञानके सम्पादनकरनेवाले (अपः) जलोंको (अगृभ्णन्) ग्रहण किया (याभिः) जिन जलोंसे (मित्रावरुणौ) मित्रावरुण देवताओंने (अभ्यषिञ्चन्) अभिषेक किया,तथा (याभिः)जिन जलोंसे देवताओंने (अरातीः) शत्रुओंको (अति) तिरस्कार कर (इन्द्रम्) इन्द्रको (अनयन्) राज्याभिषेक किया, उन जलोंको ग्रहण करतेहैं ॥ १ ॥

विवरण–सारस्वत, वृष्णऊर्मि, वृषसेन, स्यन्दमान. प्रातिलोम्य,अपयत, आपस्पति, निवेष्य, प्रत्यातप, स्थावर, आतपवर्ष्य, सरस्य, कूप्य, प्रूष्व, मधु, गोउल्य, दुग्ध और घृत यह सत्रह जल क्रमसे कहे जाँयगे, वेदमें सर्वत्रही 'आपो देव्यः' कहकर व्यवहार हुआ है इस प्रकरणमें सब नाम और विशेषण स्त्रीलिंग रूपसे निर्दिष्ट हैं २। वेदीके नियममें जलविषय सर्वत्रही स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त विधेय है।

कण्डिका २-मन्त्र ४।

वृष्ण्णऽऊर्म्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रम्मे देहि स्वाहा वृष्ण्णऽऊर्म्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्म्मै देहि वृषसेनोसि राष्ट्रदा राष्ट्रम्मे देहि स्वाहा वृषसेनोसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्म्मै देहि ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वृष्णऊर्मिरिति मंत्रस्य वरुण ऋ०। प्राजापत्यानुष्टुप्छं०। लिंगोक्ता देव०। कल्लोलोदके चतुर्गृहीताज्याहुतिहोमे वि०। (२) ॐ वृष्णऊर्मिरित्यस्य वरुण ऋ०। प्राजापत्यानुष्टुप्छं०। लिंगोक्ता दे०। उदुम्बरपात्रे कल्लोलोदकग्रहणे वि०.। (३) ॐ वृषसेन इति मन्त्रस्य वरुण ऋ०। आसुरी गायत्री छन्दः। लिंगोक्ता देवता। वृषसेनोदके चतुर्गृहीताज्यहोमे वि०। (४) ॐ वृषसेन इत्यस्य वरुण ऋ०। प्राजापत्यानुष्टुप्छं०। लिंगोक्ता दे०। उदुम्बरपात्रे वृषसेनोदकग्रहणे वि० ॥ २ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे कल्लोलोदकमें चतुर्गृहीत आज्याहुतिप्रदान करै [का०१९।४।३४ तथा १९।४।२३।] मन्त्रार्थ-हे कल्लोल ! तुम (वृष्णः) सेचनकरनेवाले मनुष्यसम्बन्धी (ऊर्मिः) तरंग (असि) हो (राष्ट्रदाः) स्वभावसेही राष्ट्रदेनेवाली हो (राष्ट्रम्) राज्यको (मे) मेरे निमित्त (देहि) दो (स्वाहा) तुम्हारी प्रीयमाण यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो १ विधि-(२) दूसरे मंत्रसे उदुम्बर पात्रमें यह कल्लोल ग्रहण करै। मन्त्रार्थ-हे कल्लोल ! तुम (वृष्णः) सेचन सम्बन्धी नर वा पशुकी सम्बन्धवाली (राष्ट्रदाः) स्वभावसे राष्ट्रदाता (ऊर्मिः) तरंग (असि) हो (अमुष्मै) अमुक यजमानको 'इस स्थलमें यजमानका नाम ले' (राष्ट्रम्) राज्य (देहि) प्रदान करो। विधि-(३) तीसरे मंत्रसे वृषसेनोदकमें चतुर्गृहीत आज्याहुति प्रदान करै। मन्त्रार्थ-हे वृषसेन ! तुम (वृषसेनः) सेचनसमर्थ जलराशि (राष्ट्रदाअसि) राष्ट्रदाता हो (राष्ट्रं मे देहि) मुझे राष्ट्रप्रदान करो (स्वाहा) यह आहुति गृहीत हो विधि-(४) चौथे मंत्रसे उदुम्बर पात्रमें वृषसेन जल ग्रहण करै। मन्त्रार्थ-(वृषसेनः) हे वृषसेन ! तुम (राष्ट्रदा असि) राष्ट्रदाता हो (राष्ट्रम्) राष्ट्र (अमुष्मै) अमुक यजमानको (देहि) प्रदान करो ॥ २ ॥

विवरण-(मनुष्य वा पशु) अथवा बडे पत्थरकी पाड जलमें प्राप्त होनेसे जल उच्छ्रित होता है उसको कल्लोल कहते हैं और इसीका नाम वृषऊर्मि है । जिस नदीमें इतना अल्प जल हो कि, उससे सेना पार हो जाय उससे जो जल समुच्छ्रित होता है उसको वृषसेन कहते हैं ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मंत्र १ ।

अर्थेतस्स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रम्मे दत्त स्वाहार्थेतस्स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तौजस्वतीस्स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रम्मे दत्त स्वाहौजस्वतीस्स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापः परिवाहिणीस्स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रम्मे दत्त स्वाहापः परिवाहिणीस्स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापाम्पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रम्मे देहि स्वाहापाम्पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देह्यपाङ्गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रम्मे देहि स्वाहापाङ्गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि सूर्यत्वचसस्स्थ ॥ ३ ॥

ऋष्यादि--(१) ॐ अर्थेत इत्यस्य वरुण ऋषिः । साम्न्युष्णिक्छं० । लिंगोक्ता दे० । स्यन्दमानोदके चतुर्गृहीताज्यहवने वि० । (२) ॐ अर्थेत इत्यस्य वरुण ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता देवता । स्यन्दमानोदकग्रहणे वि० । (३) ॐ ओजस्वतीस्थेत्यस्य मन्त्रस्य वरुण ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । लिङ्गोक्ता देवता । ज्योतिष्मत्युदके चतुर्गृहीताज्यहवने वि० । (४) ॐ ओजस्वतीस्थेत्यस्य मन्त्रस्य वरुण ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । लिंगोक्ता देवता । ज्योतिष्मत्युदक ग्रहणे वि० । (५) ॐ आप इत्यस्य वरुण ऋ० । साम्नी बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । परिवाहिणोदके चतुर्गृहीताज्यप्रक्षेपणे वि० । (६) ॐ आप इत्यस्य वरुण ऋ० । साम्नी बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । परिवाहिणोदकग्रहणे वि० । (७) ॐ अपांपतिरित्यस्य वरुण ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छं० । सामुद्रजले चतुर्गृहीताज्यप्रक्षेपणे वि० ।

(८) ॐ अपांपतिरित्यस्य वरुण ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छं० लिंगोक्ता दे० । सामुद्रजले चतुर्गृहीताज्यप्रक्षेपणे वि० । (९) ॐ अपांगर्भ इत्यस्य वरुण ऋ० । साम्नी बृहती छं० । लिंगोक्ता देवता । अपां गर्भोदके चतुर्गृहीताज्यप्रक्षेपणे वि० । (१०) ॐ अपां, गर्भ इत्यस्य वरुण ऋ० । साम्नी बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । अपांगर्भोदकग्रहणे वि० ॥ ३ ॥

विधि-(१) प्रथम मन्त्रसे अर्थोदक नदीआदिके प्रवाहमें स्थित भाटेके समयके जलमें चतुर्गृहीत कर आज्याहुति प्रदान करै इसे स्यन्दमान भी कहते हैं [का० १९।४।२४] मन्त्रार्थ-(अर्थेतः) नदीआदिके प्रवाहमें स्थित जलो ! तुम (राष्ट्रदाः) स्वभावसे ही राष्ट्रके देनेवाले (स्थ) हो(राष्ट्रम्)राष्ट्रको(मे) मुझ यजमानके निमित्त(दत्त)प्रदान करो(स्वाहा) तुम्हारी प्रीतिके निमित्त दी हुई यह आहुति भलीप्रकार स्वीकृत हो १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे उदुम्बर पात्रमें अर्थेत जल ग्रहण करै । मन्त्रार्थ-(अर्थेतः) हे जलो ! (राष्ट्रदाःस्थ) तुम स्वभावसे राष्ट्र देनेवाले हो (अमुष्मै) अमुक यजमानको (राष्ट्रंदत्त) राष्ट्र प्रदान करो २ । विधि-(३)तीसरे मंत्रसे प्रतिलोम (उलटे) वहन करनेवाले ज्वारके समयके ज्योतिष्मती जलमें गृहीत आज्याहुति प्रदान करै [का० १९ । ४ । २५] मन्त्रार्थ-(ओजस्वतीः) हे बलयुक्त जलो ! तुम (राष्ट्रदाःस्थ) स्वभावसे राष्ट्र देनेवाले हो (मे) मुझे (राष्ट्रं दत्त) राष्ट्र प्रदान करो (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ३ । विधि-(४) चौथे मंत्रसे उदुम्बरपात्रमें ओजस्वती ग्रहण करै । मन्त्रार्थ-(ओजस्वतीः) हे बलयुक्त जलो ! तुम (राष्ट्रदाःस्थ) स्वभावसे राष्ट्र देनेवाले हो (राष्ट्रम्) राष्ट्रको (अमुष्मै) इस यजमानके निमित्त (दत्त) प्रदान करो ४ । विधि-(५) पंचम मंत्रसे परिवाहिणोदकमें चतुर्गृहीत आज्याहुति प्रदान करै. बहते जलोंके मध्यसे जो जल दूसरे मार्गसे जाकर फिर उसी प्रवाह में मिलते हैं उनको परिवाहिणी कहते हैं [का० १९ । ४ । २६] मन्त्रार्थ-(परिवाहिणीःआपः) हे परिवाही जलो ! (राष्ट्रदाःस्थ) तुम स्वभावसे राष्ट्र देनेवाले हो (मे) मुझे (राष्ट्रम्) राष्ट्रको (दत्त) प्रदान करो (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ५ । विधि-(६) छठे मंत्रसे यह जल उदुम्बरपात्रमें ग्रहण करै । मन्त्रार्थ-(परिवाहिणीः आपः) हे परिवाही जलो ! (राष्ट्रदाःस्थ) तुम स्वभावसे राज्य देनेवाले हो (राष्ट्रम्) राष्ट्र (अमुष्मै) अमुक यजमानको (दत्त) प्रदान करो६। विधि-(७) सप्तम मंत्रसे अपांपति समुद्रके जलमें चतुर्गृहीत आज्याहुति प्रदान करै [का०१९।४ २७]मन्त्रार्थ-(अपांपतिः) हे सागरके जलो!तुम(राष्ट्रदाः)राष्ट्रदाता असि हो(राष्ट्रम्) राष्ट्रको (मे) मेरे निमित्त (दत्त) प्रदान करो (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो७।विधि-(८)अष्टम मंत्रसे उदुम्बरपात्रमें अपांपति ग्रहण करै[का०१९।४।२९।]

मन्त्रार्थ-(अपांपतिः राष्ट्रदाः) अपांपति तुम स्वभावसे राज्यदाता (असि) हो (राष्ट्रम्) राष्ट्र (अमुष्मै) अमुक यजमानके निमित्त (दत्त) प्रदान करो ८ । विधि-(९) नवम मंत्रसे अपांगर्भोदकमें चतुर्गृहीत आज्याहुति प्रदानकरै । भंवरके जलको अपांगर्भोदक कहते हैं [का० १५ । ४ । २९] मन्त्रार्थ-(अपांगर्भः) भंवरके जलो ! तुम (राष्ट्रदाः) स्वभावसे राष्ट्र देनेवाले (असि) हो (मे) मुझे (राष्ट्रम्) राष्ट्र (देहि) दो (स्वाहा) यह आहुति तुम्हारी प्रीतिके निमित्त दीजाती है ९ । विधि-(१०) दशम मंत्रसे यह जल उदुम्बरपात्रमें ग्रहण करै । मन्त्रार्थ-(अपांगर्भः) अपांगर्भ जल (राष्ट्रदाः) स्वभावसे राष्ट्र देनेवाले (असि) हो (राष्ट्रम्) राष्ट्र (अमुष्मै) अमुक यजमानके निमित्त (देहि) प्रदान करो १० ॥ ३ ॥

विशेष-जिस प्रकार जल दूसरी ओर जाकर फिर उसी स्थानमें मिलते हैं इस प्रकार दूसरे देश इस राजाके देशोंमें मिलें, और राजा विजय कर अपने देशमें आवै जैसे समुद्र जलोंका स्वामी है,इस प्रकार यह राजा सबका स्वामी हो जैसे भंवरका जल मध्यवर्ती होता है इसी प्रकार इस राजाको सब राजोंका मध्यवर्ती सम्राट् करै,जैसे जल ज्वार भाटा रूपसे आता जाता है इसी प्रकार इस राजाकी सब ओर गति हो ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मन्त्र २१ ।

सूर्य्यत्त्वचसस्स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रम्मे दत्त स्वाहा सूर्य्यत्त्वचसस्स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त सूर्य्यवर्चस स्स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रम्मे दत्त स्वाहा सूर्य्यवर्चसस्स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त मान्दास्स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रम्मे दत्त स्वाहा मान्दास्स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त व्व्रजक्षितस्स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रम्मे दत्त स्वाहा व्व्रजक्षितस्स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त वाशास्स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रम्मे दत्त स्वाहा वाशास्स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त शविष्ठा

स्त्थराष्ट्रदाराष्ट्रम्मेदत्तस्वाहाशविष्ठास्त्थराष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैदत्तशक्करीस्त्थराष्ट्रदाराष्ट्रम्मेदत्तस्वाहा शक्करीस्त्थराष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैदत्तजनभृतस्त्थराष्ट्रदाराष्ट्रम्मेदत्तस्वाहाजनभृतस्त्थराष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैदत्तविश्श्वभृतस्त्थराष्ट्रदाराष्ट्रम्मेदत्तस्वाहाविश्श्वभृतस्त्थराष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैदत्तापःस्वराजस्त्थराष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैदत्त॥ मधुमतीर्म्मधुमतीभिःपृच्च्यन्ताम्महिक्षत्रङ्क्षत्रियायवन्वानाऽअनाधृष्टाःसीदतसहौजसोमहिक्षत्रङ्क्षत्रियायदधतीः ॥ ४ ॥ शतम् ॥ ४०० ॥ [४]

ऋष्यादि—(१) ॐ सूर्यत्वचसस्थ इति मंत्रस्य वरुण ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । स्यन्दमानमध्ये स्थावराप्सु चतुर्गृहीताज्यप्रक्षेपणे वि० । (२) ॐ सूर्यत्वचस इत्यस्य वरुण ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । स्यन्दमानमध्ये स्थावरोदकग्रहणे वि० । (३) ॐ सूर्यवर्चस इत्यस्य वरु० ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । आतपवर्ष्योदके चतुर्गृहीताज्यहोमे वि० । (४) ॐ सूर्यवर्चसःस्थ इत्यस्य वरुण ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । आतपवर्ष्योदकग्रहणे वि० (५) ॐ मान्दा इत्यस्य मंत्रस्य वरुण ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता देवता । सरस्योदकेषु चतुर्गृहीताज्यहोमे वि० । (६) ॐ मान्दा इत्यस्य मन्त्रस्य वरुण ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । सरस्योदकग्रहणे वि० । (७) ॐ व्रजक्षित इत्यस्य वरुण ऋषिः । आसुरी गायत्री छं० । लिंगोक्ता दे० । कूपोदके चतुर्गृहीताज्यहोमे वि० । (८) ॐ व्रजक्षित इत्यस्य वरुण ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । लिंगोक्ता दे० । कूपोदकग्रहणे वि० । (९) ॐ वाशा इत्यस्य वरुण ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । लिङ्गोक्ता दे० । वाशोदके चतु-

गृहीताज्यहोमे वि० । (१०) ॐ वाशा इत्यस्य वरुण ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । वाशोदकग्रहणे वि० । (११) ॐ शविष्ठा इत्यस्य वरुण ऋ० । आसुर्युष्णिक्छं० । लिंगोक्ता दे० । मधुरूपे शविष्ठोदके चतुर्गृहीताज्यप्रक्षेपणे वि० । (१२) ॐ शविष्ठा इत्यस्य वरुण ऋ० । आसुर्युष्णिक्छं० । लिंगोक्ता दे० । मधुरूपशविष्ठोदकग्रहणे वि० । (१३) ॐ शक्करीरित्यस्य वरुण ऋ० । आसुर्युष्णिक्छं० । लिंगोक्ता दे० । शक्कर्युदके चतुर्गृहीताज्यहोमे वि० । (१४) ॐ शक्करीरित्यस्य वरुण ऋ० । आसुर्युष्णिक्छं० । लिंगोक्ता दे० । शक्कर्युदकग्रहणे वि० । (१५) ॐ जनभृत इत्यस्य वरुण ऋषिः । आसुरी गायत्री छं० । लिंगोक्ता दे० । गोदुग्धरूपजनभृदुदके चतुर्गृहीताज्यहोमे वि० । (१६) ॐ जनभृत इत्यस्य वरुण ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । लिंगोक्ता दे० । गोदुग्धरूपजनभृदुदकग्रहणे वि० । (१७) ॐ विश्वभृत इत्यस्य वरुण ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । लिंगोक्ता दे० । घृतरूपे विश्वभृदुदके चतुर्गृहीताज्याहुतिहोमे वि० । (१८) ॐ विश्वभृत इत्यस्य वरुण ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । लिंगोक्ता दे० । घृतरूपविश्वभृदुदकग्रहणे वि० । (१९) ॐ आपः स्वराडित्यस्य वरुण ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । उदुम्बरपात्रे स्वराडुदकग्रहणे वि० । (२०) ॐ मधुमतीरित्यस्य वरुण ऋ० । निचृद्गार्ष्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । उदुम्बरपात्रे सारस्वताद्युदकमिश्रणे वि० । (२१) ॐ अनाधृष्टा इत्यस्य वरुण ऋ० । साम्नी त्रिष्टुप्छं० । लिङ्गोक्ता दे० । मैत्रावरुणधिष्ण्यस्य पुरस्तादेकीकृतसमस्तोदकपात्रस्थापने वि० ॥ ४ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे सूर्यत्वच जलमें चतुर्गृहीत आज्याहुति प्रदान करै [का० १५ । ४ । ३०] नदीआदि जिस स्थानमें स्रोतशून्य होती है तथा जहां सदैव स्थिरजल सूर्यकी धूपमें वर्तमान रहै वे सूर्यत्वच कहलाते हैं। मन्त्रार्थ-(सूर्यत्वचसः) हे जलो ! तुम सूर्यत्वच (स्थ) हो (राष्ट्रदाः) स्वभासे ही राष्ट्र देनेवाले हो (राष्ट्रम्) राष्ट्र (मे) मेरे निमित्त (दत्त) प्रदान करो (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे उदुम्बरपात्रमें सूर्यत्वक् ग्रहण करै (सूर्यत्वचसःस्थ) हे सूर्यत्वक्रूप जलो ! (राष्ट्रदाः) स्वभावसे ही राष्ट्र देनेवाले तुम (अमुष्मै) अमुक यजमानके निमित्त (राष्ट्रम्) राष्ट्र (दत्त) प्रदान करो २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे सूर्यवर्चोदकमें चतुर्गृहीत आज्याहुति प्रदान करै अर्थात् धूप निकलतेमें जो जल वर्षै उसको प्रथम ग्रहणकर ले पश्चात् यूपके उत्तरसे ग्रहण करै [का० १५ । ४ । ३१] मंत्रार्थ-हे जलो

तुम (सूर्यवर्चसः) सूर्यकी कान्तिमें (स्थ) स्थित हो(राष्ट्रदाः) स्वभावसे राष्ट्र देनेवाले हो (मे) मुझे (राष्ट्रम्) राष्ट्र (दत्त) प्रदान करो (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ३ । विधि-(४) चौथे मंत्रसे उदुम्बरपात्रमें सूर्यवर्च ग्रहण करे। मन्त्रार्थ-(सूर्यवर्चसः) हे सूर्यवर्चस जलो ! तुम सूर्यकी वर्चसमें (स्थ) स्थित हो (राष्ट्रदाः) स्वभावसे राष्ट्र देनेवाले हो (अमुष्मै) अमुक यजमानके निमित्त (राष्ट्रम्) राष्ट्र (दत्त) प्रदान करो४।विधि-(५) पंचम मंत्रसे मान्दोदकमें चतुर्गृहीत आज्याहुति प्रदान करै. सरोवरके जलको मान्द कहते हैं [का० १५ । ४ । ३२] मंत्रार्थ-(मान्दाःस्थ) हे मान्दजलो ! तुम (राष्ट्रदाः) स्वभावसेही राष्ट्र देनेवाले हो (राष्ट्रम्) राष्ट्र (मे) मेरे निमित्त (दत्त) प्रदान करो (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ५ । विधि-(६) छठे मंत्रसे उदुम्बर पात्रमें यह मान्द ग्रहण करै। मन्त्रार्थ-(मान्दाःस्थ राष्ट्रदाः) हे मान्द ! तुम स्वभावसेही राज्यप्रद हो (राष्ट्रम्) राष्ट्र (अमुष्मै) अमुक यजमानके निमित्त (दत्त) दो ६ । विधि-(७) सातवें मंत्रसे व्रजक्षित् (कूपजल) में चतुर्गृहीत आज्याहुतिप्रदान करै [का० १५ । ४ । ३२] मन्त्रार्थ-हे जलो ! तुम (व्रजक्षितःस्थ) तुम व्रजक्षितकूपास्थित हो (राष्ट्रदाः) स्वभावसे ही राष्ट्र देनेवाले (मे) हमारे यजमानके निमित्त (राष्ट्रम्) राष्ट्र (दत्त) प्रदान करो (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ७ । विधि-(८) अष्टम मंत्रसे उदुम्बर पात्रमें व्रजक्षित् ग्रहण करै। मंत्रार्थ-हे जलो ! तुम (व्रजक्षितःस्थ) व्रजक्षित् हो (राष्ट्रदाः) स्वभावसे राज्य देनेवाले (अमुष्मै) इस यजमानके निमित्त (राष्ट्रम्) राष्ट्र (दत्त) दो ८ । विधि-(९) नवम मंत्रसे वाशोदक ओसके जलमें चतुर्गृहीत आज्याहुति प्रदान करै इनको वस्त्रद्वारा ग्रहण कर यूपके उत्तरसे लावे[का० १५।४ । ३२] मन्त्रार्थ-हे जलो ! तुम(वाशाःस्थ)तृणाग्रमें स्थित(राष्ट्रदाः)स्वभावसे राज्य देनेवाले हो (मे) मुझे(राष्ट्रम्)राष्ट्र(दत्त) प्रदान करो(स्वाहा)यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ९ । विधि-(१०) दशममंत्रसे उदुम्बरपात्रमें वाशा ग्रहण करै मंत्रार्थ-(वाशाःस्थ)वाशामें स्थित जलो ! तुम (राष्ट्रदाः) स्वभावसे राज्य देनेवाले (अमुष्मै) इस यजमानको (राष्ट्रम्) राष्ट्र (दत्त) दो १० । विधि-(११)एकादश मंत्रसे शविष्ठोदक (मधु) में चतुर्गृहीत आज्याहुतिप्रदान करै [का० १५ । ४ । ३२] मंत्रार्थ-हे जलो ! (शविष्ठाःस्थ) मधुरूप तुम त्रिदोषशमनकारणसे वल देनेवाले हो (राष्ट्रदाः) स्वभावसे राष्ट्रदेनेवाले (मे) मुझे (राष्ट्रम्) राष्ट्र(दत्त) प्रदान करो (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार प्राप्त हो ११ । विधि-(१२) वारहवें मंत्रसे उदुम्बरपात्रमें शविष्ठ ग्रहण करै । मंत्रार्थ-(शविष्ठाःस्थ राष्ट्रदाः)

हे शविष्ठ ! तुम स्वभावसेही राज्य देनेवाले (अमुष्मै) अमुक यजमानको (राष्ट्रम्) राष्ट्र (दत्त) दो १२। विधि-(१३) तेरहवें मंत्रसे शक्करीजल(व्याती गोके गर्भवेष्टनका जल जो प्रथमसे ले रक्खाहै उसे) यूपके उत्तरसे लेकर उसमें चतुर्गृहीत आज्याहुतिप्रदान करै[का० १५।४।३२]मंत्रार्थ-हे जलो ! तुम (शक्करीःस्थ) वाहदोहादिसे जगत्का उद्धारकरनेवाली गोसम्बन्धी हो (राष्ट्रदाः) स्वभावसे राज्यदाता हो(मे) मुझे (राष्ट्रम्) राष्ट्र (दत्त) हो (स्वाहा)यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो१३। विधि-(१४) चौदहवें मंत्रसे उदुम्बरपात्रमें शक्करी ग्रहण करै (शक्करीःस्थ) शक्करी जलो ! तुम (राष्ट्रदाः) राष्ट्र देनेवाले (अमुष्मै) इस यजमानके निमित्त (राष्ट्रम्) राष्ट्र (दत्त) दो १४ । विधि-(१५) पन्द्रहवें मंत्रसे जनभृतोदक (गौके दूध) में चतुर्गृहीत आज्याहुतिप्रदान करै [का० १५।४। ३२] मन्त्रार्थ-हे जलो ! तुम (जनभृतः) वालभावमें मनुष्योंको पुष्ट करनेवाले (स्थ) हो (राष्ट्रदाः) स्वभावसे ही राज्यके देनेवाले हो (राष्ट्रम्) राज्य (मे) मेरे निमित्त (दत्त) दो (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो १५ । विधि-(१६) सोलहवें मंत्रसे उदुम्बरपात्रमें दुग्ध ग्रहण करै । मन्त्रार्थ-(जनभृतःस्थ) हे जनभृत् जल ! तुम(राष्ट्रदाः) स्वभावसे ही राष्ट्र देनेवाले हो (अमुष्मै)इस अमुक यजमानके निमित्त (राष्ट्रम्) राष्ट्र (दत्त) प्रदान करो १६ । विधि-(१७)सत्रहवें मंत्रसे विश्वभृत् (घृत) जलमें चतुर्गृहीत आज्याहुति प्रदान करै[का०१५।४।३२] मन्त्रार्थ-हे जलो ! तुम (विश्वभृतः) मनुष्योंसे देवताओंपर्यन्त घृतद्वारा जगत्को धारण करनेवाले (स्थ) हो (राष्ट्रदाः) स्वभावसे राज्य देनेवाले हो (मे) मेरे निमित्त (राष्ट्र) राष्ट्रको (दत्त) प्रदान करो (स्वाहा)यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो १७ । विधि-(१८) अठारहवें मंत्रसे उदुम्बरपात्रमें विश्वभृत् ग्रहण करै । मंत्रार्थ-हे घृतरूप जलो ! (विश्वभृतःस्थ) तुम विश्वभृत् हो (अमुष्मै) अमुक यजमानके निमित्त (राष्ट्रम्) राष्ट्र (दत्त) प्रदान करो. १८। विधि-(१९) उन्नीसवें मंत्रसे उदुम्बरीपात्रमें स्वराट् (सूर्यकी किरणोंसे तप्त मरीचिजल) ग्रहण करै, वे सत्रह जल, पूर्ण हुए इसमें हवन न करै "नात्र होमः षोडशाहुतीर्जुहोति ता द्वात्रिंᳬशद्व्यीषु न जुहोति सारस्वतीषु च मरीचिषु च" इति श्रुतेः [श० ५ । ३ । ४ । २३] [का० १५ । ४ । ३५] "तैंतीस देवता चौंतीसवाँ प्रजापति सो इन आहुतियोंसे प्रजापतिरूप करतेहैं" मंत्रार्थ-(आपः) हे मरीचिरूप जलो ! तुम (स्वराजःस्थ) अपने प्रकाशमें अनन्याश्रित हो (राष्ट्रदाः) स्वभावसे राज्यके देनेवाले हो (राष्ट्रम्) राज्य(अमुष्मै)अमुक यजमानको (दत्त)दो १९। विधि-(२०)पृथक् पृथक् पोत्रमें स्थित सारस्वतीप्रभृति

सत्रह जलोंको तथा स्वराट् जलको इस वीसवें मंत्रसे एक उदुम्बरपात्रमें मिश्रित करै [का० १९ । ४ । ३६] मन्त्रार्थ–(मधुमतीः) हे मधुररस युक्त सम्पूर्ण जलो ! (मधुमतीभिः) उन सब मधुररसजलोंके सहित (महि) बडे (क्षत्रम्) बलवालेको (क्षत्रियाय) राजा यजमानके निमित्त (वन्धानाः) सम्पादन करते अर्थात् देतेहुए (पृच्यंताम्) अपने रसोंसे सींचो सम्पर्ककरो २० । विधि–(२१) इक्कीसवें मंत्रसे इस एकीकृत पात्रको सदोमण्डपके मध्यमें मैत्रावरुण धिष्ण्यके समक्ष स्थापन करै [का० १९ । ४ । ३९] मन्त्रार्थ–हे जलो ! तुम (अनाधृष्टा) असुरोंसे अनाधृष्ट पराभव न पानेवाले (सहौजसः) बलके सहित (महि) बडे (क्षत्रम्) बलको (क्षत्रियाय) इस क्षत्रिय राजामें (दधतीः) स्थापन करतेहुए इस स्थानमें अवस्थान करो ॥ २१ ॥ ४ ॥

आशय–तेजयुक्त जल लेनेसे क्षत्रियके शरीरमें तेज स्थापन होताहै अन्नसम्बन्धी जलसे अभिषेक करनेसे इसमें अन्न धारण होताहै, आशय यह कि जितने गुण इन जलोंमें हैं उतनेही गुण राजामें आते हैं इन जलोंसे राज्याभिषेक होता है ॥ ४ ॥

काण्डिका ५–मन्त्र १३ ।

सोमस्स्य त्त्विषिरसि तवेव मे त्त्विषिर्भूयात् ॥ अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहा सवित्रे स्वाहा सरस्वत्यै स्वाहा पूष्णे स्वाहा बृहस्पतये स्वाहेन्द्राय स्वाहा घोषाय स्वाहा श्लोकाय स्वाहाऽशाय स्वाहा भगाय स्वाहार्य्यम्णे स्वाहा ॥ ५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ सोमेत्यस्य वरुण ऋषिः । आसुरी गायत्री छन्दः । चर्म देवता । व्याघ्रचर्मास्तरणे वि० । (२-३-४) ॐ अग्नय इत्यादिमन्त्रत्रयस्य वरुण ऋ० । दैवी पंक्तिश्छन्दः । लिङ्गोक्ता देवता । अभिषेकादावाज्यहोमे वि० (५) ॐ सरस्वत्या इत्यस्य वरुण ऋ० । दैवी त्रिष्टुप्छं । लिंगोक्ता देवता । अभिषेकादावाज्यहोमे वि० । (६) ॐ पूष्ण इत्यस्य वरुण ऋ० । दैवी बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । अभिषेकादावाज्यहोमे वि० । (७) ॐ बृहस्पतय इत्यस्य वरुण ऋ० । दैवी जगती छन्दः । लिंगोक्ता दे० । अभिषेकादावाज्यहोमे वि० ।

(८-१३) ॐ इन्द्रायेत्याद्यस्य मन्त्रषट्कस्य वरुण ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । लिंगोक्ता देवताः । अभिषेकान्ते आज्यहोमे वि० ॥ ५ ॥

विधि-(१) मैत्रावरुण धिष्ण्यके आगे स्थापित अभिषेक पात्रके सन्मुख चार पलाश (ढाक) पात्रके आगे व्याघ्रचर्म बिछावे [का० १५ । ५ । १] मन्त्रार्थ- हे चर्म ! तुम (सोमस्य) सोम देवकी (त्विषिः) कान्तिरूप (असि) हो (तव) आपकी (त्विषिः) कान्ति (मे) मुझमें (भूयात्) हो जाय. १। विधि-(२) अभिषेक करनेसे पहले छः पार्थमंत्रसे छः आहुति प्रदान करे [का० १५ । ५ । ३] यह छः आहुति अभिषेकसे पहले दे । मंत्रार्थ-(अग्नये) अग्निदेवताकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति दीजाती है भली प्रकार गृहीत हो १ । (सोमाय) प्रेरक सोम देवताके निमित्त (स्वाहा) आहुति दी० । (सवित्रे) सविता देवताके निमित्त (स्वाहा) श्रेष्ठ आहुति० (सरस्वत्यै) प्रवाहरूप सरस्वतीके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (पूष्णे) पोषक पूषादेवताके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (बृहस्पतये) बृहस्पतिके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति दीजाती है स्वीकार हो २-७ । विधि-(८-१३) अभिषेक होचुकने पर यह छः आहुति पार्थ मंत्रोंसे दे। मंत्रार्थ-(इन्द्राय) इन्द्रदेवताकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (घोषाय) शब्दकरनेवाले देवताके वा वीर्यके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (श्लोकाय) जनोंसे कीर्तित परस्पर आन्दोलनरूपके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० । (अंशाय) पुण्यपापके विभाग करनेवालेके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० । (भगाय) ऐश्वर्यके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (अर्यम्णे) विश्वको व्याप्तकरनेवाले अर्यमादेवताके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति दीजाती है ८-१३ ॥ ५ ॥

विशेष-१. एक समय सोमने इन्द्रकी प्रीतिके निमित्त शार्दूलरूप धारण किया इस कारण व्याघ्रचर्म सोमकी कान्ति कही जातीहै. "यत्र वै सोम इन्द्रमत्यपवत स यत्ततः शार्दूलः समभवत्तेन सोमस्य त्विषिः" इति श्रुतेः [श० ५। ३ । ५ । ३] २. यह बारहौं मंत्र पार्थ कहातेहैं । इन मंत्रोंसे आहुति देनेसे यजमानमें बल बुद्धि तेज आदिका अभिषेक होताहै । "क्षत्रं वै सोमः क्षत्रेणैवैनमेतदभिषिञ्चति" इत्यादिश्रुतेः [श० ५ । ३ । ५ । ८ ।] ॥ ५ ॥

कण्डिका ६-मन्त्र ३ ।

पवित्रेस्त्थोवैष्णव्व्यौसवितुर्वं÷प्प्रसवऽउत्त्पुंनाम्म्यच्छिद्द्रेणपवित्त्रेणसूर्य्यस्यरश्मिभिं÷ ॥ अनि

भृष्टमसिव्वाचोबन्धुँस्तपोजाऽसोमँस्यदात्रमसि स्वाहाराजस्स्वः॥ ६॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पवित्रेस्थ इत्यस्य वरुण ऋषिः। दैवी जगती छन्दः। पवित्रे देवते। पवित्रयोः सुवर्णबन्धने वि०। (२) ॐ सवितु-रित्यस्य वरुण ऋ०। प्राजापत्या पंक्तिश्छं०। आपो देवता। सहिर-ण्यदर्भपवित्राभ्यामौदुम्बरपात्रस्थाभिषेकोत्पवने वि०। (३) ॐ अनि-भृष्टमित्यस्य वरुण ऋ० । भुरिक्प्राजापत्या पंक्तिश्छं०। आपो देवता। अभिषेकोदकोत्पवने वि०॥ ६॥

विधि-(१) दो पवित्र प्रस्तुत करके उससे इस प्रथम मंत्रसे एक खण्ड सुवर्णबंधन करै [का० १९।५।४] मन्त्रार्थ-(पवित्रे) हे पवित्र कुशद्वय! तुम (वैष्णव्यौ) यज्ञकार्यमें नियुक्त (स्थ) हो १। विधि-(२-३) दूसरे और तीसरे इन दो मंत्रोंसे इन दो पवित्रोंद्वारा मैत्रावरुणाधिष्ण्यके अग्रे रक्षित इस जलसे यजमानके मस्तकादि सिंचन करै [का० १९।५।५] मंत्रार्थ-(सवितुः) जगत्के एक मात्र नियन्ता इस परम देवताके (प्रसवे) नियोगसे नियु-क्त होकर (अच्छिद्रेण) छिद्रशून्य (पवित्रेण) पवित्रद्वारा (सूर्यस्य) सूर्यकी (रश्मिभिः) किरणोंसे (वः) तुमको (उत्पुनामि) उत्पवन सिंचन करता हूं २ हे जलो! तुम (अनिभृष्टम्) राक्षसोंसे अपराभूत (वाचः) वाक्यके (बन्धुः) प्रकृत बन्धु हो "यावद्वै प्राणेष्वापो भवन्ति तावद्वाचा वदति" इति श्रुतेः [५। ३।५ १६] जबतक प्राणोंमें जल रहता है तभीतक वाणीसे बोलता है. "तपोमयी वागिति सामश्रुतिः" तथा (तपोजाः) तेजसे समुत्पन्न (सोमस्य) सोमके (दात्रम्) उत्पादक (असि) हो तथा (स्वाहा) स्वाहाकारसे पवित्र हुए (राजस्वः) इस यजमानको राजश्री सम्पादन करो ३॥ ६॥

प्रमाण-"अग्निर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद्वृष्टिरग्नेर्वा एता जायन्ते तस्मादाह तपोजाः" इति श्रुतेः [श० ५।३।५।१७] "वायोरग्निरग्नेरापः" इति श्रुत्यन्तरात् [तैत्तिरीयारण्यक ८।१] "यदा वा एनमेताभिरभिषुण्वन्त्य-थाहुतिर्भवति" इति [श० ५।३।५।१८]॥ ६॥

इनका आशय-कण्ठ और हृदय शुष्क होनेसे वाक्यस्फूर्ति नहीं होती यह प्रत्यक्ष है अग्निसे जल कैसे होता ह यह रासायनिक विद्यासे स्पष्ट है. राज्य-के अभिषेकसमयमें यह सब गुण आते हैं राजाको सम्पूर्णगुणयुक्त किया जाता है॥ ६॥

कण्डिका ७-मंत्र १ ।

सुधमादौद्युम्न्निनीरापऽएताऽअनाधृष्टाऽअपुस्यो वसानाःपुस्त्यासु चक्क्रे वरुणःसुधस्त्थमपाᳬशिशुर्म्मातृतमास्स्वुन्तः ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सधमाद इत्यस्य वरुण ऋषिः । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । वरुणो देवता । चतुर्धा विभज्योदकव्यानने वि० ॥ ७ ॥

विधि-(१) प्रथम सप्तदश पात्रमें संगृहीत और फिर एक पात्रमें एकत्र किये अभिषेकके निमित्त राक्षित इस जलको इस मंत्रसे पलाश उदुम्बर वट अश्वत्थके चार पात्रोंमें विभाग करै [का० १९ । ५ । ६ [मंत्रार्थ-(एताः) जो यह (सधमादः) एकत्र चार पात्रमें स्थित प्रसन्न होने वा करनेवाले (द्युम्निनीः) वीर्यवान् [कान्तिमान्] "द्युम्नं द्योततेर्यशो वान्नं वा" इति यास्कः [निरु० ५ । ५] (अनाधृष्टाः) अपराभूत (अपस्यः) श्रेष्ठकर्मा "अप इति कर्मनाम" [निघं० २ । १ । १] (वसानाः) पात्रोंका आच्छादन करनेवाले (आपः) यह जल इस समय अभिषेककार्यमें नियुक्त हुए हैं (पस्त्यासु) इस प्रकार सबके धारण करनेमें गृहरूप "पस्त्यमिति गृहनाम" [निघं०] (मातृतमासु) जगन्निर्माता मातृरूप इन जलदेवियोंके (अन्तः) भीतर वा गोदीमें (अपांशिशुः) जलोंके शिशु (वरुणः) वरुण यजमानने (सधस्थम्) सादर स्थिति (चक्रे) की है ॥ ७ ॥

प्रमाण-"अपां वा एष शिशुर्भवति यो राजसूयेति यजते" इति श्रुतेः [का० ५ । ३ । ५ । १९] जो राजसूय यज्ञ करता है वह जलोंका शिशु होता है । पलाशसे ब्रह्म, औदुम्बरसे अन्न धन, न्यग्रोधसे क्षत्र, अश्वत्थसे वैश्यता मानो अभिषेक होती है. [श० ।] ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मंत्र १३ ।

राजवेश.

क्षुत्रस्योल्बमसिक्षुत्रस्यंजुराय्वंसिक्षुत्रस्युयोनिरसिक्षुत्रस्युनाभिरसीन्द्रस्युवार्त्रघ्नमसिमित्रस्यासिवरुणस्यासित्त्वयायंवृत्रंवंधेत् ॥ दृवासिरुजासि

क्षुमासि ॥ पातैनम्प्राञ्चम्पातैनम्प्रत्यञ्चम्पातैनन्तिर्य्यञ्चन्दिग्भ्यऽपात ॥ ८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ क्षत्रस्येत्यस्य वरुण ऋषिः । याजुषी गायत्री छं० । ताप्यं दैवतम् । क्षौमवल्कलधारणे वि० । (२) ॐ क्षत्रस्येत्यस्य मन्त्रस्य वरुण ऋ० । याजुष्युष्णिक्छं० । पाण्ड्वादयो देवताः । रक्तवस्त्रधारणे वि० (३) ॐ क्षत्रस्येत्यस्य वरुण ऋ०। याजुष्युष्णिक्छं०।अधिवासो देवता । कण्ठे अधिवासोधारणे वि० । (४) ॐ क्षत्रस्येत्यस्य वरुण ऋ० । याजुष्युष्णिक्छं० । उष्णीषं दै० । उष्णीषधारणे वि० । (५) ॐ इन्द्रस्येत्यस्य वरुण ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छं० । धनुर्देवता । धनुर्ग्रहणे वि० । (६) ॐ मित्रस्येत्यस्य वरुण ऋ० । दैवी बृहती छं० । धनुष्कोटिर्देवता । दक्षिणधनुष्कोटिविभाजने वि० । (७) ॐ वरुणस्येत्यस्य वरु० ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । वामकोटिर्दै० । वामधनुष्कोटिमार्जने वि० । (८ ।९।१०) ॐ इवासीत्यस्य मंत्रत्रयस्य वरु० ऋ० । दैव्यनुष्टुप्छं० । इषुर्देवता । बाणग्रहणे वि० । (११ । १२ । १३) ॐ पातेत्यस्य मंत्रत्रयस्य वरुण ऋ० । आर्च्युष्णिक्छं० । इषवो देवताः यजमानहस्ते बाणप्रदाने वि० ॥ ८ ॥

विधि–(१) अध्वर्यु प्रथम मंत्रसे यजमानको क्षौम वल्कल वा घृताक्तवस्त्रकी कौपीन धारण करावै [का० १५ । ५ । १५ । तथा १५ । ५ । ७] मंत्रार्थ–हे ताप्यं वस्त्र ! तुम (क्षत्रस्य) क्षत्रधर्मावलम्बी इस यजमानकी (उल्बम्) गर्भाधारभूत जलरूप (असि) हो १ उल्व जरायुके मध्यगत जल [इस स्थलमें यजमानको रक्षणीय गर्भरूप वर्णन किया है] १ । विधि–(२) दूसरे मंत्रसे रक्त कम्बल धारण करावै [का० १५ । ५ । १२] मन्त्रार्थ–हे पाण्डुरक्तकम्बल ! तुम (क्षत्रस्य) क्षत्रिय यजमानकी (जरायु) गर्भवेष्टन चर्मरूप हो २ । विधि–(३) तीसरे मंत्रसे अधिवास कंचुक धारण करावै [का० १५ । ५ । १३] मन्त्रार्थ–हे अधिवास ! तुम (क्षत्रस्य) क्षत्रधर्मावलम्बी यजमानकी (योनिः) योनिरूप (असि) हो ३ । विधि–(४) चौथे मंत्रसे उष्णीषधारण करावे [का० १५ । ५ । १३–१४] इसको मस्तकमें बांधकर इसके उभयप्रान्त नाभिदेशमें अवगूहन[स्पर्श] करे । मंत्रार्थ–हे उष्णीष ! तुम (क्षत्रस्य) क्षत्रधर्मावलम्बी यजमानकी (नाभिः) गर्भबन्धनस्थान (असि) हो "नाभ्यासन्नद्धा गर्भा जायन्ते" [निरु० ४ । २१] विधि–(५) अध्वर्यु पांचवें मंत्रसे धनु ग्रहण करावे [का०

१९ । ९ । १७] मन्त्रार्थ-हे धनुष् ! तुम (इन्द्रस्य) इस इन्द्ररूप यजमानके (वार्त्रघ्नम्) वृत्रनाशक धनुसम्बन्धी (असि) हो. यजमानपक्षमें शत्रुनाशक जानना ५ । विधि-(६) छठे मंत्रसे अध्वर्यु धनुष्की कोटिमें गुण (रोदा) आरोपण करै [का० १९ । ९ । १८] मन्त्रार्थ-हे दक्षिणकोटि ! तू (मित्रस्य) मित्रसम्बन्धिनी (असि) है हे वामकोटी ! तू (वरुणस्य) वरुणसम्बन्धिनी (असि) है ६ । विधि-(७) अगले मंत्रसे यजमानके हाथमें धनुष्प्रदान करै [का० १९ । ९ । १९] मन्त्रार्थ-हे धनुष् ! (अयम्) यह यजमान (त्वया) तुम्हारे द्वारा (वृत्रम्) सम्पूर्ण शत्रुओंको (वधेत्) नाशकरै ७। विधि-(८) अष्टम मंत्रसे कुछ वाण ग्रहण करै [का० १९ । ९ । २०]. मंत्रार्थ-हे इषवाणो ! तुम (दृवा) शत्रुओंके विदीर्ण करनेवाले (असि) हो ८ । विधि-(९) अगले मंत्रसे कुछ और प्रकारके वाण ग्रहण करै । मन्त्रार्थ-हे वाणो ! तुम (रुजा) शत्रुओंके भंग करनेवाले (असि) हो ९। विधि-(१०)दशम मंत्रसे तीसरी प्रकारके कुछ वाण ग्रहण करै । मन्त्रार्थ-हे वाणो ! तुम (क्षुमा) शत्रुओंके कम्पित करनेवाले (असि) हो । १० विधि-(११) एकादश मंत्रसे प्रथमप्रकारके वाण यजमानके हाथमें दे । मन्त्रार्थ-हे वाणो ! (एनम्) तुम इस यजमानको (प्राञ्चम्) पूर्व दिशाकी ओरसे (पात) रक्षा करो वा सन्मुखसे रक्षा करो ११ । विधि-(१२) बारहवें मंत्रसे दूसरे प्रकारके वाणोंको समर्पण करै । मन्त्रार्थ-हे वाणो ! तुम (एनम्) इस यजमानको (प्रत्यञ्चम्) पृष्ठ अथवा पश्चिमओरसे (पात)रक्षा करो १२।विधि(१३) तेरहवें मंत्रसे तीसरी प्रकारके वाण समर्पण करै । मन्त्रार्थ-हे वाणो ! तुम (एनम्) इस यजमानको (तिर्यञ्चम्)उत्तर दक्षिणकी ओरसे (पात) रक्षा करो (दिग्भ्यः) वहुत क्या सम्पूर्ण दिशाओंसे (पात) रक्षा करो ॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मंत्र ७ ।

आविर्मर्य्याऽआवित्तोऽअग्निर्गृहपतिरावित्तऽइन्द्रो वृद्धश्श्रवाऽआवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रतावावित्तं पूषा विश्ववेदाऽआवित्ते द्यावापृथिवी विश्वशम्भुवावावित्तादितिरुरुशर्म्मा ॥ ९ ॥ [५]

ऋष्यादि-(१) ॐ आविरित्यस्य वरुण ऋ० । दैवी बृहती छं० । प्रजापतिर्देवता । मन्त्रपठने वि० । (२-३) ॐ आवित्त इति मन्त्र-

द्वयस्य वरुण ऋ० । याजुषी बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । मंत्रपठने वि० । (४) ॐ आवित्त इत्यस्य वरुण ऋ० । आसुरी बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । मंत्रपठने वि० । (५) ॐ आवित्त इत्यस्य वरुण ऋ० । याजुषी बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । मंत्रपठने वि० । (६) ॐ आवित्त इत्यस्य वरुण ऋ० । आसुर्य्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । मंत्रपठने वि० । (७) ॐ आवित्त इत्यस्य वरुण ऋ० । याजुषी बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । मन्त्रपठने वि०॥ ९ ॥

विधि-(१-७) अध्वर्यु यजमानको यह मंत्र पाठ करावे [का० १५ । ५ । २१] मंत्रार्थ-(मर्त्याः) भूमण्डलवासी मनुष्यमण्डली वा ऋत्विगादि इस यजमानको (आविः) जाने अथवा ऋत्विगादि सम्यक् कर्मानुष्ठानको प्रगट हों (गृहपतिः) गृहपालक (अग्निः) अग्नि (आवित्तः) इस यजमानको जाने (वृद्धश्रवाः) विख्यातकीर्ति (इन्द्रः) इन्द्र (आवित्तः) इस यजमानको जाने (धृतव्रतौ) नियममें तत्पर (मित्रावरुणौ) मित्रावरुण सूर्यचन्द्र (आवित्तौ) इसको जाने (विश्ववेदाः) सवकुछ जान्नेवाले (पूषा) पूषा देवता (आवित्तः) इसको जाने वा विश्वेदेवा और पूषा इसको जाने (विश्वशम्भुवौ) संसारके कल्याणविधात्री (द्यावापृथिवी) पृथ्वी और द्युलोकके अभिमानी देवता (आवित्ते) जाने (उरुशर्मा) वडे सुविस्तीर्ण सुखके आश्रयरूप (अदितिः) देवमाता काल वा दिशा (आवित्ता) इसको जानै अथवा [श० ५ । ३ । ५ ।३१-३७] श्रुतिके अनुसार विभक्तिव्यत्ययसे इसकी व्याख्या जाननी. देवताओंमें चतुर्थी करनी जैसें गृहपालक अग्निके निमित्त यह यजमान आवेदित किया इत्यादि ॥ ९ ॥

प्रमाण-"मर्या इतिं मनुष्यनामसु पठितम्" [निघं० २ । ३ । ११] "व्रतमिति कर्मनाम" [निघं० २ । १ । ७] ॥९॥

कण्डिका १०-मन्त्र २ ।

अवेष्टादन्दशूकाः प्राचीमारोहगायत्रीत्त्वावतुरथन्तरᳬसामत्रिवृत्स्तोमोवसन्तऽऋतुर्ब्रह्मद्द्रविणन्दक्षिणामारोह ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अवेष्टा इत्यस्य वरुण ऋषिः । दैवी जगती छं० । मृत्युनाशकं दैवतम् । दीर्घकेशमुखे ताम्रनिक्षेपणे वि० । (२) ॐ प्राचीमित्यस्य वरुण ऋ० । निच्यृदार्षी पंक्तिः । यजमानो देवता । पूर्वदिशि पादनिक्षेपणे वि० ॥ १० ॥

विधि-(१) सभामण्डपमें वैठेहुए दीर्घकेशमनुष्यके मुखमें अध्वर्यु ताम्र-निक्षेप करै [का० १९ । ९ । २३] मंत्रार्थ-(दन्दशूकाः) काटनेके स्वभाववाले मृत्युके कारण सर्पादि वा सर्पसदृश यज्ञविघ्नकारी राक्षस (अवेष्टाः) विनष्टहुए १ । विधि-(२) अध्वर्यु दूसरा मंत्र पाठपूर्वक यजमानको पूर्वदिक् पादक्षेप करावै [का० १९ । ९ । २३]मन्त्रार्थ-हे यजमान! तुम (प्राचीम्) पूर्वदिशाको (आरोह) आरोहण वा आक्रमण करो छन्दोंके मध्यमें (गायत्री)गायत्री छन्द (त्वा) तुमको (अवतु) रक्षा करै सोमोंके मध्यमें (रथंतरङ्साम)"अभित्त्वा शूर नोनुमः" [छं० सं० १।३ । १ । ९ । १-२, १, १, ११, १,] रथंतर साम स्तोमके मध्यमें (त्रिवृत्स्तोमः) त्रिवृत्स्तोम [२५विं० ब्रा०२।१] ऋतुओंमें (वसन्तऋतुः) वसन्तऋतु (ब्रह्म)परमात्मा वा ब्राह्मणजातिरूप (द्रविणम्) ऐश्वर्य तुम्हारी रक्षा करै ॥१०॥

विशेष-त्रिवृत् स्तोमका स्वरूप साम ब्रा० पंचविंशब्राह्मणमें कहा है. "तिसृभ्यो हिङ्करोति स प्रथमया तिसृभ्यो हिङ्करोति स मध्यमया तिसृभ्यो हिङ्करोति स उत्तम-योद्यती त्रिवृतो विष्टुतिः" उपास्मै गायते इति तीन सूक्त [ऋ० सं० अष्ट०६।७ । ३६ मं० ९ । १ । ९ ।] इनमें तीन ऋचाओंसे गान करै इनमें पहलीको उद्गाता गावै तो यह तीनवार हिंकारशब्दसे गाया जाता है दूसरे पर्यायमें सूक्तत्रयमें प्राप्त उत्तमासे गावै इस प्रकार त्रिवृत्स्तोमसम्बन्धिनी स्तुति होगी इसका नाम उद्यती है ॥ १० ॥ प्रमाण-"तद्यो मृत्युर्यो वधस्तमेवैतदतिनयाति" इति श्रुतेः [९ । ४ । १ । १] ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मन्त्र १ ।

दक्षिणामारोह त्रिष्टुप्प्त्वावतुबृहत्सामपञ्चदश स्तोमोग्ग्रीष्मऽऋतुःक्षत्रन्द्रविणम्प्रतीचीमा रोह ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दक्षिणामित्यस्य वरुण ऋषिः । आर्ची पंक्ति-श्छन्दः । यजमानो देवता । दक्षिणे पादनिक्षेपणे वि० ॥ ११ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे यजमानको दक्षिण ओर पादनिक्षेप करावै । मंत्रार्थ-हे यजमान ! तुम (दक्षिणाम्) दक्षिण दिशाको (आरोह) आक्रमण करो (त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप्छन्द (बृहत्साम) 'त्वामिद्धि हवामहे' [छन्द सं० १ । ३ । १ । १ । ९ । २-२ । २ । १ । १२ । १] बृहत्साम, (पञ्चदशस्तोम) पंचदश स्तोम (ग्रीष्म ऋतुः) ग्रीष्मऋतु (क्षत्रम्) क्षत्रियजातिसम्बन्धी (द्रविणम्) ऐश्वर्य (त्वा) तुझको (अवतु) रक्षा करै ॥ ११ ॥

विवरण–पञ्चविंश ब्राह्मणमें [२ । ४ ।] "पञ्चभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स एकया स एकया पञ्चभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः पञ्चपञ्चिनी पञ्चदशस्य विष्टुतिः" इति ॥ अर्थ–त्रिवृत्स्तोम एक सूत्रसे निष्पादन होता है, और स्तोम एक ऋचाके सूक्तसे निष्पादन होते हैं, पहले पर्यायमें आवृत्ति पांच आदिमें तीन ऋचासे गान करै और दो एक २ वार गान करै दूसरे पर्यायमें पहली एकवार मध्यमा तीनवार तीसरी एकवार । तीसरे पर्यायमें पहली दो एकवार तीसरे तीनवार यह पंचदश स्तोम सम्बन्धिनी विष्टुति पंचपंचिनी कहाती है ॥११॥

कण्डिका १२–मन्त्र १।

प्रतीचीमारोह जगती त्वावतु वैरूपꣳ साम सप्तदश स्तोमो वर्षा ऋतुर्विड् द्रविणमुदीचीमारोह॥ १२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ प्रतीचीमित्यस्य वरुण ऋषिः । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । यजमानो देवता । प्रतीच्यां पादप्रक्षेपणे वि० ॥ १२ ॥

विधि–(१) इस मंत्रसे यजमानको पश्चिमादिशामें पादप्रक्षेप करावै।

मंत्रार्थ–हे यजमान!तुम(प्रतीचीम्) पश्चिम दिशाको (आरोह) आक्रमण करो (जगती) जगतीछन्द (वैरूपꣳसाम) "यद्द्यावइन्द्र ते शतम्"इत्यादि[छं०सं० १ ३ । २ । ४ । ६–२ । २ । ११ । १] वैरूपसाम (सप्तदशस्तोम) सप्तदशस्तोम (वर्षाऋतुः) वर्षाऋतु (विट्) वैश्यसम्बन्धी (द्रविणम्) ऐश्वर्य (त्वा) तुम्हारी (अवतु) रक्षा करै. इस मंत्रमें कही दिशा छन्द सम्पात्ति आदि वैश्यजातीय ऐश्वर्य है. ॥ १२ ॥

विवरण–पञ्चविं० ब्राह्मण २।७ में सप्तदशस्तोमवर्णन "पञ्चभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स एकया स एकया पञ्चभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स एकया सप्तभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स तिसृभिर्दशसप्ता सप्तदशस्य विष्टुतिः "इति पहले पर्यायमें पहली तीन गावै मध्यमोत्तम एकवार दूसरें पर्यायमें प्रथमोत्तम एकवार मध्यमा तीनवार गावे । तीसरे पर्यायमें पहली एकवार मध्यम उत्तम तीनवार, यह सप्तदशस्तोमकी विविधा स्तुति दशसप्त कहलाती हैं ॥ १२ ॥

कण्डिका १३–मन्त्र १।

उदीचीमारोहानुष्टुप्त्वावतु वैराजꣳ सामैकविꣳश स्तोमः शरदृतुः फलं द्रविणम् ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) उदीचीमित्यस्य वरुण ऋ० । निचृद्ब्राह्म्युष्णिक्छं० । यजमानो देवता । उदीच्यां दिशि पादप्रक्षेपणे वि० ॥ १३ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे यजमानको उत्तरकी ओर पादक्षेप करावै । मन्त्रार्थ-हे यजमान ! तुम (उदीचीम्) उत्तर दिशाको (आरोह) आक्रमणकरो (अनुष्टुप्) अनुष्टुप्छन्द (वैराजꣳसाम) "पिबासोममिन्द्रः मन्दतु त्वा" [छं० सं० १ । ९ । १ । १ । ८] इस ऋचासे उत्पन्न वैराज साम (एकविꣳशस्तोमः) एकविंशस्तोम (शरदृतुः) शरद् ऋतु (फलम्) यज्ञफल रूप (द्रविणम्) ऐश्वर्य (त्वा) तुमको (अवतु) रक्षा करै ॥ १३ ॥

विवरण-एकविंशस्तोम पञ्चविंश ब्राह्मण [२।१४ ।] में इस प्रकार है "सप्तभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स तिसृभिः स एकया सप्तभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स तिसृभिः सप्तभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स एकया स तिसृभिः सप्त सप्तिन्येकविंशस्य विष्टुतिः" इति । अर्थ-पहले पर्यायमें प्रथमा और मध्यमा तीनवार गावै उत्तमा एकवार दूसरे पर्य्यायमें प्रथमा एकवार मध्यमोत्तमा तीनवार तीसरे पर्यायमें (मध्यमा एकवार) प्रथम उत्तम तीनवार यह एकविंशस्तोमकी स्तुति सप्तसप्तिनी कहलाती है ॥ १३ ॥

कण्डिका १४-मन्त्र १ ।

ऊर्द्ध्वामारोह पङ्क्तिस्त्वावतु शाक्वररैवते सामनी त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ स्तोमौ हेमन्तशिशिरावृतू वर्च्चो द्रविणम्प्रत्यस्तन्नमुचेः शिरः ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ऊर्द्ध्वामित्यस्य वरुण ऋषिः । भुरिग्जगती छन्दः । यजमानो देवता । ऊर्ध्वनिरीक्षणे वि० । (२) ॐ प्रत्यस्तमित्यस्य प्राजापत्या गायत्री छन्दः । असुरो देवता । सीसकप्रक्षेपणे वि० ॥१४॥

विधि-(१) इस कण्डिकाके प्रथम मंत्रसे यजमानको ऊर्ध्व अवलोकन करावै। मन्त्रार्थ-हे यजमान ! तुम (ऊर्द्ध्वाम्) ऊपर भागको (आरोह) आक्रमण करो

पङ्क्तिच्छन्द (शाक्वररैवते) 'प्रोष्वस्मै पुरोरथम' [छं० सं० २, ९, १,
हे यजमान ! तुम (दक्षि- "रेवतीर्नः सधमाद" इस ऋचासे उत्पन्न [छं० सं० १,
(त्रिष्टुप) त्रिष्टुप्छन्द (बृहत् १] रैवत (सामनी) साम (त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ)
१ । ५ । २-२ । २ । १ । १२ -म(हेमन्तशिशिरौ)हेमन्त और शिशिर(ऋतू) दोनों
स्तोम (ग्रीष्म ऋतुः) ग्रीष्मऋतु द्रविणम्) ऐश्वर्य (त्वा) तुम्हारी (अवतु)रक्षा करै
ऐश्वर्य (त्वा) तुझको (अवतु) रक्षा -गमें सीसा स्थापन करै इसको दक्षिण

चरणसे आक्रमणपूर्वक इस दूसरे मंत्रको पाठ कराके दूर निक्षेप करै [का० १९। २। २४] मन्त्रार्थ-(नमुचेः) नमुचि असुरका (शिरः) शिर (प्रत्यस्तम्) शीशे रूपसे दूर फेंका गया ॥ २ ॥ १४ ॥

विवरण-त्रिणवस्तोम पंचविंशब्राह्मण ३ । १ में "नवभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स पञ्चभिः स एकया नवभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स पञ्चभिर्नवभ्यो हिङ्करोति स पञ्चभिः स एकया स तिसृभिर्वज्रो वै त्रिणव" इति । अर्थ-पहले पर्यायमें पहली तीन गावै मध्यमाको पांचवार करके उत्तमाको एकवार गावै दूसरे पर्यायमें प्रथमाको एकवार गावै मध्यमाको तीनवार उत्तमाको पांचवार गावै. तीसरे पर्यायमें पहलीको पांचवारकरके मध्यमाको एकवार उत्तमाको तीनवार गावै. यह तीन आवृत नवसंख्यायुक्त त्रिणवक नाम वज्रसमान स्तोम है ।

त्रयस्त्रिंशस्तोम पं० ब्रा० ३ । ३ । में इसप्रकार है "एकादशभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स सप्तभिः स एकयैकादशभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स सप्तभिरेकादशभ्यो हिङ्करोति स सप्तभिः स एकया स तिसृभिरन्तो वै त्रयस्त्रिंशः" इति । पहले पर्यायमें पहली तीन वार गावै मध्यमा सात बार उत्तमा एकवार दूसरे पर्य्यायमें प्रथमा एकवार मध्यमा तीनवार उत्तमा सातवार तीसरे पर्यायमें पहली-सातवार मध्यमा एकवार उत्तमा तीनवार गावे यह त्रयस्त्रिंशस्तोम सब स्तोमोंका अन्त है ॥ १४ ॥

कण्डिका १५-मंत्र ३।

सोमस्य त्विषिरसि तवेव मे त्विषिर्भूयात् ॥ मृत्योः पाह्योजोऽसि सहोऽस्यमृतमसि ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सोमस्येत्यस्य वरुण ऋषिः । आसुरी गायत्री छन्दः । चर्म दैवतम् । व्याघ्रचर्मोपर्यारोहणे वि० । (२) ॐ मृत्योरित्यस्य वरुण ऋ० । दैवी बृहती छं० । रुक्मं दैवतम् । पादतले हिरण्यशकल धारणे वि० ।(३) ॐ ओजोसीत्यस्य वरुण ऋ० । याजुषी पंक्तिश्छन्दः। रुक्मं दैवतम् । मुकुट धारणे वि० ॥ १५ ॥

विधि-(१) यजमान प्रथम मंत्रसे व्याघ्रचर्मपर आरोहण करै [का० १९। ५। २५] मन्त्रार्थ-हे व्याघ्रचर्म ! तुम (सोमस्य) सोमकी (त्विषिः) त्वक् वा कान्ति हो (तव) तुम्हारी (त्विषिः) कान्ति (मे) मुझमें (एव) भी (भूयात्) हो १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे पादतलमें हिरण्यखण्ड धारण करै [का ० । १९। ५ २६] हे सुवर्ण !(मृत्योः) मृत्युसे (पाहि) मेरी रक्षा कर अर्थात् धन बलकी वृद्धि हो २ । विधि-(३)तीसरे मंत्रसे नवच्छिद्र वा सौ छिद्रका सुवर्ण मण्डलका

मुकुट यजमानके शिरपर धारण करै [का० १९ । ५ । २७] मंत्रार्थ–हे सुवर्ण मण्डल ! तुम (ओजः) इसको जय करूंगा इस प्रकारके साहसरूप (असि) हो धनका साहस प्रत्यक्ष है मनकी वृत्तिरूप हो (सह) शारीरिक बलरूप (असि) हो (अमृतम्) विनाशरहित चिरस्थायि (असि) हो ॥ १५ ॥

कण्डिका १६–मंत्र १ ।

हिर॑ण्यरूपाऽउ॒षसो॑ विरो॒कऽउ॒भावि॑न्द्राऽउदि॑थः॒ सूर्य॑श्च ॥ आरो॑हतं वरुण मित्र॒ गर्त्तं॒ तत॑श्चक्षाथा॒मदि॑तिं॒ दिति॑ञ्च मि॒त्रो॑सि॒ वरु॑णोसि ॥ १६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ हिरण्यरूपावित्यस्य वरुण ऋषिः । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । मित्रावरुणौ देवते । यजमानबाहूर्द्ध्वकरणे वि० । (२) ॐ मित्र इत्यस्य वरुण ऋषिः । दैवी जगती छन्दः । बाहू देवते । यजामानबाह्वोरुद्ग्रहणे वि० ॥ १६ ॥

विधि–(१) यजमान ऊर्ध्ववाहु होकर प्रथम मंत्र पाठकरै [का० १९ । ५ । २८] मंत्रार्थ–(वरुण) हे शत्रुनिवारक ! दक्षिणवाहु ! तुम (मित्र) हे सखावत् पालक वाम बाहु ! तुम दोनो (गर्तम्) पुरुषमें (आरोहत) आरोहण करो "बाहू वै मित्रावरुणौ पुरुषो गर्तः" इति श्रुतेः [श०५ । ४ । १ । १५ ।] पौरुषदाता पुरुष शरीरमें व्याप्त आत्माके आश्रित हो इस प्रकार श्रुति अध्यात्म व्याख्या करती है (हिरण्यरूपौ) सुवर्णके अलंकारादिसे युक्त सुवर्णवद्भासमान (इन्द्रा) सामर्थ्यसे युक्त (उभा) दोनो तुम (उषसः) रात्रिके (विरोके) समाप्तिकालमें (उदिथ) जागृतहो अर्थात् तुम दोनोही प्रतिदिन उषाकालके परे ही जागृत होतेहो (सूर्यः) सूर्य (च) भी उससमय तुम्हारा कार्य सम्पादन करनेको उदय होता है (ततः) तदनन्तर (अदितिम्) अखण्डित अपनी सेना अथवा अदीन पुण्यात्मा (दितिम्) खण्डित्त परसेना अथवा दीन पापीको (चक्षाथाम्) क्रमपूर्वक अनुग्रहदृष्टिसे देखो अर्थात् ईश्वरके पथमें वा रथमें वा सिंहासनमें आरूढ होकर अपनी सेना वा पुण्यात्माका पुरस्कार करो एवं परसेना वा पापीका तिरस्कार करो।[आधिदैवत अर्थ] हे मित्रवरुण देवताओ ! तुम (उभौ) दोनों (हिरण्यरूपौ) अतितेजस्वी (इन्द्रौ) परम ऐश्वर्यवान् हो तुम (गर्तम्) रथके ऊपर भागमें जो शत्रुओंके बाणोंसे रक्षाकरनेको चर्मकीलादिसे आच्छादित गर्तरूप रथ है "रथोपि गर्त उच्यते गृणातेः स्तुतिकर्मणः" इति [निरु० ३ । ५ ।] (आरोहत) आरोहण करो जो कि तुम (उषसः) उषा–

काल रात्रिकी (विरोके) समाप्तिमें (उदिथः) प्राप्त होतेहो (सूर्यः च) सूर्य भी उसीसमय उदय होता है. (ततः) रथारोहणके अनन्तर (अदितिम्) अदीन विहित अनुष्ठानकरनेवाले (दितिम्) दीन नास्तिक वृत्तिवालेको (चक्षाथाम्) देखो अर्थात् यह पुण्यवान् वा यह पापी है ऐसा देखकर फल दो इसी अर्थको "ततः पश्यतꣳस्वं चारणं चेत्यैवैतदाह" इति. [श० ५ । ४ । १ । १५] इस श्रुतिने कहाहै १ । विधि-(२) दूसरा मंत्र पाठकरकै जो भुजा ऊपर कीहै उसे नीचे करले [का० १५ । ५ । २९]मंत्रार्थ-हे वामबाहो ! तुम(मित्रः) मित्र(असि)हो हे दक्षिणभुजा ! तुम (वरुणः) वरुण(असि) हो[दोनों भुजाओंको देखै] ॥१६॥

विशेष-श्रुतिके अनुसार गर्तशब्दसे ईश्वरका लक्ष्य है यहां प्रातःकालमें प्रथमही ईश्वरका स्मरण करे और सूर्योदयसे प्रथमही उठै यह सर्वसाधरणको कर्तव्य है उठकर परमात्माका स्मरण कर अपने कर्मोपर दृष्टिपात करे बुरे कर्म त्यागे अच्छे स्वीकारकरै, अथवा राजाको ऐसे समय अकस्मात् आपतित शत्रुओंसे रक्षा पानेके निमित्त सिंहासनके मध्यमें वा रथके मध्यमें अपने शरीर गोपन करनेके उपयोगी एक गह्वर होतीहै उसीका इस स्थलमें लक्ष्य है ॥ १६ ॥

कण्डिका १७-मंत्र ४ ।

सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिषिञ्चाम्यग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसेन्द्रस्येन्द्रियेण ॥ क्षत्राणां क्षत्रपतिरेध्यति दिद्यून्पाहि ॥ १७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सोमस्येत्यस्य वरुण ऋषिः । भुरिक्प्राजापत्या पंक्तिश्छं० । यजमानो देव० । पालाशपात्रेण यजमानाभिषिञ्चने वि० । (२) ॐ अग्निरित्यस्य वरुण ऋ० । निच्यृत्साम्नी पंक्तिश्छं० । पालाशपात्रेणाभिषिञ्चने वि० । (३) ॐ सूर्यस्येत्यस्य वरुण ऋ० । साम्नी पंक्तिश्छं० । यजमानो दे० । वटपात्रेणाभिषिञ्चने वि० । (४)ॐ इन्द्रस्येत्यस्य वरुण ऋ० । साम्नी पंक्तिश्छन्दः । यजमानो देवता । अश्वत्थपत्रेणाभिषिञ्चने वि० ॥ १७ ॥

विधि-(१-४) सुवर्णसहित व्याघ्रचर्मके ऊपर पूर्वमुख बैठकर यजमानके सन्मुख अध्वर्यु वा पुरोहित पलाश (ढाक) के बने पात्रमें स्थापित इस जलसे एवं अपरापर पार्श्व और पृष्ठभागमें राजभ्राता वा राजजाति उदुम्बरपात्रमें स्थित जलसे और मित्रभूत क्षत्रिय वटकाष्ठनिर्मित पात्रमें स्थापित जलसे एक वैश्य

अश्वत्थकाष्ठनिर्मित पात्रमें स्थापित जलसे इन दोनों कण्डिकाके यथाभाग मंत्र-पाठ करके अभिषेक करै, उनमें अध्वर्यु वा पुरोहितका व्यवहार्य मन्त्रभाग है [का० १५ । ५ । ३० । ३३] मंत्रार्थ-हे यजमान ! (सोमस्य) चन्द्रमाके (द्युम्नेन) यश वा कान्तिसे (त्वा) तुमको(अभिषिञ्चामि)अभिषेक करताहूं और अभिषेकको प्राप्त हुए तुम (क्षत्राणाम्) क्षत्रियोंके राजोंके (क्षत्रपतिः) राजाधिराज होकर (एधि) वृद्धिको प्राप्त हो (दिद्यून्) शत्रुओंके प्रेरित वाणोंको (अति) अतिक्रमण करके अर्थात् विपक्ष पक्षजय करके (पाहि) प्रजापालन कर, वा हे सोम! इस यजमानकी रक्षा कर "इषवो वै दिद्यव इषुवधमेवैनमेतदतिनयति" इति श्रुतेः [श० ५ । ४ । २ । २] ॥ १७ ॥ शेषका अर्थ अठारहवीं कण्डिकाके उपरान्त है ।

कण्डिका १८-मन्त्र २ ।

इमन्देवाऽअसपत्नꣳ सुवद्ध्वम्महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय ॥ इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विशऽएष वोमी राजा सोमोस्माकम्ब्राह्मणानाꣳ राजा ॥ १८ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् ।

मंत्रार्थ-(देवाः) हे सुहवि देवगण ! (इमम्) इस (अमुष्यपुत्रम्) अमुकके पुत्र (अमुष्यै) अमुक देवीके पुत्र (इमम्) अमुक नाम इस यजमानको (महते) महान् (क्षत्राय) क्षत्रधर्म (महते ज्यैष्ठाय) महान् ज्येष्ठत्वप्राप्तिके निमित्त (महते) वडे (जानराज्याय) जानराज्यके निमित्त (इन्द्रस्य) इन्द्र वा आत्माके (इन्द्रियाय) ऐश्वर्यके निमित्त (अस्यै) इस अमुक जातिकी (विशे) प्रजापालनके निमित्त स्थित हुएको (असपत्नम्) शत्रुरहित करकै (सुवध्वम्) प्रेरणाकरो (अमी) हे देशवाले जनो ! (एषः) यह (वः) तुम्हारा (राजा) राजा है (अस्माकम्) हम (ब्राह्मणानाम्) ब्राह्मणोंका (राजा) राजा (सोमः) सोम है

इस मंत्रका दृष्टान्तरूप महीधरभाष्य इसप्रकार है-

...ताओ ! तुम (उभताओ ! (अमुष्यपुत्रम्) अमुक दशरथजीके पुत्र (अमुष्यैपुत्रम्) हो तुम (गर्तम्) रथके ...) इस कोशलाके (विशे) प्रजाके निमित्त स्थित (इमम्) ...लादिसे आच्छादित गर्त...म्) शत्रुरहित करके वडे क्षत्रज्येष्ठत्व इन्द्रऐश्वर्य प्राप्तिकें इति [निरु० ३ । ५ ।] (अ...कोशलपुरवासी जनो ! यह तुम्हारे राजा हैं इत्यादि ।

यहांतक मंत्र पढकर अध्वर्यु और पुरोहित अभिषेक करै १।

सत्रहवें मंत्रका शेष—

विधि–(२) राजभ्राता वा राजज्ञातिके पढनेका मंत्र। मन्त्रार्थ–हे यजमान! (अग्नेः) अग्निके (भ्राजसा) तेज करके तुमको अभिषेक करताहूं (क्षत्राणां क्षत्रपतिः एधि) तुम सम्पूर्ण क्षत्रियोंके राजराजेश्वर होकर क्रमसे बढो (दिद्यून् अति पाहि) विपक्ष पक्ष जय कर प्रजापालन करो और (इमं देवा असपत्नꣳसुवध्वम् महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय) हे सुहविर्देवगण! तुम इस यजमानको शत्रुशून्य करके सुमहत् क्षत्रधर्म सुमहत् ज्येष्ठ सुमहत् जानराज्य सुमहत् आत्मलाभमें समर्थ करो २। विधि–(३) अपर राजाके मित्र यह मंत्र पाठ कर अभिषेक करै। मन्त्रार्थ–हे यजमान! (सूर्यस्य) सूर्यकी (वर्चसा) प्रचण्डदीप्तिद्वारा तुमको अभिषेक करताहूं (क्षत्राणाम्) क्षत्रपतिसे– "इन्द्रस्यइन्द्रियाय" तक पढे। मन्त्रार्थ पूर्ववत् ३। विधि–(४) अगला मंत्र पढकर वैश्य अभिषेक करै। मन्त्रार्थ–हे यजमान! तुमको (इन्द्रस्य) इन्द्रके (इन्द्रियेण) ऐश्वर्यद्वारा अभिषेक करताहूं "क्षत्राणाम्" से "इन्द्रियाय" तक पूर्ववत् पाठ करे. पूर्ववत् व्याख्या जानो। श्रुतिमें द्युम्नादिशब्द पराक्रमवाचक पढे हैं १७॥१८॥

कण्डिका १९–मन्त्र ४।

प्रपर्व॑तस्यवृष॒भस्य॑ पृ॒ष्ठान्नाव॑श्चरन्तिस्व॒सिच॑ऽइ यानाः॥ ताऽआव॑वृत्रन्नध॒राग्रुद॑क्ताऽअहि॑म्बु॒ध्न्य मनु॒रीय॑माणाः॥ विष्णो॑र्वि॒क्रम॑णमसि॒विष्णो॑ र्वि॒क्रान्त॑मसि॒विष्णोः॑ क्रा॒न्तम॑सि ॥ १९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ प्रपर्वतस्येत्यस्य देववात ऋ०। निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं०। आपो देवताः। शरीरसंलग्नोदकाभिषेकेण स्वशरीरप्रलिम्पने वि०। (२) ॐ विष्णोरित्यस्य देववात ऋ०। प्राजापत्या गायत्री छं०। यजमानो देवता। व्याघ्रचर्मणि पादप्रक्षेपणे वि०। (३) ॐ विष्णोरित्यस्य देववा० ऋ०। याजुष्युष्णिक्छं०। यजमानो दे०। व्याघ्रचर्मणि पादप्रक्षेपणे वि०। (४) ॐ विष्णोरित्यस्य देववात ऋ०। याजुषी गायत्री छन्दः। यजमानो दे०। व्याघ्रचर्मणि पादप्रक्षेपणे वि०॥ १९॥

विधि–(१) यजमान इस मंत्रको पाठ करके गात्रमें गिरतेहुए अभिषेक-

जलको कण्डूयनीके द्वारा सर्वांगमें लिम्पन करै कृष्णविषाणको कण्डूयनी कहते हैं। मन्त्रार्थ-(स्वसिचः) स्वयंही विश्वको सींचनेवाले (इयानाः) गमनशील (नावः) स्तुतियोंको प्राप्त होनेवाले वा फलकी प्रेरणा करनेवाले आहुतिं परिणामरूप जल (वृषभस्य) वर्षा करनेवाले (पर्वतस्य) पर्वतके (पृष्ठात्) पृष्ठसे (प्रचरन्ति) आदित्यमण्डलकी ओर गमन करते हैं "अथवा वर्षा करनेके कारण पौर्णमासी अमावस्या चातुर्मास्यादिमें आदित्यमण्डलको प्राप्त होकर मध्यस्थानमें आते हैं मध्य स्थानसे पृथ्वीमें आते हैं यह वर्णन करते हैं" (ताः) वे (उदक्ताः) आहुति परिणामभूत जल ऊपर प्राप्त हुए (बुध्न्यम्) अन्तरिक्षमें होनेवाले (अहिम्) मेघोंको (अनुरीयमाणाः) अनुसरण करते हुए (अधराक्) नीचे भूमिको (आववृत्रन्) प्राप्त होते हैं। अथवा पर्वतशब्दसे आदित्यका ग्रहण है 'वृषभस्य' वर्षा करनेवाले 'पर्वतस्य' आदित्यके 'पृष्ठात्' ऊपरसे 'इयानाः' निर्गत होते हुए 'नावः' स्तुतिको प्राप्त होनेवाले जल "नाव्या उ एव यजुष्मत्य इष्टका इत्युपक्रम्य षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतान्यादित्यं नाव्या अभिक्षरन्ति" इति श्रुतेः [श १०।५।४।१४] 'बुध्न्यम्' अन्तरिक्षमें स्थित 'अहिम्' मेघोंको 'अनुरीयमाणाः' अनुसरण करते हुए प्रावृट् समयमें 'अधराक्' भूमिके प्रति 'आववृत्रन्' आते हैं।

अथवा 'वृषभस्य' वर्षणसमर्थ 'पर्वतस्य' हिमवान् विंध्याचलादिके 'पृष्ठात्' पृष्ठसे 'इयानाः' आती वा वहन करती हुई 'नावः' नावसे तरनेयोग्य महानदी 'स्वसिचः' अपने यजमानरूपी क्षेत्रको 'प्रचरन्ति' चलती हुई सींचती है वे नदियोंके जल 'उदक्ताः' अभिषेक पात्रोंमें रक्खे हुए 'अधस्तात्' नीचे स्थित राजसूययाजी यजमानके निमित्त 'आववृत्रन्' आते हैं तथा 'बुध्न्यम्' प्रधान 'अहिम्' शत्रुके न मारनेवाले यजमानके 'अनुरीयमाणाः' इस यजमानको सिंचन करते हुए आओ। [आशय यह कि जो सब नदियोंके जल पर्वतोंके पृष्ठ देशसे प्रवहमाण होकर अपने २ अभीष्ट स्थल समुद्रादिमें गमनानन्तर कुछ अधोदेशमार्गमें पर्वतोंपर रसाकर्षणशक्तिद्वारा अलक्षित भावसे कुछ ऊपर पथमें वृष्टिमेघ द्वारा लक्षित भावसे प्रत्यागमनपूर्वक पर्वतके मूल झरना और ऊपर वृष्टिमें उपस्थित हैं, यह चिरकालसे यही रूप वारंवार प्रत्यावर्तन करते हैं इससे जलका निरन्तर रहना कहा] १। विधि-(२) फिर अध्वर्यु आदि तीनः मंत्र पाठपूर्वक यजमानको चर्मपर तीन वार विष्णुक्रम क्रमण करावे [का० १५ । ६ । ९] मंत्रार्थ-हे प्रथम क्रम ! तुम (विष्णोः) व्यापनशील यज्ञपुरुष जगदीश्वर त्रिविक्रमावतारधारीके (विक्रमणम्) प्रथम पादप्रक्षेपणसे जीते भूलोक (असि) हो तुम्हारे प्रसादसे यह यजमान भूलोक जयकरे २। हे द्वितीय प्रक्रम ! तुम (विष्णोः)

परमात्माके (विक्रान्तम्) दूसरे पादप्रक्षेपसे जीते अन्तरिक्षरूप (असि) हो तुम्हारे प्रभावसे यह यजमान अन्तरिक्ष लोक जयकरै ३। हे तृतीय प्रक्रम ! तुम (विष्णोः) विष्णुभगवानके (क्रान्तम्) तीसरे पादप्रक्षेपसे जीतेहुए त्रिविष्टपरूप (असि) हो तुम्हारे प्रभावसे यजमान द्युलोकजय करै ४ ॥ १९ ॥

प्रमाण–"विष्णुः क्रमान् क्रमते विष्णुरेव भूत्वेमाँल्लोकानभिजयति" इति [तैत्तिरी०] "इमे वै लोका विष्णोर्विक्रमणं विष्णोर्विक्रान्तं विष्णोः क्रान्तम्" इति श्रुतेः [श० ९ । ४ । २ । ६] मन्त्रपूत चलनेको विष्णुक्रम कहते हैं. यजमान मानों विष्णुरूप होकर यज्ञके फलसे त्रिलोकीको जीतता है ॥ १९ ॥

कण्डिका २०–मंत्र ३।

प्रजापतेनत्वदेतान्यन्योविश्वारूपाणिपरिताबभूव ॥ यत्कामास्तेजुहुमस्तन्नोऽअस्त्वयममुष्य पितासावस्यपितावयꣳस्यामपतयोरयीणाꣳ स्वाहा ॥ रुद्रयत्तेक्रिविपरन्नामतस्मिन्हुतमस्यमेष्टमसिस्वाहा ॥ २० ॥ [४]

ऋष्यादि–(१) ॐ प्रजापत इत्यस्य देववात ऋ०। निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं०। प्रजापतिर्देव०। शालाद्वार्येऽग्नावाज्याहुतिहोमे वि०। (२) ॐ अस्त्वित्यस्य देववात ऋ०। आर्षी गायत्री०। आशीर्देव०। शालाद्वार्येऽग्नावाज्याहुतिहोमे वि०। (३) ॐ रुद्रेत्यस्य देववात ऋ०। साम्नी त्रिष्टुप्छं०। रुद्रो दे०। आग्नीध्रीयाग्नेरुत्तरभागे अभिषेकोदकशेषहवने वि० ॥ २० ॥

विधि–(१–२)अनन्तर सभामण्डपकें मध्यमें यजमानके पुत्रको लाकर उसके सामने इन दोनो मंत्रोंके पाठपूर्वक शालाद्वार्यकी अग्निमें एक आहुति प्रदान करै[का० १० । १९ । ६ । ११] मंत्रार्थ–(प्रजापते) हे परमात्मन् ! (त्वत्) आपसे (अन्यः) और कोई भी (एतानि) यह (विश्वा) सम्पूर्ण (रूपाणि) प्रजापालनादिकार्य तथा नानाजातीय वर्तमान भूत भविष्य कालविषयीगोचर प्राणियोंके सृजन पालन संहारमें (न) नहीं (परिताबभूव) समर्थ है इस कारण तुम्ही हमारी प्रार्थना पूर्ण करनेमें समर्थ हो (यत्कामाः) जिस कामनासे (ते) आपके निमित्त (जुहुमः) हवन करतेहैं (तत्) वह कामना (नः) हमारी (अस्तु) पूर्ण हो अर्थात् त्रिकालमें तुम्हारी समान कोई नहीं इस कारण

तुम्ही हमारी प्रार्थना पूर्णकरनेमें समर्थ हो (अयम्)यह(अमुष्य)इसका (पिता) इस स्थलमें पुत्रको पिताकरके नाम ले (असौ) यह (अस्य) इसका पिता अर्थात् हमारा पिता पुत्रका आन्तरिक भाव है सो चिरस्थायी रहे और (वयम्) हम (रयीणाम्) अपरिमित ऐश्वर्यके (पतयः) स्वामी (स्याम) हों (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो १ । २ । विधि-(३) पलाश काष्ठनिर्मित अभिषेकपात्रमें जो अवशिष्ट जल है इस तीसरे मंत्रसे उसको आग्नीध्रीय अग्निमें हवन करै [का० १९ । ६ । १२] मंत्रार्थ-(रुद्र) हे रुद्रदेव ! (यत्) जो (ते) तुम्हारा (क्रिवि) प्रलयकारी दुष्टनाशक (परम्) उत्कृष्ट (नाम) नाम है (तस्मिन्) हे हवि ! उस रुद्रनाममें तुम (हुतम्)हुत (असि)हो (अमेष्टम्) तुम हमारे घरमें आहुत होतीहो इस कारण सब प्रकार हमारी उपकारी (असि) हो अर्थात् गृहदाह वज्रपातादिसे रक्षा करो (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ३ ॥ २० ॥

प्रमाण-"अमाशब्दो गृहवाची" [निघं० ३ । ४ । ११] [ऋ० ८ । ७। ४] कुछ विशेष ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मन्त्र ६।

इन्द्र॑स्य॒ वज्रो॑ऽसि मि॒त्रावरु॑णयोस्त्वा प्रशा॒स्त्रोः प्र॒शिषा॑ युनज्मि ॥ अ॒व्य॒थायै॑ त्वा स्व॒धायै॑ त्वा रि॑ष्टो॒ऽअर्जु॑नो म॒रुतां॑ प्रस॒वेन॑ ज॒यापा॑म॒ मन॑सा॒ समि॑न्द्रि॒येण॑ ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रस्येत्यस्य देववात ऋ० । दैवी त्रिष्टुप्छन्दः । रथो देवता । रथोत्तारणे वि० । (२) ॐ मित्रावरुणयोरित्यस्य देववात ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छं० रथो देवता । रथे चतुरश्वयोजने वि० । (३) ॐ अव्यथायैत्वत्यस्य देतवात ऋ० । साम्न्युष्णिक्छं० । रथो देवता । रथारोहणे वि० । (४) ॐ मरुतामित्यस्य देववात ऋ० । याजुषी बृहती छं० । धुर्यं दैवतम् । दक्षिणाश्वस्य कशाघाते वि० । गवांमध्ये रथस्थापने वि० । (६) ॐ समिन्द्रियेणेत्यस्य देववात ऋ० । गवांमध्ये रथस्थापने वि० । (६) ॐ समिन्द्रियेणेत्यस्य देववात ऋ०। याजुषी गा० छं० । गौर्देवता । धनुष्कोट्या गोः स्पर्शने वि० ॥ २१ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे शकटसे रथ उतारै वाजपेयवत् सब कार्य करै [का० १५ । ६ । १९] मंत्रार्थ-हे रथ ! तुम (इन्द्रस्य) इन्द्रके (वज्रः) वज्रकी समान

अतिदुश्छेद्य काष्ठसे निर्मित (असि) हो १। विधि-(२) दूसरे मंत्रको चार वार पाठकरके इस रथके क्रमसे दक्षिण उत्तर दक्षिणपृष्ठ और उत्तरपृष्ठ चार अश्व योजना करै । मन्त्रार्थ-(प्रशास्त्रोः) शासनकारी (मित्रावरुणयोः) मित्रावरुणदेवता वा बाहु युगलके (प्रशिषा) प्रशासनसे (त्वा) तुमको (युनज्मि) इस रथमें युक्त-करता हूं २ । विधि-(३) तीसरे मन्त्रसे रथारोहणकरै [का० १५ । ६ । १७] मन्त्रार्थ-(अरिष्टः) अनुपहिंसित (अर्जुनः) इन्द्र "अर्जुनो हवै नामेन्द्रः" इति-श्रुतेः [श० ५ । ४ । ३ । ७] की समान मैं (अव्यथायै) देशका भय दूरकरने-के निमित्त अचलताके निमित्त (त्वा) तुझमें तथा (स्वधायै) देशमें सुभिक्ष सम्पा-दन करनेके निमित्त (त्वा) तुमपर आरोहण करता हूं ३ । विधि-(४) चौथे मंत्रसे यन्ता दक्षिण अश्वको कशाघातकरै [का० १५ । ६ । १८]हे रथधुरवाहक अश्व ! (मरुताम्) मरुद्गणोंकी (प्रसवेन) आज्ञासे (जय) वेगवान् होकर शत्रु-ओंकी जीत ४ । विधि-(५) पांचवें मंत्रसे रथको गोवृन्दके मध्यमें स्थापन करै [का० १५ । ६ । १९] मंत्रार्थ-हमने जो कार्य आरम्भ कियाहै उसको (मनसा) मनके अनुसार (अपाम्) सम्पन्न किया ५ । विधि-(६) छठे मंत्रसे धनुषकी कोटीसे किसी एक गौको स्पर्श करै [का० १५ । ६ । २०] मंत्रार्थ-हम (इन्द्रियेण) वीर्यसे (सम्) संगत हुए ॥ २१ ॥

विवरण-यजमानका भ्राता वा अन्य कोई आत्मीय इन गौओंको इनसे पहले आहवनीयके उत्तर भागमें रक्षित करै ॥ २१ ॥ [कशा-चावक]

कण्डिका २२-मंत्र १।

मातऽइन्द्रतेवुयन्तुराषाडयुक्तासोऽअब्रुह्मताविदँसाम ॥ तिष्ठारथुमधियंवंज्रहुस्ताुरश्मीन्देवयुम सुस्वश्श्वान् ॥ २२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मात इत्यस्य संवरण ऋषिः । निच्यृदार्षी त्रिष्टु-प्छन्दः । इन्द्रो देवता । अन्तःपात्यदेशे रथस्थापने वि० ॥ २२ ॥

विधि-(१) इस स्थापित गोवृन्दके अधिपतिको गोसंख्याके परिमाण वा उससे अधिक द्रव्य प्रदान करके यूपके पूर्वदिक् कुछ दूर गमन करके फिर लौट-कर यज्ञशालाके अन्तःपाति अथवा प्रदेशमें रथ स्थापन करै और उसी समय रथारूढ अन्यान्य आरोही गण यह मंत्रपाठ करैं [का० १५ । ६ । २२] मंत्रार्थ-(तुराषाट्) शीघ्र शत्रुओंका तिरस्कार करनेमें लघुहस्त (वज्रहस्त)

हाथमें वज्र धारण करनेवाले (इन्द्र) हे ऐश्वर्ययुक्त (देव) हे दीप्यमान ! (
(यम्) जिस (रथम्) रथमें (अधितिष्ठ) स्थित होकर (स्वश्वान्) अच्छे सु
क्षित घोडोंकी (रश्मीन्) लगामोंको (आयमसे) थामते हो (ते) तुम्ह
(वयम्) हम (ते) तुम्हारे तिस रथमें (अयुक्ताः) भिन्न हुए (मा विदसाम
हानिको प्राप्त न करें (अब्रह्मता) जैसे ब्रह्म नहीं इस प्रकार ब्रह्मभावसे अ
वस्तु न जानें अर्थात् हम नास्तिक न हों [राजाके साथ चलनेवाली सेना ए
चित्तसे सहायक रहें] ॥ २२ ॥

कण्डिका २३–मंत्र ५ ।

अग्नये॑ गृ॒हप॑तये॒ स्वाहा॒ सोमा॑य॒ वन॒स्प्पत॑ये॒ स्वाहा॑ म॒रुता॒मोज॑से॒ स्वाहेन्द्र॑स्येन्द्रि॒याय॒ स्वाहा॑ ॥ पृथि॑वि मात॒र्म्मा मा॑ हिꣳसी॒र्म्मो ऽअ॒हन्त्वाम् ॥ २३ ॥

ऋष्यादि–(१–२) ॐ अग्नये इत्यस्य सोमायेत्यस्य च मन्त्रद्वयस्य संवरण ऋ० । याजुषी पंक्तिश्छन्दः । लिङ्गोक्ता देवता । रथविमोचनीयाहुतिहोमे वि० । (३–४) ॐ मरुतामित्यस्य इन्द्रस्येत्यस्य च मन्त्रद्वयस्य संवरण ऋ० । याजुष्यनुष्टुप्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । रथविमोचनीयाज्याहुतिहोमे वि० । (५) ॐ पृथिवीत्यस्य संवरण ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । लिङ्गोक्ता दे० । भूम्यवेक्षणे वि० ॥ २३ ॥

विधि–(१–२) इसके उपरान्त यजमान रथसे उतरनेके समय इस कण्डिकाके प्रथम चार मंत्रोंसे आहुति दे, इनकी रथविमोचनीय संज्ञा है [का० १५ । ६ । २३] मन्त्रार्थ–(गृहपतये) गृहपालक (अग्नये) अग्नि देवताके निमित्त (स्वाहा) श्रेष्ठ आहुति हो १ । (वनस्पतये) वनस्पतिरूपी (सोमाय) सोमकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहा) श्रेष्ठ होम हो २ । (मरुताम्) मरुद्गणोंके (ओजसे) बलके निमित्त (स्वाहा) हवि देते हैं ३ । (इन्द्रस्य) इन्द्रके (इन्द्रियाय) वीर्यके निमित्त (स्वाहा) हवि देते हैं ४ । इस मंत्रसे जनपदका आधिपत्य आरण्यादिका आधिपत्य और इन्द्रियकी सामर्थ्य प्रार्थना कीहै । विधि–(५) पांचवें मंत्रसे रथस्थ यजमान भूभागदर्शन करै [का० १६ । ६ । २४] मंत्रार्थ–(मातःपृथिवि !) हे जगत्की निर्माता पृथ्वी ! तुम (मा) मुझको (माहिꣳसीः) मत हिंसा करो (अहम्) मैं (त्वाम्) तुमको (माउ) क्लेश न दूं ॥ २३ ॥

कण्डिका २४-मंत्र १।

हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ॥ नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऽऋतजा ऽअद्रिजा ऽऋतम्बृहत् ॥ २४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ हꣳस इत्यस्य वामदेव ऋषिः। अतिजगती छं०। सूर्यो देवता । रथादवतरणे वि० ॥ २४ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकामें प्रकाशित परब्रह्मके दशनाम उच्चारण करके इस रथसे उतरे [का० १९ । ६ । २९] मंत्रार्थ-(शुचिषत्) पवित्र स्थान दीप्तिमें आदित्यरूपसे स्थित (हꣳसः) अहंकारका दूरकरनेवाला आत्मा (अन्तरिक्षसत्) वायुरूपसे अन्तरिक्षमें स्थित (वसुः) मनुष्योंका प्रवर्तक (वेदिषत्) अग्निरूपसे वेदीमें स्थित होकर (होता) देवताओंका आह्वान करनेवाला, (दुरोणसत्) आहवनीय रूपसे यज्ञगृहमें स्थित (अतिथिः) सबका पूजनीय (नृषत्) मनुष्योंमें प्राणभावसे स्थित वा रामरूपसे स्थित (वरसत्) उत्कृष्ट स्थानों क्षेत्रोंमें स्थित (ऋतसत्)यज्ञमें स्थित(व्योमसत्)आकाशमें मण्डलरूपसे स्थित इस प्रकार सर्व स्थितिसे प्रार्थना करके सबके उत्पत्तिद्वारसे प्रार्थना करतेहैं (उ) और जो(अब्जा) मत्स्यादि रूपसे जलोंमें होता (गोजाः) चतुर्विध भूतग्रामरूपसे भूमिमें होनेवाला वा पशुआदिमें वीर्यरूपसे विद्यमान (ऋतजाः) सत्यमें होनेवाले (अद्रिजाः) पाषाणमें अग्निरूपसे होनेवाले "अद्रिर्मेघो वा" [निघं०१ । १० । १ :] मेघमें जलरूपसे होनेवाले (ऋतम्) सर्वगत (बृहत्) महान् परब्रह्मरूप परमात्माका स्मरणकर रथसे उतरता हूं ॥ २४ ॥

अथवा-हंस शब्दसे रथका अर्थभी होता है (हꣳसः) रथ (बृहत्) बडे (ऋतम्) यज्ञको सम्पादन करै जो रथ 'शुचिषत्' देवयजनमें स्थित वा रथवाहनमें स्थित (वसुः) अपने ऊपर यजमानका बैठानेवाला (अन्तरिक्षसत्) वृक्ष गुल्मादिसे अवरुद्ध न होकर अन्तरिक्षमें स्थित (होता) होताकी समान (वेदिषत्) वेदीमें स्थित (अतिथिः) अतिथिवत् आदरणीय (दुरोणसत्) यज्ञगृहमें स्थित (नृषत्) वाहकत्वसे मनुष्योंमें स्थित (वरसत्) श्रेष्ठ राजगृहमें स्थित (ऋतसत्) वाजपेयादि यज्ञमें स्थित (व्योमसत्) सूर्यके वहनकरनेको आकाशमें स्थित (अब्जाः) जलसे उत्पन्न घोडोंसे युक्त (गोजाः) वेत्रसे होनेवाले (ऋत

जाः) यज्ञके उद्देश्यसे आदर पानेवाले (अद्रिजाः) पाषाणसदृश काष्ठसे निर्मितहै उस रथसे उतरताहूं ॥ २४ ॥

प्रमाण-"अप्सुयोनिर्वा अश्वः" इति श्रुतेः । २ "इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्राहरत स त्रेधा व्यभवत्तस्य स्फ्यस्तृतीयं रथस्तृतीयं यूपस्तृतीयम्" इति तैत्तिरीयश्रुतेः । इससे वज्रनिर्मित रथ कहा ॥ २४ ॥

भावार्थमें दशनाम-शुचिषत् हंस १ अन्तरिक्षसत् वसु २ वेदिषत् होता ३ दुरोणसत् अतिथि ४ नृषत् अब्जा ५ वरसत् गोजा ६ ऋतसत् ऋतजा ७अद्रिषत् अद्रिजा ८ ऋतम् ९ बृहत् १०।यह परमात्माके दश नाम हैं अर्थ-इनके इसी मंत्रके प्रथममें लिखचुकेहैं प्रातःकाल तथा गमनागमन, तथा रथसे उतरने वा चढनेमें इनका स्मरण करनेसे मंगल होता है [ऋ० ३ । ७ । १४] ॥ २४ ॥

कण्डिका २५-मन्त्र ३ ।

इयदस्यायुरस्यायुर्म्मयिधेहि युङ्ङसिवर्च्चोसिवर्च्चोमयिधेह्यूर्गस्यूर्ज्जम्मयिधेहि ॥ इन्द्रस्यवांवीर्य्यकृतो बाहूऽअभ्युपावहरामि ॥ २५ ॥ [५]

ऋष्यादि-(१) ॐ इयदसीत्यस्य वामदेव ऋषिः । साम्नी जगती छन्दः । हिरण्यं दैवतम् । रथदक्षिणचक्रबद्धसौवर्णमणिस्पर्शने वि० । (२) ॐ ऊर्गसीत्यस्य वामदेव ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छं० । शाखा देवता । औदुम्बरीशाखोपस्पर्शने वि० । (३) ॐ इन्द्रस्येत्यस्य वामदेव ऋ० । निच्यृत्प्राजापत्यानुष्टुप्छन्दः । बाहुर्देवता । यजमानबाह्वोर्नीचैःकरणे वि० ॥ २५ ॥

विधि-(१-२) यज्ञशालाके दक्षिणभागमें स्थापित रथवाहक शकटके दक्षिण चक्रमें बंधी सौ रत्तीकी बनी सुवर्णमणिको प्रथम और दूसरे मंत्रका पाठ करके यथाक्रम स्पर्श करै [का० १५ । ६ । २९] हे शतमान ! तुम (इयत्) सौरत्तीके इतने परिमाणवाले (असि) हो (आयुः) जीवन (असि) हो सुवर्णदानसे दीर्घायु होती है (मयि) मुझमें (आयुः) जीव (धेहि) धारण करो १ । हे शतमान ! तुम (युङ्) रथमें बद्ध वा यज्ञसम्भारसमूह और दक्षिणायुक्त (असि) हो (वर्चः) दानसे पहरनेसे तेजके वृद्धिकारण (असि) हो (मे) मेरे निमित्त (वर्चः) तेज प्रभाव (धेहि) धारण कराओ २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे वे दोनों सुवर्णखण्ड ब्राह्मणको दे कर रथवाहनमें आलिंगित उदुम्बरशाखास्पर्श

करै [का० १५ । ६ । २१ । मंत्रार्थ—हे उदुम्बरि ! तुम (ऊर्ग्)अन्नवृद्धिके कारण (असि) हो शकटमें होकर अन्न आता है (ऊर्जम्) अन्नको (मयि) मुझमें (धेहि) स्थापन करो ३ । अध्वर्यु चौथा मंत्र पाठ करके यजमानकी दोनों भुजाओंको व्याघ्रचर्ममें स्थापित मैत्रावरुण पयस्यामें झुकावै [का० १५ । ६ । २१] पयस्या--मित्रावरुणकी प्रीतिके निमित्त रक्षिता। (वीर्यकृतः) वीर्यके करनेवाली (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवान् यजमानकी (बाहू) हे दोनो भुजाओ ! मैं (वाम्) तुम दोनोंको मित्रावरुणी पयस्याके प्रति (अभ्युपावहरामि) नीची करता हूं ॥ २५ ॥

कण्डिका २६-मंत्र ३।

स्योनासि सुषदासि क्षत्रस्य योनिरसि ॥ स्योनामासीद सुषदामासीद क्षत्रस्य योनिमासीद ॥ २६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ स्योना इत्यस्य मंत्रस्य वामदेव ऋ० । दैवी जगती छन्दः । आसन्दीवस्त्रे देवते । मैत्रावरुणधिष्ण्यस्य पुरतो व्याघ्रचर्मणि माञ्चिकास्थापने वि० । (२) ॐ क्षत्रस्येत्यस्य वामदेव ऋषिः । दैवी जगती छं० । वस्त्रं देवतम् । आसंद्यां वस्त्राच्छादने वि० । (३) ॐ स्योनामित्यस्य वामदेव ऋ० । भुरिगार्ची गायत्री छं० । यजमानो देवता । आसन्द्यां बाहुगृहीतयजमानस्थापने वि० ॥ २६ ॥

विधि-(१) पयस्याके स्विष्टकृत् होमसे पहलेही मैत्रावरुण धिष्ण्यके सन्मुख बिछे व्याघ्र चर्मके ऊपर रज्जुसे बनी खैरकी आसन्दी इस मंत्रसे स्थापन करै[का० १५ । ६ । ३३ । ७, १] अर्थात् खैरकाष्ठनिर्मित रज्जुद्वारा बुनीहुई चौकोन पीढी मचिया। मंत्रार्थ—हे व्यूता आसन्दि!तुम(स्योना)सुखरूप(असि)हो तथा (सुखदा) सुखसे बैठने योग्य वा बैठनेवालोंको सुख देनेवाली (असि)हो १ । विधि—(२)दूसरे मंत्रसे इसपर दरी आदि वस्त्र बिछावै [का० १५।७ । २] मन्त्रार्थ—हे अधोवास तुम (क्षत्रस्य) क्षत्रधर्माश्रित इस यजमानके (योनिः) आधारके उपयुक्त स्थान (असि) हो २ । विधि—(३) तीसरा मंत्रपाठपूर्वक उसके ऊपर यजमानको उपवेशन करावै [का० १५ । ७ । ३] मन्त्रार्थ—हे यजमान ! (स्योनाम्) सुखकी करनेवाली आसन्दीमें (आसीद) आरोहण कर (सुखदाम्) सुखसे उपवेशनके योग्य मैं (आसीद) बैठो (क्षत्रस्य) यह अधिवास और आसन्दी तुम्हारी समान राजपुरुषके (योनिम्) उपवेशनयोग्य आधार है इसपर (आसीद) बैठो ॥ २६ ॥

कण्डिका २७–मंत्र १ ।

निषंसादधृतव्रंतोवरुंणऽपुस्त्त्यास्वा ॥ साम्म्राँ ज्ज्यायसुक्क्रतु॑ः ॥ २७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ निषसादित्यस्य शुनःशेप ऋषिः । वर्द्धमाना गायत्री छं० । वरुणो देवता । यजमानहृदयालम्भने वि० ॥ २७ ॥

विधि–(१) अध्वर्यु यह मंत्र पाठ करके यजमानका हृदयस्पर्श करै [का० १७ । ४ । ७] मन्त्रार्थ–(धृतव्रतः) व्रत यज्ञलक्षणका धारण करनेवाले (सुक्रतुः) श्रेष्ठ संकल्प वा अच्छी बुद्धिवाले (वरुणः) अनिष्टके निवारण करनेवाले इस यजमानने (साम्राज्याय) सम्राट्भावके निमित्त (पस्त्यासु) प्रजाओंमें (आनिषसाद) आधिपत्यरूपसे स्थिति की ॥ २७ ॥

भावार्थ–हे यजमान ! साम्राज्यके भावमें आजसे तुम क्षुद्र महत् सब प्रकारकी प्रजाको समभावसे विचारक होकर अनुक्षण साधारणकी हितकामनासे व्रती होकर देशके विविध उपद्रव निवारण करनेमें दत्तचित्त हो, यह राजाका धर्म है ॥ २७ ॥

प्रमाण–"साम्राज्याय सुक्रतुरिति राज्याय" इति श्रुतेः [श० ५ । ४ । ४ । ५][ऋ० १ । २ । १७] "विशो वै पस्त्याः" इति श्रुतेः[श०५।४।४।५]॥२७॥

कण्डिका २८–मंत्र ८ ।

अभिभूरंस्येतास्त्तेपञ्च्चदिशं॑ःकल्प्पन्ताम्ब्रह्मँ स्त्त्वम्ब्रह्मासिंसवितासिंसुत्यप्प्रंसवोवरुंणोसिस त्त्यौजाऽइन्द्रोंसिविशौजारुद्द्रोंसिसुशेवं॑ः ॥ बहुं कारुश्श्रेयंस्क्करभूयंस्क्क्रेन्द्रंस्युवज्ज्रोंसितेनंमेर द्ध्य ॥ २८ ॥

ऋष्यादि–(१) अभिभूरित्यस्य शुनःशेप ऋ० । साम्न्युष्णिक्छन्दः । अक्षा यजमानो वा दे० । यजमानहस्तेऽक्षनिधाने वि० । (२) ॐ ब्रह्मन्नित्यस्य शुनःशेपः ऋ० । याजुषी गायत्री छं० । ब्रह्मा दैवतम् । ब्रह्मामन्त्रणे वि० । (३) ॐ त्वं ब्रह्मासीत्यस्य शुनःशेप ऋ० । याजुषी बृहती छं० । यजमानो देवता । यजमानं प्रति ब्रह्मणः प्रत्युत्तरदाने वि० । (४) ॐ वरुणोसीत्यस्य शुनःशेप ऋ० । याजुष्युष्णि

च्छं० । यजमानो दे० । यजमानं प्रति ब्रह्मणः प्रत्युत्तरदाने वि० । (५–६) ॐ रुद्र इति रुद्रोसीति चेत्यनयोर्मन्त्रयोः शुनःशेप ऋ० । याजुषी गायत्री छं० । यजमानो देवता । यजमानं प्रति ब्रह्मणः प्रत्युत्तरदाने वि० । (७) ॐ बहुकारेत्यस्य शुनःशेप ऋ० । याजुषी जगती छं० । लिङ्गोक्ता देवता । यजमानामन्त्रणे वि० । (८) ॐ इन्द्रस्येत्यस्य शुनःशेप ऋ० । याजुषी त्रिष्टुप्छन्दः । स्फ्य दैवतम् । यजमानाय स्फ्य-प्रदाने वि० ॥ २८ ॥

विधि–(१) अध्वर्यु यह मंत्र पाठ कराके यजमानके हाथमें पांच सुवर्ण-निर्मित पाशे दे "पांचवें अक्षका नाम काले है" [का० १५ । ७ । ५] मंत्रार्थ–हे यजमान ! वा हे अक्ष ! तुम (अभिभूः) इन पांचके द्वारा सकल जगत्के पराभव करनेवाले (असि) हो (एताः) यह (पञ्च) पांच (दिशः) पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण और ऊर्ध्व दिशा इसके द्वारा (ते) तुम्हारे हस्तगत (कल्पन्ताम्) प्राप्त हों १ । विधि–(२–५) वरप्रार्थना कर दूसरे मंत्रसे यजमान ब्रह्माको पंचवार आह्वान करै और तृतीयादि पांच मंत्रोंसे ब्रह्मा पांचवार उत्तर दे [का० १५ । ७ । ७ । ९] मन्त्रार्थ–यजमान (ब्रह्मन्)हे ब्रह्मन्!तुम (ब्रह्मा) ब्रह्मा महिमा-वाले (असि) हो (ब्रह्मा) हे यजमान ! तुम महामहिमावाले (सत्यप्रसवः) अनुल्लंघ्य उपदेश देनेमें समर्थ प्रजावर्गके नियन्ता होनेसे (सविता) सविता (असि) हो २।यज०–(ब्रह्मन्) ब्रह्मा हे यजमान! (त्वं ब्रह्मा असि)महामहिमावाले तुम(सत्यौजाः)अमोघवीर्य प्रजावर्गके अनिष्ट निवारण करनेसे (वरुणः)वरुण(असि) हो ३।यज०(ब्रह्मन्)ब्रह्मा हे महामहिमावाले यजमान!तुम(विशौजाः)ऐश्वर्यवान् देशकी शान्ति रक्षा करनेसे (इन्द्रः) इन्द्र (असि) हो४।यजमान–(ब्रह्मन्) ब्रह्मा हे महा महिमावाले यजमान ! तुम(सुशेवः) आश्रित जनोंके सुख देनेवाले पुनःपुनः देवनीय तथा शत्रुगणोंकी स्त्रियोंके रुवानेवाले (रुद्रः) रुद्र (असि) हो ५ । यजमा० (ब्रह्मन्) ब्रह्मा हे यजमान ! तुम ब्रह्मा अर्थात् महामहिमावाले हो इस कारण (ब्रह्मा असि) ब्रह्मा हो ६ । विधि–(७) सातवें मन्त्रसे यजमान पुरोहितको आह्वान करै [का० १५ । ७ । १०] मन्त्रार्थ–(बहुकार) हे सम्पूर्ण कार्यमें निपुण!(श्रेयस्कर) प्रत्येक श्रेष्ठकार्यप्रवर्तक (भूयस्कर) बहुत कार्यकारी इस स्थानमें आगमन करो७।विधि–(८) पुरोहित अथवा अध्वर्यु अष्टम मंत्रपाठ करके यजमानको स्फ्य प्रदान करै "इससे अक्षक्रीडाभूमि अंकित की जाती है" [का० १५ । ७ । ११]मन्त्रार्थ–हे स्फ्य ! तुम (इन्द्रस्य) इन्द्रका (वज्रः) वज्र (असि) हो (तेन) इस कारण (मे) मेरे यजमानके (रध्य) वशवर्ती हो वा भूमिलेखन कार्यसाधन करो ॥ २८ ॥

प्रमाण-"शेव इति सुखनाम" [निघं० ३ । ६] "इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार" इत्यादि "तस्य स्फ्यस्तृतीयम्" इति श्रुतेः [१ । २ । ४ । १ ।] "यो वै राजा ब्राह्मणाद्बलीयानमित्रेभ्यो वै स बलीयान् भवति" इति श्रुतेः । [श० ५ । ४ । ४ । १५] जो राजा ब्राह्मणोंसे नम्र है वह शत्रुओंसे बली होता है ॥ २८ ॥

विवरण-पाशोंमें चार पाशोंकी कृतसंज्ञा है पांचवेंकी कलि इनको प्रश्नके निमित्त डालाजाताहै जब पाचौं पाशे एकरूप अधोमुख वा ऊर्ध्वमुख पड़ें तब पाशा डालनेवालेकी जय होतीहै कलिके सम्पूर्ण अक्षोंके अभिभावकत्व होनेसे डालनेवालोंकी जय अपेक्षित होनेसे पांच अक्ष पांचौं दिशाको व्यापक हैं उनमें दिशाभी कल्पना करें जो उलटैं उसीमें विघ्न हो इत्यादि इस्से विदित होताहै कि रमल विद्या वैदिक है ब्रह्मा पांचौ वार यजमानसे 'त्वंब्रह्मासि' यहभी कहै उसीका अर्थ लिखादियाहै तुम महामहिमावाले हो प्रयोगमें पांचौवार बोलाजायगा ॥ २८ ॥

विशेष-बहुकारसे सुमंगल नामा मनुष्यको बुलावें ऐसा भी विधानहै ॥ २८ ॥

कण्डिका २९-मंत्र २ ।

अग्निः पृथुर्द्धर्म्मणस्पतिर्ज्जुषाणोऽअग्निः पृथुर्द्धर्म्मणस्पतिराज्ज्यस्य वेतु स्वाहा स्वाहाकृताः सूर्य्यस्य रश्मिभिर्यतध्वꣳ सजातानां मध्यमेष्ठ्याय ॥ २९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निरित्यस्य शुनःशेप ऋषिः । प्राजापत्या त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । द्यूतभूमौ कनकोपरि चतुर्गृहीताज्यहोमे वि० । (२) ॐ स्वाहाकृता इत्यस्य शुनःशेप ऋ० । साम्नी त्रिष्टुप्छं० । अक्षं दैवतम् । अक्षपातने वि० ॥ २९ ॥

विधि-(१) अनन्तर यजमान स्फ्याद्वारा अक्ष डालनेकी भूमि अंकित करके उसके ऊपर सुवर्ण रखकर मंत्रसे चतुर्गृहीत आज्याहुति प्रदान करे [का० १५ । ७ । १६] मन्त्रार्थ-(अग्निः) महान् अग्नि देवता (पृथुः) देवताओंमें प्रथम होनेसे विशाल (धर्मणः) जगत्के धारण करनेवाले धर्मका (पतिः) स्वामी (जुषाणः) प्रीयमाण वा हूयमान हविका सेवन करनेवाला(पृथुःधर्मणःपतिः) जो देखते २अति प्रवृद्ध होता है जो गृहस्थियोंके गृहधर्मका प्रधान साक्षी है वह अति विपुल धर्मस्वरूप (अग्निः) अग्नि देवता (आज्यस्य) हमारी दी हुई घृतकी हवि (वेतु)

प्रीतिपूर्वक भक्षण करें (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे इस आहुतिस्थलमें अक्षपातकरें [का० १५ ।७। १६] मन्त्रार्थ-हे अक्षगण ! (स्वाहाकृताः) आहुतिप्रदानपूर्वक गृहीत तुम (सूर्यस्य) अतिप्रचण्ड सूर्यकी (रश्मिभिः) किरणोंसे सम्मिलित हुए स्पर्धा करो (सजातानाम्) समानजन्म क्षत्रियभाइयोंके मध्यमें (मध्यमेष्ठ्याय) सबसे श्रेष्ठ करनेको (यतध्वम्) यत्नकरो अर्थात् मैं सबके मध्यमें श्रेष्ठ होजाऊं ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०-मन्त्र १ ।

सवित्राप्प्रसवित्रासरस्वत्यावाचात्वष्ट्रारूपैःपू
ष्णापशुभिरिन्द्रेणास्मेबृहस्पतिनाब्रह्मणाव
रुणेनौजसाग्निनातेजसासोमेनराज्ञाविष्णुनाद
शम्म्यादेवतयाप्प्रसूतःप्प्रसर्प्पामि ॥ ३० ॥ [1]

ऋष्यादि-(१) ॐ सवित्रेत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । निच्यृदत्यष्टि-श्छन्दः । सवित्राद्या देवताः । चमसानुभक्षणे वि० ॥ ३० ॥

विधि-(१) यजमान इस मंत्रका पाठकरे, भक्षणकालमें सदोमण्डपमें प्रवेश करे ऋत्विज और ब्राह्मण सौ मिलकर दशपेय यागके सौत्यादिनमें प्रतिसवनमें सर्पण से पहले अपने२सोमयाजी पित्रोंके दशगणको गिनकर यह पहला सोमपान करनेवाला यह दूसरा यह तीसरा इत्यादि दशपर्यन्त सोमयाजियोंको गिनकर 'विभूरसि' इत्यादि सर्पण धिष्ण्योपस्थान करें यह भक्षणकाल वा सभाके प्रवेशमें होना चाहिये अथवा सवित्रा प्रसवित्रा इस कण्डिकाके अनुवाकको पढकर सौ ब्राह्मण सर्पण करें दश सोमयाजी मिलना असम्भव है इससे यही पक्ष श्रेष्ठ है [का० १५, ८, १५-१६]मन्त्रार्थ-(प्रसवित्रा) समस्त जीवोंके प्रेरणकरनेवाले (सवित्रा) सविता सूर्य (वाचा) वाक्रूपा (सरस्वत्या) सरस्वती (रूपैः) रूपके अधिष्ठात्री (त्वष्ट्रा) त्वष्टा देवता (पशुभिः) पशुओंसे उपलक्षित वा-आत्मीय (पूष्णा) पूषा देवता (अस्मे) स्वयम् (इन्द्रेण) इन्द्र (ब्रह्मणा) देवयागमें ब्रह्मत्वको प्राप्त हुए (बृहस्पतिना) बृहस्पति (ओजसा) बडे तेजसे युक्त (वरुणेन) वरुण (तेजसा) तेजसे युक्त (अग्निना) अग्नि (राज्ञा) औषधि ब्राह्मणोंके अधिप दीप्यमान (चन्द्रेण) चन्द्रमा (दशम्या) दशसंख्याके पूर्ण करनेवाले (देवतया)यज्ञके अधिष्ठात्री देव (विष्णुना) परमात्मा नारायणद्वारा (प्रसूतः) अनुज्ञा किया हुआ मैं (प्रसर्पामिं) प्रसर्पण वा प्रवेश करताहूं ॥ ३० ॥

इति राजसूय समाप्त.

राजसूयान्तर्गत चरकसौत्रामणि ।

कण्डिका ३१-मन्त्र ४ ।

अश्श्विभ्याम्पच्च्यस्स्वसरस्वत्त्यैपच्च्यस्स्वेन्द्रा यसुत्राम्म्णेपच्च्यस्स्व ॥ वायुऽपूतऽपवित्त्रेणप्प्रत्त्य ङ्क्सोमोऽअतिस्स्रुतः ॥ इन्द्रस्स्ययुज्ज्यस्सखा ॥३१॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अश्विभ्यामित्यस्याश्विनावृषी । याजुषी गायत्री छन्दः । लिंगोक्ता दे० । अजातांकुरव्रीह्योदने जातांकुरव्रीहिचूर्णमिश्रणे वि० । (२) ॐ सरस्वत्या इत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । याजुष्युष्णिक्छन्दः । लिंगोक्ता देवता । अजातांकुरव्रीह्योदने जातांकुरव्रीहिचूर्णमिश्रणे वि० । (३) ॐ इन्द्रायेत्यस्य शुनःशेप ऋ० । याजुषी बृहती छन्दः । लिंगोक्ता देवता । अजातांकुरव्रीह्योदने जातांकुरव्रीहिचूर्णमिश्रणे वि० । (४) ॐ वायुरित्यस्य शुनःशेप ऋ० । निच्यृदार्षी गायत्री छं० । सोमो देवता । सुरापवने वि० ॥ ३१ ॥

विधि-(१-२-३) जिनके अंकुर निकल आये हैं ऐसे व्रीहिधान्य और जिनके अंकुर नहीं निकले हैं यह दोनो प्रकारके व्रीहिधान्य क्षौम वस्त्रमें पूर्वसे रक्षित रहते हैं उनमें जिनके अंकुर नहीं निकले हैं इस प्रकारके व्रीहियोंको सोम रसमें सिद्धकर और विरूढा व्रीहिका चूर्णकर उसमें मिश्रित करे: इन मंत्रोंसे चार वार रक्षा करै, अथवा अजातांकुर व्रीहियोंका ओदन पकावै,और जातांकुर व्रीहियोंका चूर्ण कर इसमें मिलावै [का०१५।९ ।२९] मन्त्रार्थ-हे सुरोंके योग्य व्रीहि ! (अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमार देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (पच्यस्व) रसरूपसे परिणत हो (सरस्वत्यै) सरस्वती देवीकी प्रीतिके निमित्त (पच्यस्व) पचकर रूपान्तरको प्राप्त हो ।(सुत्राम्णे)भलीप्रकार रक्षाकरनेवाले अथवा इन्द्रियगणको अपने२ कार्यमें रक्षाकरनेवाले (इन्द्राय) इन्द्रदेवताकी प्रीतिके निमित्त (पच्यस्व) पाकको प्राप्त हो कारण कि सौत्रामणिमें इन्द्रकी औषधि कर्तव्य है १-२-३।विधि-(४) इसके उपरान्त अन्य यज्ञीय पूर्वोक्त अग्नीषोमीय कार्यकरके उस कार्यकी समाप्तिमें यह सोम पचे व्रीहिपात्रमें स्थापितकर इस चौथे मंत्रसे पवित्रद्वारा शुद्धकरै[का १९ १० । १०] (इन्द्रस्य) इन्द्रका (युज्यः) योग (सखा) मित्रभूत (पवित्रेण) पवित्रद्वारा (पूतः) शुद्धकिया तथा (वायुः) वायुद्वारा पवित्र हुआ (सोमः) सोम (प्रत्यङ्) इस पवित्रद्वारा अधोमुख क्षरित होताहुआ (अतिस्रुतः) अतिक्रमण कर गया. ४ ॥ ३१ ॥

विशेष—१ कलशका मुख सघनरूप कुछ कुशोंसे आच्छादितकर इसको कुशोंसे पवित्र करै ।

२ सोममें प्रथम दुर्गन्ध थी तब देवताओंने वायुसे कहा सोममें सुगन्धि कर तब वायुने सुगन्धित किया इसमें प्रमाण "प्राङ्क्सोमोऽअतिद्रुतः" इति [श० १२ । ७ । ३ । १०] ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२—मंत्र ४ ।

कुविदङ्ग्यवमन्तो यवंञ्चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वंवियूय ॥ इहेहैषाङ्कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमऽउक्तिंय्यजन्ति ॥ उपयामगृहीतोस्यश्विभ्यान्त्वा सरस्वत्यै त्त्वेन्द्राय त्त्वा सुत्राम्म्णे ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ कुविदङ्गेत्यस्य काक्षीवन्तसुकीर्तिर्ऋषिः । निच्यृद्ब्राह्मी त्रिष्टुप्छं० । सोमो दे० । पूतायां सुरायां बदरीफलचूर्णप्रक्षेपणे वि० । (२–३–४) उपयामेत्यादि मन्त्रत्रयं पूर्ववत् ॥ ३२ ॥

विधि—(१–२–३–४) तदनन्तर इस पवित्र रसमें बदरीफलका चूर्ण प्रक्षेप करै वैकंकत पात्र (बहेडेके पात्र) में अथवा तीन पात्रमें प्रथमादि चार मंत्रसे ग्रहण करै [का० १५ । १० । १२] मन्त्रार्थ—हे सोम ! (यथा) जिस प्रकार (इह) इस लोकमें (यवमन्तः) बहुत यवसे सम्पन्न एक मात्र किसान (कुवित्) बहुतसे (यवम्) यवसे पूर्ण शस्यको (चित्) विचार करकै (अनुपूर्वम्) क्रमसे (वियूय) पृथक् करके (अङ्ग) शीघ्र (दान्ति) कर्तन करते हैं इसी प्रकार अतिअल्पमात्र तुम देवगणोंके प्रिय हो (एषाम्) इन यजमानोंके सम्बन्धी (भोजनानि) विविध प्रकारके भोजन (इह) इस यजमानमें (कृणुहि) सम्पादन करो (ये) जो (बर्हिषि) कुशासनपर बैठेहुए ऋत्विग्गण (नमः) हविर्लक्षणवाले अन्नको लेकर (उक्तिम्) याज्यका नाम लेकर (यजन्ति) याग करते हैं १ । हे सोम ! (उपयामगृहीतः) तुम उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमारकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं २ । हे सोम ! तुम उपयामपात्रमें गृहीत हो (सरस्वत्यै) सरस्वती देवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं ३ । हे सोम ! तुम उपयामपात्रमें गृहीत हो (सुत्राम्णे) पालक (इन्द्राय) इन्द्रदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं ४ ॥ ३२ ॥

अथवा-इन तीनोंके साथमें कुविदङ्ग० उपयामगृहीतोस्यश्विभ्यामित्यादि तीनों मंत्रोंमें लगादेना ॥ ३२ ॥

प्रमाण-"कुविदिति: बहुनाम" [३ । १ । १२ ।] "अङ्गेति क्षिप्रनाम" [निरु० ५ । १७] "नम इत्यन्ननाम" [निघं० २ । ७ । २२ ।] [ऋ० । ८ । ७ । १९] ॥ ३२ ॥

विशेष-जिसकी प्रेरणासे सम्पूर्ण इन्द्रियगण अपने २ कार्य्यव्यापारमें संलग्न होतेहैं अर्थात् जगत् कार्य होनेको समर्थ होताहै इस प्रकारके ऐश्वर्यवान् देवताको सुत्रामा कहते हैं जीवात्मा वा आत्मा ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३-मन्त्र १ ।

युवꣳसुराममश्श्विना नमुचावासुरे सचा ॥ विपिपाना शुभस्पती ऽइन्द्रं कर्म्मस्वावतम् ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ युवमित्यस्य काक्षीवन्तः सुकीर्तिर्ऋ० । निचृद्गा-यत्रुप्छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । सुसंग्रहानुवाक्यमन्त्रपठने वि० ॥ ३३ ॥

विधि-(१) अनन्तर यह दो मंत्र सुराग्रहसम्बन्धी हैं इस कण्डिकात्मक अनुवाक्यको पाठकरे [का० १९ । ६ । ८] मंत्रार्थ-(अश्विना) हे सर्वजन-हितकारी अश्विनीकुमार ! (नमुचौ) नमुचिसंज्ञक (आसुरे) दैत्यमें स्थित (सुरामम्) अधिकरमणीय सोमको (सचा) साथ एकीभूय (विपिपाना) विविध प्रकारसे पीतेहुए (शुभः) शुभकर्मके (पती) पालक (युवम्) तुमने (कर्मसु) उन उन कार्योंमें (इन्द्रम्) इन्द्रको (आवतम्) पालन किया ॥ ३३ ॥

इतिहास-नमुचिनाम असुर इन्द्रका सखा हुआ, उसने विश्वासको प्राप्त कराकर उसका बल सोमके साथ पानकर लिया, तब इन्द्रने अश्विनीकुमार सरस्वतीसे कहा मेरा वीर्य नमुचिने पानकर लिया, तब इन्होंने जलके फेनामिश्रित वज्र इन्द्रको दिया, उससे इन्द्रने नमुचिका शिरश्छेदन किया, तब अश्विनीकुमारने उसके बलको पानकर सोमके सहित इन्द्रमें स्थापित किया, वही अश्विनीकुमारने रक्षा की [श० १२ । ७ । ३ । १] जिसके पान करनेसे चित्त प्रसन्न हो उसको सुराम कहते हैं । यह कथा अलंकारयुक्त है दुर्जनका संग बलवीर्यका हरणकरनेवाला होता है, यह उपदेश है ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मंत्र १ ।

पुत्रमिव पितरावश्श्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दꣳसनाभिः

भिऽ ॥ यत्त्सुराम्मंव्यपिंबुऽशचीभिऽसरस्वतीत्वा मघवन्नभिष्णक् ॥ ३४ ॥ [४] ॥ ८ ॥

इति श्रीशुक्लयजुस्संहितायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पुत्रमिवेत्यस्य काक्षीवन्तः सुकीर्तिर्ऋ० । भुरिगार्ची पंक्तिश्छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । सुराग्रहयाज्यमन्त्रपठने वि० ॥ ३४ ॥

विधि-(१) अनन्तर इस याज्य कण्डिकाको पाठ करै । मन्त्रार्थ-(इन्द्र) हे इन्द्र ! (उभा) दोनों हितकारी (अश्विना) अश्विनीकुमार (काव्यैः) मन्त्र देखनेवाले महर्षियोंके काव्य (दंसनाभिः) और कर्मोसे प्रयोगोंसे असुर सहवाससे अशुद्ध सोमरस पानकर विपत्तिको प्राप्त हुए (त्वा) तुमको (आवथुः) रक्षा करते हुए (इव) जैसे (पितरौ) माता पिता (पुत्रम्) पुत्रकी रक्षा करते हैं (यत्) जिस प्रकार (मघवन्) हे इन्द्र ! तुमने (शचीभिः) नमुचिवधादिकर्म करके (सुरामम्) पान करतेही प्रसन्न करनेवाले रमणीय सोमको (व्यपिबः) विशेष कर पान किया (सरस्वती) सरस्वती वाणी (अभिष्णक्) तुम्हारी अनुगत है सेवा करती है ॥ ३४ ॥

आशय-हे इन्द्र ! जिस समय तुमने विशेषरूपसे सुतराम् रमणीय रस पान किया और असुर सहवाससे विपन्न हुए उस समय हितकारिणी सरस्वती कार्यसे तुम्हारी हितकरनेको भली भांति अनुकारिणी हुई और इसी निमित्त ही अश्विनीकुमारने पिता जैसे पुत्रकी रक्षा करता है इस प्रकारसे काव्य और दंशनाद्वारा तुम्हारी रक्षा की ॥ ३४ ॥

प्रमाण-"दंस इति कर्मनाम" [निघं०२।१।३।] [ऋ० ८ । ७।१९] ॥ ३४ ॥

विवरण-विविध उपाय, जलको फेनसंयुक्त कर वज्र लिप्त कर देना, तथा अनेक प्रकारके मंत्रप्रयोग दिये । काव्यकी रचना विद्या वेदप्रतिपाद्य होनेसे सनातन है॥ ३४॥

चरक सौत्रामणि सम्पूर्ण ।

इति श्रीवाजसनेयिसंहितायाम्मन्त्रभागे पण्डितज्वालाप्रसादमिश्रकृतभाषाटीकायां मिश्रभाष्ये राजसूयान्तो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

शुभमस्तु ।

ओ३म्

एकादशोध्यायः ११.

अथानुवाकसूत्रम् । युञ्जान एकादश, प्रतूर्त षोडश, देवस्यत्वादशापोदेवीर्द्वादशापोह्येकादशादितिष्ट्वापञ्चाकूतिमष्टादशसप्तत्र्यशीतिः ॥ ८३ ॥ ७ ॥

अग्निचयन ।

कण्डिका १–मंत्र १. अनुवाक १.

युञ्जानः प्रथमम्मनस्तत्त्वायसविताधियः ॥ अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्यपृथिव्याऽअद्ध्याभरत् ॥१॥

ऋष्यादि–(१)ॐ युञ्जान इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः।विराडार्ष्यनुष्टुप्छन्दः। सविता देवता । घृताहुतिदाने विनियोगः ॥ १ ॥

विधि–(१)जिस किसीको अग्निचयनकी इच्छा हो वह पुरुष फाल्गुनमासकी कृष्ण पक्षकी प्रतिपदा तिथिसे पौर्णमास्य इष्टि यथाविधे समाप्तकर पुरुष अश्व गो मेष और छागका उपकरण सत्कारके निमित्त संग्रहकर तथा इनके शिरोंको घीसे संस्कृत कर प्रथम चितिके उपधानके निमित्त रक्षित करै, और किसी पुष्करिणी (जलाशय) से उखा [पात्रविशेष] आदि निर्माण करनेके निमित्त मृत्तिका जल ग्रहण करना होता है इस कारण फाल्गुन कृष्णाष्टमीसे उखा निर्माण करै, इसके निमित्त आहवनीयाग्नि और दक्षिणाग्नि वेदीसे लेकर इस आहवनीय वेदीके पूर्व भागमें चौकोन एक गर्त करै, और उस सरोवरसे मृत्पिड लाकर उसी गर्तमें आहवनीय वेदीके समान उच्च करके स्थापन करै,अनन्तर मृत्पिड और आहवनीय वेदीके मध्यस्थानमें वल्मीकमृत्तिका लाकर रक्खे, और इसमें एकछिद्र इस प्रकार रक्खे कि जिसके द्वारा आहवनीय और मृत्पिण्ड परस्पर दीखते रहैं आहवनीय वेदीके दक्षिण ओर अश्व गर्दभ छाग यह तीन पशु मूंजकी रस्सीसे बांधकर पूर्वाभिमुख स्थित करै, आहवनीयके उत्तर वाँसकी ओर सुवर्णकी वा और किसी प्रकारकी चित्रवर्णा उभयमुखी अभ्रि स्थापन करै, फिर गार्हपत्य अग्निमें घृत संस्कारकरके जुहू और स्रुवको धोकर स्रुवमें आठवार आज्य ग्रहण कर आहवनीय अग्निमें परिस्तरण समि

दाधान करके ऊंचे हाथसे अविच्छिन्नधारा क्रमसे प्रथमादि आठ कण्डिका पाठकरके घीकी एक आहुति दे [का० १६ । २ । ७ ।]

इस ग्यारहवें अध्यायसे लेकर अठारह अध्यायपर्यन्त अग्निचयनके मंत्र हैं, इनके प्रजापति साध्यादि ऋषि हैं, यह अग्नि पांच चितिसे युक्त है, दूसरी चितिके देवता ऋषि हैं, तीसरीके इन्द्र अग्नि विश्वकर्मा ऋषि हैं, चौथीके ऋषिही ऋषि हैं, पांचवींके परमेष्ठी ऋषि हैं, तथाच "प्रजापतिः प्रथमां चितिमपश्यत्प्रजापतिरेव तस्या आर्षेयं, देवा द्वितीयां चितिमपश्यन्, देवा एव तस्या आर्षेयमिन्द्राग्नीच विश्वकर्माच तृतीयां चितिमपश्यंस्त एव तस्या आर्षेयमृषयश्चतुर्थीं चितिमपश्यन्नृषय एव तस्या आर्षेयं परमेष्ठी पञ्चमीं चितिमपश्यत्परमेष्ठयेव तस्या आर्षेयम्" इति श्रुतेः [६ । २ । ३ । १० ।] "स पुरुषः प्रजापतिरभवदयमेव स योयमग्निश्चीयते" [श० ६ । १ । १ । ५ ।] वह पुरुष ही प्रजापति हुआ यह वहीहै जो अग्निचयन की जाती है ।

मंत्रार्थ–(सविता) सबके प्रेरण करनेवाले प्रजापति अग्निके आरंभमें (मनः) मनको (प्रथमम्) पहले (युञ्जानः) एकाग्रकर (अग्नेः) अग्निका (ज्योतिः) तेज (धियम्) बुद्धिपूर्वक इष्टिकादिज्ञानको (तत्त्वाय) आलोचन वा विस्तार करके और उसको (निचाय्य) पञ्च पशुओंमें प्रविष्ट जानकर वा सफल कर्मोंका साधन-भूत जानकर (पृथिव्यै) पशुशरीरयुक्त भूमिसे (अध्याभरत्) लाते हुए अर्थात् इष्टकाकर अग्निचयन करतेहुए १ । "प्रजापतिर्वै युञ्जानः" इति श्रुतेः [६ । ३ । १ । १२] ॥ १ ॥

भावार्थ–प्रजापतिने अग्निकी ज्योतिःसंग्रह करना अतिप्रयोजनीय जानकर इसमें मन लगाय बुद्धि विस्तारकर पृथ्वीसे इस ज्योतिको लाभ किया, इस कारण पार्थिव शरीरधारी पुरुषादि पांच जीवोंसे अग्निचयनकी प्रवृत्ति है १ ।

टिप्पणी–कोई कहते हैं कि अग्निकी ज्योतिसे यहां गैसका ग्रहण है । कोई कहते हैं योगी मन लगाकर अग्निकी ज्योति और भूगर्भविद्याको जान्ता है ॥ १ ॥

कण्डिका २–मन्त्र १ ।

युक्तेनमनसाव॒यन्देवस्यसवितुः॒सवे ॥ स्वर्ग्यायशक्त्या ॥ २ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ युक्तेनेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । शंकुमती गायत्री छन्दः । सविता देवता । विनियोगः पूर्ववत् ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ-(सवितुः) संसारको अपने २ कर्ममें प्रेरणा करनेवाले सविता (देवस्य) देवकी (सवे) आज्ञामें वर्तमान (वयम्) हम (युक्तेन) एकाग्र वा योगयुक्त (मनसा) मनसे (स्वर्ग्याय) स्वर्गके साधन करनेवाले कर्ममें (शक्त्या) अपनी सामर्थ्यसे प्रयत्न करते हैं ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मन्त्र १ ।

युक्त्वायसवितादेवान्त्स्वर्य्यतोधियादिवम् ॥ बृहज्ज्योतिः करिष्यतःसवितापसुवातितान् ॥३॥

ऋष्यादि-(१) ॐ युक्तायेत्यस्य प्र० ऋ० । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । सविता दे० । विनि० पू० ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ-जिस कारणसे जगत्प्रेरक देवता (सविता) सब देवताओंको स्वर्गमें प्रेरणा करनेवाला तथा इन्द्रियगणोंको दमनकरनेवाला है (तान्) उन (धिया) बुद्धिपूर्वक कर्मानुष्ठान वा ज्ञानसे (दिवः) प्रकाशमान (स्वः) स्वर्गको (यतः) जानेवाले (बृहत्) महान् (ज्योतिः) आदित्यलक्षणवाली आत्मज्योतिको (करिष्यतः) संस्कार करनेवाले (देवान्) प्रसिद्धदेवताओंको (युक्ताय) अग्निकर्ममें संयुक्तकर अथवा स्वर्गप्राप्तिके निमित्त उद्यत और बडे चीयमान अग्निके तेजको बुद्धिसे प्रकाशमान करते तथा इष्टकादि प्रजाविषयको प्रकाशकरते, देवताओंको इस अग्निचयन में सहायकारी करके (आप्रसुवाति) प्रेरणकरताहै ॥ ३ ॥

अथवा जो देवता विश्वसंसारको अपने कार्यमें नियुक्त और प्रेरण करते हैं, जो स्वर्गमें विचरते जो स्वयंप्रदीप्त एवं जिनकी प्रदीप्तिसे भूलोकपर्यन्त व्याप्त है, इस प्रकारके चन्द्रसूर्यादि देवताओंको अग्निचयनमें सहायकारी कर नियुक्त करता हूं ॥ ३ ॥

विशेष-इन मंत्रोंमें आत्माग्निके चयनकरनेकाभी उपदेश है कि एकाग्रमनसे आत्मज्ञानको अग्नितत्त्वविचारसे बढातेहुए पुरुषको ज्योतिःपदार्थ ज्योतिप्रदान करते हैं ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मन्त्र १ ।

युञ्जतेमनऽउतयुञ्जतेधियोविप्राविप्रस्यबृहतोविपश्चितः ॥ विहोत्रादधेवयुनाविदेकऽइन्मुहीदेवस्यसवितुःपरिष्टुतिः ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ युञ्जत इत्यस्य प्र० ऋ० । जगती छन्दः । सविता देवता । वि० पू० ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ-(बृहतः) अतिमहान् (विपश्चितः) महापण्डित (विप्रस्य) ब्राह्मण यजमानके (होत्राः) होतृकार्यकरनेवाले (विप्राः) अध्वर्युआदि (मनः) इस अग्निचयन कार्यमें मन (युञ्जते) नियुक्तकरते हैं (उत) और (धियः) बुद्धि (युञ्जते) नियुक्त करतेहैं, अर्थात् विषयादिसे अपना मन हटाकर सावधान करतेहैं (एकः) एक अद्वितीय (इत्) ही (वयुनवित्) प्रज्ञा वा बुद्धिके जाननेवाले तथा ऋत्विक् यजमानके अभिप्रायज्ञाताने (विदधे) यह सब जगत् निर्माण किया है. (सवितुः) सबके प्रेरक सविता (देवस्य) देवकी (परिष्टुतिः) सब वेदोंमें सुनीहुई स्तुति (मही) महान् है. [ऋ० ४ । ४ । २४] ॥ ४ ॥

विशेष-एकाग्रमन कर प्राणायाम समाधिमें योगीजन परमात्माका इस प्रकार चिन्तन करै कि वही सबका प्रेरक नियन्ता है उसने सब जगत् बनायाहै ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मंत्र १ ।

युजेवाम्ब्रह्मपूर्व्यन्नमोभिर्विश्श्लोकऽएतुपथ्येव सूरेः ॥ शृण्वन्तुविश्श्वेऽअमृतस्यपुत्राऽआयेधामानिदिव्यानितस्त्थुः ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ युजेवामित्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । सविता देवता । वि० पू० ॥ ५ ॥

मंत्रार्थ-(वाम्) हे पत्नी और यजमान ! तुम्हारे निमित्त (नमोभिः) नमउक्ति वा अन्नद्वारा हुत और वृतोंके सहित (पूर्व्यम्) पुरातन महर्षियोंसे अनुष्ठित (ब्रह्म) अग्निचयनाख्य आत्मज्योतिवर्द्धक कर्म (युजे) सम्पादन करता हूं अथवा पुरातन (ब्रह्म) ब्राह्मणजातिको अन्नोंसे तृप्तकरता हूं (सूरेः) पण्डित यजमानकी (श्लोकः) कीर्ति (व्येतु) लोकद्वयमें प्राप्त हो (इव) जैसे (पथ्या) यज्ञभागमें प्रवृत्तहुई आहुति लोकद्वयको प्राप्त होती है (अमृतस्य) मरणधर्मरहित प्रजापतिके (पुत्राः) पुत्र (विश्वे) सम्पूर्ण देवता यजमानकी कीर्तिको (शृण्वन्तु) सुनै (ये) जो (दिव्यानि) दिव्य (धामानि) स्वर्गके स्थानोंमें (आतस्थुः) स्थित हैं [ऋ० ७ । ६ । १३] ॥ ५ ॥

आशय-आशय यह कि यजमानकी कीर्ति यहां विज्ञगण और परलोकमें देवगण कथन करैं । योगियोंके शरीरमें स्थित सबदेवताओंको षट्चक्रमें तृप्तकरना उचित है इससे दोनों लोकमें लाभ होताहै ॥ ५ ॥

कण्डिका ९-मंत्र १।

यस्यप्प्रयाणमन्न्वन्न्यऽइद्ययुर्द्देवादेवस्यंमहिमान मोजसा ॥ यःपार्त्थिवानिविममेसऽएतशोरजा ᳬसिदेवःसवितामहित्त्वना ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यस्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृदार्षी जगती छन्दः । सविता देवता । वि० पू० ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ-(अन्ये) और (देवाः) देवता (यस्य) जिस (देवस्य) सवितादेवताके (प्रयाणम्) प्रवृत्तिको (महिमानम्) महिमाको (इत्) अवश्य (ओजसा) तपोवलसे (अनुययुः) वर्ततेहैं (यः) जिस (सविता) परमात्माने (रजांᳬसि) सम्पूर्णलोक (विममे) निर्माणकियेहैं (सः) वह (देवः) परमात्मा (महित्वना) अपनी महाभाग्य महिमाके प्रभावसे इस स्थावर जंगमलोकमें प्राणरूपसे प्रविष्ट हुआ (एतशः) व्याप्तहै [ऋग्वेदे ४ । ४ । २४]

प्रमाण-१"लोका रजांस्युच्यन्ते" इति [यास्कः । ४ । १९] ॥ ९ ॥

भावार्थ-जिसकी गतिसे सूर्य चन्द्रादि सम्पूर्ण देवताओंकी गति है, जिसकी महिमासे सूर्य चन्द्रादि सव देवता महिमावाले हो रहे हैं, जिसकी दीप्तिसे सव देवता दीप्तिमान् हैं, जिसनें यह पार्थिव स्थावर जंगम निर्माण किया है, जो इस अनन्त लोककी सृष्टिका कर्ता है, जो अपनी अनन्त महिमासे अश्वरूप सर्वत्र पूर्ण है. वही यह ब्रह्म वही सव जगत्को अपने २ कर्तव्य अनुष्ठानमें नियुक्त करता है वही यह सविता है "एतश इत्यश्वनाम" [निघं० १ । ४ । १०] "उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः" इति श्रुतेः [१० । ६ । ४ । १] आदित्यमण्डलका नाम अश्व है सूर्यरूपसे भी जो व्याप्त है इत्यादि ॥ ९ ॥

कण्डिका ७-मंत्र १।

देवसवितःप्प्रसुवयज्ञम्प्प्रसुवयज्ञपतिम्भगाय ॥ दिव्योगन्धर्वःकेतपूःकेतन्नःपुनातुवाचस्प्पति र्वाचन्नःस्वदतु ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवसवितरित्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । सविता देवता । वि० पू० ॥ ७ ॥

मंत्रार्थ-(देव सवितः) हे सबके प्रेरक देव ! (यज्ञम्) यज्ञको (प्रसुव)

प्रेरणा करो (यज्ञपतिम्) यजमानको (भगाय) सौभाग्यके निमित्त (प्रसुव) प्रेरणा करो (दिव्यः) स्वर्गमें स्थित (केतपूः) दूसरेके चित्तमें वर्तमान ज्ञानका शोधन करनेवाला (गन्धर्वः) वाणीका धारणकरनेवाला सविता (नः) हमारे (केतम्) चित्तवर्तिज्ञानको (पुनातु) ब्रह्मज्ञानसे पवित्र करै (वाचस्पतिः) वाणी का पति सविता देव (नः) हमारी (वाचम्) वाणीको (स्वदतु) मधुरतायुक्त करै हमारी वाणी उसे भली लगै॥ ७ ॥

भावार्थ—हे परमात्मन् ! प्रभूत ऐश्वर्यलाभके निमित्त अग्निचयनमें प्रवृत्त यजमानको पूर्णमनोरथ करो तुम स्वयं प्रकाशमान हो चराचर विश्वके धारण करनेसे गन्धर्व हो, तुम्ही एकमात्र ज्ञानके शोधनकर्ता हो इस कारण हमारा ज्ञान विशुद्ध करो तुमही एकमात्र वाक्यके अधिपति हो, इस कारण हमारे वाक्य आस्वादयुक्त करो ॥ ७ ॥

कण्डिका ८—मन्त्र १ ।

इमन्नोंदेवसवितर्य्यज्ञम्प्रणयदेवाव्य ᳪ सखिविदᳪ सत्राजितन्धनजितᳫंस्वर्जितम् ॥. ऋचास्तोमᳪसमर्द्धयगायत्रेणरथन्तरम्बृहद्गायत्रवर्त्तनिस्वाहा ॥ ८ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ इमन्न इत्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । शक्वरी छं० । सविता देवता । वि० पू० ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—(देवसवितः) हे सविता देव ! (नः)हमारे (इमम्) इस (देवाव्यम्) देवताओंके तृप्त करनेवाले (सखिविदम्) सखित्वनिष्पादक यजमानको जाननेवाले वा ब्रह्मप्रभृति ऋत्विग्गणके जाननेवाले (सत्राजितम्) सम्पूर्ण अन्य यज्ञकार्यके वशकरनेवाले द्वादशाहादिकको वश करनेवाले वा ब्रह्मके वश करनेवाले (धनजितम्) गवादि फल रूपसे धनको जीतनेवाले (स्वर्जितम्) यज्ञके फलसे स्वर्गको जीतनेवाले (यज्ञम्) यज्ञको (प्रणय) सम्पन्नकरो । हे देव ! स्तोत्रकी कारण समाधार ऋचासे (स्तोमम्) त्रिवृतादिको (समर्धय) समृद्ध करो (गायत्रेण) गायत्रीछन्दसे (रथन्तरम्) रथन्तर सामको (गायत्रवर्तनि) गायत्र सामही है मार्ग जिसका उससे (बृहत्) बृहत् सामको सम्पन्न करो (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ ८ ॥

विवरण—ऋचा—छन्दोबद्ध मन्त्र कहाते हैं । कितने एक ऋक्समूहका नाम त्रिवृत पंचदशस्तोम है यह ताण्डय महाब्राह्मणके तीसरे अध्यायमें वर्णित है

गायत्रसाम प्रसिद्ध है। रथन्तर साम सामवेदीय अरण्यगानके १ । २ । १ । २१ साम । बृहत्साम सामवेदीय अरण्यगानके १ । २ । १ । २१ सामको देखो इस मंत्रके अन्तमें स्वाहा लगाना चाहिये। "सत्रशब्दः सत्यवाची" [निघं० ३ । १० । ३ । [॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मन्त्र १।

देवस्यं त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ॥ आददे गायत्रेण च्छन्दसाङ्गिरस्वत्पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभर त्रैष्टुभेन च्छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवस्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । भुरिगतिशक्वरी छन्दः । सवित्रग्नी देवते । वैणवीग्रहणे विनियोगः ॥ ९ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकाके दोनो मंत्र और दशमी कण्डिकाके मंत्र पाठ करके वैणवी ग्रहण करै "वैणवी बांसका खूंटा आहवनीयके उत्तर पूर्व स्थापित रहता है" [का० १६ । २ । ८] मंत्रार्थ-हे आभ्रे ! (सवितुः) सबके प्रेरक सविता (देवस्य) देवकी (प्रसवे) प्रेरणासे (गायत्रेण छन्दसा) गायत्री छन्दके प्रभावसे (अश्विनोः) अश्विनीकुमारकी (बाहुभ्याम्) भुजासे (पूष्णः) पूषा देवताके (हस्ताभ्याम्) हाथोंसे (त्वा) तुझको (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिराऋषि वा अंगारेकी तुल्य (आददे) ग्रहणकरताहूं (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिराकी समान (त्रैष्टुभेन) त्रिष्टुप् (छन्दसा) छन्दके प्रभावसे (पृथिव्याः) पृथ्वीके (सधस्थात्) उत्सङ्गभीतरसे (पुरीष्यम्) पशुओंकी हितकारिणी अथवा शुष्कमृत्तिकामें स्थापित होने योग्य (अग्निम्) अग्निको (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिराकी समान (आभर) आहरणकर ॥ ९ ॥

विशेष-अभ्यासके निमित्त कईबार अङ्गिरस्वत् कहा । "अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते" [निरु० १० । ४२] *"पशवो वै पुरीषम् इति श्रुतेः [६ । ३ । १ । ३८] मट्टीको लाय उखा बनाकर उसमें अग्नि स्थापन कीजाती है, इसकारण सूखी मृत्तिकाकोभी पुरीष्य कहा ॥ ९ ॥

आशय-हे वैणवी ! अङ्गिराऋषिने त्रिष्टुप्छन्दके सुने प्रभावसे जिस प्रकार पृथ्वीके क्रोडसे पुरीष्य अग्नि सम्पादन कीथी इसी प्रकार मैंभी अग्निचयनमें प्रवृत्त हो इस कार्यको करताहूं ॥ ९ ॥

"गैस" नामा अग्निको प्रथम अङ्गिराने प्रकाश किया यह भाव है ऐसा कोई कहतेहैं ॥ ९ ॥

कण्डिका १०–मन्त्र १ ।

अभ्रिरसि नार्यसि त्वया वयमग्निᳬं शकेम खनितुᳬं सधस्थऽआ ॥ जागतेन च्छन्दसाङ्गिरस्वत् १०

ऋष्यादि–(१) ॐ अभ्रिरसीत्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । भुरिगनुष्टुप्छन्दः । अभ्रिर्दे० । अभ्रिग्रहणे वि० ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ–हे वेणवी ! तुम (अभ्रिः) उखानिर्माण करनेको मृत्खननकी कारण काष्ठविशेष अभ्रिनामवाली (असि) हो (नारी) स्त्रीरूपा वा शत्रुरहित (असि) हो (त्वया) तुम्हारे द्वारा (वयम्) हम (अङ्गिरस्वत्) अंगिराकी समान (जागतेन छन्दसा) जगतीछन्दके प्रभावसे (सधस्थे) पृथ्वीके उत्संगमें वर्तमान (अग्निम्) अग्निको (खनितुम्) खनन करनेको (शकेम) समर्थ हों ॥ १० ॥

विशेष–पृथ्वीके उत्संग अर्थात् बहुत दिनके कीचवाले सरोवर वा मट्टीसे अग्निको खनन करता हूं यह भूगर्भविद्याका वर्णन है इसमेंभी ज्ञानलाभ कर पुरुषको कृतकार्य होना उचित है ॥ १० ॥

कण्डिका ११–मन्त्र १ ।

हस्तऽआधाय सविता बिभ्रदभ्रिᳬं हिरण्ययीम् ॥ अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽअध्याभरदानुष्टुभेन च्छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥ ११ ॥ [११]

ऋष्यादि–(१) ॐ हस्त इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । भुरिगार्षी पंक्तिश्छन्दः । सविता देवता । अभ्रिग्रहणे वि० ॥ ११ ॥

विधि–(१) इस मंत्रसे सुवर्णकी बनी वा विचित्रवर्णवाली अभ्रि ग्रहण करै ।

मन्त्रार्थ–(सविता) प्रेरक सवितादेवता (हस्ते) हाथमें (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिराकी वा प्राणकी समान (हिरण्ययीम्) सुवर्णकी (अभ्रिम्) अभ्रिको (आधाय) लेकरके वा स्थापनकर (बिभ्रत्) उसको धारण करते हुए (अग्नेः) अग्निकी (ज्योतिः) ज्योतिको (निचाय्य) निश्चयकरके (पृथिव्याः) भूमिके (अधि) सकाशसे (आनुष्टुभेन छन्दसा) अनुष्टुप्छन्दके प्रभावसे (आभरत्) आहरण करते हुए ॥ ११ ॥

विवरण–अपने आपमें सविताकी प्रेरणा मानकर यह मंत्र पढ़ै ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मन्त्र २।

प्रतूर्त्तंवाजिन्नाद्द्रवुवरिष्ठामनुसंव्वतम् ॥ दिवितेज न्मपरममन्तरिक्षेतवनाभिः पृथिव्यामधियोनि रित् ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रतूर्तमित्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋ० । आस्तार-पंक्तिश्छं० । वाजी देवता । अश्वाभिमंत्रणे वि० ॥ १२ ॥

विधि-(१) अभ्रि हाथमें लेकर यथास्थानमें बैठाहुआ इस मंत्रसे अश्वका अभिमंत्रण करै [का० १६ । २ । १०] मन्त्रार्थ-(वाजिन्) हे अश्व ! हे शीघ्र-गामी ! (वरिष्ठाम्) श्रेष्ठ (सम्वतम्) यज्ञभूमिको वा भूमिको लक्ष्य करके (अनु) फिर (प्रतूर्तम्) शीघ्र (आद्रव) आओ (ते) तेरे (दिवि) द्युलोकमें (परमम्) आदित्यरूपसे उत्कृष्ट (जन्म) जन्म होगा अथवा तुम्हारा जन्म द्युलो-कमें है स्वर्गमें देवताओंके अश्व रोहितादि हैं (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें (तव) तेरी (नाभिः) नाभि वा उदर है अथवा नियुन्नामक वायु अश्व अन्तरिक्षमें सञ्चरण करते हैं वहां तुम उस शरीरसे वर्तमान हो नाभिरूपसे प्रकृष्ट शरीर जानना। (पृथिव्याम्) पृथ्वीके (अधि) ऊपर (तव) तुम्हारी (योनिः) स्थान है अर्थात् भूमिमें तुम्हारा निवासस्थान प्रत्यक्ष दीखता है विराट्‌रूपसे अश्वकी स्तुति की जाती है ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मन्त्र १।

युञ्जाथाᳬरासभंय्युवमस्म्मिन्यामेवृषण्वसू ॥ अग्निम्भरन्तमस्म्युम् ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ युञ्जाथामित्यस्य कुश्रिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । रासभो देवता । रासभाभिमंत्रणे वि० ॥ १३ ॥

विधि-(१) अनन्तर रासभका अभिमंत्रण करै । मन्त्रार्थ-(वृषण्वसू) हे अध्वर्यु ! और यजमान अथवा हे यजमान और यजमानपत्नी धनवर्द्धक ! (युवम्) तुम दोनों (अस्मिन्) इस (यामे) अग्निकर्ममें अथवा मृत्तिकावहन कार्यमें (अस्मयुम्) अपने हितकारी (अग्निम्भरन्तम्) अग्निरूप मृत्तिकाको वहन करनेवाले (रासभम्) रासभ गर्दभको (युञ्जाथाम्) बांधो ॥ १३ ॥

प्रमाण-"इदंयुरिदंकामयमानः" इति यास्कः [निरु० ६ । २१] ॥ १३ ॥

कण्डिका १४–मंत्र १।

योगेयोगेतुवस्त्तरंवाजेवाजेहवामहे ॥ सखायऽइन्द्रमूतये ॥ १४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ योगेयोग इत्यस्य शुनःशेष ऋषिः । गायत्री छन्दः । अजा देवता । अजाभिमंत्रणे वि० ॥ १४ ॥

विधि–(१) अनन्तर अजाको अभिमंत्रण करै । मंत्रार्थ–(सखायः) परस्पर मित्रताको प्राप्त हुए हम ऋत्विज यजमान सब (योगेयोगे) प्रत्येक कर्ममें (तवस्तरम्) बलवान् वा उत्साहवान् (इन्द्रम्) बलवान् अजको (ऊतये) रक्षाके निमित्त (वाजेवाजे) देवता और पितरोंके तृप्तहोनेयोग्य अन्नप्राप्तिके कर्ममें (हवामहे) आह्वानकरतेहैं [ऋ० १ । २ । २९] ॥ १४ ॥

कण्डिका १५–मन्त्र २।

प्रतूर्वन्नेह्यवक्रामन्नशस्तीरुद्रस्यगाणपत्त्यम्मयोभूरेहि ॥ उर्वन्तरिक्षंवीहिस्वस्तिगव्यूतिरभयानिकृण्वन्पूष्णासयुजासह ॥ १५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ प्रतूर्वन्नित्यस्य शुनःशेप ऋषिः । निच्यृदार्षी गायत्री छं० । अश्वो देव० । अश्वचालने वि० । (२) ॐ उर्वन्तारिक्षमित्यस्य शुनःशेप ऋषिः । निच्यृदार्षी गायत्री छं० । रासभो देव० । रासभचालने वि० ॥ १५ ॥

विधि–(१) स्पर्शन करके भयादिप्रदर्शनपूर्वक यह मन्त्रपाठ करके अश्वको पूर्व दिशामें हांकदे चलादे [का० १६ । २ । ११] मन्त्रार्थ–(प्रतूर्वन्) हे अश्व ! तुम शत्रुगणको वध करते (अशस्तीः) शत्रुओं वा निन्दकोंकी कीहुई निन्दाको (अवक्रामन्) निवारण करते (एहि) हमारे निकट आओ (मयोभूः) हमारे सुखके कारण होतेहुए (रुद्रस्य) रुद्रदेवताके (गाणपत्यम्) गणपतित्वको (एहि) प्राप्त हो अर्थात् यहां आनेसे पशुपालके मध्यमें दलपतित्वलाभ करो १ । विधि–(२) दूसरे मंत्रसे इसी प्रकार रासभको चला दे । मन्त्रार्थ–हे रासभ ! (स्वस्तिगव्यूतिः) भयरहित गमन वा कल्याण मार्गवाले तुम (अभयानि) हमको अभय करते ऋत्विज् यजमानादिका रोग वा व्याघ्रादिसे भय दूर (कृण्वन्) करते (सयुजा) समानयोगी (पूष्णा) पृथ्वीके साथ "इयं वै

पूषा'' इति श्रुतेः [श० ६ । ३ । २ । ८] (उरु) विस्तीर्ण (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (वीहि) विशेष कर प्राप्त हो वा गमन करो ॥ १५ ॥

विशेष-जब यज्ञीय अश्व नगरमें भ्रमण करता है उस समय शत्रुओंके मनमें ताप होता है और वे निन्दा करनेमें मूक होते हैं इसमें यजमानका कल्याण है । रासभका एकाकी दूर गमन करना निषिद्ध है इस कारण पूषाके बलसे गमन कहा । ''स्वस्तीत्यविनाशनाम'' [निरु० ३ । २१] राजधर्मभी इससे सूचित होता है ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मन्त्र ३ ।

पृथिव्याः॑ स॒धस्था॑द॒ग्निं पु॑री॒ष्य॒मङ्गिर॒स्वदाभ॑रा॒ग्निं पु॑री॒ष्य॒मङ्गिर॒स्वद॑च्छे॒मो॒ऽग्निं पु॑री॒ष्य॒मङ्गिर॒स्वद्भ॑रिष्यामः ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पृथिव्या इत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । आर्ची गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । अजोत्क्रमणे विनियोगः । (२) ॐ अग्निमित्यस्य शुनःशेप ऋ० । साम्नी गायत्री छन्दः । अश्वादयो देवताः । ब्रह्मयजमानादिगमने वि० । (३) ॐ अग्निमित्यस्य शुनःशेप ऋ० । आर्युष्णिक्षुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । अनद्धापुरुषेक्षणे वि० ॥ १६ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे इसी प्रकार अजको चलादे । मन्त्रार्थ-हे अग्ने ! (पृथिव्याः) भूमिके [सधस्थात्) स्थानसे (पुरीष्यम्) पशुसम्बन्धी (अग्निम्) अग्निको (अंगिरस्वत्) अंगिराकी समान (आभर) आहरण कर १ । विधि-(२) उस चतुष्कोण गर्तमें स्थापित मृत्तिकाके पिण्डके समीपमें इस दूसरे मन्त्रका पाठ करके ब्रह्मा यजमान और अध्वर्यु गमन करैं. और उन्हींके संग यह अश्व छागादि गमन करैं. तीनो अग्नियोंके प्रज्वलित होनेपर चलैं [का० १६ । ३ । १२] मन्त्रार्थ-(पुरीष्यम्) पशुसम्बन्धी (अग्निम्) अग्निको (अंगिरस्वत्) अंगिराकी समान (अच्छ) प्राप्त होनेको अभिमुख (इमः) प्राप्त होते हैं २ । विधि-(३) तीसरे मन्त्रसे अनद्धा पुरुषको पुरीष्यभावसे दर्शन करे जो मनुष्य देव पितृकार्यके अनुपयोगी अकर्मण्य हो उसे अनद्धा कहते हैं [का० १६ । २ । १४] (पुरीष्यम्) पशुसम्बन्धी (अग्निम्) अग्निको (अंगिरस्वत्) अंगिराकी समान (भरिष्यामः) सम्पादन करेंगे ॥ १६ ॥

प्रमाण-''अच्छाभेराप्तुमितिशाकपूणिरितियास्कः'' [निरु० ५ । २८] ॥ १६ ॥

कण्डिका १७-मन्त्र १।

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः॥ अनु सूर्यस्य पुरुत्रा च रश्मीननु द्यावापृथिवीऽआततन्थ ॥ १७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अन्वग्निरित्यस्य पुरोधा ऋषिः। निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं०। अग्निर्देवता। मृत्पिण्डाभीक्षणे विनि० ॥ १७ ॥

विधि-(१) इस मंत्रको पाठकर वल्मीक वपाद्वारा मृत्पिण्डको अवलोकन करै [का० १६ । २ । १९ ।] मंत्रार्थ-(अग्निः) जो अग्नि (उषसाम्) उषाकालसे (अग्रम्) पहले [अर्थात् रात्रिमें] (अन्वख्यत्) अग्निरूपसे अनुक्रमसे प्रकाशित रहा (जातवेदाः) सबका जाननेवाला यह अग्नि (प्रथमः) मुख्यरूपसे (अहानि) दिनोंको (अनु) प्रकाश करताहुआ (सूर्यस्य) सूर्यकी (रश्मीन्) किरणोंको (पुरुत्रा) बहुत प्रकारसे (अनु) प्रकाश करताहुआ (च) और (द्यावापृथिवी) स्वर्ग और पृथ्वीको (अनु) क्रमसे (आततन्थ) सब प्रकार व्याप्त होता हुआ उस सर्वप्रकाशक लोकस्रष्टा अग्निको हम देखते हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ-जो रात्रिमें अग्निरूपसे प्रकाश दिनमें सहस्ररश्मिरूप हो द्युलोकमें उदित होते जो द्युलोकसे भूलोकपर्यन्त सदाही देदीप्यमान हैं हम अग्नि नामसे प्रसिद्ध उस देवताको खोज करते हैं ॥ १७ ॥

विवरण-बाँवीके ऊंचे अवयव वल्मीक वपा कहाते हैं उसीका पिण्ड आहवनीयके अन्तरालमें स्थापित है उसको ले स्थानमें स्थित हो मृत्पिण्डके मध्यवर्ती छिद्रविशिष्टवाली टिकियाके छिद्रके मार्गमें देखै बोध होता है यह अग्नि (गैस) की परीक्षाका यंत्रविशेष है ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मंत्र १।

आगत्य वाज्यध्वानꣳ सर्वा मृधो विधूनुते ॥ अग्निꣳ सधस्थे महति चक्षुषा निचिकीषते ॥१८॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आगतेत्यस्य मयोभूर्ऋषिः। निच्यृदनुष्टुप्छं०। अश्वो देवता। अश्वाभिमंत्रणे वि० ॥ १८ ॥

विधि-(१) मृत्पिण्डके समीप इस मंत्रसे अश्वको अभिमंत्रणकरै [का० १६ । २ । १७] मंत्रार्थ-(वाजी) यह वेगवान् अश्व (अध्वानम्) मार्गको (आगत्य) आकर अर्थात् रणमार्गमें चलकर (सर्वाः) सब (मृधः) सङ्ग्रा-

मोंको (विधूनुते) कम्पितकरताहै अथवा सब श्रमोंको दूरकरताहै (महति) बडे (सधस्थे) पृथ्वीके स्थानमें वर्तमान वा याज्ञिक सभामें प्राप्तहुआ (चक्षुषा) स्थिरचक्षुसे (अग्निम्) अग्निको (निचिकीषते) देखताहै अर्थात् मृत्तिकामें वर्तमान अग्निके कारणको देखताहै ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मंत्र १ ।

आक्क्रम्म्यव्वाजिन्न्पृथिवीमग्ग्निमिच्छरुचात्त्वम् ॥ भूम्म्याव्वृत्त्वायनोब्ब्रूहियतँ३खनेमतंव्वयम् ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आक्रम्येत्यस्य मयोभूर्ऋ० । निच्यृदनुष्टुप्छं० । अश्वो देवता । अश्वपदो मृत्पिण्डोपर्यधिष्ठापने वि० ॥ १९ ॥

विधि-(२) इस मंत्रसे मृत्पिण्डके ऊपर अश्वका सव्यपद स्थापन करै [का० १६ । २ । १८] मन्त्रार्थ-(वाजिन्) हे अश्व ! (त्वम्) तू (पृथ्वीम्) भूमिको (आक्रम्य) आक्रमण करके अर्थात् चरणस्पर्शसे परीक्षाकरके (रुचा) भूमिकी दीप्तिआदि द्वारा (अग्निम्) अग्निको (इच्छ) अन्वेषणकर अर्थात् अग्निके कारण मट्टीको निश्चयकर (भूम्याः) भूमिके प्रदेशको (वृत्वाय) छूकर (नः) हमसे यह बात कि यह देश अग्निहेतु मृत्तिकाके योग्य है इस प्रकार (ब्रूहि) कथन करो (यतः) जिस देशसे (वयम्) हम (तम्) उस अग्निको (खनेम) खननकरैं अर्थात् अग्निवाली मृत्तिकाको प्राप्तहौं [अर्थात् जिस स्थानमें मृत्पिण्ड आहत हो तहांसे उद्योगकर अग्नि प्राप्तकरैं] ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मंत्र १ ।

द्यौस्तेपृष्ठम्पृथिवीसधस्त्थमात्त्मान्तरिक्क्षँ६समुद्रोयोनिः ॥ व्विख्ख्यायचक्क्षुषात्त्वमभितिष्ठपृतन्न्यतः ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ द्यौस्त इत्यस्य मयोभूर्ऋषिः । निच्यृदार्षी बृहती छन्दः । अश्वो देवता । अश्वं स्पृष्ट्वा जपे विनियोगः ॥ २० ॥

विधि-(१) अध्वर्यु पिण्डके ऊपर पांव रखते घोडेको स्पर्शकर फिर ठहरकर दहिने हाथको घोडेकी पीठपर रखकर यह मंत्र पढै [का० १६।२।१९] मन्त्रार्थ- हे अश्व ! (द्यौः) स्वर्ग (ते) तुम्हारा (पृष्ठम्) पृष्ठहै (पृथिवी) भूमि(सधस्थम्)

पांव है (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षलोक (आत्मा) जीवात्मा है (समुद्रः) समुद्रके जल (योनिः) तुम्हारी उत्पत्तिका कारण है "अप्सुयोनिर्वा अश्वः" इति श्रुतेः। (त्वम्) तुम (चक्षुपा) नेत्रोंसे (विख्याय) उखाके योग्य मृत्तिकाको देखकर (पृतन्यतः) संग्रामकरनेकी इच्छाकरनेवाले शत्रुराक्षसादिको मृत्तिकामें गूढस्थित जानकर (अभितिष्ठ) चरणोंसे आक्रमण कर नाश करो अथवा तुम संग्राममें जिस आकारसे दण्डायमानरहते हो इस पिण्डके ऊपर भी इसी भावसे सतेज दृष्टिक्षेपपूर्वक दण्डायमान हो ॥ २० ॥

कण्डिका २१–मंत्र १ ।

उत्क्राम महते सौभगायास्मादास्थानाद्द्रविणोदा वाजिन् ॥ वयꣳ स्याम सुमतौ पृथिव्या अग्निं खनन्त उपस्थे अस्याः ॥ २१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ उत्क्रामेत्यस्य मयोभूर्ऋषिः । विराडार्षी पंक्तिश्छन्दः । अश्वो देवता । मृत्पिण्डादश्वोत्तारणे वि० ॥ २१ ॥

विधि–(१) यह मंत्र पाठ करके अश्वका सव्य चरण मृत्पिण्डसे अवतारित करै [का० १६ । २ । १९] मन्त्रार्थ–(वाजिन्) हे अश्व ! (द्रविणोदाः) धनके देनेवाले तुम (महते) बडे (सौभगाय) महाभाग्यकी वृद्धिके निमित्त (अस्मात्) इस (आस्थानात्) स्थानसे (उत्क्राम) उत्क्रमण करो (अस्याः) इस (पृथिव्याः) पृथ्वीके (उपस्थे) ऊपरी भागमें (अग्निम्) अग्निको (खनन्तः) खननकरनेका उद्योग करते हुए (वयम्) हम (सुमतौ) सानुग्रह श्रेष्ठबुद्धिमें स्थित स्याम) होवैं ॥ २१ ॥

अर्थात्–हमारा यदि भाग्य सुप्रसन्न हो तौ सुबुद्धिके अनुसार हम इस मृत्पिण्डसे अथवा मृत्पिण्डके आधारसे उस सूखी हुई पुष्करिणीसे पुरीष्य अग्निके सम्पादनमें उद्योगी होवेंगे ॥ २१ ॥

कण्डिका २२–मंत्र १ ।

उदक्रमीद्द्रविणोदा वाज्यर्वाकः सुलोकꣳ सुकृतम्पृथिव्याम् ॥ ततः खनेम सुप्रतीकमग्निꣳ स्वो रुहाणा अधि नाकमुत्तमम् ॥ २२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ उदक्रमीदित्यस्य मयोभूर्ऋषिः । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । अश्वो देवता । अश्वाभिमंत्रणे वि० ॥ २२ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे अश्वको अभिमंत्रण करै [का० १६ । २ । २०]
मन्त्रार्थ-(अर्वा) चञ्चल (द्रविणोदाः) धनप्रद (वाजी) अश्व (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें (उदक्रमीत्) मृत्तिपण्डसे उतर आया (सुलोकम्) सुन्दरलोकको (सुकृतम्) पुण्यवान् (अकः) किया (ततः) उस देशसे (नाकम्) दुःखरहित (उत्तमम्) श्रेष्ठ (स्वः) स्वर्गको (अधिरुहाणाः) आरोहण करनेकी इच्छाकरनेवाले हम (सुप्रतीकम) सुन्दरंसुख देनेवाले (अग्निम्) पुरीष्य अग्निको (खनेम) मृत्तिपण्डसे खनन करनेका उद्योगकरते हैं ॥ २२ ॥

कण्डिका २३-मन्त्र १ ।

आत्त्वा जिघर्म्मिमनसाघृतेनप्प्रतिक्षियन्तम्भुवनानिविश्श्वा ॥ पृथुन्तिरश्चावयसाबृहन्तंव्यचिष्ठमन्नैरभसन्दृशानम् ॥ २३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आत्त्वेत्यस्य गृत्समद ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । आहुतिदाने वि० ॥ २३ ॥

विधि-(१) इस मृत्तिपण्डके समीप बैठकर अश्वपदके चिह्नमें इस और अगली कण्डिकाके मंत्रोंसे व्यतिषक्त क्रमसे पाठ करके दो आहुति दे अर्थात् इस कण्डिकाके मंत्रका प्रथमार्ध और परकण्डिकात्मक मंत्रका परार्द्ध योगकर पाठ करके प्रथम आहुति और पर कण्डिकात्मक मंत्रका प्रथमार्ध और इस कण्डिकात्मक मंत्रका परार्धयोग मंत्र पाठ करके दूसरी आहुति दे [का० १६ । २ । २२]
मन्त्रार्थ-हे अग्नि ! (विश्वानि) सम्पूर्ण (भुवनानि) भुवनोंमें (प्रतिक्षियन्तम्) निवास करते हुए (तिरश्चा) तिर्यक् प्रमाण ज्योतिसे (पृथुम्) विस्तीर्ण (वयसा) धूमसे (बृहन्तम्) महान् अथवा तिर्यक् प्रमाणसे बहुत देशमें व्याप्त होनेवाले बहुकालव्याप्त (व्यचिष्ठम्) अवकाशवान् (अन्नैः) विविध अन्नोंकरके (रभसम्) परिपूर्ण उत्साहसम्पन्न अर्थात् अनेक अन्नोंकी आहुतिसे इसकी शक्तिका क्षय नहीं होता. (दृशानम्) प्रत्यक्षगोचर (त्वा) तुमको (मनसा) श्रद्धायुक्त चित्तसे (घृतेन) घृतद्वारा (आजिघर्मि) प्रदीप्त करताहूं ॥ २३ ॥

प्रमाण-१"इतो वा अयमूर्ध्वंरेतः सिञ्चति धूमꣳ सामुत्र वृष्टिर्भवति" इति श्रुतः ॥ २३ ॥

कण्डिका २४–मंत्र १।

आविश्श्वतं÷प्प्रुत्त्यञ्चञ्जिघर्म्म्र्यरक्षसामनं सातज्जुंपेत ॥ मर्य्यश्श्रीस्प्पृहयद्वर्णोऽअ्ग्निर्न्नाभिमृशंतन्न्वाजर्भुराणः ॥ २४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ आविश्वत इत्यस्य गृत्समद ऋ०। आर्षी पंक्तिश्छन्दः। अग्निर्देव०। वि० पू० ॥ २४ ॥

मंत्रार्थ–हे अग्नि ! (विश्वतः) सबओर (प्रत्यञ्चम्) प्रत्यगात्मा रूपसे व्याप्त हो अर्थात् तुम प्रत्यक्ष देवता हो मैं तुमको (आजिघर्मि) घृतद्वारा निष्कपट मनसे सिञ्चन वा दीप्तिमान् करताहूं (अरक्षसा) क्रोधरहित (मनसा) चित्तसे (तत्) उस घृतको (जुषेत) सेवन करो (मर्य्यश्रीः) मनुष्योंसे सेवनकरनेयोग्य वा आश्रित (स्पृहयद्वर्णः) दर्शनीय कान्तिमान् (तन्वा) ज्वालालक्षणवाले शरीरसे (जर्भुराणः) इधर उधर गमनकरनेवाली(अग्निः)अग्नि (अभिमृशे)अभिमर्शनके योग्य (न) नहीं है अर्थात् नास्तिक भी तुमको किसीप्रकार अग्राह्य नहीं कर सकता [ऋ० २ । ६ । २ ।] ॥ २४ ॥

कण्डिका २५–मन्त्र १।

परिवाजंपतिङ्कविरग्निर्हव्यान्यंक्रमीत ॥ दधद्रत्नांनिदाशुषे ॥ २५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ परीत्यस्य सोमक ऋषिः। निच्यृद्गायत्री छं०। अग्निर्देवता। पिण्डोपरि प्रथमरेखाकरणे वि० ॥ २५ ॥

विधि–(१) इस मृत्पिण्डपर अभ्रिके द्वारा उत्तरोत्तर तीन रेखा करे उसमें इस मंत्रसे प्रथम रेखा करे [का० १६ । २ । २३] मंत्रार्थ–(वाजपतिः) अन्नका पति (कविः) क्रान्तदर्शी (अग्निः) अग्नि (दाशुषे) हविदेनेवाले यजमानके निमित्त (रत्नानि) मनोहर विविधरत्न (दधत्) प्रदानपूर्वक (हव्यानि) हविर्योंको (पर्यक्रमीत्) स्वीकार करता हुआ [ऋ० ३ । ९ । १९] ॥ २५ ॥

कण्डिका २६–मंत्र १।

परिंत्त्वाग्ग्नेपुरंवयंविप्प्रंꣳसहस्यधीमहि ॥ धृषद्वर्णन्दिवेदिवेहन्तारम्भङ्गुरावंताम् ॥ २६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ परित्वेत्यस्य पायुर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । द्वितीयरेखाकरणे वि० ॥ २६ ॥

विधि–(१) इस पहली रेखाके उत्तर इस मंत्रसे द्वितीय रेखापात करै ।

मन्त्रार्थ–(सहस्य) बलसे मथन कर उत्पन्न होनेवाले (अग्ने) हे अग्नि! (पुरुम्) पुरुरूपसे सबके शरीरमें स्थित पालनकरनेवाले (विप्रम्) बुद्धिसम्पन्न वा ब्राह्मणजातिरूप (धृषद्वर्णम्) असह्यरूप (दिवेदिवे) प्रतिदिन (भंगुरावताम्) राक्षसदल अथवा अनवस्थित पापरूप चित्तकी वृत्तियोंके (हन्तारम्) मारनेवाले (त्वा) तुमको (वयम्) हम (परिधीमहि) सबओरसे ध्यान करते हैं ॥ २६ ॥

आशय–हे परमात्मन् ! तुम बलसे ज्ञानपूर्वक जानेजाते हो तुम मेधावी तुमही साधुगणके आश्रय असाधुओंके विघ्नकारी रक्षोदलके हन्ता निरन्तर ज्वालाजालसे शोभायमान हो हम प्रतिदिन तुम्हारी अर्चना करते हैं ॥ २६ ॥

कण्डिका २७–मंत्र १ ।

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि ॥ त्वंवनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वन्नृणान्नृपतेजायसेशुचिः ॥ २७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ त्वमग्न इत्यस्य गृत्समद ऋ० । पंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता । तृतीयरेखाकरणे वि० ॥ २७ ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे दूसरी रेखाके उत्तर तृतीय रेखा करै । मंत्रार्थ–(नृपते) मनुष्योंके पालक (अग्ने) अग्नि ! (शुचिः) परम पवित्र (आशुशुक्षणिः) आर्द्रभूमिको कान्तिसे शोषकर कान्तिसे अन्धकार के दूर करनेवाले हो (त्वम्) तुम (द्युभिः) प्रतिदिन मथनकरनेसे (जायसे) उत्पन्न होते हो (त्वम्) तुम (अद्भ्यः) जलोंसे तथा विजली सत्यसे होते हो (त्वम्) तुम (अश्मनः) पाषाणसे (परि) दूसरा पाषाण लगनेसे उत्पन्न होते हो (त्वम्) तुम (वनेभ्यः) वनोंमें अरणिकाष्ठसे (त्वम्) तुम (ओषधीभ्यः) औषधियोंसे वंशादिसे अर्थात् दो वंशके संघर्षणसे उत्पन्नहोते हो (त्वम्) तुम (नृणाम्) अग्निहोत्र करनेवाले मनुष्योंके घरहोते हो "पुत्रो ह्येष सन् पुनः पिता भवति" इति श्रुतेः [ऋ० २ । ९ । १७] [१६] ॥ २७ ॥

आशय–हे परमात्मन् ! तुम द्युलोकसे सूर्यरूपसे उदय होकर जगत्के रस-शोषणादि कार्यनिर्वाह करते हो क्या जलमें क्या पाषाणके अन्तरमें क्या वन क्या ओषधी तुम सबमें विराजमान हो, हे नृपते ! मनुष्यके देहमेंभी तुम पवित्ररूपसे आधिपत्य करते हो ॥ २७ ॥

कण्डिका २८–मंत्र २ अनु० ३ ।

देवस्यत्त्वासवितुः प्प्रसवेश्विनोर्ब्बाहुब्भ्याम्पूष्णो हस्ताब्भ्याम् ॥ पृथिव्व्याःसधस्थादग्ग्निम्पुरीष्य मङ्गिरस्वत्खनामि ॥ ज्योतिष्म्मन्तन्त्वाग्ग्ने सुप्प्रतीकमजस्रेणभानुनादीद्द्यतम् ॥ शिवम्प्रजाब्भ्योहिंᳫसन्तम्पृथिव्व्याःसधस्त्थादग्ग्निम्पुरीष्यमङ्गिरस्वत्खनामः ॥ २८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ देवस्येत्यस्य गृत्समद ऋ० । प्राजापत्या बृहती छं० । अग्निर्देवता । अग्निग्रहणे वि० । (२) ॐ ज्योतिष्मन्नित्यस्य गृत्स० ऋ० । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । पिण्डखनने वि० ॥ २८ ॥

विधि–(१–२) प्रथम मंत्रसे अग्निग्रहण और दूसरेसे खननकरै [का० १६ । २ । २३] मन्त्रार्थ–हे अग्नि ! (सवितुः) सबके प्रेरक सविता (देवस्य) देवके (प्रसवे) आज्ञामें वर्तमान (आश्विनोः) अश्विनीकुमारकी (बाहुभ्याम्) भुजाओंसे (पूष्णः) पूषा देवताके (हस्ताभ्याम्) हाथोंसे (पुरीष्यम्) पशुसम्बन्धी (अग्निम्) अग्निको (पृथिव्याः) भूमिके (सधस्थात्) ऊपर प्रदेशसे (अंगिरस्वत्) अंगिराकी समान (खनामि) खननकरताहूं १ । (अग्ने) हे अग्ने ! (ज्योतिष्मन्तम्) ज्वालायुक्त (सुप्रतीकम्) सुमुख (अजस्रेण) निरन्तर वर्तमान (भानुना) रश्मियोंसे (दीद्यतम्) दीप्तिमान् (प्रजाभ्यः) प्रजाके उपकारके निमित्त (शिवम्) शान्तरूप (अहिंᳫसन्तम्) हिंसा न करनेवाले (त्वा) तुझ (पुरीष्यम्) पुरीष्य (अग्निम्) अग्निको (पृथिव्याः) भूमिके (सधस्थात्) गर्भसे (अंगिरस्वत्) अंगिराकी समान (खनाम) खनन करते हैं २ ॥ २८ ॥

विवरण–'खनामि' शब्द प्रजापति और 'खनाम' शब्द देवताओंसे सम्बन्ध रखताहै ॥ २८ ॥

कण्डिका २९-मंत्र २।

अपाम्पृष्ठमसियोनिरग्ग्नेः समुद्द्रमभितः पिन्न्वमानम् ॥ वर्द्धमानोमहाँ२॥ऽआचपुष्क्करेदिवोमात्त्रया वरिम्म्णाप्प्रथस्व ॥ २९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अपांपृष्ठमित्यस्य गृत्समद ऋ० । भुरिगार्ची पंक्तिश्छं० । पुष्करपर्णं दे० । (२) ॐ दिव इत्यस्य गृत्समद ऋ० । आसुरी पंक्तिश्छन्दः । पुष्करपर्णं दैवतम् । कृष्णाजिनोपरि पुष्करपर्णस्थापने वि० ॥ २९ ॥

विधि-(१) मृत्पिंडके उत्तरभागमें मृगचर्मको बिछाकर पहला मंत्रपाठकर उसपर पद्मपत्र रक्खै मृगचर्मका शिरोदेश पूर्वभागमें और अधोदेश पश्चिमकी ओर करै [का०६।२ । २४] मंत्रार्थ-हे पत्र ! तुम (अपाम्) जलोंके (पृष्ठम्) ऊपर रहनेसे पृष्ठरूप हो (अग्नेः) अग्निके निमित्त पिण्डके (योनिः) कारण (असि) हो (पिन्वमानम्) सींचतेहुए (समुद्रम्) जल समुद्रको (अभितः) सब ओरसे (वर्द्धमानः) वृद्धिको प्राप्त (महान्) बडे (पुष्करे) जलमें [आ] सब प्रकार स्थित हो अथवा [आ] सब प्रकारसे वा चारों ओरसे (पुष्करे) जलमें (महान्) बडे वृद्धियुक्त तुम हो अर्थात् तुम जलके ऊपर भासमान होतेहो उस समय तुम्हारे चारोंओर यह जलराशि देखनेवालोंको परम प्रीति उत्पन्न करनेवाली है तुम अगाधजलमें वर्धमान होकर इतने बृहत् आकारको प्राप्त हुए हो आज तुमको पुरीष्य अग्निका आधार करतेहैं १ ।

विधि-(२) दूसरा मंत्र पाठकरके यह पत्र विस्तीर्णकरै[का० १६ । २। २९] मन्त्रार्थ-हे पत्र ! (दिवः) द्युलोककी(मात्रया)परिमाणसे (वरिम्णा) दीर्घतासे (प्रथस्व) विस्तारको प्राप्त हो ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०-मंत्र १।

शर्म्मचस्त्थोवर्म्मचस्त्थोच्छिद्द्रेबहुलेऽउभे ॥ व्यचस्वतीसंवसाथाम्भृतमग्ग्निम्पुरीष्ष्यम् ॥ ३० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ शर्म चेत्यस्य गृत्समद ऋषिः । विराडार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । कृष्णाजिनपुष्करपर्णे दे० । सहैव कृष्णाजिनपुष्करपर्णस्पर्शने वि० ॥ ३० ॥

विधि-(१) इन दोनों मंत्रोंसे पातित कृष्णाजिन और पुष्करपर्ण दोनों एकत्र स्पर्श करै [का० १६ । २ । २६] मन्त्रार्थ-हे कृष्णाजिन ! हे पुष्करपर्ण ! (अच्छिद्रे) छिद्रशून्य (वहुले) वहुत विस्तारवाले (व्यचस्वती) अवकाशवाले (उभे) तुम दोनो (शम्) अग्निकें सुखकारी (स्थः) हो (च) और (वर्म) कवचकी समान रक्षा करनेवाले (स्थः) हो (पुरीष्यम्) पुरीष्य (अग्निम्) अग्निको (संवसाथाम्) आच्छादन करो (च) और (भृतम्) धारण करो अर्थात् तुम इसके वर्मरूप हो यजमानको सुखस्वरूप हो ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१-मन्त्र १ ।

संवसाथाᳬस्वर्विदा समीची ऽउरसा त्मना ॥ अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती ज्योतिष्मन्तमजस्रमित् ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ संवसाथामित्यस्य गृत्समद ऋ० । निच्यृदनुष्टुप्छन्दः । कृष्णाजिनपुष्करपर्णे देवते । विनियोगः पूर्ववत् ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ-हे कृष्णाजिन पुष्करपर्ण ! (स्वर्विदा) स्वर्गलाभके साधन (समीची) एकचित्त मिलेहुए (अजस्रमित्) निरन्तर (ज्योतिष्मन्तम्) तेजवान् (अग्निम्) अग्निको (अन्तः) भीतर (उदरे) उदरमें (भरिष्यन्ती) धारण करतेहुये (उरसात्मना) हृदयरूप अपने शरीरसे (अग्निम्) अग्निको चिरकाल धारण करते (संवसाथाम्) आच्छादित रक्खो ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२-मंत्र २ ।

पुरीष्योसि विश्वभरा ऽअथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने ॥ त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत ॥ मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पुरीष्य इत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । आर्च्युष्णिक्छन्दः । अग्निर्देवता । मृत्पिण्डस्पर्शने वि० । (२) ॐ त्वामित्यस्य निच्यृदार्षी गायत्री छन्दः । पुष्करपर्णस्योपरि पिण्डस्थापने वि० ॥ ३२ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे मृत्पिण्ड स्पर्श करै [का० १६ । २ । २७] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (पुरीष्यः) तुम पशुओंके हितकारी (विश्वभरा) समस्त चराचरके पालन करनेवाले (असि) हो (प्रथमा) सबसे प्रथम (अथर्वा)

प्राण वा अथर्व ऋषिने (त्वा) तुमको (निरमन्थत्) प्रकाश किया था १। विधि-(२) इसके उपरान्त दूसरे मंत्रसे और ३३ क० से ३७ तक मंत्रोंको पाठ करके इस मृत्पिण्डको उभय हस्तद्वारा कृष्णाजिनके ऊपर रक्खे पुष्करपर्णपर रक्षाकरै [का० १६।२।२८।३।१] मन्त्रार्थ-हे अग्नि ! (अथर्वा) प्राणने (पुष्करात्) जलके (अधि) सकाशसे (त्वाम्) तुमको (निरमन्थत्) मथितकिया "आपो वै पुष्करं प्राणोथर्वा" इति श्रुतेः [श० ६।४।२।२] (विश्वस्य) सम्पूर्ण संसारके सम्बन्धी (वाघतः) ऋत्विजोंने (मूर्ध्नः) आदरसे तुमको मथित किया अथवा सम्पूर्ण संसारके कार्यनिर्वाहक क्षित्यादि समस्त पदार्थके शिर स्वरूप [प्रधान] पुष्करसे तुमको अथर्वऋषिने प्रकाशित किया २ ॥ ३२ ॥

प्रमाण-"वाघत इति ऋत्विङ्नामसु पठितम्" [नि० ३।१८।३] ॥३२॥

कण्डिका ३३-मन्त्र १।

तमु॑ त्वा द॒ध्यङ्ङृषि॑: पु॒त्र ई॑धे॒ अथ॑र्वणः ॥ वृ॒त्र॒हणं॑ पुरन्द॒रम् ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तमुत्वेत्यस्य भरद्वाज ऋषिः। निच्यृदार्षी छन्दः। अग्निर्देवता। विनि० पूर्ववत् ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ-(अथर्वणः) अथर्वके (पुत्रः) पुत्र (दध्यङ्) दध्यङ् नामक ऋषिने अथवा वाणीने (तमु) उस (वृत्रहणम्) पापनाशक (पुरन्दरम्) रुद्ररूपसे पुरसम्बन्धी तीन आवरणोंके भेदक (त्वा) तुमको (ईधे) प्रज्वलित किया [ऋ० ४।९।२३] ॥ ३३ ॥

प्रमाण-१"वाग्वै दध्यङ्ङाथर्वणः" इति श्रुतेः [६।४।२।३] ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मन्त्र १।

तमु॑ त्वा पा॒थ्यो वृषा॒ समी॑धे दस्यु॒हन्त॑मम् ॥ ध॒न॒ञ्ज॒यꣳ रणे॑रणे ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तमुत्वेत्यस्य भरद्वाज ऋषिः। निच्यृद्गायत्री छन्दः। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ-(पाथ्यः) सन्मार्गमें वर्तमान अथवा अन्तरिक्ष वा हृदयआकाशमें स्थित (वृषा) मनके सिंचन करनेवाले हे अग्ने ! (तम्) उस (दस्युहन्तमम्) अतिशय शत्रुओंको वा कामादि शत्रुओंको नाश करनेवाले (रणेरणे) उन उन संग्रामोंमें (धनञ्जयम्) धनके जीतनेवाले (त्वा) तुमको (ईधे) सन्दीप्त करताहूं [ऋ० ४।९।२३] ॥ ३४ ॥

प्रमाण–"मनसैवानुद्रष्टव्यः" इति श्रुतेः । "मनसैवाभिलष्य स्त्रियाᳬ रेतः सिञ्चतीति वृषा हि मनः । मनो वै पाथ्यो वृषा" इति श्रुतेः [६ । ४ । २ । ४] ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५–मन्त्र १ ।

सीदं होतः स्वऽउं लोके चिकित्वान्त्सादयां यज्ञᳬ सुकृतस्य योनौ ॥ देवावीर्देवान्हविषा यजास्यग्ने बृहद्यजमाने वयो धाः ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ सीदेत्यस्य देवश्रवोदेववातावृषी । निच्यृत्त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ–(होतः) आह्वान कार्यमें नियुक्त (अग्ने) हे अग्ने ! (चिकित्वान्) चेतनवान् अपने अधिकारको जाननेवाले (स्वेउ) अपने (लोके) स्थान कृष्णाजिनपर स्थापित किये पुष्करपर्णपर (सीद) स्थित हो (सुकृतस्य) श्रेष्ठ कर्मके (योनौ) स्थानवाले (यज्ञम्) यज्ञको (आसादय) स्थापनकर (अग्ने) हे अग्ने ! (देवावीः) देवताओंके प्रसन्न करनेवाले तुम (हविषा) हविद्वारा (देवान्) देवताओंको (आयजासि) पूजनकर तृप्तकरते हो इस कारण (यजमाने) यजमानमें (बृहत्) वडी (वयः) आयु वा अन्नको (धाः) धारणकर वा इस यजमानको यज्ञफल प्राप्त कराकर इसमें वडा यश स्थापित करो ॥ ३५ ॥

प्रमाण–१ "कृष्णाजिनं वै सुकृतस्य योनिः" इति श्रुतेः [६।४।२।६]सब यज्ञकार्य कृष्णाजिनपर होवे हैं इसकारण कृष्णाजिनको सुकृतकी योनि कहाहै [ऋ० ३ १ । ३३]॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६–मन्त्र १ ।

नि होता होतृषदने विदानस्त्वेषो दीदिवाँ२ऽअसदत्सुदक्षः ॥ अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सहस्रम्भरः शुचिजिह्वोऽअग्निः ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ निहोतेत्यस्य गृत्समद ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ–(होता) देवताओंका आह्वान करनेवाला (विदानः) अपने अधिकारको जाननेवाला (त्वेषः) दीप्तिमान् (दीदिवान्) गमनवान् (सुदक्षः) कुशल वा क्षिप्रकारी (अदब्धव्रतप्रमतिः) सिद्धकर्मा और अतिउत्कृष्ट बुद्धिवाले (वसिष्ठः)

पृथ्वीके प्रधाननिवासी (सहस्रम्भरः) सहस्रोंके पोषणकरनेवाले (शुचिजिह्वः) अतिपवित्र जिह्वा [ज्वाला] वाले (अग्निः) अग्नि (होतृषदने) होमनिष्पादक उत्तरवेदीरूप योग्य स्थानमें (न्यषीदत्) भलीप्रकार उपविष्ट हुए ॥ ३६ ॥ [ऋ० २ । ६ । १] ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७–मंत्र १ ।

सꣳसीदस्वमहाँ२ऽअसिशोचस्वदेववीतमः ॥ विधूममग्नेऽअरुषम्मियेध्यसृजप्रशस्तदर्शतम् ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ संसीदस्वेत्यस्य प्रस्कण्व ऋषिः । निच्यृदार्षी बृहती छं० । अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ–(मियेध्य) यज्ञके उपयोगी (प्रशस्त) श्रेष्ठ (अग्ने) हे अग्ने ! तुम (देववीतमः) देवगणके प्रियतम (महान्) बडे (असि) हो (संꣳसीदस्व) इस कृष्णाजिनपर स्थापित पुष्करपर्णपर स्थितहो (शोचस्व) होतृधिष्ण्यादिसे उपस्थापित होकर प्रदीप्त हो (दर्शतम्) आहुतिप्राप्तिसे दर्शनीय (अरुषम्) सवन (धूमम्) धूमको (विसृज) छोडो [१२] [ऋ० १ । ३ । ९] ॥ ३७ ॥

कण्डिका ३८–मंत्र १ अनु० ४ ।

अपोदेवीरुपसृजमधुमतीरयक्ष्मायप्रजाभ्यः ॥ तासामास्थानादुज्जिहतामोषधयꣳसुपिप्पलाः ३८

ऋष्यादि–(१) ॐ अपोदेवीरित्यस्य सिंधुद्वीप ऋषिः । न्यंकुसारिणी बृहती छन्दः । आपो देवता । मृत्पिण्डगर्ते जलसेचने वि० ॥ ३८ ॥

विधि–(१) इस मंत्रसे मृत्पिण्डके गर्तमें जल सिंचन करे [का० १६ । ३ । २] मन्त्रार्थ–हे अग्नि ! वा हे द्यौः ! अथवा हे अध्वर्यो ! (प्रजाभ्यः) प्रजाओंके (अयक्ष्माय) आरोग्यके निमित्त (देवीः) देवनशील तेजोमय (मधुमतीः) अमृतरूपी (अपः) जल (उपसृज) इस खनन प्रदेशमें सिंचनकरो (तासाम्) उन सींचे जलोंके (स्थानात्) स्थानसे (सुपिप्पलाः) सुन्दर फलवाली (ओषधयः) ओषधी (आ) सब प्रकारसे (उज्जिहताम्) प्राप्तकरो अर्थात् ओषधी तृण उद्भिज उत्पन्न हो ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९–मंत्र २

सन्तेवायुर्म्मातरिश्वादधातूत्तानायाहृदयंय्यद्विकं

स्त्तम् ॥ योदेवानाञ्चरंसिप्प्राणथैंनुकस्मैंदेवुवषंड स्त्तुतुब्भ्यंम् ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सन्त इत्यस्य सिंधुद्वीप ऋषिः । निच्यृत्साम्नी त्रिष्टुप्छं० । पृथिवी देवता । पिण्डगर्ते वायुप्रेरणे वि० । (२) ॐ देवानामित्यस्य सिंधुद्वीप ऋ० । निच्यृ० छं० । वायुर्देवता । प्रार्थने वि० ॥ ३९ ॥

विधि-(१) इस मंत्रको पाठ कर गर्तमें वायु प्रवेश करै [का० १६ । ३ । ३] मंत्रार्थ-हे भूमि ! (उत्तानायाः) ऊर्ध्वमुखसे अवस्थित (ते) तेरा (यत्) जो (हृदयम्) हृदयपिण्ड (विकस्तम्) विराट्रूपसे विकसित है उस स्थानको (मातरिश्वा) वायु (सन्दधातु) जल प्रक्षेप तृणादि पूरणसे सम्यक् करै अर्थात् अन्तरिक्षचारी वायु उसमें प्रवेश करै १ । (देव) हे देव ! (यः) जो तुम (देवानाम्) सम्पूर्ण देवता अग्निआदिके (प्राणथेन)प्राणभावसे (चरसि) विचरण करते हो वा जगत्में अवस्थान करते हो (तुभ्यम्)तुम्हारे निमित्त (कस्मै) प्रजापतिरूपसे यह पृथ्वी (वषट्) वषट्कारवाली (अस्तु) हो अर्थात् तुमको यह मृत्पिण्ड प्रदत्त होता है "हेतावत्यन्याहुतिरस्तियथैषा" इति श्रुतेः [६ । ४ । ३ । ४] ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०—मंत्र २ ।

सुजातोज्ज्योतिषासुहशर्म्मुवरूथमासंदुत्स्वः ॥ वासोऽअग्नेव्विश्वरूपुर्ठसंव्ययस्वविभावसो ॥ ४० ॥

ऋष्यादि-(१-२) ॐ सुजात इत्यस्य मंत्रद्वयस्य सिंधुद्वीप ऋ० । भुरिगनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । कृष्णाजिनपुष्करपर्णयोः प्रान्तयोरूर्ध्वादाने मुञ्जयोक्त्रेण बन्धने च वि० ॥ ४० ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे बिछायेहुए कृष्णाजिनके प्रान्तभागको बन्धनके निमित्त ऊर्ध्व मुख करै [का० १६ । ३ । ५] मन्त्रार्थ-(सुजातः) भली प्रकारसे प्रगट यह अग्नि (ज्योतिषा) अपनी ज्योतिके (सह) सहित (शर्म) सुखरूप (स्वः) स्वर्गकी समान (वरूथम्) वरणयोग्य ग्रह कृष्णाजिनपर (आसदत्) स्थित हो १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे तीन लकडी रस्सीके द्वारा यह सब प्रान्त एकत्र कर भली रूपसे बांधे [का० १६ । ३ । ६] मंत्रार्थ-(विभावसो) हे दीप्तिधनवाले ! (अग्ने) हे अग्ने ! (विश्वरूपम्) यह विचित्रवर्ण कृष्णाजिनरूप (वासः) वस्त्र (संव्ययस्व) धारण करो ॥ ४० ॥

विवरण-अग्निके प्रवेश करनेका भाव यह कि कृष्णाजिनको कीटादि भक्षण करके निकृष्ट न करदें ॥ ४० ॥

कण्डिका ४१-मंत्र १ ।

उदुतिष्ठस्वध्वरावानोदेव्याधिया ॥ दृशेचभासा बृहतासुशुक्कनिराग्नेयाहिसुशस्तिभिः ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उदुतिष्ठेत्यस्य विश्वमना ऋषिः । पथ्या बृहती वा भुरिगनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । पिण्डं गृहीत्वोत्थाने वि० ॥ ४१ ॥

विधि-(१) इस कृष्णाजिनमें बँधे मृत्पिण्डको ले यह मंत्रपाठपूर्वक उठै [का० १६ । ३ । ७] मंत्रार्थ-(स्वध्वरं) हे सुन्दर यज्ञके निर्वाहक (अग्ने) अग्निदेव ! (उत्तिष्ठ) उठो (देव्या) दिव्यगुणक्रीडाके स्वभाववाली (धिया) बुद्धिसे (नः उ) हमको (आअव) सब प्रकारसे पालन करो (च)और (सुशुक्रनिः) श्रेष्ठ किरणोंके फैलानेवाले (बृहता) बडे (भासा) तेजसे (दृशे) सब प्राणियोंको देखनेके निमित्त (सुशस्तिभिः) सुन्दर कीर्ति अथवा सुन्दर अश्वों करके (आयाहि) आगमन करो ॥ ४१ ॥

कण्डिका ४२-मंत्र १ ।

ऊर्ध्वऽऊषुणऽऊतयेतिष्ठादेवोनसविता ॥ ऊर्ध्वोवा जस्यसनितायदुञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ऊर्ध्व इत्यस्य प्रस्कण्व ऋषिः । उपरिष्टाद् बृहती छन्दः । अग्निर्देवता । प्राक्पिण्डग्रहणे वि० ॥ ४२ ॥

विधि-(१) इस मृत्पिण्डको वाहु फैलाय ग्रहण कर यह मंत्र पाठपूर्वक पूर्वाभिमुख जिस स्थलमें वह अश्वादि जाते हैं उधरको गमन करै [का० १६ । ३ । ८] मन्त्रार्थ-हे अग्ने ! (नः) हमारी (ऊतये) रक्षाके निमित्त (सविता) सबका प्रेरक सूर्य (देवः) देवताकी (न) समान (ऊर्ध्वः) ऊंचे हो ते (ऊषु) ऊर्ध्व (आतिष्ठ) स्थित हो (ऊर्ध्वः) ऊंचे होते तुम (वाजस्य) अन्नके (सविता) देनेवाले हो (यत्) जिसकारण कि (अञ्जिभिः) मंत्रके उच्चारण करनेवाले (वाघद्भिः)हव्यवाहक ऋत्विजोंद्वारा (विह्वयामहे) आह्वान करते हैं अथवा द्रव्योंके प्रगट करनेवाली हविकी वहन करनेवाली किरणोंसे युक्त तुमको बुलातेहैं तुम ऊर्ध्वस्थित होकर सविता देवताकी समान अन्नदाता हो [ऋ० १ । ३ । १०] ॥ ४२ ॥

कण्डिका ४३–मंत्र १ ।

सजातोगर्ब्भोऽअसिरोदस्योरग्ग्नेचारुर्विभृतऽओषधीषु ॥ चित्रःशिशुःपरितमाᳬंस्यक्तून्प्रमातृब्भ्योऽअधिकनिक्क्रदद्गाः ॥ ४३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ सजात इत्यस्य त्रित ऋ० । विराट् त्रिष्टुप्छन्दः । अश्वो देवता । अश्वदर्शनपूर्वकं जपे वि० ॥ ४३ ॥

विधि–(१) फिर इस पिण्डको अश्वादिके समीप उपस्थित करके भूमिपर रक्षाकर अश्वको अग्निरूप लक्ष्यकर यह मंत्र पाठकरै [का० १६ । ३ । ९ ।] पिण्डको नाभिसे ऊपर हाथोंमें रक्खै । मंत्रार्थ–(अग्ने) हे अग्ने ! (सः) वह तुम (चारु) शोभन पूजनीय (ओषधीषु) पुरोडाशादि लक्षणवाली ओषधियोंमें (विभृतः) पुष्टकरनेको स्थित (चित्रः) अनेक वर्णकी ज्वालाओंसे विचित्ररूप (शिशुः) इस समय उत्पन्नहोनेके कारण शिशुरूप वा प्रशंसनीय (रोदस्योः) द्यावापृथिवीके मध्यमें (जातः) उत्पन्न हुए (गर्भः) गर्भरूप (असि) हो (अक्तूनि) रात्रिलक्षणवाले (तमांसि) अन्धकारोंको (परि) दूर करते हुए (मातृभ्यः अधि) ओषधि वनस्पतियोंके सकाशसे (कनिक्रदत्) अत्यन्त शब्दकरतेहुए (प्रगाः) शीघ्रतासे चलो [ऋ० ७ । ९ । २९] ॥ ४३ ॥

भावार्थ–हे अग्ने ! तुम इस द्यावापृथ्वीके मध्यमें समुज्ज्वल रहते हो सब ओषधियोंके पुष्ट करता ऊर्ध्व उदित यही (चन्द्र) सुन्दर मूर्ति तुम्हारीही है रात्रिके अन्धकारकी नाशक है अनेक वर्णके किरणजालसे विचित्र शोभासम्पन्न यह शिशु (नवोदितसूर्य) मूर्तिभी तुम्हारीही है इस जगत्के परिमाणकारी अन्तरिक्ष भागमें सशब्द हठसे प्रदीप्त होनेवाले (वि द्युत्) ज्योतिभी तुमही हो ॥ ४३ ॥

कण्डिका ४४–मंत्र १ ।

स्त्थिरोभववीड्वङ्गऽआशुर्ब्भववाज्ज्यर्वन् ॥ पृथुर्ब्भवसुषदस्त्वमग्ग्नेःपुरीषवाहणः ॥ ४४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ स्थिरोभवेत्यस्य त्रित ऋषिः । विराडनुष्टुप्छन्दः । रासभो दे० । रासभदर्शनपूर्वकं जपे वि० ॥ ४४ ॥

विधि–(१) अनन्तर रासभको देखकर यह मंत्र पाठ करै । मन्त्रार्थ–(अर्वन्) हे गमनमें कुशल रासभ ! (स्थिरः) स्थिर होकर (वीड्वङ्गः) स्थिरकायावाले

(भव) हो (आशुः) वेगवान् होकर (वाजी) अन्नके हेतु (भव) हो, (पुरीषवाहणः) पुरीष्य अग्नि अर्थात् पांशुरूप मृत्तिकाको वहन करते (त्वम्) तुम (पृथुः) पृष्ठको विस्तीर्ण करते (अग्नेः) अग्निदेहरूप मृत्तिकाके (सुखदः) सुखसे स्थितिके योग्य (भव) हो अर्थात् इसको वहन करो ॥ ४४ ॥

कण्डिका ४५-मंत्र १।

शिवोभंवप्प्रजाब्भ्योमानुंषीब्भ्युस्त्वमंङ्गिरः ॥
माद्यावापृथिवीऽअभिशोंचीर्म्मान्तरिक्षुम्मावन
स्प्पतीन् ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ शिव इत्यस्य त्रित ऋषिः। विराट् पथ्या बृहती छं०। अजा देवता। अजादर्शनपूर्वकं जपे वि० ॥ ४५ ॥

विधि-(१) इसके उपरान्त अजाको लक्षकरके यह मंत्र पढे । मन्त्रार्थ-(आङ्गिरः) हे अग्निरूप ! अग्निके प्रियशिशु अज ! (त्वम्) तुम (मानुषीभ्यः) मनुष्यसम्बन्धी (प्रजाभ्यः) प्रजाओंके निमित्त (शिवः) कल्याणकारी शान्त (भव) हो (द्यावापृथिवी) द्यावापृथिवीको (मा) मत (अभिशोचीः) सन्तप्त करो (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (मा) मत सन्तापितकरो (वनस्पतीन्) वनस्पतियोंको (मा) मत सन्तापित करो ॥ ४५ ॥

प्रमाण-"आङ्गिरा वा अग्निराग्नेयोऽजः" इति श्रुतेः [६ । ४ । ४ । ४] अङ्गिराका प्रियपुत्र होनेसे ही पुराणोंमें अग्निका वाहन छाग कहाहै ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६-मन्त्र ३।

प्रैतुंवाजीकनिंक्रदुन्नानदद्रासंभुऽपत्त्वां ॥
भरंन्नग्निम्पुरीष्ष्युम्माप्द्याय्युषऽपुरा ॥
वृषाग्निम्वृषणम्भरंन्नुपाङ्गर्भऽसमुद्रियम् ॥
अग्नुऽआयांहिवीतयें ॥ ४६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रैतुवाजीत्यस्य त्रित ऋषिः। पंक्तिश्छन्दः। अश्वो देवता। अश्वोपरि मृत्पिण्डधारणे विनियोगः (२) ॐ वृषाग्निमित्यस्य त्रित ऋ०। साम्न्यनुष्टुप्छं०। रासभो दे०। रासभोपरि मृत्पिण्डधारणे वि०। (३) ॐ अग्न इत्यस्य त्रित ऋ०। एकपदा गायत्री छं०। अग्निर्दे०। अजोपरि मृत्पिण्डधारणे वि० ॥ ४६ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे अश्वके ऊपर मृत्पिण्ड धारण करै [का० १६ । ३ । १०] मन्त्रार्थ-(वाजी) वेगवान् अश्व (कनिक्रदत्) अतिहेषित शब्द करता हुआ (प्रैतु) वेगसे गमन करो (पत्वा) पतनशील (रासभः) गर्दभ (नानदत्) दिशाओंको शब्दायमान करताहुआ यवसवाहनके निमित्त पीछे चलै यह अश्व (पुरीष्यम्) पशुसम्बन्धी (अग्निम्) अग्निको (भरन्) धारण करताहुआ (आयुषः) कर्मसे (पुरा) पहले (मा) मत (पाहि) विनाशको प्राप्तहो कर्म-समाप्तिपर्यन्त जीवनको प्राप्त हो अर्थात् पुरीष्य अग्निको धारण किये रासभको पश्चात् करके हेषाशब्दपूर्वक वेगसे आगमनकर और परमायुकालसे पहले किसी प्रकार प्राणरहित मत हो १ । विधि-(२) अनन्तर अश्वपृष्ठसे इस पिण्डको लेकर यह मंत्र पढकर रासभकी पीठपर धरै । मन्त्रार्थ-(वृषा) सिंचनमें समर्थ रासभ (वृषणम्) आहुति परिणामसे फलदानमें समर्थ (अपाम्) जलोंके मध्य (गर्भम्) मेघोंमें विद्युत्‌रूपसे होनेवाले (समुद्रियम्) सागरमें वडवारूपसे होनेवाले अथवा अग्निचयनमें होनेवाले "त्रयो ह वै समुद्रा अग्निर्यजुषां महाव्रतꣳसाम्नां महदुक्थमृचाम्" इति श्रुतेः । (अग्निम्) अग्निको (भरन्) धारण करते आगमन कर २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे यह पिण्ड रासभसे उतारकर अजपर स्थापित करै [१६ । ३ । ११] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव! (वीतये) हविभक्षणके निमित्त (आयाहि) आगमन करो ॥ ४६ ॥

विशेष-"यदश्वस्य यजुषि रासभं निराह तद्रासभे शुचं दधाति" इति श्रुतेः [६ । ४ । ४ । ७] अश्वके साथ रासभका कथन उसमें पवित्रता धारण करनेके निमित्त है । आयुशब्दसे श्रुतिमें कर्म कहा है यज्ञसम्बन्धसेही अश्वादिकी स्तुति की है अश्व और रासभसे दूसरे कार्य लेनेकाभी उपदेशहै ॥ ४६ ॥

कण्डिका ४७ मंत्र-४ ।

ऋतꣳसत्यमृतꣳसत्यमग्निम्पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरामः ॥ ओषधयः प्रतिमोदध्वमग्निमेतꣳशिवमायन्तमभ्यत्र युष्माः ॥ व्यस्यन्विश्वा ऽअनिरा ऽअमीवा निषीदन्नो ऽअप दुर्मतिं जहि ॥ ४७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ऋतमित्यस्य त्रित ऋषिः । प्राजापत्या गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । अजस्योपरि पिण्डधारणे वि० । (२) ॐ अग्निमित्यस्य त्रित ऋषिः । साम्नी गायत्री छं० । अनड्वापुरुषाभीक्षणे वि० । (३) ॐ ओषधय इत्यस्य त्रित ऋ० । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । ओषधयो

दे०। सिकतोपकीर्णे प्राग्द्वारे पिण्डस्थापने वि०। (४) ॐ व्यस्यन्नित्यस्य त्रित ऋ०। निच्यृत्साम्नी त्रिष्टुप्छं०। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ-(ऋतम्) आदित्यरूप (सत्यम्) अग्निरूप अर्थात् व्यष्टिसमष्टिरूप आदित्य (सत्यम् ऋतम्) व्यष्टिसमष्टिरूप अग्नि है ऐसी ऋत और सत्यरूप अग्निको अजापर रक्षित करते हैं १। विधि-(२) अनन्तर अध्वर्यु आहवनीयके समीप सम्यक्रूपसे अग्निको प्रज्वलित करके दूसरे मंत्रसे अनद्धा [देवपितृकार्यसे विमुख] पुरुषको देखे [का० १६। ३। १४] मंत्रार्थ-(पुरीष्यम्) पशुसम्बन्धी (अग्निम्) अग्निको (अंगिरस्वत्) अंगिराकी समान (भरामः) संग्रह करते हैं २। विधि-(३-४) इससे पहले उद्धृत आहवनीयके उत्तर जलसे सींचे मार्जन कियेहुए वालुकामय पूर्वद्वारपर उत्कृष्ट स्थान प्रस्तुत है इस तीसरे मंत्रसे और परकण्डिकात्मक मंत्रपाठ करके उस स्थलमें उस पुरीष्य अग्निके आधारमें यह पंकिल मृत्तिका स्थापन करै अर्थात् उखा संभरणके लिये आहवनीयके उत्तर और पहलेही रेखायुक्त खिचे हुए वालुकासे युक्त स्थानपर पिण्डको स्थापन करै[का० १६। ३। १४] मन्त्रार्थ-(ओषधयः)हे सम्पूर्ण ओषधियो! तुम (एतम्) इस(शिवम्) शान्त कल्याणकारक और (अत्र) इस स्थलमें (युष्माः) तुम्हारे (आभि) सन्मुख (आयन्तम्) आते हुए (अग्निम्) अग्निके (प्रति) सन्मुख प्रत्युत्थानादिसे (मोदध्वम्) आमोदित करो। हे अग्ने ! तुम यहां (नीषीदन्) स्थित होते (नः) हमारे (विश्वाः) सम्पूर्ण (अनिराः) दुर्भिक्षपीडा ईति (अमीवाः) व्याधियोंको (व्यस्यन्) दूर करते हुए हमारी (दुर्मतिम्) हवन दानसे पराङ्मुख दुर्मतिको (अपजहि) नाश करो ॥ ४७ ॥

प्रमाण-"इरेत्यन्न नाम" [निघण्टु० २। ७। १२] ॥ ४७ ॥

कण्डिका ४८-मंत्र १।

ओषधयुऽप्प्रतिगृब्भ्णीतुपुष्प्पंवतीऽसुपिप्पुलाऽ॥ अुयंवोगर्ब्भऽऋुत्त्वियंः प्प्रुत्त्नꣳसुधस्त्थुमासदत् ॥ ४८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ओषधय इत्यस्य त्रित ऋ०। भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छं०। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ ४८ ॥

मंत्रार्थ-(ओषधयः) हे सम्पूर्ण ओषधियो ! तुम (पुष्पवती) फूलोंवाली (सुपिप्पलाः) अच्छे फलवाली तुम इस अग्निको (प्रतिगृभ्णीत) स्वीकार करो

(वः) तुम्हारे (गर्भः) गर्भरूप (ऋत्वियः) ऋतुकालको प्राप्त (अयम्) यह अग्नि (प्रत्नम्) पुरातन (सधस्थम्) स्थानको (आसदत्) स्थित हुआ ॥ ४८॥

भावार्थ–हे सब ओषधियो ! तुम इस अग्निको पतित्वमें स्वीकार करो यह अग्नि ऋतुकालमें तुम्हारे सनातन योनिदेशमें प्रविष्ट होकर गर्भरूपसे परिणत होताहै इसकारण तुम इसके अनुग्रहसे सुन्दर कुसुमसे शोभित होकर अभीष्ट फल लाभ करतेहो। पिताही स्वयं पुत्ररूपसे प्रकाश पाताहै इस निमित्त सहधर्मिणीका नाम जाया है इस मंत्रमें गूढ पञ्चाग्निविद्याका उपदेश है अग्निसेही ओषधियोंमें पुष्पादि होतेहैं ॥ ४८ ॥

कण्डिका ४९–मंत्र १।

विपाजसा पृथुनाशोशुंचानोबाधस्वद्विषोरक्षसोऽ अमीवाः ॥ सुशर्म्मणोबृहतः शर्म्मणिस्यामुग्ने रुहᳪसुहवस्युप्प्रणीतौ ॥ ४९ ॥ [१२]

ऋष्यादि–(१) ॐ विपाजसेत्यस्य उत्कील ऋषिः। त्रिष्टुप्छन्दः। अग्निर्देवता। अजलोमान्यादाय पशूपसर्जने वि० ॥ ४९ ॥

विधि–(१) इस मंत्रको पाठकर इस पिण्डको इस स्थानमें स्थापनके अनंतर पिण्डवाहक छागके कुछ रोम ग्रहण करके अश्वादि तीनोंवाहनोंको अग्निकोणके अभिमुख त्यागन करदे [का० १६। ३। १९] मंत्रार्थ–(पृथुना) बडेविस्तारवाले (पाजसा) बलसे (शोशुचानः) दीप्तिमान् हे अग्नि ! तुम (द्विषः) शत्रुओंको (रक्षसः) राक्षसोंको (अमीवाः) समस्त व्याधियोंको (विबाधस्व) विशेष निवर्तकरो [परोक्षसे] (सुशर्मणः) अच्छे सुखके कारण (बृहतः) प्रौढ महान् (सुहवस्य) सुखसे बुलानेको शक्य वा आहवनीय (अग्नेः) अग्निके (प्रणीतौ) प्रसन्नकरनेके कार्यमें नियुक्त (अहम्) मैं (शर्मणि) सुखमें (स्याम्) प्राप्त हूं ॥ ४९ ॥

प्रमाण–"पाज इति बलनाम" [निघं० २। ९। २।]॥ ४९॥

विशेष–मृगचर्ममें बंधेहुए मृत्पिण्डको खोलकर इस स्थानपर स्थापनकरै [ऋ० ३। १। १९।] ॥ ४९ ॥ [१२]

कण्डिका ५०–मंत्र ५।

आपोहिष्ठामयोभुवस्तानऽऊर्ज्जेदधातन ॥ महेरणायचक्षसे ॥ ५० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ आपोहिष्ठेत्यस्य सिंधुद्वीप ऋषिः । गायत्री छं० । आपो देवता । पिण्डोपर्युदकसिंचने वि० ॥ ५० ॥

विधि–(१) यह कण्डिका और अगली दो कण्डिकाओंका पाठकरके इस पिण्डपर ढाककी छालसे औटाया जल छिडकै [का० २६ । ३ । १७] मन्त्रार्थ–(आपः) हे जलसमूह ! तुम (मयोभुवः) सुखके करनेवाले सुखकी भावना करनेवाले स्नानपानादिसे सुखके उत्पादक (स्थ) हो (नः) हमारेमें (महे) बडे (रणाय) रमणीय (चक्षसे) दर्शनके निमित्त अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कारलक्षणयुक्त (हि) और निश्चयही (ऊर्जे) रसानुभव वा ब्रह्मानंदके अनुभवके निमित्त(आदधातन) स्थापनकरो ॥ ५० ॥

भावार्थ–जिस प्रकार हम सब रसके भोगनेवाले हों वैसा करो तथा ब्रह्मसाक्षात्कार दर्शनके योग्य हमको करो इस लोक और परलोकका सुख दो सुंदर दर्शनका आशय यह कि "यस्मिन् ज्ञाते सर्वं विज्ञातं स्यात्" इति (छान्दोग्ये)जिसके जाननेसे सब जाना जाता है [ऋ० ७ । ६ । ५] ॥ ५० ॥

कण्डिका ५१–मंत्र १ ।

योवः॑ शि॒वत॑मो॒ रस॒स्तस्य॑ भाजयते॒ह नः॑ ॥ उ॒श॒तीरि॑व मा॒तरः॑ ॥ ५१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ योव इत्यस्य सिंधुद्वीप ऋ० । गायत्री छं० । आपो दवता । वि० पू० ॥ ५१ ॥

मंत्रार्थ–हे जलो ! (वः) तुम्हारा (यः) जो (शिवतमः) शान्तरूप सुखका एकही कारण (रसः) रस (इह) इस कर्म वा इस लोकमें है (नः) हमको (तस्य) उस रसका (भाजयत) भागी करो (उशतीः) प्रीतियुक्त (मातरः) माता (इव) जैसे अपने स्तनको बालकोंको पिलाती हैं [ऋ० ७ । ६ । ५] ॥५१॥

गूढार्थ–हे परमात्मन्! आपका जो शान्तरूप ब्रह्मानंद है कृपाकर उस अमृतका भागी हमको करो ॥ ५१ ॥

कण्डिका ५२–मंत्र १ ।

तस्मा॒ऽअरं॑ गमाम वो॒ यस्य॒ क्षया॑य॒ जिन्व॑थ ॥ आपो॑ ज॒नय॑था च नः ॥ ५२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ तस्मा इत्यस्य सिंधुद्वीप ऋषिः । गायत्री छं० । आपो देवतावि० । पू० ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ—हे (आपः) हे जलो ! (वः) तुम्हारे सम्बन्धी (तस्मै) उस रसके निमित्त हम (अरम्) शीघ्रप्राप्तिको (गमाम) चलैं (यस्य) जिसके (क्षयाय) निवास जगत्के आधारभूत अर्थात् आहुतिपरिणामभूत जिस रसके एकदेशसे तुम ब्रह्मासे स्तम्बपर्यन्त जगत्को (जिन्वथ) तृप्तकरते अर्थात् पंचाहुतिके परिणाम-क्रमसे तृप्तकर प्रसन्नकरते हो (च) और (नः) उसके भोगसे हमको (जनयथ) उत्पन्न करते हो अथवा जिसके निवाससे तुम प्रसन्नहोते हो उस गुण वा रसकी प्राप्तिके निमित्त विशेपकर हम तुम्हारे निकट प्राप्त हैं, हे जलो ! तुम हमको प्रजा उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य दो। परमात्माकी प्रार्थनाभी इस मंत्रमें है जिसके प्रसादसे मुक्तिका सुखप्राप्त होताहै [ऋ० ७।६।५] ॥ ५२ ॥

कण्डिका ५३—मंत्र १।

मित्रऽसꣳसृज्ज्यपृथिवीम्भूमिञ्चज्ज्योतिंषासह ॥ सुजातञ्जातवेदसमयक्ष्मायत्त्वासꣳसृजामिप्प्रजाब्भ्यः ॥ ५३ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ मित्र इत्यस्य सिंधुद्वीप ऋषिः। उपरिष्टाद्बृहती छं०। मित्रो देवता। पिण्डेऽजलोममिश्रणे वि० ॥ ५३ ॥

विधि—(१) इस पिण्डमें छागके लोम इस मंत्रसे मिलावे [का० १६।३।१८।] मंत्रार्थ—(मित्रः) मित्र देवता 'आदित्य' (पृथिवीम्) द्युलोक (च) और (भूमिम्) इस पिण्डरूप भूमिको (ज्योतिषा) ज्योतिरूप अजलोमके (सह) साथ (सꣳसृज्य) एकत्र करके मुझ अध्वर्युको देता है, और मैंभी (सुजातम्) सुन्दर जन्मवाले (जातवेदसम्) प्रज्ञासंयुक्त अजलोमनामक (त्वा) तुझ अग्निको (प्रजाभ्यः) प्रजाओंके (अयक्ष्माय) रोगनिवृत्तिके निमित्त (सꣳसृजामि) पिण्डसे युक्त करताहूं ॥ ५३ ॥

विशेष—कोई मित्रका शब्द इस स्थलमें हाथका करते हैं ॥ ५३ ॥

कण्डिका ५४—मंत्र १।

रुद्द्राःसꣳसृज्ज्यं पृथिवीम्बृहज्ज्योतिःसमीधिरे ॥ तेषांम्भानुरजंस्रऽइच्छुक्क्रोदेवेषुरोचते ॥ ५४ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ रुद्रा इत्यस्य सिंधुद्वीप ऋषिः। अनुष्टुप्छंदः। रुद्रो देवता। पिण्डे सिकतालोहकिट्टपाषाणचूर्णमिश्रणे वि० ॥ ५४ ॥

विधि-(१) फिर इस मंत्रसे पिण्डमें महीनबालु और लोहकिट्ट और पाषाणचूर्ण मिलावे लोह किट्ट-लोहमल वा लोहचूर्ण । मन्त्रार्थ-(रुद्राः) जिन रुद्रोंने (पृथिवीम्) पार्थिव पिण्डको (सᳬसृज्य) बालु लोहकिट्ट और पाषाणचूर्णसे संयुक्त करके (बृहज्ज्योतिः) प्रौढ अग्निको (समीधिरे) प्रदीप्त किया (तेषाम्) उन रुद्रोंकी (शुक्रः) शुद्ध (भानुः) प्रदीप्त ज्योति (देवेषु) देवताओंके मध्यमें (अजस्रः) परिपूर्ण (इत्) भलीप्रकार (रोचते) प्रकाशित होती है ॥ ५४ ॥

कण्डिका ५५-मंत्र १ ।

सᳬसृष्टांवसुंभीरुद्रैर्द्धीरैᳬकर्म्मुण्ण्याम्मृदम् ॥
हस्ताँभ्याम्मृद्वीङ्कृत्त्वासिनीवालीकृणोतुताम् ५५

ऋष्यादि-(१) ॐ संसृष्टामित्यस्य सिंधुद्वीप ऋषिः । विराडनुष्टुप्छन्दः । सिनीवाली दे० । पिण्डे छागलोममिश्रणे वि० ॥ ५५ ॥

विधि-(१) ५५ । ५६ । ५७ इन तीन कण्डिकाओंके तीन मंत्र पाठ करकै छागलोममिश्रित मृत्तिका मर्दनद्वारा कोमलकर भलीप्रकार मिलावे [का० १६ । ३ । २०] मंत्रार्थ-(सिनीवाली) चन्द्रकलायुक्त अमावस्याभिमानी देवता, अथवा मन (धीरैः) बुद्धिमान् (वसुभिः) वसुगण (रुद्रैः)रुद्रगणोंद्वारा (सᳬसृष्टाम्) शर्करादिसे संयोजित (मृदम्) मृत्तिकाको (हस्ताभ्याम्) हाथोंसे (मृद्वीम्) कोमल (कृत्वा) करके (ताम्) उसको (कर्मण्याम्) उखाकर्मके योग्य (कृणोतु) करै ॥ ५५ ॥

कण्डिका ५६-मंत्र १ ।

सिनीवालीसुंकपुर्द्दासुंकुरीरास्वौपुशा ॥
सातुभ्भ्यमदितेमह्योखान्दधातुहस्त्तंयोᳬ ॥ ५६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सिनीवालीत्यस्य सिंधुद्वीप ऋ० । विराडनुष्टुप्छं० । अदितिर्देवता । वि० पू० ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ-(अदिते) हे दीनतारहित देवमाता ! (महि) हे पूजित ! (सा) वह (सुकपर्दा) सुन्दरकेशबन्धनवाली (सुकुरीरा)सुन्दर मस्तकके चन्द्रिकावाली वा सुन्दर मुकुटवाली (स्वौपशा) विलासमें चतुर अवयववाली (सिनीवाली) चन्द्रकलायुक्त अमावस्याभिमानी देवी (तुभ्यम्) तुम्हारे (हस्तयोः) हाथोंमें (उखाम्) पाकपात्र उखाको (स्थापयतु) स्थापित करो अर्थात् उखा करनेके निमित्त कोमल कीहुई मृत्तिका तुम्हारे हाथमें समर्पण करै ॥ ५६ ॥

प्रमाण-"अदितिरदीना देवमातेति यास्कः" [निरु० ४ । २३] ॥ ५६ ॥

विशेष–कोई अदितिशब्दसे दीनतारहित बुद्धि ग्रहण करते हैं, इसकोही हस्तपादादि चक्षु इन्द्रियरूप देवताकी माता कहा जाता है जिस समय कुछ चन्द्रकला रहती है वह अमावस्याका काल सिनीवाली कहाजाताहै उस समय मृत्तिकादिमें एक शक्ति प्रगट होती है उसका उखासंवरणमें कथन है "वाग्वा सिनीवाली" इति श्रुतेः [६।५।१।९] ॥ ५६ ॥

कण्डिका ५७–मंत्र २।

उखांकृणोतुशक्क्याबाहुब्भ्यामदितिर्द्धिया ॥ मातापुत्रंय्यथोपस्त्थेसाग्निम्बिभर्त्तुगर्ब्भऽआ ॥ मुखस्यशिरोसि ॥ ५७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ उखामित्यस्य सिंधुद्वीप ऋषिः। निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं०। अदितिर्देवता। वि० पू०। (२) ॐ मखस्येत्यस्य याजुषी गायत्री छं०। मृत्पिण्डो देवता। उखाकरणे वि० ॥ ५७ ॥

मंत्रार्थ–(अदितिः) आदिति देवता अपनी (शक्त्या) सामर्थ्यसे (धिया) बुद्धिद्वारा (बाहुभ्याम्) हाथोंसे उत्कर्षविधानपूर्वक (उखाम्) पाकपात्रको (कृणोतु) करे (सा) वह उखा (गर्भे) अपने मध्यमें (आ) सब प्रकारसे (अग्निम्) अग्निको (बिभर्तु) धारण करै (यथा) जैसे (माता) जननी (उपस्थे) गोदीमें (पुत्रम्) पुत्रको धारण करती है १। विधि–(२) अनन्तर यजमानपत्नी इस प्रस्तुत मृत्पिण्डसे कुछ मृत्तिका लेकर द्वादश अंगुलिके व्यवधानसे तीन स्थानोंमें रेखायुक्त आषाढनामक इष्टिका बनावै फिर यजमान इस पिण्डसे मृत्तिकाग्रहणपूर्वक ५७ कण्डिकाका शेषभागरूप द्वितीय मंत्र पाठ करके स्वयं उखा प्रस्तुत करै, एकपशुपक्षमें एकाविलस्त्व विस्तार वाली ऊर्ध्व पांच अस्र। पांचपशुपक्षमें त्रिभाग २३ अंगुलके विस्तारमें प्रादेशमात्र ऊंची हों [का० १६।३।२३] मंत्रार्थ–हे मृत्पिड! तुम (मखस्य) यज्ञके आहवनीयके (शिरः) मस्तकस्वरूप (असि) हो ॥ ५७ ॥

कण्डिका ५८–मन्त्र ४।

वसवस्त्वाकृण्वन्तुगायत्रेणच्छन्दसाङ्गिरस्वद्ध्रुवासिपृथिव्व्यसिधारयामयिप्प्रजाᳬंरायस्प्पोषं

१ परिपक्व करनेको.

ङ्गौपुत्त्यꣳसुवीर्य्यꣳसजातान्यजमानायरुद्रा
स्त्वांकृण्णवन्तुत्रैष्टुभेनच्छन्दसाङ्गिरस्वद्ध्रुवास्य
न्तरिक्षमसिधारयामयिप्प्रजाꣳरायस्प्पोषङ्गौ
पुत्त्यꣳसुवीर्य्यꣳसजातान्यजमानायादित्त्या
स्त्वांकृण्णवन्तुजागतेनच्छन्दसाङ्गिरस्वद्ध्रुवासि
द्यौरसिधारयामयिप्प्रजाꣳरायस्प्पोषङ्गौपुत्त्यꣳ
सुवीर्य्यꣳसजातान्यजमानायविश्श्वेत्त्वादेवावै
श्श्वानराऽकृण्णवन्त्वानुष्टुभेनच्छन्दसाङ्गिरस्व
द्ध्रुवासिदिशोसिधारयामयिप्प्रजाꣳरायस्प्पो
षङ्गौपुत्त्यꣳसुवीर्य्यꣳसजातान्यजमानाय ॥ ५८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ वसवस्त्वेत्यस्य सिंधुद्वीप ऋषिः। ब्राह्म्यनुष्टुप्छं०। उखा देवता। मृत्प्रथने वि०। (२) ॐ रुद्रास्त्वेत्यस्य सिंधुद्वीप ऋ०। आर्य्यनुष्टुप्छं०। उखा दे०। धातुनिर्माणे वि०। (३) ॐ अदित्यास्त्वेत्यस्य सिंधुद्वी० ऋ०। ब्राह्म्यनुष्टुप्छन्दः। उखा दे०। द्वितीयपिण्डिकापूर्वोपरि उत्तरधातुयोजने वि०। (४) ॐ विश्वेत्वेत्यस्य सिंधुद्वी० ऋ०। ब्राह्मी बृहती छन्दः। समीकरणे विनियोगः॥ ५८ ॥

विधि–(१)पहला मंत्र पाठ करके यह मृत्तिका एकविलस्त मात्र फैलावै [का० १६ । २ । २३ ।] मन्त्रार्थ–हे उखे ! (वसवः) वसुगण (गायत्रेण) गायत्री (छन्दसा) छन्दके प्रभावसे (अङ्गिरस्वत्) अंगिराकी समान (त्वा) तुझको (कृण्वन्तु) करैं उनकी कीहुई तुम (ध्रुवा) दृढ (असि) हो (पृथिवी)पृथ्वीरूप (असि)हो अर्थात् पृथ्वीरूप होनेसे चन्द्र सूर्य पर्यन्त स्थायी हो (मयि) मुझ (यजमानाय) यजमानके निमित्त (प्रजाम्) सन्तान (रायः) धन (पोषम्) पुष्टि चन्द्रकलासु) गोपतित्व (सुवीर्यम्) सुन्दर पराक्रम (सजातान्) सहोदरगणके (उखाम्) पाकर्षोचित सौहार्द (आधारय) धारण वा परिवर्धित करो १ । निमित्त कोमल कीहुई भृपाठकरके इस प्रथित फैलाई मृत्तिकाके प्रान्तभाग समस्त प्रमाण–"अदितिरदीना"धातुके कलशआदि जिसप्रकार दो भागमें निर्मित होतेहैं

पूर्वकालमें मृत्तिकाकी हांडीप्रभृतिभी इसीप्रकार निर्मित होतीथी इन दो भागोंको संस्कृत भाषामें कपालद्वय और वैदिक शब्दोंमें धातुद्वय कहतेहैं" [का० १६ । ३ । २७] मन्त्रार्थ–हे उखे ! (रुद्राः) रुद्रगण (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रिष्टुभ्छन्दके प्रभावसे (आङ्गिरस्वत्) आङ्गिराकी समान (त्वा) तुझको (कृण्वन्तु) निर्माण करैं (ध्रुवा) तुम दृढ (असि) हो कारण कि (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षरूपा (असि) हो शेष पूर्ववत् २। विधि–(३) फिर उखाको जलद्वारा लिम्पनकरके सुचिक्कणकरै तीसरे मंत्रसे दूसरी धातु निर्माणकरै नीचेके पिण्डपर ऊपरका धरै [का० १६ । ३ । २८] मंत्रार्थ–हे उखे ! (आदित्याः) बारह आदित्य (जागतेन छन्दसा) जगती छन्दकी सामर्थ्यसे (आङ्गिरस्वत्) आङ्गिराकी समान (त्वा) तुझको (कृण्वन्तु) निर्माण करैं तुम (ध्रुवा) दृढ (असि) हो कारण कि (द्यौः) द्युलोकरूप (असि) हो शेष पूर्ववत् ३ । विधि–(४) चौथे मंत्रसे समान चिक्कणकरै [का० १६ । ३ । १९] मन्त्रार्थ–(वैश्वानराः) सब मनुष्योंसे प्राप्त होनेयोग्य वा सबके सम्बन्धी वा सबके हितकारी (विश्वेदेवाः) विश्वेदेवा देवता (आनुष्टुभेन छन्दसा) अनुष्टुभ छन्दके प्रभावसे हे उखे ! (त्वा) तुझको (अङ्गिरस्वत्) आङ्गिराकी समान (कृण्वन्तु) निर्माण करैं (ध्रुवा) तुम दृढ (असि) हो कारण कि (दिशः) दिशास्वरूप (असि) हो शेष पूर्ववत् ॥ ५८ ॥

विशेष–जिस देवताकी महिमाका जो छन्द है उसी अपनी शक्तिसे वह कार्य करता है ॥ ५८ ॥

कण्डिका ५९–मन्त्र ३ ।

अदि॑त्यै रास्ना॒स्यदि॑तिष्टे॒ बिलं॑ गृभ्णातु । कृ॒त्वाय॒ सा म॒हीमु॒खां मृ॒न्मयीं॒ योनि॑म॒ग्नये॑ ॥ पु॒त्रेभ्यः॒ प्राय॑च्छ॒ददि॑तिः श्र॒पया॒निति॑ ॥ ५९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अदित्या इत्यस्य सिंधुद्वीप ऋषिः । याजुषी गायत्री० । रास्ना देवता । उखायां मेखलास्तनकरणे वि० । (२) ॐ अदितिरित्यस्य सिंधुद्वी० ऋ० । याजुषी बृहती छं० । उखा दे० । उखाया मुखकरणे वि० । (३) ॐ कृत्वायेत्यस्य सिंधु० ऋ० । उष्णिगनुष्टुप्छं० । अदितिर्दे० । भूमौ स्थापने वि० ॥ ५९ ॥

विधि–(१) अनन्तर इस मंत्रसे उखाके ऊर्ध्व परिमाणको तीन अंशमें विभाग करके दो अंशके ऊपर और तीसरे अंशके नीचे मृन्मयी मेखला निर्माण कर

यह विभूषित करै और फिर इस मेखलाके ऊपर चारों ओर चार स्तन निर्माण करै [का० १६।३।३०] मंत्रार्थ-हे मृत्तिकानिर्मित्त रेखा ! तुम (आदित्यै) अदितिरूप उखाकी वा अदितिदेवताके प्रभावसे इस उखाकी (रास्ना) काञ्चीगुणके स्थान-वाली (असि) हो १।विधि-(२) दूसरे मंत्रसे उखाका मुख निर्माणकरै [का० १६ । ४ । ३] मन्त्रार्थ-हे उखे ! (अदितिः) देवमाता (ते) तुम्हारे (बिलम्) मध्यको(गृभ्णातु) ग्रहणकरै अर्थात् अदितिदेवताके प्रभावसे तुम्हारा मुख निर्मित होताहै२।विधि-(३) तीसरे मंत्रसे अच्छी निर्मित्त उखा भूमिपर स्थापित करै[का० १६ । ४ । ४] मन्त्रार्थ-(अदितिः) देवमाता अदिति यह (महीम्) बडी (मृण्मयीम्) मृत्तिकाकी (अग्नये) अग्निकी (योनिम्) स्थानभूत (उखाम्) उखाको (कृत्वाय) निर्माणकर(श्रपयान्) पाककार्यसम्पादनके निमित्त (पुत्रेभ्यः) देवताओंके निमित्त (प्रायच्छत्) प्रदानकरतीहुई (इति) इसप्रकार कहकर कि हे पुत्रो ! तुम इसको पाककरो ॥ ५९ ॥

विशेष-मसीपात्र दवातको विद्यार्थी डोरा बांधकर लेजातेहैं जिसमें कि चारों ओर टेंटू निकले होतेहैं उसीमें डोरा होताहै ठीक वही आकृति उखापात्रकी है ।

कण्डिका ६०-मंत्र ७ ।

वसवस्त्वा धूपयन्तुगायत्रेणच्छन्दसाङ्गिरस्वद्रु द्रास्त्वाधूपयन्तुत्रैष्टुभेनच्छन्दसाङ्गिरस्वदादि त्यास्त्वाधूपयन्तुजागतेनच्छन्दसाङ्गिरस्वद्वि श्वेत्वादेवावैश्वानराधूपयन्त्वानुष्टुभेनच्छन्दसा ङ्गिरस्वदिन्द्रस्त्वाधूपयतुवरुणस्त्वाधूपयतुविष्णु स्त्वाधूपयतु ॥ ६० ॥ [११]

ऋष्यादि-(१) ॐ वसवस्त्वेत्यस्य सिंधुद्वीप ऋषिः । आर्ची गायत्री छं० । उखा देवता । अश्वशकृद्भिरुखाधूपने वि० । (२) ॐ रुद्रास्त्वेत्य-स्य सिंधु० ऋ० । निच्यृदार्ची गायत्री छं० । उखा दे० । वि० पू० ।(३) ॐ आदित्यास्त्वेत्यस्य सिंधु० ऋ० । आर्ची गायत्री छं० । उखा दे० । वि० पू०।(४) ॐ विश्वेत्वेत्यस्य सिन्धु० ऋ० । निच्यृदार्षी गायत्री छं०। उखा दे० । वि० पू० । (५-६) ॐ इन्द्रः-विष्णुस्त्वेत्यस्य मंत्रद्वयस्य सिंधु० ऋ० । याजुष्युष्णिक्छं० । उखा दे० । वि० पू० । (७) ॐ वरुण-स्त्वेत्यस्य सिंधु० ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छन्दः । उखा दे० । वि० पू० ॥ ६० ॥

विधि-(१-७) अनन्तर घोडेकी लीदके सात समूह अर्थात् सातवारके सात खण्ड दक्षिणाग्निमें प्रज्वलित करके इस कण्डिकाके सात मंत्रोंसे प्रत्येक क्रमसे इस उखाके मध्य बाहर भ्रमण कराकर उखाको धूममें सन्तप्त करै यह कार्य अध्वर्यु करै [का० १४ । ४ । ८] मन्त्रार्थ-हे उखे! (वसवः) वसुगण (गायत्रेण छन्दसा) गायत्री छन्दके प्रभावसे (अङ्गिरस्वत्) अंगिराकी समान (त्वा) तुझको (धूपयन्तु) धूपित करैं १ । (रुद्राः) रुद्रगण (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रिष्टुप् छन्दके प्रभावसे (अङ्गिरस्वत्) अंगिराकी वा प्राणोंकी समान (त्वा) तुझको (धूपयन्तु) धूपित करैं २ । (आदित्याः) आदित्यगण (जागतेन छन्दसा) जगती छन्दके प्रभावसे (अंगिरस्वत्) अंगिराकी समान (त्वा) तुमको (धूपयन्तु) धूपित करैं ३ । (वैश्वानराः) सबके हितकारक (विश्वेदेवाः) विश्वदेवा देवता (आनुष्टुभेन छन्दसा) अनुष्टुप् छन्दके प्रभावसे (आङ्गिरस्वत्) अंगिराकी समान (त्वा) तुझको धूपित करैं ४ । (इन्द्रः) इन्द्र (त्वा) तुझको (धूपयतु) धूपदे ५ । (वरुणः) वरुण देव (त्वा) तुझको (धूपयतु) धूपदे ६ । (विष्णुः) विष्णु देवता (त्वा) तुझको (धूपयतु) धूपदे ॥ ७ ॥ ६० ॥ [११]

प्रमाण-"प्राणो वा अङ्गिराः" इति श्रुतेः [श०] ॥ ६० ॥

कण्डिका ६१-मन्त्र ६ । अनु० ६ ।

अदि॑तिष्ट्वा दे॒वी वि॒श्वदे॑व्यावती पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वत्ख॑नत्त्ववट दे॒वानां॒ त्वा॒ पत्नी॑र्दे॒वी वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वद्द॑धतूखे धि॒षणा॑स्त्वा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वद॒भीन्ध॑तामुखे वरू॒त्रीष्ट्वा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वच्छ्र॑पयन्तूखे ग्ना॒स्त्वा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वत्प॑चन्तूखे जन॑य॒स्त्वाच्छि॑न्नपत्रा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वत्प॑चन्तूखे ॥ ६१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अदितिरित्यस्य सिंधुद्वीप ऋषिः । प्राजापत्या त्रिष्टुप्छं० । अवटो देवता । गर्तखनने विनि० । (२) ॐ देवानामित्यस्य सिंधु० ऋ० । प्राजापत्या त्रि० छं० । उखा देवता । गर्त उखास्थापने वि० । (३) ॐ धिषणास्त्वेत्यस्य सिंधु० ऋ० । प्राजा० छं० । उखा दे० । उखादीपने वि० । (४) ॐ वरूत्रीरित्यस्य सिंधुद्वीप ऋ० । आर्षी बृहती छन्दः । उखा दे० । जपे वि० । (५) ॐ ग्नास्त्वेत्यस्य सिंधु० ऋ० । साम्नी जगती छं० । उखा दे० । जपे वि० । (६) ॐ जनयस्त्वेत्यस्य सिंधु० ऋ० । आर्षी पंक्तिश्छं० । उखा दे० । उखां दृष्ट्वा जपे वि० ॥ ६१ ॥

विधि-(१) आषाढ उखा और विश्वज्योति यह तीन मृत्पात्र अग्निपक्व करनेके निमित्त प्रथम मंत्रसे अभ्रिद्वारा चौकोन एक गर्त खनन करै [का० १६ । ४ । ९ ।] मन्त्रार्थ-(अवट) हे गर्त ! (विश्वदेव्यावती) समस्त देवताओंकी अधिष्ठात्री (देवी) समस्त दिव्यगुणसम्पन्न (अदितिः) देवमाता (पृथिव्याः) पृथ्वीकें (सधस्थे) ऊपर भागमें (त्वा) तुझको (अङ्गिरस्वत्) अंगिराकी समान (खनतु) खनन करै १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे इस गर्तमें आषाढ स्थापन करके उसके उत्तर भागमें अधोमुख उखास्थापन करके उसके ऊपर तृणादि स्थापन करै [का० १६ । ४ । ११] मंत्रार्थ-(उखे) हे उखे ! (देवानाम्) देवताओंकी (पत्नीः)स्त्री औषधियें(विश्वदेव्यावती) समस्त देवगणोंके सहित (देवीः) दीप्यमान (पृथिव्याः)पृथ्वीके (सधस्थे) ऊपर (अङ्गिरस्वत्) अंगिराकी समान (त्वा) तुझको(दधतु)स्थापन करैं "ओषधयो वै देवानां पत्न्यः" इति श्रुतेः [श०६।५।४।४] विधि-(३) उखा स्थापनके अनन्तर उसके समीप मौन हो विश्वज्योति स्थापन करके दक्षिणाग्निसे लाई अग्निद्वारा इस तीसरे मंत्रको पाठकर प्रज्वलित करै [का० १६ । ४ । १२] मन्त्रार्थ-(उखे) हे उखे ! (विश्वदेव्यावतीः) समस्त देवगणकी अधिष्ठात्री(धिषणाः) वाणीकी अधिष्ठात्री(देवीः) देवी (पृथिव्याः)पृथ्वीके (सधस्थे) ऊपर (अङ्गिरस्वत्) अंगिराकी समान (त्वा)तुझको(अभीन्धताम्)दीप्त करैं ३ । विधि-(४-५-६) फिर चौथा पांचवां और छठा मंत्र पाठ करके इस पाकको देखै अर्थात् ऊपरसे अवेकी समान छिद्र कर देखै [का० १६ । ४ । १४]मन्त्रार्थ-(उखे) हे उखे ! (विश्वदेव्यावतीः) सम्पूर्ण देवताओंसे युक्त (वरूत्रयः) अहोरात्रके अभिमानी (देवीः) देवता (पृथिव्याः) पृथ्वीके (सधस्थे) ऊपर (अङ्गिरस्वत्) अंगीराकी समान(त्वा) तुझे(श्रपयन्तु) पाककरैं अर्थात् एक दिनरात अग्निमें पकावै ४ । (उखे) हे उखे ! (विश्वदेव्यावतीः)समस्तदेवगणकी अधिष्ठात्री (ग्नाः)

वैदिक छन्दोंकी अधिष्ठात्री (देवीः) देवता (पृथिव्याः) पृथ्वीके (सधस्थे) ऊपर (आङ्गिरस्वत्)अङ्गिराकी समान (त्वा) तुझको (पचन्तु) पक्क करैं आशय यह कि जबतक पकै निरन्तर वेदपाठ होता रहै ५ । (उखे) हे उखे ! (अच्छिन्नपत्राः) निरन्तर गमनशील (जनयः) नक्षत्राभिमानी (देवीः) देवियें (विश्वदेव्यावतीः) सब देवताओंके सहित (पृथिव्याः) पृथ्वीके (सधस्थे) ऊपर (आङ्गिरस्वत्) अंगिराकी समान (त्वा) तुझको (पचन्तु) पाक करैं ॥ ६१ ॥

प्रमाण- १ "अहोरात्राणि वै वरूत्रयोऽहोरात्रैर्हीदꣳसर्वं वृत्तम्" इति श्रुतेः [श० ६ । ५ । ४ । ६] २ "छन्दांसि वै ग्नाश्छन्दोभिर्हि स्वर्गलोकं गच्छन्ति" इति श्रुतेः [श०६ । ५ । । ४ । ७] ३ "नक्षत्राणि वै जनयः" इति श्रुतेः[६।५। ४ । ८] इससे निरन्तर वेदपाठकरना इस कार्यमें सूचितहै, जनिशब्दसे नारी गन्धकाष्ठ और नक्षत्रोंका ग्रहण है तथा इन मंत्रोंमें मृत्पात्रका निर्माण तथा उनके पाकका विधानरूप उपदेशहै जिसमें आदिसृष्टिसेही ज्ञान होजाय ॥ ६१ ॥

कण्डिका ६२-मंत्र १।

मित्रस्यं चर्षणीधृतोवोदेवस्यं सानसि ॥ द्युम्नञ्चित्रश्श्रवस्तमम् ॥ ६२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मित्रस्येत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋ० । निच्यृद्गायत्री छन्दः । मित्रो देवता । श्रपणक्षेपणे वि० ॥ ६२ ॥

विधि-(१) फिर उखाआदि तीनपात्रको सुपक्क होनेपर श्रपणको पृथक् करै श्रपण अर्थात् अर्धभस्म अंगाररूपसे परिणत हुए तृणकाष्ठादि[का०१६ । ४ ।१५]

मंत्रार्थ-(देवस्य) दीप्तिमान् (चर्षणीधृतः) मनुष्योंके पोषणकरनेवाले (मित्रस्य) मित्रदेवताकी (अवः) रक्षण जो कि (सानसि) सनातन "सानसीति पुराणनाम"[निघं० ३ । २७ । ४] (द्युम्नम्)यशरूपसे प्रसिद्ध (चित्रश्रवस्तमम्) विचित्र तथा अत्यन्त श्रवणके योग्य है उस श्रवणीय यशकी हम प्रार्थना करतेहैं [ऋ० ३ । ४ । ६] ॥ ६२ ॥

आशय-यह कि ऐसे उत्तापसे उखाप्रभृति स्फुटित न हुई यह ईश्वरहीकीकृपादृष्टि है।

कण्डिका ६३-मंत्र २।

देवस्त्त्वा सवितोद्वपतु सुपाणिः स्वङ्गुरिः सुबाहुरुत शक्त्या ॥ अव्यथमाना पृथिव्यामाशा दिशऽआपृण ॥ ६३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवस्त्वेत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । भुरिगार्षी बृहती छन्दः । उखा दे० । उखायाः श्रपणपराकरणे वि० । (२) ॐ अव्यथमानेति वि० ऋ० । भु० बृ० छन्दः । उखाया उत्तानकरणे विनियोगः ॥ ६३ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे भस्म पृथक् करै [का० १६ । ४ । १८-१९) मंत्रार्थ-हे उखे ! (सुपाणिः) सुन्दर हाथ (स्वङ्गुरिः) सुन्दर अंगुली (सुबाहुः) सुन्दरभुजावाले (देवः) दिव्यगुणयुक्त (सविता) सबके प्रेरक देवता (शक्त्या) अपनी शक्तिसे (उत्) बुद्धिसे (त्वा)तुझको (उद्वपतु) भस्मसे प्रकाशकरो १ । विधि-(२) दूसरा मंत्र पाठकरके आषाढपात्रको बाहरकर उखाको ऊर्ध्वमुख करै [का० १६ । ४ । १९-२०] मंत्रार्थ-हे उखे ! (अव्यथमाना) व्यथाको न प्राप्तहोनेवाली अचल (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें स्थितहुई तुम (आशा) पूर्वआदि दिशा और (दिशः) आग्नेयीआदि दिशाओंको (आपृण) आहुतिके रससे पूर्णकरो २ ॥ ६३ ॥

भावार्थ-हे उखे ! तुम मृन्मयी इतने समयतक मृत्तिकामें स्थितरही हो इस कारण विशेषकर सविता देवताकी अनुकंपासे किसी प्रकार क्लेश न पाना अब उठकर अपने यशसे दिशाविदिशाको पूर्ण करो मणिवन्धसे ऊपरके भागको बाहु और नीचेके भागको पाणी कहते हैं ॥ ६३ ॥

कण्डिका ६४-मंत्र २ ।

उत्थायबृहतीभवोदुत्तिष्ठद्ध्रुवात्त्वम् ॥ मित्रैता न्तंऽउखाम्परिददाम्म्यभित्त्याऽएषामाभेदि ॥६४॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उत्थायेत्यस्य विश्वामित्र ऋ० । आर्ष्यनुष्टुप्छं० । उखामित्रौ दे० । उखानिष्कासने वि० । (२) ॐ मित्रैतामित्यस्य विश्वामित्र ऋ० । उखा दे० । उखास्थापने वि० ॥ ६४ ॥

विधि-(१) पहले मंत्रको पढकर दोनों हाथोंसे भली प्रकार पाकसे उखाको निकालै [का० १६ । ४ । २१-२२] मन्त्रार्थ-हे उखे ! (त्वम्)तुम (उत्थाय) इस पाकगर्तसे बाहर निकलकर (बृहती) बडी सत्कारयोग्य (भव) हो (उतऊ) और (ध्रुवा) स्थिर होकर (उत्तिष्ठ) अपने कर्ममें प्रवृत्त अर्थात् दृढ होकर कार्यउपयोगिनी हो १ । विधि-(२) निकालीहुई उखाको इस दूसरे मंत्रका पाठकर उत्तर भागमें स्थापित उखापात्रके ऊपर स्थापित कर रक्षा करे फिर मंत्र पढे विना विश्वज्योतिको निकालै [का० १६ । ४ । २२] मन्त्रार्थ-(मित्रम्) हे मित्र देवता ! प्राणियोंके हितकरनेवाले (एताम्) इस

(उखाम्) उखाको (अभित्यै) खण्डित नहोने अर्थात् रक्षाके लिये (ते) आपके निमित्त (परिददामि) देताहूं (एषा) यह तुम्हें सौंपीहुई उखा (माभेदि) किसी प्रकार विदीर्ण न हो यथावत् रहै ॥ ६४ ॥

कण्डिका ६५—मंत्र ४।

वसंवस्त्वाच्छृन्दन्तुगायत्रेणच्छन्दंसाङ्गिरस्वद्रुद्रास्त्वाच्छृन्दन्तुत्रैष्टुभेनच्छन्दंसाङ्गिरस्वदादित्यास्त्वाच्छृन्दन्तुजागतेनच्छन्दंसाङ्गिरस्वद्विश्वेत्वादेवावैश्वानराऽआच्छृन्दन्त्वानुष्टुभेनच्छन्दंसाङ्गिरस्वत् ॥ ६५ ॥ [५]

ऋष्यादि—(१—२) ॐ वसव आदित्यास्त्वेति मंत्रयोर्विश्वामित्र ऋ०। भुरिगार्ची गायत्री छं०। उखा दे०। (३) ॐ रुद्रास्त्वेत्यस्य त्रिश्वा० ऋ०। प्राजापत्यानुष्टुप्छं०। उखा दे०। (४) ॐ विश्वे देवा इत्यस्य विश्वा० ऋ०। निच्यृत्साम्नी जगती०। उखा दे०। चतुर्णा मंत्राणां मुखोपर्यजादुग्धसिञ्चने वि० ॥ ६५ ॥

विधि—(१—४) इस कण्डिकाके चार मंत्रोंका पाठकर चारवार इस उखाके बाहरभीतर अजादुग्ध सिंचन करै [का० १६।४।२३] मंत्रार्थ—हे उखे! (वसवः) वसुगण (गायत्रेण छन्दसा) गायत्रीछन्दके प्रभावसे (अङ्गिरस्वत्) अंगिराकी समान (त्वा) तुझको (आच्छृन्दन्तु) अजादुग्धसे सेचितकरै १। हे उखे! (रुद्राः) रुद्रगण (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रिष्टुभ्छन्दके प्रभावसे(अङ्गिरस्वत्)अंगिराकी समान (त्वा) तुझको (अच्छृन्दन्तु) सिंचनकरै २। हे उखे! (आदित्याः) आदित्यगण (जागतेन छन्दसा) जगतीछन्दकी सामर्थ्यसे (अंगिरस्वत्) अंगिराकी समान (त्वा) तुझको (आच्छृन्दन्तु) सिंचन करै ३। हे उखे! (वैश्वानराः) विश्वके हितकारी(विश्वेदेवाः) विश्वेदेवा(आनुष्टभेनच्छन्दसा) अनुष्टुप्छन्दके प्रभावसे (अङ्गिरस्वत्) अंगिराकी समान (त्वा) तुझको(आच्छृन्दन्तु) सिंचन करै॥६५॥[५]

उखासम्भरण पूर्णहुआ।

कण्डिका ६६—मंत्र ७. अनु० ७।

आकूतिमग्निम्प्रयुजꣳस्वाहामनोमेधामग्निम्प्रयुजꣳस्वाहाचित्तंविज्ञातमग्निम्प्रयुजꣳस्वाहा

वा॒चोवि॒धृ॑तिम॒ग्निम्प्र॒युज॒ᳬस्वाहा॒प्र॒जाप॑तये॒म
न॑वे॒स्वाहा॒ग्नये॑वैश्वान॒राय॒स्वाहा॑ ॥ ६६ ॥

ऋष्यादि (१) ॐ आकूतिमित्यस्य विश्वामित्र ऋ० । याजुषी पंक्तिश्छन्दः । लिङ्गोक्ता दे० । उद्ग्रभणाहुतिदाने वि० । (२-३-४) ॐ मन इति त्रयाणां मंत्राणां विश्वामित्र ऋषिः । याजुषी त्रिष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । उद्ग्रभणाहुतिदाने वि० । (५) ॐ प्रजापतय इत्यस्य विश्वा० ऋ० । याजुषी पंक्तिश्छं० । लिंगोक्ता दे० । उद्ग्रभणाहुतिहोमे वि० । (६-७) ॐ अग्नय इत्यस्य, प्रजापतय इत्यस्य च मन्त्रद्वयस्य विश्वा० ऋ० । आसुरी त्रिष्टुप्छन्दः । लिंगोक्ता दे० । उद्ग्रभणाहुतिदाने विनियोगः ॥ ६६ ॥

विधि-(१-७) इस प्रकार उखासम्भरण कार्य समाप्त करके एवं अन्यान्य इष्टका समाप्त करके फाल्गुन मासकी अमावसको दीक्षित होकर उद्ग्रभणं होमकालमें अतिसावधानचित्तसे सोममात्र कर्तव्य कर्म करे[४अ०७का०]पांच आहुति उद्ग्रभण होम करके फिर विशेषतः अग्निचयनकालमें इस कण्डिकाके सात मंत्रसे सात उद्ग्रभण आहुति प्रदान करे [का० १६ । ४ । ३०] मंत्रार्थ-(आकूतिम्) यज्ञसंकल्पके प्रेरक (अग्निम्) अग्निको (प्रयुजम्) इस यज्ञकर्ममें प्रयुक्त किया उसके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति प्रदानकीजाती है १ । (मनः) मन और (मेधाम्) मेधा श्रुति मंत्रधारणशक्तिके (प्रयुजम्) प्रेरण करनेवाले (अग्निम्) अग्निको (स्वाहा) आहुति देते हैं २ । (चित्तम्) चित्त आविज्ञात अनुष्ठानके ज्ञानसाधन (विज्ञातम्) विज्ञानके (प्रयुजम्) प्रेरक (अग्निम्) अग्निको (स्वाहा) आहुति देते हैं ३ । (वाचः) मंत्रपाठरूप वाणी (विधृतिम्) और विशेष धारणाके (प्रयुजम्) प्रेरक (अग्निम्) अग्निको (स्वाहा) आहुति देते हैं ४ । (मनवे) मन्वन्तर प्रवृत्त करनेवाले (प्रजापतये) प्रजापतिके निमित्त (स्वाहा) श्रेष्ठ आहुति हो ५ । (वैश्वानराय) विश्वके हितकारी (अग्नये) अग्नि देवताके निमित्त (स्वाहा) श्रेष्ठ होम हो ६ । इसमें "प्रजापतये स्वाहा" पृथक् करनेसे सात आहुति होती हैं ॥ ६६ ॥

कण्डिका ६७-मंत्र १ ।

विश्वो॑दे॒वस्य॑ने॒तुर्म्मर्त्तो॑वुरीतस॒ख्यम् ॥ विश्वो॑
रा॒यऽइ॑षुध्यति॒द्युम्न॑वृ॑णीतपु॒ष्यसे॒स्वाहा॑ ॥ ६७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्वोदेवस्येत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋ० । आर्ष्युनुष्टुप्छं० । सविता देवता । ईश्वरप्रार्थने वि० ॥ ६७ ॥

विधि-(१) यह मंत्र पाठ कर ईश्वरका स्मरण करै । मन्त्रार्थ-(विश्वः) सम्पूर्ण (मर्तः) मनुष्य (नेतुः) फल प्राप्त करानेवाले (देवस्य) परमात्माके (सख्यम्) सख्यताको (वुरीत) प्रार्थना करैं (पुष्यसे) कर्म उपासना ज्ञानकी पुष्टिके निमित्त (द्युम्नम्) यश वा अन्नको (वृणीत) इच्छा करो (राये) धनप्राप्तिके निमित्त (विश्वः) सब मनुष्य (इषुध्याति) उससे प्रार्थना करते हैं (स्वाहा) उनके निमित्त श्रेष्ठ होम हो ॥ ६७ ॥

भावार्थ-क्या धन क्या बल क्या पुष्टिके निमित्त सम्पूर्ण इष्टसाधनके निमित्तही यह मनुष्य मण्डली सर्वनियन्ता देवताकी सख्य प्रार्थना करैं, उसीके उद्देशसे हवि देते हैं ॥ ६७ ॥

कण्डिका ६८-मन्त्र १ ।

मासुभित्त्थामासुरिषोम्बधृष्णुवीरयस्वसु ॥ अग्निश्श्चेदङ्करिष्यथऽ ॥ ६८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मास्वित्यस्यात्रेय ऋषिः । आर्षी गायत्री छं० । उखाग्नी देवते । आहवनीय उखारोपणे वि० ॥ ६८ ॥

विधि-(१) अनन्तर दीक्षणीय सम्पूर्ण कार्यशेष करके और कृष्णाजिन दीक्षाप्रभृति दण्डोच्छ्रयणपर्यन्त जो सम्पूर्ण कार्य सोमयागमें किये जाते हैं उनको समाप्त करकै अध्वर्यु और यजमान ईशानाभिमुख अथवा पूर्वाभिमुख होकर यह कण्डिका और परकण्डिकात्मक तीन मंत्र पाठ करके सुप्रज्वलित अग्निके ऊपर प्रथम शणनिर्मित पक्षिनीड [घोंसले] की समान आच्छादित फिर मुञ्जके बने पक्षिनीडकी समानसे आच्छादित उखा स्थापन करै [का० १६ । ४ । ३१] मन्त्रार्थ-(अम्ब) हे माता उखे ! तुम (सु) अवश्यही(मा)मत (भित्थाः) विदीर्ण हो (सु) अवश्यही (मा) मत (रिषः) विनाशको प्राप्त हो अर्थात् न टूटो न लेशमात्र भिन्न हो (धृष्णुः) किन्तु प्रगल्भतापूर्वक (सु) भली प्रकार (वीरयस्व) वीरकर्म करो (अग्निः) अग्नि (च) और तुम (इदम्) समाप्तिपर्यन्त इस हमारे कार्यको (करिष्यथः) करोगे अर्थात् अग्नि हमारी प्रार्थनासे उखोपयोगिता करै. ॥ ६८ ॥

कण्डिका ६९-मंत्र १ ।

दृꣳहस्वदेविपृथिविस्वुस्तयंऽआसुरीमायास्वध

यांकृतासि ॥ जुष्टन्देवेभ्यंऽइदमस्तुहव्यमरिष्टा त्वमुदिहियज्ञेऽअस्मिन् ॥ ६९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दृढंहस्वेत्यस्यात्रेय ऋ० । त्रिष्टुप्छं० । उखा देवता । वि० पू० ॥ ६९ ॥

मन्त्रार्थ-(देवि) हे देवी ! (पृथिवि) पृथ्वि उखे !(स्वस्तये)यजमानके कल्याणके निमित्त (दृढंहस्व) दृढ हो मृत्का कार्य होनेसे पृथ्वी और मंत्रोंसे निष्पादित होनेसे देवता कहा (स्वधया) अन्नके निमित्त (आसुरी) प्राणसम्बन्धिनी (माया) प्रज्ञा (कृता-असि) कीगई हो अथवा तुमने चार स्तन धारण करके आसुरीमाया 'मोहिनीमूर्ति' अवलम्बन कीहै (इदम्) यह (हव्यम्) हवियोग्यअन्न (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (जुष्टम्) प्रिय (अस्तु) हो अर्थात् तुममें अन्नका पाक आवाहित होगा और उससेही इस यज्ञमें देवगण प्रसन्न होंगे (त्वम्) कार्यशेषपर्यन्त तुम (अरिष्टा) अभग्नरूपसे (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञमें (उदिहि) अवस्थितिकरो कार्यसमाप्तिपर उत्थित होगी ॥ ६९ ॥

प्रमाण-"प्राणो वा असुस्तस्यैषा माया" इति श्रुतेः [६ । ६ । २ । ६] ॥ ६९ ॥

कण्डिका ७०-मन्त्र १ ।

द्रन्नःसर्प्पिरासुतिःप्प्रत्नोहोतावरेण्यः ॥ सहसस्प्पुत्रोऽअद्भुतः ॥ ७० ॥ शतम् ॥ ५०० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ द्रन्न इत्यस्य सोमाहुतिर्ऋषिः । विराड् गायत्री छं० । अग्निर्देवता० । अग्नौ कार्मुकीसमित्प्रक्षेपणे वि० ॥ ७० ॥

विधि-(१) अभितापसे उखामें अग्नि प्रगट होनेपर इन तेरह मंत्रोंसे प्रादेशमात्र समिधा अग्निमें प्रक्षेप करै इस मंत्रसे प्रथम घृतसिक्त कार्मुकी समित् प्रदान करै [का० १६ । ४ । ३३] मंत्रार्थ-(द्रन्नः) जिसका प्रधान भक्ष्य पलाशकाष्ठ है (सर्पिरासुतिः) जिसका प्रधान पानी घृत है (प्रत्नः) जो पुरातन (होता) देवगणोंका आह्वान करनेवाला (वरेण्यः) वरणीय (सहसः) बलसे मथन करनेसे (पुत्रः) उत्पन्न होनेवाला (अद्भुतः) आश्चर्यरूप है वह अग्नि देवता कार्मुकी समिद् भक्षण करै ॥ ७० ॥

प्रमाण—"द्रन्नः सर्पिरासुतिरिति दार्वन्नः" । [श० ६ । ६ । २ । १४] आत्माहीं उखा, योनि मुञ्ज, शण जरायु है उल्ब घृत, गर्भ समिधा है । [श० ६ । ६ । २ । १५] ॥ ७० ॥

कण्डिका ७१—मन्त्र १ ।

परस्याऽअधिसंवतोवराँ२ऽअभ्यातर ॥ यत्राहमस्मितॉं२ऽअव ॥ ७१ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ परस्या इत्यस्य विरूप ऋ० । विराड् गायत्री छं० । अग्निर्देवता । अग्नौ वैकंकतीसमित्प्रक्षेपणे वि० ॥ ७१ ॥

विधि—(१) इस मंत्रसे दूसरे वैकंकत समिधाको प्रक्षेप करै [का० १६ । ४ । ३६] मन्त्रार्थ—(परस्याः) शत्रुसम्वन्धी (संवतः) संग्रामसे "सम्वत् इति संग्रामनामसु पठितम्" [निघं० २ । २७](अवरान्)हमारे जनोंको(अभ्यातर) दुःख तारनेको सन्मुख आओ अर्थात् हे अग्ने !यदि हम किसी संग्राममें शत्रुपक्षीय सेनागणकी अपेक्षा हीनबल हो तो तुम्हारे प्रसादसे उस विपद्समूहसे उत्तीर्ण होजायँ और (यत्र) जिस स्थानमें (अहम्) मैं (अधि आसि) सम्यक् स्थित हू (ताम्) उन स्थानको (अव) रक्षाकरो [ऋ० ६ । ५ । २६] ॥ ७१ ॥

कण्डिका७२—मन्त्र १ ।

पुरमस्याः॑परावतौरोहिदंश्वऽइहागंहि ॥ पुरीष्यः पुरुप्प्रियोग्ग्नेत्त्वन्तंरामृधः ॥ ७२ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ परमस्या इत्यस्य वारुणिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । औदुम्बरीसमित्प्रक्षेपणे वि० ॥ ७२ ॥

विधि—(१) इस मंत्रसे तीसरे उदुम्बरकी समिधा प्रक्षेपकरै [का० १६ । ४ । ३७] मंत्रार्थ—(अग्ने) हे अग्निदेव ! (रोहिदश्वः) रोहितनामं अश्व रखनेवाले (पुरीष्यः) पशुसम्वन्धी वा पाक पकनेसे उत्पन्न होनेवाले (पुरुप्रियः) बहुजनप्रिय (त्वम्) तुम (परमस्याः) अत्यन्त (परावतः) दूररहनेवाले अर्थात् अनेकोंकी बुद्धिअगोचर प्रायः अतिदूर रहकरभी (इह)इस यज्ञकर्ममें (आगहि) आगमन करो (मृधः) संग्राममें शत्रुओंको (आतर) विनाशकर उत्तीर्णहो अर्थात् प्रकृतकार्यके निर्वाहक हो ॥ ७२ ॥

प्रमाण-"परावत इति दूरनामसु"[निघं० ३ । २६ । ५ ।] "रोहितोग्नेर्हरित आदित्यस्य" [निघं० १ । १५] ॥ ७२ ॥

विवरण-जिसका वाहन रक्तवर्ण हो उसको रोहिदश्व कहतेहैं प्रसिद्ध दीप्तिमान् रक्तवर्ण आकारही रोहिदश्व कहाहै. यह मंत्र परमात्माकी प्रार्थनासे गर्भित है ॥ ७२ ॥

कण्डिका ७३-मंत्र १ ।

यदग्ग्नेकानिकानिचिदातेदारूणिदध्मसि ॥
सर्वन्तदस्तुतेघृतन्तज्जुषस्वयविष्ठ्य ॥ ७३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यदग्ने इत्यस्य जमदग्निर्ऋ० । निचृदनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । अपरशुवृक्णयज्ञीयतरुसमित्प्रक्षेपणे वि० ॥ ७३ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे चतुर्थ (अपरशुवृक्णा) कुठारके विना काटी किन्तु वायुआदिसे टूटी यज्ञीय वृक्षकी समित् प्रक्षेप करै [का० १६ । ४ । ३६]

मन्त्रार्थ-(यविष्ठ्य) हे युवश्रेष्ठ ! (अग्ने) हे अग्नि ! (यत्) जो (कानि)कोई (चित्) भी (दारूणि) काष्ठ (ते) तुम्हारे निमित्त (आदध्मसि) अर्पण करैं (तत्) वह (सर्वम्) सब (ते) तुमको (घृतम्) घृतकी समान प्रिय (अस्तु) हो (तत्) उसको (जुषस्व) प्रीतिसहित सेवन करो ॥ ७३ ॥

कण्डिका ७४-मन्त्र १ ।

यदत्त्युपजिह्विकायद्वम्म्रोऽअतिसर्प्पति ॥
सर्वन्तदस्तुतेघृतन्तज्जुषस्वयविष्ठ्य ॥ ७४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यदत्तीत्यस्य जमदग्निर्ऋषिः ॥विराडनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । अधःशयसमित्प्रक्षेपणे वि० ॥ ७४ ॥

विधि-(३) इस मंत्रसे पांचवीं अधःशया अर्थात् वृक्षकी जो शाखा नीचे शयित हो अर्थात् भूपृष्ठको आलिंगन करै उसकी समित् प्रक्षेप करै [का० १६ । ४।३९]

मन्त्रार्थ-हे अग्नि ! (उपजिह्विका) दीमकगण (यत्) जो काष्ठ(अत्ति)भक्षण करते हैं (वम्रः) वल्मीक (यत्) जिस काष्ठके (अतिसर्पति) पार हो निकलती है वा व्याप्तकरती है (यविष्ठ्य) हे यवश्रेष्ठ तरुण (तत्) वह अधःशया समित (ते) तुमको (घृतम्) घृतवत् प्रिय (अस्तु) हो (तत्) उसको (जुषस्व) प्रीतिसे सेवन करो [ऋ० ६ । ७ । १२] ॥ ७४ ॥

विशेष-यहां ऋग्वेदसे "तज्जुषस्व यविष्ठ्य" यह अधिक है ॥ ७४ ॥

कण्डिका ७५-मन्त्र १ ।

अहंरहुरप्प्रयावुम्भरुन्तोश्श्वायेवुतिष्ठंतेघुासम स्म्मै ॥ रायस्प्पोषेणसमिषामदुन्तोग्ग्नेमातेप्प्रतिवेशारिषाम ॥ ७५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अहरहरित्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋषिः । विराट् त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । उदेषामिति (८२) कण्डिकापर्यन्तस्य अग्नौ पालाशीसमित्प्रक्षेपणे वि० ॥ ७५ ॥

विधि-(१) इसके उपरान्त यह आठ मंत्र उच्चारण करके प्रादेशमात्र पलाशकी आठ समिधाओंसे आहुति दे[का०१६।४।४०] मंत्रार्थ-(अग्ने)हे अग्ने ! (ते) तुम्हारे (प्रतिवशा) आश्रयवाले हम (अहरहः) निरन्तर (अप्रयावम्) अप्रमत्तकी समान (अस्मै) इस अग्निदेवके निमित्त (घासम्)समिधारूप भक्ष्यको(भरन्तः) सम्पादन करतेहुए जैसे(तिष्ठते)वाजिशालामें स्थित(अश्वाय इव)घोडेको प्रतिदिन घास दीजातीहै इस प्रकारसे और (रायः) धनकी (पोषेण) पुष्टिलक्षणा दक्षिणावालीसे (इषा) अन्नसे (सम्मदन्तः) हर्षको प्राप्तकरते (मा रिषाम) हिंसाको प्राप्त न हों, अर्थात् जैसे प्रतिदिन घोडेको नियत समयपर घास दीजातीहै इसीप्रकार प्रतिदिन अग्निहोत्र करते हुए हम मंगलको प्राप्त हों ॥ ७५ ॥

कण्डिका ७६-मन्त्र १ ।

नाभांपृथिव्याःसंमिधानेऽअग्ग्नौरायस्प्पोषायबृहुतेहवामहे ॥ इरम्मुदम्बृहदुंक्थंय्यजंत्रुञ्जेतारमुग्ग्निम्पृतनासुसासुहिम् ॥ ७६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नाभेत्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋषिः । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ७६ ॥

मन्त्रार्थ-(पृथिव्याः) पृथ्वीके (नाभा) नाभिस्वरूप उखाके (समिधाने) मध्यमें दीप्यमान (अग्नौ) आहवनीयनाम अग्निके प्रज्वलित होनेपर (इरम्मदम्) अन्नसे तृप्तहोनेवाले (बृहदुक्थम्) बडे शस्त्रस्तोत्रवाले(यजत्रम्) यजनपूजनके योग्य (पृतनासु) संग्रामोंमें(जेतारम्)जीतनेवाले (सासहिम्) शत्रुओंके निरादर करनेवाले (अग्निम्) अग्निके अधिष्ठात्री देवताको (बृहते) बहुतसे (रायः) धनकी (पोषाय) पुष्टिके निमित्त (हवामहे) आह्वान करतेहैं ॥ ७६ ॥

प्रमाण-"एषा ह नाभिः पृथिव्यै यत्रैष एतत्समिध्यते" इति [श० ६ । ६ ३ । ९] ॥ ७६ ॥

भावार्थ-पृथ्वीके नाभिस्वरूप इस उखाके मध्यमें अग्नि समिद्ध होनेसे हम प्रचुर धनसम्पत्तिके निमित्त इस अग्निको आह्वान करते हैं वह हविआदि भोग प्राप्त करके अत्यन्त आमोदित हो याज्ञिक मात्रही इनको बडे २ उक्थ मंत्रोंसे स्तुति करते हैं यह हमको प्रधान अर्चनीय यह सर्व ही विजयी इनके प्रभावसे ही हम रणस्थलमें शत्रुके पराभव करनेमें समर्थ होते हैं ॥ ७६ ॥

कण्डिका ७७-मंत्र १ ।

याःसेनाऽअभीत्त्वरीराव्याधिनीरुगणाऽउत ॥ येस्तेनायेचतस्कंरास्ताँस्तेऽअग्नेपिंदधाम्म्यास्ये ॥ ७७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ याः सेना इत्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋषिः । भुरिगनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ ७७ ॥

मन्त्रार्थ-(याः) जो (सेनाः) शत्रुकी सेना (अभीत्वरीः) हमारे सन्मुख आनेवाली (उत) और जो सेना (आव्याधिनीः) हमारी सब प्रकारसे ताडन करनेवाली है और जो (उगणः) शस्त्रधारी (ये) जो (स्तेनाः) चोर हैं (च) और (ये) जो (तस्कराः) डाकू हैं (अग्ने) हे अग्ने ! (तान्) उनको (ते) तुम्हारे (आस्ये) प्रज्वालित मुखमें (अपिदधामि)आहुत करताहूं अथवा हे अग्ने ! जो हमारी सेनामें पलायनतत्पर हैं जो सेनाके सिपाही अकर्मण्य हैं जो अस्थिरचित्त हैं लालच देनेसे दूसरोंसे मिलजातेहैं जो चोर और डाकू हैं उन सबको प्रज्वलित अग्नि भक्षण करै "तस्करस्तत्करोति यत्पापकम्" इति [निरु० ३ । १४ ।] ॥ ७७ ॥

अथवा जो कामादिकी सेना चित्तको विगाडतीहै उसको ज्ञानाग्निमें भस्मकरतेहैं ॥ ७७ ॥

कण्डिका ७८-मन्त्र १ ।

दꣳष्ट्राभ्याम्मलिम्लूञ्जम्भ्यैस्तस्कराँ२ऽउत ॥ हनुभ्याꣳस्तेनान्भगवस्ताँस्त्वङ्खादसुखादितान् ॥ ७८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दꣳष्ट्राभ्यामित्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋषिः । भुरिगार्ष्युष्णिक्छं० । अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ ७८ ॥

मंत्रार्थ-(भगवः): हे परमैश्वर्यसम्पन्न परात्पर परमेश्वर हे अग्निस्वरूप ! (त्वम्) आप (मलिम्लून्) जो गांवमें प्रगट भावसे चोरी करतेहैं [गुप्त प्रगट दो प्रकारके चोर होतेहैं प्रगट भी दो प्रकारके होतेहैं जो वनमार्गमें प्रहारकरके पलायन करजातेहैं वे एक निर्भय होकर गावोंमें आकर धनग्रहण करतेहैं वे मलिम्लू कहातेहैं अथवा जिनमें वहुत पाप है जनवनमें अदृश्य हो धन हरतेहैं]उनको(दंष्ट्राभ्याम्)केवल डाढों [कीलों] से (तस्करान्) तस्करोंको जो निर्जनस्थानमें दस्युवृत्ति करते हैं, उनको (जम्भ्यैः) आगेके दांतोंसे (उत) और (स्तेनान्) चोरोंको (हनुभ्याम्) हनु ठोडीसे पीडितकर (तान्) उन (सुखादितान्) अच्छे प्रकार नष्ट करने योग्योंको जीवरहितकर (खाद) भक्षण वा नष्टकरो ॥ ७८ ॥

भावार्थ-हे परमात्मन् ! हमारे वाहर भीतर इन्द्रियोंमें जो कामक्रोधादि चोर प्रविष्ट होरहेहैं आप उन सवको नष्ट करो ॥ ७८ ॥

कण्डिका ७९-मंत्र ३ ।

येजनैषु मुलिम्म्लवस्स्तेनासुस्तस्करावने ॥ येकक्षैष्ष्वघायवुस्ताँस्तेदधामिजम्म्भयोः ॥ ७९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ येजनेष्वित्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋ० । निच्यृदानुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू०॥ ७९ ॥

मंत्रार्थ-(ये) जो (जनेषु) ग्रामवर्ती मनुष्याके स्थानमें (मलिम्लवः) पूर्वोक्त मलिम्लुच (स्तेनासः) और स्तेन नामसे प्रसिद्ध गुप्त चोर हैं,जो(वनेः)वनमें निर्जन प्रदेशमें गमन करते (तस्कराः) तस्कर नामसे प्रसिद्ध प्रगट चोर हैं (ये) जो (कक्षेषु) नदी पर्वत गहन स्थानोंमें (अघायवः) पापाभिलाषी लोभसे मनुष्योंके प्राणहरनेवाले हैं हे अग्ने ! (तान्) उन सवको (ते) तुम्हारी (जम्भयोः) डाढोंके अन्तरमें खानेको (दधामि) स्थापन करताहूं अध्यात्मपक्षमें कामादिनाशके निमित्त परमात्माकी प्रार्थना है राजाको उचितहै कि उपरोक्त स्थानोंमें चोरोंकी खोजकर उनको विनाश करैं ॥ ७९ ॥

कण्डिका ८०-मंत्र १ ।

योऽअस्म्मभ्यमरातीयाद्यश्चनोद्वेषतेजनः ॥ निन्दाद्योऽअस्म्मान्धिप्प्साच्चसर्व्वन्तम्भस्म्मसाकुरु ॥ ८० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यो अस्मभ्यमित्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋ० । अनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० । पू० ॥ ८० ॥

विधि-(१) पूर्वोक्त चोरोंके भेद कहकर अब शत्रुओंके भेद कहते हैं मन्त्रार्थ-(यः) जो (जनः) मनुष्य (अस्मभ्यम्) हमसे (अरातीयात्) शत्रुता करै जो हमारे देय धनको हमें न दे (च) और (यः) जो (नः) हमसे (द्वेषते) द्वेषकर हमारे कार्य नष्ट करता है (यः) जो (निन्दात्) हमारी निन्दा करता है गुणमें दोष प्रगट करता है वा अल्प दोषको बडा कहता है (च) और जो (अस्मान्) हमको (धिप्सात्) प्राणवधका यत्न करता है (तम्) उन चार प्रकारके अराति द्वेषी निन्दक जिघांसु अर्थात् मारनेकी इच्छाकरनेवाले (सर्वम्) सबको (भस्मसा) भस्म (कुरु) करो अर्थात् नष्टकरो पक्षान्तरमें कामादिके नाशकी परमात्मासे प्रार्थना है ॥ ८० ॥

कण्डिका ८१-मंत्र १ ।

सꣳशितम्मेब्ब्रह्मसꣳशितंव्वीर्य्यम्बलम् ॥ सꣳशितङ्क्षत्त्रञ्जिष्णुयस्याहमस्म्मिपुरोहितः ॥ ८१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सꣳशितमित्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋ० । निचृदार्षी पंक्तिश्छं० । अग्निर्देवता । समिद्धारणे वि० ॥ ८१ ॥

विधि-(१) इच्छा करता क्षत्रिय यजमानकी बारहवीं समिधको धारण करै अर्थात् पुरोहित यजमानकी इच्छासे समिध धारण करै [का० १६ । ४ । ४१]

मंत्रार्थ-हे अग्ने ! वा हे परमात्मन् ! आपके प्रसादसे (मे) मेरा (ब्रह्म) ब्रह्मतेज (सꣳशितम्) तीक्ष्णहुआ वा मैंने अपने ब्राह्मणत्वको शास्त्रमार्गवर्त्ती किया (वीर्यम्) इन्द्रियशक्ति (बलम्) शरीरशक्ति (सꣳशितम्) स्वकार्यमें समर्थ हुई (यस्य) जिसका (अहम्) मैं (पुरोहितः) पुरोहित(अस्मि) हूं उसको (क्षत्रम्) क्षत्रतेज (जिष्णुः) जयशीलने (सꣳशितम्) तीक्ष्ण किया अर्थात् उसके क्षत्रप्रभावसे जयशीलता तीव्रहुई । इनके अन्तमें स्वाहा प्रयोग करै ॥ ८१ ॥

कण्डिका ८२-मंत्र १ ।

उदेषाम्बाहूऽअतिरमुद्वर्च्चोऽअथोबलम् ॥ क्षिणोमिब्ब्रह्मणामित्त्रानुन्नयामिस्वाँ२ऽअहम् ॥ ८२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उदेषामित्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋ० । विराडनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ८२ ॥

मंत्रार्थ-इन परमात्मा अग्निके प्रसादसे (एषाम्) इन अपने ब्राह्मण राजाओंके बीचमें (बाहू) अपनी भुजा (उदतिरम्) ऊंची की यह लोकोक्ति भी है कि जब कोई औरोंसे उत्कृष्ट होता है तब लोक कहते हैं इसने अपना हाथ ऊपर किया अथवा इन ब्राह्मणादि सबकी भुजाओंको कार्यशक्ति योग्य किया या यह मेरी भुजा सबसे अधिक हुई (वर्चः) तेजने सबकी कान्तिको अतिक्रमण किया (बलम्) बलने शरीरशक्तिने सबके बलको अभिभूत किया (अहम्) मैं (ब्रह्मणा) मंत्रकी सामर्थ्यसे (अमित्रान्) अमित्र शत्रुओंको (क्षिणोमि) नष्ट करता वा अधःपातित करताहूं (स्वान्) अपने पुत्रपौत्रादिको (उन्नयामि) उत्कृष्टताको प्राप्त करताहूं इस प्रकार तेरह समिधा मंत्र कहै ॥ ८२ ॥

कण्डिका ८३-मंत्र १।

अन्नपतेन्नस्य नोदेह्यनमीवस्यंशुष्मिणः॥ प्रप्रदातारन्तारिषऽऊर्जन्नोधेहिद्विपदेचतुष्पदे॥ ८३॥ [१८]

इतिश्रीशुक्लयजुस्संहितायामेकादशोऽध्यायः॥ ११॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अन्नपत इत्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋषिः। उपरिष्टाद्बृहती छन्दः। अग्निर्दे०। अग्नौ समिदाधाने वि०॥ ८३॥

विधि-(१) इस प्रकार तेरह समिधा प्रक्षेप होनेपर यजमान इस उखा-अग्निमें यह मंत्र पाठ करके समिदाधान करै अर्थात् अध्वर्युसे व्रत पयके देने उपरान्त समिधा डालै [का० १६। ६। ८] मंत्रार्थ-(अन्नपते) हे अन्नके पालक अग्ने ! (नः) हमारे (अनमीवस्य) व्याधिरहित (शुष्मिणः)बलदायक "शुष्ममिति बलनाम" [निघं० २। ९। ११] (अन्नस्य) अन्नको (देहि) प्रदान करो (प्रदातारम्) अन्नके देनेवाले (प्रतारिषः): हमारी अतिवृद्धि करो (नः) और हमारे (द्विपदे) मनुष्य पुत्रादि (चतुष्पदे) गौआदिकोंमें (ऊर्ज्जम्) अन्नको (धेहि) धारण करो अर्थात् सब मनुष्य और पशुओंको अन्न दो॥ ८३॥ [१८]

इति श्रीशुक्लयजुर्मन्त्रभागे माध्यन्दिनीयायां वाजसनेयिसंहितायां पण्डित-ज्वालाप्रसादमिश्रकृतमिश्रभाष्ये उखासम्भरणादिसमिदा-धानान्त एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

शुभमस्तु।

अथ द्वादशोऽध्यायः १२.

ग्यारहवें अध्यायमें उखासम्भरणके मंत्र कहे बारहवें अध्यायमें उखाधारणके मंत्र कहतेहैं ॥

इशानः सप्तदश दिवस्पारि द्वादश समिधाग्नि पञ्चदश आपेत सप्तदश आसुन्वन्तं त्रयोदश ग्राओषधीः सप्तविꣳशतिः मामा षोडश सप्तसप्तदशꣳशतम् ॥

कण्डिका १-मं० १. अनु० १ ।

दृशानो रुक्मऽउर्व्या व्यद्यौद्दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः ॥ अग्निरमृतोऽअभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत्सुरेताः ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दृशान इत्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः । भुरिक्पंक्तिश्छन्दः। रुक्मं दैवतम् । ग्रीवायां रुक्मबन्धने वि० ॥ १ ॥

विधि-(१) समिदाधानके उपरान्त यजमान ईशानकोणमें स्थित होकर अपनी ग्रीवामें रुक्म परिधानकरैं(यह रुक्म एक कण्ठका आभूषणविशेष है यह उस समय सुवर्णफलकके निम्नमें त्रिवृत सनके सूत्रसे पोयाहुआ चलायमान २१ वृहत्‌मोती वा सुवर्णके गोलदानोंसे शोभित होताहै और इसके पीछेकी और मृगचर्मका एक टुकडा लगाहुआ होताहै जिससे ग्रीवाके पसीनेसे मलिनता न हो लोकमें इसको कण्ठा कहतेहैं) [का० १६ ।५।१] मन्त्रार्थ-(दृशानः) प्रत्यक्ष प्राप्त (श्रिये) मनुष्योंके निमित्त लक्ष्मी प्रदानकरनेको (रुचानः) रुचिकारक अभिलाषित (दुर्मर्षम्) तिरस्कारके अयोग्य (आयुः) आयु वा जीवनरूप (रुक्मः) सुवर्णाभरण वा सूर्य (उर्व्या) महती दीप्तिसे (व्यद्यौत्) प्रकाशित होताहै (अग्निः) सो यह अग्नि (वयोभिः) अन्नादि पुरोडाशादिसे (अमृतः) चिरस्थायी (अभवत्) हुआ (यत्) जिसकारणसे (सुरेताः) सुन्दरअग्निरूप(द्यौः) द्युलोकवासी देवगण(एनम्) इस अग्निको (अजनयत्) प्रगटकरते हुए ॥ १ ॥

भावार्थ-जिससे द्युलोक और यह सुरेता अग्नि स्थित: प्रत्यक्ष होती है, इस कारण यह अमर है, यह आहुति भक्षण करते इस स्थानमें चिरस्थायी हों, हम इसीके प्रसादसे अव आयुवृद्धि और धनवानके चिह्न स्वरूप अतीव समुज्ज्वल द्युतिमान् यह रुक्म धारण करते हैं [ऋ० ७ । ८ । २९] ॥ १ ॥

कण्डिका २–मंत्र ३।

नक्तोषासासमनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकᳬं समीची॥ द्यावाक्षामा रुक्मो अन्तर्विभाति देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाः॥ २॥

ऋष्यादि–(१) ॐ नक्तोषासेत्यस्य कुत्स ऋषिः। साम्नी त्रिष्टुप्छं०। अग्निर्देवता। इण्ड्वाभ्यामुखाग्रहणे वि०। (२–३) ॐ द्यावा–देवा इतिमंत्रयोः कुत्स ऋ०। याजुषी त्रिष्टुप्छन्दः। आसन्द्यामुखाहरणे शिक्यवत्यामाधाने च विनि०॥ २॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे परिमण्डलइण्डुओंके द्वारा आहवनीय अग्निमें स्थापित अतिसन्तप्त उखा धारण करे [का० १६। ५। ३।] इण्डुशब्दसे लोहादिनिर्मित वा काष्ठनिर्मित दीर्घ शलाका ये दोनों एकत्र करके मुखके आगे परिमण्डल गोलाकार होजाते हैं यह परिमण्डल इण्डुद्वय कहाते हैं लोकमें इस को संडासी कहतेहैं। मन्त्रार्थ–हे उखे! (समनसा) समानमनवाले (विरूपे) दिनरातरूप कृष्णशुक्लभेदसे विलक्षणरूप (समीची) परस्पर आलिंगनकरते (नक्तोषासा) रात्रिदिन (एकम्) एक (शिशुम्) बालकरूप अग्निको सायम्प्रातः अग्निहोत्रादिकर्मसे (धापयेते) तृप्तकरतेहैं इस प्रकार दिनरात्रिरूप इण्डुसे उखाको ग्रहणकरताहूं"जिसप्रकार दिनरात दोनोही एक मात्र कालपरिमाणसे एकान्त प्रवृत्त होतेहैं, इसीप्रकार दोनो इण्डुके ग्रहणसे एकान्त कार्य प्रवृत्ति होती है। दिनं प्रकाशस्वरूप और रात्रि अंधकारस्वरूप है इस स्थलमें एक इण्डु पूर्वमुख और एक पश्चिममुख जानना। दिनं जैसे रात्रिको आलिंगन करनेको धावमान होताहै इसीप्रकार रात्रि दिनके आलिंगन करनेको धावमान होती है, जो दोनों इण्डु सन्मुख न हों तो वह मण्डलाकार नहीं हो सकते और उनके न मिलनेसे उखा ग्रहण नहीं होसक्ती इसकारण परस्पर आलिंगन कहा। मातापिता जिस प्रकार अपने बालकको कोमल और दृढ हाथसे ग्रहण करते हैं इसी प्रकार उखा ग्रहण करे जिससे उनकी गोदीसे गिरकर भग्न न हो" ⟜ इण्डुस्वरूप १। विधि–(२) दूसरे मंत्रसे इसको इस स्थानसे संडासीद्वारा उठावे [का० १६। ५। ४] मन्त्रार्थ–(द्यावाक्षामा) ऊपर द्युलोक और नीचे भूलोकके (अन्तः) मध्यमें (रुक्मः) जो रोचमान अग्नि वा अन्तरिक्षमें उठाई उखा (विभाति) विशेष शोभित होती है उसको उठाताहूं २। विधि–(३) इससे पहले आहवनीयके

अग्रमें स्थापित आसन्दीके ऊपर उद्गाताद्वारा शिक्य स्थापित है तीसरे मंत्रको पढकर यह उखा शिक्यवतीके ऊपर स्थापित करै शिक्यशब्दसे छींका लेते हैं यह उखा रखनेके निमित्त उदुम्बरके काष्ठसे बनी प्रादेशमात्र चौकोन आसन्दी अर्थात् चौकी वा पीढी प्रस्तुत करकै छींकेमें ग्रथित करते हैं इसको शिक्यवती कहते हैं [का० १६ । ९ । ९] मन्त्रार्थ-(द्रविणोदाः) यज्ञद्वारा धनरूप फलके दाता (देवाः) देवगण (अग्निम्) अग्निको धारण करते हुए अथवा यजमानके प्राणोंने इस उखा अग्निको धारण किया "प्राणा वै देवा द्रविणोदाः" [तैत्ति०] ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मंत्र १ ।

विश्वा॑रू॒पाणि॒प्रति॑मुञ्चतेक॒विः प्रासा॑वीद्भ॒द्रंद्वि॒पदे॒चतु॑ष्पदे ॥ विनाक॑मख्यत्सवि॒तावरे॑ण्योनु॑प्र॒याण॑मु॒षसो॒विरा॑जति ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्वारूपाणीत्यस्य श्यावाश्व ऋषिः । विराड् जगती छन्दः । सविता देवता । शिक्यपाशबन्धने वि० ॥ ३ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे षडुद्याम शिक्याके दो उद्याम एकत्र करकै ग्रन्थि प्रदान करै उद्याम ऊपर खैंचनेके निमित्त तिलडीकीहुई रस्सी दो उद्यामवन्धनी शिक्याको षडुद्याम शिक्य कहते हैं [का० १६ । ९ । ६] मंत्रार्थ-(वरेण्यः)वरणीय श्रेष्ठ (कविः) विद्वान् क्रान्तदर्शी (सविता) जगत्के प्रेरक सविताके प्रभावसे (विश्वा) सम्पूर्ण जगत्की वस्तु (रूपाणि) विविध प्रकारके रूपोंको (प्रतिमुञ्चते) धारण करती हैं (द्विपदे) दुपाये मनुष्यादि (चतुष्पदे) चौपाये गौआदि सब प्रकारके प्राणियोंको (भद्रम्) स्वस्वव्यवहारप्रकाशनरूप श्रेयको (प्रासावीत्) प्रेरण करता है अर्थात् जिनसे सब प्रकारके प्राणी कल्याणमें चिरव्रती रहते हैं और जो (नाकम्) स्वर्गको (व्यख्यत्) प्रकाश करते हैं, अथवा स्वर्गके प्रधान देवता कहकै विख्यात हैं और जो (उषः) उषा कालके (प्रयाणम्) गमनके (अनु) पीछे (विराजति) विराजमान होते हैं "अर्थात् जिनके प्रयाणमें आगे २ उषादेवी पताकावाहिनीकी समान निरन्तर गमन करती है, उन देवताओंने हमको इस कार्यमें नियुक्त किया है वह देवता शिक्यको प्रतिमुञ्चन करै" ॥ ३ ॥

विवरण-सूर्यकी किरणोंसे सब रंग होते हैं यह विख्यात है [ऋ० ५ । ५ २४] ॥ ३ ॥

कण्डिका ४—मन्त्र १।

सुपर्णोसि गुरुत्माँस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रञ्चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ ॥ स्तोमऽआत्मा छन्दाᳬंस्यङ्गानि यजूᳬंषि नाम ॥ साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियम्पुच्छन्धिष्ण्याः शफाः ॥ सुपर्णोसि गुरुत्मान्दिवङ्गच्छ स्वः पत ॥ ४ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ सुपर्णोसीत्यस्य श्यावाश्व ऋ० । भुरिग्धृतिश्छं० । सुपर्णो देवता । ऊर्ध्वबाहुर्भूत्वा शिक्यचालने वि० ॥ ४ ॥

विधि—(१) इस मंत्रको पाठ करके इस उखाविशिष्ट शिक्यवतीको ऊर्ध्व बाहु होकर मण्डपके पूर्व दिशाकी ओर चालन कर झुलादे [का० १६ । ५ । ७] "विषहन्त्री चतुरवसाना कृतिः" मन्त्रार्थ—हे उखाग्ने ! जिस कारण कि तुम ऊर्ध्वगामी होनेमें समर्थ हो और महान् हो इस कारण तुम (सुपर्णः) सुन्दर पंखवाले पक्षिराज (गरुत्मान्) वेगगामी गरुडकी समान (असि) हो (त्रिवृत्) त्रिवृत् स्तोम (ते) तुम्हारा (शिरः) शिरके स्थानमें है (गायत्रम्) गायत्री वा गायत्र साम (ते) तुम्हारे (चक्षुः) नेत्र हैं (बृहद्रथन्तरे) बृहत् और रथन्तर साम (पक्षौ) तुम्हारे दोनो पंख हैं (स्तोमः) पंचदशस्तोम (आत्मा) तुम्हारा अन्तःकरण है (छन्दाᳬंसि) गायत्रीआदि इक्कीस छन्द तुम्हारे (अङ्गानि) हृदयादिअंग हैं (यजूᳬंषि) इषेत्वा आदि यजु तुम्हारे (नाम) नाम अर्थात् परिचायक हैं (वामदेव्यंसाम) वामदेव्यनामक साम (ते) तुम्हारा (तनूः) शरीर है (यज्ञायज्ञियम्) यज्ञायज्ञिनामक साम तुम्हारी (पुच्छम्) पुच्छ है (धिष्ण्याः) होतृआदि धिष्ण्यमें स्थित अग्नि (शफाः) तुम्हारे खुरनखस्थानीय हैं इसप्रकार हे अग्ने ! तुम (गरुत्मान्) वेगवान् गरुडकी समान (सुपर्णः) पक्षिरूप (असि) हो इसकारण (दिवम्) आकाशके प्रति (गच्छ) गमनकरो (स्वः) स्वर्गलोकको (पत) प्राप्त हो अथवा हे गरुड ! आकाशमें उडो स्वर्गमें गमनकर उपस्थित हो, प्रयोग करनेसे यह विषहारी मंत्र है तथा यजमानमें बलस्थापन कियाजाता है. ॥ ४ ॥

कण्डिका ५—मन्त्र ५ ।

विष्णोऽक्रमोसि सपत्नहा गायत्रञ्छन्दऽआरोह

पृथिवीमनुविक्रंमस्वविष्णोऽक्रमोस्यभिमाति
हात्रैष्टुभुञ्छन्दुऽआरोहान्तरिक्षमनुविक्रंमस्ववि
ष्णोऽक्रमोस्यरातीयतोहुन्ताजागतञ्छन्दुऽआ
रोहुदिवमनुविक्रंमस्वविष्णोऽक्रमोसिशत्रूय
तोहुन्तानुष्टुभुञ्छन्दुऽआरोहदिशोनुविक्रंमस्व ॥५॥

ऋष्यादि–(१–२–३–४) ॐ विष्णोरिति चतुर्णां मन्त्राणां श्यावाश्व ऋ० । निच्यृदार्षी बृहती छं० । उखाग्निर्देवता । विष्णुक्रमक्रमणे वि० । (५) ॐ विष्णोरित्यस्य श्यावा० ऋ० । आर्ची बृहती छन्दः । अग्निर्दे० । दिग्वीक्षणे विनियोगः ॥ ५ ॥

विधि–(१–४) उखाअग्निको ऊर्ध्व हस्तमें ग्रहणपूर्वक यजमान इस कण्डिकाके प्रथमादि चार मंत्रोंको पढकर वारवार विष्णुक्रम करै, अर्थात् स्वयं विष्णुकी भावना करते वारवार चरण रक्खै, और उस समय भूलोक, अन्तरिक्ष लोक, द्युलोक और चतुर्थ लोक गमनकी चिन्ता करै [का० १६ । ५ । ११] मन्त्रार्थ– हे प्रथम पादविन्यास ! तुम (विष्णोः) यज्ञाग्निका (सपत्नहा) शत्रुघाती (क्रमः) क्रम (असि) हो (गायत्रः) इस कारण गायत्री (छन्दः) छन्दको (आरोह) अनुग्रह कर स्वीकार करो, फिर (पृथिवीम् अनु) भूदेवतारूप इस भूमिके प्रदेशको (विक्रमस्व) विशेषकर प्राप्त हो, अर्थात् तुम गायत्रीछन्दके प्रभावसे इस भूलोकमें प्राप्त हो, तुम्हारे प्रभावसे सब शत्रु नष्ट हो "स यः स विष्णुर्यज्ञः सः । सः यः सः यज्ञोऽयमेव स योऽयमग्निरुखायाम्" इति श्रुतेः [श० ६ ७।२।११]इससे यहां विष्णु शब्दसे उखा अग्निका ग्रहण है १। हे द्वितीयपादविन्यास!तुम (विष्णोः) उखाग्निके (अभिमातिहा) पापनाशक (क्रमः)क्रम(असि)हो(त्रैष्टुभम्) त्रिष्टुभ (छन्दः) छन्दको (आरोह) अनुग्रहकर स्वीकार करो (अन्तरिक्षम् अनु) पश्चात् अन्तरिक्षस्थानको (विक्रमस्व) प्राप्त करो अर्थात् त्रिष्टुभ् छन्दपर आरोहण करके अन्तरिक्ष लोकको व्याप्त हो तुम्हारे प्रभावसे प्राणघातक दस्युदल नष्ट हो २ । हे तृतीय पादविन्यास ! तुम (विष्णोः) उखाग्निके (क्रमः) क्रम (अरातीयतः)धन लेकर न देनेवालोंको (हन्ता) नाशक (असि) हो (जागतम् छन्दः) जगती छन्दको (आरोह) आरोहणकरो (दिवम्) द्युलोक गमनके(अनु) पीछे (विक्रमस्व) स्थानको प्राप्त हो अर्थात् जगतीछन्दमें आरोहण कर द्युलोकको

प्राप्त हो तुम्हारे प्रभावसे आत्मवंचक कृपण नष्ट हो ३ । हे चतुर्थ पादविन्यास (विष्णोः) तुम उखाग्निके (क्रमः) क्रम (शत्रूयतः) शत्रुता करनेवालेके (हन्ता) नाशक (असि) हो (आनुष्टुभम्) अनुष्टुभ् (छन्दः) छन्दको (आरोह) आरोहण करो अर्थात् तुम अनुष्टुभ् छन्दपर आरोहण करके तुरीय लोकमें व्याप्त हो तुम्हारे प्रभावसे दुर्जन नष्ट हों ४ । विधि-(९)पंचम मंत्रसे दशों दिशा निरीक्षण करै [का० १६ । ५ । १३] मन्त्रार्थ-हे अग्ने ! तुम (दिशः) सब दिशा विदिशाओंमें (अनुविक्रमस्व) परिव्याप्त हो ॥ ५ ॥ ५ ॥

कण्डिका६-मंत्र १ ।

अक्रन्ददग्निस्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन् ॥ सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धोऽअख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अक्रन्ददित्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देव० । ऊर्ध्वबाहुग्निस्पर्शे वि० ॥ ६ ॥

विधि-(१) ऊर्ध्ववाहु हो यह मंत्रपाठकरके इस शिक्यवतीमें स्थित अग्निको स्पर्श करै [का० १६ । ५ १४] मंत्रार्थ-(द्यौः) स्वर्गकी (इव) समान अर्थात् मेघकी समान (स्तनयन्) गर्जनाकरते हुए (क्षामा) पृथ्वीको (रेरिहत्) आस्वादनकरो "क्षामेति पृथ्वीनामसु पठि०" [नि० १।१।३] (वीरुधः) वृक्षोंको (समञ्जन्) अंकुरितकरते अथवा अपनी ज्वालासमूहसे औषधियोंको व्याप्तकरते (अग्निः) अग्नि (अक्रन्दत्) प्रदीप्तहोताहै (हि) जिसकारणसे कि (जज्ञानाः) प्रगट होताहुआ (सद्यः)शीघ्रही (इद्धः) दीप्तहो (ईम्)इस सबको (व्यख्यत्) विख्यात अर्थात् प्रकाशकरताहै (रोदसी) द्यावापृथ्वीके (अन्तः) मध्यमें (भानुना) रश्मिद्वारा (आभाति) प्रकाशित होताहै जैसे मेघ विजलीसे द्यावापृथ्वीके अन्तरमें प्रकाशितहोताहै इसीप्रकार यह अग्नि पर्जन्यवत् स्तुति की जातीहै [ऋ० ७ । ८ । २८] ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मंत्र १ ।

अग्नेऽभ्यावर्तिन्नभि मा नि वर्तस्वायुषा वर्चसा प्रजया धनेन ॥ सन्या मेधया रय्या पोषेण ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्न इत्यस्य वत्सप्रीर्ऋ० । भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । अग्निसामीप्यानयने वि० ॥ ७ ॥

विधि-(१) यहांसे चार मंत्र पाठ करके चारबार इस अग्निको समीप लावे [का० १६। ९। १९] मन्त्रार्थ-(अभ्यावर्तिन्) हमारे सन्मुख आनेके शीलवाले गमनागमनमें समर्थ (अग्ने) हे अग्नि देव परमात्मन् ! (आयुषा) आयु (वर्चसा) तेज कान्ति (प्रजया) सन्तान (सन्या) इष्टलाभ (मेधया) धारणावती बुद्धि (रय्या) सुवर्णादि अलंकार (पोषेण) आयुआदिकी पुष्टिसे (मा) मेरे (अभि) सन्मुख (निवर्तस्व) प्राप्त हो अर्थात् शीघ्र हमारे निकट प्राप्त हो ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मंत्र १ ।

अग्नेऽअङ्गिरः शतन्तेसन्त्वावृतंः सहस्रन्तऽउपावृतंः ॥ अधापोषस्यपोषेणपुनर्न्नोनष्टमाकृधिपुनर्नोरयिमाकृधि ॥ ८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्ने अङ्गिरा इत्यस्य वत्सप्रीर्ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ८ ॥

मंत्रार्थ-(अङ्गिरः) हे श्रेष्ठ अंगवाले ! (अग्ने) हे अग्निदेवता !(ते) आपकी (आवृतः) गमनागमनशक्ति (शतम्) सैंकडों हैं (ते) आपकी(उपावृतः) निवृत्तिशक्ति (सहस्रम्) सहस्रों (सन्तु) हों (अधा) इसकारण प्रार्थना करते हैं (पोषस्य) शतसंख्याक आवृत्तिशक्तियोंकी समृद्धिके प्रभावके (पोषेण) लक्षसंख्यादि वृद्धिद्वारा (नः) हमारे (नष्टम्)व्ययहुए धनको (पुनः) फिर (आकृधि) सवप्रकार सम्पादन करो (पुनः) फिरभी (नः) हमारे (रयिम्) पूर्वसम्पादित धनको (आकृधि) सवप्रकार सम्पादनकरो अर्थात् आवृत्तिशक्तिके प्रभावसे हमको असंख्य धनका अधिकारी करो और उपावृत्तिशक्तिके प्रभावसे नष्टधन पुनः प्राप्तकराओ ॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मंत्र १ ।

पुनरूर्जा निवर्त्तस्वपुनरग्नऽइषायुषा ॥ पुनर्न्नःपाह्यꣳहंसः ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पुनरूर्जेत्यस्य वत्सप्रीर्ऋ० । निच्यृदार्षी गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेवता ! तुम (ऊर्जा) क्षीरादि रसके सहित (पुनः) फिर (निवर्तस्व) आगमनकरो (इषा) अन्न (आयुषा) जीवनके साथ (पुनः) फिर आगमन करो आयेहुए तुम हमको (पुनः) फिर (अंहसः) पापोंसे (पाहि) रक्षाकरो ॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मन्त्र १।

सुह रुय्या निर्वर्त्तस्वाग्नेपिन्वस्व धारया ॥
विश्वप्प्स्न्या विश्वतुस्प्परि ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सहरय्येत्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः। निचृदार्षी गायत्री छं० । अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ १० ॥

मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव ! (रय्या) धनके (सह) सहित (निवर्तस्व) लौटो (विश्वप्स्न्या) सब संसारके उपभोगयोग्य (धारया) वृष्टिरूप जलधारासे (विश्वतः) सम्पूर्ण जगत्के तृण धान्य लता वृक्षोंके (परि) ऊपर (पिन्वस्व) सिंचन करो ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मंत्र १।

आत्त्वाहार्षमुन्तरभूर्द्ध्रुवस्तिष्ठाविंचाचलिः ॥ विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत् ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आत्वेत्यस्य ध्रुव ऋषिः। आर्ष्यनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । नाभेरुपर्युखाग्निधारणे वि० ॥ ११ ॥

विधि-(१) नाभिके ऊपर उखा अग्निको धारण कर यह मंत्र पाठ करै [का० १६ । ५ । १६] मंत्रार्थ-हे अग्ने ! (त्वा) तुमको (अहार्षम्)मैंने आहरण किया है (अविचाचलिः) अत्यन्त अचल होकर तुम (ध्रुवः) स्थिरता युक्त (अन्तरभूः) उखाके मध्यमें (तिष्ठ) स्थितहो हमारी(सर्वाः)सम्पूर्ण (विशः) प्रजा (त्वा) तुम्हारी (वाञ्छन्तु) इच्छा करै अथवा सब अन्न तुममें स्थित हों "अन्नं वै विशः" इति श्रुतेः[६ । ७ । ३ । ७ ।] (राष्ट्रम्) हमारा राज्य (त्वत्) तुमसे (मा) मत (अधिभ्रशत्) शून्य हो अथवा "श्रीर्वै राष्ट्रं मात्वच्छ्रीरधिभ्रशत्" इति श्रुतेः[६ । ७ । ३ । ७] श्री तुमसे भ्रष्ट न हो [ऋ० ८ । ८ । ३१]॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मन्त्र १।

उदुत्तमं वरुणपाशमुस्मदवाधमं विमद्ध्यमं श्रं

थाय ॥ अथा॑व॒यमा॑दित्यव्र॒ते तवा॒नाग॑सो॒ऽअदि॑तये॒स्याम ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उदुत्तममित्यस्य शुनःशेप ऋ० । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । वरुणो देवता । गलादूर्ध्वमार्गेण रुक्मपाशमोचने वि० ॥१२॥

विधि-(१)इस मंत्रसे रुक्मपाश और शिक्यपाश गलेसे ऊपरकी ओरसे बाहर निकाले.यह तीसरी कण्डिकामें गलेमें धारणकी थी[का०१६।५।२१]मंत्रार्थ-(वरुण) हे सव पाशतापनिवारक देव ! (उत्तमम्) हमारे उत्तम अंग शिरमें स्थापित (पाशम्) अपनी पाशको (अस्मत्) हमसे (उत्) निकाल कर (आश्रथाय) दूर करो तथा (अधमम्) अधम अङ्ग पाद प्रदेशमें स्थापित अपनी पाशको (अव) सब प्रकार खैंचकर दूर करो (मध्यमम्) मध्यम प्रदेशमें स्थित अपनी पाशको विच्छेद करो (अथ) तीनो पाशके विनाशानन्तर (आदित्य) हे अदितिपुत्र ! अखण्डित शक्तिमान् वरुण (अनागसः) अपराधरहित (तव) तुम्हारे (व्रते)कर्ममें वर्तमान (वयम्) हम (अदितये) दीनतारहित अखण्डित तत्त्वके योग्य (स्याम) हों ॥ १२ ॥

आशय-यह कि स्थूल लिङ्ग और कारण शरीरके बंधनसे रहित हो मुक्तिको प्राप्त हों ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मंत्र १ ।

अग्रे॑बृ॒हन्नु॒षसा॑मू॒र्ध्वोऽअ॑स्थान्नि॒र्ज॑ग॒न्वान्तम॑सो॒ ज्योति॒षाऽऽगा॑त् ॥ अ॒ग्निर्भा॒नुना॒ रुश॑ता॒ स्वङ्ग॒ऽ आ जा॒तो विश्वा॒ सद्मा॑न्यप्राः ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्रे बृहन्नित्यस्य त्रित ऋषिः । भुरिगार्षी पंक्तिश्छं० । अग्निर्देवता । अग्नेरूर्ध्वधारणे वि० ॥ १३ ॥

विधि-(१) यह मंत्र पाठ करके मण्डपके अग्निकोणमें उखाविशिष्ट शिक्यावतीको फिर झुलादे [का० १६ । ५ । १७] मन्त्रार्थ-(बृहन्) प्रभावसे महान् (अग्निः) अग्नि (उषसाम्) उषा कालके (अग्रे) आगे (ऊर्ध्वः) ऊंचा (अस्थात्) स्थित हुआ (तमसः) रात्रि लक्षणवाले अन्धकारसे (निर्जगन्वान्) निकला (ज्योतिषा) दिन लक्षणवाली ज्योतिके संग (आ-अगात्) यहां प्राप्त हुआ (रुशता) अंधकारको दूर करता हुआ (भानुना) किरणजालसे (स्वङ्गः) शोभनशरीर हुआ (जातः) उत्पन्नमात्रही (विश्वा) सम्पूर्ण (सद्मानि)

स्थान अर्थात् सब लोकोंको (आ) सब प्रकार अपने तेजसे (अप्राः) पूर्ण करता हुआ "इमे वै लोका विश्वा सद्मानि" इति श्रुतेः [श०६ । ७। ३ । १०] आदित्य-रूपसे अग्निकी स्तुति है कि उषोदयमें ऊर्ध्व उदित होते निशाकालमें ज्योति विस्तार कर तम दूर करते, सर्वाङ्गसुन्दर अग्नि प्रकाशमात्रही अपने किरणसमूहसे सब अन्धकार दूर करके प्रतिगृहमें ज्योति पूर्ण करते हैं [ऋ० ७ । ९ । २९] ॥ १३ ॥

कण्डिका १४–मंत्र २।

हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ॥ नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजाऽऋतजाऽअद्रिजाऽऋतम्बृहत् ॥ १४ ॥

ऋष्यादि–(१) हꣳस इत्यस्य त्रित ऋषिः । निचृज्जगती छं० । अग्निर्देवता । उखाग्न्यवतारणे वि० । (२) ॐ बृहदित्यस्य त्रित ऋ० । दैव्युष्णिक्छन्दः । अग्निर्दे० । आसन्द्यामग्निस्थापने वि० ॥ १४ ॥

राजसूय प्रकरणमें अतिजगती यहां जगती छन्द है ।

विधि–(१) प्रथम मंत्र पाठ कर शिक्यासे उखा अग्नि अवतारण करै [का० १६ । ५ । १८] मन्त्रार्थ–इसकी व्याख्या १० अ० २४ मंत्रमें होगई यहां यह हंस आदि अग्निके विशेषण जानने । विधि–(२) दूसरे मंत्र पाठ पूर्वक इसको आसन्दीमें स्थापन करै [का० १६ । ५ । ९] मन्त्रार्थ–हे अग्नि ! तुम (बृहत्) अतिमहान् हो ॥ १४ ॥

कण्डिका १५–मंत्र २।

सीद त्वम्मातुरस्याऽउपस्थे विश्वान्यग्ने वयुनानि विद्वान् ॥ मैनान्तपसा मार्चिषाभिशोचीरन्तरस्याꣳ शुक्रज्ज्योतिर्विभाहि ॥ १५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ सीदत्वमित्यस्य त्रित ऋषिः । विराट् त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । अग्न्युपस्थाने वि० ॥ १५ ॥

विधि–(१) इस कण्डिकाप्रभृति तीन मंत्र पढकर अग्निका उपस्थान करै [का० १६ । ५ । २०] मन्त्रार्थ–(अग्ने) हे अग्निदेवता ! (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) ज्ञानके उपायोंको (विद्वान्) जाननेवाले (त्वम्) तुम (अस्याः) इस

(मातुः) माताकी समान उखाके (उपस्थे) गोदमें (सीद) स्थित हो (एनाम्) इसको (तपसा) सन्तापसे (मा) मत (अभिशोचीः) सन्तापित करना(अर्चिषा) ज्वालासे (मा) मत दीप्तकरना (अस्याम्) इस उखाके (अन्तः) मध्यमें (शुक्रज्योतिः) निर्मलप्रकाशसे (विभाहि) विशेष प्रदीप्तिमान् हो ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मन्त्र १ ।

अन्तरग्ग्ने रुचा त्त्वमुखायाᳪसदने स्वे ॥ तस्यास्त्वᳪहरसा तपञ्जातवेदः शिवो भव ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अन्तरित्यस्य त्रित ऋषिः । विराडनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! तुम (रुचा) अपनी दीप्तिसे (उखायाः) इस उखाके (अन्तः) मध्यमें (स्वे) अपने (सदने) घरमें दीप्तहोकर स्थित हो (जातवेदः) हे सबके जाननेवाले (त्वम्) तुम (हरसा) ज्योतिसे(तपन्)तपते हुए (तस्याः) उस उखाके (शिवः) कल्याणकारी (भव) हूजिये ॥ १६ ॥

भावार्थ-परमात्माकी प्रार्थनामें अपनी महिमासे प्रकाश करते सबके ज्ञाता इसका मंगल करो ॥ १६ ॥

कण्डिका १७-मन्त्र १ ।

शिवो भूत्त्वा मह्यमग्ग्ने ऽअथो सीद शिवस्त्वम् ॥ शिवाः कृत्त्वा दिशᳪसर्वाᳪस्वं योनिमिहासदः १७॥[१७]

ऋष्यादि-(१) ॐ शिवोभूत्वेत्यस्य त्रित ऋषिः । विराडनुष्टुप्छन्दः। अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १७ ॥

मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेवता ! (त्वम्) तुम (मह्यम्) मेरे निमित्त (शिवः) कल्याणकारी (भूत्वा) होकर (अथो) और इसके अनन्तर (शिवः) सर्वात्मासे शान्तस्वरूप होकर (सीद) स्थितहो (सर्वाः) सम्पूर्ण (दिशः) दिशाओंको (शिवाः) कल्याण करके (इह) इस उखारूप अपनी (योनिम्) स्थानमें (आसद) स्थित हो ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मंत्र १. अनुवाक २.

दिवस्परि प्रथमञ्जज्ञे ऽअग्निरस्मद्द्वितीयम्परि

जातवेदाः ॥ तृतीयमप्सु नृमणाऽअजस्रमिन्धानऽएनञ्जरते स्वाधीः ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दिवस्परीत्यस्य भलन्दनपुत्रवत्सप्रीर्ऋषिः । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । अग्न्युपस्थाने वि० ॥ १८ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकासे प्रारंभ कर ग्यारह मंत्र वात्सप्रेय कहाते हैं इनसे उखाअग्निका उपस्थान करे कोई बारह मंत्र कहते हैं [का० १६ । ५ । ३१-३२] मन्त्रार्थ-(जातवेदाः) सबके ज्ञाता (अग्निः) अग्नि(प्रथमम्) प्रथम (दिवः) द्युलोकमें (परिजज्ञे) सूर्यरूपसे प्रगटहुए अथवा प्राणही द्युलोक है प्राणोंसे ही यह प्रथम उत्पन्न होतीहै "प्राणो वै दिवः प्राणाद्वा एप प्रथममजायत" इति श्रुतेः [६ । ७ । ४ । ३] (द्वितीयम्) दूसरी जातवेदा अग्नि (अस्मत्परि) हम ब्राह्मण के सकाशसे प्रादुर्भूत हुआ "यदेनमदो द्वितीयं पुरुपविधोऽजनयत्"इति श्रुतेः [६ । ७ । ४ । ३] "समुखाच्चयोनेर्हस्ताभ्यांचाग्निमसृजत" इति च श्रुतेः (नृम्णा) प्रजापतिने (तृतीयम्) तीसरी वार (अजस्रम्) निरन्तर (अप्सु) जलोंके अन्तर स्थित अग्निको अर्थात् जलके गर्भमें स्थित अग्निको सृजन किया "प्रजापतिर्वै नृम्णा अजस्रोऽग्निः" इत्यादिश्रुतयः [६ । ७ । ४ । ३] इस प्रकार बहुजन्मा आग्नि है (स्वाधी) सुन्दर बुद्धिवाला यजमान (एनम्) इस अग्निको (इन्धानः) प्रदीप्त करता हुआ (जरते) प्रगट करता है अथवा आग्नि प्रथम द्युलोकमें सूर्यरूपसे वर्तमान हैं दूसरी अग्नि जातवेदस नामसे मनुष्योंमें व्यवहृत होती है, तीसरी अग्नि समुद्रगर्भमें वडवारूपसे विख्यात है, स्वाधीनचित्त यजमानगण सर्वथा हितकारी और प्रसिद्ध अग्निको इन्धनपूर्वक जरा पर्यन्त सेवन करते हैं अध्यात्म पक्षमें जीवनके अवसानतक बुद्धिमान् पुरुष आत्मा अग्निको विचारसे चैतन्य करते रहते हैं [ऋ० ७ । ८ । २८] ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मंत्र १ ।

विद्मा तेऽअग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा ॥ विद्मा ते नाम परमं गुहा यद्विद्मा तमुत्सं यतऽआजगन्थ ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विद्मा इत्यस्य वत्सप्रीर्ऋ० । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव ! जो पूर्व मन्त्रमें कहे (त्रेधा) तीन स्वरूप आदित्य, अग्नि, वडवानल रूप हैं (त्रयाणि) तीनों उन (ते) तुम्हारे रूपोंको (आविद्म) हम जान्ते हैं अथवा अग्नि वायु सूर्य संज्ञक तुम्हारे तीन रूपोंको हम जान्ते हैं, और आपके सम्बन्धी (पुरुत्रा) गार्हपत्य, आहवनीय, अन्वाहार्यपचन आग्नीध्रीयादि स्थानोंमें (विभृता) धारण करनेवाले (ते) तुम्हारे (धाम) स्थानोंको भी (आविद्म) हम जान्ते हैं और (यत्) जो (ते) तुम्हारा (परमम्) अत्यन्त (गुहा) गुप्त स्थित यविष्ठ इत्यादि मंत्रमें परिगणित प्रसिद्ध (नाम) नाम है उसको भी (आविद्म) जान्ते हैं और (तम्) उस (उत्सम्) उत्स्यन्दन जलरूप स्थानको भी (आविद्म) जान्ते हैं (यतः) जिस जलरूप स्थानसें विद्युतरूप तुम (आजगन्थ) प्राप्त हुए हो ॥ १९ ॥

विवरण-परमात्माके सत्त्वरजतमके तीन अवतार जो उत्पत्ति पालन और लय करते हैं वा जो सूर्य अग्नि वायुरूप हैं उनका विचार कर्तव्य है [ऋ०।७।८। २८] ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मंत्र १।

समुद्रेत्त्वा नृमणाऽअप्स्वन्तर्नृचक्षाऽईधेद्दिवोऽअग्नऽऊधन् ॥ तृतीयेत्त्वारजसितस्त्थिवाᳯंसमपामुपस्त्थेमहिषाऽअवर्द्धन् ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ समुद्र इत्यस्य वत्सप्रीर्ऋ० । निचृद्दार्षी त्रिष्टुप्छं०। अग्निर्देवता । त्रि० पू० ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (नृमणाः) मनुष्योंके हितकारी प्रजापतिने (समुद्रे) समुद्रमें वडवानलरूपसे वर्तमान तुमको (ईधे) प्रदीप्त किया (नृचक्षाः) पढतेहुये पुरुषोंमें स्पष्ट मंत्रके कहनेवाले प्रजापतिने (अप्सु) वृष्टिरूपजलोंके (अन्तः) अन्तर विद्युतरूपसे प्रकाशित किया (दिवः) द्युलोकके (ऊधन्) उत्कृष्ट (तृतीये) तीसरे अर्थात् समुद्रवृष्टिकी अपेक्षा तीसरे (रजसि) रंजन-करनेवाले तेजोमण्डल आदित्य रूपसे (तस्थिवाᳯंसम्) स्थित होते हुए (त्वा) तुमको प्रजापतिने दीप्त किया (महिषाः) महान् प्राणोंने (अपाम्) जलोंके (उपस्थे) उत्संगमें स्थित तुमको (अवर्द्धन्) प्रदीप्त किया "प्राणा वै महिषाः" इति श्रुतेः [श० ६ । ७ । ४ । ५ ।] अथवा पुरीष्यपिण्ड सृजन करतेमें तुमको पुष्ट किया [ऋ० ७ । ८ । २८] ॥ २० ॥

कण्डिका २१–मंत्र १।

अक्रन्दट्ग्निस्तुनयंन्निवुद्यौःक्षामुरेरिहद्वीरुधः समुञ्जन्॥ सुद्योजंज्ञानोविहीमिद्धोऽअख्युदा रोदंसीभानुनांभात्त्यन्तः॥ २१॥

विधि–(१) ६ अ० २१ कण्डिकामें अक्रन्ददिति इसकी व्याख्या होचुकी है भावार्थ कहते हैं वि० पू०॥ २१॥ अग्नि देवता मेघकी समान गर्जन करते पृथ्वीको आस्वादन करते औषधि वृक्षादिको अंकुरित करते शीघ्र प्रगट होकर द्यावापृथ्वीमें परिव्याप्त होकर प्रभावसहित देदीप्यमान होते हैं॥ २१॥

कण्डिका २२–मंत्र १।

श्रीणामुंदारोधुरुणोंरयीणाम्मंनीषाणाम्प्रार्प्पणः सोमंगोपाः॥ वसुंःसूनुःसहंसोऽअप्सुराजावि भात्त्यग्रऽउषसामिधानः॥ २२॥

ऋष्यादि–(१) ॐ श्रीणामित्यस्य वत्सप्रीर्ऋ०। निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं०। अग्निर्देवता। वि० पू०॥ २२॥

मन्त्रार्थ–(श्रीणाम्) गौ घोडे आदि सम्पत्तिका (उदारः) अतिशय देनेवाला (रयीणाम्) धनोंका (धरुणः) धारणकरनेवाला (मनीषाणाम्) मनके अभिलाषोंका (प्रार्पणः) प्राप्त करानेवाला (सोमगोपाः) यजमानकर्तृक सोमयाग का रक्षक (वसुः) सबका निवास हेतु वासवमें निवास करनेवाला अथवा मनुष्य लोकका प्रकृत धन (सहसः) मन्थनवेगरूप बलसे (सूनुः) प्रगट होनेसे पुत्ररूप (अप्सु) जलमें स्थित वरुणरूपसे (राजा) राजा अथवा मेघोंमें विद्युत् रूपसे दीप्यमान (उषसाम्) प्रभातके (अग्रे) प्रथम (इधानः) आदित्यरूपसे दीप्यमान अग्नि (विभाति) विशेषकर प्रकाशित होता है कारण कि प्रभात कालमें अग्नि होमादिसे प्रगट होताहै [ऋ० ७। ८। २८]॥ २२॥

कण्डिका २३–मंत्र १।

विश्वंस्यकेतुर्भुवंनस्युगर्भुऽआरोदंसीऽअपृणा

जायमानः ॥ वीडुञ्चिदद्रिमभिनत्परायञ्जनायदग्निमयजन्तपञ्च ॥ २३ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ विश्वस्येत्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—यह अग्नि (विश्वस्य) सम्पूर्ण जगत्का (केतुः) विज्ञानस्वरूप आत्माग्नि (भुवनस्य) सब प्राणिमात्रोंके अन्तरमें (जायमानः) वायु आत्मासे प्रगट होनेवाला वा सूर्यरूपसे प्रगट होकर (रोदसी) द्यावा पृथिवीको (आ) सब प्रकार (अपृणात्) तेजसे पूर्ण करता है (परायन्) चन्द्ररूपसे सब ओर गमन करता (वीडुम्) अतिदृढ (चित्) भी (अद्रिम्) मेघको (अभिनत्) विदीर्ण करता है अर्थात् जो प्रतिदिन उदित होकर अति सुदृढ पर्वतका भी रन्ध्रभेद करके भूलोकसे द्युलोकपर्यन्त अपनी ज्योति पूर्ण करता है (पञ्चजनाः) मनुज गण, वा चारऋत्विज और यजमान (अग्निम्) उस अग्निका (आ) सब प्रकार (अयजन्त) यजन करते हैं "इस मंत्रमें योगबीज और परमात्माकी महिमा गर्भित है सुषुम्नासे मूलाधारतक रन्ध्र और ज्योतिका कथन है" [ऋ० ७ । ८ । २८] ॥ २३ ॥

कण्डिका २४—मंत्र १ ।

उशिक्पावकोऽअरतिः सुमेधामर्त्येष्वग्निरमृतो निधायि ॥ इयर्त्ति धूममरुषम्भरिभ्रदुच्छुक्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन् ॥ २४ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ उशिगित्यस्य वत्सप्रीर्ऋ० । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—(उशिक्) लोकोंको काम्य कान्तिमान् (पावकः)शोधक (अरतिः) दुष्टोंसे प्रीतिरहित (सुमेधाः) श्रेष्ठ बुद्धिमान् (अमृतः) मरणधर्मरहित (अग्निः) अग्नि (मर्त्येषु) मरणधर्मा मनुष्योंमें देवताओंद्वारा (निधायि) स्थापन किया गया (अरुषम्) उपद्रवरहित वा रोषरहित (धूमम्) धूमको (उदियर्ति) वृष्टिके निमित्त आकाशमें प्राप्त करता है (भरिभ्रत्) जगत्को धारण करताहुआ (शुक्रेण) निर्मल (शोचिषा) प्रभावयुक्त कान्तिसे (द्याम्) द्युलोकको (इनक्षन्) व्याप्त करता हुआ है [ऋ० ७ । ८ । २९] ॥ २४ ॥

प्रमाण-१ "इतो वा अयमूर्ध्वᳲरेतः सिञ्चति धूमᳲ सामुत्र वृष्टिर्भवति" इति श्रुतेः। २ "इतः प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति" इति श्रुतेः।

भावार्थ-यह अग्नि अतिशय कान्तिमान् प्रसिद्ध शोधनकरनेवाला, दुष्टोंसे प्रीतिशून्य भक्तोंकी प्रार्थना जाननेवाला स्वयं अमर होकर भी मर्त्य भूमिमें मनुष्योंके उपकारके निमित्त स्थापित (सूर्य) रूपसे अपनी शुभ्रदीप्तिद्वारा द्युलोकस्थित नक्षत्रमण्डलपर्यन्त व्याप्त करके जगतपालन करते हैं उनका यह सुन्दर धूमपुञ्ज वृष्टिके निमित्त स्वर्गमें गमन करता है ॥ २४ ॥

कण्डिका २५-मंत्र १।

इशानोरुक्ममऽउर्व्याव्यद्यौद्दुर्म्मर्षमायुः श्रियेरुचान॥ अग्निरमृतोऽअभवद्वयोभिर्य्यदेनन्द्यौरजनयत्सुरेताः ॥ २५ ॥

मंत्रार्थ-ॐ दृशान इत्यस्य। इस मंत्रकी व्याख्या इसी अध्यायके प्रथम मंत्रमें होगई [वि० पू०] ॥ २५ ॥

कण्डिका २६-मंत्र १।

यस्तेऽअद्यकृणवद्भद्रशोचेपूपन्देवघृतवन्तमग्ने॥ प्रतन्नयप्प्रतरंवस्योऽअच्छाभिसुम्नन्देवभक्तंयविष्ठ ॥ २६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यस्त इत्यस्य वत्सप्रीर्ऋ०। विराडार्षी त्रिष्टुप्छं०। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ २६ ॥

मंत्रार्थ-(भद्रशोचे) हे कल्याणदीप्ति ! (देव) हे दिव्यगुणसंयुक्त ! (अग्ने) हे अग्ने ! (अद्य) इस समय आज प्रतिपदामें (यः) जो यजमान (ते) तुमको (घृतवन्तम्) घृतसिक्त (अपूपम्) पुरोडाशको (कृण्वत्) करता है वा प्रदान करता है (यविष्ठ) हे अतियुवा ! (तम्) उस यजमानको (प्रतरम्)अतिश्रेष्ठ (वस्यः) स्थानको (प्रणय) प्राप्त कर (देवभक्तम्) देवताओंके भोगयोग्य (सुम्नम्) सुखको (अभि) सब प्रकारसे प्राप्त करो अर्थात् उसको देवभक्त कर उत्कृष्ट स्थानपर लेजाकर अनन्त सुख प्राप्त कराओ [ऋ० ७। ८। २९] ॥२६॥

कण्डिका २७-मंत्र १।

आतम्भजसौश्श्रवसेष्वग्नऽउक्थऽउक्थआभज

शस्यमाने ॥ प्प्रियꣳसूर्य्येप्प्रियोऽअग्नाभवात्त्यु ज्ज्जातेनभिनदद्दुज्जनित्त्वैः ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आतमित्यस्य वत्सप्रीर्ऋ० । विराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २७ ॥

मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (तम्) उस यजमानको (सौश्रवेषु) कीर्ति बढानेवाले यज्ञकर्ममें (आभज) सब प्रकार सेवन कर (उक्थे उक्थे) प्रति उक्थ काण्डमें (शस्यमाने) स्तोत्र शस्त्रादिद्वारा सम्पन्नकर तुम उसको (आभज) अपना प्रीतिपात्र करो(सूर्ये)और सूर्यमें (प्रियः) प्रिय पात्रकरो (अग्ना) अग्निका (प्रिय) प्रिय (भवाति) हो (जातेन) उत्पन्न हुए पुत्रसे (उद्भिनदत्) वृद्धिको प्राप्त हो (जनित्वैः) होनेवाले पौत्रादिसें (उत्) वृद्धिको प्राप्त हो अर्थात् पुत्र पौत्रादि द्वारा इसका वंश क्रमसे वृद्धिको प्राप्त हो [ऋ० ७ । ८ । २९] ॥ २७ ॥

कण्डिका २८-मंत्र १ ।

त्वामग्ग्नेयजमानाऽअनुद्यून्विश्श्वावसुदधिरेवा र्य्याणि ॥ त्त्वयासहद्द्रविणमिच्छमानाव्व्रजङ्गो मन्तमुशिजोव्विवव्व्रुः ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्वामित्यस्य वत्सप्रीर्ऋ० । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्नि देवता ! (यजमानाः) यजमान गण (त्वाम्) तुम्हारी (अनु) सेवामें वर्तमान हुए (द्यूनूवार्य्याणि) दिन वा इस लोकमें वरणीय (विश्वा) सम्पूर्ण (वसु) धन धान्य गोहिरण्यादि ऐश्वर्य(दधिरे) प्राप्त करते हैं (त्वया) तुम्हारे (सह) साथ (द्रविणम्) यज्ञ फलकूं (इच्छमानाः) तुम्हारी सेवा करनेसे इच्छा करते हुए(उशिजः)बुद्धिमान् ज्ञानकर्मसमुच्चयकारी जन (गोमन्तम्)रविमण्डलके मध्यमें(व्रजम्)देवयान मार्गको (विवव्रुः) सेवन करते हुए अर्थात् परमप्रभामय सुप्रकाश अतिरमणीय देवपथको प्राप्त हुए सूर्यमण्डलको भेद कर मुक्त हुए [ऋ० ७ । ८ । २९] ॥ २८ ॥

विशेष-व्रज और गोमन्त पदसे गोलोक और वहां दिव्य व्रजका भी बोध होताहै ॥ २८ ॥

कण्डिका २९—मंत्र १ ।

अस्तांव्यग्निर्नुराᳬंसुशेवोंवैश्वानुरऽऋषिभिः सोमंगोपाः ॥ अद्वेषेद्यावापृथिवीहुवेमुदेवांधुत्तर्यिमुस्म्मेमवीरम् ॥ २९ ॥ [१२]

ऋष्यादि—(१) ॐ अस्तावीत्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देव० । वि० पू० ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—(नराम्) मनुष्योंको (सुशेवः) सुन्दर सुख देनेवाला(वैश्वानरः)जाठराग्निरूपसे सबका हितकारी(सोमगोपाः)सोमरक्षक (अग्निः) अग्निदेवता (ऋषिभिः) ऋषियोंद्वारा (अस्तावि) स्तुतिकिया गया (अद्वेषे) द्वेषरहित (द्यावापृथिवी) भूमि और द्युलोकके अधिष्ठात्री देवताको (हुवेम) आह्वानकरते हैं (देवाः) हे देवताओ ! (अस्मे) हमारे निमित्त (सुवीरम्) वीरपुत्र (रयिम्) सुन्दरऐश्वर्यको (धत्त) स्थापनकरो [ऋ० ७ । ८ । २९] ॥ २९ ॥ [१२]

कण्डिका ३०—मंत्र १. अनु० ३ ।

सुमिधाग्निन्दुवस्यतघृतैर्बोधयुतातिथिम् ॥ आस्मिन्हुव्याजुंहोतन ॥ ३० ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ समिधाग्निमित्यस्य विरूपाक्ष ऋषिः । गायत्री छं० । अग्निर्देवता । समिदाधाने विनि० ॥ ३० ॥

विधि—(१) इस उखाअग्निके उत्तरभागमें शकटस्थापन करै जिस शकटके ईषादण्ड पूर्वओर रहताहै उसके ऊपर इस मंत्रसे समिदाधानकरै [का० १६ । ६ । १६] ३ अ० १ का० इसकी व्याख्या होगई ॥ ३० ॥

भावार्थ—हे ऋत्विग्गण ! समिदाधानद्वारा अग्निकी परिचर्या करो अतिथिस्वरूप इस अग्निको जाग्रतकरो जाग्रत होनेसे इसमें हविको आहुतकरो ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१—मंत्र १ ।

उदुत्त्वाविश्वेंदेवाऽअग्नेभरन्तुचित्तिभिः ॥ स नोंभवशिवस्त्त्वᳬंसुप्रतीकोविभावसुः ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ उदुत्वेत्यस्य तापस ऋ० । विराडनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । उख्याग्नेः शकटोपरि स्थापने वि० ॥ ३१ ॥

विधि-(१) इस मंत्रको पाठकर आसन्दीके सहित यह उखाअग्नि ऊर्ध्वहस्त शकटके ऊपर स्थापनकरै [का० । १६ । ६ । १६] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (विश्वे) सम्पूर्ण (देवाः) प्राणरूप देवता (उ) हो (चित्तिभिः) उद्यममें प्रवीण बुद्धिवृत्तियोंद्वारा (त्वा) तुमको (उद्धरन्तु) ऊंची धारणकरैं (सः) वह ऊर्ध्व हुए (सुप्रतीकः) सुन्दरमुखवाले (विभावसुः) दीप्तिरूप धनवाले (त्वम्) तुम (नः) हमारे (शिवः) कल्याणकारक (भव) हो ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२-मंत्र १ ।

प्रेदंग्ग्रेज्ज्योतिष्म्मान्याहिशिवेभिंरुर्चिभिष्ट्वम् ॥ बृहद्भिर्भानुभिर्भासुन्माहिंꣳसीस्तुन्वाप्प्रजाः ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रेदग्ने इत्यस्य तापस ऋ० । विराडनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । शकटे तूष्णीं वृषौ संयोज्य प्राचीं गत्वा प्रयोजनवन्तं देशं प्रति गमने विनि० ॥ ३२ ॥

विधि-(१) अनन्तर मौन हो इस शकटमें दो वृषभ जोतकर किंचित् पूर्वमुख होकर पश्चात् यथेच्छस्थलमें गमनकरै [का० १६ । ६ । १८] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (शिवेभिः) मंगलयुक्त (अर्चिभिः) ज्वालाओंकरके (इत्) ही (ज्योतिष्मान्) प्रकाशमान (त्वम्) तुम (प्रयाहि) गमनकरो (बृहद्भिः) बडी (भानुभिः) किरणोंसे (भासन्) प्रकाशमान (तन्वा) शरीरसे (प्रजाः) प्रजापुत्रादिको (माहिꣳसीः) किसीप्रकार पीडा मत दो अर्थात् मार्गमें शकट-गमनसे किसीप्रकार मनुष्यादि वा गृहादिको कष्ट न हो ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३-मंत्र १ ।

अक्क्रन्ददग्निस्तुनयंन्निव द्यौः क्षामारेरिहद्वीरुधंः समुञ्जन् ॥ सुद्यो जंज्ञानो विहीमिद्धोऽअक्ख्युदारोदंसीभानुनांभात्युन्तः ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अक्रन्ददित्यस्य वत्सप्रीर्ऋ० । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । जपे विनि० ॥ ३३ ॥

विशेष-व्रज और अक्षके शब्द करनेपर जपकरै [का० १६ । ६ । २०] मंत्रार्थ-गायके ६ मन्त्रमें होगई ॥ ३३ ॥

होताहै ॥ २८ ॥

कण्डिका ३४–मंत्र १ ।

प्रप्प्रायमुग्निर्भ॑रतस्य॑शृण्वेवियत्त्सूर्य्यो॑नरोच॑ते बृहद्भाः॥ अभियःपूरुम्पृतनासुतस्त्थौदीदायुदै॑व्योऽअतिथि॑ःशिवोन॑ः॥ ३४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ प्रप्रायमित्यस्य वसिष्ठ ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । समिदाधाने वि० ॥ ३४ ॥

विधि– (१) अनन्तर अभीष्ट स्थलमें गमन करनेपर इससे यह अग्नि उतार कर शकटके उत्तर भागमें उन्नत और सिंचित स्थानमें स्थापनके अनन्तर इस मंत्रसे इसमें समिदाधान करै [का० १६ । ६ । २१ ।] मन्त्रार्थ–(अयम्) यह (अग्निः) अग्नि (भरतस्य) हवि धारण करनेवाले यजमानके आह्वानको(प्रशृण्वे) सुन्ते हैं(सूर्यः) सूर्यकी (न) समान (बृहद्भाः) वडा दीप्तिमान् होता हुआ (प्ररोचते) अत्यन्त प्रकाशमान होता है (यः) जो (पृतनासु) संग्रामोंमें (पूरुम्) राक्षसके (अभितस्थौ) सन्मुख स्थित होता है (दैव्यः)देवसम्बन्धी (अतिथिः) अतिथि (नः) हमारे (शिवः) मंगलरूप अग्नि (दीदाय) दीप्तिमान् होता है [ऋ० ५ । २ ।११] में [शुशोच] (शिवोनः) केस्थानमें है ॥ ३४ ॥

भावार्थ–अग्निने सम्पूर्ण हवि ग्रहण की इसकारण हविदाता यजमानका आह्वान सुन्ते हैं, यह इस समय सूर्यकी समान प्रचण्ड दीप्तिमान् है, यह रणस्थलमें अग्र होते हैं आज देवगण वा ऋत्विग्गणके अतिथि यह हमारा कल्याण करैं ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५–मंत्र १ ।

आपो॑देवीः प्प्रति॑गृब्भ्णीतुभस्म्मैतत्त्स्योनेकृ॑णुद्ध्वꣳसुरभाऽउलोके ॥ तस्मैनमन्ताञ्जन॑यःसुप त्क्नीम्मातेवपुत्रम्बिभृताप्प्स्वे॑नत् ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि–(१)ॐ आप इत्यस्य वसिष्ठ ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । आपो देवता । जलेभस्मप्रक्षेपणे वि० ॥ ३५ ॥

विधि– (१) प्रतिदिन सायंप्रातःकालतडागादिजलके निकट उखा लेकर वट वा पलाशपात्रसे इस मंत्रसे भस्म निकालकर जलमें प्रक्षेपकरै [का० १६ । ६ । २६] मंत्रार्थ–हे (देवीः) दीप्यमान ! (आपः) जलो ! तुम (भस्म) भस्मको (प्रतिगृभ्णीत)ग्रहणकरो (स्योने) सुखकारक (सुरभौ) पुष्पधूपादिसे सुन्दर

गन्धयुक्त (लोके) स्थानमें (उ) ही (एतत्) इसको (कृणुध्वम्) धारण करो (सुपत्नीः) जिनके सुन्दरपति वरुण हैं वे (जनयः) वृक्षादिको उत्पन्नकर अग्निको प्रगटकरनेवाली हैं (तस्मै) उस भस्मरूप अग्निके निमित्त (नमन्ताम्) झुको हे जलो (एनत्) इस भस्मको (अप्सु) जलोंमें (विभृत) धारणकरो (माता) मैया (पुत्रम्) पुत्रको (इव) जैसे धारण करतीहै अर्थात् इस भस्मको सुरभि स्थानमें प्रेरणकरो ऋत्विग्गण तुमको नमस्कार करतेहैं ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६-मंत्र १ ।

अप्स्वग्ग्नेसधिष्ट्ववसौषधीरनुरुद्ध्यसे ॥ गर्ब्भेसञ्जायसेपुनः ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अप्स्वग्ने इत्यस्य विरूप ऋ० । निचृद्गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ३६ ॥

विधि-(१) अनन्तर एक यह और एक आगेका यह दो मंत्र पढकर पत्र-पुटसे दूसरी वार उखा भस्मको अग्निमें डाले [का० १६ । २७] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे भस्मीभूत अग्ने ! (अप्सु) जलोंमें (तव) तुम्हारा (सधिः) स्थान है (सः) वही भस्म जलसे प्रगट होकर (ओषधीः) यवादिरूपको (अनुरुध्यसे) परिणामित होते हो (गर्भे) अरणीके मध्यमें (सन्) होते हुए (पुनः) फिर (जायसे) प्रगट होते हो ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७-मंत्र १ ।

गर्ब्भोऽअस्योषधीनाङ्गर्ब्भोवनस्प्पतीनाम् ॥ गर्ब्भोविश्श्वस्यभूतस्याग्ग्नेगर्ब्भोऽअपामसि ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ गर्भो असीत्यस्य विरूप ऋषिः।भुरिगार्ष्युष्णिक्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! तुम (ओषधीनाम्) ओषधियोंके (गर्भः) गर्भ (असि) हो (वनस्पतीनाम्) वनस्पतियोंके (गर्भः) गर्भ हो (विश्वस्य) सम्पूर्ण (भूतस्य) प्राणियोंके (गर्भः) गर्भ हो (अपाम्) सम्पूर्ण जलोंके (गर्भः) गर्भ (असि) हो ॥ ३७ ॥

भावार्थ-हे देव ! तुम्हारे ओषधके गर्भमें होनेसे पर्वतोंके शिखरपर रात्रिमें प्रकाश दीखता है, वृक्षोंके गर्भमें होनेसे अरणीकी रगडसे प्रकाशित होते

इसी दावानलसे वन दग्ध होताहै सब प्राणीसमूहमें जाठराग्निरूपसे होनेसे सब प्राणियोंके भुक्त आहारको परिपाक करतेहो जलके गर्भमें वडवाग्निरूपसे स्थितहो ॥ ३७ ॥

कण्डिका ३८—मंत्र १ ।

प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने ॥ सᳬसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान्पुनरासदः ॥ ३८ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ प्रसद्येत्यस्य विरूप ऋषिः । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । अप्सु क्षिप्तात् भस्मनः सकाशादनामिकया भस्मग्रहणे वि० ॥ ३८ ॥

विधि—(१) इस कण्डिकाप्रभृति चार कण्डिकात्मक मंत्रोंको पढकर जलप्रक्षिप्त भस्मको अनामिकाअङ्गुलीद्वारा कुछ ग्रहण करै [का० १६ । ६ । २९]

मंत्रार्थ—(अग्ने) हे अग्ने ! (त्वम्) तुम (भस्मना) भस्मद्वारा (योनिम्) कारणभूत (पृथिवीम्) पृथ्वीको (च) और (अपः) जलोंको (प्रसद्य) प्राप्तहोकर (मातृभिः) मातारूपजलोंसे (सᳬसृज्य) सम्मिलितहोकर (ज्योतिष्मान्) तेजस्वी सम्पन्न होकर (पुनः) फिर (आसदः) उखामें स्थित हो अर्थात् अपने उत्पत्तिकारण पृथ्वी और जलदेवीके साथ मिलितहोकर ज्योतिसम्पन्न हो उखामें आगमन करो ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९—मंत्र १ ।

पुनरासद्य सदनमपश्च पृथिवीमग्ने ॥ शेषे मातुर्यथोपस्थेऽन्तरस्याᳬशिवतमः ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ पुनरित्यस्य विरूप ऋ० । निच्यृदनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—(अग्ने) हे अग्ने ! (शिवतमः) अतिकल्याणरूप तुम (अपः) जल (च) और (पृथ्वीम्) पृथ्वीके (सदनम्) स्थानको (आसद्य) प्राप्तहोकर(पुनः) फिर (अस्याम्) इस उखाके (अन्तः) मध्यमें (शेषे) शयनकरते हो (यथा) जैसे (मातुः) माताके (उपस्थे) गोदीमें बालक सोताहै ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०—मंत्र १ ।

पुनरूर्जा निवर्त्तस्व पुनरग्न इषायुषा ॥ पुनर्नः पाह्यᳬहसः ॥ ४० ॥

इसकी व्याख्या इसी अध्यायकी ९ कण्डिकामें होगई [वि० पू०] ॥ ४० ॥

कण्डिका ४१-मंत्र १ ।

मुहरुख्या निर्वर्त्तस्वाग्नेपिन्वस्वधारया ॥ विश्वप्प्स्न्याविश्वतस्प्परि ॥ ४१ ॥

इसकी व्याख्या इसी अध्यायकी १० कण्डिकामें होगई. [वि० पू०] ॥४१॥

कण्डिका ४२-मंत्र १ ।

बोधामेऽअस्यवचसोयविष्ठमᳬहिष्ठस्यप्प्रभृतस्य स्वधावः ॥ पीयतित्वोऽअनुत्वोगृणातिवन्दारु ष्टेतन्वंवन्देऽअग्ने ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(३) ॐ बोधा इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । विराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । उखाग्न्युपस्थाने वि० ॥ ४२ ॥

विधि-(१) सरोवरादिके तटसे लौटकर अनामिका अंगुलीद्वारा ग्रहण कीहुई यह भस्म विना मंत्रके उखासे स्पर्श करावे अनन्तर इस कण्डिकात्मक मंत्र और पर कण्डिकात्मक मंत्रसे उखाग्निका उपस्थान करै [का० १६ । ६ । ३०], मन्त्रार्थ-(स्वधावः) हे धनवान् ! (यविष्ठ) श्रेष्ठ युवारूप (अग्ने) हे अग्नि ! (मे) मेरे (अस्य) इस (मᳬहिष्ठस्य) महान् वारंवार कथन करनेसे (प्रभृतस्य) श्रवणपथको प्राप्त हुए (वचसः) वचनके अभिप्रायको (बोध) जानो (त्वः) कोई तुम्हारी (पीयति) निन्दाकरै (त्वः) कोई एक पुरुष तुम्हारी (अनुगृणाति) स्तुति करै यह मनुष्योंका स्वभाव है (वन्दारुः) परन्तु स्तुति करनेका स्वभाववाला मैं (ते) तुम्हारे (तन्वम्) शरीरको (वन्दे) प्रमाण करता हूं [ऋ० २ । २ । १६] ॥ ४२ ॥

कण्डिका ४३-मंत्र २ ।

सबोधि सूरिर्म्मघवावसुपतेवसुदावन् ॥ युयोद्ध्य स्म्मद्द्वेषाᳬसिविश्वकर्म्मणेस्वाहा ॥ ४३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सबोधीत्यस्य सौम्राहुतिर्ऋषिः । निचृदार्षी गायत्री छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० । (२) ॐ विश्वकर्मण इत्यस्य याजुष्युष्णिक्छन्दः । अग्निर्देवता । हवने विनियोगः ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ–(वसुपते) हे धनपते! (वसुदावन्) धनके दाता अग्ने!(सः)वह तुम (सूरिः) कवि सब कुछ ज्ञाता (मघवा) धनयुक्त हो हमारे अभिप्रायको (बोधि) जानो आप संतुष्ट होकर (द्वेषांशसि) दुर्भागोंको (अस्मत्तः) हमसे (युयोधि) पृथक् करो १। विधि–(१) दूसरे मंत्रको पाठ कर समिधाद्वारा घृत लेकर उखाग्निमें हवन करै "यह प्रायश्चित्त हवन है" [का० १६। ७। १] मंत्रार्थ–(विश्वकर्मणे) जगत्को सृष्टि स्थिति आदि कर्म करनेवाले तुम्हारे निमित्त (स्वाहा) अग्निमें आहुत यह हवि भलीप्रकार गृहीत हो [ऋ० २।५।२७] [यजु अधिक है] ॥ ४३ ॥

कण्डिका ४४–मन्त्र १।

पुनस्त्वादित्त्या रुद्रा वसवः समिन्धताम्पुनर्ब्रह्माणो वसुनीथ यज्ञैः ॥ घृतेन त्वन्तन्वँव्वर्द्धयस्व सत्त्याः सन्तु यजमानस्य कामाः ॥ ४४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ पुनस्त्वेत्यस्य सोमाहुतिर्ऋषिः। स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः। अग्निर्देवता। उख्येऽग्नौ समिद्धोमे विनि० ॥ ४४ ॥

विधि–(१) अनन्तर दण्डायमान होकर इस मंत्रसे जिस और समिधद्वारा घृतग्रहणपूर्वक होम किया है उस समिधको हवन करै [का० १६। ७। २] मन्त्रार्थ–हे अग्ने! (वसुनीथ) धनके निमित्त स्तुतिवाले हे देव! (आदित्याः) आदित्यगण (रुद्राः) रुद्रगण (वसवः) वसुगण (त्वा) तुमको (पुनः) फिर (समिन्धताम्) प्रदीप्त करैं हे धननेता! (ब्रह्माणः) ऋत्विग्यजमान (यज्ञैः) यज्ञ करके (पुनः) फिर तुमको प्रदीप्त करैं (त्वम्)तुम (घृतेन) घृतके द्वारा (तन्वम्) शरीरको (वर्धयस्व) बढाओ तुम्हारे वृद्धिको प्राप्त होनेमें (यजमानस्य)यजमानके (कामाः) मनोरथ (सत्याः) सफल (सन्तु) हों ॥ ४४ ॥

[गार्हपत्यचयन]

कण्डिका ४५–मंत्र १।

अपेत व्वीत व्वि च सर्प्पतातो ये त्र स्त्थ पुराणा ये च नूतनाः ॥ अदाद्यमोवसानम्पृथिव्या अक्रन्निमम्पितरो लोकमस्म्मै ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अपेतेत्यस्य सोमाहुतिर्ऋषिः। निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः। लिंगोक्ता देवता। तृणबर्हिःक्षेपणे वि० ॥ ४५ ॥

विधि–(१) यह मंत्र पाठ पूर्वक पलाश शाखा द्वारा गार्हपत्यचिति स्थानको शोधन करै अर्थात् वहांसे तृणादि दूर करै [का० १७ । १ । ३] मंत्रार्थ–हे यम-भृत्यगण!(ये) जो (पुराणाः)पुराने (च)और(ये) जो(नूतनाः) नये तुम (अत्र) इस स्थानमें (स्थ) हो वह तुम (अतः) यहांसे (अपेत) दूर चलेजाओ (वीत) अति दूर (च) ही (विसर्पत) संघात त्याग कर अनेक स्थानोंमें चले जाओ (यमः) यमने (पृथिव्याः) पृथ्वीका (अवसानम्) अवकाश इस यजमानके निमित्त (अदात्) दिया है (पितरः) पितरोंने (इमम्) इस (लोकम्) लोकको (अस्मै) इस यजमानके निमित्त (अक्रन्) कल्पित किया है ॥ ४५ ॥

भावार्थ–हे यमभृत्यगण! पृथ्वीकी अवसानभूमिकी पितृगणोंने हमको गार्हपत्य-चितिके निमित्त इस स्थानमें व्यवस्था कीहै उसीके अनुसार इस स्थानको यमदेवताने हमको प्रदानकियाहै;इस कारण यदि तुम्हारा यहां बहुत कालसे निवास हो अथवा नवीन वास आरंभ कियाहो सबही इस स्थानको त्यागकर दिग्दिगन्तमें दूर चलेजाओ ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६–मन्त्र ३ ।

सँज्ञानमसि कामधरणम्मयितेकामधरणम्भूयात ॥ अग्नेर्भस्म्मास्यग्नेः पुरीषमसि चितस्त्थपरिचितऽ ऊर्द्ध्वचितः श्रयद्ध्वम् ॥ ४६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ संज्ञानमित्यस्य सोमाहुतिर्ऋ० । साम्नी पंक्तिश्छं० । उषा दैवतम् । चितिस्थाने क्षारमृदाधाने विनि० । (२) ॐ अग्नेरित्यस्य सोमाहुतिर्ऋ० । आसुरी पंक्तिश्छं० । सिकता देव० । सिकतादाने वि० । (३) ॐ चितस्थेत्यस्य सोमाहुतिर्ऋ० । आसुर्युष्णिक्छं० । परिश्रिद्दैवतम् । परिश्रित्प्रक्षेपे वि० ॥ ४६ ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रपाठ पूर्वक गार्हपत्याचितिके स्थानमें उषा [क्षारमृत्तिका]प्रदानकरै [का० १७ । १ । ४] और शोधनकी शाखाको उत्तरओर फेंकदे । मंत्रार्थ–हे उषास्वरूप! तुम (संज्ञानम्) पशुओंके सम्यक्ज्ञान साधन (असि) हो अर्थात् पशु इस स्थानको जानकर लेहन करतेहैं तथ. यज्ञद्वारा (कामधरणम्) मनोरथ सम्पादन करनेवाले हो इस कारण तुमसे प्रार्थना करते हैं कि (ते) तुम्हारी (कामधरणम्) मनोरथसम्पादनकी सामर्थ्य (मयि) मुझ यजमानमें (भूयात्) हो अथवा "पशवो वा उषाः पशवः कामधरणं मयि ते पशवो भूयासुः" इति [७ । १ । १ । ८] श्रुतेः । तुम्हारे कामधरण पशु हमारे हों १

विधि-(२) दूसरा मंत्र पाठ पूर्वक गार्हपत्यचितिके स्थानमें सिकता प्रदान करै यह भस्मकी कंकर है इससे इस स्थलमें सुरखीका कार्य होगा [का० १७ । १ । ६] मन्त्रार्थ-हे सिकता ! तुम (अग्नेः) अग्निकी (भस्म) भस्म (असि) हो अर्थात् प्रकाशक हो सिकता स्थित अग्नि प्रदीप्त होती है (अग्नेः) अग्नि के (पुरीषम्) पूरण करनेवाले हो अर्थात् किंचित् मात्र भी इसपर अग्नि डालनेसे प्रज्वलित हो उठती है नहीं तो निर्वाण हो जाय "अग्नेरेतद्वैश्वानरस्य रेतो यत् सिकता" इति श्रुतेः [७ । १ । १ । ९ -१०] विधि-(३) तीसरे मंत्रसे इक्कीस वार गार्हपत्य चितिके स्थानमें परिश्रित् [शर्करा] प्रक्षेप करै [का० १७ । १ । ७] हे (शर्कराः) परिश्रित् गण ! तुम (चितः) भूमिपर डाले हुए (परिचितः) सब ओर स्थापित (स्थ) हो (ऊर्द्ध्वचितः) उर्ध्वमें स्थापित तुम (श्रयध्वम्) इस गार्हपत्य स्थानको सेवन करो ॥ ४६ ॥

[इष्टकोपधान]

कण्डिका ४७-मन्त्र १ ।

अयᳬं सोऽअग्निर्यस्मिन्त्सोममिन्द्रः सुतन्दधे जठरे वावशानः ॥ सहस्रियं वाजमत्यन्न सप्तिᳬं ससवान्त्सन्त्स्तूयसे जातवेदः ॥ ४७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अयंस इत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । पद्याधाने वि० ॥ ४७ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु मण्डलके दक्षिणमें उत्तरमुख होकर मण्डलके मध्यमें दक्षिणसे उत्तरको दो पंक्तिकी उत्तर सीमामें इस मंत्रसे अर्धबृहती अर्थात् एक हाथ दीर्घ और आधे हाथ चौडी पद्यानाम लोकद्वयव्यापिनी इष्टका [ईंटें] पूर्व पश्चिमके दीर्घ क्रमसे उपधान (अर्थात् इष्टकाव्यवहारका नियम) स्थापन करै [का० १७ । १ । ८] मन्त्रार्थ-(सः) वह (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि है (यस्मिन्) जिस अग्निचयनमें (वावशानः) इच्छा करनेवाले (इन्द्रः) इन्द्रने (सुतम्) अभिषव किये (सहस्रियम्) सहस्रोंके योग्य (वाजम्) अन्नकी समान (अत्यम्) भक्षण करते (न) नहीं मादक हर्षकारक (सप्तिम्) तृप्तिकारक (सोमम्) सोमको (जठरे) उदरमें (धत्ते) धारण किया (जातवेदः) हे अग्नि ! तुम भी (ससवान्) हवियोंको भक्षण करते (सन्) हुए ऋत्विग् यजमानोंसे (स्तूयसे) स्तुतिको प्राप्त होते हो अथवा हे गमनकुशल अग्नि ! अश्वकी

समान सहस्रसंख्याक धनसे सम्मित तुम अन्नको देते यजमानोंसे स्तुतिको प्राप्त होते हो ॥ ४७ ॥

भावार्थ-यह वही गार्हपत्यअग्नि है जो सहस्रों देवताओंकी तृप्तिसाधक है और जिसके पानमात्रसेही प्रसन्नता उपस्थित होतीहै इसप्रकारसे तृप्तकर सोमको प्रदान करके इन्द्र इस आहुत सोमको अपने जठरमें स्थानदेतेहैं, हे जातवेदः ! हविभक्षक तुम ऋत्विग्यजमानद्वारा निरन्तर स्तुतिको प्राप्तहोते हो ॥ ४७ ॥

कण्डिका ४८-मंत्र १ ।

अग्ने॒ यत्ते॑ दि॒वि वर्चः॑ पृथि॒व्यां यदोष॑धीष्व॒प्स्वा य॑जत्र ॥ येना॒न्तरि॑क्षमु॒र्वा॑त॒तन्थ॑ त्वे॒षः स भा॒नुर॑र्ण॒वो नृ॒चक्षाः॑ ॥ ४८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्नेयत्त इत्यस्य विश्वामित्र ऋ० । भुरिगार्षी पंक्तिश्छं० । अग्निर्देव० । द्वितीयेष्टकोपधाने विनि० ॥ ४८ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे इष्टका दक्षिणमें हैं इसीप्रकार पूर्वपश्चिम दीर्घ दूसरी इष्टका उपधानकरै । मन्त्रार्थ-(आयजत्र) मर्यादासे यजनयोग्य (अग्ने) हे अग्नि देव ! (ते) तुम्हारी (यत्) जो (दिवि) द्युलोकमें (वर्चः) सूर्यरूप ज्योति है (यत्) जो (पृथिव्याम्) भूमिमें [अग्निरूप] (ओषधीषु) ओषधियोंमें भास्वर रूप (अप्सु) जलोंमें प्रभारूप ज्योति है (येन) जिसने विद्युत् रूपसे (उरु) वडे (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोकको (आततन्थ) व्याप्त किया है (सः) वह (त्वेषः) विश्वप्रकाशक (अर्णवः) सव ओर गमनशील (नृचक्षाः) मनुष्योंके शुभाशुभ कर्मकी द्रष्टा (भानुः) सूर्यरूप दीप्ति है इस मंत्रसे तीन स्थानमें स्थित अग्निकी प्रार्थना है [ऋ० ३ । १ । २२] ॥ ४८ ॥

कण्डिका ४९-मन्त्र १ ।

अग्ने॑ दि॒वो अर्ण॒मच्छा॑ जिगा॒स्यच्छा॑ दे॒वाँ२ऽऊ॑चिषे॒ धिष्ण्या॒ ये ॥ या रो॑च॒ने प॒रस्ता॒त्सूर्य॑स्य॒ याश्चा॑व॒स्ता॑दुप॒तिष्ठ॑न्त॒ऽआपः॑ ॥ ४९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्ने दिव इत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । भुरिगार्षी पंक्तिश्छं० । अग्निर्देवता । दक्षिणे तृतीयेष्टकोपधाने वि० ॥ ४९ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे दूसरी इष्टकाके दक्षिणमें इसीप्रकार तीसरी इष्टका

स्थापन करै। मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेवता ! (दिवः) द्युलोकसम्बन्धी (अर्णम्) जलको (अच्छ) अभिमुखसे (जिगासि) प्राप्त करते हो अर्थात् द्युलोकमें जो सागर है तुम उसकी प्राप्तिके गमनमें समर्थ हो (ये) जो(धिष्ण्याः) बुद्धि इन्द्रियके प्रेरक प्राण (ऊचिषे) कहाते हैं उन प्राणरूप (देवान्) देवताओंके प्रति (अच्छ) सन्मुख गमन करते हो अथवा द्युलोकके देवताओंको प्राप्त होनेकोभी तुम समर्थ हो (आ रोचने) दीप्तिरूप मण्डलमें वर्तमान (सूर्यस्य) सूर्यके (परस्तात्) परे (याः) जो (आपः) जल हैं (च) और (अवस्तात्) नीचे (याः) जो जल (उपतिष्ठन्ते) हैं उन सबके मध्यमें तुम विराजमान हो आशय यह कि जलका आवरण सर्वत्र है [ऋ० ३ । १ । २२] ॥ ४९ ॥

प्रमाण-"अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः" [निरु० ५ । ३१ ।] "प्राणा वै देवा धिष्ण्यास्ते हि सर्वा धिय इष्णन्ति" [श० ७ । १ । १ । २४] ॥ ४९ ॥

कण्डिका ५०-मन्त्र १ ।

पुरीष्यासोऽअग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः ॥ जुषन्तां यज्ञमद्रुहोऽनमीवाऽइषो महीः ॥ ५० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पुरीष्यास इत्यस्य विश्वामित्र ऋ० । आर्षी पंक्तिश्छं० । अग्निर्देवता । चतुर्थेष्टकोपधाने वि० ॥ ५० ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे तीसरी इष्टका अर्थात् दक्षिण सीमाके स्वयि क्रोडके निकट चौथी इष्टका उपधान करै। मन्त्रार्थ-(पुरीष्यासः) पशुओंकी हितकारी (प्रावणेभिः) समानमनोंसे (सजोषसः) प्रीतियुक्त (अद्रुहः) हिंसा न करनेवाले (अग्नयः) अग्नि (यज्ञम्) इस इष्टकारूप यज्ञको (अनमीवाः) क्षुधातृष्णानिवर्तक (महीः) बहुत (इषः) अन्नयुक्त (जुषन्ताम्) सेवनकरो [ऋ० ३ । १ । २२] ॥ ५० ॥

भावार्थ-हे पुरीष्यअग्निके आधार सम्पूर्ण इष्टकाओ ! क्षुधापुञ्जविहीन तुम परस्पर सम्प्रीत होकर परस्पर द्रोहशून्य इस यज्ञको सम्पन्न करो तुम्हारे ऊपर अधिष्ठित अग्नि बहुत प्रकार हवि ग्रहणकरै ॥ ५० ॥

कण्डिका५१-मंत्र १ ।

इडामग्ने पुरुदंससं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध ॥ स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥ ५१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इडामग्न इत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । भुरिगार्षी पंक्तिश्छन्दः । अग्निर्दे० । इष्टकोपधाने वि० ॥ ५१ ॥

विधि-(१) अनन्तर मण्डलके उत्तर दक्षिणाभिमुख उपविष्ट होकर इस मंत्रका पाठकर स्थापन कीहुई इष्टकाचतुष्टयके पश्चिम उत्तर दक्षिणमें दीर्घक्रमसे दक्षिण-सीमामें एक पाणिपादमात्र लम्बी चौडी इष्टका उपधानकरै [का० १७ ।१।११]

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (पुरुदंसम्) बहुत कर्मोंके साधनरूप (इडाम्) अन्नको (शश्वत्तमम्) निरन्तर विद्यमान (गोः) धेनुसम्बन्धी (सनिम्)दानको अर्थात् दूध दही घृतादिकी (हवमानाय) हवन करते यजमानके निमित्त (साध) सम्पादन करो अर्थात् दो (नः) हमारे (विजावा) प्रजावान् (तनयः) औरस अथवा अग्निहोत्रादिकर्मका सम्पादक (सूनुः) पुत्र (स्यात्) हो (अग्ने) हे अग्ने ! (सा) वह (ते) तुम्हारी अन्नगौपुत्रदानके विषयवाली (सुमतिः) सुन्दर बुद्धि (अस्मे) हममें (भूतु) हो ॥ ५१ ॥

प्रमाण-"दंस इति कर्मनाम" [निघं० ४ । १ । ३ ।] " अन्नं वा इडा " इति श्रुतेः । [७ । १ । १ । २७] [ऋ० २ । ८ । १६] ॥ ५१ ॥

कण्डिका ५२-मंत्र १ ।

अयन्तेयोनिर्ऋत्त्वियोयतोजातोऽअरोचथाः॥ तञ्जानन्नग्नऽआरोहाथानोवर्द्धयारयिम् ॥ ५२ ॥

अयंते इति इस मंत्रसे पांचवी इष्टकाके उत्तर इसी प्रकार छठी इष्टका उपधान करै इसकी व्याख्या अ० ३ क० १४ में होगई [वि० पू०] ॥ ५२ ॥

कण्डिका ५३-मन्त्र २ ।

चिदसितयादेवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवासीदपरिचिदसितयादेवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवासीद ॥ ५३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ चिदसीत्यस्य मन्त्रद्वयस्य विश्वामित्र ऋषिः । स्वराडनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । प्रथममंत्रस्य पद्यानामकप्रथमेष्टकोपधाने द्वितीयमंत्रस्याष्टमेष्टकोपधाने च वि० ॥ ५३ ॥

विधि-(१) परिमण्डलके उत्तर दक्षिणमुख उपविष्ट होकर इस कण्डिकाका प्रथम मंत्र पाठ करते निकट स्थित चार इष्टकाओंके पूर्व उत्तर दक्षिण दीर्घ क्रमसे उत्तरसीमामें एकपादमात्री पद्या प्रथम इष्टका उपधान करै [का०१७।१।१२]

मंत्रार्थ-हे इष्टके! तुम (चित्) स्थापितकीहुई अथवा भोगोंको चयनकरनेवाली (असि) हो (तया) उस प्रसिद्ध वाग्रूप (देवतया) देवताद्वारा स्थापितहोकर (अङ्गिरस्वत्) अंगिरा वा प्राणोंकी समान (ध्रुवा) दृढतापूर्वक (सीद) इस स्थानमें स्थित हो "वाग्वै सा देवता अङ्गिरस्वदिति प्राणो वा अङ्गिराः" इति श्रुतेः १। विधि-(१) दूसरे मंत्रसे सप्तम इष्टकाके दक्षिणमें इसीप्रकार अष्टम इष्टका स्थापनकरै। मन्त्रार्थ-हे इष्टके! (परिचित्) सब ओरसे भोगोंको चयनकरने वाली(असि) हो (तया)उस प्रसिद्ध (देवतया) वाग्रूप देवताद्वारा सम्पादितहुई (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिराकी समान दीर्घकालतक (ध्रुवा) निश्चल इस स्थानमें (सीद) स्थित हो ॥ ५३ ॥

कण्डिका ५४-मंत्र १।

लोकम्पृण च्छिद्रम्पृणाथोसीदध्रुवात्त्वम् ॥ इन्द्राग्नीत्त्वाबृहस्पतिरस्मिन्योनावसीषदन् ॥५४॥

ऋष्यादि-(१) ॐ लोकम्पृणेत्यस्य विश्वामित्र ऋ०। विराडनुष्टुप्छं०। अग्निर्देवता। इष्टकासादनेवि० ॥ ५४ ॥

विधि-(१) अनन्तर तीन लोकम्पृणाना (छोटी ईंटे) इष्टका विना मंत्रके उपधानकरके फिर प्रतिवार मंत्रपाठकरके और दश लोकम्पृणाना इष्टकाको उपधान करे अथवा पहली दो अमंत्रक और दश मंत्रपूर्वक और शेष अमंत्रक स्थापन करै इस क्रियाको सादन कहते हैं [का० १७ । १ । १७] मंत्रार्थ-हे इष्टके! (त्वम्) तुम (लोकम्) गार्हपत्यचयनस्थानमें पूर्व इष्टकाओंसे अनाक्रान्त होकर स्थानको (पृण) पूर्ण करो(छिद्रम्)अवकाशको (पृण)पूर्णकरो (अथो) और (ध्रुवा) दृढ होकर (सीद) स्थित हो अर्थात् पूर्व स्थापित आठ इष्टका द्वारा आक्रान्त न हो इस सब अवकाशको एक एक क्रमसे पूर्ण करो और इस प्रकार परस्पर सम्मिलित हो कि जिससे दोनोंके मध्यमें छिद्र न रहै, अति दृढतासे स्थित हो (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि देवता (बृहस्पतिः) बृहस्पति देवताने (अस्मिन्) इस (योनौ) स्थानमें (त्वा) तुमको (आसीषदन्) स्थापन किया है ॥ ५४ ॥

कण्डिका ५५-मंत्र १।

ताऽअस्यसूददोहसः सोमꣳश्रीणन्तिपृश्नयः ॥ जन्मन्देवानांविशस्त्रिष्वारोचनेदिवः ॥ ५५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ता अस्येत्यस्य प्रियमेधा ऋ० । विराडनुष्टुप्छं० । आपो देवता । सूददोहसाधिवदने वि० ॥ ५५ ॥

विधि-(१) पूर्व मंत्र पाठ करके जो जो इष्टका सादन करै उस उस इष्टकासे सूददोहसाधिवदन करै अर्थात् सूद-जल दोह-अन्न इनका अधिवदन-वस्तुतत्वकथन । इस क्रियाको सूददोहसाधिवदन कहते हैं प्रति इष्टकाके प्रथम सादनेके उपरान्त यह क्रिया होती है [का० १६ । ७ । १४] मन्त्रार्थ-(दिवः) द्युलोकसम्बन्धिनी अथवा द्युलोकसे च्युत (पृश्नयः) अनेक प्रकारकी अथवा "अन्नं वै पृश्निः" इति श्रुतेः [श० ८ । ७ । ३ । २१] अन्नरूप व्रीहिआदि धानकी सम्पादन करनेवाली (सूददोहसः*) जल और अन्नसे संयुक्त (ताः) वे प्रसिद्ध जल (देवानाम्) देवताओंके (जन्मन्) जन्मवाले संवत्सरमें "संवत्सरो वै देवानां जन्म" इति श्रुतेः [श० ८ । ७ । ३ । २१] (त्रिषु) तीन (आरोचने) सवनोंके मध्यमें "सवनानि वै त्रीणि रोचनानि" इति श्रुतेः [८ । ७ । ३ । २१] वा प्रदीप्त तीन स्थान द्युलोक अन्तरिक्ष लोक और भूलोकमें (अस्य) इस (विशः) यज्ञसम्बन्धी "यज्ञो वै विशः" इति श्रुतेः [८ । ७ । ३ । २१] (सोमम्) सोमको (आश्रीणन्ति) सम्यक् परिपक्व करते हैं अर्थात् अन्नके परिणामभूत अन्नोत्पादक जल द्युलोकसे इस लोकमें गिरकर ओषधी वनस्पति अन्नरूप होकर इस सोमका उपकार करते हैं [ऋ० ६ । ५ । ९] ॥ ५५ ॥

विवरण-१संवत्सर वा सोमयागमें देवताओंका जन्म है द्युलोकसम्बंधी जल वृष्टिद्वारा उत्पन्न अथवा सोमसम्मिलष्ट । २ विश वाणिज्य व्यवसायकृषि और यज्ञ । *सूददोहस-व्रीहियवादि इक्षुगव्यादि अथवा पुरोडाशादि और अभिषुत सोमादि । ३ पक्वहोना पृथ्वीसे अथवा इस रक्खीहुई इष्टकासे ॥ ५५ ॥

भावार्थ-देवगणका जन्म हुआ । रोचनत्रय द्युलोकसम्बन्धी । विशके उपकारी नानाविध अन्न और जल इस स्थलमें परिपक्वहुआ, इस मंत्रकी व्याख्या उभय प्रकार है ॥ ५५ ॥

कण्डिका ५६-मंत्र १ ।

इन्द्रंविश्वाऽअवीवृधन्त्समुद्रव्यचसङ्गिरः॥ रथीतमᳩ रथीनांवाजानाᳩ सत्पतिम्पतिम् ॥ ५६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रमित्यस्य मधुच्छन्दःपुत्रजेता ऋषिः । निच्यृदनुष्टुप्छन्दः । इन्द्रो देवता । गार्हपत्यचितेरुपरि पुरीषस्थापने वि० ॥ ५६ ॥

विधि-(१)यह मंत्रपाठ कर चत्वालसे पुरीष लाकर गार्हपत्य चितिपर स्थापन

करै (पुरीष—मृत्तिका) [का० । १७ । १ । १८] मन्त्रार्थ—(विश्वाः) सम्पूर्ण (गिरः) ऋक्यजुसामरूप स्तुति (समुद्रव्यचसम्)समुद्रवत् व्यापक (रथीनाम्) सब रथियोंके मध्यमें (रथींतमम्)अत्यन्त रथी (वाजानाम्)अन्नोंके (पतिम्) पति (सत्पतिम्) निजधर्ममें रहनेवालोंके पालक (इन्द्रम्) इन्द्रको (अवीवृधन्) वर्धितकरतेहैं [ऋ० १ । १ । २१] ॥ ५६ ॥

सरलार्थ—जिनकी कीर्ति समुद्रपर्यन्त दीप्यमान है, जो रथीदलोंमें एक प्रधान रथी हैं, जिनकी प्रसन्नतासे हम अन्नलाभ करते हैं जो साधुगणोंके प्रतिपालक हैं, उन देवेन्द्रकी सबही एक वाक्यसे स्तुति करते हैं ॥ ५६ ॥

कण्डिका ५७—मन्त्र १ ।

समितꣳसङ्कल्पेथाꣳसम्प्रियौरोचिष्णूसुमनस्यमानौ ॥ इषमूर्ज्जमभिसंवसानौ ॥ ५७ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ समितमित्यस्य मधुच्छन्दा ऋ० । भुरिगुष्णिक्छन्दः । चित्योख्याग्नी दे० । उख्याग्निस्थापने वि० ॥ ५७ ॥

विधि—(१) इस कण्डिकाप्रभृति चार मंत्रोंसे समंविला [पुरीष्य] मृत्तिका द्वारा गार्हपत्य चितिके परिश्रित् [तुल्य परिपूर्ण] करके फिर निम्न स्थानमें उखा अग्नि स्थापन करै [का० १७ । १ । १९] मन्त्रार्थ—(सम्प्रियौ) समान प्रीतिवाले (रोचिष्णू) कान्तिमान् (सुमनस्यमानौ) परस्पर श्रेष्ठ चित्तवाले हे उखा और चिति अग्नि देवताओ ! (इषम्) अन्न (ऊर्ज्जम्) घृतादि रसको (अभिसंवसानौ) भोग करते हुए अर्थात् हमारे दिये हुए अन्न और रस स्वीकारपूर्वक (समितम्) एकमन होकर मिलो अर्थात् मिलकर (सङ्कल्पेथाम्) एकसङ्कल्प हो वा यज्ञनिष्पादन करो अथवा हमारे कल्याणकी कल्पनाकरो ॥ ५७ ॥

कण्डिका ५८—मन्त्र १ ।

संवाम्मनाꣳसिसंव्व्रतासमुचित्तान्याकरम् ॥ अग्ग्नेपुरीष्ष्याधिपाभवत्त्वन्नऽइषमूर्ज्जंय्यजमानायधेहि ॥ ५८ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ संवामित्यस्य मधुच्छन्दा ऋ० । आर्षी पंक्तिश्छन्दः । चित्योख्याग्नी दे० । वि० पू० ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ-हे दोनो अग्नियो ! (वाम्) तुम्हारे (मनाꣳसि) मन (समाकरम्) सब प्रकार संगतकरताहूं (व्रता) व्रत वा कर्म "व्रतमिति कर्मनाम" [निघं०२।१। ७] (सम्) संगतकरताहूं (चित्तानि) मनोगतसंस्कारोंको (सम्) संगत करताहूं (उ) और हे (पुरीष्य) पशुसम्बन्धी गृहस्थ कार्यसाधक (अग्ने)अग्निदेव! (त्वम्) तुम (नः) हमारे (अधिपा) अधिपति (भव) हो (इषम्) अन्न (ऊर्ज्जम्) वल (यजमानाय) यजमानके निमित्त (धेहि) प्रदानकरो ॥ ९८ ॥

कण्डिका ५९-मंत्र १ ।

अग्ने॒त्त्वम्पु॑री॒ष्यो रयि॒मान्पु॑ष्टि॒माँ२ऽअ॑सि॥शि॒वाः कृ॒त्त्वा दिश॒ꣳसर्वाः॒ स्वं योनि॑मि॒हास॑दः ॥ ५९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्नेत्वमित्यस्य मधुच्छन्दा ऋ० । भुरिगुष्णिक्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्नि देवता ! (त्वम्) तुम (पुरीष्यः) पशुसम्वन्धी पशुहितकारक (रयिमान्)धनवान्(पुष्टिमान्)पुष्टियुक्त (असि) हो तुम्हारे प्रसादसे हम पुष्टि और ऐश्वर्यलाभ करैं (सर्वाः) सब (दिशः) दिशायें (शिवाः)कल्याण कारक (कृत्वा) करकै (इह) यहां (स्वम्) अपने (योनिम्) स्थानमें (आसदः) स्थित हो ॥ ५९ ॥

कण्डिका ६०-मन्त्र १ ।

भव॑तन्नः॒ सम॑नसौ॒ सचे॑तसावरे॒पसौ॑ ॥ मा य॒ज्ञꣳहिꣳसिष्ट॒म्मा य॒ज्ञप॑तिं जातवेदसौ शि॒वौ भ॑वतम॒द्य नः॑ ॥ ६०

ऋष्यादि-(१) ॐ भवतन्न इत्यस्य मधुच्छंदा ऋ० । आर्षी पंक्तिश्छन्दः । चित्योख्याग्नी दे० । वि० पू० ॥ ६० ॥

इसकी व्याख्या ५अ० ३कण्डिकामें होगई सरलार्थ लिखते हैं-जातवेदस नामसे प्रसिद्ध हे दोनों अग्नि!तुम्हारे प्रसादसे यह क्रिया निर्विघ्न समाप्त हो यजमानका शरीर स्वस्थ रहै तुम दोनों ही एक मन एकचित्त अकुटिलभावसे आज हमारे यज्ञमें कल्याणकारी हो ॥ ६० ॥

कण्डिका ६१-मन्त्र १ ।

मा॒तेव॑ पु॒त्रम्पृ॑थि॒वी पु॑री॒ष्य॑म॒ग्निꣳस्वे योना॑वभारु

षा ॥ तांवि॒श्वैर्दे॒वैर्ऋ॒तुभिः॑संविदा॒नःप्र॒जाप॑तिर्वि॒श्वक॑र्म्मा॒विमु॑ञ्चतु ॥ ६१ ॥ [७]

ऋष्यादि-(१) ॐ मातेवेत्यस्य मरुच्छन्दा ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । उखा देवता । गार्हपत्यचितेरुपर्युखां निधाय तन्मध्यतः तूष्णीं दुग्धसेचने विनियोगः ॥ ६१ ॥

विधि-(१) शून्य उखाको सिकताद्वारा पूर्ण कर यह मंत्रपाठ कर शिक्यसे उखाको निकालकर अरत्निमात्र गार्हपत्य अग्निके ऊपर स्थापन करै और इसके मध्यमें मंत्ररहित दूधको छिडके [का० १७ । १ । २१] मन्त्रार्थ-(पृथिवी) भूमिरूप मृत्तिकानिर्मित (उखा) उखा (पुरीष्यम्) पशुओंके हितकारी(अग्निम्) अग्निको (स्वे) अपने (योनौ) गर्भ स्थानमें (अभाः) धारण करतीहुई (माता) मैया (पुत्रम्) पुत्रको (इव) जैसे धारण करती है (विश्वैः) सम्पूर्ण (देवैः) देवताओं (ऋतुभिः) और ऋतुओं द्वारा (संविदानः) एक मतको प्राप्त हुए अहो ! उखाने महत् कर्म किया इस प्रकार संवाद करतेहुए (विश्वकर्मा) सृष्टिके निर्माता (प्रजापतिः) प्रजापति (ताम्) उस उखाको (विमुञ्चतु)शिक्य पाशसे विमुक्त करो ॥ ६१ ॥ [१७]

कण्डिका ६२-मंत्र १ ।

असु॑न्वन्त॒मय॑जमानमिच्छस्ते॒नस्ये॒त्त्यामन्वि॑हि॒ तस्क॑रस्य ॥ अ॒न्यम॒स्मदि॑च्छ॒ सा त॑ऽइ॒त्त्या नमो॑ देवि निर्ऋते॒ तुभ्य॑मस्तु ॥ ६२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ असुन्वन्तमित्यस्य मधुच्छन्दा ऋ० । निच्यृत्रिष्टुप्छं० । निर्ऋतिर्देवता । निर्ऋतीष्टकास्थापने वि० ॥ ६२ ॥

विधि-(१) राजसूय यज्ञके हविष्यअन्न होमकी समान स्थानमें अर्थात् स्वयं विदीर्ण स्थानमें इस कण्डिकाप्रभृति तीन कण्किाओंके मंत्र पढकर एक २ क्रमसे ऊपर २ नैर्ऋतिनामक तीन इष्टका दक्षिण उत्तरमें लम्बायमान रूपसे निक्षेपपूर्वक स्थापन करै । तुष (भूसी) मात्रकी आगमें परिपक्व कृष्णवर्ण पाद प्रमाण इष्टकाको नैर्ऋती कहते हैं अर्थात् काली ईंटें । [का० १७ । १ । २३]

मन्त्रार्थ-(निर्ऋते)हे निर्ऋते ! [अलक्ष्मी] (असुन्वन्तम्)सोमयाग न करने-

वाले अर्थात् जो यज्ञादि नहीं करते (अयजमानम्) हविआदिसे किसी प्रकार वैदिक कर्म न करनेवाले पुरुषोंको संगतिकी (इच्छ) इच्छाकर (स्तेनस्य) चोरकी (तस्करस्य) प्रगट चोरकी (इत्याम्) गतिको (अन्विहि) प्राप्त हो अर्थात् इनके समीप गमन करो (अस्मत्) हमसे (अन्यम्) अन्य पुरुषकी(इच्छ) इच्छाकर (सा) वही दुष्टशिक्षा (ते) तेरी (इत्या) गति है (देवि) हे देवी ! (तुभ्यम्) तेरे निमित्त (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो ॥ ६२ ॥

आशय-जो यज्ञादिको अनुष्ठान नहीं करते उनको दुर्भाग्य आक्रमण करता है ॥ ६२ ॥

कण्डिका ६३-मन्त्र १।

नमः॒ सु ते॑ निर्ऋते तिग्मतेजोऽय॒स्मयं॒ विचृ॑ता ब॒न्धमे॒तम् ॥ य॒मेन॒ त्वं य॒म्या सं॑विदा॒नोत्त॒मे नाके॒ऽअधि॑रोहयैनम् ॥ ६३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमः सुत इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋ० । भुरिगार्षी पंक्तिश्छं० । निर्ऋतिर्दे० । वि० पू० ॥ ६३ ॥

मंत्रार्थ-(तिग्मतेजः) हे तीक्ष्ण तेजवाले ! घोर क्रूररूप (निर्ऋते) निर्ऋते ! (ते) तुम्हारे निमित्त (सु) निरन्तर (नमः) नमस्कार है (अयस्मयम्) लोहपाशकी समान दृढ (एतम्) इस (बन्धनम्) जन्म मरण रूप अज्ञानको (आविचृत) छेदन करो और (यमेन) अग्नि (यम्या) पृथिवीके साथ (सम्विदाना) एक मतको प्राप्त होकर (एनम्) इस यजमानको (उत्तमे) उत्कृष्ट (नाके) स्वर्गलोकमें (अधिरोहय) स्थापन करो ॥ ६३ ॥

आशय-अलक्ष्मीके प्रसादसेही वैराग्य उपस्थित होता है वैराग्यसे तत्त्वान्वेषणमें प्रवृत्ति और उस ज्ञानसे मुक्ति होती है अथवा भूमिका नाम निर्ऋति, वा भूमिअभिमानी देवता है. ॥ ६३ ॥

कण्डिका ६४-मंत्र १ ।

यस्या॑स्ते घोर॒ऽआ॒सञ्जु॒होम्ये॒षां ब॒न्धाना॑मव॒सर्ज॑नाय ॥ यां त्वा॒ जनो॒ भूमि॒रिति॑ प्र॒मन्द॑ते॒ निर्ऋ॑तिं त्वा॒हं परि॑ वेद वि॒श्वतः॑ ॥ ६४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यस्तास्त इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । निर्ऋतिर्देव० । वि० पू० ॥ ६४ ॥

मंत्रार्थ-(घोरे) हे विषमशील क्रूररूपा निर्ऋति देवी ! (एषाम्) इन यजमानोंके (बन्धानाम्) स्वर्गप्राप्तिप्रतिबंधक पापोंको (अवसर्जनाय) नाशके अर्थ (यस्याः) उस (ते) तुम्हारे (आसन्) मुखमें (जुहोमि) आहुतिकी समान इष्टकाको धारण करताहूं (जनः) मनुष्य मात्र (याम्) जिस (त्वा) तुझको (भूमिः) भूमि है (इति) इसप्रकार (प्रमन्दते) शास्त्राभिज्ञ होनेसे स्तुति करते हैं (अहम्) मैं तो शास्त्रज्ञानसे (त्वा) तुझको (विश्वतः) सब प्रकार (निर्ऋतिम्) निर्ऋति देवीही (परिवेद) जान्ता हूं ॥ ६४ ॥

विशेष-सर्वदा साधारण देवयजनसे निकालकर स्वतंत्र देशमें विदीर्णादिमें है प्राप्ति जिसकी सो निर्ऋति है । वेदवाक्यसेही यह प्रगट है कि केवल पदार्थका गुणकथन ही नहीं किन्तु उनमें देवत्वशक्तिभा है ॥ ६४ ॥

कण्डिका ६५-मन्त्र १ ।

यन्तेदेवीनिर्ऋतिराबबन्धपाशङ्ग्रीवास्वविचृत्यम् ॥ तन्तेविष्याम्यायुषोनमध्यादथैतम्पितुमद्धिप्रसूतः ॥ नमोभूत्यैयेदञ्चकार ॥ ६५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यंतेदेवीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋ० । निचृदार्षी पंक्तिश्छं० । यजमानो दे० । शिक्यरुक्मपाशे इंड्वासन्दीनिक्षेपे वि० । (२) ॐ नम इत्यस्य मधुच्छं० ऋ० । एकपदा विराट् छं० । भूतिर्देवता । ब्रह्मयजमानाध्वर्यूत्थाने वि० ॥ ६५ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रपाठ करके शिक्य, रुक्म, इण्डुद्वय, और आसन्दी यह इष्टकाके पश्चात् भागमें निक्षेप करै [का० १७ । २ । ४] मंत्रार्थ-हे यजमान ! (निर्ऋतिःदेवी) निर्ऋतिदेवीने(ते)तुम्हारी (ग्रीवासु) ग्रीवामें (यम्) जो (अविचृत्यम्) दृढ छेदनके अयोग्य (पाशम्) पाशको (आबबन्ध)बांधाथा (तम्) उसको (ते) तुम्हारी (आयुषः) अग्निके (मध्यात्) मध्य अर्थात् गार्हपत्य चितिस्थानसे निर्ऋति देवीके अनुमतिक्रमसे (न) इसी समय (विष्यामि) दूर करताहूं "अग्निर्वा आयुस्तस्यैतन्मध्यं तच्चितो गार्हपत्यो भवत्यचित आहवनीयः" इति श्रुतेः [७ । २ । १ । १५] (अथ) पाश विमोचनके अनन्तर (प्रसूतः) निर्ऋतिकी अनुज्ञाको प्राप्त हो (एतम्) इस (पितुम्) रक्षाकरनेवाले अन्नको हे यजमान (अद्धि) भक्षणकरो १ । विधि-(२) यजमान इसप्रकार निर्ऋति इष्ट-

काके मध्यस्थलमें जलपूर्ण चमस लावै तब ब्रह्मा अध्वर्यु और यजमान दूसरा मंत्र पाठ करके उत्थान करैं [का० १७ । २ । ४] मंत्रार्थ-(या) जिस देवीके प्रसादसे (इदम्) यह समस्त क्रिया सम्पन्न (चकार) हुई वा जिसने यह क्रिया सम्पादन की (भूत्यै) उस ऐश्वर्यरूप देवीके निमित्त (नमः) नमस्कार है २ ॥ ६५ ॥

कण्डिका ६६-मन्त्र १।

निवेशनः सङ्गमनो वसूनां विश्वा रूपाभिचष्टे शचीभिः ॥ देव इव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनाम् ॥ ६६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ निवेशन इत्यस्य विश्वावसुर्ऋ० । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । गार्हपत्योपस्थाने वि० ॥ ६६ ॥

विधि-(१)अनन्तर ब्रह्मा अध्वर्यु और यजमान इस निर्ऋतिके प्रति दृष्टिपात न करकै इसको पीछेकर यज्ञशालामें गमन करनेपर अध्वर्यु इस मंत्रसे इस यज्ञशालाके द्वारस्थ गार्हपत्य अग्निका उपस्थान करै [का० १७ । २ । ६] मन्त्रार्थ-(निवेशनः) स्वगृहमें यजमानका स्थापक (वसूनाम्) धनोंका (संगमनः) प्रापक अर्थात् प्रजापशुरूप धनका प्राप्त करानेवाला (सत्यधर्मा) अवश्य होनेवाले फलसे युक्त अग्निहोत्रादिलक्षणसे युक्त अग्नि (शचीभिः) अपने अपने कर्मोंसे युक्त (विश्वा) सम्पूर्ण (रूपा) आहवनीय अतिप्रणीता आग्नीध्रधिष्ण्यादि रूपोंको (अभिचष्टे) प्रकाश करता है (सविता) सविता (देवः) देवताकी (इव) समान प्रकाशक होकर (पथीनाम्) शत्रुओंके साथ (समरे) युद्धमें (तस्थौ) स्थित हुआ (इन्द्रोन) जिस प्रकार इन्द्र युद्धमें स्थित होता है ॥ ६६ ॥

सरलार्थ-अग्निदेवता रणस्थलमें प्रतिद्वन्द्वियोंके सहित युद्धमें उपस्थित इन्द्रकी समान और सत्यप्रतिज्ञामें सविता देवताकी समान हमारे निरुपद्रव निवासके कारण हों, और यजमानको प्रजा पशु आदि ऐश्वर्यके सहित संगत करो वह इस समस्त विश्वकी क्रिया और रूप प्रत्यक्ष करते हैं ॥ ६६ ॥

[कृषिविद्या]

कण्डिका ६७-मंत्र १।

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक् ॥ धीरा देवेषु सुम्नया ॥ ६७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सीरा इत्यस्य सोमपुत्रबुध ऋ० । गायत्री छन्दः । सीरं दैवतम् । सीराभिमंत्रणे वि० ॥ ६७ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु इस मंत्र और दूसरी कण्डिकाके दूसरे मंत्रद्वारा गार्हपत्य चितिके श्रोणिभागमें पश्चिमकी ओर खडे होकर प्रतिप्रस्थाताके उत्तर वा पूर्वमें छः वा दश अथवा चौवीस बैलोंसे चलाये गूलरकाष्ठनिर्मित हलको अभिमंत्रण करे [का० १७ । २ । ११] मन्त्रार्थ-(धीराः) बुद्धिमान् अग्निविद्यामें कुशल (कवयः) कृषिकर्मके मर्म जान्नेवाले विद्वान् (देवेषु) देवलोकमें (सुम्नया) सुख प्राप्त करनेको (सीराः) हलोंका (युञ्जन्ति) बैलोंसे योग करते हैं (युगा) युगोंको (पृथक्) भिन्न २ (वितन्वते) विस्तार करते हैं अर्थात् दो बैलोंसे एक एक हल वहन कराते हैं [ऋ० ८ । ५ । १८] ॥ ६७ ॥

विशेष-वैदिककालमें कृषिविद्याका सत्कार देवलोकके सुखपर्यन्त माना जाता था और इसके मर्म जान्नेकी वेदकी आज्ञा है इस कारण कृषिविद्याकी वृद्धिमें विज्ञ पुरुषोंको ध्यान देना उचित है ॥ ६७ ॥

कण्डिका ६८-मन्त्र १ ।

युनक्त सीरा वियुगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम् ॥ गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात् ॥ ६८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ युनक्तेत्यस्य सोमपुत्रबुध ऋ० । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । सीरं दैवतम् । वि० पू० ॥ ६८ ॥

मन्त्रार्थ-हे कर्षकगणो ! (सीराः) हलोंको (युनक्त) जोडो (युगा) हलके जुए (वितनुध्वम्) शम्या और योक्त्र [रस्सी] आदिसे विस्तार करो अर्थात् सब ठीक कर बैलके कन्धोंपर जुए रक्खो (कृते) कर्षणसे सस्कार करनेपर (इह) इस (योनौ) स्थानमें (गिरा) "या ओषधीः पूर्वा०७९कं०" यह मंत्रपाठ करके (च) और चमसद्वारा (बीजम्) संस्कृत व्रीहीआदि बीजको (वपत) बोओ (श्रुष्टिः) अन्नसमूह व्रीहिआदि (सभरा) फलादिसहित वर्तमान होकर पुष्ट (असत्) हो (पक्वम्) पके हुए धान्यको (इत्) अल्प कालमें ही (सृण्यः) दरांतीसे काटकर (नः) हमारे (नेदीयः) अति समीप घरमें (इयात्) प्राप्त करो [ऋ० ८ । ५ । १८] ६८ ॥

प्रमाण-"वाग्वै गीरन्नगंश्रुष्टिः" इति श्रुतेः [७ । २ । २ । ५] ॥ ६८ ॥

सरलार्थ-कर्षक गण सीरयोग करो युगवाही वृषोंके स्कंधोंपर यथायोग्य जुए स्थापन करो, यह करने उपरान्त भूमि जोतकर उसमें मंत्र पढकर बीज बोओ, फिर ओषधी पक्क होनेपर दरांतीद्वारा काटकर हमारे घरोंमें प्राप्तकरो; समस्त कृषिविद्याका इसमें उपदेशहै, कृषकोंका कर्तव्य निरूपण कियाहै, यह भी कहाहै कि थोडे कालमें ही अन्न पक्क होताहै, मंत्रपूर्वक बोनेसे अन्न अधिक होताहै, कोई कीडामकोडा नहीं लगता, और जो स्वामी दूसरा हो तौ उसके घर अन्न पहुंचादो, भूमिका बलिष्ठ अन्नमद पदार्थोंसे संस्कार करो ॥ ६८ ॥

कण्डिका ६९-मंत्र १ ।

शुनᳬसुफालाविकृषन्तुभूमिᳬशुनङ्कीनाशाऽअभियन्तुवाहैः ॥ शुनासीराहविषातोशमानासुपिप्पलाऽओषधीःकर्त्तनास्म्मे ॥ ६९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ शुनमित्यस्य कुमारहारित ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । सीता देवता । सीताकर्षणे वि० ॥ ६९ ॥

विधि-(१) इस चितिके स्थानमें परिश्रितके समीप चार दिशाओंमें चार मंत्रोंसे हल कर्षण करै [का० १७ । २ । १२]; मंत्रार्थ-(सुफालाः) हे सुन्दर फालवाले हल ! तुम (भूमिम्) पृथ्वीको (शुनम्) सुखपूर्वक (विकृषन्तु) आकृष्ट अर्थात् जोतो (कीनाशाः) हलवाले मनुष्य (वाहैः) वृषभादिके संग (शुनम्) सुखपूर्वक (अभियन्तु) गमन करैं (शुनासीरा) हे वायु ! आदित्य दोनों देवताओ ! (हविषा) जलसे (तोषमानाः) भूमिको सींचतेहुए (अस्मे) हमारी (ओषधीः) ओषधियोंको (सुपिप्पलाः) सुन्दर फलवाली (कर्तन) करो ॥ ६९ ॥

प्रमाण-"शुनमिति सुखनाम" [निघं० ३ । ६ । ११ । "शुनो वायुः शुएत्यन्तरिक्षे सार आदित्यः सरणात्" इति यास्कोक्तेः [निरु० ९ । ४० ।]॥ ६९ ॥

कण्डिका ७०-मंत्र १ ।

घृतेनसीतामधुनासमञ्ज्यताँविश्वैर्देवैरनुमतामरुद्भिः ॥ ऊर्ज्जस्वतीपयसापिन्वमानास्म्मान्त्सीतेपयसाभ्याववृत्स्व ॥ ७० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ घृतेनेत्यस्य कुमारहारित ऋषिः। आर्षी त्रिष्टुप्छं०। सीता देवता। वि० पू० ॥ ७० ॥

मंत्रार्थ-(विश्वैः) सम्पूर्ण (देवैः) देवतागण (मरुद्भिः) मरुत् गणोंसे (अनुमता) अनुज्ञात वा अंगीकार की हुई (सीता) हलकी फाल (मधुना) मधुर (घृतेन) घृत अर्थात् अमृतमय जलसे (समज्यताम्) सिंचित हो "परोक्षसे कहकर प्रत्यक्ष कहतेहैं" (सीते) हे फाल ! (ऊर्जस्वती) अन्नवान् तुम (पयसा) पय दही घृतादिसे (पिन्वानाः) दिशाओंको पूर्णकरतीहुई (पयसा) दुग्धादिसे (अस्मान्) हमको (अभ्याववृत्स्व) सब प्रकार अनुकूल हो और क्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण औषधी अमृत जलसे परिपुष्ट होकर सतेज हों इस कारण तुम अमृतजल संग्रहपूर्वक हमारी ओर अनुकूल हो ॥ ७० ॥

कण्डिका ७१-मन्त्र १।

लाङ्गलम्पवीरवत्सुशेवꣳसोमपित्सरु ॥ तदुद्वपति गामविम्प्रफर्व्यञ्चपीवरीम्प्रस्त्थावद्रथवाहणम् ॥ ७१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ लांगलमित्यस्य कुमारहारित ऋ०। विराट् पंक्तिश्छं०। सीता देवता। वि० पू० ॥ ७१ ॥

मंत्रार्थ-(तत्) वह पूर्वोक्त (पवीरवत्) फालसंयुक्त (सुशेवम्) सुखकारक (सोमपित्सरुः) यजमानके निमित्त भूमिका खोदनेवाला अथवा यजमानके पाप दरिद्रताका नाशक वा सोमनिष्पादक (लाङ्गलम्) हल (प्रफर्व्यम्) अतिवेगवान् (अविम्) छाग मेष (पीवरीम्) स्थूलपुष्ट अङ्गवाली (गाम्) गौ (च) और (प्रस्तावत्) गमनमें समर्थ (रथवाहनम्) रथवाहक अश्वादिको (उद्वपति) प्राप्त कराताहै ॥ ७१ ॥

सरलार्थ-फालयुक्त सुन्दर, लघुभारवाला लाङ्गल गमनमें समर्थ वेगवान् हृष्ट पुष्ट गौ (बैल) मेष और अश्वयुक्त करा जाता है विशेष कर इसीके द्वारा सोमयांजी यजमानके भूकर्षण कार्य भली प्रकार निर्वाह होते हैं "खेतीसे सब प्रकारके लाभ होते हैं हलमें घोडे जोतनेकी भी आज्ञा इस मंत्रमें है" ॥ ७१ ॥

कण्डिका ७२-मन्त्र १।

कामङ्कामदुघे धुक्ष्वमित्रायवरुणायच ॥ इन्द्रायाश्श्विभ्याम्पूष्णेप्प्रजाभ्यऽओषधीभ्यः ॥ ७२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ काममित्यस्य कुमारहारित ऋ० । विराडनुष्टु प्छं० । सीता देवता । वि० पू० ॥ ७२ ॥

मन्त्रार्थ-(कामदुघे) हे मनोरथपूरक सीते ! (मित्राय) मित्र (वरुणाय) वरुण (इन्द्राय) इन्द्र (अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमार दोनों (पूष्णे) पूषा (प्रजाभ्यः) प्रजाओंके भोगार्थ (च) और (ओषधीभ्यः) ओषधियोंके निमित्त (कामम्) अपेक्षित भोगको (धुक्ष्व) सम्पादन करो ॥ ७२ ॥

कण्डिका ७३-मंत्र १ ।

विमुच्यध्वमघ्न्यादेवयानाऽअगन्मतमसस्पारमस्य ॥ ज्योतिरापाम ॥ ७३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विमुच्यध्वमित्यस्य कुमारहारित ऋ० । भुरिगार्षी गायत्री छं० । वृषभा देवताः वृषदाने विनि० ॥ ७३ ॥

विधि-(१) यह मंत्रपाठ पूर्वक लांगलसे वृषभोंको विमुक्त कर ईशान कोणमें उनको छोडदे यह लांगल और वृषभवृन्द सुत्यासमाप्तिमें अध्वर्युको देने चाहियें [का० १७ । २ । २०-२१] मंत्रार्थ-(देवयानाः) हे देवताओंके निमित्त कर्म करनेवाले ! अथवा कर्मद्वारा देवयानमार्गके प्राप्त करानेवाले (अघ्न्या) मारनेके अयोग्य गोबलीवर्दआदि जगत्की स्थितिहेतु कृषिको सम्पादन कर (विमुच्यध्वम्) युगसे पृथक् हो तुम्हारी कृपासे हम (अस्य) इस (तमसः) क्षुधा पिपासासे उत्पन्न हुए दुःखके (पारम्) पारको (अगन्म) प्राप्त हुए (ज्योतिः) परमात्मालक्षण वा यज्ञरूपको (आपाम) प्राप्त हुए "योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति" इति [बृहदार० भा० ३ । २ । १] ॥ ७३ ॥

कण्डिका ७४-मन्त्र १ ।

सजूरब्दोऽअयवोभिः सजूरुषाऽअरुणीभिः ॥ सजोषसावश्विनादंसोभिः सजूः सूरऽएतशेन सजूर्वैश्वानरऽइडया घृतेन स्वाहा ॥ ७४ ॥ [१३]

ऋष्यादि-(१)ॐ सजूरब्द इत्यस्य कुमारहारित ऋ०।ब्राह्म्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता देवता । कुशस्तम्बे स्रुचमूर्ध्वां कृत्वा होमे विनि० ॥ ७४ ॥

विधि-(१) जुहूद्वारा पांच वार घृतग्रहणपूर्वक इस जोती हुई भूमिके मध्यमें कुशस्तम्बके ऊपर इस मंत्रसे ऊर्ध्वहस्त हो हवन करै [का० १७ । ३ । ३]

मन्त्रार्थ–(अब्दः) संवत्सर जलोंका दाता (अयवोभिः) अवयव मास अर्ध मासके सहित (सजूः) प्रीतियुक्त (उषा) प्रातःकालके अधिष्ठात्री देवता उषा (अरुणीभिः) अरुणवर्णवाली गौओंसे (सजूः) प्रीतियुक्त (अश्विनौ) अश्विनीकुमार (दङ्सोभिः) चिकित्सादि कर्मोंसे (सजोषसौ) प्रीतियुक्त (सूरः) सूर्य (एतशेन) घोडेसे (सजूः) प्रीतियुक्त (वैश्वानरः) वैश्वानर अग्नि (इडया) पृथ्वीसे वा अन्न और (घृतेन) घृतसे (सजूः) प्रीतियुक्त हैं (स्वाहा) इन देवताओंके निमित्त श्रेष्ठ होम हो ॥ ७४ ॥ [१३]

सरलार्थ–अवयवसहित वर्तमान संवत्सर देवताके तृप्तिके निमित्त यह घृताहुति सम्यक्प्रकार दीजाती है इससे वह प्रसन्न हो १ अरुणीसहित वर्तमान उखा देवताकी तृप्तिके निमित्त घृताहुति देते हैं इत्यादि० २ दंसके साहित वर्तमान अश्विनी कुमारकी प्रीतिके निमित्त घृताहुति देते हैं इत्यादि० ३ एतशके सहित वर्तमान सूर्य देवताकी तृप्तिके निमित्त घृताहुति देते हैं, भली प्रकार गृहीत हो ४ इडाके सहित वर्तमान अग्नि देवताकी तृप्तिके निमित्त घृताहुति सम्यक् प्रकारसे देते हैं इससे वे प्रसन्न हों ५ ॥ ७४ ॥

विवरण–अरुणी उषाकी वाहन गौ है वस्तुतः गोशब्दसे ज्योतिका ग्रहण है और ज्योतिमात्रही वहनकारी रूपसे वर्णन किया जाता है अरुणीशब्दका यहां अर्थ कान्तियुक्त है । दिवा रात्रिके अधिष्ठात्री देवता ही अश्विनीकुमार स्वर्गीय वैद्य है, इनके द्वाराही समस्त जगत् चिकित्सित होता है, दंसनाम कर्मका है जो कुछ अनुष्ठित होता है वह सब दिन रात्रिके अन्यतर कालमें है, क्रियामात्रही अहोरात्रिका अङ्गीभूत है । एतश-सूर्यके वाहक अश्व हैं अर्थात् किरणपुञ्जका नाम है इडा पृथ्वीका नाम ह अग्नि पृथ्वीके प्रधान देवता कहकर वर्णित हुए हैं इसी कारण पृथ्वीको अग्निकी सहचरी कहकर वर्णन किया है ॥ ७४ ॥

कण्डिका ७५–मंत्र १ ।

याऽओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगम्पुरा ॥ मनै नु बभ्रूणामहꣳ शतन्धामानि सप्त च ॥ ७५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ या ओषधीरित्यस्याथर्वपुत्रभिषगृषिः । अनुष्टुप्छन्दः । ओषधिर्देवता । ओषधिवपने वि० ॥ ७५ ॥

विधि–(२) इस कण्डिकासे पन्द्रह कण्डिकात्मक पन्द्रह मंत्रसे चमसद्वारा ओषधिवीज वपन करै [का० १७ । ३ । ८] मन्त्रार्थ–(पुरा) सृष्टिकी आदिमें

(याः) जो (पूर्वाः) पहले (ओषधीः) ओषधी (देवेभ्यः) ऋतुओंके द्वारा "ऋतवो वै देवाः" इति श्रुतेः [७ । २ । ४ । २६](त्रियुगम्)वसन्त वर्षा और शरदृतुमें(जाताः) उत्पन्न हुई हैं (बभ्रूणाम्) जगत्की उत्पत्तिपालनमें समर्थ और पाकसे पीले वर्ण- हुई ओषधियोंके (शतम्) विशेषकर सौसौ (च) और प्राधान्यतः (सप्त) व्रीहिगोधूमादि सात (धामानि) नाम (अहम्) मैं (मनै नु)जान्ताहूं "सौ भेदोंमें शालिधान्य नीवारादि जाने" अथवा संवत्सरके उपलक्षणसे एकएक स्थान कहाहै कारण कि पुरुषकी आयु शतवर्षकी है "शतायुर्वै पुरुषः" इति श्रुतेः । सौ धामवर्षा- त्मक है शिरस्थान मुख नेत्र नासिकादि सप्तस्थान हैं "य एवेमे सप्तशीर्षन् प्राणास्तानेतदाह" इति श्रुतेः [श० ७ । २ । ४ । २६] शरीरके सब स्थानों सातौं धातुओंको तृप्त करतीहैं अथवा सौ प्रकारकी औषधी हुई हैं उनमें ग्राम्य आरण्यके सात भेद विशषकर जान्ता हूं प्रजासृष्टिसे पहले ओषधी हुई हैं [ऋ० ८ । ५ । ८] ॥ ७५ ॥

कण्डिका ७६-मन्त्र १ ।

शतंवोऽअम्म्बधामानिसहस्रमुतवोरुहः ॥ अधा शतक्रत्वोयूयमिमम्मेऽअगदङ्कृत ॥ ७६ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ शतंव इत्यस्य भिषगृषिः । अनुष्टुप्छन्दः । ओषधयो देवताः । वि० पू० ॥ ७६ ॥

मंत्रार्थ-(अम्ब) हे माताकी समान ओषधियो ! (आ) सब प्रकार (वः) तुम्हारे (धामानि) नाम (शतम्) सैंकडों हैं (उत) और (वः)तुम्हारे (रुहः) अंकुर (सहस्रम्)असंख्यात हैं (शतक्रत्वः) तुम्हारे सत्त्वसे सब जगत्के कार्य निर्वाहित होतेहैं इस कारण हे अनन्तकर्मसाधक ओषधियो ! (यूयम्) तुम (मे) मेरे (इमम्) इस यजमानको (अगदम्) क्षुत्पिपासादिषडूर्मिरोगरहित (कृत) करो अर्थात् यजमान किसी प्रकारके रोगसे पीडित न हो वैद्यक शास्त्रका यह मूलमंत्रहै [ऋ० ८ । ५ । ८] ॥ ७६ ॥

कण्डिका ७७-मंत्र १ ।

ओषधीः प्रतिमोदद्ध्वम्पुष्पवतीः प्रसूवरीः ॥ अश्वाऽइवसजित्त्वरीर्वीरुधः पारयिष्ण्वः ॥ ७७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ओषधीरित्यस्य भिषगृषिः । निच्यृदनुष्टुप्छन्दः । ओषधयो दे० । वि० पू० ॥ ७७ ॥

मन्त्रार्थ-(ओषधीः) हे ओषधी गण ! (पुष्पवतीः) पुष्पोंसे युक्त (प्रसूवरीः) फल उत्पन्न करनेवाली (अश्वाः) घोडोंकी (इव) समान (सजित्वरीः) वेगसे गमनवाली (वीरुधः) अनेक प्रकारकी व्याधिनिवारण करनेवाली अथवा अनेक प्रकारसे बढनेवाली (पारयिष्णवः) फलपाकान्तके सिवाय बहुत कालतक कर्मपरायणवाली (प्रतिमोदध्वम्) प्रसन्न हो अश्वकी समान वेगसे शीघ्रपुष्पवान् फलवान् हो ॥ [ऋ० । ८ । ९ । ७] ॥ ७७ ॥

कण्डिका ७८-मंत्र १।

ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुपब्रुवे ॥ सनेयमश्वङ्गाँवासऽआत्मानन्तवंपूरुष ॥ ७८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ओषधीरित्यस्यर्ष्यादि पूर्ववत् ॥ ७८ ॥

मन्त्रार्थ-(मातरः) हे जगत्की निर्माण करनेवाली वा माताकी समान पालन करनेवाली (देवीः) हे दिव्यगुणोंसे युक्त (ओषधीः) हे सम्पूर्ण ओषधी (वः) तुमसे (इति) इस आगे कही विधिके द्वारा (तत्) वह (उपब्रुवे) जो हम प्रार्थना करते हैं (पूरुष) हे यज्ञपुरुष ! (तव) आपके प्रसादसे (अश्वम्) घोडे (गाम्) गा (वासः) वस्त्र (आत्मानम्) रोगरहित शरीरको (सनेयम्) भोगूं यज्ञपुरुषसे जो मेरी प्रार्थना है उसे ओषधी मानै । [ऋ० ८ । ९ । ८] ॥ ७८ ॥

कण्डिका ७९-मंत्र १।

अश्वत्थेवोनिषदनम्पर्णेवोवसतिष्कृता ॥ गोभाजऽइत्किलासथयत्सनवंथपूरुषम् ॥ ७९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अश्वत्थ इत्यस्य भिषगृषिः । अनुष्टुप्छन्दः । ओषधयो देवताः । वि० पू० ॥ ७९ ॥

मंत्रार्थ-हे ओषधियो ! (वः) तुम्हारा (अश्वत्थे) पीपल काष्ठनिर्मित उपभृत् और स्रुच पात्रमें (निषदनम्) स्थान है (वः) तुमने (पर्णे) पलाश पत्रसे बनी हुई जुहूमें (वसतिः) स्थान (कृता) किया है पात्रमें हवि स्थापन करतेहैं होमके निमित्त हवि जुहूमें रखतेहैं हे हविर्भूत ओषधियो!(किल)निश्चय करके तुम (गोभाजः) आदित्यकी भजनेवाली (इत्) ही (असथ) हो कारण कि अग्निमें दी हुई आहुति आदित्यको प्राप्तहोतीहै (यत्) जिस कारण कि तुम (पुरुषम्) यजमानको (सनवथ) अन्नादिसे पुष्टकरो अथवा अश्वत्थमेंही तुम्हारा. स्थान है अश्वत्थके फलनेसे सर्वौषधी फलवती होतीहैं पलाश फलनेसे व्रीहिआदिमें फल-

वत्ता होतीहै इस कारण तुम भूमिमें निवासकरो । अथवा पलाश और अश्वत्थमें देवता निवास करतेहैं वह परिक्रमादिसे पूजित होताहै इस कारण तुम्हारा उसमें निवास है [ऋ० ८ । ५ । ८] ॥ ७९ ॥

कण्डिका ८०-मंत्र १ ।

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव ॥ विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ॥ ८० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यत्रौषधिरित्यस्य भिषगृषिः । अनुष्टुप्छन्दः । ओषधयो देवताः । वि० पू० ॥ ८० ॥

मन्त्रार्थ-(ओषधीः) हे ओषधियो ! तुम (यत्र) जिस ओषधी करनेवाले वैद्यके पास अथवा जिसजिस घरमें रोगजयको (समग्मत) जाती हो (इव) जैसे (राजानः) राजा (समितौ) संग्राममें शत्रुजयको जातेहैं(सः) वह तुम्हारे आश्रित वैद्य वा घर वा ब्राह्मण (रक्षोहा) पुरोडाशकाथादिसे राक्षसरूप रोगोंका नाशक होता है (अमीवचातनः) औषधी देकर रोगका नाश करनेवाला(विप्रः) ब्राह्मण (भिषग्) वैद्य (उच्यते) कहा जाता है ॥ ८० ॥

विवरण-इस मंत्रमें वैद्यके लक्षण और गुण नामका कथन किया है[ऋ०।५ । ९] ॥ ८० ॥

कण्डिका ८१-मंत्र १ ।

अश्वावतीꣳ सोमावतीमूर्ज्जयन्तीमुदोजसम् ॥ आवित्सि सर्वाऽओषधीरस्माऽअरिष्टतातये ॥ ८१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अश्वावतीमित्यस्य भिषगृषिः । अनुष्टुप्छन्दः । वैद्यो देवता । वि० पू० ॥ ८१ ॥

मन्त्रार्थ-(अस्मै) इस यजमानके (अरिष्टतातये) अरिष्टनाशके निमित्त (अश्वावतीम्) अश्वादिपशुगणके उपयोगी (सोमावतीम्) सोमयागके उपयोगी (ऊर्जयन्तीम्) बल प्राणकी सम्पादन करनेवाली (उदोजसम्) तेजसम्पादक (सर्वाः) सम्पूर्ण (ओषधीः) ओषधियोंको (आ) सब प्रकारसे (आवित्सि) जानताहूं ॥ ८१ ॥

विवरण-इसमें ओषधियोंकी सामर्थ्य और उनके जाननेका उपदेश है[ऋ० ८ । ५ । ९] ॥ ८१ ॥

कण्डिका ८२—मंत्र १ ।

उच्छुष्मा॒ऽओष॑धीना॒ङ्गावो॑ गो॒ष्ठादि॑वेरते ॥ धन॑ᳪ᳭सनि॒ष्यन्ती॑नामा॒त्मान॒न्तव॑ पूरुष ॥ ८२ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ उच्छुष्मा इत्यस्य भिषगृषिः । विराडनुष्टुप्छन्दः। ओषधयो देवताः । वि० पू० ॥ ८२ ॥

मन्त्रार्थ—(पूरुष) हे यज्ञ पुरुष ! (तव) तुम्हारे (आत्मानम्) शरीरके प्रति (धनम्) धनरूप (सनिष्यन्तीनाम्) हवि देनेकी इच्छा करनेवाली (ओषधीनाम्) ओषधियोंकी (शुष्माः) सामर्थ्य (उदीरते) प्रगट होती है (इव) जैसे (गावः) गौ (गोष्ठात्) गोठसे निर्गत होतीं हैं अर्थात् मेरे द्वारा ओषधियोंकी बडी २ सामर्थ्य प्रगट हो [ऋ० ८ । ५ । ९] ॥ ८२ ॥

विवरण—ओषधियोंके संयोगादिसे उनमें बडी सामर्थ्य प्रगट होती है उसके जाननेका उपाय करना चाहिये ॥ ८२ ॥

कण्डिका ८३—मन्त्र १ ।

निष्कृ॑ति॒र्नाम॑ वो मा॒ताथो॑ यू॒यᳪ᳭स्थ॒ निष्कृ॑तीः ॥ सी॒राः प॑त॒त्रिणी॑स्थन॒ यदा॒मय॑ति॒ निष्कृ॑थ ॥८३॥

ऋष्यादि—(१) ॐ निष्कृतिरित्यस्य भिषगृषिः । निच्यृदनुष्टुप्छं० । ओषधयो देवताः । वि० पू० ॥ ८३ ॥

मन्त्रार्थ—हे ओषधियो ! (निष्कृतिः) निष्कृति "सम्पूर्ण व्याधिकी नाशक वा सम्पूर्ण सस्यादिकी उत्पादक भूमि" (नाम) नामवाली (वः) तुम्हारी (माता) माता है (अथो) और (यूयम्) तुमभी (निष्कृतीःस्थ) व्याधिकी दूर करनेवाली हो और (सीराः) अन्नके सहित वर्तमान अथवा क्षुधादिको दूर करनेवाली, वा हलके द्वारा होनेवाली (पतत्रिणीः) गमनयुक्त प्रसरणशील (स्थन) हो (यत्) जिस कारणसे कि (आमयति) मनुष्योंमें स्थित रोगको (निष्कृथ) विनाश करो अर्थात् क्षुद्र रोगसे हमारी निष्कृति करो तुम इस सीरमुखसे भूमिमें प्रसारित हो और क्षुधा राक्षसीके हाथसे हमारी निष्कृति करो॥८३॥

प्रमाण—"निष्करोति व्याधिं नाशयाति निष्कृतिः" [ऋ० ८ । ५ । ९] "निशब्दो बहुलम्" इति प्रातिशा० [३ । १ । १७] ॥ ८३ ॥

कण्डिका ८४-मन्त्र १ ।

अति॒विश्वा॑÷परि॒ष्ठास्ते॒नऽइ॑व व्र॒जम॑क्रमुः ॥ ओष॑धीः॒ऽप्राचु॑च्यवु॒र्यत्किञ्च॑ त॒न्वो॒ रप॑÷ ॥ ८४ ॥

ऋष्यादि (१) ॐ अतिविश्वा इत्यस्य भिषगृषिः । विराडनुष्टुप्छं० । ओषधयो दे० । वि० पू० ॥ ८४ ॥

मंत्रार्थ-(परिष्ठाः) सब ओरसे रोगको दवाकर बैठनेवाली रोगनाशक (विश्वा) सम्पूर्ण (ओषधीः)औषधियां जब भक्षित होकर देहको (अत्यक्रमुः) व्याप्त करती हैं (इव) जैसे (स्तेनः) दस्यु (व्रजम्) गोष्ठको व्याप्त करता है "अर्थात् दस्युदल जिस प्रकार गोष्ठमें प्रविष्ट हो अपना विक्रम विस्तार करके गोरक्षकोंको मारकर गोष्ठ शून्य करता है इसी प्रकार सम्पूर्ण ओषधि शरीरमें प्रविष्ट होकर अपना विक्रम प्रकाश कर शरीरस्थ समस्त रोगको विनाशपूर्वक शरीरमें रोगशून्यता करती हैं" उस समय (तन्वः) शरीरमें (यत्) जो (किञ्च) कुछभी (रपः) शिरकी व्यथा गुल्म अतिसारादिरूप पापका फल है उस सबको(प्राचुच्यवुः) नाश करती हैं [ऋ०१०।९७।१०] ॥ ८४ ॥

कण्डिका ८५-मन्त्र १ ।

यदि॒मा वा॒जय॑न्न॒हमोष॑धी॒र्हस्त॑ऽआद॒धे ॥ आ॒त्मा यक्ष्म॑स्य नश्यति पु॒रा जी॑व॒गृभो॑ यथा ॥ ८५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यदिमा इत्यस्य भिषगृषिः । अनुष्टुप्छन्दः । ओषधयो देवताः । वि० पू० ॥ ८५ ॥

मन्त्रार्थ-(यत्) जिस समय (अहम्) मैं (इमाः) यह (ओषधीः) ओषधी (वाजयन्) पूजन करता हुआ वा सत्कारपूर्वक (हस्ते) हाथमें (आ-दधे) धारण करता हूं उस समय (यक्ष्मस्य) यक्ष्मा रोगका (आत्मा) स्वरूप वा निदान (पुरा) भक्षणसे पहलेही (नश्यति) नाशको प्राप्त होता है (यथा) जैसे (जीवगृभः) वधके निमित्त लेजाया हुआ प्राणी वधसे पहलेही अपनेको हत मानता है [ऋ० १०।९७।११] ॥ ८५ ॥

विवरण-पक्षिगणमें जैसे श्येनके अधीन पक्षी, व्याघ्रादि वा वधिकोंके वशमें मनुष्य,धीवरोंके वशमें जैसे मत्स्य होते हैं,वैसे ओषधियोंके वशमें रोग हैं ॥ ८५ ॥

विशेष-इस मंत्रके पाठसे यक्ष्मारोग दूर होता है ॥ ८५ ॥

कण्डिका ८६–मंत्र १।

यस्यौषधीःऽप्प्रसर्प्पथाङ्गंमङ्गम्परुःष्प्परुः ॥ ततो यक्ष्मंव्विबाधद्ध्वऽउग्ग्रोमंद्ध्यमशीरिव ॥ ८६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यस्यौषधीरित्यस्य भिषगृषिः। निच्यृदनुष्टुप्छन्दः। ओषधयो दे०। वि० पू० ॥ ८६ ॥

मन्त्रार्थ–(ओषधीः) हे ओषधिगण! तुम (यस्य) जिसके (अङ्गम् अङ्गम्) अंग अंगमें अर्थात् सब अंगोंमें (परुः परुः) ग्रन्थी ग्रन्थीमें अर्थात् नखाग्रसे केशपर्यन्त (प्रसर्पथ) फैलतीहो और (यक्ष्मम्) यक्ष्मा रोगको (विबाधध्वे) बाधा देती हो (इव) जिस प्रकार (मध्यमशीः) देहके मध्यमें मर्म भागको पीडा देनेवाला (उग्रः) उग्र मनुष्य अथवा मर्मघातक उग्र गोधा अंगुलीत्राण बांधकर शस्त्रलिये क्षत्रिय जैसे शत्रुको बाधादेताहै अथवा (उग्रः) जिस प्रकार रुद्र "मध्यमशीः" त्रिशूलके मध्यभागसे युगान्तमें जैसे जगत्को बाधा देतेहैं. आशय यह कि मर्मछेदी दुर्जनके वाक्य जैसे शरीरमें पीडा देतेहैं ऐसे ओषधी शरीरमें प्रविष्ट हो दुरोगोंको पीडा देतीहैं [ऋ०८।९।१०]॥८६॥

विवरण–उपदेश है कि, मर्मभेदी वाक्य न कहना चाहिये ॥ ८६ ॥

कण्डिका ८७–मन्त्र १।

साकंय्यक्ष्मप्प्रपतचाषेणकिकिदीविना ॥ साकं व्वातंस्यद्ध्राज्ज्यासाकन्नश्यनिहाकया ॥ ८७ ॥

शतम् [६००]

ऋष्यादि–(१) ॐ साकमित्यस्य भिषगृषिः। विराडनुष्टुप्छन्दः। यक्ष्मा देवता। वि० पू० ॥ ८७ ॥

मन्त्रार्थ–(यक्ष्म) हे व्याधिसमूह! तुम (किकिदीविना) कफसे रुके कंठसे उठे शब्दद्वारा क्रीडाकरनेवाले श्लेष्मरोग (चोषेण) पित्तरोगके (साकम्) साथ (प्रपत) गमनकरो (वातस्य) वातके (ध्राज्या) रोगके (साकम्) साथ नष्ट हो (निहाकया) सर्वांगवेदनासे जो रोगीका हाहाकार है उस दुःखके (साकम्) सहित (नश्य) नष्ट हो अथवा हे यक्ष्मराज! तुम किकिशब्द करनेवाले चाषपक्षीके साथ भलीप्रकार गमनकरो पवनकी गतिसे पलायन करो और कायाकी आपत्तिके सहित नष्ट हो हा, मैं किस ओषधिसे नष्ट हुआ इस शब्दको करते नष्ट हो ॥ ८७ ॥

भावार्थ–हे व्याधियो! तुम्हारा निदान कफपित्त और वातका विकार है इसके सहित तुम नष्ट हो रोगीका हाहाकार निवृत्त हो ॥ ८७ ॥

विवरण-ओषधी करने और यह मंत्रजपनेसे यक्ष्मा रोग निवृत्त होताहै [ऋ० ८ । ५ । १०] ॥ ८७ ॥

कण्डिका ८८-मंत्र १ ।

अ॒न्या वो॑ऽअ॒न्याम॑वत्व॒न्यान्यस्या॒ऽउपा॑वत ॥
ताः सर्वाः॑ संविदा॒नाऽइ॒दम्मे॒ प्राव॑ता॒ वचः॑ ॥ ८८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अन्याव इत्यस्य भिषगृषिः । विराडनुष्टुप्छन्दः । ओषधयो देव० । वि० पू० ॥ ८८ ॥

मन्त्रार्थ-हे ओषधियो ! (वः) तुम्हारे मध्यमें (अन्या) कोई एक ओषधी (अन्याम्) दूसरीको (अवतु) रक्षाकरै अर्थात् एकके प्रभावसे एक वृद्धिकरै (अन्या) रक्षितहुई कोई (अन्यस्याः) दूसरीकी रक्षाकरनेको (उपावत) समीप आवैं अर्थात् योगजपदार्थोंसे तुम्हारी शक्ति अधिक हो (ताः) वह (सर्वाः) सब प्रकारकी (संविदानाः) परस्पर एकमति होकर (मे) मेरे (इदम्) इस (वचः) प्रार्थनारूप वचनको (प्रावत) रक्षाकरो अर्थात् एक रोगपर कई ओषधी अपने प्रभावके ह्रास वृद्धिद्वारा रोगनाश करनेमें हमारे अनुरोधकी रक्षा करो ॥ ८८ ॥

आशय-इसी मंत्रका आश्रय लेकर योगज ओषधियोंसे चिकित्साकी प्रथा चलीहै ॥ ८८ ॥

कण्डिका ८९-मन्त्र १ ।

याः फ॒लिनी॒र्याऽअ॑फ॒लाऽअ॑पु॒ष्पा याश्च॑ पु॒ष्पिणीः॑ ॥
बृह॒स्पति॑प्रसूता॒स्ता नो॑ मुञ्च॒न्त्वᳫं᳖हसः॑ ॥ ८९ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ या इत्यस्य भिषगृषिः । विराडनुष्टुप्छं० । ओषधयो देवताः । वि० पू० ॥ ८९ ॥

मन्त्रार्थ-(याः) जो ओषधी (फलिनीः) फलवाली हैं (याः) जो ओषधी (अफलाः) फलरहित हैं (अपुष्पाः) जो फूलरहित हैं (च) और (याः) जो ओषधी (पुष्पिणीः) फूलवाली हैं (ताः) वे सब ओषधी (बृहस्पतिप्रसूताः) बृहस्पति प्रजापालक परमात्माकी प्रेरणासे अथवा बृहस्पतिद्वारा रची हुई (नः) हमको (अंहसः) पापसे वा रोगसे (मुञ्चन्तु) छुड़ावें अर्थात् कुछभी निष्प्रयोजन नहीं रचा गया है; बडे ज्ञानसे सब ओषधियोंकी रचना हुई हैं जाननेसे सब रोग दूर करती हैं ॥ ८९ ॥

अथ अनारभ्याधीताः।

कण्डिका ९०-मंत्र १।

ओषधीमाहात्म्य।

मुञ्चन्तुं मा शपुथ्यादथों वरुण्याद्दुत॥ अथों युमस्य पड्वीशात्सर्वस्माद्देवकिल्बिषात्॥ ९०॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मुञ्चन्तुमेत्यस्य बन्धुर्ऋ०। भुरिगुष्णिक्छन्दः। ओषधयो देवताः। तत्तत्कर्मसु विनियोगः॥ ९०॥

विधि-(१) इसके आगे बारह कण्डिकामें किसी यज्ञादिका विशेष रूपसे विधान नहीं आवश्यकतानुसार दिविध स्थानमें व्यवहार होता है "विनियोग उन २ कर्तव्यकर्मोंमें लगा लेना। मन्त्रार्थ-ओषधियें (शपथ्यात्) शपथके निमित्त हुए (किल्बिपात्) पापसे अर्थात् मिथ्या शपथकरनेके पापफलसे उत्पन्न हुए रोगसे (अथो) और (वरुण्यात्) जलक्रीडादिजन्यजलरोगसे (उत) और (यमस्य) यमसम्बन्धी (पड्वीशात्) बन्धनके पापसे (अथो) और (सर्वस्मात्) सब प्रकारके पापसे देवअपराधसे (एव) ही (मा) मुझको (मुञ्चन्तु) छुडाओ [ऋ० ८। ५ २१]॥ ९०॥

विवरण-इस्से विदित है कि अनेक पाप करनेसे शरीरमें रोग होतेहैं प्रार्थनासे दूर होते हैं॥ ९०॥

कण्डिका ९१-मन्त्र १।

अवपतन्तीरवदन्दिव ओषधयुस्परि॥ यञ्जीवमुश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः॥ ९१॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अवपतन्तीरित्यस्य बन्धुर्ऋ०। अनुष्टुप्छन्दः। ओषधयो देवताः। वि० पू०॥ ९१॥

मंत्रार्थ-(दिवः) द्युलोकसे (परि) भूमिपर (अवपतन्तीः) नीचे प्राप्त होती हुई (ओषधयः) ओषधियें (अवदन्) कथनकरती हुई (यम्) जिस (जीवम्) प्राणीको (अश्नवामहै) हम व्याप्तकरतीहैं (सः) वह (पूरुषः) पुरुष (न) नहीं (रिष्याति) नष्ट होता. रोग उसको आक्रान्त नहीं करते [ऋ० ८। ५। ११]॥ ९१॥

कण्डिका ९२—मन्त्र १ ।

याऽओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः ॥
तासामसि त्वमुत्तमारङ्कामाय शꣳहृदे ॥ ९२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ याओषधीरित्यस्य बन्धुर्ऋषिः । विराडार्ष्यनुष्टुप्छं० । ओषधयो देवताः । वि० पू० ॥ ९२ ॥

मन्त्रार्थ-(याः) जो (सोमराज्ञीः) सोमपत्नी हैं अर्थात् सोम जिनके राजा हैं (बह्वीः) अनन्त (शतविचक्षणाः) असंख्यात शुभ गुणोंसे युक्त (ओषधीः) ओषधी हैं (तासाम्) उनके मध्यमें हे ओषधी ! (त्वम्) तुम (उत्तमा) उत्तम (असि) हो (कामाय) ईप्सितके निमित्त (अरम्) समर्थ तुम (हृदे) हृदयके निमित्त (शम्) सुखकारिणी हो [ऋ० ८ । ५ । ११] ॥ ९२ ॥

कण्डिका ९३—मन्त्र १ ।

याऽओषधीः सोमराज्ञीर्विष्ठिताः पृथिवीमनु ॥
बृहस्पतिप्रसूताऽअस्यै सन्दत्त वीर्य्यम् ॥ ९३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ या इत्यस्य बन्धुर्ऋ० । विराडार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । ओषधयो देवताः । वि० पू० ॥ ९३ ॥

मन्त्रार्थ-(याः) जो (सोमराज्ञीः) सोमपत्नी (ओषधयः) ओषधियें (पृथिवीम्) पृथ्वीपर (अनु) नाना प्रकारसे (विष्ठिताः) स्थित हैं (बृहस्पतिप्रसूताः) बृहस्पतिद्वारा प्रेरणा कीहुई वे ओषधी (अस्यै) इस हमारी लाई हुई ओषधीके निमित्त (वीर्यम्) पराक्रमको (सन्दत्त) दे अर्थात् वीर्यसम्पन्न करैं अर्थात् जिस ओषधीका हम व्यवहार करते हैं यह हमको वीर्यकर हो [ऋ०८।५।११] ॥ ९३ ॥

कण्डिका ९४—मंत्र १ ।

याश्चेदमुपशृण्वन्ति याश्च दूरम्परागताः ॥
सर्वाः सङ्गत्य वीरुधोऽस्यै सन्दत्त वीर्य्यम् ॥ ९४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ याश्चेदमित्यस्य बन्धुर्ऋ० । विराडनुष्टुप्छन्दः । ओषधयो देवताः । वि० पू० ॥ ९४ ॥

मंत्रार्थ-(याः) जो ओषधी (उप) समीप स्थित हैं (च) और (याः) जो ओषधी (दूरम्) हमसे दूर (परागताः) दूर स्थित हैं (च) और (इदम्)

इस हमारे वचनको (शृण्वन्ति) सुन्ती हैं (वीरुधः) वे तरुजात (सर्वाः) सम्पूर्ण ओषधी (सङ्गत्य) मिलकर (अस्यै) हमारी ग्रहण कीहुई इस ओषधीमें (वीर्यम्) बलको (सन्दत्त) धारण करें [ऋ० ८ । ९ । ११] ॥ ९४ ॥

कण्डिका ९५—मंत्र १ ।

मावोरिषत्खनिता यस्मै चाहं खनामि वः ॥ द्विपा च्चतुष्पादस्माकꣳ सर्वमस्त्वनातुरम् ॥ ९५ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ माव इत्यस्य बन्धुर्ऋ० । विराडनुष्टुप्छं० । ओषधयो देवताः । वि० पू० ॥ ९५ ॥

मन्त्रार्थ—हे ओषधियो ! रोगचिकित्साके निमित्त तुम्हारी मूलकी आवश्यकता है इस निमित्त (यः) जो कोई (खनिता) तुमको खनन करता है वह खनन करनेके अपराधसे (मा) मत (रिषत्) हानिको प्राप्त हो (यस्मै) जिस रोगी-की चिकित्साके निमित्त (वः) तुमको (अहम्) मैं (खनामि) खनन करता हूं (च) वहभी हानिको प्राप्त न हो (अस्माकम्) हमारे सम्बन्धी (द्विपात्) स्त्री पुत्रादि (चतुष्पात्) चौपाये (सर्वम्) सबही (अनातुरम्) रोगरहित हों. अर्थात् जिसके निमित्त ओषधी लिये जाते हैं वह सर्वथा रोगरहित हो [ऋ० ८ । ९ । ११] ॥ ९५ ॥

कण्डिका ९६—मंत्र १ ।

ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राज्ञा ॥ यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तꣳ राजन्पारयामसि ॥ ९६ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ ओषधय इत्यस्य बन्धुर्ऋषिः । निच्यृदनुष्टुप्छन्दः । ओषधयो दे० । वि० पू० ॥ ९६ ॥

मन्त्रार्थ—(राज्ञा) अपने राजा (सोमेन) सोमके (सह) सहित (ओषधयः) ओषधियें (समवदन्त) कहती हुई (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (यस्मै) जिस रोगीके निमित्त (कृणोति) हमारे मूल फल पत्रसे चिकित्सा करता है (राजन्) हे स्वा-मिन् सोम ! (तम्) उस रोगी मनुष्यको (पारयामसि) हम रोगरहित करती हैं [ऋ० ८ । ९ । ११] ॥ ९६ ॥

कण्डिका ९७—मंत्र १ ।

नाशयित्री बलासस्यार्शस उपचितामसि ॥ अथो

शुतस्युयक्ष्माणाम्पाकारोरसिनाशनी ॥ १७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ नाशयित्रीत्यस्य बन्धुर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । ओषधयो दे० । वि० पू० ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ–हे ओषधी !(बलासस्य) क्षयव्याधिके(अर्शसः)अर्श "ववासीर" रोगकी (उपचिताम्) मेद रोग अनेक श्वयथु "सूजन" श्लीपदआदि रोगोंकी (नाशयित्री) नाश करनेवाली (असि) हो (अथो) और (शतस्य) बहुतसी क्षतादि सैकड़ों (यक्ष्माणाम्) रोगोंकी (पाकारोः)तथा मुखपाकादि रोगोंकी (नाशनी)नाश करने वाली,(असि) हो [इन २ रोगोंमें इस मंत्रसे अभिमंत्रण कर ओषधी देनी चाहिये] ॥ १७ ॥

कण्डिका १८–मंत्र १ ।

त्वाङ्गन्धर्वाऽअखनँस्त्वामिन्द्रस्त्वाम्बृहस्पतिः ॥ त्वामोषधेसोमोराजाविद्वान्यक्ष्मादमुच्यत ॥ १८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ त्वामित्यस्य बन्धुर्ऋ० । निचृदनुष्टुप्छन्दः । ओषधयो देवताः । वि० पू० ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ–(ओषधे) हे ओषधि ! (गन्धर्वाः) गन्धर्वोंने (त्वाम्) तुमको (अखनन्) खोदा (इन्द्रः) इन्द्रने (त्वाम्) तुमको खोदा (बृहस्पतिः) बृहस्पतिने (त्वाम्) तुमको खोदा (सोमः) सोम (राजा) राजाने(विद्वान्) तुम्हारी सामर्थ्य जानकर (त्वाम्) तुमको सेवन कर (यक्ष्मात्) यक्ष्मारोगसे (अमुच्यत) निष्कृति लाभ की तुम्हारे गुणज्ञाता तुमको लाभकर अनेक रोगोंसे मुक्त हुए ॥ १८॥

कण्डिका १९–मंत्र १ ।

सहस्वमेऽअरातीः सहस्वपृतनायतः ॥ सहस्वसर्वं म्पाप्मानꣳसहमानास्योषधे ॥ १९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ सहस्वेत्यस्य बन्धुर्ऋ० । विराडनुष्टुप्छं० । ओषधिर्देवता । वि० पू० ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ–(ओषधे) हे ओषधि ! तुम (सहमाना) शत्रुओंकी तिरस्कार करनेवाली (असि) हो (मे) मेरे (अरातीः) अदानशीला शत्रुसेनाको (सहस्व) तिरस्कार करो (पृतनायतः) संग्राम चाहनेवाले शत्रुओंको (सहस्व) जीतो (सर्वम्) सब (पाप्मानम्) अशुभको (सहस्व) तिरस्कार करो अर्थात्

तुम अपनी सामर्थ्यसे रोगभी कर सकती हो प्रयोगवशसे हमारे शत्रुओंको रुग्ण करो विपक्ष सेनादलको रुग्ण करो दस्युवर्गको रुग्ण करो ॥ ९९ ॥

कण्डिका १००–मंत्र १ ।

दीर्घायुस्त्तऽओषधे खनिता यस्म्मै च त्त्वा खनाम्म्यहम् ॥ अथो त्त्वन्दीर्घायुर्भूत्त्वा शतवल्शा विरोहतात् ॥ १०० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ दीर्घायुस्त इत्यस्य बन्धुर्ऋ० । विराड् बृहती छं० । ओषधिर्देवता । वि० पू० ॥ १०० ॥

मन्त्रार्थ–(ओषधे) हे ओषधि ! (ते) तुम्हारा (खनिता) खनन करनेवाला (दीर्घायुः) दीर्घायु हो (यस्मै) जिस रोगीके निमित्त (अहम्) मैं(त्वाम्) तुझको (खनामि) खनन करूं (च) वह भी दीर्घायु हो (अथो) और (त्वम्) तुम भी (दीर्घायुः) दीर्घायु (भूत्वा) होकर (शतवल्शा) सैंकडो अङ्कुरवाली होकर (विरोहतात्) वृद्धिको प्राप्त हो ॥ १०० ॥

कण्डिका १०१–मंत्र १ ।

त्त्वमुत्तमास्योषधे तव वृक्षाऽउपस्त्तयः ॥ उपस्तिरस्तु सो स्म्माकं ग्यो ऽअस्म्माँ २ऽअभिदासति ॥ १०१ ॥ [२७]

ऋष्यादि–(१) ॐ त्वमित्यस्य बन्धुर्ऋ० । निच्यृदनुष्टुप्छन्दः । ओषधिर्देवता । वि० पू० ॥ १०१ ॥

मन्त्रार्थ–(ओषधे) हे ओषधि (त्वम्) तुम (उत्तमा) उत्कृष्ट श्रेष्ठ (असि) हो (वृक्षाः) तुम्हारे निकटके शालतालतमालादिवृक्ष (तव) तुम्हारे (उपस्तयः) समीपमें स्थित होकर उपद्रव निवारणकर छायादिके द्वारा उपकार करतेहैं (यः) जो (अस्मान्) हमसे चिरकालतक (अभिदासति) द्वेष कर रहाहै (सः) वह (अस्माकम्) हमारे (उपस्तिः) अनुगत (अस्तु) हो [ऋ० ८ । ५ । ११] ॥ १०१ ॥

विशेष–इन मंत्रोंमें समस्त वैद्यक शास्त्रका बीज है इन मंत्रोंके द्वारा ओषधि लाने और पिलानेसे रोग विशेषकर निवृत्त होतेहैं प्रयोगद्वारा शत्रुभी दूर होते हैं ॥ १०१ ॥ [२७]

इत्यनारभ्याधीताः समाप्ताः ।

पुनः इष्टकोपधानाः ।

कण्डिका १०२-मंत्र १. अनु० ७।

माmां हि॑ᳪसीज्जनि॒ता यः॑ पृथि॒व्या यो वा॒ दिव॑ᳪ स॒त्यध॑र्म्मा॒ व्यान॑ट् ॥ यश्चा॒पश्च॒न्द्राः प्र॑थ॒मो ज॒जान॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ १०२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मामेत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋ० । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । प्रजापतिर्देवता । वेदिप्रदेशाल्लोगेष्टकाश्चतुरो मृत्खण्डांश्चानीय पूर्वादिदिक्षूपधाने वि० ॥ १०२ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु चार लोगेष्टका[पादप्रमाण छोटी छोटी] पूर्वादि चारों दिशाओंमें स्फ्यद्वारा उपधान कर उनमें इस मंत्रसे पूर्वदिशामें उपधान करै यह वेदीके बाहरके स्थानसे चार मृत्खण्ड लेकर दक्षिणोत्तर पूर्वापर मध्यसूत्रप्रान्तोंमें स्थापन करै[का० १७ । ३। ११]मंत्रार्थ-(यः) जो प्रजापति (पृथिव्याः) पृथ्वीका (जनिता) उत्पन्न करनेवाला है (यः) जो (सत्यधर्मा) सत्य धारण करनेवाला (दिवम्) द्युलोकको (व्यानट्) सृजन कर चुका है वा व्याप्त किया है (च) और (यः) जो (प्रथमः) आदि पुरुष (आपश्चन्द्राः) जगतके आह्लादक और तृप्ति साधक जलको (जजान) उत्पन्न करता हुआ अथवा श्रुतिके अनुसार आपश्चन्द्र मनुष्योंको कहते हैं जिसने मनुष्योंको उत्पन्न किया है जो (प्रथमः)पहला शरीरी है वह प्रजापति (मा) मुझे (मा) मत (हिᳪसीत्) मारो (कस्मै) उस प्रजापतिके निमित्त (हविषा) हवि (विधेम) देते हैं वह हमारी रक्षा करै॥१०२॥

प्रमाण-१ "यो वा दिवᳪसत्यधर्मासृजत" इति श्रुतेः [७ । ३ । १२०] २"व्यानट् इति व्याप्तिकर्मा" [निघं० २। १८।४]३ "मनुष्या वा आपश्चन्द्राः" इति [७ । ३ । १ । २०] श्रुतेः । मनुष्य यज्ञसे चन्द्रलोकको जाते हैं ॥ १०२ ॥

कण्डिका १०३-मंत्र १ ।

अ॒भ्याव॑र्त्तस्व पृथिवि य॒ज्ञेन॒ पय॑सा स॒ह ॥ व॒पान्ते॑ऽअ॒ग्निरि॑षि॒तोऽअ॑रोहत् ॥ १०३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अभ्यावर्तस्वेत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋ० । निच्यृदुष्णिक्छं० । अग्निर्देवता । दक्षिणस्यां दिशि लोगेष्टकोपधाने वि० ॥ १०३ ।

विधि-(१) इस मंत्रसे दक्षिणादिशामें लोगेष्टका स्थापन करे । मंत्रार्थ-(पृथिवि)हे पृथिवि!(यज्ञेन)यज्ञ(पयसा) और उसके फल वृष्टिके (सह) साथ वा दुग्धादि भोगके साथ (अभ्यावर्तस्व) सन्मुखआओ(अर्थात्)परितृप्त हो (इषितः) प्रजापतिके प्रेरित (अग्निः) अग्नि (ते) तुम्हारे (वपाम्) पृष्ठरूप देशमें (आरोहत) आरोहणकरो अर्थात् अग्निके इच्छित आधार यह इष्टका तुम्हारी त्वक्स्वरूप प्रतिष्ठित हो ॥ १०३ ॥

कण्डिका १०४ मंत्र-१ ।

अग्ग्रेयत्तेंशुक्रंयच्चन्द्रंयत्त्पूतंयच्चंयज्ञियम् ॥ तद्देवेभ्योंभरामसि ॥ १०४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्नेयत्त इत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋषिः । भुरिग्गायत्री छं० । अग्निर्देवता । पश्चिमायां दिशि लोगेष्टकोपधाने विनि० ॥ १०४ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे पश्चिमदिशामें लोगेष्टका उपधानकरै । मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव ! (ते) तुम्हारा (यत्) जो अंग (शुक्रम्) शुक्लवर्ण दीप्तिमान् है(यत्) जो अंग (चन्द्रम्) ज्योति चंद्रमाकी समान आह्लादकरनेवाली है (यत्) जो ज्योति (पूतम्) पवित्र है गृहकार्यके योग्य है(च) और (यत्) जो (यज्ञियम्) यज्ञकार्यके योग्य है(तत्)वह सब प्रकार श्लाघनीय ज्योति (देवेभ्यः) देवकार्यसिद्धिके निमित्त (भरामसि) सम्पादन करतेहैं ॥ १०४ ॥

कण्डिका १०५-मंत्र २ ।

इषमूर्ज्जमहमितआदंमृतस्ययोनिम्महिषस्यधारांम् ॥ आमागोषुविशत्त्वातनूषुजहामिसेदिमनिरामममीवाम् ॥ १०५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इष इत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋ० । विराडार्ची त्रिष्टुप्छं० । आशीर्देवता । पादत्रयस्योत्तरतो लोगेष्टकोपधाने विनियोगः । (२) ॐ जहामीत्यस्य याजुषी त्रिष्टुप्छं० । यजमानो देवता । सिकतापाते विनि० ॥ १०५ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे उत्तर वेदीकी लोगेष्टका उपधान करे । मंत्रार्थ-(ऋतस्य) सत्य वा यज्ञकी (योनिम्) उत्पत्तिकारण (इषम्) अन्न (ऊर्ज्जम्)

उसका उपसेचन दही दूध घृतादिको (महिषस्य) महत् इच्छावाले अग्निकी (धाराम्) आहुतिको (इतः) इस प्रदेश उदीची दिशासे (अहम्) मैं (आदम्) भक्षण करताहूं वा स्वीकार करताहूं और यह सब इडादिक (मा) मुझमें (आविशतु) प्रवेश करै (तनूषु) मेरे पुत्रादि शरीरोंमें (गोषु) मेरे धेनुआदि पशुओंमें (आ) प्रवेश करै १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे सिकतापात करै [का० १७ । ३ । १३]मन्त्रार्थ-(अनिराम् अमीवाम्)अन्नरहित क्लेशदायक (सेदिम्) होनेकी व्याधिको (जहामि) त्यागन करताहूं अर्थात् अन्नके अभावसे मेरे रोगदुःख न हो ॥ १०५ ॥

सरलार्थ-हमने जिस दिशाके प्रभावसे अतिशय प्रवृद्ध मेघपुञ्जधारा वृष्टिलाभ की है और उसीसे यज्ञके कारण सम्पत्तिस्वरूप अन्न और जल भक्षण किया यही धारा हमारे गौओंमें प्रवेशकर पशुवृद्धि करै, प्रजावर्गके शरीरमें प्रविष्ट होकर पुष्टि करै, अन्नाभावनिबंधन पीडा दूर हो ॥ १०५ ॥

कण्डिका १०६-मंत्र ११ ।

अग्ग्नेतवुश्श्रवोवयोमहिंभ्राजन्तेऽअर्च्चयोविभावसो॥ बृहद्भानोशवसावाजमुक्थ्यन्दधासिदाशुषेकवे॥१०६॥

ऋष्यादि-(१)ॐ अग्नेतवेत्यस्य पावकाग्निर्ऋ० । विष्टारपंक्तिश्छं० । अग्निर्देवता । सिकताच्छादने वि० ॥ १०६ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकाप्रभृति दो मंत्रोंसे उत्तर वेदीके दोनों पक्ष और पुच्छभागको छोडकर और सर्वत्र अर्थात् मध्यभागमें सिकता आच्छादन करै [का० १७ । ३ । १५] मन्त्रार्थ-(विभावसो) हे कान्तिरूप धनवाले (बृहद्भानो) वडे प्रकाशमान (कवे) यजमानके अभिप्रायको जाननेवाले (अग्ने) अग्निदेवता ! (तव) तुम्हारी (श्रवः) यज्ञप्रवृत्तिको देवताओंने सुनानेवाला (महि) वडा (वयः) धूम (अर्चयः) और दीप्ति (भ्राजन्ते) प्रकाशित होती हैं, अर्थात् तुम्हारी कीर्ति पताकासदृश फहराताहुआ आकाशस्पर्शी यह धूमपुञ्ज देदीप्यमान हो रहा है (दाशुषे) तुम हविदाता यजमानके निमित्त (शवसा) वलसहित (उक्थ्यम्) शस्त्रादिसे युक्त यज्ञके योग्य (वाजम्) अन्नको (दधासि) देते हो अर्थात् यज्ञकरनेकी उपयोगी सामर्थ्य और अन्न यजमानको प्रदान करो [ऋ० ८ । ७ । २८] ॥ १०६ ॥

प्रमाण-"महि महत् नभोगामित्वात्" "धूमो वा अस्य श्रवो वयः स ह्येनममुष्मिँल्लोके श्रावयति" इति श्रुतेः [७ । ३ । १ । २९] ॥ १०६ ॥

कण्डिका १०७—मंत्र १।

पावकवर्च्चाःशुक्रवर्च्चाऽअनूनवर्च्चाऽउदियर्षिभानुना॥ पुत्रोमातराविचरन्नुपावसिपृणक्षिरोदसीऽउभे ॥१०७॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पावकवर्चा इत्यस्य पावकाग्निर्ऋ०। विष्टारपंक्तिश्छं०। अग्निर्दे०। वि० पू० ॥ १०७ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने! (पावकवर्चाः) शोधक दीप्तिवाले (शुक्रवर्चाः) निर्मल कान्तिवाले (अनूनवर्चाः) पूर्णशक्तिवाले तुम (भानुना) अपनी दीप्तिसे (उदियर्षि) उत्कृष्टताको प्राप्त होते हो तथा (विचरन्) सब ओरसे विचरतेहुए (उपावसि) देवता मनुष्योंसहित जगत्की रक्षाकरतेहो. जैसे (पुत्रः) पुत्र वृद्ध हुए (मातरा) माता पिताकी रक्षा करता है इसी प्रकार तुम मातापिता रूप (उभे) दोनो (रोदसी) द्यावा पृथ्वीको धूमपुञ्जद्वारा अर्थात् हविसे द्युलोकको जलसे भूमिको (पृणाक्षि) पालन करते हो "इमे वै द्यावापृथिवी रोदसी ते एष उभे पृणक्ति धूमेनामूं वृष्ट्येमाम्" इति [७। ३। १। ३०] श्रुतेः [ऋ० ८।७। २८] ॥ १०७ ॥

कण्डिका १०८—मंत्र १।

ऊर्ज्जोनपाज्जातवेदःसुशस्तिभिर्म्मन्दस्वधीतिभिर्हितः ॥ त्वेऽइषःसन्दधुर्भूरिवर्प्पसश्चित्रोतयो वामजाताः॥ १०८॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ऊर्जोनपादित्यस्य पावकाग्निर्ऋ०। सतो बृहती छन्दः। अग्निर्देव०। वि० पू० ॥ १०८॥

मंत्रार्थ-(ऊर्जोनपात्) हे जलोंके पोते! जलसे वृक्ष और वृक्षोंके मथनसे अग्नि होनेसे जलोंका पोता कहा अथवा हे अन्नके विनाश न करनेवाले (जातवेदः) हे प्रज्ञावान्! (धीतिभिः) यज्ञकर्मोंके निमित्त (हितः) स्थापन किये तुम (सुशस्तिभिः) श्रेष्ठ स्तुतियोंसे (मन्दस्व) हृष्ट पुष्ट हो (भूरिवर्पसः) अनेक रूपवाले "वर्प इति रूपनाम" [निघं० ३। ७] (चित्रोतयः) बहुत प्रकारकी रक्षा वा अन्न रखनेवाले तुमसे तर्पित (वामजाताः) श्रेष्ठ जातिकुलमें उत्पन्न हुए यजमानोंने (त्वे) तुझमें अपने (इषः) हविरूप अन्नको (सन्दधुः) होमा अर्थात्

विविध ऐश्वर्यवान् स्वरूप यजमानने तुममें यथेष्ट हवनादि यजन किया इस कारण तुम इसको सुप्रशस्त कार्यसिद्धिके निमित्त विशेष अनुकूल हो [ऋ० ८। ७। २८] ॥ १०८ ॥

कण्डिका १०९-मन्त्र १।

इरज्ज्यन्नग्ग्ने प्प्रथयस्वजुन्तुभिरस्म्मेरायोऽअमर्त्त्य ॥ सदर्शतस्युवपुषोविराजसिपृणक्षिसानसिङ्क्रतुम् ॥ १०९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इरज्यन्नित्यस्य पावकाग्निर्ऋ० । सतो बृहती छं०। अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १०९ ॥

मन्त्रार्थ-(अमर्त्य) हे मरणधर्मरहित (अग्ने) अग्नि देवता ! (जन्तुभिः) हवि देनेवाले प्राणियोंद्वारा वा अध्वर्युद्वारा (इरज्यन्) प्रदीप्त होते हुए तुम (रायः) अनेक प्रकारके धनोंको (अस्मे) हमारे निकट (प्रथयस्व) विस्तारकरो (सः) वह तुम (दर्शतस्य) दर्शनीय (वपुषः) चित्याग्निरूप शरीरके मध्यमें (विराजसि) विशेष प्रदीप्त होते हो (सानसिम्) चिरन्तन (क्रतुम्) संकल्पको (पृणक्षि) पूर्ण करते हो अर्थात् हमको यथेष्ट ऐश्वर्य प्रदान करते हो [ऋ० ८। ७। २८] ॥ १०९ ॥

कण्डिका ११०-मंत्र १।

इष्कर्त्तारमद्ध्वरस्यप्प्रचेतसङ्क्षयन्तꣳराधसोमहः ॥ रातिंवामस्यसुभगाम्महीमिषन्दधासिसानसिꣳरयिम् ॥ ११० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इष्कर्तारमित्यस्य पावकाग्निर्ऋषिः । सतो बृहती छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० । ११० ॥

मंत्रार्थ-(अध्वरस्य) यज्ञके (इष्कर्तारम्) रचनेवाले (प्रचेतसम्) श्रेष्ठ चित्त-वाले हे अग्ने ! (क्षयन्तम्) यज्ञस्थानमें निवासकरनेवाले यजमानको (वामस्य) श्रेष्ठ (महः) बडे (राधसः) धनके (रातिम्) दानको और (सुभगाम्) श्रेष्ठ ऐश्वर्ययुक्त (महीम्) बडे (इषम्) अन्नको (सानसिम्) चिरन्तन (रयिम्) धनको यजमानमें (दधासि) धारणकरते हो अर्थात् यथेष्टअन्न और चिरस्थायी ऐश्वर्य देते हो [ऋ० ८। ७। २८] ॥ ११० ॥

कण्डिका १११-मंत्र १।

ऋतावानम्महिषंविश्श्वदर्शतमग्ग्निꣳसुम्म्नायंदधिरेपुरोजनाः॥ श्रुत्कर्णꣳसप्प्रथस्त्तमन्त्वागिरादैव्यम्मानुषायुगा॥ १११॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ऋतावानमित्यस्य पावकाग्निर्ऋषिः। उपरिष्टाज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्छं०। अग्निर्दे०। वि० पू०॥ १११॥

मंत्रार्थ-हे अग्ने! (मानुषाः) बुद्धिसम्पन्न मनुष्यजाति (जनाः) ऋत्विगादि यजमान (युगा) पौर्णमासी अमावस्या आदि पर्वोंमें (गिरा) वेदवाणीद्वारा (त्वा) तुम (ऋतवानम्) सत्यरूप (महिषम्) महान् (विश्वदर्शतम्) संसारके दर्शनीय (श्रुत्कर्णम्) कर्णोंसे प्रार्थना सुनकर उसके सम्पादन करनेवाले (सप्रथस्तमम्) अतिकीर्तिमान् (दैव्यम्) देवताओंके हितकारी तुम (अग्निम्) अग्निको (सुम्नाय) यज्ञके निमित्त (पुरा) पूर्वभागमें आहवनीय रूपसे (दधिरे) स्थापन करते हुए श्रुत्कर्णका तात्पर्य यह कि याचककी प्रार्थनापर मन लगायेहुए हो [ऋ० ८।७।२८]॥ १११॥

कण्डिका ११२-मंत्र १।

आप्प्यायस्वसमेतुतेविश्श्वतः सोमवृष्ण्ण्यम्॥ भवावाजस्यसङ्गथे॥ ११२॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आप्यायस्वेत्यस्य गोतम ऋ०। निच्यृद्गायत्री छं०। सोमो देवता। सिकतास्पर्शने वि०॥ ११२॥

विधि-(१) इस कण्डिकाप्रभृति दो मंत्रसे गिरीहुई सिकता स्पर्श करै [का० १७।३।१६।] मंत्रार्थ-(सोम) हे सोम! (विश्वतः) सब ओरसे (वृष्ण्यम्) सब प्राणियोंकी उत्पत्ति करनेवाला तेज (ते) तुमको (समेतु) प्राप्त हो अर्थात् तेज इस स्थानमें प्राप्त हो (आप्यायस्व) अपने वीर्यसे सब प्रकार परिवर्द्धित हो (वाजस्य) यज्ञादि सत्कार्यके उपयोगी अन्नके (सङ्गथे) प्राप्तिके निमित्त (आभव) हमारे निकट हो अर्थात् उपयोगी अन्न हमको प्राप्त कराओ [ऋ० १।६।२२]॥ ११२॥

कण्डिका ११३-मंत्र १।

सन्तेपयाꣳसिसमुयन्तुवाजाꣳसंवृष्ण्ण्यान्यभिमा

तिषाहः ॥ आप्यायमानोऽअमृताय सोम दिवि
श्रवांᳬस्युत्तमानि धिष्व ॥ ११३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सन्त इत्यस्य गोतम ऋ० । भुरिगार्षी पंक्तिश्छन्दः । सोमो देवता । वि० पू० ॥ ११३ ॥

मंत्रार्थ-(सोम) हे सोम ! (पयांᳬसि) पीनेयोग्य रस (ते) तुमसे (अभिमातिषासह) पापनाशक आपके साथ (संयन्तु) संगतिको प्राप्तहों (वाजाः) अन्न (सम्) संगतिको प्राप्तहों (वृष्ण्यानि) वीर्य (सम्) तुमको प्राप्तहों (आप्यायमानः) दुग्ध अन्न और वीर्यसे वृद्धिको प्राप्तहोतेहुए तुम (उ) ही (अमृताय) अमरणधर्म अथवा संस्कारसे शुद्धहुए प्रजापुत्रादिकी वृद्धि यजमानके निमित्त करो "प्रजात्यां तदमृतं दधाति तस्मात्प्रजातिरमृता" इति श्रुतेः [७ । ३ । १ । ४६] और (दिवि) द्युलोकमें (उत्तमानि) श्रेष्ठ (श्रवांᳬसि) आहुति परिणामवाले अन्नोंको धारणकरो अर्थात् यजमानको इस लोकजन्य पुत्रपौत्रादिप्रजा और द्युलोकजन्य उत्कृष्ट अन्नदानकी व्यवस्थाकरो [ऋ० १ । ६ । २२] ॥ ११३ ॥

कण्डिका ११४-मंत्र १ ।

आप्यायस्व मदिन्तम सोम विश्वेभिरᳬशुभिः ॥
भवा नः सप्रथस्तमः सखा वृधे ॥ ११४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आप्यायस्वेत्यस्य गोतम ऋ० । प्राजापत्या त्रिष्टुप्छं० । सोमो देवता । जपे वि० ॥ ११४ ॥

सूत्रमें इसका विनियोग नहीं कहाहै.

मन्त्रार्थ-(मदिन्तम) अतिशय तृप्तअन्तःकरणवाले (सोम) हे सोम ! (सप्रथस्तमः) अत्यन्त विख्यातकीर्ति तुम (विश्वेभिः) सम्पूर्ण (अᳬशुभिः) सूक्ष्मांशोंके द्वारा (आप्यायस्व) वृद्धिको पाओ (वृधे) और हमारी वृद्धिके निमित्त (सखा) सहायक (आभव) हूजिये [ऋ० १ । ६ । २२] ॥ ११४ ॥

कण्डिका ११५-मन्त्र १ ।

आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात् ॥
अग्ने त्वां कामया गिरा ॥ ११५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आत इत्यस्यावत्सार ऋ० । निचृद्गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । जपे विनियोगः ॥ ११५ ॥

विधि-(१) श्वेत अश्वके अभावमें पीत अश्व उसके अभावमें वृष लाकर अध्वर्युद्वारा होता जिज्ञासित होकर तन्मय होकर इस कण्डिकाप्रभृति तीन मंत्रोंको पढ़े [का० १७। ३। २०-२१] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने! (ते) तुम्हारा (वत्सः) वत्सस्वरूप यजमान (त्वाम्) तुमको (कामया) स्तुति करनेकी इच्छावाली (गिरा) वेदवाणीद्वारा (परमात्) उत्कृष्ट (सधस्थात्) द्युलोकसे (चित्) भी तुम्हारे (मनः) मनको (आयमत्) हटाकर निग्रह करता है अर्थात् वेदमंत्रके प्रभावसे तुम्हारे मनको उत्कृष्ट देवलोकसे आकर्षण करता है [ऋ० ५। ८। ३६] ॥ ११५ ॥

विशेष-यज्ञारम्भके पूर्व यजमानको पयोव्रतादि करना होता है इस कारण वत्सरूपसे वर्णना की है सायनभाष्यमें इस मंत्रकी वत्सनाम ऋषि कहकर व्याख्याकी है ॥ ११५ ॥

कण्डिका ११६-मन्त्र १।

तुभ्युन्ताऽअङ्गिरस्तमुविश्वाः᳘सुक्षितयुःपृथक् ॥ अग्ग्नेकामायेमिरे ॥ ११६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तुभ्यन्ता इत्यस्य विरूप ऋ०। गायत्री छन्दः। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ ११६ ॥

मन्त्रार्थ-(आङ्गिरस्तम) हे अतिहविभक्षक! (अग्ने) अग्नि देवता! (पृथक्) अनेक प्रकारकी (विश्वाः) सम्पूर्ण (ताः) वे प्रसिद्ध (सुक्षितयः) स्वर्गादि सुन्दर स्थानकी देनेवाली स्तुतियें (कामाय) अभिलाषा पूर्ण करनेवाले (तुभ्यम्) तुम्हारे निमित्त (येमिरे) की जाती हैं अर्थात् अपनी २ कामनासिद्धिके निमित्त भिन्न २ प्रकारसे तुम्हारी स्तुति करते हैं [ऋ० ६। ३। ३२] ॥ ११६ ॥

कण्डिका ११७-मंत्र १।

अग्निःप्प्रियेषुधामंसुकामोभूतस्युभव्यस्य ॥ सुम्म्राडेकोविराजति ॥ ११७ ॥ [१६]

इति श्रीशुक्लयजुस्संहितापाठे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निरित्यस्य प्रजापतिर्ऋ०। गायत्री छन्दः। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ ११७ ॥

मन्त्रार्थ-(भूतस्य) उत्पन्न (भवस्य) उत्पद्यमान 'होनेवाले' यजमानोंके (कामः) कामनापूरक (सम्राट्) सम्यक् प्रकारसे विराजमान (अग्निः) अग्नि देवता (प्रियेषु) अपने प्रिय (धामसु) स्थानोंमें (एकः) असहायभूत प्रधान एकही (विराजति) विराजमान होते हैं ॥ ११७ ॥ [१६]

इति श्रीकात्यायनगोत्रोद्भवमर्यादापालकपण्डितवरमिश्रसुखानंदसूनुपण्डितज्वाला- प्रसादमिश्रकृतशुक्लयजुर्वेदीयमिश्रभाष्ये माध्यन्दिनीयायां संहितायां रुक्मादिवाचनान्तोयं द्वादशोऽध्यायः पूर्तिमगात् ॥ १२ ॥

शुभमस्तु ।

अथ त्रयोदशोऽध्यायः १३.

मयिगृह्णामिपञ्चदश ध्रुवासिमधुवाताएकादशकौ सम्यक्स्रवंति नवेमंमाषडपांत्वैका अयंपुरः पञ्चसप्ताष्टापञ्चाशत् ॥

अथ पुष्करपर्णोपधानमन्त्राः ।

कण्डिका १-मंत्र १. अनु० १ ।

मयिगृह्णाम्म्यग्ग्रेऽअग्निꣳरायस्पोषायसुप्रजास्त्वायंसुवीर्य्याय ॥ मामुदेवताꣳसचन्ताम् ॥१॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मयीत्यस्यावत्सार ऋषिः । ककुप्छन्दः । अग्निर्देवता । होमे विनियोगः ॥ १ ॥

विधि-(१) यजमान उत्तर वेदीके पूर्वभागमें स्थित होकर 'मयिगृह्णामि' यह मंत्रजप करै और इसीप्रकार उत्तर वेदीके पश्चिममें स्थित हो यजमान हवन करै [का० १० । ३ । २७] मन्त्रार्थ-मैं यजमान (अग्रे) प्रथम (रायः) धनकी (पोषाय) पुष्टिके निमित्त (सुप्रजास्त्वाय) सुन्दर पुत्रादिकी प्राप्तिके निमित्त (सुवीर्याय) सुंदर सामर्थ्यप्राप्तिके निमित्त (अग्निम्) अग्निको (मयि) आत्मामें (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं (देवताः) देवतागण भी (माम्) मुझको (सचन्ताम्) सेवन करैं इस मंत्रसे आत्मामें ज्ञानाग्निका धारण भी कहा है ॥ १ ॥

कण्डिका २-मंत्र १ ।

अपाम्पृष्ठमसियोनिरग्ग्नेः समुद्रमभितःपिन्वमानम् ॥

वर्द्धमानोमहाँ२ऽआचपुष्क्करंदिवोमात्रयावरिम्मणा प्प्रथस्व ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अपांपृष्ठमसीत्यस्यावत्सार ऋषिः। यजुश्छं०। लिंगोक्त दे०। पुष्करपर्णोपधाने वि० ॥ २ ॥

विधि-(१) अनन्तर अध्वर्यु इस कण्डिकात्मक दो मंत्रका पाठ करके उषासंवरणकालमें जिस प्रकार प्रथम मंत्रसे पत्र रखकर दूसरेसे विस्तीर्ण कियाथा इसी प्रकार कुशस्तम्बके ऊपर कमलिनीपत्र स्थापन करे [का० १७। ४। १] मंत्रार्थ-अपांपृष्ठमसि इसकी व्याख्या अ० ११ मं० २९ में होगई ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मंत्र १।

ब्रह्मयज्ञानम्प्रथमम्पुरस्ताद्विसीमतःसुरुचोवेनऽआवः ॥ सबुध्न्याऽउपमाऽअस्यविष्ठाःसतश्चयोनिमसतश्चविवः ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ब्रह्मजज्ञानमित्यस्यावत्सार ऋ०। आर्षी त्रिष्टुप्छं०। आदित्यो देवता। रुक्मोपधाने वि० ॥ ३ ॥

विधि-(१) इस स्थापितपत्रके ऊपर उसी कण्ठमें धारण किये सुवर्णको इस मंत्रसे पिण्डके अधोभागानुसार स्थापन करे [का० १७। ३। २९] मन्त्रार्थ-(पुरस्तात्) पूर्वदिशासे (प्रथमम्) सबसे प्रथम (जज्ञानम्) प्रगटहोता हुआ (ब्रह्म) आदित्यरूप ब्रह्म (सीमतः) भूगोलमध्यसे आरंभकरके (सुरुचः) सुन्दर रुचिवाले इन लोकोंको (विआवः) अपने प्रकाशसे विस्तार करताहुआ (सः) और वह (वेनः) कामनीय मेधावी (उपमाः) अवकाशयुक्त (च) और (अस्य) इस जगत्की (विष्ठाः) वासस्थान (बुध्न्याः) अन्तरिक्षमें होनेवाली दिशाओंको तथा (सतः) विद्यमान मूर्ति घटपटादि (च) और (असतः) अमूर्त वायुआदिके प्रभव (योनिम्) स्थानको (विवः) प्रकाश करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ-यह ब्रह्मरूप आदित्य प्रथम पूर्व दिशामें उदय होकर भूमिकी सीमापर्यन्त अपनी सुन्दर किरणसमूह विस्तार करते हैं, यही अन्तरिक्ष समस्त लोकके एक मात्र लक्ष्य और इस जगतके भले बुरे समस्त पदार्थकी स्थितिके कारण हैं॥३॥

कण्डिका ४-मंत्र १।

हिरण्यगर्भःसमवर्त्तताग्ग्रेभूतस्यजातःपतिरेकऽ

आसीत् ॥ स दाधार पृथिवीन्द्यामुतेमाङ्कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ हिरण्यगर्भ इत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । प्रजापतिर्देवता । हिरण्यपुरुषोपधाने वि० ॥ ४ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे और दूसरे मंत्रसे इस रुक्मके ऊपर पूर्व पश्चिम एक हिरण्यमय पुरुषको शयन करावै [का० १७।४।३] मन्त्रार्थ-(हिरण्यगर्भः) हिरण्यपुरुषरूप ब्रह्माण्डमें गर्भ रूपसे अवस्थित प्रजापति हिरण्यगर्भ (भूतस्य) प्राणिजातकी उत्पत्तिके (अग्रे) प्रथम (समवर्तत) शरीरधारी हुआ और वह (जातः) उत्पन्न अर्थात् प्रगटमात्रही (एकः) एकही इस उत्पन्न होनेवाले सब जगतका (पतिः) ईश्वर (आसीत्) हुआ (सः) वही (पृथिवीम्) अन्तरिक्ष (द्याम्) द्युलोक (उत) और (इमाम्) इस भूमि अर्थात् त्रिलोकीको निर्माण कर (दधार) धारण करता है (कस्मै) उस प्रजापतिके निमित्त (हविषा) हविद्वारा (विधेम) विधान करते हैं ॥ ४ ॥

प्रमाण-"ज्योतिर्वै हिरण्यम्" [श० ७ । ४ । १ । १५] "हिरण्यम् कस्माद्धियत आयम्यमानमिति वा ह्रियते जनाज्जनमिति वा हितरमणम्भवतीति वा हृदयरमणं भवतीति वा हर्यतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः" [निरु० २ । १०] "पृथ्वी भूः स्वयम्भूरित्यन्तरिक्षनामसु" [निघं० १ । ३ ।] "विधेमेति परिचरणकर्मा" [निघं० ३ । ५ ।] "हिरण्मयो गर्भो हिरण्मयो गर्भोऽस्येति वा गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे गिरत्यनर्थानिति वा यदा हि स्त्री गुणान्गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्तेऽथ गर्भो भवति समभवदग्रे भूतस्य जातः पतिरेको बभूव स धारयति पृथिवीं दिवं च कस्मै देवाय हविषा विधेम" इति व्याख्यातम् "विधातिर्दानकर्मा" [निरु० १०।२३]४॥

सरलार्थ-सबसे प्रथम अर्थात् सृष्टिके पूर्व एकमात्र हिरण्यगर्भ स्थित थे सृष्टि होनेपरभी वही एकमात्र इस समस्त विश्वके अधिपति पालनकरनेवाले हुए अपनी शक्तिसे वह पृथ्वी और द्युलोकको धारण किये हैं वह किस प्रकार है यह कोई कथन नहीं करसकता उन्हीं देवताकी प्रीतिके निमित्त हम हवि विधान करते हैं [ऋ० ८ । ७ । ३ ।] ॥ ४ ॥

विवरण-रुक्म पुरुषसे इस स्थलमें प्रतिमाही निर्मित है । और उसकी अर्चा भी सांकेतिक है ॥ ४ ॥

यह जो पुष्करपर्णके ऊपर सुवर्णमय पुरुषकी स्थापना है इसके विषयमें शतपथकी श्रुतियोंमें लिखाहै ॥

अथ सामगायति एतद्वै देवा एतं पुरुषमुपधाय तमेतादृशमेवापश्यन्यथैतच्छुष्कं फलकम् २२ तेऽब्रुवन् उपतज्जानीत यथास्मिन्पुरुषे वीर्यं दधामेति । तेऽब्रुवँश्चेतयध्वमिति

चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथास्मिन्पुरुषे वीर्यं दधामेति२३ ते चेतयमानाः एतत्सामापश्यंस्तदगायंस्तदस्मिन्वीर्यमदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति पुरुषे गायतिपुरुषे तद्वीर्यं दधाति चित्रेगायति सर्वाणि हि चित्राण्यग्निस्तमुपधाय न पुरस्तात्परीयान्नेनमायमग्निर्हि न सदिति २४ अथ सर्पनामैरुपतिष्ठत इमे वै लोकाः सर्पाः श०७। ४ । १ । २२–२९ । अर्थात् जब देवताओंने हिरण्मयपुरुषको सुवर्णफलकके ऊपर स्थापन किया, तब यह परामर्श किया कि यह सुवर्णपुरुष चेतनारहित शुष्क फलकके समान है । तब फिर सब बोले कि इस हिरण्मयपुरुषमें शक्ति प्रादुर्भावके निमित्त परामर्श करो, तब देवताओंने इस बातको अनुमोदन किया, और इसमें वीर्य स्थापनकी मीमांसा की, तब नमोस्तु सर्पेभ्यः ६ । या इषवो० ७ । येवामी० ८ । इन तीन आगेके मंत्ररूप सामकी उपलब्धिको प्राप्त हुए और इन तीनमंत्र रूप सामको गाया तब इस हिरण्मय पुरुषमें वीर्य अर्थात् फल प्रदायक शक्तिको स्थापन किया । इससे स्पष्ट है कि इसीप्रकार मूर्तिमें इन मंत्रोंसे प्रतिष्ठा करके शक्ति स्थापन करते हैं ।

कण्डिका ९–मंत्र १ ।

द्रुप्सश्चस्कन्दपृथिवीमनुद्यामिमञ्चयोनिमनुयश्चपूर्वः ॥ समानंय्योनिमनुसञ्चरन्तन्द्रुप्सञ्जुहोम्यनुसप्तहोत्राः ॥ ९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ द्रप्स इत्यस्य देवश्रवा ऋषिः । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । आदित्या दे० । वि० पू० ॥ ९ ॥

मंत्रार्थ–(यः) जो (पूर्वः) प्रथम मुख्य सबकी आदि जिसकी आदि नहीं (द्रप्सः) जो कि द्रप्स नामसे प्रसिद्ध आदित्यरूपका कारण (पृथिवीम्) अन्तरिक्षको (अनुचस्कन्द) मनुष्यादि धारणके निमित्त सींचता है (च) और (द्याम्) द्युलोकको (अनु) सींचता है (च) और (इमम्) इस (योनिम्) भूलोकको आहुतिपरिणामरूप रससे (अनु) सींचता है (समानम्) सम्पूर्णके तुल्य (योनिम्) त्रिलोकीमें (सञ्चरन्तम्) विचरण करते हुए (द्रप्सम्) आदित्यको (सप्त होत्राः) सात दिशाओंमें (अनु जुहोमि) स्थापन करता हूं अर्थात् हिरण्य पुरुषरूपसे सब दिशाओंमें स्थापन करता हूं [ऋ० ७ । ६ । २९] ॥ ९ ॥

प्रमाण–"असौ वा आदित्यो द्रप्सो दिशः सप्त होत्रा अमुमादित्यं दिक्षु प्रतिष्ठापयति" इति श्रुतेः [७ । ४ । १ । २०] ॥ ९ ॥

सरलार्थ-जो सबके आदि हैं जिनकी आदि नहीं वही देवता द्रप्सनामसे प्रसिद्ध हैं और द्रप्सनामसे प्रसिद्ध यही सूर्यके कारण है इस द्रप्सके अनुसरणसे ही यह द्रप्स पृथिवी द्युलोक और अन्तरिक्ष लोकमें विचरण करते नियमित रसाकर्षण रस दानादिद्वारा त्रिलोकीकी साम्यावस्थासे रक्षा करते हैं और इन द्रप्सके ही प्रकाशसे यह सात दिशा [चारदिक् अधः ऊर्ध्व और मध्य]निर्णीत होती हैं ॥ ५ ॥

कण्डिका ६-मन्त्र १ ।

नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु ॥ ये ऽअन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमोस्त्वित्यस्य देवश्रवा ऋ० । भुरिक्प्राजापत्या त्रिष्टुप्छं० । सर्पादे० । हिरण्यपुरुषमालोक्य जपे विनि० ॥ ६ ॥

विधि-(१) अनन्तर यजमान इस हिरण्मय पुरुषका दर्शन कर इस कण्डिकासे आदि तीन मंत्रोंका पाठ करै [का० १७ । ४ । ६]

मन्त्रार्थ-(ये) जो (च) भी (पृथिवीम्) पृथ्वीके (अनु) अनुगत लोक नक्षत्र हैं उन (सर्पेभ्यः) लोक नक्षत्रोंके निमित्त (नमः)नमस्कार (अस्तु) हो(ये) जो लोक (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें वर्तमान हैं (ये) जो सम्पूर्ण लोक (दिवि) द्युलोकके आश्रित हैं (तेभ्यः) उन (सर्पेभ्यः) सर्पोंके निमित्त (नमः) नमस्कार है "इमे वै लोकाः सर्पाः " इति श्रुतेः [श० ७।४।१।२९] भूमिके चारों ओरभी नक्षत्रादि घूमते हैं अथवा द्युस्थानमें लोक चलते हैं यह भाव है. ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मंत्र १ ।

या ऽइषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीँ१ रनु ॥ ये वावटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ याइषव इत्यस्य देवश्रवा ऋ० । अनुष्टुप्छं० । सर्पादेवताः । वि० पू० ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ-(यातुधानानां) राक्षसगणोंके (याः) जो सर्प (इषवः) बाण-रूपसे वर्तते हैं (वा) या (ये) जो सर्प (वनस्पतीन्) चन्दनवृक्षादि वनस्पतियों के (अनु) आश्रय हैं (वा) या (ये) जो (अवटेषु) बिलोंमें (शेरते) शयन करते हैं (तेभ्यः) उन सब (सर्पेभ्यः) सर्पोंके निमित्त (नमः) नमस्कार है अथवा जो राक्षसादिके ईप्सित लोक हैं जो जम्बुआदिके समीप लोक हैं जो तल आदि सात अवकाशभागोंमें वर्तमान हैं उन लोगोंके निमित्त नम-स्कार है ॥ ७ ॥

कण्डिका ८–मन्त्र १।

येवामीरोचनेदिवोयेवासूर्य्यस्यरश्मिषु ॥ येषा मुप्सुसदस्कृतन्तेभ्यः सर्पेभ्योनमः ॥ ८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ येवामीत्यस्य देवश्रवा ऋषिः । निच्यृदनुष्टुप्छन्दः। सर्पा देवताः । वि० पू० ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ–(ये) जो सम्पूर्ण (वामी) लोक सर्प वा प्राणीगण (दिवः) द्युलोकके (रोचने) दीप्तिस्थानमें हैं जो हमको नहीं दीखते (वा) अथवा (ये)जो लोक (सूर्यस्य) सूर्यकी (रश्मिषु) किरणोंमें निवास करते हैं (येषाम्) जिन सर्पलोक वा प्राणियोंका (अप्सु) जलोंमें (सदः) स्थान (कृतम्) किया है (तेभ्यः) उन सब (सर्पेभ्यः) सर्पोंके निमित्त (नमः) नमस्कार है ॥ ८ ॥

प्रमाण–"रोचनो ह नामैष लोको यत्रैष एतत्तपति" इति श्रुतिः ॥ ८ ॥

सरलार्थ–जो सकल प्राणगिण द्युलोकमें जो अवकाशस्थान अन्तरिक्ष लोक जो प्राणी सूर्यकी रश्मिमें प्रविष्ट हो भूलोकमें तथा जो जलके गर्भमें अवस्थिति करते हैं उनको नमस्कार है सर्प प्राणी लोक तीनोंमें इस मंत्रका अर्थ होता है सर्वत्र उस परमात्माने लोकोंकी रचना की है ब्रह्माण्ड लोकों प्राणियोंसे पूर्ण हैं उसकी शक्तिसे स्थित है इसी मंत्रको लेकर सूर्यके रथमें सर्पकी स्थिति पुराणोंमें कही है यही आकर्षणी विद्या है ॥ ८ ॥

कण्डिका ९–मंत्र १।

कृणुष्वपाजँऽप्रसितिन्नपृथ्वीं॑ऽयाहिराजेवामँ वाँ२ऽइभेन ॥ तृष्वीमनुप्रसितिन्द्रूणानोस्तासि विद्ध्यरक्षसस्तपिष्ठैः ॥ ९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ कृणुष्वेत्यस्य वामदेव ऋषिः । भुरिक्पंक्तिश्छन्दः। अग्निर्देवता । हिरण्मयपुरुषोपरि पंचाहुतिहोमे विनियोगः ॥ ९ ॥

विधि–(१) आज्यसंस्कारकरिके इस हिरण्यमय पुरुषके निकट उपविष्ट होकर प्रदक्षिणक्रमसे प्रतिदिक् सन्मुख होकर इस पुरुषके ऊपर इस कण्डिका-प्रभृति पांच मंत्र पाठकरके पञ्चगृहीत पञ्चाहुति प्रदानकरै [का० १७ । ४ । ७]

मन्त्रार्थ–हे अग्ने ! तुम (अस्ता) शत्रुओंके हटानेवाले (असि) हो (याहि) शत्रुओंके ऊपर जाओ (इव) जैसे (आमवान्) सहायवान् (राजा) नृप (इभेन) हाथीद्वारा शत्रुओंपर गमनकरताहै, ऐसे तुम गमनकरो (पृथिवीम्)

विशाल वडे (प्रसितिम्) पक्षिग्रहणके निमित्त फैलाये हुए जालकी (न) समान (पाजः) वलको (कृणुष्व) विस्तारकरो (तृष्वीम्) वेगवान् (प्रसितिम्) जालद्वारा (अनु) सम्यक् (द्रुणानः) शत्रुओंको मारनेवाले (तपिष्ठैः) तपानेवाले (रक्षसः) राक्षसोंको (विध्य) ताडनकरो [ऋ० ३ । ४ । २३] ॥ ९ ॥

प्रमाण-"पाजइति वलनाम" [निघं० २ । ९ । २ ।] "प्रसितिः प्रसयनात्तन्तुर्वा जालंवा" इति [निरु० ६ । १२] ॥ ९ ॥

सरलार्थ-हे अग्ने! वलविधानकर पात्रमित्रसेनांके वृंदसहित और गजस्कंधारूढ राजा मायाजालसे पृथ्वीको जिस प्रकार आक्रमण करतेहैं तथा जिस प्रकार वल प्रकाश करतेहैं इसप्रकार जालग्रहण पूर्वक शत्रुगणको आच्छन्नकर वलप्रकाशकर समस्त राक्षसगणको अपनी दाहिका शक्तिसे दग्धकरो ॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मन्त्र १ ।

तव॑भ्र॒मास॑ऽआशु॒या प॑त॒न्त्यनु॑स्पृश धृष॒ता शोशु॑चानः ॥ तपू॑ᳬष्यग्ने जु॒ह्वा॑ पत॒ङ्गानस॑न्दितो॒ वि सृ॑ज॒ विष्व॑गु॒ल्काः ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तवभ्रमास इत्यस्य वामदेव ऋ० । भुरिक्पंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ-हे (अग्ने) अग्निदेवता ! (तव) तुम्हारी जो (आशुया) शीघ्रगामी (भ्रमासः) ज्वालासमूह (पतन्ति) पवनसे इधरउधर चलायमान होतेहैं (धृषता) उस प्रगल्भ ज्वालासमूहसे (शोशुचानः) प्रकाशमान तुम (तपूंषि) तपानेवाले राक्षसों और (पतङ्गान्) पतंग अर्थात् पिशाचोंको (अनुस्पृश) ज्वालासमूहसे दग्धकरो (जुह्वा) स्रुकसे हूयमान तुम (आसन्दितः) अखण्डित होकर (विष्वक्) सर्वत्र तिरछी ऊंची नीची (उल्काः) ज्वालाओंको राक्षसोंके नाश करनेको (विसृज) छोडो पतंगकी समान राक्षस तुममें प्रविष्ट हो नष्ट होतेहैं. [ऋ० ३ । ४ । २३] ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मंत्र १ ।

प्रति॒स्पशो॒ वि सृ॑ज॒ तूर्णि॑तमो॒ भवा॑ पा॒युर्वि॒शो ऽअ॒स्याऽअद॑ब्धः ॥ यो नो॑ दू॒रेऽअ॒घश॑ᳬसो॒ यो ऽअन्त्य॑ग्ने॒ माकि॑ष्टे॒ व्यथि॒राद॑धर्षीत् ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रतिस्पश इत्यस्य वामदेव ऋषिः । निचृत्त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (नः) हमारा (दूरे) दूर देशमें (यः) जो (अघशंसः) शत्रु है (यः) जो (अन्ति) निकटमें वर्तमान शत्रु है (तूर्णितमः) बडे वेगवान् (अदब्धः) अनुपहिंसित तुम उसकी (प्रति) ओर (स्पशः) बन्धनको (विसृज) प्रेरण करो (अस्याः) इस हमारी (विशः) प्रजाके (पायुः) रक्षक (भव) हूजिये (ते) तुमको (किः)कोईभी शत्रु (मा) मत (आदधर्षीत्) धर्षणा करो [ऋ० ३ । ४ । २३] ॥ ११ ॥

सरलार्थ-हे अग्ने ! प्रत्येक दस्युके बंधनके निमित्त प्रणिधि प्रेरण कर लघुहस्त हो अदग्ध भावसे प्रजाकी पालना करो जो हत्याकारी दस्युदल दूर पलायमान हैं उनके निकट तुम उपस्थित हो वे तुमको व्यथित न करसकें तुम उन सबको पराजित लांछित करो ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मंत्र १।

उदंग्ने तिष्ठ प्प्रत्त्यातंनुष्ष्वन्न्यमित्राँ२ऽओषतात्तिग्ग्महेते ॥ योनोऽअरांतिंᳬसमिधानचक्क्रेनीचातन्धंक्ष्यतसन्नशुष्क्कंम् ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उदग्ने इत्यस्य वामदेव ऋ० । भुरिगार्षी पंक्तिश्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १२ ॥

मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेवता ! तुम (उत्तिष्ठ)जागृत होओ (प्रत्यातनुष्व) ज्वालाविस्तार करो (तिग्महेते) हे उत्साहरूप आयुधवाले ! (अमित्रान्) शत्रुओंको (न्योषतात्) अत्यन्त भस्मीभूत करो (समिधान) हे दीप्तिमान् ! (नः) हमारे (यः) जो (अरातिम्) शत्रुदानका प्रतिषेध (चक्रे) करताहै (तम्) उसको (नीचा) निकृष्ट करके (धक्षि) भस्मकरो (न) जिस प्रकार (शुष्कम्) सूखे (अतसम्) अतस वृक्षको भस्मकरते हो इस प्रकार शत्रुको नष्टकरो [ऋ० ३ । ४ । २३] ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मंत्र २।

ऊर्ध्वोभवप्प्रतिंविद्ध्याद्ध्यस्म्मदाविष्कृणुष्ष्वदैव्व्यान्यग्ग्ने ॥ अवंस्थिराते नुहिष्यातुजूनांञ्जामिमजामिम्प्रमृंणीहिशत्रून् ॥ अग्ग्नेष्ट्वातेजंसासादयामि ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ ऊर्द्ध इत्यस्य वामदेव ऋषिः। भुरिगार्षी पंक्तिश्छं०। अग्निर्देवता स्रुगुपधाने वि० । (२) ॐ अग्निष्ट्वेत्यस्य वामदेव ऋ०। आसुरी त्रिष्टुप्छन्दः। अग्निर्देवता । स्रुगुपधाने वि० ॥ १३ ॥

मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव ! (ऊर्द्धः) उद्योगी उद्धत (भव) हो (अस्मत्) हमारे (अधि) ऊपर वर्तमान (शत्रून्) शत्रुओंको (प्रतिविध्य) ताडनकरो (दैव्यानि) देवसम्बन्धी कर्मोंको (आविः) प्रगट (कृणुष्व) करो (यातुजूनाम्) राक्षसोंके (स्थिरा) स्थिर धनुषोंको (अवतनुहि) ज्यारहित करो (जामिम्) ताडित (अजामिम्) अताडित वा नवागत (शत्रून्) शत्रुओंको (प्रमृणीहि) विनाशकरो अर्थात् जो जाति हमसे क्रोधकरै उसे नष्टकरो १ । विधि-(२) इस दूसरे मंत्रसे और परकण्डिकात्मक मंत्रसे कार्ष्मर्यमयी पादमात्र दीर्घ षडङ्गुली प्रशस्ता घृतपूर्णा स्रुक् अग्राग्र करके उपधान करै [का० १७ । ४ । १२]मन्त्रार्थ-हे स्रुक् ! (अग्नेः) अग्निके (तेजसा) तेजसे (त्वा) तुझको (सादयामि) स्थापन करता हूं ॥ १३ ॥

कण्डिका १४-मंत्र २।

अग्निर्म्मूर्द्धादिवःककुत्त्पतिः पृथिव्याऽअयम् ॥ अपाᳬरेताᳬसिजिन्वति ॥ इन्द्रस्यत्त्वौजसासादयामि ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निरित्यस्य वामदेव ऋषिः । निच्यृद्गायत्री छन्दः । अग्निर्दे० । वि० पू० । (२) ॐ इन्द्रस्येत्यस्य वामदेव ऋ०। आसुरी त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ-अग्निर्मूर्धेति इसकी व्याख्या ३ । १२ में होगई १ ।

सरलार्थ-अग्निने द्युलोकके मस्तकस्वरूप प्रधानताका लाभ किया है यह पृथ्वी लोकमें ककुद्की समान उच्छ्रित और सर्वत्रही आधिपत्य लाभ कर चुके हैं अन्तरिक्ष लोककी वृष्टिके भी यही कारण हैं १ । विधि-(२) इसी प्रकार और एक उदुम्बर [गूलर] का स्रुवा दधिपूर्ण करके इस मंत्रसे और पर कण्डि-कात्मक मंत्र पाठ करके उसके उत्तरमें उपधान करे [का० १७ । ४ । १३]मंत्रार्थ-हे स्रुक् ! (इन्द्रस्य) इन्द्रके (ओजसा) तेजसे (त्वा) तुझको (सादयामि) स्थापन करताहू ॥ १४ ॥

कण्डिका १५-मंत्र १।

भुवोयज्ञस्यरजसश्चनेतायत्रानियुद्भिःसचसेशि

वाभिः ॥ दिविमूर्द्धानन्दधिषेस्वर्षाञ्जिह्वामग्नेचकृषेहव्यवाहम् ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ भुवोयज्ञस्येत्यस्य त्रिशिरा ऋषिः। निचृदार्षी त्रिष्टुप्छं०। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव! तुम जब (हव्यवाहम्) हवि धारण करनेवाली (जिह्वाम्) जिह्वारूप ज्वालाको (चकृषे) प्रगट करते हो तब (यज्ञस्य) द्रव्य देवता त्यागात्मारूप यज्ञके (च) और (रजसः) यज्ञपरिणामरूप जलके (नेता) प्रवर्तक और प्रापक (भुवः) होते हो (यत्र) यहां (शिवाभिः) मंगलरूप (नियुद्भिः) अश्वोंके सहित तुम (सचसे) सम्बन्धको प्राप्त होते हो "नियुतोनाम वायोरश्वाः" [निघं० १ । १५ । १०] और (दिवि) द्युलोकमें (स्वर्षाम्) स्वर्गके देनेवाले वा स्वर्गमें स्थित (मूर्द्धानम्) आदित्यको (दधिषे) धारण करते हो [ऋ० ७ । ६ । ४] ॥ १५ ॥

सरलार्थ-हे अग्ने! तुमही यज्ञके सम्पादक और तुमही कल्याणतम निर्दोष वायुके सहित अन्तरिक्षचारी होकर वृष्टि प्रेरण करते हो. तुमने गमनस्पर्शी स्वर्गके निदानीभूता जिह्वा धारण की है हे अग्ने! अब उस जिह्वाको हव्यवाहिनी करो इस प्रकारके कर्मवाले तुमको स्वर्गरूपसे सादन करताहूं ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मंत्र १ अनु० २।

ध्रुवासिधरुणास्तृताविश्वकर्म्मणा ॥ मात्त्वासमुद्रऽउद्वधीन्मासुपर्णोऽव्यथमानापृथिवीन्दृꣳह ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ध्रुवासीत्यस्य त्रिशिरा ऋषिः। ऊर्द्धबृहती छन्दः। स्वयमातृणा देवता। स्वयमातृणोपधाने वि० ॥ १६ ॥

विधि-(१) इसके उपरान्त इन चार कण्डिकाओंके चार मंत्रोंसे इस पुरुषके ऊपर स्वयमातृणा [स्वाभाविक छिद्रयुक्त पत्थरकी ईंटें] इष्टका धारण करै [का० १७ । ४ । १५] मंत्रार्थ-हे स्वयमातृणे! तुम (धरुणा) भूमि रूपसे विश्वकी धारणकरनेवाली (विश्वकर्मणा) प्रजापतिद्वारा (आस्तृता) विस्तारकी हुई (ध्रुवा) दृढ (असि) हो (समुद्रः) समुद्र अर्थात् रुक्म (त्वा) तुमको (मा) मत (उद्वधीत्) नष्टकरो (सुपर्णः) पुरुष तुमको (मा) मत नष्ट करो अथवा वायु तुमको नष्ट न करो (अव्यथमाना) अचल होकर तुम भूभाग दृढ करनेमें समर्थ हो इस कारण (पृथिवीम्) पृथ्वीको (दृꣳह) दृढकरो ॥ १६ ॥

प्रमाण-"रुक्मो वै समुद्रः पुरुषः सुपर्णः" [श० ७ । ४ । २ । ५] ॥ १६ ॥

कण्डिका १७-मंत्र १ ।

प्रजापतिष्ट्वासादयत्त्वपाम्पृष्ठेसमुद्रस्येमन् ॥ व्यचस्वतीम्प्रथस्वतीम्प्रथस्वपृथिव्यसि ॥ १७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रजापतिष्ट्वेत्यस्य त्रिशिरा ऋ० । अनुष्टुप्छन्दः । स्वयमातृणा देवता । वि० पू० ॥ १७ ॥

मंत्रार्थ-हे स्वयमातृणे ! (प्रजापतिः) प्रजापति (त्वा) तुझ (व्यचस्वतीम्) अवकाशवान् (प्रथस्वतीम्) विस्तारयुक्तको (अपाम्) जलोंके (पृष्ठे) ऊपर (समुद्रस्य) और समुद्रके अर्थात् जलसंघातके (एमन्) स्थानमें (सादयतु) स्थापन करै, और तुम प्रजापतिसे सादित होकर (प्रथस्व) विस्तारको प्राप्त हो (पृथिवी) जिस कारण कि भूमिसे प्रगट होनेसे तुम पृथ्वीरूप (असि) हो ॥ १७ ॥

सरलार्थ-प्रजापतिने तुमको समुद्रके ऊपरभूभागमें और समुद्रके गर्भ भूभाग दोनों स्थानमें स्थापन किया है तुम दीर्घ और प्रथित होनेमें समर्थ हो, इस कारण तुमको पृथ्वीभी कहते हैं अधिक ऊर्ध्वको प्रथित होसकती हो, अब इस चितिको विस्तार करो ॥ १७ ॥ जलके भीतर ईंटोंकी नीम काम देती है इससे यहभी सूचित किया है.

कण्डिका १८-मन्त्र १ ।

भूरसिभूमिरस्यदितिरसिविश्वधायाविश्वस्यभुवनस्यधर्त्री ॥ पृथिवीँय्यच्छपृथिवीन्दृꣳहपृथिवीम्माहिꣳसीः ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ भूरसीत्यस्य त्रिशिरा ऋषिः । प्रस्तारपंक्तिश्छं० । स्वयमातृणा देवता । वि० पू० ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ-हे स्वयमातृणे ! तुम (भूः) सुखोंकी भावना करनेवाली (भूमिः) भूमि नामसे प्रसिद्ध (असि) हो (विश्वधाया) विश्वके पुष्ट करनेवाली (अदितिः) देवमाता (असि) हो (विश्वस्य) सम्पूर्ण (भुवनस्य) संसारकी (धर्त्री) धारण करनेवाली (असि) हो (पृथिवीम्) पृथ्वीको (यच्छ) कृपादृष्टिसे अवलोकन करो (पृथिवीम्) भूभागको (दृꣳह) दृढकरो (पृथिवीम्) पृथिवीको (मा) मत (हिꣳसीः) कष्ट वा पीडा दो ॥ १८ ॥ इन मंत्रोंमें प्रासाद आदि निर्माण करनेका शिल्पविद्याका उपदेश है ।

कण्डिका १९-मन्त्र १।

विश्वंस्म्मैप्प्राणायापानायंव्यानायोदानायंप्प्रतिष्ठायैंचरित्राय ॥ अग्निष्ट्वाभिपांतुमह्यास्वुस्त्याच्छर्दिषाशन्तंमेनुतयादेवतंयाङ्गिरुस्वद्ध्रुवासींद ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्वस्मा इत्यस्य त्रिशिरा ऋषिः । भुरिगतिजगती छन्दः । स्वयमातृणा दे० । वि० पू० ॥ १९ ॥

मंत्रार्थ-हे स्वयमातृणे ! (विश्वस्मै) सम्पूर्ण (प्राणाय) प्राण (अपानाय) अपान (व्यानाय) व्यान (उदानाय) उदान नामक शरीरवायुकी (प्रतिष्ठायै) उन्नतिकी कामनाके निमित्त तथा प्रतिष्ठा कीर्तिलाभके निमित्त (चरित्राय) शास्त्रीय आचरणके निमित्त अर्थात् सच्चरित्र होकर प्रतिष्ठा पानेकी अभिलाषासे तुमको इस स्थानमें सादित करताहूं (अग्निः) अग्नि देवता (मह्या) बडी (स्वस्त्या) कल्याण योगक्षेमकी सम्पत्ति और (शन्तमेन) अत्यन्त सुखकारी (छर्दिषा) गृहके द्वारा (त्वा) तुमको (अभिपातु) रक्षा करै अर्थात् कल्याणरूपा इस पृथ्वीकी कल्याणतम ज्वालाद्वारा अग्नि तुम्हारी सब प्रकार रक्षा करै (तया) उस (देवतया) परम देवताके अनुग्रहसे (ध्रुवा) दृढ हुई (आङ्गिरस्वत्) अंगिराकी समान (सीद) स्थित हो ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मंत्र १।

काण्डांत्काण्डात्प्प्ररोहंन्तीपरुंषःपरुषुस्प्परिं ॥ एवानोंदूर्वेप्प्रतनुसहस्रेणशतेनच ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ काण्डादित्यस्य अग्निर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । दूर्वेष्टका देवता । स्वयमातृणया दूर्वेष्टकोपधाने वि० ॥ २० ॥

विधि-(१) इस स्वयमातृणा इष्टकाके ऊपर इस मंत्रसे और परकण्डिकात्मकमंत्रसे दूर्वाइष्टका [समूलसाग्र कितनी एक दूर्वानिर्मित इष्टका] उपधान करै और इष्टकाका अग्रभाग भूमिसे संलग्नरक्खै [का० १७।४।१८] मन्त्रार्थ-(दूर्वे) हे दूर्वा ! इष्टके ! तुम (काण्डात् काण्डात्) प्रत्येक काण्डसे और (परुषः परुषः) प्रत्येकपर्वसे (परि) सब ओरसे (प्ररोहन्ती) अंकुरित होती हो अर्थात् भूमिके सम्बन्धवाले और असंबन्धवाले सब पर्वोंसे बढती हो (एव) और निश्चयही

(सहस्रेण) सहस्र (च) और (शतेन) सैंकडों अर्थात् असंख्य ऐश्वर्यपुत्र-पौत्रादिसे अङ्कुरवत् (नः) हमको (आ) सब प्रकार (प्रतनु) विस्तार वा वृद्धिको प्राप्तकरो ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मन्त्र १ ।

याशतेनंप्रतनोषिंसहस्रेणविरोहंसि ॥ तस्यास्तेदेवीष्टकेविधेमंहविषांवयम् ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ याशतेनेत्यस्य अग्निर्ऋषिः । निच्यृदनुष्टुप्छंदः । दूर्वेष्टका देवता । वि० पू० ॥ २१ ॥

मंत्रार्थ-(देवि) हे दीप्यमान ! (इष्टके) हे इष्टके ! (या) जो तुम (शतेन) सैंकडों काण्डसे (प्रतनोषि) विस्तारको प्राप्त होती हो (सहस्रेण) सहस्र अंकुरोंसे (विरोहसि) अनेक प्रकारसे अंकुरित होती हो (वयम्) हम (ते) तुमको (हविषा) हवि (विधेम) विधान करते हैं इन दोनों मंत्रोंसे सन्ततिकी वृद्धि होती है इसी कारण दूर्वा मांगलिक कही गई है ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मंत्र १ ।

यास्तेंऽअग्नेसूर्य्येरुचोदिवंमातुन्वन्तिरश्मिभिः ॥ ताभिर्नोऽअद्यसर्वाभीरुचेजनांयनस्कृधि ॥ २२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यास्त इत्यस्य इंद्राग्नी ऋषी । भुरिगनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । पद्येष्टकोपधाने वि० ॥ २२ ॥

विधि-(१) दूर्वा इष्टकाके पूर्व इस कण्डिका और परकण्डिकात्मक मंत्र इन दोनो मंत्रोंसे 'द्वियजु' नामक पद्या इष्टका स्थापन करै [का० १७ । ४ । २०] मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (या) जो (ते) तेरी (रुचः) दीप्ति (सूर्ये) सूर्यमण्डलमें वर्तमान (रश्मिभिः) किरणोंद्वारा (दिवम्) द्युलोकको (आतन्वन्ति) प्रकाश करती हैं (अद्य) इस समय (ताभिः) उन (सर्वाभिः) सम्पूर्ण कांतियोंसे (नः) हमारे (रुचे) शोभाके निमित्त तथा (नः) हमारे (जनाय) पुत्रपौत्रादिको जगत्प्रसिद्ध (कृधि) करो अथवा यह द्युलोकप्रकाशक सम्पूर्णकान्ति हमको प्राप्तहो, हमारे यजमानके कार्यसिद्धिके निमित्त उस समस्त दीप्तिके सहित हमारी इस यज्ञभूमिमें दीप्तिमान् हो ॥ २२ ॥

कण्डिका २३–मंत्र १ ।

यावोदेवाꣳसूर्य्येरुचोगोष्ष्वश्वेषुयारुचः ॥ इन्द्राग्ग्नीताभिꣳसर्वाभीरुचन्नोधत्तबृहस्प्पते ॥ २३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ याव इत्यस्य ऋष्यादि पूर्ववत् ॥ २३ ॥

मंत्रार्थ–(इन्द्राग्नी) हे इन्द्राग्नी ! (बृहस्पते) हे बृहस्पते ! (देवाः) हे देवसमूह ! (वः) तुम्हारी (यः) जो (रुचः) दीप्ति (सूर्ये) सूर्यमण्डलमें वर्तमान हैं (याः) जो (रुचः) दीप्तियें (गोषु) धेनुओंमें जो (अश्वेषु) अश्वोंमें स्थितहैं (ताभिः) उन (सर्वाभिः) सम्पूर्ण दीप्तियोंसे देदीप्यमान तुम (नः) हमारे निमित्त (रुचम्) कान्तिनिरोगताको (धत्त) प्रतिपादन कीजिये ॥ २३ ॥

कण्डिका २४–मंत्र १ ।

विराड्ज्ज्योतिरधारयत्त्स्वराड्ज्ज्योतिरधारयत् ॥ प्रजापतिष्ट्वासादयतुपृष्ठेपृथिव्याज्ज्योतिष्म्मतीम् ॥ विश्वस्म्मैप्प्राणायापानायव्यानायुविश्श्वञ्ज्योतिर्य्यच्छ ॥ अग्निष्टेधिपतिस्त्तयादेवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवासीद ॥ २४ ॥

ऋष्यादि–(१–२) ॐ विराट्स्वराडिति मंत्रयोरिंद्राग्नी ऋषी । प्राजापत्या गायत्री छं० । रेतःसिचौ देवते । इष्टकोपधाने वि० ।(३) ॐ प्रजापतिरित्यस्यैंद्राग्नी ऋ० । भुरिग्ब्राह्मी बृहती छं० । विश्वज्योतिर्दैवतम् । रेतःसिगिष्टकोपधाने वि० ॥ २४ ॥

विधि–(१–२) द्वियजुनामक इष्टकाके पूर्वमें पूर्वपश्चिमदीर्घक्रमसे रेत और सिच् नामक दो पद्या इष्टका उपधान करै, उसके मध्यमें प्रथम मंत्रसे उत्तर भागमें रेत और दूसरे मंत्रसे दक्षिण भागमें सिकता स्थापन करैं [का० १७ । ४ । २२] मंत्रार्थ–(विराट्) विशेष शोभायमान विराट्रूप इस लोकने (ज्योतिः) अग्निरूप ज्योतिको (अधारयत्)धारण किया १ । (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान द्युलोकने (ज्योतिः) अग्निरूप ज्योतिको (अधारयत्) धारण किया"अयं लोको विराट् सइममग्निं ज्योतिर्धारयत्यसौ वै लोकः स्वराट् सोऽमुमादित्यं ज्योतिर्धारयत्" इति [७ । ४ । २ । २३] श्रुतेः २ । विधि– (३) रेत और सिच् नामक दोनों

इष्टकाओंके पूर्वमें तीसरे मंत्रसे यजमानद्वारा निर्मित विश्वज्योति नामक पद्या इष्टका पूर्व पश्चिम दीर्घक्रमसे उत्तरमुख होकर उपधान करै [का० १७ । ४ । २३] **मंत्रार्थ**-हे इष्टके ! (प्रजापतिः) प्रजाके पालक (विश्वस्मै) सम्पूर्ण (प्राणाय) प्राण (अपानाय) अपान (व्यानाय) व्यानकी सम्पत्तिके निमित्त (ज्योतिष्मतीम्) ज्योतिर्युक्त (त्वा) तुझको (पृथिव्याः) पृथ्वीके (पृष्ठे) ऊपर (सादयतु) स्थापित करै (विश्वम्) सम्पूर्ण (ज्योतिः) ज्योतिको (यच्छ) निग्रह करो, अर्थात् समस्त प्राणोंको तुम समस्त ज्योति वितरण करो (अग्निः) अग्नि (ते) तुम्हारा (अधिपतिः) अधिपति है (तया) उस प्रसिद्ध (देवतया) देवताके सहित (ध्रुवा) दृढ होकर (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिराकी समान (सीद) स्थित हो ॥ २४ ॥

कण्डिका २५-मंत्र २ ।

मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः ॥ येऽअग्नयः समनसोन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे ॥ वासन्तिकावृतूऽअभिकल्पमानाऽइन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवे सीदतम् ॥ २५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मधुश्चेत्यस्य इन्द्राग्नी ऋषी । भुरिग्जगती छन्दः । ऋतुर्देवता । पद्येष्टकोपधाने वि० । (२) ॐ ये अग्नय इत्यस्य इन्द्राग्नी ऋषी । भुरिग्ब्राह्मी बृहती छन्दः । ऋतुर्देवता । वि० पू० ॥ २५ ॥

विधि-(१) इस मंत्रका पाठ करके विश्वज्योतिर्नामक इष्टकाके पूर्वमें पूर्व पश्चिम दीर्घ क्रमसे मधु और माधवनामक दो पद्या इष्टका उपधान करै [का० १७ । ४ । २४] **मंत्रार्थ**-(मधुः) चैत्रमास (च) और (माधवः) वैशाख मास यह दोनों (च) ही (वासन्तिकौ) वसन्तसम्बन्धी (ऋतू) ऋतु हैं अथवा हे (ऋतू) ऋतुरूप दोनों इष्टकाओ ! तुम (अग्नेः) चीयमान अग्निके (अन्तः) अन्तरमें स्थित होकर (श्लेषः) श्लेष अर्थात् दृढताके निमित्त लगाये हुए (असि) हो

"जिस प्रकार भीतके भीतर दृढताके निमित्त काष्ठकी लकडी लगा देते हैं" अग्निचयन करते (मम) मुझ यजमानके (ज्यैष्ठयाय) उत्कर्षताके निमित्त यह (द्यावापृथिवी) द्युलोक और भूलोक (कल्पन्ताम्) स्वोचित उपकारको कल्पना करें, अर्थात् इस प्रकार यह ऋतुसदृश कार्यमें नियुक्त हो एकवाक्य होकर इस जगतमें हमारा प्राधान्य कल्पना करै द्यावापृथिवी, हमारा प्राधान्य कल्पना करै (आपः) जल और (ओषधयः) ओषधी हमारा प्राधान्य (कल्पन्ताम्) सम्पादन करैं (सव्रताः) समान व्रत अर्थात् एक अग्निचयन कर्ममें स्थित (पृथक्) अनेक नामकी (अग्नयः) अग्नि स्वयमातृणा आदि इष्टका (कल्पन्ताम्)उत्कृष्टता सम्पादन करैं "अग्नयो हैते पृथग्यदेता इष्टकाः" इति श्रुतेः (इमे) यह (द्यावा-पथिवी) द्यावा पृथ्वीके (अन्तरा) मध्यमें वर्तमान (समनसः) एक मनवाली (ये) जो (अग्नयः) अग्नियें हैं, अर्थात् औरोंसे चयनकीहुई(वासन्तिकौ) वसन्त सम्बन्धी (ऋतू) ऋतुको (अभिकल्पमानाः) सम्पादन करते (अभिसंविशन्तु) इस कर्मका आश्रय करो (इव) जैसे (देवाः) देवता (इन्द्रम्) इन्द्रको परिचर्या कर सम्पादन करते हैं, इसी प्रकार इष्टका प्राप्त हो, हे इष्टके ! (तया) उस प्रसिद्ध (देवतया) देवताद्वारा (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिराकी समान (ध्रुवे) स्थिर होकर (सीदतम्) स्थित हो अर्थात् द्यावापृथ्वीके मध्यमें जितनी इष्टका विद्यमान है वह सब एक मनसे तुमको वसन्तकालमें ऋतुरूपसे अन्तःश्लेष कल्पना करके इस यज्ञमें अभिनिवेश करो इस परम देवताके प्रसादसे तुम यहां चिरस्थायी हो [श० ७ । ४ । २ । ३१] ॥ २५ ॥

कण्डिका २६—मंत्र १ ।

अषा॑ढासि॒ सह॑माना॒ सह॒स्वारा॑तीः॒ सह॑स्व पृतनाय॒तः॥ स॒हस्र॑वीर्यासि॒ सा मा॑ जिन्व ॥ २६ ॥ [११]

ऋष्यादि—(१) ॐ अषाढासीत्यस्य सविता ऋषिः । निच्यृदनुष्टुप्छन्दः । इष्टका देवता । आषाढेष्टकोपधाने वि० ॥ २६ ॥

विधि—(१) इस मंत्रको पाठ करके ऋतुनामक दो इष्टकाके पूर्वमें इसी प्रकार पूर्व पश्चिम दीर्घ क्रमसे अषाढा [पत्नीद्वारा निर्मित पद्या] इष्टका उपधान करै [का० १७ । ४ । २५] मंत्रार्थ—हे इष्टके ! तुम (सहमाना) स्वभावसे शत्रुओंका जय करनेवाली (अषाढा) तथा शत्रुओंको न सहनेवाली (आसे) हो (अरातीः) शत्रुओंको (सहस्व) तिरस्कार करो (पृतनायतः) संग्रामकी इच्छा

करनेवाले शत्रुओंको (सहस्व) तिरस्कार करो तुम (सहस्रवीर्या) अनंत बल-वाली (असि) हो (मा) मुझपर (जिन्व) सुप्रीता हो ॥ २६ ॥ [११]

प्रमाण-"ते देवा एतामिष्टकामपश्यन्नषाढामिमामेव तामुपादधत तामुपधाया-सुरान्त्सपत्नान्भ्रातृव्यानस्मात्सर्वस्मादसहन्त तस्मादषाढा" इति [७ । ४ । २ । ३३] श्रुतेः ॥ २६ ॥

कण्डिका २७-मंत्र १. अनु० ३ ।

मधुवाताऽऋतायतेमधुक्षरन्तिसिन्धवः ॥ माध्वीर्न्नःसन्त्वोषधीः ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मधुवाता इत्यस्य गोतम ऋ० । निच्यृद्गायत्री छन्दः । विश्वेदेवा देवताः । कूर्मलेपने वि० ॥ २७ ॥

विधि-(१) दधिमधुघृत एकत्र करके यहांसे लेकर तीन कण्डिकाओंके मंत्र पाठकरके कूर्मको लिप्तकरै [का० १७ । ४ । २७] **मन्त्रार्थ**-(ऋतायते) यज्ञकी इच्छाकरनेवाले यजमानके निमित्त (वाताः) वायु (मधु) पुष्परसको (क्षरन्ति) वहनकरतीहैं (सिन्धवः) स्यन्दमान नदियें (मधु) मधुकी समान जलको क्षरण करतीहैं (नः) हमको (ओषधीः) सम्पूर्ण ओषधी (माध्वीः) मधुर रससे युक्त (सन्तु) हों ॥ २७ ॥

प्रमाण-"स यत्कूर्मो नाम एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत" [श० ७ । ५ । १ । ५] कूर्मरूपसे प्रजापतिने प्रजा रची है, कर्तव्यसेही वह कूर्म है । [ऋ० १ । ६ । १८] ॥ २७ ॥

कण्डिका २८-मंत्र १ ।

मधुनक्तमुतोषसोमधुमत्पार्थिवꣳरजः ॥ मधुद्यौरस्तुनःपिता ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मधुनक्तमित्यस्य गोतम ऋ० । गायत्री छन्दः । विश्वेदेवा देवताः । वि० पू० ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ-(नः) हमको (पिता) पितावत् पालनकरनेवाला (द्यौः) द्युलोक (मधु) अमृतमय (अस्तु) हो (पार्थिवम्) मातारूप पृथ्वीसम्बन्धी (रजः) [रज] (मधुमत्) अमृतमय हो (नक्तम्) रात्रि (उत) और (उषसः) [दिन] (मधु) अमृतमय हो अर्थात् सबसे हमको मंगल हो [ऋ० १ । ६ । १८] ॥ २८ ॥

कण्डिका २९–मन्त्र १ ।

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ२ऽअस्तु सूर्यः ॥ माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥ २९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ मधुमानित्यस्य गोतम ऋषिः । निच्यृद्गायत्री छन्दः । विश्वेदेवा देवताः । वि० पू० ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ–(वनस्पतिः) सम्पूर्ण वनस्पाति (नः) हमको (मधुमान्) मधुर रससे युक्त हो (सूर्यः) सूर्य हमको (मधुमान्) मधुररसयुक्त (अस्तु) हों (गावः) गौ (नः) हमको (माध्वीः) मधुररसयुक्त (भवन्तु) हों [ऋ० १ । ६ । १८] ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०–मंत्र १ ।

अपाङ्गम्भन्त्सीद मा त्वा सूर्योऽभिताप्सीन्माग्निर्वैश्वानरः ॥ अच्छिन्नपत्राः प्रजाऽअनुवीक्षस्वानु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम् ॥ ३० ॥

ऋष्यादि–(१)ॐ अपामित्यस्य गोतम ऋषिः । स्वराट् पंक्तिश्छं० । कूर्मो देवता । पुरुषाभिमुखकूर्मोपधाने वि० ॥ ३० ॥

विधि–(१) अषाढा इष्टकाके दक्षिणमें अरत्निमात्र अवकाश रखकर पूर्वस्थापित अवकाश (शैवाल) के ऊपर पुरुषके अभिमुख करके यह मंत्र पाठकर कूर्म उपधान करे [का० १७ । ४ । २८, ९, १] "स कूर्मोऽसौ स आदित्यः" [श० ७ । ५ । १ । ६] मन्त्रार्थ–कूर्मसे प्रजापति वा आदित्यका ग्रहण है हे कूर्म ! तुम (अपाम्) जलोंके (गम्भम्) गंभीरस्थान आदित्यमण्डलमें (सीद) स्थित हो (त्वा) तुमको (सूर्यः) सूर्य वहां स्थित होनेसे (मा) मत (अभिताप्सीत्) सन्तप्त करो (वैश्वानरः) सम्पूर्ण मनुष्योंके हितकारी (अग्निः) अग्नि तुमको (मा) मत सन्तापितकरो (अच्छिन्नपत्राः) अखण्डितअवयववाली (प्रजाः) इष्टका (अनुवीक्षस्व) तुमको निरन्तर देखो और (दिव्या) दिव्य (वृष्टिः) वर्षा (त्वा) तुमको (अनुसचताम्) सेवनकरो ॥ ३० ॥

प्रमाण–"एतद्वापां गम्भिष्ठं यत्रैष एतत्तपति" इति [७ । ५ । १ । ८] श्रुतेः "इमा वै सर्वाः प्रजा या इमा इष्टकास्ता अरिष्टा अनार्ता अनुवीक्षस्व" इति

[श० ७।५।१।८] "प्राणो वै कूर्मः" इति [श० ७।५।१।७ प्राणही कूर्म यहां सर्वत्र है इसनेही सर्वत्र निवासकर प्रजा रची है ॥ ३० ॥

सरलार्थ-हे कूर्म ! गंभीरजलमें तुम्हारा वास है वहां सूर्यका ताप प्रवेश नहीं करता और विश्वास है कि अग्निभी वहां प्रवेश नहीं करसकती आज इस स्थानमें उपविष्ट हो तुम्हारे सन्मुख स्थित अनूनअंग यह प्रजावर्ग तुमको निरन्तर अवलोकन करते रहो इस कार्यके फलसे वर्षा हो और वह वर्षा तुम्हारे पूर्णसुखका कारण हो इसी विचारमें तुम समय व्यतीतकरो ॥ ३० ॥

आशय-पिता माता जिस प्रकार अपनी प्रजा पुत्रादिके फलवान् होनेपर उनके भोग ऐश्वर्यकी आशासे उनके मुख अवलोकनके व्रती रहते हैं तुम्हारीभी इसी प्रकार यह इष्टकारूप सब प्रजा सफल होनेपर श्रेष्ठ वृष्टि होगी, इसी फलभोगकी आशासे निरन्तर तुम्हारा मुख ईक्षण करते हैं ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१-मंत्र १।

त्रीन्त्समुद्रान्त्समसृपत्स्वर्गानपाम्पतिर्वृषभऽइष्टकानाम् ॥ पुरीषंवसानः सुकृतस्यलोकेतत्रगच्छयत्रपूर्वेपरेताः ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्रीनित्यस्य गोतम ऋ० । त्रिष्टुप्छन्दः । कूर्मो देवता । कूर्मकम्पने वि० ॥ ३१ ॥

विधि-(१) कूर्म उपधान करनेके पहले जितने कालमें यह हाथमें स्थित रहै उतने कालमें इसको इस मंत्र और पर मंत्रसे कंपित करै, [का० १७।२।२] मंत्रार्थ-(अपाम्) जलोंके (पतिः) स्वामी अर्थात् जलशायी कूर्म (इष्टकानाम्) इष्टकाओंकी उपधानक्रियाका (वृषभः) प्रधान अंग हो तुमने (त्रीन्) तीन (स्वर्गान्) भोगके साधन (समुद्रान्) लोकोंको (समसृपत्) भली प्रकार प्राप्त किया अर्थात् तुम जीवके भोगस्थान त्रिलोकीमें जानेको समर्थ हो (पुरीषम्) पुरीषको वा पशुओंको (वसानः) आच्छादन करते (तत्र) उस स्थानमें (गच्छ) गमन करो (यत्र) जहां (सुकृतस्य) पुण्यात्माओंके (लोके) लोकमें (पूर्वे) पुरातन कूर्म अग्नियोंसे उपहित हो (परेताः) गये हैं अर्थात् इस समय पुरीषसे आच्छादित हो उस पुण्यलोकमें गमनकरो जहांपर इसीप्रकार और भी अनेक गये हैं ॥ ३१ ॥

विशेष-इस मंत्रसे पूर्ण बोध होताहै कि पुण्यात्माओंके निमित्त श्रेष्ठ लोक हैं जो भूमण्डलके अतिरिक्त अन्य स्थानोंमें हैं ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२–मन्त्र १ ।

मुहीद्यौऽंपृथिवीचनऽइमंय्युज्ञम्मिमिक्षताम् ॥ पिपृतान्नोभरीमभिः ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ महीद्यौरिति इसकी व्याख्या ८ अ० ३२ मंत्रमें होगई ॥ ३२ ॥

सरलार्थ–यह सुमहान् द्युलोक और पृथ्वीलोक हमारे इस यज्ञके सफलकरनेकी इच्छा करैं अनेक भोग्यवस्तुसे यजमानका घर पवित्रकरैं ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३–मन्त्र १ ।

विष्णोऽकर्म्माणिपश्यतयतोव्रतानिपस्पशे ॥ इन्द्रस्ययुज्ज्यःसखा ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ विष्णोरित्यस्य गोतम ऋषिः । शेषम्पूर्ववत् । उलूखलमुसलोपधाने वि० ॥ ३३ ॥

विधि–(१) स्वयमातृणा इष्टकाके उत्तरमें अरत्निमात्र अन्तरसे यह मंत्र पाठकर उलूखल और मूसल स्थापन करै । चतुष्कोण मध्यमें संकुचित खातहीन गूलरकी लकडीसे ऊखल और मूसल बनाने चाहियें । मन्त्रार्थ–विष्णोरिति इस मंत्रकी व्याख्या ६ अ० ४ क० में होगई ॥ ३३ ॥

सरलार्थ–हे ऋत्विग्गण ! देखो विष्णु भगवानके नियम और कार्य कैसे अद्भुत हैं उनके नियमसे स्थावर जंगम ग्रह नक्षत्र समस्तही दृढ आवद्ध हैं यह इन्द्र वा इन्द्रियवान् गणके उपयुक्त सखा हैं ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४–मन्त्र १ ।

ध्रुवासिं धुरुणेतोजंज्ञेप्रथममेब्भ्योयोनिंब्भ्योऽअधिजातवेदाः ॥ सगायुत्र्यात्रिष्टुभानुष्टुभाचदेवेब्भ्योहुव्यंवहतुप्प्रजानन् ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ ध्रुवासीत्यस्य गोतम ऋ० । भुरिक्त्रिष्टुप्छन्दः । उखा देवता । मृदुपर्युखास्थापने वि० ॥ ३४ ॥

विधि–(१) उलूखलके ऊपर विना मंत्र उखाग्रहण करनेके उपरान्त इस उलूखलमें उपाशया [मृत्तिकाविशेष] को पीसकर इसको उलूखलके सम्मुख

रखकर उसके ऊपर इस कण्डिका और पर कण्डिकाके दो मंत्रोंसे उखा स्थापन करै [का० १७ । ५ । ४] मंत्रार्थ-हे उखे ! (धरुणा) जगतकी धारण करनेवाली तुम (ध्रुवा) स्थिर (असि) हो (जातवेदाः) अग्नि (प्रथमम्) पहले (इतः) इस उखासे (अधिजज्ञे) प्रगट हुआ है (एभ्यः) फिर इन अपने (योनिभ्यः) कारणोंसे प्रगट होता है (सः) वह अग्नि अपने अधिकारको (प्रजानन्) भली प्रकार जान्ता हुआ (गायत्र्या) गायत्री (त्रिष्टुभा) त्रिष्टुभ् (च) और (अनुष्टुभा) अनुष्टुभ् छन्दकी सामर्थ्यसे (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (हव्यम्) हविको (वहतु) लेजाओ ॥ ३४ ॥

सरलार्थ-यह अग्नि नित्य होकरभी कभी अरणीकाष्ठादिसे कभी इस उखामृत्तिकासे समुत्पन्न होतीहै, यह प्रज्ञानवान् गायत्री अनुष्टुप्त्रिष्टुप्आदि छन्दोंसे आहुत हविको देवताओंके निकट मेरी प्रदत्त आहुति अवश्य लेजाने योग्य जानकर वहन करै ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५-मन्त्र १ ।

इषेराये रमस्वसहंसेद्युम्नऽऊर्जेऽअपत्याय ॥ सम्म्राडंसिस्वराडंसिसारस्वतौत्वोत्सौप्प्रावताम् ३५॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इषेराय इत्यस्य गोतम ऋ० । निच्यृद्बृहती छं० । उखा देवता । वि० पू० ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ-हे उखे ! (इषे) अन्न (राये) धन (सहसे) बल (द्युम्ने) यश (ऊर्जे) दुग्धदधिघृतादि रस और (अपत्याय) पुत्रपौत्रादि देनेके निमित्त (रमस्व) यहां दीर्घकालपर्यन्त स्थित हो तुम भूमिके (सम्राट्) भलेप्रकार प्रकाशमान (असि) हो स्वर्गके (स्वराट्) स्वयं दीप्तिमान् राजा (असि) हो (त्वा) तुमको (सारस्वतौ) सरस्वतीसम्बन्धी (उत्सौ) वाणी मन अर्थात् मन और वाक्य (प्रावताम्) पालन करें "मनो वै सरस्वान् वाक् सरस्वत्येतौ सारस्वता उत्सौ" इति श्रुतेः [श० ७ । ५ । १ । ३१] अथवा ऋग्वेद और सामवेद तुम्हारी रक्षा करैं "ऋक्साम वै सारस्वतावुत्सौ" इति [तैत्तिरीय०] "द्युम्नं द्योततेर्यशो वान्नं वा" इति [निरु० ५ । ५] ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६-मन्त्र १ ।

अग्नेयुक्ष्वाहियेतवाश्वांसोदेवसाधवंः ॥ अरंवहन्तिमन्यवें ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्न इत्यस्य भरद्वाज ऋषिः। निच्यृद्गायत्री छं०। अग्निर्देवता। उखामध्ये स्रुवाहुतिदाने वि० ॥ ३६ ॥

विधि-(१) इस मंत्र और पर मंत्रसे उखाके मध्यमें स्रुवाहुति प्रदान करै [का० १७। ५। ९] मन्त्रार्थ-(देव) हे दीप्यमान (अग्ने) अग्नि देवता ! (ये) जो (ते) तुम्हारे (साधवः) चतुर श्रेष्ठ (अश्वासः) घोडे (अरम्) शीघ्र तुमको (मन्यवे) यज्ञके निमित्त (वहन्ति) प्राप्त करते हैं (हि) उनकोही (आयुक्ष्व) रथमें जोतो अर्थात् तुम्हारे जो सम्पूर्ण श्रेष्ठ अश्व यज्ञस्थलमें गमनमें अभिलाषितानुरूप तुमको वहन करते हैं उनकोही रथमें योजन करो [ऋ० ४। ९। २९] ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७-मन्त्र १ अनु० ४।

युक्ष्वाहि देवहूतमाँ२ऽअश्वाँ२ऽअग्नेरथीरिव ॥ निहोतापूर्व्यःसदः ॥ ३७ ॥ [११]

ऋष्यादि-(१) ॐ युक्ष्वाहीत्यस्य विरूप ऋषिः। निच्यृद्गायत्री छन्दः। अग्निर्देवता। वि०पू० ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (देवहूतमान्) देवताओंके अतिशय बुलानेवाले (अश्वान्) घोडोंको (हि) अवश्यही (रथी) रथीकी (इव) समान शीघ्र (आयुक्ष्व) उत्साहपूर्वक रथमें योजना करो कारण कि (पूर्व्यः) पुरातन (होता) आह्वान करनेवाले तुम (निषदः) आज इस यज्ञकार्यमें इस स्थलमें स्थान ग्रहण कर स्थित हो [ऋ० ६। ९। २४] ॥ ३७ ॥ [११]

कण्डिका ३८-मंत्र १।

सम्म्यक्स्रवन्ति सरितोनधेनाऽअन्तर्हृदामनसा पूयमानाः ॥ घृतस्यधाराऽअभिचाकशीमिहिरण्ययोवेतसोमद्ध्येऽअग्नेः ॥ ३८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सम्यगित्यस्य विरूप ऋषिः। त्रिष्टुप्छन्दः। लिङ्गोक्ता देवता। हिरण्यप्रासने वि० ॥ ३८ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे चितिकार्यके निमित्त प्राप्त पञ्च पशुओंके मुखमें सुवर्ण प्रासन करावे यह हिरण्यप्रासन कार्य एकपशु यज्ञमें सप्तवार वा पंचवार किया जाता है किन्तु पञ्चपशुयज्ञमें एकबार करै [का० १७। ९। ७] मन्त्रार्थ-(अग्नेः) चितिके (मध्ये) मध्यमें जो (हिरण्ययः) हिरण्यमय (वेतसः)

पुरुष स्थित हैं उसमें (अन्तर्हृदा) हृदयके अन्तर वर्तमान (मनसा) विषयोंकी व्याकुलतारहित श्रद्धावाले मनसे (पूयमानाः) पवित्रकिये हुए (धेनाः) अन्न "अन्नं वै धेना" इति श्रुतेः [७ । ५ । २ । ११] और (घृतस्य धारा) घृतकी धारा (सम्यक्) भलीप्रकार (स्रवन्ति) क्षरण करते हैं (न) जिस प्रकार (सरितः) नदियां समुद्रमें प्राप्त होतीहैं इस प्रकार होमीहुई हवि उस पुरुषको प्राप्तहोतीहै (अभिचाकशीमि) मैं उसको देखताहूँ "अन्तर्वै हृदयेन मनसा सतान्नं पूतं य ऋजु" इति [शि० ७ । ५ । २ । ११] ॥ ३८ ॥

सरलार्थ-अन्तःकरण और हृदयके सहित दियेहुए मनसे पवित्र यह सब अन्न और घृतकी धाराआदि अग्निके मध्यमें स्थित इस हिरण्यय पुरुषके मुखमें वेगवाहिनी नदीकी समान गतिसे सम्यकरूपसे स्रावित होती हैं यह हम अपनी चक्षुसे देखते हैं ॥ ३८ ॥

विशेष-हिरण्यमय पुरुषके उद्देशका यह मंत्र है [ऋ० ३ । ८ । १९][अर्ध] ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मंत्र ५ ।

ऋचेत्त्वा रुचेत्त्वांभासेत्त्वाज्ज्योतिषेत्त्वा ॥ अभूंदिदंविश्वंस्यभुवंनस्यवाजिनमग्नेर्वैश्वानुरस्यं च ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१-२-३) ॐ ऋचे-रुचे-भास-इतिमंत्राणां विरूप ऋ० । दैव्यनुष्टुप्छं० । शकलं दैवतम् । १-२ पशोर्वाम-दक्षिणनासि सुवर्णक्षेपणे ३ वामचक्षुषि सुवर्णक्षेपणेच वि० । (३)ॐज्योतिषेत्वेत्यस्य विरूप ऋ० । दैवी बृहती छं० । शकलं दै० । दक्षिणचक्षुषि सुवर्णक्षेपणे वि० । (५)ॐ अभूदित्यस्य विरू० ऋ० । साम्नी त्रिष्टुप्छन्दः । शकलं दै० । वामकर्णे सुवर्णक्षेपे वि० ॥ ३९ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे पञ्चपशुकी वामनासामें सुवर्ण प्रासन करावै[का० १७। ५।७]मन्त्रार्थ-हे हिरण्यशकल !(ऋचे)दीप्ति वा ऋग्वेद वा होत्रादिसिद्धिके निमित्त (त्वा) तुमको वामनासिकामें प्रासन करताहूं 'डालताहूं' १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे दक्षिण नासामें हिरण्यप्रासन करै [का० १७ । ५ । १३] मंत्रार्थ-हे हिरण्यशकल ! (रुचे) सम्यक् दीप्तिके निमित्त (त्वा) तुझको दक्षिणनासामें प्रासन करताहूं अथवा हे नासिके ! दीप्तिके निमित्त तुमको हिरण्य प्रासन करताहूं २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे वाम चक्षुमें सुवर्णस्पर्श करावे [का० । ५ । १०] मन्त्रार्थ-हे हिरण्यशकल (भासे) कान्तिके निमित्त (त्वा) तुमको वाम चक्षुमें स्पर्श करताहूं ३ । विधि-(४) चौथे मंत्रसे दक्षिण नेत्रमें स्पर्श करावे

मंत्रार्थ–हे हिरण्यखण्ड ! (ज्योतिषे) तेजप्राप्तिके निमित्त (त्वा) तुमको दक्षिण नेत्रमें स्पर्श कराताहूं ४ । विधि–(५) पांचवें मंत्रसे बायें कानमें हिरण्य प्रासन करै [का० १७ । ५ । ११] मन्त्रार्थ–(इदम्) यह श्रोत्र (विश्वस्य) सम्पूर्ण (भुवनस्य) प्राणिसमूह तथा (वैश्वानरस्य) सम्पूर्ण मनुष्योंके हितकारी (अग्नेः) अग्निके (वाजिनम्) वचनको जाननेवाले हैं इनको प्रासन कराताहूं अथवा यह श्रोत्र विश्व भुवनके विशेषतः इस वैश्वानर अग्निके श्रवणेन्द्रियवत् कार्यकारी हैं अथवा यह कोनोंमें प्रास्यमान सुवर्ण सब संसार और वैश्वानर अग्निका तेजजनक होता है इस कारण स्पर्शकराता हूं "अयमग्निर्वैश्वानर इत्युपक्रम्य तस्यैष घोषो भवति यमेतत् कर्णावपिधाय शृणोति" इति श्रुत्यनुवादकोऽयं मन्त्रः ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०–मंत्र १ ।

अ॒ग्निर्ज्योति॑षा॒ ज्योति॑ष्मान्रु॒क्मो वर्च॑सा॒ वर्च॑स्वान् ॥ स॒ह॒स्र॒दा ऽअ॑सि स॒हस्रा॑य त्वा ॥ ४० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अग्निरित्यस्य विरूप ऋ० । प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । शकलं दैवतम् । दक्षिणश्रोत्रे हिरण्यक्षेपे वि० । (२) ॐ सहस्रदा इत्यस्य विरूप ऋ० । आसुरी पंक्तिश्छन्दः । शकलं दैवतम् ॥ शिरोग्रहणे वि० ॥ ४० ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे दक्षिणश्रोत्रमें हिरण्य प्रासन करावे । मन्त्रार्थ–(अग्निः) यह अग्नि (ज्योतिषा) पशुश्रोत्रस्थित हिरण्यकी कान्तिसे (ज्योतिष्मान्) कान्तिमान् है (रुक्मः) रोचमान अग्नि (वर्चसा) सुवर्णकी कान्तिसे (वर्चस्वान्) कान्तिमान् है बाह्यप्रभा ज्योति है और शरीरकी कान्ति वर्च कहलातीहै अथवा श्रोत्रही सुवर्णकी ज्योतिसे अग्निकी समान ज्योतिमान् हो, और सुवर्णकी कान्तिसे वर्चका देनेवाला हो "रुक्म और सुवर्ण पुरुषकी समान हों यह दोनों पक्षमें लगाना" । अथवा रोचमान अग्नि इसी ज्योतिसे ज्योतिष्मान् और इसी कान्तिसे कान्तिमान् है १ । विधि–(२) दूसरे मंत्रसे शिरोग्रहण करै उखा मध्यमें स्थापित करै [का० १७ । ५ । १४] मन्त्रार्थ–हे पुरुष ! तुम (सहस्रदाः) यजमानके सहस्रों अभीष्ट सिद्धकरनेवाले (असि) हो इस कारण (सहस्राय) सहस्रों अभीष्ट लाभके निमित्त (त्वा) तुमको सिद्धकरता हूं ॥ ४० ॥

विशेष–हिरण्यप्रासन और शिरोग्रहण [शिरमें सुवर्ण छुवाना आदि] प्रथम हिरण्यमय पुरुषका करै पश्चात् मेषादिका भी इन्ही मंत्रोंसे स्पर्श करै मुखादिमें एक एक वा पांच २ वा सात २ बार करै [का० १७ । ५ । ११] इसका विस्तार [श० । ७ । ५ । २ । १०] में विशेष है ॥ ४० ॥

कण्डिका ४१–मन्त्र १ ।

आदित्यङ्गर्भम्पयसासमङ्ग्धिसहस्रस्यप्रतिमां विश्वरूपम् ॥ परिवृङ्ग्धिहरसामाभिमंᳬस्त्थाः शतायुषङ्कृणुहिचीयमानः ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ आदित्यमित्यस्य विरूप ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । हिरण्मयपुरुषशिरउपधाने वि० ॥ ४१ ॥

विधि०(१) पूर्व मंत्रसे गृहीत हिरण्मय पुरुषके शिरको उखाके मध्य उपधान अर्थात् स्थापन करै[का० १७।५।१७]मन्त्रार्थ–चयनकार्यमें व्यवहारको प्राप्तहुए हे पुरुष ! (गर्भम्) देवताओंकी उत्पत्तिके स्थान वा पशुओंके ग्रहण पालन करनेवाले कर्मपाशमें वन्धनसे प्राणिमात्र पशु हैं उनके ग्रहण पालन करनेवाले (सहस्रस्य) सहस्रोंकी (प्रतिमा) मूर्ति अथवा बहुत धनोंकी प्रतिमा (विश्वरूपम्) सर्वरूप वा सर्वरूपके प्रकाशक वा जिस्से सर्व रूप होते हैं (आदित्यम्) ऐसे आदित्य स्थिति अग्निको (पयसा) दूधसे (समङ्ग्धि)सिंचित करो, और(हरसा)सम्पूर्ण वीर्यके हरनेवाले अग्निके तेजसे यजमानको (परिवृङ्ग्धि)वर्जित करो, यजमानको (मा) मत (अभिमंᳬस्थाः) मारो और (चीयमानः) चयनको प्राप्त होतेहुए (शतायुषम्) यजमानको शतायु (कृणुहि) करो "हर इति ज्वलतो नाम" [निघं० १ । १७] ॥ ४१ ॥

सरलार्थ–हे पुरुष ! तुम आदित्यवत् तेजस्वी सहस्रपोषी 'वा जगतकी प्रतिमा' सर्वाङ्गसुन्दर हो इस यजमान पुरुषके अमृत सिंचित करो यजमानने तुम्हारा शिर छुआ इस्से क्रोधित मत होना, प्रत्युत यजमानको शतायु करो "पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा" [श० ७ । ५ । २ । १७] ॥ ४१ ॥

अश्वोपकारवर्णन ।

कण्डिका ४२–मन्त्र १ ।

वातस्यजूतिं वरुणस्यनाभिमश्वञ्जज्ञानᳬसरिरस्यमध्ध्ये ॥शिशुन्नदीनाᳬहरिमद्रिबुध्ध्नमग्नेमाहिᳬसीःपरमे व्योमन् ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ वातस्येत्यस्य विरूप ऋषिः । निच्यृत्त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । अश्वशिरउपधाने वि० ॥ ४२ ॥

विधि- (१) पूर्व मंत्रसे गृहीत अश्वशिरस्पर्श करके इस मंत्रसे उखाके ईशानमें उपधान करे। मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने! (वातस्य) वायुकी समान (जूतिः) वेगवाले (वरुणस्य) वरुणदेवताके (नाभिम्) नाभिस्वरूप (सरिरस्य) जलके (मध्ये) मध्यमें (जज्ञानम्) उत्पन्न (नदीनाम्) नदियोंके (शिशुम्) बालक [नदियोंका स्वामी समुद्र इससे समुद्र जिसका पिता नदी उसकी माता होती है] (हरिम्) हरित वर्ण वा मनुष्योंको अपने ऊपर वहन करनेवाले (परमेव्योमन्) इस लोकमें स्थित होनेवाले "इमं वै लोकाः परमं व्योम" इति श्रुतेः [श० ७।५।२।१८] अथवा अनेक उपद्रवोंसे रक्षावाले (अद्रिबुध्नम्) खुरसे महीधरको खोदनेवाले अर्थात् पर्वतोंपर घोडोंके चलनेसे खुरोंसे क्षुद्र पाषाण चूर्ण होनेसे जाना जाता है कि इधरको अश्व गया है इस प्रकार (अश्वम्) इस घोडेको (मा) मत (हिꣳसीः) मारो ॥ ४२ ॥

सरलार्थ-हे अग्नि! वरुणदेवताके नाभिस्वरूप जलके मध्यमें उत्पन्न नदीगणके बालक "अप्सुयोनिर्वा अश्वः" वायुकी तुल्य वेगवान् खुरसे पाषाण क्षुण्ण करनेवाले एक क्षणमें परमाकाशमें लयको प्राप्त होनेवाले हरित वर्ण अश्वका यह मस्तक तुम्हारी रक्षासे रक्षित हो किसी प्रकार नष्ट न हो शिरके रक्षित होनेसे सब अंगकी रक्षा है ॥ ४२ ॥

गवोपकारकथन।

कण्डिका ४३-मंत्र १।

अजस्रमिन्दुमरुषम्भुरण्युमग्निमीडे पूर्वचित्तिन्नमोभिः ॥ सपर्वभिर्ऋतुशः कल्पमानो गाम्मा हिꣳसीरदितिं विराजम् ॥ ४३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अजस्रमित्यस्य विरूप ऋषिः। निच्यृत्त्रिष्टुप्छन्दः। अग्निर्देवता। गोशिरउपधाने वि० ॥ ४३ ॥

विधि-(१) गौका शिरस्पर्श करके उस गौको उखाके अग्निकोणमें स्थापित करै। मंत्रार्थ-(अजस्रम्) क्षयरहित (इन्दुम्) ऐश्वर्यसे युक्त (अरुषम्) रोषरहित अथवा आराधनाके योग्य (पूर्वचित्तिम्) पूर्व महर्षियोंसे चयनके योग्य (नमोभिः) अन्नोंसे (भुरण्युम्) सबके पोषण करनेवाले (अग्निम्) अग्निको (ईडे) स्तुति करताहूं (सः) वह अग्नि (पर्वभिः) अमावस्या आदि पर्व वा इष्टकाओंद्वारा (ऋतुशः) प्रति ऋतुमें (कल्पमानः) कर्मोंको सम्पादन करता हुआ (अदितिम्) अखंडित अदीन (विराजम्) दुग्धदानादिसे विराजमान "तस्यै

शृतं तस्यै शरः'' इति [३ । ३ । २] दश ऐश्वर्य होनेसे गौ विराट है, (गाम्) गौको (मा) मत (हिꣳसीः) मारो अर्थात् अखण्डनीय शक्तिमान् विराट पुरुषमें लयरूप गौका मस्तक तुम्हारी रक्षासे रक्षित हो, इसमें पीडा न हो इसीसे सब अंगोंकी रक्षा है ॥ ४३ ॥

अव्युपकारवर्णन ।

कण्डिका ४४-मंत्र १ ।

वरूत्रीन्त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमविं जज्ञानाꣳरजसः परस्मात् ॥ महीꣳसाहस्रीमसुरस्य मायामग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन् ॥ ४४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वरूत्रीमित्यस्य विरूप ऋषिः । निच्यृत्त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । अविशिरउपधाने वि० ॥ ४४ ॥

विधि-(१) उखाके वायुकोणमें स्थितकर अजाका शिरस्पर्श करै । मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (परमे) उत्कृष्ट (व्योमन्) रणस्थानमें स्थापित (त्वष्टुः) रूपोंकी (वरूत्रीम्) निर्माण करनेवाली (वरुणस्य) वरुणकी (नाभिम्) नाभि तुल्य रक्षणीय (परस्मात्) दिक्‌रूप (रजसः) लोकसे (जज्ञानम्) जायमान "श्रोत्रं वै परमꣳ रजो दिशो वै श्रोत्रं दिशः परमꣳ रजः" इति [७ । ५ । २ । २०] श्रुतेः । अथवा प्रजापतिके रजोगुणसे उत्पन्न (महीम्) बडी (साहस्रीम्) सहस्र मूल्यके योग्य सहस्रों उपकारसाधक (असुरस्य) प्राणियोंको प्रज्ञा देने-वाली (अविम्) अविको (मा) मत (हिꣳसीः) नष्ट करो ॥ ४४ ॥

सरलार्थ-हे अग्ने ! वरुणदेवताके नाभिस्वरूप दिशा विदिशा सर्वत्रही बारबार होनेवाले त्वष्टागण जिसके रोमसे असुरोंके मोहनकारी सहस्र सहस्र मूल्यके उत्कृष्ट वरूत्री शाल दुशाले निर्माण करते हैं इस प्रकारकी आवि परमाकाशमें लय है उसका शिर तुम्हारी रक्षासे रक्षित है यह विनष्ट न हो ॥ ४४ ॥

विशेष-इस मंत्रसे प्रगट है कि पूर्वकालमेंभी बहुमूल्य ऊर्णावस्त्र बनाये जाते थे और त्वष्टा संज्ञा शालनिर्माताओंकी थी ॥ ४४ ॥

अजोपकारवर्णन ।

कण्डिका ४५-मंत्र १ ।

यो ऽअग्निरग्नेरध्यजायत शोकात्पृथिव्या ऽउत वा

द्दिवस्प्परि ॥ येनंप्प्रजाव्विश्वकर्म्माजुजानुतम ग्ग्नेहेडुऽपरितेव्वृणक्तु ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ योग्निरित्यस्य विरूप ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । अजोपधाने वि० ॥ ४५ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे उखाके नैर्ऋतकोणमें अजाको शिरस्पर्शकर स्थापित करै अजाउपकारवर्णन । मंत्रार्थ-(यः) जो (अग्निः) अग्निरूप अज (अग्नेः) प्रजापतिके (शोकात्) शोक अर्थात् अग्निसन्तापसे (अध्यजायत) उत्पन्न हुआ (उत) और (दिवः) द्युलोकके (पृथिव्याः) पृथ्वीके शोकरूप अग्निसे (परि) उत्पन्न हुआ "यद्वै प्रजापतेः शोकादजायत तद्दिवश्च पृथिव्यै च शोकादजायत" इति [७ । ५ । २ । २१] श्रुतेः (विश्वकर्मा) प्रजापतिने (येन) जिस अज अर्थात् वाग्रूपसे (प्रजाः) प्रजाको (जजान) उत्पन्नकिया है "वाग्वा अजो वाचो वै प्रजा विश्वकर्मा जजान" इति [७ । ५ । २ । २१] श्रुतेः (अग्ने) हे चिति अग्निदेव ! (ते) तुम्हारा (हेडः) क्रोध (तम्) उस अजको (परिवृणक्तु) त्यागै । माधवाचार्य कहतेहैं पृथ्वीपर स्थित और द्युलोकपर स्थित दीप्तियुक्त अग्निरूप प्रजापतिसे अग्निरूप अज उत्पन्न हुआ विश्वकर्माने जिसके द्वारा पशुओंको उत्पन्न किया "ततोऽजस्तूपरः समभवत्तꣳ स्वायै देवताया आलभत ततो वै प्रजाः पशूनसृजत" [तैत्तिरीय०] शेषं पूर्ववत् ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६-मंत्र १ ।

चित्रन्देवानामुदगादनीकञ्चक्षुर्म्मित्रस्यवरुणस्याग्ग्नेः ॥ आप्प्राद्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षꣳसूर्य्यऽआत्त्माजगतस्तस्त्थुषश्च्च ॥ ४६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ चित्रं देवनामित्यस्य विरूप ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्दे० । आहुतिदाने वि० ॥ ४६ ॥

विधि-(१) इस मंत्रका प्रथमार्धपाठ करके स्रुवद्वारा प्रथमाहुति और दूसरा मंत्रपाठकर दूसरी आहुति हिरण्यमय पुरुषके शिरपर प्रदानकरे [का० १७।५।१८] इसकी व्याख्या ७ । ४२ में होगई ॥ ४६ ॥ [९]

कण्डिका ४७-मंत्र २ ।

इमम्माहिꣳसीर्द्द्विपादम्पशुꣳसहस्राक्षोमेधायचीय

मा॒नꣳ॥ म॒युम्प॒शुम्मेध॑मग्ग्रे जुषस्व॒ तेन॑ चिन्वा॒न स्त॒न्वो॒ निषी॑द ॥ म॒युन्ते॒ शुगृ॑च्छतु॒ यन्द्वि॒ष्मस्त न्ते॒ शुगृ॑च्छतु ॥ ४७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इमम्मेत्यस्य मन्त्रद्वयस्य विरूप ऋषिः । विराड् ब्राह्मी पंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता । पुरुषशिरउपस्थाने वि० ॥ ४७ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु चित्याग्नि वेदीके निम्न बाहिर दक्षिणमें उत्तरमुख स्थित होकर यहांसे लेकर पांच कण्डिकात्मक मंत्रपाठ पूर्वक यथाक्रमसे पुरुषादि पांच पशुओंके शिरोपस्थान करै यदि एकपशु यज्ञ हो तो एकहीके मस्तकपर पांचवार पांच मंत्र पढकर उपस्थान करै प्रथम पुरुषशिरउपस्थान [का० १७ । ५ । १९] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (मेधाय) यज्ञके निमित्त (चीयमानः) चयनकिये हुए (सहस्राक्षः) सहस्रों नेत्रवाले सुवर्णखण्ड रूप सहस्रनेत्र तुम (इमम्) इस (द्विपादम्) पुरुष रूप (पशुम्) पशुको (मा) मत (हिꣳसी) पीडा देना "द्विपाद्वा एव पशुर्यत् पुरुषः" इति [७ । ५ । २ । ३२] श्रुतेः । और पीडाकी इच्छा हो तो (मेधम्) पवित्र (मयुम्) तुरङ्गवदन किम्पुरुष (पशुम्) पशुको (जुषस्व) सेवन करो "किम्पुरुषो वै मयुः" इति [७ । ५ । २ । ३२] श्रुतेः "कोई आचार्य अश्ववदन कृष्ण मृगको कहते हैं" (तेन) उसके सेवनसे (तन्वः) ज्वालारूपशरीर (चिन्वानः) पुष्टकरते हुए तुम (निषीद) यहां स्थित हो १ । (ते) तुम्हारा (शुक्) सन्ताप (मयुम्) किम्पुरुषको (ऋच्छतु) प्राप्त हो (यम्) जिस्से हम (द्विष्मः) द्वेषकरते हैं (ते) तुम्हारा (शुक्) सन्ताप (तम्) उसको (ऋच्छतु) प्राप्त हो ॥ ४७ ॥

कण्डिका ४८-मंत्र १ ।

इ॒मम्मा हि॑ꣳसी॒रेक॑शफम्प॒शुङ्क॑निक्र॒दं वा॒जिनं॑ वा॒जिने॑षु ॥ गौ॒रमा॑र॒ण्यमनु॑ ते दि॒शामि॒ तेन॑ चिन्वा॒ नस्त॒न्वो॒ निषी॑द ॥ गौ॒रन्ते॒ शुगृ॑च्छतु॒ यन्द्वि॒ष्मस्त न्ते॒ शुगृ॑च्छतु ॥ ४८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इमंमे इत्यस्य विरूप ऋषिः । निचृद्ब्राह्मी पंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता । अश्वशिरउपस्थाने वि० ॥ ४८ ॥

विधि-(१) अश्वका शिर उपस्थान करै । मन्त्रार्थ-हे अग्ने ! (इमम्) इस (कनिक्रदम्) अत्यंत हींसनेवाले (वाजिनेषु) वेगवालोंमें (वाजिनम्) वेगवाले (एकशफम्) एक खुर-

वाले घोडे "एकशफो वा एष पशुर्यदश्वः" [७ । ५ । २ । ३३] इति श्रुतेः (पशुम्) पशुको (मा) मत (हिꣳसीः) पीडा देना (ते) तुम्हारे निमित्त (आरण्यम्) वनके (गौरम्) गौरवर्ण मृग (अनुदिशामि) देताहूं (तेन) उससे (तन्वः) शरीर (चिन्वानः) पुष्ट करते हुए तुम (निषीद) यहां स्थित हो (ते) तुम्हारा (शुक्) सन्ताप (गौरम्) अश्वकी समान गौर मृगको (ऋच्छतु) प्राप्त हो और (यम्) जिससे हम (द्विष्मः) द्वेष करैं (तम्) उसको (ते) तुम्हारा (शुक्) सन्ताप (ऋच्छतु) प्राप्त हो ॥ ४८ ॥

विशेष—"अनुदिशामि" का अर्थ देनेमें वा बतानेमें है अर्थात् बताताहूं॥४८॥

कण्डिका ४९—मंत्र १ ।

इमꣳसाहस्रꣳशतधारमुत्सं व्यच्यमानꣳसरिरस्य मध्ये ॥ घृतन्दुहानामदितिञ्जनायाग्ने माहिꣳसीः परमे व्योमन् ॥ गवयमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद ॥ गवयन्ते शुगृच्छतु यन्द्विष्मस्तन्ते शुगृच्छतु ॥ ४९ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ इमंसाहस्रमित्यस्य विरूप ऋषिः । कृतिश्छन्दः । अग्निर्देवता । गोशिरउपधाने वि० ॥ ४९ ॥

विधि—(१) गोकी रक्षामें प्रार्थनाकरै गौका मस्तक स्पर्श करै । मन्त्रार्थ—(अग्ने) हे अग्निदेव ! (परमे व्योमन्) उत्कृष्ट स्थानमें स्थित (इमम्) इस साहस्रम् सहस्रमूल्यके योग्य वा सहस्रोंउपकार करनेमें समर्थ (शतधारम्) शत-संख्याक क्षीरधारासे युक्त (उत्सम्) कूपकी सदृश दूधके सोतेवाली (सरिरस्य) लोकोंके (मध्ये) मध्यमें (व्यच्यमानम्) अनेकप्रकारसे व्यवहारको प्राप्त "इमे वै लोकाः सरिरम्" इति [७ । ५ । २ । ३४] श्रुतेः । (जनाय) समस्तजनोंके हितके निमित्त (घृतम्) घृतके कारण) दुहानाम्) दूधकी देनेवाली (अदितिम्) अखण्डित गौको (माहिꣳसीः) पीडा मत देना यदि पीडा देनेकी इच्छा हो तौ (आरण्यम्) वनके (गवयम्) गवय पशु गोसदृशको (ते) तुम्हारे निमित्त (अनुदिशामि) देताहूं (तन्वः) अपना शरीर (तेन) उसीसे (चिन्वानः) पुष्ट करते हुए तुम (निषीद) यहां स्थित हो (ते) तुम्हारी (शुक्) ज्वाला (गवयम्) गवयको (ऋच्छतु) प्राप्तहो (यम्) जिससे हम (द्विष्मः) द्वेषकरतेहैं (तम्) उसको (ते) तुम्हारी (शुक्) ज्वाला (ऋच्छतु) प्राप्त हो ॥ ४९ ॥

विशेष-वेदने गौका महान् उपकार वर्णन किया है यह पशु उपकारसाधनके निमित्त सृजे हैं ॥ ४९ ॥

कण्डिका ५०-मंत्र २ ।

इमम्मूर्णायुं वरुणस्य नाभिन्त्वचम्पशूनान्द्विपदाञ्चतुष्पदाम् ॥ त्वष्टुः प्रजानाम्प्रथमञ्जनित्रमग्ने मा हिᳬसीः परमे व्योमन् ॥ उष्ट्रमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद ॥ उष्ट्रन्ते शुगृच्छतु यन्द्विष्मस्तन्ते शुगृच्छतु ॥ ५० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इममित्यस्य विरूप ऋषिः। कृतिश्छं०। अग्निर्देवता। अविशिरउपस्थाने वि० ॥ ५० ॥

विधि-(१) अविका शिर स्पर्शकर रक्षा प्रार्थना । मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (परमेव्योमन्) उत्कृष्ट स्थानमें स्थित (इमम्) इस (ऊर्णायुम्) ऊनसे युक्त (वरुणस्य) वरुणकी (नाभिम्) नाभि अर्थात् सन्तानकी समान प्रिय (द्विपदाम्) मनुष्यों (चतुष्पदाम्) चौपायें दोनों प्रकारके (पशूनाम्) पशुओंकी (त्वचम्) कम्बलादि द्वारा आच्छादन करनेसे त्वचास्वरूप वा त्वचाकी रक्षक (त्वष्टुः) प्रजापतिकी प्रजामें (प्रथमम्) पहले (जनित्रम्) उत्पन्न अविको (मा) मत (हिᳬसीः) पीडादो "एतद्ध त्वष्टा प्रथमᳬरूपं विचकार" इति [७ । ५ । २ । ३५] श्रुतेः (आरण्यम्) वनके (उष्ट्रम्) उष्ट्र (ते) तुमको (अनुदिशामि) उपदेश करता हूं (तन्वः) शरीर (तेन) उसके द्वारा (चिन्वानः) पुष्टकरते हुए तुम (निषीद) यहां स्थित हो (ते) तुम्हारी (शुक्) ज्वाला (उष्ट्रम्) वनेले ऊंटको (ऋच्छतु) प्राप्त हो (यम्) जिस्से (द्विष्मः) हम द्वेषकरैं (तम्) उसको (ते) तुम्हारी (शुक्) ज्वाला (ऋच्छतु) प्राप्त हो ॥ ५० ॥

विशेष-प्रजापतिकी सृष्टिमें प्रथम अवि उत्पन्न हुई हैं [श० ७ । ५ । २ । ३५] ॥ ५० ॥ [प्रजानांप्रथमंजनित्रम्]

कण्डिका ५१-मंत्र १ ।

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्रे ॥ तेन देवा देवतामग्रमायँस्तेन रोहमायन्नुप मे

द्भ्यासं ॥ शरभमारण्यमनुतेदिशामितेनचि न्वानस्तन्वोनिषीद ॥ शरभन्तेशुगृच्छतु यन्द्वि ष्मस्तन्तेशुगृच्छतु ॥ ५१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अज इत्यस्य विरूप ऋषिः । भुरिक्कृतिश्छं० । अग्निर्देवता । अजशिरउपस्थाने वि० ॥ ५१ ॥

विधि–अजाशिरोपस्थान रक्षा प्रार्थना । मन्त्रार्थ–(हि) निश्चय (अजः) अज (अग्नेः) प्रजापतिरूप अग्निके (शोकात्) शोकसे (अजनिष्ट) उत्पन्न हुईहै (सः) उसने (अग्रे) आगे (जनितारम्) अपने उत्पन्न करनेवालेको (अपश्यत्) देखा "यद्वै प्रजापतेः शोकादजायत तदग्नेः शोकादजायत" इति [७ । ५ । २ । ३६] श्रुतेः (देवाः) देवता (तेन) उसके द्वारा (अग्रम्) पूर्वजन्ममें यज्ञादिकर्म करके (देवताम्) देवत्वको (आयन्) प्राप्तहुए तथा (मेध्यासः) यज्ञके योग्ययजमान (रोहम्) स्वर्गको (तेन) इसीके द्वारा (उपायन्) प्राप्त हुए हैं अर्थात् इस अजाके द्वारा यज्ञादि सम्पन्न कर अनेक देवभावको प्राप्त हुए हैं और अब भी यजमानगण इस अजाके प्रभावसे स्वर्गारोहणके उपयुक्त होते हैं इस कारण हे अग्ने ! इसके शिरको पीडा मत देना (आरण्यम्) वनका (शरभम्) शरभ नामक सिंहघाती आठ चरणका मृग (ते) तुमको (अनुदिशामि) देताहूं (तन्वः) शरीर (तेन) उसके द्वारा (चिन्वानः) पुष्टिको प्राप्त करते हुए तुम यहां (निषीद) स्थित हो (ते) तुम्हारी (शुक्) ज्वाला (शरभम्) शरभके प्रति (ऋच्छतु) प्राप्त हो (यम्) जिस्से (द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं (तम्) उसको (ते) तुम्हारी (शुक्) ज्वाला (ऋच्छतु) प्राप्त हो ॥ ५१ ॥

प्रमाण–"आत्मनो वपामुदखिदत्तामग्निः प्रगृह्णात्ततोजस्तूपरः समभवत्" इति तैत्तिरीयेपि । तैत्तिरीय श्रुतिमें लिखा है कि प्रजापतिने प्रजा सृष्टिकी कामनासे यज्ञ प्रारम्भ किया और अपनी वपा खनन करके अग्निमें हवन की उस प्रज्वलित अग्निमें यज्ञकी प्रधान सम्पत्ति शृङ्गशून्य अजा उत्पन्न हुई ॥ ५१ ॥

विशेष–इन मंत्रोंसे पशुओंकी रक्षा तथा उनके गुणकथन कर यज्ञका उपदेश कियाहै पशुओंका रक्षण विधान कियाहै आशय यह कि जब प्रजापति इस प्रकारसेभी यज्ञकरते हुए तब मनुष्योंको द्रव्यसे तो करना चाहिये ॥ ५१ ॥

कण्डिका ५२–मंत्र १ ।

त्वंय्यविष्ठदाशुषोनॄंःपाहिशृणुधीगिरंः ॥

रक्षातोकमुतत्त्मना ॥ ५२ ॥ [६]

ऋष्यादि-(१) ॐ त्वमित्यस्य उशना ऋषिः । निच्यृद्गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । चित्युपस्थाने विनि० ॥ ५२ ॥

विधि-(१) अनन्तर वेदीके बाहर आकर इस मंत्रसे चित्योपस्थान करै [का० १७ । ६ । १] मन्त्रार्थ-(यविष्ठ) हे अतिशयतरुण अग्ने ! (त्वं) तुम (गिरः) हमारी स्तुतियोंको (शृणुधी) श्रवणकरो (दाशुषः) हविदेनेवाले यजमानके (नॄन्) मनुष्योंकी (पाहि) रक्षाकरो (उत) और (आत्मना) अपने(तोकम्) यजमानके अपत्यको (रक्ष) रक्षाकर अर्थात् यजमानके वंशकी रक्षाकरो [ऋ०६। ६ । ९] ॥ ५२ ॥ [६]

कण्डिका ५३-मंत्र २०. अनुवाक ६.

अपान्त्वेमंन्त्सादयाम्म्युपान्त्वोद्मंन्त्सादयाम्म्युपान्त्वाभस्म्मंन्त्सादयाम्म्युपान्त्वाज्ज्योतिंषिसादयाम्म्युपान्त्वायंनेसादयाम्म्यर्णवेत्त्वासदंनेसादयामिसमुद्रेत्त्वासदंनेसादयामिसरिरेत्त्वासदंनेसादयाम्म्युपान्त्वाक्षयेंसादयाम्म्युपान्त्वासधिंषिसादयाम्म्युपान्त्वासदंनेसादयाम्म्युपान्त्वासधस्त्थेंसादयाम्म्युपान्त्वायोनौसादयाम्म्युपान्त्वापुरीषेसादयाम्म्युपान्त्वापाथंसिसादयामिगायत्त्रेणंत्त्वाच्छन्दंसासादयामित्त्रैष्टुभेनत्त्वाच्छन्दंसासादयामिजागंतेनत्वाच्छन्दंसासादयाम्म्यानुंष्टुभेनत्त्वाच्छन्दंसासादयामिपाङ्क्तेनत्त्वाच्छन्दंसासादयामि ॥ ५३ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ अपामिति त्रयाणां मंत्राणामुशना ऋ० । याजुष्यनुष्टुप्छन्दः । इष्टका देवताः । आपस्येष्टकोपधाने वि० ॥ तृतीयपंचमनवमत्रयोदशमंत्राणामुशनाऋ० । याजुषी बृहतीछन्दः । इष्टकादे० । इष्टकोपधानेवि० । चतुर्थदशमैकादश द्वादश चतुर्दश पं

चदश मंत्राणामुशना ऋ० । याजुषी पंक्तिश्छं० । पञ्चसप्तमविंशतिमंत्राणांयाजुषी त्रिष्टुप्छं० । इष्टकोपधाने वि० । षोडशसप्तदशाष्टादशमंत्राणामुशना ऋ० । याजुषी जगती छं० । इष्टका दे०। इष्टकोपधाने वि०। एकादशमन्त्रस्योशना ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छन्दः । इष्टका दे० । इष्टकोपधाने वि० ॥ ५३ ॥

विधि-(१-२०) स्वयमातृणा इष्टकाके पश्चात् गमन करके पूर्वदिशाकी अनुक [संयोगशून्य स्थान दोनों इष्टकाके योग स्थानरहित] सीमामें उपस्थित होकर क्रमसे चारों ओर अनुक प्रान्तमें इस काण्डकाके बीस मंत्रोंसे प्रत्येक अनुकके पांच पांच अनुसार बीस अपस्यानामक इष्टका उपधान करे [का० १७। ६। २] मन्त्रार्थ-हे अपस्या नामक इष्टका! (अपाम्) जलोंके (एमन्) स्थान अर्थात् वायुमें (त्वा) तुमको (सादयामि) स्थापन करताहूं "वायुर्वा अपामेम वायौ ताꣳसादयामि" इति [श० ७। ५। २। ४६] १। हे अपस्या! (त्वा) तुझको (अपाम् ओझन्) ओषधियोंमें (सादयामि) स्थापन करताहूं "ओषधयो वा अपामोद्म" [७। ५। २। ४७] इति श्रुतेः २। हे अपस्या! (त्वा) तुमको (अपाम् भस्मन्) अभ्रमें (सादयामि) स्थापन करताहूं "अभ्रं वा अपां भस्म" [७। ५। २। ४८] इति श्रुतेः ३। हे अपस्या! (त्वा) तुमको (अपां ज्योतिषि) विद्युतज्योतिमें (सादयामि) स्थापन करताहूं "विद्युद्वा अपां ज्योतिः" [श० । ५। २। ४९] ४। हे अपस्या! (त्वा) तुझको (अपाम् अयने) भूमिमें (सादयामि) स्थापन करताहूं "यं वाअपामयनम्" [७। ५। २। ५०] ५। हे अपस्या! (त्वा) तुझको (अर्णवेसदने) प्राणके स्थानमें (सादयामि) स्थापन करता हूं "प्राणो वा अर्णवः" [७। ५। २। ५१] इति श्रुतेः ६। हे अपस्या! (त्वा) तुझको (समुद्रे सदने) मनके स्थानमें (सादयामि) स्थापन करताहूं "मनो वै समुद्रः" [७। ५। २। ५२] इति श्रुतेः ७। हे अपस्या! (त्वा) तुझको (सरिरे सदने) वाणीके स्थानमें (सादयामि) सादनकरताहूं "वाग्वै सरिरम्" [७। ५। २। ५३] इति श्रुतेः ८। हे अपस्या! (त्वा) तुझको (अपांक्षये) चक्षुके निवासमें (सादयामि) स्थापन करताहूं "चक्षुर्वा अपांक्षयः" [७। ५। २। ५४] इति श्रुतेः ९। हे अपस्या! (त्वा) तुमको (अपांसधिषि) श्रोत्रमें (सादयामि) स्थापन करताहूं "श्रोत्रं वा अपाꣳसधिः" [७। ५। २। ५५] इति श्रुतेः १०। हे अपस्या! त्वा तुमको (अपांसदने) द्युलोकमें (सादयामि) स्थापनकरताहूं "द्यौर्वा अपाꣳसदनम्" [७।५। २। ५६] इति श्रुतेः ११। हे अपस्या! (त्वा) तुझको (अपांसधस्थे) अन्तरिक्षमें (सादयामि) सादनकरताहूं "अन्तरिक्षं वा अपाꣳसधस्थम्" [७। ५। २। ५७] इति श्रुतेः १२। हे अपस्या! (त्वा) तुझको (अपांयोनौ) समुद्रमें (सादयामि)

स्थापनकरताहूं "समुद्रो वा अपां योनिः" [७। ५। २। ५८] इतिश्रुतेः १३। हे अपस्या! (त्वा) तुझको (अपांपुरीषे) सिकतामें (सादयामि) स्थापन करताहूं "सिकता वा अपां पुरीषम्" [७। ५। २। ५९] इति श्रुतेः १४। हे अपस्या! (त्वा) तुझको (अपांपाथसि) अन्नोंमें (सादयामि) स्थापन करताहूं "अन्नं वा अपां पाथः" [७। ५। २। ६०] इति श्रुतेः १५। हे अपस्या! (त्वा) तुझको (गायत्रेण छन्दसा) गायत्री छन्दके प्रभावसे (सादयामि) सादन करताहूं १६। हे अपस्या! (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रिष्टुप् छन्दके प्रभावसे (त्वा) तुझको (सादयामि) स्थापन करताहूं १७। हे अपस्या! (त्वा) तुझको (जागतेन छन्दसा) जगती छन्दके प्रभावसे (सादयामि) स्थापन करताहूं १८। हे अपस्या! (त्वा) तुझको (आनुष्टुभेन छन्दसा) अनुष्टुप् छन्दके प्रभावसे (सादयामि) स्थापन करताहूं १९। हे अपस्या! (त्वा) तुझको (पाङ्क्तेन) पंक्ति (छन्दसा) छन्दके प्रभावसे (सादयामि) सादन करताहूं २० ॥५३॥ [१]

कण्डिका ५४-मं० १०. अनु० ७।

अ॒यम्पु॒रो भुव॒स्तस्य॑ प्रा॒णो भौ॑वाय॒नो व॑स॒न्तः प्रा॑णाय॒नो गा॑य॒त्री वा॑स॒न्ती गा॑य॒त्र्यै गा॑य॒त्रङ्गा॑य॒त्रादु॑पा॒ꣳशुरु॑पा॒ꣳशोस्त्रि॒वृत्त्रि॒वृतो॑ रथन्त॒रं व॑सि॒ष्ठ ऋषिः॑ प्र॒जाप॑तिगृहीतया॒ त्वया॑ प्रा॒णं गृ॑ह्णामि प्र॒जाभ्यः॑ ॥ ५४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अयमित्यस्य उशना ऋषिः। दैवी त्रिष्टुप्छन्दः। प्राणभृदिष्टका देवताः। स्वयमातृणेष्टकोपधाने वि०। (२) ॐ तस्येत्यस्य उशना ऋ०। याजुष्यनुष्टुप्छं०। प्राणभृदिष्टका दे०। (३-८) ॐ वसन्तः त्रिवृत् ३।८ इति मन्त्रयोरुशना ऋ०। याजुष्युष्णिक्छं०। (४-५-६) ॐ गायत्री गायत्र्यै गायत्र्यादिति ४। ५। ६ मन्त्राणामुशना ऋ०। याजुषी गायत्री छन्दः। (७-९) उपांशोर्वशिष्ठ इति ७। ९ मन्त्रयोरुशना ऋ०। दैवी पंक्तिश्छं०। प्राणभृदिष्टका दे०। (१०) ॐ प्रजापतिगृहीतयेत्यस्योशना ऋ०। आर्ची गायत्री छन्दः। सर्वेषामिष्टकोपधाने विनियोगः ॥ ५४ ॥

विधि-(१) इसके उपरान्त प्राणभृत्नामक ५० पचास इष्टका उपधानकरनी होतीहैं उनमें इस कण्डिकाके दशमंत्रसे वेदीके दक्षिणअंशसे आरंभकरके स्वयमातृणाइष्टकापर्यन्त दश प्राणभृत इष्टका यथाक्रमसे एकएक क्रमसे उपधान करै [का०

१७ । ६ । ३] शतपथ ब्राह्मणकी श्रुतिमें प्राणभृत्नामक इष्टकाका कारण निर्देश पूर्वक एक गाथा है कि एक समय प्रजापतिकी प्राणवायु देवरूप होकर बहिर्गत होने लगी तब प्रजापतिने पूछा तुम किसकारण गमन करती हो, हमारे निकट स्थिति करो तब प्राणोंने कहा हम अन्नके विना स्थिति नहीं कर सकते, तब प्रजापतिने कहा हम तुम दोनों एक साथ स्थित होकर अन्नसृष्टि करें, इसमें प्राणवायु सम्मत हुए, तब प्रजापति और प्राणवायुने मिलकर इन इष्टका उपधानके फलसे अन्न सृजन किया इस कारण प्राणके भरण पोषण रक्षणकारी यह पंचाश इष्टका प्राणभृत् कहलाती हैं "प्रजापतेर्विस्रस्तात् प्राणा उदक्रामन्" इत्यादि [श० ८ । १ । १ । ३] श्रुतेः । मंत्रार्थ—हे इष्टका ! जो (अयम्) यह (पुरः) प्रथम (भुवः) होनेवाला अग्नि है तू इसके रूपवाली है प्राणही अग्निरूप होकर आगे स्थित होताहे इस कारण अग्नि रूप तुझको उपधान करता हूं अर्थात् भुवनामसे प्रसिद्ध अग्निदेवताको मननकरते सादनकरता हूं "अयं पुरोभुव इत्याग्निर्वै पुरस्तायत्तमाह पुर इति प्राञ्चꣳह्यग्निमुद्धरन्ति प्राञ्चमुपचरन्त्यथ यद्भुव इत्याहाग्निर्भुवोग्नेर्हीदꣳसर्वं भवति प्राणो ह्याग्निर्भूत्वा पुरस्तात्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति" इति [८ । १ । १ । ४] श्रुतेः । इस मंत्रमें प्राणशब्दका उल्लेख है इसीकारण इन मंत्रोंसे संस्कारित इष्टका प्राणभृत् कहातीहै । १ । (प्राणः) प्राण (तस्य) उस भुवनाम अग्निका (भौवायनः) सन्तान है अर्थात् भुवसे विदित भौवायन नामसे प्रसिद्ध प्राणदेवताको मननकरते इष्टकासादन करताहूं "प्राणं तस्माद्रूपादग्नेर्निरमिमीत" इति [८ । १ । १ । ५ ।] श्रुतेः २ । (प्राणायनः) प्राणका पुत्र (वसन्तः) वसन्त ऋतु है अर्थात् जो प्राणसे विदित प्राणायननामसे प्रसिद्ध वसन्त ऋतु देवताको मनन करता इष्टकासादन करताहूं "वसन्तमृतुं प्राणान्निरमिमीत" इति [८ । १ । १ । ५] श्रुतेः ३ । (वासन्ती) वसन्तकी सन्तान (गायत्री) गायत्री है अर्थात् वसन्तसे विदित वासन्ती नामसे प्रसिद्ध गायत्री देवताको मनन करते इष्टकासादन करताहूं "गायत्री छन्दो वसन्तादृतोर्निरमिमीत" इति [८ । १ । १ । ५] श्रुतेः ४ । (गायत्र्यै) गायत्रीसे (गायत्रम्) गायत्र साम उत्पन्न है, अर्थात् गायत्रीसे विदित गायत्र नामसे प्रसिद्ध गायत्रीदेवताको मनन करते इष्टकासादन करता हूं "गायत्र्यै छन्दसो गायत्रꣳसाम निरमिमीत" इति [८ । १ । १ । ५] श्रुतेः ५ । (गायत्र्यात्) गायत्र सामसे उत्पन्न (उपांशुः) उपांशु ग्रह अर्थात् गायत्रस्तोत्रसे विदित उपांशु नामसे प्रसिद्ध ग्रह देवताको मनन करते सादन करताहूं "गायत्र्यात्साम्न उपाꣳशुग्रहं निरमिमीत" इति [८ । १ । १ । ५] श्रुतेः ६ । (उपांशोः) उपांशु ग्रहसे उत्पन्न (त्रिवृत्) त्रिवृत् स्तोम अर्थात् उपांशुसे विदित त्रिवृत् नामसे

प्रसिद्ध स्तोम देवताको मनन करते सादन करताहूं "उपांश्शोर्ग्रहात्त्रिवृतंस्तोमं निरमिमीत" इति [८।१।१।५] श्रुतेः ७। (त्रिवृतः) त्रिवृत्स्तोमसे निर्मित (रथन्तरम्) रथन्तरसाम त्रिवृत् से विदित रथन्तरनामसे प्रसिद्ध सामप्रवर देवताको मननकरते सादनकरताहूं "त्रिवृत्स्तोमाद्रथन्तरं पृष्ठं निरमिमीत" इति [८।१।१।९] श्रुतेः ८। (वसिष्ठः) सर्वजन्तुओंमें अधिष्ठित सर्वाधार वसिष्ठरूप प्राण (ऋषिः) ज्ञाता अर्थात् रथन्तरसे विदित वसिष्ठनामसे प्रसिद्ध ऋषि देवताको मननकरते सादन करताहूं "प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिर्यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठोथो यद्वस्तृतमो वसति तेन एव वसिष्ठः" इति [८।१।१।६] श्रुतेः ९। हे इष्टके! (प्रजापतिगृहीतया) प्रजापतिके द्वारा ग्रहणकीहुई (त्वया) तुम्हारी सहायतासे मैं (प्रजाभ्यः) प्रजाओंके निमित्त नीरोग (प्राणम्) प्राणलाभके निमित्त (गृह्णामि) ग्रहणकरता हूं प्रजाओंकी प्राणसिद्धिके निमित्त तुमको सादनकरता हूं "ये नानाकामाःप्राणे तांस्तद्दधाति सकृत्सादयत्येकं तत्प्राणं करोति" इति [८।१।१।६] श्रुतेः १० ॥ ५४ ॥

कण्डिका ५५-मन्त्र १०।

अयन्दक्षिणा विश्वकर्म्मा तस्य मनो वैश्वकर्म्मणङ्ग्रीष्म्मो मानसस्त्रिष्टुब्ग्रैष्म्मी त्रिष्टुभः स्वारꣳस्वारादन्तर्य्यामोन्तर्य्यामात्पञ्चदशः पञ्चदशाद्बृहद्बृहतो भरद्वाजऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया मनो गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ ५५ ॥

ऋष्यादि-(१-२) ॐ अयं तस्येति मंत्रयोः उशना ऋषिः (याजुषी बृहती छन्दः। मनोभृदिष्टका दे०। प्राणभृदिष्टकोपधाने वि०। (३-४) ॐ ग्रीष्मःत्रिष्टुभ इति मंत्रयोरुशना ऋ०। दैवी पंक्तिश्छंदः। (५) ॐ त्रिष्टुबित्यस्य दैवी बृहती० (६-७-८) ॐ स्वारात् पंचदशात् भरद्वाज इति मंत्राणां याजुषी गायत्री छन्दः। (९) ॐ अन्तर्यामादित्यस्य याजुष्यनुष्टुप्छं० (१०) ॐ प्रजापतिरित्यस्यार्चो गायत्री छं०। वि० पू० ॥ ५५ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकात्मक दश मंत्रोंको वेदीके दक्षिण श्रोणीसे आरंभ करके स्वयमातृणा इष्टकापर्यन्त यथाक्रमसे एक एक करकै और दशप्राणभृत् इष्टका उपधान करै। मन्त्रार्थ-यह इष्टका (विश्वकर्मा) विश्वके निर्माता विश्व-

कर्मा नामसे प्रसिद्ध (अयम्) यह (दक्षिणा) दक्षिणदिशामें आर्यावर्तसे वहन करती है अर्थात् दक्षिणवायु देवताको मनन करते सादन करताहूं "अयं वै वायुर्विश्वकर्मा योयं पवते एष हीदꣳ सर्वं करोतीति तद्यत्तमाह दक्षिणेति तस्मादेष दक्षिणेव भूयिष्ठं वाति तद्रूपमुपदधाति" इति [८ । १ । १ । ७ । श्रुतेः १ । (मनः) मन (तस्य) उस (वैश्वकर्मणम्) विश्वकर्माका अपत्य है अर्थात् विश्वकर्मासे विदित वैश्वकर्म नामसे प्रसिद्ध मनदेवताको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं, "मनस्तस्माद्रूपाद्वायोर्निरमिमीत" इति [८ । १ । १ । ८] श्रुतेः (ग्रीष्मः) ग्रीष्म ऋतु (मानसः) मनका अपत्य है अर्थात् मनसे विदित मानस नामसे प्रसिद्ध ग्रीष्म ऋतुदेवताको मननकरते यह इष्टका सादनकरताहूं "ग्रीष्ममृतुं मनसो निरमिमीत" इति [८ । १ । १ । ८) श्रुतेः ३ । (त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप्छन्द (ग्रैष्मी) ग्रीष्मसे प्रगटहै अर्थात् ग्रीष्मसे विदित ग्रैष्मनामसे प्रसिद्ध त्रिष्टुप्छंद देवताको मननकरते इष्टका सादन करताहूं" त्रिष्टुभं छंदो ग्रीष्मादृतोर्निरमिमीत" इति [८ । १ । १ । ८] श्रुतेः ४ । (त्रिष्टुभः) त्रिष्टुप्छन्दसे (स्वारम्) स्वार साम प्रगट हुआ अर्थात् त्रिष्टुप्छन्दसे विदित स्वारनामसे प्रसिद्ध स्तोत्रदेवताको मननकरते इष्टका सादनकरताहूं "त्रिष्टुभच्छन्दसः स्वारꣳ साम निरमिमीत" इति [८ । १ । १ । ८] श्रुतेः ५ । (स्वारात्) स्वारसामसे (अन्तर्यामः) अन्तर्याम ग्रह हुआ अर्थात् स्वारसे विदित अन्तर्यामनामसे प्रसिद्ध ग्रहदेवताको मननकरते इष्टका सादन करता हूं " स्वारात्साम्नोन्तिर्यामं ग्रहं निरमिमीत" इति [८ । १ । १ । ८] श्रुतेः ६ । (अन्तर्यामात्) अन्तर्यामसे(पञ्चदशः) पञ्चदश स्तोम हुआ अर्थात् अन्तर्यामसे विदित पंचदश नामसे प्रसिद्ध स्तोम देवताको मनन करते इष्टका सादन करताहूं "अन्तर्यामाद्ग्रहात् पञ्चदशꣳस्तोमं निरमिमीत" इति [८ । १ । १ । ८] श्रुतेः ७ । (पञ्चदशात्) पञ्चदश स्तोमसे (बृहत्) बृहत् साम हुआ अर्थात् पंचदशस्तोमसे विदित बृहत् नामसे प्रसिद्ध साम देवताको मनन करते इष्टका सादन करताहूं "पञ्चदशात्स्तोमाद्बृहत्पृष्ठं निरमिमीत" इति [८ । १ । १ । ८] श्रुतेः ८ । (भरद्वाजः) अन्नका धारण करनेवाला मन (ऋषिः) सचेतन अर्थात् बृहत्सामसे विदित भरद्वाज नामसे प्रसिद्ध ऋषिदेवताको मनन करते इष्टका सादन करताहूं "मनो वै भरद्वाज ऋषिः अन्नं वाजो यो वै मनो बिभर्त्ति सोन्नं वाजं भरति तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः " इति [८ । १ । १ । ९] श्रुतेः ९ । हे इष्टके ! (प्रजापतिगृहीतया) प्रजापतिद्वारा सादर ग्रहणकीहुई (त्वया) तुम्हारी सहायतासे (प्रजाभ्यः) प्रजाओंका (मनः) मन (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं अर्थात् प्रजाओंके नीरोग मनलाभ करनेको उद्यत हुआ तुमको सादन करताहूं ॥ ५५ ॥

कण्डिका ५६-मंत्र १० ।

अयम्पुश्चाद्विश्वव्यंचास्तस्यचक्षुर्वैश्वव्यचुसंवु र्षाश्चाक्षुष्ष्युाजगंतीवुार्षीजगंत्याऽऋक्क्सामुमृ क्क्संमाच्छुक्रःशुक्रात्सप्तदशःसप्तदशाद्वैरू पञ्जमदग्निर्ऋषिं÷प्प्रजापंतिगृहीतयात्त्वयाचक्षु र्गृह्णामिप्प्रजाब्भ्यं÷ ॥ ५६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अयमित्यस्य उशना ऋ० । याजुष्यनुष्टुप्छन्दः । चक्षुर्भृदिष्टका दे० । प्राणभृदिष्टकोपधाने वि० । (२) ॐ तस्येत्यस्य उशना ऋ०। याजुषी बृहती छं०। प्राणभृदिष्ट०दे०।(३-४-५)ॐ वर्षा जगती ऋक्सामादिति मंत्राणामुशना ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं०।प्राणभृदिष्टका दे०। (६-७-८) ॐ जगत्याः-शुक्रात्-जमदग्निरिति मंत्राणामुशना ऋ० । याजुषी गायत्री छन्दः । प्राणभृदिष्टका दे० । (९) ॐ सप्तदशादित्यस्योशना ऋ० । याजुष्युष्णिक्छन्दः । प्राणभृदि० दे । (१०) ॐ प्रजापतिगृहीतयेत्यस्योशना ऋ० । आर्ची गायत्री छंदः । प्राणभृदि० दे० । सर्वेषां प्राणभृदिष्टकोपधाने वि० ॥ ५६ ॥

विधि-(१-१०) इस कण्डिकात्मक दश मंत्रोंसे वेदीके उत्तर श्रोणीसे आरंभ करकै स्वयमातृणेष्टकापर्यन्त यथाक्रमसे एक एक करकैं और १० दश प्राणभृत् इष्टका उपधान करै [का०] मन्त्रार्थ-(अयम्) यह (पश्चात्) पश्चिमगामी (विश्वव्यचाः) आदित्य है अर्थात् यह इष्टका विश्वव्यचा नामसें प्रसिद्ध पश्चिमगामी आदित्य देवताको मनन करते सादन करता हूं " असौ वा आदित्यो विश्वव्यचा यदा ह्येवैष उदेत्यथेदꣳ सर्वं व्यचोभवाति तद्यत्तमाह पश्चादिति तस्मादेतं प्रत्यञ्चमेवयन्तं पश्यन्ति" इति [८ । १ । २ । १ ।] श्रुतेः १ । (चक्षुः) नेत्र (तस्य) उस (वैश्वव्यचसम्) रविसे उत्पन्न है अर्थात् विश्वव्यचासें विदित वैश्वव्यचस नामसे प्रसिद्ध चक्षु देवताको मननकरते इष्टका सादन करताहूं " चक्षुस्तस्माद्रूपादादित्यान्निरमिमीत" इति [८ । १ । २ । २] श्रुतेः २। (वर्षा) ऋतु (चाक्षुष्या) चक्षुसे प्रगट है अर्थात् चक्षुसे विदित चाक्षुषनामसें प्रसिद्ध वर्षाऋतु देवताको मनन करते यह इष्टका सादन करता हूं "वर्षाऋतुं चक्षुषो निरमिमीत" इति श्रुतेः [८ । १ । २ । २] ३ । (जगती)

जगतीछन्द (वार्षी) वर्षाऋतुसे प्रगट है अर्थात् वर्षाऋतुसे विदित वार्षी नामसे प्रसिद्ध जगतीछन्ददेवताको मननकरते यह इष्टका सादन करता हूं "जगतीछन्दो वर्षाभ्य ऋतोर्निरमिमीत" इति श्रुतेः ४ । (जगत्यै) जगतीछन्दसे उत्पन्न (ऋक्सामम्)ऋक्साम अर्थात् जगतीछन्दसे विदित ऋक्सामनामसे प्रसिद्ध स्तोत्रदेवताको मनन करते यह इष्टका सादन करता हूं " जगत्यै छन्दस ऋक्साम निरमिमीत" इति श्रुतेः ५ । (ऋक्सामात्) ऋक्सामसे (शुक्रः) शुक्र प्रगट हैं अर्थात् ऋक्सामसे विदित शुक्र नामसे प्रसिद्ध ग्रह देवताको मनन करते यह इष्टका सादन करता हूं "ऋक्सामात् साम्नः शुक्रं ग्रहं निरमिमीत" इति श्रुतेः ६ । (शुक्रात्) शुक्रग्रहसे (सप्तदशः) सप्तदशस्तोम प्रगट हुआ अर्थात् शुक्रग्रहसे विदित सप्तदश नामसे प्रसिद्ध ग्रह देवताको मनन करते इष्टका सादन करताहूं "शुक्राद्ग्रहात् सप्तदशꣳस्तोमं निरमिमीत" इति श्रुतेः ७ । (सप्तदशात्) सप्तदश स्तोमसे (वैरूपम्) वैरूप पृष्ठ हुआ अर्थात् सप्तदश स्तोमसे विदित वैरूप नामसे प्रसिद्ध साम देवताको मनन करते इष्टका सादन करताहूं "सप्तदशास्तोमाद्वैरूपं पृष्ठं निरमिमीत" इति श्रुतेः ८ । (जमदग्निः) वैरूपसे प्रगट चक्षुरूप जमदग्नि (ऋषिः) ऋषि अर्थात् वैरूपसे विदित जमदग्नि नामसे प्रसिद्ध ऋषि देवताको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं अर्थात् सब स्थानपै जानेवाले और देखनेवाले होनेसे चक्षुका नाम जमदग्नि है और सब कुछ जाननेसे वह ऋषि कहलाता है "चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः" इति श्रुतेः [८ । १ । २ । ३] ९ । हे इष्टके ! (प्रजापतिगृहीतया) प्रजापतिद्वारा आदरसे गृहीत (त्वया) तुमको (प्रजार्थम्)। प्रजाके निमित्त (चक्षुः) चक्षुइन्द्रियरूपसे (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं अर्थात् तुम्हारी सहायतासे हम प्रजागणके निमित्त नीरोग चक्षुलाभ करनेमें उद्यत होते तुमको सादन करते हैं "सकृत्सादयत्येकंतच्चक्षुःकरोति" इति [८ । १ । २ । ३] श्रुतेः ॥ ५६ ॥

कण्डिका ५७–मंत्र १।

इदमुत्तरात्स्वस्तस्य श्रोत्रꣳसौवꣳशरच्छ्रौत्र्यनुष्टुप्शारद्यनुष्टुभऽऐडमैडान्मन्थीमन्थिनऽएकविꣳशऽएकविꣳशाद्वैराजं विश्वामित्रऽऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया श्रोत्रं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ ५७ ॥

ऋष्यादि-(१-२-४-५-९)ॐ इदमिति प्रथमद्वितीयचतुर्थपंचमनवम-मंत्राणामुशना ऋषिः । याजुषी गायत्री छन्दः । श्रोत्रभृदिष्टका देवता । (३-६) तृतीयषष्ठमंत्रयोरुशना ऋ० । दैवी बृहती छं० । (७-८) ॐ सप्तमाष्टममंत्रयोरुशना ऋ० । याजुष्युष्णिक्छं० । (९) ॐ प्रजापति-गृहीतयेत्यस्यार्ची गायत्री छन्दः । श्रोत्रभृदिष्टकोपधाने वि० ॥ ५७ ॥

विधि-(१-१०) इस कण्डिकात्मक दशमंत्रोंसे वेदीके उत्तर अंशसे आरंभ करके स्वयमातृणेष्टकापर्यन्त यथाक्रमसे एक२करके और दश श्रोत्रभृत् इष्टका उप-धान करै । मन्त्रार्थ-(इदम्) यह (उत्तरात्) उत्तरदिशामें (स्वः) स्वर्ग है अर्थात् यह इष्टका उत्तरदिशामें स्थित स्वर्गलोकको मनन करते सादन करता हूं " दिशो वा उत्तरात्तद्यत्ता आहोत्तरादित्युत्तरा ह्यस्मा-त्सर्वस्माद्दिशोथ यत्स्वरित्याह स्वर्गो हि लोको दिशः श्रोत्रꣳ ह दिशो भूत्वोत्तरतस्तस्थौ तदेतद्रूपमुपदधाति" इति श्रुतेः [८ । १ । २ । ४] १ (श्रोत्रम्) श्रोत्र (तस्य) उस (सौवम्) स्वर्गके सम्बन्धी हैं अर्थात् स्वर्गलोकसे विदित सौवनामसे प्रसिद्ध श्रोत्रदेवताको मननकरते यह इष्टका सादन करताहूं "श्रोत्रं तस्माद्रूपादिग्भ्यो निरमिमति" इति श्रुतेः २ । (शरत्) शरदृतु (श्रौत्री) श्रोत्रसे उत्पन्न है अर्थात् श्रोत्रसे विदित श्रौत्रीनामसे प्रसिद्ध शरद् ऋतु देवताको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं "शरदृतुꣳ श्रोत्रान्निरमिमीत" इति श्रुतेः [८ । १ । २ । ५] ३ । (अनुष्टुप्) अनुष्टुप्छन्द (शारदी) शरद् ऋतुसे प्रगट है अर्थात् शरद् ऋतुसे विदित शारदी नामसे प्रसिद्ध अनुष्टुप्छन्द देवताको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं "आनुष्टुभं छन्दः शरदृतोर्निरमि-मीत" इति श्रुतेः ४ । (अनुष्टुभः) अनुष्टुभ् छन्दसे (ऐडम्) ऐडसाम प्रगट है अर्थात् अनुष्टुप् छन्दसे विदित ऐड नामसे प्रसिद्ध स्तोत्र देवताको मनन करते यह मन्थी नामसे प्रसिद्ध ग्रह देवताको मनन करते यह इष्टका स्थापन करताहूं " ऐडात् इष्टका स्थापन करताहूं "अनुष्टुप्छन्दस ऐडꣳ साम निरमिमीत" इति श्रुतेः ५ । (ऐडात्) ऐडसामसे (मन्थी) मन्थी ग्रह हुआ अर्थात् ऐडस्तोत्रसे विदित साम्नो मन्थिनं ग्रहं निरमिमति" इति श्रुतेः ६ । (मन्थिनः)मन्थी ग्रहसे (एकविꣳशः) एकविंश स्तोम हुआ अर्थात् मन्थी ग्रहसे विदित एकविंशनामसे प्रसिद्ध स्तोम देवताको मननपूर्वक यह इष्टका स्थापन करताहूं "मन्थिनो ग्रहादेकविꣳशꣳस्तोमं निरमिमीत" इति श्रुतेः ७ । (एकविꣳशात्) एकविंशस्तोमसे (वैराजम्) वैराज पृष्ठ हुआ अर्थात् एकविंशस्तोमसे विदित वैराज नामसे प्रसिद्ध सामदेवताको मनन

-करते यह इष्टका सादन करताहूं "एकविꣳशात् स्तोमाद्वैराजं पृष्ठं निरमिमीत" इति श्रुतेः ८ । (विश्वामित्रः) श्रद्धापूर्वक दूसरेका वाक्य सुननेसे सबका मित्र (ऋषिः) और ज्ञाता श्रोत्र अर्थात् वैराज सामसे विदित विश्वामित्र नामसे प्रसिद्ध ऋषि देवताको मनन करते यह इष्टका सादन करता हूं "श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिर्यदनेन सर्वतः शृणोत्यथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति तस्माच्छ्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिः" इति [८ । १ । २ । ६] श्रुतेः ९ । हे इष्टके ! (प्रजापतिगृहीतया) प्रजापतिके द्वारा आदरसे ग्रहण की हुई (त्वया) तुम्हारी सहायतासे (प्रजाभ्यः) प्रजाओंके निमित्त (श्रोत्रम्) श्रोत्रको (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं अर्थात् तुम्हारी सहायतासे मैं प्रजागणके निमित्त नीरोग श्रोत्रलाभ करनेमें उद्यत हुए तुमको सादन करताहूं "ये नाना कामाः श्रोत्रे तांस्तदधाति सकृत्सादयंत्येकं तच्छ्रोत्रं करोति" इति [८ । १ । २ । ६] श्रुतेः १० ॥ ५७ ॥

कण्डिका ५८—मंत्र १ ।

इयमुपरि मतिस्तस्यै वाङ्माात्या हेमन्तो वाच्यः पङ्क्तिर्हैमन्ती पङ्क्त्यै निधनवन्निधनवतऽआग्रयणऽआग्रयणात्त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशाभ्याꣳ शाक्वररैवते विश्वकर्म्मऽऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया वाचं गृह्णामि प्रजाभ्यो लोकं ताऽइन्द्रम् ॥ "लोकम्पृण च्छिद्रम्पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम् ॥ इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन्योनावसीषदन् ॥ १ ॥ ताऽअस्य सूददोहसः सोमꣳ श्रीणन्ति पृश्नयः । जन्मन्देवानां विशस्त्रिष्वा रोचने दिवः ॥ २ ॥ इन्द्रं विश्वाऽअवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः ॥ रथीतमꣳ रथीनां वाजानाꣳ सत्पतिम्पतिम् ॥ ३ ॥" ॥ ५८ ॥ [५]

इति श्रीशुक्लयजुस्संहितायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इयमित्यस्य उशना ऋषिः । याजुष्युष्णिक्छन्दः । वाग्भृदिष्टका दे० । (२-३-४) ॐ तस्य हेमन्तः पंक्तिरिति मंत्राणां दैवी पंक्तिश्छं० । (५-६)ॐ पंक्त्यै-विश्वकर्म इति मंत्रयोः याजुषी गायत्री छन्दः । (७) ॐ निधनवत इत्यस्य याजुषी बृहती छं० । (८) ॐ आग्रयणा इत्यस्य याजुषी त्रिष्टुप्छन्दः । (९) ॐत्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्यामित्यस्य साम्न्युष्णिक्छन्दः । (१०) ॐ प्रजापतिगृहीतयेत्यस्यार्ची गायत्री छन्दः । वाग्भृष्टिकोपधाने विनियोगः(११-१२-१३) ॐ लोकम्पृणेत्यादित्रयाणां मन्त्राणां विनियोगः पूर्वोक्तः ॥ ५८ ॥

विधि-(१-१०) इस कण्डिकाके प्रथम दश मंत्रोंसे मध्यमें स्थापित रेत और सिक्ताम दो इष्टकाके उत्तरसे प्रदक्षिणक्रमद्वारा एक एक करकै और दशप्राणभृत् इष्टका स्थापन करै । मन्त्रार्थ-(उपरि) सबके ऊपर विराजमान चंद्र (इयम्) यह (मतिः) वाणी है अर्थात् ऊपर विराजमान मतिनामसे प्रसिद्ध चन्द्रदेवताको मनन करते यह इष्टका सादन करता हूं "चन्द्रमा वा उपरि तद्यत्तमाहोपरीत्युपरि हि चन्द्रमा अथ यन्मतिरित्याह वाग्वै मतिर्वाचा हीदꣳ सर्वं मनुते वागद्य चन्द्रमा भूत्वोपरिष्टात्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति" इति श्रुतेः [८ । १ । २ । ७] १। (वाक्) वाणी (तस्यै) उस (मात्या) चन्द्ररूप मतिसे उत्पन्न है अर्थात् मतिसे विदित मात्य नामसे प्रसिद्ध वाक् देवताको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं. "वाचं तस्माद्रूपाच्चन्द्रमसो निरमिर्मीत" इति [८ । १ । २ । ८] श्रुतेः २ । (हेमन्तः) हेमन्त ऋतु (वाच्या) वाणीसे प्रगट है अर्थात् वाक्से विदित वाच्यनामसे प्रसिद्ध हेमन्तऋतु देवताको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं "हेमन्तमृतुं वाचो निरमिमीत" इति श्रुतेः ३ । (पंक्तिः) पंक्तिछन्द (हैमन्ती) हेमन्त ऋतुसे प्रगट है अर्थात् हेमंत ऋतुसे विदित हैमन्तीनामसे प्रसिद्ध पंक्तिश्छन्द देवताको मननकरते यह इष्टका सादन करता हूं "पंक्तिश्छन्दो हेमन्ताद्दतोर्निरमिर्मीत"इति श्रुतेः ॥४॥ (निधनवत्) निधनवत् साम (पंक्त्यै) पंक्तिछन्दसे प्रगट है अर्थात् पंक्तिसे विदित निधनवत्नामसे प्रसिद्ध स्तोत्र देवताको मननकरते यह इष्टका सादनकरताहूं "पङ्क्त्यै छन्दसो निधनवत्साम निरमिमीत" इति श्रुतेः (निधनवतः) निधनवत्सामसे (आग्रयणः) आग्रयणग्रह प्रगट हुआहै अर्थात् निधनवत्स्त्रोत्रसे विदित आग्रयण नामसे प्रसिद्ध ग्रहदेवताको मननकरते यह इष्टका सादनकरताहूं "निधनवतः साम्न आग्रयणं ग्रहं निरमिमीत" इति श्रुतेः ६ । (आग्रयणात्) आग्रयण ग्रहसे (त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ) त्रिणव और त्रयस्त्रिंश दो सामके स्तोम हुए हैं अर्थात् आग्रयण ग्रहसे विदित त्रिणव

और त्रयस्त्रिंश नामसे प्रसिद्ध स्तोमदेवताको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं "आग्रयणात् ग्रहात्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ स्तोमौ निरमिमीत" इति श्रुतेः ७ । (त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशाभ्याम्) त्रिणव त्रयस्त्रिंश नामक स्तोमोंसे (शाकररैवते) शाकर रैवत दो पृष्ठ प्रगट हुए हैं अर्थात् त्रिणव और त्रयस्त्रिंश दो स्तोमसे विदित शाकर और रैवत नामसे प्रसिद्ध दो साम देवताको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं "त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशाभ्याꣳस्तोमाभ्याꣳ शाकररैवते पृष्ठे निरमिमीत" इति श्रुतेः ८ । (विश्वकर्मा) सम्पूर्ण संसारकी करनेवाली (ऋषिः) वाणी है अर्थात् शाकर और रैवत सामसे विदित विश्वकर्मा नामसे प्रसिद्ध ऋषिको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं "वाग्वै विश्वकर्म ऋषिर्वाचा हीदꣳ सर्वं कृतं तस्माद्वाग् विश्वकर्म ऋषिः" इति श्रुतेः [८ । १ । २ ।] ९ । हे इष्टके ! (प्रजापतिगृहीतया) प्रजापतिके द्वारा ग्रहणकीहुई (त्वया) तुम इष्टकाकी सहायतासे (प्रजाभ्यः) प्रजाओंके निमित्त नीरोगता प्राप्तिके निमित्त इन दश मंत्रोंसे (वाचम्) वाणीको (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं इन दश मंत्रोंसे वाणीका ग्रहण है "सकृत्सादयत्येकां तद्वाचं करोति" इति [८ । १ । २ । ९] श्रुतेः १० । पांच कण्डिकाओंमें प्राण मन चक्षु श्रवण वाणी इनका प्रजासे ग्रहण कियाहै इसके दो अर्थ हैं यदि चतुर्थी करैं तौ प्रजाके निमित्त प्राणादिका ग्रहण है पचास इष्टकाके स्थापनकरनेसे यजमानके पुत्र पौत्र पशु आदिके प्राणादि पुष्ट हों यदि पंचमी करै तौ यह अर्थ है कि अनेक लोकोंके प्राणादि मैं ग्रहणकरता हूं अर्थात् सब प्रजा मेरे वशीभूत हो यह आशय है । विधि-(११) अनन्तर ग्यारहवें मंत्रसे दक्षिणकोणसे आरंभ करके मध्यमें और फिर मध्यसे स्वयमातृणा इष्टकापर्यन्त लोकम्पृणेष्टका उपधान करै [का० १७ । ६ । ९] लोकम्पृण इन तीन मंत्रोंकी व्याख्या [१२ । अ० ५४ । ५५ । ५६] काण्डिकामें होगई. सरलार्थ लिखते हैं, हे सम्पूर्ण इष्टका ! इन पचास प्राणभृत् इष्टकाके योजनस्थलमें छिद्रको तुम परिपूर्ण करो अतिदृढ होकर स्थित हो इन्द्राग्नी देवता और विश्वकर्मा देवता तुमको इस स्थलमें स्थापित करते हैं ११ । विधि-(१२) बारहवें मंत्रसे सूददोहसाधिवदन करै [का० १७ । ६ । ९] छूकर पढे । देवताओंका जन्म हुआ, रोचना तीन द्युलोकसम्बन्धी और विश्वके उपकारी नानाविध अन्न और जल इस स्थलमें परिपक्व हुए हैं १२ । विधि-(१३)तेरहवें मंत्रसे पुरीष निक्षेप करै [का० १७ । ६ । ९] जिन देवताकी कीर्तिप्रभा समुद्र पर्यन्त निर्मल व्याप्त है जो रथियोंके मध्यमें एक प्रधान रथी हैं, जिनके प्रसादसे हम अन्नलाभ करते

हैं जो साधुगणके प्रतिपालक हैं उनही इन्द्रदेवताकी सब एक वाक्यसे स्तुति करते हैं ॥ ५८ ॥ [९]

दयानंदसरस्वतीने लोकम्पृणसे-पतिम् तक मूल मंत्रपाठक् छोड दिया है और कहा है सूत्रमें व्याख्या न देखकर यह मंत्र किसीने फिर लिख दिया है उनका यह कहना प्रमाद है कारण कि यज्ञाङ्गका लोप हो जायगा सूत्रकारने पाठ पढा और सब संहिताओंमें विद्यमान है तथा अर्थ भी प्रमाण विरुद्ध किये- हैं भा० का० ।

इति श्रीमाध्यन्दिनीयायां वाजसनेयिसंहितायां पण्डितज्वाला-
प्रसादमिश्रकृतभाषाटीकायां पुष्कराद्यादिचिन्यन्त-
त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

शुभमस्तु ।

अथ चतुर्दशोऽध्यायः १४.

ध्रुवक्षितिःषट्सजूर्ऋतुभिर्मूर्द्धावयो द्विकौ इन्द्राग्नीआयुर्मेपट्कौ आशुस्त्रिवृदेका अग्नेर्भागोस्येकयाचतुष्कौ अष्टावेकत्रिंशत् ॥

तेरहवें अध्यायमें प्रथम चिति प्रकरण वर्णन हुआ है. अर्थात् चिति भूषित करनेको इष्टकासम्भरणके मंत्र कहे हैं. इस अध्यायमें दूसरी तीसरी और चौथी चितिके मंत्र वर्णन किये हैं.

कण्डिका १-मं० १. अनु० १ ।

ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवासिध्रुवंय्योनिमासीदसा ध्रुया ॥ उख्यस्यकेतुम्प्रथमम्पुरस्तादश्विनाध्वर्य्यू सादयतामिहत्त्वा ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐध्रुवक्षितिरित्यस्य उशना ऋषिः । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । अश्विनौ देव० । आश्विनीष्टकोपधाने वि० ॥ १ ॥

विधि-(१) प्रथमादि पांच कण्डिकात्मक मंत्रोंसे अश्विनीसंज्ञक इष्टका- ओंको रेत और सिक नामक इष्टकाओंकी सीमासे उपधान करै अर्थात् इन दो इष्टकाओंके जोडके ऊपर जिस प्रकार इस समय प्राचीरादि जोडते हैं वैसा करै [का० १७ । ८ । १९ ।]

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! तुम (ध्रुवक्षितिः) स्थिर निवासवाली (ध्रुवयोनिः) अचल कारणवाली (उख्यस्य) अग्निके (प्रथमम्) पहले आद्य (केतुम्) प्रथम चिति-रूप स्थानको (जुषाणा) सेवन करतीहुई (ध्रुवा) स्थिर (असि) हो (ध्रुवम्) स्थिर (साधुया) श्रेष्ठ (योनिम्) रेतःसिग्वेला श्रेष्ठ स्थानपर (आसीद) स्थित हो (देवानाम्) देवताओंके (अध्वर्यू) अध्वर्यु अश्विनीकुमार (इह) इस रेतःसिग्वेलामें (त्वा) तुमको (सादयताम्) स्थापन करैं ॥ १ ॥

सरलार्थ—हे इष्टके ! तुम स्वयंध्रुव तुम्हारा कारणभी ध्रुव और तुम्हारा निवास भी ध्रुव है इसकारण इस साधुस्थानमें ध्रुवरूपसे निवासकरो यह स्थान उखाअग्निकी प्रथम कीर्तिपताका है तुम इसका सेवन [आश्रय] करो इस क्रियाके प्रधान अध्वर्यु अश्विनीकुमार तुमको इस स्थलमें सादितकरैं ॥ १ ॥

गाथा—"तेऽश्विनावब्रुवन्" इत्यादि [८ । २ । १ । ३] शतपथ ब्राह्मणमें यहां एक गाथा है देवताओंने अश्विनीकुमारसे प्रार्थना की तुम विख्यात भिषक् हो इस कारण दूसरी चितिसे अनुग्रह प्रकाशकरो उन्होंनें कहा चितिउपधानमें हमे क्या लाभ होगा देवताओंने कहा तुम इस कार्यमें अध्वर्यु होंगे इसको सुनकर वह दूसरी चिति प्रकाशकर उसके अध्वर्यु हुए ॥ १ ॥

प्रमाण—"अयं वै लोकः प्रथमा चितिः" इति [८ । २ । १ । १] श्रुतेः । इसी लोकका नाम प्रथमा चिति है भूमिके ऊर्ध्व और अन्तरिक्षसे पहले २ दूसरी चिति है. "एतां द्वितीयां चितिमपश्यन्यदूर्ध्वं पृथिव्या अर्वाचीनमन्तरिक्षात्तेषामेष लोकः" [श० ८ । २ । १ । २] अथवा "अग्निरुख्यस्तस्यैष प्रथमा केतुर्यत्प्रथमा चितिस्तं जुषाण" इति [८ । २ । १ । ४] श्रुतेः ॥ १ ॥

कण्डिका २—मंत्र १ ।

कुलायिनी घृतवती पुरन्धिः स्योने सीद सदने पृथिव्याः ॥ अभि त्वा रुद्रा वसवो गृणन्त्विमा ब्रह्म पीपिहि सौभगायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ २ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ कुलायिनीत्यस्य उशना ऋषिः । निच्यृद्ब्राह्मी बृहती छं० । अश्विनौ देव० । वि० पू० ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! (कुलायिनी) पक्षीके घौंसलेके आकार घरवाली अर्थात् गृहाकार रेतःसिग्वेलासे युक्त (घृतवती) होमे हुए घृतसे युक्त (पुरन्धिः) नीचे स्थित प्रथम चिति इष्टकाओंकी धारण करनेवाली तुम (पृथिव्याः)

पृथ्वीके (स्योने) सुखदायक (सदने) स्थानमें (सीद) स्थित हो (रुद्राः) रुद्रगण (वसवः) वसुगण सवही (त्वा) तुमको (अभिगृणन्तु) स्तुति करैं (इमाः) इन (ब्रह्म) मन्त्रोंको (सौभगाय) ऐश्वर्यके निमित्त (पीपिहि) आप्यायित अर्थात् वृद्धिकरो यजमानका भाग्योदय हो (अश्विनौ) अश्विनी कुमार (अध्वर्यू) अध्वर्यु (इह) इस स्थलमें (त्वा) तुमको (सादयताम्) स्थापित करैं ॥ २ ॥

प्रमाण-"पृथिवी वै प्रथमा चितिस्तस्यै शिवे स्योने सीद सदने" इति [८।२। १।१।] श्रुतेः। "कुलायमिव वै द्वितीया चितिः" इति [८। २ । १ ।-९] श्रुतेः। इनसे दोनों स्थानका ज्ञान होता है. ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मन्त्र १।

स्वैर्दक्षैर्दक्षपितेह सीद देवाना॑ सुम्ने बृहते रणाय ॥ पितेवैधि सूनवऽआ सुशेवा स्वावेशा तन्वा संविशस्व । अश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ स्वैरित्यस्य उशना ऋषिः । विराड्ब्राह्मी बृहती छन्दः। अश्विनौ देव०। वि० पू० ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! (दक्षपिता) बलकी रक्षाकरनेवाली तुम (देवानाम्) देवताओंके (रणाय) रमणीय (बृहते) वडे (सुम्ने) सुखके निमित्त (इह) इस दूसरी चितिके स्थानमें (स्वैः) अपने (दक्षैः) समर्थोंसे (सीद) स्थित हो और (आ) सब प्रकारसे (सुशेवा) सुखकी देनेवाली (एधि) हो (इव) जिस प्रकार (पिता) पिता (सूनवे) पुत्रके निमित्त सुखदायक होताहै और (स्वावेशा) सुखप्रवेशवाली (तन्वा) शरीरके साथ (संविशस्व) यहां अवस्थानकरो अर्थात् पिता जिस प्रकार अपने पुत्रगणको सुखसेव्य और सुखप्रवेश होताहै तुमभी देवताओंको इसीप्रकारसे हो (अध्वर्यू) अध्वर्यु (अश्विना) अश्विनीकमार (इह) इस स्थानमें (त्वा) तुमको (सादयताम्) स्थापन करै ॥ ३ ॥

प्रमाण-"स्वेन वीर्येणेह सीद" इति [८।२।१।६] श्रुतेः। "स्वावेशेनात्मना संविशस्व" इति श्रुतेः [८। २ । १ । ६] ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मंत्र १।

पृथिव्याः पुरीषमस्यप्सो नाम तान्त्वा विश्वेऽअभि

गृणन्तुदेवाः ॥ स्तोमपृष्ठाघृतवतीहसीदप्रजावं द्दस्म्मेद्द्रविणायंजस्वाश्विनांद्ध्वर्य्यूसादयतामिहत्त्वा ॥ ४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ पृथिव्याः पुरीषमित्यस्य उशना ऋषिः। भुरिग्ब्राह्मी बृहती छं० । अश्विनौ देवते । वि० पू० ॥ ४ ॥

मंत्रार्थ–हे इष्टके ! तुम (पृथिव्याः) पृथिवी अर्थात् पहली चितिके (पुरीष्यम्) पूर्ण करनेवाली (अप्सो नाम) अप्स नाम अर्थात् जलके कारणभूत रसरूप "अथवा जिसका कारण जल अर्थात् जलसे निर्मित" (असि) हो (ताम्) उस प्रथम चितिकी पूरक जलकी रसभूत (त्वा) तुझको (विश्वेदेवाः) सम्पूर्ण देवता (अभिगृणन्तु) सब ओरसे स्तुति करते हैं (स्तोमपृष्ठाः) त्रिवृत् आदि स्तोम रथन्तरादि पृष्ठ जिसमें पढे जाते हैं ऐसी (घृतवती) हवन होने योग्य घृतसेयुक्त तुम (इह) इस दूसरी चितिमें (सीद) स्थित हो (प्रजावत्) पुत्र पौत्रादि प्रजायुक्त (द्रविणा) धन (अस्मे) हमारे निमित्त (आयजस्व) सब ओरसे दो (अध्वर्यू) अध्वर्यु (आश्विना) अश्विनी कुमार (इह) इस स्थानमें (त्वा) तुमको (सादयताम्) स्थापित करैं ॥ ४ ॥

प्रमाण–"पृथिवी वै प्रथमा चितिस्तस्या एतत्पुरीषमिव यत् द्वितीया" इति [८ । २ । १ । ७] श्रुतेः ॥ ४ ॥

कण्डिका ५–मंत्र १ ।

अदित्त्यास्त्वा पृष्ठेसादयाम्म्यन्तरिक्षस्यधर्त्रीविष्टम्भनीन्दिशामधिपत्त्नीम्भुवनानाम् ॥ ऊर्म्मिर्द्रप्प्सोऽअपामसिविश्श्वकर्म्मातऽऋषिरश्विनांद्ध्वर्य्यूसादयतामिहत्त्वा ॥ ५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अदित्यास्त्वेत्यस्य उशना ऋषिः । भुरिक्छकरी छं० । अश्विनौ देवते । वि० पू० ॥ ५ ॥

मंत्रार्थ–हे इष्टके ! (अन्तरिक्षस्य) अन्तरिक्ष भूलोककी (धर्त्री) धारण करनेवाली (दिशाम्) पूर्वादि दिशाओंकी (विष्टम्भनीम्) स्तम्भन करनेवाली (भुवनानाम्) सब प्राणीसमूहोंकी (अधिपत्नीम्) स्वामिनी (त्वा) तुमको

(अदित्याः) प्रथम चितिरूप पृथ्वीके (पृष्ठे) ऊपर (सादयामि) स्थापन करताहूं तुम (अपाम्) जलोंकी (द्रप्सः) रसरूप (ऊर्मिः) तरंगरूप (असि) हो (विश्वकर्मा) प्रजापति (ते) तुम्हारा (ऋषिः) द्रष्टा है (अध्वर्यू) अध्वर्यु (अश्विना) अश्विनीकुमार (त्वा) तुमको (इह) इस स्थानमें (सादयताम्) स्थापित करें ॥ ५ ॥

कण्डिका ६ मंत्र–१ ।

शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः ॥ येऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे ॥ ग्रैष्मावृतूऽअभिकल्पमानाऽइन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ ६ ॥ [६]

ऋष्यादि–(१) शुक्रश्चेत्यस्य उशना ऋषिः । निच्यृदुत्कृतिश्छन्दः] ऋतुर्देवता । ऋतव्येष्टकोपधाने वि० ॥ ६ ॥

विधि–(१) प्रथम चितिसे उपहित ऋतव्य नाम दो इष्टकाके ऊपर इस मंत्रसे ऋतव्या नाम और दो इष्टका स्थापन करे [का० १७ । ८ । १६]

मन्त्रार्थ–(शुक्रः) ज्येष्ठ (च) और (शुचिः) आषाढ (च) भी (ग्रैष्मौ) ग्रीष्म ऋतुसम्बन्धी हैं (ऋतू) हे ऋतुरूप दोनों इष्टकाओ ! तुम (अग्नेः) अग्निके (अन्तः) मध्य (श्लेषः) लग्न (असि) हो अर्थात् अग्निके अन्तःश्लेषरूप कल्पना करते हैं (मम) मेरी (ज्यैष्ठ्याय) उत्कर्षताके निमित्त (द्यावापृथिवी) द्युलोक और भूलोकको (कल्पन्ताम्) कल्पना करो अर्थात् इस कार्यमें नियुक्त तुम एकवाक्य हो कर जगत्में हमारी प्रधानता करो । (अपः) जल (ओषधयः) ओषधी हमारी उत्कृष्टता (कल्पन्ताम्) सम्पादन करें (सव्रताः) समान कर्मवाली (पृथक्) अनेक (अग्नयः) स्वयमातृणा इष्टका मेरी उत्कृष्टता (कल्पन्ताम्) कल्पना करें (इमे) यह (द्यावापृथिवी) द्युलोक और भूलोकके (अन्तरा) मध्यमें वर्तमान (समनसः) समानचित्त (ये) जो (अग्नयः) दूसरोंसे स्थापित की इष्टका हैं (ग्रीष्मौ) ग्रीष्म (ऋतू) ऋतुको (अभिकल्पमाना) सम्पादन करतीं (अभिसंविशन्तु) इस स्थानमें स्थित हो (इव) जैसे (देवाः) देवता (इन्द्रम्) इन्द्रको प्राप्त होते हैं (तया) हे ऋतव्य इष्टका ! उस (देवतया)

देवतासे स्थापित तुम (अङ्गिरस्वत्) अंगिराकी समान (ध्रुवे) दृढ (सीदतम्) स्थित हो अर्थात् जैसे सर्व देवता इन्द्रको आगे कर कार्यक्षेत्रमें प्रविष्ट होते हैं, इसी प्रकार इस द्यावापृथ्वीके मध्यमें जितनी इष्टका विद्यमान हैं वे सब एक मनसे तुमको ग्रीष्म् कालके ऋतुरूप अन्तःश्लेष रूप कल्पना करते इस यज्ञमें अभिनिवेश करैं इस परम देवताके प्रसादसे तुम यहां चिरस्थायी हो ॥ ६ ॥ [६]

कण्डिका ७–मंत्र ९. अनु० २ ।

सुजूर्ऋतुभिः सुजूर्विधाभिः सुजूर्देवैः सुजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्त्वा वैश्वानरायाश्विना ध्वर्यू सादयतामिह त्त्वा सुजूर्ऋतुभिः सुजूर्विधाभिः सुजूर्वसुभिः सुजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्त्वा सुजूर्ऋतुभिः सुजूर्विधाभिः सुजूरुद्रैः सुजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्त्वा सुजूर्ऋतुभिः सुजूर्विधाभिः सुजूरादित्त्यैः सुजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्त्वा सुजूर्ऋतुभिः सुजूर्विधाभिः सुजूर्विश्वैर्देवैः सुजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्त्वा ॥ ७ ॥

ऋष्यादि–(१)ॐ सजूरित्यस्य विश्वेदेवा ऋषयः । आर्षी पंक्तिश्छन्दः । विश्वेदेवा देवता । (२–३) ॐ सजूरिति मंत्रयोः भुरिग्ब्राह्म्युष्णिक्छं० । (४)ॐ सजूरित्यस्य ब्राह्म्युष्णिक्छं० । (५) ॐ सजूरित्यस्य–आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । विश्वेदेवा देवताः । वैश्वदेवीष्टकोपधाने वि० ॥ ७ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकात्मक पांच मंत्रोंसे वैश्वदेवी नामक पंचइष्टका पूर्वादि पांच दिशाओंमें सादनकरैं [का० १७ । ८ । १७] मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! (ऋतुभिः) ऋतुगणके सहित (सजूः) प्रीतिमान् (विधाभिः) जलोंके सहित (सजूः) प्रीतिमान् (वयोनाधैः) वाल्यादि अवस्था प्राप्त करानेवाले प्राणोंके सहित तथा (देवैः) इन्द्रादि देवतोंके साथ (सजूः) प्रेमकरनेवाली (त्वा) तुमको (वैश्वानराय) सबके हितकारी (अग्नये) अग्निदेवताकी तृप्तिके निमित्त ग्रहण करताहूं इस क्रियाके प्रधान (अध्वर्यु) अध्वर्यू (अश्विना) अश्विनीकुमार (त्वा) तुमको (इह) इस दूसरी चितिमें (सादयताम्)सादनकरो "आपो वै विधा अद्भि-र्हीदंछंसर्वं विहितम्" इति [८ । २ । २ । ८ ।] श्रुतेः "प्राणा वै देवा वयोनाधाः प्राणैर्हीदंछंसर्वं वयुनं नद्धम्" इति श्रुतेः [८ ।२। २ ।८।] अथवा "वयोनाधैर्देवैः" छन्दोंसे प्रीतिमान् "अथो छन्दाछंसि वै देवा वयोनाधाश्छन्दोभिर्हीदंछं सर्वं वयुनं नद्धम्" इति [८ । २ । २ । ८ ।] श्रुतेः १ । अथवा ऋतु देवता प्राणोंको उत्पन्न करके उनके साथ सम्मिलित होकर प्रजापतिने जिस प्रकार तुमको उपहित किया इसी प्रकार मैं तुमको धारण करताहूं १ । हे इष्टके ! (ऋतुभिः) ऋतुओंके साथ (सजूः) प्रीतिमान् (विधाभिः) जलोंके सहित (सजूः) प्रीतिमान् (वसुभिः) वसुगणोंके सहित (सजूः) प्रीतिमान् (वयोनाधैः) प्राणोंके साथ (देवैः) देवताओंके साथ (सजूः) प्रीतिमान् (त्वा) तुमको (वैश्वानराय) विश्वके हित-कारी (अग्नये) अग्निदेवताकी तृप्तिके निमित्त ग्रहण करताहूं इस क्रियाके प्रधान (अध्वर्यू) अध्वर्यु (अश्विना) अश्विनीकुमार (त्वा) तुमको (इह) इस दूसरी चितिमें (सादयताम्) सादन करैं २ । [दक्षिणमें] हे इष्टके ! (ऋतुभिः) ऋतुगणके सहित (सजूः) सम्प्रीत (विधाभिः) जलोंके सहित (सजूः) सम्प्रीत (रुद्रैः) रुद्र गणके सहित(सजूः)सम्प्रीत (वयोनाधैः)प्राणोंके सहित (देवैः) देवता-ओंके सहित (सजूः) सम्प्रीत (त्वा) तुमको (वैश्वानराय) विश्वके हितकारी (अग्नये) अग्नि देवताके निमित्त ग्रहण करताहूं इस क्रियाके प्रधान (अध्वर्यू) अध्वर्यु (अश्विना) अश्विनीकुमार (त्वा) तुमको (इह) इस दूसरी चितिमें (सादयताम्) सादन करैं ३ । [उत्तरमें](ऋतुभिः)ऋतुओंसे (सजूः)सम्प्रीत (विधाभिः) जलोंसे (सजूः) सम्प्रीत (आदित्यैः) आदित्यगणोंसे (सजूः) सम्प्रीत (वयोनाधैः) प्राण (देवैः) देवताओंसे (सजूः) सम्प्रीत (त्वा) तुमको (वैश्वानराय) सब विश्वके हितकारी (अग्नये) अग्निदेवताकी प्रीतिके निमित्त ग्रहण करताहूं इस क्रियाके प्रधान (अध्वर्यू)अध्वर्यू (अश्विना) अश्विनीकुमार (त्वा) तुमको (इह) इस दूसरी चितिमें (सादयताम्) सादनकरैं ४ । [ऊपरमें] हे

इष्टके ! (ऋतुभिः) ऋतुगणोंसे (सजूः) सेवित (विधाभिः) प्राणोंसे (सजूः) सम्प्रीत (विश्वैः) सम्पूर्ण (वैश्वदेवैः) देवगणोंसे (सजूः) सम्प्रीत (वयोनाधैः) प्राण (देवैः) देवगणोंसे (सजूः) सम्प्रीत (त्वा) तुमको (वैश्वानराय) सर्व जगत्के हितकारी(अग्नये)अग्निदेवताकी प्रीतिके निमित्त ग्रहण करता हूं इस क्रियाके प्रधान (अध्वर्यू) अध्वर्यू (अश्विना) अश्विनीकुमार (त्वा) तुमको (इह)इस दूसरी चितिमें (सादयताम्) सादन करैं "अश्विना वध्वर्यू सादयतां तद्दतून्न आंजनयंद्दतुभिर्वै सुयुग्भूत्वा" इति [८ । २ । २ । ८] श्रुतेः ॥ ७ ॥

कण्डिका ८–मंत्र १० ।

प्राणम्मेपाह्यपानम्मेपाहिव्यानम्मेपाहिचक्षुर्म्मऽ उर्व्याविभाहिश्श्रोत्रम्मेश्श्लोकय ॥ अपःपिन्वौ षधीर्जिन्वद्विपादवचतुष्पात्पाहिदिवोवृष्टिमेर य ॥ ८ ॥ [२]

ऋष्यादि–(१–३–७–९) ॐ प्राणं व्यानम ओषधीः चतुष्पादिति मंत्राणां विश्वेदे० ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । वायुरापो वा देवताः । (२–५) ॐ अपानंश्रोत्रमिति मंत्रयोर्दैवी त्रिष्टुप्छन्दः । वायुर्देवता । (४) ॐ चक्षुरित्यस्य प्राजापत्या गायत्री छन्दः । वायुर्देवता । (६–८) ॐ अपद्विपादिति मंत्रयोर्विश्वेदेवा ऋषयः । दैवी बृहती छं० । आपो देवताः । प्राणभृदिष्टकोपधाने वि० (१०) ॐ दिव इत्यस्य दैवी जगती छं० । आपो दे० । विनियोगः पू० ॥ ८ ॥

विधि–(१) इस कण्डिकाके प्रथम पांच मंत्रोंसे पूर्वादि पांच दिशाओंमें प्राणभृत् संज्ञक पांच इष्टका स्थापन करैं [का० १७ । ८ । २०] मन्त्रार्थ– हे इष्टके ! तुम (मे) मेरे (प्राणम्) नाभिसे ऊपर चलनेवाली प्राणवायुको (पाहि) रक्षा करो १ । हे इष्टके ! तम (मे)मेरे(अपानम्)नाभिके नीचे चलनेवाली अपान वायुको (पाहि)रक्षा करो२।हे इष्टके!तुम(मे)मेरे (व्यानम्) शरीरसंधिगत वायुको (पाहि)रक्षा करो ३। "प्राणो वै वायुर्वायुमेवास्मिन्नेतद्दधाति" इति श्रुतेः [८ । ३ । २ । ८] हे इष्टके ! तुम (मे)मेरे (चक्षुः) नेत्रोंको (उर्व्या) विस्तीर्ण दृष्टिसे (विभाहि) प्रकाशित करो ४ । हे इष्टके ! (मे) मेरे (श्रोत्रम्) कर्णेन्द्रियको

(श्लोकय) अपर्याप्त श्रवणमें समर्थ करो ९ । विधि-(६ । १०) षष्ठादि पांच मंत्रोंसे अपस्या नाम पांच इष्टका उपधान करै [का० १७ । ८ । २१]

मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! तुम्हारे प्रसादसे यह पृथ्वी (अपः) वृष्टिके जलसे (पिन्व) सिंचित हो ६ । हे इष्टके ! (ओषधीः) औषधियोंको (जिन्व) प्रसन्न करो पुष्ट करो ७ । हे इष्टके ! (द्विपात्) द्विपाये प्राणियोंसे मनुष्यकी (अव) रक्षा करो ८ । इष्टके ! (चतुष्पाद्) चोपायों पशुकी (पाहि) रक्षा करो ९ । हे इष्टके ! (दिवः) द्युलोकमे (वृष्टिम्) वर्षाको (एरय) सब प्रकार प्रेरणा करो १० ॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मंत्र १९. अनु० ३ ।

मूर्द्धा वयः॑ प्रजाप॑तिश्छन्दः॑ क्षत्रं वयो॒ मय॑न्दं छन्दो॑ विष्ट॒म्भो वयोऽधि॑पतिश्छन्दो॑ विश्वक॑र्म्मा वयः॑ परमे॒ष्ठी छन्दो॑ बस्तो वयो॑ विबलं छन्दो॑ वृष्णि॒र्वयो॑ विशालं छन्दः॒ पुरु॑षो॒ वय॑स्तन्द्रं छन्दो॑ व्याघ्रो वयोऽना॑धृष्टं छन्दः॑ सिंहो वय॑श्छदिश्छन्दः॑ पष्ठवाड् वयो॑ बृहती छन्द॑ऽउक्षा वयः॑ ककुप्छन्द॑ऽऋषभो वयः॑ सतोबृ॑हती छन्दो॑ऽनड्वान्वयः॑ ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मूर्धेति १ । ३ । १० । १७ । मंत्राणां विश्वेदेवा ऋषयः । याजुषी पंक्तिश्छन्दः । लिङ्गोक्ता देवताः । ॐ क्षत्रमिति २ । ५ । ६ । ७ । ८ । १३ । १४ । १६ । १८ । १९ मंत्राणां याजुषी बृहती छं० । ॐ ९ । ११ । १५ मंत्राणा याजुष्यनुष्टुप्छं० । ॐ ४ । १२ । मंत्रयोर्याजुषी जगती छन्दः । वयस्येष्टकोपधाने विनियोगः ॥ ९ ॥

विधि-(१) इस कण्डिका और अगली कण्डिकाके १९ मंत्रोंसे दक्षिण उत्तर पश्चिम अनुकान्तमें पांच २ और पूर्वमें चार यह उन्नीस वयस्या नाम इष्टका उपधान करै [का० १७ । ७ । २२] इस मंत्रसे शतपथकी श्रुतिमें निदान कहा है कि प्रथम सृष्टिरचना करते हुए प्रजापतिसे रचनाको प्राप्त हो पशु छन्द रूप धारण कर चले तब प्रजापतिनेभी गायत्री आदि छन्दोंका रूपधारणकर पशु सम्बन्धी उस उस अवस्यासे पशुओंको प्राप्त किया उसीके कहनेवाले यह मंत्र हैं "प्रजापतेर्विस्रस्तात्पशव उदक्रामंश्छन्दाꣳसि भूत्वा तान् गायत्रीछन्दो भूत्वा

चयसाप्नोत्" इति [। ८ । २ । ३ । ९] श्रुतेः । प्रथम चार मंत्रोंसे प्रजापतिके अष्ट अवयवात्मक गायत्रीरूपकी कल्पना करते हैं । मन्त्रार्थ-(प्रजापतिः) प्रजापतिने (छन्दः) गायत्री छन्द होकर (वयः) वयद्वारा (मूर्द्धा) प्रधान [ब्राह्मण] जातिकी रचनाकी है अथवा प्रधान प्रजापति गायत्री-रूप होकर वयद्वारा पशुओंको प्राप्त हुए उस रूपवाली हे इष्टके ! तुमको उपधान करताहूं "ऐसा सर्वत्र मंत्रान्तमें जान्ना" इस मंत्रमें प्रजापतिके दो अवयव कल्पना किये गये हैं "प्रजापतिर्वै मूर्द्धा स वयोऽभवत् प्रजापतिश्छन्द इति प्रजापति रेव छन्दोऽभवत्" इति [८ । २ । ३ । १०] श्रुतेः अर्थात् प्रधान और छन्द प्रजापति हैं १ । (क्षत्रम्) दुःखसे रक्षा करनेवाली क्षत्र (वयः) अवस्था प्रजापति हुए (मयन्दम्) सुख देनेवाले (छन्दः) अनिरुक्त छन्द प्रजापति हुए " क्षत्रं वय इति प्रजापतिर्वै क्षत्रꣳ स वयोभवन्मयन्दं छन्दः" इति अथवा "अनिरुक्तं तन्म-यंदमनिरुक्तो वै प्रजापतिः प्रजापतिरेव छन्दोऽभवत्" इति [८ । २ । ३ । ११] श्रुतेः अर्थात् छन्दके प्रभावसे प्रजापतिने क्षत्रियजातिकी रचना की २ । (अधिपतिः) अधिक पालन करनेवाले (विष्टम्भः) जगत्के स्तंभ-नकर्ता प्रजापति (वयः) उन पशुकी अवस्थावाले (छन्दः) छन्द हुए "प्रजापतिर्वै विष्टम्भः स वयोऽभवदधिपतिश्छन्द इति प्रजापतिर्वा अधिपतिः प्रजा-पतिरेव छन्दोऽभवत्" इति [८ । २ । ३ । १२] श्रुतेः अर्थात् प्रजापतिने छन्दके प्रभावसे स्तम्भनकारी जाति [धनसंचयकारी वैश्य] उत्पन्न की ३ । (परमेष्ठी) परमपदमें स्थित होनेवाले (विश्वकर्मा) सबके स्रष्टा प्रजापति (वयः) वयद्वारा (छन्दः) छन्द हुए अर्थात् प्रजापतिने छन्दके प्रभावसे विविध कर्मचारी [सेवावृत्तियुक्त] शूद्रजाती उत्पन्न की "प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा स वयो-भवत् परमेष्ठी छन्द इत्यापो वै प्रजापतिः परमेष्ठी ता हि परमे स्थाने तिष्ठन्ति प्रजापति रेव परमेष्ठी छन्दोऽभवत्" इति [१३] श्रुतेः ४ । "इस प्रकार प्रति मंत्रमें दो दो अवयवकी कल्पना करके आठ अवयवसे प्रजापति गायत्री रूपसे कल्पित है इस प्रकार आठ संख्यासे युक्त होनेसे सब छन्दप्रकृतिभूत गायत्री छन्द होकर अवस्थाद्वारा आगे कथन किये पन्द्रह पशुओंको प्रजापतिने ग्रहण किया "तानि वा एतानि चत्वारि वयाꣳसि चत्वारि छन्दाꣳसि तदष्टावष्टाक्षरा गायत्र्येषा वैसा गायत्री या तद्भूत्वा प्रजापतिरेव तान् पशून्वयसाप्नोत्" इति [९ । ६ । ३ । १४] श्रुतेः प्रजापतिने (वस्तः) अजा बकरी जातिको (विवलम्) एकपदनामक (छन्दः) छन्दसे (वयः) उसी अवस्थाके अनुसार ग्रहण किया अर्थात् एकपद छन्द रूप होकर गमन करते हुए अजापशुको उसकी अवस्थासे ग्रहण किया इसी प्रकार

आगेके मन्त्रोंमेंभी विभक्तिविपरिणाम करके यही अर्थ श्रुतिके अनुसार जानना कि उस उस छन्दके रूपको धारण कर प्रजापतिने उस २ अवस्थासे उस उस पशुको ग्रहण किया "बस्तो वय इति बस्तं वयसाप्नोद्विवलं छन्द इत्येकपदा विवलं छन्द एकपदा ह भूत्वाजा उच्चक्रमुः" इति [८ । २ । ४ । १]श्रुतेः । अथवा प्रजापतिने एकपद छन्दके प्रभावसे अजा जाति उत्पन्न की है ५ । (विशालम्) द्विपदा गायत्रीरूप (छन्दः) छन्द होकर (वृष्णिम्) सेचनमें समर्थ मेष पशुको (वयः) उसी अवस्थासे ग्रहण किया " द्विपदा वै विशालं छन्दो द्विपदा ह भूत्वा वयं उच्चक्रमुः" इति [८ । २ । ४ । २] श्रुतेः अथवा प्रजापतिने द्विपदा छन्दके द्वारा मेषजातिकी रचना की ६ । (तन्द्रम्) पंक्ति (छन्दः) छन्द होकर जातेहुए (पुरुषम्) किन्नरको(वयः) अवस्थासे ग्रहण किया "पङ्क्तिर्वै तन्द्रं छन्दः पङ्क्तिर्ह भूत्वा पुरुषा उच्चक्रमुः" इति [८ २ । ४ । ३] श्रुतेः । पंक्तिछन्दके प्रभावसे प्रजापतिने पुरुषपशुकी रचना की ७ । (अनाधृष्टम्) विराट् (छन्दः) छन्द होकर जातेहुए (व्याघ्रम्) व्याघ्र पशुको (वयः) उस अवस्थासे प्रजापतिने ग्रहण किया. "व्याघ्र वयसाप्नोदनाधृष्टं छन्द इति विराड् वा अनाधृष्टं छन्दोन्नं वै विराडन्नमनाधृष्टं विराड्भूत्वा व्याघ्रा उच्चक्रमुः" इति [८। २ । ४ । ४] श्रुतेः । अनाधृष्ट छन्दके प्रभावसे व्याघ्रजाति उत्पन्नकी ८ ।(छदिः) अतिजगती आदि (छन्दः) छन्द होकर जातेहुए (सिंहम्) सिंहको (वयः) अवस्थासे ग्रहण किया "सिꣳहं वयसाप्नोच्छदिश्छन्द इत्यतिच्छन्दा वै छदिश्छन्दः सा हि सर्वाणि छन्दाꣳसि छादयत्यतिच्छन्दा ह भूत्वा सिꣳहा उच्चक्रमुः" इति [८ २ । ४ । ५] श्रुतेः । अर्थात् अतिजगतीछन्दके प्रभावसे सिंहजाति सृजन की है९ । "अथातो निरुक्तानेव पशून्निरुक्तानि छन्दाꣳस्युपदधाति" इति [८ । २ । ४ । ५] श्रुतेः । निरुक्तपशुओंको निरुक्तछन्दोंसे ग्रहणकिया(बृहतीछन्दः) बृहतीछन्द होकर जातेहुए (पष्टवाट्) पांचवर्षके पीठपर भार वहनेवाले पशु "गर्दभादि" को(वयः) अवस्था द्वारा ग्रहण किया "पृष्ठवाहं वयसाप्नोत् बृहतीच्छन्द इति बृहती ह भूत्वा पृष्ठवाह उच्चक्रमुः" इति [६]श्रुतेः । अर्थात् प्रजापतिने बृहती छन्दके प्रभावसे पीठ पर बोझ लेजानेवाले पशुओंकी जाति उत्पन्न की है १० । (ककुप्) आदि अन्तमें अष्ट अक्षरके दो चरण, मध्य मध्य का बारह अक्षरका इस प्रकारके ककुप् (छन्दः) छन्द होकर जाते हुए (उक्षा) उक्षाको (वयः) उसी अवस्थासे ग्रहण किया "उक्षाणं वयसाप्नोत्ककुप्छन्द इति ककुब्भूत्वोक्षाण उच्चक्रमुः" इति [७]श्रुतेः ककुप् छन्दके प्रभावसे उक्षाजाति उत्पन्नकी ११ । (सतोबृहती) बारह अक्षरके त्रिपादवाले सतोबृहती (छन्दः) छन्दरूपसे गमन करते

(ऋषभम्) भल्लूकादिको (वयः) उसी अवस्थासे ग्रहण किया "ऋषभं वयसामोत्सतोबृहती छन्द इति सतोबृहती भूत्वर्षभा उच्चक्रमुः" इति [८।२।४।८] श्रुतेः सतोबृहती छन्दके प्रभावसे ऋषभको उत्पन्न किया १२॥९॥

कण्डिका १०–मन्त्र १।

अनड्वान्वयः पङ्क्तिश्छन्दो धेनुर्वयो जगती च्छन्दस्त्र्यविर्वयस्त्रिष्टुप्छन्दो दित्यवाड्वयो विराट्छन्दः पञ्चाविर्वयो गायत्री च्छन्दस्त्रिवत्सो वय उष्णिक्छन्दस्तुर्यवाड्वयोऽनुष्टुप्छन्दो लोकन्ताऽ इन्द्रम्॥ १०॥ [२]

ऋष्यादि–(१) ॐ अनड्वानिति विनियोगादि पूर्ववत्॥ १०॥

मन्त्रार्थ–(पंक्तिः) पंक्ति (छन्दः) छन्द होकर जाते हुए (अनडान्) बलीवर्दको (वयः) उस अवस्थासे ग्रहण किया "अनड्वाहं वयसाप्नोत् पंक्तिश्छन्द इति पंक्तिर्ह भूत्वानड्वाह उच्चक्रमुः" इति [९] श्रुतेः। पंक्तिछन्दके द्वारा अनड्वान् जातिकी रचना की १३। (जगतछिन्दः) जगतछिन्द होकर गमनकरते हुए (धेनुः) धेनुको (वयः) वयसे प्राप्त किया "धेनुं वयसाप्नोज्जगती छन्द इति जगती ह भूत्वा धेनव उच्चक्रमुः" इति [१०] श्रुतेः। जगती छन्दसे प्रजापतिने धेनुजाति उत्पन्न की है १४। (त्रिष्टुप्छन्दः) त्रिष्टुप्छन्द होकर गमनकरतेहुए (त्र्यविः) अठारह मासके पशुको (वयः) वयसे ग्रहण किया. "त्र्यविं वयसाप्नोत्त्रिष्टुप्छन्द इति त्रिष्टुब्भ् भूत्वा त्र्यवय उच्चक्रमुः"[११] इति श्रुतेः। प्रजापतिने त्रिष्टुप्छन्दके प्रभावसे त्र्यविजातिकी रचना कीहै १५। (विराट्छन्दः) विराट्छन्दके रूपसे गमनकरते (दित्यवाट्) धान्यवहन करनेवाले अथवा दो वर्षकी अवस्थाके पशुको (वयः) उसी अवस्थासे ग्रहण किया "दित्यवाहं वयसाप्नोद्विराट्छन्द इति विराड् भूत्वा दित्यवाह उच्चक्रमुः" इति [१२] श्रुतेः। विराट्छन्दके प्रभावसे प्रजापतिने दित्यवाट् जाति उत्पन्नकी १६। (गायत्रीछंदः) गायत्री छन्दसे गमन करते (पंचाविः) ढाई वर्षके पशुको (वयः) उसी अवस्थासे ग्रहण किया "पञ्चाविं वयसाप्नोद्गायत्री छन्द इति गायत्री ह भूत्वा पञ्चावय उच्चक्रमुः" इति [१३] श्रुतेः। गायत्री छन्दके प्रभावसे पंचाविको उत्पन्न किया १७।

(उष्णिक् छन्दः) उष्णिक् छन्द होकर गमन करते (त्रिवत्सः) तीन वत्सरवाले पशुको (वयः) उसी अवस्थासे ग्रहण किया "त्रिवत्सं वयसाप्नोदुष्णिक्छन्द इति उष्णिग्ध भूत्वा त्रिवत्सा उच्चक्रमुः" इति [१४] श्रुतेः । उष्णिक् छन्दके प्रभावसे प्रजापतिने त्रिवत्सा पशुको सृजन किया । १८ (अनुष्टुप्छन्दः) अनुष्टुप्छन्द होकर गमन करते (तुर्यवाट्) चारवर्षके पशुको (वयः) उसी अवस्थासे ग्रहण किया "तुर्यवाहं वयसाप्नोदनुष्टुप्छन्द इत्यनुष्टुब्भू भूत्वा तुर्यवाह उच्चक्रमुः" इति [८ । २ । ४ । १९] श्रुतेः प्रजापतिने अनुष्टुप्छन्दके प्रभावसे तुर्यवाट् जाति उत्पन्नकी है १९ । विधि-बीसवें मंत्रसे दक्षिण श्रोणीके क्रमसे पूर्ववत् लोकम्पृणा उपधान करै [का० १७ । ८ । २४] [अ० १२ कण्डिका ५४ । ५५ । ५६] में व्याख्या होगई । सरलार्थ लिखतेहैं-हे इष्टके ! पूर्व संस्थापित इष्टकाओंके द्वारा आक्रान्त न होना और यहभी आवश्यक है कि सम्पूर्ण अवकाश एक २ क्रमसे पूर्ण करो और इस प्रकार परस्पर सम्मिलित हो जो दोनोंके मध्यमें छिद्र न रहैं अतिदृढतासे स्थित हो इन्द्राग्नी और बृहस्पति देवता तुमको इस स्थानमें स्थापित करैं २० । इक्कीसवें मंत्रसे सूददोहसाधिवदन करै,देवगणका जन्म हुआ, रोचनात्रय द्युलोकसम्बन्धी और विशेष उपकारी अनेक प्रकारके अन्न और जल इस स्थलमें परिपक्व हुए २१ । बाईसवें मंत्रसे पुरीष निर्वपण करै । जिस देवताकी कीर्तिपताका समुद्रपर्यन्त देदीप्यमान है जो रथियोंके मध्यमें एक प्रधान रथी जिनके प्रसादसे हम अन्नलाभ करते हैं जो महात्माओंके प्रतिपालन करनेवाले हैं, उन इन्द्र देवताकी सबही एकवाक्यसे स्तुति करते हैं २२ ॥ १० ॥ [२]

[इति द्वितीया चितिः]

२० । २१ । २२ यह तीन मंत्र मूलमें दयानंदी भाष्यमें छोड दिये गये हैं ॥ १० ॥

[अथ तृतीया चितिः]

कण्डिका ११-मंत्र १. अनु० ४ ।

इन्द्राग्नीऽअव्यथमानामिष्टकान्दृꣳहतंयुवम् ॥ पृष्ठेनद्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षञ्चविबाधसे ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्राग्नी इत्यस्य विश्वेदेवा ऋषयः । भुरिगनुष्टुप्छन्दः । इन्द्राग्नी तथा स्वयमातृणा देवताः । स्वयमातृणेष्टकोपधाने विनियोगः ॥ ११ ॥

विधि-(१) प्रथम मन्त्रसे स्वयमातृणेष्टका उपधान करै [का० १७ । ८ । २५] तीसरी चितिमें आत्माके मध्य स्वयमातृणेष्टका उपधानकीजाती है "इन मंत्रोंके इन्द्राग्नी विश्वकर्मा ऋषि हैं" मन्त्रार्थ-(इन्द्राग्नी) हे इन्द्राग्नी दोनों देवताओ ! (युवम्) तुम दोनो (अव्यथमानाम्) अचल भङ्गतारहित (इष्टकाम्) स्वयमातृणा इष्टकाको (दृꣳहत) दृढ करो । हे स्वयमातृणा इष्टक ! (पृष्ठेन) तुम अपने ऊपरके भागमें (द्यावापृथिवी) पृथ्वी स्वर्ग (च) और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (विबाधसे) वाधित करनेमें समर्थ हो अर्थात् अतिक्रमण करनेमें समर्थ हो ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मन्त्र १।

विश्वकर्म्मा॑त्वासादयत्वन्तरि॑क्षस्यपृ॒ष्ठेव्यचस्वतीम्प्रथ॑स्वतीमन्तरि॑क्षंय्यच्छान्तारक्षन्दृꣳहान्तरिक्षम्माहिꣳसीः ॥ विश्वस्मैप्प्राणायापानायंव्यानायोदानायंप्प्रतिष्ठायैचरित्राय ॥ वायुष्ट्वाभिपातुमह्यास्वस्त्याच्छर्दिषाशन्तमेनतयादेवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवासीद ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्वकर्मेत्यस्य विश्वकर्म ऋषिः । विकृतिश्छन्दः । वायुर्दे० । वि०पू० ॥ १२ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे स्वयमातृणा इष्टका उपधान करै । मन्त्रार्थ-हे स्वयमातृणे ! (विश्वकर्मा) विश्वकर्मा प्रजापति (त्वा) तुम (व्यचस्वतीम्) अवकाशयुक्त (प्रथस्वतीम्) विस्तारवालीको (अन्तरिक्षस्य) अन्तरिक्षके (पृष्ठे) ऊपर (सादयतु) स्थापन करै, हे इष्टके ! तुम (विश्वस्मै) संपूर्ण प्राणियोंके (प्राणाय) प्राण (अपानाय) अपान (व्यानाय) व्यान (उदानाय) उदानकी वृत्तिलाभ अर्थात् वायु वलकी दृढताके निमित्त (प्रतिष्ठायै) स्वगृहकी प्रतिष्ठा और (चरित्राय) शास्त्र आचरण करनेके निमित्त तुम (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (यच्छ) गन्धर्वादि अप्सराओंके धारण योग्य करो (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (दृꣳह) दृढकरो (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (मा) मत (हिꣳसीः) पीडा दो अर्थात् अन्तरिक्षका कोई उपद्रव न हो (वायुः) वायुदेवता (त्वा) तुमको (मह्या) वडी (स्वस्त्या) योगक्षेमकी सम्पत्तिसे (शन्तमेन) शुभकारी

(छर्दिषा) विशेष तेजसे (अभिपातु) सब ओरसे रक्षा करै तुम्हारा अधिष्ठात्री जो देवता है (तया) उस (देवतया) देवतासे अनुगृहीत हुई (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिराकी समान (ध्रुवा) निश्चल (सीद) स्थित हो ॥ १२ ॥

सरलार्थ-हे स्वयमातृणे ! तुम अभिव्यक्ति (प्रगटता) युक्त और विस्तारवाली हो विश्वकर्मा तुमको अन्तरिक्षमें स्थापन करै, हे इष्टके ! तुम अन्तरिक्षको नियमित करो अन्तरिक्षको दृढ करो अन्तरिक्षसे कोई उपद्रव न हो, तुम्हारे प्रसादसे यजमान प्राण अपान व्यान उदानादि समस्त वायुबलको यथेष्ट प्राप्त करै और सच्चरित्र होकर प्रतिष्ठा लाभ करै. वायु देवता कल्याण करनेके निमित्त कल्याण कर तुमको इस स्थलमें प्रतिष्ठित करै, अग्निचयनानुष्ठानके इस कार्यमें तुम इस परम देवताके प्रसादसे ध्रुवत्वलाभ कर स्थित हो ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मंत्र ५ ।

राज्ञ्यसि प्राची दिग्विराडसि दक्षिणा दिक्सम्म्राडसि प्रतीची दिक्स्वराडस्युदीची दिगधिपत्न्यसि बृहती दिक् ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१)राज्ञ्यसीत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । याजुषी गायत्री छं० । दिग्देवता । दिश्येष्टकोपधाने वि० । (२-३) ॐ विराट्सम्राडिति मंत्रयो याजुष्यनुष्टुप्छं० । (४) ॐ स्वराडसीत्यस्य याजुष्युष्णिक्छं० । (५) ॐ अधि पत्न्यसीत्यस्य याजुषी बृहती छन्दः । दिश्येष्टकोपधाने विनि० ॥ १३ ॥

विधि-(१) प्रत्येक दिशामें स्थित प्रत्येक रेत और सिका दो इष्टका वेलासे अनूकके ऊपर इस कण्डिकाके पांच मंत्रोंसे पांच दिश्या नाम इष्टका उपधान करै [का० १७ । ८ । २६] मन्त्रार्थ-हे दिश्याइष्टके ! तुम (राज्ञी) राजमान होती (प्राची) पूर्व (दिक्) दिशा गायत्रीरूप (असि) हो अर्थात् तुमको यह पूर्व दिशा राज्ञी करके सादित करती है १ । हे दिश्या ! (विराट्) नानाप्रकारसे विराजमान तुम (दक्षिणादिक्) दक्षिणादिशा त्रिष्टुप्रूप (असि) हो अर्थात् तुमको दक्षिणदिशामें विराट्करके सादितकरतेहैं २ । हे इष्टके ! (सम्राट्) भलीप्रकार विराजमान तुम (प्रतीची दिक्) पश्चिमदिशा जगती रूप (असि) हो अर्थात् पश्चिम दिशामें सम्राट्करके तुमको सादित करतेहैं ३ । हे दिश्या ! (स्वराट्) स्वयं राजमान तुम (उदीचीदिक्) उत्तरदिशा अनुष्टुप्रूप (असि) हो अर्थात् तुमको उत्तर दिशामें स्वराट्करके सादितकरतेहैं ४ । हे दिश्या ! (अधिपत्नी) अधिक रक्षा करनेवाली

तुम (बृहती) प्रौढ ऊर्ध्व (दिक्) दिशा पंक्तिरूप (असि)हो अर्थात् तुमको मध्य दिशाकी अधिपत्नीकरके सादित करतेहैं ॥ ९ ॥ १३ ॥

प्रमाण—"छन्दाꣳसि वै दिशो गायत्री वै प्राची दिक् त्रिष्टुप् दक्षिणा जगती प्रतीच्यनुष्टुबुदीची पंक्तिरूर्द्ध्वा" इति [८ । ३ । १ । १४] श्रुतेः ॥ १३ ॥

कण्डिका १४–मंत्र १ ।

विश्श्वकर्म्मात्वासादयत्वन्तरिक्षस्यपृष्ठेज्ज्योतिष्म्मतीम् ॥ विश्श्वस्म्मैप्प्राणायापानायव्व्यानायविश्श्वञ्ज्योतिर्य्यच्छ ॥ वायुष्टेधिपतिस्तयादेवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवासीद ॥ १४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ विश्वकर्मेत्यस्य विश्वेदेवा ऋषयः । शक्करी छन्दः । वायुर्देवता । विश्वज्योतीष्टकोपधाने विनियोगः ॥ १४ ॥

विधि–(१) पूर्व चितिसे सादित विश्वज्योति इष्टकाके ऊपर इस मंत्रसे और विश्वज्योति इष्टका उपधान करै [का० १७ । ९ । ३] मन्त्रार्थ–हे इष्टके ! (विश्वकर्मा) प्रजापति (ज्योतिष्मतीम्) वायुरूप (त्वा) तुमको(अन्तरिक्षस्य)- अन्तरिक्षके (पृष्ठे) ऊपर (सादयतु) सादन करै, यजमानके (विश्वस्मै) सम्पूर्ण (प्राणाय) प्राण (अपानाय) अपान (व्यानाय) व्यानके लाभके निमित्त (विश्वम्) सम्पूर्ण (ज्योतिः) ज्योतिको (यच्छ) प्रदान करो (वायुः) वायु देवता (ते) तुम्हारा (अधिपतिः)अधिकारी स्वामी है (तया) उस (देवतया) अधिष्ठात्री देवताके प्रभावसे (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिराकी समान इस अग्निचयन कार्यमें (ध्रुवा) निश्चल (सीद) स्थित हो ॥ १४ ॥

प्रमाण–"अन्तरिक्षस्य पृष्ठे ह्ययं ज्योतिष्मान् वायुः" इति [श० ८ । ३ । २ । ३] श्रुतेः ॥ १४ ॥

कण्डिका १५–मन्त्र १ ।

नभश्चनभस्यश्श्चवार्षिकावृतूऽअग्ग्नेरन्तःश्श्लेषोसिकल्प्पेतान्द्यावापृथिवीकल्प्पन्तामापऽओषधयःकल्प्पन्तामग्ग्नयःपृथङ्मम्मज्ज्यैष्ठ्यायसव्व्रताः॥

येऽअग्नयुःसमनसोन्तुराद्यावापृथिवीऽइुमे ॥ वा र्षिकावृतूऽअभिकल्पमानाऽइन्द्रमिवदेवाऽअभि संविशन्तुतयादेवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवेसीदतम् ॥ १५ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ नभश्चेत्यस्य विश्पदेव ऋषिः । स्वराडति-कृतिश्छन्दः । ऋतवो देवताः । ऋतव्येष्टकोपधाने वि० ॥ १५ ॥

विधि—(१) दूसरी चितिसे उपस्थित शुक्र और शुचिनामक दो ऋतव्य इष्टकाके ऊपर इस मंत्रसे और दो ऋतव्य इष्टका उपधानकरै [का० १७ । ९ । ४]

मन्त्रार्थ—(नभः) श्रावण (नभस्य) भादों. "शेषकी व्याख्या १३ । २५ में होगई. सरलार्थ लिखतेहैं—" यह दोनों वर्षाकालीन ऋतु हैं यह ऋतुरूप दोनों इष्टका हैं तुमको अग्निके अन्तःश्लेषरूप कल्पना करते हैं, एकरूप कार्यमें नियुक्त तुम एकवाक्य होकर इस जगत्में हमारा प्राधान्य कल्पनाकरो, द्यावापृथ्वी हमारा प्राधान्य कल्पना करैं, जलदेवी और ओषधी हमारा प्राधान्य कल्पनाकरैं, जिस प्रकार सब देवता इन्द्रको आगे करकै कार्यक्षेत्रमें प्रविष्ट होतेहैं इसी प्रकार यह द्यावापृथ्वीके मध्यमें जितनी इष्टका विद्यमान हैं वह समस्त एक मन होकर तुमको वर्षा कालके ऋतुरूपमें अन्त श्लेष कल्पना करकै इस यज्ञमें प्राप्त हों, इस परम देवताके प्रसादसे तुम यहां चिरस्थायी हो ॥ १५ ॥

कण्डिका १६—मंत्र १ ।

इुषश्चोर्जश्चंशारदावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोसिक ल्पेतान्द्यावापृथिवीकल्पन्तामापऽओषधयुःक ल्पन्तामग्नयुःपृथुङ्मज्ज्यैष्ठ्यायसव्रताः ॥ येऽअग्नयुःसमनसोन्तुराद्यावापृथिवीऽइुमे ॥ शारदावृतूऽअभिकल्पमानाऽइन्द्रमिवदेवाऽअ भिसंविशन्तुतयादेवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवेसीदतम् १६[६]

ऋष्यादि—(१)ॐ इषश्चेत्यस्य विश्वेदेवा ऋषयः । भुरिगुत्कृतिश्छन्दः ऋतवो देवताः । ऋतव्येष्टकोपधाने विनियोगः ॥ १६ ॥

विधि-(१) और दो ऋतव्य इष्टका इस स्थानमें उपधान करै [का० १७ । ९ । ९] मन्त्रार्थ-(इषः) आश्विन (ऊर्जः) कार्तिक (शारदौ) शरद् (ऋतू) ऋतुके दो अवयव हैं. अ० १३ । कं० २९ में शेषकी व्याख्या होगई ॥ १६ ॥ [६]

कण्डिका १७-मंत्र १०. अनु० ५।

आयुर्म्मेपाहिप्प्राणम्मेपाह्यपानम्मेपाहिव्यानम्मे पाहिचक्षुर्म्मेपाहिश्श्रोत्रम्मेपाहिवाचम्मेपिन्वमनो मेजिन्वात्मानम्मेपाहिज्ज्योतिर्म्मेयच्छ ॥१७॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आयुर्मे इति (१-२-४-५-६-७-८-१०)मन्त्राणां विश्वदेव ऋषिः । दैवी त्रिष्टुप्छन्दः । लिङ्गोक्ता देवता । प्राणभृदिष्टकोपधाने वि० । (३-९) ॐ अपानमात्मानमिति (३-९) मंत्रयोर्विश्वदे० ऋषिः । दैवी त्रिष्टुप्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । वि० पू० ॥ १७ ॥

विधि-(१-१०) आत्माचितिके पूर्वभागमें इस कण्डिकात्मक दश मंत्रोंसे प्राणभृत नामक दश इष्टका उपधान करै [का० १७ । ९ । ६] मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! वा आत्मा अग्ने ! (मे) मेरी (आयुः) आयुकी (पाहि) रक्षा करो १ । (मे) मेरे (प्राणम्) प्राणकी (पाहि) रक्षा करो २ । (मे) मेरे (अपानम्) अपान वायुकी (पाहि) रक्षा करो ३ । (मे) मेरे (व्यानम्) व्यान वायुकी (पाहि) रक्षा करो ४ । (मे) मेरे (चक्षुः) दोनों नेत्रोंकी (पाहि) रक्षा करो ५ । (मे) मेरे (श्रोत्रम्) दोनों कानोंकी (पाहि) रक्षा करो ६ । (मे) मेरी (वाचम्) वाणीको (पिन्व) कामनाओंसे पूर्ण करो ७ । (मे) मेरा (मनः) मन (जिन्व) प्रसन्न करो ८ । (मे) मेरे (आत्मानम्) जीवको (पाहि) रक्षा करो ९ । (मे) मेरी (ज्योतिः) तेजकी (पाहि) रक्षा करो १० ॥ १७ ॥

कण्डिका १८ । १९ । २०-मंत्र १२ ।

माच्छन्दः प्प्रमाच्छन्दः प्प्रतिमाच्छन्दोऽअस्रीवयश्छन्दः पङ्क्तिश्छन्दऽउष्णिक्छन्दो बृहतीच्छन्दोनुष्टुप्छन्दोविराट्छन्दोगायत्रीच्छन्दस्त्रिष्टुप्छन्दोजगतीच्छन्दः पृथिवीच्छन्दः ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ माच्छन्द इति १ । १५ । १८ । २२ । मंत्राणां विश्वदेव ऋषिः । दैव्यनुष्टुप्छं० । लिङ्गोक्ता देवताः (२-५-६-९-११-१६-१९-२०-२३-२४) मंत्राणां दैवी बृहती छं० (३-७-८-१०-१२-१३-२१-२५-२६-२७-३०-३५-)-मन्त्राणां दैवी पंक्तिश्छं० । (४-१४-१७-२८-२९-३१-३२-३६)मंत्राणां दैवी त्रिष्टुप्छन्दः(३३-३४) मंत्रयोर्दैवी जगती छन्दः । इष्टकोपधाने विनियोगः ॥ १८ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकाके वारह मंत्रसे तीनो पक्ष पुच्छ, और आत्माकी सन्धीमें वारह इष्टका उपधान करै [का० १७ । ९ । ८] **मंत्रार्थ**-हे इष्टके (मा) परिमाणका हेतु (छन्दः) छादक यह लोक है अर्थात् भूलोकको मनन करते तुमको इस स्थानमें सादन करताहूं "अयं वै लोको मायं लोको मित इव" इति [८ । ३ । ३ । ५] श्रुतेः १ । हे इष्टके ! (प्रमा) अन्तरिक्ष (छन्दः) लोकको मनन करते तुमको सादन करता हूं २ । "अन्तरिक्षलोको वै प्रमान्तरिक्षलोको ह्यस्माल्लोकात्प्रमित इव" इति [८ । ३ । ३ । ५] श्रुतेः २ । हे इष्टके ! (प्रतिमा) प्रतीतिकारक द्युलोक (छन्दः) छादकरूप हो प्रतिमाछन्दको मनन करते तुमको सादन करताहूं "असौ वै लोकः प्रतिमैष ह्यन्तरिक्षलोके प्रतिमित इव" इति [८ । ३ । ३ । ५] श्रुतेः ३ । हे इष्टके ! (अस्रीवयः) पतनशील अन्न त्रिलोकीरूप (छन्दः) छादक हो अस्रीवय छन्दको मनन करते तुमको सादन करताहूं "यदेषु लोकेष्वन्नं तदस्रीवयोऽथो यदेभ्यो लोकेभ्योऽन्नꣳ स्रवति तदस्रीवयः" इति [८ । ३ । ३ । ५] श्रुतेः ४ । हे इष्टके ! (पंक्तिश्छन्दः) पंक्तिछन्दको मनन करते तुमको सादन करताहूं ५ । (उष्णिक् छन्दः) उष्णिक छन्दको मनन करते तुमको सादन करताहूं ६ । (बृहतीछन्दः) बृहती छन्दको मनन करते तुमको सादन करताहूं ७ । (अनुष्टुप्छन्दः) अनुष्टुप् छन्दको मनन करते तुमको सादन करताहूं ८ । (विराट्छन्दः) विराट् छन्दको मनन करते तुमको सादन करताहूं ९ । (गायत्रीछन्दः) गायत्री छन्दको मनन करते तुमको सादन करताहूं १० । (त्रिष्टुप्छन्दः) त्रिष्टुप्छन्दको मनन करते तुमको सादन करताहूं ११ । (जगती छन्दः) जगती छन्दको मनन करते तुमको सादन करताहूं तुम इन सवकी रूपा हो "अथो निरुक्तान्येव छन्दाꣳस्युपदधाति" इति श्रुतेः [८ । ३ । ३ । ५] १२ ॥ १८ ॥

अथवा- भू अन्तरिक्ष स्वर्ग अन्न श्रोत्र चक्षु मान वाक् शरीर प्राण समान अपान आत्माका आच्छादन करनेवाले हैं ॥ १८ ॥

विवरण–छन्दोंकी कल्पनाका एक बृहत् प्रयोजन है इस कारण इसका विवरण लिखते हैं–

"गायत्री स्विष्टकृतः संयाज्ये कुर्वीत तेजस्कामो ब्रह्मवर्चसकामस्तेजो वै ब्रह्मवर्चसं, गायत्रस्तेजस्वी ब्रह्मवर्चसी भवति एवं विद्वान् गायत्र्यौ कुरुत उष्णिहा वायुष्कामः कुर्वीतायुर्वा उष्णिक् सर्वमायुरेति य एवं विद्वानुष्णिहौ कुरुतेऽनुष्टुभौ स्वर्गकामः कुर्वीत द्वयोर्वा अनुष्टुभोश्चतुःषष्टिरक्षराणि त्रय इम ऊर्ध्वा एकविंशा लोका एकविंशत्यैकविंशत्यैवेमाँल्लोकान् रोहति स्वर्ग एव लोके चतुःषष्टितमेन प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति य एवं विद्वाननुष्टुभौ कुरुते बृहत्यौ श्रीकामो यशस्कामः कुर्वीत श्रीर्वै यशश्छन्दसां बृहतीं श्रियमेव यश आत्मन्धत्ते य एवं विद्वान् बृहत्यौ कुरुते पंक्ती यज्ञकामः कुर्वीत पांक्तो वै यज्ञ उपैनं यज्ञो नमति य एवं विद्वान् पंक्ती कुरुते त्रिष्टुभौ वीर्यकामः कुर्वीतौजो वा इन्द्रियं वीर्यं त्रिष्टुबोजस्वीन्द्रियवान् भवति य एवं विद्वांस्त्रिष्टुभौ जगत्यौ पशुकामः कुर्वीत जागता वै पशवः पशुमान् भवति य एवं विद्वान् जगत्यौ कुरुते विराजावन्नाद्यकामः कुर्वीतान्नं वै विराट् तस्माद्यस्यैवेह भूयिष्ठमन्नं भवति स एव भूयिष्ठं लोके विराजति तद्विराजो विराट्त्वम् विश्वेषु राजति श्रेष्ठः स्वानां भवति य एवं वेद ५ ॥" [ऐतरेय ब्राह्मण पं० १ अ० १ कं० ५] ॥

अर्थ–ब्रह्मतेजकी इच्छावाला पुरुष स्विष्टकृत् होमसम्बन्धी संयाज्यनामक दो गायत्री मंत्रोंका दीक्षणीयेष्टिमें प्रयोग करै, तेजकाही नाम ब्रह्मवर्चस है ऐसे करनेसे मनुष्य गायत्र नाम गायत्रीवाला तेजस्वी तेजोधारी ब्रह्मतेजसे युक्त होता है, जैसे प्यासका मिटाना जलमें विद्यमान है इसीप्रकार गायत्रीपदवाच्यमें ब्रह्मतेज विद्यमान है शरीरमें वाक्प्रधान गायत्री है २४ अक्षर गायत्री छन्दका मुख्यकर अग्नि देवताही मानाजाता है अग्निप्राप्त तेज और शोभाही ब्रह्मतेज है, सो यह ब्रह्मवर्चस् गायत्रीद्वारा ब्रह्मतेजकी उपासना करनेवालोंका स्वतः बढजाता है, इससे सिद्ध है कि यह किसी ग्रन्थमें भी न मिलैगा कि तेजकी इच्छावाला उष्णिक् छन्दकी उपासना करै इससे दृढतापूर्वक निश्चय है कि जलमें शीतलताके समान गायत्रीपदवाच्यमेंही ब्रह्मवर्चस् सदा रहताहै "तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्वी भवति य एवं विद्वान् गायत्र्यौ कुरुते" जो इस प्रकार विद्वान् गायत्रीका अनुष्ठान करता है वह तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्वी होता है आयुकी इच्छावाला उष्णिक् छन्दका प्रयोग करै कारण कि आयु ही उष्णिक्है उष्णिक्का अर्थ उत्कृष्ट और स्नेह है स्नेहही जीवनका आधारहै और उष्णिक् छंदका सविता देवता है सविताका प्राणोंके साथ मुख्य सम्बन्ध है "वागेवाग्निर्मनो वायुः प्राणः सूर्यः" [श०] इस श्रुतिके अनुसार सूर्य ही प्राण है प्राणही जीवन है इससे उष्णिक्के साथ आयुका बडा सम्बन्ध है (य एवं विद्वान्०) जो ऐसा जानता है इत्यादि।

"अनुष्टुभौ स्वर्गकामः कुर्वीत" स्वर्गकी इच्छावाला अनुष्टुप् छन्दका प्रयोग करै अनुष्टुप्का अर्थ अनु अर्थात् पश्चात् रुकना है सामान्य कर अनुष्टुप् छन्दका सोम देवता है सोमकाही कामसुखके साथ मुख्यसम्वन्ध है सोमके साथ स्वर्गका अधिक सम्वन्ध है एक अनुष्टुप्में ३२ अक्षर होते हैं २ में ६४ इसके द्वारा स्वर्ग लोकमें जाकर प्राणी रुक जाता है । भूआदि प्रत्येक तीन लोक २१ इक्कीस २ भागोंमें विभक्त हैं २१×३=६३ होते हैं सब इक्कीस २ सुखोंका अनुभव करता ६४ वे भागके साथ स्वर्गमें स्थित हो जाताहै "श्रीकामो यशस्कामो बृहत्यौ कुर्वीत" धन और यशकी इच्छावाला दो बृहतीका प्रयोग करै धनीही आश्रयदाता और वडा होता है बृहतीछन्दका सामान्यकर बृहस्पति देवता है बृहत् और बृहती दोनों एकही धातुसे वने हैं बृहती अर्थात् वडाई ही यश और वडप्पनका हेतु है वडप्पन ही यशका हेतु है इससे सिद्ध हुआ कि बृहती शब्दके साथ श्री और यशका घना सम्वन्ध है इससे इनकी इच्छावाला बृहतीका प्रयोग करै "श्रीर्वै यशः" आश्रय पालन पोषणसे ही संसारमें कीर्ति वडाई होती है इससे श्रीही यश है "छन्दसां बृहती" इसी प्रकार छन्दोंमें बृहती यशका कारण है बृहतीमें वडप्पन है "श्रियमेव यश आत्मन्धत्ते" श्रीही जो यशोरूप है उसे आत्मामें धारण करता है "य एवं विद्वान्०" जो ऐसा जानता है इत्यादि-

"यज्ञकामः पङ्क्ती कुर्वीत" यज्ञकी इच्छावाला पंक्तिछन्दको प्रयोगकरै यज्ञनाम पूजन संयतिकरणका है पिंगलमें सामान्यकर इसका मित्र देवता है और वही संगति पूजनमें उपकारी है इष्टसंगतिसे यज्ञ होताहै इस कारण पंक्तिका यज्ञसे विशेष सम्वन्ध है "य एवं विद्वान्०" जो ऐसा जानकर करताहै उसे वह फल प्राप्त होताहै "त्रिष्टुभौ वीर्यकामः कुर्वीत" पराक्रमकी इच्छावाला त्रिष्टुप्का प्रयोगकरै "ओजो वा इन्द्रियं वीर्यं त्रिष्टुप्" ओज नाम सारही इन्द्रियां हैं और सार वा वलही त्रिष्टुप् है अर्थात् वलका सारही वीर्य वा ओज है वहीं क्षत्र है पिंगलमें सामान्यकर त्रिष्टुप्का इन्द्र देवता कहाहै इन्द्रमें वल स्वभावसेहीहै त्रिष्टुप्का अनुष्ठानवाला बली होताहै "ओजस्वीन्द्रियवान् वीर्यवान् भवति य एवं विद्वांस्त्रिष्टुभौ कुरुते" पराक्रमी इन्द्रियोंवाला वलवान् वह पुरुष होता है जो ऐसा जानकर प्रयोगकरता है ।

"जगत्यौ पशुकामः कुर्वीत" गौ आदि पशुओंकी इच्छावाला दो जगती छन्दोंका प्रयोगकरै, पशुपालन वैश्योंका कृत्य है जगतीका अर्थ चलना और चलाना काम जंघाका है पशुओंमेंभी गमन प्रधान है इसीसे कहाहै (जागता वै पशवः) जंगमशक्तिवाले पशु हैं "य एवं विद्वा०" जो ऐसा जानकर जगती छन्दका प्रयोग करता है वह पशुओंवाला होताहै "विराजावन्नाद्यकामः कुर्वीत" उत्तम अन्नकी इच्छावाले

विराट्छन्दोंका प्रयोगकरैं "अन्नं वै विराट्" अन्नकाही नाम विराट् है "तस्माद्यस्यै-वेह भूयिष्ठमन्नं भवति स एव भूयिष्ठं लोके विराजति" इससे जिसके यहां बहुत अन्न होताहै वही लोकमें विराजमान होताहै कारण कि सब उससे अन्नकी इच्छा करते हैं प्रशंसित होनेसे अन्नही विराट् है " तद्विराजो विराट्त्वम् " यही विराट्का विराट्पन है " विश्वेषु राजति श्रेष्ठः स्वानां भवति य एवं वेद " वह अपनी जातिमें श्रेष्ठ होता है जो ऐसा जान्ताहै ॥

इस सबका आशय यह है कि ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यकी रचना जिन छन्दों-से हुई है उनके साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है और जो गुण उनमें हैं वही गुण छन्दोंमें हैं जिसमें जो गुण न्यून पडजाय तो अपने २ छन्दोंसे तेज बल पुष्टिकी अधिकाई कर लेनी चाहिये जिस जिस छन्दमें जो गुण है उस उस गुणकी प्राप्ति उसके द्वारा अवश्य होती है तथा अपने २ सम्बन्धवालेको अपना गुण शीघ्र प्रकाश करते हैं जैसे गायत्रीसे ब्राह्मणकी रचना हुई है ब्राह्मणका गायत्री ब्रह्म-तेजसे अधिक सम्बन्ध है उसके द्वारा ब्राह्मण ब्रह्मतेजकी प्राप्ति शीघ्रकर सकते हैं इसी प्रकार क्षत्रिय वैश्य हैं वे अपने उत्पत्ति कारण छन्दोंसे तेज बल प्राप्तकर-सकते हैं इसी प्रकार दूसरे पदार्थ जिन छन्दोंसे हुए हैं वे अपने २ गुणोंद्वारा उन उनके पोषक हैं यह संक्षेपसे दिखा दिया है छन्दोंके प्रयोगमें इसी प्रकार समझ लेना चाहिये ॥ १८ ॥

कण्डिका १९—मंत्र १२।

पृथिवी च्छन्दोऽन्तरिक्षं छन्दो द्यौश्छन्दः समाश्छन्दो नक्षत्राणि च्छन्दो वाक्छन्दो मनश्छन्दः कृषिश्छन्दो हिरण्यं छन्दो गौश्छन्दोऽजा च्छन्दोऽश्वश्छन्दः ॥ १९ ॥

विधि—(१)इस कण्डिकात्मक बारह मंत्रसे पक्षपुच्छ सन्धिमें छन्दस्यानाम बारह इष्टका उपधान करै। ऋष्यादि पूर्ववत्। वि० पू० । मन्त्रार्थ—(पृथिवी) पृथ्वी देवतावाले (छन्दः) छन्दको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं १। (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष देवतावाले (छन्दः) छन्दको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं २। (द्यौः) द्युदेवता (छन्दः) छन्दको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं ३। (समाः) वर्ष देवता (छन्दः) छन्दको मनन करते यह इष्टका सादन

करताहूं ४ । (नक्षत्राणि) नक्षत्र देवता (छन्दः) छन्दको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं ५ । (वाक्) वाग्देवता (छन्दः) छन्दको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं ६ । (मनः) मन देवता (छन्दः) छन्दको मनन करते यह इष्टका सा० ७ । (कृषिः) कृषि देवता (छन्दः) छन्दको मनन करते यह० ८ । (हिरण्यम्) हिरण्य देवता (छन्दः) छन्दको मनन करते० ९ । (गौः) गो देवता (छन्दः) छन्दको मनन करते यह० १० । (अजाः) अजा देवतावाले (छन्दः) छन्दको मनन करते० ११ । (अश्वः) अश्व देवतावाले (छन्दः) छन्दको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं १२ । "यान्येतद्दैवत्यानि छन्दाꣳसि तान्येवैतदुपदधाति" इति [८ । ३ । ३ । ६] श्रुतेः ॥ १९ ॥

विवरण-यह छन्द पृथ्वी आदि देवताओंकी उपासनामें विशेष प्रसिद्ध हैं इस छन्दको पृथ्वी देवता छन्द कहा जाता है इसी प्रकार अन्तरिक्षदेवता आदि जानो । यह सब वस्तु प्राणियोंको सुखकारक हैं इन्हींमें प्रयुक्त रहनेसे आत्माकी ओर नहीं प्राप्त हुआ जाता इसीसे यह छादक छन्द कहाते हैं ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मन्त्र १२ ।

अग्निर्द्देवता वातो देवता सूर्य्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वे देवा देवता बृहस्पतिर्द्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निरित्यस्य मन्त्रद्वादशकस्य विश्वदेव ऋ० । भुरिग्ब्राह्मी त्रिष्टुप्छन्दः । अग्न्यादयो देवताः । वि० पू० ॥ २० ॥

विधि-(१-१२)इस कण्डिकात्मक बारह मंत्रोंसे आत्मसंधिमें छन्दस्यानामक और बारह इष्टका उपधान करै । मन्त्रार्थ-(अग्निः) अग्नि (देवता) देवताको मननकरते यह इष्टका स्थापन करता हूं १ । (वातः-देवता) वायुदेवताको मनन-करते यह इष्टका सादन० २ । (सूर्यो देवता) सूर्यदेवताको मननकरते यह इष्टका सादन० ३ । (चन्द्रमा देवता) चन्द्रमा देवताको मननकरते यह० ४।(वसवो देवताः) वसुगण देवताओंको मननकरते यह० ५। (रुद्रा देवताः)रुद्रदेवताओंको मनन करते यह०६(आदित्या देवताः) आदित्यदेवताओंको मनन करते०७ । (मरुतो देवताः) मरुत् देवताओंको मननकरते० ८ । (विश्वेदेवाः) विश्वेदेव (देवताः)देवताओंको

मनन कर० ९ । (बृहस्पतिः देवता) बृहस्पति देवताको मननकरते० १० । (इन्द्रो देवता) इन्द्र देवताको मननकरते यह इष्टका० ११ । (वरुणः देवता) वरुण देवताको मनन करते यह इष्टका सादन करता हूं ॥ १२ ॥ २० ॥

प्रमाण-" अग्निर्देवता वातो देवतेत्येता वै देवताश्छन्दाᳬंसि तान्येवै-तदुपदधाति" इति [८ । ३ । ६] श्रुतेः इस श्रुतिके अनुसार यह देवता हैं इनको जानकर मनन ध्यान करना उचित है ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मन्त्र ७ ।

मूर्द्धासिराड्ध्रुवासिधरुणाधर्त्र्यसिधरणी ॥ आयुषेत्त्वावर्च्चसेत्त्वाकृष्यैत्त्वाक्षेमायत्त्वा ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१-७) ॐ मूर्द्धासीत्यस्य मंत्रसप्तकस्य विश्वदेव ऋषिः । निच्यृदनुष्टुप्छन्दः । प्राणो देवता । वालखिल्येष्टकोपधाने वि० ॥ २१ ॥

विधि-(१-७) प्रथम कही दशप्राणभृत् इष्टकाके अपर भागमें इस कण्डिका-त्मक सात मंत्रोंसे वालखिल्यनामक सात इष्टका उपधान करै [१७ । ९ । १० १३] "जिस कारण कि वालमात्रभी भिन्न नहीं है इसकारण प्राणोंको वाल-खिल्य कहते हैं वह चौदह हैं सात ऊपर हैं हाथ २ बाहू २ शिर १ ग्रीवा १ नाभिके ऊर्ध्वभाग १ सात नीचे हैं उरु २ जानु २ चरण २ और नाभिके अधो-भागमें, इन अंगोंमें प्राणोंके विद्यमान होनेसे उनको उपधान करै, प्रमाण "प्राणा वै वालखिल्याः प्राणानेवैतदुपदधाति ता यद्वालखिल्या नाम यद्वा उर्वरयोरस-म्भिन्नं भवति खिल इति वै तदाचक्षते वालमात्रादुहेमे प्राणा असम्भिन्नास्ते यद्वालमात्रादसम्भिन्नास्तस्माद्वालखिल्याः सप्त वा इमे पुरस्तात्प्राणाश्चत्वारि दोर्बाहवाणि शिरो ग्रीवा यदूर्द्ध्वं नाभेस्तत्सप्तममङ्गेऽङ्गे हि प्राणाः सप्त वा इमे पश्चात्प्राणाश्चत्वार्यूर्वष्ठीवानि द्वे प्रतिष्ठे यदवाङ् नाभेस्तत्सप्तममङ्गेऽङ्गे हि प्राणा एवं वै सप्त पुरस्तात्प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति" इति श्रुतेः [८ । ३ । ४ । १ । ४ । ९] मन्त्रार्थ-हे वालखिल्ये ! तुम (राट्) विराजमान (मूर्धा) मूर्धाकी समान उत्तम (असि) हो अर्थात् तुम मस्तकस्वरूप प्रधानभावसे इस स्थलमें विराज-मान हो. १ । हे वालखिल्ये ! तुम (धरुणा) धारणहेतु (ध्रुवा) स्थिर (असि) हो तुम ध्रुवरूपसे इस स्थलको धारण करो २ । हे वालखिल्ये ! तुम (धर्त्री)

धारण करनेवाली (धर्णा) भूमिरूप हो तुम धरणीस्वरूप इस स्थलको धारण करनेमें तत्पर हो ३ । इस कारण इष्टकाओंको त्रिलोकीरूप कहा "मूर्धासि राडितीमं लोकमरोहन् ध्रुवासि धरुणेत्यन्तरिक्षं लोकं धर्त्र्यसि धरणीत्यसुं लोकम्" इति [८ । ३ । ४ । ८] श्रुतेः । हे वालखिल्ये ! (आयुषे) आयुवृद्धिके निमित्त (त्वा) तुमको सादन करताहूं ४ । हे वालखिल्ये ! (वर्चसे) कान्तिके निमित्त (त्वा) तुमको स्थापन० ५ । हे वालखिल्ये ! (कृष्यै) शस्यअन्नकी वृद्धिके निमित्त (त्वा) तुमको सा० ६ । हे वालखिल्ये ! (क्षेमाय) कल्याणवृद्धिके निमित्त (त्वा) तुमको सा० ७ ॥ २१ ॥

प्रमाण-"इष्टकाचतुष्टयस्य पशुसंस्तवः" "आयुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वेति चत्वारश्चतुष्पादाः पशवः" इति [८ । ३ । ४ । ८] श्रुतेः ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मंत्र १० ।

यन्त्री राड्यन्त्र्यसि यमनी ध्रुवासि धरित्री ॥ इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा लोकन्ताऽइन्द्रम् ॥ २२ ॥ [६]

ऋष्यादि-(१) ॐ यन्त्रीत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । परोष्णिक्छन्दः । प्राणो देवता । वि० पू० ॥ २२ ॥

विधि-(१) प्रथम कही बारह अपस्या इष्टकाके अपर भागमें इस कण्डिकात्मक सात मंत्रोंसे वालखिल्य नामक अपर सात इष्टका उपधान करै । मन्त्रार्थ-हे वालखिल्ये ! तुम (यन्त्री) नियमसे युक्त (राट्) विराजमान हो इस स्थानमें विराजमान हो १ । (यन्त्री) स्वयंभी नियमवाली (यमनी) सबकी नियम करानेवाली (असि) हो तुम यंत्री इस स्थानमें नियमन करो २ । हे वालखिल्ये ! तुम (ध्रुवा) स्थिर (धरित्री) धरणी भूमिरूप(असि) हो तुम ध्रुवा हो तुम निम्नस्थित इष्टकाको धारण करो ३ "यन्त्री राडित्यसुं लोकमरोहन्यन्त्र्यसि यमनीत्यन्तरिक्षलोकं ध्रुवासि धरित्रीतीमं लोकम्" इति [८ । ३ । ४ । १०] श्रुतेः । हे वालखिल्ये ! (इषे) अन्नप्राप्तिके निमित्त (त्वा) तुमको सादन करता हूं ४ । हे वालखिल्ये ! (ऊर्जे) बलप्राप्तिके निमित्त (त्वा) तुमको सादन० ५ । हे वालखिल्ये ! (रय्यै) धनप्राप्तिके निमित्त (त्वा) तुझको सादन० ६ । हे वालखिल्ये ! (पोषाय) धनपुष्टिके निमित्त (त्वा) तुमको सादन० ७ । "इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वेति चतस्रश्चतुष्पादाः पशवः" इति [८।३।४।१०] श्रुतेः

१ यह आशय है ।

अष्टम नवम दशम मन्त्रोंसे प्रथम चितिकी समान उत्तर श्रोणीसे आरम्भ करके लोकम्पृणा इष्टका उपधान करै, सूददोहसाधिवदन तथा पुरीषनिर्वापण करै. इन मंत्रोंकी व्याख्या १२ अ० ५४ । ५५ । ५६ मन्त्रोंमें होगई ॥ २२ ॥ [६]

[चतुर्थ चितिप्रकरण]

कण्डिका २३-मंत्र १८ अनु० ६ ।

आशुस्त्रिवृद्भान्तःपञ्चदशोव्योमासप्तदशोधरु
रुणऽएकविꣳशःप्रतूर्त्तिरष्टादशस्तपोनवदशो
ऽभीवर्त्तःसविꣳशोवर्चोद्वाविꣳशःसम्भरणस्त्रयो
विꣳशोयोनिश्चतुर्विꣳशोगर्भाःपञ्चविꣳशऽ
ओजस्त्रिणवःक्रतुरेकत्रिꣳशःप्रतिष्ठात्रयस्त्रि
ꣳशोब्रध्नस्यविष्टपंचतुस्त्रिꣳशोनाकःषट्त्रिꣳ
शोविवर्त्तोऽष्टाचत्वारिꣳशोधर्त्रंचतुष्टोमः॥२३॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ आशुरिति मंत्रस्य विश्वेदेव ऋषिः । दैवी बृहती छं० । लिङ्गोक्ता देवता । मृत्युमोहिनीष्टकोपधाने वि० । (२ । ३ । ६ । १० । ११ । १३ । १८) मन्त्राणां विश्वकर्म ऋषिः । दैवी त्रिष्टुप्छन्दः। (४ । ५ । ७ । १४) मन्त्राणां दैवी जगती छन्दः । (८ । १२ । १६) मन्त्राणां दैवी पंक्तिश्छन्दः । (९ । १७) मन्त्रयोः याजुष्यनुष्टुप्छं० । लिङ्गोक्ता देवताः । (१५) मन्त्रस्य याजुषी पंक्तिश्छं० । मृत्युमोहिनीष्टकोपधाने वि० ॥ २३ ॥

विधि-(१) पूर्व दिशाके अनुकान्त उत्तर भागमें प्रथमसे उत्तरमुख होकर इसी मंत्रसे जंघामात्री मृत्युमोहिनी नामक प्रथम इष्टका उपधान करै [का० १७ । १० । ७] मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! (त्रिवृत्) त्रिवृत्स्तोम तथा त्रिलोकमें (आशुः) व्याप्त वायुदेवताको मनन करते त्रिवृत् आशुरूप तुमको इस स्थानमें सादन करताहूं "इसी प्रकार सर्वत्र जानना" "प्राणा वै स्तोमाः प्राणा उ वै ब्रह्म ब्रह्मै-

---

१ दयानन्दी भाष्यमें लोकम्पृणसे आरम्भ कर पतिम् तक पाठ छोड दिया है तथा सब अर्थ अशुद्ध किये हैं वे अर्थ अनुपादेय हैं ॥ २३ ॥

व तदुपदधाति" इति [८ । ४ । १ । २] श्रुतेः । तथा चान्यश्रुतिः "स पुरस्ता-दुपदधात्याशुस्त्रिवृदिति य एव त्रिवृत्स्तोमस्तमुपदधाति तद्यत्तमाहाशुरित्येष हि स्तोमानामाशिष्ठोऽथो वायुर्वा आशुस्त्रिवृत्स एषु त्रिषु लोकेषु वर्त्तते तद्यत्तमाहाशुरि-त्येष हि सर्वेषां भूतानामाशिष्ठो वायुर्ह भूत्वा पुरस्तात्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति" इति [८ । ४ । १ । ९] श्रुतेः १ ।

विधि–(२) दक्षिणदिशाके अनुकान्तमें दक्षिण भागमें पश्चिममुख होकर इस दूसरे मंत्रसे मृत्युमोहिनी नामक दो इष्टका उपधान करै [का० १७ । १० । ९] **मंत्रार्थ**–हे इष्टके ! (पञ्चदशः) पन्द्रह दिनमें ह्रास और वृद्धि पानेवाले पंचदशकलाके अधिपति (भान्तः) चन्द्रज्योतिको मनन करते तुमको सादन करताहूं अथवा वज्ररूपी पञ्चदश स्तोम है उसके रूपवाली तुमको सादन करताहूं २ ।

प्रमाण–"वज्रो वै भांतो वज्रः पञ्चदशोथो चंद्रमा वै भांतः पञ्चदशः सः पञ्चद-शाहान्यापूर्यते पञ्चदशापक्षीयते तद्यत्तमाह भांत इति भाति हि चंद्रमाश्चंद्रमा ह भूत्वा दक्षिणतस्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति" इति [८ । ४ । १ । १०] श्रुतेः २ ।

विधि–(३) उत्तर दिक्के अनुकान्तमें दक्षिण भागमें पश्चिम मुख होकर इस तीसरे मंत्रसे मृत्युमोहिनी नामक तीसरी पद्या इष्टका उपधान करै [का० १७ । १० । १०] **मन्त्रार्थ**–(व्योमा) अनेक प्रकारसे रक्षा करनेवाला प्रजापति (सप्तदशः) सप्तदश स्तोमरूप है अथवा संवत्सर व्योम है वारह महीने पांच ऋतु इस प्रकार सत्रह अवयव हैं. हे इष्टके ! सप्तदश व्योम देवताको मनन करते तुमको सादन करताहूं २ ।

प्रमाण–"य एव सप्तदशस्तोमः तं तदुपदधाति तद्यत्तमाह व्योमेति प्रजापतिर्वै व्योमा प्रजापतिः सप्तदशोऽथो संवत्सरो वा व्योमा सप्तदशस्तस्य द्वादशमासाः पञ्च-र्तवस्तद्यत्तमाह व्योमेति व्योमा हि संवत्सरः संवत्सरो ह भूत्वोत्तरतस्तस्थौ तदेव तदु-पदधाति" इति [८ । ४ । १ । ११] श्रुतेः ३ ।

विधि–(४) पश्चिम दिक्के अनुकान्तमें दक्षिणभागमें दक्षिणमुख होकर इस चतुर्थ मंत्रसे जंघामात्री मृत्युमोहिनी नामक चतुर्थ इष्टका उपधान करै [का० १७ । १० । ८] **मन्त्रार्थ**–(धरुणः) धारणकर्ता प्रतिष्ठारूप (एकविंशः) एकविंश स्तोम है अथवा 'धरुणः' आदित्य "एकविंशः" वारह मास पांच ऋतु तीनलोक अवयववाला है, एकविंश धरुण देवताको मनन करते इष्टका स्थापन करताहूं ४ ।

प्रमाण–"य एवैकविंशस्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाह धरुण इति प्रतिष्ठा वै धरुणः प्रतिष्ठैकविंशोऽथोऽसौ वा आदित्यो धरुण एकविंशस्तस्य

द्वादशमासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावेवादित्यो धरुण एकविंᳫँशस्तद्यत्तमाह धरुण इति यदा ह्येवैषोऽस्तमेत्यथेदᳫँसर्वं ध्रियत आदित्यो ह भूत्वा पश्चात्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति" इति [८ । ४ । १ । १२] श्रुतेः ४ ।

विधि–(५–१४) अनन्तर पंचमादि चतुर्दश मंत्र पढकर चौदह अर्धपद्या नामक इष्टका उपधान करै [का० १७ । १० । ११] **मंत्रार्थ**–(प्रतूर्त्तिः) संवत्सर (अष्टादशः) वारह महीने पांचऋतु एक संवत्सर इन अठारह अवयववाला है अथवा प्रतूर्त्ति स्तोम अष्टादश है अष्टादश प्रतूर्त्ति देवताको मननकरते इष्टका सादन करताहूं ५ ।

प्रमाण–"य एवाष्टादशः स्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव प्रतूर्त्तिरष्टादशस्तस्य द्वादश मासाः पञ्चर्तवः संवत्सर एव प्रतूर्त्तिरष्टादशस्तद्यत्तमाह प्रतूर्त्तिरिति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि प्रतिरति तदेतद्रूपमुपदधाति" इति [श० ८ । ४ । १ । १३] श्रुतेः ५ ।

मंत्रार्थ–(तपः) तपरूप (नवदशः) नवदश स्तोमहै अथवा शीतोष्ण वर्षासे 'तपः' तपनेवाला वारह महीने छः ऋतु एक संवत्सर ऐसे नव दश अवयववाला है नवदश तपो देवताको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं ६ ।

प्रमाण–"य एव नवदशस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव तपो नवदशस्तस्य द्वादश मासाः षडृतवः संवत्सर एव तपो नवदशस्तद्यत्तमाह तप इति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि तपति तदेव तद्रूपमुपदधाति" इति [८ । ४ । १ । १३] श्रुतेः ६ ।

मन्त्रार्थ–(अभीवर्तः) समावृत्तिरूप (सविᳫँशः) सविंशस्तोम है अथवा सब प्राणियोंको आवर्तन करनेवाला वारह महीने सात ऋतु संवत्सररूप वीस संख्या सहित है विंश अभिवर्त देवताको मननकरते इष्टका सादनकरता हूं ७ ।

प्रमाण–"य एव सविᳫँशस्तोमस्तं तदुपदधातीत्यथो संवत्सरो वा अभीवर्तः सविᳫँशस्तस्य द्वादशमासाः सप्तर्तवः संवत्सर एवाभीवर्तः सविᳫँशस्तद्यत्तमाहाभीवर्त इति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतान्यभिवर्तते तदेतद्रूपमुपदधाति" इति [८ । ४ । १ । १५] श्रुतेः ७ ।

मंत्रार्थ–(वर्चः) विशेष वल देनेवाला (द्वाविᳫँशः) द्वाविंश स्तोम है अथवा वर्च संवत्सर है वारह महीने सात ऋतु दो अहोरात्र एक संवत्सर यह वाईस उसके अवयव हैं वर्च द्वाविंश देवताको मनन करते इष्टका सादन करताहूं ८ ।

प्रमाण-"य एव द्वाविँ॰शः स्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वा वर्चो द्वाविँ॰शस्तस्य द्वादश मासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे संवत्सर एव वर्चो द्वाविँ॰शस्तद्यत्तमाह वर्च इति संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानां वर्चस्वितमस्तं तदेतद्रूपमुपदधाति" इति [८। ४। १। १६] श्रुतेः ८।

मन्त्रार्थ-(सम्भरणः) सम्यक् पुष्टिकारक (त्रयोविँ॰शः) त्रयोविंश स्तोम है अथवा उत्पादक और विनाशक होनेसे संवत्सर १३ महीने सात ऋतु दो अहोरात्र एक संवत्सर ऐसे २३ अवयवयुक्त है. हे इष्टके ! त्रयोविंश सम्भरण देवताको मनन करते तुमको सादन करताहूं ९।

प्रमाण-"य एव त्रयोविँ॰शःस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव सम्भरणस्त्रयोविँ॰शस्तस्य त्रयोदश मासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे संवत्सर एव सम्भरणस्त्रयोविँ॰शस्तद्यत्तमाह सम्भरण इति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि सम्भृतस्तदेव तद्रूपमुपदधाति" इति [८। ४। १। १७] श्रुतेः ९।

मंत्रार्थ-(योनिः) प्रजाका उत्पादक (चतुर्विँ॰शः) चतुर्विंश स्तोम है अथवा सबका स्थानभूत संवत्सर चौवीस पक्षयुक्त है चतुर्विंश योनिदेवताको मनन करते सादन करताहूं १०।

प्रमाण-"य एव चतुर्विँ॰शः स्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव योनि[illegible]ँ॰शस्तस्य चतुर्विँ॰शतिरर्धमासास्तद्यत्तमाह योनिरिति संवत्सरो हि सर्वेषां [illegible]नं योनिस्तदेव तद्रूपमुपदधाति" इति [८। ४। १। १८] श्रुतेः १०।

मन्त्रार्थ-(गर्भाः) सामगर्भ (पञ्चविँ॰शः) पंचविंश स्तोम है अथवा गर्भ-संवत्सर प्राणियोंका उत्पादक होनेसे चौवीस अर्धमास एक संवत्सर है अथवा [illegible] होकरही ऋतुओंमें गर्भ होताहै पञ्चविंशगर्भदेवताको मननकरते इष्टका [illegible] करता हूं ११।

प्रमाण-"य एव पञ्चविँ॰शः स्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव गर्भाः पञ्चविँ॰शस्तस्य चतुर्विँ॰शतिरर्धमासाः संवत्सर एव गर्भाः पंचविँ॰शस्तद्यत्तमाह गर्भा इति संवत्सरो ह त्रयोदशो मासो गर्भो भूत्वर्तून् प्रविशति तदेव तद्रूपमुपदधाति" इति [८। ४। १। १९] श्रुतेः ११।

मन्त्रार्थ-(ओजः) तेजस्वी वा वज्ररूप (त्रिणवः) त्रिणवस्तोम है अथवा ओज संवत्सर चौवीस अर्धमास अहोरात्र २ संवत्सर अवयवयुक्त होनेसे त्रिवणरूप हैं त्रिणव ओजदेवताको मनन करते० १२।

प्रमाण-"य एव त्रिणवस्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाहौज इति वज्रो वा ओजो वज्रस्त्रिणवोऽथो संवत्सरो वा ओजस्त्रिणवस्तस्य: चतुर्विँ॰शतिरर्धमासा द्वे अहो-

रात्रे संवत्सर एत्रौजस्त्रिणवस्तद्यत्तमाहौज. इति संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानामोजस्वितमस्तदेव तद्रूपमुपदधाति" इति [८।४।१।२०] श्रुतेः १२।

मन्त्रार्थ–(क्रतुः) यज्ञके उपयोगी (एकत्रिंᳬशः) एकत्रिंशस्तोम है अथवा संवत्सरही करनेसे ऋतुरूप है २४ पक्ष ऋतु संवत्सरात्मक होनेसे एकत्रिंश अवयवयुक्त है एकत्रिंश ऋतु देवताको मनन करते इष्टका सादन करताहूं १३।

प्रमाण–"य एकत्रिᳬंशः स्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव क्रतुरेकत्रिᳬंशस्तस्य चतुर्विᳬंशतिरर्धमासाः षड्ऋतवः संवत्सर एव क्रतुरेकत्रिᳬंशस्तद्यत्तमाह क्रतुरिति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि करोति" इति [८।४।१।२१] श्रुतेः। मन्त्रार्थ–(प्रतिष्ठा) स्थितिका हेतु (त्रयस्त्रिंᳬशः) त्रयस्त्रिंश स्तोम है अथवा सबमें प्रतिष्ठित होनेसे संवत्सरही २४ पक्ष ६ ऋतु अहोरात्र २ संवत्सरात्मक १ होनेसे ३३ अवयववाला है त्रयस्त्रिंशत् प्रतिष्ठा देवताको मनन करते सादन करताहूं १४।

प्रमाण–"य एव त्रयस्त्रिᳬंशस्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाह प्रतिष्ठेति प्रतिष्ठा हि त्रयस्त्रिंशोऽथो संसत्सरो वाव प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिᳬंशस्तस्य चतुर्विᳬंशतिरर्धमासाः षड्ऋतवो द्वे अहोरात्रे संवत्सर एव प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिᳬंशस्तद्यत्तमाह प्रतिष्ठेति संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा तदेतद्रूपमुपदधाति" इति [८।४।१।२२] श्रुतेः १४।

मन्त्रार्थ–(ब्रध्नस्य) सूर्यका "असौ वा आदित्यो ब्रध्नः" इति श्रुतेः (विष्टपम्) स्वाराज्य निवासस्थान भुवन देनेवाला (चतुस्त्रिंᳬशः) चतुस्त्रिंशस्तोम है अथवा संवत्सरही सूर्यका स्थान है सूर्यके द्वाराही काल निर्माण होता है चौवीस पक्ष सात ऋतु दो अहोरात्र एक संवत्सरात्मक अवयव है चतुस्त्रिंश ब्रध्नविष्टप देवताको मनन-करते इष्टका सादन करता हूं १५।

प्रमाण–"य एव चतुस्त्रिᳬंशस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिᳬंशस्तस्य चतुर्विंशतिरर्धमासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे संवत्सर एव ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिᳬंशस्तद्यत्तमाह ब्रध्नस्य विष्टपमिति स्वाराज्यं वै ब्रध्नस्य विष्टपं स्वाराज्यं चतुस्त्रिंशस्तदेवतद्रूपमुपदधाति" इति [८।४।१।२३] श्रुतेः १५

मन्त्रार्थ–(नाक) स्वर्गका देनेवाला (षट्त्रिᳬंशः) षट्त्रिंशस्तोम है जिसमें सुखकी कामना कीजाय सुखरूप संवत्सर २४ पक्ष और बारहमास युक्त होनेसे षट्त्रिंशात्मक है षट्त्रिंश नामक देवताको मनन करते इष्टका सादन करता हूं १६।

प्रणाण–"य एव षट्त्रिᳬंशस्तोमस्तं तदुपदधात्ययो संवत्सरो वाव नाकः षट्त्रिᳬंशस्तस्य चतुर्विᳬंशतिरर्धमासा द्वादश मासास्तद्यत्तमाह नाक इति न हि

तत्र गताय कस्मै च नाकं भवत्यथो संवत्सरो वाव नाकः संवत्सरः स्वर्गो लोकस्तदेव तद्रूपमुपदधाति" इति [८ । ४ । १ । २४] श्रुतेः १६ ।

मन्त्रार्थ-(विवर्तः) सामके आवर्तनोंसे युक्त (अष्टचत्वारिꣳशः)अष्टचत्वारिंश स्तोम है अथवा जिसमें प्राणी अनेक प्रकारसे वर्तते हैं वह संवत्सर अधिक मासके सहित २६ पक्ष सात ऋतु तेरह महीने २ अहोरात्र अवयवयुक्त होनेसे अष्टचत्वारिंश है अष्टचत्वारिंशत् विवर्तदेवताको मनन करते इष्टका सादन करताहूं १७।

प्रमाण-"य एवाष्टाचत्वारिꣳशस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव विवर्तोऽष्टाचत्वारिꣳशस्तस्य षड्विꣳशतिरर्धमासास्त्रयोदश मासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे तद्यत्तमाह विवर्त इति संवत्सराद्धि सर्वाणि भूतानि विवर्तन्ते तदेतद्रूपमुपदधाति" इति [८ । ४ । १ । २५] श्रुतेः १७ ।

मन्त्रार्थ-(धर्त्रम्) धारक होनेसे (चतुष्टोमः) त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश इन चार स्तोमोंका समूहरूप हैं अथवा वायुही जगत्को धारण करनेसे 'धर्त्रम्' चारों दिशाओंमें स्तुतिको प्राप्त होनेसे चतुष्टोम है चतुष्टोम धर्त्र देवताको मनन करते इष्टका सादन करताहूं "आदि अन्तमें वायुके उपधान करनेसे वायुद्वारा सब प्राणियोंको वशीभूत करता है" १८ ।

प्रमाण-"य एव चतुष्टोमस्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाह धर्त्रमिति प्रतिष्ठा वै धर्त्रं प्रतिष्ठा चतुष्टोमोऽथो वायुर्वाव धर्त्रं चतुष्टोमः स आभिश्चतसृभिर्दिग्भिः स्तुते वायुर्वै सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा तदेतद्रूपमुपदधाति" इति [८ । ४ । १ । २६] श्रुतेः । "स वै वायुमेव प्रथममुपदधाति वायुमुत्तमं वायुनैव तदेतानि सर्वाणि भूतान्युभयतः परिगृह्णाति" इति [८ । ४ । १ । २६] श्रुतेः । इन अठारह मंत्रोंसे स्तोमरूप करके इष्टका उपधान करै १८ ॥ २३ ॥

कण्डिका २४-मंत्र ४. अनु० ७।

अग्नेर्भागोसिदीक्षायाऽआधिपत्त्यम्ब्रह्मस्पृत न्त्रिवृत्त्स्तोमऽइन्द्रस्यभागोसिविष्णोराधिपत्त्य ङ्क्षत्रꣳस्पृतम्पञ्चदशस्तोमोनृचक्षसाम्भागो सिधातुराधिपत्त्यञ्जनित्रꣳस्पृतꣳसप्तदशस्तो मोमित्रस्यभागोसिवरुणस्याधिपत्त्यन्दिवोवृष्टि र्वातस्पृतऽएकविꣳशस्तोमोवसूनाम्भागः ॥ २४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्नेर्भाग इत्यस्य विश्वदेव ऋषिः। साम्नी पंक्तिश्छंदः। लिङ्गोक्ता दे०। मृत्युमोहिनीष्टकोपधाने विनियोगः। (२) ॐ इन्द्रस्येत्यस्य विश्वदे० ऋ०। साम्नी त्रिष्टुप्छन्दः। लिङ्गोक्ता दे०। (३) ॐ नृचक्षसामित्यस्य विश्वदे० ऋ०। साम्नी जगती छं०। (४) मित्रस्येत्यस्य विश्व० ऋ०। आर्ची बृहती छन्दः। लिङ्गोक्ता देवता वि० पू०॥ २४॥

विधि-(१) उत्तरमुख होकर यह मंत्र पाठ करके पूर्वदिक्के अनुकान्तमें दक्षिण भागमें [जहां पहले २३ कण्डिकाके प्रथम मन्त्रसे उत्तर भागमें मृत्युमोहिनी नामक प्रथम इष्टका उपधान की है] जंघामात्री मृत्युमोहिनी नामक इष्टकाका उपधान करे [का० १७। १०। १२] इसमें दश यजु हैं चार मृत्युमोहिनी इष्टका उपधान हैं, छः पद्याका उपधान है, दश इष्टका स्पृत् संज्ञावाली हैं, इसमें श्रुतिकथित अर्थवाद है।

आख्यायिका-प्रजापति जब सृष्टि रचनेकी इच्छा करते हुए तब उन्होंने सब प्राणिजातको अपने गर्भमें धारण किया, उस गर्भमें यह दृश्य अदृश्य सम्पूर्ण चराचर था, किन्तु वह सब पूर्व कल्पके पापसे आच्छन्न होनेके कारण मृत्युसे आक्रान्त हुए, उस समय प्रजापतिने देवताओंसे कहा तुम्हारी सहायतासे हम गर्भमें स्थित इस चराचरकी मृत्युसे रक्षा करैं, देवता बोले इसमें हमको क्या लाभ होगा, प्रजापतिने कहा तुम किस बातकी इच्छा करते हो? कहो, देवता बोले इस समस्त प्रजाकी रचना होनेमें इसमें हमारा अंश स्थापित हो कोई बोले प्रजासृष्टि होनेमें हमारा आधिपत्य हो भाग मिले प्रजापतिने स्वीकार किया, तब उनकी सहायतासे मृत्युमुखसे गर्भरक्षा करके समस्त प्रजा सृजन करनेके उपरान्त इस प्रजापर किसी २ देवताका अंश कल्पना किया और किसी २ को आधिपत्य किया [श० ८। ४। २। १। १]

प्रमाण-"अथ स्पृत उपदधात्येतद्वै प्रजापतिरेतस्मिन्नात्मनः प्रतिहिते सर्वाणि भूतानि गर्भ्यभवत्तान्यस्य गर्भ एव सन्ति पाप्मा मृत्युरगृह्णात् १ सदेवानब्रवीद्युष्माभिः सहेमानि सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योः स्पृणवानीति किन्नस्ततो भविष्यतीति वृणीध्वमित्यब्रवीत्तं भागो नोऽस्त्वित्येकेऽब्रुवन्नाधिपत्यं नोऽस्त्वित्येके स भागमेकेभ्यः कृत्वाधिपत्यमेकेभ्यः सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योरस्पृणोद्यदस्पृणोत्तस्मात् स्पृतस्तथैवैतद्यजमानो भागमेकेभ्यः कृत्वाधिपत्यमेकेभ्यः सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योः स्पृणोति" इति [८। ४। २। १। २] श्रुतेः।

अथ मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! जो तुम (अग्नेः) अग्निकी (भागः) भाग (असि) हो तुम्हारे ऊपर (दीक्षायाः) दीक्षाका (आधिपत्यम्) आधिपत्य है जिसकारण तुमसे (त्रिवृत्स्तोमः) त्रिवृत्स्तोमद्वारा (ब्रह्म) ब्राह्मण जाति (स्पृतम्) मृत्युसे रक्षित हुई अर्थात् तुम्हारे प्रसादसे ब्राह्मण जातिने मृत्युमुखसे रक्षा पाई है त्रिवृत् स्तोमको मनन करते तुमको सादन करताहूं १ । "वाग्वै दीक्षा" इति [८।४।२। ३] श्रुतेः । विधि-(२) पश्चिमाभिमुख होकर दूसरा मन्त्र पाठ करके उत्तर दिशाके अनुकान्तमें उत्तर भागमें [जहां इससे पहले २३ कण्डिकाके दूसरे मंत्रसे दक्षिण भागमें मृत्युमोहिनीनामक तीसरी इष्टका उपधान की है] मृत्युमोहिनी नामक षष्ठ पद्या इष्टका उपधान करै [का० १७ । १० । १९] मन्त्रार्थ-हे इष्टके! तुम (इन्द्रस्य) इन्द्रका (भागः) भाग (असि) हो तुम्हारे ऊपर (विष्णोः) विष्णुका (आधिपत्यम्) आधिपत्य है (पञ्चदशस्तोमः) पञ्चदशस्तोमसे (क्षत्रम्) क्षत्रजातिको मृत्युमुखसे (स्पृतम्) रक्षाकीहै, अर्थात् तुम्हारे प्रसादसे क्षत्रजातिने मृत्युमुखसे परित्राण पाया है, पंचदशस्तोम देवताको मननकरते तुमको सादन करता हूं "इन्द्राय भागं कृत्वा विष्णव आधिपत्यमकरोत्" इति [८ । ४ । २ । ४] श्रुतेः २ । विधि-(३) पश्चिमाभिमुख हो तीसरा मंत्र पाठकरके दक्षिणादिक्के अनुकान्त उत्तरभागमें [जहां २३ कण्डिकाके तीसरे मंत्रसे दक्षिणभागमें मृत्युमोहिनी नाम दूसरी इष्टका उपधान की है,] मृत्युमोहिनी नामक सप्तम पद्येष्टका उपधान करै [का० १७ । १० । १४] मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! तुम (नृचक्षसाम्) मनुष्योंके शुभाशुभ जाननेवाले देवताओंके (भागः) भाग (असि) हो तुम्हारे ऊपर (धातुः) धाताका (आधिपत्यम्) आधिपत्य है तुमने (सप्तदशस्तोमः) सप्तदशस्तोमद्वारा (जनित्रम्) वैश्यजातिको (स्पृतम्) मृत्युमुखसे रक्षा कियाहै सप्तदशस्तोमको मनन करते तुमको सादन करताहूं ३ । "देवा वै नृचक्षसो देवेभ्यो भागं कृत्वा धात्र आधिपत्यमकरोद्विड्वै जनित्रम्" इति [८ । ४ । २ । ५] श्रुतेः ३ । विधि-(४) दक्षिणाभिमुख हो करके चतुर्थ मंत्र पाठ करके पश्चिम दिशाके अनुकान्त उत्तर भागमें [जहां पहले २३ कण्डिकाके चतुर्थ मंत्रसे दक्षिण भागमें मृत्युमोहिनी नामक चतुर्थ इष्टका उपधानकी है] मृत्युमोहिनी नामक अष्टमी जङ्घामात्री इष्टका उपधान करै [का० १७ । १० । १३] मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! तुम (मित्रस्य) प्राणोंका (भागः) भाग (असि) हो तुम्हारे ऊपर (वरुणस्य) वरुणका (आधिपत्यम्) आधिपत्य है (एकविंशस्तोमः) एकविंशस्तोमके द्वारा (दिवः) द्युलोकसम्बन्धिनी (वृष्टिः) वर्षा (वातः) पवन (स्पृतः) मृत्युमुखसे रक्षित है अर्थात् तुम्हारे प्रसादसे वृष्टि और वायुने मृत्युमुखसे रक्षा पाई है एकविंशस्तोमदेवताको मनन करते तुमको

सादन करताहूं "प्राणो वै मित्रोऽपानो वरुणः प्राणाय भागं कृत्वापानायाधिपत्यमकरोत्" इति [८। ४। २। ६।] श्रुतेः ४ ॥ २४ ॥

-कण्डिका २५-मंत्र ४।

वसूनाम्भागोसिरुद्राणामाधिपत्त्यञ्चतुष्प्पात्स्पृतञ्चतुर्विंꣳशस्तोमऽआदित्यानाम्भागोसि मरुतामाधिपत्त्यङ्गर्ब्भास्प्पृताꣳपञ्चविꣳशस्तोमोदित्त्यैभागोसिपूष्णऽआधिपत्त्यमोजस्प्पृतन्त्रिणवस्तोमोदेवस्यसवितुर्ब्भागोसि बृहस्प्पतेराधिपत्यꣳसमीचीर्द्दिशस्प्पृताश्चतुष्टोमस्तोमो यवानाम्भागः ॥ २५ ॥

ऋष्यादि-(१-२) ॐ वसूनाम् आदित्यानामिति मंत्रयोः विश्वदेव ऋ०। साम्नी जगती छं०। लिङ्गोक्ता दे०। पद्येष्टकोपधाने वि०। (३) ॐ अदित्यैभाग इत्यस्य विश्वदेव ऋ०। आर्च्युष्णिक्छं०। लिङ्गोक्ता दे०। वि० पू०। (४) ॐ देवस्येत्यस्यार्ची पंक्तिश्छं०। वि०पू० ॥ २५ ॥

विधि-(१) पूर्व [२३ कण्डिकाके पंचमादि चतुर्दश मंत्रमें] स्थापित चतुर्दश पद्या इष्टकाके अपरभागमें इस कण्डिकात्मक चार मंत्र और पर कण्डिकात्मक दो मंत्र इन छः मंत्रोंसे छः पद्या इष्टका उपधान करै [का० १७।१०। १६]

मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! तुम (वसूनाम्) वसुगणका (भागः) भाग (असि) हो तुम्हारे ऊपर (रुद्राणाम्) रुद्रोंका (आधिपत्यम्) आधिपत्य है (चतुर्विंꣳशस्तोमः) चतुर्विंशस्तोमके द्वारा तुमने (चतुष्पाद्) चौपायोंकी (स्पृतम्) मृत्युमुखसे रक्षा कीहै चतुर्विंशस्तोम देवताको मनन करते तुमको इस स्थानमें सादन करता हूं "वसुभ्यो भागं कृत्वा रुद्रेभ्य आधिपत्यमकरोत्" इति [८। ४। २। ७] श्रुतेः १। हे इष्टके ! तुम (आदित्यानाम्) आदित्य गणोंका (भागः) भाग (असि) हो तुम्हारे ऊपर (मरुताम्) मरुद्गणोंका (आधिपत्यम्) आधिपत्य है (पञ्चविꣳशस्तोमः) पंचविंशस्तोमके द्वारा (गर्भाः) गर्भोंकी मृत्युमुखसे (स्पृतम्) रक्षाकीहै पंचविंशस्तोम देवताको मनन करते तुमको इस स्थानमें सादन करताहूं

आदित्येभ्यो भागं कृत्वा मरुद्भ्य आधिपत्यमकरोत्" इति [८ । ४ । २ । ८] श्रुतेः २ । हे इष्टके ! तुम (अदित्यै) अदितिके (भागः) भाग (असि) हो तुम्हारे ऊपर (पूष्णः) पूषा देवताका (आधिपत्यम्) अधिकार है (त्रिणवस्तोमः) त्रिणव स्तोम द्वारा (ओजः) प्रजाओंके ओज आठवीं धातुकी (स्पृतम्) रक्षा की है त्रिणवस्तोम देवताको मनन करते तुमको सादन करताहूं "इयं वा अदितिरस्यै भागं कृत्वा पूष्ण आधिपत्यमकरोत्" इति [८ । ४ । २ । ९ ।] श्रुतेः ३ । हे इष्टके ! तुम (सवितुः) सबके प्रेरक सविता (देवस्य) देवका (भागः) भाग (असि) हो तुम्हारे ऊपर (बृहस्पतेः) बृहस्पति देवताका (आधिपत्यम्) स्वामित्व है (चतुष्टोमस्तोमः) चतुष्टोम स्तोमके द्वारा (समीचीः) संपूर्ण मनुष्योंके जाने योग्य (दिशः) दिशा (स्पृताः) मृत्युसे रक्षा कीगई चतुष्टोम स्तोम देवताको मनन करते तुमको सादन करताहूं "देवाय सवित्रे भागं कृत्वा बृहस्पतय आधिपत्यमकरोत्" इति [८ । ४ । २ । १०] श्रुतेः ४ ॥ २५ ॥

कण्डिका २६-मंत्र २ ।

यवा॑नाम्भा॒गो॒स्यय॑वाना॒माधि॑पत्त्यम्प्र॒जास्स्पृ॒ताश्च॑तु॒श्च॒त्त्वारि॒ꣳशस्तोमः॑ऽऋ॒भूणाम्भा॒गो॒सि॒वि॒श्श्वे॑षान्दे॒वाना॒माधि॑पत्त्यम्भू॒तꣳस्पृ॒तन्त्र॒यस्त्रि॒ꣳश स्तोम॒ꣳसह॑श्च ॥ २६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यवानामित्यस्य विश्वदेव ऋ० । भुरिगार्षी गायत्री छं० । लिङ्गोक्ता दे० । वि०पू० । (२) ॐ ऋभूणामित्यस्य स्वराड्गायत्री छन्दः । लिङ्गोक्ता देवता । वि० पू० ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! तुम (यवानाम्) पूर्व पक्ष शुक्लपक्षीय तिथिके (भागः) भाग (असि) हो तुम्हारे ऊपर (अयवानाम्) कृष्णपक्षीय तिथिका (आधिपत्यम्) स्वामित्व है तुमने (चत्वारिꣳशस्तोमः) चत्वारिंशस्तोमके द्वारा (प्रजाः) प्रजाको (स्पृताः) मृत्युमुखसे रक्षा की चत्वारिंशस्तोम देवताको मनन करते तुमको इस स्थानमें सादन करताहूं "पूर्वपक्षा वै यवा अपरपक्षा अयवास्ते हीदꣳ सर्वं युवते चायुवते पूर्वपक्षेभ्यो भागं कृत्वापरपक्षेभ्य आधिपत्यमकुर्वन्" इति [८ । ४ । २ । ११ ।] श्रुतेः १ । हे इष्टके ! तुम (ऋभूणाम्) ऋभुनामक देवताओंका (भागः)

भाग (असि) हो तुम्हारे ऊपर (विश्वेषाम्) सम्पूर्ण (देवानाम्) देवताओंका (आधिपत्यम्) आधिपत्य है (त्रयस्त्रिꣳशस्तोमः) त्रयस्त्रिंशस्तोमके द्वारा तुमने (भूतम्) अनुक्त प्राणिमात्रको मृत्युमुखसे (स्पृतम्) रक्षित किया है त्रयस्त्रिंशस्तोम देवताको मनन करते तुमको सादन करताहूं २ ॥ २६ ॥

"ऋभुभ्यो भागं कृत्वा विश्वेभ्यो देवेभ्य आधिपत्यमकरोत्" इति [श० ८ । ४ । २ । १२] श्रुतेः ॥ २६ ॥

विवरण—जिनका नाम नहीं आया वह समस्त अनुक्त हैं ॥ २६ ॥

विशेष—यह सम्पूर्ण मंत्र रक्षा करनेवाले हैं ॥ २६ ॥

कण्डिका २७—मन्त्र २।

सहँश्चसहस्यश्चहैमन्तिकावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषो
सिकल्पेतान्द्यावापृथिवीकल्पन्तामापऽओषध
यःकल्पन्तामग्नयःपृथङ्ममज्ज्यैष्ठ्यायसव्र
ताः ॥ येऽअग्नयःसमनसोन्तराद्यावापृथिवीऽइ
मे ॥ हैमन्तिकावृतूऽअभिकल्पमानाऽइन्द्रमिवदे
वाऽअभिसंविशन्तुतयादेवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवेसीद
तम् ॥ २७ ॥ [४]

ऋष्यादि—(१) ॐ सहश्चेत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । भुरिगति जगती छन्दः । ऋतुर्देव० । (२)ॐ येऽग्नय इत्यस्य भुरिग्ब्राह्मी बृहती छं० । ऋतव्ये-ष्टकोपधाने वि० ॥ २७ ॥

विधि—(१—२) यह मंत्र पाठ करके अनूकके दोनों ओर ऋतव्य नामक दो पद्या इष्टका उपधान करै [का० १७ । १० । १८] मंत्रार्थ—(सहः) मार्गशीर्ष (च) और (सहस्यः) पौष (हैमन्तिकौ ऋतू) हेमन्त ऋतुके अवयव हैं [शेषकी व्याख्या अ० १३ कं० २५ में होगई] ॥ २७ ॥ [६]

कण्डिका २८—मंत्र ४. अनु० ८।

एकयास्तुवतप्रजाऽअधीयन्तप्रजापतिरधिपति
रासीत्तिसृभिरस्तुवतब्रह्मासृज्यतब्रह्मणस्प
तिरधिपतिरासीत्पञ्चभिरस्तुवतभूतान्यसृज्य

न्तभूतानाम्पतिरधिपतिरासीत्त्सप्तभिरस्तुवत सप्तऽऋषयोसृज्ज्यन्तधाताधिपतिरासीन्नवभि रस्तुवत ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१-२) ॐ एकया, सप्तभिरिति मंत्रयोर्विश्वदेव ऋषिः । साम्नी त्रिष्टुप्छं० । सृष्टीष्टका दे० । सृष्टीष्टकोपधाने वि० । (३) ॐ तिसृभिरित्यस्य विश्व० ऋ० । निच्यृदार्षी गायत्री छं० । सृष्टीष्टका दे० । वि० पू० । (४)ॐ पञ्चभिरित्यस्य विश्वदेव ऋ० । साम्नी जगती छन्दः । सृष्टीष्टका दे० । वि० पू० ॥ २८ ॥

विधि-(१) प्रत्येक दिशाओंमें स्थित प्रत्येक रेत और सिक् दो इष्टका वेलासे अनूकके दक्षिणमें नौ उत्तरमें आठ साकल्यमें १७ सृष्टिनामक इष्टका उपधान करै, उनके मध्यमें इस कण्डिका और पर कण्डिका इन दो कण्डिकात्मक नौ मंत्रोंसे दक्षिण सृष्टिइष्टकासे उपधान और उस्से आगेकी कण्डिकाके ५ मंत्रोंसे और उसके आगेकी कण्डिकाके प्रथम तीन मंत्रोंसे इन आठ मंत्रोंसे आठ उत्तर सृष्टीष्टकासे उपधान करै [का० १७ । १० ।]

गाथा-प्रजा रचनेकी कामनासे प्रजापतिने समस्तगर्भस्थ प्रजाको मृत्युमुखसे रक्षाकी तव उनको प्रसन्न करनेमें प्रवृत्त देखकर देवताओंसे लगे कहने [वे देवता प्राणादि और दिशाआदिके अधिकारी थे] कि तुम्हारे साथ परमात्माकी स्तुतिकर इससे सृष्टिविषयमें पूर्णमनोरथ हों । देवता वोले किससे स्तुति करें प्रजापति वाले मेरे साथ स्तुति करो, ऐसा कहनेपर प्राणोंके अधिष्ठात्री देवताओंके साथ प्रजापतिने आत्माकी स्तुति की और सव प्रजा उत्पन्न की.

प्रमाण-"एतद्वै प्रजापतिः सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योर्मुक्त्वाकामयत प्रजाः सृजेय प्रजायेयेति १ स प्राणानब्रवीद्युष्माभिः सहेमाः प्रजाः प्रजनयानीति ते वै केन स्तोष्यामह इति मया चैव युष्माभिश्चेति तथेति ते प्राणैश्चैव प्रजापतिना चास्तुवत" इति [८ । ४ । ३ । १ । २] श्रुतेः ।

मन्त्रार्थ-प्रजापतिने (एकया) एकही वाणीके साथ आत्माकी स्तुति की (प्रजाः) उससे सव [अचेतन] प्रजा (अधीयन्त) उत्पन्न हुई (प्रजापतिः) प्रजापति उनके (अधिपतिः) स्वामी (आसीत्) हुए "वाग्वा एका वाचैव तदस्तुवत" इति [८ । ४ । ३ । ३ ।] श्रुतेः १ । (तिसृभिः) प्राण उदान व्यानोंसे (अस्तुवत) प्रार्थनाकी (ब्रह्म) वेद वा ब्राह्मणजाति (असृज्यत) रचनाकी (ब्रह्मणस्पतिः) वेदकर्ता (अधिपतिः) स्वामी (आसीत्) हुए "त्रयो वै

प्राणाः प्राणोदानव्यानास्ते" इति [८ । ४ । ३ । ४ ।] श्रुतेः २ । (पञ्चभिः) पांच प्राणोंसे (अस्तुवत) स्तुति की उससे (भूतानि) पंचभूत सम्पूर्ण प्राणी (असृज्यन्त) प्रगट हुए (भूतानाम्पतिः) भूतपति महादेव उनके (अधिपतिः) स्वामी (आसीत्) हुए "य एवेमे मनःपञ्चमाः प्राणास्तैरेव तदस्तुवत" इति [८ । ४ । ३ । ५ । श्रुतेः ३ । (सप्तभिः) श्रोत्र २ नासिका २ चक्षु २ जिह्वा १ इन सातोंकी सहायतासे (अस्तुवत) स्तुति की (सप्तऋषयः) सप्त ऋषि वा प्राण (असृज्यन्त) प्रगट हुए (धाता) जगत्कर्ता देव उनके (अधिपतिः) स्वामी (आसीत्) हुए "य एवेमे सप्तशीर्षन् प्राणास्तैरेव" इति [८ । ४ । ३ । ६] श्रुतेः ४ ॥ २८ ॥

विवरण—जिन पदार्थोंसे सृष्टिकी रचना है उनको जानकर परमात्माकी स्तुति प्रार्थना सबको करनी उचित हैं सृष्टिके प्राणियोंमें किसमें क्या २ है यह इन मंत्रोंमें दिखाया है ॥ २८ ॥

कण्डिका २९—मंत्र ५ ।

नुवभिरस्तुवतपितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीदेकादशभिरस्तुवतऽऋतवोऽसृज्यन्तार्त्तवाऽअधिपतयऽआसँस्त्रयोदशभिरस्तुवतमासाऽअसृज्यन्तसंवत्सरोऽधिपतिरासीत्पञ्चदशभिरस्तुवतक्षत्रमसृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीत्सप्तदशभिरस्तुवतग्ग्राम्म्याः पशवोऽसृज्यन्तबृहस्प्पतिरधिपतिरासीन्नवदशभिरस्तुवत ॥ २९ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ नवभिरित्यस्य विश्वदेव ऋषिः । साम्नी पंक्तिश्छं० । सृष्टीष्टका देवता । वि० पू० । (२–३) ॐ दशभिःपंचदशभिरिति मंत्रयोर्विश्वदे० ऋ० । साम्नी जगती छन्दः । सृष्टीष्टका दे० । वि०पू० । (४) ॐ पञ्चदशभिरित्यस्य विश्वदे० ऋ० । आर्च्युष्णिक्छं० । सृष्टीष्टका दे० । वि० पू० । (५) ॐ सप्तदशभिरित्यस्य विश्वदे० । आर्ची बृहती छं० । सृष्टीष्टका दे० । वि० पू० ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ-(नवभिः) सात शिरके प्राण दो नीचे अर्थात् नवद्वार शरीरके प्राणोंकी सहायतासे (अस्तुवत) प्रार्थना की (पितरः) उससे पितृगण अग्निष्वात्तादि उत्पन्न हुए (अदितिः) अखण्डित प्रजापति शक्ति उनकी (अधिपत्नी) स्वामिनी (आसीत्) हुई कारण कि पितर अपनी अखण्ड शक्तिसे ही सर्वत्र श्राद्ध करनेवालोंको प्राप्त होते हैं "नव वै प्राणाः सप्तशीर्षन्नवाञ्चौ द्वौ तौ" इति [८ । ४ । ३ । ७] श्रुतेः १ । (एकादशभिः) दश प्राण ग्यारहवां आत्मा इन ग्यारहसे (अस्तुवत) स्तुति की उससे (ऋतवः) वसन्तादि ऋतु (असृज्यन्त) प्रगट हुई उनके (आर्तवाः) ऋतुपालक देवविशेष (अधिपतयः) स्वामी (आसन्) होते हुए "दश प्राणा आत्मैकादशः" इति [८ । ४ । ३ । ८] श्रुतेः २ । (त्रयोदशभिः) दश प्राण दो पाद[प्रतिष्ठा] एक आत्मा अभ्यन्तरीय संस्थानसे (अस्तुवत) स्तुति की उनसे (मासाः) चैत्रादि मासकी अधिक माससहित (असृज्यन्त) रचना की (संवत्सरः) दो अयन मासका अभिमानी वर्ष उनका (अधिपतिः) पालक (आसीत्) हुआ "दश प्राणा द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयोदशः" इति [८ । ४ । ३ । ९] श्रुतेः ३ । (पञ्चदशभिः) दश हाथकी अंगुली, दो हाथ, दो भुजा, एक नाभिका ऊर्ध्वभाग इनके द्वारा (अस्तुवत) स्तुति की (क्षत्रम्) क्षत्रिय जाति वा तेज (असृज्यन्त) उत्पन्न किया उनका (इन्द्रः) इन्द्र (अधिपतिः) स्वामी (आसीत्) हुआ "दश हस्त्या अङ्गुलयश्चत्वारि दोर्बाहवाणि यदूर्ध्वं नाभेस्तत्पञ्चदशम्" इति [१०] श्रुतेः ४। (सप्तदशभिः) दश पैरकी अङ्गुलि दो ऊरु दो जानु दो पाद और नाभिका अधोभाग इनके देवताओं सहित (अस्तुवत) स्तुति की उनसे (ग्राम्याः) ग्रामके गौ आदि (पशवः) पशुओंकी (असृज्यन्त) रचना की (बृहस्पतिः) बृहस्पति देवता उनके (अधिपतिः) स्वामी (आसीत्) हुए "दश पाद्या अङ्गुलयश्चत्वार्यूर्वष्ठीवानि द्वे प्रतिष्ठे यदवाङ्नाभेस्तत्सप्तदशम्" इति [८ । ४ । ३ । ११ ।] श्रुतेः ॥ ५ ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०-मंत्र ५ ।

नवदशभिरस्तुवतशूद्रार्य्यावसृज्येतामहोरात्रेऽअधिपत्नीऽआस्तामेकविꣳशत्यास्तुवतैकशफाः पशवोऽसृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीत्त्रयोविꣳशत्यास्तुवतक्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त पूषाधिप

---

१ हाथ पहुंचा.

तिरासीत्पञ्चविंꣳशत्यास्तुवतारण्याः पशवोऽसृज्यन्त वायुरधिपतिरासीत्सप्तविंꣳशत्यास्तुवत द्यावापृथिवी व्यैतां वसवो रुद्रा आदित्या अनुव्यायँस्त एवाधिपतय आसन्नवविंꣳशत्यास्तुवत ॥ ३० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नवदशभिरित्यस्य विश्वदेव ऋ० । निच्यृदार्ची बृहती० छं०। सृष्टीष्टका दे० । वि० पू० । (२) ॐ एकविंशत्येत्यस्य विश्वदेव ऋ० । भुरिक्साम्नी जगती छं० । सृष्टीष्टका दे० । वि० पू० । (३) ॐ त्रयोविंशत्येत्यस्य विश्व० । निच्यृत्साम्नी जगती छं० । सृष्टीष्टका दे० । वि० पू० । (४) ॐ पञ्चविंशत्येत्यस्य विश्वदे० ऋ० । साम्नी जगती छन्दः । सृष्टीष्टका दे० । वि०पू० । (५) ॐ सप्तविंशत्येत्यस्य विश्वदे० ऋ० । आर्ची जगती छन्दः । सृष्टीष्टका दे० । वि० पू० ॥ ३० ॥

मंत्रार्थ-(नवदशभिः) दश हाथकी अंगुलि ऊर्द्ध अधःस्थित छिद्ररूप नौ प्राणोंसे (अस्तुवत) स्तुति की उससे (शूद्रार्यौ) शूद्र और अर्य वैश्यजाति (असृज्येताम्) उत्पन्न की उनकी (अहोरात्रे) दिनरात (अधिपत्नी) स्वामिनी (आसीत्) हुई "दशहस्त्या अंगुलयो नव प्राणाः" इति [८ । ४ । ३ । १२] श्रुतेः ॥ १ ॥

(एकविंꣳशत्या) वीस हाथपैरकी अंगुली और आत्मा इनसे (अस्तुवत) स्तुतिकी (एकशफाः) एक खुरवाले (पशवः) पशु (असृज्यन्त) उत्पन्नकिये (वरुणः) वरुण उनका (अधिपतिः) स्वामी (आसीत्) हुआ "दश हस्त्या अंगुलयो दश पाद्या आत्मैकविंꣳशः" इति [८ । ४ । ३।१३] श्रुतेः २। (त्रयोविंꣳशत्या) वीस हाथ पैरकी अंगुली दो, चरण एक आत्मा इनके साथ (अस्तुवत) स्तुति की इससे (क्षुद्राः) क्षुद्र (पशवः) पशु अजाआादि (असृज्यन्त) उत्पन्न किये (पूषा) पूषादेवता उनका (अधिपतिः) स्वामी (आसीत्) हुआ "दशहस्त्या अंगुलयो दश पाद्या द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयोविंꣳशः" इति [८।४।२।१४] श्रुतेः ३ । (पञ्चविंꣳशत्या) वीस हाथ पैरकी अंगुली दो हाथ दो चरण एक आत्माके साथ (अस्तुवत) स्तुतिकी उससे (आरण्याः) वनके कृष्णमृगादिक

१ दश प्राण पंचमहाभूत मन बुद्धि चित्त अहंकार यहभी १९ है.

(पशवः) पशु (असृज्यन्त) उत्पन्न किये (वायुः) वायुदेवता उनका (अधिपतिः) स्वामी (आसीत्) हुआ "दशहस्त्या अंगुलयो दश पाद्याश्चत्वार्यङ्गान्यात्मा पञ्चविꣳशः" इति [१५] श्रुतेः ४। (सप्तविꣳशत्या) बीसहाथ पैरकी अंगुली दो भुजा दो ऊरु दो प्रतिष्ठा एक आत्मा इनके साथ (अस्तुवत) स्तुतिकी (द्यावापृथिवी) स्वर्गलोक भूलोक 'अन्तरिक्ष' लोक (व्येताम्) प्रगट हुए (वसवः) वसुगण (रुद्राः) रुद्रगण (आदित्याः) आदित्यगण (अनुव्यायन्) इनके अनुगत होनेसे क्रमसे (ते) ये (एव) ही इनके (अधिपतयः) स्वामी (आसन्) हुए "दशहस्त्या अंगुलयो दश पाद्याश्चत्वार्यङ्गानि द्वे प्रतिष्ठे आत्मा सप्तविꣳशः" इति [८। ४। २। १६] श्रुतेः ५ ॥ ३० ॥

विवरण-जो जो जिसके अधिपति हैं अपने बलादिवृद्धिके निमित्त उनकी प्रार्थना करनी चाहिये ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१-मन्त्र ६ ।

नवविꣳशत्यास्तुवतवनस्पतयोसृज्यन्तसोमोधिपतिरासीदेकत्रिꣳशतास्तुवतप्रजाऽअसृज्यन्तयवाश्चायवाश्चाधिपतयऽआसँस्त्रयस्त्रिꣳशतास्तुवतभूतान्यशाम्यन्प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासील्लोकन्ताऽइन्द्रम् ॥ ३१ ॥ [४]

इति शुक्लयजुःसंहितायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

ॐ नवविꣳशत्येत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । निच्यृत्साम्नी जगती छं० । सृष्टीष्टका दे० । वि० पू० । (२-३) ॐ एकत्रिंशता त्रयस्त्रिंशतेति मंत्रयोर्विश्वदे०ऋ० । निच्यृदार्ची बृहती छन्दः । सृष्टीष्टका दे० ।वि०पू०। (४-५-६)लोकंपृणेत्याद्यस्य मन्त्रत्रयस्यर्ष्यादि१२अध्यायस्थमंत्रवत ॥ ३१॥

मंत्रार्थ-(नवविꣳशत्या) बीस हाथ पैरकी अंगुली नवप्राणके छिद्रोंके साथ (अस्तुवत) स्तुति की इससे (वनस्पतयः)वनस्पति अश्वत्थ वट आदिकी (असृज्यन्त) रचना की उनका (सोमः) सोम (अधिपतिः) स्वामी (आसीत्) हुआ "दशहस्त्या अंगुलयो दश पाद्या नव प्राणाः" इति [८।४।३।१७] श्रुतेः १। (एकत्रिꣳशता) २० हाथ पैरकी अंगुली १० इन्द्री एक आत्माके साथ (अस्तुवत) स्तुति की उनसे (प्रजाः) अन्यान्य सम्पूर्ण प्रजाकी (असृज्यन्त) रचनाकी (यवाः) पूर्वपक्ष (च) और (अयवाः) उत्तर पक्ष (च) भी उनके (अधि-

पतयः) स्वामी (आसन्) हुए "दशहस्त्या अङ्गुल्यो दश पाद्या दश प्राणा आत्मैकत्रिꣳशः" इति [८।४।३।१८] श्रुतेः २। (त्रयस्त्रिꣳशता) बीस अङ्गुलि दश इन्द्रिय दो पाद और आत्माके सहित (अस्तुवत) स्तुतिकी (भूतानि) उससे उत्पन्न समस्त प्राणियोंने (अशाम्यन्) शांतिलाभ की अर्थात् सुखी हुए (परमेष्ठी) सत्यलोकमें स्थित होनेवाले (प्रजापतिः) प्रजापालक ईश्वर उनके (अधिपतिः) स्वामी (आसीत्) हुए "दशहस्त्या अङ्गुल्यो दश पाद्या दशप्राणा द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयस्त्रिꣳशः" इति [८।४।३।१९] श्रुतेः ३।

"जो इष्टका जिस मंत्रसे स्थापन करै वह वह उस उस मंत्रमें कहे देवतारूपसे ध्यान करनी"

आगे चौथे मंत्रसे लोकम्पृणाना उपधान करै, फिर पंचम मंत्रसे सूददोहसाधिवदन छठे मंत्रसे पुरीपनिर्वाप सप्तर्चोपस्थान करै [का० १७।१०।१९]

लोकम्पृणेति इन तीन मंत्रोंकी व्याख्या १२ अ० १४।१९।१६ कण्डिकामें होगई ॥ ३१ ॥

[समाप्ता चतुर्थी चितिः]

विशेष आशय—प्रजापतिने जिस जिस अवयवसे जिनको उत्पन्न किया है उसी २ की उत्कृष्टता उनमें विद्यमान है, और जो देवता उनके अधिपति हैं उनकी शक्ति उत्कृष्टतासे उनमें स्थित है दूसरे पक्षमें शरीरके सब अंगकी रचना पांच तत्त्व सात धातु इन्द्रिय प्राण आत्मा सबकी सृष्टि उससे हुई है और सबका अधिपति वही है ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र स्थावर जंगमात्मककी रचना उसने की है सब लोक देवता उसके अंगभूत हैं जब तैंसीसों अंगसे स्तुति कीजाय तब यह प्राणी शान्त स्थानको परमात्मामें प्राप्त होता है जहांसे फिर नहीं लौटता मुक्त होजाता है यह आशय थोडेमें कहा है इन मंत्रोंमें शरीर और त्रिलोकका वृत्तान्त गर्भित है बुद्धिमान् विस्तार करलेंगे "दयानन्दी भाष्यमें लोकम्पृण० तीन मंत्रोंको क्षेपक कहकर छोड दिया है" ॥ ३१ ॥

इति श्रीकात्यायनगोत्रोत्पन्नपण्डितसुखानंदमिश्रसूनु—पण्डितज्वालाप्रसादमिश्रविरचितार्यभाषाविभूषिते यजुर्वेदभाष्ये द्वित्रिचतुश्चितिवर्णनं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

शुभमस्तु।

अथ पञ्चदशोऽध्यायः १५.

अग्नेजातान् पञ्च रश्मिनासत्त्यायचतस्रःराज्ञ्यस्यंयंपुरः पञ्चकौ अग्निमूर्द्धैकोनत्रिंशत् येन ऽऋपयोष्टौ तपश्चनव सप्तपञ्चषष्टिः ॥

अथ पञ्चमचितिप्रारम्भः ।

कण्डिका १–मंत्र १० अनु० १ ।

अग्ग्नेजातान्प्रणुदानःसुपत्क्नान्प्रत्त्यजातान्नुदजात वेदः ॥ अधिनोब्रूहिसुमनाऽअहेडँस्त्तवंस्यामुश र्म्मँस्त्रिवरूथऽउद्भौ ॥ १ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अग्ने जातानित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । पूर्वस्यां दिशि पद्येष्टकोपधाने वि० ॥ १ ॥

विधि–(१) इस मंत्र और दूसरी कण्डिकात्मक मंत्र और तीसरी कण्डिकात्मक तीन मंत्रोंसे पांच असपत्ना नामक इष्टका उपधान करै उनमें यह पहले मंत्रसे पूर्वकी ओर स्थापन करै [का० १७ । ११ । १–३] मन्त्रार्थ–(जातवेदः) हे समस्तके जाननेवाले (अग्ने) अग्नि देवता ! (नः) हमारे (जातान्) पूर्व उत्पन्न (सपत्नान्) शत्रुओंको (आ) सब प्रकारसे (प्रणुद) अधिकतासे नाश करो (अजातान्) अनुत्पन्न शत्रुओंको (प्रतिनुद) प्रतिवन्ध करो अर्थात् जो भविष्यत् गर्भमें निहित हैं उन सबकोही विनष्ट करो किंच (सुमनाः) अच्छे अन्तःकरणसे (अहेडन्) क्रोधरहित होकर (नः) हमको (अधिब्रूहि) वर प्रदान करो वा यज्ञसम्बन्धी उपदेश करो, हे अग्ने ! (तव) आपके सम्बन्धी (शर्मन्) सुखके आश्रय (उद्भौ) मनुष्य पशु धन धान्य आदिके प्रभवस्थान (त्रिवरूथे) सदोमण्डप, हविर्धान्य, आग्नीध्र प्रदेश इन तीन स्थानोंमें(स्याम)सदा यज्ञ करैं अर्थात् सुखकर और सर्व फलप्रद तीन स्थानसे हमारी तुम्हारी परिचर्या कृतकार्य हो ॥ १ ॥

कण्डिका २–मन्त्र १ ।

सहसाजातान्प्रणुदानःसुपत्क्नान्प्रत्त्यजाताञ्जात वेदोनुदस्व ॥ अधिनोब्रूहिसुमनस्यमानोवयँ स्यामुप्प्रणुदानःसपत्क्नान् ॥ २ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ सहसेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । पश्चिमस्यामिष्टकोपधाने वि० ॥ २ ॥

विधि-(१) पश्चिममें स्थापन करै। मन्त्रार्थ-(जातवेदः) हे जातप्रज्ञान अग्ने ! (सहसा) बलसे (जातान्) उत्पन्न हुए (नः) हमारे (सपत्नान्) शत्रुओंको (आ) सब ओरसे (प्रणुद) नाश करो (अजातान्) भविष्यत होनेवालोंकी उत्पत्तिको (प्रतिनुदस्व) रोको निवृत्त करो (सुमनस्यमानः) सदन्तःकरणसे क्रोधरहित हो(नः)हमको(अधिब्रूहि)शत्रुओंसे अधिक कहो वरप्रदान वा यज्ञका उपदेश करो (वयम्) हम (आ) सब प्रकार शत्रुओंसे बली (स्याम) हौं तुम्हारे प्रसादसे अधिक हों (नः) हमारे (सपत्नान्) शत्रुओंको (प्रणुद) नाश करो॥२॥

कण्डिका ३-मंत्र ३ ।

षोडशीस्तोमऽओजोद्रविणञ्चतुश्चत्वारिꣳश स्तोमोवर्चोद्रविणम् ॥ अग्नेऽपुरीषमस्यप्पसोना मतान्त्वाविश्वेऽअभिगृणन्तुदेवाः ॥ स्तोमपृष्ठा घृतवतीहसीदप्प्रजावदस्म्मेद्रविणायजस्व ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ षोडशीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । आसुरी त्रिष्टुप्छं०। इष्टका देवता । दक्षिणस्यां दिशीष्टकोपधाने वि० । (२) ॐ चतुश्चत्त्वारिंशादित्यस्य परमेष्ठी ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । इष्टका दे० । उत्तरस्यां दिशीष्टकोपधाने वि० । (३) ॐ अग्नेरित्यस्य निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । मध्यभाग इष्टकोपधाने वि० ॥ ३ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे दक्षिणमें स्थापन करै । मंत्रार्थ-हे इष्टके ! (षोडशीस्तोमः) पंचदशकला और पक्षका स्वामी आदित्यरूप षोडश वृत्तिरूप स्तोमके प्रभावसे तुमको सादन करताहूं इस स्थलमें (ओजः) तेज और (द्रविणम्) धनकी प्राप्ति हो वा ओजरूप धन इष्टका स्थापन करताहूं दक्षिण ओरसे पापनाश हो १ । विधि-(२) उत्तरकी ओर स्थापन करै । मंत्रार्थ-हे इष्टके ! (चतुश्चत्वारिꣳशः) चौवालीस आवृत्तियुक्त चतुश्चत्वारिंशस्तोम वज्र वा त्रिष्टुप् रूप तुमको स्थापन करताहूं इस स्थलमें (वर्चः) कान्तिरूप (द्रविणम्) धनलाभ करैं अथवा वर्च धनरूप तुमको स्थापन करताहूं उत्तरसे पाप दूर हो२। विधि-(३) मध्यभागमें स्थापन करै । मंत्रार्थ-हे इष्टके ! तुम (अप्सः) रक्षक (नाम) नामसे युक्त (अग्नेः) पंचदशकलावाले चन्द्ररूप अग्निके (पुरीषम्) पूर्णकरनेवाले (असि) हो (ताम्) उस (त्वाम्) तुमको (विश्वे) सम्पूर्ण (देवाः) देवता (अभिगृणन्तु) स्तुति करैं (स्तोमपृष्ठाः) सम्पूर्ण स्तोमपृष्ठ मंत्रोंके

प्रभावसे (घृतवती) होमे हुए घृतसे संयुक्त होती तुम (इह) इस चौथी चितिके ऊपर (सीद) स्थित हो (अस्मे) हमको इसके फलरूप (प्रजावत्) पुत्रयुक्त (द्रविणम्) धन (आयजस्व) प्रदान करो अर्थात् तुम इस नीचे स्थित सम्पूर्ण इष्टकाओंके रक्षक हो और अग्निके पुरीष्यनामसे प्रसिद्ध तुम सम्पूर्ण स्तोम मंत्रके प्रभावसे इस घृतस्थान चतुर्थ चितिके ऊपर स्थित हो सब देवता तुम्हारी स्तुति करैं और तुमभी हमको इसके फलसे प्रजावर्गके सहित यथेष्ट ऐश्वर्य प्रदान करो ३ ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मंत्र १८।

एवश्छन्दो वरिवश्छन्दः शम्भूश्छन्दः परिभूश्छन्दऽआच्छच्छन्दो मनश्छन्दो व्यचश्छन्दः सिन्धुश्छन्दः समुद्रश्छन्दः सरिरं छन्दः ककुप्छन्दस्त्रिककुप्छन्दः काव्यं छन्दोऽअङ्कुपं छन्दोऽक्षरपङ्क्तिश्छन्दः पदपङ्क्तिश्छन्दो विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः क्षुरो भ्रजश्छन्दऽआच्छच्छन्दः प्रच्छच्छन्दः ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-ॐ एवश्छन्द इति १ । ३ । ५ । ६ । ७ । ८ । ११ । १३ । १९ । २० । २१ । २२ । २३ । २७ । २८ । २९ । ३१ । ३३ । ३७ । ३९ मंत्राणां परमेष्ठी ऋषिः । दैवी बृहती छं० । इष्टका दे० । ॐ वरिव इत्यादि २ । ४ । ९ । १० । १२ । १४ । २५ । २६ । ३० । ३२ । ३४ । ३५ । ३६ । ४० मंत्राणां दैवी पंक्तिश्छं० । १६ । १८ । २४ । ३८ मंत्राणां दैवी त्रिष्टुप्छन्दः । ॐ १५ । १७ मंत्रयोर्दैवी जगती छन्दः । विराट्पद्येष्टकोपधाने विनियोगः ॥ ४ ॥

विधि-(१) इस कण्डिका एवं पर कण्डिका इन दोनों कण्डिकात्मक चालीस मंत्रोंसे पूर्वादि चारों दिशाओंमें क्रमसे दशदश इस प्रकार यह चालीस विराट्नामक पद्या इष्टका उपधान करै [का० १७ । १९ । ५]मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! (एवश्छन्दः) जिसमें सब प्राणी चलतेहैं ऐसे भूलोकको मननकरते तुमको सादनकरता हूं "अयं

वै लोक एवश्छन्दः" इति [८ । ५ । २ । ३] श्रुतेः १ । "इसप्रकार सर्वत्र दोनों कण्डिकामें जानना" (वरिवश्छन्दः) प्रभामण्डलसे व्याप्त अन्तरिक्षलोक "अन्तरिक्षं वै वरिवश्छन्दः" इति [८ । ५ । २ । ३] श्रुतेः २ । (शम्भूश्छंदः) सुखदायक द्युलोकको मननकरते "द्यौर्वै शम्भूश्छन्दः" इति [३] श्रुतेः ३ । (परिभूश्छन्दः) सब ओरसे व्याप्त होकर वर्तमान दिक्को मननकर० "दिशो वै परिभूश्छन्दः" इति [३] श्रुतेः ४ । (आच्छच्छन्दः)अपने रससे शरीरको आच्छादन करनेवाले अन्नको० । "अन्नं वा आच्छच्छन्दः" इति[३]श्रुतेः५। (मनश्छन्दः) प्रजापतिरूप मनको मननकरते० "प्रजापतिर्वै मनश्छन्दः" इति [३] श्रुतेः ६ । व्यचश्छन्दः) सब जगत्को व्याप्तकरनेवाले आदित्यको मन० "असौ वा आदित्यो व्यचश्छन्दः" इति [३] श्रुतेः ७ । (सिन्धुश्छन्दः) नाडियोंद्वारा शरीरको व्याप्तकरनेवाले प्राण वायुको मनन० "प्राणो वै सिन्धुश्छन्दः" इति [८ । ५ । २ । ४] श्रुतेः ८ । (समुद्रश्छन्दः) समुद्रकी समान गम्भीर विकल्प युक्त मनको० "मनो वै समुद्रश्छन्दः" इति [४] श्रुतेः ९ । (सरिरं छन्दः) मुखसे निकलनेवाले वाक्को मननकरते० "वाग्वै सरिरं छन्दः" इति [४] श्रुतेः १० । (ककुप्छन्दः) शरीरको दीप्तकर धारण करनेवाले प्राणको मननकरते० "प्राणो वै ककुप्छन्दः" इति [४] श्रुतेः ११ । (त्रिककुप्छन्दः) पियेहुए जलको तीन प्रकार करनेवाले उदानको मनन० "उदानो वै त्रिककुप्छन्दः" इति श्रुतेः [४] १२ । (काव्यञ्छन्दः) त्रयीविद्या अर्थात् वेदत्रयको मननकरते० "त्रयी वैविद्या काव्यं छन्दः" इति [४] श्रुतेः १३ । (अङ्कुपं छन्दः) कुटिलगति चलनेवाले जलको मननकरते० "आपो वा अङ्कुपं छन्दः" इति [४] श्रुतेः १४ । (अक्षरपंक्तिश्छन्दः) नाशरहित स्वर्गलोक० "असौ वै लोकोऽक्षरपंक्तिश्छन्दः" इति [४] श्रुतेः १५ । (पदपंक्तिश्छन्दः) जिसमें चरणन्यास होते हैं उस भूलोकको० "अयं वै लोकः पदपङ्क्तिश्छन्दः" इति [४] श्रुतेः १६ । (विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः) जहां वस्तुसमूह विस्तारित है वह दिशा पाताल "दिशो वै विष्टारपंक्तिश्छन्दः" इति [४] श्रुतेः १७ । (क्षुरोभ्रजश्छन्दः) तीव्रतासे आकाशको लिखने प्रकाशनेवाली विद्युत् पुञ्ज वा आदित्यको मनन० "असौ वा आदित्यः क्षुरोभ्रजश्छन्दः" इति [८ । ५ । २ । ४ ।] श्रुतेः १८ ॥ ४ ॥

कण्डिका ५—मंत्र २२ ।

आ॒च्छच्छन्दः॑ प्र॒च्छच्छन्दः॑ सं॒यच्छन्दो॑ वि॒य
च्छन्दो॑ बृ॒हच्छन्दो॑ रथन्त॒रञ्छन्दो॑ निका॒यश्छन्दो॑

विवधश्छन्दो गिरश्छन्दो भ्रजश्छन्दः सꣳस्तुप्छन्दोऽनुष्टुप्छन्द एवश्छन्दो वरिवश्छन्दो वयश्छन्दो वयस्कृच्छन्दो विष्पर्द्धाश्छन्दो विशालं छन्दश्छदिश्छन्दो दूरोहणं छन्दस्तन्द्रं छन्दोऽअङ्काङ्कं छन्दः ॥ ५ ॥ [५]

ऋष्यादि-पूर्ववत् ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ-(आच्छच्छन्दः) शरीरका आच्छादक अन्न है उसको मनन करते० १ । (प्रच्छच्छन्दः) शरीरप्रच्छादक जल वा अन्नकोही मनन० "अन्नं वा आच्छच्छन्दोऽन्नं प्रच्छच्छन्दः" इति [४] श्रुतेः २ । (संयच्छन्दः) व्यापारकी निवर्तक रात्रिको मनन करते० "रात्रिर्वै संयच्छन्दः" इति [८ । ५ । २ । ५] श्रुतेः ३ । (वियच्छन्दः) विशेष व्यापारप्रवर्तक दिनको मनन करते० "अहर्वै वियच्छन्दः" इति [५] श्रुतेः ४ । (बृहच्छन्दः) विस्तीर्ण द्युलोकको मनन करते० "असौ वै लोको बृहच्छन्दः" इति [५] श्रुतेः ५ । (रथन्तरं छन्दः) जहां रथादिद्वारा गमन करते हैं उस भूलोकको० "अयं वै लोको रथन्तरं छन्दः" इति [५] श्रुतेः ६ । (निकायश्छन्दः) अत्यन्त शब्दकारक वायुको मनन करते० "वायुर्वै निकायश्छन्दः" इति [५] श्रुतेः ७ । (विवधश्छन्दः) जहां भूतप्रेत रूपसे विविधप्रकारके पाप भोगेजातेहैं उस अन्तरिक्षको० "अन्तरिक्षं वै विवधश्छन्दः" इति [५] श्रुतेः ८ । (गिरश्छन्दः) भक्षण योग्य अन्नको० "अन्नं वै गिरश्छन्दः" इति [५] श्रुतेः । ९ । (भ्रजश्छन्दः) प्रकाशमान अग्निको० "अग्निर्वै भ्रजश्छन्दः" इति [५] श्रुते १० । (संस्तुप्छन्दः) वैखरीवाणीको मनन करते सादन करताहूं ११ । (अनुष्टुप्छन्दः) मध्यमावाणीको मनन०"वागेव सꣳस्तुप्छन्दो वागनुष्टुप्छन्दः" इति [५] श्रुतेः १२ । (एवश्छन्दः) पृथ्वी-लोकको मननकरते० १३ । (वरिवश्छन्दः) प्रभामण्डलको० १४ । (वियश्छन्दः) वाल्यादि वयके हेतु अन्नको मननकरते०"अन्नं वै वयश्छन्दः" इति[६]श्रुतेः १५ । (वयस्कृच्छन्दः) वाल्यादिकारक जाठराग्निको०"अग्निर्वै वयस्कृच्छन्दः" इति६श्रुतेः १६ । (विष्पर्द्धाश्छन्दः) विविध ऐश्वर्यकी प्राप्तिवाले स्वर्गके स्पर्धामूल अर्हतत्वको "असौ वै लोको विष्पर्धाश्छन्दः"इति [६] श्रुतेः १७ । (विशालं छन्दः) जहां मनुष्य अनेक प्रकारसे शोभित होते हैं उस भूतलको०वा महत्तत्त्वको०"अयं वै लोको विशालं छन्दः" इति [६] श्रुतेः १८ । (छदिश्छन्दः)सूर्यकी किरणोंसे छादित

होनेवाले अन्तरिक्ष वा मायाको० "अन्तरिक्षं वै छदिश्छन्दः" इति [६] श्रुतेः १९। (दूरोहणञ्छन्दः) ज्ञान. वा कठिनतासे प्राप्त होने योग्य निष्काम ज्योतिहोमादि यज्ञके प्रयाससे सिद्ध ज्ञानरूपी सूर्यको० "असौ वा आदित्यो दूरोहणं छन्दः" इति [६] श्रुतेः २०। (तन्द्रंछन्दः) अज्ञान वा स्थानसंकोचक श्रेणीको० "पंक्तिर्वै तन्द्रंछन्दः" इति [६] श्रुतेः २१। (अङ्काङ्कंछन्दः) आस्तिकताका निदर्शन अथवा गर्त पाषाणादियुक्त जलको मनन करते तुमको सादन करताहूं "आपो वा अङ्काङ्कंछन्दः" इति [६] श्रुतेः॥ २२॥

विशेष–भूलोकादि रूपसे इष्टकाओंकी स्तुति है इन सब वस्तुओंका तत्त्वविचार मनुष्योंको कर्तव्य है॥ ९॥ [९]

कण्डिका ६। ७। ८। ९–मंत्र १०. अनु० २।

रश्मिनां सत्यायं सत्त्यञ्जिन्व प्रेतिना धर्म्मणा धर्म्मञ्जिन्वान्वित्या दिवा दिवञ्जिन्व सन्धिनान्तरिक्षेणान्तरिक्षञ्जिन्व प्प्रतिधिना पृथिव्या पृथिवीञ्जिन्व विष्टम्भेन वृष्ट्या वृष्टिञ्जिन्व प्प्रवयाह्नाहर्जिन्वानुयारात्र्या रात्रीञ्जिन्वोशिजा वसुभ्यो वसूञ्जिन्व प्प्रकेतेनादित्येभ्य आदित्याञ्जिन्व तन्तुना रायः॥ ६॥

ऋष्यादि–(१) ॐ रश्मिनेति १। २। ६। ९। १७ मंत्राणां परमेष्ठी ऋषिः। याजुषी पंक्तिश्छन्दः। इष्टका देवताः। ३। ८। १८। २६। २९ मंत्राणां याजुषी बृहती०। ॐ० ४। ५। १०। मंत्राणां याजुषी जगती०। ७। २० मंत्रयोः याजुष्युष्णिक्छं०। ११ मंत्रस्य साम्न्युष्णिक्०। १२। १३। १४। १५। १६। मंत्राणां याजुषी त्रिष्टुप्०। ॐ० १९। २१। २२। २३। २४। २५। २७। २८ मंत्राणां याजुष्यनुष्टुप्छन्दः। स्तोमभागेष्टकोपधाने विनि०॥ ६। ७। ८। ९॥

विधि–इस कण्डिका और अगली कण्डिकाओंके २९ मंत्रोंसे आषाढ वेलासे २९ स्तोमभाग नामक इष्टका उपधान करै, उसमें प्रथम दक्षिण भागमें पन्द्रह पीछे उत्तर भागमें चौदह भागनूक करके उपहित करना होता है [का० १७। ११। ९–१०] यह मंत्र श्रुतिमें तीन प्रकारसे कहे हैं दो कण्डिकापर्यन्त "अमुनोपहिता सत्यदो जिन्वेति प्रथमः अदोऽस्यमुष्मै त्वामुपदधामीति द्वितीयः अधिप-

तिनोर्जोर्जं जिन्वेति तृतीयः" । "अमुनादो जिन्वादोऽस्यमुष्मै त्वाधिपतिनोर्जोर्जं जिन्वेति त्रेधा विहितास्त्रेधा विहितꣳ ह्यन्नम्" इति [८ । ५ । ३ । ३] श्रुतेः ।

मंत्रार्थ-हे इष्टके ! तुम (रश्मिना) अन्नके प्रभावसे (सत्याय) सत्यके निमित्त (सत्यम्) सत्य वाणीको (जिन्व) प्रीतिकरो तेजकी वृद्धि करनेसे अन्न रश्मि है "रश्मिरन्नम्" इति [८ । ५ । ३ । ३] श्रुतेः १ । (प्रेतिना) देहमें गतिवाले अन्नके प्रभावसे (धर्मणा) धर्मके निमित्त उपहित हुई (धर्म्मम्) धर्मको (जिन्व) प्रीतिकरो "प्रेतिरन्नम्" इति [६] श्रुतेः २ । (अन्वित्या) देहमें गतिवाले अन्नके प्रभावसे (दिवा) दिव्य लोकके निमित्त उपहित हुई तुम (दिवम्) द्युलोकको (जिन्व) प्रीतिकरो "अन्वितिरन्नम्" इति श्रुतेः ३। (सन्धिना) बलादिके आधार अन्नके प्रभावसे (अन्तरिक्षेण) अन्तरिक्षके निमित्त उपहित हुई तुम (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (जिन्व) प्रीतिकरो ४ । (प्रतिधिना) प्रत्येक इन्द्रियके आधार अन्नके प्रभावसे (पृथिव्या) पृथ्वीके निमित्त उपहित हुई (पृथिवीम्) पृथ्वीको (जिन्व) प्रीतिकरो ५ । (विष्टम्भेन) देहादिके स्तम्भ करनेवाले अन्नके प्रभावसे (वृष्ट्या) वृष्टिके निमित्त उपहित हुई (वृष्टिम्) वर्षाको (जिन्व) प्रीति करो ६ । (प्रवया) देहमें गमनागमनकारी अन्नके प्रभावसे (अह्ना) दिनके निमित्त उपहित हुई तुम (अहः) दिनको (जिन्व) प्रीति करो ७ । (अनुया) देहान्तर्गत ७२ नाडियोंमें गमनागमनकारी अन्नके प्रभावसे (रात्र्या) रात्रिके निमित्त उपहित हुई (रात्रिम्) रात्रिको (जिन्व) प्रीति करो ८ । (उशिजा) समस्त प्राणियोंके आकांक्षणीय अन्नके प्रभावसे (वसुभ्यः) वसुओंके निमित्त उपहित हुई (वसून्) वसुगणको (जिन्व) प्रीति करो (प्रकेतेन) सुखानुभवके कारण अन्नके प्रभावसे (आदित्येभ्यः) आदित्य गणोंके निमित्त उपहित हुई तुम (आदित्यान्) आदित्योंको (जिन्व) प्रीति करो १० ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मंत्र ६ ।

तन्तुंनारायस्प्पोषेणरायस्प्पोषञ्जिन्वसꣳसर्प्पेण श्श्रुतायश्श्रुतञ्जिन्वैडेनौषधीभिरोषधीर्जिन्वोत्त मेनंतनूभिस्तनूर्जिन्ववयोधसाधीतेनाधीतञ्जिन्वा भिजितातेजसातेजोजिन्व ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-पूर्ववत् ॥ ७ ॥

मंत्रार्थ-(तन्तुना) शरीरके वर्द्धक अन्नके प्रभावसे (रायस्पोषेण) धनकी पुष्टिके निमित्त उपहित हुई (रायस्पोषम्) धनकी पुष्टिको (जिन्व) प्रीति करो ११। (सङ्सर्पेण) प्रति इन्द्रियमें फैलनेवाले अन्नके प्रभावसे (श्रुताय) शास्त्रके निमित्त उपहित हुई (श्रुतम्) शास्त्रको (जिन्व) प्रीति करो १२। (एडेन) प्रसिद्ध अन्नके प्रभावसे (ओषधीभिः) ओषधियोंके निमित्त उपहित हुई (ओषधीः) ओषधियोंको (जिन्व) प्रीतिकरो १३। (उत्तमेन) पृथ्वीके उत्कृष्ट पदार्थ अन्नके प्रभावसे (तनूभिः) तनुगणके निमित्त उपहित हुई (तनूः) शरीरोंको (जिन्व) प्रीतिकरो १४। (वयोधसा) शरीरके उपचयकारी अन्नके प्रभावसे (अधीतेन) अध्ययनके निमित्त उपहित हुई (अधीतम्) अध्ययनको (जिन्व) प्रीतिकरो १५। (अभिजिता) बलकारी अन्नके प्रभावसे (तेजसा) तेजके निमित्त उपहित हुई (तेजः) तेजको (जिन्व) प्रीतिकरो १६ ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मंत्र ४।

प्रतिपदसि प्रतिपदे त्वानुपदस्यनुपदे त्वा सम्पदसि सम्पदे त्वा तेजोसि तेजसे त्वा त्रिवृदसि ॥ ८ ॥

ऋष्यादि-पूर्ववत् ॥ ८ ॥

विधि-(१) "अदोऽस्यमुष्मै मंत्र-कथनम्-" मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! तुम (प्रतिपत्) जिससे जीवनका अस्तितव प्राप्त होताहै ऐसे अन्नरूप (असि) हो (प्रतिपदे) अन्नप्राप्तिके निमित्त (त्वा) तुमको उपधान करता हूं १७। तुम (अनुपत्) इन्द्रियोंको स्वस्वकार्यमें समर्थ करनेवाली अन्नरूप (असि) हो (अनुपदे) अन्नके निमित्त (त्वा) तुमको उपधान करता हूं १८। तुम (सम्पत्) सम्पत्तिप्रतिपादक अन्नरूप (असि) हो (सम्पदे) अन्नसम्पत्तिके निमित्त (त्वा) तुमको सादन करता हूं १९। तुम (तेजः) शरीरमें तेजदायक अन्नरूप (असि) हो (तेजसे) तेजके निमित्त (त्वा) तुमको सादन करताहूं २० ॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मन्त्र ९।

त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा प्रवृदसि प्रवृते त्वा विवृदसि विवृते त्वा सवृदसि सवृते त्वाक्रमोस्याक्रमाय त्वा सङ्क्रमोसि सङ्क्रमाय त्वोत्क्रमोस्युत्क्रमाय त्वोत्क्रान्तिरस्युत्क्रान्त्यै त्वाधिपतिनोर्जोर्जं जिन्व ॥ ९ ॥ [४]

ऋष्यादि-पूर्ववत ॥ ९ ॥

मंत्रार्थ-हे इष्टके ! तुम (त्रिवृत्) कृषि वृष्टि और वीजसे उत्पन्न अन्नरूप (असि) हो (त्रिवृते) अन्नके निमित्त (त्वा) तुमको सादन करताहूं २१ । तुम (प्रवृत्) सब प्राणियोंको कार्यमें प्रवृत्तिकारी अन्नरूप (असि) हो (प्रवृते) कार्यप्रवृत्तिके निमित्त (त्वा) तुमको सादन करताहूं २२ । तुम (विवृत्) प्रत्येक इन्द्रियको उस २ कार्यमें प्रवर्तक अन्नरूप (असि) हो (विवृते) विवृत्तिके निमित्त (त्वा) तुमको सादन करताहूं २३ । तुम (सवृत्) जीवनके सहचारी अन्नरूप (असि) हो (सवृते) अन्नके निमित्त (त्वा) तुमको सादन करताहूं २४ । तुम (आक्रमः) क्षुधाके पराभवकारी अन्नरूप (असि) हो (आक्रमाय) अन्नप्राप्तिके निमित्त (त्वा) तुमको सादन करताहूं २५ । तुम (संक्रमः) सन्तानोत्पत्तिके बीज अन्नरूप (असि) हो (संक्रमाय) संक्रमके निमित्त (त्वा) तुमको उपहित करताहूं २६ । तुम (उत्क्रमः) जन्मके निदानभूत अन्नरूप (असि) हो (उत्क्रमाय) उत्क्रमके निमित्त (त्वा) तुमको सादन करताहूं २७। (उत्क्रान्तिः) उत्कृष्ट गमनवाले अन्नरूप (असि) हो (उत्क्रान्त्यै) उत्क्रान्तिके निमित्त (त्वा) तुमको सादन करताहूं २८ ।

[तीसरा भेद]

(अधिपतिना) अधिकपालक (ऊर्जा) अन्नरससे (ऊर्जम्) अन्नरसको (जिन्व) प्रीतिकरो २९ ॥ ९ ॥

विशेष-इन मंत्रोंमें जितने अन्नके गुण वर्णन किये हैं, रीतिसे सेवनकरनेसे उन उन गुणोंकी प्राप्ति होती है, बुद्धिमान्‌को इन गुणोंको जानकर यथायोग्य अन्नका सेवन करना चाहिये [उत्क्रान्तिका अर्थ कोई मृत्युका निदान भूत अन्न ऐसा करतेहैं और यह भी उचित विदित होता है कारण कि ज्वरादिमें अन्नके सेवनसेही कभी दोष वा सन्निपात होता है] [४] ॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मन्त्र २ अनु० ३ ।

राज्ञ्यसि प्राची दिग्वसवस्ते देवाऽअधिपतयोऽग्नि
र्हेतीनाम्प्रतिधर्त्ता त्रिवृत्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳬश्र
यत्वाज्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु रथन्तरᳪसाम
प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽऋषयस्त्वा प्रथमजा

देवेषुदिवोमात्रयावरिम्मणाप्रथन्तुविधर्त्ताचायमधिपतिश्चतेत्वासर्वेसंविदानानाकस्यपृष्ठेस्वर्गेलोकेयजमानञ्चसादयन्तु ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ राज्ञ्यसीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । विराड्ब्राह्मी त्रिष्टुप्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । पूर्वदिशि नाकसदेष्टकोपधाने विनि० । (२) ॐ प्रथमजामित्युत्तरस्य परमेष्ठी ऋ० । ब्राह्मी बृहती छन्दः । लिं० दे० । नाकसदेष्टकोपधाने विनियोगः ॥ १० ॥

विधि-(१) ऋतव्य वेलाके अनूकके ऊपर पूर्व दक्षिण पश्चिम उत्तर और मध्यदिग्भागमें यहांसे लेकर पांच कण्डिकापर्यन्त पांच मंत्रोंसे नाकसद् नामक पांच इष्टका उपधान करै [का० १७ । १२ । १] मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! तुम (राज्ञी) राजमान (प्राचीदिक्) पूर्व दिशारूप (असि) हो अर्थात् पूर्वदिशाकी अवलम्बन करनेवाली राज्ञी हो (वसवः) आठ वसु (देवाः) देवता (ते) तुम्हारे (अधिपतयः) पालक हैं (अग्निः) अग्निदेवता (हेतीनाम्) तुम्हारी सम्पूर्ण बाधाओंका (प्रतिधर्ता) निवारक है (त्रिवृत्स्तोमः) त्रिवृत्स्तोम (त्वा) तुमको (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें (श्रयतु) स्थापन करो (आज्यम्) आज्य नामक (उक्थम्) शस्त्र "प्रवो देवायाग्नये" इत्यादि [ऐतरेयब्रा० २ । ४०] (अव्यथायै) व्यथाहीनता अर्थात् दृढताके निमित्त तुमको (स्तभ्नातु) दृढ करैं (रथन्तरं साम) रथन्तर साम (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष लोकमें (प्रतिष्ठित्यै) प्रतिष्ठाके निमित्त तुमको दृढ करै (प्रथमजाः) प्रथमोत्पन्न (ऋषयः) प्राण "प्राणा वा ऋषयः प्रथमजाः" इति [८ । ६ । १ । ५] श्रुतेः । (देवेषु) देवता वा द्युलोकमें (दिवः) आकाशकी (मात्रया) परिमाणता (वरिम्णा) उरुता विस्तारसे (त्वा) तुझको (प्रथन्तु) विस्तार करैं अर्थात् प्रथमोत्पन्न ऋषि देव लोकमें तुमको श्रेष्ठ देवांश प्रथित करैं (विधर्ता) इष्टका निष्पादन करनेवाला (च) और (अयम्) यह (अधिपतिः) इष्टकापालक अथवा वागभिमानी देवता और प्रधानभूत मनोभिमानी देवता (च) भी (त्वा) तुमको प्रथित विस्तारित करै इस प्रकार (ते) वे (सर्वे) सम्पूर्ण वसुआदि देवता (संविदानाः) एक मतिसे स्थित हुए (नाकस्य) सुखस्वरूप (पृष्ठे) लोकके ऊपर अर्थात् (स्वर्गे) स्वर्ग (लोके) लोकमें (यजमानम्) यजमानको (च) अवश्यही (सादयतु) प्राप्त करैं अर्थात् सब देवता तुम्हारी परिचर्यासे परिचित होकर यजमानको उत्कृष्ट सर्व सुखकी खान स्वर्ग प्राप्त करावे ॥ १० ॥

प्रमाण-"विधर्ता चायमधिपतिश्चेति वाकूच: तौ मनश्च तौ हीदꣳसर्वं विधारयते" इति [८ । ६ । १ । ९] श्रुतेः। स्तोम और सामकी व्याख्या राजसूयप्रकरण दशमें १० अध्या० १०-१४ तक लिख चुके हैं ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मन्त्र १।

विराडसि दक्षिणा दिग्रुद्रास्ते देवाऽअधिपतयऽइन्द्रो हेतीनाम्प्रतिधर्त्ता पञ्चदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याꣳश्रयतु प्रउगमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु बृहत्साम प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानञ्च सादयन्तु ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विराडसीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । पूर्वस्य भुरिग्ब्राह्मी त्रिष्टुप्छन्दः वा प्रथमजा इत्यस्य परमेष्ठी ऋ० । ब्राह्मी बृहती छन्दः । लिं० दे० । दक्षिणस्यां दिशि नाकसदेष्टकोपधाने वि० । [दक्षिणासे सादन] ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! तुम (विराट्) विशेष विराजमान (दाक्षिणा) दक्षिण (दिक्) दिशा (असि) हो (रुद्राः) रुद्र (देवाः) देवता (ते) तुम्हारे (आधिपतयः) पालक हैं (इन्द्रः) इन्द्र देवता (हेतीनाम्) व्याधियोंका (प्रतिधर्ता) निवर्तक है (पञ्चदशः) पंचदश (स्तोमः) स्तोम (त्वा) तुमको (पृथिव्याम्) पृथिवीमें (श्रयतु) स्थापित करै (प्रउगम्) प्रउगनामक (उक्थम्) उक्थ "वायुरग्रेगाः" इति [अ० २७ का० ३१](अव्यथायै)दृढताके निमित्त तुमको(स्तभ्नातु) स्तंभित करै (बृहत्साम) बृहत्साम (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें (प्रतिष्ठित्यै) प्रतिष्ठाका कारण हो० शेष पूर्वकी समान है ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मन्त्र २।

सम्राडसि प्रतीची दिगादित्यास्ते देवाऽअधिपतयो वरुणो हेतीनाम्प्रतिधर्त्ता सप्तदशस्त्वा स्तोमः

पृथिव्याᳪंश्रयतु मरुत्वतीयमुक्थमव्यथायै स्त
भ्नातु वैरूपᳪं साम प्रतिष्ठित्या ऽअन्तरिक्ष ऽऋष
यस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथ
न्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना ना
कस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानञ्च सादयन्तु ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सम्राडसीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। पूर्वस्य निच्यृद्ब्राह्मी जगती छं० । लिङ्गोक्ता दे० । वा प्रथमजा इत्युत्तरस्य ब्राह्मी बृहती छं० । पश्चिमस्यां दिशी नाकसदेष्टकोपधाने वि०॥१२॥ (पश्चिम ओरसे)

मंत्रार्थ-हे इष्टके ! तुम (सम्राट्) विशेष दीप्तिमान्(प्रतीची)पश्चिमा (दिक्) दिशा (असि) हो.(आदित्याः)आदित्य(देवाः)देवता(ते)तुम्हारे (अधिपतयः) पालक हैं (वरुणः) वरुण (हेतीनाम्)दुःखोंका (प्रतिधर्ता) निर्वतक है(सप्तदशः) सप्तदश (स्तोमः) स्तोम (त्वा) तुमको (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें (श्रयतु) दृढ करो (मरुत्वतीयम्) "आ त्वा रथं यथोतये" इति [ऋक् सं० मं० ८ । ७ । ९ । १] श्रुतेः। मरुत्वतीय (उक्थम्) शस्त्र (अव्यथायै) दृढताके निमित्त तुमको(स्तभ्नातु) स्थापन करै (वैरूपम्) वैरूप (साम) साम (प्रतिष्ठित्यै) प्रतिष्ठाके निमित्त (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें तुमको दृढ करै शेषं पूर्ववत् ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मंत्र १ ।

स्वराडस्युदीची दिङ्मरुतस्ते देवा ऽअधिपतयः
सोमो हेतीनाम्प्रतिधर्त्तैकविᳪंशस्त्वा स्तोमः पृ
थिव्याᳪंश्रयतु निष्केवल्यमुक्थमव्यथायै स्त
भ्नातु वैराजᳪं साम प्रतिष्ठित्या ऽअन्तरिक्ष ऽऋ
षयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्र
थन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदा
नाना कस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानञ्च सादयन्तु ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ स्वराडसीत्यस्य परमेष्ठी ऋ० । भुरिग्ब्राह्मी त्रिष्टुप्छं० । लिङ्गोक्ता दे० । प्रथमजा इत्युत्तरस्य परमे० ऋ० । ब्राह्मी बृहती छं० । उत्तरस्यां दिशि नाकसदेष्टकोपधाने वि०॥१३॥ (उत्तरसे)

मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! तुम (स्वराट्) स्वयं विराजमान होनेवाली (उदीची) उत्तर (दिक्) दिशा (असि) हो (मरुतः) मरुत् (देवाः) देवता (ते) तुम्हारे (अधिपतयः) पालक हैं (सोमः) सोम (हेतीनाम्)व्याधियोंका(प्रतिधर्ता) निवारक है (एकविꣳशः) एकविंश (स्तोमः) स्तोम (त्वा)तुझको (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें (श्रयतु) स्थापनकरो (निष्केवल्यम्) निष्केवल्य नाम (उक्थम्)"अभि-त्वा शूर नोनुमः" [ऋक्० मं० ७ । २ । १५ । २२] शस्त्र (अव्यथायै)दृढ़ताके निमित्त तुमको (स्तभ्नातु) स्थापनकरो (वैराजꣳसाम) वैराज साम (प्रति-ष्ठित्यै) प्रतिष्ठाके निमित्त तुमको (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें दृढ़करो । शेषं पूर्व-वत् ॥ १३ ॥

कण्डिका १४-मंत्र १ ।

अधिपत्न्यसि बृहती दिग्विश्वे ते देवा अधिपतयो बृहस्पतिर्हेतीनां प्रतिधर्ता त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ त्वा स्तोमौ पृथिव्याꣳ श्रयतां वैश्वदेवाग्निमारुते उक्थे अव्यथायै स्तभ्नीताꣳ शाक्वररैवते सामनी प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानञ्च सादयन्तु ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अधिपत्न्यसीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । पूर्वस्य ब्राह्मी जगतीछं० । लिङ्गो० दे० । ऋषयस्त्वेत्युत्तरस्य ब्राह्मी त्रिष्टुप्छन्दः । लिङ्गो० दे० । मध्ये नाकसदेष्टकोपधाने वि० ॥ १४ ॥ [मध्यमें]

मन्त्रार्थ–हे इष्टके ! तुम (अधिपत्नी) अधिक पालनकरनेवाली (बृहती) बडी ऊर्ध्व (दिक्) दिशा (असि) हो (विश्वे) सम्पूर्ण (देवाः) देवता (ते) तुम्हारे (अधिपतयः) पालक हैं (बृहस्पतिः) बृहस्पति देवता (हेतीनाम्) विघ्न दुःखोंका (प्रतिधर्ता) निवारक है (त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ) त्रिनवत्रयस्त्रिश (स्तोमौ) स्तोम (त्वा) तुमको (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें (श्रयताम्) स्थापित करैं (वैश्वदेवाग्निमारुते) वैश्वदेव अग्निमारुत (उक्थे) उक्थ (अव्यथायै) दृढताके निमित्त तुमको (स्तभ्नीताम्) स्थापितकरैं (शाक्वररैवते) शाक्वररैवत (साम्नी) दोनां साम (प्रतिष्ठित्यै) प्रतिष्ठाके निमित्त (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें तुमको स्थापित करैं। शेषं पूर्ववत् ॥ १४ ॥ [९]

विवरण–"तत्सवितुर्वृणीमहे" इत्यादि [ऋ० मं० ५ । ६ । १० । १] वैश्वदेव शस्त्र है। "वैश्वानराय पिथु पाजसे" [ऋ० मं० ३ । १ । १३ । १] आग्निमारुत शस्त्र है ॥ १४ ॥

कण्डिका १९ मंत्र–१. अनु० ४।

अयम्पुरोहरिकेशः सूर्यरश्मिस्तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्चसेनानीग्ग्रामण्यौ ॥ पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ दङ्क्ष्णवः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यन्द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषाञ्जम्भे दध्मः ॥ १५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अयम्पुर इत्यस्य परमेष्ठी ऋ० । कृतिश्छन्दः । लिङ्गोक्ता देवता । पूर्वस्यां दिशि पंचचूडेष्टकोपधाने वि० ॥ १५ ॥

विधि–(१) अनन्तर इन नाकसद इष्टकाओंके ऊपर मंत्रपूर्वक पुरीष (मृत्तिका) क्षेपण करके इस कण्डिकाप्रभृति पांच कण्डिकात्मक पांच मंत्रोंसे पांच पंचचूडा नामक इष्टका उपधान करै उनमें प्रथम पूर्वकी ओर उपधान करै [का० १७ । १२ । २–३] मन्त्रार्थ–(अयम्) यह (पुरः) पूर्व दिशामें स्थापित इष्टकारूप अग्नि "अग्निर्वै पुरस्तद्यत्तमाह पुर इति प्राञ्चं ह्यग्निमुद्धरन्ति प्राञ्चमुपचरन्ति" इति [८ । ६ । १ । १६] श्रुतेः (हरिकेशः) कनकवर्णकेश अर्थात् ज्वालाओंसे युक्त (सूर्यरश्मिः) सूर्यकी समान किरणवाला है (तस्य) उस अग्निके (रथगृत्सः) रथ विद्यामें कुशल (च) और (रथौजाः) रथयुद्धमें कुशल

(सेनानीग्रामण्यौ), सेनानायक और ग्रामनायक दोनों वसन्त ऋतु हैं (च) और (पुञ्जिकस्थला) रूप लावण्य और सौभाग्यादि गुणकी भंडार (च) और (क्रतुस्थला) संकल्प और रूपादि ज्ञानकी आधारभूत (अप्सरसौ) अप्सरा दिशा और उपदिशा रूप हैं (च) और (दङ्क्ष्णवः) काटनेका स्वभाव धारण करनेवाले (पशवः) व्याघ्रादि पशु (हेतिः) आयुध वज्र हैं (पौरुषेयः) परस्पर हननरूप (वधः) वध (प्रहेतिः) शस्त्र है इस प्रकार (तेभ्यः) अग्निके सम्पूर्ण परिचारकोंके निमित्त (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो (ते) वे सब (नः) हमको (मृडयन्तु) सुख दें (ते) वे सब (नः) हमको (अवन्तु) रक्षा करें (ते) वे सब (यम्) जिससे हम (द्विष्मः) द्वेष करते हैं (च) और (यः) जो (नः) हमारा (द्वेष्टि) द्वेष करनेवाला है (तम्) उसको (एषाम्) इनके (जम्भे) डाढोंमें (दध्मः) डालते हैं ॥ १५ ॥ [९]

प्रमाण–१ "सूर्यस्येव ह्यग्ने रश्मयः" इति [८ । ६ । १ । १६] श्रुतेः २ "गृणातेः स्तुतिकर्मणः" इति यास्कोक्तेः [निरु० ९ । ५ ।] ३ "वासन्तिकौ तावृतू" इति [८ । ६ । १ । १६] श्रुतेः । ४ "पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसाविति दिक् चोपदिशा चेति ह स्माह माहित्थिः" इति [८ । ६ । १ । १६] श्रुतेः । ५ "यदन्योन्यं घ्नन्ति स पौरुषेयो वधः प्रहेतिः" इति श्रुतेः [१६] ग्रामणी–नगरका शान्तिरक्षक, पूर्व दिशाकी रहनसहन वेषभावका अलंकार रूपसे वर्णन है ऐसाही सब दिशाओंमें जानना ॥ १५ ॥

कण्डिका १६–मन्त्र १ । अनु० ४ ।

अयन्दक्षिणाविश्श्वकर्म्मातस्यरथस्वनश्चरथेचित्रश्चसेनानीग्रामण्यौ ॥ मेनकाचसहजन्न्याचाप्सरसौयातुधानाहेतीरक्षाᳩसिप्प्रहेतिस्त्तेभ्यो नमोऽअस्तुतेनोवन्तुतेनोमृडयन्तुतेयन्द्विष्ष्मोयश्चनोद्वेष्टितमेषाञ्जम्भेदध्मः ॥ १६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अयंदक्षिणेत्यस्य परमेष्ठी ऋ० । प्रकृतिश्छन्दः । लिङ्गोक्ता देवता । दक्षिणस्यां दिशि पंचचूडेष्टकोपधाने विनियोगः । ॥ १६ ॥ [दक्षिणसे]

मन्त्रार्थ–(अयम्) यह (दक्षिणा) दक्षिण दिशामें स्थापित इष्टकारूप (विश्वकर्मा) सब कर्मकर्ता वायु है (तस्य) उसका (रथस्वनः) रथमें स्थित हों

शब्द करनेवाला (च) और (रथे चित्रः) रथके ऊपर चित्रकी समान स्थित हो नगरका शासन करनेवाले (सेनानीग्रामण्यौ) सेनापति और नगररक्षक ग्रीष्म ऋतुरूप है (च) और (मेनका) सबसे माननीय (सहजन्या) जो सर्वसाधारणके साथ स्थित हो यह दो (अप्सरसौ) अप्सरा हैं (च) और (यातुधानाः) राक्षसोंका अवान्तर जातिभेद (हेतिः) शस्त्र है (रक्षांसि) अतिक्रूर राक्षस (प्रहेतिः) तीक्ष्ण शस्त्र है इत्यादि पूर्ववत् ॥ १६ ॥

प्रमाण–१ "अयं वै वायुर्विश्वकर्मा योयं पवत एष हीद५ सर्वं करोति तद्यत्तमाह दक्षिणेति तस्मादेष दक्षिणैव भूयिष्ठं वाति" इति [८ । ६ । १ । १७] श्रुतेः २ "ग्रैष्मौ तावृतू" इति [१७] श्रुतेः ॥ १६ ॥

कण्डिका १७–मन्त्र १ ।

अयम्पुश्चाद्विश्वव्यंचास्तस्यरथंप्प्रोतश्चासंमरथश्चसेनानीग्ग्रामण्यौ ॥ प्रम्म्लोचंन्तीचानुम्म्लोचंन्तीचाप्प्सरसौव्व्याग्घ्राहेतिःसुप्पाःप्प्रहेतिस्तेब्भ्योनमोऽअस्तुतेनोवन्तुतेनोमृडयन्तुतेयन्द्विष्मोयश्चंनोद्वेष्टितमेषाञ्जम्भेदध्मः ॥ १७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अयंपश्चादित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । विराट्कृतिश्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । पश्चिमायां पञ्चचूडेष्टकोपधाने वि० ॥ १७ ॥ (पश्चिममें)

मन्त्रार्थ–(अयम्) यह (पश्चात्) पश्चिम दिशामें स्थापित इष्टका रूप (विश्वव्यचाः) सब विश्वका प्रकाशक आदित्य है (तस्य) उसका (रथप्रोतः) रथयुद्धमें धैर्यवान् शूर (च) और (असमरथः) अनुपमरथी (सेनानीग्रामण्यौ) सेनापति और ग्रामपालक वर्षाऋतु हैं (प्रम्लोचन्ती) अपने वेशविन्यासादि द्वारा सर्व साधारणके मन हरनेमें समर्थ (च) और (अनुम्लोचन्ती) एक बार मुग्ध होकर क्लेश पानेवाले व्यक्तिको फिर मोह करनेवाली (अप्सरसौ) दोनों अप्सरा हैं । (च) और (व्याघ्राः) व्याघ्र जीव (हेतिः) शस्त्र है (सर्पाः) सर्प (प्रहेतिः) तीक्ष्ण शस्त्र है । शेषं पूर्ववत् ॥ १७ ॥

प्रमाण–"यदा ह्येवैष उदेत्यथेद५ सर्वं व्यचो भवति तद्यत्तमाह पश्चादिति तस्मादेतं प्रत्यञ्चमेव यन्तं पश्यन्ति" इति [८ । ६ । १ । १८] श्रुतेः । २ "वार्षिकौ तावृतू" इति [१८] श्रुतेः । पश्चिममें अस्त होते सूर्यका सब दर्शन करते हैं ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मंत्र १।

अयमुत्तराात्त्संयद्वसुस्तस्यताक्र्क्ष्यश्चारिष्टनेमि श्चसेनानीग्ग्रामण्यौ ॥ विश्वाचीचघृताचीचा प्प्सरसावापोहेतिर्वातः प्प्रहेतिस्त्तेब्भ्योनमोऽअ स्तुतेनोवन्तुतेनोमृडयन्तुतेयन्द्विष्म्मोयश्चनोद्वे ष्टितमेषाञ्जम्भेदध्ध्मः ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अयमुत्तरादित्यस्य परमेष्ठी ऋ० । भुरिगाति- धृतिश्छन्दः । लिङ्गो० दे० । उत्तरस्यां दिशि पंचचूडेष्टकोपधाने वि० ॥ १८ ॥ [उत्तरसे]

मन्त्रार्थ-(अयम्) यह (उत्तरात्) उत्तर दिशामें स्थापित इष्टका (संयद्वसुः) धनसे प्राप्त होनेवाला यज्ञ है (तस्य) उसका (तार्क्ष्यः) अन्तरिक्षमें तीक्ष्ण पक्षरूपी आयुधोंका विस्तार करनेवाला (च) और (अरिष्टनेमिः) अरिष्टनाशक अप्रतिहत आयुधवाले (सेनानीग्रामण्यौ) सेनानी और ग्रामपालक शरद् ऋतु हैं (च) और (विश्वाची) संसारसे वंदित (च) और (घृताची) घृतकी भोजन करनेवाली "अर्थात् इसमें घृतकी अधिक आवश्यकता होती है" (अप्सरसौ) दो अप्सरा हैं (च) और (आपः) जल (हेतिः) शस्त्र है और (वातः) पवन (प्रहेतिः) तीक्ष्ण शस्त्र है, शेषं पूर्ववत् ॥ १८ ॥

प्रमाण १-"यज्ञो वा उत्तरात्तद्यत्तमाहोत्तरादित्युत्तरत उपचारो हि यज्ञोऽथ यत्संयद्वसुरित्याह यज्ञं हि संयन्तीतीदं वसु" इति [८ । ६ । १ । १९] श्रुतेः । २ "शरदौ तावृतू" इति [८ । ६ । १ । १९ ।] श्रुतेः ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मंत्र १।

अयमुपर्य्यर्वाग्ग्वसुस्तस्यसेनजिच्चसुषेणश्चसेना नीग्ग्रामण्यौ ॥ उर्वशीचपूर्वचित्तिश्चाप्प्सरसा ववस्फूर्जन्हेतिर्विद्युत्त्प्रहेतिस्त्तेब्भ्योनमोऽअस्तु तेनोवन्तुतेनोमृडयन्तुतेयन्द्विष्म्मोयश्चनोद्वेष्टि तमेषाञ्जम्भेदध्ध्मः ॥ १९ ॥ [५]

ऋष्यादि-(१) ॐ अयमुपरीत्यस्य परमेष्ठी ऋ० । निच्यृत्कृतिश्छंदः। लिङ्गोक्ता देवता । मध्ये पंचचूडेष्टकोपधाने विनियोगः॥१९॥ [मध्यसे]

मन्त्रार्थ-(अयम्) यह (उपरि) मध्यदिशामें वर्तमान इष्टका (अर्वाग्वसुः) पर्जन्य है (तस्य) उसके (सेनजित्) सेना जीतनेवाले (च) और (सुषेणः) सुन्दर सेनावाले (सेनानीग्रामण्यौ) सेनापति और ग्रामपालक हेमन्त ऋतु हैं (च) और (उर्वशी) विस्तीर्ण कामको वशकरनेवाली (च) और (पूर्वचित्तिः) अधिकरूप होनेसे पुरुषोंका मन प्राप्त करनेवाली पूर्वचित्ति नाम (अप्सरसौ) दो अप्सरा हैं (च) और (अवस्फूर्जन्) भयका हेतु वज्रशब्द (हेतिः) शस्त्र हैं (विद्युत्) विजली (प्रहेतिः) तीक्ष्ण शस्त्र है इनको नमस्कार इत्यादि पूर्ववत्० ॥ १९ ॥ [५]

प्रमाण-"पर्जन्यो वा उपरि तद्यत्तमाहोपरीत्युपरि हि पर्जन्योऽथ यदर्वाग्वसुरित्याहातो ह्यर्वाग्वसु वृष्टिरन्नं प्रजाभ्यः प्रदीयते" इति [८ । ६ । १ । २०] श्रुतेः । "हैमन्तिकौ तावृतू" इति [२०] श्रुतेः ॥ १९ ॥

अभिप्राय-इन पांचों मंत्रोंमें जो २ ऋतु वर्णन की हैं उनके साथमें जो जो कृत्य हैं उनउन ऋतुओंमें उनउन वस्तुकी प्राप्ति जाननी जैसे १५ कण्डिकामें वसन्तऋतुका वर्णन है इसमें अग्निकी किरण सूर्यवत् प्रकाशित होती हैं रूप लावण्यादि, सौभाग्यादिकी प्राप्ति होती है दिशाओंमें पुष्पोंकी सुगंधि प्राप्त होकर शृंगाररूप होता है व्याघ्रादि जीव इसमें प्रवल होकर भ्रमण करते हैं राजा युद्ध करते हैं इस प्रकार सव ऋतुओंके सेनापति अप्सरा शस्त्रादिकी व्याख्या जाननी इन मन्त्रोंमें ऋतुओंका वृत्तान्त पूर्णरूपसे वर्णन किया है तथा अलंकाररूपसे वर्णन किया है तथा पूर्वपश्चिमादि दिशाओंमें जैसा भाव है सोभी दिखाया है ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मंत्र १. अनु० ५।

अग्निर्म्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम् ॥ अपाᳬरेताᳬसि जिन्वति ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निरिति मध्यमापद्येष्टकोपधाने विनियोगः।२०

विधि-(१) इसके आगे छन्दस्येष्टका उपधान करै उसमें इन तीन कण्डिकात्मक तीन मंत्रोंसे पूर्व दिशाके अनूकान्तमें प्रथम मध्यमा पद्या फिर उसके दोनों ओर दो अर्धपद्या उपधान करै [का० १७ । १२ । ५] अग्निरिति।

मन्त्रार्थ-इसकी व्याख्या ३ अ० १२ कण्डिकामें होगई ॥ २० ॥

सरलार्थ-अग्निने द्युलोकमें मस्तकस्वरूप प्रधानता लाभ की, पृथ्वीलोकमें ककुद् सदृश उच्छ्रित और सर्वत्रही आधिपत्यलाभ किया है. अन्तरिक्ष लोकमें भी यही वृष्टिका कारण और मेघका पोषक है ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मन्त्र १ ।

अयमग्निः सहस्रिणो वाजस्य शतिनस्पतिः ॥ मूर्द्धा कवी रयीणाम् ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अयमग्निरित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । निच्यृद्गायत्री छं० । अग्निर्देवता । अर्धपद्येष्टकोपधाने वि० ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ-(अयम्) यह (अग्निः) अग्नि देवता (सहस्रिणः) सहस्र संख्यावाले (शतिनः) शत संख्यावाले: वा अनन्त (वाजस्य) अन्नका (पतिः) स्वामी (कविः) क्रान्तदर्शी (रयीणाम्) सर्व धनोंके मध्यमें (मूर्द्धा) प्रधान धनवाला है [ऋ० ६ । ५ । २४] ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मंत्र १ ।

त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत ॥ मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥ २२ ॥

ऋष्यादि-(१) त्वामग्न इति वि० पू० ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ-इसकी व्याख्या ११ अध्यायकी ३२ कंडिकामें होगई ॥ २२ ॥

सरलार्थ-हे अग्ने ! तुमही इस संसारके कार्यनिर्वाहक क्षित्यादि सम्पूर्ण भूत पदार्थोंके शिरोरूप हो प्रधान हो पुष्करसे तुमको सबसे प्रथम अथर्व ऋषिनें प्रकाश किया था । यह तीन गायत्री इष्टका कहाती हैं [ऋ० ४ । ५ । २३] ॥ २२ ॥

कण्डिका २३-मंत्र १ ।

भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः ॥ दिवि मूर्द्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ॥ २३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ भुवो यज्ञस्येति पूर्वस्यां दिशि छन्दस्येष्टकोपधाने विनि० । ऋष्यादि पूर्ववत् ॥ २३ ॥

विधि-(१) यहांसे तीन मंत्र पाठ करके पूर्व दिशामें रेत और सिक इष्टकाकी वेलाके ऊपर त्रिष्टुप् नामक तीन छन्दस्येष्टका पूर्ववत् उपधान करै [का० १७। १२। ७] मंत्रार्थ-इसकी व्या०१३अ०१९कण्डिकामें होगई ॥ २३ ॥

कण्डिका २४-मंत्र १।

अबोध्यग्निः समिधाजनानाम्प्रतिधेनुमिवायतीमुषासम् ॥ यह्वाऽइवप्प्रवयामुज्जिहानाः प्प्रभानवः सिस्रतेनाकमच्छ ॥ २४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अबोधीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। निच्यृत्रिष्टुप्छं०। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ-(जनानाम्) ज्ञान श्रद्धा द्विजतर्पणे सत्यादिसम्पन्न अग्निहोत्रियोंकी (समिधा) समिधासे (अग्निः) अग्नि (अबोधि) प्रबुद्ध होते हैं (इव) जिस प्रकार (आयतीम्) आती हुई (धेनुम्) धेनुको देखकर वछडा प्रबुद्ध होता है जैसे (उषासम्) उषा कालके आने (प्रति) पर मनुष्य प्रबुद्ध होते हैं (मानवः) दीप्तिमान् उसकी किरणें (नाकम्) स्वर्गके (अच्छ) चारों ओरसे "अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः" [निरु० ५। २८] (प्रसिस्रते) फैलती हैं (इव) जिस प्रकार (वयाः) पक्षी (यह्वा) वडे "यह्व इति महन्नाम" [निघं० ३। ३। १३] पक्षोंसे (प्रोज्जिहाना) वृक्षकी शाखासे आकाशको उडते हैं ॥ २४ ॥ अथवा ऋत्विजसम्बन्धि समिधासे अग्नि प्रज्वलित होती है, जैसे उषाकालके प्रति धेनुको उठाते हैं उसकी किरणें ऊपर स्वर्गमें स्थित होती हैं, जैसे पक्षियोंके मध्यमें महापक्षी उठकर उडते हैं ॥ २४ ॥

सरलार्थ-जिस प्रकार मनुष्यादि जीवगण उषाकालमें जागते हैं जिस प्रकार वत्सगण अपनी अपनी माताओंके आगमनसे जागृत होते हैं, इसीप्रकार अग्निभी यजमानके समिधा देनेसे प्रबुद्ध होती है, और आकाशचारी पक्षीगण जिस प्रकार अपने २ आवासस्थान वृक्षादिको त्यागकरके उड़नेके क्रमसे आकाशमण्डलके उपरिभागमें प्रसृत होते हैं इसीप्रकार यह ज्वालासमूह द्युलोकके आक्रमण करनेसे निमित्तही ऊर्ध्वगामी होती हैं [ऋ० ३। ८। १२] ॥ २४ ॥

कण्डिका २५–मन्त्र १।

अवोचामकुवयेमेद्ध्यायवचोवुन्दारुंवृषभायवृष्णे ॥ गविष्ठिरोनमसुास्तोमंमुग्नौदिवीवरुक्ममुंरुव्यञ्चंमश्श्रेत् ॥ २५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अवोचामेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । निच्यृत्त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ–उद्गाता कहते हैं–हम (कवये) क्रान्तदर्शी (मेध्याय) यज्ञके योग्य (वृषभाय) श्रेष्ठवृष कामना वा यज्ञफलके वर्षक बलिष्ठ (वृष्णे) सेचनमें समर्थ अग्निके निमित्त (वन्दारु) स्तुति वन्दना करनेवाले (वचः) वचनको (अवोचाम) कथन करते हैं (गविष्ठिरः) वाणीमें स्थिर होता पुरुष (नमसा) अन्नसे युक्त (स्तोमम्) स्तुतिको (अग्नौ) आहवनीय अग्निमें (अश्रेत्) अर्पण करता है (इव) जिस प्रकार (दिवि) स्वर्गमें (रुक्मम्) रोचमान आदित्यको सन्ध्यावन्दन सूर्यउपस्थानादिमें प्रयुक्त कीहुई (उरुव्यञ्चम्) बडी स्तुति अर्पित होती है [ऋ० ३ । ८ । १३] ॥ २५ ॥

सरलार्थ–यज्ञका फल वर्षानेवाले क्रान्तदर्शी नित्ययुवा यज्ञीय अग्निकी प्रीतिके निमित्त सम्पूर्ण स्तुतिवाक्य प्रयोग करते हैं स्थिरवाक्य होताने स्तुतिमंत्रपाठपूर्वक सम्पूर्ण हवि अग्निमें हवनकी है, वह सब दीप्तिमान् और अनेक स्तुतियोंसे अर्चनीय सूर्यकी समान द्युलोकमें विचरण करो अर्थात् यजमानका द्युलोकनिवासका कारण हो ॥ २५ ॥

कण्डिका २६–मन्त्र १।

अयमिहप्प्रथमोधायिधातृभिर्होतायजिष्ठोऽअद्ध्वरेष्वीड्यं÷ ॥ यमप्प्रवानोभृगवोविरुरुचुर्वनेषुचित्रंविभ्वंविशेविशे ॥ २६ ॥

ऋष्यादि–(१) अयमिहेति पश्चिमस्यां दिशि जगती छन्दस्येष्टकोपधाने विनियोगः ॥ २६ ॥

विधि–(१) दक्षिणमुख होकर यह तीन मंत्रपाठपूर्वक पश्चिम दिशामें रेत और सिक् इष्टकाकी वेलाके ऊपर तीन जगतीनाम छन्दस्येष्टका तीन स्थानमें

पूर्ववत् स्थापन कर [का०. १७ । १२ । १८] मंत्रार्थ–'अयमिहेति' इस मंत्रकी व्याख्या ३ अ० १५ कण्डिकामें होगई ॥ २६ ॥

कण्डिका २७–मंत्र १ ।

जनस्यगोपाऽअजनिष्टजागृविरग्निःसुदक्षःसुवितायनव्यसे ॥ घृतप्रतीकोबृहतादिविस्पृशाद्युमद्विभातिभरतेभ्यःशुचिः ॥ २७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ जनस्येत्यस्य परमेष्ठी ऋ० । निच्यृदार्षी जगती० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २७ ॥

मंत्रार्थ–(जनस्य) यजमान गणोंका (गोपाः) रक्षक (जागृविः) जागरणशील कर्ममें सावधान (सुदक्षः) अति उत्साहयुक्त वा अतिकुशल (घृतप्रतीकः) घृतको मुखमें रखनेवाला (शुचिः) पवित्र (अग्निः) अग्नि (नव्यसे) नवीन (सुविताय) यज्ञकार्यके सम्पादनके निमित्त (भरतेभ्यः) ऋत्विजोंके द्वारा (अजनिष्ट) प्रगट किया गया है, (दिविस्पृशा) स्वर्गकी स्पर्श करनेवाली (बृहता) बडी (द्युमत्) कान्तियोंसे (विभाति) विशेष प्रकाशमान होता है [ऋ० ४ । १ । ३] ॥ २७ ॥

प्रमाण–"भरता इति ऋत्विङ्नामसु पठितम्" [निघं०३ । १८ । १] ॥ २७ ॥

कण्डिका २८–मंत्र १ ।

त्वामग्नेऽअङ्गिरसोगुहाहितमन्वविन्दञ्छिश्रियाणंवनेवने ॥ सजायसेमथ्यमानःसहोमहत्त्वामाहुःसहसस्पुत्रमङ्गिरः ॥ २८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ त्वामग्न इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । विराडार्षी जगती छं० । अग्निर्दे० । वि० पृ० ॥ २८ ॥

मंत्रार्थ–(अङ्गिरः) अनेक रूपसे यज्ञमें विचरनेवाले (अग्ने) हे अग्निदेव ! (आङ्गिरसः) अंगिरा ऋषिके वंशमें उत्पन्न हुए ऋषियोंने (त्वाम्) तुमको (गुहाहितम्) निगूढदेश वा जलमें स्थित (वनेवने) अनेक वनस्पतियोंमें (शिश्रियाणम्) निवास करनेवालेको (अन्वविन्दन्) ढूंढकर प्राप्त किया (सः) वह तुम अव-

(महत्सहः) वडे वलसे (मथ्यमानः) मथ्यमान होनेके कारण अरणीसे (जायसे) उत्पन्न होते हो (त्वाम्) तुमको इसी कारण मुनि (सहसा) वलका (पुत्रम्) पुत्र (आहुः) कहतेहैं [ऋ० ४ । १ । ३] ॥ २८ ॥

प्रमाण-"अग्निर्देवेभ्य उदक्रामत्सोऽप आविशत्" इत्यादिश्रुतेः ॥ २८ ॥

कण्डिका २९-मंत्र १ ।

सखा॑यः॒ सं वः॑ स॒म्यञ्च॒मिषु॒ꣳस्तोमं॑ चा॒ग्नये॑ ॥ वर्षि॑ष्ठाय क्षिती॒नामू॒र्जो नप्त्रे॒ सह॑स्वते ॥ २९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सखाय इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । विराडनुष्टुप्छं० अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २९ ॥

विधि-(१) पूर्वाभिमुख होकर इस स्थलमें और तीन जगती नामक छन्दस्येष्टका उपधान करै [का० १७ । १२ । ९] मन्त्रार्थ-यजमानने कहा है ऋत्विजो ! (सखायः) मित्ररूप (वः) तुम (क्षितीनाम्) मनुष्योंके (वर्षिष्ठाय) श्रेष्ठतम वृद्धतम वा पूज्य (ऊर्जः) जलके (नप्त्रे) पौत्ररूप (सहस्वते) वडे वलवाले (अग्नये) अग्नि देवताके निमित्त (सम्यञ्चम्) समीचीन नवीन (इषम्) हविरूप अन्नको (च) और (स्तोमम्) स्तोत्रको (सम्) सम्पादन करो "जलसे वनस्पति वनस्पतिसे अग्नि होती है इससे जलका पोता कहा" [ऋ० ३ । ८ । ७४] ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०-मन्त्र १ ।

सꣳस॒मिद्यु॑वसे वृषन्नग्ने॒ विश्वा॑न्य॒र्य आ ॥ इ॒डस्प॒दे समि॑ध्यसे॒ स नो॒ वसू॒न्याभ॑र ॥ ३० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ संसमिदित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । विराडनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ-(वृषन्) हे सेचन करनेवाले ! (अग्ने) अग्निदेव ! (अर्य्यः) स्वामी तुम (विश्वानि) सम्पूर्ण यज्ञफलोंको (सम् आ) सव ओरसे (संयुवसे) यजमानको प्राप्त कराते हो (इडस्पदे) पृथ्वीके स्थान उत्तर वेदीमें (समिध्यसे) कर्मके निमित्त प्रदीप्त होते हो (सः) वह तुम (इत्) ही (नः) हमारे निमित्त (वसूनि) धनोंको (आभर) सव प्रकार लाकर प्रदान करो [ऋ० ८ । ८ । ४९] ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१–मंत्र १।

त्वाञ्चित्रश्श्रवस्तमहवन्तेविक्षुजन्तवः ॥ शोचिष्केशम्पुरुप्प्रियाग्नेहव्यायवोढवे ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ त्वामित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । विराडनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ–(चित्रश्रवः) कीर्ति और ऐश्वर्यसे अतिविचित्र (पुरुप्रिय) यजमानोंके वा हवियोंके प्रिय (अग्ने) हे अग्ने ! (विक्षु) प्रजाओंमें (जन्तवः) ऋत्विग्यजमान (तम्) उस (त्वाम्) तुमको (हव्याय) हवि (वोढवे) वहनकरनेके निमित्त (हवन्ते) बुलाते हैं अर्थात् हवि (वहनकरनेके निमित्त तुमको इस लोकमें सदा आह्वान करते हैं [ऋ० १। ३ । ३२] ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२–मंत्र १।

एनावोऽअग्निन्नमसोर्जोनपातमाहुवे ॥ प्प्रियञ्चेतिष्ठमरतिᳩस्वद्ध्वरंविश्श्वस्यदूतममृतम् ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ एनाव इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । विराड्बृहती छं० । अग्निर्देव० । बृहतीछन्दस्येष्टकोपधाने वि० ॥ ३२ ॥

विधि–(१) आषाढ इष्टकाकी वेलाके सन्मुख तीन बृहतीनामक छन्दस्येष्टका पूर्ववत् इन तीन मंत्रोंसे क्रमसे उपधान करै [का० १७ । १२ । १०]

मंत्रार्थ–हे ऋत्विग्यजमानो ! (वः) तुम्हारे (एनाः) इस (नमसा) अन्नद्वारा (ऊर्जः) जलोंके (नपातम्) पोते (प्रियम्) यजमानकी प्रीतिके कारण (चेतिष्ठम्) अतिशय चैतन्यकर्ता ज्ञानदाता (अरतिम्) सदा उद्यमी (स्वध्वरम्) श्रेष्ठ यज्ञवाले (विश्वस्य) सम्पूर्णके (दूतम्) गृहपाकादि कार्य करनेसे दूतरूप (अमृतम्) मरणरहित (अग्निम्) अग्निको (आहुवे) स्तुतिपूर्वक आह्वान करतेहैं [ऋ० ५ । २ । २१] ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३–मंत्र १।

विश्श्वस्यदूतममृतंविश्श्वस्यदूतममृतम् ॥ सयोजतेऽअरुषाविश्श्वभोजसासदुद्द्रवत्स्वाहुतᳩ ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) विश्वस्य दूतमित्यस्य परमेष्ठी ऋ० । सतोबृहती छं० । अग्निर्देव० । वि० पू० ॥ ३३ ॥

मंत्रार्थ-(अमृतम्) मरणधर्मरहित (विश्वस्य दूतम्) सबके दूतवत् कार्यकर्ता (अमृतम्) मरणधर्मरहित (विश्वस्य) सम्पूर्णके (दूतम्) दूत जिस अग्निको हम बुलाते हैं (सः) वह अग्नि (अरुषा) क्रोधरहित श्रेष्ठ (विश्वभोजसा) सब यज्ञके भाग भोगनेवाले दो अश्वोंको अपने रथमें (योजते) योजना करता है (स्वाहुतः) रथारूढ होकर भलीप्रकारसे आहुतिको प्राप्त हुआ (सः) वह अग्नि (दुद्रुवत्) शीघ्र प्राप्त होताहै ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मंत्र १।

सद्दुद्द्रवत्स्वाहुतुꣳसद्दुद्द्रवत्स्वाहुतः ॥ सुब्रह्मायज्ञःसुशमीवसूनान्देवꣳराधोजनानाम् ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि-(१) सद्रुद्रवदित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । बृहती छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ३४ ॥

मंत्रार्थ-(सुब्रह्मा) श्रेष्ठ ऋत्विजोंसे युक्त (सुशमी) शुभ कर्मवाला "शमीति कर्मनाम" [निघं० २ । १ । २३] (यज्ञः) यज्ञ है उसमें (सः) वह अग्नि (स्वाहुतः) शुभ प्रकारसे आह्वान किया हुआ (दुद्रवत्) जाता है (स्वाहुतः) भली प्रकारसे आह्वान किया हुआ (सः) वह (जनानाम्) जहां यजमानोंका (देवम्) दीप्यमान (राधः) धन है वहां (वसूनाम्) वसु रुद्र आदि देवगणोंके तीन सवनके यज्ञमें (दुद्रवत्) जाता है ॥ ३४ ॥

भावार्थ-जिस स्थलमें प्रातः सवनमें वसुगण मध्यन्दिन सवनमें रुद्रगण और तृतीय सवनमें आदित्य गणका आगमन हुआ है और जहां ऋत्विजोंका तत्त्व-विवेचक ब्रह्मा अतिविज्ञ है और जिस स्थलमें समस्त अङ्गकार्य ही पूर्णाङ्ग और अतिविशुद्ध है ऐसे यज्ञमें यह अग्नि शीघ्रतासे आगमन करता है ॥ ३४ ॥

विवरण-यह तीन बृहती प्रगाथा हैं दो ऋक् ग्रन्थनकरके तीन मंत्रोंका सम्पादन प्रगाथा कहाती हैं उसमें बृहती सतोबृहतीसे तीन बृहती कीगई हैं जिसका तीसरा चरण बारह अक्षरका और तीन आठ अक्षरके हों वह बृहती कहाती है । "प्रियंचेतिष्ठमरतिꣳ स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतमिति" जिसके पहले तीसरे चरणमें बारह अक्षर हों दूसरे चौथेमें आठ अक्षर हों वह सतोबृहती "सयो-जेत अरुषा" इति । इनमें बृहतीके चौथे चरणको दोवार पढकर सतोबृहतीके

पूर्वार्धके संग दूसरी बृहती की और सतोबृहतीके दूसरे पादको दोवार आवृत कर उसके उत्तरार्धके संग तीसरी बृहती की है [३२ । ३३ । ३४] ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५–मंत्र १ ।

अग्ग्नेवाजंस्यगोमंतऽईशांनᳬसहसोयहो ॥
अस्म्मेधेंहिजातवेदोमहिश्श्रवंः ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अग्न इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । उष्णिक्छन्दः । अग्निर्देवता । उष्णिक्छन्दस्येष्टकोपधाने वि० ॥ ३५ ॥

विधि–(१) जिस स्थलमें गायत्रीनामक छन्दस्येष्टका उपहित कीहै उसकी अपर दिशामें उष्णिक् संज्ञक तीन छन्दस्येष्टका इन मन्त्रोंसे क्रमसे स्थापन करै [का० १७ । १२। १३] मन्त्रार्थ–(सहसः) बलके (यहो) पुत्र (जातवेदः) ज्ञानसम्पन्न (अग्ने) हे अग्ने ! (गोमतः) धेनुयुक्त (वाजस्य) अन्नके (ईशानः) अधिपाति तुम (अस्मे) हमारे निमित्त (महि) बडे (श्रवः) धनको (धेहि) प्रदान करो [ऋ० १ । ५ । २७] ॥ ३५ ॥

प्रमाण–"सह इति बलनाम" [निघं० २ । ९ । १७] "यहुरिति पुत्रनाम" [निघं० २ । २ । ११] ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६–मंत्र १ ।

सऽइंधानोवसुंष्क्कविरग्ग्निरीडेन्योंगिरा ॥
रेवदुस्म्मब्भ्यंम्पुर्वणीकदीदिहि ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ सइधान इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । निच्यृदुष्णिक्छं० । अग्निर्देव० । वि० पू० ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ–(पुर्वणीक) हे बहुत मुखवाले ! अथवा सबके स्थान सर्वदायक "यतो ह्येव कुतश्चाग्नावभ्यादधाति तत एव प्रदहाति" इति श्रुतेः । (सः) वह (इधानः) दीप्यमान (वसुः) सबके निवासके हेतु (कविः) क्रान्तदर्शी (गिरा) तीन वेदोंकी वाणीसे (ईडेन्यः) स्तुतियोग्य (अग्निः) प्रथम यज्ञ-प्रवर्तक अग्नि (अस्मभ्यम्) हमारे निमित्त (रेवत्) धनके समान (दीदिहि) दीप्त हो [ऋग्वेदे १ । ५ । २७] ॥ ३६ ॥

सरलार्थ–हे वसो ! हे कवे ! हे बहुमुख ! अग्ने ! तुम जिस समय सम्यक् प्रदीप्त हो उस समय वास्तविक वेदमंत्रसे स्तुतियोग्य होतेहो हमको यथेष्ट ऐश्वर्य प्रदान करो ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७-मन्त्र १।

क्षपोराजन्नुतत्त्मनाग्ग्नेवस्त्तोरुतोषसः ॥ सतिग्ग्मजम्भरक्षसोदहुप्प्रति ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ क्षपोराजन्नित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । निच्यूदुष्णिक्छन्दः । अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ-(राजन्) हे दीप्यमान (तिग्मजम्भ) वज्रवत् करालवदन डाढवाले (अग्ने) हे अग्ने ! (सः) वह तुम (त्मना) आत्मा अर्थात् स्वभावसे (उत) ही (क्षपः) राक्षसोंके नष्टकरनेवाले हो इससे (वस्तोः) दिनके (उत) और (उषसः) उषाकालसम्बन्धी अर्थात् रात्रिके (रक्षसः) राक्षसोंको (प्रतिदह) भस्मकरो [ऋ० १ । ५ । २७] ॥ ३७ ॥

कण्डिका ३८-मंत्र १।

भद्द्रोनोऽअग्निराहुतोभद्द्रारातिःसुभगभद्द्रोऽअध्वरः ॥ भद्द्राऽउतप्रशस्त्तयः ॥ ३८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ भद्र इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । ककुप्छन्दः । अग्निर्देवता । ककुप्छन्दस्येष्टकोपधाने वि० ॥ ३८ ॥

विधि-(१) जिस स्थलमें बृहतीनामक छन्दस्येष्टका उपहित की है उसके सन्मुख तीन ककुप्संज्ञक छन्दस्येष्टका क्रमपूर्वक तीन मन्त्रोंसे उपधान करै [का० १७ । १२ । ११] ॥ ३८ ॥

विवरण-प्रगाथा ककुप् सतोबृहती तीन हैं, इनमें ककुप्के चरणोंकी आवृत्ति की है, परन्तु अर्थान्तर नहीं हुआ [भद्रोनो०] यह ककुप्छन्द है इसके मध्यका चरण बारह अक्षरका है पहला तीसरा आठका यह लक्षण है [भन्द्रमनः-वने भाते अभिष्टिभिः] इति यह सतोबृहती है इसके आद्य तीसरे चरणमें बारह अक्षर दूसरे चौथेमें आठ अक्षर हैं. ॥

मंत्रार्थ-यजमानकी अग्निके प्रति प्रार्थना (सुभग) हे श्रेष्ठ ऐश्वर्यसे सम्पन्न अर्थात् सम्पूर्ण ईशिता धर्म यश लक्ष्मी ज्ञान वैराग्य छः ऐश्वर्यवान् (आहुतः) ऋत्विजोंसे आहूत बुलाये हुए (अग्निः) अग्निदेवता (नः) हमको (भद्रः) कल्याणरूपी हो (रातिः) तुम्हारा दान (भद्रा) कल्याणकारी हो (अध्वरः) यज्ञ (भद्रः) मंगलकारी हो (प्रशस्तयः) कीर्तियें (उत) भी (भद्राः) सुखकारी हों [ऋ० ८ । १ । ३२] ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९–मन्त्र १।

भुद्राऽउतप्प्रशस्त्तयोभुद्द्रम्मनः कृणुष्ववृत्रतूर्य्ये ॥ येनासमत्त्सुसासहंः ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ भद्राउतेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। ककुप्छन्दः। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ–हे अग्ने! (येन) जिस मनसे (समत्सु) संग्रामोंमें (सासहः) तुम शत्रुओंको मर्दन करते हो उस (मनः) मनको (वृत्रतूर्ये) पापनाशके निमित्त (भद्रम्) कल्याणकारी (कृणुष्व) करो तुम्हारी (प्रशस्तयः) कीर्तियें (उत) भी (भद्राः) कल्याणरूप हौं "वृत्रः पापम् पाप्मा वै वृत्रः" इति श्रुतेः ॥ ३९ ॥

कण्डिका४०–मंत्र १।

येनासमत्त्सुसासहोवस्त्थिरातनुहिभूरिशर्द्धताम् ॥ वुनेमाते अभिष्टिभिः ॥ ४० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ येनेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। ककुप्छन्दः। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ–हे अग्ने! (येन) जिस मनसे (समत्सु) संग्रामोंमें (सासहः) शत्रुओंको तिरस्कार करते हो इस कारण (भूरि) वहुत (शर्धताम्) वलकरनेवाले शत्रुके (स्थिरा) स्थिर धनुषोंको (अवतनुहि) ज्यारहित करो (ते) आपके दियेहुए (अभिष्टिभिः) भोगोंसे हम (आ–वनेम) सम्भागकर भोगकरैं अर्थात् रणस्थलमें उग्रभाव त्यागनकर अव सौम्यभाव धारण करैं हमारे अभीष्ट सिद्ध करो ॥ ४० ॥

प्रमाण–"शर्ध इति वलनाम" [निघं० २ । ९ । ७ ।] ॥ ४० ॥

कण्डिका ४१–मन्त्र १।

अग्निन्तम्मंन्न्येयोवसुरस्तंय्यंय्यन्तिधेनवंः ॥ अस्त्तमर्वन्तऽआशवोस्त्तन्नित्त्यासोवाजिनऽइषंस्तोतृभ्यऽआभर ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निमित्यस्य परमेष्ठी ऋ० । निच्यृत्पंक्ति-श्छन्दः । अग्निर्देवता । दक्षिणस्यां दिशि पंक्तिच्छन्दस्येष्टकोपधाने वि० ॥ ४१ ॥

विधि-(१) दक्षिण अनूकान्तमें इन तीन मंत्रोंसे पंक्तिनामक तीन छन्द-स्येष्टका क्रमसे उपधान करैं [का० १० । १२ । १४] मन्त्रार्थ- (यः) जो (वसुः) ताप पाक प्रकाश करकै उपकार करनेवाला धन है (तम्) उस (अग्निम्) अग्निको (मन्ये) जान्ताहूं (धेनवः) धेनुगण (यम्) जिस अग्निको प्रज्वालित जानकर (अस्तम्) अपने २ घरोंको (यन्ति) आगमन करती हैं (आशवः) शीघ्रगामी घोडे (नित्यासः) नित्यही (वाजिनः) बलसे सम्पन्न सैन्धव अश्वादि (अर्वन्तः) वेगवान् होकर (तम्) उस अग्निको प्रज्वलित देखकर (अस्तम्) घण्डराको गमन करते हैं । हे अग्ने ! (स्तोतृभ्यः) स्तुति करनेवाले यजमानोंके निमित्त (इषम्) अन्नको (आभर) सब ओरसे लाकर दो [ऋ० ३ । ८ । २२] ॥ ४१ ॥

कण्डिका ४२-मन्त्र १ ।

सोऽअग्निर्य्यो वसुर्गृणे सं यमायन्ति धेनवः ॥ समर्वन्तो रघुद्द्रुवः सᳪसुजातासः सूरयऽइषᳪस्तोतृभ्यऽआभर ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सोअग्निरित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । आर्षी पंक्तिश्छं० । अग्निर्देव० । वि० पू० ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ-(यः) जो (वसुः) सम्पत्ति वा धन है (सः) वह अग्निही यह अग्नि है उसीकी (गृणे) स्तुति करताहूं (यम्) जिस अग्निको (धेनवः) धेनुगण (समायन्ति) प्राप्त करतीं वा सेवन करतीं हैं (रघुद्रुवः) शीघ्रगामी (अर्वन्तः) घोडे जिस अग्निको (सम्) प्राप्त करते हैं (सुजातासः) सुजन्मा अच्छे संस्कार-वाले (सूरयः) विद्वान् जिस अग्निकी (सम्) उपासना करते हैं हे अग्ने ! (स्तोतृभ्यः) स्तुति करनेवालोंके निमित्त (इषम्) अन्नको (आभर) सब ओरसे लाकर दो [ऋ० ३ । ८ । २२] ॥ ४२ ॥

कण्डिका ४३-मंत्र १ ।

उभे सुश्चन्द्र सर्प्पिषो दर्वी श्रीणीषऽआसनि ॥

उतो नऽउत्त्पुपूर्य्याऽउक्थेषुशवसस्पतऽइषंᳬ स्तोतृभ्यऽआभर ॥ ४३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उभे इत्यस्य परमेष्ठी ऋ० । निच्यृत्पंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ-(सुश्चन्द्र) सबके प्रार्थनीय चन्द्रमाकी समान आह्लाद करनेवाले वा जिससे सुन्दर हिरण्य 'सुवर्ण' होताहै अथवा अनुकूल चन्द्रमाकी समान धन देनेवाले "अच्छे चन्द्रमा होनेसे धन मिलताहै यह ज्योतिषमें प्रसिद्ध है" "चन्द्रमिति हिरण्यनाम" [निघं० १ । २ । २] हे अग्ने ! तुम (आसनि) अपने मुखमें (सर्पिषः) घृतपान करनेके निमित्त (उभे) दोनों (दर्व्वी) दर्वीके आकारवाले हाथोंको (श्रीणीषे) ग्रहण वा सेवन करते हो (उतो) और हे (शवसः) बलके (पते) अधिपति ! (उक्थेषु) शस्त्रनाम स्तुतिवाले यज्ञोंमें (नः) हमको (पुपूर्य्याः) धनोंसे पूर्णकरो (स्तोतृभ्यः) स्तुतिकरनेवालोंके निमित्त (इषम्) अन्नको (आभर) लाकर दो [ऋ० ३ । ८ । २३] ॥ ४३ ॥

कण्डिका ४४-मंत्र १ ।

अग्ने तमद्याश्वन्न स्तोमैः क्रतुन्न भद्रᳬं हृदिस्पृशम् । ऋद्ध्यामा तऽओहैः ॥ ४४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्नेतमित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । पदपंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता । उत्तरस्यां दिशि पंक्तिच्छन्दस्येष्टकोपधाने विनियोगः ॥ ४४ ॥

विधि-(१) उत्तर अनुक्रान्तमें इन तीन मंत्रोंसे पदपंक्तिनामक तीन छन्दस्येष्टका पूर्ववत् क्रमसे उपधान करै [का० १७ ।१२।१५] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने (अद्य) आज (ते) तुम्हारे (तम्) उस (क्रतुम्) यज्ञको (ओहैः)उसउस नाम रूप कर्मके प्रतिपादन करनेवाले फलप्रापक (स्तोमैः) सामस्तुतियोंसे (आ) सब प्रकार (ऋध्याम्) समृद्ध करते हैं (न) जैसे अनेक स्तुतियोंसे (अश्वम्) अश्वमेधके घोडोंको ब्राह्मण समृद्ध करते हैं (न) जिस प्रकार (हृदिस्पृशम्) अतिप्रिय चिरकालतक मनमें स्थित (भद्रम्) कल्याणरूपी यज्ञ संकल्पको समृद्ध करते हैं [ऋ० ३ । ५ । १०] ॥ ४४ ॥

भावार्थ-हे अग्ने ! जिस प्रकार कोई अश्वारोही अपने अश्वकी सेवासम्पादनमें व्यग्र होता है वा जैसे कोई अपनी चिरकालकी अभिलाषासम्पादनमें व्यग्र

हो, हम भी आज इसी प्रकार अतिव्यग्रचित्त और अतीव कर्तव्यज्ञानसे साक्षात् फलप्रद स्तोमसमूहद्वारा तुम्हारी तुष्टिसाधनमें व्यग्र होते हैं अर्थात् तत्पर होते-हैं ॥ ४४ ॥

कण्डिका ४५-मन्त्र १ ।

अधाह्यग्ग्नेक्क्रतोर्ब्भद्द्रस्यदक्क्षस्यसाधोः ॥ रथीऽऋतस्यंबृहतोबभूर्थ ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अधाहीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । भुरिगार्षी पद-पंक्तिश्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (अथ) इसके अनन्तर (हि) अवश्य (दक्षस्य) समृद्ध वा अपने फलदानमें समर्थ (साधोः) सम्यक् प्रकारसे अनुष्ठान किये (भद्रस्य) कल्याणरूप (ऋतस्य) अमोघ फलवाले (बृहतः) बडे (क्रतोः) हमारे यज्ञके (रथी) सारथी जिस प्रकार रथका निर्वाह करता है इस प्रकार निर्वा-हक (बभूथ) हूजिये [ऋ० ३ । ५ । १०] ॥ ४५ ॥

भावार्थ-हे अग्ने ! कल्याणके आकर, अपने फलदानमें समर्थ, नित्य, अतिवृद्ध, महत्कार्य कहकर प्रसिद्ध इस यज्ञक्षेत्रमें तुम सारथित्व ग्रहणकरो (अर्थात्) तुम्हारे प्रसादसे यह यज्ञ निरुपद्रव निर्वाहित हो ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६-मंत्र १ ।

एभिर्न्नोऽअर्क्कैर्भवानोऽअर्वाङ्क्स्वर्णज्योतिः ॥ अग्ग्नेविश्श्वेभिःसुमनाऽअनीकैः ॥ ४६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एभिर्न इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । पदपंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ४६ ॥

मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (नः) हमारे (एभिः) इन पढेहुए (अर्कैः) मंत्रोंसे (सुमनाः) प्रसन्नमन होकर (विश्वेभिः) सम्पूर्ण (अनीकैः) अपने मुखोंसे (नः) हमको (अर्वाङ्) सब प्रकार सम्मुख (आभव) हूजिये (न) जिस प्रकार (स्वर्ज्योतिः) सूर्य नभोमण्डलमें उदित होकर सम्पूर्ण जगत्के सन्मुख दिखाई देतेहैं । तुमभी इसी प्रकार सम्पूर्ण मंत्रोंसे स्तुतिको प्राप्त होकर प्रसन्न हो सब प्रकार हमारे सन्मुख हो अर्थात् सुमुख हो [ऋ० ३ । ५ । १०] ॥ ४६ ॥

कण्डिका ४७-मन्त्र १।

अग्निᳬहोतारम्मन्येदास्वन्तंवसुᳬसूनुᳬसहसो जातवेदसंविप्प्रन्नजातवेदसम् ॥ यऽऊर्द्ध्वयास्व ध्वरोदेवोदेवाच्यांकृपा ॥ घृतस्यविभ्राष्टिमनुव ष्टिशोचिषाजुह्वानस्यसर्प्पिषः ॥ ४७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निमित्यस्य परमेष्ठी ऋ०। अतिच्छन्दश्छन्दः। अग्निर्देवता। अतिच्छन्दस्येष्टकोपधाने विनि० ॥ ४७ ॥

विधि-(१) पुरीषवती इष्टकाके उपरान्त इस मंत्रसे अतिच्छन्द नामक इष्टका उपधान करै [का० १७। १२। १६] अग्नेः पुरीषमिति १५-३ यहांसे पांच पुरीषशब्दके मंत्रयुक्त होनेसे पुरीषवती कहाती हैं, इनके पहले अतिच्छन्द इष्टका धारण करै। भद्रारात्रिः-वृत्रतूर्यैतक १५ अ० ३८-४० तक ककुभ् हैं पुरीषवती और छन्द इष्टका इन्हीके अन्तरमें पुरीपवाप करना चाहिये। मन्त्रार्थ-(यः) जो (देवः) दानादिगुणयुक्त (स्वध्वरः) शुभयज्ञवाला अग्नि (ऊर्द्ध्वया) ऊंची (देवाच्या) देवताओंके समीप जानेवाली (कृपा) समर्थ (शोचिषा) ज्वालासे (आजुह्वानस्य) सब ओरसे होमेहुए (सर्पिषः) अङ्गमें फैलनेवाले (घृतस्य) घृतके (विभ्राष्टिम्) निरन्तर पानको (अनुवष्टि) इच्छा करता है उस (अग्निम्) अग्निको (होतारम्) देवताओंका बुलानेवाला (दास्वन्तम्) दानशील (वसुम्) वास देनेवाला (सहसः) मथन होनेसे बलका (सूनुम्) पुत्र (जातवेदसम्) सब प्रकारके ज्ञानसे सम्पन्न (जातवेदसम्) सब शास्त्रके ज्ञानवाले (विप्रम्) ब्राह्मणकी (इव) समान (मन्ये) जान्ता हूं [ऋ० २।१। १२] ॥ ४७ ॥

सरलार्थ-जो अतिशय दाता, साधारणकी सम्पत्ति, जो बलपूर्वक मथन करनेसे उत्पन्न, जो ब्राह्मणोंकी समान शास्त्रसम्पन्न, जो यज्ञकी शोभास्वरूप, जो घृत नामसे प्रसिद्ध है, जो बुलाये जाकर चिकने पदार्थोंसे देवताओंका संतोष करते, धारारूप ऊर्ध्व गमनसे अपने ज्वालामुखसे लाभ करनेकी इच्छा करते हैं, अग्निनामसे प्रसिद्ध इस देवताको हम इस यज्ञका होता कहकर स्वीकार करते हैं ॥ ४७ ॥

कण्डिका ४८-मंत्र ३ ।

अग्ने॒ त्वन्नो॒ऽअन्त॑मऽउ॒त त्रा॒ता शि॒वो भ॑वा वरू॒थ्य॑ः ॥ वसु॑र॒ग्निर्वसु॑श्रवा॒ऽअच्छा॑ नक्षि द्यु॒मत्त॑मꣳ र॒यिन्दा॑ꣳ ॥ तन्त्वा॑ शोचिष्ठ दीदिवꣳ सु॒म्नाय॑ नू॒नमी॑महे॒ सखि॑भ्य॒ꣳ ॥ ४८ ॥ [२९]

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्नेत्वमित्यस्य पर० ऋ० । त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्दे० । द्विपदाछन्दस्येष्टकोपधाने वि० ॥ ४८ ॥

विधि-(१) पश्चिमानूकान्तमें इस कण्डिकात्मक तीन मंत्र पढकर द्विपदा नामक तीन छन्दस्येष्टका उपधान करै [का० १७ । १२ । १७] मन्त्रार्थ-इसकी व्याख्या [३ अ० २५-२६] कण्डिकामें होगई ॥ ४८ ॥ [२९]

कण्डिका ४९-मंत्र १. अनु० ६ ।

येन॒ऽऋष॑य॒स्तप॑सा स॒त्रमाय॒न्निन्धा॑नाऽअ॒ग्निꣳ स्व॑रा॒भर॑न्तः ॥ तस्मि॑न्न॒हन्नि द॑धे॒ नाके॑ऽअ॒ग्निं यमा॒हुर्मन॑वस्तीर्णब॑र्हिषम् ॥ ४९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ येनेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छं०।अग्निर्देवता । गार्हपत्येष्टकोपधाने विनि० ॥ ४९ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकासे ५६ कण्डिका पर्यन्त आठ कण्डिकात्मक आठ मंत्र पाठ करके पूर्वस्थापित गार्हपत्य इष्टकाके ऊपर यथाक्रमसे एक एक करके आठ गार्हपत्य नामक इष्टका उपधान करै [का० १७ । १२ । १९] मन्त्रार्थ-(अग्निम्) अग्निको (इन्धानाः) प्रदीप्त करते हुए (स्वः) स्वर्गकी प्राप्तिका (आभरन्तः) आभरण करते हुए (ऋषयः) ऋषिगण (येन) जिस (तपसा) चित्तकी एकाग्रतारूप तपसे (सत्रम्) यज्ञ करनेको (आयन्) उद्यत हुए (तस्मिन्) उस तपके होनेपर (नाके) स्वर्ग लोकमें प्राप्त करानेवाली (अग्निम्) अग्निको (अहम्) मैं (निदधे) स्थापन करता हूं (मनवः) मनन करनेमें प्रधान विद्वान् जिस अग्निको (स्तीर्णबर्हिषम्) यज्ञसाधनसहित (आहुः) कहते हैं "ये विद्वांꣳसस्ते मनवः" इति [८ । ६ । ३ । १८] श्रुतेः ॥ ४९ ॥

भावार्थ-पुरातन ऋषिगणने जिस प्रकार तपके प्रभावसे अग्निको सम्यक्

दीप्तकर मंत्रानुष्ठानसे सम्पन्न कर स्वर्गगमनका मार्ग खोला, उन्ही विद्वानोंने जिस प्रकार अग्निको स्तीर्णवर्हि [कुशाऊपर विस्तारित] कहा है आज हम भी उसी प्रकार तपके प्रभावसे इसी प्रकार स्तीर्णवर्हि अग्निको इस स्थानमें सादन करते हैं ॥ ४९ ॥

कण्डिका ५०–मंत्र १।

तम्पत्त्नीभिरनुंगच्छेमदेवाःपुत्रैर्भ्रातृंभिरुतवा हिरंण्यैः ॥ नाकङ्गृभ्णानाः सुकृतस्यलोकेतृ तीयेपृष्ठेऽअधिरोचनेदिवः ॥ ५० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ तमित्यस्य परमेष्ठी ऋ० । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ–(देवाः) हे दीप्यमान ऋत्विजो ! (तृतीये) भूमिसे तीसरे (दिवः) द्युलोकके (पृष्ठे) ऊपर (सुकृतस्य) शुभ कर्मके फलभूत (रोचने) दीप्यमान (लोके) आदित्यमण्डलमें (नाकम्) दुःखहीन स्थानको (अधिगृभ्णानाः) स्वीकार करते हुए हम (पत्नीभिः) स्त्रियोंकरके (पुत्रैः) पुत्रों करके (वा) और (भ्रातृभिः) भाइयोंसे (उत) और (हिरण्यैः) सुवर्णादि द्रव्योंके साथ (तम्) उस अग्निको (अनुगच्छेम) सेवन करते हैं इससे हमको तीसरे लोककी प्राप्ति होगी "एतद्ध तृतीयं पृष्ठंरोचनं दिवो यत्रैष एतत्तपति" इति श्रुतेः [८ । ६ । ३ । १९] ॥ ५० ॥

भावार्थ–हे दीप्यमान ऋत्विग्गण हम पत्नीगण पुत्रगण भ्रातृगण हिरण्यादि सम्पत्तिके सहित सर्वथा अग्निकी परिचर्या करते हैं इस क्रियाके फलसे सुकृत कर्मका भोगस्थान दुःखशून्य देदीप्यमान द्युनामसे प्रसिद्ध तीसरा लोक लाभ करैं ॥ ५० ॥

कण्डिका ५१–मंत्र १।

आवाचोमद्ध्यमरुहद्भुरण्युरयमग्निः सत्पति श्चेकितानः ॥ पृष्ठेपृथिव्यानिहितोदविद्युतद धस्पदङ्कृणुतांयेपृतन्यवंः ॥ ५१ ॥

ऋष्यादि–(१)ॐ आवाच इत्यस्य परमेष्ठी ऋ०।स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः। अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ ५१ ॥

मंत्रार्थ–(अयम्) यह (भुरण्युः) जगत्‌का कर्ता (सत्पतिः) सत्पुरुषोंका पालक (चेकितानः) चेतयमान चैतन्य (पृथिव्याः) पृथिवीके (पृष्ठे) ऊपर (निहितः) स्थापित (दविद्युतत्) अत्यन्त प्रकाशमान (अग्निः) अग्नि (वाचः) चयनके (मध्यम्) मध्य स्थानमें (आरुहत्) स्थित हुआ अर्थात् चढा (ये) जो (पृतन्यवः) युद्धकी इच्छावाले पापी हैं तिनको (अधस्पदम्) चरणोंके अधोभागमें (कृणुताम्) प्राप्त करें ॥ ५१ ॥

प्रमाण–"भुरण्युरिति भर्तेत्येतत्" इति [८ । ६ । ३ । २०] श्रुतेः । "एतद्ध वाचो मध्यं यत्रैष एतच्चीयते" इति [८ । ६ । ३ । २०] श्रुतेः । "अधस्पदं कुरुताᳬं सर्वान्पाप्मनः" इति [२०] श्रुतेः ॥ ५१ ॥

भावार्थ–साधुगणके रक्षणकारी दुर्वृत्तोंको अधो देशमें पतन करनेवाला जगतका उपकारी, सर्वदा सुचेतन भूपृष्ठपर निहित यह द्योतमान अग्निचयन स्थानमें आरोहण करता है ॥ ५१ ॥

कण्डिका ५२–मंत्र १ ।

अयमग्निर्वीरतमो वयोधाः सहस्रियो द्योतताम प्रयुच्छन् ॥ विभ्राजमानः सरिरस्य मध्य उप प्रयाहि दिव्यानि धाम ॥ ५२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अयमग्निरित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ–(अयम्) यह (वीरतमः) अतिशय वीर (वयोधाः) हवि ग्रहण करनेमें पटु (सहस्रियः) सहस्र इष्टकाओंसे सम्मत (अग्निः) अग्निदेवता (अप्रयुच्छन्) कर्मोंमें प्रमाद न करता हुआ (द्योतताम्)दीप्तिमान् हो (सरिरस्य) त्रिलोकीके (मध्ये) मध्यमें (विभ्राजमानः) दीप्यमान (दिव्यानि) दिव्य (धामानि) स्थानोंको (उपप्रयातु) प्राप्त हो अर्थात् बहुत इष्टका निर्मित चयनस्थानमें अपने कार्यमें भ्रमप्रमादशून्य इस अग्निदेवताके प्रसादसे हम दिव्य-धाम स्वर्गलोकको प्राप्त हों ॥ ५२ ॥

प्रमाण–"इमे वै लोकाः सरिरम्" इति [८ । ६ । ३ ।२१ ।] श्रुतेः "दिव्यानि धामेत्युपप्रयाहि स्वर्गं लोकमित्येतत्" इति [८ । ६ । ३ । २१] श्रुतेः ॥ ५२ ॥

कण्डिका ५३-मंत्र १।

सम्प्रच्यवध्वमुपसम्प्रयाताग्ग्नेपथोदेवयानाङ्कृणुध्वम् ॥ पुनःकृण्वानापितरायुवानान्वाताꣳसीत्त्वयितन्तुमेतम् ॥ ५३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ संप्रच्यवध्वमित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। भुरिगार्षी पंक्तिश्छं०। अग्निर्दे०। वि० पू० ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ-हे ऋषियो ! तुम (संप्रच्यवध्वम्) इस अग्निके समीप आओ (उप) समीप आकर (सम्प्रयात) भलेप्रकार प्राप्त करो [मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंसे कहकर अग्निसे कहते हैं] (अग्ने) हे अग्नि ! (देवयानान्) देवयान (पथः)मार्गको (कृणुध्वम्) सिद्ध करो (पुनः) फिर (पितरा) वाणी और मनको (युवाना) तरुण (कृण्वानाः) करते हुए ऋषियोंने (एतम्) इस (तन्तुम्) यज्ञको (त्वायि) तुझमें (अतन्वाताꣳसीत्) क्रमपूर्वक विस्तार दिया है ॥ ५३ ॥

सरलार्थ-हे ऋषिगण ! तुम इस अग्निको प्राप्त हो, इसकी परिचर्या करो-हे अग्ने ! वयमें तरुण और विद्यादिसे वृद्ध इन सब ऋत्विजोंने बहुत दिनतक संयतेन्द्रिय होकर तुम्हारे संतोषके निमित्त यह यज्ञतन्तु अवलम्बन किया है, इसको स्वर्गीय मार्गमें प्राप्त करो ॥ ५३ ॥

प्रमाण-"समेनं प्रच्यवध्वमुप चैनꣳसमायात" इति [८।६।३।२२] श्रुतेः। "पुनः कुर्वाणाः पितरा युवाना" इति "वाक् च वै मनश्च पितरा युवाना", इति [२२] श्रुतेः ॥ ५३ ॥

कण्डिका ५४-मन्त्र १।

उद्बुध्यस्वाग्ग्नेप्प्रतिजागृहित्त्वमिष्टापूर्त्तेसꣳसृजेथामयञ्च ॥ अस्म्मिन्त्सधस्त्थेऽअद्ध्युत्तरस्म्मिन्विश्श्वेदेवायजमानश्च्चसीदत ॥ ५४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उद्बुध्यस्वेत्यस्य परमेष्ठी ऋ०। आर्षी त्रिष्टुप्छं०। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (त्वम्) तुम (उद्बुध्यस्व) सावधान हो (प्रतिजागृहि) जाग्रत् हो वा प्रतिदिन इस यजमानको सावधान करो (इष्टापूर्ते)

श्रौत स्मार्त कर्ममें (सह्ँसृजेथाम्) यजमानसे संसर्ग करो तुम्हारे प्रसादसे (अयम्) यह यजमान (च) भी इष्टापूर्तसे संगतिको प्राप्त हो (विश्वेदेवाः) हे विश्वेदेव ! संपूर्ण देवगणों तुम्हारे निमित्त इष्टापूर्तसे निष्पाप (यजमान) यजमान (च) भी (सधस्थे) देवताओंके साथ स्थितियोग्य (अस्मिन्) इस (उत्तरस्मिन्) सबसे उत्कृष्ट रविलोकमें वा द्युलोकमें (अधि) चिरकालतक (सीदत) निवास करै ॥ ५४ ॥

प्रमाण-"द्यौर्वा उत्तरꣳसधस्थम्" इति [८ । ६ । ३ । २३] श्रुतेः ॥ ५४ ॥

भावार्थ-हे अग्ने ! अपने कार्यमें प्रबुद्ध हो जागृतहो यह यजमान तुम्हारी सहायतासेही ऐसे बडे इष्टापूर्त कार्यमें प्रवृत्त हुआ है, इस स्थलमें सम्पूर्ण देवगणका आगमन होगा इससे देवतोंकी संगति सुलभ होगी, उत्तरलोकमें भी इसी प्रकार देवगणके सहित यजमानका चिरकालतक निवास हो ॥ ५४ ॥

"अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानामुपलम्भनम् ।
आतिथ्यं वैश्वदेवञ्च इष्टमित्यभिधीयते ॥ १ ॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

अग्निहोत्र तप सत्य वेदपाठ आतिथ्य वैश्वदेव इष्ट कहाता है ॥ १ ॥ बावडी कूप सरोवर देवमन्दिरनिर्माण अन्नदान बगीचा लगाना पूर्त कहाता है ॥ २ ॥ ५४ ॥

कण्डिका ५५-मंत्र १ ।

येन॒ वह॑सि स॒हस्र॒ᳬं येना॑ग्ने सर्ववेद॒सम् ॥ तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ नय॒ स्व॑र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे ॥ ५५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ येनेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । निच्यृदनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (येन) जिस सामर्थ्यसे (सहस्रम्) सहस्र दक्षिणावाले यज्ञको (वहसि) प्राप्त करते हो (येन) जिस सामर्थ्यसे (सर्ववेदसम्) सर्वस्व दक्षिणावाले यज्ञको प्राप्त करते हो (तेन) उस सामर्थ्यसे (नः) हमारे (इमम्) इस छोटे (यज्ञम्) यज्ञको (देवेषु) देवताओंके प्रति (गन्तवे) गमन करनेको (स्वः) स्वर्गमें (नय) प्राप्त करो यज्ञके स्वर्गमें गमन होनेसे हमाराभी वहां गमन होगा "सोऽस्यैष यज्ञो देवलोकमेवाभिपैति तदनूची दक्षिणायां ददाति प्रैति दक्षिणामन्वारभ्य यजमानः" इति श्रुतेः ॥ ५५ ॥

कण्डिका ५६-मन्त्र १।

अयन्तेयोनिर्ऋत्त्वियोयतोजातोऽअरोचथाः ॥ तञ्जानन्नग्नऽआरोहाथानोवर्द्धयारयिम् ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ-अयं ते योनिरिति इस मंत्रकी व्याख्या ३ । १४ अध्यायके १२ । ५२ मंत्रमें होगई ॥ ५६ ॥ [८]

पंचमचितिके शेषभूत इष्टकोपधान मंत्र।

कण्डिका ५७-मंत्र १. अनुवाक ७।

तपश्चतपस्यश्चशैशिरावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोसिकल्प्पेतान्द्यावापृथिवीकल्प्पन्तामापऽओषधयःकल्प्पन्तामग्नयःपृथङ्ममज्यैष्ठ्यायसव्रताः ॥ येऽअग्नयःसमनसोन्तराद्यावापृथिवीऽइमे ॥ शैशिरावृतूऽअभिकल्प्पमानाऽइन्द्रमिवदेवाऽअभिसंविशन्तुतयादेवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवेसीदतम् ५७॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तपश्चेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः।स्वराडुत्कृतिश्छन्दः। ऋतुर्देवता। ऋतव्येष्टकोपधाने वि० ॥ ५७ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे दो ऋतव्येष्टका उपधान करै [का० १७ । १२ । २२] मंत्रार्थ-(तपः) माघमास (तपस्यः) फाल्गुनमास (शैशिरावृतू) शिशिर ऋतुके अवयव हैं। शेषकी व्याख्या १३ । २५ में होगई ॥ ५७ ॥

कण्डिका ५८-मन्त्र १।

परमेष्ठीत्त्वासादयतुदिवस्पृष्ठेज्ज्योतिष्मतीम् ॥ विश्वस्मैप्प्राणायापानायव्यानायविश्वञ्ज्योतिर्यच्छ ॥ सूर्य्यस्तेधिपतिस्तयादेवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवासीद ॥ ५८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ परमेष्ठीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । शक्करी छन्दः । सूर्यो देवता । विश्वज्योतीष्टकोपधाने वि० ॥ ५८ ॥

विधि–(१) यह मंत्र पाठकर पूर्वनिहित तीसरी विश्वज्योतिका उपधान करै [का० १७ । १२ । २३] अर्थात् स्थापनकरै । मन्त्रार्थ–हे इष्टके ! (परमेष्ठी) विश्वकर्मा (ज्योतिष्मतीम्) वायुरूप ज्योतिष्मती (त्वा) तुझको (दिवः) द्युलोकके (पृष्ठे) ऊपर (सादयतु) स्थापन करै (सूर्यः) सूर्य (ते) तुम्हारा (अधिपतिः) स्वामी है [शेषकी १४ अ० १४ कं० में व्याख्या होगई. सरलार्थ लिखते हैं] यजमानके प्राण अपान व्यान और उदान प्रभृति सम्पूर्ण वायु बलके लाभ उपाय रूपको ज्योतिं प्रदान करो तुम इस देवताके प्रभावसे इस अग्निचयन कार्यमें अचल निवास करो ॥ ५८ ॥

कण्डिका ५९ । ६० । ६१–मं० ३ ।

लोकम्पृणच्छिद्रम्पृणाथोसीदध्रुवात्त्वम् ॥ इन्द्राग्नीत्त्वाबृहस्पतिरस्मिन्योनावसीषदन् ॥५९॥ ताऽअस्यसूददोहसः सोमᳬश्रीणन्तिपृश्नयः ॥ जन्मन्देवानांविशस्त्रिष्वारोचनेदिवः ॥ ६० ॥ इन्द्रंविश्वाऽअवीवृधन्त्समुद्रव्यचसङ्गिरः ॥ रथीतमᳬरथीनांवाजानाᳬसत्पतिम्पतिम्॥ ६१ ॥

विधि–(१) लोकम्पृण इति यह मंत्र पाठ पूर्वक पूर्ववत्क्रमसे लोकम्पृणा नाम इष्टका उपधान करै [का० १७ । १२ । २४] इन तीन मंत्रोंकी व्याख्या [१२ अ० ५४ । ५५ । ५६] कं० में होगई ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥

कण्डिका ६२–मंत्र १ ।

प्रोथदश्वोनयवसेविष्यन्यदामहः सँवरणाद्व्यस्त्थात ॥ आदस्यवातोऽअनुवातिशोचिरधस्मतेव्व्रजनङ्कृष्णमस्ति ॥ ६२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ प्रोथदश्व इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । विराट् त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्दे० । विकर्णीष्टकोपधाने वि० ॥ ६२ ॥

विधि–(१) अनन्तर इसके ऊपर शर्करामयी छिद्रयुक्त विकर्णी और स्वयमातृणा नामक दो इष्टका परस्पर मिली हुई उपधान करै, उनके बीचमें दोनों ओर विभागको प्राप्त होनेवाली अनूकरेखाके ऊपर इस मंत्रसे विकर्णी इष्टका उपधान करै [का० १७ । १२ । २९] मंत्रार्थ–(यदा) जिस समय (महः) वडे (संवरणात्) अरणीकाष्ठसे (व्यस्थात्) अग्नि प्रकाशित होती है तव (प्रोथत्) शब्द करती है (न) जिस प्रकार (अश्वः) घोडा (अविष्यन्) भोजनकी इच्छा करता(यवसे) घासके निमित्त शब्द करता है(आत्) अग्निके प्रज्वलित शब्दके उपरान्त (शोचिः) प्रज्वलित करनेवाला (वातः) वायु (अस्य) इस अग्निकी ज्वालाको देखकर (अनुवाति) वहन करता है (अधः) इसके उपरान्त अर्थात् पवनद्वारा अग्नि प्रज्वलित होनेसे "कारण कि अग्नि और वायुकी मित्रता प्रसिद्ध है" हे अग्ने ! उस समय (ते) तुम्हारा यह (व्रजनम्) गमन (कृष्णम्) कृष्णवर्ण (अस्ति स्म) होताही है [ऋ० ९ । २ । ३] ॥ ६२ ॥

प्रमाण–१"शोचिरिति ज्वलन्नामसु पठितम्" [निघं० १ । १७ । ६] २ "अथैतस्य व्रजनं कृष्णं भवति" इति [८ । ७ । ३।१२] श्रुतेः । "अविष्यन्नित्युत्पत्तिकर्मसु" [निघं० २ । ८ । ६ ।] श्रुतिमें ते इति इस पदका व्याख्यान एतस्य करके किया है मंत्रके परोक्ष होनेसे ॥ ६२ ॥

सरलार्थ–वहुत कालमें वडे अरणिकाष्ठसे अग्नि प्रकाश पाता है, उस समय घास आहार करनेके पहले अश्वगण जिस प्रकार हेषानाद करते हैं इसी प्रकार यह शब्द करती है तदनन्तर वायुकी सख्यतासे इस अग्निकी शिखा परिवर्द्धित होती है अनन्तर जिस जिस स्थानमें यह अग्नि धूमायित होती है, वह समस्तही स्थल कृष्णवर्ण होजाता है ॥ ६२ ॥

कण्डिका ६३–मंत्र १ ।

आयोष्ट्वासदनेसादयाम्म्यवतश्च्छायायाᳬसमुद्रस्यहृदये ॥ रश्म्मीवतीम्भास्वतीमायाद्याम्भास्यापृथिवीमोर्वुन्तरिक्षम् ॥ ६३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ आयोष्ट्वेत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । ब्राह्म्युष्णिक्छन्दः । स्वयमातृणा देवता । स्वयमातृणेष्टकोपधाने वि० ॥ ६३ ॥

विधि-(१) यह मंत्र एवं परकाण्डिकात्मक मंत्रपाठपूर्वक इस विकर्णी इष्टकाके दक्षिणमें स्वयमातृणा इष्टका उपधानकरै [का० १७ । १२ । २५] मंत्रार्थ-हे स्वयमातृणे ! (अवतः) जगत्के पालन करनेवाले वा दीप्यमान (समुद्रस्य) वर्षासे जगत्को आर्द्रकरनेवाले वा दयाके समुद्र (आयोः) आयु नामसे प्रसिद्ध आदित्य देवताके (छायायाम्) आश्रयरूप (हृदये) प्रधान हृदयरूप (सदने) स्थानमें अर्थात् हृदयतुल्य स्थानमें (रश्मीवतीम्) बहुत किरणोंसे युक्त (भास्वतीम) प्रकाशमान (त्वा) तुमको (सादयामि) स्थापन करता हूं । (त्वम) तुम (द्याम्) द्युलोकको (आभासि) प्रकाशकरती हो (पृथिवीम्) भूलोकको प्रकाशकरती हो (उरु) विस्तीर्ण (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (आ) प्रकाशमान करती हो ॥ ६३ ॥

कण्डिका ६४-मंत्र १ ।

परमेष्ठीत्त्वासादयतुदिवस्पृष्ठेव्यचस्वतीम्प्रथस्वतीन्दिवँय्यच्छदिवन्दृᳬहदिवम्माहिᳬसीः ॥ विश्वस्मैप्राणायापानायव्यानायोदानायप्रतिष्ठायैचरित्राय ॥ सूर्य्यस्त्वाभिपातुमह्या स्वस्त्याच्छर्दिषाशन्तमेनतयादेवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवासीदतम् ॥ ६४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ परमेष्ठीत्यस्य इस मंत्रकी व्याख्या १४ अ० के १२ मंत्र० । १९ अ० के ५८ मंत्रमें होगई ॥ ६४ ॥

कण्डिका ६५-मंत्र १ ।

सहस्रस्यप्रमासिसहस्रस्यप्रतिमासिसहस्रस्योन्मासिसाहस्रोसिसहस्रायत्त्वा ॥ ६५ ॥

इति श्रीशुक्लयजुस्संहितापाठे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सहस्रस्येति मंत्राणां मधुच्छन्दा ऋषिः । दैवी जगती, दैवी गायत्री याजुष्यनुष्टुप्, दैवी बृहती, दैवी पंक्तिश्छन्दांसि । अग्निर्देवता । सुवर्णखण्डानामुपरि जलसिंचने वि० ॥ ६५ ॥

विधि-(१) अनन्तर पक्षपुच्छविशिष्ट इस इष्टकाचित वेदीके मध्यमें उत्तर पूर्व दक्षिण और पश्चिम क्रमसे पंच स्थानमें प्रत्येक स्थानमें दोदोसौ २०० अर्थात् सब मिलकर सहस्र सुवर्णखण्ड रखकर स्वयं स्थित होकर उसके ऊपर इस कण्डिकात्मक पांच मंत्रोंसे यथाक्रमसे जल सिंचन करै [का० १७ । १२ । २७]
मन्त्रार्थ-हे अग्ने ! तुम (सहस्रस्य) सहस्र इष्टकाओंकी (प्रमा) प्रमाण (असि) हो १। (सहस्रस्य) तुम सहस्र इष्टकाओंकी (प्रतिमा) प्रतिनिधि (असि) हो २। तुम (सहस्रस्य) सहस्र इष्टकाओंकी (उन्मानम्) तुला (असि) हो ३। तुम (साहस्रः) सहस्र इष्टकाओंके उपयुक्त (असि) हो ४। (सहस्राय) अनन्त फलप्राप्तिके निमित्त (त्वा) तुमको प्रोक्षण करताहूं ५ ॥ ६५ ॥

विशेष-इस मंत्रमें जब कि अग्निको सहस्र इष्टकाओंकी प्रतिमा कहाहै तब ज्ञात होताहै कि प्रतिमाविधान फलदायक सत्य है ॥ ६५ ॥

इति श्रीमाध्यन्दिनीयायां वाजसनेयिसꣳहितायां पंडितज्वालाप्रसादमिश्रकृतार्य्यभाषायां मन्त्रभागे मिश्रभाष्ये पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

शुभमस्तु।

अथ षोडशोऽध्यायः १६.

नमस्ते षोडश हिरण्यबाहवे । उष्णीषिणे । तक्षभ्योज्येष्ठाय । पञ्चकाः स्तृत्याय चतस्रः शम्भवायैका पार्यायपञ्च द्रापेऽअन्धसो विꣳशतिः नव षट्षष्टिः ॥

रुद्राध्यायः।

विधि-(१) पन्द्रहवें अध्यायमें चयनके मंत्र समाप्त करके सोलहवें अध्यायमें शतरुद्रिय होमके मंत्र वर्णन करते हैं सुवर्णखण्डके द्वारा चिति प्रोक्षण करनेके

१ इस अध्यायमें आदिसे अन्ततक रुद्र देवताका ही स्तोत्र है सबही रुद्रका महत्त्व स्वीकार करके उपासना करते हैं जो ईश्वरको एकमात्र कर्तृत्व और फलदातृत्व स्वीकार करते है वे अद्वैत और द्वैत इन दो श्रेणियोंमें विभक्त है अद्वैतवादी अर्थात् वेदान्तसिद्धान्तमें ईश्वरके अतिरिक्त और कुछ पदार्थ नहीं है "पुरुष एवेदꣳ सर्वम्" यजु अ० ३१ और "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तच्चन्द्रमाः" इन मंत्रोंके अनुसार सब कुछ वही है, रुद्रभी परमात्माका नामान्तर है, इस अध्यायमें जो कुछ स्तुति आदि है वह सब उसीकी है वह दृश्यादृश्य सम्पूर्ण पदार्थ ईश्वरसे अभिन्न हैं अर्थात् ईश्वरकाही अंश है इस विषयमें यह अध्याय प्रधान प्रमाण है । द्वैतके विषयमें भी यद्यपि ईश्वर सम्बन्धके व्यतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं सब पदार्थ ही उसमें हैं और सब पदार्थोंमें ईश्वर है ऐसी

उपरान्त उत्तरमुख होकर उत्तर पक्षके पश्चिमकोनमें जंघामात्री आदि जो सब इष्टका परिश्रित प्रथम स्थापन हो चुकी है, दहिने हाथमें अर्कपत्र और बायें हाथमें अर्ककाष्ठ ग्रहण करके इस अर्कपत्रमें बारंबार वनके तिल मिलेहुए गवेधुका सत्तू [गवेधुका—गडगड धान्य विशेष] अथवा अजादुग्ध लेकर इस मंत्रके पाठ पूर्वक बायें हाथमें स्थित अर्ककाष्ठद्वारा उसके ऊपर डाले [का० १८ । १ । १—५] उदङ्मुख होकर 'नमस्ते'—यहांसे प्रारंभ कर तीन अनुवाकोंके अन्तमें [अर्भकेभ्यश्च वो नमः २६ क०] तक जानुमात्र परिश्रितमें स्वाहाकार करना । फिर पांच अनुवाकोंके अनन्तर "सुधन्वने च" यहां [३६ क०] में नाभिमात्र परिश्रित स्वाहाकार करना । "नमोस्तु रुद्रेभ्यः" [६३ क०] में प्रत्यवरोह मंत्र हैं उनसे पहले मुखमात्र परिश्रितमें स्वाहाकार जानना "नमोस्तु" इति इन तीन कण्डिकाओंमें प्रतिलोम होम करना. "ये दिवि" इति [क० ६४] मुखमात्रमें । "येन्तरिक्षम्" इति [क० ६५] नाभिमात्रमें. "ये पृथिव्यां" [क० ६६] जानुमात्रमें हवन करना चाहिये । इसमें ३६० यजु हैं पीछे तीस पैंतीस अवशिष्ट हैं पीछे जो ३५ हैं वही वही १२ के उपरान्त तेरहवां महीना अधिक मास है वही संवत्सरका आत्मा मध्यभाग है । —

कोई भी वस्तु नहीं जिसके बाहर भीतर वह न हो यद्यपि वह सबमें विद्यमान है तथापि वह स्रष्टा जगत् सृज्य, वह द्रष्टा, जगत् दृश्य, वह व्यापक, जगत् व्याप्य, वह उपास्य जगत् उपासक है. इस प्रकारसे इस अध्यायके पर्जन्यादि समस्त पदार्थोंका जो अन्तर देवता है उसीको रुद्र कहते हैं उन पदार्थोंके नाम ग्रहणसे अंतर देवता रुद्रकी ही स्तुति है ।

प्रकृतिवादी कहते हैं कि प्रकृतिकी स्वाधीनतासेही जगत्की स्थिति उत्पत्ति और प्रलय होती है प्रकृतिके चेतनके आश्रय वा चेतनसे सम्बद्ध न होकर भी उसके कर्तृत्वमें कोई बाधा नहीं आती केवल मंत्रके प्रभावकाही फल होना उससे दृष्ट है, और जब मंत्रके प्रभावसे फल होताहै तब उसके प्रदाता चेतनकी आवश्यकता नहीं, अग्निका दहन, जलमें शीतगुण स्वभावसे ही सिद्ध है, उनके कार्यकारित्व चेतनके प्रयोजकताकी आवश्यकता नहीं, इनके मतमें जिस समय जिस वस्तुसे उग्रध्वनि-प्रभृति रुद्रत्व प्रकाशित होताहै उस समय उसको रुद्र कहा जाता है इसके अनुसार अग्नि वायु आकाश सूर्यादि बहुत पदार्थ रुद्र होते हैं, इस अध्यायमें प्रथम कितने एक इसी प्रकारके रुद्रदेवताके स्तव हैं, तथा जगत्के उपयोगी अन्य वस्तुओंके स्तव हैं, परन्तु इस अध्यायमें शिवातनू, रक्षा, पालन, आवाहन, धनुष धारण करनेवाले इत्यादि अनेक गुण दिव्यता होनेसे प्रधानतासे इस अध्यायमें रुद्रदेवताकीही प्रार्थना है, प्रकृतिवाद नहीं है उन पदार्थोंमें जो शक्ति है वही रुद्रदेवताकी है इसी कारण जगत्कर्ता चैतन्यकाही वर्णन है ।

द्वैत अद्वैत सिद्धान्तियोंका फल एकत्व है कारण कि जिस प्रकार गुणवानसे गुणको पृथक् करके उनकी पृथक् २ स्तुति करना दोनों बराबर है इसी प्रकार अन्तर्देवता वा पर्जन्यदेवताकी स्तुति करना दोनों तुल्य है. पर्जन्यादिको ईश्वरभावनासे स्तवकरना वा पर्जन्यादिके सहित चिरसंश्लिष्ट ईश्वरकी स्तुतिकरना दोनोंही तुल्य हैं. परन्तु उपासनावालोंको यह अध्याय दुष्कर है, इस कारण हम प्राचीन टीकोंके अनुसार इस अध्यायमें परम शिवतत्त्वका निरूपण करते हैं ।

कण्डिका १-मंत्र १. अनु० १ ।

नमस्तेरुद्रमन्यवऽउतोतऽइषवेनमः ॥
बाहुभ्यामुततेनमः ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमस्त इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । गायत्री छन्दः । रुद्रो देवता । होमे विनि० ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ-(रुद्र) हे दुःखके दूरकरने अथवा ज्ञानके देनेवाले अथवा पापीजनोंको उनका कर्मफल देकर रुलानेवाले रुद्रदेव ! (ते) आपके (मन्यवे) क्रोधके निमित्त (नमः) नमस्कार है (उतो) और (ते) तुम्हारे (इषवे) वाणोंके निमित्त (नमः) नमस्कार है (उत) और (ते) तुम्हारी (बाहुभ्याम्) दोनों भुजाओंके निमित्त (नमः) नमस्कार है, अर्थात् हे रुद्रदेव ! आपका क्रोध और वाणधारी हस्त शत्रुओंपर पडैं हमको शान्ति हो १ ।

विशेष-तत्त्ववादी मेघोंके अन्तर शक्तिमय रुद्रका निवास कहते हैं, कि गर्जना उनका क्रोध है, उल्कापात वाण हैं, समुद्रमें उठे तरंग एकभुजा, और महाधारा वर्षा उनकी दूसरी भुजारूप हैं, उससे शत्रुओंका अनिष्ट हो और हमको मंगल हो. १ अथवा पापियोंके नाशको तुम वाण और क्रोधरूप हो ॥ १ ॥

कण्डिका २-मंत्र १ ।

यातेरुद्रशिवातनूरघोरापापकाशिनी ॥
तयानस्तन्वाशन्तमयागिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यात इत्यस्य परमेष्ठीः ऋषिः । आर्षी स्वराडनुष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ-(गिरिशन्त) कैलासपर्वतपर स्थित होकर प्राणियोंके सुखको विस्तार करनेवाले अथवा 'गिरि' वाणीमें स्थित होकर सुखका विस्तार करनेवाले अथवा गिरि अर्थात् मेघमें स्थित होकर वर्षाआदिके रूपसे सुखको विस्तार करनेवाले वा पर्वतपर शयन करनेवाले सर्वज्ञ (रुद्र) हे रुद्र ! (या) जो (ते) तुम्हारा (शिवा) शान्त मंगल रूप (अघोरा) विषमतारहित होनेसे सौम्य (अपापकाशिनी) पाप फलको न देकर पुण्य फलकाही देनेवाला (तनूः) शरीर है (तया) उस (शन्तमया) सुख भरे (तन्वा) शरीरसे (नः) हमको (अभिचाकशीहि) अवलोकन कीजिये ॥ २ ॥

प्रमाण-१ "चाकशीति पश्यतिकर्मा" [निघं० ३ । ११ । ८] २ हम आपकी उग्रमूर्ति देखनेकी इच्छा नहीं करते यह भाव है ॥ २ ॥

विशेष-जो सर्वव्यापी आत्माका भी आत्मा है दृश्य अदृश्य सम्पूर्ण शरीरोंमें उसकी स्थिति है केवल तत्त्वविचारवाले कहते हैं कि इस स्थलमें रुद्रका मेघोदयरूप शरीर देखनेकी प्रार्थना है किन्तु जिससे गृहपतन और बाढकी प्राप्ति हो उसके उदयकी प्रार्थना नहीं है किन्तु जिसके उदयसे कृषिआदिकी उन्नति हो उसीकी प्रार्थना है । यहां रुद्रका कल्याणमय शरीर और कैलासवास होनेसे शिवका विग्रहभी कथन किया है. २ अथवा हे रुद्र ! आपका कल्याणकारी विस्तार मनोहर है पापोंको दूरकरके हमको महासुख दो ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मंत्र १ ।

यामिषुङ्गिरिशन्तहस्तेबिभुर्ष्यस्तवे ॥ शिवाङ्गिरित्रताङ्कुरुमाहिँᳬसीःपुरुषञ्जगत् ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यामिषुमित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । विराडार्ष्यनुष्टुप्छं० । रुद्रो देव० । वि० प० ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ-(गिरिशन्त) हे वेदवाणीमें स्थित वा पर्वतपर उदित मेघवृन्दके अन्तरस्थित होकर जगत्का कल्याण करनेवाले (गिरित्र) कैलास वा वेदवाणीमें स्थित होकर प्राणियोंकी रक्षाकरनेवाले तुम (याम्) जिस (इषुम्) बाणको (अस्तवे) शत्रुओंके नाश वा प्रलयमें, जगत्के अस्तकरनेको (हस्ते) हाथमें (बिभर्षि) धारण करते हो (ताम्) हे रक्षक ! उस बाणको (शिवाम्) कल्याणकारी (कुरु) करो (पुरुषम्) पुत्रपौत्रादि (जगत्) जगतके गवाश्वादिकों (मा) मत (हिᳬसीः) मारो अर्थात् अकालमें हमको और इस सम्पूर्ण जगत्को नष्ट मतकरो ॥ ३ ॥

विशेष-गिरिशृङ्गमें जो रहते हैं निम्नभागके मेघोपद्रव उनका अनिष्ट नहीं कर सकते इस निमित्त अधश्चारी दुर्घटाके अन्तरस्थित देवताको गिरित्र कहते हैं यह तत्त्ववादी जन कहते हैं ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मंत्र १ ।

शिवेनवचसात्त्वागिरिशाच्छावदामसि ॥ यथा नःसर्वमिज्जगदयक्ष्मᳬसुमनाऽअसत् ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ शिवेनेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ-(गिरिश) हे वेदवचन वा कैलासमें शयन करनेवाले (शिवेन) मङ्गल (वचसा) स्तुतिरूप वचनसे (त्वा) तुमको (अच्छ) प्राप्त होनेको (वदामसि) हम प्रार्थना करते हैं (नः) हमको (सर्वम्) सब (इत्) ही (जगत्) जंगम मनुष्य पशुआदि (यथा) जिस प्रकार (अयक्ष्मम्) निरोग (सुमनाः) शुभमनवाला (असत्) होवै सो करो अर्थात् यह जगत् स्वस्थ और रोगरहित हो ॥ ४ ॥

विशेष-(१) जिसका उदय सर्वदाही पर्वतपृष्ठपर देखा जाता है ऐसा मेघ उस मेघके अन्तरस्थित देवताको गिरिश कहते हैं यह तत्त्ववादी जनोंका कथन है ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मंत्र १ ।

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक् ॥ अहीँश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराचीः परासुव ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अध्यवोचदित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । भुरिगार्षी बृहती छं० । रुद्रो देवता । वि०पू० ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ-(अधिवक्ता) अधिक वदनशील सर्वदा निगम कथन करनेवाले (प्रथमः) सब देवताओंमें मुख्य पूजनीय (दैव्यः) देवताओंके हितकारी (भिषक्) स्मरणसे ही संसारके तथा जन्म मरणके रोगनाशक रुद्र (अध्यवोचत्) हमको सबसे अधिक कहैं, अर्थात् सबसे अधिक करैं (च) और (सर्वान्) सब (अहीन्) सर्पव्याघ्रादिको (जम्भयन्) विनाश करते हुए (सर्वाः) सम्पूर्ण (अधराचीः) अधोगमनशील (यातुधान्यः) राक्षसीआदिको (च) भी (परासुव) हमसे दूरकरो ॥ ५ ॥

अध्यात्म-परमात्मा हमको महावाक्यका उपदेश करो, और सर्पकी समान डसनेवाले कामआदिको नाशकरो, और अधोगमनशील कामकलारूपी राक्षसियोंको दूरकरो, अथवा सम्पूर्ण विद्याओंके कहनेसेही सबमें श्रेष्ठ गिने जातेहैं इसीसे दिव्यगुणयुक्त ज्ञानसे सबके संसारी रोगके दूरकरनेवाले हैं ॥ ५ ॥ जड़वादी कहते हैं गर्जनही प्रधान शब्द है । अतिवृष्टि होनेसे ज्वरादि रोग और सर्पोंका प्रादुर्भाव होता है, इनसे मृत्युसंख्या अधिक होनेकी संभावना है प्रेतभय

उपस्थित न हों इस कारण तीनों भयके निवारण करनेके निमित्त रुद्र देवसे प्रार्थना है ॥ ५ ॥

कण्डिका ६—मन्त्र १ ।

असौयस्ताम्म्रोऽअ॑रुणऽउतब॒भ्रुःसु॑म॒ङ्गलः॑ ॥ येचैनᳪरु॒द्राऽअ॒भितो॑दि॒क्षुश्रि॒ताःस॑हस्र॒शोवैषा॒ᳪहेड॑ऽईमहे ॥ ६ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ असावित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृदार्षी पंक्तिश्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—(च) और (यः) जो (असौ) यह प्रत्यक्ष रुद्र सूर्यरूप (ताम्रः) उदय समयमें अत्यन्त लालवर्ण (अरुणः) अस्तसमय रक्तवर्ण (उत) और मध्याह्नसमयमें (बभ्रुः) पिङ्गलवर्ण (सुमङ्गलः) मंगलरूप कर्मोंका उदयमें विस्तार करनेवाले हैं (च) और (ये) (सहस्रशः) सहस्रों (रुद्राः) रुद्रांशरूप, वा किरणरूपसे (एनम्) इनके (अभितः) सब ओर (दिक्षु) दिशाओंमें (श्रिताः) स्थित हैं अर्थात् जो सब सहस्रों देवता नक्षत्रमण्डल इन देवताके दशों दिशाओंमें देदीप्यमान हैं (एषाम्) इन्होंका (हेडः) क्रोध हम भक्तिद्वारा (ईमहे) निवारण करते हैं "हेड इति क्रोधनाम" [निघं० २ । १३ । १] ॥ ६ ॥

कण्डिका ७—मंत्र १ ।

असौयोऽव॒सर्प॑तिनील॑ग्रीवो॒विलो॑हितः ॥ उ॒तैनं॑गो॒पाऽअ॑दृश्र॒न्नदृ॑श्रन्नुदहा॒र्य्यः॑ स॒दृष्टोमृ॑डयातिनः ॥ ७ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ असौ य इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । विराडार्षी पंक्तिश्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—(यः) जो (असौ) यह (नीलग्रीवः) विषधारणसे नीलग्रीव वा अस्तसमयमें नीलकण्ठकी समान (उत) और (विलोहितः) विशेषरक्तवर्ण आदित्यरूपसे (अवसर्पति) उदय अस्त करते निरन्तर गमनकरते हैं (एनम्) इनको (गोपाः) वेदोक्त संस्कारहीन गोपालतक (अदृश्रन्) देखते हैं (उदहार्यः) जल लेजानेवाली नारीभी (अदृश्रन्) दर्शन करती हैं (सः) वह रुद्र (दृष्टः) दर्शनपथमें प्राप्त होतेही (नः) हमको (मृडयाति) सुखीकरैं, "सूर्यमें नीलिमा

आकाशकी नीलतासे कही है" । गोष्ठमें गोपाल नदीआदि तीरपर पनिहारी इनकी शोभा अतिशय देखती हैं पक्षान्तरमें इन्द्रियगोलकोंकी रक्षक इन्द्रियशक्ति गोप और अमृतकी प्राप्त करनेवाली प्रज्ञाशक्ति उदकहारी है ॥ ७ ॥

कण्डिका ८–मन्त्र १ ।

नमोॅस्तुनीलंग्ग्रीवायसहस्राक्षायंमीढुषें ॥
अथोुयेऽअंस्यसत्त्वांनोहन्तेब्भ्योंकरन्नमं॑ ॥ ८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ नमोस्त्वित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ८ ॥

मंत्रार्थ–(नीलग्रीवाय) नीलकण्ठ (सहस्राक्षाय) सहस्रनेत्र सब जगत्को देखनेवाले अथवा इन्द्रस्वरूप वा बहुरश्मिरूप (मीढुषे) सेचनमें समर्थ पर्जन्यरूप रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो (अथो) और (अस्य) इस रुद्र देवताके (ये) जो (सत्वानः) अनुचरविशेष हैं [सूर्यपक्षमें मेषादि राशि हैं] (तेभ्यः) उनके निमित्त (अहम्) मैं (नमः) नमस्कार (अकरम्) करताहूं ॥ ८ ॥

कण्डिका ९–मंत्र १ ।

प्रमुंञ्चधन्न्वंनुस्त्वमुभयोरार्त्क्न्योंर्ज्ज्याम् ॥
याश्चंतेहस्त्तुऽइषंवुःपराुताभंगवोवप ॥ ९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ प्रमुञ्चेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । भुरिगार्ष्युष्णिक्छन्दः । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ९ ॥

मंत्रार्थ–(भगवः) हे षडैश्वर्यसम्पन्न भगवन् ! आप (धन्वनः) धनुपकी (उभयोः) दोनों (आर्त्न्योः) कोटियोंमें स्थित (ज्याम्) ज्याको (त्वम्) तुम (प्रमुञ्च) दूर करो उतारलो (च) और (याः) जो (ते) आपके (हस्ते) हाथमें (इषवः) बाण हैं (ताः) उनको (परावप) दूर त्यागदो हमारे निमित्त सौम्यमूर्ति होजाओ ॥ ९ ॥

कण्डिका १०–मन्त्र १ ।

विज्ज्यन्धनुंःकपुर्द्दिनोविशंल्ल्योबाणंवाँ२ऽउत ॥
अनैंशन्नस्ययाऽइषंवऽआभुरंस्यनिषङ्गधिः ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विज्यन्धनुरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । रुद्रो दे० । वि० पू० ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ-(कपर्दिनः) जटाजूटधारी रुद्रका (धनुः) धनुष (विज्यम्) ज्यारहित हो (उत) और (बाणवान्) तरकस (विशल्यः) भालवाले वाणोंसे रीता हो (अस्य) इन देवताके (याः) जो (इषवः) वाण हैं वे (अनेशन्) अदर्शनको प्राप्त हों(अस्य)इनके (निषङ्गधिः) खड्ग रखनेका कोश (आभुः)रीता हो अर्थात् रुद्र हमारे प्रति सर्वथा न्यस्तशस्त्र हों ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मंत्र १ ।

यातेहेतिर्म्मीढुष्टमहस्तेबभूवतेधनुः ॥
तयास्म्मान्विश्श्वतस्त्वमयक्ष्मयापरिभुज ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यात इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृदनुष्टुप्छन्दः। रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ११ ॥

(मीढुष्टम) हे अत्यन्त ज्ञानामृत वा वर्षासे सींचनेवाले (ते) तुम्हारे हाथमें (या) जो (हेतिः) आयुध है (ते) आपके (हस्ते) हाथमें (धनुः) जो धनु (बभूव) है (तया) उस (अयक्ष्मया) उपद्रवरहित धनुरूप हेतिसे (त्वम्) आप (विश्वतः) सब ओरसे (अस्मान्) हमको (परिभुज) पालनकरो अर्थात् आप वर्षा करनेवाले अस्त्रकोंही धारण कीजिये किन्तु उससे कोई उपद्रव न हो ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मंत्र १ ।

परितेधन्न्वनोहेतिरस्म्मान्वृणक्तुविश्श्वतः ॥
अथोयऽइषुधिस्तवारेऽअस्म्मन्निधेहितम् ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ परीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छन्दः। रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ-हे रुद्र (ते) तुम्हारे (धन्वनः) धनुषसम्बन्धी (हेतिः) आयुध (विश्वतः) सब ओरसे (अस्मान्) हमको (परिवृणक्तु) त्यागन करै (अथो) और (यः) जो (तव) तुम्हारा (इषुधिः) तरकस है (तम्) उसको (अस्मत्) हमारे निकटसे (आरे) दूर (निधेहि) स्थापन करो ॥ १२ ॥

कण्डिका १३–मन्त्र १।

अवतत्त्यधनुष्ट्व&सहस्राक्षशतेषुधे ॥ निशीर्य्य शल्ल्यानाम्मुखाशिवोनः सुमनाभव ॥ १३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अवतत्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ–(सहस्राक्ष) हे विराट् ! हे सहस्रनेत्र ! (शतेषुधे) सहस्रों तरकसवाले ! (त्वम्) तुम (धनुः) धनुषको (अवतत्य) ज्यारहित करके (शल्यानाम्) वाणोंके (मुखाः) मुख (निशीर्य) भाल निकालकर (नः) हमको (शिवः) शान्त (सुमनाः) शोभनाचित्त (भव) हो अर्थात् हमपर कृपा करो ॥ १३ ॥

कण्डिका १४–मंत्र १।

नमस्तुऽआयुधायानाततायधृष्णवे ॥ उभाब्भ्यामततेनमोबाहुब्भ्यान्तवधन्न्वने ॥ १४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ नमस्त इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । भुरिगार्ष्युष्णिक्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ–हे रुद्र ! (ते) आपके (अनातताय) धनुषपर न चढायेहुये (आयुधाय) वाणके निमित्त (नमः) नमस्कार है (ते) आपके (उभाभ्याम्) दोनों (वाहुभ्याम्) बाहुओंके निमित्त (उत) और (तव) आपके (धृष्णवे) शत्रुमारनेमें प्रगल्भ (धन्वने) धनुषके निमित्त (नमः) नमस्कार है ॥ १४ ॥

कण्डिका १५–मंत्र १ ।

मानोमहान्तमुतमानोऽअब्भ्रकम्मानऽउक्षन्तमुतमानऽउक्षितम् ॥ मानोवधीः पितरम्मोतमातरम्मानः प्प्रियास्तन्न्वोरुद्द्ररीरिषः ॥ १५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ मानोमहान्त इत्यस्य कुत्स ऋषिः । निच्यृदार्षी जगती छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ–हे रुद्र ! (नः) हमारे (महान्तम्) वृद्ध गुरु पितृव्यादिको (मा) मत (वधीः) मारो (उत) और (नः) हमारे (अर्भकम्) वालकको (मा) मत मारो (नः) हमारे (उक्षन्तम्) तरुणको (मा) मत मारो (उत) और

(नः) हमारे (उक्षितम्) गर्भस्थ बालकको (मा) मत मारो (नः) हमारे (पितरम्) पिताको (मा) मत मारो (उत) और (नः) हमारी (मातरम्) माताको (मा) मत मारो (नः) हमारे (प्रियाः) प्यारे (तन्वः) शरीर पुत्रपौत्रादिको (मा) मत (रीरिषः) मारो [ऋ० १ । ८ । ६] ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मंत्र १।

मानस्तोकेतनयेमानऽआयुषिमानोगोषुमानोऽअश्वेषुरीरिषः ॥ मानोवीरान्रुद्रभामिनोवधीर्हविष्मन्तःसदमित्त्वाहवामहे ॥ १६ ॥ [१६]

शतम् ॥ ८०० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मानस्तोक इत्यस्य कुत्स ऋषिः । निच्यृदार्षी जगती छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ १६ ॥

मंत्रार्थ-(रुद्र) हे रुद्र ! (नः) हमारे (तनये) पौत्र (तोके) पुत्रको (मा) मत (रीरिषः) मारो (नः) हमारी (आयुषि) आयुको (मा) मत नष्टकरो (नः) हमारी (गोषु) गौओंमें (मा) मत प्रहारकरो (नः) हमारे (अश्वेषु) घोडोंमें (मा) मत प्रहारकरो (नः) हमारे (भामिनः) क्रोधयुक्त (वीरान्) वीर पुरुषोंको (मा) मत (वधीः) मारो (हविष्मन्तः) हवियुक्त (सदमित्) निरन्तर (त्वा) आपको हम (हवामहे) यज्ञके निमित्त आह्वान करते हैं अर्थात् आपहीकी शरण हैं [ऋ० १ । ८ । ६] ॥ १६ ॥ [१६]

कण्डिका १७-मंत्र ८. अनु० २।

नमोहिरण्यबाहवेसेनान्येदिशाञ्चपतयेनमोनमोवृक्षेभ्योहरिकेशेभ्यःपशूनाम्पतयेनमोनमःशष्पिञ्जरायत्त्विषीमतेपथीनाम्पतयेनमोनमोहरिकेशायोपवीतिनेपुष्टानाम्पतयेनमोनमोबभ्लुशाय १७

ऋष्यादि-(१) ॐ नम इत्यस्य कुत्स ऋषिः । निच्यृदतिधृतिश्छं० । रुद्रो वता । होमे वि० ॥ १७ ॥

वि० ८-(१) नमो हिरण्यबाहवे यहांसे द्रापे इति ४७ कं० से पहले २ सब यजु हैं यहां २४० यजुओंके रुद्र देवता हैं, ४६ से नमो वः किरिकेभ्यःइत्यादि ४६

छयालीस कण्डिकामें अग्नि वायु सूर्य देवता प्रधानतासे रुद्रही हैं । चार अक्षरका दैवीछन्द । पांच अक्षरका दैवीपंक्ति । छःका यजुर्गायत्री । सातका यजुरुष्णिक् । आठका यजुरनुष्टुप् । ९ का यजुर्बृहती । १० का यजुःपंक्ति । ११ का यजुस्त्रिष्टुप्छं० । १२ का यजुर्जगती । १४ का सामोष्णिक् छन्द जानना चाहिये । इन रुद्रोंमें किन्हीको दोनों ओरसे नमस्कार है, दो पदसे पहले और पद उच्चारणसें पीछे नमः पद जिनमें लगा होवे वे दोनों ओरसे नमस्कारवाले हैं ऐसा 'हिरण्यबाहवे' से प्रारम्भ कर 'अश्वपतिभ्यश्च नमः' तक जानना । २८ कं० में अन्तर अर्थात् आदिसे नमस्कार जानें, यह कं० २८ "नमो भवाय" से प्रखिदते ४६ कं० तक । 'इषुमद्भ्यः' इत्यादि २२ कं० से 'श्वपतिभ्यश्च' २८ कं० तक । 'प्रत्यक्षाः वः' यहां युष्मद् शब्दके योगसे 'इषुकृद्भ्यः' इति ४६ कं० उभयतः नमस्कार जानें । 'सभाभ्यः' इति २४ कं० जातसंज्ञ रुद्र दोनों ओरसे नमस्कारवाले हैं वे शान्ततम हैं और अन्यतर नमस्कारवाले घोरतर हैं एक कण्डिकामें ८ आठ आठ रुद्र हैं ।

मन्त्रार्थ-(हिरण्यबाहवे) भुजाओंमें सुवर्ण धारण करनेवाले, महाबाहु सेनापालक रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कारहै १ । (दिशांपतये) दिशाओंके अधिपति अर्थात् समस्त जगत्को अपनी भुजाओंके नीचे रक्षाकरनेवाले (सेनान्ये) सेनापतिके निमित्त (च) भी (नमः) नमस्कार है २ । (हरिकेशेभ्यः) पर्णरूप हरेबालोंवाले (वृक्षेभ्यः) वृक्षरूप रुद्रोंके निमित्त (नमः) वारंवार नमस्कार है ३ । (पशूनाम्) जीवोंके (पतये) पालन करनेवाले रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है ४ । (त्विषीमते) कान्तिमान् (शष्पिञ्जराय) बालतृणवत् पीत वर्णवाले रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है ५ । (पथीनाम्) मार्गोंके (पतये) पालन करनेवाले रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है ६ । (उपवीतिने) मंगलके निमित्त उपवीत धारण करनेवाले (हरिकेशाय) नीलवर्णकेश वा जरारहित रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है ७ । (पुष्टानाम्) गुणपूर्ण मनुष्योंके (पतये) स्वामी रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है (८) ॥ १७ ॥

तात्पर्य-तात्पर्य यह सब मार्गोंमें शान्तरूप रुद्र हैं अश्वत्थादि वृक्षोंपर जैसे आकाश वेलादि निर्मूल लता होती हैं तद्वत् यज्ञोपवीत धारे हैं (८) ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मंत्र ८ ।

नमो॑ बभ्लु॒शाय॑ व्या॒धिनेऽन्ना॑नां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ भ॒वस्य॑ हे॒त्यै जग॑तां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ रु॒द्राया॑तता॒यि

नुक्षेत्राणाम्पतयेनमोनमः सूतायाहन्त्यैवनानाम्पतयेनमोनमोरोहिताय ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नम इत्यस्य कुत्स ऋषिः । निच्यृदष्टिश्छन्दः । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ १८ ॥

मंत्रार्थ-(बभ्लुशाय) कपिलवर्ण वा वृषभपर स्थित होनेवाले (व्याधिने) शत्रुओंको वेधनेवाले व्याधिरूप रुद्रको (नमः) नमस्कार है । (अन्नानाम्) अन्नोंके (पतये) पालक रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है । (भवस्य) संसार के (हेत्यै) आयुध अर्थात् संसारनिवर्तक रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है । (जगताम्) संसारके (पतये) पालक रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है । (आततायिने) उद्यत्त आयुधवाले (रुद्राय) रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है (क्षेत्राणाम्) देहोंके (पतये) पालन करनेवाले रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है (अहन्त्रे) नहीं मारनेवाले, पापसे रक्षक (सूताय) प्रधान सारथीरूपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (वनानाम्) वनोंके (पतये) पालकके निमित्त (नमः) नमस्कार है (१६) ॥ १८ ॥

विवरण-रोगियोंके रक्तह्रास होनेपर जो वर्ण होता है उसको बभ्लुश [भूरापन] कहते हैं ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मंत्र ८ ।

नमोरोहिताय स्थपतयेवृक्षाणाम्पतयेनमोनमो भुवन्तयवारिवस्कृतायौषधीनाम्पतयेनमोनमोमन्त्रिणेवाणिजायकक्षाणाम्पतयेनमोनमऽउच्चैर्घोषायाक्क्रन्दयतेपत्तीनाम्पतयेनमः ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नम इत्यस्य कुत्स ऋषिः । विराडतिधृतिश्छंदः । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ १९ ॥

मंत्रार्थ-(रोहिताय) लोहितवर्ण (स्थपतये) गृहादिकर्ता विश्वकर्म रूपसे निमित्त (नमः) नमस्कार है (वृक्षणाम्) वृक्षोंके(पतये) पालकके निमित्त (नमः) नमस्कार है (भुवन्तये) भूमण्डलके विस्तार करनेवाले (वरिवस्कृताय) स्थान भोग्य करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (ओषधीनाम्) ग्राम्य और आरण्य ओषधियोंके (पतये) पालकके निमित्त (नमः) नमस्कार है (मंत्रिणे) आलोचनमें कुशल

(वाणिजाय) व्यापारकर्ताओंके रूपमें स्थितके निमित्त (नमः) नमस्कार है (कक्षाणाम्) वनके गुल्म वीरुधादिके (पतये) पालकके निमित्त (नमः) नमस्कार है (आक्रन्दयते) शत्रुओंको रुवानेवाले युद्धमें (उच्चैः) बडा उग्र (घोषाय) शब्द करनेवाले रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है (पत्तीनाम्)एक रथ एक हाथी तीन घोडे पांच पैदलका नाम पत्ति है,इस प्रकार सेनाविशेषके (पतये) पालक रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है (२४) ॥ १९ ॥

विशेष–१स्थपतिशब्दसे गृहादि निर्माण करनेवाले, इनके मनमें सदाही इष्टकाकी चिन्ता लगी रहती है, इस कारण इनका अन्तर देवता लोहितवर्ण कहा है कारण कि इष्टका लाल होती हैं ॥ १९ ॥

कण्डिका २०–मंत्र ८।

नमः कृत्स्नायतया धावते सत्त्वनाम्पतये नमो नमः सहमानाय निव्याधिनऽआव्याधिनीनाम्पतये नमो नमो निषङ्गिणे ककुभाय स्तेनानाम्पतये नमो नमो निचेरवे परिचरायारण्यानाम्पतये नमः ॥ २० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ नम इत्यस्य कुत्स ऋषिः। अतिधृतिश्छन्दः। रुद्रो देवता। वि० पू० ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ–(कृत्स्नायतया) हमारी रक्षाके निमित्त कर्णपर्यन्त धनुष खैंच कर (धावते) धावमान होते रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है अथवा सब लाभ प्राप्त करानेवालेके निमित्त (सत्त्वनाम्) शरणमें आयेहुए प्राणियोंके (पतये)पालक रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है (सहमानाय) शत्रुओंको तिरस्कार करनेवाले (निव्याधिने) शत्रुओंको अधिक मारनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (आव्याधिनीनाम्) सब प्रकारसे प्रहारकरनेवाली शूरसेनाओंके(पतये) पालकके निमित्त (नमः) नमस्कार है (निषङ्गिणे) उपद्रवकारियोंपर खड्ग चलानेवाले (ककुभाय) महान् रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है (स्तेनानाम्) गुप्तधनहारी जनोंके सब रूप होनेसे (पालकाय) पालन करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (निचेरवे) अपहारकी बुद्धिसे निरन्तर फिरनेवाले (परिचराय) तथा आपणस्थानमें हरणकी इच्छासे फिरनेवालों 'गठकटों' के अन्तर्यामी के निमित्त (नमः) नमस्कार है (अरण्यानाम्) वनोंके (पतये) पालन करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (३२) ॥ २० ॥

प्रमाण-"१ककुभ इति महन्नाम" [निघं० ३ । ३ । १९] ॥ २० ॥

विवरण-जगत्भरमें सर्वात्मा रुद्र हैं इस कारणसे स्तेनादिभी रुद्ररूप लिखे हैं स्तेनादिके शरीरमें जीव ईश्वर इस दोरूपसे ईश्वर स्थित है जीवरूप स्तेनादि शब्द-वाच्य है ईश्वर रुद्ररूपसे लक्षित है जैसे शाखाके अग्रसे चन्द्रमाको दिखाते हैं इस प्रकार लक्ष्यार्थकी विवक्षासे मंत्रोंमें लौकिक शब्द लिखे हैं ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मन्त्र ८ ।

नमो॒ वञ्च॑ते परि॒वञ्च॑ते स्ताय॒ूनाम्पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ निषङ्गिण॑ऽइषुधि॒मते॑ तस्क॑राणा॒म्पत॑ये॒ नमो॒ नम॑: सृकायि॒भ्यो जिघा॑ᳪंसद्भ्यो मुष्ण॒ताम्पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ऽसि॒मद्भ्यो॒ नक्त॒ञ्चर॑द्भ्यो विकृ॒न्ताना॒म्पत॑ये॒ नम॑: ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमो वंचत इत्यस्य कुत्स ऋषिः । निच्यृदतिधृतिश्छंदः । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ २१ ॥

मंत्रार्थ-(वञ्चते) ठगोंके अन्तर्यामीके निमित्त (परिवञ्चते) स्वामीको अपना विश्वास दिलाकर व्यवहारमें उनको वंचन करनेवालोंके साक्षीके निमित्त (नमः) नमस्कार है (स्तायूनाम्) गुप्त चोरोंके (पतये) पालकके निमित्त (नमः) नमस्कार है (निषङ्गिणे) खड्गधारी (इषुधिमते) बाणधारीके अर्थात् उपद्रव करनेवालोंके शान्त करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (तस्कराणाम्) प्रकाश चोरोंके (पतये) पालकके निमित्त (नमः) नमस्कार है (सृकायिभ्यः) वज्र लेकर चलनेवाले "सृक इति वज्रनाम" [निघं० २ । २० । ६] (जिघांᳪसद्भ्यः) हत्याकारी जनोंके अन्तर्यामी वा उनके रूप रुद्रों के निमित्त (नमः) नमस्कार है (मुष्णताम्) क्षेत्रादिसे धनादिके हरणकरनेवालोंके (पतये) पालक रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है (असिमद्भ्यः) खड्गधारी (नक्तंचरद्भ्यः) रात्रिमें फिरनेवाले दस्युगणोंके हृदयमें स्थितके निमित्त (नमः) नमस्कार है (विकृन्तानाम्) छेदन करके पराया धन हरनेवाले दिवाचारी दस्युगणके (पतये) पालन करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (४०) ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मन्त्र ८ । अनु० ३ ।

नम॑ऽउष्णी॒षिणे॑ गिरिच॒राय॑ कुलु॒ञ्चाना॒म्पत॑ये॒ नमो॒

नमऽइषुमद्भ्यो धन्वायिभ्यश्च वो नमो नमऽआतन्वानेभ्यः प्रतिदधानेभ्यश्च वो नमो नमऽआयच्छद्भ्योस्यद्भ्यश्च वो नमः ॥ २२ ॥

ऋष्यादि—(१)ॐ नम उष्णीषिण इत्यस्य कुत्स ऋषिः । निच्यृदष्टिश्छन्दः । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ २२ ॥

मंत्रार्थ—(उष्णीषिणे) उष्णीष 'पगडी' धारण करनेवाले सभ्यगण ग्रामोंमें विचरनेवाले (गिरिचराय) शून्यमस्तक गिरि वनमें फिरनेवाले दोनों प्रकार दलोंके हृदयमें स्थित रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है (कुलुञ्चानाम्) छल बलकौशलसे दूसरोंकी गृह भूमि आदि हरण करनेवालोंके (पतये) पालकके निमित्त (नमः) नमस्कार है । (इषुमद्भ्यः) मनुष्योंके डरानेको बाण धारण-करनेवाले (च) और (धन्वायिभ्यः) धनुष साथ लेकर चलनेवाले वा कुलुञ्च-गणोंके दमनार्थ बाणधारी रुद्र (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (आतन्वानेभ्यः) कुलुञ्चोंके दमनार्थ धनुषपर ज्या आरोपण करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (प्रतिदधानेभ्यः) धनुषपर बाण चढानेवाले (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (आयच्छद्भ्यः) कुलुञ्चोंके दमनके निमित्त धनुषको आकर्षण करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (अस्यद्भ्यः) बाणके निक्षेप करनेवाले (वः) आपके निमित्त (नमो नमः) वारंवार नमस्कार है (४८) ॥ २२ ॥

कण्डिका २३—मंत्र ८।

नमो विसृजद्भ्यो विध्यद्भ्यश्च वो नमो नमः स्वपद्भ्यो जाग्रद्भ्यश्च वो नमो नमः शयानेभ्यऽआसीनेभ्यश्च वो नमो नमस्तिष्ठद्भ्यो धावद्भ्यश्च वो नमः ॥ २३ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ नमो विसृजद्भ्यः इत्यस्य कुत्स ऋषिः। निच्यृदतिजगती छं० । रुद्रो देवता । वि० पू ॥ २३ ॥

मंत्रार्थ-(विसृजद्भ्यः) पापियोंके दमनार्थ बाण त्यागनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (विध्यद्भ्यः) शत्रुओंको लक्ष्य वेधनेवाले (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है । (स्वपद्भ्यः) सोनेवालोंके अन्तरमें स्थितके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (जाग्रद्भ्यः) जाग्रत् अवस्थाके अनुभवी (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (शयानेभ्यः) सुषुप्ति अवस्थावालोंके अन्तरमें स्थितके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (आसीनेभ्यः) बैठे हुओंके अन्तरमें स्थित (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (तिष्ठद्भ्यः) बैठेहुओंके अन्तरमें स्थितको (नमः) नमस्कार (च) और (धावद्भ्यः) वेगवान् गतिवालोंके अन्तरमें स्थित (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (५६) ॥ २३ ॥

कण्डिका २४-मंत्र ८ ।

नमः॑ सुभाभ्यः॑ सुभाप॑तिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ऽश्वे॒भ्योऽश्व॑पतिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नम॑ऽआव्याधि॒नीभ्यो॑ वि॒विध्य॑न्तीभ्यश्च वो॒ नमो॒ नम॒ऽउग॑णाभ्यस्तृꣳहुतीभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमः॑ ॥ २४ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ नमः सभाभ्य इत्यस्य कुत्स ऋषिः । शक्करी छन्दः । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ-अब जातसंज्ञक रुद्र जो रुद्रलोकमें निवास करते हैं अद्वैतप्रतिपादनके निमित्त उनका वर्णन करते हैं "अथो एवꣳ हैतानि रुद्राणां जातानि" इति [९ । १ । १ । १९] श्रुतेः (सभाभ्यः) सभारूप रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है सभादिमें रुद्रदृष्टि करनी चाहिये (च) और (सभापतिभ्यः) सभापति रूप (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (अश्वेभ्यः) प्रत्येक अश्वोंके अन्तरमें स्थितके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (अश्वपतिभ्यः) अश्वोंके अधिपति (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (आव्याधिनीभ्यः) देव सेनाओंमें स्थितके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (विविध्यन्तीभ्यः) विशेषकर वेधनेवाली देवसेनाओंमें स्थित (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (उगणाय) उत्कृष्ट भृत्यसमूहवाली ब्राह्मी आदि माता वा सेनामें स्थित रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (तृꣳहतीभ्यः) युद्धमें

प्रहारकरनेवाले दुर्गादिमें स्थित (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (६४) ॥ २४ ॥

कण्डिका २५-मंत्र ८।

नमो॒ ग॒णेभ्यो॑ ग॒णप॑तिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ व्राते॑भ्यो॒ व्रात॑पतिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ गृत्से॑भ्यो॒ गृत्स॑पतिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ विरू॑पेभ्यो वि॒श्वरू॑पेभ्यश्च वो॒ नमः॑ ॥ २५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमो गणेभ्य इत्यस्य कुत्स ऋषिः । भुरिक्छक्वरी छन्दः । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ २५ ॥

मंत्रार्थ-(गणेभ्यः) देवानुचर भूतविशेषोंके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (गणपतिभ्यः) गणोंके अधिपति (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार (व्रातेभ्यः) विशेषगण अथवा अनेक जातियोंके समूहके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (व्रातपतिभ्यः) व्रातगणोंके अधिपति (वः)आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (गृत्सेभ्यः) बुद्धिमानोंके वा विषयलम्पटके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (गृत्सपतिभ्यश्च) बुद्धिमानोंके रक्षक (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार (विरूपेभ्यः) नग्नमुण्डजटिलादि विकृतरूपके निमित्त वा विविध रूपवालोंके निमित्त (नमः)नमस्कार है (च)और (विश्वरूपेभ्यः) सर्वरूप नानाविधरूप वा तुरंगवदन हयग्रीवादिरूप (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (७२) ॥ २५ ॥

कण्डिका २६-मंत्र ८।

नमः॒ सेना॑भ्यः सेना॒निभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमो॑ र॒थिभ्यो॑ अर॒थेभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमः॑ क्ष॒त्तृभ्यः॑ संग्रही॒तृभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमो॑ म॒हद्भ्यो॑ अर्भ॒केभ्य॑श्च वो॒ नमः॑ ॥ २६ ॥ [५]

ऋष्यादि-(१) ॐ नमः सेनाभ्य इत्यस्य कुत्स ऋषिः । रुद्रो देवता । भुरिगतिजगती छं० । वि० पू० ॥ २६ ॥

मंत्रार्थ-(सेनाभ्यः) सेनारूपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (सेनानिभ्यः) सेनापतिरूप (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (रथिभ्यः) प्रशंसित रथवालोंके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (अरथेभ्यः) रथहीन (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (क्षत्तृभ्यः) रथके अधिष्ठातृके अन्तरमें स्थितके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (संग्रहीतृभ्यश्च) सारथियोंके अन्तरमें स्थित वा रणसामग्री ग्रहणकर्ता (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (महद्भ्यः) जाति विद्या ऐश्वर्यमें उत्कृष्ट पूज्य रूपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (अर्भकेभ्यः) प्रमाणादिसे अल्परूप (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (८०) ॥ २६ ॥ [५]

कण्डिका २७-मंत्र ८ अनु० ४।

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः कर्म्मारेभ्यश्च वो नमो नमो निषादेभ्यः पुञ्जिष्ठेभ्यश्च वो नमो नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमः ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमस्तक्षभ्य इत्यस्य कुत्स ऋषिः । निच्यृच्छक्करी छन्दः । रुद्रो दे० । वि० पू० ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ-(तक्षभ्यः) काष्ठकी शिल्पविद्याके जाननेवालोंमें व्याप्तके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (रथकारेभ्यः) विमान रथनिर्माणकारी उत्कृष्ट तक्षाके अन्तर स्थित (वः) आपको (नमः) नमस्कार (कुलालेभ्यः) प्रशंसित मृत्तिकाके पात्र वनानेवालोंमें स्थितके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (कर्मारेभ्यः) लोहेके शस्त्रवनानेवालोंमें वर्तमान (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (निषादेभ्यः) गिरिचारी भीलादिमें स्थित रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (पुञ्जिष्ठेभ्यः) पक्षिघातक पुल्कसादि वा संकीर्ण जातियोंके अंतरमें स्थित व्याप्त (वः) आपको (नमः) नमस्कार (श्वनिभ्यः)कुत्तोंके गलेमें रस्सी बांधकर धारण करनेवालेंके अन्तरकी जाननेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (मृगयुभ्यः) मृगोंकी कामनावाले व्याधोंके अन्तर स्थित (वः) आपको (नमः) नमस्कार है "इदंयुरिदं कामयमानः" इति यास्कः [नि० ६ । ३१] (मंत्रसंख्या ८८) ॥ २७ ॥

कण्डिका २८-मंत्र ८ ।

नमुꣳश्वभ्युःश्वपतिभ्यश्चवोनमोनमोभुवायचरुद्रायचनमः शर्वायचपशुपतयेचनमोनीलग्रीवायचशितिकण्ठायच ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमः श्वभ्य इत्यस्य कुत्स ऋषिः । आर्षी जगती छन्दः । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ-(श्वभ्यः) कुक्कुरोंके अन्तरमें स्थितके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (श्वपतिभ्यः) कुक्कुरोंके अधिपति किरातोंके अन्तरमें स्थित (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है यह [पूजावाचक 'वः' शब्द है. उभयतो नमस्कारवाले मंत्र पूर्ण हुए. अब नमस्कारोपक्रम मंत्र लिखतेहैं] (च) और (भवाय) जिनसे सब जगत् उत्पन्न होताहै उनके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (रुद्राय) दुःख दूर करनेवाले देवके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (शर्वाय) पापके नाशकरनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (पशुपतये) प्राणियोंके अधिपतिके निमित्त नमस्कार है (च) और (नीलग्रीवाय) नीलवर्णग्रीवावाले अथवा नीलवर्ण आकाशमें उदित सूर्यमें स्थितके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (शितिकण्ठाय) नीलकण्ठ-वाले वा मेघसहित आकाशमें उदित हुए सूर्यके अन्तरमें स्थितके निमित्त नमस्कार है (९६) ॥ २८ ॥

कण्डिका २९-मन्त्र ८ ।

नमः कपर्दिने चव्युप्तकेशायचनमः सहस्राक्षायचशतधन्वनेचनमोगिरिशयायचशिपिविष्टायचनमोमीढुष्टमायचेषुमतेच ॥ २९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमः कपर्दिन इत्यस्य कुत्स ऋषिः । भुरिगति-जगती छं० । रुद्रो दे० । वि० प० ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ–(कपर्दिने) जटाजूटधारीके निमित्त (च) भी नमस्कार है (व्युप्तकेशाय) मुण्डितकेशके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (सहस्राक्षाय) सहस्रलोचन इन्द्ररूपके निमित्त नमस्कार है (च) और (शतधन्वने) बहुत धनुष धारण करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है [१००] (च) और (गिरिशयाय) पर्वतपर शयन करनेवालेके निमित्त० (च) और (शिपिविष्टाय) सब प्राणियोंके अन्तर व्यापक विष्णुरूपके निमित्त "विष्णुः शिपिविष्टः" इति श्रुतेः–अथवा "पशवो वै शिपिः" इति श्रुतेः । पशुगणोंमें व्याप्तके निमित्त (नमः) नमस्कार है अथवा "यज्ञो वै शिपिः" यज्ञमें अधिष्ठातृदेवतारूपसे प्रविष्ट अथवा शिपि आदित्यमण्डलमें स्थित "शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते तैराविष्टो भवति" इति [निरु० ५ । ८] के निमित्त नमस्कार (च) और (मीढुष्टमाय) तृप्तिकर्ता मेघरूपसे तृप्तिकर्ता वा चार पदार्थके वर्षा करनेवालेके निमित्त०–(च) और (इषुमते) बाणधारीके निमित्त (नमः) नमस्कार है (मन्त्र १०४) ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०–मन्त्र ८।

नमो॑ ह्रस्वाय॑ च वाम॒नाय॑ च॒ नमो॑ बृह॒ते च॒ वर्षी॑यसे च॒ नमो॑ वृ॒द्धाय॑ च स॒वृधे॑ च॒ नमोऽग्र्या॑य च प्रथ॒माय॑ च ॥ ३० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ नमो ह्रस्वायेत्यस्य कुत्स ऋषिः । विराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ३० ॥

विधि–(१) रूपसे नमस्कार करते हैं । **मन्त्रार्थ**–(ह्रस्वाय) अल्पशरीरके निमित्त (च) भी (नमः) नमस्कार है (च) और (वामनाय) संकुचित अवयवमें व्याप्तके निमित्त नम० (च) और (बृहते) प्रौढाङ्गके निमित्त० (च) और (वर्षीयसे०) अतिवृद्धके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (वृद्धायच) अवस्थामें अधिकके निमित्त० (च) और (सवृधे) विद्याविनयादि गुणयुक्त पण्डितोंके साथ वर्तनेवाले युवाके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (अग्र्याय) मुख्य सब जगत्में प्रथम प्रादुर्भाव होनेवालेके निमित्त० (च) और (प्रथमाय) सबमें प्रथम मुख्यके निमित्त (नमः) नमस्कार है (मं० ११२) ॥ ३० ॥

आशय–यह कि जब सृष्टि न थी तब आप थे आप सबसे प्रथम और अग्र्य कहे जाते हैं आपको नमस्कार है ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१–मन्त्र ८।

नमऽआशवेंचाजिरायंचनमुःशीग्घ्यांयचशीभ्भ्यां यचनमऽऊर्म्म्यांयचावस्वुन्न्यायचनमोनादेयायंच द्वीप्प्यांयच ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ नम आशव इत्यस्य कुत्स ऋषिः । स्वराडार्षी पंक्तिश्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ–(आशवे) जगद्व्यापकके निमित्त (च) भी नमस्कार हो (च) और (अजिराय) गतिशीलके निमित्त सर्वत्र प्राप्तके निमित्त (नमः) नमस्कार है. (च) और (शीघ्र्याय) वेगवाली वस्तुमें विद्यमान (च) और (शीभ्याय) जलप्रवाहमें विद्यमान आत्मश्लाघी वा आत्मारूपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (ऊर्म्याय) जलतरंगमें होनेवाले (च) और (अवस्वन्याय) स्थिर जलोंमें विद्यमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (नादेयाय) नदीमें होनेवालेके निमित्त (च) और (द्वीप्याय) द्वीप अर्थात् टापूमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है [मं० सं० १२०] ॥ ३१ ॥ [९]

गूढार्थ–प्राणोंके पुष्टकरनेवाले अन्तःकरणचतुष्टयके पुष्टकरनेवाले शीघ्रगमनादि सुखकी प्राप्ति आनन्दकी लहरैं, शब्दादिकका सुना शब्द करना इत्यादि शक्तियोंके दाता आपको नमस्कार है, द्वीपद्वीपान्तरोंकी शक्तिदेनेवाले आपको नमस्कार है ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२–मंत्र ८. अनु० ५ ।

नमोज्ज्येष्ठायं चकनिष्ठायंचनमः पूर्वुजायंचापर जायंचनमोमद्ध्यमायंचापगुल्भायंचनमोजघ न्न्यायचवुध्न्यायच ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ ज्येष्ठायेत्यस्य कुत्स ऋषिः । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ–(च) और (ज्येष्ठाय) अतिप्रशस्य ज्येष्ठरूपके निमित्त (च) और (कनिष्ठाय) अतियुवा वा कनिष्ठ रूपके निमित्त (नमः) नमस्कार है [अर्थात् सृष्टिके आरंभमें जो प्रथम उत्पन्न हुआ तिसके अन्तरमें भी विद्यमान और उसके पीछे जो कुछ उत्पन्न होरहा है उस सबके हृदयमेंभी विद्यमान होनेसे ज्येष्ठ कनिष्ठ

रूप है] (च) और (पूर्वजाय) जगत्की आदिमें हिरण्यगर्भ रूपसे उत्पन्न (च) और (अपरजाय) प्रलयकालमें कालाग्निरूपसे होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (मध्यमाय) सृष्टिसंहारके अंतर देवतिर्यगादि रूपसे होनेवालेके निमित्त नमस्कार [अर्थात् प्रथम गर्भाधानमें बालकके रक्षकरूपसे उस बालकके आत्माका आत्मा होकर गर्भमें वास करके उस बालकके साथही उत्पन्न होता है तिसके उपरान्त गर्भाधानमेंभी और गर्भमेंभी इसी प्रकार इसको प्रथम द्वितीय तथा सम्पूर्णही सन्तान कहा जाता है] (च) और (अपगल्भाय) अप्रगल्भ अव्युत्पन्न इन्द्रिय इन्द्रियादि प्रकाशरहित अण्डरूपके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (जघन्याय) गवादिके पश्चाद्भागमें होनेवाले स्वेदज कृमि कीटादिमें वर्तमानके निमित्त नमस्कार है(च)और(बुध्न्याय) वृक्षादिके मूलमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (१२८) ॥३२॥

विशेष-यह अवयवविधायक नमस्कार है ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३-मंत्र ८ ।

नमः॑ सो॒भ्या॑य च प्रतिस॒र्या॑य च॒ नमो॒ याम्या॑य च॒ क्षेम्या॑य च॒ नमः॒ श्लोक्या॑य चावसा॒न्या॑य च॒ नम॑ उर्व॒र्या॑य च॒ खल्या॑य च ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमः सोभ्यायेत्यस्य कुत्स ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ३३ ॥

मंत्रार्थ-(सोभ्याय) गन्धर्वनगरमें होनेवाले अथवा पुण्यपापसहित वर्तमान मनुष्य लोकमें होनेवाले "पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यां मनुष्यलोकम्" इति [प्रश्नोप० २ । १] अथवा पृथ्वी लोकमें उत्पन्न होनेके समय जन्मे बालकके अन्तर देवता रूपके निमित्त (च) भी नमस्कार है (च) और (प्रतिसर्याय) विवाहादि कार्यमें हाथमें बंधे मंगलसूत्रमें विद्यमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (याम्याय)पापियोंको दुःख देनेको यममें वर्तमान० (च) और (क्षेम्याय) कुशलमें होनेवाले वा परलोक गये हुए प्राणीके कल्याणमें विद्यमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (श्लोक्याय) इस संसारमें यश प्रचारके कारणभूत वा वैदिकमंत्ररूपी यशमें होनेवालेको० (च) और (अवसान्याय) वेदान्तमें स्थित वा जिसके प्रसादसे

प्राणी जन्म मृत्युसे छुटकारा पाता है उसके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (उर्वर्य्याय) उपजाऊ भूमिमें उत्पन्न हुए धान्यादिके अन्तरमें भी विद्यमानके निमित्त नमस्कार (च) और (खल्याय) धान्यविवेचन देशमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (मं० १३६) ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४—मन्त्र ८।

नमो॒ वन्या॑य च॒ कक्ष्या॑य च॒ नमः॑ श्र॒वाय॑ च प्रति श्र॒वाय॑ च॒ नम॑ऽआ॒शुषे॑णाय चा॒शुर॑थाय च॒ नमः॒ शूरा॑य चावभे॒दिने॑ च ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि—(१) नमोवन्यायेत्यस्य कुत्स ऋषिः । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । रुद्रा देवता । वि० पू० ॥ ३४ ॥

मंत्रार्थ—(वन्याय) वनमें वृक्षादिरूपसे होनेवालेके निमित्त वा घरमें विद्यमानको (च) भी नमस्कार है (च) और (कक्ष्याय) तृण वल्लीमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (श्रवाय) शब्दरूप वा ध्वनिमें वर्तमानके निमित्त नमस्कार है (च) और (प्रतिश्रवाय) प्रतिध्वनिमें विद्यमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (आशुषेणाय) शीघ्र चलनेवाली सेनाकी श्रेणीमें विद्यमानके निमित्त नमस्कार (च) और (आशुरथाय) शीघ्र चलनेवाले रथोंकी श्रेणीमें विद्यमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (शूराय) युद्धविशारदोंके हृदयमें विद्यमानके निमित्त (च) और (अवभेदिने) शत्रुका हृदय वेधनेवाले शस्त्रमेंभी विद्यमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (मं० १४४) ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५—मंत्र ८।

नमो॑ बि॒ल्मिने॑ च कव॒चिने॑ च॒ नमो॑ व॒र्म्मिणे॑ च वरू॒थिने॑ च॒ नमः॑ श्रु॒ताय॑ च श्रुतसे॒नाय॑ च॒ नमो॑ दुन्दु॒भ्या॑य चाहन॒न्या॑य च ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ नमो बिल्मिन इत्यस्य कुत्स ऋषिः । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ३५ ॥

मंत्रार्थ—(च) और (बिल्मिने) शिरस्त्राण धारण करनेवालेके निमित्त वा बेलपत्र धारणसे प्रसन्न होनेवालेके निमित्त नमस्कार है (च) और (कवचिने) देहावरण स्यूत अंगरखा कवच धारण करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है

(च) और (वर्मिणे) वख्तर धारण करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (वरूथिने) रथका गोपन स्थान वा हार्थीके ऊपरकी अम्बारीमें विद्यमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (श्रुताय) प्रसिद्धके निमित्त नमस्कार है (च) और (श्रुतसेनाय) प्रसिद्धसेनावालेके निमित्त (च) भी (नमः) नमस्कार है और (दुन्दुभ्याय) रणके बाजेमें विद्यमानके निमित्त (च) और (आहनन्याय) वाद्यसाधन दण्डादिमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (मं० १५२) ॥ ३५ ॥

भावार्थ—यह संसार विलकी तुल्य है इसमें जलकी तुल्य आपकी शीतल वेदवाणी है. आप कवचकी समान मायासे ऐसे ढके हैं जिस प्रकार शरीर वख्तरसे आच्छादित होता है. सद्गुण सत्य विज्ञान धनादि सेनारूप हैं जिससे पापादि शत्रु भागते हैं आपका यश वेदादिमें बहुत प्रकारसे सुना है. इसीसे वेदको श्रुति कहते हैं वही दोषरूपी शत्रुके निवारण करनेकी सेना है, उसके शब्द दुन्दुभी हैं जिस सेनासे पापादि शत्रुओंका हनन होता है ऐसे आपके निमित्त नमस्कार है ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६—मंत्र ८।

नमो॑धृ॒ष्णवे॑ चप्रमृ॒शाय॑चु॒नमो॑निष॒ङ्गिणे॑चेषुधि॒मते॑चु॒नम॑स्ती॒क्ष्णेष॑वेचायु॒धिने॑चु॒नम॑÷स्वायु॒धाय॑ चसु॒धन्व॑नेच ॥ ३६ ॥ [९]

ऋष्यादि—(१) ॐ नमोधृष्णव इत्यस्य कुत्स ऋषिः । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । रुद्रो दे०। वि० पू० ॥ ३६ ॥

मंत्रार्थ—(च) और (धृष्णवे) प्रगल्भरूप अपने पक्षकी रक्षा करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (प्रमृशाय) विचारशील पंडितरूप वा विपक्षदलन करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (निषङ्गिणे) खड्गधारीके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (इषुधिमते) तरकससंयुक्तके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (तीक्ष्णेषवे) तीक्ष्ण बाणधारीके निमित्त० (च) और (आयुधिने) मुद्गरादि आयुध धारण करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (स्वायुधाय) शोभन आयुध त्रिशूल लोह शिलादि धारण करनेवालेके निमित्त० (च) और (सुधन्वने) पिनाकश्रेष्ठ धनुष धारीके निमित्त नमस्कार है (मं० सं० १६०) ॥ ३६ ॥ [९]

कण्डिका ३७–मंत्र ८. अनु० ६।

नमः स्रुत्त्याय च पत्थ्याय च नमः काट्याय च नीप्प्याय च नमः कुल्ल्याय च सरस्याय च नमो नादेयाय च वैशन्ताय च ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ नमः स्रुत्यायेत्यस्य कुत्स ऋषिः। निचृदार्षी त्रिष्टुप्छं०। रुद्रो देवता। त्रि० पू० ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ–(च) और (स्रुत्याय) क्षुद्र मार्ग ग्रामकी वाटमें स्थितके निमित्त० (च) और (पथ्याय) राजमार्गमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (काट्याय) दुर्गम मार्गमें स्थितके निमित्त० (च) और (नीप्याय) पर्वतके नीचे भागमें स्थितके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (कुल्याय) नहरके मार्गमें स्थितके निमित्त०—वा देहोंमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित (च) और (सरस्याय) सरोवरमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (नादेयाय) नदीमें जलरूपसे स्थितके निमित्त० (च) और (वैशन्ताय) अल्पसरोवर गोष्पदादिके जलमें स्थितके निमित्त (नमः) नमस्कार है (मं०१६८) ॥३७॥

गर्भितआशय–वेदही सबके निमित्त सुगम मार्ग है इसमें चलनेसे दुःखादि नहीं सताते, कारण कि इसमें कंटक नहीं हैं, और छोटे बडे सरोवररूप जो आश्रमोंका वर्णन है उनके द्वाराभी आप प्राप्त होते हो ॥ ३७ ॥

कण्डिका ३८–मंत्र ८।

नमः कूप्प्याय चावट्याय च नमो वीद्ध्याय चातप्प्याय च नमो मेघ्याय च विद्युत्त्याय च नमो वर्ष्याय चावर्ष्याय च ॥ ३८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ नमः कूप्यायेत्यस्य कुत्स ऋषिः। भुरिगार्षी पंक्तिश्छन्दः। रुद्रो देवता। वि० पू० ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ–(च) और (कूप्याय) कूपमें होनेवालेके निमित्त० (च) और (अवट्याय) गर्तमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (वीध्र्याय)

महाप्रकाश वा घोर अंधकारमें स्थितके निमित्त० (च) और (आतप्याय) धूप वा प्रकाशमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (मेघ्याय) मेघमें होनेवालेके निमित्त (च) और (विद्युत्याय) बिजलीमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (वर्ष्याय) वर्षाकी धारामें स्थितके निमित्त (च) और (अवर्ष्याय) वृष्टिके प्रतिबन्धमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (मं० १७६) ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मंत्र ८ ।

नमो वात्त्याय च रेष्म्म्याय च नमो वास्तव्याय च वास्तुपाय च नमः सोमाय च रुद्राय च नमस्ताम्म्राय चारुणाय च ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमोवात्यायेत्यस्य कुत्स ऋषिः । स्वराडार्षी पंक्तिश्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ-(च) और (वात्याय) वायुप्रवाहमें होनेवालेके निमित्त० (च) और (रेष्म्याय) प्रलयकी पवनमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (वास्तव्याय) वास्तुगृहमें होनेवालेके निमित्त० (च) और (वास्तुपाय) वास्तु घरके पालनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (सोमाय) चन्द्रमामें स्थितके निमित्त० वा उमासहितके निमित्त (च) और (रुद्राय) दुःखनाशक रुद्ररूप वा अग्निरूपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (ताम्राय) सायंकालके सूर्यमें स्थितके निमित्त० (च) और (अरुणाय) प्रभातकालीन सूर्यमें स्थितके निमित्त (नमः) नमस्कार है वा उदयकालीन ताम्र और उदयकालके उपरान्त कुछ रक्तरूप सूर्यमें स्थितके निमित्त नमस्कार है (मं० सं० १८४) ॥ ३९ ॥

आशय-वायुआदिके परमाणुओंको एकत्र कर पंचीकरणकी रीतिसे इस संसारकी सम्पूर्ण वस्तुके रचनेवाले और सबके रक्षक सोम यव आदिके उत्पादक पापादि दोष निवारणको भयानकरूप, अग्निसे तप्तधातुकी समान शुद्ध, रजोगुणसे संसारउत्पादकके निमित्त नमस्कार है ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०-मंत्र १ ।

नमः शङ्गवे च पशुपतये च नम उग्राय च भीमा

यं॑चु॒नमो॑ग्रेवु॒धाय॑चदूरेवु॒धाय॑चु॒नमो॑हु॒न्त्रे॒चु॒हनी॑य सेचु॒नमो॑वृ॒क्षेभ्यो॒हरि॑केशेभ्यो॒नम॑स्ता॒राय॑ ४० [४]

ऋष्यादि-(१) ॐ नमः शङ्गव इत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः। भुरिगतिशक्करी छं०। रुद्रो दे०। वि० पू० ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ-(शङ्गवे) कल्याणरूप वेदवाणीवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (पशुपतये) प्राणियोंके पालकके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (उग्राय) शत्रुओंके मारनेको कठिन आयुध उठाये कठिन अन्तः-करणवालेके निमित्त० (च) और (भीमाय) शत्रुभयउत्पादक भयानकदर्शनके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (अग्रेवधाय) सन्मुखके शत्रुका वध करनेवालेके निमित्त० (च) और (दूरेवधाय) दूरके शत्रुका वधकरनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (हन्त्रे) मारनेवालेके रूपमें स्थित स्थावर पदार्थके लयकारीके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (हनीयसे) अतिशय हन्ता सदाको मृत्युका अभाव करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (हरिकेशेभ्यः) हरेपत्तेरूपकेशवाले (वृक्षेभ्यः) कल्पतरुरूपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (ताराय) संसारके तारनेवाले वा ॐकाररूपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (मं० सं० १९४) ॥ ४० ॥ [४]

कण्डिका ४१-मंत्र ६. अनु० ७।

नमः॑शम्भवाय॑चमयोभु॒वाय॑चु॒नमः॑शङ्कराय॑च मयस्क॒राय॑चु॒नमः॑शि॒वाय॑चशि॒वत॑राय च॥४१॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ नमः शम्भवायेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। प्रजा-पतिर्देव० ऋ०। रुद्रो देवता। वि० पू० ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ-(शम्भवाय) इस लोकके कल्याणकारी जिनसे सुख होता है अथवा सुखरूप संसाररूप मुक्तिरूपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (मयोभवाय) संसारसुखदाता पारलौकिक कल्याणके आकरके निमित्त नमस्कार है (च) और (शङ्कराय) लौकिक सुख करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (मयस्कराय) मोक्षसुख करनेवालेके निमित्त नमस्कार है (च) और (शिवाय) कल्याणरूप निष्पापके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और

(शिवतराय) भक्तोंके अत्यन्त कल्याणकारक तथा निष्पाप करनेवालेके निमित्त नमस्कार है [मं० सं० २००] ॥ ४१ ॥ [१]

विशेष-स्रक् चंदनादि रूपसे लौकिक सुख शास्त्रज्ञानसे मोक्षसुख देनेवाले हैं [मं० २००] ॥ ४१ ॥

कण्डिका ४२-मंत्र ८. अनुवाक ८ ।

नमः॒ पार्य्या॑य चावा॒र्य्या॑य च॒ नमः॑ प्रत॒रणा॑य चो॒त्तरणा॑य च॒ नम॒स्तीर्थ्या॑य च॒ कूल्या॑य च॒ नमः॒ शष्प्या॑य च॒ फेन्या॑य च ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमः पार्य्यायेत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । रुद्रो दे० । वि० पू० ॥ ४२ ॥

मंत्रार्थ-(च) और (पार्य्याय) समुद्रके पारमेंभी विद्यमान, अथवा संसार-सागरके परंपारमें जीवन्मुक्तरूपसे वर्तमानके निमित्त० (च) और (अवार्य्याय) सागरके इस पारमें भी विद्यमान वा संसारमध्यवर्तीके निमित्त (नमः)नमस्कार है (च) और (प्रतरणाय) जहाजमें विद्यमान अथवा अतिमंत्रजपादिसे पापके तारनेके कारणके निमित्त० (च) और (उत्तरणाय) डोंगेमें भी विद्यमान वा उत्कृष्ट तत्त्वज्ञानसे संसारसागरके पारकरनेवालेके निमित्त (नमः)नमस्कार है (च) और (तीर्थ्याय) सागरादिके गर्भमें वा तीर्थ प्रयाग पुष्करादिमें विद्यमानके निमित्त० (च) और (कूल्याय) जलप्रणाली वा किनारेमें प्रगट होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (शष्प्याय) गंगादिके तटमें उत्पन्न कुश अंकुरादिमें विद्यमानके० (च) और (फेन्याय) सागरादिके फेनमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (मं०सं० २०८) ॥ ४२ ॥

कण्डिका ४३-मन्त्र ८ ।

नमः॑ सिक॒त्त्या॑य च प्रवा॒ह्या॑य च॒ नमः॑ किꣳशि॒लाय॑ च क्षय॒णाय॑ च॒ नमः॑ कप॒र्द्दिने॑ च पुल॒स्तये॑ च॒ नम॑ऽइरि॒ण्या॑य च प्रप॒त्थ्या॑य च ॥ ४३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमः सिकत्यायेत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्देवा-द्य ऋ० । जगती छं० । रुद्रो दे० । वि० पू० ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ-(च) और (सिकत्याय) नदीआदिकी रेतीमें विद्यमान, (च) और (प्रवाह्याय) नदीआदिके प्रवाहमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (किंशिलाय) नदीआदिके भीतर वृक्षकंकरादिमें विद्यमान वा क्षुद्रपाषाणकी शर्करायुक्त स्थानमें स्थितके निमित्त (च) और (क्षयणाय) स्थिर जलमें विद्यमानके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (कपर्दिने) जटाजूटयुक्त वा घूमतेहुए जलमें विद्यमान (च) और (पुलस्तये) पुरजलमें विद्यमान अथवा शरीरोंमें अन्तर्यामीरूपसे विद्यमानके निमित्त (च) और (इरिण्याय) तृणरहित ऊपरभूमिमें विद्यमान (च) और (प्रपथ्याय) बहुसेवितमार्ग वा नालोंमें विद्यमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है [मं० सं० २१६] ॥ ४३ ॥

कण्डिका ४४-मन्त्र ८।

नमो॑व्रज्या॑य चगो॒ष्ठ्या॑यचु॒नम॒स्तल्प्या॑यचु॒गे ह्या॑य॒चु॒नमो॑हृद॒य्या॑यचनिवे॒ष्प्या॒यचु॒नमुः॑काट्या॑ यचगह्वरे॒ष्ठाय॑च ॥ ४४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नम इत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्देवा ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । रुद्रो दे० । वि० पू० ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ-(च) और (व्रज्याय) गोचारणस्थानमें विद्यमान (च) और (गोष्ठ्याय) गोठमें विद्यमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (तल्प्याय) शय्यामें विद्यमानके निमित्त (च) और (गेह्याय) घरमें विराजमानके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (हृदय्याय) हृदयमें जीवरूपसे स्थितके निमित्त० (च) और (निवेष्प्याय) हिमसमूहमें विराजमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (काट्याय) दुर्गममार्गमें विराजमानके निमित्त (च) और (गह्वरेष्ठाय) गिरिगुहा वा गंभीर जलमें विराजमानके निमित्त नमस्कार है (मं० २२४) ॥ ४४ ॥

कण्डिका ४५-मन्त्र ८।

नमुःशुष्क्या॑यचहरि॒त्या॒यचु॒नमः॑पा॒ꣳसव्या॑य चरज॒स्या॒यचु॒नमो॒लोप्या॑यचोल॒प्या॒यचु॒नम॒ऽ ऊर्व्या॑यचु॒सूर्व्या॑यच ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि-(१) नमः शुष्क्यायेत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋ० । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ४५ ॥

मंत्रार्थ-(च) और (शुष्क्याय) सूखे काष्ठादिमें विराजमानके निमित्त० (च) और (हरित्याय) हरे पत्ते आदिमें विराजमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (पांसव्याय) धूरिमें विराजमानके निमित्त (च) और (रजस्याय) रजोगुण वा पुष्पपरागमें विद्यमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (लोप्याय) अगम्यदेशमें विराजमानके निमित्त (च) और (उलप्याय) बल्वजादि तृणमें विराजमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (ऊर्व्याय) उर्व भूमि वा वडवानलमें विराजमानके० (च) और (सूर्व्याय) महाप्रलयकी अग्निमें विराजमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (मं० २३२) ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६-मंत्र १२ ।

नमः॑ पुर्ण्याय च पर्णश॒दाय॑ च॒ नमः॑ऽउद्गु॒रमा॑णाय चाभिघ्न॒ते च॒ नमः॑ऽआखिद॒ते च॑ प्रखिद॒ते च॒ नमः॑ऽइषुकृ॒द्भ्यो॑ धनुष्कृ॒द्भ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमो॑ वः किरि॒केभ्यो॑ दे॒वाना॒ᳪ हृद॑येभ्यो॒ नमो॑ विचिन्व॒त्केभ्यो॒ नमो॑ विक्षिण॒त्केभ्यो॒ नमः॑ऽआनिर्ह॒तेभ्यः॑ ॥ ४६ ॥ [५]

ऋष्यादि-(१) ॐ नमः पर्ण्यायेत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋ० । स्वराट्प्रकृति० । रुद्रो दे० । वि० पू० ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ-(च) और (पर्ण्याय) पर्णमें विद्यमानके निमित्त (च) और पर्णपतित पर्णस्थित देशरूप वा पर्णमें उत्पन्न कीटादिमेंभी विद्यमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (उद्गुरमाणाय) निरन्तर उद्यमी उत्पन्न करनेवालेके निमित्त (च) और (अभिघ्नते) शत्रुओंके संहारकके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (आखिदते) अभक्तोंको सदा दुःखदाता त्रिविधतापके प्रेरकके० (च) और (प्रखिदते) त्रिविधतापके उत्पन्नकर्ता वा पापियोंको अति दुःखदायीके निमित्त० (नमः) नमस्कार है (इषुकृद्भ्यः) बाणके उत्पन्न करनेवालेके निमित्त० (च) और (धनुष्कृद्भ्यः) धनुषके करनेवाले रुद्ररूप (वः) आपके

निमित्त (नमः) नमस्कार है [युष्मदादेशसे यह प्रत्यक्ष रुद्र हैं यहां २४० पूर्णहुए यहां तक रुद्रकी प्रधानता कहकर अब प्रधानभूत अग्नि, वायु, सूर्यादिरूपसे वर्णन करतेहैं] "प्रथमयजु १४ का और तीन सात अक्षरके व्याहृतिसंज्ञक हैं"

जो (देवानाम्) देवताओंके(हृदयेभ्यः)हृदयस्वरूप प्रधान अग्नि वायु सूर्यके हृदय-रूप (किंरिकेभ्यः) वृष्ट्यादिद्वारा जगत्को सृजन करतेहैं ऐसे (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (विचिन्वत्केभ्यः) जो देवता देवताओंका हृदयस्वरूप हैं जो वृष्टिआदिसे जगत्का पालन करते जो धर्मात्मा और पापात्माओंको पृथक् करते हैं उन अग्नि वायु सूर्यके हृदयरूपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (विक्षिणत्केभ्यः) विविधपापोंको दूरकरनेवाले अग्निआदिके निमित्त (नमः) नमस्कार है अर्थात् जो देवताओंका हृदयस्वरूप विक्षिणत्क वृष्टिआदिसे जगत्का संहार करतेहैं अग्निवायु सूर्यके हृदयस्वरूप हैं उनके निमित्त वारंवार नमस्कार है (आनिर्हतेभ्यः) सृष्टिकी आदिमें होनेवाले रुद्रावतारोंके निमित्त (नमः) नस्मकार है अर्थात् जो देवताओंका हृदयस्वरूप अनिर्हत "काल प्राप्त होनेसे स्वयंभी गुप्त होजाता है" इससे आनिर्हत कहते हैं जो अग्नि वायु सूर्यकाभी हृदयस्वरूप है उसको वारंवार नमस्कार है ॥ ४६ ॥

१ "देवानां हृदयेभ्य इत्यग्निर्वायुरादित्य एतानि ह तानि देवाना ँ हृदयानि"। इति श्रुतेः [९ । १ । १ । २३] २ "एतेहीद ँ सर्वं कुर्वन्ति इति [९ । १ । १ । २३] श्रुतेः ॥ ४६ ॥

कण्डिका ४७–मं० १. अनु० ९ ।

द्रापेऽअन्धसस्पते दरिद्र नीललोहित ॥ आसाम्प्रजानामेषाम्पशूनाम्मा भेर्म्मा रोङ्मो च नः किञ्चनाममत् ॥ ४७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ द्रापे इत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्देवा ऋषयः । भुरिगार्षी बृहती छं० । एकरुद्रो दे० । वि० पू० ॥ ४७ ॥

मंत्रार्थ–(द्रापे) हे पापियोंकी दुर्गतिकरनेवाले हे (अन्धसः) सोमके (पते) पालक ! (दरिद्र) अद्वितीय होनेसे सहायशून्य निष्परिग्रह (नीललो-हित) हे नील और लोहित एक अंश नील दूसरा लाल शुक्ल कृष्ण उभयात्मक वा कंठमें नील अन्यत्र लोहित शिव ! (नः) हमारे (आसाम्) इन (प्रजानाम्)पुत्र-पौत्रादि (एषाम्) इन (पशूनाम्) पशुओंको (मा) मत (भेः) भयकरो तथा

प्रजा पशुओंका (मा- रीरिषः) भंग मत करो (च) और (किञ्चन) किसी प्रकार भी हम तथा हमारी प्रजा पशुको (मा) मत (आममत्) रुग्ण करो सब प्रकार प्रजापशुमें मंगल करो ॥ ४७ ॥

प्रमाण-"अन्धसस्पत इति सोमस्य पत इत्येतत्" इति [९।१।१।२४] श्रुतेः ।

कण्डिका ४८-मंत्र १ ।

इमारुद्रायं तवसैकपुर्द्दिनैक्षयद्वीरायप्रभरामहेमु तीः ॥ यथाशमसद्द्विपदेचतुष्प्पदेविश्वंम्पुष्टङ्ग्रा मेऽअस्म्मिन्ननातुरम् ॥ ४८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इमारुद्रायेत्यस्य कुत्स ऋषिः । आर्षी जगती छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ-(यथा) जिस प्रकार (द्विपदे) पुत्रादिमें (चतुष्पदे) गवादिपशुओंमें (शम्) सुखकी प्राप्ति हो तथा (अस्मिन्) इस (ग्रामे) ग्राममें (विश्वम्) सम्पूर्ण प्राणिसमूह (पुष्टम्) पुष्ट (अनातुरम्) उपद्रवरहित (असत्) हों उसी प्रकार हम (इमाः) इन अपनी (मतीः) बुद्धियोंका (तवसे) महाबली (कपर्दिने) जटिल (क्षयद्वीराय) शूरवीरोंके निवासभूत (रुद्राय) रुद्रदेवताके निमित्त (प्रभरामहे) समर्पण करते हैं "महते बलवते वा उभयत्र तवशब्दः पठितः" [निरु० २। ३।३।३] [ऋ० १।८।५] ॥ ४८ ॥

कण्डिका ४९-मन्त्र १ ।

यातेरुद्रशिवातनूःशिवाविश्वाहाभेषुजी ॥ शिवारुतस्यभेषुजीतयानोमृडजीवसे ॥ ४९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यातेरुद्र इत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । आर्ष्यनुष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ४९ ॥

मन्त्रार्थ-(रुद्र) हे शंकर ! (या) जो (ते) आपका (शिवा)शान्त (विश्वाहा) निरन्तर (शिवा) कल्याणकारिणी (भेषजी) औषधीरूप संसारकी व्याधि निवृत्त करनेवाली तथा (रुतस्य) शरीरव्याधिकी (शिवा) समीचीन (भेषजी) औषधीरूप (तन्वा) शरीर वा शक्ति है (तया) उस शक्तिसे (नः) हमारे (जीवसे) जीवनको (मृड) सुखी करो ॥ ४९ ॥

भावार्थ–हे रुद्र ! तुम्हारी जो तनू कल्याणरूपिणी जो तनू सबके कल्याणसाधनी जो सब रोगोंकी महौषधि है, उस तनुके द्वारा हमको सुखी करो ॥ ४९ ॥

कण्डिका ५०–मन्त्र १ ।

परिनोरुद्रस्यहेतिर्वृणक्तुपरित्त्वेषस्यदुर्म्मतिरघायोः ॥ अवस्थिरामघवद्भ्यस्तनुष्वमीढ्वस्तोकायतनयायमृड ॥ ५० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ परिन इत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्देवा ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ–(रुद्रस्य) रुद्रके (हेतिः) सम्पूर्ण आयुध (नः) हमको (परिवृणक्तु) परित्याग करैं (त्वेषस्य) पापियोंपर क्रोधित अर्थात् कोपनस्वभाव (अघायोः) दण्ड देनेकी इच्छावाली (दुर्मतिः) दुर्मति हमको (परि) सब प्रकार त्याग करैं (मीढ्वः) हे अभिलषितफलप्रद ! (मघवद्भ्यः) हविरूप धनसे युक्त यजमानोंके भय दूर करनेको (स्थिरा) दृढ धनुषोंको (अवतनुष्व) ज्याहीन करो हमारे (तोकाय) पुत्र (तनयाय)पौत्रादिको (मृड) सुख दो ॥ ५० ॥

कण्डिका ५१–मंत्र १ ।

मीढुष्टमशिवतम शिवोनःसुमनाभव ॥ परमेवृक्षऽआयुधन्निधायकृत्तिंवसानऽआचरपिनाकम्बिभ्रदागहि ॥ ५१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ मीढुष्टम इत्यस्य परमेष्ठी प्र० ऋ० । निच्यृदार्षी यवमध्या त्रिष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ५१ ॥

मंत्रार्थ–(मीढुष्टम) हे अतिशय अभिलषितफलदाता (शिवतम) अत्यन्त-कल्याणकर्ता (नः) हमको (शिवः) शान्त (सुमनाः) सुन्दरमनवाले (भव) हो (परमे) दूरस्थित वा ऊंचे (वृक्षे) वृक्षपर अपना (आयुधम्) त्रिशूल (निधाय) रखकर (कृत्तिंवसानः) मृगचर्मधारणाकिये (आचर) आगमन कीजिये वा तप कीजिये (पिनाकम्) पिनाक धनुषको (बिभ्रत्) धारणकिये (आगहि) आगमन करो अर्थात् ज्या और वाणोंसे हीन धनुष शोभाके निमित्त धारणकिये आइये ॥ ५१ ॥

भावार्थ-भाव यह कि संसाररूपी वृक्षपर पापोंके संहारकी शक्तिको फैलाकर कार्यकारिणी शक्तिसे वशकर हमारी रक्षाकरो। इस मंत्रका तात्पर्य बड़ा गूढ है इसमें संसारियोंके निमित्त शस्त्र हैं मुमुक्षुवोंके निमित्त अभय हैं इत्यादि तपस्वी महात्माओंके जाननेयोग्य है ॥ ५१ ॥

कण्डिका ५२-मंत्र १।

विकिरिद्रविलोहितु नमस्तेऽअस्तुभगवः॥ या स्तेसहस्रहेतयोन्यमुस्म्मन्निवपन्तुताः॥ ५२॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विकिरिद्रेत्यस्य परमेष्ठी प्र० ऋ०। आर्ष्यनुष्टुप्छं०। रुद्रो देवता। वि० पू० ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ-(विकिरिद्र) हे अनेकउपद्रव नाशकरनेवाले (विलोहित) हे शुद्धस्वरूप (भगवः) भगवन् ! (ते) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो (ते) तुम्हारे (याः) जो (सहस्रम्) सहस्रों (हेतयः) शस्त्र हैं (ताः) वह (अस्मत्) हमको छोडकर (अन्यम्) और कहीं (निवपन्तु) उपद्रवियोंपर पडैं [विलोहितका अर्थ अत्यन्त रक्तवर्ण संहारमूर्ति भी है] ॥ ५२ ॥

कण्डिका ५३-मंत्र १।

सहस्राणिसहस्रशोबाह्वोस्तवहेतयः॥ तासामीशानो भगवःपराचीनामुखाकृधि॥ ५३॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सहस्राणीत्यस्य परमेष्ठी प्र० ऋ०। निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं०। रुद्रो देवता। वि० पू० ॥ ५३ ॥

मंत्रार्थ-(भगवः) हे भगवन् षडैश्वर्यसम्पन्न ! (तव) आपके (बाह्वोः) भुजाओंमें (सहस्राणि) बहुत प्रकारके (सहस्रशः) सहस्रों (हेतयः) खड्ग शूलादि आयुध हैं (ईशानः) जगत्के पति आप (तासाम्) उन संहारकारी आयुधोंके (मुखा) मुख हमसे (पराचीना) पराङ्मुख (कृधि) कीजिये ॥ ५३ ॥

भावार्थ-दृश्यादृश्य जितने बाहुयुगल हैं वह सबही उनके हैं वा सबहीमें उनकी सत्ता है, आशय यह कि पापोंके द्वारा प्राणी दुःख पाते हैं आप उन पापोंको नीचे मुख कीजिये और हमको सुखी कीजिये" ॥ ५३ ॥

कण्डिका ५४-मन्त्र १।

असंख्यातासहस्राणि येरुद्राऽअधिभूम्याम्॥ तेषांसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि॥ ५४॥

ऋष्यादि-(१) ॐ असंख्याता इत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋ०। विराडार्ष्यनुष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ-(ये) जो (असंख्याताः) असंख्य (सहस्राणि) सहस्रों (रुद्राः) रुद्र (भूम्याम्) भूमिके (अधि) ऊपर स्थित हैं (तेषाम्) उनके (धन्वानि) धनुष (सहस्रयोजने) सहस्रयोजन दूर (अवतन्मसि) "यह मंत्र पढकर प्रार्थनाके बलसे" डालकर अभय होते हैं "इस मंत्रसे रुद्रका असंख्यत्व वा असंख्य वस्तुमें एक रुद्रका व्यापकत्व सिद्ध हुआ" ॥ ५४ ॥

कण्डिका ५५-मन्त्र १ ।

अस्मिन्म्महत्त्यर्णवेन्तरिक्षेभवाऽअधि ॥
तेषाᳬंसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ५५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अस्मिन्नित्यस्य परमेष्ठी प्रजापति० । भुरिगार्ष्युष्णिक्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ-अन्तरिक्षके रुद्रोंका वर्णन । (अस्मिन्) इस (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें और (महति) बडे (अर्णवे) सागर अर्थात् आकाशगंगानामसे प्रसिद्ध नक्षत्रपुंजधाराप्रवाहमें (अधि) आश्रय करके जो (भवाः) रुद्र स्थित हैं (तेषाम्) उनके (धन्वानि) सम्पूर्ण धनुष (सहस्रयोजने) मंत्र बलसे सहस्रयोजन दूर (अवतन्मसि) ज्यारहित कर डालते हैं ॥ ५५ ॥

गूढाशय-इस बडे संसाररूपी समुद्रमें उत्पन्न हुए जीवोंके हृदय अन्तरमें जो ज्ञानयुक्त परमेश स्थित है उस असंख्यात फलदाताका विचार करो ॥ ५५ ॥

कण्डिका ५६-मंत्र १ ।

नीलंग्ग्रीवाᳩशितिकण्ठादिवᳬंरुद्राऽउपश्रिताᳩ ॥
तेषाᳬंसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ५६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नीलग्रीवा इत्यस्य परमेष्ठी प्रजापति० । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ-द्युलोकस्थित रुद्रोंका वर्णन । (नीलग्रीवाः) नीलग्रीवावाले (शितिकण्ठाः) श्वेत कण्ठवाले विषभक्षणसे कितना एक कण्ठ श्वेत और कितना एक नील अथवा निर्मल आकाश और मेघसहित आकाशमें चन्द्रतारादिमें वर्तमान

(रुद्राः) जो रुद्र (दिवम्) द्युलोकमें (उपश्रिताः) आश्रय किये हुए हैं (तेषाम्) उनके (धन्वानि) सब धनुष (सहस्रयोजने) सहस्र योजन दूर (अवतन्मसि) मंत्रबलसे निक्षेप करते हैं ॥ ५६ ॥

कण्डिका ५७-मंत्र १।

नीलंग्ग्रीवाऽशितिकण्ठाऽशर्वाऽअधःक्षमाचराः ॥ तेषांꣳसहस्रयोजनेवधन्वांनितन्मसि ॥ ५७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नीलग्रीवा इत्यस्य परमेष्ठी प्र०। निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं०। रुद्रो देवता। वि० पू० ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ-पातालस्थित रुद्रोंका वर्णन। (नीलग्रीवाः) नीली गर्दनवाले (शितिकण्ठाः) श्वेत कण्ठवाले (शर्वाः) जो शर्वनामक रुद्र (अधः) नीचे (क्षमाचराः) पातालमें वर्तमान हैं (तेषाम्) उनके (धन्वानि) सब धनुष (सहस्रयोजने) सहस्र योजन दूर (अवतन्मसि) मंत्रबलसे निक्षेप करते हैं ॥ ५७ ॥

कण्डिका ५८-मंत्र १।

येवृक्षेषुशष्पिञ्जरानीलंग्ग्रीवाविलोहिताः ॥ तेषांꣳसहस्रयोजनेवधन्वांनितन्मसि ॥ ५८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ येवृक्षेष्वित्यस्य परमेष्ठी प्र०। निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं०। रुद्रो देवता। वि० पू० ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ-(ये) जो (शष्पिञ्जराः) हरितवर्ण (नीलग्रीवाः) नीलग्रीवावाले (विलोहिताः) विशेष रक्तवर्ण अथवा तेजोमय शरीरवाले (वृक्षेषु) वृक्षोंमें अर्थात् पत्ते शाखा कौंपलादिमें वर्तमान हैं (तेषाम्) उनके (धन्वानि) सम्पूर्ण धनुष (सहस्रयोजने) सहस्र योजन दूर (अवतन्मसि) मंत्रबलसे निक्षेप करते हैं ॥ ५८ ॥

कण्डिका ५९-मंत्र १।

येभूतानामधिपतयोविशिखासꣳकपर्द्दिनः ॥ तेषांꣳसहस्रयोजनेवधन्वांनितन्मसि ॥ ५९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ येभूतानामित्यस्य परमेष्ठी प्र०। आर्ष्यनुष्टुप्छं०। रुद्रो देव०। वि० पू० ॥ ५९ ॥

मंत्रार्थ-(ये) जो रुद्र (भूतानाम्) देवविशेषोंके (अधिपतयः) अधिपति हैं अर्थात् अन्तर्हितशरीर होकर मनुष्योंमें उपद्रव करनेवाले भूतोंके पालक हैं तथा (विशिखासः) शिखाहीन मुण्डितशिर (कपर्दिनः) जो जटाजूटसे युक्त हैं (तेषाम्) उनके (धन्वानि) सम्पूर्ण धनुष (सहस्रयोजने) सहस्र योजन दूर (अवतन्मसि) प्रक्षेप करते हैं ॥ ५९ ॥

कण्डिका ६०—मन्त्र १ ।

येपथाम्पथिरक्षयऽऐलबृदाऽआयुर्युधः ॥
तेषाᳬसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ६० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ये पथामित्यस्य परमेष्ठी प्रजा० ऋ० । आर्ष्यनुष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ६० ॥

मंत्रार्थ-(ये) जो (पथाम्) लौकिक वैदिक मार्गोंके अधिपति (पथिरक्षयः) मार्गोंके पालक (ऐलभृतः) राज्यशासनकारी वा अन्नके धारक अथवा अन्नसे प्राणियोंको पुष्टकरनेवाले (आयुर्युधः) जीवनपर्यन्त युद्ध करनेमें रत हैं (तेषाम्) उनके (धन्वानि) सब धनुष (सहस्रयोजने) सहस्रयोजन दूर (अवतन्मसि) निक्षेप करतेहैं ॥ ६० ॥

कण्डिका ६१—मंत्र १ ।

येतीर्त्थानिप्प्रचरन्तिसृकाहस्तानिषङ्गिणः ॥
तेषाᳬसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ६१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ये तीर्थानीत्यस्य परमेष्ठी प्र० ऋ० । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थ-(ये) जो रुद्र (सृकाहस्ताः) आयुधविशेष 'ढाल' हाथमें लिये तथा (निषङ्गिणः) खड्गधारण किये (तीर्थानि) काशीप्रयागादितीर्थोंमें (प्रचरन्ति) फिरते हैं वा जो तीर्थोंका तथा धर्मका प्रचार करते हैं (तेषाम्) उनके (धन्वानि) सम्पूर्ण धनुष (सहस्रयोजने) सहस्रयोजन दूर (अवतन्मसि) निक्षेप करते हैं ॥ ६१ ॥

कण्डिका ६२—मन्त्र १ ।

येऽन्नेषुविविध्यन्तिपात्रेषुपिबतोजनान् ॥
तेषाᳬसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ६२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ येन्नेष्वित्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्देवा० । विराडार्ष्यनुष्टुप्छं० । रुद्रो दे० । वि० पू० ॥ ६२ ॥

मन्त्रार्थ-(ये) जो रुद्र (अन्नेषु) अन्न भोजन करतेमें (जनान्) प्राणियोंको (विविद्ध्यन्ति) विशेष करके ताडन करते हैं अर्थात् धातुकी विषमता कर रोगोंको उत्पन्न करते हैं (पात्रेषु) पात्रोंमें जल दूध आदि (पिबतः) पीते-हुए जनोंके कुत्सित जलआदिसे रोगग्रसित करते हैं (तेषाम्) उनके (धन्वानि) सम्पूर्ण धनुषोंको (सहस्रयोजने) सहस्रयोजन दूर (अवतन्मसि) निक्षेप करते हैं ॥ ६२ ॥

कण्डिका ६३-मन्त्र १ ।

यऽएतावन्तश्च्चभूयाᳬंसश्च्चदिशोरुद्राविंतस्थिरे ॥ तेषाᳬंसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥६३॥

ऋष्यादि-(१) ॐ य इत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्देवा ऋषयः । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ-(च) और (ये) जो (रुद्राः) रुद्र (एतावन्तः) इन दशोंदिशाओंमें अथवा इतने (च) और (भूयाᳬंसः) इन कहेहुओंसे भी अधिक (दिशः) सम्पूर्ण दिशाओंमें (वितस्थिरे) आश्रित हैं अर्थात् जिनके दर्शन हमको नहीं होते और जिनका दर्शन इन मंत्रोंमें नहीं हुआ (तेषाम्) उनके (धन्वानि) सम्पूर्ण धनुष (सहस्रयोजने) सहस्रयोजनकी दूरीपर (अवतन्मसि) मंत्रबलसे निक्षेप करते हैं ॥ ६३ ॥

कण्डिका ६४-मंत्र १ ।

नमोस्तुरुद्द्रेब्भ्योयेदिवियेषांवर्षमिषवः ॥ तेब्भ्योदशप्प्राचीर्द्दशदक्षिणादशप्प्रतीचीर्द्दशोदीचीर्द्दशोर्द्ध्वाः ॥ तेब्भ्योनमोऽअस्तुतेनोवन्तुतेनोमृडयन्तुतेयन्द्विष्म्मोयश्चनोद्द्वेष्टितमेषाञ्जम्भेदध्मः ॥ ६४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमोस्त्वित्यस्य परमेष्ठी प्र० । निच्यृद्धृतिश्छन्दः । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ६४ ॥

विधि-यह तीन कण्डिकावाले मंत्र प्रत्यवरोह संज्ञावाले हैं त्रिलोकीमें स्थित रुद्रोंको कथनकरते हैं-मन्त्रार्थ-(ये) जो रुद्र (दिवि) द्युलोकमें विद्यमान हैं (येषाम्)

जिन रुद्रोंके (वर्षम्) वृष्टिही (इषवः) वाण हैं(तेभ्यः)उन(रुद्रेभ्यः)रुद्रोंके निमित्त (नमः) नमस्कार है (तेभ्यः) उन रुद्रोंके निमित्त (दशप्राचीः) पूर्वदिशामें दशअंगुली होकर अर्थात् हाथ जोडकर (दशदक्षिणा) दक्षिणामें दशअंगुली होकर (दशप्रतीचीः) पश्चिममें दशअंगुली होकर (दशोदीचीः) उत्तरमें दशअंगुली होकर (दशोर्ध्वाः) ऊर्ध्वमें दश अंगुली अर्थात् कर जोड प्रार्थना करता हूं उनके निमित्त (नमः) नमस्कार हो (ते) वे रुद्र (नः) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें (ते) वे (नः) हमको (मृडयन्तु) सुखी करें (ते) वे रुद्र (यम्) जिस्से (द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं (च) और (यः) जो (नः) हमसे (द्वेष्टि) द्वेष करता है (तम्) उसको (एषाम्) इन रुद्रोंके (जम्भे) डाढमें (दध्मः) स्थापन करते हैं ॥ ६४ ॥

भाव–जो देवता द्युलोकमें हैं जिनके वाण वृष्टि हैं अर्थात् वृष्टिद्वारा सृजन पालन और अतिवृष्टिसे संहार किया करते हैं, सब दिशाओंमें उनको हाथ जोडकर प्रमाण करते हैं ॥ ६४ ॥

प्रमाण–"दश वा अञ्जलेरंगुलयो दिशि दिश्येवैभ्य एतदञ्जलिं करोति" इति [९ । १ । १ । ३९] श्रुतेः ॥ ६४ ॥

कण्डिका ६५–मंत्र १।

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे येषां वात इषवः ॥ तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः ॥ तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ ६५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ नमोस्त्वित्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋ० । धृतिश्छन्दः । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ६५ ॥

मंत्रार्थ–(रुद्रेभ्यः) उन रुद्रोंके निमित्त (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो (ये) जो रुद्र (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें विद्यमान हैं (येषाम्) जिनके (इषवः) बाण (वातः) पवन हैं अर्थात् पवनद्वारा जो सृजन पालन और आंधी आदिसें संहार करते हैं उनके निमित्त नमस्कार है शेषम्पूर्ववत् ॥ ६५ ॥

कण्डिका ६६–मंत्र १।

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येषामन्नमिषवः ॥

तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः ॥ तेभ्यो नमो ऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यन्द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ ६६ ॥ [२०]

इति वाजसनेयिशुक्लयजुस्संहितायां दीर्घपाठे षोडशोऽध्यायः १६

ऋष्यादि-(१) ॐ नमोस्त्वित्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । धृतिश्छन्दः । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ६६ ॥

मन्त्रार्थ-(रुद्रेभ्यः) उन रुद्रोंके निमित्त (नमः) नमस्कार है (ये) जो रुद्र (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें स्थित हैं (येषाम्) जिनके (इषवः) बाण (अन्नम्) अन्न हैं जो अन्नद्वाराही सृजन पालन और मिथ्याहार विहारसे रोग उत्पन्न कर प्राणियोंको संहार करते हैं उनके निमित्त नमस्कार है शेष पूर्वकी समान ॥ ६६ ॥ [२०]

भाव-षोडश अध्यायमें रुद्रदेवताका सम्पूर्ण जगत्‌में अधिकार वर्णन किया है, अर्थात सम्पूर्ण जगत्‌में वह परमात्मा रुद्ररूपसे व्याप्त हैं, कोई स्थान उससे भिन्न नहीं है इसी कारण स्थावर जंगम सभीको प्रणाम किया है, इष्ट अनिष्ट सब उसीके द्वारा होता है त्रिलोकीका उत्पत्ति पालन प्रलय सब रुद्रसेही होता है "एको रुद्रो न द्वितीयः" इस श्रुतिके अनुसार एक अद्वैत रुद्रका प्रतिपादन होता है, वेदानुसार उनकी उपासना करनी चाहिये रुद्रकी उपासनासे सब उपद्रव दूर होकर चारों पदार्थकी प्राप्ति होती है इसका पाठ करनेसे सब मनोरथ सिद्ध होते हैं ॥ ६६ ॥

इति श्रीकात्यायनगोत्रोत्पन्नमिश्रसुखानंदसूनुपंडितज्वालाप्रसादमिश्रकृते मिश्रभाष्ये शुक्लयजुर्वेदीयमन्त्रभागे शतरुद्रीयहोमो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

शुभमस्तु ।

अथ सप्तदशोऽध्यायः १७.

अश्मन्नूर्जंदशनमस्तेपञ्चाग्निरिस्तग्मेननवचक्षुषः पिताष्टावाशुः शिशानः सप्तदशोदेनंक्रमध्वमग्निनापञ्चदशकौशुक्रज्योतिः सप्तम१७स्तनं त्रयेदशनवैकोनशतम् ॥

कण्डिका १—मंत्र ४. अनु० १ ।

अश्म॑न्नूर्ज्ज॒म्पर्व॑ते शिशिश्रिया॒णाम॒द्भ्यऽओष॑धी॒भ्यो॒ वन॒स्पति॑भ्यो॒ऽअधि॒ सम्भृ॑त॒म्पयः॑ ॥ तान्न॒ऽइष॒मूर्ज्ज॑न्धत्तमरुतः सꣳरराणाऽअश्म॑ꣳस्ते क्षुन्मयि॑तऽऊर्ग्ग्यन्द्वि॒ष्मस्तन्ते॒ शुगृ॑च्छतु ॥१॥

ऋष्यादि—(१) ॐ अश्मन्नित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । मरुतो देवताः । अग्निसिंचने विनियोगः । (२) ॐ अश्मन्नित्यस्य मेधा० ऋ० । दैवी बृहती छन्दः । अश्मा देवता । शिलोपरि कुम्भस्थापने वि० । (३) ॐ मयि ते इत्यस्य मेधातिथिर्ऋ० । दैवी बृहती छं० । आशीर्देवता । सिंचने वि० । (४) ॐ यमित्यस्य मेधा० ऋ० । याजुषी बृहती छन्दः । शुग्देवता । घटक्षेपणे विनि० ॥ १ ॥

विधि—(१) सोलहवें अध्यायमें शतरुद्रिय होम वर्णन किया अब चित्यपरिषेकादि मंत्र वर्णन करते हैं, दक्षिणनिकक्षमें शिलास्थापन करके हाथमें जलका कुंभ लेकर इस अद्रिसे आरंभ करके प्रदक्षिणक्रमसे पक्ष और पुच्छके सहित अग्निको इस मंत्रसे जलधाराद्वारा सिंचन करै "पक्षकी अपर सन्धिको कक्ष और उसके समीप प्रदेशको निकक्ष कहते हैं" [का० १८ । २ । १] मन्त्रार्थ—(मरुतः) हे मरुद्गण ! (सꣳरराणाः) प्रसिद्धिदाता तुम (अश्मन्) पाषाणमें (पर्वते) विन्ध्याचल हिमालयादि पर्वतमें (शिश्रियाणाम्) आश्रित (ऊर्जम्) सारभूत बलका हेतु अथवा मेघमें आश्रित वृष्टिके सम्पादन करता तथा (अद्भ्यः) जलोंसे (ओषधीभ्यः) ओषधियोंसे (वनस्पतिभ्यः) वनस्पति अश्वत्थादिसे (अधि) अधिक (सम्भृतम्) सम्पादित, तथा गौद्वारा सम्पादित (पयः) दूध अर्थात् मेघजनित जलरूप और गौसे उत्पन्न दुग्धरूप (ताम्) उस प्रसिद्ध (इषम्) अन्न और (ऊर्जम्) रसको (नः) हमारे निमित्त (धत्त) स्थापन कीजिये

"मरुतो वै वर्षस्येशते" इति [९ । १ । २ । ५] श्रुतेः । भावार्थ यह कि हे मरुद्गण ! आप प्रसिद्ध दाता हो इस कारण प्रार्थना करते हैं कि जो २ अन्न और-रस पर्वतके आश्रित एवं जल औषधी और वनस्पति और गौसे जो लाभ करा जाता है वह सब हमको प्रदान करो १ । विधि-(२) दूसरा मंत्र पाठपूर्वक शिलाके ऊपर जलकुंभ स्थापन करै [का० १८ । २ । ३] मन्त्रार्थ-(अश्मन्) हे प्रस्तररूप सर्वभक्षक अग्ने ! (ते) तुमको (क्षुत्) क्षुधा प्राप्त हो अर्थात् बहुत हवि भोगो २ । विधि-(३) तीसरा मंत्र पाठ करके यह घडा फिर हाथमें ग्रहण करकै फिर दो बार पूर्ववत् धाराक्रमसे सिंचन करै [का० १८ । २ । ३] मंत्रार्थ-(अश्मन्) हे प्रस्तर ! (ते) तुम्हारा (ऊर्क्) सारभाग (मयि) मेरे विषे स्थित हो ३ । विधि-(४) चौथा मंत्र पाठ करकै इस जलकुंभके ऊपर यह शिला लेकर दक्षिण वेदीके श्रोणी स्थानमें स्थित होकर इसको दक्षिण दिशामें निक्षेप करै [का० १८ । २ । ४] मंत्रार्थ-हे अग्ने ! (ते) तुम्हारा (शुक्) क्रोध (तम्) उस मनुष्यके प्रति (ऋच्छतु) प्राप्त हो (यम्) जिसके साथ हम (द्विष्मः) द्वेष करते हैं अर्थात् जो कोई हमारा शत्रु हो तुम्हारा दाह उसको प्राप्त हो ॥ १ ॥

कण्डिका २-मन्त्र १ ।

इमामेऽअग्नऽइष्टकाधेनवꣳसन्त्वेकाचदशचदशच शतञ्चशतञ्च सहस्रञ्चसहस्रञ्चायुतञ्चायुतञ्च नियुतञ्चनियुतञ्चप्प्रयुतञ्चार्बुदञ्चन्न्यर्बुदञ्चसमुद्रश्चमद्ध्यञ्चान्तश्चपरार्द्धश्चैतामेऽअग्नऽइष्टकाधेनवꣳसन्त्वमुत्त्रामुष्मिँल्लोके ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इमा इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । निच्यृद्विकृतिश्छं० । अग्निर्देवता । जपे विनि० ॥ २ ॥

विधि-(१) इस प्रकार कुंभ निक्षेप करनेके उपरान्त उसके प्रति फिर दृष्टिपात न करकै प्रत्यागमनकर दक्षिण वेदीके श्रोणीसमीपमें स्थित होकर दोनों भुजा फैलाकर जबतक इस चितिके सम्पूर्ण अवयव स्पर्श करै तबतक इस द्वितीय और तृतीय कण्डिकाका सस्वर पाठ करै [का० १८ । २ । ९]

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेवता ! (इमाः) यह जो पांच चितिमें स्थापित (इष्टकाः) इष्टका हैं तुम्हारे प्रसादसे इस लोकमें (मे) मेरे निमित्त (धेनवः) अभिमत फल देनेवाली गोरूप (सन्तु) हों उनकी संख्या कहते हैं जो (एका) एक (च) ही दशसे गुणा करनेसे (दश) दशसंख्या (च) और (दशच) दशगुणा करनेसे (शतम्) सौ संख्या (च) और (शतम्) सौको दशगुणा करनेसे (च) ही (सहस्रम्) सहस्र होता है (च) और (सहस्रम्) सहस्र (च) दशगुणा करनेसे (अयुतम्) अयुत-१०००० संख्या होती है (च) और (अयुतम्) अयुत (च) दशगुणा करनेसे (नियुतम्) लाख १००००० संख्या होती है (च) और (नियुतम्) नियुतको (च) दशगुणा करनेसे (प्रयुतम्) दशलाख १०००००० संख्या होती है (च) और इसका दशगुणा करनेसे करोड १०००००००० होता है इसका दशगुणा करनेसे (अर्बुदम्) १००००००००० अर्बुद[दशकोटि]होता है (च) और इसका दशगुणा करनेसे (न्यर्बुदम्) न्यर्बुद [अब्ज] १०००००००००० संख्या होती है (च) और इसका दशगुणा करनेसे खर्व १००००००००००० और खर्वका दशगुणा करनेसे निखर्व १०००००००००००० इसका दशगुणा महापद्म १००००००००००००० इसका दशगुणा शंकु १०००००००००००००० शंकुका दशगुणा (समुद्रः) १००००००००००००००० समुद्र (च) और समुद्रका दशगुणा करनेसे (मध्यम्) मध्य १०००००००००००००००० (च) और मध्यका दशगुणा करनेसे (अन्तः) १००००००००००००००००० अन्त (च) और इसका दशगुणा करनेसे (परार्द्धः) १०००००००००००००००००० परार्द्ध संख्या होती है (अग्ने) हे अग्ने ! (एताः) यह (इष्टकाः) इष्टका (अमुत्र) दूसरे जन्ममें (च) और (अमुष्मिन्) दूसरे (लोके) लोकमें (मे) मेरे निमित्त (धेनवः) कामदुघा (सन्तु) हों अर्थात् इष्टका परार्द्ध संख्यातक एकत्र स्थायी होती हैं और कामदुघ है इस कारण प्रार्थना है कि यह हमको इस लोक पर लोक और पर जन्म किसी कालमें भी कामनारूप दूध दानसे कातर न हों ॥ २ ॥

विशेष-यद्यपि मूलमंत्रमें एक दश शत सहस्र अयुत नियुत प्रयुत आदिसे परार्द्धपर्यन्त संख्या वर्णन करी है खर्व निखर्व महापद्म और शंकुका कथन नहीं किया है परन्तु अनेक चकारोंके कहनेसे यह संख्या भी निकलती है और भी अंकगणित बीजगणित रेखागणित आदिका बीजभूत यह मंत्र है तथा और भी मंत्र इस विद्याके प्रतिपादक आवैंगे यद्यपि अग्निचयनमें नियत इष्टका चयन की जाती हैं तोभी मंत्रकी सामर्थ्यसे एकसे परार्द्धतक संख्या होती है यह संख्या

सब लोकोंमें है जैसे इष्टकानिर्मित गृह गरमी शीत आदिके निवारण करनेसे आनंद देते हैं उसी प्रकार अग्नि आहुतिदानसे सबको प्रसन्न करता है जल वायु स्वच्छ होता है २। एक दश शत सहस्र अयुत (दशसहस्र) नियुत (लक्ष) प्रयुत (दशलक्ष) कोटी अर्बुद (दशकरोड) न्यर्बुद (अरब) खर्व (दशअरब) निखर्व (खर्व) महापद्म (दशखर्व) शंकु (नील) समुद्र दशनील (मध्य) पद्म अन्त (दशपद्म) परार्द्ध (शंख) ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मंत्र १।

ऋतवस्त्थऽऋतावृधंऽऋतुष्ठास्त्थंऽऋतावृधं ॥ घृतश्च्युतामधुश्च्युतोविराजोनामंकामदुघाऽअक्षीयमाणाः ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ऋतव इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । विराडार्षी पंक्तिश्छन्दः । अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! तुम (ऋतावृधः) सत्य वा यज्ञकी बढानेवाली (ऋतवः) बसन्तादिरूप (स्थ) हो (ऋतावृधः) यज्ञकी वृद्धि देनेवाली (ऋतुष्ठाः) वसन्तादि ऋतुओंमें स्थित हो तथा (घृतश्च्युतः) घृतकी क्षरण करनेवाली (मधुश्च्युतः) मधुकी क्षरण करनेवाली (विराजः) विशेष कर विराजमान (नाम) नामसे प्रसिद्ध (कामदुघाः) कामना पूर्ण करनेवाली (अक्षीयमाणाः) क्षयरहित (स्थ) हो मुझे सब कामना दो ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मंत्र १।

समुद्रस्यत्त्वावंकयाग्नेपरिंव्ययामसि ॥ पावकोऽअस्मभ्यंᳮशिवोभंव ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ समुद्रस्येत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । भुरिगार्षी गायत्री छं० । अग्निर्देवता । वंशं हस्तेनादाय अग्निक्षेत्रकर्षणे विनि० ॥ ४ ॥

विधि-(१) एक वांस खण्डमें मण्डूकी अवका (शिवार) और वेतकी शाखा बांधकर चितिमें स्थित अग्निक्षेत्रको कर्षण करना होता है उसमें यह मंत्रपाठ करके दक्षिण श्रोणीसे दक्षिणांसपर्यन्त कर्षण करै [का०

१८ । २ । १०] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! ! (समुद्रस्य) जलके (अवकया) शैवालद्वारा (त्वा) तुमको (परिव्ययामसि) सब ओरसे वेष्टन करताहूं (अस्मभ्यम्) हमारे निमित्त (पावकः) शोधक (शिवः) कल्याणकारी (भव) हो ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मन्त्र १।

हिमस्यं॑त्त्वाज॒राय॑णा॒ग्ग्ने॒परि॑व्ययामसि॥ पा॒व॒कोऽअ॒स्म्मभ्य॑ᳬ शि॒वोभ॑व॥ ५॥

ऋष्यादि-(१) ॐ हिमस्येत्यस्य मेधातिथिर्ऋ० । भुरिगार्षी गायत्री छं० । अग्निर्देवता । दक्षिणश्रोण्याद्युत्तरश्रोण्यन्तं कर्षणे वि० ॥ ५ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे दक्षिण श्रोणीसे उत्तर श्रोणीतक कर्षण कर । मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव ! (हिमस्य) हिमके (जरायुणा) जरायुवत् उत्पत्तिस्थान शैवालद्वारा (त्वा) तुमको (परिव्ययामसि) सब ओरसे वेष्टन करता हूं (अस्मभ्यम्) हमारे निमित्त (पावकः) शोधक (शिवः) कल्याणकारी (भव) हूजिये ॥ ५ ॥

कण्डिका ६-मंत्र १।

उप॒ज्म्मन्नुप॑वेत॒सेऽव॑तरन॒दीष्ष्वा॥ अग्ग्ने॒पित्त॒म॒पाम॑सि॒मण्डू॑कि॒ताभि॒राग॑हि॒सेमन्नो॑य॒ज्ञम्पा॑व॒कव॑र्ण॒ᳬ शि॒वङ्कृ॑धि॥ ६॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उपज्मन्नित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । उत्तरश्रोणेरुत्तरांसपर्यन्तं कर्षणे वि० ॥ ६ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे उत्तर श्रोणीसे उत्तरांसपर्यन्त कर्षण करै । मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (ज्मन्) पृथ्वीके (उपावतर) ऊपर आओ (वेतसे) वेतस शाखाको (उप) अवलम्बन करो (नदीषु) सब नदियोंमें (आ) शिवालको अवलम्बन करो हे अग्ने ! तुम (अपाम्) जलोंके (पित्तम्) तेजस्वरूप (असि) हो (मण्डूकि) हे मण्डूकी ! तुमभी जलोंकी पित्तस्वरूप हो इसकारण (ताभिः) पूर्वोक्त जलोंके साथ (आगहि) आगमन करो अर्थात् जिनका अग्निपित्त है जिस्से तू उत्पन्न है जो तू अग्निकी शान्तिके निमित्त इधर उधर लेजाई जाती है

(सा) सो तुम (इमम्) इस (अस्माभिः) हमारे (यज्ञम्) चयन लक्षणवाले यज्ञको (पावकवर्णम्) अग्निकी समान तेजस्वी (शिवम्) फलदायक (कृधि) करो ॥ ६ ॥

तात्पर्य-विमर्श-मण्डूकी शेवाल और वेतस शाखाके कर्षणनिमित्त वेणुमें अवरुद्ध कीजाती है अग्नि जिसका अवयव है उसको नहीं मारती किन्तु उसके धर्मवाले होते हैं मण्डूकीके सकाशसे अग्निकी शान्ति होती है [दयानन्दने पंडिता स्त्रीको मंडूकी कहा है धन्य विद्वत्ता !!!] ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मंत्र १ ।

अपामिदन्न्ययनᳪसमुद्रस्यनिवेशनम् ॥ अन्याँस्तेऽअस्मत्तपन्तुहेतयः पावकोऽअस्मभ्यᳪशिवोभव ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अपामिदमित्यस्य मेधातिथिर्ऋ० । आर्षी बृहती छं० । अग्निर्देव० । उत्तरांसाद्दक्षिणांसपर्यन्तं कर्षणे वि० ॥ ७ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे उत्तरांससे दक्षिणांसपर्यन्त कर्षण करै । मंत्रार्थ-(इदम्) यह चितिमें स्थित अग्निका स्थान (अपाम्) जलोंके (न्ययनम्) प्राप्तिका साधन यागद्वारा जलप्रार्थना कियेजाते हैं इससे जलके आकर (समुद्रस्य) समुद्रका (निवेशनम्) गृहस्थानीय है इस रूपवाले हे अग्ने ! (ते) आपकी (हेतयः) ज्वाला (अस्मत्) हमसे (अन्यान्) दूसरोंको (तपन्तु) तापदें क्लेशदें (अस्मभ्यम्) हमारे निमित्त (पावकः) शोधक (शिवः) कल्याणकारक (भव) हो ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मंत्र १ ।

अग्ग्नेपावकरोचिषामन्द्रयादेवजिह्वया ॥ आदेवान्वक्षियक्षिच ॥ ८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्न इत्यस्य वसुयुर्ऋषिः । आर्षी गायत्री छं० । अग्निर्देवता । दक्षिणपक्षकर्षणे वि० ॥ ८ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे दक्षिण पक्ष कर्षण करै [का० १८ । २ । ११] अर्थात् प्रान्तसे आरंभकर आत्मसंमुख सन्धिपर्यन्त कर्षण करै । मन्त्रार्थ-

(पावक) हे शोधक ! (देव) हे दिव्यगुणसम्पन्न ! (अग्ने) हे अग्ने ! तुम (रोचिषा) दीप्तिमान् ज्वालासमूह आहवनीयरूप और (मन्द्रया) आनंद-स्वरूप (जिह्वया) जिह्वा अर्थात् होताकी वाणीरूपमें स्थित तुम (देवान्) देवताओंको (आवक्षि) आह्वानकरो (च) और (यक्षि) यजनकरो अर्थात् तुम हवि हवन करो और तुमही उसको देवताओंके निकट वहन करो [ऋ० ४। १। १९] ॥ ८ ॥

कण्डिका ९—मंत्र १।

सनः॑ पावकदीदिवोऽग्ने॑ देवाँ २ऽइहावह॥ उप॑युज्ञꣳ हुविश्च॑नः ॥ ९ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ सन इत्यस्य मेधातिथिर्ऋ०। निच्यृदार्षी गायत्री छं०। अग्निर्देवता। पुच्छकर्षणे वि० ॥ ९ ॥

विधि—(१) इस मंत्रसे पुच्छ कर्षण करै। मन्त्रार्थ—(पावक) हे शोधक (दीदिवः) हे दीप्तिमान् (अग्ने) अग्निदेव ! (सः) वह तुम (देवान्) देवताओंको (नः) हमारे (इह) इस यज्ञमें (आवह) बुलाओ (च) और (नः) हमारी (हविः) हवि (यज्ञम्) यज्ञके (उप) समीप देवताओंको प्राप्त कराओ [ऋ० १। १। २३] ॥ ९ ॥

कण्डिका १०—मन्त्र १।

पावकया यश्चितयन्त्या कृपा क्षामन्रुरुचऽउषसो नभानुना ॥ तूर्वन्नयामन्नेतशस्य नूरणऽआ यो घृणे न ततृषाणोऽअजरः ॥ १० ॥ [१०]

ऋष्यादि—(१) ॐ पावकयेत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । निच्यृदार्षी गायत्री छं०। अग्निर्देव०। उत्तरपक्षकर्षणे वि० ॥ १० ॥

विधि—(१) इस मंत्रसे उत्तर पक्ष कर्षण करै। मन्त्रार्थ—(यः) जो अग्नि (पावकया) पवित्र करनेवाली (चितयन्त्या) दृढ चयन करनेवाली वा चेतनकरनेवाली (कृपा) सामर्थ्य वा दीप्तिसे (क्षामन्) पृथ्वीपर (रुरुचे) शोभाको प्राप्त होतीहै (न) जैसे (उषसः) उषाकाल (भानुना) अपने प्रकाशसे शोभा देते हैं (यः) जो (ततृषाणः) पूर्णाहुतिके पानकी इच्छाकरनेवाला (अजरः) जराराहित अग्नि (एतशस्य) गमनकुशल घोडेसे (यामन्) कार्य

लेनेवाले (रणे) युद्धमें (तूर्वन्) शत्रुओंको मारते हुएकी (न) समान (घृणे) दीप्तिसे (नु) निश्चयही (आ) सब प्रकार शोभा देता है उस अग्निको आकर्षण करते हैं [ऋ० ४ । ९ । १७ ।] ॥ १० ॥

प्रमाण-"क्षामेति पृथ्वीनाम" [निघं० १ । १ । ६] "घृणिरिति दीप्तिनाम" [निघं० १ । १७ । ११] १० ॥

भावार्थ-उषाकालके प्रकटित प्रकाशकी समान सम्पूर्ण प्राणियोंकी चेतनकारिणी परम पवित्रा कृपाके सहित यह पावक अजर और शत्रुके शोणितपानके निमित्त पिपासायुक्त अग्नि इस पृथ्वीमें अपनी दीप्तिसे भलीप्रकार शोभित होते हैं ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मन्त्र १. अनु० २ ।

नमस्तेहरसेशोचिषेनमस्तेऽअस्त्वर्चिषे ॥ अन्याँस्तेऽअस्मत्तपन्तुहेतयः पावकोऽअस्मभ्यᳪशिवोभव ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमस्त इत्यस्य लोपामुद्रा ऋषिः । भुरिगार्षी बृहती छं० । अग्निर्देव० । चित्यारोहणे वि० ॥ ११ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे चितिपर आरोहण करे अर्थात् हिरण्यखण्ड मिश्रित स्रुक्में स्थित आज्य और दही मधु घृत कुशमुष्टीसमेत पात्री यह दोनों लेकर ब्रह्मा और यजमान यह मंत्रपाठपूर्वक चितिमें स्थित अग्निके दक्षिणमें उपवेशन करैं अर्थात् ब्रह्मा और यजमान अग्निके दक्षिणमें स्थित हों [का० १८ । ३ । ९] मन्त्रार्थ-हे अग्ने ! (ते) तुम्हारे (हरसे) सब रसोंके आकर्षण करनेवाले (शोचिषे) तेजस्वरूप ज्वालाके निमित्त (नमः) नमस्कार है (ते) तुम्हारे (अर्चिषे) पदार्थप्रकाशक तेजके निमित्त (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो (ते) आपकी (हेतयः) ज्वाला (अस्मत्) हमसे (अन्यान्) दूसरोंको (तपन्तु) तपाओ (अस्मभ्यम्) हमको (पावकः) शोधक (शिवः) कल्याणकारक (भव) हो ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मंत्र १ ।

नृषदेवेडप्सुषदेवेड्बर्हिषदेवेड्वनसदेवेड्स्वर्विदेवेट् ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१-५) ॐ नृषद इत्यस्य तथा स्वर्विद इत्यस्य लोपामुद्रा ऋ० । दैवी बृहती छं० । अग्निर्देवता । द्वितीयतृतीयपञ्चममंत्राणां दैवी पंक्तिश्छं० । अग्निर्दे० । हिरण्यदर्शने वि० ॥ १२ ॥

विधि-(१-५) स्वयमातृणा इष्टकाके ऊपर आरोहणकर इन पांच मंत्रोंसे दक्षिणांस दोनों श्रोणि उत्तरांस और मध्य इन पांच स्थानोंमें हिरण्य (सुवर्ण) दर्शन करै [का० १८ । ३ । ६] मन्त्रार्थ-यह अग्नि (नृषदे) मनुष्योंमें जठराग्निरूपसे स्थित प्राणरूप है (वेट्) उसकी प्रीतिके निमित्त यह आहुतिं दीजाती है सो सम्यक् रूपसे गृहीत हो " प्रत्यक्षं वै तद्यत्स्वाहाकारः प्रत्यक्ष सोत्तरवेदिर्वेट्कारेणेमां परोक्षं वै तद्यद्वेट्कारः " इति [९ । २ । १ । ७] श्रुतेः । " प्राणो वै नृषन्मनुष्या नरस्तद्योऽयं मनुष्येषु प्राणोऽग्निस्तमेतत् प्रीणाति " इति [९ । २ । १ । ८] श्रुतेः । प्रत्यक्षमें स्वाहाकार परोक्षमें वेट्कार होता है, इससे मनुष्योंकी प्राणाग्नि तृप्त होती है १ । जो अग्नि (अप्सुषदे) समुद्रादि जलके मध्यमें वडवाग्निरूपसे स्थित है उसके निमित्त (वेट्) आहुति देते हैं भली प्रकार गृहीत हो "योऽप्स्वग्निस्तमेतत् प्रीणाति" इति [*८] श्रुतेः २ । जो अग्नि (बर्हिषदे) यज्ञीय कुशादिके ऊपर [आहवनीयादिपचन] वा ओषधीमें निवास करते हैं (वेट्) उसकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति दीजाती है भलीप्रकार गृहीत हो "बर्हिषदे वेडिति य ओषधीष्वग्निस्तमेतत्प्रीणाति" इति श्रुतेः [८] ३ । जो अग्नि (वनसदे) वृक्षसमूहमें दावाग्निरूपसे स्थित है (वेट्) उसकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति दीजाती है भलीप्रकार गृहीत हो "वनसदे वेडिति यो वनस्पतिष्वग्निस्तमेतत्प्रीणाति" इति श्रुतेः [८] ४ । जो अग्नि (स्वर्विदे) स्वर्लोकके प्रधान अभिज्ञ सूर्य नामसे प्रसिद्ध है (वेट्) उसकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति देते हैं भलीप्रकार गृहीत हो ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मंत्र १ ।

येदेवादेवानांय्यज्ञियायज्ञियानाᳬंसंवत्सरीणमुपभागमासते ॥ अहुतादोहविषोयज्ञेऽअस्मिन्त्स्वयम्पिबन्तुमधुनोघृतस्य ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ये देवा इत्यस्य लोपामुद्रा ऋषिः । निच्यृदार्षी जगती० । प्राणो देवता । अग्निप्रोक्षणे वि० ॥ १३ ॥

* पूरा पता ऊपरकी श्रुतिमें लिखा है यहां उसीका पिछला अंक है ।

विधि–(१) पात्रीमें सिक्त दही मधु और घृतको कुशाग्रसे ग्रहण करके उसके द्वारा परिश्रित सहित सपक्ष सपुच्छ अग्निके मध्यमें और बाहर इस कण्डिका तथा पर कण्डिकात्मक मंत्रसे प्रोक्षण करै [का० १८ । ३ । ७] मंत्रार्थ–(ये) जो (देवाः) देवता (अहुतादः) विना स्वाहाकार किये अन्नको भक्षण करते हैं वे प्राणरूप देवता (अस्मिन्) इस (यज्ञे) चयनरूप यज्ञमें (मधुनः) मधु (घृतस्य) घृत अर्थात् मधुघृतदधिरूप (हविषः) हविका भाग (स्वयम्) स्वयंही स्वाहाकारके विना (पिबन्तु) पान करैं, जो कि (यज्ञियानाम्) यजन करने योग्य (देवानाम्) देवताओंके मध्यमें (यज्ञियाः) यज्ञयोग्य दीप्तिमान् हैं (संवत्सरीणम्) संवत्सरमें होनेवाले यज्ञके (भागम्) भागकी (उपासते) उपासना करते हैं ॥ १३ ॥

विवरण–दो प्रकारके देवता होते हैं, हविर्भोजी इन्द्र वरुणादिक और शरीरनिर्वाहक प्राण अपानादि, दीप्तिमान होनेसे दोनोंही यज्ञके योग्य हैं, इन्द्रादि यज्ञमें पूज्य होनेसे यज्ञिय हैं, प्राणादिक यज्ञमें पूजित होनेसे यज्ञिय हैं जो वस्तु हुत नहीं है उसको प्राण स्वेच्छासेही अदन करते हैं, प्राण देवताके प्रति इन्द्रिय विद्यमान हैं एवं चक्षुरादि इन्द्रियगण अपने भोगका सन्निकर्ष लाभ करनेकोही किसीकी आज्ञाकी अपेक्षा न करके भोग करनेमें प्रवृत्त होजाते हैं यह लोकप्रसिद्ध है संवत्सर होकर अग्नि चयन होता है ॥ १३ ॥

कण्डिका १४–मंत्र १ ।

येदेवादेवेष्वधिदेवत्वमायन्येब्रह्मणःपुरऽएतारोऽअस्य ॥ येभ्योनऽऋतेपवतेधामकिञ्चननतेदिवोनपृथिव्याऽअधिस्नुषु ॥ १४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ ये देवा इत्यस्य लोपामुद्राऋषिः । आर्ची जगती छं० । प्राणो देवता । वि० पू० ॥ १४ ॥

मंत्रार्थ–(ये) जो प्राणादि (देवाः) देवताओंने (देवेषु) इन्द्रादि देवताओंमें (अधिदेवत्वम्) अधिष्ठातृत्व (आयन्) प्राप्त किया है अर्थात् देवगणोंमें प्रधान देवत्व लाभ किया है, कारण कि इन्द्रादिके भी प्राणही देवता हैं (ये) जो प्राण (अस्य) इस (ब्रह्मणः) जीव वा आत्माग्निके (पुरः) आगे (एतारः) गमन करते हैं " अयमग्निर्ब्रह्म तस्यै ते पुर एतारः" इति [९ । २ । १ । १९] श्रुतिः । (येभ्यः) जिन प्राणोंके (ऋते) विना (किञ्चन)

१ ईश्वर जीव ब्रह्म ऋत्विक् ।

कोई भी (धाम) शरीर (न) नहीं (पवते) चेष्टा करसकता है (ते) वे प्राण (न) न (दिवः) द्युलोकमें (न) न (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें हैं अर्थात् दिव प्रदेशमें वा पृथ्वीके प्रदेशमें नहीं हैं किन्तु (स्नुषु) प्रत्येक इन्द्रियमें (अधि) वर्तमान हैं "ते दिवि न पृथिव्यां यदेव प्राणभृत्तस्मिंस्ते" इति श्रुतेः [९ । २ । १ । १९] ॥ १४ ॥

कण्डिका १५–मंत्र १ ।

प्राणदाऽअपानदाव्यानदावर्चोदावरिवोदाः ॥ अन्यांस्तेऽअस्मत्तपन्तुहेतयःपावकोऽअस्मभ्यंᳬशिवोभव ॥ १५ ॥ [५]

ऋष्यादि–(१) ॐ प्राणदा इत्यस्य लोपामुद्रा ऋषिः । विराडार्षी पंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता । चित्यवरोहणे वि० ॥ १५ ॥

विधि–(१) यह मंत्र पाठकर चितिसे उतरै [१८ । ३ । ८] । मंत्रार्थ– हे अग्ने ! तुम (प्राणदाः) प्राण देनेवाले (अपानदाः) अपान देनेवाले (व्यानदाः) व्यान सर्व शरीरवर्ती वायु देनेवाले (वर्चोदाः) बलदाता (वरिवोदाः) धनके देनेवाले हो (अस्माकम्) हमको (पावकः) शोधक (शिवः) कल्याणकारी (भव) हो (ते) तुम्हारी (हेतयः) ज्वालारूप आयुध (अस्मत्) हमसे (अन्यान्) दूसरोंको (तपन्तु) ताप दें । तात्पर्य यह है कि जबतक शरीरमें अग्निवर्तमान हैं तभीतक प्राणादिका संचार है ॥ १५ ॥ [५]

कण्डिका १६–मंत्र १. अनु० ३ ।

अग्निस्तिग्मेन शोचिषायासद्विश्वन्न्यत्रिणम् ॥ अग्निर्नोवनतेरयिम् ॥ १६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अग्निरित्यस्य भरद्वाज ऋषिः । निच्यृदार्षी गायत्री छं० । अग्निर्देवता । घृतहोमे वि० ॥ १६ ॥

विधि–(१) शालामें आकर पंचगृहीत अर्थात् पांचबार लिये घृतको शालाद्वार्य नाम अग्निमें हवन करै [का० १८ । ३ । १२] मन्त्रार्थ–(अग्निः) यह अग्नि (तिग्मेन) तीक्ष्ण (शोचिषा) तेजसे (विश्वम्) सम्पूर्ण (अत्रिणम्) यज्ञविघ्नकारी राक्षस वा क्रोधादिको (नियासत्) दूरकरो (अग्निः) यह अग्नि (नः)

हमको (रायम्) धन (वनते) प्रदान करता है "तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मणः" इति यास्कः [निरु० १० । ६] [ऋ० ४ । ५ । २६] ॥ १६ ॥

आत्मोपनिषत् ।

कण्डिका १७-२४ मंत्र १ ।

यऽइमाविश्श्वाभुवनानिजुह्वदृषिर्होतान्यसीदत्पिता नः॥ सऽआशिषाद्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ२ऽआविवेश ॥ १७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ य इमा इत्यस्य भुवनपुत्रविश्वकर्मा ऋ० । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । विश्वकर्मा दे० । घृतहोमे वि० ॥ १७ ॥

विधि-(१) यहांसे २४ तक आठ कण्डिका पाठपूर्वक जुहूमें सोलहवार घृत ग्रहण करके शालाद्वार्य अग्निमें उसका आधा होम करै [का० १८ । ३ । १२] मन्त्रार्थ-(यः) जो (ऋषिः) अतीन्द्रिय द्रष्टा सर्वज्ञ (होता) संहाररूप होमका कर्ता (नः) हम सम्पूर्ण प्राणियोंका (पिता) पालन करनेवाला है जो (इमा) यह (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) भुवनप्राणिसमूहको (जुह्वत्) संहार करके (न्यषीदत्) स्वयं स्थित हुआ अर्थात् प्रलयकालमें सब जीवोंको संहार कर जो परमात्मा एकमात्र स्थित हुआ "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत् । सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि [उपनिषद्वचनम्] (सः) वह परमेश्वर (प्रथमच्छत्) प्रथम एक अद्वितीय रूपको छादन करता अर्थात् उत्कृष्ट स्वरूपको आवरण करते प्रविष्ट हुआ (आशिषा) मैं बहुतरूप होकर प्रगट हूं इस अभिलाषासे (द्राविणम्) जगद्रूप धनको (इच्छमानः) इच्छा करता हुआ (अवरान्) अभिव्यक्त उपाधिवाले मायाके विकारयुक्त जीवोंमें (आविवेश) प्रवेश करगया "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदꣳ सर्वमसृजत यदिदं किञ्च तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इति-[उपनिषदि तैत्ति०] ॥ १७ ॥

तात्पर्य-वह सृष्टि उत्पत्ति पालन संहार करनेवाला परमात्मा इस जगतको निर्माण करकै स्वयं स्थावर जंगमरूप होकर पशुपक्षीआदिके शरीरमें बाहर भीतर व्याप्त है वही कर्ता पाता और हर्ता है उसके सिवाय दूसरा कोई नहीं [ऋ० ८ । ३ । १६] ॥ १७ ॥

कण्डिका १८–मंत्र १।

किꣳस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणङ्कतमत्स्वित्कथासीत्॥ यतो भूमिञ्जनयन्विश्वकर्म्मा विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥ १८॥

ऋष्यादि–(१) ॐ किंस्विदित्यस्य विश्वकर्मा ऋ०। भुरिगार्षी पंक्तिश्छं०। विश्वकर्मा देव०। वि० पू०॥ १८॥

विधि–(१)परमात्मा जिस प्रकार जगतकी रक्षा करता है सो प्रश्नोत्तरसे वर्णन करते हैं जिस प्रकार कुम्हार गृहादिस्थानमें बैठकर मृत्तिकारूप आरंभ द्रव्यसे और चक्रादिसाधनसे घट बनाता है इस प्रकार प्रश्न है। मन्त्रार्थ–(स्वित्) प्रश्न है कि द्यावाभूमि निर्माण करतेमें इस परमात्माका (अधिष्ठानम्) रहने वा स्थित होनेका आश्रय (किम्) क्या (आसीत्) था (आरम्भणम्) घट बनानेमें मृत्तिकाकी समान उपादानकारण जगतनिर्माणकी सामग्री (कथा) किया (कतमत्) क्या (आसीत्) थी अर्थात् निमित्तकारण क्या था जैसे घट बनानेमें दंडा. चाक, जल, डोरेकी आवश्यकता होती है इस प्रकार जगतका उपादान कारण क्या था (यतः) जिससे (विश्वचक्षाः) अतीत अनागत वर्तमान कालको एक साथ देखनेवाले (विश्वकर्मा) विश्वकर्ता परमात्माने (भूमिम्) इस विस्तृत भूलोक और (द्याम्) द्युलोकको (जनयन्) सृजन करके (महिना) अपनी बडी सामर्थ्यसे (वि और्णोत्) विशेष आच्छन्न किया है आप सर्वदर्शी भावसे सर्वत्र विराजमान हैं [ऋ० ८। ३। १६]॥ १८॥

कण्डिका १९–मन्त्र १।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्॥ सम्बाहुभ्यान्धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देवऽएकः॥ १९॥

ऋष्यादि–(१) ॐ विश्वत इत्यस्य भुवनपुत्रो विश्वक० ऋ०। भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं०। विश्वकर्मा दे०। वि० पू०॥ १९॥

मंत्रार्थ-[उत्तर] (विश्वतश्चक्षुः) सबओर नेत्रवाला (उत) और (विश्वतोमुखः) सब ओर मुखवाला (विश्वतोबाहुः) सब ओर भुजावाला (उत) और (विश्वतस्पात्) सब ओर चरणसे युक्त है (एकः) एक अद्वितीय असहाय (देवः) परमात्मा (द्यावाभूमी) द्युलोक और भूलोकको अधिष्ठानशून्य होकर (जनयन्) प्रगट करताहुआ (बाहुभ्याम्) अपनी भुजाओंसे अर्थात् बाहुस्थानीय धर्माधर्मसे वा बलवीर्यसे (सन्धमति) संयोगको प्राप्त होता है (पतत्रैः) पतनशील अनित्य पंचभूतोंसे (सम्) संयोगको प्राप्त होता है अर्थात् धर्माधर्मरूप निमित्तवाले पंचभूतरूप उपादानद्वारा साधनके विनाही सबकी रचना करता है अथवा धर्माधर्मसे जीवोंको संयुक्त करता है, अथवा वह अधिष्ठानशून्य हो लोकोंकी रचनाकर अपनी दोनों भुजासे आक्रमण कर अपने पक्षसंघके द्वारा अपनेसे प्रगट किये इस जगत्की इसप्रकार रक्षा कर रहा है जैसे पक्षी पंखोंसे अंडेको आक्रमणकर पोषण करता है, सर्वप्राणी आत्मक होनेसे सब प्राणियोंके नेत्र मुख कर चरण परमात्माकेही हैं [ऋ० ८ । ३ । १६] ॥ १९ ॥

कण्डिका २०—मंत्र १।

किᳬस्विद्वनङ्कऽउसवृक्षऽआसयतोद्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ॥ मनीषिणोमनसापृच्छतेदुतद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानिधारयन् ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ किमित्यस्य भुवनपुत्रो विश्वकर्मा ऋ० । स्वराडार्षी त्रिष्टु० । विश्वकर्मा दे० । वि० पू० ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ-प्रश्न (स्वित्) कहो तो (वनम्) वह कारणरूप वन (किम्) किस प्रकारका (आस) था (उ) और (सः) वह (वृक्षः) कार्यरूप वृक्ष (कः) कौन (आस) था (यतः) जिस वन वृक्षसे विश्वकर्माने (द्यावापृथिवी) स्वर्ग और पृथिवी (निष्टतक्षुः) अलंकृतकी है अर्थात् ऐसा कोई वन और वृक्ष नहीं था लोकमें जैसे गृहादि बनानेकी इच्छासे वृक्षादिकी कडी तख्तोंसे घर अलंकृत करते हैं इसमें वह कुछ नहीं है (मनीषिणः) हे विद्वानो ! मनका निग्रह करनेवालो ! (भुवनानि) सब भुवनोंको (धारयन्) धारण करतेहुए विश्वकर्माने (यत्) जो (अध्यतिष्ठत्) स्थान अधिष्ठित किया (तत्) उसको (मनसा) मनसे आलोचना कर (इत्) उस (उ) प्रसिद्धको (पृच्छत) पूछो ॥ २० ॥

भावार्थ-वह वन और वृक्ष किस प्रकार है जिस वनवृक्षसे विश्वकर्माने यह द्यावापृथ्वी तक्षण की है, हे मनीषिगणो! तुम मनमनमें यह सब विषय विचारो तथा और भी विचारो कि जो यह सब दृश्य अदृश्य जगत् धारण किये हैं वा स्वयं किस प्रकारहै उसे कोई सामग्रीकी आवश्यकता नहीं हुई "ऊर्णनाभिकी समान यह आरम्भ है" [ऋ० ८ । ३ । १६] ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मंत्र १ ।

यातेधामानिपरमाणियावमायामध्यमाविश्वकर्म्मन्नुतेमा ॥ शिक्षासखिभ्योहविषिस्वधावःस्वयंय्यजस्वतन्न्वंवृधानः ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यात इत्यस्य भुवनपुत्रो विश्वकर्मा ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । विश्वकर्मा देवता । वि० पृ० ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ-[उत्तर] (स्वधावः) स्वधावान् बहुत अन्नसे युक्त (विश्वकर्मन्) सब जगतके कर्ता ईश्वर (ते) आपके (या) जो (परमाणि) उत्कृष्ट (या) जो (अवमा) निकृष्ट (उत) और (या) जो (मध्यमा) मध्य श्रेणीके (धामानि) स्थान हैं (इमा) इन ऊपर नीचे और मध्यके (धामानि) लोकोंको (सखिभ्यः) भक्त यजमानोंके निमित्त (आशिक्ष) सब प्रकारसे दीजिये तथा (हविषि) यजमानकी दीहुई हविके उपस्थित होनेमें (तन्वम्) अपने शरीरको (वृधानः) वृद्धिको प्राप्त करते (स्वयम्) आपही (यजस्व) यजन कीजिये हम यजन करते हैं यह हम कैसे कह सकते हैं, कौन मनुष्य तुमको यजन करनेको समर्थ है इससे मैं कहता हूं आप स्वयं यजन करो अर्थात् जो सब धाम है वह सब धाम प्रजावर्द्धनपूर्वक तुम स्वयं महायज्ञमें व्यापृत हो [जब कि आप इस यज्ञके कार्यके ज्ञाताहो तौ आप इस विषयमें शिक्षक हो सकते हो] यजमानगणकोभी इस सामान्य यज्ञमें हविप्रदानविषयमें शिक्षा दो [ऋ० ८ । ३ । १६] ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मंत्र १ ।

विश्वकर्म्मन्हविषावावृधानःस्वयंय्यजस्वपृथिवीमुतद्याम् ॥ मुह्यन्त्वन्येऽअभितःसपत्त्नाऽइहास्म्माकम्मघवासूरिरस्तु ॥ २२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ विश्वकर्मन्नित्यस्य भुवनपुत्रो विश्वकर्म ऋ० । निच्यूदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । विश्वकर्मा देवता । वि० पू० ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ–(विश्वकर्मन्) हे परमात्मन् ! (हविषा) मेरे दियेहुए हविरूप अन्नसे (वावृधानः) प्रसन्न हुए आप मेरे यज्ञमें (पृथिवीम्) पृथ्वीके आश्रित जीवोंको (उत) और (द्याम्) द्युलोकके आश्रित जीवोंको मेरे ऊपर अनुग्रहकर (स्वयम्) स्वयंही (यजस्व) यजनकरो और तुम्हारे प्रसादसे (अभितः) सब ओरसे (अन्ये) दूसरे (सपत्नाः) शत्रु वा कामादि (मुह्यन्तु) मोहको प्राप्तहों (इह) इस यज्ञमें (मघवा) इन्द्र यज्ञद्रष्टा ब्रह्मा (अस्माकम्) हमको (सूरिः) पण्डित आत्मज्ञानका उपदेशक (अस्तु) हो ॥ २२ ॥

भावार्थ–हे विश्वकर्मन् ! हविद्वारा इस चराचरको वृद्धि करते हुए तुम स्वयंही द्यावापृथ्वीसे महायज्ञ करते हो "अर्थात् इस कार्यमें द्वेषियोंको किस प्रकार दमन करना आवश्यक है और इस कार्यमें पुरोहितको किस प्रकार पुरस्कार देना चाहिये सो जान्ते हो" इस कारण प्रार्थना है कि हमारे चारों दिशाओंमें जो शत्रु हैं उनको मुग्ध करो और हमारा उपदेश यज्ञीय ऋत्विक् हो ॥ २२ ॥

विशेष–सम्पूर्ण चराचर प्रतिदिन लय होते जातेहैं यह द्यावापृथ्वीमें प्रतिदिन यज्ञ होता है [ऋ० ८ । ३ । १६] ॥ २२ ॥

कण्डिका २३–मंत्र १ ।

व्वाचस्प्पतिँव्विश्श्वकर्म्माणमूतयेमनोजुवंव्वाजेऽअद्याहुवेम ॥ सनोविश्श्वानिहवनानिजोषद्विश्श्वशम्भूरवसेसाधुकर्म्मा ॥ २३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ वाचस्पतिमिति इसकी व्याख्या ८ अ० के ४५ मंत्रमें और 'विश्वकर्मन्' इति इसकी व्याख्या ४६ में होगई भावार्थ लिखते हैं । वि० पू० ॥ २३ ॥

सरलार्थ–जो सम्पूर्ण वागिन्द्रियका अधिष्ठाता जो सबके मनका नियन्ता इन विश्वकर्मानामसे प्रसिद्ध देवताको हम इस यज्ञमें कल्याणके निमित्त आह्वान करते हैं, वह हमारे श्रेष्ठकर्मा देवता विश्वके कल्याणमें नित्य ही तत्पर हैं, वह हमारे सब आह्वान सुन्ते हैं [ऋ० ८ । ३ । १६] ॥ २३ ॥

कण्डिका २४–मन्त्र १।

विश्श्वंकर्म्मन्हविषावर्द्धनेनत्त्रातारमिन्द्रमकृणोरवु
द्धयम् ॥ तस्म्मैविशः समनमन्तपूर्वीरयमुग्ग्रोवि
हव्व्योयथासत ॥ २४ ॥ [९]

ऋष्यादि–(१) पूर्ववत्–वि० पू० ॥ २४ ॥

सरलार्थ–हे विश्वकर्मन्‌ ! पूर्व पूर्व प्रजागण तुमको उग्र और विशेषरूपसे आह्वानीय जानकर इस प्रकार सम्यक् रूपसे नमस्कार करते हैं आज हम इस प्रथाके अनुसार तुमहीको त्राता अवध्य नित्य ईश्वर जानकर तुमको हविवर्धन वाक्यसे प्रसन्न करते हैं ॥ २४ ॥

कण्डिका २५–३२–मन्त्र १. अनु० ४।

चक्षुषःपितामनसाहिधीरोघृतमेनेऽअजनन्नम्नमाने ॥ यदेदन्ताऽअददृहन्तपूर्वऽआदिद्यावापृथिवीऽअप्प्रथेताम् ॥ २५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ चक्षुष इत्यस्य भुवनपुत्रो विश्वकर्मा ऋ०। आर्षी त्रिष्टुप्छं०। विश्वकर्मा दे०। षोडशगृहीतस्यापरार्धघृतहोमे वि० ॥ २५ ॥

विधि–(१) यहांसे आरंभ कर आठ मंत्र ३२ कण्डिकातक पाठ करके षोडशवार ग्रहण किये घृतका शेष आधा भाग हवन करै [का० १८। ३। १३]

मन्त्रार्थ–(यदा इत्) जिस समय (पूर्वे) पूर्व महर्षियोंने (अन्तः) द्यावाभूमिके अन्तर्देशोंको (अददृहन्त) दृढ किया (आत् इत्) इसके अन्तरही (द्यावापृथिवी) द्यावापृथ्वी (अप्रथेताम्) प्रथित विस्तारयुक्त हुई तब (चक्षुषः) सम्पूर्ण ज्योति वा इन्द्रियोंको (पिता) पालन करनेवाला (मनसा) मनसे (धीरः) धीरतायुक्त (हि) ही (एने) इन (नम्नमाने) नममान द्यावापृथ्वीके प्रति अर्थात् जगत्के अनुग्रह करनेको द्यावापृथ्वीको स्तम्भन करता हुआ (घृतम्) घृत जलको (अजनयत्) उत्पन्न करता हुआ [ऋ० ८। ३। १७] ॥ २५ ॥

भावार्थ–चक्षुरादि सम्पूर्ण इन्द्रियोंके पालक आदिदेवताने पूर्वमें सृष्टिको मनमें करलिया, फिर जल और उसके उपरान्त यह नममान द्यावा पृथ्वी उत्पन्न की फिर इसको दृढ किया फिर अब क्रमसे विस्तार करतेहैं ॥ २५ ॥

कण्डिका २६-मंत्र १।

विश्वकर्म्मा विमनाऽआद्विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक्। तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऽऋषीन्पुरऽएकमाहुः॥ २६॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्वकर्मेत्यस्य भुवनविश्वक० ऋ०। आर्षी त्रिष्टुप्छं०। विश्वकर्मा देवता। वि० पू०॥ २६॥

मन्त्रार्थ-(यत्र) जिस लोकमें (सप्तऋषीन्) सप्त ऋषियोंको (परेण) विश्वकर्माके साथ (एकम्) एक (आहुः) कहते हैं जिनका (विश्वकर्मा) जगन्निर्माता (विमनाः) श्रेष्ठमन सम्पूर्ण कर्मका ज्ञाता (आत्) और (विहायाः) आकाशमें व्यापक वा संहर्ता (धाता) धारण पोषण स्थिति करनेवाला (विधाता) सबका उत्पादक (उत) और (परमः) सबसे उत्कृष्ट परमात्मा (सन्दृक्) सम्यक् देखनेवाला है उस लोकमें (तेषाम्) उन पुरुषोंके (इष्टानि) अभिलषित वस्तु (इषा) आहुति रसभूत अन्नके संग (सम्मदन्ति) आनन्दसे मोदयुक्त होकर पुष्ट होते हैं अर्थात् विश्वकर्माके देखेहुए सुखी होते हैं विश्वकर्मा जिनके द्रष्टा है, वेही मुक्त होते हैं वह भक्तोंहीको देखता है इससे भक्ति करनी चाहिये॥ २६॥

अथवा-जिस विश्वकर्मा देवताको विमन-'विशेष मनयुक्त' विहाय-'संहर्ता' धाता-'पालक' विधाता-'उत्पादक' परम-'जिससे उत्कृष्ट और नहीं' और संदृक्-'सर्वदर्शी' कहते हैं इस पृथ्वीआदि लोकमें कोई कोई अनेकरूप कोई २ एक कहकर तर्क करते हैं उसने लोकके अधिवासीजनोंका जीवनाधार अन्न और अभीष्ट सम्पादन किया है यह लोकवासी उसीके प्रसादसे आमोदित होते हैं [ऋ० ८। ३। १७]॥ २६॥

कण्डिका २७-मंत्र १।

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानान्नामधाऽएकऽएव तꣳ सम्प्रश्नम्भुवना यन्त्यन्या॥ २७॥

ऋष्यादि-(१) ॐ योन इत्यस्य भुव० विश्व० ऋ०। निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं०। विश्वकर्मा दे०। वि० पू०॥ २७॥

मंत्रार्थ-(यः) जो विश्वकर्मा परमेश्वर (नः) हमारा (पिता) पालक (जनिता) उत्पादक है (यः) जो (विधाता) विशेषकर धारण करनेवाला है (विश्वा) सम्पूर्ण (धामानि) स्थान (भुवनानि) प्राणिसमूहोंको (वेद) जान्ता है (यः) जो (एकः) एक होकरभी (देवानाम्) देवताओंके अनेक (नामधाः) नामकरण करता है अर्थात् अनन्त विश्वके नामकरण करता है कारण कि नामकरण पिताके द्वारा कीं है (अन्या) और (भुवना) प्राणिसमूह (संप्रश्नम्) प्रश्नक्रियासे (तम्) उसकों प्रलयमें (यन्ति) एकत्वताको प्राप्त होते हैं अथवा अपने अधिकारके प्रश्न करनेको प्राणी जिसको प्राप्त होते हैं अर्थात् जिसके जान्नेको सबही व्यग्र रहते हैं वही सबकी रचना करता है [ऋ० ८ । ३ । १७] ॥ २७ ॥

कण्डिका २८-मंत्र ८।

तऽआयजन्तद्रविणꣳसमस्मा ऽऋषयꣳपूर्वेजरितारोनभूना ॥ असूर्त्तेसूर्त्तेरजाꣳसिनिषत्तेयेभूतानिंसमकृण्वन्निमानिं ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तआयजन्त इत्यस्य भुवनपुत्रो विश्वकर्म ऋ० । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं० । विश्वक० दे० । वि० पू० ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ-(ते) वे (जरितारः) स्तुति करनेवाले (पूर्वे) विश्वकर्माके निर्मित्त पूर्वकालिन (ऋषयः) ऋषिगण (अस्मै) इस भूतसमूहके निमित्त (द्रविणम्) जल लक्षणरूप धन वा भोगकूं (समायजन्त) सम्यक् प्रकारसे देतेहुए (नभूना) वाहुल्यतासे कामनाको देते हुए (ये) जो ऋषी (असूर्ते) सत्रह अवयववाले लिंगशरीरोंसे अथवा प्राणोंसे प्रेरित (सूर्ते) भली प्रकार प्रेरित वा विस्तीर्ण (रजांसि) अन्तरिक्ष लोकमें (निषत्ते) स्थित हुए (इमानि) इन (भूतानि) प्राणियोंको (सम्-अकृण्वन्) रचतेहुए "लोका रजांस्युच्यन्ते" इति [निरु० ४ । १९] [ऋ० ८ । ३ । १७ ।] ॥ २८ ॥

भावार्थ-इन आदिजन्मा ऋषिगणने वारंवार स्तुतिके वलसे क्षमतावान् होकर द्युलोक भूलोक और अन्तरिक्षलोकमें इन समस्त प्राणिगणोंकी रचना की है और आदिसृष्टिमें सबकोही समभावसे सम्पत्ति प्रदान की अर्थात ईश्वरने प्रजापति-योंको रचा उन्होंने सृष्टि रची ॥ २८ ॥

कण्डिका २९—मन्त्र १ ।

परोदिवा परऽएनापृथिव्यापरोदेवेभिरसुरैर्य्यदस्ति ॥ कँस्विद्गर्भम्प्रथमन्दध्रऽआपोयत्रदेवाःसमपश्यन्तपूर्वे ॥ २९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ परो दिवेत्यस्य भुवनपुत्रो विश्वकर्म ऋ० । आर्ची त्रिष्टुप्छं० । विश्वकर्मा दे० । वि० पू० ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ-[ब्रह्मविषयक प्रश्न]-(यत्) जो ईश्वरका तत्त्व हृदयकमलमें विद्यमान (अस्ति) है वह (दिवः) द्युलोकसे भी (परः)- दूर अर्थात् दुर्ज्ञेय है (एना) इस (पृथिव्याः) पृथ्वीसेभी (परः) दूर है (देवेभिः) देवताओंसे (असुरैः) असुरोंसेभी (परः) दूर है अर्थात् सबसे विलक्षण गुरु और शास्त्रके मुखद्वारा विना नहीं जानाजाता (स्वित्) और (आपः) जलोंने (प्रथमम्) पहले (कम्) किसीके (गर्भम्) गर्भको (दध्रे) धारण किया अथवा (किंस्वित्) यह तो देखो कि, उसने प्रथम जलको उत्पन्न किया जिस समय उसको प्रथम गर्भमें धारण किया वह गर्भ कैसा आश्चर्यरूप है (यत्र) जहां (पूर्वे) प्रथमके (देवाः) देवता तथा महर्षि (समपश्यन्त) जगत्को देखतेहुए अथवा जिससे यह पूर्वतन देवगण होकर जिसको ज्ञानचक्षुसे देखतेहुए. आशय यह है कि, यह स्थूल जगदाधार गर्भरूप नहीं जाना जाता तो अत्यन्त सूक्ष्मतत्त्व कौन जान सकता है [ऋ० ८ । ३ । १७] ॥ २९ ॥ में [विश्वे] परिवर्तित है ।

कण्डिका ३०—मन्त्र १ ।

तमिद्गर्भम्प्रथमन्दध्रऽआपोयत्रदेवाःसमगच्छन्तविश्वे ॥ अजस्यनाभावध्येकमर्प्पितँयस्मिन्विश्वानिभुवनानितस्थुः ॥ ३० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तमित्यस्य भुवनपुत्रो विश्वकर्मा ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । विश्वकर्मा दे० । वि० पू० ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ-(आपः) जलोंने (प्रथमम्) पहले (तमित्) उसको ही (गर्भम्) गर्भमें (दधिरे) धारण किया (यत्र) जिस कारणभूत गर्भमें (विश्वे) सम्पूर्ण (देवाः) देवता (समगच्छन्त) एकत्र होकर वर्तते हैं उस गर्भका आधार क्या है (अजस्य) जन्मरहित

परमेश्वरकी (नाभौ) नाभिस्थानीय स्वरूप मध्यसे (एकम्) एक अविभक्त अनन्य-भूत किंचित् बीजगर्भरूप (अर्पितम्) स्थापितकिया (यस्मिन्) जिसमें (विश्वानि) सम्पूर्ण (भुवनानि) भूतसमूह (अधितस्थुः) स्थित होतेहुये अर्थात् वह सबका आश्रय है उसका कोई आश्रय नहीं [ऋग्वेदे ८ । ३ । १७] ॥ ३० ॥

भावार्थ–इस जन्मशून्य परमात्माकी नाभिसे एक बीज अर्पित हुआ इसी बीजके आश्रयसे सम्पूर्ण भुवनस्थिति करते हैं जलोंने प्रथम इसेही गर्भमें धारण किया इस गर्भसे सब देवताओंने प्रकाश पाया है "अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्" [मनु० अ० १ । ८–९ श्लोक देखो] ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१–मन्त्र १ ।

नतंविंदाथुयऽइमाजुजानान्यद्युष्म्माकुमन्तंरम्बभूव ॥ नीहारेणप्प्रावृंताजल्प्यांचासुतृपंऽउक्थुशासंश्चरन्ति ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ नतमित्यस्य भुवनपुत्रो विश्वकर्म ऋ० । भुरिगार्षी पंक्ति० । विश्वकर्मा दे० । वि० पू० ॥ ३१ ॥

मंत्रार्थ–[उपदेश करते हैं–] (यः) जिस परमात्माने (इमा) इस सब जगत्को (जजान) उत्पन्न किया है और जो (युष्माकम्) अहंकारादिसे युक्त अहंप्रत्यययुक्त जीवोंके अन्तरमें वास्तव (अन्यत्) अहंप्रत्ययसे अतिरिक्त जान्नेयोग्य ईश्वरतत्त्व (बभूव) हुआहै (तम्) उसको तुम (न) नहीं (विदाथ) जानते हो कारण कि (नीहारेण) कुहरसदृश अज्ञानसे (च) और (जल्प्याः) मैं देवता हूं मनुष्य हू यह मेरा गृह क्षेत्र है इत्यादि असत् जल्पनासे (प्रावृताः) आच्छादित हुए (असुतृपः) प्राणपोषक किसीप्रकारसे हो प्राणपोषण-की चिन्तामें लगे ईश्वरतत्त्वके न विचारनेवाले (उक्थशासः) परलोकके भोग प्राप्तहोनेको सकामयज्ञोंमें स्तुति करते वे प्राणी (चरन्ति) विचरते हैं, अर्थात् इस परलोकके भोगोंमें प्रवृत्तहुओंको तत्त्वज्ञान न होनेसे परमात्मज्ञान नहीं होता अज्ञान होनेसे यह जीव अपनेको नहीं जानता [ऋ० ८ । ३ । १७] ॥ ३१ ॥

भावार्थ–जिसने तुमको उत्पन्न किया है वह तुमसे विभिन्न है, किन्तु तुम्हारेही हृदयमें स्थित है तुम जो नीहार [अज्ञान] और जल्प्या [वृथाजल्पना] मैं प्रवृत्त

हो और असुतृप् [पुत्रपौत्रादिलाभसे तृप्त] और उक्थशास [स्वर्गफल-लाभमात्रके निमित्त यज्ञानुष्ठान] करते विचरण करते हो इसीकारण उसका तत्त्व अवगत नहीं होता वह निष्काम कर्म और तत्त्वविचारसे ध्यानमें आता है ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२-मन्त्र १ ।

विश्वकर्म्मा ह्यजनिष्ट देवऽआदिद्गन्धर्वोऽअभवद्द्वितीयः ॥ तृतीयः पिता जनितौषधीनामपां गर्भं व्यदधात्पुरुत्रा ॥ ३२ ॥ [८]

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्वकर्मेत्यस्य भुवनपुत्रो विश्वकर्म ऋषिः । ब्राह्म्युष्णिक्छं० । विश्वकर्मा देवता । वि० पू० ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ-ब्रह्माण्डके मध्यगतोंकी सृष्टि कहते हैं, ब्रह्माण्डके बीचमें प्रथम (विश्वकर्मा) देवातिर्यगादि जगत्का भेद करनेवाला सत्यलोकवासी चतुर्मुख (देवः) देव (अजनिष्ट) प्रादुर्भूत हुआ अर्थात् आदित्यके अन्तर पुरुष-रूपसे प्रगट हुआ (आत् इत्) अनन्तर (द्वितीयः) दूसरी सृष्टिमें (गन्धर्वः) गन्धर्व पृथ्वीको धारण करनेवाला अग्नि अथवा गानविद्याचतुर देवयोनि (अभवत्) प्रगट हुआ "अथो एवाहुरग्निरेवास्यै पृथिव्यै पृष्ठे सर्वः कृत्स्नो मन्यमानोऽगायत्" इत्यादिश्रुतेः । (तृतीयः) तीसरा (ओषधीनाम्) ओषधियोंका (जनिता) उत्पादक (पिता) पालक पर्जन्यरूप हुआ वह पर्जन्य उत्पन्न होतेही आहुतिके परिणामभूत (अपाम्) जलोंको (गर्भम्) गर्भको (पुरुत्रा) बहुत प्रकारसे वा रक्षासे (व्यदधात्) धारण करता हुआ ॥ ३२ ॥ [८]

भावार्थ-विश्वकर्माने प्रथम देवगणकी सृष्टि की गन्धर्वगण उसकी दूसरी सृष्टि है ओषधिसमूहके उत्पन्न और पालनकरनेवाले पर्जन्य उनकी तीसरी सृष्टि है फिर यह पर्जन्यगण अनेक स्थलमें गर्भधारण करनेलगे ॥ ३२ ॥

[वैश्यकर्म होम समाप्त]

कण्डिका ३३-मंत्र १ ।

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् ॥ सङ्क्रन्दनोऽनिमिषऽएकवीरः शतꣳ सेनाऽअजयत्साकमिन्द्रः ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आशुरित्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । जपे विनियोगः ॥ ३३ ॥

विधि-(१) अग्निचयनके अनन्तर आहवनीय वेदीमें इध्म सन्दीपित करके चितिस्थलमें लाकर ब्रह्मा इन बारह मंत्रके अप्रतिरथ सूक्तका पाठकर दक्षिण ओरको गमन करै [का० ११ । १ । ९-१०] मंत्रार्थ-(आशुः) शीघ्रगामी (शिशानः) वज्रतीक्ष्णकारी (वृषभः) वर्षणशीलकी (न) उपमावाला (भीमः) भयकारी (घनाघनः) शत्रुओंका अतिशय घातक वा वृष्टिकरनेमें मेघरूप (चर्षणीनाम्) मनुष्योंके (क्षोभणः) क्षोभका हेतु (संक्रन्दनः) बारंबार गर्जन करनेवाला वा शत्रुओंका आह्वान करनेवाला (अनिमिषः) देवता होनेसे पलक न लगानेवाला अत्यन्त सावधान वा निरन्तर जाग्रत् वा ऊपर २ विद्युत्प्रकाशयुक्त (एकवीरः) एक अद्वितीयवीर (इन्द्रः) इन्द्रनामसे प्रसिद्धने (साकम्) साथही एक (शतम्) सो सो (सेनाः) शत्रुसेनाको (अजयत्) जयकियाहै "इस मंत्रके विशेषण अवतारोंमेंभी घटतेहैं" [ऋ० ८ । ६ । २२] ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मंत्र १ ।

सुङ्क्रन्दनेनानिमिषेणजिष्णुनायुत्कारेणदुश्च्यवनेनधृष्णुना ॥ तदिन्द्रेणजयततत्सहद्ध्वंयुधोनरऽइषुहस्तेनवृष्णा ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ संक्रन्दनेनेत्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । विराड्ब्राह्म्यनुष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ-(युधः) हे युद्ध करनेवाले ! (नरः) मनुष्यो ! (धृष्णुना) प्रगल्भ भयरहित (संक्रन्दनेन) शब्द करनेवाले (युत्कारेण) बहुत युद्ध करनेवाले (अनिमिषेण) एकचित्त (इषुहस्तेन) हाथमें बाण धारण किये (जिष्णुना) जयशील (दुश्च्यवनेन) अजय्य (वृष्णा) कामनाओंके वर्षानेवाले (इन्द्रेण) इन्द्रके प्रभावसे (तत्) उस शत्रुसेनाका (जयत) जय करो और (तत्) उस सेनाको वशी करके (सहध्वम्) विनाश करो [ऋ० ८ । ५ । २२] ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५-मंत्र १ ।

सऽइषुहस्तैःसनिषङ्गिभिर्वशीसᳬस्रष्टासयुधऽइ

न्द्रोगुणेनं ॥ सृꣳसृष्टजित्सोमपाबाहुशर्द्ध्युग्रधन्वाप्रतिहिताभिरस्ता ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि-(१) स इषुहस्तैरित्यस्य अप्रतिरथ ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । इन्द्रो दे० । वि पू० ॥ ३५ ॥

मंत्रार्थ-(सः) वह (वशी) जितेन्द्रिय वा शत्रुओंको वश करनेवाला अथवा मनोहर सब जनोंका प्रिय अथवा स्वतंत्र वा शत्रुओंका ऐश्वर्य ग्रहण करनेवाला वा ईश्वर (इषुहस्तैः) बाण हाथमें लिये (निषङ्गिभिः)धनुषधारियोंसे (संस्रष्टा) युद्धके निमित्त संसर्ग करनेवाला (सः) वह (गणेन) शत्रुसमूहोंसे (युधः) युद्ध करनेवाला है (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र (संसृष्टजित्) युद्धके निमित्त संगत हुए शत्रुओंका जीतनेवाला (सोमपाः) यजमानोंके यज्ञमें सोमपान करनेवाला (बाहुशर्धी) बाहुओंके बलसे युक्त "शर्ध इति बलनाम" [निघं० २ । ९ । ७] (उग्रधन्वा) उत्कृष्ट धनुषवाला (प्रतिहिताभिः) अपने धनुषसे प्रेरित बाणोंको (अस्ता) शत्रुओंपर चलता है, वह इन्द्र हमारी रक्षा करै [ऋ० ८ । ५ । २२] ॥ ३५ ॥

विवरण-वीर पुरुषोंको उचित है कि, युद्ध करनेको जायँ तो इन्द्रसे प्रार्थना करैं उसके गुण अपनेमें प्रार्थना करैं ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६-मंत्र १ ।

बृहस्पतेपरिदीयारथेनरक्षोहामित्राँ२ऽ अपबाधमानः ॥ प्प्रभञ्जन्त्सेनाःप्प्रमृणोयुधाजयन्नस्माकमेद्ध्यविताथानाम् ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ बृहस्पत इत्यस्याप्रतिरथ ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । बृहस्पतिर्देवता । वि० पू० ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ-(बृहस्पते) "वाग्वै बृहती" वाणीके पति व्याकरणकर्ता होनेसे इन्द्रका नाम बृहस्पति है अथवा उनके पुरोहित बृहस्पतिका संबोधन है हे बृहस्पते ! तुम (रक्षोहा) राक्षसों वा विघ्नोंके नष्ट करनेवाले हो (रथेन) रथके द्वारा (परिदीया) सब ओर गमन करते (अमित्रान्) शत्रुओंको (अपबाधमानः) पीडा देतेहुए (सेनाः) शत्रुओंकी सेनाको (प्रभञ्जन्) अतिशय पीडा करते

हुए (युधा) युद्धसे (प्रमृणः) हिंसाकारियोंको (जयन्) जय करते हुए (अस्माकम्) हमारे (रथानाम्) रथोंके (अविता) रक्षक (एधि) हो [ऋ० ८।५।२२] ॥३६॥

कण्डिका ३७–मंत्र १ ।

बलविज्ञायस्स्थविरंऽप्रवीरंऽसहस्वान्वाजीसहमा नऽउग्रः ॥ अभिवीरोऽअभिसत्त्वासहोजाजैत्र मिन्द्ररथमातिष्ठगोवित् ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ बलविज्ञाय इत्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ–(इन्द्र) हे इन्द्र ! तुम (बलविज्ञायः) दूसरोंका बल जान्नेवाले (स्थविरः) पुरातन सबके अनुशासन करनेवाले (प्रवीरः) अतिशय शूर (सहस्वान्) महाबलिष्ठ (वाजी) अन्नवान् (उग्रः) युद्धमें क्रूर (अभिवीरः) सब ओर वीरोंसे युक्त (अभिसत्त्वा) सब ओर परिचारिकोंसे युक्त (सहोजाः) बलसेही उत्पन्न (गोवित्) स्तुतिको जान्नेवाले (सहमानः) शत्रुओंके तिरस्कारकर्ता हो (जैत्रम्) अपने जयशील (रथम्) रथमें (आतिष्ठ) आरोहण करो [ऋ० ८ । ५ । २२] ॥ ३७ ॥

कण्डिका ३८–मंत्र १ ।

गोत्रभिदङ्गोविदंवज्रबाहञ्जयन्तमज्मम्प्रमृणन्त मोजसा ॥ इमᳬसजाताऽअनुवीरयद्ध्वमिन्द्रᳬस खायोऽअनसᳬरभद्ध्वम् ॥ ३८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ गोत्रभिदमित्यस्य अप्रतिरथ ऋषिः । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रो देव० । वि० पू० ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ–(सजाताः) हे समान जन्मवाले ! (सखायः) देवताओ ! (इमम्) इस (गोत्रभिदम्) असुरकुलके नाशक वा मेघके भेदन करनेवाले (गोविदम्) वदवाणकि ज्ञाता पंडित (वज्रबाहुम्) हाथमें वज्र धारण करनेवाले (अज्म जयन्तम्) संग्रामके जीतनेवाले "अज्मेति युद्धनाम" [निघं० २ । १७ । ४३] (ओजसा) बलसे (प्रमृणन्तम्) शत्रुओंको मारनेवाले (इन्द्रम्) इन्द्रको (अनु-

वीरयध्वम्) वीरकर्मका उत्साह दिखाओ (अनुसंरभध्वम्) और इस वेग करने वालेके उपरान्त तुम वेग करो [ऋ० ८ । ५ । २२] ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मन्त्र १ ।

अभिगोत्राणिसहसागाहमानोदयोवीरःशतमन्यु रिन्द्रः ॥ दुश्च्यवनःपृतनाषाडयुध्योस्माकꣳ सेनाऽअवतुप्रयुत्सु ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अभिगोत्राणीत्यस्य अप्रतिरथ ऋषिः । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ-(अदयः) शत्रुओंपर दयारहित (वीरः) विक्रान्त (शतमन्युः) अनेक प्रकारके क्रोधयुक्त वा शतयज्ञकर्ता (दुश्च्यवनः) जिसको कोई च्यावित न कर सके अजेय (पृतनाषाट्) संग्राममें सेनाको सहकर तिरस्कार करनेवाला (अयुधः) जिसके संग कोई युद्ध नहीं कर सकता सो (इन्द्रः) इन्द्र (युत्सु) युद्धोंमें (गोत्राणि) असुरकुलोंको वा मेघवृन्दोंको (सहसा) एक साथही (अभिगाहमानः) विलोडित करताहुआ (अस्माकम्) हमारी (सेनाः) सेनाको (प्रावतु) रक्षा करै ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०-मंत्र १ ।

इन्द्रऽआसान्नेताबृहस्पतिर्दक्षिणायज्ञःपुरऽएतुसोमः ॥ देवसेनानामभिभञ्जतीनाञ्जयन्तीनाम्मरुतोयन्त्वग्रम् ॥ ४० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्र इत्यस्य अप्रतिरथ ऋषिः । ब्राह्म्युष्णिक्छं० । इन्द्रादयो देवताः । वि० पू० ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ-(बृहस्पतिः) बृहस्पति (इन्द्रः) इन्द्र (आसाम्) इन (अभिभञ्जतीनाम्) शत्रुओंको मर्दन करनेवाली (जयन्तीनाम्) विजयशील (देवसेनानाम्) देवसेनाओंके (नेता) शिक्षक वा पालक हैं (यज्ञः) यज्ञपुरुष विष्णु वा यज्ञ (सोमः) सोम (दक्षिणा) दक्षिण (पुरः) आगे (एतु) गमन करैं (मरुतः) गण देवता (अग्रम्) सेनाके अग्रभागमें (यन्तु) गमन करैं अथवा विष्णु दक्षिण

ओरसे रक्षाको गमन करै वा यज्ञ सोम दक्षिणाका फल जयको प्राप्त करैं, यही प्रकार सेना चलानेका है [ऋ० ८। ९। २३] ॥ ४० ॥

कण्डिका ४१-मंत्र १।

इन्द्रस्यवृष्णोवरुणस्यराज्ञऽआदित्यानाम्मरुताᳬंशर्द्धऽउग्ग्रम् ॥ महामनसाम्भुवनच्च्यवानाङ्घोषोदेवानाञ्जयतामुदस्त्थात् ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रस्येत्यस्य अप्रतिरथ ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । इन्द्रादयो देवताः । वि० पू० ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ-(महामनसाम्) महामन अर्थात् युद्धमें स्थिरचित्त (भुवनच्यवानाम्) लोकनाशकी सामर्थ्यवाले (जयताम्) जयशील (देवानाम्) देवता (आदित्यानाम्) वारह आदित्य (उरुताम्) मरुद्गणों और (वृष्णः) कामनाकी वर्षा करनेवाले (इन्द्रस्य) इन्द्र और (राज्ञः) राजा (वरुणस्य) वरुणका (उग्रम्) उत्कृष्ट (शर्धः) वल अर्थात् गज तुरंग रथ पैदलोंकी सेनाका (घोषः) देवदलकी जय देवदलकी जय यह शब्द (उदस्थात्) सम्यक् प्रकारसे हुआ अर्थात् देवताओंकी वलप्रकाशक उग्र वज्रध्वनि सर्वदा समुत्थित होती है [ऋ० ८। ५। २३] ॥ ४१ ॥

कण्डिका ४२-मंत्र १।

उद्धर्षयमघवन्नायुधान्युत्सत्त्वनाम्मामकानाम्मनाᳬंसि ॥ उद्वृत्रहन्वाजिनांवाजिनान्युद्रथानाञ्जयतांय्यन्तुघोषाः ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उद्धर्षयेत्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । ब्राह्म्युष्णिक्छं० । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ-(मघवन्) हे इन्द्र ! (आयुधानि) अपने आयुधोंको (उद्धर्षय) भली प्रकार तीक्ष्णतापूर्वक हर्षित करो (मामकानाम्) हमारे (सत्त्वनाम्) जीवोंके वीरोंके (मनाᳬंसि) मन (उत्) हर्षित करो (वाजिनाम्) घोडोंके (वाजिनानि) शीघ्रगमनको (उत्) उत्कृष्टतायुक्त करो (वृत्रहन्) हे इन्द्र !

(जयताम्)जयशील (रथानाम्) रथोंके (घोषाः)'शब्द (उद्यन्तु) फैल अर्थात् विजयीरथकी हर्षध्वनि प्रकाशित हो [ऋ० ८ । ५ । २३] ॥ ४२ ॥

कण्डिका ४३-मंत्र १ ।

अुस्माकुमिन्द्रुꣳसम्भृतेषुध्वुजेष्ष्वुस्माकुंय्याऽइषवुस्त्ताजंयन्तु ॥ अुस्माकंवीराऽउत्तरेभवन्त्त्वुस्म्माँ२ऽउंदेवाऽअवताहवेषु ॥ ४३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अस्माकमित्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रादयो देवताः । वि० पू० ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ-(ध्वजेषु) ध्वजाओंके (संभृतेषु) मिलनेमें अर्थात् जिस समय हमारी रणपताका शत्रुओंकी रणपताकाओंसे सम्मिलित हों उस समय (इन्द्रः) इन्द्र (अस्माकम्) हमारी रक्षाकरै और (अस्माकम्) हमारे (याः) जो (इषवः) वाण हैं (ताः) वे (जयन्तु) प्रयोग करनेम शत्रुसेनाको ताडनकरके जय प्राप्त करें (अस्माकम्) हमारे (वीराः) शूर (उत्तरे) शत्रुके योधाओंसे उत्कृष्ट (भवन्तु) हों (उ) और (देवाः) देवता (आहवेषु) संग्रामोंमें (अस्मान्) हमको (अवत) रक्षाकरैं [ऋ० ८ । ५ । २३] ॥ ४३ ॥

कण्डिका ४४-मंत्र १ ।

अुमीषांञ्चित्तम्प्रतिलोभयन्तीगृहाणाङ्गान्न्यप्प्वेपरेहि ॥ अुभिप्प्रेहिनिर्द्दहहृत्त्सुशोकैरन्धेनामित्त्रास्तमसासचन्ताम् ॥ ४४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अमीषामित्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । ब्राह्म्युष्णिक्छन्दः । इन्द्रसेना देवता । वि० पू० ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ-(अप्वे)हे व्याधि "व्याधियां भयकारणहैं कारण कि उससे विद्ध होकर यह प्राणी क्षीण होता है अथवा "एन्द्र्य[illegible]पा द्वादश भवन्ति" इति श्रुतेः[९।२।३। ६] इसके अनुसार यह इन्द्रकी [illegible]न्धिनी है" हे शत्रुओंके प्राणोंको कष्ट देनेवाली (अमीषाम्) इन शत्रुओंके चित्तम्) चित्तको (प्रतिलोभयन्ती) मोहित करतीहुई (अङ्गानि) शत्रुओंके [illegible]रोंको (गृहाण) ग्रहण करती हुई

(परेहि) दूर चली जा (अभिप्रेहि) सब ओरसे दूसरे शत्रुओंको ग्रहण करके चलो (हत्सु) उनके हृदयोंको (शोकैः) धन पुत्र नाशादिके निमित्तसे (निर्दह) दग्ध करो (अमित्राः) हमारे शत्रु (अन्धेन) गाढ(तमसा) अहंकारसे (सचन्ताम्) संगतिको प्राप्त हों [ऋ० ८ । ९ । २३ ।] ॥ ४४ ॥

[द्वादशैन्द्र्यः समाप्ताः]

विशेष–इन वारह मंत्रोंमें परत्माने यह उपदेश किया है कि सेना सेनापति शूरवीर इस प्रकारके गुणयुक्त एकचित्त परस्पर सहायकारी होने चाहियें, और इन्द्ररूप परमात्माकी प्रार्थनाकर शत्रुओंपर चढाई करनेसे धर्मसे विजय प्राप्त होगी, तथा सब देवताओंकी तृप्ति साधनकर विजयको गमन करैं, अध्यात्मपक्षमें काम क्रोध लोभ मोहही शत्रु हैं इन्हींका जय करना है, अप्वा कोई व्याधिकी अधिष्ठात्री देवता है ॥ ४४ ॥

कण्डिका ४५–मन्त्र १ ।

अव॑सृष्टा॒ परा॑पत॒ शर॑व्ये॒ ब्रह्म॑सꣳशिते ॥ गच्छा॒मित्रा॒न्प्र प॑द्यस्व॒ मामीषां॒ कं च॒नोच्छि॑षः ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अवसृष्टेत्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । आर्ष्यनुष्टुप्छन्दः । इषुर्दे० । इषुप्रयोगे वि० ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ–(ब्रह्मसꣳशिते) ब्रह्ममंत्रसे तीक्ष्ण किये हुए (शरव्ये) हे वाणरूप ब्रह्मास्त्र ! तुम हमसे (अवसृष्टा) छोडे हुए (परापत) एक साथ शत्रुसेनापर गिरो गिरकर (अमित्रान्) शत्रुओंको (गच्छ) प्राप्तकरो (प्रपद्यस्व) और शत्रुओंके शरीरमें प्रवेश करके (अमीषाम्) इनमें (कञ्चन) किसीकोभी (मा) मत (उच्छिषः) छोडो [ऋ०५ । १ । २२] ॥ ४५ ॥

विशेष–४५ से ४८ तक चार कण्डिकाका विनियोग कात्यायन महर्षिने विशेष रूपसे नहीं लिखा, परन्तु अर्थके अनुसार विदित होता है कि प्रथम शरप्रयोग दूसरेसे योधागणोंकी उत्तेजित करना, तीसरेसे सेनानायक गणको उत्तेजित करना और चौथे मंत्रसे ईश्वरके निकट जयकी प्रार्थना करना है ॥ ४९ ॥

कण्डिका ४६–मन्त्र १ ।

प्रेता॒ जय॑ता नर॒ इन्द्रो॑ वः॒ शर्म॑ यच्छतु ॥ उ॒ग्रा वः॑ सन्तु बा॒हवो॑ऽनाधृ॒ष्या यथास॑थ ॥ ४६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रेतेत्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । विराडार्ष्यनुष्टुप्छं० । योधा देवताः । वीरोत्तेजने वि० ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ-(नरः) हे हमारे योधा मनुष्यो ! (प्रेत) शत्रुओंकी सेनापर शीघ्रतासे जाओ और (जयत) विजय प्राप्त करो अवश्य जय होगी (इन्द्रः) इन्द्र (वः) तुमको (शर्म्म) जयसे प्राप्त हुए सुखको (यच्छतु) प्रदान करो (वः) तुम्हारी (बाहवः) भुजायें (उग्राः) उद्गूर्णायुधवाली हृष्ट पुष्ट (सन्तु) हों (यथा) जिस्से तुम (अनाधृष्याः) किसीसे भी तिरस्कार न पानेवाले (असथ) हों ॥ ४६ ॥

कण्डिका ४७-मन्त्र १ ।

असौयासेनामरुतुःपरेषामुभ्भ्येतिनऽओजसा स्प्पर्द्धमाना ॥ ताङ्गूहततमसापंव्रतेनयथामीऽअ न्योऽअन्न्यन्नजानन् ॥ ४७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ असौयेत्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । मरुतो देवताः । सेनोत्तेजने वि० ॥ ४७ ॥

मंत्रार्थ-(मरुतः) हे मरुतो ! वा हे सेनानायकगण ! (या) जो (असौ) यह (परेषाम्) शत्रुओंकी (सेना) सेना (ओजसा) बलसे (स्पर्धमाना) स्पर्धा करती हुई (नः) हमारे (आ-अभ्यैति) सन्मुख आगमन करती है (ताम्) उस सेनाको (अपव्रतेन) कर्मरहित (तमसा) अन्धकारसे इस प्रकार (गूहत) आच्छादित करो (यथा) जिस प्रकार (अमी) यह शत्रु सेनाके लोग (अन्योन्यम्) परस्पर (न) नहीं (जानन्) जान्ते हुए परस्पर अस्त्र चलाकर नष्ट हों ॥ ४७ ॥

कण्डिका ४८-मन्त्र १ ।

यत्रबाणाःसम्पतन्तिकुमाराविशिखाऽइव ॥ तन्नऽ इन्द्रोबृहस्प्पतिरदितिःशर्म्मयच्छतुविश्श्वाहाश र्म्मयच्छतु ॥ ४८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यत्रेत्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । पंक्तिश्छं० । इन्द्र बृहस्पत्यदितयो देवताः । प्रार्थने वि० ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ-(यत्र) जिस रणक्षेत्रमें वीरगणोंके छोडे हुए (बाणाः) बाण (सम्पतन्ति) इधर उधर गिरते हैं (इव) जिस प्रकार (विशिखाः) शिखारहित वा लटूरियों बालवाले (कुमाराः) छोटे बालक चपलताके कारण इधर उधर फिरते हैं (तत्) उस युद्धमें (बृहस्पतिः) बृहस्पति देवता अथवा मंत्रोंका पालक विजयके उचित मंत्रोंकी जान्नेवाली (अदितिः) देवमाता अथवा अखण्डितशक्ति (इन्द्रः) इन्द्र (नः) हमको (शर्म) कल्याण (यच्छतु) प्रदान करै (विश्वाहा) वह सम्पूर्ण शत्रुओंको मारनेवाला (शर्म) कल्याण (यच्छतु) प्रदान करै [ऋ० ५ । १ । २२] ॥ ४८ ॥

कण्डिका ४९-मन्त्र १ ।

मर्म्माणितेवर्म्मणाच्छादयामिसोमस्त्वाराजामृतेनानुवस्ताम् ॥ उरोर्वरीयोवरुणस्तेकृणोतुजयन्तन्त्वानुदेवामदन्तु ॥ ४९ ॥ [१७]

ऋष्यादि-(१) ॐ मर्म्माणीत्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । सोमवरुणौ देवते । कवचप्रयच्छने वि० ॥ ४९ ॥

विधि-(१) महाव्रत यज्ञमें इस मंत्रसे पुरोहित. राजाको वा सेनापतिको कवच धारण करावै [का० १३ । ३ । १०] मन्त्रार्थ-हे यजमान ! (ते) तुम्हारे (मर्माणि) मर्मस्थान (वर्म्मणा) कवचसे (छादयामि) आच्छादित करताहू (राजा) ब्राह्मणादिका अधिपति (सोमः) सोम (अमृतेन) मरण-निवारक वर्मसे (त्वा) तुमको (अनुवस्ताम्) आच्छादन करै और (वरुणः) वरुण देवता (ते) तुम्हारे कवचको (उरोः) पृथु (वरीयः) बडेसे बडा (कृणोतु) करै अर्थात् वरुण तुम्हारा हृदय सुदृढ करै (देवाः) और दूसरे देवता (जयन्तम्) विजय प्राप्त करते हुए (त्वा) तुमको (अनुमदन्तु) अनुमोदन करैं, अर्थात् समुत्साहित करैं [ऋ० ९ । १ । २२] ॥ ४९ ॥ [१७]

कण्डिका ५०-मंत्र १. अनु० ६ ।

उदेनमुत्तरान्नयाग्ग्नेघृतेनाहुत ॥ रायस्प्पोषेणसꣳसृजप्प्रजयाचबहुङ्कृधि ॥ ५० ॥ शतम् १०० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उदेनमित्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । उदुम्बरसमिद्धोमे वि० ॥ ५० ॥

विधि-(१) गीली और रात्रिको घीमें रक्खी हुई उदुम्बर गूलर वृक्षकी तीन समिधाओंको तीन ऋचासे शालाद्वार्य अग्निमें होम करै [का० १८ । ३ । १४] मन्त्रार्थ-(घृतेनाहुत) हे सब प्रकार घृतसे तृप्त (अग्ने) अग्निदेव ! (एनम्) इस यजमानको (उत्तराम्) मनकी वा ऐश्वर्यकी उत्कृष्टताको (नय) प्राप्त कराओ(उत) और (रायस्पोषेण) धनकी पुष्टिसे (सꣳसृज) प्राप्त कराओ वा संयुक्त करो (च) और (प्रजया) पुत्र पौत्रादिसे (बहून्) बहुत कुटुम्बी (कृधि) करो ॥ ५० ॥

कण्डिका ५१-मंत्र १।

इन्द्रेमम्प्रतरान्नयसजातानामसद्वशी ॥ समेनुवर्च्चसासृजदेवानाम्भागदाऽअसत ॥ ५१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रेममित्यस्य अप्रतिरथ ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । इन्द्रो दे० । वि० पू० ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ-(इन्द्र) हे इन्द्र ! (इमम्) इस यजमानको (प्रतराम्) बडे ऐश्वर्यको (नय) प्राप्त कराओ (सजातानाम्) समान जातियोंको (वशी) नियमन करनेमें (असत्) समर्थ हो (एनम्) इस यजमानको (वर्चसा) तेजसे (संसृज) संयुक्त करो यह (देवानाम्) देवताओंको (भागदाः) भाग देनेवाला (असत्) हो ॥ ५१ ॥

कण्डिका ५२-मंत्र १।

यस्यंकुर्म्मोगृहेहविस्तमग्ग्नेवर्द्धयात्वम् ॥ तस्म्मैदेवाऽअधिब्रुवन्नयञ्चब्रह्मणस्पतिः ॥ ५२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यस्येत्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । लिङ्गोक्ता देवताः । वि० पू० ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव ! हम (यस्य) जिस यजमानके (गृहे) घरमें (हविः) पुरोडाश प्रधान कर्म हवि (कुर्मः) करतेहैं हे अग्ने ! (तम्) उस यजमानको (त्वम्) तुम (वर्धय) बढाओ (देवाः) देवता (तस्मै) उस यजमानको (अधिब्रुवन्) अधिक कहैं अर्थात् यह सबसे अधिक है ऐसा कहैं (अयम्) यह यजमान

(ब्रह्मणः) वैदिक कर्मका (पतिः) पालक (च) हो अर्थात् यह वैदिककार्यमें यशोलाभ करे ॥ ५२ ॥

कण्डिका ५३–मंत्र १ ।

उदुत्त्वाविश्श्वेदेवाऽअग्ग्नेभरन्तुचित्तिभिः ॥ स नोभवशिवस्त्वꣳसुप्प्रतीकोविभावसुः ॥ ५३ ॥

ऋष्यादि–(१)ॐ उदुत्वेत्यस्य तापस ऋषिः । विराडनुष्टुप् छं०।अग्निर्देवता । समिदूर्ध्वोत्पाटने वि० ॥ ५३ ॥

विधि–(१) होतृद्वारा पूर्वोक्त तीन मंत्र तीनवार पढलेनेपर प्रतिप्रस्थाता यह मन्त्र पाठपूर्वक प्रज्वालित इध्म [जलती समिधा] शालाद्वारसे ग्रहणकर ऊपरको उठावे [का० १८ । ३ । १८] मंत्रार्थ–उदुत्वेति इसकी व्याख्या अ० १२ मं० ३१ में होगई. । हे अग्ने ! देवता तुमको चितिके भावसे ऊर्ध्व धारण करैं हे ऊर्ध्वायमाण अग्ने ! तुम विभावसुनामसे प्रसिद्ध हमको कल्याणकारी हो हमारे प्रति सुमुख हो ॥ ५३ ॥

कण्डिका ५४–मंत्र १ ।

पञ्चदिशोदेवीर्य्यज्ञमवन्तुदेवीरपामतिन्दुर्म्मतिम्बाधमानाः ॥ रायस्पोषेयज्ञपतिमाभजन्तीरायस्पोषेऽअधियज्ञोऽअस्थात् ॥ ५४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ पञ्चदिश इत्यस्य अप्रतिरथ ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । दिग्देवता । जपे विनि० ॥ ५४ ॥

विधि–(१) अनन्तर ब्रह्मा होता अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता और यजमान यह पांच कण्डिकात्मक पांच मंत्र पाठ करते २ चितिस्थानमें गमन करैं [का० १८ । ३ । १८] "सब मन्त्र पाठ करैं यह कर्काचार्य कहते हैं. वा अध्वर्यु पढै यह हरस्वामी कहते हैं" मन्त्रार्थ–(देवीः) इन्द्र यम वरुण सोम और ब्रह्मासे सम्बन्ध रखनेवाली (पञ्च) पांच पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण और मध्य (देवीः) दिव्यगुणवाली (दिशः) दिशा (अमतिम्) हमारी बुद्धिकी मन्दताको (दुर्मतिम्) पापविषयक बुद्धिको (अपबाधमानाः) विनाश करती हुई (रायस्पोषे) धनकी पुष्टिमें (यज्ञपतिम्) यज्ञपालक यजमानको (आभजन्तीः) भागी करती हुई (यज्ञम्) हमारे यज्ञको (अवन्तु) रक्षा करैं (यज्ञः) हमारा यज्ञ

(रायः) धनकी (पोषे) पुष्टिमें (अधि) अधिक (अस्यात) समृद्धिको प्राप्त हो ॥ ५४ ॥

कण्डिका ५५-मंत्र १ ।

समिद्धेऽअग्नावधि मामहानऽउक्थपत्रऽईड्यो गृभीतः॥ तप्तङ्घर्म्मम्परिगृह्यायजन्तोर्ज्जायद्यज्ञमयजन्तदेवाः॥ ५५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ समिद्ध इत्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ-(देवाः) ब्रह्मत्व होता अध्वर्य्वादि कर्मप्रचारके ऋत्विग्गण (यत्) जिस समय (तप्तम्) अतितप्ते (घर्मम्) प्रवर्ग्य [३९ अध्यायमें इसका वर्णन होगा] को (परिगृह्य) ग्रहण करके (यज्ञम्) यज्ञको (अयजन्त) यजन करते हैं (ऊर्जा) और जब हविर्लक्षण अन्नद्वारा (अयजन्त) यजन करते हैं तब (ईड्यः) स्तुतियोग्य (उक्थपत्रः) उक्थ शस्त्रवाला यज्ञ (गृभीतः) धारित होता है "गृभीत इति धारित इत्येतत्" इति श्रुतेः [९ । २ । ३ । ९] (मामहानः) अति देवताओंका पूजक यजमान (अग्नौ) अग्निके (समिद्धे) प्रज्वलित होनेपर (अधि) तेजस्वी होता है "यजमानो वै मामहानः" इति [९ । २ । २ । ९] श्रुतेः ॥ ५५ ॥

भावार्थ-जिस समय देवता अतितप्त घर्मग्रहणपूर्वक अग्निकी अर्चना करते हैं अथवा हविप्रदान करते हैं, उस समय अग्नि सम्यक् प्रदीप्त होताहै, अतिशय महान् यजमानके दीक्षालब्ध और उक्थशस्त्रादिद्वारा निर्वाहयोग्य यह यज्ञ अवश्यही स्तुतिका पात्र होता है ॥ ५५ ॥

कण्डिका५६-मन्त्र १ ।

दैव्यायधर्त्रेजोष्ट्रेदेवश्रीः श्रीमनाः शतपयाः परिगृह्यदेवायज्ञमायन्देवादेवेभ्योऽअध्वर्य्यन्तोऽअस्थुः॥ ५६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दैव्यायेत्यस्य अप्रतिरथ ऋषिः । बृहती छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ-(देवश्रीः) हविर्दानसे देवताओंका सेवन करनेवाला (श्रीमनाः) शुभान्तःकरणवाला, यजमानोंमें मन रखनेवाला वा भक्तोंको धनदानके निमित्त मन करनेवाला अथवा जिसके मनमें श्री है (शतपयाः) दही दूध मधु प्रभृति बहुत प्रकार सामग्रीका आधार यज्ञ (देव्याय) देवगणके हितकारी (धर्त्रे) दुग्धादिसे वा पर्जन्यादिद्वारा भूमण्डलके रक्षक वा यज्ञद्वारा जगतका रक्षक (जोषते) प्रीतिपद हमारी दीहुई हविके सेवन करनेवाले अग्निके निमित्त होता है, अर्थात् यह यज्ञ अग्नि देवताकी प्रीतिके निमित्त अनुष्ठित हुआ है (देवाः) देवता 'ऋत्विज' इस प्रकारकी यज्ञ अग्नि (परिगृह्य) ग्रहण करके (यज्ञम्) यज्ञके प्रति अर्थात् चितिस्थानमें (आयन्) प्राप्त होते हैं और (देवाः) दीप्यमान ऋत्विज (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (अध्वर्यन्तः) अर्चन करनेकी वासनासे वा यज्ञ करनेकी इच्छा करते (अस्थुः) स्थित होते हैं ॥ ५६ ॥

कण्डिका ५७-मंत्र १ ।

वीतꣳ हविः शमितꣳ शमिता यजध्यै तुरीयो यज्ञो यत्र हव्यमेति ॥ ततो वाका ऽआशिषो नो जुषन्ताम् ॥ ५७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वीतमित्यस्य अप्रतिरथ ऋषिः । बृहती छन्दः । हविर्यज्ञो देवता । वि० पू० ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ-(तुरीयः) चौथा (यज्ञः) यज्ञ (यत्र) जिस कालमें (हव्यम्) हवनकरने योग्य (वीतम्) देवताओंके प्रिय "इष्टꣳस्विष्टमित्येतत्" इति [९ । २ । ३ । ११] श्रुतेः (शमिता) भलीप्रकार शान्त (यजध्यै) यज्ञकरनेको (शमितम्) संस्कार कियाहुआ (हविः) हविको (एति) प्राप्तहोताहै (ततः) उस समय यज्ञसे उठेहुए (आशिषः) अभीष्ट अर्थके कहनेवाले (वाकाः) ऋक्यजुः सामलक्षणवाले वाक्य (नः) हमको (जुषन्ताम्) सेवनकरैं ॥ ५७ ॥

विवरण-यज्ञ चार प्रकारमें विभक्त है, प्रथम अध्वर्युद्वारा आश्रवण दूसरा आग्नीध्रद्वारा प्रत्याश्रावण, तीसरा यजनकरो ऐसा अध्वर्युद्वारा प्रेष, अथवा ब्रह्माद्वारा अप्रतिरथजप, अनन्तर होताद्वारा होम, सो होमकोही तुरीय यज्ञ कहा जाता है, अथवा प्रथम यजुका जप फिर होताद्वारा ऋचाओंका पढना ब्रह्माद्वारा अप्रतिरथजप और चौथा होम ॥ ५७ ॥

प्रमाण-"अध्वर्युः पुरस्ताद्यजूꣳषि जपति होता पश्चादृचोऽन्वाह ब्रह्मा दक्षिणतोऽप्रतिरथं जपत्येष तुरीयो यज्ञः" इति [९ । २ । ३ । ११ ।] श्रुतेः ॥ ५७ ॥

भावार्थ-यह तुरीय यज्ञ जिस समय देवगणोंका अभीप्सित संस्कृत हवनीय हविके हवनमें प्रवृत्त होता है उस समय इस यज्ञसे कितने एक आशीर्वचन उच्चारित होकर हमको प्रीति करते हैं ॥ ५७ ॥

कण्डिका ५८-मंत्र १।

सूर्य्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरुदयाँ२ऽअजस्रम् ॥ तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्त्सम्पश्यन्विश्वा भुवनानि गोपाः ॥ ५८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सूर्यरश्मिरित्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । त्रिष्टुप्छंदः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ-(सूर्यरश्मिः) सूर्यवत् किरणवाली वा सूर्यही जिनकी रश्मी है (हरिकेशः) कनकवर्ण ज्वालारूपकेशवाली (सविता) प्राणियोंको अपने २ व्यापारमें प्रेरणा करनेवाली (ज्योतिः) ज्योतिरूप अग्नि (पुरस्तात्) पूर्व दिशासे (उदयान्) प्रगट होती है (गोपाः) इन्द्रिय वा धर्मरक्षक (विद्वान्) अपने अधिकार अहोरात्रकी प्रवृत्तिको जानता हुआ (पूषा) पोषणकारी सूर्य (तस्य) उस ब्रह्मज्योतिकी (प्रसवे) आज्ञामें वर्तमान हुआ (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) भुवनोंको (सम्पश्यन्) भलीप्रकार देखताहुआ (अजस्रम्) निरन्तर (याति) उदयास्तरूपसे गमनकरताहै [ऋ० ८ । ७ । २७] ॥ ५८ ॥

कण्डिका ५९-मन्त्र १।

विमानऽएष दिवो मध्यऽआस्तऽआपप्रिवान्रोदसीऽअन्तरिक्षम् ॥ स विश्वाचीरभिचष्टे घृताचीरन्तरा पूर्वमपरं च केतुम् ॥ ५९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विमान इत्यस्य विश्वावसुर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । आदित्यो देवता । पृश्न्युपधाने वि० ॥ ५९ ॥

विधि–(१) अध्वर्यु एतदादि दो कण्डिका पाठ करके आग्नीध्र गृहके दक्षिण ओर पृष्ठिमें संलग्न पृश्नि [चित्रवर्ण गोल प्रस्तरखण्ड] उपाधान करै [का० १८। ३। १९] **मंत्रार्थ**–(एषः) यह सूर्य (विमानः) जगतके निर्माणमें समर्थ (दिवः) द्युलोकके (मध्ये) मध्यमें (आस्ते) स्थित है (रोदसी) द्यावापृथिवी (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (अपप्रिवान्) सब प्रकार अपने तेजसे पूर्णकर रहा है (सः) इस प्रकारसे वह स्तुतिको प्राप्त होकर (विश्वाचीः) वेदी और (घृताचीः) स्रुवको (अभिचष्टे) देखता है अर्थात् यज्ञकर्ताओंके कर्म अनुग्रहपूर्वक देखता है और (पूर्वम्) इस लोक (अपरम्) दूसरे लोक (अन्तरा) मध्यलोकमें स्थित जनोंके (केतुम्) चित्त वा अभिप्रायको (च) भी देखता है ॥ ५९ ॥

विवरण–इस स्थलमें सूर्यरूपसे स्थापित प्रस्तरकी प्रार्थना की है, उसमेंही सूर्यका आवाहन किया है यह अश्माही आदित्यरूपसे द्युलोकके मध्यमें वर्तमान है "असौ वा आदित्योऽश्मा पृश्निरसुमेवैतदादित्यमुपदधाति" इति श्रुतेः [९।२।३।१४] आहवनीय द्युलोक है, गार्हपत्य भूलोक उनके मध्यमें आग्नीध्र अन्तरिक्ष स्थानीय है, सो मध्यस्थापित अश्मा दिवस्थानीय है, तथाच श्रुतिः "अन्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं चोपदधात्ययं वै लोको गार्हपत्यो द्यौराहवनीय एतं तादिमौ लोकावन्तरेण दधाति तस्मादेष इमौ लोकावन्तरेण तपति" [९।२।३।१४।१५] विश्वाची घृताचीमें प्रमाण "स विश्वाचीरभिचष्टे घृताचीरिति स्रुचश्चैतद्वेदीश्चाह" इति [९ । २ । ३ । १७] अथवा घृताची घृतप्राप्तिहेतुभूत धेनुको देखता है और ब्रह्माण्डके मध्यवर्ती बोधको कथन करता है विमानका अर्थ विश्वका मान करनेवाला भी है अथवा जो विमानरूपसे आकाशमें विचरता है इस कथनसे विमानविद्याकी प्राप्ति हो सूर्यके स्थानमें अश्माका स्थापन मूर्तिका पूजन बताता है ॥ ५९ ॥

कण्डिका ६०–मन्त्र १ ।

उक्षा स॑मु॒द्रोऽअ॑रु॒णः सु॑प॒र्णः पूर्व॑स्य॒ योनि॑म्पि॒तुरावि॑वेश ॥ मध्ये॑ दि॒वो निहि॑तुः पृश्नि॒रश्मा॒ विच॑क्रमे॒ रज॑सस्पा॒त्यन्तौ॑ ॥ ६० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ उक्षेत्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । आदित्यो देवता । वि० पू० ॥ ६० ॥

मंत्रार्थ-जो देवता (उक्षा) वृष्टिद्वारा सिंचन करता (समुद्रः) उदय समयमें नीहार 'ओस' गलन द्वारा क्लेदनकर्ता (अरुणः) उदयकालमें अरुणवर्ण (अश्मा) आकाशमें व्यापक (सुपर्णः) श्रेष्ठ गमनवाला (दिवः) द्युलोकके (मध्ये) मध्यमें (निहतः) स्थित (पृश्निः) चित्रवर्ण अनेक रश्मियोंसे व्याप्त (पूर्वस्य) पूर्व दिशामें स्थित (पितुः) द्युलोकके (योनिम्) स्थानमें (आविवेश) प्रवेश करता "द्यौः पिता" इत्युक्तेः द्युलोकका पूर्वभाग सूर्यका पिता कहाता है, कारण कि उदयकालमें वहांसे प्रगट होता है (विचक्रमे) आकाशमें क्रमण करता है (रजसः) रंजन लोक त्रिलोकीको (अन्तौ) सब ओरसे (पाति) रक्षा करता है अर्थात् जिस समय यह उदय होकर द्युलोकमें प्रवेश पूर्वक उड्डीयमान होकर क्रमसे द्युलोकके मध्यमें उपस्थित होता है, उस समय बोध होता है कि विश्वशिल्पीने इस विचित्र हीरकको ब्रह्माण्डगृहकी शोभाके निमित्त इस स्थानमें स्थापित किया है यह रूपक्रमसे भ्रमण करते २ द्युलोक भूलोक और अन्तरिक्ष लोकपर्यन्त तथा भूमिलोकपर्यन्त रक्षा करते हैं [ऋ० ४ । ३ । १] ॥ ६० ॥

अश्मापक्षमें-यागद्वारा फलका वर्षानेवाला, बहु फल देनेसे समुद्रसदृश, पूर्व मंत्रकथित सूर्यकी सदृश कहनेसे अरुण 'सुपर्णः' स्वर्गमें गमनका हेतु होनेसे पक्षिसदृश, यह 'पृश्निः' विचित्रवर्ण अश्मा 'पितुः' कर्मपालक पूर्वदिशावर्ती आहवनीयकी (योनिम्) कारणभूत आग्नीध्रमें प्रविष्ट हुआ और आग्नीध्रस्थानीय अन्तरिक्षके मध्यमें स्थापित रञ्जनीय जगतके अन्तमें उत्पत्ति प्रलयरूप दोनों कोटियोंको ईश्वरसे अधिष्ठित हो रक्षा करता है ॥ ६० ॥

कण्डिका ६१-मंत्र १ ।

इन्द्रुंविश्श्वाऽअवीवृधन्त्समुद्द्रव्यंचसुङ्गिरः॥रथीतमꣳरथीनांव्वाजानाꣳसत्त्पतिम्पतिम् ॥ ६१ ॥

विधि-(१) पृश्नि शिलाखण्डको किसी गुप्त स्थानमें गोपन कर यह चार कण्डिका पाठ करके सब चयनके प्रति गमन करै [का० १८ । ३ । २१] मंत्रार्थ-इन्द्रं विश्वेत्यस्य इसकी व्याख्या १२ । ५६ में होगई । जपे विनियोगः ॥ ६१ ॥

कण्डिका ६२-मंत्र १ ।

देवहूर्य्यज्ञऽआचवक्षत्सुम्म्नहूर्य्यज्ञऽआचवक्षत॥ यक्षदग्ग्निर्देवोदेवाँ२ऽआचवक्षत ॥ ६२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ देवहूरित्यस्य विधृतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । यज्ञो देवता । गमने वि० ॥ ६२ ॥

मन्त्रार्थ–(देवहूः) देवताओं आह्वान करनेवाला (यज्ञः) यज्ञ (आवक्षत्) देवताओंके निमित्त यज्ञीय हवि वहन करो (च) और (यक्षत्) यजन करो (सुम्नहूः) सम्पूर्ण सुखोंका आह्वान करनेवाला (यज्ञः) यज्ञ (आवक्षत्) देवताओंको हवि लेजाओ (च) और (देवः) देवता (अग्निः) अग्नि (देवान्) देवताओंको (आवक्षत्) बुलाओ (च) और यजन करो अर्थात् देवताओंको हवि ले जाओ ॥ ६२ ॥

कण्डिका ६३–मन्त्र १ ।

वाजस्यमा प्प्रसवऽउद्ग्ग्राभेणोदग्ग्रभीत ॥ अधा सुपत्त्नानिन्द्रोमेनिग्ग्राभेणाधराँ२ऽअकः ॥ ६३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ वाजस्येत्यस्य विधृतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ–(इन्द्रः) इन्द्र (वाजस्य) अन्नकी (प्रसवः) उत्पत्ति (उद्ग्राभेण) दानके द्वारा (मा) मुझको (उदग्रभीत्) अनुगृहीत करो (अधा) और (निग्राभेण) नीचोंके ग्रहण करनेसे वा मांगनेकी इच्छासे (मे) मेरे (सपत्नान्) शत्रुओंको (अधः) नीचा (अकः) करो अर्थात् मैं दाता और शत्रु मंगता हों ॥ ६३ ॥

भावार्थ–इन्द्र हमको प्रचुर अन्नदान करै, जिस्से हम क्लेशरहित ऊंचा हाथ होकर यथेष्ट दान करसकैं, और हमारे शत्रुओंको अधः करो, जिससे वे पटभरनेके अन्नके निमित्तभी द्वार द्वारमें भिक्षा करते हुए अपने जीवनको तिरस्कृत जानें ॥ ६३ ॥

कण्डिका ६४–मंत्र १ ।

उद्ग्ग्राभञ्चनिग्ग्राभञ्चब्रह्मदेवाऽअवीवृधन् ॥ अधासुपत्त्नानिन्द्राग्ग्नीमेविषूचीनान्व्यस्यताम् ॥ ६४ ॥ [१५]

ऋष्यादि–(१) ॐ उद्ग्राभमित्यस्य विधृतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । इन्द्राग्नी देवते । वि० पू० ॥ ६४ ॥

मंत्रार्थ-(देवाः) देवता हमारे निमित्त (उद्ग्राभम्) उत्कृष्टताकूं (च) और शत्रुविषयक (निग्राभम्) निकृष्टता (च) और (ब्रह्म) त्रिवेदलक्षणवाले यज्ञको (अवीवृधन्) वृद्धि दो (अधा) और (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि (मे) मेरे (सपत्नान्) शत्रुओंको (विषूचीनान्) अनेक गतिवाला करकै (व्यस्यताम्) विनाश करो ॥ ६४ ॥ [१५]

कण्डिका ६५-मन्त्र १ । अनु० ४ ।

क्रमंद्ध्वम॒ग्निना॒ नाक॒मुख्य॒ᳬं᳖ हस्ते॑षु॒ बिभ्र॑तः ॥
दि॒वस्पृ॒ष्ठᳬं᳖ स्व॑र्ग॒त्वा मि॒श्रा दे॒वेभि॑राद्ध्वम् ॥६५॥

ऋष्यादि-(१) ॐ क्रमध्वमित्यस्य विधृतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । चित्यारोहणे वि० ॥ ६५ ॥

विधि-(१) यहांसे पांच कण्डिका पाठ करके ऋत्विग्गण चितिपर आरोहण करै [का० १८ । ४ । १] **मंत्रार्थ**-हे ऋत्विग्गण ! (उख्यम्) उखा पात्रमें संस्कारकीहुई अग्निको (हस्तेषु) हाथोंमें (बिभ्रतः) धारणकरते हुए (अग्निना) अनेक चित्याग्निके साथ (नाकम्) स्वर्गलोकको (क्रमध्वम्) आक्रमणकरो तब (दिवः) अन्तरिक्षके (पृष्ठम्) ऊपर (स्वः) स्वर्गमें (गत्वा) गमन करके (देवेभिः) देवताओंके साथ (मिश्राः) संयुक्त होकर (आध्वम्) स्थित हो ॥ ६५ ॥

अर्थात् इसी चितिआरोहणके फलसे स्वर्गलोकमें स्थित होगे "स्वर्गो वै लोको नाकः" इति [९ । २ । ३ । २४] श्रुतेः ॥ ६५ ॥

कण्डिका ६६-मंत्र १ ।

प्राचीम॒नु॑ प्र॒दिश॒म्प्रेहि॑ वि॒द्वान॒ग्नेर॑ग्ने पु॒रोऽअ॑ग्निर्भवे॒ह ॥ विश्वा॒ऽआशा॒ दीद्या॑नो॒ वि भा॒ह्यूर्जं॑ नो धेहि द्वि॒पदे॒ चतु॑ष्पदे ॥ ६६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्राचीमित्यस्य विधृतिर्ऋषिः ! त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ६६ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे उखाग्ने ! (विद्वान्) अपने अधिकारको जानते हुए (प्राचीम्) पूर्व (प्रदिशम्) दिशाको (अनु) लक्ष्य करकै (प्रेहि) प्रकृष्टरूपसे

गमनं करो (इह) इस प्रदेशमें (अग्नेः) चितिरूप अग्निके (पुरः) आगेकी आग्नि (भव) हो तुम इस चित्याग्निके पुरोवर्ती हो (विश्वाः) सम्पूर्ण (आशाः) दिशा (दीद्यानः) प्रकाशित करते तुम (विभाहि) विशेष प्रदीप्त हो (नः) हमारे (द्विपदे) द्विपाये पुत्र पौत्रादि (चतुष्पदे) चौपाये गौआदिमें (ऊर्जम्) बलको (धेहि) स्थापन करो ॥ ६६ ॥

कण्डिका ६७–मंत्र १ ।

पृथिव्याऽअहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम् ॥ दिवोनाकस्यपृष्ठात्स्वर्ज्योतिरगामहम्॥ ६७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ पृथिव्या इत्यस्य विधृतिर्ऋषिः । पिपीलिकमध्या बृहती छं० । अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ ६७ ॥

मन्त्रार्थ–यजमान कहता है (अहम्) मैं (पृथिव्याः) पृथ्वीसे (उत) उन्नत होकर (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षमें (आरुहम्) आरूढ हुआ हूं (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्षसे (दिवम्) स्वर्ग लोकको (आरुहम्) आरूढ हुआहूं (दिवः) द्युलोकके (नाकस्य) दुःखरहित (पृष्ठात्) पृष्ठदेशसे (स्वः) स्वर्गलोकमें स्थित (ज्योतिः) आदित्यमण्डलको (अहम्) मैं (अगाम्) प्राप्त हुआहूं ॥ ६७ ॥

कण्डिका ६८–मन्त्र १ ।

स्वर्यन्तोनापेक्षन्तऽआद्याᳬरोहन्तिरोदसी ॥ यज्ञᳬयेविश्वतोधारᳬसुविद्वाᳬसोवितेनिरे ॥ ६८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ स्वर्यन्त इत्यस्य विधृतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ६८ ॥

मंत्रार्थ–(ये) जो (विद्वांसः) ज्ञानकर्मके समुच्चयकारी अर्थात् ज्ञान कर्मकाण्डमें सम्पन्न पुरुष (विश्वतोधारम्) सब जगत्के धारण करनेवाले अथवा आहुति दक्षिणअन्नकी धारावाले वैश्वानर मारुत पूर्णाहुति वसुधारा वाजप्रसवीयादि धारावाले अर्थात् सम्पूर्ण फलधाराके वर्षानेवाले (यज्ञम्) यज्ञको (वितेनिरे) अनुष्ठान करते हैं वे यज्ञके करनेवाले (रोदसी) जरामृत्युशोकके रोकनेवाले (द्याम्) स्वर्गको (आरोहन्ति) आरोहण करते हैं और (स्वर्यन्तः) स्वर्गमें गमन करतेहुए कृतकृत्य होनेसे पुत्रपौत्रादिको (न) नहीं (अपेक्षन्ते) अपेक्षा करते हैं अथवा जो यजमान भलीप्रकार कर्मके प्रकारको जान्ते जगत्के

धारणहेतु यज्ञको विशेषतासे करतेहैं; वे अन्तरिक्षको द्यावाभूमिको आरोहण करते हैं फिर स्वर्गमें जाकर आदित्यमण्डलको प्राप्त होकर और किसी स्थानकी अपेक्षा नहीं करते ॥ ६८ ॥

आशय-यजमान सकल फलधारावर्षी यज्ञके प्रसादसे प्रथम भूलोक फिर अन्तरिक्षलोक फिर द्युलोकमें उपस्थित होते हैं, वहां उपस्थित होकर नीचेके लोकोंके भोगकी किसी प्रकार आकांक्षा नहीं रहती, फिर तुरीय लोकमें उपस्थित होकर कृतकृत्य होनेसे इच्छारहित होते हैं ॥ ६८ ॥

कण्डिका ६९-मंत्र १ ।

अग्ग्नेप्प्रेहिप्प्रथमोदेवयुताञ्चक्षुर्देवानामुतमर्त्त्यानाम् ॥ इयक्षमाणाभृगुभिःसुजोषाःस्वर्य्यन्तुयजमानाःस्वस्ति ॥ ६९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्न इत्यस्य विधृतिर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देव० । वि० पू० ॥ ६९ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (देवयताम्) देवताओंकी इच्छा करनेवाले यजमानोंके मध्यमें (प्रथमः) मुख्य हो (देवानाम्) देवताओंके (उत) और (मर्त्यानाम्) मनुष्योंके (चक्षुः) नेत्ररूप हो इस कारण (प्रेहि) आगे गमन करो कारण कि पहले दृष्टिही गमन करती है अर्थात् देवयागमें प्रवृत्त हमारे अग्रेसर हो और (इयक्षमाणाः) यज्ञ करनेकी इच्छावाले (भृगुभिः) भृगुगोत्रके वा श्रेष्ठ महात्मा ब्राह्मणोंसे (सजोषाः) समान प्रीतिवाले (यजमानाः) यजमान (स्वस्ति) आनंदपूर्वक (स्वः) स्वर्गलोकको (यन्तु) प्राप्त हों ॥ ६९ ॥

कण्डिका ७०-मंत्र १ ।

नक्तोषासासमनसाविरूपेधापयेतेशिशुमेकꣳसमीची ॥ द्यावाक्षामारुक्मोऽअन्तर्विभातिदेवाऽअग्निन्धारयन्द्रविणोदाः ॥ ७० ॥

विधि-(१) अध्वर्यु स्वयमातृणा इष्टकाके ऊपर प्रतिप्रस्थाताके द्वारा यह उखाअग्नि धारण कराकर कृष्णवर्ण और श्वेत बछडेवाली गायका दूध सुवर्णपात्रमें

दोहनकर उसके द्वारा स्वयमातृणा सिंचन करते यह दो कण्डिका पाठ करते इध्मस्थ अग्निमें होमकरै [का० १८ । ४ । २] मंत्रार्थ–नक्तोषासा इसकी व्याख्या १२ । २ में होगई । होमे विनि० ॥ ७० ॥

कण्डिका ७१–मंत्र १ ।

अग्ने॑ स॒हस्रा॑क्ष शतमूर्द्धञ्छ॒तन्ते॑ प्रा॒णाः स॒हस्रं॑ व्या॒नाः। त्वꣳ सा॑ह॒स्रस्य॑ रा॒य ई॑शिषे॒ तस्मै॑ ते विधेम॒ वाजा॑य॒ स्वाहा॑ ॥ ७१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अग्न इत्यस्य विधृतिर्ऋषिः । विराट् पंक्तिश्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ७१ ॥

मन्त्रार्थ–(सहस्राक्ष) हे अनेक चक्षुवाले ! वा सुवर्णखण्डरूप नेत्रवाले "हिरण्यशकलैर्वा एष सहस्राक्षः" इति [९ । २ । ३ । ३२] श्रुतेः (शतमूर्धन्) सौ शिरवाले "शतशीर्षा रुद्रोऽसृज्यत" इति [९ । २ । ३ । ३२] श्रुतेः (अग्ने) हे अग्ने ! (ते) आपके (शतम्) अनन्त (प्राणाः) प्राण हैं (सहस्रम्) सहस्रों (व्यानाः) व्यान हैं (त्वम्) तुम (सहस्रस्य) सहस्रों (रायः) सम्पत्तिके (ईशिषे) अधिकारी हो (तस्मै) उस (ते) आपके निमित्त (वाजाय) अन्नरूप हवि (विधेम) देतेहैं अर्थात् यथेष्ट अन्नलाभकी कामनासे यह हवि देते हैं (स्वाहा) भलीप्रकार गृहीत हो ॥ ७१ ॥

कण्डिका ७२–मन्त्र १ ।

सु॒प॒र्णो॑ऽसि ग॒रुत्मा॑न्पृ॒ष्ठे पृ॑थि॒व्याः सी॑द ॥ भा॒सा॒न्तरि॑क्ष॒मा पृ॑ण॒ ज्योति॑षा॒ दिव॒मुत्त॑भान॒ तेज॑सा॒ दिश॒ उ॒द्दृꣳह ॥ ७२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सुपर्ण इत्यस्य विधृतिर्ऋषिः । पंक्तिश्छं० । अग्निर्देवता । स्वयमातृणोपर्यग्निस्थापने वि० ॥ ७२ ॥

विधि–(१) ७२ । ७३ यह दो कण्डिका पाठपूर्वक स्वयमातृणाके ऊपर वषट्कार उच्चारणपूर्वक अग्नि स्थापन करै [का० १८ । ४ । ४] मन्त्रार्थ–हे अग्ने ! तुम (सुपर्णः) सुपर्ण पक्षीके आकारवाले (गरुत्मान्) गरुडरूप (असि) हो इस कारण (पृथिव्याः) पृथ्वीके (पृष्ठे) ऊपर (सीद) स्थित हो

(भासा) अपनी कान्तिसे (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (आपृण) पूर्णकरो (ज्योतिषा) स्वसामर्थ्यसे (दिवम्) द्युलोकको (उत्तभान)ऊर्ध्व स्तंभितकरो (तेजसा) अपने तेजसे (दिशः) दिशाओंको (उद्दृꣳह) दृढकरो ॥ ७२ ॥

कण्डिका ७३-मंत्र १ ।

आजुह्वानꣳसुप्प्रतीकम्पुरस्तादग्ग्नेस्वँयोनिमासीदसाधुया ॥ अस्म्मिन्त्सधस्त्थेऽअद्ध्युत्तरस्म्मिन्विश्श्वेदेवायजमानश्चसीदत ॥ ७३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आजुह्वान इत्यस्य विधृतिर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ७३ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! तुम (आजुह्वानः) आह्वान किये हुए (सुप्रतीकः) सुमुख होतेहुए (पुरस्तात्) पूर्वदिशामें (स्वम्) अपने (साधुया) समीचीन (योनिम्) स्थानमें (आसीद) स्थित हो (विश्वेदेवाः) हे विश्वेदेवा ! तुम (च) और (यजमानः) यह यजमान (अस्मिन्) इस (उत्तरस्मिन्) अधिक उत्कृष्ट (सधस्थे) स्थानमें अग्निके साथ (अधिसीदत) स्थित हो "द्यौर्वाउत्तर ꣳ सधस्थम्" इति [९ । २ । ३ । ३९] श्रुतेः । यह उत्तर सधस्थ स्वर्ग है देवगण यहां निवास करतेहैं ॥ ७३ ॥

कण्डिका ७४-मंत्र १ ।

ताꣳसवितुर्वरेण्यस्यचित्रामाहंवृणेसुमतिंविश्श्वजन्याम् ॥ यामस्यकण्वोऽअदुहत्प्रपीनाꣳसहस्रधाराम्पयसामहीङ्गाम् ॥ ७४ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ तामित्यस्य कण्व ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । सविता देवता । शमीमयीवैकंकतीसमिदाधाने वि० ॥ ७४ ॥

विधि-(१) अग्निनिधानके उपरान्त अध्वर्यु इस अग्निमें यह मन्त्र पढकर शैमीली शमीसमिधा आधान करे [का० १८ । ४ । ८] मन्त्रार्थ-(वरेण्यस्य) वरणीय प्रार्थनीय (सवितुः) सविता देवताके सम्बन्धवाली (ताम्) उस (चित्राम्) विचित्र वा बहुविध फलदानमें समर्थ (विश्वजन्याम्) सब जनोंकी हितकारक जगत्के उत्पन्न करनेमें समर्थ (सुमतिम्) श्रेष्ठ बुद्धिको (अहम्)

मैं (आवृणे) अभिमुख होकर स्वीकार करताहूं (कण्वः) मेधावी वा कण्व ऋषिने (अस्य) इस सविताका (याम्) जिस (प्रपीनाम्) अतिपुष्ट दुग्धसे पूर्ण (सहस्रधाराम्) सहस्रों पदार्थोंको वा बहुत कुटुम्बको वा सहस्र दुग्धधाराको धारण करनेवाली (पयसा) इस दूधसे (महीम्) बडी अर्थात् सब सिद्धि देने-वाली (गाम्) वाणीरूप-गौको (अदुहत्) दुहा "गौरिति वाङ्नामसु" [निघं० १ । ११] अर्थात् सविता देवकी मति जो कण्वने दुही उसीको मैं स्वीकार करताहूं वह बुद्धि मुझे प्राप्त हो ॥ ७४ ॥

कण्डिका ७५—मंत्र १ ।

विधेमतेपरमेजन्मन्नग्नेविधेमस्तोमैरवरेसधस्थे॥ यस्माद्योनेरुदारिथायजेतम्प्रत्वेहवीꣳषिजुहुरेसमिद्धे ॥ ७५॥

ऋष्यादि—(१) ॐ विधेम इत्यस्य गृत्समद ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वैकंकतीसमिदाधाने वि० ॥ ७५ ॥

विधि—इस मंत्रसे वैकंकतीसमिदाधान करै । मन्त्रार्थ—(अग्ने) हे अग्ने ! (परमे) परम उत्कृष्ट (जन्मन्) जन्मवाले स्वर्गमें अर्थात् तुम्हारे परम लोकमें स्थित आदित्य देवताकी प्रीतिके निमित्त (ते) तुम्हारे निमित्त हवि (विधेम) विधानकरते हैं "द्यौर्वा अस्य परमं जन्म" इति [९ । २ । ३ । ३९) श्रुतेः (अवरे) उससे नीचे (सधस्थे) अन्तरिक्षमें स्थित विद्युत्‌रूपके निमित्त (स्तोमैः) स्तोममंत्र पाठपूर्वक हवि (विधेम) विधान करते हैं "अन्तरिक्षं वा अवरꣳसधस्थम्" इति [९ । २ । ३ । ३९] श्रुतेः (यस्मात्) जिस कारण तुम (योनेः) इष्टका चितिरूप स्थानसे (उदारिथ) उद्गत हुए हो (तम्) उस आपके स्थानको (यजे) मैं पूजन करता हूं फिर (समिद्धे) प्रज्वलित होनेमें (त्वे) तुम्हारेविषे ऋत्विग्गण (हवीꣳषि) हवियोंको (प्रजुहुरे) हवनकरते हैं हम उसी स्थानकी अर्चा करते हैं "एष वा अस्य योनिः" इति [९ । २ । ३९] श्रुतेः [ऋ० २ । ६ । १] ॥ ७५ ॥

कण्डिका ७६—मन्त्र १ ।

प्रेद्धोऽअग्नेदीदिहिपुरोनोजस्रयासूर्म्म्यायविष्ठ ॥ त्वाꣳशश्वन्तऽउपयन्तिवाजाः ॥ ७६ ॥

ऋष्यादि-(१) प्रेद्ध इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । विराडनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ७६ ॥

विधि-(१) अनन्तर इस मंत्रसे उदुम्बरी समित् आधान करै । मन्त्रार्थ-(यविष्ठ) हे अतियुवा ! (अग्ने) अग्निदेव (अजस्रया) क्षीण न होनेवाले अखण्ड (सूर्म्या) समिध काष्ठसे वा लोहमयी प्रज्वलित स्थूणा वा सूर्मीतुल्य ज्वालासें (प्रेद्धः) अतिप्रदीप्त हुए तुम (नः) हमारे (पुरः) आगे (दीदिहि) सम्यक् प्रदीप्त हो (त्वाम्) तुमको (शश्वन्तः) निरन्तर होनेवाले (वाजाः) अन्नरूप हवि (उपयन्ति) प्रदान करते हैं [ऋ० ५ । १ । २३] ॥ ७६ ॥

कण्डिका ७७-मंत्र १ ।

अग्ने॒तम॒द्याश्वन्न स्तोमैः॒क्रतु॒न्नभ॒द्रꣳहृ॑दि॒स्पृ शम् ॥ ऋ॒ध्यामा॑तऽओहैः ॥ ७७ ॥

विधि-(१) इसी प्रकार समिदाधान करके यह दो कण्डिका पाठकर स्रुवद्वारा दो आहुति दे [का० १८ । ४ । ८] मंत्रार्थ-अग्ने तमिति इसकी व्याख्या १५ । ४४ में होगई । आहुतिदाने वि० ॥ ७७ ॥

कण्डिका ७८-मंत्र १ ।

चित्तिं॑ जुहोमि॒मन॑साघृ॒तेन॒यथा॑दे॒वाऽइ॒हाग॑म॒न्वी॒ति होत्राऽऋता॒वृधः॑ ॥ पत्ये॒विश्व॑स्य॒भूम॑नोजु॒होमि॒ वि॒श्वक॑र्म्मणे॒वि॒श्वाहादा॑भ्यꣳह॒विः ॥ ७८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ चित्तिमित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । अतिजगती छन्दः । विश्वकर्मा देवता । वि० पू० ॥ ७८ ॥

मन्त्रार्थ-मैं (मनसा) विशेष मनके निवेशसहित (घृतेन) तथा घृतके द्वारा (चित्तिम्) इस चितिस्थ अग्निको (जुहोमि) आहुतिद्वारा प्रसन्न करताहूं अथवा संकल्पविकल्पात्मक मन निश्चयात्मक चित्तको अग्नितत्त्व जाननेके निमित्त इस प्रकार इस कार्यमें लगाते हैं (यथा) जिसप्रकार (इह) इस यज्ञमें (वीतिहोत्राः) यज्ञमें आहुतिकी अभिलाषावाले "होत्रा इति यज्ञनाम" [निघं० ३ । १७ । ८] (ऋतावृधः) सत्य वा यज्ञके बढानेवाले यज्ञमें आगमन कर आहुतिका भोग करने और स्तोमस्तुति श्रवण करनेसे जो परिपुष्ट होते हैं

वे "ऋतावृधः" (देवाः) देवता (आगमन्) आगमन करें (विश्वाहाः) सम्पूर्ण दिनोंमें (भूमनः) महान् (विश्वस्य) जगत्के (पत्ये) आधिपति (विश्वकर्मणे) जगदीश्वरके निमित्त (अदाभ्यम्) अनुपहित स्वादिष्ठ (हविः) हवि (जुहोमि) प्रदानमें प्रवृत्त होताहूं ॥ ७८ ॥

कण्डिका ७९—मंत्र १।

सुप्त तेऽअग्ने सुमिधः सुप्त जिह्वाः सुप्तऽऋषयः सुप्त धाम प्रियाणि ॥ सुप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति सुप्त योनीरापृणस्व घृतेन स्वाहा ॥ ७९ ॥ [१५]

ऋष्यादि-(१) ॐ सप्तत इत्यस्य सप्तर्षिर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । पूर्णाहुतिदाने वि० ॥ ७९ ॥

विधि-(१) स्रुक्पूर्ण घृत लेकर इस मंत्रसे पूर्णाहुति प्रदान करै [का० १८ । ४ । ९] मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (ते) तुम्हारी (सप्त) सात (समिधः) समिधा हैं अर्थात् शमी, वैकंकती, उदुम्बरी, बेल, पलाश 'ढाक' न्यग्रोध, और अश्वत्थ यही सात समिधा हैं वा अग्निकी सात समिधा प्राण हैं "प्राणा वै समिधः प्राणा ह्येतꣳ समिंधते" इति [९।२।३।४४] श्रुतेः (सप्त) सात (जिह्वाः) ज्वालारूप जिह्वा हैं "हिरण्याङ्गनादि आगममें कहीं अथवा काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सधूमवर्णा, स्फुलिङ्गिनी, विश्वरुचि, यह लोलायमान सात जिह्वा यह मुण्डक १ । २ लिखित सप्त जिह्वा हैं" (सप्त) सात (ऋषयः[1]) द्रष्टा ऋषि हैं (सप्त) सात (प्रियाणि) प्रिय गायत्रीआदि छन्द (धाम) धाम हैं "छन्दाꣳसि वा अस्य सप्त धाम प्रियाणि" इति [९ । २ । ३ । ४४] श्रुतेः अथवा आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, सभ्य, आवसथ्य, प्राजहित, आग्नीध्र यह सात सोमयागमें अग्निधारक धाम हैं (सप्त) सात (होत्राः) होता, प्रस्थाता, ब्राह्मणशंसी, पोता, नेष्टा, आग्नीध्र और अच्छावाक यह सात होता हैं (सप्तधा) सात प्रकार अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, अतिरात्र, आप्तोर्याम और वाजपेयसे (त्वा) तुमको यजन करते हैं (सप्त) सात (योनीः) चिति तुम्हारे उत्पत्तिस्थान हैं उनको (घृतेन) घृतसे (आपृणस्व) पूर्ण करो वा हमारी एक आहुतिद्वारा वह सब घृतसे पूर्ण हो (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ॥ ७९ ॥ [१५]

---

१ मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, अंगिरा, वशिष्ठ और क्रतु यह ऋषि द्रष्टा हैं यह सप्त ऋषि अथर्ववेदमें लिखे हैं ।

१ "काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता चापि सधूमवर्णा । स्फुलिङ्गिनी विश्वरुचिश्च देवी लोलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥ [मु० १ । २] "यज्ञो वै स्वाहाकारः" इति [९ । २ । ३ । ४४]श्रुतेः ॥ ७९ ॥

कण्डिका ८०-मंत्र १. अनु० ८ ।

शुक्रज्ज्योतिश्चचित्रज्ज्योतिश्चसत्यज्ज्योतिश्चज्ज्योतिष्म्माँश्च ॥ शुक्रश्चऽऋतपाश्चात्यꣳहाः ॥ ८० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ शुक्रज्योतिरित्यस्य सप्तर्षिर्ऋषिः । उष्णिक्छन्दः । मरुतो देवताः । पुरोडाशहोमे वि० ॥ ८० ॥

विधि-(१) यहांसे ८५ कण्डिकातक मंत्र पाठ करके ४२ मरुत् देवताको इस स्थलमें और ३९ अ० ७ कण्डिका पाठपूर्वक और सप्त मरुत् देवताको अरण्यमें आवाहनपूर्वक पुरोडाश हवन करै यह सब मिलकर ४९ आहुति ४९ पवनके निमित्त हैं, अथवा वैश्वानर पुरोडाशके ऊपर मरुतोंके निमित्त हवन करै प्रथम कालमें वैश्वानर पुरोडाश फैलादे [का० १८ । ४ । २३ । २४] मन्त्रार्थ-(शुक्रज्योतिः) शुद्धतेजवान् (च) और (चित्रज्योतिः) दर्शनीय ज्योति (च) और (सत्यज्योतिः) ब्रह्मलक्षण ज्योतिवाले (च) और (ज्योतिष्मान्) ज्योतियुक्त (च) और (शुक्रः) दीप्यमान (च) और (ऋतपाः) सत्य वा यज्ञकी रक्षावाले (च) और (अत्यꣳहाः) पापोंसे रहित मरुतगण हमारे यज्ञमें आवैं [यह अन्वय पांचवें मंत्रसे लेना] उनके निमित्त आहुति देते हैं भलीप्रकार गृहीत हो ॥ ८० ॥

कण्डिका ८१-मंत्र १ ।

ईदृङ्चान्यादृङ्चसदृङ्चप्प्रतिसदृङ्च ॥ मितश्चसम्मितश्चसभराः ॥ ८१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ईदृङ्ङित्यस्य सप्तर्षिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । मरुतो देवताः । पुरोडाशावलोकने वि० ॥ ८१ ॥

विधि-(१) इस पुरोडाशको ग्रहण कर देखै । मंत्रार्थ-(ईदृङ्) इस पुरोडाशको ग्रहणकर देखनेवाले (च) और (अन्यादृङ्) दूसरे पुरोडाशकोभी देखनेवाले (च) और (सदृङ्) समान देखनेवाले (च) औ

(प्रतिसदृङ्) उस उसके प्रति समान देखनेवाले (च) और (मितः) मानको प्राप्त अथवा उत्तम मध्यम अधमको तुल्य (च) और (सम्मितः) सम्यक् एकीभावसे मानको प्राप्त (च) और (सभराः) समान धारण करनेवाले १४ मरुद्गण हमारे यज्ञमें आवैं, उनकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति देते हैं ॥ ८१ ॥

कण्डिका ८२–मंत्र १ ।

ऋतश्चसत्त्यश्चध्रुवश्चधरुणश्च ॥ धर्त्ताचविधर्त्ता चविधारयः ॥ ८२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ ऋतश्चेत्यस्य सप्तर्षय ऋषयः । गायत्री छन्दः । मरुतो देवताः । वि० पू० ॥ ८२ ॥

मन्त्रार्थ–(ऋतः) सत्यरूप (च) और (सत्यः) सद्वस्तुमें होनेवाले (च) और (ध्रुवः) स्थिर (च) और (धरुणः) धारण करनेवाले (च) और (धर्ता) धारक (च) और (विधर्ता) विशेषकर धारण करनेवाले (च) और (विधारयः) विविध प्रकारसे धारण करनेवाले २१ मरुत् हमारे यज्ञमें आवैं यह आहुति उनके निमित्त है ॥ ८२ ॥

कण्डिका ८३–मंत्र १ ।

ऋतजिच्चसत्त्यजिच्चसेनजिच्चसुषेणश्च ॥ अन्तिमित्रश्चदूरेऽअमित्रश्चगणः ॥ ८३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ ऋतजिच्चेत्यस्य सप्तर्षय ऋषयः । उष्णिक्छन्दः । मरुतो देवताः । वि० पू० ॥ ८३ ॥

मन्त्रार्थ–(ऋतजित्) सत्यके जय करनेवाले (च) और (सत्यजित्) यथातथ्य जय करनेवाले (च) और (सेनजित्) शत्रुकी सेना जय करनेवाले (च) और (सुषेणः) सुन्दर सेनावाले (च) और (अन्तिमित्रः) समीप मित्रवाले (च) और (दूरेअमित्रः) दूर शत्रुवाले (च) और (गणः) सबके गिन्नेवाले वा समूहरूप २८ मरुत् आवैं उनके निमित्त यह आहुति दीजाती है ॥ ८३ ॥

कण्डिका ८४–मंत्र १ ।

ईदृक्षासऽएतादृक्षासऽऊषुणः सदृक्षासः प्रतिसदृक्षासऽएतन ॥ मितासश्चसम्मितासोनोऽअद्यसभरसोमरुतोयज्ञेऽअस्मिन् ॥ ८४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ईदृक्षास इत्यस्य सप्तर्षय ऋषयः । जगती छन्दः । मरुतो देवताः । वि० पू० ॥ ८४ ॥

मन्त्रार्थ-(मरुतः) मरुतो ! तुम (ईदृक्षासः) इस लक्षणके देखनेवाले (उ) और (एतादृक्षासः) इस प्रकारके देखनेवाले (उ) और भलीप्रकार (सदृक्षासः) समान देखनेवाले (च) और (प्रतिसदृक्षासः) प्रत्येकको समान देखनेवाले (न) और (मितासः) प्रमाणयुक्त और (सम्मितासः) संगत होकर प्रमाणको करनेवाले (सभरसः) समान अलंकारादिको करनेवाले वा आदरके सहित वर्तमान ३५ मरुत् देवता (अद्य) आज (नः) हमारे (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञमें (एतन)आगमन करैं उनकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति दीजाती है ॥८४॥

विवरण-'उ, सु, न' तीन पाद पूर्तिके निमित्त हैं ॥ ८४ ॥

कण्डिका ८५-मंत्र १ ।

स्वतवाँश्चप्रघासीचसान्तपनश्चगृहमेधीच ॥ क्रीडीचशाकीचोज्जेषी ॥ ८५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ स्वतवाँश्चेत्यत्य सप्तर्षय ऋषयः । स्वराड्गायत्री छं० । चातुर्मास्या मरुतो देवताः । वि० पू० ॥ ८५ ॥

मंत्रार्थ-(स्वतवान्) आपने अधीनतपोबलसे युक्त (च) और (प्रघासी) पुरोडाशभक्षणशील (च) और (सान्तपनः) सूर्यसम्बन्धी होनेसे वा शत्रुओंको तपानेसे सान्तपन (च) और (गृहमेधी) गृहधर्मसे युक्त (च) और (क्रीडी) क्रीडा खेलका स्वभाववाले (च) और (शाकी) समर्थ (च) और (उज्जेषी) उत्कृष्ट जयशील नामसे प्रसिद्ध ४२ मरुत् देवता हमारे यज्ञमें आवैं उनकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति दीजाती है ॥ ८५ ॥

विधि-(१) इसके आगे ३९ अ० कं० ७ मंत्र पढकर वनमें सात आहुति दी जाती हैं, इस मंत्रको विमुख कहते हैं प्रसंगसे व्याख्या लिखते हैं। मंत्रार्थ-(उग्रः) उत्कृष्ट (च) और (भीमः) भयकारी (च) और (ध्वान्तः) शत्रुओंको अंधकर्ता (च) और (धुनिः) शत्रुओंको कंपानेवाला (च) और (सासह्वान्) शत्रुओंको तिरस्कार कर्ता (च) और (अभियुग्वा) भक्तोंके सुखदाता (च) और (विक्षिपः) शत्रुओंके हटानेवाले ४९ मरुद्गणोंके निमित्त (स्वाहा) पुरोडाशकी आहुति दीजातीहै श्रेष्ठरूपसे गृहीत हो कोई इसी सात नामसे सात चितिको कहते हैं सो चिन्त्य है ॥ ८५ ॥

कण्डिका ८६–मंत्र १ ।

इन्द्रन्दैवीर्विशोमुरुतोनुवर्त्मानोभवन्यथेन्द्रन्दैवीर्विशोमुरुतानुवर्त्मानोभवन् ॥एवमिमंय्यजमानन्दैवीश्चविशोमानुषीश्चानुवर्त्मानोभवन्तु॥८६॥ ७

ऋष्यादि–(१) ॐ इन्द्रमित्यस्य सप्तर्षय ऋषयः । शक्करी छन्दः । मरुतो देवताः । जपे वि० ॥ ८६ ॥

विधि–(१) अपवर्ग कर्मान्तिमें इस मन्त्रका जप करै [का० १८ । ४ । २९] मंत्रार्थ–(दैवीः) देवसम्बन्धी (मरुतः) मरुतरूप (विशः) प्रजा (इन्द्रम्) इन्द्रकी (अनुवर्तमानः) अनुगामिनी (अभवन्) हुईं अर्थात् (यथा) जैसे (दैवीः) देवसम्बन्धी (मरुतः) मरुतरूप (विशः) प्रजा (इन्द्रम्) इन्द्रके (अनुवर्तमानः) अनुगामिनी हुई (एवम्) इसी प्रकार (दैवीः) देवलोककी (च) और (मानुषीः) मनुष्यलोककी (विशः) प्रजा (इमम्) इस (यजमानम्) यजमानकी (अनुवर्तमानः) अनुगामिनी (भवन्तु) हों ॥ ८६ ॥

विशेष–यह स्वरूपाख्यान दोबार उपमाके निमित्त है ॥ ८६ ॥

कण्डिका ८७–मंत्र १. अनु० ९ ।

इमꣳस्तनमूर्जस्वन्तन्धयापाम्प्रपीनमग्नेसरिरस्यमद्ध्ये ॥ उत्सञ्जुषस्वमधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियꣳसदनमाविशस्व ॥ ८७ ॥

ऋष्यादि–ॐ इममित्यस्य सप्तर्षय ऋषयः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । जपे वि० ॥ ८७ ॥

विधि–(१) अनन्तर यहांसे आरंभकर अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त यह तेरह मन्त्र यज्ञस्तुति कथन करनेवाले वा वसुधारावृतमहिमाके हैं, अध्वर्यु यजमानको पाठ करावै [का० १८ । ४ । ३६] मंत्रार्थ–(अग्ने) हे अग्ने ! (सरिरस्य) भूलोकके (मध्ये) मध्यमें वर्तमान (इमम्) इस (ऊर्जस्वन्तम्) विशिष्ट रससे युक्त (अपाम्) घृतधारासे (प्रपीनम्) पूर्ण (स्तनम्) स्रुक्रूप स्तनको (धय) पान करो (अर्वन्) हे सब ओर गमनशील अग्ने ! (मधुमन्तम्)

मधुस्वादयुक्त घृतसे युक्त(उत्सम्)कूपरूपकूपको(जुषस्व)प्रीतिसे सेवन करो(समुद्रियम्) समुद्रसम्बन्धि चयनयागवाले (सदनम्) घरमें (आविश) प्रवेश करो ॥ ८७ ॥

प्रमाण-१ "इमे वै लोकाः सरिरम्" इति [७ । ५ । २ । ३४] श्रुतेः "त्रयो ह वै समुद्रा अग्निर्यजुषां महाव्रतꣳ साम्नां महदुक्थमृचाम्" इत्यभिप्रायः ॥ ८७ ॥

कण्डिका ८८-मंत्र १ ।

घृतम्मिमिक्षे घृतमस्य योनिर्घृते श्रितो घृतम्वस्य धाम ॥ अनुष्ष्वधमावह मादयस्व स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम् ॥ ८८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ घृतमित्यस्य गृत्समद ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ८८ ॥

मंत्रार्थ-मैं (घृतम्) घृतको (मिमिक्षे) अग्निके मुखमें सींचनेकी इच्छा करता हूं (घृतम्) घृत (अस्य) इस अग्निका (योनिः) उत्पत्तिस्थान है (घृते) घृतमें (श्रितः) आश्रित है (घृतम्) घृत (उ) ही (अस्य) इसका (धाम) तेज करनेवाला है हे अध्वर्यु ! (अनुष्वधम्) हवि संस्कारकरनेके उपरान्त अग्निको (आवह) आह्वानकरो और (मादयस्व) तृप्तकरके कहो (वृषभ) हे कामनाओंके वर्षानेवाले ! (स्वाहाकृतम्) स्वाहाकार करके हुत हुए (हव्यम्) हविको (वक्षि) देवताओंको प्राप्त कराओ अथवा घृत जिसकी योनि जो घृतके आश्रित है घृत जिसका धाम है आज हम इस अग्निको घृतसे अभिषेक करते हैं. हे वृषभ ! यह हवि देखकर देवताओंको आह्वानकर और आयेहुए उनको परिवेषण करो देवताओंका बुलाना और हवि वहन यह दो अग्निके कार्य हैं [ऋ० २ । ५ । २३] ॥ ८८ ॥

कण्डिका ८९-मन्त्र १ ।

समुद्रादूर्म्मिर्म्मधुमाँ२ऽउदारदुपाꣳशुना सममृतत्त्वमानट् ॥ घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः ॥ ८९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ समुद्रादित्यस्य वामदेव ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ८९ ॥

विधि-(१) अन्नके अभ्यासले घृत और प्राणके अभ्याससे अग्निकी स्तुतिहै ।

मन्त्रार्थ-(मधुमान्) रसवान् (ऊर्मिः) तरंग (समुद्रात्) घृतरूपसमुद्रसे (उदारत्) उठती हुई और उद्गत होनेके उपरान्त (अꣳशुना) प्राणभूत अग्निके द्वारा (सम्) संगतिको प्राप्त अर्थात् एक होकर (अमृतत्वम्) अमृतत्व धर्मको (उपानट्) प्राप्त होती है अर्थात् प्राण और अन्न एकत्व होकर अमृतत्वको प्राप्त होते हैं (तस्य) उस घृतका (गुह्यम्) गुह्य गुप्त (नाम) नाम जो श्रुतिमें पठित है वह (देवानाम्) देवताओंकी (जिह्वा) जिह्वा है, अर्थात् घृतको देखकर देवताओंकी जिह्वा चलती है और सर्व प्रकाशमान (अमृतस्य) अमृतकी (नाभिः) नाभि (अस्ति) है अर्थात् अमरण धर्मका बन्धन है, जो घी खाता है वह दीर्घायु होता है अथवा आधेसे मंत्रकी और आधेसे घृतकी स्तुति है। "आग्निकाद्यजुः-समुद्रात्" अर्थात् इस यजु समुद्ररूप यज्ञसे जो 'ऊर्मिः' अर्थात् शब्दसमूह नामिक आख्यात उपसर्ग निपातरूप (उप) उपमा उत्प्रेक्षारूप अलंकाररूप 'मधुमान्' रसवान् वाक्यार्थगुणोंसे युक्त 'उदारत्' मुखसे प्राप्त हुआ है वही 'उपांशुना' तीनों सवनद्वारा किया हुआ अमृतत्वको प्राप्त होता है "तदेतद्यजुरुपाꣳश्वनिरुक्तम्" इति श्रुतेः। इस कारण अग्निके चयन करनेवालोंको वह ऊर्मी प्रकाशनीय है घृतका जो गुह्यनाम है वही देवताओंकी जिह्वा उत्थानके निमित्त है. फिर होम करनेकी तो कौन कहे "अथास्य घृतकीर्तावेवाग्निर्वैश्वानरो मुखादुज्जज्वाल" इति [१।४।३।१३] श्रुतेः। और यह अमृतनाभि अर्थात् यजमानोंको अमृतत्व प्राप्त करता है इस कारण यह अग्निचयन करनेवालों द्वारा हुत और स्तुति किया जाता है ॥ ८९ ॥

प्रमाण-"यदा वा एतदग्नौ जुह्वत्यथाग्नेर्जिह्वा इवोत्तिष्ठन्ति" इति श्रुतेः ॥ ८९ ॥

विवरण-अग्निमें घृत डालनेसे उसकी ज्वाला जिह्वाकी समान उठती है मानो वारंवार घृतकी इच्छा प्रगट करती है इस कारण भी इसे देवजिह्वा कहते हैं "आयुर्वै घृतम्" घृत आयुर्वर्द्धक होनेसे अमृतकी नाभि कहाता है [ऋ० ३। ८।१०] ॥ ८९ ॥

कण्डिका ९०-मंत्र १।

वयन्नाम प्प्रब्ब्रवामा घृतस्यास्स्मिन्न्यज्ञे धारयामा नमोभिः ॥ उप ब्ब्रह्मा शृणवच्छस्यमानञ्चतुःशृङ्गोवमीद्गौर एतत् ॥ ९० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वयमित्यस्य वामदेव ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ९० ॥

मन्त्रार्थ-जिस कारण कि घृतका उच्चारण भी देवतोंको प्रिय है इस कारण (वयम्) हम (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञमें (घृतस्य) घृतका (नाम) नाम (प्रब्रवाम) उच्चारण करते वा स्तुत करते हैं (नमोभिः) अन्नोंद्वारा (धारयामः) यज्ञको धारण करतेहैं (ब्रह्मा) ब्रह्मासंज्ञक ऋत्विक् (शस्यमानम्) स्तुतिको प्राप्त इस घृतके नामको (उपशृण्वत्) सुनो जो कि (चतुःशृङ्गः) चार शृङ्ग अर्थात् चार होतादि शृङ्गयुक्त (गौरः) गौरवर्ण अर्थात् शुद्ध (एतत्) यह घृत यज्ञफलको (अवमीत्) आहुतिपरिणामसे प्रगट करताहै ॥ ९० ॥

भावार्थ-हम आज इस यज्ञको नमस्कारपूर्वक धारापातके सहित घृतनाम कीर्तन करते हैं, ब्रह्मा हमारी श्रद्धाके सहित इस प्रशंसनीय नामको श्रवणकरे, जिससे चतुःशृङ्ग गौरदेवता फलप्रदान करै "चार शृंगयुक्त एक गौरनाम मृगभी होता है" [ऋ० ३ । ८ । १०] ॥ ९० ॥

कण्डिका ९१-मंत्र १ ।

चत्त्वारि शृङ्गा त्रयोऽअस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोऽअस्य ॥ त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ२ऽआविवेश ॥ ९१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ चत्त्वारीत्यस्य वामदेव ऋषिः । विराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । यज्ञपुरुषो देवता । वि० पू० ॥ ९१ ॥

मन्त्रार्थ-(अस्य) इस फलप्रद यज्ञदेवताके (चत्वारि) ब्रह्मा, उद्गाता, होता, अध्वर्यु यह चार (शृङ्गाणि) शृंग हैं (त्रयः) ऋक् यजुः सामरूप तीन (पादाः) चरण हैं (द्वे) हविर्धान और प्रवर्ग्य दो (शीर्षे) शिर हैं "शिर एवास्य हविर्धानं ग्रीवा वै यज्ञस्योपसदः शिरः प्रवर्ग्यः" इति श्रुतेः । (अस्य) इस देवताके (सप्त) सात छन्द (हस्तासः) हाथ हैं अथवा सात होता हाथ हैं (त्रिधा) तीन प्रकार प्रातःसवन माध्यंदिनसवन और सायंसवन इन तीन स्थानमें (बद्धः) बंधाहुआ (वृषभः) कामनाओंका वर्षानेवाला (रोरवीति) अति शब्द करता है वह यह (महः) अतिशय पूजनीय (देवः) देव अथवा ब्रह्मासे स्तम्ब-पर्यन्त प्राणियोंका उपजीवी ज्ञान कर्मसमुच्चयकारी विद्वानोंके शरीरभूत

(मर्त्यान्) मनुष्यलोकमें (आविवेश) व्याप्त होकर स्थित है [ऋ० ३ । ८ । १०] ॥ ९१ ॥

अथवा—चार वेदही चार शृंग हैं तीन चरण तीन सवन हैं प्रायणीय उदयनीय दो शिर हैं, सात हाथ छन्द गायत्री आदि हैं, मंत्र ब्राह्मण और कल्पसे तीन प्रकार बद्ध होकर शब्द करता है शेषम्पूर्ववत् ॥ ९१ ॥

अथवा व्याकरणपरत्व ।

(चत्वारि शृङ्गाणि) नामिक आख्यात उपसर्ग निपात चार शृंग हैं (त्रयः-पादाः) प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष, उत्तम पुरुष, तीन पाद हैं, अथवा भूत भविष्य वर्तमान तीन पाद हैं (द्वे शीर्षे) कार्यता व्यङ्ग्यता दो शिर हैं, वा नित्य और कार्य दो शिर हैं (सप्तहस्तासः) सातविभक्ति हाथ हैं (त्रिधाबद्धः) एकवचन द्विवचन बहुवचनसे बद्ध (वृषभः) सब अर्थोंका प्रतिपादक वा वृषभकी समान अन्य शास्त्रोंको अधःकरके (रोरवीति) शब्दकरता है (महोदेवः) सो यह महा-देव मनुष्यशास्त्रके अधिकारी हैं इस कारण मनुष्योंमें प्रविष्ट है ॥ ९१ ॥

अथवा—वृषपक्षमें सब सुसंगत है तीन स्थान उरःशिरकण्ठमें बद्ध है ॥ ९१ ॥

अथवा—इस वेदरूप यज्ञपुरुषके धर्म अर्थ काम मोक्षरूपही चार शृंग हैं, कर्म उपासना और ज्ञान तीन चरण हैं, व्यष्टिसमष्टिरूप दो शिर स्वर वा छन्द सात हाथ हैं, इस प्रकार कर्म उपासना ज्ञान वा तीन गुणोंसे युक्त चार पदार्थकी वर्षा करने-वाला वेद अत्यन्त शब्दकर रहाहै, कि हे मनुष्यो ! जागो, परमात्माका भजन कर-नेको यह शरीर है. इस परमात्माने जीवात्मरूपसे शरीरोंमें प्रवेश किया है ॥९१॥

अक्षरार्थ—इस फलप्रद देवताके चार शृंग तीन चरण दो मस्तक सात हाथ हैं यह तीन स्थानमें बद्ध है इसका नाम वृषभ यह प्रधान देवता इस मर्त्यलोकमें प्रविष्ट होकर वारंवार शब्द करता है ॥ ९१ ॥

इस मंत्रके अर्थ गूढ हैं, दो चार अर्थ प्राचीन भाष्यकारोंकी शैली देखकर लिखे हैं इसके और भी अर्थ हो सकते हैं ॥ ९१ ॥

प्रमाण—"चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्तास्त्रयोस्य पादा इति सवनानि त्रीणि द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये सप्त हस्तासः सप्त च्छन्दांसि त्रिधाबद्धस्त्रेधाबद्धो मंत्रब्राह्मणकल्पैर्वृषभो रोरवीति रोरवणमस्य सवनक्रमेण ऋग्भिर्यजुर्भिः सामभिर्य-देनमृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति महोदेव इत्येष हि महान् देवो यद्यज्ञो मर्त्यां आविवेशेत्येष हि मनुष्यानाविशति यजनाय" [निरु० अ० १३ । खं० ७] ॥ ९१ ॥

पक्षान्तरे पतञ्जलिमुनिरेवमाह-

"चत्वारि शृङ्गाणि चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च । त्रयो अस्य पादाः त्रयःकाला भूतभविष्यद्वर्तमानाः । द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च । सप्तहस्तासो अस्य सप्त विभक्तयः । त्रिधाबद्धः त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कण्ठे शिरसीति । वृषभो वर्षणात् । रोरवीति शब्दं करोतीति । कुत एतत् रौतिः शब्दकर्मा । महोदेवो मर्त्यां आविवेशेति महान्देव शब्दो मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्यास्तानाविवेश" [महाभाष्य अ० १ पा० १ आ० १] ॥ ९१ ॥

कण्डिका ९२-मन्त्र १ ।

त्रिधा॑हि॒तम्प॒णिभि॑र्गु॒ह्यमा॑नङ्ग॒वि दे॒वासो॑ घृ॒तमन्व॑विन्दन् । इन्द्र॒ऽएक॒ꣳ सूर्य॒ऽएकं॑ जजान वे॒नादेक॑ꣳ स्व॒धया॒ निष्ट॑तक्षुः ॥ ९२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्रिधाहितमित्यस्य वामदेव ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । घृतं दैवतम् । वि० पू० ॥ ९२ ॥

मंत्रार्थ-(त्रिधा) तीन प्रकारसे लोकोंमें (हितम्) स्थापित (पणिभिः) असुरोंसे (गुह्यमानम्) छिपायेहुए (घृतम्) यज्ञपरिणाम भूत घृतको (देवासः) देवताओंने (गवि) गौमें (अनु) अनुक्रमसे (अविन्दन्) जाना उसके (एकम्) एक भागको (इन्द्रः) इन्द्रने (जजान) प्रगट किया अर्थात् दीहुई आहुति अन्तरिक्षमें जाती है वहां इन्द्र जान्ता है "ते वा एते आहुते हुते उत्क्रमतस्ते अन्तरिक्षमाविशतः" इत्यादिश्रुतेः । (एकम्) एकभागको (सूर्यः) सूर्यने (जजान) प्रगट किया "ते तत उत्क्रमतस्ते दिवमाविशतः" इत्यादिश्रुतेः । (एकम्) एकभाग (वेनात्) यज्ञसाधनभूत अग्निसे (स्वधया) त्रेताहुति लक्षण रूप अन्नसे (निष्टतक्षुः) ब्राह्मणोंने प्राप्त किया [ऋ० ३ । ८ । १०] ॥ ९२ ॥

भावार्थ-प्रथम त्रिलोकीमें घृतका प्रचार था फिर पणिनामक असुरोंके आधिपत्यमें यह गुप्त किया गया तब देवगणने इसको बडी खोज करकै गौके मध्यमें जाना, उसका एक भाग इन्द्र देवताके प्रसादसे दूसरा भाग सूर्य देवताके प्रसादसे तीसरा भाग अग्निदेवताके प्रसादसे लब्ध किया, उक्त तीनोंमें घृत निवास करता है और आहुतिद्वारा त्रिलोकीमें व्याप्त रहता है ॥ ९२ ॥

आशय-आशय यह घृत त्रिलोकीमें स्थित उपार्जनीय वस्तु है ॥ ९२ ॥

कण्डिका ९३-मंत्र १ ।

एताऽअर्षन्तिहृद्यात्समुद्राच्छतव्रजारिपुणानाव चक्षे ॥ घृतस्यधाराऽअभिचाकशीमिहिरण्ययो वेतसोमध्यऽआसाम् ॥ ९३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एता इत्यस्य वामदेव ऋ० । त्रिष्टुप्छं० । घृतं दैवतम् । वि० पू० ॥ ९३ ॥

मन्त्रार्थ-(हृद्यात्) हृदयरूपी (समुद्रात्) समुद्रसे अर्थात् श्रद्धारूप जलसे अथवा देवताके याथात्म्यचिन्तनरूप समुद्रसे अर्थात् निगम निरुक्त निघण्टु व्याकरण शिक्षा छन्दोंसे पवित्र सागरसे (शतव्रजाः) बहुतगति अर्थात् अनेक अर्थवाली (एताः) यह वाणियां (अर्षन्ति) निकलती हैं (घृतस्य) घृतकी (धाराः) धाराकी समान अविच्छिन्न (रिपुणा) शत्रुरूप कुतार्किकोंसे (न) नहीं (अवचक्षे) खण्डित होती है (आसाम्) इन वाणियोंके (मध्ये) मध्यमें (हिरण्ययः) दीप्यमान (वेतसः) अग्निको (अभिचाकशीमि) सब ओरसे देखताहूं ॥ ९३ ॥

अथवा-(एताः शतव्रजाः) यह अनेक प्रकारकी गतिवाली (घृतस्य धाराः) घृतकी धारा (हृदयात् समुद्रात्) यजमानके हृदयरूपी समुद्रसे संकल्प-द्वारा (अर्षन्ति) निर्गत होती हैं (रिपुणा न अवचक्षे) रिपुगण इस धारापातके दर्शन करनेमें समर्थ नहीं है हम जिस स्थानमें गमन करते हैं (आसां मध्ये) इस चितिके मध्यमें विराजित (हिरण्ययो वेतसः) हिरण्मय अग्नि देवताको (अभिचाकशीमि) देखते हैं ॥ ९३ ॥

प्रमाण-"रिपुरिति स्तेननाम" [निघं० ३ । २४] [ऋ० ३ । ८ । १०] ॥ ९३ ॥

कण्डिका ९४-मंत्र १ ।

सम्यक्स्रवन्ति सरितोनधेनाऽअन्तर्हृदामनसापूयमानाः ॥ एतेऽ अर्षन्त्यूर्म्मयोघृतस्यमृगाऽइव क्षिपुणोरीषमाणाः ॥ ९४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सम्यगित्यस्य वामदेव ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । घृतं दैवतम् । वि० पू० ॥ ९४ ॥

मंत्रार्थ-(अन्तः) शरीरके अन्तर (हृदा) पावन स्थानीय (मनसा) मनके द्वारा (पूयमानाः) पवित्र हुई शब्ददोषरहित (धेनाः) वाणियें "धेना इति वाङ्नामसु" [निघं० १ । ११ । ३९] (सरितः) नदियोंकी (न) समान (सम्यक्) अविच्छिन्नप्रवाहसे भलीप्रकार (स्रवन्ति) प्रवृत्त होती हैं वे अग्निकीही स्तुति करती हैं (एते) यह (घृतस्य घृतकी (ऊर्मयः) तरंग (अर्षन्ति) स्रुकसे निर्गत हुई जाती हैं अर्थात् अग्निको तृप्तकरती हैं (इव) जैसे (क्षिपणोः) व्याधेसे (ईषमाणाः) डरकर (मृगाः) मृग भागते हैं ॥ ९४ ॥

सरलार्थ-अन्तःकरणके सहित पवित्र, हृदयके सहित पवित्र, मनके सहित पवित्र हुए यह सब स्तुतिवाक्य समुद्रगामिनी नदीकी समान एक मात्र इस परम देवताकोही लक्ष्यकरके सम्यक् गमन करते हैं और जिस प्रकार व्याधेको देखकर भीत मृग प्राणभयसे पलायन करतेहैं घृतकी कल्लोल इसी प्रकार वेगगतिसे इस अग्निमें पतित होती है ॥ ९४ ॥

कण्डिका ९५-मन्त्र १ ।

सिन्धोरिवप्प्राद्ध्वनेशूघनासोवातंप्प्रमियःपतयन्ति यह्वाः ॥ घृतस्यधाराऽअरुषोनवाजीकाष्ठाभिन्दन्नूर्म्मिभिःपिन्वमानः ॥ ९५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सिन्धोरिवेत्यस्य वामदेव ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । घृतं दैवतम् । वि० पू० ॥ ९५ ॥

मंत्रार्थ-(घृतस्य) घृतकी (यह्वाः) वडी "यह्व इति महन्नामसु पठितम्" [३ । ३ । १३] (धाराः) धारायें (पतयन्ति) स्रुवसे पतित होती हैं (इव) जिस प्रकार (सिन्धोः) सिन्धु नदकी (शूघनासः) शीघ्र और घने गमनवाली "शू इति क्षिप्रनाम" [निघं० २ । १५ । १५] (वातप्रमयः) वातके द्वारा चलनेवाली तरंगें (प्राध्वने) विषमप्रदेशमें पतित होती हैं अथवा जैसे पालद्वारा चलनेवाली नौका शीघ्र गतिसे सिन्धुमें अपना मार्ग देखकर गमन करती हैं (न) जैसे (अरुषः) क्रोधरहित जातिआदि गुणसे उत्कृष्ट (वाजी) घोडा (काष्ठाः) आज्यन्त संग्रामस्थानोंको (भिन्दन्) विदीर्ण करताहुआ (ऊर्मिभिः)

संग्राम भेदनेके श्रमसे निकले हुए पसीनोंसे (पिन्वमानः) पृथ्वीको सींचताहुआ गमन करता है [ऋ० ३ । ८ । ११] ॥ ९५ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार वेगगामी बृहत् वातप्रमी तुरंग वा पाललगे सिन्धुयान सिन्धुमें अपना मार्गलक्ष करके गमन करते हैं, और जिसप्रकार युद्धमें रिपु-दर्शनके समय स्वेदकी तरंगसे भूमिको सिंचन करते रणमें कुशल सुशिक्षित वेग-वान् अश्वगण स्थिर मनसे अपने लक्षमें गमन करते हैं, इसी प्रकारसे यह सम्पूर्ण घृतकी धारा एक मात्र अग्निको लक्षकरके पतित होती हैं ॥ ९५ ॥

कण्डिका ९६—मन्त्र १ ।

अभिप्रवन्तसमनेवयोषाँःकल्याण्यःस्मयमाना सोऽअग्निम् ॥ घृतस्यधाराँःसमिधोनसन्तता जुषाणोहर्य्यतिजातवेदाः ॥ ९६ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ अभिप्रवन्त इत्यस्य वामदेव ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । घृतं देवतम् । वि० पू० ॥ ९६ ॥

मंत्रार्थ—(घृतस्य) घृतकी (धाराः) धारा (अग्निम्) अग्निमें ही इस प्रकार (अभिप्रवन्त) गिरती हैं वा अग्निके प्रति गमन करती हैं (इव) जिस प्रकार (समानाः) समान मनवाली (कल्याण्यः) रूपयौवनसम्पन्न (स्मयमानाः) कुछहास्यसे युक्त (योषाः) स्त्रियें पतिके निकट गमन करती हैं (ताः) वे धारा (समिधः) अग्निकी प्रदीप्त करनेवाली (नसन्त) अग्निको व्याप्तकरतीहैं (जात-वेदाः) प्रज्ञानसम्पन्न अग्नि (जुषाणः) प्रसन्न होकर (हर्यति) उन धाराओंकी कामना करताहै [ऋ० ३ । ८ । ११] ॥ ९६ ॥

सरलार्थ—पतिकी प्यारी कुछेक हास्यसे सम्पन्न कल्याणी स्त्री पतिके निकट जिस भावसे गमन करती है, अग्निकी दीप्त करनेवाली यह घृतधारा इसी प्रकार अग्निको प्राप्त होती है और पति जिस भावसे भार्याको ग्रहण करता है अग्निभी इसी भावसे प्रीतिपूर्वक उन धाराओंको ग्रहण करता है ॥ ९६ ॥

कण्डिका ९७—मंत्र १ ।

कन्याऽइववहतुमेतवाऽउऽअञ्ज्यञ्जानाऽअभिचाकशीमि ॥ यत्रसोमःसूयतेयत्रयज्ञोघृतस्यधाराऽअभितत्पवन्ते ॥ ९७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ कन्याइवेत्यस्य वामदेव ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । घृतं दैवतम् । वि० पू० ॥ ९७ ॥

मन्त्रार्थ-(यत्र) जिस स्थानमें (सोमः) सोम (सूयते) अभिषव किया जाता है (यत्र) जहां (यज्ञः) सौत्रामणिआदि यज्ञ होता है (तत्) वहां (उ) ही (घृतस्य) घृतकी (धाराः) धारायें जाती हुई (अभिचाकशीमि) देखताहूं (इव) जिस प्रकार (अञ्जि) कमनीयरूप वा ऋतुधर्मको (अञ्जानाः) प्रगट करती हुई (कन्याः) कन्यायें (वहतुम्) पतिके निकट (एतवै) प्राप्त होनेको (पवन्ते) गमन करती हैं [ऋ० ३ । ८ । ११] ॥ ९७ ॥

विवरण-अञ्जि जिसको स्त्रीधर्म प्रगट होगया है अर्थात् ऋतुमती कन्या पति प्राप्त होनेके निमित्त जिसप्रकार व्यग्रचित्त परिणीता होती है हम देखते हैं जिस स्थलमें सोमाभिषव हुआ है जहां यज्ञपुरुष उपस्थित हैं, उस स्थानमें स्थित इस अग्निके वरण करनेके निमित्त यह सब घृतधारा इसी प्रकार व्यग्रचित्तसे पतित होती हैं ॥ ९७ ॥

भाव-इससे प्रगट है कि ऋतुधर्म जबतक न हो तबतक स्त्रीप्रसंग न करना चाहिये ॥ ९७ ॥

कण्डिका ९८-मंत्र १ ।

अ॒भ्य॑र्षत सुष्टु॒तिङ्गव्य॑मा॒जिम॒स्मासु॑ भ॒द्रा द्रवि॑णानि धत्त ॥ इ॒मँय्य॒ज्ञन्न॑यत दे॒वता॑ नो घृ॒तस्य॒ धारा॒ मधु॑मत्पवन्ते ॥ ९८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अभ्यर्षतेत्यस्य वामदेव ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । देवा देवताः । वि० पू० ॥ ९८ ॥

मंत्रार्थ-हे देवताओ ! (सुष्टुतिम्) श्रेष्ठ स्तुतिवाले (गव्यम्) घृतयुक्त (आजिम्) यज्ञमें (अभ्यर्षत) आगमन करो जहां (घृतस्य) घृतकी (धाराः) धारायें (मधुमत्) मधुरस्वादयुक्त (पवन्ते) पतित होती हैं (नः) हमारे (इमम्) इस (यज्ञम) यज्ञको (देवता) देवलोकमें (नयत) प्राप्त करो देवलोकमें यज्ञ प्राप्त

होनेसे यजमानभी स्वर्गको प्राप्त होगा (अस्मासु) हममें (भद्राः) कल्याण और (द्रविणानि) अनेक प्रकारके धन (धत्त) स्थापन करो ॥ ९८ ॥

भाषार्थ– हे देवगण ! हमारी आन्तरिक स्तुतिके सहित यह मधुमती सब घृतधारा पतित होती हैं यह यज्ञ और यज्ञकर्ता यजमान स्वर्गमें प्राप्त हो और अनेक धनोंसे युक्त हो [ऋ० ३ । ८ । ११] ॥ ९८ ॥

कण्डिका ९९–मंत्र १ ।

धामन्ते विश्वम्भुवनमधिश्रितमन्तः समुद्रे हृद्य न्तरायुषि ॥ अपामनीके समिथे यऽआभृतस्तम श्याम मधुमन्तन्तऽऊर्म्मिम् ॥ ९९ ॥ [१२]

इति शुक्लयजुःसंहितायां दीर्घपाठे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ धामन्त इत्यस्य वामदेव ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ९९ ॥

विधि–(१) ब्रह्मासे स्तम्बपर्यन्त सब जगत् आहुतिपरिणामभूत मानकर कहते हैं । मन्त्रार्थ–हे अग्ने ! परम देवता जो (समुद्रे) सागरके मध्यमें और जो (हृदि) हृदयके मध्यमें तथा (अन्तरायुषि) आयुके मध्यमें अर्थात् ब्रह्माके जीवनपर्यन्त जो (विश्वम्) सम्पूर्ण (भुवनम्) प्राणिसमूह हैं वह सब (ते) तुम्हारी (धामन्) विभूतिमें (अधिश्रितम्) आश्रय करके स्थित हैं (यः) जो (ऊर्मिः) घृतकी कल्लोल (समिथे) पणि असुरोंसे युद्ध करके (अपाम्) जलोंके (अनीके) मुखमें वर्तमान (आभृतः) लाईगई आपकी कृपासे (तम्) उस (मधुमन्तम्) रसयुक्त (ते) तुम्हारी (ऊर्मिम्) कल्लोलको (अश्याम) भक्षण करूं अर्थात् हम हविके परिणामी रसके भोगनेवाले हों, देवभावको प्राप्त हों यह वक्रोक्तिसे प्रार्थना करते हैं [ऋ० ३ । ८ । ११] ॥ ९९ ॥

अथवा हे अग्ने ! यह 'विश्वं भुवनं' सब जगत् (ते धामन् अधिश्रितम्) तुम्हारे अतिऐश्वर्यमें स्थित है (अन्तःसमुद्रे) अन्तरिक्षमें सूर्यरूपसे "समुद्र इत्यन्तरिक्ष-नाम" [निघं० १। ३ । ७५] (हृदिअन्तः) सब प्राणियोंके हृदयमें जाठराग्नि-रूपसे वर्तमान (आयुषि) अन्नमें सब प्राणियोंके आहाररूपसे वर्तमान (अपाम् अनीके) जलोंके संघातमें वैद्युताग्निरूपसे वर्तमान (समिथे) संग्रामोंमें शूरता अग्निरूपसे वर्तमान है इस प्रकार सब स्थानोंमें (आभृतः) स्थापित जो तुम्हारी

१ १२ कण्डिकाकथित ।

धामरूप (ऊर्मिः) घृतरूप जल है उस (मधुमन्तम्) मधुर रसयुक्त (ते) तुम्हारी (ऊर्मिम्) ऊर्मिको (अश्याम) हम प्राप्त हों अर्थात् सब रसके भोगनेवाले हों ॥ ९९ ॥ [१३]

भावार्थ-हे परम देवता ! यह सवही विश्व भुवन आपके आश्रित हैं, समस्तही तुम्हारा धाम है क्या द्युलोक क्या समुद्र क्या हृदय क्या जीवन क्या अन्तरिक्ष क्या वृक्षादिसमूह सर्वत्रही तुम्हारी मधुमान् घृतकल्लोल निभृतरूपसे विद्यमान हैं, वह आपके सच्चिदानंदरूप ज्ञानको परम रसको आपके प्रसादसे हम लाभ करैं ॥ ९९ ॥

इति श्रीकात्यायनगोत्रोत्पन्नमिश्रसुखानंदसूनुपंडितज्वालाप्रसादमिश्रकृतभाषाटीकायां शुक्लयजुर्वेदीयमन्त्रभागे मिश्रभाष्ये सेकादिजपपर्यन्तः सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अथ अष्टादशोऽध्यायः १८.

वाजःसत्त्यमूर्क्चतुष्काअश्माग्निस्त्रिकावर्ठंशुः पञ्चैकाचतस्रो वाजायद्वेवाजस्यत्त्वष्टावृताषाट्त्रयोदशाग्निंयुनज्मिसप्तयदाकूता द्वात्रिंहत्त्यायदशकौत्रयोदशसप्ततिः ॥

कण्डिका १-मंत्र १. यजु१३. अनु० १ ।

वाजश्चमेप्रसवश्चमेप्रयतिश्चमेप्रसितिश्चमेधीतिश्चमेक्रतुश्चमेस्वरश्चमेश्लोकश्चमेश्रवश्चमेश्श्रुतिश्चमेज्ज्योतिश्चमेस्वश्चमेयज्ञेनकल्पन्ताम् ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वाजश्चम इत्यस्य देवा ऋषयः । शक्करी छन्दः । अग्निर्देवता । वसोर्धाराहुतिहोमे वि० ॥ १ ॥

विधि-(१) सत्रहवें अध्यायमें चितिआरोहणादिके मंत्र कहे अठारहवें अध्यायमें वसोर्धारादि मंत्र कहते हैं । यजमान आज्यसंस्कार करकै उदुम्बरी स्रुक्में बृहत् स्रुवद्वारा आज्यग्रहणपूर्वक पुरोडाशके ऊपर यहांसे लेकर २९ कण्डिकातक पाठ करकै निरन्तर धारापात पूर्वक हवन करै 'इस धारापातका नामही वसोर्धारा है' जिस कालमें प्रथम धारा इसको स्पर्श करै उसी समयसे मन्त्र आरंभ करै, घृतके अग्निमें प्राप्त होनेपर "वाजश्चमे"-यजुःपाठपूर्वक मंत्रारम्भ

करना चाहिये, 'वाजश्च–वेट्स्वाहा' तक २९ कण्डिका हैं "वाजश्च मे"–इन मंत्रोंमें चकार समुच्चयके निमित्त हैं 'इस मेरे किये हुए यज्ञसे वाज आदि पदार्थ सम्पन्न हों यह यज्ञ हमको वाजादिका देनेवाला हो' " अथो इदश्च मे देहीदश्च मे " इति [९ । ३ । २ । ५] श्रुतेः। अथवा वाजादि पदार्थ मेरे यज्ञद्वारा कल्पित हों यज्ञमें अग्निको तृप्त वा अभिषेक करें ८ अथवा इनसे तुमको प्रसन्न करता और इनसे अभिषेक करताहूं "अनेन त्वा प्रीणाम्यनेन च त्वाभिषिञ्चामि" इत्यादिश्रुतेः [९ । ३ । ३ । ५] यह दोनों कामनाके देनेवाले हैं कन्याकुमारोंकी समान हैं " द्वौद्वौ कामौ संयुनक्त्यव्यवच्छेदाय यथा व्योकसौ संयुज्यात्" इति [९।३।२।६] श्रुतेः। इन मंत्रोंसे यजमान अग्निसे कामनाओंकी प्रार्थना करता है इन मंत्रोंमें ४०१ यजु हैं ११५ काम हैं 'वाजश्च मे' यहांसे आरंभकर 'ज्यैष्ठ्यञ्च मे' [४ क०] और 'वसु च मे' [१९ क०] छोडकर शेष १९ तक तेरह तेरह यजु हैं, चौथीमें १५ और पन्द्रहवी कण्डिकामें नौ यजु हैं 'अग्निश्च मे' २२ कण्डिकामें वारह, काम, तेरह, 'अंगुलयः शक्वरयः दिशश्चमे' यह एक यजु तीन काम २३ क० में छः यजु काम दश 'अहोरात्रे ऊर्वष्ठीवे बृहद्रथन्तरे च म इत्येकं यजुः' छः। २४ कण्डिकामें ३३। २५ क० में २३। २६ में ग्यारह। २७ में नौ। २८ में १४ 'आयुर्यज्ञेन' २९ क० में २१ 'कल्पन्ताम्' तक। १२ स्तोमश्चेति ६। १८ 'स्वर्देवा' १९ 'प्रजापतेः' २० 'वेट्स्वाहा' २१ इसप्रकार ४०१ यजु हैं।

मन्त्रार्थ–(यज्ञेन) इस यज्ञके फलसे देवगण (मे) मेरे निमित्त (वाजः) अन्न (च) और (मे) मेरे निमित्त (प्रसवः) 'दीयताम् भुज्यताम्' इस प्रकार अन्नदानकी अनुज्ञा (च) और (मे) मेरे निमित्त (प्रयतिः) शुद्धि (च मे) और मेरे निमित्त (प्रसितिः) अन्नविषयक उत्सुकता (च) और (मे) मेरे निमित्त (धीतिः) ध्यानविचार (च मे) और मेरे निमित्त (क्रतुः) संकल्प वा यज्ञ (च मे) और मेरे निमित्त (स्वरः) साधु शब्द (च) और (मे) मेरे निमित्त (श्लोकः) पद्यबन्ध वा स्तुति (च) और (मे) मेरे निमित्त (श्रवः) वेदमंत्रोंका श्रवण वा उसकी सामर्थ्य (च) और (मे) मेरे निमित्त (श्रुतिः) ब्राह्मण-श्रवणकी सामर्थ्य (च) और (मे) मेरे निमित्त (ज्योतिः) प्रकाश (च) और (मे) मेरे तिमित्त (स्वः) स्वर्ग (कल्पन्ताम्) प्राप्त करें अर्थात् यज्ञके फलसे यह सब पदार्थ हमको प्राप्त हों ॥ १ ॥

कण्डिका २-मंत्र १. यजु० १३ ।

प्राणश्चमेऽपानश्चमेव्यानश्चमेसुश्चमेचित्तञ्चमऽ आधीतञ्चमेवाक्चमेमनश्चमेचक्षुश्चमेश्रोत्रञ्चमेदक्षश्चमेबलञ्चमेयज्ञेनकल्पन्ताम् ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्राण इत्यस्य देवा ऋषयः । निचृदतिजगती छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ-(मे) मेरे निमित्त (च) अवश्य (प्राणः) प्राण ऊर्ध्ववायु (च मे) और मेरे निमित्त (अपानः) अपान अधोवायु प्रवृत्ति (च मे) और मेरे निमित्त (व्यानः) सब शरीरसंचारी वायु (च मे) और मेरे निमित्त (असुः) प्रवृत्तिमान् वायु (च मे) और मेरे निमित्त (चित्तम्) मानस संकल्प(च मे) और मेरे निमित्त (अधीतम्) बाह्यविषय ज्ञान (च मे) और मेरे निमित्त (वाक्) वागिन्द्रिय सामर्थ्य (च मे) और मेरे निमित्त (मनः) मन (च मे) और मेरे निमित्त (चक्षुः) चक्षु इन्द्रिय सामर्थ्य (च मे) और मेरे निमित्त (श्रोत्रम्) श्रोत्रइन्द्रिय-सामर्थ्य (च मे) और मेरे निमित्त (दक्षः) ज्ञानेन्द्रियकी कुशलता (च मे) और मेरे निमित्त (बलम्) बल (यज्ञेन) इस यज्ञके फलसे (कल्पन्ताम्) प्राप्त हों ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मंत्र १. यजु० १३ ।

ओजश्चमेसहश्चमऽआत्माचमेतनूश्चमेशर्म्मचमेवर्म्मचमेङ्गानिचमेस्थीनिचमेपरूᳬषिचमेशरीराणिचमऽआयुश्चमेजराचमेयज्ञेनकल्पन्ताम्३॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ओज इत्यस्य देवा ऋषयः । भुरिक्छक्करी छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ३ ॥

मंत्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (ओजः) बलहेतु शरीरकी आठवीं धातु (च मे) और मेरे निमित्त (सहः) शत्रुका तिरस्कार करनेवाला बल (च मे) और मेरे निमित्त (आत्मा) आत्मज्ञान (च मे) और मेरे निमित्त (तनूः) मनोहर शरीर (च मे) और मेरे निमित्त (शर्म) सुख (च मे) और मेरे निमित्त (वर्म) कवच (च मे) और मेरे निमित्त (अङ्गानि) हस्तादि अव-

यवकी दृढता (च मे) और मेरे निमित्त (अस्थीनि) शरीर अस्थियोंकी दृढता (च मे) और मेरे निमित्त (परूंषि) अंगुल्यादि पर्वोंकी दृढता (च मे) और मेरे निमित्त (शरीराणि) शरीरकी आरोग्यता (च मे) और मेरे निमित्त (आयुः) जीवन (च मे) और मेरे निमित्त (जरा) वार्धक्यपर्यन्त आयु (यज्ञेन) इस यज्ञके फलसे देवता (कल्पन्ताम्) सम्पादन करैं ॥ ३ ॥

कण्डिका४ मं०१। यजु० १९।

ज्ज्यैष्ठ्यञ्च मुआधिपत्त्यञ्च मेमुन्युश्चंमेभामंश्च मेमंश्चमेम्भंश्चमेजेमाचंमेमहिमाचंमेवरिमाचंमे प्प्रथिमाचंमेवर्षिमाचंमेद्राघिमाचंमेवृद्धञ्चंमेवृद्धिं श्चमेयुज्ञेनंकल्पन्ताम् ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ज्यैष्ठ्यमित्यस्य देवा ऋषयः । निच्यृदत्यष्टि-श्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (ज्यैष्ठ्यम्) बडाई (च मे) और मेरे निमित्त (आधिपत्यम) स्वामित्व (च मे) और मेरे निमित्त (मन्युः) मानस कोप (च मे)और मेरे निमित्त (भामः) वाह्य कोप (च मे) और मेरे निमित्त (अमः) गंभीरता अपरिमेयत्व (च मे)और मेरे निमित्त (अम्भः) शीत मधुर जल (च मे) और मेरे निमित्त (जेमा) जयकी सामर्थ्य (च मे) और मेरे निमित्त (महिमा) महत्त्व (च मे) और मेरे निमित्त(वरिमा) प्रजादिं विशालता (च मे) और मेरे निमित्त (प्रथिमा) गृहक्षेत्रादिविस्तार (च मे) और मेरे निमित्त (वर्षिमा) दीर्घजीवित्व प्राप्त हो (च मे) औरमेरे निमित्त (द्राघिमा) वंशपरंपराकी प्राप्ति (च मे) और मेरे निमित्त (वृद्धम्) बहुत अन्न धनादि (च मे) और मेरे निमित्त (वृद्धिः) विद्यादि गुणकी उत्कर्षता (यज्ञेन) यज्ञके द्वारा (कल्पन्ताम्) संपादन करैं अर्थात् दें ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मन्त्र १२ । यजु० १३ । अनु० २ ।

सुत्त्यञ्चंमेश्रुद्धाचंमेजगंच्चमेधनञ्चमेविश्वंञ्चमेमहं श्चमेक्क्रीडाचंमेमोदंश्चमेजातञ्चंमेजनिष्यमाणं ञ्चमेसूक्तञ्चंमेसुकृतञ्चमेयुज्ञेनंकल्पन्ताम् ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सत्यमित्यस्य देवा ऋषयः । विराट् शक्करी छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ५ ॥

मंत्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (सत्यम्) यथार्थ भाषण (च मे) और मेरे निमित्त (श्रद्धा) परलोकविश्वास (च मे) और मेरे निमित्त (जगत्) जंगमगवादि (च मे) और मेरे निमित्त (धनम्) सुवर्णादि (च मे) और मेरे निमित्त (विश्वम्) स्थावर पदार्थ (च मे) और मेरे निमित्त (महः) दीप्ति (च मे) और मेरे निमित्त (क्रीडा) अक्षादि (च मे) और मेरे निमित्त (मोदः) क्रीडा दर्शनका हर्ष (च मे) और मेरे निमित्त (जातम्) पुत्रसे उत्पन्न अपत्य (च मे) और मेरे निमित्त (जनिष्यमाणम्) होनेवाले अपत्य सन्तान (च मे) और मेरे निमित्त (सूक्तम्) ऋचाओंका समूह (च मे) और मेरे निमित्त (सुकृतम्) ऋचाओंके पाठसे शुभ अदृष्ट (यज्ञेन) इस यज्ञके फलसे देवताओंद्वारा (कल्पन्ताम्) प्राप्त हों ॥ ५ ॥

कण्डिका ६-मन्त्र १२ । यजु० १३ ।

ऋतञ्चमेमृतञ्चमेयक्ष्मञ्चमेनामयच्चमेजीवातुश्चमे दीर्घायुत्वञ्चमेनमित्रञ्चमेभयञ्चमेसुखञ्चमेशयनञ्चमेसूषाश्चमेसुदिनञ्चमेयज्ञेनकल्पन्ताम् ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ऋतमित्यस्य देवा ऋषयः । भुरिगतिशक्करी छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (ऋतम्) यज्ञादि कर्म (च मे) और मेरे निमित्त (अमृतम्) उसका फल स्वर्गादि (च मे) और मेरे निमित्त (अयक्ष्मम्) धातुक्षयादि रोगका अभाव (च मे) और मेरे निमित्त (अनामयत) सामान्य व्याधिका अभाव (च मे) और मेरे निमित्त (जीवातुः) व्याधिनाशक औषधि (च मे) और मेरे निमित्त (दीर्घायुत्वम्) दीर्घायु (च मे) और मेरे निमित्त (अनमित्रम्) शत्रुओंका अभाव (च मे) और मेरे निमित्त (अभयम्) निर्भयता (च मे) और मेरे निमित्त (सुखम्) आनंद (च मे) और मेरे निमित्त (शयनम्) सजाई सेज (च मे) और मेरे निमित्त (सूषाः) सन्ध्यावन्दनादियुक्त सुप्रभात (च मे) और मेरे निमित्त (सुदिनम्) यज्ञदानाध्ययनादियुक्त सम्पूर्ण दिन (यज्ञेन) इस यज्ञके फलसे देवता (कल्पन्ताम्) प्रदान करें ॥ ६ ॥

कण्डिका ७—मंत्र १. यजु० १३।

यन्ताचमेधर्ताचमेक्षेमश्चमेधृतिश्चमेविश्वञ्चमे महश्चमेसंविच्चमेज्ञात्रञ्चमेसूश्चमेप्रसूश्चमेसीरञ्चमेलयश्चमेयज्ञेनकल्पन्ताम् ॥ ७॥

ऋष्यादि—(१) ॐ यन्ताचेत्यस्य देवा ऋषयः । निच्यृदतिजगती छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ७॥

मंत्रार्थ—(च मे) और मेरे निमित्त (यन्ता) अश्वादिका नियन्तृत्व (च मे) और मेरे निमित्त (धर्ता) प्रजाकी पालनशक्ति (च मे) और मेरे निमित्त (क्षेमः) विद्यमान धनकी रक्षणशक्ति (च मे) और मेरे निमित्त (धृतिः) आपत्तिमें भी स्थिरचित्तता (च मे) और मेरे निमित्त (विश्वम्) सबकी अनुकूलता (च मे) और मेरे निमित्त (महः) पूजासत्कार (च मे) और मेरे निमित्त (संवित्) वेदशास्त्रादिका ज्ञान (च मे) और मेरे निमित्त (ज्ञात्रम्) विज्ञानकी सामर्थ्य (च मे) और मेरे निमित्त (सूः) आज्ञाप्रदान वा पुत्रादिप्रेरणकी सामर्थ्य (च मे) और मेरे निमित्त (प्रसूः) पुत्रउत्पत्तिआदिकी सामर्थ्य (च मे) और मेरे निमित्त (सीरम्) कृषिआदिके उपयोगी हलादि वा कृषिकृत धान्यकी प्राप्ति (च मे) और मेरे निमित्त (लयः) कृषिके प्रतिबन्धकी निवृत्ति अनावृष्टिका अभाव (यज्ञेन) यज्ञद्वारा अर्थात् इस यज्ञके फलसे देवता (कल्पन्ताम्) प्रदान करें ॥ ७ ॥ [७]

कण्डिका ८—मन्त्र १. यजु० १३. अनु० २।

शञ्चमेमयश्चमेप्रियञ्चमेनुकामश्चमेकामश्चमेसौमनसश्चमेभगश्चमेद्रविणञ्चमेभद्रञ्चमेश्रेयश्चमेवसीयश्चमेयशश्चमेयज्ञेनकल्पन्ताम् ॥ ८॥ [७]

ऋष्यादि—(१) ॐ शमित्यस्य देवा ऋषयः । विराट्शक्करी छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ८॥

मन्त्रार्थ—(च मे) और मेरे निमित्त (शम्) इस लोकका सुख (च मे) और मेरे निमित्त (मयः) परलोकसुख (च मे) और मेरे निमित्त (प्रियम्) प्रीति आदिकी उत्पादक वस्तु (च मे) और मेरे निमित्त (अनुकामः) अनुकूल

यत्नसे साध्य पदार्थ (च मे) और मेरे निमित्त (कामः) विषयभोगजनित सुख (च मे) और मेरे निमित्त (सौमनसः) मनके स्वास्थ्यकारी बन्धुवर्ग (च मे) और मेरे निमित्त (भगः) सौभाग्य (च मे) और मेरे निमित्त (द्रविणम्) धन (च मे) और मेरे निमित्त (भद्रम्) इस लोकका कल्याण (च मे) और मेरे निमित्त (श्रेयः) पारलौकिक कल्याण (च मे) और मेरे निमित्त (वसीयः) निवासयोग्य धनयुक्त गृहादि (च मे) और मेरे निमित्त (यशः) कीर्ति (यज्ञेन) यज्ञके फलसे देवता (कल्पन्ताम्) प्रदान करैं ॥ ८ ॥ [७]

कण्डिका ९-मन्त्र १. यजु० १३ अनु० ३ ।

ऊर्क्चमेसूनृताचमेपयश्चमेरसश्चमेघृतञ्चमेमधुचमे सग्धिश्चमेसपीतिश्चमेकृषिश्चमेवृष्टिश्चमेजैत्रञ्च मऽऔद्भिद्यञ्चमेयज्ञेनकल्पन्ताम् ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ऊर्क्चेत्यस्य देवा ऋषयः । शक्करी छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (ऊर्क्) अन्न (च मे) और मेरे निमित्त (सूनृता) प्रिय सत्य वाक्य (च मे) और मेरे निमित्त (पयः) दूध (च मे) और मेरे निमित्त (रसः) दुग्धसार (च मे) और मेरे निमित्त (घृतम्) घी (च मे) और मेरे निमित्त (मधु) शहत वा मधुर पदार्थ (च मे) और मेरे निमित्त (सग्धिः) बांधवोंके साथ एकत्र भोजन (च मे) और मेरे निमित्त (सपीतिः) बन्धुजनोंके साथ एकत्र पान (च मे) और मेरे निमित्त (कृषिः) कृषिद्वारा धान्यसिद्धि (च मे) और मेरे निमित्त (वृष्टिः) धान्य उत्पन्न होनेकी अनुकूल वृष्टि (च मे) और मेरे निमित्त (जैत्रम्) जयकी सामर्थ्य (च मे) और मेरे निमित्त (औद्भिद्यम्) आम्रादि वृक्षोंकी उत्पत्ति (यज्ञेन) इस यज्ञके फलसे देवता (कल्पन्ताम्) प्रदान करैं ॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मन्त्र १. यजु० १३ ।

रयिश्चमेरायश्चमेपुष्टञ्चमेपुष्टिश्चमेविभुचमेप्रभु ... र्णतरञ्चमेकुयवञ्चमेक्षितञ्चमेन्नञ्च ... ताम् ॥ १० ॥

... (च मे) और

(शयनम्) सजाई सेज (च

युक्त सुप्रभात (च मे) और मे

सम्पूर्ण दिन (यज्ञेन) इस यज्ञके फ

ऋष्यादि-(१) ॐ रयिश्चेत्यस्य देवा ऋषयः । निच्यृच्छकरी छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (रयिः) सुवर्ण (च मे) और मेरे निमित्त (रायः) मोतीआदि (च मे) और मेरे निमित्त (पुष्टम्) धनकी पुष्टि (च मे) और मेरे निमित्त (पुष्टिः) शरीरकी पुष्टता (च मे) और मेरे निमित्त (विभु) व्याप्तिसामर्थ्य (च मे) और मेरे निमित्त (प्रभु) ऐश्वर्य वा प्रभुताकी सामर्थ्य (पूर्णम्) धनपुत्रादिकी वहुतायत (च मे) और मेरे निमित्त (पूर्णतरम्) गज तुरंगादिकी वहुतायत (च मे) और मेरे निमित्त (कुयवम्) निकृष्टयव वा निकृष्टयवोंसे न मिले व्रीहि आदि अन्न (च मे) और मेरे निमित्त (अक्षितम्) क्षयहीन धान्यादि (च मे) और मेरे निमित्त (अन्नम्) चावल भात आदि (च मे) और मेरे निमित्त (क्षुत्) भोजन किये अन्नपाक (यज्ञेन) इस यज्ञके फलसे देवता (कल्पन्ताम्) कल्पनाकरैं ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मंत्र १. यजु० १३ ।

वित्तञ्चमेवेद्यञ्चमेभूतञ्चमेभविष्यच्चमेसुगञ्चमेसुपत्थ्यञ्चमऽऋद्धञ्चमऽऋद्धिश्चमेक्लृप्तञ्चमेक्लृप्तिश्चमेमतिश्चमेसुमतिश्चमेयज्ञेनकल्पन्ताम् ॥११॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वित्तमित्यस्य देवा ऋषयः । भुरिक्छकरी छन्दः। अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (वित्तम्) पूर्वलब्ध धन (च मे) और मेरे निमित्त (वेद्यम्) सम्पद्यमान धन (च मे) और मेरे निमित्त (भूतम्) पूर्वसिद्ध क्षेत्रादि (च मे) और मेरे निमित्त (भविष्यत्) भविष्य कालमें प्राप्त होनेवाले क्षेत्रादि (च मे) और मेरे निमित्त (सुगम्) सुखगम्य देश वा सुखबोधकी सामर्थ्य (च मे) और मेरे निमित्त (सुपथ्यम्) शोभन हित (च मे) और मेरे निमित्त (ऋद्धम्) समृद्ध यज्ञका फल (च मे) और मेरे निमित्त (ऋद्धिः) यज्ञादिकी समृद्धि (च मे) और मेरे निमित्त (क्लृप्तम्) कार्यसाधक अपर्याप्तधन द्रव्य (च मे) और मेरे निमित्त (क्लृप्तिः) स्वकार्यसाधनसामर्थ्य (च मे) और मेरे निमित्त (मतिः) पदार्थमात्रका निश्चय (च मे) और मेरे निमित्त (सुमतिः)

दुर्घटकार्यादिका निश्चय (यज्ञेन) इस यज्ञके फलसे देवता (कल्पन्ताम्) प्रदान करैं ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मंत्र १. यजु० १३ ।

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १२ ॥ [४]

ऋष्यादि-(१) ॐ व्रीहय इत्यस्य देवा ऋषयः । भुरिगतिशक्करी छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १२ ॥

मंत्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (व्रीहयः) व्रीहिधान्य (च मे) और मेरे निमित्त (यवाः) जौ (च मे) और मेरे निमित्त (माषाः) उरद (च मे) और मेरे निमित्त (तिलाः) तिल (च मे) और मेरे निमित्त (मुद्गाः) मूँग (च मे) और मेरे निमित्त (खल्वाः)चने (च मे) और मेरे निमित्त (प्रियङ्गव) कंगनी (च मे) और मेरे निमित्त (अणवः) चीनक तंदुल (च मे) और मेरे निमित्त (श्यामाकाः) समा ग्राम्यतृणधान कोदो (च मे) और मेरे निमित्त (नीवाराः) वनके तृणधान्य नीवार (च मे) और मेरे निमित्त (गोधूमाः) गेहूं (च मे) और मेरे निमित्त (मसूराः) मसूर (यज्ञेन) यज्ञके फलसे (कल्पन्ताम्) प्राप्त हों ॥ १२ ॥

विशेष-इस कण्डिकामें शस्यकी याचना है ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मंत्र १. अनु० ४ यजु० १३ ।

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यञ्च मेऽयश्च मे श्यामञ्च मे लोहञ्च मे सीसञ्च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् १३

ऋष्यादि-(१) ॐ अश्मेत्यस्य देवा ऋषयः । भुरिगतिशक्करी छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (अश्मा) पाषाण (च मे) और मेरे निमित्त (मृत्तिका) श्रेष्ठ मृत्तिका (च मे) और मेरे निमित्त (गिरयः) छोटे पर्वत

गोवर्द्धन अर्बुद रैवतकादि (च मे) और मेरे निमित्त (पर्वताः) बडे हिमाचल मन्दरादि पर्वत (च मे) और मेरे निमित्त (सिकताः) सिकता रेत (च मे) और मेरे निमित्त (वनस्पतयः) वनस्पति पुष्पके विनाही फलनेवाली पनस उदुम्बरादि (च मे) और मेरे निमित्त (हिरण्यम्) सुवर्ण (च मे) और मेरे निमित्त (अयः) लोहा (च मे) और मेरे निमित्त (श्यामम्) ताम्र लोह काँसी रजत वा कनक (च मे) और मेरे निमित्त (लोहम्) कालायस लोह (च मे) और मेरे निमित्त (सीसम्) सीसा धातु (च मे) और मेरे निमित्त (त्रपु) रांग यह कार्यविशेषोंमें (यज्ञेन) यज्ञके फलसे (कल्पन्ताम्) प्राप्त हों१३

विशेष–इसमें स्थावर और खनिज पदार्थोंके पानेकी प्रार्थना है तथा पानेके उद्योगका वर्णन है ॥ १३ ॥

कण्डिका १४–मन्त्र १. यजु० १३।

अग्निश्चं मुऽआपंश्चमेवीरुधंश्चमुऽओषंधयश्चमे कृष्टपुच्याश्चंमेकृष्टपुच्याश्चंमेग्राम्म्याश्चंमेपुशवं ऽआरुण्याश्चंमेवित्तञ्चंमेवित्तिंश्चमेभूतञ्चंमेभूतिंश्च मेयुज्ञेनंकल्पन्ताम् ॥ १४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अग्निरित्यस्य देवा ऋषयः । निच्यृदष्टिश्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ–(च मे) और मेरे निमित्त (अग्निः) पृथ्वीके अग्निकी अनुकूलता (च मे) और मेरे निमित्त (आपः) अन्तरिक्ष जलकी अनुकूलता (च मे) और मेरे निमित्त (वीरुधः) गुल्मतृण (च मे) और मेरे निमित्त (ओषधयः) फलपाकान्त ओषधी (च मे) और मेरे निमित्त (कृष्टपच्याः) जोतनेसे प्राप्त होनेवाली ओषधी (च मे) और मेरे निमित्त (अकृष्टपच्याः) विना क्षेत्र जोते उत्पन्न होनेवाली औषधी (च मे) और मेरे निमित्त (ग्राम्याः) ग्राम्यपशु गोमहिषी घोडे अजा उष्ट्रादि (च मे) और मेरे निमित्त (आरण्याः) वनके पशु हस्ती मृगादि (च मे) और मेरे निमित्त (वित्तम्) पूर्वलब्ध धन (च मे) और मेरे निमित्त (वित्तिः) भावि धनकी अभिलाषा (च मे) और मेरे निमित्त (भूतम्) विद्यमान पुत्रादि (च मे) और मेरे निमित्त (भूतिः) स्वयं उपार्जित ऐश्वर्य (यज्ञेन) यज्ञके फलसे (कल्पन्ताम्) प्राप्त हों ॥ १४ ॥

कण्डिका १५-मंत्र १. यजु० ९।

वसुंचमेवसतिश्चमेकर्म्मंचमेशक्तिश्चमेर्थश्चमऽए मश्चमऽइत्याचमेगतिश्चमेयज्ञेनकल्पन्ताम्॥ १५॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वसुचेत्यस्य देवा ऋषयः। विराडार्षी बृहती छं०। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (वसु) गवादि धन (च मे) और मेरे निमित्त (वसतिः) निवासस्थान गृह (च मे) और मेरे निमित्त (कर्म) अग्निहोत्रादि (च मे) और मेरे निमित्त (शक्तिः) उसके अनुष्ठानकी सामर्थ्य (च मे) और मेरे निमित्त (अर्थः) अभिलषित पदार्थ (च मे) और मेरे निमित्त (एमः) प्राप्तव्य अर्थ (च मे) और मेरे निमित्त (इत्या) इष्ट प्राप्तिका उपाय (च मे) और मेरे निमित्त (गतिः) इष्ट प्राप्ति (यज्ञेन) यज्ञके फलसे प्राप्त हो ॥ १९ ॥ [३]

कण्डिका १६-मन्त्र १ यजु० ५।

अग्निश्चमऽइन्द्रश्चमेसोमश्चमऽइन्द्रश्चमेसविता चमऽइन्द्रश्चमेसरस्वतीचमऽइन्द्रश्चमेपूषाचमऽइ न्द्रश्चमेबृहस्पतिश्चमऽइन्द्रश्चमेयज्ञेनकल्प न्ताम् ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निरित्यस्य देवा ऋषयः। निचृद्ब्राह्मी पंक्तिश्छन्दः। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थः-(च मे) और मेरे निमित्त (अग्निः) अग्निदेवताकी अनुकूलता (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्रदेवताकी अनुकूलता (च मे) और मेरे निमित्त (सोमः) सोमदेवताकी० (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र० (च मे) और मेरे निमित्त (सविता) सवितादेवताकी० (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र० (च मे) और मेरे निमित्त (सरस्वती) सरस्वती वाणी० (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र० (च मे) और मेरे निमित्त (पूषा) पूषादेवता० (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र० (च मे) और मेरे निमित्त (बृहस्पतिः) बृहस्पति देवता० (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्रदेवकी अनुकूलता (यज्ञेन) यज्ञके फलसे (कल्पन्ताम्) प्राप्त हो ॥ १६ ॥

विवरण–"अथार्धेन्द्राणि जुहोति" [श० ९ । ३ । २ । ९] आधेका इन्द्र और आधेके अनेक देवता हैं समानभागी होनेसे इन्द्र सबके साथ पाठ किया है यास्कके कथनानुसार इन्द्रके अनेक अर्थ करने, इसी प्रकार दोनों कण्डिकामें जानना ॥ १६ ॥

कण्डिका १७–मन्त्र १. यजु० १३ ।

मित्रश्चमऽइन्द्रश्चमेवरुणश्चमऽइन्द्रश्चमेधाताचमऽइन्द्रश्चमेत्वष्टाचमऽइन्द्रश्चमेमरुतश्चमऽइन्द्रश्चमेविश्वेचमेदेवाऽइन्द्रश्चमेयज्ञेनकल्पन्ताम् ॥१७॥

ऋष्यादि–(१) ॐ मित्र इत्यस्य देवा ऋषयः । विराट् शक्वरी छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ–(च मे) और मेरे निमित्त (मित्रः) मित्र देवता (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र (च मे) और मेरे निमित्त (वरुणः) वरुण (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र (च मे) और मेरे निमित्त (धाता) धाता० (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र० (च मे) और मेरे निमित्त (त्वष्टा) त्वष्टा० (च मे) और निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र० (च मे) और मेरे निमित्त (मरुतः) मरुत० (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र० (च मे) और मेरे निमित्त (विश्वेदेवाः) विश्वेदेवा देवता (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्रकी अनुकूलता (यज्ञेन) यज्ञके फलसे (कल्पन्ताम्) प्राप्त हो ॥ १७ ॥

कण्डिका १८–मन्त्र १. यजु० १३ ।

पृथिवीचमऽइन्द्रश्चमेन्तरिक्षञ्चमऽइन्द्रश्चमेद्यौश्चमऽइन्द्रश्चमेसमाश्चमऽइन्द्रश्चमेनक्षत्राणिचमऽइन्द्रश्चमेदिशश्चमऽइन्द्रश्चमेयज्ञेनकल्पन्ताम् ॥१८॥३॥

ऋष्यादि–(१) ॐ पृथ्वीचेत्यस्य देवा ऋषयः । भुरिक्छक्वरी छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ–(च मे) और मेरे निमित्त (पृथिवी) भूमि० (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र० (च मे) और मेरे निमित्त (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोक

(च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र० (च मे) और मेरे निमित्त (द्यौः) स्वर्ग० (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र० (च मे) और मेरे निमित्त (समाः) वर्षाके अधिष्ठात्री देवता (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र० (च मे) और मेरे निमित्त (नक्षत्राणि) अश्विनीआदि नक्षत्र० (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र० (च मे) और मेरे निमित्त (दिशः) दिशा० (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र देवताकी अनुकूलता (यज्ञेन) यज्ञके फलसे (कल्पन्ताम्) प्राप्त हो ॥१८॥ [३]

कण्डिका १९–मंत्र १ यजु० १३. अनु० ६. ।

अꣳशुश्चमेरश्मिश्चमेदाभ्यश्चमेधिपतिश्चम ऽउपाꣳशुश्चमेन्तर्यामश्चमऽऐन्द्रवायवश्चमेमै त्रावरुणश्चमऽआश्विनश्चमेप्रतिप्रस्थानश्चमे शुक्रश्चमेमन्थीचमेयज्ञेनकल्पन्ताम् ॥ १९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अꣳशुरित्यस्य देवा ऋषयः । निच्यृदत्यष्टिश्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ–(च मे) और मेरे निमित्त (अꣳशुः) अंशुग्रह (च मे) और मेरे निमित्त(रश्मिः)रश्मिग्रह(च मे)और मेरे निमित्त(अदाभ्यः) अदाभ्य ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (अधिपतिः) निग्राह्य ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (उपांꣳशुः) उपांशुग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (अन्तर्यामः) अन्तर्याम ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (ऐन्द्रवायवः) ऐन्द्रवायव ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (मैत्रावरुणः) मैत्रावरुण ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (आश्विनः) आश्विन ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (प्रतिप्रस्थानः) प्रतिप्रस्थान ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (शुक्रः) शुक्रग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (मन्थी) मन्थी ग्रह (यज्ञेन) यज्ञके फलसे (कल्पन्ताम्) प्राप्त हों ॥ १९ ॥

प्रमाण–"अथ ग्रहान् जुहोति" [९ । ३ । २ । १०] तीन कण्डिकामें ग्रह होमके मंत्र हैं रश्मीग्रहणसे सूर्यका भी ग्रहण ८ । ४८ के मंत्रसे जानना ॥१९॥

विशेष–ग्रहोंको स्मरण कर उनके नामसे आहुति देनी ॥ १९ ॥

कण्डिका २०–मन्त्र १ । यजु० १३ ।

आग्रयुणश्च॑मेवैश्वदेवश्च॑मेध्रुव॒श्च॑मेवैश्वानुरश्च॑मऽऐन्द्राग्नश्च॑मेमहावैश्वदेवश्चमेमरुत्वतीया॑श्चमेनिष्कै॑वल्ल्यश्चमे सावित्रश्च॑मेसारस्वतश्च॑मेपात्नीवुतश्च॑मेहारियोजनश्च॑मेयुज्ञेनं॑कल्प्पन्ताम् ॥ २० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ आग्रयण इत्यस्य देवा ऋषयः । स्वराडतिधृतिश्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ–(च मे) और मेरे निमित्त (आग्रयणः) प्रातःसवनके आग्रयण ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (वैश्वदेवः) वैश्वदेव ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (ध्रुवः) ध्रुवग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (वैश्वानरः) वैश्वानर ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (ऐन्द्राग्नः) ऐन्द्राग्न ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (महावैश्वदेवः) तृतीय सवनका महावैश्वदेव ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (मरुत्वतीयाः) मरुत्वतीय ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (निष्केवल्यः) निष्केवल्य ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (सावित्रः) सावित्र ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (सारस्वतः) सारस्वतग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (पात्नीवतः) पात्नीवत ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (हारियोजनः) हारियोजन ग्रह (यज्ञेन) यज्ञके फलसे (कल्पन्ताम्) देवता प्राप्त करैं ॥ २० ॥

कण्डिका २१–मन्त्र १. यजु० १३ ।

स्रुच॑श्चमेचमुसा॑श्च॑मेवायुव्या॒निचमेद्रोणकलुशश्च॑मेग्रावा॑णश्चमेधिषव॑णेचमेपूतभृच्च॑मऽआधवुनीयं॑श्चमेवेदि॑श्चमेबुर्हि॑श्च॑मेऽवभृथश्च॑मेस्वगाकारश्च॑मेयुज्ञेनं॑कल्प्पन्ताम् ॥ २१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ स्रुच इत्यस्य देवा ऋषयः । विराड्धृतिश्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (स्रुचः) जुहू (च मे) और मेरे निमित्त (चमसाः) चमस (च मे) और मेरे निमित्त (वायव्यानि) वायव्यपात्र (च मे) और मेरे निमित्त (द्रोणकलशः) द्रोणकलश (च मे) और मेरे निमित्त (ग्रावाणः) ग्रावा प्रस्तरविशेष (च मे) और मेरे निमित्त (अधिषवणे) काष्ठफलक (च मे) और मेरे निमित्त (पूतभृत्) पूतभृत् सोमपात्रविशेष (च मे) और मेरे निमित्त (आधवनीयः) आधवनीय सोमपात्र (च मे) और मेरे निमित्त (वेदिः) वेदि (च मे) और मेरे निमित्त (बर्हिः) कुशा (च मे) और मेरे निमित्त (अवभृथः) अवभृथ स्नान(च मे) और मेरे निमित्त (स्वगाकारः) शम्युवाकनाम पात्र (यज्ञेन) यज्ञके फलसे (कल्पन्ताम्) प्राप्तहों ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मन्त्र १. यजु० १३ ।

अ॒ग्निश्च॑ मे घ॒र्मश्च॑ मे॒ऽर्कश्च॑ मे॒ सूर्य॑श्च मे प्रा॒णश्च॑ मेऽश्वमे॒धश्च॑ मे पृथि॒वी च॒ मेऽदि॑तिश्च मे॒ दिति॑श्च मे॒ द्यौश्च॑ मे॒ऽङ्गुल॑यः॒ शक्व॑रयो॒ दिश॑श्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ २२ ॥

ऋष्यादि(१) ॐ अग्निरित्यस्य देवा ऋषयः । भुरिक्छक्करी छन्दः । अग्निर्देवता । वि० प० ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (अग्निः) चीयमान अग्नि वा अग्निष्टोम (च मे) और मेरे निमित्त (घर्मः) प्रवर्ग्य (च मे) और मेरे निमित्त (अर्कः) पुरोडाशसम्बंधी यज्ञ (च मे) और मेरे निमित्त (सूर्यः) सूर्यसम्बन्धी चरु (च मे) और मेरे निमित्त (प्राणः) गवामयन सत्र (च मे) और मेरे निमित्त (अश्वमेधः) अश्वमेधयज्ञ(च मे) और मेरे निमित्त (पृथिवी) पृथिवी (च मे) और मेरे निमित्त (दितिः)दिति देवता(च मे)और मेरे निमित्त (अदितिः) अदिति देवमाता (च मे) और मेरे निमित्त (द्यौः) द्युलोक (च मे) और मेरे निमित्त (अङ्गुलयः) विराट् पुरुषके अवयव (च मे) और मेरे निमित्त (शक्वरयः) शक्तियें (च मे) और मेरे निमित्त (दिशः) प्राचीआदि दिशाकी अनुकूलता (यज्ञेन) यज्ञके फलसे (कल्पन्ताम्) प्राप्त हों "अथैतान् यज्ञक्रतूञ्जुहोत्यग्निश्च म इति" इति [९ । ३ । ३ ।१] श्रुतेः । इो कण्डिकामें यज्ञक्रतु होम है ॥२२ ॥

कण्डिका २३–मंत्र १. यजु० ६ ।

व्रतञ्च॑ मऽऋतव॑श्च मे तप॑श्च मे संवत्सरश्च॑ मेहोरात्रेऽ ऊर्वष्ठीवे बृहद्रथन्तरे च॑ मे यज्ञेन॑ कल्पन्ताम्॥२३॥ [५]

ऋष्यादि–(१) ॐ व्रतमित्यस्य देवा ऋषयः । पंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ–(च मे) और मेरे निमित्त (व्रतम्) नियम (च मे) और मेरे निमित्त (ऋतवः) ऋतु (च मे) और मेरे निमित्त (तपः) तप (च मे) और मेरे निमित्त (संवत्सरः) संवत्सर (च मे) और मेरे निमित्त (अहोरात्रे) दिनरात्र (च मे) और मेरे निमित्त (ऊर्वष्ठीवे) ऊरु और जानुनी नाम अंग (च मे) और मेरे निमित्त (बृहद्रथन्तरे) बृहद्रथन्तर साम (यज्ञेन) यज्ञके फलसे (कल्पन्ताम्) देवता कल्पना करैं ॥ २३ ॥

अथ युग्मस्तोमहोममन्त्राः ।

कण्डिका २४–मंत्र १. यजु० ३३. अनु० ७ ।

एका॑ च मे तिस्रश्च॑ मे तिस्रश्च॑ मे पञ्च॑ च मे पञ्च॑ च मे सप्त च॑ मे सप्त च॑ मे नव॑ च मे नव॑ च मऽएका॑दश च मऽएका॑दश च मे त्रयो॑दश च मे त्रयो॑दश च मे पञ्च॑दश च मे पञ्च॑दश च मे सप्तद॑श च मे सप्तद॑श च मे नव॑दश च मे नव॑दश च मऽएक॑विꣳशतिश्च मऽएक॑विꣳशतिश्च मे त्रयो॑विꣳशतिश्च मे त्रयो॑विꣳशतिश्च मे पञ्च॑विꣳशतिश्च मे पञ्च॑विꣳशतिश्च मे सप्तविꣳशतिश्च मे सप्तविꣳशतिश्च मे नव॑विꣳशतिश्च मे नव॑विꣳशतिश्च मऽएका॑त्रिꣳशच्च मऽएका॑त्रिꣳशच्च मे त्रय॑स्त्रिꣳशच्च मे यज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ २४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एकाचेत्यस्य देवा ऋषयः । पूर्वार्द्धस्य संकृतिश्छंदः । अग्निर्देवता । एकविंशतिश्चेत्युत्तरस्य विराट् संकृतिश्छन्दः । अग्निर्दे० । त्रि० पू० ॥ २४ ॥

विधि-(१) "अथायुजःस्तोमाञ्जुहोति" इति [९ । ३ । ३ । २] श्रुतेः । अयुग्मस्तोमहवनसे सब कामनाओंकी प्राप्ति होती है. तथा च श्रुतिः "एतद्वै देवाः सर्वान्कामानाप्त्वायुग्भिः स्तोमैः स्वर्गलोकमायंस्तथैवैतद्यजमानः सर्वान्कामानाप्त्वायुग्भिःस्तोमैः स्वर्गं लोकमेति" इति [९ । ३ । ३ । २] श्रुतेः । आदरके निमित्त पुनरुक्ति है ।

मन्त्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (एका) एकसंख्या स्तोम (च मे) और मेरे निमित्त (तिस्रः) तीनसंख्या (च मे) और मेरे निमित्त (तिस्रः) तीनसंख्या (च मे) और मेरे निमित्त (पञ्च) पांचसंख्यक (च मे) और मेरे निमित्त (पञ्च) पांच (च मे) और मेरे निमित्त (सप्त) सात (च मे) और मेरे निमित्त (सप्त) सात (च मे) और मेरे निमित्त (नव) नौ (च मे) और मेरे निमित्त (नव) नौ (च मे) और मेरे निमित्त (एकादश) ग्यारह (च मे) और मेरे निमित्त (एकादश) ग्यारह (च मे) और मेरे निमित्त (त्रयोदश) तेरह (च मे) और मेरे निमित्त (त्रयोदश) तेरह (च मे) और मेरे निमित्त (पंचदश) पन्द्रह (च मे) और मेरे निमित्त (पंचदश) पन्द्रह (च मे) और मेरे निमित्त (सप्तदश) सतरह (च मे) और मेरे निमित्त (सप्तदश) सतरह (च मे) और मेरे निमित्त (नवदश) उन्नीस (च मे) और मेरे निमित्त (नवदश) उन्नीस (च मे) और मेरे निमित्त (एकविंशतिः) इक्कीस (च मे) और मेरे निमित्त (एकविंशतिः) इक्कीस (च मे) और मेरे निमित्त (त्रयोविंशतिः) तेईस (च मे) और मेरे निमित्त (त्रयोविंशतिः) तेईस (च मे) और मेरे निमित्त (पंचविंशतिः) पच्चीस (च मे) और मेरे निमित्त (पंचविंशतिः) पच्चीस (च मे) और मेरे निमित्त (सप्तविंशतिः) सत्ताईस (च मे) और मेरे निमित्त (सप्तविंशतिः) सत्ताईस (च मे) और मेरे निमित्त (नवविंशतिः) उन्तीस (च मे) और मेरे निमित्त (नवविंशतिः) उन्तीस (च मे) और मेरे निमित्त (एकात्रिंशत्) इकतीस (च मे) और मेरे निमित्त (एकत्रिंशत्) इकतीस (च मे) और मेरे निमित्त (त्रयस्त्रिंशत्) तैंतिस (च मे और मेरे निमित्त (त्रयस्त्रिंशत्) तैंतिस स्तोम (यज्ञेन) यज्ञके फलसे देवताओंके) द्वारा (कल्पन्ताम्) प्राप्त हों ॥ २४ ॥

पक्षान्तर-मेरी ब्रह्मशक्ति समष्टि प्राण व्यष्टि प्राण पंचाक्षर ॐकार पांच अक्षरोंके

देवता भूआदि सात लोक सातव्याहृति नवधा भक्ति उसके साधन ग्यारह रुद्र मन सहित इन्द्रिय संवत्सर महीने, समष्टि मन व्यष्टि मन ईश्वर, आत्मा, तप, तपका फल, समष्टि सूर्य, मानस सूर्य, धनयोग धन, समष्टि आत्मप्रतिबिम्ब तेज ब्रह्मतेज भक्ति ज्ञान सहित दैवी संपत् उसके साधन, यज्ञ उसका साधन, प्रतिष्ठा उसका साधन यह सब यज्ञके फलसे प्राप्त हों ॥ २४ ॥

विशेष—इस मंत्रमें गणित विद्याभी कथन की है यज धातुका संगतिकरण अर्थ होनेसे किसी संख्याका जोड देना और दान अर्थसे व्ययकर देना है कारण गुणन भाग वर्गघनमूलादि यह सब इसीके अन्तर्गत होते हैं संख्याके जोडनेको योग जैसे ५ + ५ = १० और अनेकवार एकसी संख्याके जोडनेको गुणन कहते हैं जैसे ४ × ५ = २० चारको पांच स्थानमें जोडनेसे वीस होते हैं, चारको चौगुना किया तौ चारका वर्ग सोलह हुए इसीप्रकार अन्तरसे भाग, वर्ग मूल, घन मूलादि निष्पन्न होते हैं सो बुद्धिमानोंको यथायोग्य जान्नी उचित है, मूल मात्र दिखलाया है अङ्कगणित बीजगणितआदि सब इससे उत्पन्न होती हैं ॥ २४ ॥

निष्कर्ष—योग विपरीत गुण यह तीन पक्ष इसमें लक्षित होते हैं ॥ २४ ॥

कण्डिका२५—मन्त्र १। यजु० २३।

चतस्रश्चमेऽष्टौचमेऽष्टौचमेद्वादशचमेद्वादशचमेषोडशचमेषोडशचमेविꣳशतिश्चमेविꣳशतिश्चमेचतुर्विꣳशतिश्चमेचतुर्विꣳशतिश्चमेऽष्टाविꣳशतिश्चमेऽष्टाविꣳशतिश्चमेद्वात्रिꣳशच्चमेद्वात्रिꣳशच्चमेषट्त्रिꣳशच्चमेषट्त्रिꣳशच्चमेचत्वारिꣳशच्चमेचत्वारिꣳशच्चमेचतुश्चत्वारिꣳशच्चमेचतुश्चत्वारिꣳशच्चमेऽष्टाचत्वारिꣳशच्चमेयज्ञेनकल्पन्ताम् ॥ २५ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ चतस्रश्चेत्यस्य देवा ऋषयः। उत्कृतिश्छं०। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ २५ ॥

विधि—(१) "अथ युग्मतो जुहोति चतस्रश्च मे इति" इति [९।३।३।४।] चारसंख्यासे लेकर अष्टचत्वारिंशत् पर्यन्त हवन करै इससे स्वर्गकी प्राप्ति होती है "एतद्वै छन्दाꣳस्यब्रुवन्यातयामा वा अयुजस्तोमायुग्माभिर्वयꣳस्तोमैः स्वर्गं लोक-

मयामेतितानियुग्मभिस्तोमैः स्वर्गं लोकमायंस्तथैतद्यजमानो युग्मभिः स्तोमैः स्वर्गं लोकमेति" इति [९ । ३ । ३ । ४] श्रुतेः । वृक्षारोहणकी समान पूर्वसे उत्तरको चलै "पूर्वं पूर्वमुत्तरेणोत्तरेण संयुनक्ति यथा वृक्षं रोहन्नुत्तरामुत्तराᳬं शाखाᳬं समालम्भᳬं रोहेत्ताहक्तम् इति श्रुतेः [९ । ३ । ३ । ६]

मन्त्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (चतस्रः) चारसंख्याक स्तोम (च मे) और मेरे निमित्त (अष्टौ) आठ (च मे) और मेरे निमित्त (अष्टौ) आठ (च मे) और मेरे निमित्त (द्वादश) वारह (च मे) और मेरे निमित्त (द्वादश) वारह (च मे) और मेरे निमित्त (षोडश) सोलह (च मे) और मेरे निमित्त (षोडश) सोलह (च मे) और मेरे निमित्त (विंशतिः) वीस (च मे) और मेरे निमित्त (विंशतिः) वीस (च मे) और मेरे निमित्त (चतुर्विंशतिः) चौवीस (च मे) और मेरे निमित्त (चतुर्विंशतिः) चौवीस (च मे) और मेरे निमित्त (अष्टाविंशतिः) अट्टाईस (च मे) और मेरे निमित्त (अष्टाविंशतिः) अट्टाईस (च मे) और मेरे निमित्त (द्वात्रिंशत्) वत्तीस (च मे) और मेरे निमित्त (द्वात्रिंशत्) वत्तीस (च मे) और मेरे निमित्त (षट्त्रिंशत्) छत्तीस (च मे) और मेरे निमित्त (षट्त्रिंशत्) छत्तीस (च मे) और मेरे निमित्त (चत्वारिंशत्) चालीस (च मे) और मेरे निमित्त (चत्वारिंशत्) चालीस (च मे) और मेरे निमित्त (चतुश्चत्वारिंशत्) चौवालीस (च मे) और मे निमित्त (चतुश्चत्वारिंशत्) चौवालीस (च मे) और मेरे निमित्त (अष्टचत्वारिंशत्) अडतालीस (च मे) और मेरे निमित्त स्तोमका स्मरण (यज्ञेन) यज्ञद्वारा देवता (कल्पन्ताम्) कल्पना करैं ॥ २५ ॥

विशेष-इस मंत्रमें चारके योग और वियोगसे चौथी संख्या लेकर सम संख्या प्रतिपादन करके योग दिखलाया है अथवा मेरी आठ संख्या और चार संख्या परस्पर गुणो इत्यादि गणित विषय है यथा [४ + ४ = ८ । ८ + ४ = १२] इसीप्रकार ४८ मेंसे चार निकालना और गुणना भी है ॥ २५ ॥

कण्डिका २६-मंत्र १ । यजु० ११ ।

त्र्यविश्च मे त्र्यवी च मे दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे पञ्चाविश्च मे पञ्चावी च मे त्रिवत्सश्च मे त्रिवत्सा च मे तुर्यवाट् च मे तुर्यौही च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ त्र्यविश्चेत्यस्य देवा ऋषयः । ब्राह्मी बृहती छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २६ ॥

विधि–(१) २६ । २७ दो कण्डिकामें वयोहोम है "अथ वयाᳬसि जुहोति त्र्यविश्चम इति पशवो वै वयाᳬसि पशुभिरेवैनमेतदन्नेन प्रीणात्यथो पशुभिरेवैन मेतदन्नेनाभिषिञ्चति" [श० ९ । ३ । ३ । ७] पशुओंको अन्नद्वारा प्रसन्न करै।

मंत्रार्थ–(च मे) और मेरे निमित्त (त्र्यविः) डेढ वर्षका बछडा (च मे) और मेरे निमित्त (त्र्यविः) डेढ वर्षकी बाछिया (च मे) और मेरे निमित्त (दित्यवाट्) दो वर्षका वृष (च मे) और मेरे निमित्त (दित्यौही) डेढ वर्षकी बाछिया (च मे) और मेरे निमित्त (पञ्चाविः) ढाई वर्षका वृष (च मे) और मेरे निमित्त (पञ्चावी) ढाई वर्षकी गौ (च मे) और मेरे निमित्त (त्रिवत्सः) तनि वर्षका वृष (च मे) और मेरे निमित्त (त्रिवत्सा) तीन वर्षकी गौ (च मे) और मेरे निमित्त (तुर्यवाट्) साढे तीन वर्षका वृष (च मे) और मेरे निमित्त (तुर्यौही) साढेतीन वर्षकी गौ (यज्ञेन) यज्ञके फलसे देवता (कल्पन्ताम्) कल्पना करैं अर्थात् सब प्रकारके पशुओंसे हम संयुक्त हों ॥ २६ ॥

कण्डिका २७–मंत्र १ । यजु० ९ ।

पृष्ठवाट्चमेपष्ठौहीचमऽउक्षाचमेवशाचमऽऋषभ श्चमेवेहच्चमेनड्वाँश्चमेधेनुश्चमेयज्ञेनकल्पन्ताम् ॥ २७ ॥ [४]

ऋष्यादि–(१) ॐ पष्ठवाडित्यस्य देवा ऋषयः । निच्यृद्ब्राह्म्युष्णिक्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ–(च मे) और मेरे निमित्त (पष्ठवाट्) चारवर्षका वृष(च मे)और मेरे निमित्त (पृष्ठौही) चारवर्षकी गौ (च मे) और मेरे निमित्त (उक्षा) सेचन समर्थ वृष (च मे) और मेरे निमित्त(वशा)वन्ध्या गौ(च मे) और मेरे निमित्त (ऋषभः) अतियुवा वृष (च मे) और मेरे निमित्त (वेहत्) गर्भघातिनी गौ(च मे) और मेरे निमित्त (अनड्वान्) शकटवहन करनेमें समर्थ वृष (च मे) और मेरे निमित्त (धेनुः) नवप्रसूता गौ (यज्ञेन) यज्ञके फलसे देवता (कल्पन्ताम्) सम्पादन करैं अर्थात् सब प्रकारके पशुओंकी रक्षा मैं करूं ॥ २७ ॥ [४]

कण्डिका २८–मन्त्र १. अनु०८. यजु० १४ ।

वाजायस्वाहाप्रसवायस्वाहापिजायस्वाहाक्रतं

वे स्वाहा वसवे स्वाहाऽहर्पतये स्वाहाह्ने मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनꣳशिनाय स्वाहा विनꣳशिनऽआन्त्यायनाय स्वाहान्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाधिपतये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा ॥ इयन्ते राण्मित्राय यन्तासि यमनऽऊर्जे त्वा वृष्ट्यै त्वा प्रजानान्त्वाधिपत्याय ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वाजायेत्यस्य देवा ऋषयः । पूर्वार्द्धस्यार्ची बृहती छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २८ ॥

विधि-(१) नामग्राह हवन । तथा च श्रुतिः "अथ नामग्राहं जुहोति एतद्वै देवाः सर्वान्कामानाप्त्वाथैतमेव प्रत्यक्षमप्रीणंस्तथैवैतद्यजमानः सर्वान्कामानाप्त्वाथैतमेव प्रत्यक्षं प्रीणाति वाजाय स्वाहेति" इति [श० ९ । ३ । ३ । ८ ।] नामग्रहहोमसे देवताओंने सब कामनाकी प्राप्ति की इसी प्रकार यजमान इस हवनसे सब कामनाओंको प्राप्तहोता है । मंत्रार्थ-(वाजाय) अधिक अन्नउत्पादक चैत्रमासके निमित्त (स्वाहा) श्रेष्ठ होम हो (प्रसवाय) जलक्रीडादिकी अनुज्ञारूप वैशाखके निमित्त (स्वाहा) आहुति दीजाती है (अपिजाय) जलक्रीडामें रतिकारक ज्येष्ठमासके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (क्रतवे) यागरूप आषाढके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (वसवे) चातुर्मास्यकी यात्रानिषेधक वसुरूप श्रावणके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (अहर्पतये) तापकारक भाद्रमासके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (मुग्धायाह्ने) तुषारसे मोहकारक आश्विनके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (असुग्धाय) थोडा घटनेसे (वैनꣳशिनाय) विनाशी कार्तिकके निमित्त (स्वाहा) आहुति० अथवा स्नानादिसे (अमुग्धाय) पापनाशक कार्तिक है । (अविनꣳशिने) विनाशरहित (आन्त्यायनाय) अन्तमें स्थित विष्णुरूप मार्गशीर्षके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (अन्त्याय) स्वरूपमें होनेवाले लोक स्वरूप पुष्टिकरत्व (भौवनाय) भुवनोंके पोषक जठराग्निके दीप्त करनेवाले पौष मासके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (भुवनस्य) सम्पूर्ण प्राणियोंके (पतये) पालक अर्थात् स्नानके फलसे प्राणियोंके पालक माघ मासके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (अधिपतये) वर्षान्त होनेसे अधिक पालक फाल्गुन मासके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (प्रजापतये) द्वादश महीनेके अधिष्ठात्री प्रजापति देवताके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति दी जाती है ।

हे प्रजापते अग्ने! (इयम्) यह (ते) तुम्हारा (राट्) राज्य है अर्थात् जहां यज्ञ किया जाता है वह तुम्हारा ही राज्य है (यमनः) अग्निष्टोमादि कर्मोंमें सबके नियन्ता तुम (मित्रस्य) सखारूप इस यजमानके (यन्ता) नियामक (असि) हो (ऊर्जे) विशिष्ट अन्नरसके निमित्त (त्वा) तुमको वसुधारासे सिंचित करताहूं (वृष्ट्यै) वर्षाके निमित्त (त्वा) तुमको अभिषेक करताहूं अग्निमें आहुति दानसे अच्छी वर्षा होती है (प्रजानाम्) प्रजाओंके (आधिपत्याय) स्वामित्वप्राप्तिके निमित्त (त्वा) वसुधारासे तुमको अभिषेक करताहूं। तथाच श्रुतिः "प्रजानांत्वाधिपत्यायेत्यन्नं वा ऊर्गन्नं वृष्टिरन्नेनैवैनमेतत् प्रीणाति यद्वे वाहेयं ते राण्मित्राय यन्तासि यमन ऊर्जे त्वा वृष्ट्यै त्वा प्रजानां त्वाधिपत्यायेतीदं ते राज्यमभिषिक्तोऽसीत्येतन्मित्रस्य त्वं यन्तासि" इति [९।३।३।१०–११] श्रुतेः॥२८॥

कण्डिका २९–मंत्र १। यजु० २१।

आयुर्यज्ञेनंकल्पतांप्राणोयज्ञेनंकल्पताञ्चक्षु र्यज्ञेनंकल्पताᳪंश्रोत्रंयज्ञेनंकल्पतांवाग्य ज्ञेनंकल्पताम्मनोयज्ञेनंकल्पतामात्माय़ज्ञेनं कल्पताम्ब्रह्मायज्ञेनंकल्पताञ्ज्योतिर्यज्ञेनं कल्पताᳪंस्वर्यज्ञेनंकल्पताम्पृष्ठᳪंयज्ञेनंकल्प ताᳪंयज्ञोयज्ञेनंकल्पताम्॥ स्तोमश्चयजुश्चऽ ऋक्चसामचबृहच्चरथन्तरञ्च॥स्वर्देवाऽअगन्मामृता ऽअभूमप्रजापतेःप्रजाऽअभूमवेट्स्वाहा॥ २९॥

ऋष्यादि–(१) ॐ आयुरित्यस्य देवा ऋषयः। विराट् विकृतिश्छं०। अग्निर्देवता। वि० पू०॥ २९॥

विधि–(१) कल्पहोमः "अथ कल्पाञ्जुहोति" इति [श०९।३।३।१२]

मंत्रार्थ–(यज्ञेन) इस यज्ञके प्रसादसे (आयुः) अवस्थाकी (कल्पताम्) वृद्धि हो (यज्ञेन) यज्ञके प्रसादसे (प्राणः) प्राण (कल्पताम्) रोगरहित बलिष्ठ हों (यज्ञेन) यज्ञके प्रसादसे (चक्षुः) नेत्र इन्द्रिय (कल्पताम्) उत्कृष्टताको प्राप्तहो (यज्ञेन) यज्ञके फलसे (श्रोत्रम्) श्रोत्रइंद्रिय (कल्पताम्) उत्कर्षताको

प्राप्तहो (यज्ञेन) यज्ञके प्रसादसे (वाक्) वागिन्द्रिय (कल्पताम्) उत्कर्षताको प्राप्तहो (यज्ञेन) यज्ञके प्रभावसे (मनः) मन इन्द्रिय (कल्पताम्) स्वस्थताको प्राप्तहो (यज्ञेन) यज्ञके प्रसादसे (आत्मा) भोक्ता "आत्मा इन्द्रिय मनसे युक्त" आत्मा (कल्पताम्) प्रसन्नता लाभ करै (यज्ञेन) यज्ञद्वारा (ब्रह्म) वेद (कल्पताम्) प्रीत हो (यज्ञेन) यज्ञके प्रभावसे (ज्योतिः) स्वयंप्रकाश परमात्मा (कल्पताम्) प्राप्त हो, पुण्य कर्मका अनुष्ठान परमात्माके ज्ञानमें कारण है (यज्ञेन) यज्ञके प्रभावसे (स्वः) स्वर्ग (कल्पताम्) प्राप्त हो (यज्ञेन) यज्ञके प्रभावसे (पृष्ठम्) स्तोत्र वा स्वर्गस्थान परम सुख (कल्पताम्) प्राप्त हो (यज्ञेन) यज्ञके प्रसादसे (यज्ञः) यज्ञ (कल्पताम्) महायज्ञ करसकें अर्थात् मैं यज्ञकी उत्कृष्टता संपादन नहीं कर सकता यज्ञकी उत्कृष्टता यज्ञसे ही होती है "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः" इति [३१ अ० क० १६] (स्तोमः) त्रिवृत् पंचदशादिस्तोम (यजुः) अनियत पाद मंत्र (ऋक्) नियत पाद ऋचा (च) और (साम) गीतिमंत्र (च) और (बृहत्) बृहत् साम (च) और (रथन्तरम्) रथन्तर साम (च) भी यज्ञके प्रसादसे प्रसन्न हों "वसुधारा करके यजमान अपने निमित्त कहैं" इस यज्ञके प्रभावसे हम (देवाः) देवत्व लाभ कर (स्वः) स्वर्गमें (अगन्म) प्राप्त हुए, और वहां जाकर (अमृताः) मरणधर्म्मरहित (अभूम) हुए और (प्रजापतेः) प्रजापति हिरण्यगर्भकी (प्रजाः) प्रजा प्रियसन्तान (अभूम) हों इससे वसुधारासे सब कामनाकी प्राप्ति कही (वेट्) उक्त समस्त देवगणके प्रीतिके निमित्त यह धारा हवन आहुत होती हैं यह सबही प्रसन्न हों (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो वस्तु ३४७ [यजुः–संख्या ४०१] ॥ २९ ॥ [२]

प्रमाण–"तमेतंवेदानुवचनेन विविदिषन्ति ब्रह्मचर्येणतपसाश्रद्धयायज्ञेनानाशकेन" इति श्रुतेः [१४ । ७ । २ । २४] "वषट्कारो हैष परोक्षं यद्वेट्कारो वषट्कारेण वा वै स्वाहाकारेण वा देवेभ्योऽन्नं प्रदीयते" इति [९ । ३ । ३ । १४] श्रुतेः ॥ २९ ॥

आशय–यज्ञ और उसके साधन तथा इस प्राणिको जो कुछ आवश्यकता होती है उसका वर्णन इन मंत्रोंमें किया गया है यज्ञके फलसे यह उपरोक्त ३४७ वस्तु सम्पन्न हों तथा यह सब कुछ यज्ञहीके निमित्त सम्पादन हौं मनुष्यका सर्वस्व भी ईश्वरका है इस कारण सब यज्ञके निमित्त सम्पन्न हौं यही प्रार्थना की है॥२९॥

इति वसोर्धारामन्त्राः ।

कण्डिका ३०–मंत्र १. अनु० ९।

वाजंस्यनु प्प्रंसुवेमातरंम्महीमदितिन्नामवचंसा

करामहे ॥ यस्यामिदंविश्श्वम्भुवनमाविवेशतस्यान्नोदेवः सविताधर्म्मसाविषत् ॥ ३० ॥

विधि-(१) सर्वौषधिसे उदुम्बर चमस पूर्णकरिके चतुष्कोण पुष्कर स्रुवके द्वारा यहांसे आरंभ कर सात कण्डिकाके सात मंत्र पाठपूर्वक सात आहुति प्रदान करे यह सात मंत्र वाजपेयसम्बन्धी हैं [का० १८ । ५ । ४ । ५] मन्त्रार्थ-ॐ वाजस्येति इसकी व्याख्या ९ अ० ५ मंत्रमें होगई. होमे विनिं० ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१-मंत्र १ ।

विश्श्वेऽअद्यमुरुतोविश्श्वऽऊतीविश्श्वेभवन्त्वग्नयुः समिद्धाः ॥ विश्श्वेनोदेवाऽअवसागमन्तुविश्श्वमस्तुद्रविणंवाजोऽअस्म्मे ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्व इत्यस्य लुशोधानाक ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । विश्वेदेवा देवताः । होमे वि० ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ-(अद्य) आज हमारे इस यज्ञमें (विश्वे) सम्पूर्ण (मरुतः) मरुद्गण (आगमन्तु) आगमन करें (विश्वे) सम्पूर्ण और गणदेवता रुद्र आदित्य (ऊती) इस निमित्तसे आवें (विश्वे) सम्पूर्ण (देवाः) देवतागण (नः) हमारे (अवसा) हविग्रहणके निमित्त आओ (विश्वे) सम्पूर्ण (अग्नयः) अग्नि गार्हपत्यादिक (समिद्धाः) प्रदीप्त (भवन्तु) हों (विश्वम्) सम्पूर्ण (द्रविणम्) गोभूमि सुवर्णादि धन (वाजः) अन्न (अस्मे) हमको (अस्तु) प्राप्त हो [ऋ० ७ । ८ । ८ ।] ॥ ३१ ॥

विशेष-मरुतोंके सात गण एक हैं सब ४९ संख्यामें हैं कारण कि एक गणमें सात २ होते हैं अ० १७ मं० ८० से ८५ तक देखो ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२-मन्त्र १ ।

वाजोनः सुप्तप्प्रदिशुश्चतस्रोवापरावतः ॥ वाजोनोविश्श्वैर्द्देवैर्द्धनसाताविहावतु ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वाज इत्यस्य लुशोधानाक ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । अन्नं दैवतम् । वि० पू० ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ-(नः) हमारा (वाजः) अन्न (सप्त) सात (प्रदिशः) दिशा अर्थात् भूरादि तीन लोक और पूर्वादि चार दिशा (वा) तथा (परावतः) दूरस्थित (चतस्रः) चार महर्लोक जनलोक तपलोक सत्यलोकको पूर्ण करो अथवा सात दिशा और 'प्र' कथनसे तीन लोक और महरादि चार लोक इस प्रकार दिशा और सात लोक हमारे अन्नसे तृप्त हों (इह) इस लोक वा यज्ञमें (धनसातौ) धनके विभागकाल प्राप्त होनेमें (वाजः) अन्न (नः) हमको (विश्वैः) सम्पूर्ण (देवैः) देवताओंके साथ (अवतु) पालन करो ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३—मन्त्र १ ।

वाजो॑नोऽअ॒द्यप्रसु॑वातिदा॒नं॑वाजो॑दे॒वाँ२ऽऋ॒तुभिः॑ कल्पयाति ॥ वाजो॒हिमा॒सर्व॑वीरञ्ज॒जान॒विश्वा॒ऽआशा॒वाज॑पतिर्जयेयम् ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वाज इत्यस्य कुशोधानाक ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अन्नं दैवतम् । वि० पू० ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ-(अद्य) आज (वाजः) अन्नकी अधिष्ठात्री देवता (नः) हमको (दानम्) दानके निमित्त (प्रसुवाति) प्रेरणा करै (वाजः) अन्न (ऋतुभिः) ऋतुओंके संग (देवान्) देवताओंको (कल्पयाति) यथा स्थानमें कल्पना करैं (वाजः) अन्न (हि) ही (मा) मुझको (सर्ववीरम्) पुत्र पौत्रादिसम्पन्न (जजान) करै (वाजपतिः) अन्नसे समृद्ध होकर मैं (सर्वाः) सम्पूर्ण (आशाः) दिशाओंको (भवेयम्) वशी करनेमें समर्थ हूं ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४—मंत्र १ ।

वाज॑ः पु॒रस्ता॑दु॒तम॑ध्य॒तो नो॒वाजो॑दे॒वान्ह॒विषा॑वर्द्धयाति ॥ वाजो॒हिमा॒सर्व॑वीरञ्च॒कार॒सर्वा॒ऽआशा॒वाज॑पतिर्भवेयम् ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वाज इत्यस्य कुशोधानाक ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अन्नं दैवतम् । वि० पू० ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ-(वाजः) अन्न (नः) हमारे (पुरस्तात्) आगे (उत) और (मध्यतः) गृहके मध्यमें स्थित हो (वाजः) अन्न (हविषा) हविसे (देवान्) देवताओंको (वर्धयाति) तृप्त करता है (वाजः) अन्न (हि) ही (मा) मुझको (सर्ववीरम्) पुत्रादिसे युक्त (चकार) करैं (वाजपतिः) अन्नसे समृद्ध होकर मैं (विश्वाः) सम्पूर्ण (आशाः) दिशाओंको (भवेयम्) जय करनेमें समर्थ हूं॥ ३४॥

कण्डिका ३५-मंत्र १ ।

सम्मा॑सृजामि॒पय॑सापृथि॒व्याः सम्मा॑सृजाम्य॒द्भि॒रोष॑धीभिः ॥ सो॒हंवाज॑ꣳसनेयमग्ने ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ समित्यस्य लुशोधानाक ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (पृथिव्याः) पृथिवीसम्बन्धी (पयसा) रससे (मा) अपने आत्माको (संसृजामि) संयुक्त करता हूं (अद्भिः) जलोंसे (ओषधीभिः) ओषधियोंसे (मा) अपने आत्माको (सम्) संयुक्त करताहूं (सः) वह (अहम्) मैं ओषधी जलसे सिंचित होकर (वाजम्) अन्नकी (सनेयम्) उपासना करता हूं अथवा हे अग्ने ! जो मैं ओषधि जलसे हवनद्वारा तुमको संयुक्त करता हूं सो मैं अन्नका उपासक हूं ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६-मंत्र १ ।

पयः॑ पृथि॒व्याम्पय॒ऽओष॑धीषु॒पयो॑दि॒व्यन्तरि॑क्षे॒पयो॑धाः ॥ पय॑स्वतीः प्र॒दिशः॑ सन्तु॒मह्य॑म् ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पय इत्यस्य लुशोधानाक ऋषिः । विराट् छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ-हे अग्ने ! तुम (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें (पयः) रसको (धाः) धारण करो (ओषधीषु) ओषधियोंमें (पयः) रसको स्थापन करो (दिवि) द्युलोकमें (पयः) रसको स्थापन करो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें (पयः) रसको

---

१ हमारे प्रदान करनेको ।

स्थापन करो (मह्यम्) मेरे निमित्त (प्रदिशः) दिशा विदिशा (पयस्वतीः) आहुतिपरिणामसे रससंयुक्त (सन्तु) हों ॥ ३६ ॥

इति सर्वौषधीहोमः ।

कण्डिका ३७-मंत्र १ ।

देवस्यत्त्वासवितुःप्प्रसवेश्श्विनोर्बाहुब्भ्यांम्पूष्णो हस्ताब्भ्याम् ॥ सरस्वत्त्यैवाचोयन्तुर्य्यन्त्रेणाग्नेः साम्म्राज्ज्येनाभिषिञ्चामि ॥ ३७ ॥ [८]

ऋष्यादि-(१) ॐ देवस्येत्यस्य कुशोधानाक ऋषिः । आर्षी पंक्तिश्छन्दः । लिङ्गोक्ता देवता । यजमानाभिषेचने विनियोगः ॥ ३७ ॥

विधि-(१) कर्मापवर्गसमाप्ति होनेपर चतुष्कोण उदुम्बर स्रुव आहवनीयमें प्रक्षेप करनेके अनन्तर अग्निपुच्छके उत्तरमें परिश्रितसे मिले पूर्वकी ओर ग्रीवा उत्तर लोमवाले कृष्णाजिनको विछाकर उसके ऊपर ब्रह्मतेजकी कामनावाले यजमानके बैठनेमें अध्वर्यु हवन करनेसे वचीहुई सब ओषधी पात्रमें रख दूध और जल उसमें मिलाय इस मंत्रसे यजमानका अभिषेक करै [का० १८ । ५ । ६-९] अथवा 'क्षीरोदके वा' कहनेसे पूर्व पक्षके निरास होनेमें क्षीरोदकसे अभिषेक करै "वाजप्रसवीयंतद्यत्तानि" इति [९ । ३ । ४ । ७] श्रुतेः । औदुम्बर 'गूलर' के पात्रमें जल रखकर सिंचन करै "औदुम्बरे पात्रेऽप आसिच्य पयश्च" इत्युक्तेः [का० १४ । ५ । १६] मन्त्रार्थ-(सवितुः) सविता (देवस्य) देवकी (प्रसवे) आज्ञामें वर्तमान (अश्विनोः) अश्विनीकुमारकी (बाहुभ्याम्) बाहु और (पूष्णः) पूषा देवताके (हस्ताभ्याम्) हाथोंसे तथा (सरस्वत्यै) सरस्वती सम्बन्धी (वाचः) वाणीके (यन्तुः) नियन्ता प्रजापतिके (यन्त्रेण) नियमवश (अग्नेः) अग्निके (साम्राज्येन) चक्रवर्तित्वसे हे यजमान ! (त्वा) तुमको (अभिषिञ्चामि) अभिषेक करताहूं ॥ ३७ ॥ [८]

कण्डिका ३८-मंत्र २ । अनु० १० ।

ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोप्सरसोमुदोनाम ॥ सनऽइदम्ब्रह्मक्षत्रम्पातुतस्मै स्वाहावाट्ताब्भ्यःस्वाहा ॥ ३८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ऋताषाडित्यस्य कुशोधानाक ऋषिः । विराडुष्णिक्छन्दः । गन्धर्वो देवता । (२) ॐ तस्य ओषध इत्यस्य कुशोधानाक ऋषिः । विराडुष्णिक्छं० । अप्सरसो देवताः । होमे विनियोगः ॥ ३८ ॥

विधि -(१) इस संस्कार किये घृतसे थोडा घृत ग्रहण करके उसके बारह अंश करके क्रमसे छः कण्डिकाके बारह मंत्रोंसे बारह राष्ट्रभृतसंज्ञक आहुति प्रदान करे, व्यतिषिक्त बारह मंत्रोंमें प्रथम 'स्वाहा वाट्' शेषमें 'स्वाहा' लगाना जो मंत्रमें पुंलिङ्ग है वह व्यवहित पठित है उनको अपकृष्यतापूर्वक पढकर पहला मंत्र संपादन करना जो स्त्रीलिंग है जैसे "तस्योषधयोप्सरसः" इत्यादि उनको उत्कृष्यकर उत्तर मंत्र सम्पादन करना [का० १८ । ५ । १६] इस प्रकार पांच कण्डिकाओंमें मंत्रविभाग जानना. तथा च श्रुतिः "पुꣳसे पूर्वमस्मै जुहोत्यथ स्त्रीभ्यः पुमाꣳसं तद्वीर्येणात्यादधात्येकस्मा इव पुꣳसे जुहोति बह्वीभ्यः इव स्त्रीभ्यस्तस्मादप्येकस्य पुꣳसो बह्व्यो जाया भवन्त्युभाभ्यां वषट्कारेण च स्वाहाकारेण च पुꣳसे जुहोति स्वाहाकारेणैव स्त्रीभ्यः पुमाꣳसमेव तद्वीर्येणात्यादधाति" इति [श० ९ । ४ । १ । ६] मन्त्रार्थ-(ऋताषाट्) सत्यका सहनेवाला (ऋतधामा) अविनाशी धामवाला (गन्धर्वः) पृथ्वीधारणकर्ता गन्धर्व (अग्निः) अग्नि अर्थात् गन्धर्वनामक अग्नि (नः) हमारी (इदम्) इस (ब्रह्म) ब्राह्मणजातिको (क्षत्रम्) क्षत्रजातिको (पातु) रक्षा करै (तस्मै) उसकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहावाट्) यह आहुति देते हैं भली प्रकार गृहीत हो १ । (मुदः) प्राणियोंकी प्रसन्न करनेवाली मुदं (नाम) नामवाली (ओषधयः) ओषधियें (तस्य) उस अग्निरूप गन्धर्वकी (अप्सरसः) अप्सरारूपसे भोगने योग्य हैं वेभी हमारी रक्षा करें (ताभ्यः) उन ओषधियोंके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति दी जाती है भली प्रकार गृहीत हो २ ॥ ३८ ॥

प्रमाण-१ "ओषधयो वै मुदः ओषधीभिर्हीदꣳसर्वं मोदते" इति [९। ४ । १ ७ ।] श्रुतेः । २ "अग्निर्ह गन्धर्व ओषधीभिरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्राम" इति [९ । ४ । १ । ७] श्रुतेः ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मन्त्र २ ।

सꣳहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरसऽआयुवो नाम ॥ स न ऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ संहित इत्यस्य लुशोधानाक ऋषिः । आर्ची बृहती छन्दः । गन्धर्वो देवता । (२) ॐ तस्येत्यस्य लुशोधानाक ऋ० । साम्नी बृहती छन्दः । अप्सरसो देवताः । राष्ट्रभृदाहुतिदाने वि० ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ-(सᳬहितः) दिन रातकी संधि करनेवाला (विश्वसामा) सम्पूर्ण सामरूप वा सब साम जिसकी स्तुति करते हैं (सूर्यः) सूर्यरूप (गन्धर्वः) गन्धर्व (सः) वह (नः) हमारे (ब्रह्म) ब्राह्मण जातिको (क्षत्रम्) क्षत्रिय जातिको (पातु) रक्षा करे (तस्मै) उसके निमित्त (स्वाहावाट्) यह आहुति देते हैं भली प्रकार गृहीत हो ३ । (आयुवः) परस्पर मिलनेके स्वभाववाली आयुव (नाम) नामवाली (मरीचयः) मरीचि किरणें (तस्य) उसकी (अप्सरसः) अप्सरा हैं वे हमारी रक्षा करें (ताभ्यः) उनके निमित्त (स्वाहा) आहुति देते हैं भली प्रकार गृहीत हो ४ ॥ ३९ ॥

प्रमाण-१ "विश्वसामेत्येष ह्येव सर्वᳬसाम" इति [९ । ४ । १ । ८] श्रुतेः । २ "सूर्यो ह गन्धर्वो मरीचिभिरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्राम" इति [९ । ४ । १ । ८] श्रुतेः । ३ "आयुवाना इव हि मरीचयः प्लवन्ते" इति [९ । ४ । १ । ८] श्रुतेः ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०-मंत्र २ ।

सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम ॥ स न ऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ४० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सुषुम्ण इत्यस्य लुशोधानाक ऋषिः । प्राजापत्या त्रिष्टुप्छन्दः । गन्धर्वो देवता । वि० पू० । (२) ॐ तस्येत्यस्य लुशोधानाक ऋ० । आर्ची गायत्री छन्दः । अप्सरसो देवताः । वि० पू० ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ-(सुषुम्णः) यज्ञद्वारा सुखदाता (सूर्यरश्मिः) सूर्यकी किरणसे किरणवाला (चन्द्रमाः) चन्द्रमा नाम (गन्धर्वः) भूमिधारी गन्धर्व है (सः) वह (नः) हमारी (इदम्) इस (ब्रह्म) ब्राह्मणजाति (क्षत्रम्) क्षत्रियजातिको (पातु) रक्षा करै (तस्मै) उस चन्द्रमारूप गन्धर्वके निमित्त (स्वाहावाट्) आहुति दी जाती है भली प्रकार गृहीत हो । (भेकुरयः) कान्ति करनेवाले

भेकुरि (नाम) नामक (नक्षत्राणि) नक्षत्र (तस्य) उसकी (अप्सरसः) अप्सरा हैं वे हमारी रक्षा करैं (ताभ्यः) उनकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहा) आहुति दीजाती है ६ ॥ ४० ॥

प्रमाण–१ "सूर्यस्येव हि चन्द्रमसो रश्मयः" इति [९ । ४ । १ । ९] श्रुतेः २ "चन्द्रमा ह गन्धर्वो नक्षत्रैरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्राम भेकुरयोनामेति भाकुरयो ह नामैते भाᳪंहि नक्षत्राणि कुर्वन्ति" इति [९।४।१।९] श्रुतेः ॥४०॥

कण्डिका ४१–मंत्र २।

इ॒षि॒रो वि॒श्वव्य॑चा॒ वातो॑ गन्ध॒र्वस्तस्याऽपो॑ऽअप्स॒रस॒ऽऊर्जो॒ नाम॑ ॥ स न॑ऽइ॒दं ब्रह्म॑ क्ष॒त्रं पा॑तु॒ तस्मै॒ स्वाहा॒ वाट् ताभ्यः॒ स्वाहा॑ ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ इषिर इत्यस्य लुशोधानाक ऋषिः । आर्ची बृहती छन्दः । गन्धर्वो देवता (२) ॐ तस्येत्यस्यासुरी गायत्री छन्दः । अप्सरसो देवताः । वि० पू० ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ–(इषिरः) शीघ्रगामी (विश्वव्यचाः) सर्वत्र व्याप्त (गन्धर्वः) भूमिधारी (वायुः) वायु हैं (सः) वह वायु गंधर्व (नः) हमारी (ब्रह्म) ब्राह्मण जाति (क्षत्रम्) क्षत्रिय जातिकी (पातु) रक्षा करै (तस्मै) उसकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहा वाट्) आहुति दीजाती है ७ । (ऊर्जः) प्राणियोंको जिवानेवाले रस (नाम) नामक (आपः) जल (तस्य) उसकी (अप्सरसः) अप्सरा हैं वे हमारी रक्षा करैं (ताभ्यः) उनके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति देते हैं भली प्रकार गृहीत हो ॥ ४१ ॥

प्रमाण–१ "इषिर इति क्षिप्र इत्येतद्विश्वव्यचा इत्येष हीदᳪंसर्वं व्यचः करोति" इति [९।४।१।१०] श्रुतेः । २ "वातो ह गन्धर्वोऽद्भिरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्राम" इति [९।४।१।१०] श्रुतेः । ३ "आपो वा ऊर्जोऽद्भ्यो ह्यूर्ग् जायते" इति [९।४।१।१०] श्रुतेः ॥ ४१ ॥

कण्डिका ४२–मन्त्र २ ।

भु॒ज्युः सु॑प॒र्णो य॒ज्ञो ग॑न्ध॒र्वस्तस्य॒ दक्षि॑णाऽअप्स॒

रसँस्तावानाम ॥ सनऽइदम्ब्रह्मंक्षत्रम्पातुतस्मै स्वाहावाट्ताभ्युऽस्वाहा ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ भुज्युरित्यस्य लुशोधानाक ऋषिः । आर्षी गायत्री छं० । गन्धर्वो देवता । वि० पू० (२) ॐ तस्येत्यस्य लुशोधानाक ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छन्दः । अप्सरसो देवताः । वि० पू० ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ-(भुज्युः) प्राणियोंका पालक (सुपर्णः) स्वर्गमें गमन करनेवाला (यज्ञः) यज्ञनाम (गन्धर्वः) गन्धर्व है (सः) वह (नः) हमारी (ब्रह्म) ब्राह्मणजाति (क्षत्रम्) क्षत्रजातिको (पातु) रक्षा करें (तस्मै) उस यज्ञरूप गन्धर्वके निमित्त (स्वाहावाट्) श्रेष्ठ आहुति देते हैं भली प्रकार स्वीकार हो ९ । (स्तावा) यज्ञ और यजमानकी स्तुति करानेसे स्तावा (नाम) नामवाली(दक्षिणाः) दक्षिणा (तस्य) उस यज्ञकी (अप्सरसः) अप्सरा हैं वे हमारी रक्षा करें (ताभ्यः) उनकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहा) आहुति देते हैं भलीप्रकार गृहीत हो. आशय यह कि यज्ञद्वारा स्वर्गमें गमन होता है और वह दक्षिणासे सफल होता है १० ॥४२॥

प्रमाण-१ "यज्ञो हि सर्वाणि भूतानि भुनक्ति" [श० ९ । ४ । १ । ११।] २ "यज्ञो ह गन्धर्वो दक्षिणाभिरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्राम" इति [९।४। १।११] श्रुतेः । ३ "दक्षिणाभिर्हि यज्ञः स्तूयतेऽथो यो वै कश्च दक्षिणां ददाति स्तूयते एव सः" इति [९।४।१।११] श्रुतेः ॥ ४२ ॥

कण्डिका ४३-मन्त्र २ ।

प्रजापतिर्व्विश्वकर्म्मामनोगन्धर्वस्तस्यऽऋक्सामान्यप्सरसऽएष्टयोनाम ॥ सनऽइदम्ब्रह्मंक्षत्रम्पातुतस्मैस्वाहावाट्ताभ्युऽस्वाहा ॥ ४३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रजापतिरित्यस्य लुशोधानाक ऋ० । साम्नी जगती छं० । गन्धर्वो देवता । वि० पू० । (२) ॐ तस्येत्यस्य लुशोधानाक ऋ० । आर्ची गायत्री छन्दः । अप्सरसो देवताः । वि० पू० ४३॥

मन्त्रार्थ-(प्रजापतिः) प्रजाका पालक (विश्वकर्मा) सब कुछ करनेवाला (मनः) मनरूप (गन्धर्वः) गन्धर्व है (सः) वह (नः) हमारे (इदम्) इस (ब्रह्म) ब्राह्मणजाति (क्षत्रम्) क्षत्रिय जातिको (पातु) रक्षा करै (तस्मै)

उसकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहावाट्) वषट्कारपूर्वक यह आहुति देते हैं भली प्रकार स्वीकार हो ११। (एष्टयः) अभीष्ट देनेसे एष्टि (नाम) नामवाली (ऋक्सामानि) ऋक् और सामकी ऋचा (तस्य) उसकी (अप्सरसः) अप्सरा हमारी ब्रह्म और क्षत्रकी रक्षा करो (ताभ्यः) उनके निमित्त (स्वाहा) आहुति दीजाती है भलीप्रकार गृहीत हो १२॥ ४३॥

प्रमाण—१"स हीद छं सर्वमकरोत्" इति श्रुतेः [९।४। १।१२] "मनो ह गन्धर्व ऋक्सामैरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्रामेष्टयो नामेत्यृक्सामानि वा एष्टय ऋक्सामे ह्याशासत इति नोऽस्त्विवत्थं नोऽस्तु" इति [९।४।१।१२] श्रुतेः॥ ४३॥

इति राष्ट्रभृद्धोमः।

कण्डिका ४४—मंत्र १।

सनो॑ भुव॑नस्य पते प्रजापते॒ यस्य॑ त॑ऽउ॒परि॑ गृ॒हा यस्य॑ वे॒ह॥ अ॒स्मै ब्र॑ह्म॒णे॑ऽस्मै क्ष॒त्राय॑ म॒हि शर्म॑ यच्छ॒ स्वाहा॑॥ ४४॥

ऋष्यादि—(१)ॐ सन इत्यस्य कुशोधानाक ऋषिः। प्रस्तारपंक्तिश्छं०। प्रजापतिर्देवता। होमे वि०॥ ४४॥

विधि—(१) पूर्वसंस्कार किये घृतसे पांचवार घृत ग्रहण करके आहवनियके ऊपर प्रतिप्रस्थातादि द्वारा रथके शिरभागपर धारण किया यह पांच भाग करके इस मंत्रके पांच बार पाठके अनुसार पांच आहुति प्रदान करै [का० १८।५।१७]

मन्त्रार्थ—(भुवनस्य) संसारके (पते)पालन करनेवाले (प्रजापते) हे प्रजापते! (यस्य) जिस (ते) आपके (उपरि) स्वर्ग लोकमें (गृहा) घर हैं (वा) अथवा (यस्य) जिस आपके (इह) इस लोकमें घर हैं (सः) वह आप (नः) हमारे (अस्मै) इस (ब्रह्मणे) ब्राह्मण (अस्मै) इस (क्षत्राय) क्षत्रियके निमित्त (महि) बडे (शर्म) सुखको (यच्छ) दीजिये (स्वाहा) यह दीहुई आहुति भलीप्रकार स्वीकार हो॥ ४४॥

प्रमाण१—"अथ रथशीर्षे जुहोति" इति [श० ९।४।१।१३] श्रुतेः॥ ४४॥

भावार्थ—हे त्रिभुवनके पालन करनेवाले प्रजापति! क्या ऊपर क्या यहां सर्वत्रही तुम्हारे घरहैं, इससे हम जिस किसी स्थानमें रहें तुम्हारेही घरमें रहते हैं इस कारण हमारे इन ब्राह्मण और क्षत्रियको कल्याण प्रदान करो तुम्हारी प्रीतिके निमित्त यह आहुति देते हैं॥ ४४॥

इति रथहोमः।

कण्डिका ४५-मंत्र १ ।

समुद्रोसिनभस्वानार्द्रदानुः शम्भूर्म्मयोभूरभिमा वाहिस्वाहामारुतोसिमरुताङ्गणः ॥ शम्भूर्म्मयो भूरभिमावाहिस्वाहावस्यूरसिदुवस्वाञ्छम्भूर्म्मयो भूरभिमावाहिस्वाहा ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ समुद्रोऽसीत्यस्य लुशोधानाक ऋषिः । निचृद्गायत्रीछन्दः । वायुर्देवता । आहुतिदाने वि० । (२-३) ॐ मारुत इत्यस्य मन्त्रद्वयस्य लुशोधानाक ऋ० । आर्ष्युष्णिक्छन्दः । वायुर्दे० । आहुतिदाने वि० ॥ ४५ ॥

विधि-अनन्तर इस रथको अग्निकी उत्तर वेदीके ऊपर पूर्वकी ओर मुख करके स्थापन करे. उसके तीन स्थानोंमें इस कण्डिकाके तीन मंत्र पढकर तीन आहुति प्रदान करै इनमें प्रथम रथयुग दक्षिण धुरके अधोभागमें फिर उत्तर ध्रुवके अधोभागमें अंतमें युगमध्यके अधोभागमें आहुति दे [का० १८ । ६ । १] मंत्रार्थ-हे वायो ! तुम (समुद्रः) अगाध वा जलोंसे गीले होनेवाले (नभस्वान्) आकाशमण्डलमें रहनेवाले अथवा जिसमें नक्षत्रमण्डल हैं ऐसे (आर्द्रदानुः) वर्षा और नीहारादिद्वारा पृथ्वीको आर्द्र करनेवाले (शम्भूः) इस लोकका सुख प्राप्त करानेवाले (मयोभूः) परलोकका सुख प्राप्त करनेवाले (असि) हो (मा) हमारे प्रति (अभिः) सुमुख होकर (वाहि) अपनी वहनात्मता प्रकाश करो जिससे हम दोनों लोकमें कल्याण प्राप्त करैं "असौ वै लोकः समुद्रः" इति [९ । ४ । २ । ५ ।] श्रुतेः १ । हे वायो ! तुम (मरुतः) अन्तरिक्षचारी " अन्तरिक्षलोको वै मारुतः" इति [९ । ४ । २ । ६] श्रुतेः । (मरुतांगणः) पूर्वोल्लिखित शुक्र ज्योति आदि मरुद्गण (असि) हो (शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा) तुम हमारे सन्मुख होकर वहनात्मता प्रकाश करो जिससे हम इस लोक और परलोकमें कल्याण प्राप्त कर सकें तुम्हारे निमित्त आहुति देते हैं यह सुगृहीत हो २ । हे वायो ! तुम (अवस्यूः) रक्षाकर्ता " अयं वै लोकोऽवस्यूः " इति [९ । ४ । २ । ७ ।] श्रुतेः । भूलोकरूप (दुवस्वान्) अन्नके उत्पादक वा हविलक्षण रूप अन्नके रखनेवाले (शम्भूः) इस लोकके सुखदाता (मयोभूः) पर लोकके

सुखदाता (असि) हो इस कारण (मा) मुझे दोनों लोकका सुख देनेको (अभि) मेरे सम्मुख होकर (वाहि) अपनी वहनात्मता प्रकाश करो ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६–मंत्र १ ।

यास्ते॑ऽअग्ने॒ सूर्ये॒ रुचो॒ दिव॑मात॒न्वन्ति॑ र॒श्मिभिः॑ ॥ ताभि॑र्नोऽअ॒द्य सर्वा॑भी रु॒चे जना॑य नस्कृधि ॥ ४६ ॥

विधि–(१) यहांसे लेकर चार कण्डिकात्मक चार मंत्र और पचासवीं कण्डिकात्मक पांच मंत्र इन नौ मंत्रोंसे नौबार उस संस्कार किये घृतसे नौ आहुति प्रदान करै [का० १८ । ६ । ६ ।]

मन्त्रार्थ–यास्त इति इसकी व्याख्या अ० १३ मं० २२ में होगई । होमे वि० ॥ ४६ ॥

कण्डिका ४७–मंत्र १ ।

यावो॑ दे॒वाः सूर्ये॒ रुचो॒ गोष्वश्वे॑षु॒ या रुचः॑ ॥ इन्द्रा॑ग्नी॒ ताभिः॒ सर्वा॑भी॒ रुचं॑ नो धत्त बृहस्पते ॥ ४७ ॥

मंत्रार्थ–यावो देवा इसकी व्याख्या १३ । २३ में होगई । वि० पू० ॥४७॥

कण्डिका ४८–मंत्र १ ।

रुचं॑ नो धेहि ब्राह्म॒णेषु॒ रुच॒ᳬ राज॑सु नस्कृधि ॥ रुचं॒ विश्ये॑षु शू॒द्रेषु॒ मयि॑ धेहि रु॒चा रुच॑म् ॥ ४८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ रुचन्न इत्यस्य लुशोधानाक ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । घृताहुतिदाने वि० ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ–हे अग्ने ! (नः) हमारे (ब्राह्मणेषु) ब्राह्मणोंमें (रुचम्) कान्तिको (धेहि) स्थापन कर (नः) हमारे (राजसु) क्षत्रियोंमें (रुचम्) कान्तिको (कृधि) स्थापन कर हमारे सम्बन्धी (विश्येषु) वैश्योंमें (रुचम्) कान्तिको स्थापन कर हमारे (शूद्रेषु) शूद्रोंमें कान्तिको स्थापन करो (मयि) मुझमें (रुचा) कान्तिके साथ (रुचम्) अविच्छिन्न कान्तिको (धेहि) स्थापन करो अर्थात् मैं विशेष कान्तिमान् हूं ॥ ४८ ॥

कण्डिका ४९-मंत्र १ ।

तत्त्वा॑ यामि॒ ब्रह्म॑णा॒ वन्द॑मान॒स्तदा शा॑स्ते॒ यज॑मानो ह॒विर्भि॑: ॥ अहे॑डमानो वरुणे॒ह बो॒ध्युरु॑श॒ꣳस॒ मा न॒ऽआयु॒: प्रमो॑षीः ॥ ४९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तत्त्वायामीत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । वरुणो देवता । वि० पू० ॥ ४९ ॥

मन्त्रार्थ-(वरुण) वेदमंत्रोंसे स्तुत हे वरुण ! (यजमानः) यजमान (हविर्भिः) हवि दान करके (तत्) जो कुछ धन पुत्रादिकी (आशास्ते) आकांक्षा करता है (तत्) वह यजमानका इष्ट (ब्रह्मणा) त्रयीलक्षण वेदके द्वारा (वन्दमानः) स्तुतिको करताहुआ मैं (त्वा) तुमसे (यामि) याचना करताहूं (उरुशꣳस) हे महास्तुतिको प्राप्त आराध्य देव ! (इह) इस स्थानमें (अहेडमानः) क्रोध न करते तुम (बोधि) मेरी प्रार्थनाको जानो (नः) हमारी (आयुः) आयुको (मा) मत (प्रमोषीः) नष्ट करो अर्थात् दीर्घायु हो. आशय यह कि हमारी परमायु पापादिद्वारा अपहृत न हो ॥ ४९ ॥

प्रमाण-"यामीति याच्ञाकर्मसु" [निघं० ३ । १९ । २] ॥ ४९ ॥

कण्डिका ५०-मंत्र ५ ।

स्व॒र्ण घ॒र्मः स्वाहा॒ स्व॒र्णार्कः स्वाहा॒ स्व॒र्ण शु॒क्रः स्वाहा॒ स्व॒र्ण ज्योति॒: स्वाहा॒ स्व॒र्ण सूर्य॒: स्वाहा॑ ॥ ५० ॥ [१२]

ऋष्यादि-(१-३-४-५) ॐ प्रथम तृतीय चतुर्थ पञ्चम मन्त्राणां शुनःशेप ऋ० । दैवी पंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता (२) ॐ द्वितीयमन्त्रस्य शुनःशेप ऋ० । दैवी पंक्तिश्छन्दः । होमे विनियोगः ॥ ५० ॥

विधि-(१) अर्काश्वमेध संततिसंज्ञावाली पांच आहुति हैं. तथाच श्रुतिः "अथार्काश्वमेधयोः सन्ततीर्जुहोति" [श० ९ । ४ । २ । १८] अर्थात् अर्क अग्नि अश्वमेध रवि है इनकी सन्तति अग्नि और आदित्यकी ऐक्यता करनेवाली आहुति हैं "अग्निरर्कोसावादित्योऽश्वमेधस्तौ सृष्टौ नानैवास्तां तौ देवा एताभिराहुतिभिः समतन्वन्समधुः" इति [९ । ४ । २ । १८] श्रुतेः ।

मंत्रार्थ-(स्वः) दिनकी (न) समान (घर्मः) आदित्य देवताकी प्रीतिके

निमित्त यह आहुति प्रदान करते हैं (स्वाहा) भलीप्रकारसे गृहीत हो अर्थात् आदित्यको अग्निमें स्थापन करते हैं "असौ वा आदित्यो घर्मोऽमुं तदादित्यमस्मिन्नग्नौ प्रतिष्ठापयति" इति [९ । ४ । ३ । १९] श्रुतेः १ । (स्वः) सूर्यकी (न) समान (अर्कः) अग्नि है उसको आदित्यमें स्थापन करताहूं (स्वाहा) अर्चनीय आदित्य देवताकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति दीजाती है भली प्रकार गृहीत हो "अयमग्निरर्क इमं तदग्निममुष्मिन्नादित्ये प्रतिष्ठापयति" इति [९ । ४ । ३ । २०] श्रुतेः २ । (स्वः) दिनकी (न) समान (शुक्रः) आदित्य अर्थात् शुक्लवर्णप्रभाविशिष्ट आदित्य देवताकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति देते हैं भली प्रकार गृहीत हो वा आदित्यको आदित्यहीमें स्थापन करताहूं "असौ वा आदित्यः शुक्रस्तं पुनरमुत्र दधाति" इति [९ । ४ । २ । २१] श्रुतेः ३ । (स्वः) स्वर्गकी (न) समान (ज्योतिः) अग्नि है अग्नि स्वर्ग देता है इसकारण स्वर्गकी उपमा दी उस अग्निको अग्निमें स्थापनकरता हूं " अयमग्निर्ज्योतिस्तं पुनरिह दधाति " इति [९ । ४ । २ । २२] श्रुतेः अर्थात् प्रकाशके निदान और प्रकाशस्वरूप आदित्य देवताकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति दी जाती है भली प्रकारसे गृहीत हो ४ । "इस प्रकार सूर्यमें अग्निको, सूर्यको अग्निमें, सूर्यको सूर्यमें, अग्निको अग्निमें, स्थापन करकै उसका संयोगकर सूर्यको श्रेष्ठ किया" । (स्वः) सम्पूर्ण देवताओंके रूपकी (न) समान (सूर्यः) जो सूर्य है उसको (स्वाहा) उत्तम करता हूं अव्ययोंके अनेक अर्थ होनेसे स्वाहा शब्दका उत्तम अर्थ है, सब देवता भ्रान्तिसे भिन्न भिन्न दीखते हैं वस्तुतः एकही सूर्य नानारूप है "असौ वा आदित्यः सूर्योऽमुं तदादित्यमस्य सर्वस्योत्तमं दधाति तस्मादेषोस्य सर्वस्योत्तमः" इति [९ । ४ । २ । २३] श्रुतेः । अथवा प्राणिवर्गको अपने अपने कार्यमें प्रेरणकरनेवाले आदित्य देवताके निमित्त यह आहुति दीजातीहै भली प्रकार गृहीत हो ॥ ५० ॥

विशेष—इस प्रकार पांच आहुतियोंसे अग्नि और सूर्यका ऐक्यविधान करकै सब देवताओंमें अर्ककी उत्तमता सम्पादन की ॥ ५० ॥ [१३]

इति वातहोमः ।

कण्डिका ५१—मंत्र १. अनु० ११ ।

अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन दिव्यꣳ सुपर्णं वयसा बृहन्तम् ॥ तेन वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टपꣳ स्वो रुहाणाऽअधि नाकमुत्तमम् ॥ ५१ ॥ शतम् ॥ १००० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निमित्यस्य शुनःशेप ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । परिधीन्स्पृष्ट्वाग्नियोजने विनि० ॥ ५१ ॥

विधि-यहांसे तीन मंत्र पढकर अग्नि योजन करै [का० १८ । ६ । १६]

मंत्रार्थ-(दिव्यम्) स्वर्गमें होनेवाले (सुपर्णम्) सुन्दर गतिवाले (वयसा) धूमसे (बृहन्तम्) वृद्धिको प्राप्त होते (अग्निम्) अग्निको (शवसा) वल और (घृतेन) घृतसे (युनज्मि) संयुक्त करता हूं (तेन) इसके द्वारा (ब्रध्नस्य) आदित्यके (विष्टपम्) लोकको (वयम्) हम (गमेम) गमन करैं (अधि) उसके ऊपर (स्वः) स्वर्गको (रुहाणाः) गमनकरते हुए (उत्तमम्) श्रेष्ठ (नाकम्) दुःखरहित लोकको प्राप्तहों ॥ ५१ ॥

प्रमाण-"अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद्वृष्टिः इति [२ । ३ । ५ । १७] श्रुतेः ॥ ५१ ॥

भावार्थ-वलपूर्वक मथित दिव्यसुन्दर गतिसम्पन्न प्रज्वलित शिखावाली इस अग्निको घृतके सहित योगकरते हैं हम इस कार्यके फलसे अन्तरिक्षलोकमें गमन-पूर्वक उसके ऊपर स्वर्गमें आरोहण करते उसके ऊपर दुःखशून्य उत्कृष्टतम परम धाममें गमन करनेमें समर्थ हों ॥ ५१ ॥

कण्डिका ५२-मंत्र १ ।

इमौतेपक्षावजरौपतत्रिणौयाभ्याᳬरक्षाᳬस्यपहᳬस्यग्ने ॥ ताभ्याम्पतेमसुकृतामुलोकंयत्रऽऋषयोजग्मुःप्रथमजाःपुराणाः ॥ ५२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इमौत इत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । विराड् ब्राह्म्यनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (ते) तुम्हारे (इमौ) यह दोनों (पक्षौ) दहिने वायें पक्ष (अजरौ) जरारहित (पतत्रिणौ) उडनेके स्वभाववाले हैं "अथवा उत्पत्तिविनाशवाली यह पाप और पुण्य दो तुम्हारे पक्ष हैं" (याभ्याम्) जिनके द्वारा तुम (रक्षाᳬसि) राक्षसोंको (अपहᳬसि) नष्ट करते हो और हम (ताभ्याम्) उनके द्वारा (उ) ही (सुकृताम्) पुण्यात्माओंके (लोकम्) लोकको (पतेम) गमन करैं अर्थात् इन दोनों पाप पुण्योंको अतिक्रमण कर उत्तम लोकको जायं (यत्र) जहां (प्रथमजाः) प्रथम उत्पन्न (पुराणाः) पुरातन (ऋषयः) ऋषि (जग्मुः) गये हैं ॥ ५२ ॥ यह मंत्रद्रष्टा वैदिक ऋषिहि सनातनके हैं ।

कण्डिका ५३–मंत्र १ ।

इन्दुर्द्दक्षः श्येनऽऋतावाहिरण्यपक्षःशकुनोभुरण्युः ॥ महान्त्सधस्थेध्रुवऽआनिषत्तोनमस्तेऽअस्तुमामाहिꣳसीः ॥ ५३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ इन्दुरित्यस्य शुनःशेप ऋषिः । आर्षी पंक्तिश्छं० अग्निर्देवता । वि०. पू० ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ–हे अग्ने ! तुम (इन्दुः) ईश्वर, वा चन्द्रवत् आह्लाद करनेवाले (दक्षः) उत्साहवान् (श्येनः) प्रशंसनीयगतिवाले वा श्येनवत् आकाशमें वेगसे गमन करनेवाले (ऋतावा) सत्य यज्ञ वा जलसे सम्पन्न (हिरण्यपक्षः) सुवर्णखण्डरूप पक्षवाले (शकुनः) पक्षीकी समान विस्तारित पक्षवाले (भुरण्युः) जाठरादिरूपसे पोषक (महान्) प्रभावसे महान् (ध्रुवः) स्थिर (सधस्थे) ब्रह्माके स्थानमें (आनिषत्तः) सब प्रकारसे स्थित अर्थात् देवताओंके सहित यज्ञमें एकत्र स्थित (ते) आपको (नमः) वारंवार नमस्कार (अस्तु) हो (मा) हमको(माहिꣳसीः किसीप्रकार पीडा मत दो रक्षा करो ॥ ५३ ॥

इति अग्नियोजनम् ।

कण्डिका ५४–मंत्र १ ।

दिवोमूर्द्धासिपृथिव्यानाभिरूर्ग्गपामोषधीनाम्॥ विश्वायुःशर्म्मसप्प्रथानमस्प्पथे ॥ ५४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ दिव इत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । परोष्णिक्छन्दः । अग्निर्देवता । अग्निवियोजने वि० ॥ ५४ ॥

विधि–(१) परिधि संधिस्पर्शपूर्वक यहांसे आदि लेकर दो मंत्रसे अग्निवियोजन करै [का० १८ । ६ । २७ ।] मंत्रार्थ–हे अग्ने ! तुम (दिवः) स्वर्गलोकके (मूर्धा) मस्तकस्वरूप हो (पृथिव्याः) पृथिवीके (नाभिः) नाभिस्वरूप हो तुमसे सब जीते हैं (अपाम्) जलोंके और (ओषधीनाम्) ओषधियोंके (ऊर्क्) सार हो (विश्वायुः) बहुजीवी अथवा सब प्राणियोंकी जीवन हो (शर्म) सबके शरणदाता हो (सप्रथाः) तिर्यक् ऊर्ध्व अधः सर्वत्र वर्तमान (असि) हो (पथे) स्वर्गमार्गरूप तुम्हारे निमित्त (नमः) नमस्कार है अर्थात् हमको दीर्घ काले जीवन सुखवास गृह सुप्रतिष्ठा और अन्तमें स्वर्गगमनपथ प्रदान करो॥५४॥

कण्डिका ५५-मंत्र १।

विश्वस्यमूर्द्धन्नधितिष्ठसिश्रितःसमुद्रेतेहृदयमप्स्वायुरपोदत्तोदधिम्भिन्त॥दिवस्पर्जन्यादन्तरिक्षात्पृथिव्यास्ततोनोवृष्ट्यव॥ ५५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्वस्येत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । महापंक्ति-जगती छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ-हे सूर्यरूपी अग्ने ! (श्रितः) सुषुम्नानाडीमें व्याप्तहुए तुम (विश्वस्य) सम्पूर्णके (मूर्धन्) शिरमें (अधितिष्ठसि) स्थितहो अर्थात् सबके ऊपर सूर्यरूपसे दीप्त होतेहो (ते) तुम्हारा (हृदयम्) हृदय (समुद्रे) अन्तरिक्षमें है (आयुः) आयु जीवन (अप्सु) जलोंमें है अर्थात् जलसे वृक्ष उससे अग्नि होतीहै (दिवः) द्युलोकसे (पर्जन्यात्) मेघसे (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्षसे (पृथिव्याः) भूमिके सकाशसे वा जहां कहीं जल हो (ततः) उस देशसे जल लाकर (वृष्ट्या) श्रेष्ठ वर्षाके द्वारा (नः) हमारी (अव) रक्षाकरो (उदधिम्) मेघको (भिन्त) विदीर्णकरो (अपः) जलोंको (दत्त) दो ॥ ५५ ॥

भावार्थ-हे सूर्यरूप अग्ने ! इस ब्रह्माण्डके मस्तकस्वरूप तुम वृष्टिप्रदानद्वारा हमारी रक्षाकरो, यद्यपि तुम द्युलोकमें देदीप्यमान हो, किन्तु समुद्रके मध्यमें भी वडवानलद्वारा तुम्हारी गति है, तुम्हारा हृदय और आयु जलके मध्यमें स्थित है, इस कारण प्रार्थना है कि उदधि भेदकर द्युलोकसे अन्तरिक्षसे और पृथ्वीसे रस आकर्षण करके पर्जन्य निर्माणपूर्वक वृष्टि प्रदान करो ॥ ५५ ॥

इति अग्नियोजनम् ।

कण्डिका ५६-मंत्र १।

इष्टोयज्ञोभृगुभिराशीर्दावसुभिः॥ तस्यनऽइष्टस्यप्प्रीतस्यद्द्रविणेहागमेः ॥ ५६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इष्ट इत्यस्य गालव ऋषिः । उष्णिकछन्दः । यज्ञो देवता । समष्टियजुर्होमे विनियोगः ॥ ५६ ॥

विधि-(१) पूर्वविहित [८ । ३५] समष्टि यजुर्होम करनेके उपरान्त यहांसे दो कण्डिका पाठकर समष्टि यजु होम करे [का० १८ । ६ । ११]

मंत्रार्थ–(द्रविण) हे धन! (नः) हमारे (इष्टस्य) इष्टरूप (प्रीतस्य) हममें प्रेम करनेवाले (तस्य) उस इस यजमानके (इह) इस घरमें (आगमेः) आओ (आशीर्दाः) अभिलाषित पदार्थका देनेवाला (यज्ञः) यज्ञ (भृगुभिः) भृगुगोत्रवाले ब्राह्मणों ! और (वसुभिः) वसुआदि देवताओंसे (इष्टः) सम्पादित किया गया है ॥ ९६ ॥

भावार्थ–हे परमधन ! इस यजमानका यज्ञ भृगुगोत्रके ऋत्विग्गणोंद्वारा अनुष्ठित और वसुआदि देवतोंद्वारा कल्याणप्रदरूपसे सम्पन्न हुआ है, इस कारण जो हमारा प्रिय और हम जिसके प्रिय हैं उस यजमानके घरमें तुम परमात्माकी प्रेरणासे चिरकालतक निवास करो ॥ ९६ ॥

कण्डिका ९७–मंत्र १ ।

इष्टोऽअग्निराहुतः पिपर्त्तु नऽइष्टꣳ हविः ॥ स्वगेदं देवेभ्यो नमः ॥ ९७ ॥ [७]

ऋष्यादि–(१) ॐ इष्ट इत्यस्य गालव ऋषिः । गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ९७ ॥

मन्त्रार्थ–(इष्टः) कृतयज्ञ अर्थात् यज्ञ करनेवाला परम प्रिय (अग्निः) अग्नि (हविः) हविद्वारा (आहुतः) तृप्त किया हुआ (नः) हमारे (इष्टम्) अभिलाष वा मनोरथको (पिपर्तु) पूर्ण करैं (इदम्) यह (नमः) हवि (देवेभ्यः) समष्टि यजुलक्षणवाले देवताओंके निमित्त हो, जो हवि (स्वगाः) स्वयं गमनशील है ॥ ९७ ॥ [७]

भावार्थ–स्वयंगमनशील यह हवि देवताओंके निमित्त आहुत होती है अग्निदेवता यह अभिलषित हवि लाभ करके हमारी अभिलाषा पूर्ण करैं ॥ ९७ ॥

कण्डिका ९८–मन्त्र १. अनु० १२ ।

यदाकूतात्समसुस्रोद्धृदो वा मनसो वा सम्भृतं चक्षुषो वा ॥ तदनु प्रेत सुकृतामु लोकं यत्रऽऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः ॥ ९८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यदाकूतादित्यस्य विश्वकर्मा ऋषिः । जगती छन्दः । अग्निर्देवता । अष्टस्रुवाहुतिदाने वि० ॥ ९८ ॥

विधि-(१) हृदयशूलसम्बन्धी समिध आधान करनेके अनन्तर यहांसे प्रारंभकर आठ कण्डिकात्मक आठ मंत्रोंसे प्रत्येक मंत्रसे आठ २ स्रुवआहुति देनी इसप्रकार ६४ स्रुवआहुति सम्पन्न होती हैं [का० १६ । ६ । २२] मन्त्रार्थ-हे ऋत्विग्गण ! तुम (तत्) उस प्रजापतिके किये कर्मको (अनु) सम्पादन करके (सुकृताम्) पुण्यात्माओंके (लोकम्) लोकको (उ) अवश्य (प्रेत) प्राप्तहो अर्थात् प्रजापतिके शरीरसे उत्पन्न वैदिक कर्म करके स्वर्गमें गमन करो (यत्) जो कर्म (सम्भृतम्) पूर्ण सामग्रीसे युक्त है तथा (आकूतात्) प्रजापतिके अभिप्राय (वा) अथवा (हृदः) हृदय बुद्धिसे (वा) अथवा (मनसः) मनसे (वा) या (चक्षुषः) चक्षुआदि इन्द्रियोंसे (समस्रुस्रोत्) निर्गत हुआ है अर्थात् ब्रह्माने जो सर्वात्मासे रचा है उसके करनेसे पवित्र लोकको गमन करो (यत्र) जिस लोकमें (प्रथमजाः) प्रथमोत्पन्न (पुराणाः) पुरातन (ऋषयः) ऋषि (जग्मुः) गये हैं ॥ ५८ ॥

सरलार्थ-हे ऋत्विग्गण! जिस कर्मका अनुष्ठान करके प्रथमोत्पन्न प्राचीन ऋषिगण पुण्यलोकमें गये हैं जो प्रजापतिके अभिप्रायसे हृदयसे मनसे वा चक्षु (प्रत्यक्ष) से 'कर्तव्य' कहा गया है उसीका अनुसरण करो यह दृष्टार्थ श्रुति है ॥ ५८ ॥

कण्डिका ५९-मंत्र १ ।

एतꣳसधस्थुपरिंतेददामियमावहाच्छेवधिञ्जातवेदाः॥अन्वागन्तायज्ञपतिर्वोऽअत्रतꣳस्मजानीतपरमेव्योमन् ॥ ५९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एतमित्यस्य विश्वकर्म ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ-(सधस्थ) जिस स्थानमें देवता एकत्र वास करते हैं वह स्वर्गही सधस्थ है उसकी प्रार्थना हे स्वर्ग! (जातवेदाः) सर्वज्ञ अग्निने (यम्) जिस(शेवधिम्) सुखनिधान आहुतिं परिणामभूत (आवहात्) प्रातियोग्य यज्ञके फल अर्थात् यज्ञके फलरूप परम सुखको जिसे सौंपा है (एतम्) इस यजमानको (ते) तुमको (परिददामि) समर्पण करता हूं अर्थात् तुम दोनोंकी रक्षा करना, इस प्रकार यजमानको समर्पणकर देवताओंकी प्रार्थना करते हैं हे देवताओ ! (यज्ञपतिः) यजमान (वः) यज्ञसमाप्तिमें आपके पास (अन्वागन्ता) आगमन करैगा (अत्र)

इस (परमे) उत्कृष्ट (व्योमन्) आकाशवत् विस्तृत स्वर्गस्थानमें आये हुए (तम्) उस यजमानको तुम (जानीत) जानो (स्म) ही अर्थात् स्वर्गमें जानेपर इसका सत्कार करना ॥ ५९ ॥

सरलार्थ-जिस स्थानमें देवताओंके सहित एकत्र वास है जातवेदा देवताके प्रसादसे उसी सुखाकर स्थानको हमारा यजमान लाभ करनेमें समर्थ हुआ है हे देवगण यह इस आयु समाप्तिके उपरान्त ही परमलोकमें आगमन करैगा. यह तुम जानो ॥ ५९ ॥

कण्डिका ६०-मंत्र १ ।

एतञ्जानाथ परमेव्योमुन्देवाः सधस्थाविदरूपमस्य ॥ यदागच्छात्पुथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्त्तेकृण्वाथाविरस्मै ॥ ६० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एतमित्यस्य विश्वकर्मा ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ-(परमे) उत्कृष्ट (व्योमन्) स्थान (सधस्थाः) स्वर्गमें रहनेवाले (देवाः) हे देवताओ ! (एतम्) तुम इस यजमानको (जानाथ) जानो (अस्य) इस यजमानके (रूपम्) रूपको (विद) जानो (यदा) जिससमय यह (देवयानैः) देवताओंके गमनयोग्य (पथिभिः) मार्गोंसे (आगच्छात्) आगमन करै तब (इष्टापूर्ते) श्रौतस्मार्तसम्बन्धी कर्मके फल (अस्मै) इस यजमानके निमित्त (आविः) प्रकाशित (कृण्वाथ) करो ॥ ६० ॥

सरलार्थ-इस यजमानके निमित्त इष्टापूर्तरूप देवयान मार्ग प्रगट होगया है इस मार्गसे पदार्पण करते यह आगमन करता है परमलोकनिवासी परस्पर प्रीतियुक्त देवगण इसका स्वरूप जानै ॥ ६० ॥

कण्डिका ६१-मंत्र १ ।

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सᳬ सृजेथामयञ्च ॥ अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन्विश्वेदेवायजमानश्चसीदत ॥ ६१ ॥

मंत्रार्थ-उद्बुध्यस्व इसकी व्याख्या १५ अ० ५४ कण्डिकामें होगई वि० पू० ॥ ६१ ॥

भावार्थ-हे अग्ने ! तुम प्रबुद्ध हो जागृत हो यह यजमानभी इष्टापूर्त अनुष्ठानसे कृतकृत्य हुआ है इस कर्मके पर्यवसानमें यह स्वर्गमें सब देवगणोंका सहवास सुखलाभ करै ॥ ६१ ॥

कण्डिका ६२-मंत्र १ ।

येनुवहंसिसुहस्रंठ्येनांग्नेसर्व्ववेदुसम् ॥ तेनेमंठ्य ज्ञन्नोंनयुस्वर्द्देवेषुगन्तवे ॥ ६२ ॥

मंत्रार्थ-येन वहसि इसकी व्याख्या १५ । ५५ में होगई भावार्थ लिखते हैं वि० पू० ॥ ६२ ॥

भावार्थ-हे अग्ने ! तुम जिस सामर्थ्यसे सहस्र दक्षिणावाले यज्ञके अनुष्ठाताको स्वर्ग प्राप्त कराते हो उसी सामर्थ्यसे इस क्षुद्र यज्ञके अनुष्ठाता हमारे यजमानको देवलोकमें जानेके योग्य करो ॥ ६२ ॥

कण्डिका ६३-मंत्र १ ।

प्रस्तुरेणंपरिधिनास्रुचावेद्याचबुर्हिषा ॥ ऋचेमंठ्य ज्ञन्नानयुस्वर्द्देवेषुगन्तवे ॥ ६३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रस्तरेणेत्यस्य विश्वकर्मा ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ-हे अग्ने ! (नः) हमारे (प्रस्तरेण) स्रुक्की आधार दर्भमुष्टि (परिधिना) बाहुमात्र तीन काष्ठ (स्रुचा) जुहूप्रभृति (वेद्या) वेदी प्राचीनबर्ही आदि (बर्हिषा) कुशा (ऋचा) ऋगादि मंत्रोंसे सम्पन्न (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञको (देवेषु) देवताओंमें (गन्तवे) प्राप्त करनेके निमित्त (स्वः) स्वर्गको (नय) लेजाओ अथवा हमारे इस यजमानने पूर्वोक्त सामग्रीसे यज्ञ सम्पन्न किया है इस समय इसको देवलोकगमनमें कृतकृत्य करो ॥ ६३ ॥

कण्डिका ६४-मंत्र १ ।

यद्दत्तंयत्त्पंरादानंठ्यत्त्पूर्त्तंठ्याश्श्रदक्षिणाः ॥ तद्ग्निर्वैश्श्वकर्म्मुणः स्वर्द्देवेषुनोदधत् ॥ ६४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यद्दत्तमित्यस्य विश्वकर्मा ऋषिः । निच्यृदनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ६४ ॥

मन्त्रार्थ-(वैश्वकर्मणः) विश्वकर्मासम्बन्धी (अग्निः) अग्नि (नः) हमारे (तत्) उस दानको (स्वः) स्वर्गलोकमें (देवेषु) देवताओंमें (दधत्) स्थापन करै (यत्) जो (दत्तम्) जामाता भगिनीआदिको दिया है (यत्) जो (परादत्तम्) परोपकारके निमित्त दयाकरके दीन दुःखियोंको दिया है (यत्) जो (पूर्तम्) स्मृतिमें विधान किया है ब्राह्मणभोजन कराना, कूप बावडी निर्माण (च) और (याः) जो यज्ञसम्बंधी (दक्षिणाः) दक्षिणा हैं ॥ ६४ ॥

सरलार्थ-हे अग्ने ! हमारे यजमानने जो सब दान किये हैं जो विहित प्रतिग्रह किये हैं जो सब पूर्तकार्य किये हैं जो दक्षिणा दी है इस कर्मके फलसे इसको स्वर्गीय देवतागणोंके मध्यमें स्थापन करो ॥ ६४ ॥

कण्डिका ६५-मंत्र १ ।

यत्रधाराऽअनपेतामधोर्घृतस्यचयाः ॥ तदग्निर्वैश्वकर्म्मणः स्वर्देवेषुनोदधत् ॥ ६५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यत्रधारा इत्यस्य विश्वकर्मा ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ६५ ॥

मन्त्रार्थ-(वैश्वकर्मणः) विश्वकर्मासम्बन्धी (अग्निः) अग्नि (तत्) तहां (स्वः) स्वर्गमें (देवेषु) देवताओंके मध्यमें (नः) हमको (दधत्) स्थापन करै (यत्र) जहां (मधोः) मधुकी (घृतस्य) घृतकी (च) और (याः) दूध दहीआदिकी (धाराः) धारायें (अनपेताः) क्षीण न होनेवाली स्थित हैं ॥ ६५ ॥

अथवा-हे अग्ने ! इस यज्ञमें घृत और मधुकी धारा कुछ कालतक निरन्तर प्रवाहित रही है ऐसे यज्ञके अनुष्ठाता हमारे यजमानको स्वर्गीय देवगणोंके मध्यमें स्थापन कर ॥ ६५ ॥

[इति चतुःषष्टिहोमः]

कण्डिका ६६-मन्त्र १ ।

अग्निरस्मिञ्जन्मनाजातवेदाघृतम्मेचक्षुरमृतम्मऽआसन् ॥ अर्कस्त्रिधातूरजसोविमानोजस्रोघर्म्मोहविरस्म्मिनाम ॥ ६६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निरित्यस्य देवश्रवा देववात ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । ध्याने वि० ॥ ६६ ॥

विधि-(१) अग्नि अद्वैतवादी मन्त्र है अग्निप्रकरण होनेसे यजमान अपनेको अग्निरूप ध्यान करता है। मन्त्रार्थ-(जातवेदाः) सब उत्पन्न सृष्टिका स्वामी (अर्कः) अर्चनीय यज्ञ (त्रिधातुः) तीन धातु ऋक् यजुः साम लक्षणवाला वा त्रिदेव (रजसः) जलका (विमानः) निर्माता (अजस्रः) अविनाशी (अग्निः) अग्नि (जन्मना) उत्पत्तिसेही (अस्मि) मैं हूं (मे) मेरी (चक्षुः) आखें (घृतम्) घृत हैं घृत होमवालेको देखता हूं (मे) मेरे (आस्यम्) मुखमें (अमृतम्) हविरूप अमृत है अर्थात् हवि हवन होनेपर अमृत करता हूं (घर्मः) आदित्य वा मेघरूप मैं हूं (नाम) नामवाली (हविः) पुरोडाशादिकभी (अस्मि) मैं हूं [ऋ० ३ । १ । २७] ॥ ६६ ॥

अथवा-यही देवता अग्निनामसे प्रसिद्ध है जो प्रथमहीसे जातप्रज्ञ है जिसका घृत चक्षु है मुखमें अमृत है, तीन धातुयुक्त पार्थिव शरीर जिनका अर्चनीयरूप है, जो जठरमें निवास करते हैं जो जलके चलानेवाले (विद्युत्) हैं अन्तरिक्षमें जिनकी स्थिति है और द्युलोकमें निरन्तर रहनेवाला आदित्यही जिनका रूपान्तर है अधिक क्या हवनीयकाष्ठके अन्तरभी इन्हीकी सत्ता स्थित है ॥ ६६ ॥

कण्डिका ६७-मन्त्र २ ।

ऋचोनामास्मियजूꣳषिनामास्मिसामानिनामास्मि ॥ येऽअग्नयुःपाञ्चजन्याऽअस्याम्पृथिव्यामधि ॥ तेषामसि त्वमुत्तमःप्रनोजीवातवेसुव ॥६७॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ऋच इत्यस्य देवश्रवा देववात ऋषिः । आर्षी जगती छन्दः । आत्मा दे० । (२) ॐ ये इत्यस्य देवश्रवा देववात ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । अग्न्युपस्थाने विनियोगः ॥ ६७ ॥

विधि-(१) यज्ञमें इसका विनियोग नहीं है यजमान आत्मामें वेदत्रयात्मक सम्पादन करता है । मन्त्रार्थ-(ऋचः) ऋग्वेद (नाम) नामवाला (अस्मि) मैं हूं (यजूꣳषि नाम) यजुर्वेदनामवाला अग्नि मैं हूं (सामानि नाम) सामवेद नामवाला (अस्मि) मैं हूं वा यह अग्नि त्रिवेदरूप है १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे कर्मशेषज्ञापक अग्निका उपस्थान करै [का० १८ । २ । २३] मंत्रार्थ-(अस्याम्) इस (पृथिव्याम्) पृथ्वीके (अधि) ऊपर

(ये) जो (पाञ्चजन्याः) मनुष्योंके हितकारी वा मनुजगणके हितकारी (अग्नयः) अग्नि हैं हे चित्यग्ने! (तेषाम्) उन अग्नियोंमें (त्वम्) तुम (उत्तमः) श्रेष्ठ (असि) हो (नः) हमारे (जीवातवे) चिरजीवनके निमित्त (प्रसुव) आदेश करो ॥ ६७ ॥ [१०]

कण्डिका ६८—मं० १. अनु० ३३।

वार्त्रहत्यायशवसेपृतनापाह्यायच ॥ इन्द्रत्वावर्त्तयामसि ॥ ६८ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ वार्त्रहत्यायेत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः। निचृद्गायत्री छन्दः। इन्द्रो देवता। पुरीषवतीचित्युपस्थाने विनियोगः॥ ६८॥

विधि—अनन्तर उसी चितिस्थानमें पुरीषक्षेपणपूर्वक कुण्ड पूर्ण करनेके उपरान्त यहांसे दशकण्डिका पाठकरके पुरीषवती चितिका उपस्थान करे [का० १७।७।१—२]

मंत्रार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र! (वार्त्रहत्याय) वृत्रासुरके मारनेवाले (च) और (पृतनापाह्याय) शत्रुसेनापराभवकरनेमें समर्थ (शवसे) बलदर्शनके निमित्त (त्वा) तुमको (आवर्तयामसि) वारंवार आह्वानकरते हैं अथवा पापनाशमें समर्थ ईश्वरकी हम वारंवार प्रार्थना करते हैं ॥ ६८ ॥

विशेष—कोई कहते हैं इस स्थलमें इन्द्रशब्दसे वायु सहचर वह ज्योति है जिस ज्योतिके आविर्भावसे घनाघन गणोंका इधर उधर संचालन और वर्षणादि होकर शून्यगर्भता दूर होती है इसकोभी वृत्रयुद्ध कहते हैं वृत्रनाम मेघका भी है ऋ० ३। २। २२]॥ ६८ ॥

कण्डिका ६९—मंत्र १।

सहदानुम्पुरुहूतक्षियन्तमहस्तमिन्द्रसम्पिणक्कुणारुम् ॥ अभिवृत्रंवर्द्धमानम्पियारुमपादमिन्द्रतवसाजघन्थ ॥ ६९ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ सहदानुमित्यस्य विश्वामित्र ऋषिः। आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः। इन्द्रो दे०। वि० पू० ॥ ६९ ॥

मंत्रार्थ—(पुरुहूत) बहुतवार भक्तोंसे आह्वानकिये हुए (इन्द्र) हे इन्द्र! (क्षियन्तम्) निकट वसनेवाले (कुणारुम्) दुर्वचन कहनेवाले (सहदानुम्) शत्रु

---

१ पाञ्चजन्यसे पांच चिति पांच प्राण वा मनुष्यगणका ग्रहण है।

को (अहस्तम्) हाथोंसे रहितकरके (सम्पिणक्) चूर्ण करो (इन्द्र) हे इन्द्र ! (वर्धमाने) वृद्धिको प्राप्त होते (पियारुम्) देवताओंके मारनेवाले (वृत्रम्) वृत्रासुर वा पापको (अपादम्) चरण वा गतिहीनकरके (अभिजघन्थ) मारो ऋ० ३ । २ । २] ॥ ६९ ॥

अथवा-हे इन्द्र ! तुम बलवर्षी हो किसी समय क्षीयमाण किसी समय वर्द्धमान हस्तशून्य पदशून्य किन्तु युद्धमें अतिप्रबल और गंभीर गर्जनकारी वृत्रको चूर्ण करो छिन्नभिन्नकर विनष्ट करो ॥ ६९ ॥

प्रमाण-"सह इति बलनाम" [निघं० २ । ९ । १७] ॥ ६९ ॥

कण्डिका ७०-मंत्र १ ।

वि न॑ऽइन्द्र॒ मृधो॑ जहि नी॒चा य॑च्छ पृतन्य॒तः ॥ यो॑ऽअ॒स्माँ२ऽअ॑भि॒दास॒त्यध॑रं गमया॒ तमः॑ ॥ ७० ॥

मंत्रार्थ-ॐ विन इन्द्र इत्यस्य शास ऋषिः । इसकी व्याख्या ८ । ४४ में होगई । वि० पू० ॥ ७० ॥

सरलार्थ-हे इन्द्र ! संग्राममें विजयी हो, जो तुमको पराजय करनेमें उद्यत हो उसको अधःपतनकरो और जो हमको क्लेश देनेमें प्रवृत्त हो उसे अन्धतम अंधकारमें प्राप्त करो ॥ ७० ॥

कण्डिका ७१-मन्त्र १ ।

मृ॒गो न भी॒मः कु॑च॒रो गि॑रि॒ष्ठाः प॑रा॒वत॒ऽआ ज॑गन्था॒ पर॑स्याः ॥ सृ॒कꣳ स॒ꣳशाय॑ प॒विमि॑न्द्र ति॒ग्मं वि शत्रू॑न्ताढि॒ वि मृधो॑ नुदस्व ॥ ७१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मृगोनेत्यस्य जय ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ७१ ॥

मंत्रार्थ-(इन्द्र) हे इन्द्र ! (भीमः) भयंकरदर्शन (कुचरः) कठिन गतिवाले (गिरिष्ठाः) गिरिगहरमें शयन करनेवाले (मृगः) सिंहकी (न) समान (परस्याः) अतिदूर (परावतः) स्थानोंसे (आजगन्थ) आकर (सृकम्) शत्रुके शरीरमें प्रवेश करनेवाले (तिग्मम्) तीक्ष्ण उत्साहवाले "तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मणः" इति [निरु० १० । ६] (पविम्) वज्रको (सꣳशाय) तीक्ष्णकरके (शत्रून्) शत्रुओंको (विताड्ढि)

विशेष ताडन करो (मृधः) संग्रामको (नुदस्व) विशेषकर प्रेरणा करो वा दूरकरो [ऋ० ८ । ८ । ३८] ॥ ७१ ॥

भावार्थ—हे इन्द्र ! गिरिगह्वरशायी घोर शब्दकारी भयानक सिंह जिस प्रकार दूरसे भी अपने लक्ष्यको आक्रमण करता है, इसी प्रकार तुम भी वृत्रको आक्रमण करो, हे इन्द्र ! तुम तीक्ष्ण वज्रको शाणितकरके उससे शत्रुगणको ताडन करो, संग्राममें विशेषरूपसे जयी हो ॥ ७१ ॥

कण्डिका ७२–मन्त्र १।

वैश्वानरो नऽउतयऽआ प्रयातु परावतः ॥ अग्निर्नः सुष्टुतीरुप ॥ ७२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ वैश्वानर इत्यस्य जय ऋषिः । गायत्री छन्दः । वैश्वानरो देवता । वि० पू० ॥ ७२ ॥

मन्त्रार्थ–(वैश्वानरः) सब प्राणियोंके हितकारी (अग्निः) अग्निदेवता (नः) हमारी (सुष्टुतीः) सुन्दर स्तुति (उप) श्रवण करनेको (नः) हमारी (ऊतये) रक्षाके निमित्त (परावतः) दूरदेशसे (प्रयातु) आगमन करें ॥ ७२ ॥

कण्डिका ७३–मंत्र १।

पृष्टो दिवि पृष्टोऽअग्निः पृथिव्याम्पृष्टो विश्वाऽओषधीरा विवेश ॥ वैश्वानरः सहसा पृष्टोऽअग्निः स नो दिवा स रिषस्पातु नक्तम् ॥ ७३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ पृष्ट इत्यस्य कुत्स ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । वैश्वानरो देवता । वि० पू० ॥ ७३ ॥

मंत्रार्थ–(वैश्वानरः) सब प्राणियोंका हितकारी (अग्निः) अग्नि देवता (दिवि) द्युलोकमें (पृष्टः) आदित्यरूपसे पूछा गया है अर्थात् यह आदित्यरूप क्या पदार्थ है इस प्रकार मुमुक्षुओंसे पूछागया "अन्तरिक्षे यमेतमादित्ये पुरुषं वेदयन्ते स इन्द्रः स प्रजापतिस्तद्ब्रह्म" इति श्रुतेः (पृथिव्याम्) अन्तरिक्षमें जलकी इच्छावालोंसे (पृष्टः) पूछागया यह कौन है जो विद्युत्‌रूपसे प्रकाश करताहै "अन्तरिक्षनामसु पृथिवीति पठितम्" [निघं० १ । ३ । ९] जो (विश्वाः) सम्पूर्ण (ओषधीः) ओषधियोंमें (आविवेश) प्रविष्ट होकर (सः) वह अग्नि (पृष्टः) पूछागया यह कौन है जीवनके हेतु ताप पाकप्रकाशोंसे प्रजाओंका उपकार करता है जो (सहसा) बलपूर्वक अध्वर्युसे मथाहुआ (पृष्टः) मनुष्योंसे

पूछागया यह कौन है जो अरणीकाष्ठसे निकाला जाताहै (सः) वह (अयम्) यह अग्नि (दिवा) दिन (नक्तम्) और रात (नः) हमारी (रिषः) वध और कष्टसे (पातु) रक्षाकरै [ऋ० १ । ७ । ६] ॥ ७३ ॥

सरलार्थ–यह अग्नि द्युलोकमें परिचित (आदित्य और विद्युत्) पृथ्वीमें परिचित (जाठर और पाचन) और जो समस्त औषधियोंके मध्यमें विराजित सुतरां ऋत्विग्गणोंके वलसे परिचित दो अरणीके घर्षणसे वलपूर्वक यज्ञीय अर्थात् यज्ञके निमित्त है यह समस्त प्राणियोंके हितकारी अग्नि क्या दिन क्या रात सदा हमारी पापसे रक्षा करै अथवा सर्वत्र अग्नि सूर्य विद्युतरूप परमात्मा है वह हमारी रक्षा करै ॥ ७३ ॥

कण्डिका ७४–मन्त्र १ ।

अ॒श्याम॒ तं काम॑मग्ने॒ तवो॒ती ऽअ॒श्याम॑ र॒यिꣳ र॑यि॒वः सु॒वीर॑म् ॥ अ॒श्याम॒ वाज॑म॒भि वा॒जय॑न्तो॒ऽश्याम॑ द्यु॒म्नम॑जरा॒जर॑न्ते ॥ ७४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अश्यामेत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पृ० ॥ ७४ ॥

मन्त्रार्थ–(अग्ने) हे परमात्मन् अग्ने ! (तव) तुम्हारी (ऊती) पालन वा रक्षासे हम (तम्) उस (कामम्) अभिलाषको (अश्याम) प्राप्त हों (रयिवः) हे धनवान्! आपकी कृपासे हम (सुवीरम्) सुन्दर पुत्र और (रयिम्) श्रेष्ठ धनको (अश्याम) प्राप्तहों (वाजयन्तः) अग्निको अर्चन करते हुए "वाजयतिरर्चतिकर्मा" [निघं० ३ । १४ । ३९] हम तुम्हारी कृपासे (वाजम्) अन्नको (अभि) सव ओरसे (अश्याम) प्राप्तकरैं (अजर) हे जरारहित ! (ते) तुम्हारे (अजरम्) अक्षीण (द्युम्नम्) यशको (अश्याम) प्राप्तहों अर्थात् सदा यशस्वी हों [ऋ० ४ । ९ । ७] ॥ ७४ ॥

कण्डिका ७५–मंत्र १ ।

व॒यन्ते॑ऽअ॒द्य र॑रि॒मा हि काम॑मुत्ता॒नह॑स्ता॒ नम॑सोप॒सद्य॑ ॥ यजि॑ष्ठेन॒ मन॑सा यक्षि दे॒वानस्रे॑धता॒ मन्म॑ना॒ विप्रो॑ ऽअग्ने ॥ ७५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ वयन्त इत्यस्य उत्कील ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पृ० ॥ ७५ ॥

मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव! (उत्तानहस्ताः) अबद्धमुष्टी अर्थात् दानमें कृपणता त्यागनेवाले (वयम्) हम (नमसा) नमस्कारपूर्वक (उपसद्य) निकट जाकर (अद्य) आज (यजिष्ठेन) यागमें तत्पर (अस्रेधता) अनन्यगति एकाग्र (मन्मना) देवताओंकी महिमा और आत्माके ज्ञान जाननेवाले (मनसा) सावधान मनसे (कामम्) अभिलषित (हविः) हविको (ते) आपके निमित्त (रिरिम) देते हैं, हे अग्ने! (रिम्रः) बुद्धिमान् तुम (देवान्) देवताओंको (यक्षि) तृप्तकरो [ऋ० ३। १। १४]॥ ७५॥

कण्डिका७६-मंत्र १।

धामच्छदग्निरिन्द्रोब्ब्रह्मादेवोबृहस्पतिः॥ सचेतसोविश्श्वेदेवायज्ञम्प्रावन्तुनःशुभे॥ ७६॥

ऋष्यादि-(१) ॐ धामच्छदित्यस्य उत्कील ऋषिः। अनुष्टुप्छन्दः। विश्वेदेवा देवताः। वि० पू०॥ ७६॥

मंत्रार्थ-(धामच्छत्) लोकोंके आच्छादक वा न्यूनताके पूर्ण करनेवाले रीतोंके समीपकरनेवाले वा परमधाममें विराजमान (देवः) दिव्यगुणसम्पन्न (अग्निः) अग्नि (इन्द्रः) देवराज (ब्रह्मा) चतुर्मुख (बृहस्पतिः) देवगुरु बृहस्पति तथा (सचेतसः) समानचित्त वा महाबुद्धिसम्पन्न (विश्वेदेवाः) विश्वेदेवा वा संपूर्ण देवता (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञको (शुभे) इष्ट स्थान स्वर्गमें (प्रावन्तु) स्थापन करै॥ ७६॥

कण्डिका ७७-मंत्र १।

त्वंय्यविष्ठदाशुषोनॄँ᳡पाहिशृणुधीगिरः॥ रक्षातोकमुतत्त्मना॥ ७७॥ [१०]

इति श्रीशुक्लयजुस्संहितापाठेअष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

मन्त्रार्थ-त्वं यविष्ठ इस मंत्रकी व्याख्या १३।५२। में होगई। वि०पू०॥७७॥

सरलार्थ-हे नित्य तरुणाग्नि! तुम हमारी स्तुति प्रार्थनाके वचन श्रवण करो यजमानके वंश और आत्मीय गणकी विना याचना भी रक्षा करो॥ ७७॥ [१०]

इति श्रीमाध्यन्दिनीयायां वाजसनेयिसंहितायां पंडितज्वालाप्रसाद मिश्रकृते शुक्लयजुर्वेदीयमन्त्रभागस्य मिश्रभाष्ये वसोर्धारादिचित्युपस्थानान्तनामाष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

अथ एकोनविंशोऽध्यायः १९.

स्वाद्वीं त्वैकादशदेवायज्ञं विंशतिः सुरावंतः सप्तदशोदीरतान्त्रयोदशान्ध्याजाश्चतुर्दशसोमोराजा षीसीसेनतंत्रः षोडशसप्तपञ्चनवतिः ॥

अथ सौत्रामणीमन्त्राः ।

कण्डिका १-मंत्र ५. अनु० ९।

हरिः ओम् ॥ स्वाद्वीन्त्वा स्वादुना तीव्रान्तीव्रेणामृताममृतेन ॥ मधुमतीम्मधुमता सृजामि सᳪसोमेन सोमोस्यश्विभ्याम्पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ स्वाद्वीमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । सुरारूपसोमो देवता । गर्ते सुराधाने विनियोगः । (२) ॐ सोमोसीत्यस्य प्र० ऋ० । देव्युष्णिक्छं० । सुरा देवता । गर्ते सुराधाने वि० । (३) ॐ अश्विभ्यामित्यस्य प्र० ऋ० । गायत्री छं० । सुरा दे० । गर्ते सुराधाने वि० । (४) ॐ सरस्वत्या इत्यस्य प्र० ऋ० । उष्णिक्छन्दः । सुरा दे० । वि० पू० । (५) ॐ इन्द्रायेत्यस्य प्र० ऋ० । बृहती छं० । सुरा दे० । सोमालोडने वि० ॥ १ ॥

विधि-(१) अब तीन अध्यायोंमें सौत्रामणी यज्ञके मंत्र कहे जांयगे अग्निचयनसमृद्धिकामी वा पशुकी वृद्धि चाहनेवाले वा राज्यच्युत राजा फिर राज्यकी प्राप्तिके निमित्त सौत्रामणियाग करें. इस यज्ञमें एक दिव्य रस सम्पादन किया जाता है. इस रसके पाक निमित्त सोम वेचनेवाले अथवा क्लीवसे सीसेके बदलेमें अंकुरित व्रीहि, ऊर्ण पुंजके बदलेमें अंकुरित यव, सूत्रके बदलेमें लाजा [भूने व्रीहि] और दूसरे द्रव्योंसे नग्नहु [सर्जकी छाल, आमला, हरड बहेडा सौंठ पुनर्नवा चातुर्जात पीपल गजपीपल वंशावका [वंशपत्री] वृहच्छत्रा [छतौना] चीता इन्द्रवारुणी असगन्ध धनिया यवानी कालाजीरा जीरा दोनो हलदी विरूढयव अर्थात् अनङ्कुरित यव यह बराबर भाग ले एकत्रित किये नग्नहु कहाते हैं] क्रयकरके किसी उपयुक्त स्थलमें स्थापन करे. फिर आवश्यकता अनुसार प्राचीनवंशशालाके दक्षिण द्वारपथसे यह अग्निगृहमें लाकर भली प्रकार चूर्ण कर पृथक् २ रक्खे. फिर यथेच्छ परिमित व्रीहि और श्यामाक (समा) दर्श पौर्णमासके प्रकरणमें कहेहुए विधानके अनुसार भुसीरहित कर चावलोंको प्रस्तुत करे यह दोनों प्रकारके चावल पृथक् २ बडे बडे पात्रमें बहुतसे जलमें पाक

करै, दो आचामपात्रोंमें इनका मांड निकालले, इस गरम २ मांडमें पूर्व रक्खे शष्पादि चूर्णके मध्यमें शष्पतोक्म [अंकुरितयव] और लाजचूर्णके एक तृतीयभागके दो अंश कर डाले, और नग्रहु चूर्णके अर्द्धभाग समानकर इसमें डाले, फिर शष्पतोक्म और लाजा चूर्णके दूसरे तीसरे भागके दो अंश करके उसको इन पके चावलोंमें डाले, और नग्नहु चूर्णभी दूसरा समभाग करके इसमें डाले, फिर यह दोनों पात्रमें स्थित दोनों प्रकारके ओदनोंको एकत्र करके उसमें यह दोनो मासर [शष्पचूर्णादिमिलित मांड] डाले, इस कण्डिकाके पांचमंत्र और आगामी अध्यायके वीस कण्डिकात्मकमन्त्र पाठकरके इसमें सोमरस डालकर इसको आलोडन (मिलाकर) द्वारा मिलाकर शालाके नैर्ऋतकोणमें एक गर्त खोदकर तीन दिनतक स्थापनकरै, अर्थात् गाडदे [का० १९ । १ । २२]आचाम पात्र सिकोरा वा कटोरा।

मन्त्रार्थ—हे सुरासोम ! (स्वाद्वीम्) अतिस्वादिष्ठ (तीव्राम्) तीव्र वा कटु (अमृताम्) अमृतवत् मधुर वा अमृतकी समान गुणवती (मधुमतीम्) मधुर मीठी रसवाली (त्वा) तुमको (स्वाद्विना) स्वादिष्ठ (तीव्रेण) तीव्र (अमृतेन) अमृतवत् गुणवाले (मधुमता) मधुर (सोमेन) सोमके साथ (सᳬसृजामि) मिलाताहूं हे सोमरसमिश्रित अन्नरस ! तुम (सोमः) सोम (असि) हो (अश्विभ्याम्) दोनो अश्विनीकुमारके निमित्त (पच्यस्व) पाचित हो (सरस्वत्यै) सरस्वतीके निमित्त (पच्यस्व) पाचित हो (सुत्राम्णे) भली प्रकार रक्षाकरनेवाले (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (पच्यस्व) पाचित्त हो ॥ १ ॥

कण्डिका २—मंत्र १।

परीतोषिञ्चतासुतᳬसोमोयऽउत्तमᳬहविः ॥ दधन्वायोनर्य्योऽअप्स्वन्तरासुषावसोममद्रिभिः ॥ २ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ परीत इत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । बृहती छन्दः । सोमो देवता । सुरासेचने वि० ॥ २ ॥

विधि—(१) सायं हवन करनेके उपरान्त 'अश्विभ्यामपाकरोमि' इस मंत्रको पढकर गोपालकसे एक गौ लेकर उसका दूध दुहकर अध्वर्यु इस मन्त्रको पढकर इससे उस प्रोथित रसपात्रको सिंचनकरै, और फिर उसमें पूर्वरक्षित शेष तृतीयांश शष्प चूर्ण निक्षेप करै, दूसरे दिन "निशान्ते सरस्वत्या अपाकरोमि" इस

मन्त्रसे दो गौ गोपालसे लेकर उनका दूध दुहकर अध्वर्यु यह मन्त्रपाठपूर्वक प्रोथित रसपात्रको इस दूधसे सिंचन करै और उसमें पूर्वरक्षित तृतीयांश तोक्म-चूर्ण निक्षेप करै, तीसरे दिन रात्रिकालमें "इन्द्राय सुत्राम्णे अपाकरोमि" इस मंत्रसे तीन गौ गोपालसे पृथक् करके उसका दूध दुहनपूर्वक अध्वर्यु यह मन्त्र पाठपूर्वक उस रसपात्रको सिंचन करै और फिर उसमें पूर्वरक्षित लाजाचूर्ण डालै [१९ । १ । २३-२८ का०] मन्त्रार्थ-हे ऋत्विजो ! (यः) जो (सोमः) सोम (उत्तमम्) श्रेष्ठ (हविः) हवि है (वा) या (यः) सोम (नर्यः) मनुष्योंका हितकारी होताहुआ यजमान को (दधन्) धारणकरताहै अर्थात् जिसके प्रसादसे यजमानको यजमानत्व प्राप्तहोताहै (अप्सु) जलोंके (अन्तः) मध्यमें वर्तमान जिस (सोमम्) सोमको (अद्रिभिः) पत्थरद्वारा (आसुषाव) अध्वर्युने अभिषुत किया है उस (सुतम्) अभिषुत सोमको (इतः) इस गौसे ग्रहण किये दूधसे (परिषिञ्चत) सींचो अर्थात् जो देवताओंकी उत्कृष्ट हवि है उसको हम गौके दूधसे सम्यक् सिंचित करते हैं [ऋ० ७ । ५ । १२] ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मन्त्र २ ।

वा॒योः पू॒तः प॒वित्रे॑ण प्र॒त्यङ्क्सोमो॒ऽअति॑द्रुतः ॥ इन्द्र॑स्य॒ युज्यः॒ सखा॑ ॥ वा॒योः पू॒तः प॒वित्रे॑ण प्रा॒ङ्क्सोमो॒ऽअति॑द्रुतः ॥ इन्द्र॑स्य॒ युज्यः॒ सखा॑ ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१-२) ॐ वायोरिति मंत्रयोराभूतिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । सोमो देवता । सुरापावने वि० ॥ ३ ॥

विधि-(१-२)इस कण्डिकात्मक दो मन्त्र और परकण्डिकात्मक एक मंत्र यह तीन मंत्र पाठपूर्वक पलाशपात्र गोपुच्छके और अश्वपुच्छके बालोंसे निर्मित पवित्र द्वारा इस रसको पावन करै [का० १९ । २ । ७-९] मन्त्रार्थ-(प्रत्यङ्) अधोमुख (अतिद्रुतः) अतिशीघ्रगामी (सोमः) सोम (वायोः) वायुके (पवित्रेण) पवित्रतासे (पूतः) पवित्र हुआ (इन्द्रस्य) इन्द्रका(युज्यः) योग्य(सखा) सखा है । अर्थात् हे सोम ! तुम शीघ्र इस पात्रमें प्रवेश करनेमें समर्थ हो वायुदेवताके प्रसादसे तुम पवित्रद्वारा पवित्र होते हो, इन्द्रके उपयुक्त और प्रिय हो (प्राङ्) मुखकी ओरसे (अतिद्रुतः) अतिशीघ्र निर्गत (सोमः) सोम(वायोः) वायुके (पवित्रेण) पवित्रतासे (पूतः) पवित्रहुआ (सोमः) सोम (इन्द्रस्य)

इन्द्रका (युज्यः) योग्य (सखा) सखा हे सोम ! तुम अति शीघ्र इस पात्रसे निर्गत होनेमें समर्थ हो वायु देवताके प्रसादसे पवित्रद्वारा तुम पवित्र होतेहो तुम इन्द्र देवताके उपयुक्त और प्रिय हो ॥ ३ ॥

कण्डिका ४–मन्त्र १ ।

पुनातिंतेपरिस्रुतꣳसोमꣳसूर्य्यस्यदुहिता ॥ वारेंणशश्वंतातनां ॥ ४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ पुनातीति मन्त्रस्य आभूतिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । सोमो देवता । वि० पू० ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ–हे यजमान ! (सूर्यस्य) सूर्यकी (दुहिता) पुत्री श्रद्धा (ते) तुम्हारे (परिस्रुतम्) अभिषुत (सोमम्) सोमको (शश्वता) अनादि (तना) धन वा धनकी उत्पत्ति निमित्तसे (पुनाति) पवित्र करती है, अथवा सूक्ष्मवालनिर्मित पवित्रसे निर्गत सोममिश्रित रस सूर्यदुहिता श्रद्धाके प्रसादसे चिरदिनमेंही पवित्र होता है अथवा तुम्हारे सोमकी समान पवित्र करती है [ऋ० ६।७।१७] ॥ ४ ॥

प्रमाण–"श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता" इति श्रुतेः [श०] "तनेति धननाम" [निघं० २ । १० । १९] ॥ ४ ॥

कण्डिका ५–मन्त्र १ ।

ब्रह्मंक्षत्रम्पंवतेतेजंऽइन्द्रियꣳसुरंयासोमंः सुतऽआसुंतोमदाय ॥ शुक्रेणंदेवदेवताः पिपृग्धिरसेनान्नंयजमानायधेहि ॥ ५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ ब्रह्मक्षत्रमित्यस्य आभूतिर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । सुरासोमौ देवते । पयःपावने वि० ॥ ५ ॥

विधि–(१) उत्तरवेदीके वेतसपात्रमें स्थापन करके उस अजा और मेषलोम-निर्मित पवित्रद्वारा रसभाण्डमें देनेसे बचे दुग्धमिश्रित सोमको इस मंत्रका पाठ करके डाले [का० १९ । २ । १०] मंत्रार्थ–(देव) हे देव सोम ! (शुक्रेण) शुद्ध वीर्यद्वारा (देवताः) अग्निआदि देवताओंको (पिपृग्धि) प्रसन्न करो (रसेन) घृतादिरस और (अन्नम्) अन्नको (यजमानाय) यजमानके निमित्त (धेहि) दीजिये जिस कारण (सोमः) सोम (सुतः) अभिषुत होनेसे (ब्रह्म)

ब्राह्मणजाति (क्षत्रम्) क्षत्रियजाति (तेजः) कान्ति (इन्द्रियम्) इन्द्रियसामर्थ्य-को (पवते) प्रगट करती है (सुरया) पूर्वोक्त रससे (आसुतः) तीव्र होनेसे (मदाय) मदके निमित्त होते हो [अर्थात् इस प्रकार सामर्थ्ययुक्त होकर तुम देवता और यजमानोंको अभीष्टके देनेसे प्रसन्न करते हो] ॥ ५ ॥

भावार्थ-हे सोम देव! तुम प्रथम अभिषुत हुए पीछे मद सम्पादनके निमित्त रससे मिश्रीभूतहुए, इस समय प्रार्थना है कि तुम्हारे विशुद्ध प्रभावसे देवताओंकी इच्छा पूर्णतासे तृप्तहो, ब्राह्मण और क्षत्रियजातिके तेज और इन्द्रियोंको पवित्रकरो और यजमानको यथेष्ट अन्न और जल प्रदान करो [इन दो मंत्रोंसे यह रस पवित्र किया है] ॥ ५ ॥

कण्डिका ६-मंत्र ७।

कुविदुङ्ग यवमन्तो यवञ्चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय ॥ इहेहैषाङ्कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमऽउक्तिं यजन्ति ॥ उपयामगृहीतोस्यश्विभ्यान्त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णऽएष ते योनिस्तेजसे त्वा वीर्याय त्वा बलाय त्वा ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ कुविदित्यस्य मन्त्रसप्तकस्य काक्षीवतः सुकीर्त्तिर्ऋषिः । विराट् पंक्तिश्छन्दः । सोमो देवता । पयोग्रहग्रहणे वि० ॥ ६ ॥

विधि-(१-२-३) प्रथम तीन मंत्र पाठ करके अश्वत्थ पात्रमें पयोग्रह ग्रहण करै [का० १९ । २ । १२-१३ ।] मन्त्रार्थ-हे सोम! (यथा) जैसे (इह) इस लोकमें (यवमन्तः) बहुत यवसम्पन्न किसान (कुवित्) बहुतसे (यवम्) यवको अर्थात् सम्पूर्ण यवमय सस्यको (चित्) विचारकर (अनुपूर्वम्) आनुपूर्वक (वियूय) पृथक् करके (अङ्ग) शीघ्र (दान्ति) काटते हैं अर्थात् किसान एकाकी होकरभी अपनी कर्षित भूमिसे उत्पन्न अतिअधिक यवशस्यको जिस प्रकार यथाक्रमसे काटते हैं इसी प्रकार स्वल्पमात्रभी तुम देवताओंके अति-प्रिय हो (इह) इस यजमानमें (एषाम्) इन यजमानोंके सम्बन्धी(भोजनानि) भोज्य पदार्थोंको (कृणुहि) सम्पादन करो (ये) जो (बर्हिषः) कुशासनपर बैठेहुए (नमः) हविरूप अन्नको लेकर (उक्तिम्) याज्यको कथनकर (यजन्ति) यज्ञ करते हैं १ । हे पयोग्रह! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (अश्वि-

भ्याम्) अश्विनीकुमारकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं २ । हे पयोग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (तेजसे) तेजप्राप्तिके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें सादितकरताहूं ३ । विधि-(४-५) दूसरे पयोग्रहमें कुविदिति यह मंत्र पढकर कहैं अर्थात् चतुर्थ मंत्रपाठपूर्वक उदुम्बर पात्रमें ग्रहण और पंचममंत्रसे स्थापनकरै । मन्त्रार्थ-हे पयोग्रह ! तुम उपयामपात्रमें गृहीतहो (सरस्वत्यै) देवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं ४ । हे द्वितीय पयोग्रह ! यह तुम्हारा स्थान है (वीर्याय) वीर्यलाभकी कामनासे (त्वा) तुमको इस स्थानमें सादित करता हूं ५ । विधि-(६-७) फिर प्रथम मंत्रपाठकरके तीसरा पयोग्रह ग्रहण करके अभिमंत्रण कर छठेसे ग्रहण और सातवेंसे सादित करै । मन्त्रार्थ-हे पयोग्रह ! तुम उपयामपात्रमें गृहीत होतेहो (सुत्राम्णे) सुत्रामा रक्षक (इन्द्राय) इन्द्र देवताके प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं ६ । हे तृतीय पयोग्रह ! यह तुम्हारा स्थान है (बलाय) बलकी कामनासे (त्वा) तुमको सादित करताहूं ॥ ७ ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मंत्र ३।

नानाहिवान्देवहितꣳसदस्कृतम्मासꣳसृक्षाथाम्प रमेव्योमन् ॥ सुरात्वमसिशुष्मिणीसोमऽएष मामाहिꣳसीःस्वांयोनिमाविशन्ती ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नानाहीत्यस्य मन्त्रत्रयस्य आभूतिर्ऋषिः । जगती छन्दः । सुरासोमौ देवते । ग्रहाभिमंत्रणे विनि० ॥ ७ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकात्मक मंत्र और परकण्डिकात्मक छः मंत्रोंमें आवृत्ति क्रमसे नौ मंत्र युक्त होंगे तिस्से यथाक्रमसे मृन्मयस्थालीमें तीन सुराग्रह अभिमंत्रित और गृहीत और आसादित किये जायँगे, उसमें इस मंत्रसे अभिमंत्रणकरै [का० १९ । २ । २०] मन्त्रार्थ-हे सुरासोम ! (हि) जिसकारणसे कि (वाम्) तुम दोनोंका (देवहितम्) देवताओंके हितकारी पथ्य वा देवतोंसे स्थापित (नाना) पृथक् (सदः) स्थान (कृतम्) कियेगये हैं इस कारण (परमे) उत्कृष्ट (व्योमन्) आकाशकी समान विस्तृत हवन स्थानमें (मा) मत (सꣳसृक्षाथाम्) संयोगकरो कारण कि आहवनीयमें दुग्ध और दक्षिणाग्निमें सुरा होमीजातीहै इसकारण अलग रहो हे सुरारस ! (त्वम्) तुम (शुष्मिणी) बलवती

१ कारण कि सुरा और सोमकी दो वेदी होती है ।

(सुरा) देवतोंके स्वीकारयोग्य रसवती (असि) हो (एषः) यह (सोमः) सोम है शान्त है इस कारण (स्वाम्) अपने (योनिम्) स्थानमें दक्षिणाग्निमें (प्रविशन्ती) प्रवेशकरती तुम (सोमम्) सोमको (मा) मत (हिꣳसीः) पीडादो ॥ ७ ॥

सरलार्थ-हे सुरा और सोम ! जिस कारण कि तम दोनोंकी भिन्न प्रकृति है इस कारण तुम्हारी वेदी (प्रस्तुतस्थान) और कुण्ड (हुतस्थान) दोनोंही पृथक् २ हैं हे सुरे ! तुम बलवती हो और सोम शान्त है इस कारण प्रार्थना है कि तुम दोनों एकत्र समावेशसे सोमको नष्ट न करना ॥ ७ ॥

विवरण-क्रम पहले आश्विन पयोग्रह फिर सरस्वतीपयोग्रह, सुराग्रह, ऐन्द्रग्रह, पयसुराग्रह इस प्रकार ग्रहण करै ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मंत्र ६ ।

उपयामगृहीतोस्याश्श्विनन्तेजः सारस्वतंवीर्य्यमैन्द्रम्बलम् ॥ एषतेयोनिर्म्मोदायत्वानन्दायत्वामहसेत्वा ॥ ८ ॥

ऋष्यादि-(१-६) ॐ उपयामगृहीत इत्यस्य मन्त्रषट्कस्य आभूतिर्ऋषिः । निचृदार्षी पंक्तिश्छन्दः । सोमो दे० । वि० पू० ॥ ८ ॥

मंत्रार्थ-हे प्रथम सुराग्रह ! (उपयामगृहीतः) तुम उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (तेजः) तेजस्वरूप तुमको (आश्विनम्) अश्विनी कुमारकी प्रीतिके निमित्त उपयामपात्रमें ग्रहण करताहूं १ । हे प्रथम सुराग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (मोदाय) आनंदकी इच्छासे (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करताहूं २ । हे द्वितीय सुराग्रह ! (वीर्यम्) वीर्यस्वरूप तुमको (सारस्वतम्) सरस्वती देवताकी प्रीतिके निमित्त उपयामपात्रमें ग्रहण करताहूं ३ । हे द्वितीय सुराग्रह ! यह तुम्हारा घर है (आनंदाय) आनंदकी प्राप्तिके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करताहूं ४ । हे तृतीय सुराग्रह ! (बलम्) बलप्राप्तिके निमित्त (ऐन्द्रम्) इन्द्रदेवताकी प्रसन्नताके अर्थ उपयामपात्रमें तुमको ग्रहण करताहूं ५ । हे तृतीय सुराग्रह ! यह तुम्हारा स्थान है (महसे) महत्त्वस्फूर्तिकी कामनासे (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापित करताहूं ॥ ६ ॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मंत्र ६ ।

तेजोसितेजोमयिधेहिवीर्य्यमसिवीर्य्यम्मयिधेहिब

लमसिबलम्मयिधेह्योजोस्योजोमयिधेहिमन्युरं सिमन्युम्मयिधेहिसहोसिसहो मयिधेहि ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१-६) ॐ प्रथमषष्ठमन्त्रयोराभूतिर्ऋषिः । आसुरी जगती छन्दः । सुरासोमौ देवते । (१) आश्विनग्रहे गोधूमकवलचूर्णक्षेपणे वि० (६) ऐंद्रसुराग्रहे सिंहलोमक्षेपणे च वि० । (२-३-५) ॐ द्वितीय तृतीय पञ्चम मन्त्राणामाभूतिर्ऋ० । आसुरी त्रिष्टुप्छं० । (२) सारस्वते पयोग्रहे उपवाकबदरचूर्णक्षेपणे वि० (३) ऐन्द्रे पयोग्रहे यवकर्कन्धूचूर्णक्षेपणे वि० । (५) सारस्वतसुराग्रहे व्याघ्रलोमक्षेपणे च वि० । (४) ॐ ओजोसीत्याभूतिर्ऋ० । प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । सुरा देवता । आश्विनसुराग्रहे वृकलोमप्रक्षेपणे वि० ॥ ९ ॥

विधि-(१) आश्विन पयोग्रह ग्रहण करनेके उपरान्त स्थापनके पहले दो कुशतृण पात्रके ऊपर करके यह मंत्रपाठपूर्वक ग्रहण किये ग्रहमें गोधूम और कुवल (वड कुल वा स्थूल वदरीफलका चूर्ण) इसमें प्रक्षेप करै [का० १९ । २ । १६] मन्त्रार्थ-हे दुग्ध ! तुम (तेजः) तेजवर्द्धक (असि) हो इस कारण (तेजः) तेज (मयि) हमको (धेहि) दीजिये विधि-(२) दूसरा मंत्र पाठ करके सारस्वत पयोग्रहमें इन्द्रजौ और छोटे वेरोंका चूर्ण प्रक्षेप करै [का० १९ । २ । १७] मन्त्रार्थ-हे दुग्ध ! तुम (वीर्यम्) वीर्यके वढानेवाले (असि) हो इस कारण (मयि) मुझमें (वीर्यम्) वीर्यकी वृद्धि (धेहि) करो २ । विधि-(३) तीसरा मंत्र पाठकरके ऐन्द्र पयोग्रहमें यव और कर्कन्धू अति वडे वदरीफलका चूर्ण प्रक्षेप करै [का० १९ । २ । १९] मन्त्रार्थ-हे दुग्ध ! तुम (वलम्) वलके वढानेवाले (असि) हो इस कारण (मयि) मुझमें (वलम्) वलकी वृद्धि (धेहि) करो ३ । विधि-(४) चौथा मंत्र पाठ करके आश्विन सुराग्रहमें वृकलोम प्रक्षेप करै [का० १९ । २ । २२-२३] मन्त्रार्थ-हे सुरारस ! तुम (ओजः) ओजके वढानेवाले (असि) हो इस कारण (मयि) मुझमें (ओजः) ओजकी वृद्धि (धेहि) करो ४ । विधि-(५) पांचवाँ मंत्र पाठ करके सारस्वत सुराग्रहमें व्याघ्रलोम प्रक्षेप करै । मन्त्रार्थ-हे सुरारस ! तुम (मन्युः) क्रोध-वर्द्धक (असि) हो इसकारण (मन्युः) दुष्टोंपर क्रोधकी प्राप्ति (मयि) मुझमें (धेहि) वृद्धि करो ५ । विधि-(६) छठा मंत्र पाठकरके ऐन्द्र सुराग्रहमें सिंहके लोम प्रक्षेप करै । मंत्रार्थ-हे सुरारस ! तुम (सहः) वलवर्द्धक (असि) हो (मयि) मुझमें (सहः) सहकी वृद्धि (धेहि) दो ॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मंत्र १।

याव्याघ्रंविषूचिकोभौवृकंञ्चरक्षति ॥ श्येनम्पतत्रिणᳬसिᳬहᳬसेमम्पात्वᳬहंसः ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ याव्याघ्रमित्यस्य हैमवर्चिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । विषूचिका देवता । श्येनपक्षाभ्यां यजमानपावने वि० ॥ १० ॥

विधि-(१) अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता यह दोनो दोनो पार्श्वमें होकर यजमानको पूर्वमुख करके यह मंत्र पाठकरते हुए उसकी नाभिसे ऊर्ध्व और अधो-भागमें श्येनपक्षीके पक्षद्वारा प्रदक्षिणक्रमसे झाडा देकर पावन करै [का० १९ । २ । २६] मंत्रार्थ-(या) जो (विषूचिका) सर्वत्र जानेवाला संक्रामिक उदर-रोगविशेष (व्याघ्रम्) व्याघ्रगणको (च) और (वृकम्) भेडियोंके समूहको (उभौ) इन दोनोंको (रक्षति) रक्षा करता है (श्येनम्) श्येन (पतत्रिणम्) पक्षी और (सिंहम्) सिंहको रक्षाकरता है (सा) वह रोग (इमम्) इस यजमानको (अᳬहसः) पापरूप व्याधिसे (पातु) रक्षा करै ॥ १० ॥

विशेष-सिंह व्याघ्रादिको विषूचिकारोग नहीं होता उनका भक्षित अन्न भली प्रकार परिपाक होता है, हमारे यजमानको भी यह रोग न हो यही प्रार्थना है आशय यह है कि इस प्रकार इन वस्तुओंसे रक्षा करनेसे विषूचिका शान्त होती है उदररोग नहीं होता ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मन्त्र ३।

यदापिपेष मातरम्पुत्रः प्रमुदितोधयन् ॥ एतत्तदग्नेऽअनृणोभवाम्यहतौपितरौमया ॥ सम्पृचस्थसम्माभद्रेणपृङ्क्तविपृचस्थविमापाप्मनापृङ्क्त ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यदेत्यस्य हैमवर्चिर्ऋषिः । बृहती छन्दः । अग्नि-र्देवता । अग्निदर्शने वि० । (२) ॐ सम्पृचस्थेत्यस्य हैमवर्चिर्ऋ० । त्रिष्टुप्छन्दः । पयोग्रहो देवता । पयोग्रहस्पर्शने वि० । (३) ॐ विपृच इत्यस्य हैमवर्चिर्ऋ०।त्रिष्टुप्छं०।सुराग्रहो दे०।सुराग्रह स्पर्शने वि०॥ ११॥

विधि-(१) अध्वर्यु यजमानको अग्निदर्शन करनेके निमित्त अनुज्ञा करनेपर यजमान इस कण्डिकाका प्रथम मंत्र पाठकरके उत्तर वेदीमें स्थित अग्निका दर्शन करावे [का० १९ । २ । २७]

मन्त्रार्थ-(प्रमुदितः) अतिहृष्ट (धयन्) और स्तनपानकरते (पुत्रः) पुत्र (अहम्) मैंने (यत्) जो (मातरम्) माताको(आपिपेषम्) चरणोंसे ताडित किया (अग्ने) हे अग्ने ! (तत्) वह (एतत्) यह मैं तुम्हारी साक्षीमें (अनृणः) तीनों ऋणोंसे मुक्त (भवामि) होताहूं (मया) मैंने (पितरौ) मातापिताको (अहतौ) पीडानहींदी जो पुत्र प्रत्युपकार करनेमें असमर्थ हो वही मातापिताका हन्ता होताहै । अर्थात-हे अग्ने ! तुम साक्षी हो मैंने बालकपनमें माताकी गोदमें शयन करते स्तन्यपानसमयमें मत्त होकर जो वारंवार माताकी छातीमें पदाघात किया है, इत्यादि और भी मातापिताके निकट चिरकालसे ऋणीहूं किन्तु आज इस देवयागसे उस समस्त ऋणसे मुक्तहूं, इस समय कहताहूं कि हमारे लालन पालनमें पिता माताने जो क्लेश पायाहै आज वह सब सार्थक हुआ जिस्से मैं यज्ञ करताहूं१। विधि-(२) दूसरा मंत्र पढकर पयोग्रह स्पर्श करै [का० १९।२।२८] मंत्रार्थ-हे पयोग्रह ! तुम (सम्पृचः) स्वयं संयोग करनेमें समर्थ (स्थ) हो इसकारण (मा) मुझको (भद्रेण) कल्याणसे (सम्पृणक्त) संयोग करो २। विधि-(३) तीसरे मंत्रसे सुराग्रह स्पर्श करै [का० १९।२। २९] मन्त्रार्थ-हे सुराग्रह ! तुम (विपृचः) स्वयं वियोग करनेमें समर्थ (स्थ) हो (मा) मुझको (पाप्मना) पापोंसे (विपृङ्क्त) वियुक्त करो ॥ ११ ॥ [११]

विशेष-इस मंत्रसे स्पष्ट है कि माता पिताका महाऋण पुत्रपर होता है, जो पुत्र पिता माताको वडे होकर दुर्वाक्यप्रयोग वा प्रहार करते हैं उनका निस्तार कभी नहीं होगा, इस कारण भली प्रकार माता पिताकी सेवा करके सन्तुष्ट करनेसे उद्धार होगा ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मंत्र १. अनु० २ ।

देवा यज्ञमतन्वत भेषजम्भिषजाश्विना ॥ वाचा सरस्वती भिषगिन्द्रायेन्द्रियाणि दधतऽ ॥ १२ ॥

विधि-देवायज्ञम्-से आरंभकर बीस कण्डिका ब्राह्मणरूप हैं इस कारण इनका विनियोग नहीं है, यह बीस अनुष्टुप् सौत्रामणीके सोमसाम्यप्रतिपादक हैं यहां इतिहास है कि "त्वष्टा हतपुत्रोऽभिचरणीयमपेन्द्रꣳ सोममाहरत्तस्येन्द्रो यज्ञवेशसं कृत्वा प्रासहा सोममपिबत्स विष्वङ्व्यार्च्छत्तस्य मुखात् प्राणेभ्यः श्रीयशसान्यूर्ध्वान्युदक्रामंस्तानि पशून् प्राविशँस्तस्मात् पशवो यशो ह भवति य एवं विद्वान् सौत्रामण्याभिषिच्यते ततोऽस्मा एतमश्विनौ च सरस्वती च यज्ञꣳ

सममरन्त्सौत्रामणी भैषज्याय तयैनमभ्यषिञ्चँस्ततो वै स देवानाᳬ श्रेष्ठोऽभवच्छ्रेष्ठः स्वानां भवति य एनयाभिषिच्यते " इति [१२ । ८ । ३] श्रुतेः ।

अर्थ-हतपुत्र त्वष्टाके अभिचार अर्थात् नमुचिके कुचरित्रमें पडकर इन्द्रने अनपहूत असंस्कृत सोमरस पान किया, इससे सम्पत्ति और यशसे रहित हुए, तब अश्विनीकुमारने सुरापान रोगकी शान्तिके अर्थ सौत्रामणी यज्ञ करके उनका प्राधान्य फिर स्थापित किया, इस कारण प्राधान्यलाभमें सौत्रामणी ओषधि और अश्विनीकुमार तथा सरस्वतीदेवता है ।

विशेष-असंस्कृत रस पानसे इन्द्रका वल वीर्य प्राधान्यता असुरोंने हरण किया तव जो मनुष्य मद्यको सुरा कहकर दिनरात पान करते हैं, उनके पतित होनेमें सन्देह क्या है, यह ब्राह्मणश्रुतिही इसका निषेध करती है । मन्त्रार्थ-(देवाः) देवताओंने (भेषजम्) इन्द्रके ओषधीरूप (यज्ञम्) सौत्रमणियज्ञको (अतन्वत) विस्तार किया (भिषजा) वैद्य (अश्विना) अश्विनीकुमार और (सरस्वती) सरस्वतीने (वाचा) त्रयीलक्षण वाणीसे इन्द्रमें (वीर्याणि) वलइन्द्रिय सामर्थ्य (दधतः) धारण की ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मंत्र १ ।

दीक्षायै रूपᳬ शष्पाणि प्रायणीयस्य तोक्मानि ॥ क्रयस्य रूपᳬ सोमस्य लाजाः सोमाᳬशवो मधु ॥ १३ ॥

विधि-(१) अव सौत्रामणियज्ञकी सोमसम्पत्ति कहते हैं ।

मन्त्रार्थ-(शष्पाणि) नये उत्पन्न व्रीहि (दीक्षायै) इस यज्ञकी दीक्षाके निमित्त आवश्यक होते हैं (तोक्मानि) नवीन प्ररूढयव (प्रायणीयस्य) प्रायणीय इष्टका (रूपम्) रूप जानो (लाजाः) खीलैं (क्रयस्य) मोलकिये (सोमस्य) सोमका (रूपम्) रूप है (मधु) सोमखण्ड वा मधुर स्वादिष्ठ लाजा (सोमाᳬशवः) सोमके खण्ड हैं अर्थात् दीक्षाके निमित्त शष्प प्रायणीय सम्पादनके निमित्त तोक्म सोमक्रयार्थ लाजा आवश्यक है सोमअंशु वडे मधुर हैं ॥ १३ ॥

काण्डका १४-मन्त्र १ ।

आतिथ्यरूपम्मासरम्महावीरस्य नग्नहुः ॥ रूपमुपसदामेतत्तिस्रो रात्रीः सुरासुता ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ-(आतिथ्यरूपम्) आतिथ्यसम्पादनके निमित्त वा आतिथ्यरूप (मासरम्) व्रीहिश्यामाकलाजा मिलाहुआ चूर्ण है (नग्नहुः) सर्जत्वगादि २६ वस्तु (महावीरस्य) 'घर्म' महावीरके स्थानी है (तिस्रः) तीन (रात्रीः) रात्रिपर्यन्त (आसुता) अभिषवण किया (सुरा) सुरारस (उपसदाम्) उपसद संज्ञक इष्टिका (रूपम्) रूप है ॥ १४ ॥

कण्डिका १५–मंत्र १ ।

सोमस्य रूपं क्रीतस्य परिस्रुत्परिषिच्यते ॥ अश्विभ्यां दुग्धं भेषजमिन्द्रायैन्द्रꣳ सरस्वत्या ॥ १५ ॥

मंत्रार्थ-(इंद्राय) इन्द्रके निमित्त (ऐन्द्रम्) इन्द्रसम्बन्धी (भेषजम्) ओषधी (सरस्वत्या) सरस्वती (अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमारद्वारा (दुग्धम्) दुहाहुआ दूध (परिस्रुत्) अभिषुत महौषधिरस सुराके संग तीन दिन (परिषिच्यते) सींचाजाता है वह (क्रीतस्य) क्रय किये (सोमस्य) सोमका (रूपम्) रूपहैं अर्थात् क्रीत सोमके सहित परिस्रुत् [सुरा] परिषेक करनेके निमित्त अश्विनीकुमारके निमित्त एक प्रकार, सरस्वती देवताके निमित्त अन्य प्रकार, और इन्द्र देवताके निमित्त दूसरे प्रकार दुग्ध आवश्यक है ॥ १९ ॥

"एकस्याः पयसापाकृतेनाश्विनैनं परिषिञ्चति सारस्वतेन द्वयोः प्रातः ऐन्द्रेणोत्तमे तिसृणाम्" इति [कात्या० १९ । १ । २३ । २५ । २७ ।] ॥ १५ ॥

कण्डिका १६–मंत्र १ ।

आसन्दी रूपꣳ राजासन्द्यै वेद्यै कुम्भी सुराधानी ॥ अन्तरऽउत्तरवेद्या रूपं कारोतरो भिषक् ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ-(आसन्दी) यजमानके अभिषेकके निमित्त मञ्चिका (राजासन्द्यै) सोमकी आसन्दीका (रूपम्) रूप है (सुराधानी) सुरारखनेका (कुम्भी) पात्र (वेद्यै) सोमिक वेदीका रूप है (अन्तरः) दोनो वेदीके मध्यका भाग (उत्तरवेद्याः) उत्तरवेदीका (रूपम्) रूप है (कारोतरः) सुरापावन चालिनी (भिषक्) इन्द्रकी औषधी है ॥ १६ ॥

अर्थात् सोमके निमित्त आसन्दी अवश्यक है राजाके अभिषेकार्थ एक और आसन्दी, सुरारसके निमित्त कुम्भी दोनो आसन्दीके मध्यस्थलमें उत्तरवेदी यजमानके भैषज्यकस्वरूप सुरापावन चालिनी आवश्यक है ॥ १६ ॥

कण्डिका १७-मन्त्र १ ।

वेद्या वेदिः समाप्यते बर्हिषा बर्हिरिन्द्रियम् ॥ यूपेन यूपऽआप्यते प्रणीतोऽअग्निरग्निना ॥ १७ ॥

मंत्रार्थ-(वेद्या) वेदीके द्वारा (वेदिः) सोमकी वेदी (समाप्यते) भले प्रकार प्राप्त होती है (बर्हिषा) कुशासे (बर्हिः) सोमसम्बन्धी कुशा प्राप्त होती है (इन्द्रियम्) इन्द्रियद्वारा इन्द्रियलाभ होती है (यूपेन) वर्तमानयूपसे (यूपः) सोमसम्बन्धी यूप (आप्यते) प्राप्त होताहै (अग्निना) अग्निद्वारा (प्रणीतः) प्रणीत (अग्निः) अग्नि प्राप्त होती है ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मन्त्र १ ।

हविर्धानं यदश्विनाग्नीध्रं यत्सरस्वती ॥ इन्द्रायैन्द्रꣳ सदस्कृतं पत्नीशालं गार्हपत्यः ॥ १८ ॥

मंत्रार्थ-(यत्) जो इस यज्ञमें (अश्विना) अश्विनीकुमार देवता हैं उनके सद्भावसे (हविर्धानम्) सौमिक हविर्धान प्राप्त करते हैं अथवा अश्विनीकुमारके निमित्त हविर्धान प्रस्तुत करै (यत्) जो (सरस्वती) सरस्वती देवता हैं उनके सद्भावसे (आग्नीध्रम्) सौमिक आग्नीध्र प्राप्त होता है (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (ऐन्द्रम्) इन्द्रके योग्य (सदः) सभास्थान (पत्नीशालम्) पत्नीशालास्थान (कृतः) किया हुआ (गार्हपत्यः) गार्हपत्य जानना चाहिये अर्थात् सौत्रामणिमें इन्द्रके निमित्त जो हवि है वह सौमिकसभा और पत्नीशाला गार्हपत्य रूपसे ध्यान करनी चाहिये ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मन्त्र १ ।

प्रैषेभिः प्रैषानाप्नोत्याप्रीभिराप्रीर्यज्ञस्य ॥ प्रयाजेभिरनुयाजान्वषट्कारेभिराहुतीः ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ-(प्रैषेभिः) प्रैषनाम यज्ञकर्मोंसे (प्रैषान्) प्रैषोंको (आप्नोति) प्राप्त करता है (आप्रीभिः) प्रयाज याज्योंसे (यज्ञस्य) यज्ञकी (आप्रीः) प्रयाजको प्राप्त करता है (प्रयाजेभिः) प्रयाजोंसे प्रयाजोंको पाता है (अनुयाजान्) अनुयाजोंसे अनुयाजोंको पाता है (वषट्कारेभिः) वषट्कारोंसे वषट्कारोंको(आहुतीः) आहुतियोंसे आहुतियोंको पाता है ॥ १९ ॥

विशेष—प्रैषेभिः—भेजनेरूप कर्म । आप्रीभिः—प्रसन्न करनेवाली क्रिया । प्रयाजेभिः—उत्तम यज्ञकर्म । अनुयाजान्—अनुकूल यज्ञपदार्थ ॥ १९ ॥

कण्डिका २०—मन्त्र १ ।

पशुभिः पशूनाप्नोति पुरोडाशैर्हवीᳬंष्या ॥ छन्दोभिः सामिधेनीर्याज्याभिर्वषट्कारान् ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—(पशुभिः) पशुओंद्वारा (पशून्) पशुओंको प्राप्तहोता है (पुरोडाशैः) पुरोडाशोंसे (हवीᳬंषि) हवियोंको (आप्नोति) प्राप्तहोताहै (छन्दोभिः) छन्दोंसे छन्दोंको (सामिधेनीः) सामधेनियोंद्वारा सामधेनियोंको (याज्याभिः) याज्योंसे याज्योंको (वषट्कारान्) वषट्कारोंसे वषट्कारोंको प्राप्तहोता है ॥ २० ॥

कण्डिका २१—मंत्र १ ।

धानाः करम्भः सक्तवः परीवापः पयो दधि ॥ सोमस्य रूपᳬं हविषऽआमिक्षा वाजिनम्मधु ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—(धानाः) भुनेधान्य (करम्भः) उदमंथ (सक्तवः) सत्तू (परीवापः) हविपपंक्ति (पयः) दूध (दधि) दही (सोमस्य) सोमका (रूपम्) रूप है (आमिक्षा) गरम दूधमें दही डालनेसे उसका घनभाग (मधु) शहत (वाजिनम्) अन्न (हविषः) हविका रूप है यह सोमके उपकरण जानै ॥ २१ ॥

कण्डिका २२—मंत्र १ ।

धानानाᳬं रूपङ्कुवलम्परीवापस्य गोधूमाः ॥ सक्तूनाᳬं रूपम्बदरमुपवाकाः करम्भस्य ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—इस यज्ञमें (कुवलम्) कोमलबदरीफल (धानानाम्) पूर्वोक्तधानोंका (रूपम्) रूप है (गोधूमाः) गेहूं (परीवापस्य) हविष्पंक्तिका रूप है (बदरम्) सम्पूर्ण बदरीफल (सक्तूनाम्) सत्तुओंका (रूपम्) रूप है (उपवाकाः) यव (करम्भस्य) करम्भका रूप है ॥ २२ ॥

कण्डिका २३—मंत्र १ ।

पयसो रूपं यद्यवा दध्नो रूपङ्कर्कन्धूनि ॥ सोमस्य रूपं वाजिनᳬं सौम्यस्य रूपमामिक्षा ॥ २३ ॥

मंत्रार्थ-(यत्) जो कि (यवाः) यव (पयसः) दुग्धका (रूपम्) रूप है (कर्कन्धूनि) स्थूलबदरीफल (दध्नः) दहीका (रूपम्) रूप है (वाजिनम्) अन्न (सोमस्य) सोमका (रूपम्) रूप है (आमिक्षा) दधिमिश्रित उष्ण दुग्ध (सौम्यस्य) सोमपक्क चरुका (रूपम्) रूप है ॥ २३ ॥

कण्डिका २४-मन्त्र १ ।

आश्श्रावयेतिस्तोत्रियाः प्प्रत्त्याश्श्रावोऽअनुरूपः ॥ यजेतिधाय्यारूपम्प्रगाथायेयजामहाः ॥२४॥

मन्त्रार्थ-शस्त्रसम्पत्ति कहते हैं (आश्रावय) सुनाओ (इति) यह शब्द (स्तोत्रियाः) स्तोतृरूपसे कहाजाता है (प्रत्याश्रावः) पीछे सुनाया जाता है यह (अनुरूपः) उत्तर तीन ऋचावाले अनुवाकका रूप है (यज इति) यजनकरो इस प्रकारका यह शब्द (धाय्यारूपम्) धाय्याका रूप है (येयजामहाः) येयजामहे यह शब्द (प्रगाथाः) प्रगाथाका रूप है [धाय्या-धारणयोग्य] ॥ २४ ॥

कण्डिका २५-मंत्र १ ।

अर्द्धऽऋचैरुक्थानाᳬरूपम्पदैराप्प्नोतिनिविदः ॥ प्रणवैःशस्त्राणाᳬरूपम्पयसासोमऽआप्प्यते ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ-(अर्धऋचैः) अर्धऋचाओंसे (उक्थानाम्) उक्थनाम शस्त्रोंका (रूपम्) रूप (आप्यते) प्राप्त कियाजाता है (पदैः) प्रत्येक पदोंसे (निविदः) न्यूङ्खोंको (आप्नोति) प्राप्त होता है (प्रणवैः) ओंकारोंसे (शस्त्राणाम्) शस्त्रोंके (रूपम्) रूपको और (पयसा) दुग्धसे (सोमः) सोम प्राप्त होता है ॥ २५ ॥

कण्डिका २६-मन्त्र १ ।

अश्श्विभ्याम्प्प्रातःसवनमिन्द्रेणैन्द्रम्माद्ध्यन्दिनम् ॥ वैश्श्वदेवᳬसरस्वत्त्यातृतीयमाप्तᳬसवनम् ॥ २६ ॥

मंत्रार्थ-सवनसंम्पत्ति कहते हैं (अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमारोंके द्वारा (प्रातः-) प्रातःसवन प्राप्त होता है (इन्द्रेण) इन्द्रके द्वारा (ऐन्द्रम्) इन्द्रदेवता (माध्यन्दिनम्) माध्यन्दिन सवन प्राप्तहोता है (सरस्वत्या) सरस्वती

द्वारा (वैश्वदेवम्) विश्वेदेवसम्बन्धी (तृतीयम्) तीसरा सवन (आप्तम्) प्राप्त होता है अर्थात् तीनोंकालके यह देवता आराध्य हैं ॥ २६ ॥

कण्डिका २७–मंत्र १ ।

वायुव्यैर्वायुव्यान्याप्नोतिसतेनद्रोणकलशम् ॥ कुम्भीभ्यामम्भृणौसुतेस्थालीभिस्थालीराप्नोति॥२७॥

मंत्रार्थ–(वायव्यैः) वायव्यसोमपात्रोंके द्वारा (वायव्यानि) वायव्य पात्रोंको (आप्नोति) प्राप्तहोता है (सतेन) वेतसपात्रद्वारा जिससे द्रोणकलश चलाया जाताहै। (द्रोणकलशम्) द्रोणपरिमाण कलशको (कुम्भीभ्याम्) आहवनीय अग्निके ऊपर शिक्यमें स्थित सौछिद्रवाली झारी और दक्षिणाग्नीके ऊपर स्थित द्वितीय सुराधानीपात्रद्वारा (अम्भृणौ) पूतभृत् और आधवनीयको (सुते) सोमाभिषव होनेपर प्राप्त होता है (स्थालीभिः) स्थालियोंद्वारा (स्थालीः) स्थालियोंको (आप्नोति) प्राप्तहोता है. अर्थात् इसके निमित्त कुछ स्थाली आवश्यक हैं॥२७॥

कण्डिका २८–मन्त्र १ ।

यजुर्भिराप्यन्तेग्रहाग्ग्रहैस्तोमाश्चविष्टुतीः॥छन्दोभिरुक्थाशस्त्राणिसाम्नावभृथऽआप्यते ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ–(यजुर्भिः) यजुर्मंत्रोंके द्वारा (ग्रहाः) ग्रह (आप्यन्ते) प्राप्त होते हैं (ग्रहैः) ग्रहोंद्वारा (स्तोमाः) स्तोम सम्पन्न होते हैं (च) और स्तोमसे (विष्टुतीः) अनेक प्रकारकी स्तुति सम्पन्न होती हैं (छन्दोभिः) छन्दोंद्वारा (उक्थाः) उक्थ और (शस्त्राणि) कथन करनेयोग्य स्तुतियें सम्पन्न होती हैं (साम्ना) सामसे साम और अवभृथोंसे (अवभृथः) अवभृथस्नान (आप्यते) प्राप्तहोता है ॥ २८ ॥

कण्डिका २९–मंत्र १ ।

इडाभिर्भक्षानाप्नोतिसूक्तवाकेनाशिषः ॥ शंय्युनापत्नीसंय्याजान्त्समिष्टयजुषासꣳस्थाम् ॥२९॥

मन्त्रार्थ–(इडाभिः) अन्नोंद्वारा (भक्षान्) भक्ष्य पदार्थोंको (आप्नोति) प्राप्त होता है अथवा इडासे इडा और भक्ष्योंसे भक्ष्यपदार्थोंको प्राप्तहोताहै (सूक्तवाकेन) सूक्तवाक्यद्वारा सूक्तोंको आशीर्द्वारा (आशिषः) आशिषको प्राप्तहोता है (शंय्युना) शंयुनाम होमसे शंयुको प्राप्तहोता है (पत्नीसंयाजान्) पत्नीसंयाजद्वारा

पत्नीसंयाजोंको (समष्टियजुषा) समष्टि यजुसे समष्टियजुको स्थितिसे (सꣳस्थाम्) संस्थाको प्राप्तहोता है ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०–मन्त्र १।

व्रतेनं दीक्षामांप्नोति दीक्षयांप्नोति दक्षिणाम् ॥ दक्षिणा श्रद्धामांप्नोति श्रद्धया सत्यमांप्यते ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ–(व्रतेन) हुतका शेषभक्षण करना ऐसे चार रात्रिके व्रतसे (दीक्षाम्) दीक्षाको (आप्नोति) प्राप्त होता है (दीक्षया) दीक्षासे (दक्षिणाम्) दक्षिणाको (आप्नोति) प्राप्तहोता है (दक्षिणा) दक्षिणाद्वारा (श्रद्धाम्) आस्तिक्यबुद्धिरूप श्रद्धाको और (श्रद्धया) श्रद्धासे (सत्यम्) सत्यको अर्थात् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'लक्षण परमात्माको (आप्यते) प्राप्तहोता है "श्रदिति सत्यनाम" [निघं० ३।१०।२] ॥ ३० ॥ इन श्रुतियोंमें क्रमसे एकके द्वारा एककी प्राप्ति बताकर परमात्मातककी प्राप्ति कथन की है।

कण्डिका ३१–मंत्र १।

एतावंद्रूपं यज्ञस्य यद्देवैर्ब्रह्मणा कृतम् ॥ तदेतत्सर्वमाप्नोति यज्ञे सौत्रामणी सुते ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ–(यत्) जो (देवैः) देवताओं और (ब्रह्मणा) ब्रह्मा प्रजापतिद्वारा (कृतम्) कियागया है उस (यज्ञस्य) सोमयागका (एतावत्) इतनाही (रूपम्) रूप अर्थात् व्यवस्था है (सौत्रामणी) सौत्रामणी (यज्ञस्य) यज्ञमें (सुते) सुरासोमके अभिषवण होनेपर (तत्) वह (एतत्) यह सोमयाग (सर्वम्) सम्पूर्ण (आप्नोति) प्राप्त होताहै, अर्थात् सौत्रामणिमें सुरारसअभिषवणही विशेष है [२०] ॥ ३१ ॥

विशेष–इस प्रसंगसे यहभी ध्वनि निकलती है कि, जिन पुरुषोंने मद्यपान किया हो वे भ्रष्ट होजाते हैं. उनका तेज बल बुद्धि जाता रहताहै. दृष्टांतमें जैसे इंद्रका जाता रहाथा. तब उस पुरुषकी इस सौत्रामणीद्वारा चिकित्सा कीजातीहै.जिससे वह दोष दूर होकर तेजकी वृद्धि होती है, इसकी यज्ञमें कल्पना की है वास्तवमें यह चिकित्सा है कारण कि इसके पदार्थ यज्ञोंके पदार्थोंसे कल्पित किये हैं. और मनुष्योंको निकृष्ट कर्मोंसे बचनेका उपदेशहै इन बीस कण्डिकाके दयानन्दभाष्यमें ऋषि देवता लिखे हैं और यह ब्राह्मणरूपहै इस कारण विरुद्ध प्रमाण न होनेसे उस लेखको अप्रमाण जानो । यह बीस अनुष्टुप पूर्णहुए । त्रयीलक्षणा सरस्वती है ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२–मंत्र १ । अनु० ३।

सु॒राव॑न्तम्बर्हि॒षद॑ᳬसु॒वीरं॑य॒ज्ञᳬहि॑न्वन्तिमहि॒षान॒मो॑भिः ॥ दधा॑नाः॒सोम॑न्दि॒विदे॒वता॑सु॒मदे॒मेन्द्रं॒यज॑मानाः॒स्व॒र्काः ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ सुरावन्तमित्यस्य हैमवर्चिर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निसरस्वतीन्द्रा देवताः । पयोग्रहहोमे वि० ॥ ३२ ॥

विधि–(१) अध्वर्यु यह मंत्र पाठकरके एकत्र तीन पयोग्रहोंको होमकरैं [का० १९ । ३ । ८] मन्त्रार्थ–(नमोभिः) नमस्कार वा अन्नोंद्वारा (दिवि) स्वर्गमें वर्तमान (देवतासु) देवताओंमें (सोमम्) सोमको (दधानाः) धारणकरतेहुए (महिषाः) महान् ऋत्विज (बर्हिषदम्) कुशासनपर स्थित देवताओंसे युक्त (सुरावन्तम्) सुरारससे सम्पन्न (सुवीरम्) शुभऋत्विजवाले (यज्ञम्) सौत्रामणी यज्ञको (हिन्वन्ति) प्राप्त वा वृद्धि कराते हैं इस यज्ञमें (स्वर्काः) शुभमंत्र वा अन्नवाले (इन्द्रम्) इन्द्रको (यजमानाः) यजन करतेहुए हम (मदेम) हर्षको प्राप्त हों ॥ ३२ ॥

प्रमाण–"सुरावान्वा एष बर्हिषद्यज्ञो यत्सौत्रामणी" इति [१२ । ८ । १ । २] श्रुतेः "अर्को वै देवानामन्नमन्नं यज्ञो यज्ञेनैवैनमन्नाद्येन समर्धयति" इति [१२ । ८ । १ । २] श्रुतेः । "अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति अर्कमन्नं भवत्यर्चति भूतान्यर्को वृक्षो भवति संवृतः कटुकिम्ना" इति यास्कः (निरु० ५ । ४) "महिषशब्द यद्यपि महन्नाममें पढा है तथापि यहां श्रुतिप्रमाणसे ऋत्विग्वाचक है" "महिषा नमोभिरित्यृत्विजो वै महिषाः" इति [१२ । ८ । १ । २] श्रुतेः ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३–मन्त्र १ ।

यस्ते॒रसः॒सम्भृ॑तु॒ऽओष॑धीषु॒सोम॑स्य॒शुष्मः॒सुरा॑यासु॒तस्य॑ ॥ तेन॑जिन्व॒यज॑मान॒म्मदे॑न॒सर॑स्वतीमु॒श्विना॒विन्द्र॑म॒ग्निम् ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यस्त इत्यस्य हैमवर्चिर्ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । सुरा देवता । पलाशउलूखलसुराग्रहहोमे वि० ॥ ३३ ॥

विधि-प्रतिप्रस्थाता पलाश उलूखलोंद्वारा सुराग्रहोंको दक्षिणाग्निमें यजन करता है मृन्मय पात्र आहुतिको नहीं व्याप्तहोता । मन्त्रार्थ-हे सुरारस ! (ओषधीषु) ओषधियोंमें (यः) जो (ते) तुम्हारा (रसः) रस (सम्भृतः) एकत्र किया है (सुरया) सुराके सहित (सुतस्य) अभिषुत (सोमस्य) सोमका (शुष्मः) जो बल है (तेन) उस (मदेन) आनन्ददायक रससे (यजमानम्) यजमानको (सरस्वतीम्) सरस्वतीको (अश्विनौ) दोनो अश्विनीकुमारोंको और (अग्निम्) अग्निको (जिन्व) तृप्तकरो ॥ ३३ ॥

प्रमाण-"अपाञ्च वा एष ओषधीनाञ्च रसो यत्सुरा" इति [१२ । ८ । १ । ४] श्रुतेः । जल और ओषधियोंके सार भागका नाम सुरा है ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मंत्र १ ।

यमश्विना नमुचेरासुरादधि सरस्वत्यसुनोदिन्द्रियाय ॥ इमन्तᳯं शुक्रम्मधुमन्तमिन्दुᳯं सोमᳯं राजानमिह भक्षयामि ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यमित्यस्य हैमवर्चिर्ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । अश्विसरस्वत्यो देवताः । पयोग्रहभक्षणे वि० ॥ ३४ ॥

विधि-अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता और आग्नीध्र यह आश्विन पयोग्रह भक्षण करैं होता और ब्रह्मा मैत्रावरुण सारस्वतपयोग्रह भक्षण करैं यजमान ऐन्द्र पयोग्रह भक्षण करैं, सबही दोबार करके पयोग्रह भक्षण करैं उनमें एकएकबार यह मंत्र पाठकरै [का० १९ । ३ । १० । १३ ।] मन्त्रार्थ-(अश्विना) दोनो अश्विनीकुमारोंने (आसुरात्) आसुरके पुत्र (नमुचेः) नमुचिके (अधि) सकाशसे (यम्) जिस सोमको आहरण किया (सरस्वती) सरस्वतीने जिसको (इन्द्रियाय) इन्द्रके-बलवीर्य वा भैषज्यके निमित्त (असुनोत्) संस्कृत वा अभिषवण किया (तम्) उस (शुक्रम्) शुद्ध (मधुमन्तम्) मधुररसयुक्त (इन्दुम्) परमैश्वर्ययुक्त (राजानम्) सरस्वतीसे संस्कृत राजा (इमम्) इस (सोमम्) सोमको (इह) इस यज्ञमें (भक्षयामि) भक्षण करताहूं ॥ ३४ ॥

सरलार्थ-अश्विनीकुमार जिसको नमुचिअसुरके निकटसे लाये और सरस्वतीने उसका संकार किया जिससे यह सोम इन्द्रियवृद्धिकर हुआ इस सोममिश्रित शुद्धवर्ण कान्तिमान् सुस्वादु भक्ष्यप्रधान दूधको पानकरताहूं ॥ ३४ ॥

प्रमाण-"अश्विनौ ह्येतं नमुचेरध्याहरताम्" इति [१२ । ८ । १ । ३] श्रुतेः

विशेष—एक समय नमुचि सोम लेगया तव उसके पानकरनेसे वह सोम अशुद्ध होगया देववैद्य अश्विनीकुमारने शुद्धकिया ध्वन्यर्थसे यह विदित होता है कि असंस्कृत सोमपानभी न करना चाहिये वह आसुर होता है ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५—मंत्र १ ।

यदत्रं रिप्तᳬ रसिनः सुतस्य यदिन्द्रो अपिबुच्छ चीभिः ॥ अहन्तदस्य मनसा शिवेन सोमᳬ राजानमिह भक्षयामि ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ यदत्रेत्यस्य हैमवर्चिर्ऋषिः । ब्राह्म्युष्णिक्छन्दः । यजमानो देवता । ग्रहपाने वि० ॥ ३५ ॥

विधि—(१) यह मंत्र पाठकरके अध्वर्यु प्रभृतिके एक ऋत्विक् आश्विन सुराग्रह होताप्रभृति ऋत्विक् सारस्वत सुराग्रह और यजमान ऐन्द्र सुराग्रह विहारके दक्षिणामें प्राचीनावीती (अपसव्य) होकर पान करैं कोई कहते हैं सूंघले किन्हींका मत है मूल्यसे भूपाल भक्षण करै [का० १९ । ३ । १४] मंत्रार्थ—(रसिनः) रसवान् (सुतस्य) अभिषुत अर्थात् भली प्रकार संस्कार किये सोमका (यत्) जो भाग (अत्र) इस सुरारसमें (रिप्तम्) लिप्त है (यत्) जिसको (शचीभिः) कर्मोंसे शुद्धकरके (इन्द्रः) इन्द्रने (अपिवत्) पानकिया (तत्) उस (राजानम्) दीप्तिमान् सुरारससे निर्गत (सोमम्) सोमको (शिवेन) शुद्ध (मनसा) मनसे (इह) इस यज्ञमें (अहम्) मैं (भक्षयामि) पान करताहूं अर्थात् यह सुसंस्कृत सोममिश्रित सुरस पदार्थका जो सार भाग इन्द्र देवताने शचीदेवियोंके सहित पान किया भक्ष्यप्रधान इस पदार्थके उसी भागको विशुद्ध अन्तःकरणसे मैं पान करताहूं ॥ ३५ ॥

विवरण—महौषधिरसके पान वा सूंघनेका कृत्य पितरोंकी अर्चापूर्वक अपसव्य होकर करना चाहिये ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६—मंत्र ७ ।

पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः ॥ अक्षन्पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः पितरः शुन्धध्वम् ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पितृभ्य इत्यस्य हैमवर्चिर्ऋषिः याजुषी । गायत्री छं० । पितरो देवताः । आश्विनग्रहहोमे वि० । (२) ॐ पितामहेभ्य इत्यस्य हैम० ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । पितरो दे० । सारस्वतसुराग्रह-होमे वि० । (३) ॐ प्रपितामहेभ्य इत्यस्य हैम० ऋ० । साम्न्यनु-ष्टुप्छं० । पित० दे० । ऐंद्रसुराग्रहहोमे वि० । (४) ॐ अक्षन्नित्यस्य हैम० ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । पितरो दे० । सुराग्रहप्रक्षालनजलसिंचने वि० । (५-६) ॐ अमी० अतीतृपन्तेति मंत्रयोर्हैम० ऋ० । याजुष्यनुष्टुप्छं० । पितरो दे० । वि० पू० । (७) ॐ पितर इत्यस्य हैम० ऋ० । याजुषी गायत्री छन्दः । पितरो दे० । जपे विनियोगः॥३६॥

विधि-(१-२-३) प्रतिमंत्रसे सुराग्रहका भक्षण घ्राण वा औरके मूल्यसे राजाको पानकराना यह तीन पक्ष कहे अब चौथा पक्ष कहते हैं अथवा प्रथम मंत्रपाठ करके आहवनीय अंगारके उत्तर भागमें आश्विन सुराग्रह होम करै, दूसरा मंत्र पाठकरकै मध्यम भागमें सारस्वत सुराग्रहहोम करै तीसरे मंत्रसे दक्षिण भागमें ऐन्द्र सुराग्रह होमकरै [का० १९ । ३ । १७] मंत्रार्थ-(स्वधायिभ्यः) अन्नके प्रति गमनशील (पितृभ्यः) पितरोंके निमित्त (स्वधा) स्वधासंज्ञक (नमः) अन्न प्राप्त हो "स्वधा वै पितॄणामन्नम्" इति श्रुतेः । अथवा पितरोंके निमित्त (स्वधा) अन्न प्राप्तहो और उनके निमित्त नमस्कार हो । अथवा स्वधा-शब्दउच्चारणपूर्वक दानमें तर्पणीयपितृगणकी तृप्तिके निमित्त यह आहुति दी जाती है १ । (स्वधायिभ्यः) स्वधाके प्रतिगमनशील (पितामहेभ्यः) पितामहाओंके निमित्त (स्वधानमः) स्वधासंज्ञक अन्न प्राप्त हो शेष अर्थ पूर्ववत् २ । (स्वधा-यिभ्यः) स्वधाके प्रति गमनशील (प्रपितामहेभ्यः) प्रपितामहाओंके निमित्त (स्वधानमः) स्वधानाम अन्न प्राप्त हो शेष अर्थ पूर्ववत् ३ । विधि (४-५-६) अनन्तर चौथे मंत्रसे आश्विन सुराग्रहके प्रक्षालनका जल इस आहवनीय अंगारके उत्तर प्रदेशमें सिंचनकरे पांचवें मंत्रसे सारस्वत सुराग्रहका प्रक्षालन किया जल इस आहवनीय अंगारके मध्यभागमें सिंचन करै, और छठे मंत्रसे ऐन्द्र सुरा-ग्रहका प्रक्षालित जल इस आहवनीय अंगारके दक्षिण प्रदेशमें सिंचन करै [का० १९। ३।१८] मंत्रार्थ-(पितरः) पितृगणोंका आहार (अक्षन्) सम्पन्न हुआ अर्थात् पितरोंने भक्षण किया४।(पितरः)पितर(अमीमदन्त)आनन्दित तृप्त हुए ५। (पितरः) पितर (अतीतृपन्त) अत्यन्त तृप्तहुए वा हमसे तृप्त किये गये अथवा हमको अभीष्ट

देते हैं। विधि-(७) सप्तम मंत्रका जपकरै [का० १९ । ३ । १९] मन्त्रार्थ-(पितरः) हे पितरो ! आचमनादिद्वारा (शुन्धध्वम्) शुद्ध हो ॥ ३६ ॥

प्रमाण-"प्रपितामहलोके स्वधायां दधाति" इति [१२।८।१।८] श्रुतेः इससे पितृलोक भिन्न है।

कण्डिका ३७-मंत्र १।

पुनन्तुं मा पितरः सोम्म्यासः पुनन्तुं मा पितामहाः पुनन्तु प्प्रपितामहाः। पवित्त्रेण शतायुषा। पुनन्तुं मा पितामहाः पुनन्तु प्प्रपितामहाः। पवित्त्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पुनन्त्वित्यस्य हैमवर्चिर्ऋषिः। अनुष्टुप्छं०। पितरो देवताः। जपे वि० ॥ ३७ ॥

विधि-(१) दक्षिणाग्निके दोनों पार्श्वमें स्तम्भ होते हैं उन दोनों स्तम्भोंके ऊपर दक्षिणाग्रवंश रखकर उसमें लटकाईहुई शिक्यपर सौ छिद्रवाली कुम्भी रखकर इस छिद्रमें गौ और अश्व लोम बटकर छिद्रोंमें यह बत्ती लगाकर उस कुम्भमें शेष सुरारस डालदे। इसी प्रकार आहवनीय अग्निके दोनों पार्श्वमें स्तम्भ गाड उनके ऊपर दक्षिणाग्रवंश रखकर उसमें शिक्या बांधकर दूसरी शतछिद्र कुम्भी रक्खै। इन छिद्रोंमें अजालोम और अविलोमकी बत्ती बना प्रवेश करै, और उस कुम्भमें अवशिष्ट दुग्ध डालदे, इस कारण दोनों अग्नियोंमें दोनो घडोंसे जितने समयमें शनैः शनैः सुरारस और दूध टपके उतने समयमें यह नौ मंत्र उच्चारणकर पावन होम सम्पन्न करै, वा शतमानपरिमाण सुवर्ण धरै [का० १९ । ३ । २०] [शिक्या-छींका]

प्रमाण-"अथ पराङ् पर्यावर्तते तिर इव वै पितरो मनुष्येभ्यः तिर इवैतद्भवति स वा आतमितोरासीत्येत्याहुरेतावान्ह्यसुरिति स वै मुहूर्तमेवासित्वा" [२ । ४ । २ । २१] "अथोदपात्रमादायावनेजयति असाववनेनिक्ष्वेत्येव यजमानस्य पितरमसाववनेनिक्ष्वेति पितामहमसाववनेनिक्ष्वेति प्रपितामहंतद्यथाजक्षुषेऽभिषिञ्चेदेवं तत्" [श० २ । ४ । २ । २३]

आशय-यह कि पितर मनुष्योंसे अन्तर्हित रहते हैं यह प्राणमात्र मूर्तिवाले मुहूर्त स्थित होकर गमन करते हैं इनका अवनेजन होताहै यजमानके पितापितामह प्रपितामहके निमित्त अवनेजन किया जाता है जल छोडा जाता है श० शाकमेधमें विनियोग है प्रमाणके निमित्त यहां लिखा है।

मन्त्रार्थ-(सोम्यासः) सौम्यमूर्ति वा सोमके सम्पादक (पितरः) पितर (शतायुषा) पूर्ण आयुवाले (पवित्रेण) गो अश्व बालनिर्मित पवित्रसे (मा) मुझको (पुनन्तु) पवित्र करैं, इससे पवित्र होनेसे शतायु होता है (पितामहाः) पितामह (मा) मुझको (पुनन्तु) पवित्र करै (प्रपितामहाः) प्रपितामह (पुनन्तु) पवित्र करैं (शतायुषा) शतायुवाले (पवित्रेण) पवित्रसे (पितामहाः) पिताके पिता (मा) मुझको (पुनन्तु) पवित्र करैं (प्रपितामहाः) पितामहके पिता मुझको (पुनन्तु) अतिपवित्र आनन्दयुक्त सौ वर्षकी आयुसे पवित्र करैं, इस प्रकार पित्रादिसे पवित्र होकर मैं (विश्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयुको (व्यश्नवै) प्राप्त होऊं ॥ ३७ ॥

विशेषार्थ-सौम्यमूर्ति पितृगण पितामहगण और प्रपितामहगण इस कुम्भीके छिद्रोंसे पवित्रद्वारा क्षरित सोममिश्रित पयादि पान करैं इससे हम अपनेको पवित्र ज्ञान करैंगे और इस शतरंध्रके पवित्रसे हम शतायु हों ॥ ३७ ॥

कण्डिका ३८-मन्त्र १.

अग्नुऽआयू॑ᳬंषिपवसुऽआसुवोर्ज्जमिषंञ्चनः ॥ आरेबाधस्वदुच्छुनाम् ॥ ३८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्न इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! तुम स्वयंही (आयूंषि) आयु प्राप्त करानेवाले कर्मोंको (पवसे) करते हो इस कारण (नः) हमको (इषम्) व्रीहिआदि धान्य (ऊर्जम्) दधिआदि रस (आसुव) दीजिये (अरे) दूरास्थित (दुच्छुनाम्) दुष्ट कुत्तोंकी समान दुर्जनोंको (बाधस्व) बाधादो अर्थात् हमारी आयुकी रक्षा करो और दुर्जनोंके आक्रमणसे बचाओ ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मन्त्र १ ।

पुनन्तुंमा देवज॒नाःपुनन्तुमनंसाधियंः॥ पुनन्तु विश्वांभूतानिजातंवेदःपुनीहिमा ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पुनन्तुमा देवजना इत्यस्य वैखानस ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । देवजनधीविश्वभूतजातवेदसो देवताः । वि० पू० ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ-(देवजनाः) देवानुगामी जन (मा) मुझको (पुनन्तु) पवित्रकरैं

(मनसा) मनके साथ (धियः) बुद्धि वा कर्म मुझको (पुनन्तु) पवित्र करैं (विश्वा) सम्पूर्ण (भूतानि) प्राणी (पुनन्तु) मुझको पवित्र करैं (जातवेदः) हे अग्ने ! तुम भी (मा) मुझको (पुनीहि) पवित्र करो अर्थात् रन्ध्रक्षरित यह आहुति ग्रहण करते देवजन हमको पवित्र करैं, मन और उसके अनुगत बुद्धीन्द्रिय हमको पवित्र करैं सम्पूर्ण प्राणियोंके निकट हम अपनी पवित्रताकी प्रार्थना करते हैं हे जातवेदः ! तुमभी हमको पवित्र करो [ऋ० ७ । २ । १८] ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०—मंत्र १ ।

पुवित्रेणपुनीहिमा शुक्रेणदेवुदीद्यत ॥ अग्ने क्रत्वाक्रतूँ१ ऽरनु ॥ ४० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ पवित्रेणेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ–(देव) हे देव (अग्ने) हे अग्ने ! (दीद्यत्) दीप्यमान तुम (शुक्रेण) शुद्ध (पवित्रेण) पवित्रसे अर्थात् शुक्लज्योतिद्वारा (मा) मुझको (पुनीहि) पवित्र कीजिये और हमारे (क्रतून्) यज्ञको (अनु) देखकर अपने ज्वलनादि कर्मद्वारा (क्रत्वा) पवित्र करो ॥ ४० ॥

कण्डिका ४१—मन्त्र १ ।

यत्ते पुवित्रमुर्चिष्यग्नेवितंतमन्तुरा ॥ ब्रह्मुतेनं पुनातुमा ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि–(१)) ॐ यत्त इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । ब्रह्माग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ–(अग्ने) हे अग्ने ! (ते) तुम्हारी (अर्चिषि) ज्वालाके (अन्तरा) मध्यमें (यत्) जो (ब्रह्म) त्रयीरूप वा परब्रह्मरूप (पवित्रम्) शुद्ध (विततम्) विस्तृत है (तेन) उसके प्रभावसे (मा) मुझको (पुनातु) पवित्र करो [ऋ० ७ । २ । १७] ॥ ४१ ॥

कण्डिका ४२—मन्त्र १ ।

पवमानुःसोऽअद्यनंः पुवित्रेणविचर्षणिः ॥ यःपोता सपुनातुमा ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पवमान इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । सोमस्तथा वायुर्देवता । वि० पू० ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ-(यः) जो देवता (विचर्षणिः) कृत अकृतका जाननेवाला सर्वज्ञ (पवमानः) स्वयं पवित्र और दूसरोंको पवित्र करनेवाला है (नः) हमको (पोता) जो वायुरूपसे पावन करता है (सः) वह देवता (अद्य) आज (पवित्रेण) पवित्रके प्रभावसे (मा) मुझे (पुनातु) पवित्र करै ॥ ४२ ॥

कण्डिका ४३-मन्त्र १ ।

उभाभ्यान्देवसवितᳬपवित्रेणसवेनच ॥ माम्पुनीहिविश्श्वतः ॥ ४३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उभाभ्यामित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । सूर्यो देवता । वि० पू० ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ-(देव) हे देव ! (सवितः) सबके प्रेरण करनेवाले तुम (उभाभ्याम्) दोनों प्रकारसे अर्थात् अपने पवित्र स्वरूप और दूसरोंको पवित्र करनेवाले (पवित्रेण) पवित्रद्वारा वा अजाविलोमनिर्मित पवित्रद्वारा (च) और (सवेन) अनुज्ञाद्वारा (विश्वतः) सब ओरसे (माम्) मुझको (पुनीहि) पवित्र करो अर्थात् तुम्हारी आज्ञासे यज्ञसिद्धि होती है यह तीन मंत्र पावन उपनिषद् कहाते हैं [ऋ० ७ । २ । १७] ॥ ४३ ॥

कण्डिका ४४-मंत्र १ ।

वैश्श्वदेवीपुनतीदेव्यागाद्यस्यामिमाबह्व्यस्तन्वोवीतपृष्ठाः ॥ तयामदन्तःसधमादेषुवयᳬस्यामपतयोरयीणाम् ॥ ४४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वैश्वदेवीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । वैश्वदेवी देवता । वि० पू० ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ-यह दृश्यमान शतच्छिद्र कुम्भी अथवा उखा अथवा वाणी (देवी) द्योतमान (वैश्वदेवी) सम्पूर्णदेवताओंकी हितकारिणी वा सम्पूर्ण देवताओंसे (आगता) प्राप्तहुई (पुनती) पवित्रकरती हुई वर्तमान है (यस्याम्) जिसमें दृश्यमान (इमाः) यह (बह्व्यः) बहुतसे (तन्वः) शरीररूपधारी (वीतपृष्ठाः) सबके कामनासे युक्त हैं अर्थात् कामित शरीर सुराधाराकी देवता कामना करते हैं

(तया) इस कुम्भी वाणी, वा उखाके प्रसादसे (सधमादेषु) यज्ञ स्थानोंमें (मदन्तः) आनंदित हुए (वयम्) हम (रयीणाम्) धनोंके (पतयः) स्वामी (स्याम) हों ॥ ४४ ॥

सरलार्थ–यह दीखतीहुई सौछिद्रवाली कुम्भी उखा वा वाणी देवी सब देवगणोंकी प्रिय और हमारी पवित्रकारिणी है इसकी सभी कामनाकरते हैं हमभी इसीके प्रसादसे अपने यज्ञमें कृतकृत्यता लाभके आमोदसे आनंदित और सर्व फलके अधिपति होसकें ॥ ४४ ॥

विशेष–यह मन्त्र अज्ञाता प्रवह्लिका है किसी देवताको लक्ष्यकरकै व्याख्या कर लैनी इस कारण तीन देवताओंका कथन कर व्याख्या कीहै ॥ ४४ ॥

कण्डिका ४५–मन्त्र १ ।

येसमानाःसमनसःपितरोयमराज्ये ॥ तेषाँल्लोकः स्वधानमोयज्ञोदेवेषुकल्पताम् ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ ये समाना इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छंदः । पितरो देवताः । दक्षिणाग्नावाहुतिदाने वि० ॥ ४५ ॥

विधि–यजमान अपसव्य और दक्षिणमुख होकर जुहूद्वारा एकवार घृतग्रहण कर यह मंत्र पाठकरके दक्षिणाग्निमें आहुति प्रदान करै [का० १९ । ३ । २३]

---

१ इस समय एक विवाद चलता है कि जीवित पिता आदिही पितर हैं मृतकोंके निमित्त श्राद्ध नहीं है इत्यादि उन अल्पश्रुतोंके निमित्त यहां प्रमाण संग्रह करते हैं ।

प्रमाणानि–"प्रजापतिं वै भूतान्युपासीदन् देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दक्षिणं जान्वाच्योपासीदँस्तानब्रवीद्यज्ञो वोऽन्नममृतत्वं व ऊर्ग्वः सूर्यो वो ज्योतिः" इति [श० २ । ४ । २ । १] "अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीन्मासिमासि वोशनं स्वधा वो मनोजवो वश्चन्द्रमा वो ज्योतिः" इति [श० २ । ४ । २ । २] "अथैनं मनुष्याः प्रावृत्ता उपस्थं कृत्वोपासीदँस्तानब्रवीत्सायं प्रातर्वोशनं प्रजा वो मृत्युर्वोऽग्निर्वो ज्योतिः" इति श्रुतेः [२ । ४ । २ । ३]

"मासिमास्येव पितृभ्यो ददतो यदैवेष न पुरस्तान्न पश्चाद्ददृशे" [श० २ । ४ । २ । ७] "स वा अपराह्णे ददाति पूर्वाह्णो वै देवानां मध्यन्दिनो मनुष्याणामपराह्णः पितॄणां तस्मादपराह्णे ददाति" [श० २ । ४ । २ । ८]

"प्राचीनावीती भूत्वा दक्षिणासीन एतं गृह्णाति" इति [श० २ । ४ । २ । ९]

भावार्थः–प्रजापतिके पास सब प्राणी गये तब देवता यज्ञोपवीती होकर दक्षिण जांघ झुकाकर बैठे प्रजापतिने उनसे कहा यज्ञ तुम्हारा अन्न अमृतत्व तेज और सूर्य ज्योति होगी. [२ । ४ । २ । १] तब पितर अपसव्य होकर बांईजांघ झुकाकर बैठे उनसे प्रजापतिने कहा महीने महीनेमें स्वधा तुम्हारा अन्न मनकी समान वेग और चन्द्रमा ज्योति होगी २ तब मनुष्य उपस्थ करके बैठे प्रजापतिने उनसे

मन्त्रार्थ-(ये) जो (समानाः) जातिरूपादिसे तुल्य समान मर्यादावाले (समनसः) एकान्तःकरण वा तुल्यमनवाले हमारे (पितरः) पितर (यमराज्ये) यमलोकमें वर्तमान हैं (तेषाम्) उन पितरोंके (लोकः) लोकमें (स्वधा) स्वधानाम (नमः) अन्न दृष्टिगोचर हो अथवा स्वधा अन्न और नमस्कार प्राप्तहो (यज्ञः) यज्ञ तौ (देवेषु) देवताओंके तृप्तकरनेमें (कल्पताम्) समर्थ हो समानका अर्थ सपिण्डकाभी है ॥ ४५ ॥

प्रमाण-"पितॄनेव यमे परिददात्यथो पितृलोकमेव जयति" इति श्रुतेः [१२ । ८ । १ । १९ । श०] पितरोंको यमके निमित्त देनेसे पितरलोक जय-करता है ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६-मन्त्र १ ।

येसमानाऽसमनसोजीवाजीवेषुमामकाऽ ॥ तेषाᳬ श्रीर्म्मयिकल्प्पतामस्मिँल्लोकेशतᳬसमाः ॥४६॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ये समाना इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छंदः । श्रीर्देवता । वि० पू० ॥ ४६ ॥

विधि-(१) यजमान यथावत् उपवीती होकर उत्तर वेदिमें स्थित आहवनीय अग्निमें एक और आहुति दे [का० १९ । ३ । २४] मन्त्रार्थ-(ये) जो (जीवेषु) प्राणियोंके मध्यमें (समानाः) तुल्य समदर्शी (समनसः) एकान्तःकरण मनस्वी (मामकाः) मेरे सपिण्ड (जीवाः) जीव हैं, अर्थात् जो हमारे सपिण्ड पितर इस लोकमें वासकरते हैं (तेषाम्) उनकी (श्रीः) लक्ष्मी (अस्मिन्) इस (लोके) भूलोकमें (शतम्) सौ (समाः) वर्षतक (मयि) मुझमें (कल्पताम्) आश्रय करे ॥ ४६ ॥

प्रमाण-"स्वानामेव श्रियमवरुन्द्धे" [श० १२ । ८ । १ । २०] ॥ ४६ ॥

कहा प्रभात और सायं तुम्हारा अन्न होगा प्रजा मृत्युग्राही और अग्नि ज्योति होगी ३ इससे महीने २ पितरोंके निमित्त दियाजाताहै कारण कि उस समय आगे और पीछे ज्योति नहीं है ७ और पितरोंके निमित्त अपराह्ण (दुपहरके पीछे) दियाजाताहै कारण कि पूर्वाह्ण देवताओंका, मध्याह्न मनुष्योंका और मध्याह्नके उपरान्त पितरोंके अन्न देनेका समय है इससे अपराह्णमें देतेहैं ८ अपसव्य होकर दक्षिणकी ओर होकर यह ग्रहण करतेहैं ९ इन वचनोंसे स्पष्ट प्रतीत होताहै कि देवता पितर और मनुष्य भिन्न २ है इनके आहारका समय भिन्न २ है फिर पितरोंको महीने २ में दियाजाताहै, यदि जीवित पितर मनुष्य समझे जांय तौ महीनेभरतक क्षुधित कैसे रहसकतेहै और अपराह्णमें क्यों भोजनकी इच्छाकरें, बडे पुरुष तौ दुपहरके पहले भोजनकी इच्छाकरते है फिर "तिर इव हि पितरो मनुष्येभ्यः" [श०] पितर मनुष्योंसे अन्तर्हित रहतेहै इससे स्पष्ट है कि पितरलोक भिन्न है जहांके दिव्य पितर मृतक हुए मातापिताआदिको श्राद्धादिका फल ईश्वरीय नियमसे देतेहैं ।

कण्डिका ४७-मन्त्र १.

द्वेमृतीऽअंशृणवम्पितॄणामुहन्देवानांमुतमर्त्त्यांनाम् ॥ ताभ्यांमिदम्विश्श्वमेजुत्समेतिषदन्तुरापितरम्मातरञ्च ॥ ४७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ द्वेसृती इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । देवयानपितृयानमार्गौ देवते । पयोहोमे वि० ॥ ४७ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु इस मंत्रसे पयोहोम करै [का० १९।३।३५] मन्त्रार्थ-(अहम्) मैंने श्रुतिसे (मर्त्यानाम्) मरणधर्मा प्राणियोंके (देवानाम्) देवताओंके गमनयोग्य (उत) और (पितॄणाम्) पितरोंके गमनयोग्य (द्वे) दो (सृती) मार्गको (अशृणवम्) सुनाहै "स एष देवयानो वा पितृयानो वा पन्थाः" इति श्रुतेः (यत्) जो (पितरम्) द्युलोक (च) और (मातरम्) भूलोकके (अन्तरा) मध्यमें वर्तमान है (इदम्) यह (एजत्) क्रियावान् (विश्वम्) जगत् (ताभ्याम्) उन देवयानपितृयानमार्गोंसे (समेति) प्राप्तहोताहै "असौ वै पितेयं माताभ्यामेव पितॄन् देवलोकमपि नयति" इति [१२ । ८ । १ । २१] श्रुतेः । अर्थात् मनुष्योंके कर्म और ज्ञानसे पितृ और देव यह दो मार्ग हैं जिन मार्गोंके अभ्यन्तर यह सम्पूर्ण चराचर दीप्तिमान् होरहाहै इसको हम पिता और माता कहतेहैं इन दो मार्गोंके उद्देश्यसे आहुति देतेहैं इससे माता पिताकी पितृलोकसे देवलोकमें प्रवृत्ति होतीहै [ऋ० ८ । ४ । १२] ॥ ४७ ॥

कण्डिका ४८-मंत्र १ ।

इदꣳ हुविः प्रजननम्मेऽअस्तुदशवीरꣳ सर्वगणꣳ स्वुस्तये ॥ आत्त्मसनिंप्रजासनिंपशुसनिंलोकसन्न्यभयसनिं ॥ अग्निः प्प्रजाम्बहुलाम्मेंकरोत्त्वन्नम्पयोरेतोऽअस्म्मासुधत्त ॥ ४८ ॥ [१७]

ऋष्यादि-(१)ॐ इदमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । त्र्यवसानाष्टिश्छन्दः । यजमानाशीर्देवता । पयोभक्षणे वि० ॥ ४८ ॥

विधि-(१) यजमान यह मंत्रपाठ करके हुतावशिष्ट पय (दूध) भक्षण करै [का० १९ । ३ । २६] मंत्राथ-(इदम्) यह दुग्धरूपहवि (प्रजननम्)

प्रजाकी उत्पन्नकरनेवाली है (दशवीरम्) पंचज्ञानेन्द्रिय पंचकर्मेंद्रिय तथा प्राण अपान व्यान समान उदान नाग कूर्म कृकल देवदत्त धनंजय इन दशप्राणोंकी वृद्धि करनेवाली है 'प्राणा वै दश वीराः प्राणानेवात्मन्धत्त'' इति [१२ । ८ । १ । २२] श्रुतेः । तथा (सर्वगणम्) सम्पूर्ण अंगोंकी पुष्टिदायक ''अङ्गानि वै सर्वे अङ्गान्येवात्मन्धत्त'' इति [१२ । ८ । १ । २२] श्रुतेः (आत्मसनि) आत्माकी प्रसन्न करनेवाली (प्रजासनि) प्रजावृद्धिकारी (पशुसनि) पशुवृद्धिकारी ''आत्मसनीत्यात्मानमेव सनोति प्रजासनीति प्रजामेव सनोति पशुसनीति पशूनेव सनोति'' इत्यादि श्रुतेः [१२ । ८ । १ । २२] (लोकसनि) लोकके मध्यमें प्रतिष्ठा तथा सुखदायक है ''लोकाय वै यजते तमेव जयति'' इति २२ श्रुतेः । (अभयसनि) बल करनेसे अभयदायक है अथवा स्वर्ग देती है ''स्वर्गो वै लोको अभयं स्वर्ग एव लोकेऽन्ततः प्रतितिष्ठति'' इति २२ श्रुतेः । (हविः) यह हवि (मे) मेरे (स्वस्तये) कल्याणके निमित्त (अस्तु) हो (अग्निः) अग्नि देवता (मे) मेरी (प्रजाम्) प्रजाकी (बहुलाम्) वृद्धि (करोतु) करै (अस्मासु) हमारे विषय (अन्नम्) व्रीहिआदि अन्न (पयः) दुग्ध (रेतः) वीर्य (धत्त) धारण करैं [तद्य एवैनमेते याजयन्ति तानेतदाहितन्मयि सर्वं धत्त'' इति २२ श्रुतेः । अर्थात् उपरोक्त गुणविशिष्टदुग्ध हम जाठराग्निमें हवन करते हैं यह हमारा कल्याण करे अग्नि देवता हमारी प्रजावृद्धि करैं हममें अन्न पय रेत स्थापन करैं आशय यह कि जाठराग्निमें दुग्ध पचकर बल आदि प्रदान करै ॥ ४८ ॥ [१७]

कण्डिका ४९—मन्त्र १. अनु० ४ ।

उदीरतामवरऽ उत्परासुऽउन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ॥ असुंयऽईयुरवृकाऽऋतज्ञास्तेनोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ ४९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उदीरतामित्यस्य शंख ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । पितरो देवताः । पितृउपस्थाने वा जपे वि० ॥ ४९ ॥

विधि-(१) यहांसे आदि लेकर छै मंत्रद्वारा सोमवान् पितरोंका उपस्थान करैं सोमवान् अग्निष्वात्त और बर्हिषद् तीन प्रकारके पितर क्रमसे कहैंगे [का० १९ । ३ । २१] अध्वर्यु यजमानसे वचवावै । मंत्रार्थ-(अवरे) इस लोकमें स्थित पितर (उत्) और (परासः) परलोकमें स्थित पितर (उत्) और (मध्यमाः) मध्य लोकमें स्थित (सोम्यासः) सोमभागी वा सोमसम्पादक

पितर (उदीरताम्) क्रमसे ऊर्ध्वलोकोंको प्राप्त हों "यह तीनो लोकमें स्थित पितरोंके सम्बन्धमें है" (ये) जो पितर (असुम्) प्राणरूपको (ईयुः) प्राप्त हैं अर्थात् वातरूपको प्राप्त हैं (ते) वे (अवृकाः) शत्रुरहित होनेसे उदासीन (ऋतज्ञाः) सत्यके ज्ञाता स्वाध्यायनिष्ठ (पितरः) पितर (हवेषु) आह्वानोंमें (नः) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें [ऋ० ७ । ६ । १७] ॥ ४९ ॥

कण्डिका ५०—मंत्र ५ ।

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वाऽअथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ॥ तेषां वयꣳ सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ५० ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ अङ्गिरस इत्यस्य शंख ऋषिः । विराट् त्रिष्टुप्छं० । पितरो देवताः । वि० पू० ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—(नवग्वा) नवनीय स्तुतियोग्य वा नवीन गतिवाले (सोम्यासः) सोमसम्पादक (अङ्गिरसः) अंगिरावंशसम्भूत (अथर्वाणः) अथर्ववंशमें उत्पन्न (भृगवः) भृगुके वंशमें उत्पन्न हुए (नः) हमारे (पितरः) पितर अर्थात् जो इस समय पितृलोक पदको प्राप्त हुए हैं (तेषाम्) उन (यज्ञियानाम्) यज्ञमें पूजनीय पितरोंकी (सुमतौ) सुन्दर बुद्धिमें तथा (भद्रे) कल्याणकारिणी (सौमनसे) सुन्दर मनमें (अपि) भी (वयम्) हम (स्याम) हों अर्थात् इन महोदयोंकी बुद्धि हमारे विषय कल्याणकारिणी हो और इनका मन हमारे विषय कल्याण कल्पनामें नियुक्त हो [ऋ० ७ । ६ । १५] ॥ ५० ॥

कण्डिका ५१—मंत्र १ ।

येन पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ॥ तेभिर्यमः सꣳरराणो हवीꣳष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ५१ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ येन इत्यस्य शंख ऋ० । निचृद्ब्राह्म्युष्णिक्छन्दः । पितरो देवताः । वि० पू० ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—(ये) जो (सोम्यासः) सोमसम्पादक (वशिष्ठाः) वशिष्ठवंशी (नः) हमारे (पूर्वे) पूर्व (पितरः) पितरोंने (सोमपीथम्) सोमपानको

(अनूहिरे) देवताओंको बुलाया अर्थात् वशिष्ठवंशी जिन पितरोंने देवताओंको सोमपान कराया था वे ही सोमपानके निमित्त इस समय आमंत्रित हुए हैं (उशन्) सोमकी इच्छावाले (यमः) पितृपति (तेभिः) उन (उशद्भिः) सोमकी इच्छावाले उन सब पितरोंके सहित (सᳬ᳭रराणः) प्रसन्न होते (प्रतिकामम्) इच्छानुसार (हवीᳬ᳭षि) हमारी दीहुई हवियोंको (अत्तु) यथेष्टरूपसे पान करैं [ऋ० ७ । ६ । १८] ॥ ५१ ॥

प्रमाण-"ये सोमेनेजानास्ते पितरः सोमवन्तः" इति श्रुतेः [२।५।५।७] ५१

कण्डिका ५२-मंत्र १।

त्वᳬ᳭सोमुप्प्रचिंकितोमनीषात्त्वᳬ᳭रजिष्ठमनुंने षिपन्थांम् ॥ तवुप्प्रणींतीपितरोंनऽइन्दोदेवेषरत्नंक मभजन्तुधीराः ॥ ५२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्वमित्यस्य शंख ऋषिः । ब्राह्म्युष्णिक्छं० । पितरो देवताः । वि० पू० ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ-(सोम) हे सोम ! (त्वम्) तुम (प्रचिकितः) कान्तियुक्त वा चेतन्यतासंयुक्त हो (त्वम्) तुम (मनीषा) अपनी बुद्धिद्वारा (रजिष्ठम्) ऋजुतम अकुटिल (पन्थाम्) देवयान मार्गको (अनुनेषि) प्राप्त कराते हो (इन्दो) हे सोम ! (नः) हमारे (धीराः) धैर्यवान् (पितरः) पितरोंने (तव) तुम्हारे (प्रणीती) प्रणय वा आश्रयसे (देवेषु) देवताओंमें (रत्नम्) श्रेष्ठ यज्ञफलको (अभजन्त) प्राप्त किया है [ऋ० १ । ६ । १९] ॥ ५२ ॥

कण्डिका ५३-मंत्र १।

त्वयाहिनंः पितरंः सोमुपूर्वेकर्म्माणिचक्रुःपंव मानुधीराः ॥ वन्वन्नवातःपरिधीᳬ᳭रपोर्णुवीरेभिर श्वैर्म्मघवांभवानः ॥ ५३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्वयाहीत्यस्य शंख ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । सोमो देवता । वि० पू० ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ-(पवमान) हे शोधक ! (सोम) सोम ! (नः) हमारे (धीराः) धीर (पितरः) पितरोंने (त्वया) तुम्हारे द्वारा (कर्माणि) यज्ञादिकर्मोंको (चक्रुः)

किया इसकारण प्रार्थना करते हैं (वन्वन्) इस कर्ममें युक्त (अवातः) वाता-दिके उपद्रवसे रहित तुम (परिधीन्) उपद्रवकारियोंको (अपोर्णुहि) दूर करो (वीरेभिः) वीर (अश्वैः) अश्वोंद्वारा (नः) हमको (मघवा) धनके देनेवाले (आभव) सब प्रकारसे हूजिये अथवा वीर पुत्रादि और अश्वादि पशु प्रदान कर हमको प्रकृत ऐश्वर्यवान् करो [ऋ० ७।४।८] ॥ ५३ ॥

कण्डिका ५४–मंत्र १ ।

त्वꣳसोमपितृभिः संविदानोनुद्यावापृथिवीऽ आततन्थ ॥ तस्मैतऽइन्दोहविषाविधेमवयꣳ स्यामपतयोरयीणाम् ॥ ५४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ त्वामित्यस्य शंख ऋषिः । निच्यृद्ब्राह्म्युष्णिक्छन्दः । । पितरो देवताः । वि० पू० ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ–(सोम) हे सोम ! (पितृभिः) पितरोंके साथ (संविदानः) संवाद करतेहुए (त्वम्) तुमनें (द्यावापृथिवी) स्वर्ग और पृथ्वीको (अन्वाततन्थ) विस्तारित किया है (इन्दो) हे सोम ! (तस्मै) उस (ते) तुम्हारे निमित्त (हविषा) हविद्वारा (विधेम) विधान करते हैं (वयम्) हम (रयीणाम्) धनोंके (पतयः) पति (स्याम) होवैं अर्थात् हे सोम! तुम्हारा यश दोनो लोकमें व्याप्त है पितरोंके साथ तुम्हारा विशेष परिचय हो तुम्हारे प्रसादसे हम धनीहों तुम्हारे निमित्त हवि देते हैं [ऋ० । ६ । ४ । १३] ॥ ५४ ॥

कण्डिका ५५–मंत्र १ ।

बर्हिषदꣳपितरऽऊत्यर्वागिमावोहव्याचकृमाजुषध्वम् ॥ तऽआगतावसाशन्तमेनाथानꣳशंय्योरपोदधात ॥ ५५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ बर्हिषद इत्यस्य शंख ऋषिः । निच्यृद्ब्राह्म्युष्णिक्छन्दः । पितरो देवताः । बर्हिषत्पितृुपस्थाने वि० ॥ ५५ ॥

विधि–(१) यहाँसे लेकर तीन मंत्र पढकर बर्हिषदपितरोंका उपस्थान करै । मन्त्रार्थ–(बर्हिषदः) कुशासनपर बैठनेवाले (पितरः) हे पितरो ! (ते) वे तुम (ऊत्या)

रक्षाके निमित्त (अर्वाङ्) समीप अथवा कल्याणबुद्धिसे समीप (आगत) आइये (वः) तुम्हारे (इमा) यह (हव्या) हवि हमने (चकृम) संस्कार किये है इसको (आजुषध्वम्) तुम सेवन करो, (अथ) तदनन्तर (शन्तमेन) वडे सुखदाता (अवसा) अन्नसे तृप्त होकर (नः) हमको (शम्) सुख वा रोगका नाश (योः) भयका पृथक् करना (अरपः) पापका अभाव (दधात) स्थापन करो [ऋ० ७।६।१७] ॥ ५५ ॥

प्रमाण—"ये दत्तेन पक्केन लोकं जयंति ते पितरो बर्हिषदः" [श० २।५।५।७] " शंयोःशमनंच रोगाणां यावनं च भयानाम्" इति [निरु० ४ । २१] " रपो रिप्रमिति पापनाम्नी भवतः " [निरु० ४ । २१] ॥ ५५ ॥

कण्डिका ५६—मन्त्र १ ।

आहम्पितॄन्त्सुविदत्राँ २ ऽअवित्सिनपातञ्चवि क्रमणञ्चविष्णोः ॥ बर्हिषदोयेस्वधयासुतस्यभ जन्तपित्वस्तऽइहागमिष्ठाः ॥ ५६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आहमित्यस्य शंख ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । पितरो देवताः । वि० पू० ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ—(अहम्) मैं (सुविदत्रान्) कल्याणके देनेवाले (पितॄन्) पितरोंको (आ अवित्सि) अभिमुख जानताहूं (विष्णोः) व्यापनशील यज्ञके " यज्ञो वै विष्णुः " इति [१।१।३।१] श्रुतेः । (नपातम्) विक्रमरूप अपतनको अर्थात् जहां जानेसे फिर पतन नहीं होता उस देवयान मार्गको (च) और (विक्रमणम्) अनेक प्रकारके गमनागमनवाले पितृयाण मार्गको कि जहां जाकर भोगान्तमें फिर पतन होता है उसको (च) भी जान्ताहूं (ये) जो (बर्हिषदः) कुशासन-पर बैठनेवाले (पितरः) पितर (स्वधया) स्वधा नाम अन्नके साथ (सुतस्य) अभिषुत सोमके (पित्वः) पानको (भजन्ते) सेवन करते हैं (ते) वे (इह) इस स्थानमें (आगमिष्ठाः) आगमन करें [ऋ० ७।६।१७] ॥ ५६ ॥

सरलार्थ—हमारे कल्याणकारी पितृगण जिस लोकमें इस समय अवस्थिति करते हैं वहाँसे उनके पतनकी संभावना नहीं है यह हम जान्ते हैं तथापि प्रार्थना करते हैं कि बर्हिषद नामसे विख्यात सोमाभिषव सोमपानमें व्यग्र हैं वे उसके पानार्थ इस स्थलमें आगमन करें ॥ ५६ ॥

कण्डिका ५७–मन्त्र १।

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्प्रियेषु ॥ तऽआगमन्तु तऽइह श्रुवन्त्वधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ ५७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ उपहूता इत्यस्य शंख ऋषिः । भुरिगार्षी पंक्तिश्छन्दः । पितरो देवताः । वि० पू० ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ–(पितरः) हे पितरो ! (इह) इस यज्ञमें (आगमन्तु) आगमन करो (प्रियेषु) प्रिय (बर्हिष्येषु) कुशाओंपर स्थित (निधिषु) निधिकी समान स्थापित हवियोंके निमित्त (उपहूताः) बुलायेहुए (सोम्यासः) जो सोमके योग्य पितर हैं (ते) वे (श्रुवन्तु) हमारे आह्वानको सुनैं (ते) वे (अधिब्रुवन्तु) पिताओंको जो पुत्रोंसे कहना चाहिये इस प्रकार बोलैं (ते) वे (अस्मान्) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें [ऋ० ७।६।१७] ॥ ५७ ॥

सरलार्थ–जो सब पितृगण विधिवत् प्रिय यज्ञीय कुशोंपर स्थिति करते हैं सोमभागके लाभसे तृप्त होते हैं, उन्हींको हम बुलाते हैं वे इस यज्ञमें आवैं हमारी प्रार्थना श्रवण करैं हमें यथोचित मानसिक उपदेश प्रदान करैं हमारी रक्षा करैं ॥ ५७ ॥

कण्डिका ५८–मंत्र १।

आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः ॥ अस्मिन्यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ ५८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ आयन्त्वित्यस्य शंख ऋषिः । स्वराड् ब्राह्मी गायत्री छन्दः । पितरो दे० । अग्निष्वात्तपितृउपस्थाने वि० ॥ ५८ ॥

विधि–(१) यहांसे चार मंत्र पाठ करके अग्निष्वात्त पितृगणोंका उपस्थानकरै। मन्त्रार्थ–(सोम्यासः) सोमके योग्य (अग्निष्वात्ताः) अग्निद्वारा स्वादित वा अग्नि जिनके दहनको आस्वादन करता है अर्थात् श्रुति स्मृतिद्वारा विहित कर्मके अनुष्ठान करनेवाले (नः) हमारे (पितरः) पितर (देवयानैः) देवयान देवताओंके गमनयोग्य (पथिभिः) मार्गोंसे (आयन्तु) आगमन करैं (अस्मिन्)

इस (यज्ञे) यज्ञमें (स्वधया) स्वधानाम अन्नसे (मदन्तः) प्रसन्न होते (अधिब्रुवन्तु) मानसिक उपदेश दें (ते) वे (अस्मान्) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें ॥ ५८ ॥

कण्डिका ५९—मंत्र १ ।

अग्निष्ष्वात्ताꣳपितरऽएहगच्छतसदꣳसदꣳसदत सुप्प्रणीतयः ॥ अत्ताहवीꣳषिप्प्रयतानिबर्हिष्ष्यारयिꣳसर्व्ववीरन्दधातन ॥ ५९ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ अग्निष्वात्ता इत्यस्य शंख ऋ० । निच्यृद्ब्राह्म्यनुष्टुप्छन्दः । पितरो दे० । वि० पू० ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ—(अग्निष्वात्ताः) हे अग्निष्वात्त ! (पितरः) पितृगण (इह) इस हमारे यज्ञमें (आगच्छत) आगमन करो (सुप्रणीतयः) श्रेष्ठनीतिवाले (सदः-सदः) प्रत्येक सभास्थानमें (सदत) स्थित हो (बर्हिषि) कुशाओंपर (प्रयतानि) नियमसे स्थापित (हवींषि) हवियोंको (आ) सब प्रकारसे (अत्त) भक्षण करो (अथ) तदनन्तर (सर्ववीरम्) वीर पुत्रादि और (रयिम्) धनको (आ) सब ओरसे (दधातन) स्थापन कीजिये ॥ ५९ ॥

प्रमाण—"यानग्निरेव दहन्स्वदयाति ते पितरोऽग्निष्वात्ताः" [श० २।६।१।७] जिनको अग्नि जलाती है वे अग्निष्वात्त पितर हैं । [ऋ० ७।६।१९] ॥ ५९ ॥

कण्डिका ६०—मंत्र १ ।

येऽअग्निष्ष्वात्तायेऽअनग्निष्ष्वात्तामद्ध्येदिवꣳस्वधयामादयन्ते ॥ तेब्भ्यꣳस्वराडसुनीतिमेतांय्यथावशन्तन्व्वङ्कल्प्पयाति ॥ ६० ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ येअग्निष्वात्ता इत्यस्य शंख ऋ० । ब्राह्म्युष्णिक्छं० । पितरो देवताः । वि० पू० ॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ—(ये) जो पितर (अग्निष्वात्ताः) विधिपूर्वक अग्निदाहसे और्ध्वदेहिक कर्मको प्राप्त हैं और (ये) जो पितर (अनग्निष्वात्ताः) अग्निसे दग्ध न हुए अर्थात् और्ध्वदेहिक कर्म वा श्मशानकर्मको नहीं प्राप्त हुए

और (दिवः) द्युलोकके (मध्ये) मध्यमें (स्वधया) अपने उपार्जित कर्मके भोगसे (मादयन्ते) प्रसन्न रहतेहैं (स्वराट्) स्वर्गाधिपति देवता यम (तेभ्यः) उन पितरोंके निमित्त (यथावशम्) इच्छानुसार (एतान्) इस मनुष्य सम्बन्ध वाले (असुनीतिम्) प्राणयुक्त (तन्वम्) शरीरको (कल्पयाति) देता है अर्थात् यमकी आज्ञासे स्वकर्मानुसार वे पवनके आश्रयभूत अपना शरीर कल्पना करतेहैं और अपने पुत्रादिके आह्वानमें गमन करते हैं इससे प्रत्यक्ष है कि श्राद्धप्रकरण मृतक पितरोंको है और उनके निमित्त दिया अन्नआदि ईश्वरके नियमसे पितरोंको सूक्ष्मरूपसे प्राप्त होताहै ॥ ६० ॥

कण्डिका ६१–मंत्र १ ।

अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे नाराशꣳसे सोमपीथं यऽआशुः ॥ तेनो विप्रासः सुहवा भवन्तु वयꣳ स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ६१ ॥ [१३]

ऋष्यादि–(१) ॐ अग्निष्वात्ता इत्यस्य शंख ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । पितरो दे० । वि० पू० ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थ–(ऋतुमतः) ऋतुमान् (अग्निष्वात्तान्) अग्निष्वात्तनामक पितरों को (हवामहे) बुलातेहैं (ये) जो पितर (नाराशꣳसे) चमस पात्रमें (सोमपीथम्) सोमपानको (आशुः) भोजन करते हैं (ते) वे (विप्रासः) वेदअध्ययन-सम्पन्न पितर (नः) हमारे (सुहवाः) सुखसे बुलानेयोग्य (भवन्तु) हों अर्थात् शीघ्र आवें, उनकी कृपासे (वयम्) हम (रयीणाम्) धनोंके (पतयः) स्वामी (स्याम) हों [१३] ॥ ६१ ॥

प्रमाण–"अथ यदि नाराशꣳसेषु सन्नः किंचिदापद्येत पितृभ्यो नाराशꣳसेभ्यः स्वाहेति जुहुयात्" इति [१२ । ६ । १ । ३३] श्रुतेः ॥ ६१ ॥

कण्डिका ६२–मंत्र १ । अनु० ५ ।

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभिगृणीत विश्वे ॥ मा हिꣳसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्वऽआगः पुरुषता कराम ॥ ६२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आच्याजान्वित्यस्य शंख ऋषिः । निचृत्त्रिष्टुप्छन्दः । पितरो देव० । श्राद्धकाले जपे वि० ॥ ६२ ॥

विधि (१) श्राद्धमें निमंत्रित ब्राह्मणोंके भोजनकालमें यहांसे आदि लेकर दश मंत्र पाठकरैं "कात्यायन महर्षिने इस अनुवाकका विनियोग नहीं कहा है" ।

मन्त्रार्थ-(पितरः) हे पितरो ! (विश्वे) तुम सब सोमसद बर्हिषद् और अग्निष्वात्त (जानुः) वामजंघाको (आ) सब प्रकार (आच्य) झुकाकर (दक्षिणतः) दक्षिणको मुखकर (निषद्य) बैठकर (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञको (अभिगृणीत) प्रशंसा करो (केनचित्) चलचित्तता होनेसे शरीरधारी हमारे किसी अपराध होनेसे (नः) हमको (मा) मत (हिꣳसिष्ट) हिंसा वा क्रोध करो (यत्) जिस कारणसे कि (पुरुषता) पुरुषभाव अर्थात् चलचित्त होनेसे (वः) तुम्हारा (आगः) अपराध (वयम्) हम (कराम) भूलसे करते हैं अर्थात् हमारे अपराधसे कोप न करना [ऋ० ७ । ६ । १८] ६२ ॥

कण्डिका ६३-मंत्र १ ।

आसीनासोऽअरुणीनामुपस्थे रयिन्धत्त दाशुषे मर्त्याय ॥ पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्रयच्छत तऽइह ऊर्जन्दधात ॥ ६३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आसीनास इत्यस्य शंख ऋषिः । ब्राह्म्युष्णिक्छन्दः । पितरो देवताः । वि० पू० ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ-(पितरः) हे पितरो ! (अरुणीनाम्) अरुणवर्णऊनके आसनापर अथवा अरुणवर्ण सूर्यकी किरणोंमें आसीन सूर्यलोकके (उपस्थे) गोदमें (आसीनासः) बैठेहुए (दाशुषे) हवि देनेवाले (मर्त्याय) यजमानके निमित्त (रयिम्) धनको (धत्त) स्थापनकरो (पुत्रेभ्यः) इसके पुत्रगणोंको (तस्य) इसके (वसुनः) धनको (प्रयच्छत) दो (ते) वे तुम (इह) इस यजमानके यज्ञमें (ऊर्जम्) रस आनंदको (दधात) प्रदानकरो यजमान पितरोंके पुत्र हैं ऋ० ७ । ६ । १८] ॥ ६३ ॥

कण्डिका ६४-मंत्र १ ।

यमग्ने कव्यवाहन त्वञ्चिन्मन्यसे रयिम् ॥ तन्नो गीर्भिः श्रवाय्यन्देवत्रा पनया युजम् ॥ ६४ ॥

ऋष्यादि–ॐ यमग्न इत्यस्य शंख ऋषिः । आर्ष्यनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ६४ ॥

मन्त्रार्थ–(कव्यवाहन) पितरोंका अन्न वहनकरनेवाले (अग्ने) हे अग्ने ! (त्वम्) तुम (चित्) भी (यम्) जिस (रयिम्) हविलक्षणधनको उत्तम (मन्यसे) जान्तेहो (नः) हमारे (तम्) उस (गीर्भिः) पुर अनुवाक याज्य वषट्कार लक्षणवाली वाणियोंसे (श्रवाय्यम्) सुननेकें योग्य (युजम्) योग्य हविको (देवत्रा) देवताओंको (आपनय) सब ओरसे दो ॥ ६४ ॥

कण्डिका ६५–मंत्र १ ।

योऽअ॒ग्निः क॑व्य॒वाह॑नः पि॒तॄन्यक्ष॑दृता॒वृध॑: ॥ प्रेदु॑ ह॒व्यानि॑ वोचति दे॒वेभ्य॑श्च पि॒तृभ्य॒ऽआ ॥ ६५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यो अग्निरित्यस्य शंख ऋषिः । आर्ष्यनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ६५ ॥

मंत्रार्थ–(यः) जो (कव्यवाहनः) कव्यअन्न वहन करनेवाला (अग्निः) अग्नि (ऋतावृधः) सत्य वा यज्ञके वढानेवाले (पितॄन्) पितरोंको (यक्षत्) यजनकरता हुआ है (उइत्) वही अग्नि (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (च) और (पितृभ्यः) पितरोंके निमित्त (हव्यानि) हवियोंको (आ) सब ओरसे (प्रवोचति) जतलाताहै [ऋ० ७ । ६ । २२] ॥ ६५ ॥

कण्डिका ६६–मन्त्र १ ।

त्वम॑ग्नऽईडि॒तः क॑व्यवाहु॒नावा॑ड्ढ॒व्यानि॑ सुर॒भीणि॑ कृ॒त्वी ॥ प्रादा॑: पि॒तृभ्य॑: स्व॒धया॒ तेऽअ॑क्षन्न॒द्धि त्वन्दे॑व॒ प्रय॑ता ह॒वीᳪषि॑ ॥ ६६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ त्वमित्यस्य शंख ऋषिः । निचृत्त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ६६ ॥

मन्त्रार्थ–(कव्यवाहन) हे कव्य अन्न वहन करनेवाले (अग्ने) अग्निदेवता ! (ईडितः) ऋत्विजोंसे स्तुति किये (त्वम्) तुम (हव्यानि) हवियोंको (सुरभीणि) मनोहरगंधयुक्त (कृत्वी) करके (अवाट्) वहन करते हो (स्वधया) पितृमंत्रद्वारा (पितृभ्यः) पितरोंके निमित्त (प्रादाः) दो (ते) उन पितरोंने (अक्षन्)

हविभक्षणकी (देव) हे अग्निदेव ! (त्वम्) तुम (प्रयता) शुद्ध (हवीꣳषि) हवियोंको (अद्धि) भक्षणकरो ॥ ६६ ॥

कण्डिका ६७-मंत्र १ ।

येचेहपितरोयेचनेहयाँश्चंविद्मयाँ २ ऽउचनप्प्रविद्म ॥ त्वंवेत्त्थयतितेजातवेदꣳस्वधाभिर्य्यज्ञꣳसुकृतञ्जुषस्व ॥ ६७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ येचेहेत्यस्य शंख ऋषिः । ब्राह्म्युष्णिश्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ६७ ॥

मन्त्रार्थ-(ये) जो (पितरः) पितर (इह) इस लोकमें वर्तमान हैं (च) और (ये) जो पितर (इह) इस लोकमें (न) नहीं हैं अर्थात् स्वर्गमें हैं (च) और (यान्) जिन पितरोंको (विद्म) जानते हैं (च) और (यान्) जिनको स्मरण न होनेसे (न) नहीं (प्रविद्म) जान्ते (जातवेदः) हे अग्ने ! (ते) वे पितर (यति) जितने हैं (त्वम्) तुम (उ) ही (वेत्थ) जान्ते हो (स्वधाभिः) पितरोंके अन्नद्वारा (सुकृतम्) श्रेष्ठ यज्ञको (जुषस्व) सेवनकरो अर्थात् हवि ग्रहण कर इस यज्ञको सफल करो [ऋ० ७ । ६ । १९] ॥ ६७ ॥

कण्डिका ६८-मंत्र १ ।

इदम्पितृभ्योनमोऽअस्त्वद्ययेपूर्वासोयऽउपरासऽईयुः ॥ येपार्त्थिवेरजस्यानिषत्तायेवानूनꣳसुवृजनासुविक्षु ॥ ६८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इदमित्यस्य शंख ऋषिः । ब्राह्म्युष्णिक्छन्दः । पितरो देवताः । वि० पू० ॥ ६८ ॥

मन्त्रार्थ-(अद्य) आज (इदम्) यह (नमः) अन्न (पितृभ्यः) पितरोंके निमित्त (अस्तु) प्राप्तहो (ये) जो (पूर्वासः) पूर्व स्वर्गमें जाचुके हैं (ये) जो (उ परासः) कृतकृत्य होकर (ईयुः) परब्रह्मको प्राप्त हुए हैं (ये) जो (पार्थिवे) पृथ्वीमें होनेवाली (रजः) अग्निरूप ज्योतिमें (निषत्ता) स्थित हैं वा स्वर्गमें स्थित हैं (वा) अथवा (ये) जो पितर (नूनम्) अवश्यही (सुवृजनासु) धर्मरूपबलयुक्त (विक्षु) प्रजाओंमें देह धारण किये वर्तमान हैं वा यजमानलक्षण प्रजामें वर्तमान हैं उन स्वर्ग ब्रह्म अग्नि यजमान इन चार स्थानोंमें स्थित पितरोंको अन्न देते हैं [ऋ० ७ । ६ । १७] ॥ ६८ ॥

अथवा—जो (पूर्वासः) यजमानसे पूर्व उत्पन्न ज्येष्ठ भ्रातृ पितामहादि (ईयुः) पितृलोकको प्राप्त हुए हैं जो (उपरासः) यजमानके जन्म होनेके उपरान्त उत्पन्न कनिष्ठ भ्रातृपुत्रादि पितृलोकको प्राप्तहुए हैं (पार्थिवे रजसि) रजोगुणकार्यमें (आनिषत्ता) हविस्वीकारको आकर बैठे हैं उनको आहुति देते हैं सायणाचार्य भाष्य ॥ ६८ ॥

कण्डिका ६९—मंत्र १।

अधायथानःपितरःपरासःप्रत्नासोऽअग्नऽऋतमाशुषाणाः ॥ शुचीदयन्दीधितिमुक्थशासःक्षामाभिन्दन्तोऽअरुणीरपव्रन् ॥ ६९ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ अधेत्यस्य शंख ऋषिः। आर्ची त्रिष्टुप्छं०। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ ६९ ॥

मन्त्रार्थ—(अग्ने) हे अग्ने! (नः) हमारे (परासः) उत्कृष्ट (प्रत्नासः) पुरातन (ऋतम्) यज्ञको (आशुषाणाः) प्राप्त करनेवाले (पितरः) पितरोंने (यथा) जिसप्रकार (अधा) देहयात्राके उत्तर कालमें (शुचि) निर्मल कान्तिवाले (दीधितिम्) रविमण्डलको अर्थात् देवयानमार्गको (इत्) ही (अयन्) प्राप्त किया है (उक्थशासः) यज्ञोंमें शस्त्रनामक स्तोत्रोंको पढने और (क्षामा) पृथ्वीको (भिन्दन्तः) वेदीके निमित्त चत्त्वालादिसे भेदन करते अर्थात् सब उपकरणसे यज्ञ करते हुए हम भी (अरुणीः) अरुण वर्ण ज्योति मार्गको (अपव्रन्) प्राप्त करैं [ऋ० ३।४।१९] ॥ ६९ ॥

कण्डिका ७०—मंत्र १।

उशन्तस्त्वानिधीमह्युशन्तःसमिधीमहि ॥ उशन्नुशतऽआवहपितॄन्हविषेऽअत्तवे ॥ ७० ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ उशन्त इत्यस्य शंख ऋषिः। अनुष्टुप्छन्दः। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ ७० ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने! (उशन्तः) तुम्हारी कामना करते हम (त्वा) तुमको (निधीमहि) स्थापन करते हैं (उशन्तः) यज्ञकी कामनासे (समिधीहि) तुमको प्रज्वलित करते हैं (उशन्) कामना करते हुए तुम (उशतः) हविकी इच्छा करने-

वाले (पितॄन्) पितरोंको (हविषे) हविके (अत्तवे) भक्षण करनेको (आवह) बुलाओ [ऋ० ७।६।२२] ॥ ७० ॥

कण्डिका ७१-मंत्र १।

अपाम्फेनेननमुचेऽशिरऽइन्द्रोदवर्त्तयः ॥ विश्वा यदजयस्पृधः ॥ ७१ ॥ [१०]

ऋष्यादि-(१) ॐ अपामित्यस्य शंख ऋषिः । गायत्री छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ७१ ॥

मन्त्रार्थ-(इन्द्र) हे इन्द्र! (यत्) जब तुमने (विश्वाः) सम्पूर्ण (स्पृधः) संग्राम (अजयः) जीते तव (अपाम्) जलोंके (फेनेन) फेनसे (नमुचेः) नमुचि असुरका (शिरः) शिर (उद्वर्तयः) काटडाला ॥ ७१ ॥ "इन्द्रो नमुचेरासुरस्य व्युष्टायां रात्रावनुदित आदित्ये न दिवा न नक्तमिति शिर उद्वासयत्" [श० १२।७।३।३] अथवा अध्यात्मपक्षे । "पाप्मा वै नमुचिः पाप्मानं वाव तद्विषन्तं भ्रातृव्यं हत्वेन्द्रियं वीर्यमस्यावृङ्क्त" [श० १२।७।३।४] पापरूप नमुचिको मारकर बलधारण किया [ऋ० ६।१।१६] ॥ ७१ ॥

कण्डिका ७२-मंत्र १। अनु० ६।

सोमोराजामृतꣳसुतऽऋजीषेणाजहान्मृत्युम् ॥ ऋतेनसत्यमिन्द्रियँविपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदम्पयोमृतम्मधु ॥ ७२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सोम इत्यस्य अश्विसरस्वतीन्द्रा ऋषयः । महाबृहती छन्दः । सोमो देवता । पयोग्रहोपस्थाने वि० ॥ ७२ ॥

विधि-(१)यहांसे आठ मंत्र पाठ करके एक समयमेंही चार मंत्रसे पयोग्रह और चार मंत्रसे सुराग्रहका उपस्थान करै [का० १९।२।२४] मन्त्रार्थ-(सुतः) अभिषुत हुआ (राजा) वनस्पतियोंका राजा (सोमः) सोम (अमृतम्) अमृतरूप होता है (ऋजीषेण) नीरसस्थूल सोमलता चूर्णसे (मृत्युम्) स्थूलभावको (अजहात्) त्याग करता अर्थात् सोमका ऋजीषभागपरित्यागपूर्वक यह रसांश अभिषुत होकर अमृतरूप है (ऋतेन) इस सत्य वा यज्ञद्वारा (सत्यम्) यह सत्य जाना है (इन्द्रस्य) इन्द्रका (इदम्) यह (अन्धसः) अन्न वा सोमसम्बन्धी

(शुक्रम्) शुद्ध (इन्द्रियम्) वीर्यप्रदाता (विपानम्) पान (इन्द्रियम्) बलकारण (अमृतम्) अजरामरत्वप्रदाता (मधु) मधुर (पयः) दुग्ध है अर्थात् यह सत्य है और इस सत्यके अनुसार यह सत्य जानाजाता है, वह यह विशुद्ध रस इन्द्रके अवश्य पानयोग्य है, जिसकारण कि यह मधुर और इन्द्रियसामर्थ्यका बढानेवाला है, औरभी कहनाहै कि यह दुग्ध और अमृत इस प्रकार इन्द्रियसामर्थ्य वृद्धिकरनेवाला है ॥ ७२ ॥

विशेष-'अपां फेनेन' से आरंभकर यह आठ ऋचाका अनुवाक श्रुतिमें एकसम्बन्धवाला है तथाच "तस्य शीर्षश्छिन्ने लोहितमिश्रः सोमोऽतिष्ठत् तस्माद्वीभत्सन्ततएतदन्धसोर्विपानमपश्यन्त्सोमो राजामृतꣳ सुत इति तेनैनꣳ स्वदयित्वात्मन्नदधत" इति [१२ । ७ । ३ । ४] श्रुतेः । जिसप्रकार एककारणवाली वस्तु विवेचनावाली दीखती है और जैसे पृथक् हुई संसृष्ट (मिलने) से फिर विविच्यमान होती है इस प्रकार यह लोहितमिश्र सोम स्थूलतारूप लोहितपनको त्यागकर शुद्ध सोम होता है यह सब अनुवाकका अर्थ है ॥ ७२ ॥

कण्डिका ७३-मंत्र १ ।

अ॒द्भ्यः क्षी॒रं व्य॑पिब॒त्क्रुङ्ङा॑ङ्गिर॒सो धि॒या ॥ ऋ॒तेन॑ स॒त्यमि॑न्द्रि॒यं वि॒पान॑ꣳ शु॒क्रमन्ध॑स॒ऽइन्द्र॑स्येन्द्रि॒यमि॒दं पयो॒ऽमृतं॒ मधु॑ ॥ ७३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अद्भ्य इत्यस्य अश्विसरस्वतीन्द्रा ऋषयः । महाबृहती छन्दः । ब्रह्मा दे० । वि० पू० ॥ ७३ ॥

मंत्रार्थ-(अङ्गिरसः) अंगोंका रस ऐसे प्राण पीताहै जैसे (क्रुङ्) हंस (धिया) बुद्धिरूपसे (अद्भ्यः) जलोंसे (क्षीरम्) दूधको (अपिबत्) पीताहै अर्थात् दूध और पानी मिलेमेंसे हंस जैसे दूधही पीताहै इसीप्रकार (सत्येन) इस सत्यसे यह (सत्यम्) सत्य जाना जाताहै (इन्द्रियम्) इन्द्रका पेय दुग्ध बलकारक हो असार भाग पृथक् हो अथवा अङ्गिरावंशोत्पन्न ऋषिगणने अपनी बुद्धिके प्रभावसे यह निर्णय किया कि यह हंसगण जलमिश्रित दूधसे दुग्धांशमात्र पान करनेमें समर्थ है वह सत्य है इत्यादि पूर्ववत् ॥ ७३ ॥

कण्डिका ७४-मन्त्र १ ।

सोम॑म॒द्भ्यो व्य॑पिब॒च्छन्द॑सा ह॒ꣳसः शु॑चि॒षत् ॥

ऋतेनसुत्त्यमिन्द्रियंविपानऽशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्ये न्द्रियमिदम्पयोमृतम्मधु ॥ ७४ ॥ ११०० शतं कण्डि० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सोममित्यस्य अश्विसरस्वतीन्द्रा ऋषयः । महाबृहती छं० । ग्रहा देवताः । वि० पू० ॥ ७४ ॥

मन्त्रार्थ-(शुचिषत्) निर्मल आकाशमें विचरनेवाले (हंसः) आदित्यने (अद्भ्यः) जलमिलित सोमको जलोंसे (छन्दसा) वेदद्वारा वा किरणद्वारा पृथक् करके (सोमम्) सोमको (व्यपिबत्) पान किया है (ऋतेन सत्यम्) यह सत्य है इत्यादि पूर्ववत् ॥ ७४ ॥

विशेष-सूर्यकी किरणोंसे जो जल खिंचता है वह आदित्यपेय सोम है ॥७४॥

कण्डिका ७५-मंत्र १ ।

अन्नात्परिस्रुतोरसम्ब्रह्मणाव्यपिबत्क्षत्रम्पयः सोमम्प्रजापतिः ॥ ऋतेनसत्यमिन्द्रियंविपानऽ शुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदम्पयोमृतम्मधु ॥७५॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अन्नादित्यस्य अश्विसरस्वतीन्द्रा ऋषयः । अतिजगती छन्दः । ग्रहा देवताः । वि० पू० ॥ ७५ ॥

मन्त्रार्थ-(प्रजापतिः) प्रजापतिने (परिस्रुतः) परिस्रुत (अन्नात्) अन्नसे (रसम्) रसरूप (सोमम्) सोमको (पयः) दूधको (विविच्य) गायत्री लक्षणसे विचारकर (व्यपिबत्) पान किया (क्षत्रम्) क्षत्रियकोभी वश किया, अर्थात् अन्नसे परिस्रुत उत्पन्न होता है और परिस्रुत रस पानकरनेसे प्राकृतिक नियमसे बलरूपमें परिणत होता है दुग्धपानका परिणामभी इसीप्रकार है अर्थात् क्षत्रवंशी होता है सोमपानका परिणाम भी इसीप्रकार है (ऋतेन सत्यम्) यह सत्य है इत्यादि पूर्ववत् ॥ ७५ ॥

विशेष-अन्नका रस प्रजापतिके पान योग्य सोम है ॥ ७५ ॥

कण्डिका ७६-मंत्र १ ।

रेतोमूत्रंविजहातियोनिम्प्रविशदिन्द्रियम् ॥ गर्भो जरायुणावृतऽउल्बंजहातिजन्मना ॥ ऋतेनसत्य

मिन्द्रियंविपानᳬशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदम्पयोमृतम्मधु ॥ ७६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ रेत इत्यस्य अश्विसरस्वतीन्द्रा ऋषयः । अतिशक्करी छं० । ग्रहा देवताः । सुराग्रहहोमे वि० ॥ ७६ ॥

मंत्रार्थ-(इन्द्रियम्) पुरुष इंद्रिय (योनिम्) योनिमें (प्रविशत्) प्रविष्ट होकर (रेतः) वीर्यको (विजहाति) त्याग करतीहैं अन्यत्र (मूत्रम्) मूत्रको त्यागकरतीहै अर्थात् एक द्वारमेंसे कार्यवश भिन्न वस्तु निर्गत होती हैं इस वीर्यसे ही गर्भसंचार होता है (जरायुणा) जरायु जेरसे (आवृतः) ढकाहुआ (गर्भः) वह गर्भ (जन्मना) जन्म लेकर (उल्बम्) जरायुको (जहाति) छोडताहै भूमिपर आताहै (ऋतेन सत्यम्) यह सत्य है इत्यादि पूर्ववत् जानो । भिन्नस्थानोंकी एकद्वारसे प्राप्ति प्रथम उदाहरण। एकस्थानकी एकद्वारसे प्राप्ति दूसरा उदाहरण है पुरुषमें वीर्यही सोम है स्त्रीमें गर्भ सोम है ॥ ७६ ॥

कण्डिका ७७-मंत्र १।

दृष्ट्वारूपेव्याकरोत्सत्यानृतेप्रजापतिः ॥ अश्रद्धामनृतेदधाच्छ्रद्धाᳬसत्येप्रजापतिः ॥ ऋतेनसत्यमिन्द्रियंविपानᳬशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदम्पयोमृतम्मधु ॥ ७७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दृष्ट्वेत्यस्य अश्विसरस्वतीन्द्रादय ऋ० । अतिशक्करी छं० । ग्रहा देवताः । वि० पू० ॥ ७७ ॥

मन्त्रार्थ—(प्रजापतिः) प्रजापतिने (रूपे) मूर्तिमान् (सत्यानृते) सत् और असत्को (दृष्ट्वा) देखकर (व्याकरोत्) विचारपूर्वक दोनोंको पृथक् स्थापन किया (प्रजापतिः) उस परमात्माने (अनृते) अनृतमें (अश्रद्धाम्) नास्तिकतारूप अश्रद्धाको (अदधात्) स्थापन किया (सत्ये) सत्यमें (श्रद्धाम्) आस्तिक्यबुद्धिको (अदधात्) स्थापन किया (ऋतेन सत्यम्) यह सत्य है इत्यादि पूर्ववत् ॥ ७७ ॥

कण्डिका ७८-मन्त्र १।

वेदेनरूपेव्यपिबत्सुतासुतौप्रजापतिः ॥ ऋतेन

सुत्त्यमिन्द्रियंविपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदम्पयोमृतम्मधु ॥ ७८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वेदेनेत्यस्य अश्विसरस्वतीन्द्रा ऋषयः । महाबृहती छं० । ब्रह्म देवताः । वि० पू० ॥ ७८ ॥

मन्त्रार्थ-(प्रजापतिः) प्रजापति (सुतासुते) प्रेरित अप्रेरित धर्माधर्मके (रूपे) रूप (वेदेन) ज्ञानद्वारा अथवा त्रयीविद्यासे विचारकर (व्यपिबत्) पीताहुआ अथवा प्रजापति अग्नि क्या वया सुत असुत दोनो प्रकारके पदार्थोंको अपना भक्ष जानकर भक्षण करते हुए (ऋतेन सत्यम्) यह सत्य है इत्यादि पूर्ववत् ॥ ७८ ॥

कण्डिका ७९-मंत्र १ ।

दृष्ट्वापरिस्रुतोरसꣳशुक्रेणशुक्रंव्यपिबत्पयःसोमम्प्रजापतिः ॥ ऋतेनसत्त्यमिन्द्रियंविपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदम्पयोमृतम्मधु ॥ ७९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दृष्ट्वेत्यस्य अश्विसरस्वतीन्द्रा ऋषयः । अतिजगती छं० । ब्रह्म देवताः । वि० पू० ॥ ७९ ॥

मन्त्रार्थ-(प्रजापतिः) प्रजापतिने (परिस्रुतः) परिस्रुतका (रसम्) रस (दृष्ट्वा) देखकर (शुक्रेण) शुद्धमंत्रसे (पयः) दुग्ध और (सोमम्) सोमको (शुक्रम्) पवित्रकरके (व्यपिबत्) पानकिया अथवा प्रजापतिने (सूर्य) में परिस्रुतका रस दुग्ध और सोम देखकरही उसको अपनी किरणोंसे संयत करके पानकिया (ऋतेन सत्यम्) यह सत्य है इत्यादि पूर्ववत् ॥ ७९ ॥ [८]

विशेष-इन मंत्रोंमें सोमकी शुद्धि वर्णनकी है अर्थात् सबही कोई सोमपान करते हैं यद्यपि सोम एक मुख्य लता है तथापि प्रत्येक अन्न दुग्ध जलादिमें उसका सार भाग रहताहै, और जो जिस प्रकारसे ग्रहण करतेहैं, उनका वर्णन कियाहै यह अनुवाक गूढ आशयसे पूर्ण है और स्वच्छ रसके सेवनसे बलकी प्राप्ति होतीहै इस कारण श्रेष्ठ रसही सबको सेवन करना चाहिये यह उपदेश है । सबके गुण दोष जानकर गुण ग्रहणकरने चाहिये ॥ ७९ ॥

कण्डिका ८०—मं० १. अनु० ७ ।

सीसेनतन्त्रम्मनसामनीषिणऽऊर्णासूत्रेणकवयोवयन्ति॥ अश्विनायज्ञꣳसवितासरस्वतीन्द्रस्यरूपंवरुणोभिषज्ज्यन् ॥ ८० ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ सीसेनेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । सुराग्रहहोमे वि० ॥ ८० ॥

विधि—(१) इसके अनन्तर अध्याय शेषपर्यन्त १६ मंत्र पढकर एक एकमंत्रसे दो दो आहुति देकर ३२ सुराग्रहोंको हवनकरै [का० १९ । ४ । १२]

मन्त्रार्थ—(अश्विना)अश्विनीकुमार (सविता) प्रेरक देवता (सरस्वती) सरस्वती वाग्देवी (वरुणः) वरुण (मनीषिणः) मेधावी बुद्धिमान् (कवयः) क्रान्तदर्शी (इन्द्रस्य) इन्द्रके (रूपम्) रूपको (भिषज्यन्) रोगरहित करतेहुए (मनसा) मनसे विचारकर (यज्ञम्) सौत्रामणि यज्ञको (वयन्ति) निष्पादन करते हैं जैसे (सीसेन) सीसाधातुसे अङ्गदविशेष और (ऊर्णासूत्रेण) ऊनके (सूत्रसे) तन्त्रम् पटको विन्ते हैं ॥ ८० ॥

सरलार्थ—अश्विनीकुमार सविता वरुण और सरस्वती इन्द्रकी चिकित्साके निमित्त सौत्रामणि योगरूप वडे वस्त्रका आविर्भाव करते हैं बुद्धिमान् कविगण अपनी कल्पनाशक्तिके प्रभावसे सीसा और ऊर्णसूत्रकोही उसके तन्त्रवयनमें उपकरण कल्पना करते हैं।

विशेष—सीसेका धातुपात्रविशेष और सूत्रही तन्त्र है यह (वना) वयनके उपकरणमें प्रधान है, और इस यज्ञमें सबसे प्रथमही शष्पक्रयकरनेके निमित्त सीसा और तोक्म क्रय करनेको ऊर्णासूत्रका प्रयोजन होता है १ कण्डिका देखो० [तोक्म विरूढ जौ] ॥ ८० ॥

कण्डिका ८१—मंत्र १ ।

तदस्यरूपममृतꣳशचीभिस्तिस्रोदधुर्देवताःसꣳरराणाः॥लोमानिशष्पैर्बहुधानतोक्मभिस्त्वगस्यमाꣳसमभवन्नलाजाः ॥ ८१ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ तदस्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ८१ ॥

मन्त्रार्थ-(तिस्रः) तीनो अश्विनीकुमार और सरस्वती (देवताः) देवता (संरराणः) सम्यक् रमण करते हुए (अस्य) इस इन्द्रका (तत्) वह (अमृतम्) अमृत मरणधर्मरहित (रूपम्) रूप (शचीभिः) कर्मद्वारा (सन्दधुः) सन्धान करते हुए अथवा एकवाक्य होकर यज्ञका स्वरूप निर्माण करतेहुए (लोमानि) इन्द्रके रोमोंको (शष्पैः) विरूढव्रीहिआदिसे सम्पन्न किया (न) और (त्वक्) त्वचाको (तोक्मभिः) विरूढ यवोंद्वारा (बहुधा) अनेक प्रकारसे प्रगट किया (न) और (लाजाः) खीलैं (मांसम्) मांसरूप (सम्भवन्) हुई आशय यह कि शष्प विरूढ यव और खीलैं क्रमसे लोम त्वचा और शरीरके मांसकी पुष्टि करती हैं इस अध्यायसमाप्तितक नकार चकार अर्थमें हैं ॥ ८१ ॥

कण्डिका ८२-मंत्र १।

तदश्विना॑भिषजा॒रुद्रव॑र्तनी॒सर॑स्वती॒वय॑ति॒पेशो॒ऽअन्त॑रम् ॥ अ॒स्थिम॒ज्जान॒म्मास॑रैः॒कारो॑तरे॒णद॒ध॑तो॒गवा॒न्त्वचि ॥ ८२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तदश्विनेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ८२ ॥

मन्त्रार्थ-(गवाम्) पृथ्वीके (त्वचि) ऊपर (दधतुः) सोमरसको स्थापन करते अथवा पशुचर्मपर सोमको स्थापन करते (रुद्रवर्तिनी) रुद्रकी समान मार्गवाले (भिषजा) वैद्य (अश्विना) अश्विनीकुमार और (सरस्वती) सरस्वती (अन्तरम्) शरीरान्तरवर्ती (पेशः) इन्द्रके रूपको (वयति) परिपूर्णकरते हैं (मासरैः) शष्पादि चूर्णचरुके निस्रावसे (अस्थि) अस्थियोंको (न) और (कारोतरेण) गलनवस्त्रसे (मज्जानम्) मज्जाको पूर्णकरते हैं ॥ ८२ ॥

कण्डिका ८३-मंत्र १।

सर॑स्वती॒मन॑सा पेश॒लंवसु॒नास॑त्त्याभ्यां॒वयति॒द॒र्श॒तंवपुः॑ ॥ रसं॒म्परि॒स्रुता॒नरोहि॑तन्न॒ग्नहु॒र्द्धीर॒स्त्त॒सर॒न्नवेमं ॥ ८३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सरस्वतीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ८३ ॥

मंत्रार्थ-(नासत्याभ्याम्) अश्विनीकुमारोंके साथ (सरस्वती) सरस्वती (मनसा) मनसे विचारकरके इन्द्रके (पेशलम्) सुवर्ण और रूपा रूप(वसु) धनको (दर्शतम्) दर्शनीय (वपुः) रूपको (वयति) रचना करते हैं अर्थात् इन तीनों देवताओंने अन्तरंगकी रचना करते हुए इस विषयमें यह विवेचना की है (न) और (परिस्रुता) परिस्रुत सुरारससे (लोहितम्) लोहितको इन्द्रके शरीररंजनके निमित्त पूर्ण करते हुए इसीकारण वेदमें इन्द्र रोहित नामसे पढेजाते हैं (धीरः) बुद्धिकी प्रेरणा करनेवाला (नग्नहुः) सर्जत्वगादिके १ कं० में कहे चूर्णसे (रसम्) रसको पूर्ण करतेहुए (न) और (तसरम्) त्रसरका साधन (वेम) वेम होता हुआ अर्थात् परिस्रुतका लोहित रस इसका शोणित, और नग्नहु उसका वयनसाधन त्रसर और वेमानामक दो यन्त्र हैं " पेश इति हिरण्यरूपयोर्नाम " [निघं० १ । २ । ३ । ७] ॥ ८३ ॥

विशेष-उपरोक्त पदार्थ शरीरके अंगोंके पुष्टिकारक हैं ॥ ८३ ॥

कण्डिका ८४-मन्त्र १ ।

पयँसा शुक्रममृतं जनित्रꣳ सुरया मूत्राज्जनयन्त रेतः ॥ अपामतिन्दुर्मतिम्बाधमाना ऊवध्यं वातꣳ सब्वन्तदारात् ॥ ८४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पयसेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । वि० पू० ॥ ८४ ॥

मन्त्रार्थ-तीनों देवता (पयसा) दुग्धके भागसे (शुक्रम्) निर्मल (अमृतम्) अमृतरूप (जनित्रम्) जननशील (रेतः) वीर्यको (जनयन्त) उत्पन्न करतेहुए (आरात्) समीपमें स्थित होकर (अमतिम्) अज्ञान और (दुर्मतिम्) दुर्मतिको (बाधमानाः) बाधा देतेहुए (तत्)उस(ऊवध्यम्) आमाशयगत अन्नको (वातम्) नाडीमें प्राप्त अन्न (सब्वम्) पक्वाशयगत अन्नको (सुरया) सुरा रससे कल्पितकर (अपमूत्रात्) मूत्रसे मूत्र कल्पित करते हुए ॥ ८४ ॥

सरलार्थ-दूधके भागद्वारा आयुः प्रजननशक्ति और शुक्र कल्पित होता है अमति और दुर्मति दूर करनेवाले उस इस पयोभागके द्वारा और सोमरसके द्वारा उसके 'ऊवध्य' आमाशयगत अन्न 'वात' नाडीगत अन्न 'सब्बम्' पक्वाशयगत अन्न कल्पित हुए अन्नसे क्या क्या होता है उसका शरीरमें कैसा २ भाग होताहै उसका इस मंत्रमें वर्णन है ॥ ८४ ॥

कण्डिका ८५-मंत्र १ ।

इन्द्र॑ऽसु॒त्रामा॒हृद॑येनस॒त्यम्पु॑रो॒डाशे॑नसवि॒ताज॑जान ॥ यकृ॑त्क्लो॒मान॒ंवरु॑णोभि॒षज्ज्य॒न्मत॑स्नेवा॒यव्यै॒र्नमि॑नाति॒पि॒त्तम् ॥ ८५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रस्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ८५ ॥

मंत्रार्थ-(सुत्रामा) भली प्रकार रक्षा करनेवाला (इन्द्रः) पुरोडाशका अधिष्ठातृदेवता (हृदयेन) इन्द्रके हृदयसे हृदयको प्रगट करता है (सविता) सविता देवताने (पुरोडाशेन) पुरोडाशसे इन्द्रका (सत्यम्) सत्य (जजान) प्रगट किया (वरुणः) वरुणने (भिष्यज्यन्) इन्द्रकी चिकित्सा करके (यकृत्) हृदयके दहिनी ओर स्थित मांसपिंड ' तिल्ली ' (क्लोमानम्) गलेकी नाडीको प्रगट किया (वायव्यैः) सौमिक ऊर्ध्वपात्रोंसे (मतस्ने) हृदयकी उभय पार्श्ववर्ती अस्थि (न) और (पित्तम्) पित्तको (मिनाति) कल्पित किया है [पुरोडाशसे यह स्थान पुष्ट होते हैं] ॥ ८५ ॥

कण्डिका ८६-मन्त्र १ ।

आ॒न्त्राणि॑स्था॒लीर्म्मधु॒पिन्व॑माना॒गुदा॒ःपात्रा॑णिसु॒दुघा॒नधे॒नुः ॥ श्ये॒नस्य॒पत्र॒न्नप्लीहा॒शची॑भिरासन्दीना॒भिरु॒दर॒न्नमा॒ता ॥ ८६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आन्त्राणीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । वि० पू० ॥ ८६ ॥

मंत्रार्थ-(मधु पिन्वानाः) मधुसिक्त (स्यालीः) सम्पूर्ण स्थाली (आन्त्राणि) आन्त्रस्थानापन्न वा अंत्रसंपादक हुई (सुदुघा) अच्छी प्रकार दूध देनेवाली (धेनुः) गौ आदित्यइष्टि (न) और (पात्राणि) पात्र (गुदाः) गुदस्थानापन्न हुए (न) और (श्येनस्य) श्येनका (पत्रम्) पंख (प्लीहा) हृदयका वामभाग मांसखण्डसम्पादक हुआ (न) और (माता) मातास्थानीय (आसन्दी) आसन्दी ' चौकी ' (शचीभिः) कर्मोंद्वारा (नाभिः) नाभिस्थान और (उदरम्) उदर रूप हुई आसन्दीमेंही अभिषेक होता है ॥ ८६ ॥ अलंकारः ।

कण्डिका ८७—मंत्र १।

कुम्भोवनिष्ठुर्ज्जनिताशचीभिर्यस्मिन्नग्ग्रेयोन्याङ्गर्ब्भोऽअन्तः॥ प्लाशिर्व्यक्तः शतधारऽउत्त्सोदुहेनकुम्भीस्वधाम्पितृब्भ्यः॥ ८७॥

ऋष्यादि—(१) ॐ कुम्भ इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ८७ ॥

मन्त्रार्थ—(जनिता) रससाधन (कुम्भः) घडा (शचीभिः) कर्म करके (वनिष्ठुः) स्थूलान्त्रको (जनिता) उत्पन्न करता है अर्थात् सम्पादन करता है (यस्मिन्) जिस (योन्याम्) कुम्भरूपयोनिके (अन्तः) भीतर (अग्रे) प्रथम (गर्भः) सोमरसरूप गर्भ स्थित है (शतधारः) कूपतुल्य (उत्सः) घट (व्यक्तः) स्पष्ट (प्लाशिः) जननेन्द्रिय हुआ (न) और (कुम्भी) सुराधानीपात्रने (पितृभ्यः) पितरोंके निमित्त (स्वधाम्) स्वधा अन्नको (दुहे) प्रगट किया ॥ ८७ ॥

कण्डिका ८८—मंत्र १।

मुखᳬसदस्यशिरऽइत्त्सतेनजिह्वापवित्त्रमश्विनासन्त्सरस्वती ॥ चप्प्यन्नपायुर्ब्भिषगस्यवालोवस्तिर्न्नशेपोहरसातरस्वी ॥ ८८ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ मुखमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ८८ ॥

मन्त्रार्थ—(सत्) सत्नामपात्र (अस्य) इस इन्द्रका (मुखम्) मुख हुआ (सतेन) उसी पात्रसे (इत्) ही (शिरः) शिरकी चिकित्सा हुई (पवित्रम्) पवित्र (जिह्वा) जिह्वासंपादक हुआ (अश्विना) अश्विनीकुमार (सरस्वती) सरस्वती (आसन्) आस्य मुखमें स्थित हुए (न) और (चप्यम्) चप्य (पायुः) पायु इन्द्रिय हुई (वालः) सुराररसगलनका वस्त्र (अस्य) इसका (भिषग्) चिकित्सक हुआ (वास्तिः) गुदा (न) और (हरसा) वीर्यसे (तरस्वी) वेगवान् (शेपः) पुंजननेन्द्रिय हुई अर्थात् वालसे तीनों सम्पन्न हुए ॥ ८८ ॥

काण्डिका ८९-मन्त्र १ ।

अ॒श्विभ्यां॒ चक्षु॑र॒मृतं॒ ग्रहा॑भ्यां॒ छागे॑न॒ तेजो॑ ह॒विषा॑ शृ॒तेन॑ ॥ पक्ष्मा॑णि गो॒धूमैः॒ कुव॑लैरु॒तानि॒ पेशो॒ न शु॒क्रमसि॑तं वसाते ॥ ८९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अश्विभ्यामित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । वि० पू० ॥ ८९ ॥

मंत्रार्थ-(अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमार देवतावाले (ग्रहाभ्याम्) ग्रहोंद्वारा इन्द्रका (अमृतम्) अविनाशी (चक्षुः) नेत्र कल्पित हुआ अथवा चक्षु अविनाशी किया गया (छागेन) अजाआदिके दुग्धके (शृतेन) पक्व (हविषा) हविद्वारा (तेजः) चक्षुसम्बन्धी तेज कल्पितहुआ (गोधूमैः) गोधूमोंसे (पक्ष्माणि) नेत्रोंके नीचेके लोम (कुवलैः) बेरोंसे (उतानि) चक्षुनिविष्ट ऊपरके लोम कल्पित हुए जो (शुक्रम्) शुक्लश्वेत (न) और (असितम्) कृष्ण (पेशः) रूप अर्थात् शुक्लकृष्ण नेत्रगत रूपको (वसाते) आच्छादन करते हैं अर्थात् इसके द्वाराही नेत्रगत शुक्लकृष्णरूप आच्छादित हैं जिन वस्तुओंसे शरीरका जो जो भाग पुष्ट किया इन मंत्रोंमें वह वह वस्तु कही हैं ॥ ८९ ॥

कण्डिका ९०-मन्त्र १ ।

अवि॒र्न मे॒षो न॒सि वी॒र्या᳖य प्रा॒णस्य॒ पन्था॑ऽअ॒मृतो॒ ग्रहा॑भ्याम् ॥ सर॑स्वत्युपवा॒कैर्व्या॒नं नस्या॑नि ब॒र्हिर्बद॑रैर्जजान ॥ ९० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अविर्नेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । वि० पू० ॥ ९० ॥

मन्त्रार्थ-(अविः) भेड (न) और (मेषः) सरस्वतीसंबंधी मेढा (नसि) नासिकामें (वीर्य्याय) बलका कारण हुए (ग्रहाभ्याम्) सारस्वत ग्रहोंद्वारा (प्राणस्य) प्राणवायुका (पन्थाः) मार्ग (अमृतः) अविनश्वर किया (सरस्वती) सरस्वती देवी (उपवाकैः) यवांकुरोंसे (व्यानम्) व्यान वायुको (जजान) प्रगट करती हुई (बदरैः) बेरोंद्वारा (बर्हिः) कुशा (नस्यानि) नासिकाके लोम हुई अर्थात् इनकी उपयोगी क्रियाओंसे बल प्रगट किया गया जिससे इन्द्र सतेज हुए ॥ ९० ॥

कण्डिका ९१–मन्त्र १।

इन्द्रस्य रूपमृषभो बलाय कर्णाभ्या श्रोत्रममृतं ग्रहाभ्याम् ॥ यवा न बर्हिर्भ्रुवि केसराणि कर्कन्धु यज्ञे मधु सारघम्मुखात् ॥ ९१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ इन्द्रस्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । वि० पू० ॥ ९१ ॥

मंत्रार्थ–(बलाय) सामर्थ्यके निमित्त (इन्द्रस्य) इन्द्रका (रूपम्) रूप (ऋषभः) श्रेष्ठकिया अथवा ऋषभने बलके निमित्त इन्द्रका रूप किया (कर्णाभ्याम्) श्रोत्रसम्बन्धी (ग्रहाभ्याम्) ग्रहोंद्वारा (श्रोत्रम्) भूतभविष्यवर्तमान शब्दको ग्रहण करनेवाली श्रोत्रइन्द्रिय सम्पादित हुई (यवाः) जौ (न) और (बर्हिः) कुशा (भ्रुवि) भौंके (केसराणि) बालोंके सम्पादक हुए (मुखात्) मुखसे (कर्कन्धु) बेरकी तुल्य (सारघम्) मधुमक्षिकासम्बन्धी (मधु) मधुकी तुल्य लार श्लेष्मादि (जज्ञे) प्रगट हुई ॥ ९१ ॥

कण्डिका ९२–मन्त्र १।

आत्मन्नुपस्थे न वृकस्य लोम मुखे श्मश्रूणि न व्याघ्रलोम ॥ केशा न शीर्षन्यशसे श्रियै शिखा सिंहस्य लोम त्विषिरिन्द्रियाणि ॥ ९२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ आत्मन्नित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छं० । अश्विसरस्वतींद्रा दे० । वि० पू० ॥ ९२ ॥

मंत्रार्थ–(आत्मन्) अपने शरीरमें (उपस्थे) गुह्यस्थान (न) और अधोभागके (लोम) लोम (वृकस्य) वृकलोमसे कल्पित हुएहैं (न) और (मुखे) मुखमें जो (श्मश्रूणि) डाढी मूछोंके बाल हैं वे (व्याघ्रलोम) व्याघ्रके लोमसे कल्पित हुए (न) और (शीर्षन्) शिरमें (यशसे) यशके निमित्त (केशाः) बाल हैं (श्रियै) शोभाके वा लक्ष्मीके निमित्त जो (शिखा) शिखा है (त्विषिः) कान्ति है जो (इन्द्रियाणि) इन्द्रिय हैं वे सब (सिंहस्य) सिंहके (लोम) रोम हैं ॥ ९२ ॥

कण्डिका ९३-मंत्र १ ।

अङ्गान्यात्त्मन्भिषजातदश्श्विनात्त्मानमङ्गैः समधात्त्सरस्वती ॥ इन्द्रस्यरूपᳯशतमानमायुश्चन्द्रेणज्ज्योतिरमृतन्दधानाः ॥ ९३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अङ्गानीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । वि० पू० ॥ ९३ ॥

मंत्रार्थ-(इन्द्रस्य) इन्द्रके (रूपम्) रूपको और (शतमानम्) सैंकडों पुरुषोंसे पूजनीय वा सौवर्ष वा पूर्ण (आयुः) आयुको (चन्द्रेण) आह्लादक वा चन्द्रसम्बन्धी (ज्योतिः) ज्योतिद्वारा (अमृतम्) अविनश्वर (दधानाः) सम्पादन करते हुए (भिषजा) चिकित्सक (आश्विना) अश्विनीकुमार (आत्मन्) आत्मामें (अङ्गानि) अवयवोंको संयुक्त करते हुए (सरस्वती) और सरस्वतीने (तत्) उस (आत्मानम्) आत्माको (अङ्गैः) अवयवोंद्वारा (समधात्) संधान किया ॥ ९३ ॥

सरलार्थ-भिषग्वर अश्विनीकुमार और सरस्वतीने उक्तविधि अंगसमूहके द्वारा इस यज्ञ शरीरका सम्पादन किया इसके प्रभावसे इन्द्रका सुखजीवन ज्योति और अमृतत्वलाभ होता है ॥ ९३ ॥

विशेष-इस अध्यायके प्रारंभमें ऐतिहासिक क्रम वर्णन किया गया कि इन्द्रकी चिकित्साकोही अश्वि सरस्वती देवताओंने यह यज्ञरूप ओषधी प्रगट कीहै और अन्तमें भी वही वर्णनीय है इस प्रकरणमें इन्द्रशब्दसे यजमानकाही लक्ष्यार्थ विशेष प्रतीत होताहै सुतरां राज्यभ्रष्ट राजा वा दूसरे प्रायश्चित्तयोग्योंकी चिकित्सा का वर्णन है इन सामग्रियोंसे उन श्रीभ्रष्टादिका तेज पूर्ववत् वर्द्धित होताहै ॥ ९३ ॥

कण्डिका ९४-मन्त्र १ ।

सरस्वतीयोन्याङ्गर्भमन्तरश्श्विभ्याम्पत्नीसुकृतम्बिभर्ति ॥ अपाᳯरसेनवरुणोनसाम्नेन्द्रᳯश्श्रियैजनयन्नप्सुराजा ॥ ९४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सरस्वतीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छं० । अश्विसरस्वतींद्रा दे० । वि० पू० ॥ ९४ ॥

मन्त्रार्थ-(सरस्वती) सरस्वती देवी (अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमारकी (पत्नी) पत्नीत्वस्वीकारपूर्वक (गर्भम्) इन्द्ररूपगर्भको (सुकृतम्) सम्यक् प्रकारसे (योन्याम्) योनिके (अन्तः) मध्यमें (बिभर्ति) धारण करती है (न) और (अप्सु) जलोंका अधिष्ठातृदेवता (राजा) राजा (वरुणः) वरुण (अपाम्) जलोंके सारभूत (रसेन) रसद्वारा (साम्ना) और सामप्रभावसे (श्रियै) जगत्की शोभास्वरूप वा ऐश्वर्यके निमित्त (इन्द्रम्) इन्द्रको (जनयन्) जननकी समान पोषण करताहै, अथवा पत्नी सरस्वती इसको धारण करती है, अश्विनीकुमार द्वारा वरुण इस इन्द्रका पोषण करते हैं ॥ ९४ ॥

विशेष-इस स्थलमें इन्द्र पदसे ऐश्वर्यवान् यज्ञका वर्णन है वाणीही सरस्वतीहै जिस वेदवाणीके अन्दर यह यज्ञ स्थापितहोता है द्यु और भूमि इसको स्थापन करते हैं अथवा अहोरात्र ही स्थापक हैं यह रूपक, है ॥ ९४ ॥

कण्डिका ९५-मंत्र १ ।

तेजः॑ प॒शूना॑ᳫं ह॒विरि॑न्द्रि॒याव॑त्परि॒स्रुता॒ पय॑सा सार॒घम्मधु॑ ॥ अ॒श्विभ्या॑न्दु॒ग्धम्भि॒षजा॒ सर॑स्वत्या सुतासु॒ताभ्या॑म॒मृत॒ᳫं सोम॒ऽइन्दुः॑ ॥९५॥ [१६]

इति श्रीशुक्लयजुस्संहितापाठेएकोनविंशतितमोऽध्यायः॥१९॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तेज इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ९५ ॥

मंत्रार्थ-(भिषजा) चिकित्साकरनेवाले (अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमार और (सरस्वत्या) सरस्वतीने (इन्द्रियावत्) वीर्यवान् (पशूनाम्) पशुसम्बन्धी दुग्ध घृत और (सारघम्) मधुमक्षिकासम्बन्धी (मधु) मधुरूप (हविः) हवि लेकर (परिस्रुता) परिस्रुतकिये (पयसा) दूधसे इन्द्रके निमित्त (तेजः) तेज (दुग्धम्) परिस्रुत किया अर्थात् निकाला (सुतासुताभ्याम्) परिस्रुत दुग्धके सकाशसे (अमृतः) अमृतरूप (इन्द्रः) ऐश्वर्यदायक (सोमः) सोम दुहा इस प्रकार अश्विसरस्वती आदिने इन्द्रके निमित्त अनेक द्रव्योंसे रस लेकर उपकार किया ॥ ९५ ॥

सरलार्थ-यज्ञीयपशुसम्बन्धी घृत दुग्धरूप तेजदायक हवि, शहत और इन्द्रिय वृद्धिकारी परिस्रुत और ऐश्वर्यका चिह्न सोमरूप अमृत यह कई एक वस्तु इस

यज्ञकी प्रधान सम्पत्ति है, अश्विनीकुमार और सरस्वती देवीद्वारा यह अभिषुत और अनभिषुत उपकरणद्वारा आविष्कृत अर्थात् विस्तृत होता है ॥ ९५ ॥

विशेष–इन सोलह मंत्रोंमें वैद्यकविषयक भी उपकरण प्राप्त है जिस जिस वस्तुसे इन्द्रकी चिकित्सा कीगई है वह सब शरीरके अमुक २ अवयवके दृढकरनेवाले हैं कुछ प्राकृतिक नियम हैं इसको विचारनेसे बहुत कुछ आशय विदित होता है शरीर शुद्धिका तो पूरा उपाय है, दयानंदसरस्वतीने इस अध्यायका सम्पूर्णही विरुद्धार्थ किया है वह प्राचीन व्याख्यानुसार न होनेसे आदरयोग्य नहीं है ॥ ९५ ॥ [–१६] ॥

इति श्रीसकलगुणसम्पन्नमर्यादापालकश्रीयुतमिश्रसुखानंदसूनुकुलपतिपण्डित ज्वालाप्रसादमिश्रकृते शुक्लयजुर्वेदीयमिश्रभाष्ये ऊनत्रिंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

अथ विंशोऽध्यायः २०.

क्षत्रस्ययोनिस्त्रयोदशयद्देवा दशाभ्यादधाम्यष्टौयोभूतानांवत स्ऽः समिद्धइंद्रएकादशायात्त्वष्टौसमिद्धोअग्निर्द्वादशाश्विनाहविस्त्रयोदशाश्विनातेजसैकादशनवनवतिः ॥

सौत्रामणिअभिषेक ।

कण्डिका १–मंत्र २. अनु० १ ।

क्षत्रस्ययोनिरसिक्षत्रस्यनाभिरसि ॥ मात्त्वाहिꣳसीन्मामाहिꣳसीः ॥ १ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ क्षत्रस्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । द्विपदा विराड् गायत्री छं० । आसन्दी देवता । वेद्यामासन्दीस्थापने वि० । (२) ॐ मात्वेत्यस्य प्राजापत्या गायत्री छं० । कृष्णाजिनं दैवतम् । आसन्द्युपरि कृष्णाजिनस्थापने वि० ॥ १ ॥

विधि–(१) जानुप्रमाण उच्चपादविशिष्ट आसन्दी दो वेदीके ऊपर इस मंत्रको पाठकरके स्थापन करे अर्थात् इस चौकीके दोपाये दक्षिणवेदीके ऊपर और दोपाये उत्तर वेदीके ऊपर रक्खे [का० १९ । ४ । ८] मन्त्रार्थ–हे आसन्दी ! तुम (क्षत्रस्य) क्षत्रिय जातिके राजपदवीके (योनिः) उत्पत्तिस्थान (असि) हो, आसन्दीमें अभिषिक्त होकर राजा गुणवान् होता है, और तुम (क्षत्रस्य) क्षत्रियजातिके (नाभिः) एकतावन्धनके निदर्शन (असि)

हो १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे आसन्दीपर कृष्णाजिन स्थापन करैं [का० १९ । ४ । ८] मन्त्रार्थ-हे अजिन ! (त्वा) तुमको आसन्दी (मा) मत (हिᳬसीः) पीडादो और तुमभी (मा) मुझको (मा) मत (हिᳬसीः) पीडादो आशय यह कि तुम आसन्दीकी वन्धुतालाभ करो, आसन्दी तुम्हारी वन्धुतालाभ करै "यज्ञो वै कृष्णाजिनं यज्ञस्य चैवात्मनश्चाहिंसायै" इति [१२ । ८ । ३ । ९] श्रुतेः ॥ १ ॥ आसन्दी—चौकी ।

कण्डिका २—मंत्र ३ ।

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा ॥ साम्राज्याय सुक्रतुः ॥ मृत्योः पाहि विद्योत्पाहि ॥२॥

ऋष्यादि-(१) ॐ निषसादेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आर्च्युष्णिक्छं० । यजमानो दे० । कृष्णाजिनोपरि यजमानाह्वाने वि० । (२) ॐ मृत्योः पाहीत्यस्य प्र०ऋ० । आर्च्युष्णिक्छं० । यजमानो दे० । पादतले राजतरुक्माधाने वि० । (३) ॐ विद्योत्पाहीत्यस्य प्रजाप० ऋ० । आर्च्युष्णिक्छं० । सौवर्णरुक्माधाने वि० ॥ २ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्र पाठकर यजमानको उसके ऊपर बैठावै [का० १९ । ४ । ९] [१० । २७] में व्याख्या करचुके भावार्थ लिखते हैं । भावार्थ-हे यजमान ! तुम इस उपवेशनके फलसे दण्डपुरस्कारद्वारा देशके अनिष्टनिवारक न्यायपरायण और राजकाजमें चतुर होकर प्रजावर्गका साम्राज्य करनेमें समर्थ हो १ । विधि-दूसरा मंत्र पाठकरके यजमान अपने बांये चरणके नीचे चांदीका मण्डलाकार रुक्मनामक भूषण रक्खै [का० १९ । ४ । १०] मन्त्रार्थ-हे रुक्म ! (मृत्योः) अकालमृत्युसे (पाहि) हमारी रक्षाकरो २ । विधि-(३) तीसरा मंत्र पाठ करके यजमान अपने दहिने चरणके नीचे सुवर्णका रुक्म रक्खै [का० १९ । ४ । ११] मन्त्रार्थ-(विद्योत्) हे रुक्म ! विद्युत्पातादिसे मेरी (पाहि) रक्षाकरो ॥ २ ॥

कण्डिका ३—मं० ३ ।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ॥ अश्विनोर्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभिषिञ्चामि सरस्वत्यै भैषज्येन

वीर्य्यायान्नाद्यायाभिषिञ्चामीन्द्रस्यन्द्रियेणबलाँ यश्श्रियैयशसेभिषिञ्चामि ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवस्येत्यस्य अश्विनावृषी । प्राजापत्या बृहती छं० । लिङ्गोक्ता देवता । यजमानाभिषेचने वि० । (२) ॐ सरस्वत्या इत्यस्य अश्विनावृषी । आर्चीगायत्री छं० । लिंगोक्ता दे० । यजमानाभिषेचने वि० । (३) ॐ इन्द्रस्येत्यस्यर्ष्यादि पूर्ववत् । यजमानाभिषेचने वि० ॥ ३ ॥

विधि-(१-२-३) अध्वर्यु स्थित होकर यह तीन मंत्र पाठपूर्वक वेतसपात्रमें स्थित दूसरे ग्रह अवशिष्टद्वारा यजमानके मुखपै धारापात क्रमसे अभिषेक करै [का० १९ । ४ । १४] मंत्रार्थ-हे यजमान ! (सवितुः) सविता (देवस्य) देवकी (प्रसवे) आज्ञामें वर्तमान (अश्विनोः) अश्विनीकुमारकी (बाहुभ्याम्) बाहु (पूष्णः) पूषादेवताके (हस्ताभ्याम्) हाथोंसे (अश्विनोः) अश्विनीकुमारके (भैषज्येन) चिकित्सा कर्मसे (तेजसे) कान्तिके निमित्त (ब्रह्मवर्चसाय) अस्खलित वेदवेदाङ्गपाठसे उत्पन्न कीर्तिके निमित्त (त्वा) तुमको (अभिषिञ्चामि) अभिषेक करताहूं १ । हे यजमान ! सविता देवताकी आभ्यन्तरिक प्रेरणावश अश्विनीकुमारके बाहुबल और पूषाके हाथोंसे सहायतासे (सरस्वत्यै) सरस्वतीदेवताद्वारा संपादित (भैषज्येन) औषधीसे (वीर्य्याय) बलके निमित्त (अन्नाद्याय) अन्नकी प्राप्तिके निमित्त तुमको (अभिषिञ्चामि) अभिषेक करताहूं २ । हे यजमान ! सविता देवताकी आभ्यन्तर प्रेरणावश अश्विनीकुमारके बाहु और पूषाके हाथोंसे (इन्द्रस्य) इन्द्रकी (ऐन्द्रियेण) इन्द्रियवृद्धिकी सामर्थ्यसे (बलाय) बलके निमित्त (श्रियै) समृद्धि (यशसे) और यशप्राप्तिके निमित्त (अभिषिञ्चामि) तुमको अभिषेक करताहूं ३ ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मन्त्र २ ।

कोसि कतमोसिकस्यैस्त्वाकायत्त्वा ॥ सुश्श्लोक सुमङ्गलसत्त्यराजन् ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ कोसीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । प्राजापत्या गायत्री छं० । यजमानो देवता । अध्वर्युणा यजमानस्पर्शने वि० । (२) ॐ सुश्लोकेत्यस्य प्रजाप० ऋ० । उष्णिग्गर्भा प्राजापत्या गायत्री छं० । यजमानो दे० । यजमाननामस्मरणे वि० ॥ ४ ॥

विधि-(१) प्रथम मन्त्र पाठ करके यजमानको अध्वर्यु स्पर्श करै [का० १९। ४।१९] मंत्रार्थ-हे यजमान! तुम (कः) कौन प्रजापति (असि) हो (कतमः) बहुतोंमें कौनसे (असि) हो अथवा श्रेष्ठ हो (कस्मै) प्रजापति पद प्राप्तिके निमित्त (त्वा) तुझको अभिषेक करताहूं (काय) प्रजापतिकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको अभिषेक करताहूं अर्थात् तुम कौन हो कौन प्रधान पुरुष हो तुमने किस देवताकी प्रीतिके निमित्त यह महदनुष्ठान आरंभ किया है प्रजापति देवताकी प्रीतिके निमित्त अनुष्ठान किया है ॥ ४ ॥

विधि-(२) दूसरा मंत्र पाठ करकै यजमान नाम स्मरण करै [का० १९।४ २०] मंत्रार्थ-(सुश्लोक) हे सुन्दर कीर्तिवाले! आओ (सुमङ्गल) मंगलयुक्त (सत्यराजन्) हे सत्यरूप राज्यवाले आइये ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मंत्र १.

शिरो॑ मे॒ श्रीर्यशो॒ मुखं॒ त्विषिः॒ केशा॑श्च॒ श्मश्रू॑णि ॥ राजा॑ मे प्रा॒णो अ॒मृत॑ꣳ स॒म्राट् चक्षु॑र्वि॒राट् श्रोत्र॑म् ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ शिरोम इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । इन्द्रशरीरावयवा देवताः । स्वाङ्गस्पर्शे वि० ॥ ५ ॥

विधि-(१) यहांसे आगे पांच मंत्र पढकर यजमान अपने शिरःप्रभृति सब अंग स्पर्श करै [का० १९ । ४ । २१] मंत्रार्थ-(मे)मेरा (शिरः) शिर (श्रीः) शोभायुक्त हो (मुखम्) मुख (यशः) यशस्वरूप हो (केशाः) बाल (च) और (श्मश्रूणि) डाढी मूंछ (त्विषिः) कान्तिरूप हों (राजा) दीप्तिमान् (मे) मेरे (प्राणः) प्राण (अमृतम्) अमृतरूप हो (चक्षुः) मेरे नेत्र (सम्राट्) सम्यक् राजमान हो (श्रोत्रम्) श्रोत्र इन्द्रिय (विराट्) विशेष राजमान हो ॥५॥

कण्डिका ६-मंत्र १.

जि॒ह्वा मे॑ भ॒द्रं वाङ्महो॒ मनो॑ म॒न्युः स्व॒राड् भामः॑ ॥ मोदाः॑ प्रमो॒दा अ॒ङ्गुली॒रङ्गा॑नि मि॒त्रं मे॒ सहः॑ ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ जिह्वाम इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । इन्द्रशरीरावयवा दे० । वि० पू० ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ-(मे) मेरी (जिह्वा) जीभ (भद्रम्) कल्याणरूप हो (वाक्) वागिन्द्रिय (महः) पूज्यरूप हो (मनः) मन (मन्युः) क्रोधित न होकर भी क्रोधका उपकारांश लाभ करै (भामः) क्रोध (स्वराट्) विराजमान हो कोई

हत न करसकै वा अपनी मर्यादाउल्लंघनमें असमर्थ हो (अङ्गुलयः) अंगुली (मोदाः) आनन्दरूप हों (अङ्गानि) मेरे अंग (प्रमोदाः) परमानंदरूप हौं (मे) मेरे (मित्रम्) मित्र (सहः) शत्रुनाशक हों ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मंत्र १ ।

बाहूमेबलमिन्द्रियᳬहस्तौमेकर्म्मवीर्य्यम् ॥ आत्त्माक्षत्रमुरोमम ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ बाहू म इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । इन्द्रशरीरावयवा दे० । वि० पू० ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ-(मे) मेरी (बाहू) दोनो भुजा (इन्द्रियम्) और इन्द्रिय (बलम्) बलसम्पन्न हौं (हस्तौ) मेरे दोनो हाथ (कर्म्मवीर्य्यम्) सबल हौं (मम) मेरा (आत्मा) अन्तरात्मा (उरः) हृदय भी (क्षत्रम्) क्षत्रधर्मावलम्बनमें समर्थ हो ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मन्त्र १ ।

पृष्ठीर्म्मेराष्ट्रमुदरमᳬसौग्ग्रीवाश्चश्रोणी ॥ ऊरूऽअरत्नीजानुनीविशोमेङ्गानिसर्वतः ॥ ८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पृष्ठीरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृदनुष्टुप्छं० । इन्द्रशरीरावयवा दे० । वि० पू० ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ-(मे) मेरी (पृष्ठीः) पृष्ठदेश (राष्ट्रम्) सबका धारण करनेवाला राष्ट्रकी समान है (उदरम्) पेट (अᳬसौ) कंधे (ग्रीवा) गरदन (ऊरू) दोनो ऊरू (अरत्नी) हस्त (श्रोणी) दोनो श्रोणी कटिके निकटवर्तीस्थान (जानुनी) दोनो जंघा (च) और (सर्वतः) सब (अङ्गानि) अंग (मे) मेरे (विशः) प्रजावत् पोषणीय हौं अर्थात् राष्ट्ररूप शरीरमें यह सब अंग निरुपद्रव निवास करैं ॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मंत्र १ ।

नाभिर्म्मे चित्तंविज्ञानम्पायुर्म्मेपचितिर्भसत् ॥ आनन्दनन्दावाण्डौमेभगᳬसौभाग्ग्यम्पसः ॥ जङ्घाभ्याम्पद्भ्यान्धर्म्मोस्मिविशिराजाप्प्रतिष्ठितः ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नाभिर्म इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृज्जगती छन्दः । इन्द्रशरीरावयवा दे० । वि० पू० ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ-(मे) मेरी (नाभिः) नाभि (चित्तम्) ज्ञानरूप हो (मे) मेरी (पायुः) गुदेन्द्रिय (विज्ञानम्) ज्ञानजनित संस्कारका आधार (भसत्) मेरी स्त्रीकी योनि (अपचितिः) प्रजाजननमें समर्थ हो "यह यजमानकी पत्नीके विषयमें हैं" (मे) मेरे (अण्डौ) दोनों अंडकोश (आनंदनन्दौ) आनन्दसे समृद्ध हों (पसः) मेरी जननेन्द्रिय (भगः) ऐश्वर्य (सौभाग्यम्) सौभाग्य सम्पत्ति (जंघाभ्याम्) जंघाद्वारा (पद्भ्याम्) चरणोंद्वारा (धर्मः) धर्मरूप हो अर्थात् सब अंगोंसे धर्मरूप (अस्मि) हूं (विशि) प्रजामें (प्रतिष्ठितः) प्रतिष्ठित (राजा) राजा हूं ॥ ९ ॥

सरलार्थ-हमारी नाभि चित्त विज्ञान पायु अपचिति भसत् और आनंदकारी दोनों अण्ड हमारी स्त्रीका गुह्यस्थान और तदीय सौभाग्यरूप हमारी पुमिन्द्री दोनों जंघा और दोनों चरण यह समस्त अङ्गही हमारे प्रजाविषयमें धर्मरूप राजपदमें प्रतिष्ठित करैं, किसी अङ्गसे कोई विकार प्रजापर न हो ऐसा राजोंको करना चाहिये ॥ ९ ॥

कण्डिका १० -मन्त्र १ ।

प्रतिं क्षुत्रे प्रतिं तिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रतिं तिष्ठामि गोषुं ॥ प्रत्यङ्गेषु प्रतिं तिष्ठाम्यात्मन् प्रतिं प्राणेषु प्रतिं तिष्ठामि पुष्टे प्रति द्यावांपृथिव्योः प्रतिं तिष्ठामि युज्ञे ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रतिक्षत्र इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अतिशक्वरी छन्दः । विश्वेदेवा दे० । कृष्णाजिनावरोहणे वि० ॥ १० ॥

विधि-(१) यह मंत्र पढकर यजमान आसन्दीसे नीचे विछे कृष्णाजिनपर उतरै [का० १९ । ४ । २३] मन्त्रार्थ-मैं (क्षत्रे) क्षत्रियजातिमें (प्रतिष्ठामि) प्रतिष्ठायुक्त होताहूं (राष्ट्रे) राष्ट्रमें (प्रति) प्रतिष्ठायुक्त होता हूं (अश्वेषु) अश्वोंमें (प्रति) अधिपत्यको प्राप्त होताहूं (गोषु) गौओंमें (प्रति) प्रतिष्ठाको प्राप्त होताहूं (अङ्गेषु) अंगोंमें (प्रति) प्रतिष्ठाको प्राप्त होताहूं (आत्मन्) आत्मामें (प्रति) प्रतिष्ठाको० (प्राणेषु) प्राणोंमें (प्रति) प्रतिष्ठाको० (पुष्टे) धनसमृद्धिमें

(प्रति) प्रतिष्ठाको प्राप्त होताहूं (द्यावापृथिव्योः) स्वर्ग और इस लोककी प्रतिष्ठाको (प्रतिष्ठामि) प्राप्त होताहूं (यज्ञे) यज्ञमें (प्रतिष्ठामि) प्रतिष्ठाको प्राप्त होताहूं क्षत्रिय देशकी प्रतिष्ठा वशमें करना, गो अश्वकी प्रतिष्ठा प्राप्ति, प्राणअंगकी प्रतिष्ठा नीरोगता, आत्माकी प्रतिष्ठा आधिरहित होना, पुष्टिकी प्रतिष्ठा धनसम्पृद्धि, द्यावापृथ्वीकी प्रतिष्ठा दोनो लोकमें कीर्ति, यज्ञकी प्रतिष्ठा यज्ञकरना है, हम सब प्रकार विश्वके अधिपति पशुमान् आधिव्याधिरहित श्रीमान् यज्ञके कर्ता हों ॥१०॥

कण्डिका ११-मन्त्र १ ।

त्र॒या दे॒वाऽएका॑दश त्रयस्त्रि॒ꣳशाः सु॒राध॑सः ॥ बृह॒स्पति॑पुरोहिता दे॒वस्य॑ सवि॒तुः स॒वे ॥ दे॒वा दे॒वैर॑वन्तु मा ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्रयादेवा इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । त्र्यवसाना-पंक्तिश्छं० । विश्वेदेवा दे० । ग्रहहोमे वि० ॥ ११ ॥

विधि-शस्त्र समाप्त होनेपर वषट्कृत समयमें यहांसे लेकर दो मन्त्र पाठ पूर्वक ग्रह होम करै [का० १९ । ५ । ८ ।] मन्त्रार्थ-(सुराधसः) सुन्दर धनवाले (बृहस्पतिपुरोहिताः) बृहस्पति पुरोहितवाले (त्रया) तीन अवयववाले वा ब्रह्मा विष्णु महेश तीनो देवता (एकादश) ग्यारह (देवाः) देवता (त्रयस्त्रिꣳशाः) तैंतीस (देवाः) देवता अथवा ग्यारहके तिगुने तैंतीस देवता (सवितुः) सबके प्रेरक (देवस्य) देवताके (सवे) आज्ञामें वर्तमान (देवैः) देवताओंके साथ वा ब्रह्मादिके साथ (मा) मेरी (अवन्तु) रक्षाकरैं, अर्थात् इस प्रकार अनुष्ठानमें तत्पर मेरी अपने देवत्वप्रभावसे रक्षा करै ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मन्त्र १ ।

प्र॒थ॒मा द्वि॒तीयै॑र्द्वि॒तीया॑स्तृ॒तीयै॑स्तृ॒तीयाः॑ स॒त्येन॑ स॒त्यं य॒ज्ञेन॑ य॒ज्ञो यजु॑र्भि॒र्यजू॑ꣳषि॒ सामभिः॒ सामा॑न्यृ॒ग्भिर्ऋचः॑ पुरोनुवा॒क्याभिः पुरोनुवा॒क्या याज्याभिर्या॒ज्या वषट्का॒रैर्व॑षट्का॒राऽआहु॑तिभि॒राहु॑तयो मे॒ कामा॒न्त्सम॑र्द्धयन्तु॒ भूः स्वाहा॑ ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रथमा इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । प्रकृतिश्छं० । विश्वे देवा देवताः । वि० पू० ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ-(प्रथमाः) पूर्व मंत्रकथित पहले देवता वसु (द्वितीयैः) दूसरे रुद्र देवताओंके साथ मिलकर मेरी रक्षाकरैं (द्वितीयाः) दूसरे (तृतीयैः) तीसरोंके साथ (तृतीयाः) तीसरे आदित्य (सत्येन) सत्यके साथ (सत्यम्) सत्य (यज्ञेन) यज्ञके साथ (यज्ञः) यज्ञ (यजुर्भिः) यजुके साथ (यजूꣳषि) यजु (सामभिः) साम मंत्रोंके साथ (सामानि) साम मंत्र (ऋग्भिः) ऋचाओंके साथ (ऋचः) ऋचायें (पुरोनुवाक्याभिः) पुरोनुवाक्यनाम विशेषमंत्रोंके साथ (पुरोनुवाक्याः) पुरोनुवाक्य (याज्याभिः) याज्यमंत्रोंके साथ (याज्याः) याज्यमंत्र (वषट्कारैः) वषट्कारोंके साथ (वषट्काराः) वषट्कार (आहुतिभिः) आहुतियोंके साथ (आहुतयः) आहुतियें (मे) मेरे (कामान्) कामनाओंको (समर्धयन्तु) समृद्ध करैं पूर्णकरैं (भूः) भुवनके निमित्त (स्वाहा) सम्यक् रूपसे आहुति दीजातीहै, भलीप्रकार गृहीत हो "यह सब परस्पर एक दूसरेसे मिले हुए हैं" ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मन्त्र १ ।

लोमा॑नि॒ प्रय॑ति॒र्मम॒ त्वङ्म॒ऽआन॑ति॒राग॑तिः ॥ मा॒ꣳसम्म॒ऽउप॑नति॒र्वस्व॒स्थि म॒ज्जा म॒ऽआन॑तिः ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ लोमानीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । लिङ्गोक्ता देवता । प्रत्यक्षग्रहशेषभक्षणे वि० ॥ १३ ॥

विधि-(१) यजमान यह मंत्र पाठकरके उपहव पूर्वक प्रत्यक्षग्रहशेष भक्षण करै [का० १९ । ९ । १०] मन्त्रार्थ-(मम) मेरे (लोमानि) सम्पूर्ण रोम (प्रयतिः) यत्नयुक्त हैं (मे) मेरी (त्वक्) त्वचा (आनति) जिससे सब ओरसे नम्रहोते हैं तथा (आगतिः) जिसके प्रति सब प्राणी आगमन करते हैं इस प्रकारकी हो अर्थात् मुझे देखकर प्राणी मेरे निकट आवैं मुझे प्रणाम करैं (मे) मेरा (मांसम्) मांस (उपनतिः) प्राणियोंको नमनकरानेवाला हो मेरी (अस्थि) सम्पूर्ण अस्थि (वसु) धनरूप हों (मे) मेरी (मज्जा) वसा अस्थिके अन्तरका भाग (आनतिः) जगत्का नमन करानेवाला हो । अर्थात् मेरी सात धातु जगतके वश करनेमें समर्थ हों ॥ १३ ॥ [१३]

अथवा-ज्ञान मेरा रोम, यश और वीर्य त्वचा, ऐश्वर्य मांस, सम्पत्ति अस्थि, वैराग्य मज्जा है मैं छः ऐश्वर्यसे युक्त होऊं ॥ १३ ॥

[अब इसके उपरान्त अवभृथस्नान]

कण्डिका १४-मंत्र १ अनु० २ ।

यद्देवा देवहेडनन्देवासश्चकृमा वयम् ॥ अग्निर्म्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वᳫंहसः ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यद्देवा इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । मासरकुम्भाप्लावने वि० ॥ १४ ॥

विधि-(१) इसके उपरान्त कईएक (४) मंत्रपाठ करके मासरकुंभको जलमें प्लावितकरै [का० १९ । ५ । १३] मन्त्रार्थ-(देवाः) हे दीप्यमान (देवासः) देवताओं ! (वयम्) हमने (यत्) जो (देवहेडनम्) देवताओंका अपराध (आचकृम) किया है (अग्निः) अग्निदेवता (तस्मात्) उस (एनसः) पापसे और (विश्वात्) सम्पूर्ण (अᳫंहसः) विघ्नरूप पापोंसे (मा) मुझको (मुञ्चतु) पृथक् करै ॥ १४ ॥

कण्डिका १५ -मंत्र १ ।

यदि दिवा यदि नक्तमेनाᳫंसि चकृमा वयम् ॥ वायुर्म्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वᳫंहसः ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यदीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । वायुर्देवता । वि० पू० ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ-(वयम्) हमने (दिवा) दिनमें (नक्तम्) रात्रिमें (यदि) जो (यदि) भी (एनांᳫंसि) पाप (आचकृम) किये हैं (वायुः) वायुदेवता (तस्मात्) उस (एनसः) पापसे तथा (विश्वस्मात्) सम्पूर्ण (अᳫंहसः) पापोंसे (मा) मुझको (मुञ्चतु) पृथक् करैं ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मन्त्र १ ।

यदि जाग्ग्रद्यदि स्वप्नऽएनाᳫंसि चकृमा वयम् ॥ सूर्य्यो मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वᳫंहसः ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यदीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । सूर्यो देवता । वि० पू० ॥ १६ ॥

मंत्रार्थ–(वयम्) हमने (यदि) जो (जाग्रत्) जागतेमें (यदि) जो (स्वप्ने) सोतेमें (एनाꣳसि) पाप (आचकृम) किये हैं (सूर्यः) सूर्य देवता (तस्मात्) उस (एनसः) पापसे तथा (सर्वस्मात्) सम्पूर्ण (अꣳहसः) पापोंसे (मा) मुझको (मुञ्चतु) पृथक् करैं ॥ १६ ॥

प्रमाण–"मनुष्या वै जागरितं पितरः सुप्तं मनुष्यकिल्बिषाच्चैवैनं पितृकिल्बिषाच्च मुञ्चति" इति ॥ १२।९।२।२] श्रुतेः ॥ १६ ॥

कण्डिका १७–मन्त्र १।

यद्ग्रामे॒ यदर॑ण्ये॒ यत्स॒भायां॒ यदि॑न्द्रि॒ये ॥ यच्छूद्रे॒ यद॒र्य्ये॒ यदेन॑श्चकृ॒मा व॒यं यदेक॒स्याधि॒ धर्म॑णि॒ तस्या॑व॒यज॑नमसि ॥ १७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यद्ग्राम इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। निचृदनुष्टुप्छं०। लिंगोक्ता देवता। वि० पू० ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ–(यत्) जो (ग्रामे) ग्राममें (यत्) जो (अरण्ये) वनमें वृक्षच्छेदन वा पशुवधरूप (यत्) जो (सभायाम्) सभामें असत्यभाषणादि (यत्) जो (इन्द्रिये) सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे पराया अपवादकथनपर नारीदर्शनादि वा जो देवताओंमें (यत्) जो (शूद्रे) दासवर्गोंमें (यत्) जो (अर्ये) वैश्योंमें (यत्) जो (एनः) पाप (वयम्) हमने (चकृम) कियाहै (यत्) जो पाप (एकस्य) हम पत्नी यजमानके एक (अधिधर्मणि) कर्ममें (आचकृम) किया है (तस्य) उस सम्पूर्ण पापको हे देवताओ ! वा हे कुम्भ ! तुम (अवयजनम्) निवारण करनेवाले (असि) हो ॥ १७ ॥

कण्डिका १८–मन्त्र १।

यदापो॑ऽअघ्न्या॒ऽइति॒ वरु॒णेति॒ शपा॑महे॒ ततो॑ वरुण नो मुञ्च ॥ अव॑भृथ निचुम्पुण निचे॒रुर॑सि निचुम्पु॒णः ॥ अव॑ दे॒वैर्दे॒वकृ॑त॒मेनो॑ऽयक्ष्य॒व मर्त्यै॒र्मर्त्य॑कृतम्पुरु॒राव्णो॑ देव रि॒षस्पा॑हि ॥ १८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यदाप इत्यस्य प्र० ऋ०। अनु० छं०। लिंगो० दे०। वरुणप्रार्थने विनियोगः (२) ॐ अवभृथेत्यस्य प्र० ऋ०। अनु० छं०। लिंगो दे०। सुराकुम्भमज्जने विनियोगः ॥ १८ ॥

विधि–(१) यदापः इस आधे मंत्रको पढकर वरुणकी प्रार्थना करै अवभृथेत्यादि मंत्र पढकर सुराकुंभको जलमें डालदे प्रथममंत्रसे पूर्ववत् मज्जनकरै [का० १९ । ५ । १४] इस मंत्रकी व्याख्या ६ । २२ तथा ३। ४८ में होगई यदापो अघ्न्या इति जो अहन्तव्य हनन किया है हे वरुण ! उस पापसे हमको मुक्त करो इत्यादि केवल इस मंत्रमें (अवायक्षि) पदविशेष है जिसका अर्थ दूर करता वा नाशक है ॥ १८ ॥

कण्डिका १९–मन्त्र १ ।

स॒मु॒द्रे ते॒ हृद॑यम॒प्स्व॒न्तः सं त्वा॑ विश॒न्त्वोष॑धीरु॒ताप॑: ॥ सु॒मि॒त्रि॒या न॒ऽआप॒ऽओष॑धयः सन्तु दुर्मि॒त्रि॒यास्तस्मै॑ सन्तु॒ यो॒ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ १९ ॥

ॐ समुद्रेते इसकी व्याख्या ८ । २५ में और सुमित्रियान आपः इसकी व्याख्या ६ । २२ में होगई । ॐअवभृथेति गमने वाकुम्भस्य जले मज्जने वि० । सुमित्रियेति अञ्जलिग्रहणे वि० । दुर्मित्रियेति जलत्यागे वि० ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे यजमान अवभृथ स्थानसे दोचरण चले दूसरे मंत्रसे उत्तराभिमुख होकर जलकी अंजलि ग्रहण करे तीसरे मंत्रसे जिस दिशामें शत्रुगण वास करते हो उसी २ दिशामें वह जलकी अंजलि प्रक्षेप करै [का० १९ । ५ । १५] ॥ १९ ॥

कण्डिका २०–मंत्र १ ।

द्रु॒प॒दादि॑व मुमुचा॒नः स्वि॒न्नः स्ना॒तो मला॑दिव ॥ पू॒तं प॒वित्रे॑णे॒वाज्य॒माप॑: शुन्धन्तु॒ मैन॑सः ॥ २० ॥

ऋष्यादि–(१) द्रुपदादिवेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । आपो देवताः । अप्सु सोमिकवस्त्रत्यागे वि० ॥ २० ॥

विधि–(१) यह मंत्र पाठ करके पत्नी और यजमान दोनोही जलमें अपने २ कर्मकालमें धारण किये सोमिक वस्त्र परित्याग करैं [का० १९ । ५ । १६]

मंत्रार्थ–(आपः) जलदेवता (मा) मुझको (एनसः) पापसे (शुन्धन्तु) पवित्र करैं (इव) जिसप्रकार (द्रुपदात्) खडाऊंसे (मुमुचानः) सहजमेंही

पृथक् हुआ जाता है (इव) अथवा जैसे (स्विन्नः) स्वेदयुक्त पुरुष (स्नातः) स्नान करनेसे (मलात्) मलसे शीघ्रही मुक्त होता है (वा) अथवा जैसे (पवित्रेण) कम्बलवस्त्रसे (पूतम्) छानाहुआ (आज्यम्) घृत मलसे रहित होता है इस प्रकार जल मुझको सब पापसे रहित कर निर्मल करै ॥ २० ॥

कण्डिका २१–मंत्र १ ।

उद्वयन्तमसुस्परि स्वः पश्यन्तऽउत्तरम् ॥ देवन्देवत्रा सूर्य्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ २१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ उद्वयमित्यस्य प्रस्कण्व ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः सूर्यो देवता । जलान्निष्क्रमणे वि० ॥ २१ ॥

विधि–(१) इस मंत्रका पाठ करके जलसे निकले [का० १९।५।१७] मन्त्रार्थ–(तमसः) अन्धकारवाले इस लोकसे (परि) परे (उत्तमम्) श्रेष्ठ (स्वः) स्वर्गको (पश्यन्तः) देखतेहुए (वयम्) हम (देवत्रा) देवलोकमें (देवम्) देव (सूर्यम्) सूर्यको देखतेहुए (उत्तमम्) श्रेष्ठ (ज्योतिः) ब्रह्मरूपको (उदगन्म) प्राप्तहुए [ऋ० १।५०।१०] ॥ २१ ॥

भावार्थ–हम स्नान कर निर्मल हुए और श्रेष्ठ स्व (सूर्य) का दर्शन करते स्वरमें प्राप्त हुए, इस देवयजन स्थानमें गमन करते सूर्य देवकी उत्तम ज्योति उपभोग करनेको प्रवृत्त हुए हैं ॥ २१ ॥ "अयं वै लोकोद्वय उत्तरोस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति स्वर्गो वै लोकः सूर्यो ज्योतिरुत्तमं स्वर्ग एव लोकेऽन्ततः" इति [१२।९।२।८] श्रुतेः ॥ २१ ॥

काण्डिका २२–मंत्र १ ।

अपोऽअद्यान्वचारिषꣳरसेन समसृक्ष्महि ॥ पयस्वानग्नऽआगमन्तम्मा सꣳसृज वर्चसा प्रजया च धनेन च ॥ २२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अप इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । पंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता । आहवनीयोपस्थाने वि० ॥ २२ ॥

विधि–(१) यह मंत्र पाठकर यजमान आहवनीयका उपस्थान करै [का० १९।५।१८] मंत्रार्थ–(अग्ने) हे अग्निदेव ! (अद्य) आज मैने (अपः) जलकर्म (अन्वचारिषम्) पूर्ण किया है अर्थात् अवभृथकर्मसे जलको अनुचरित किया है (रसेन) जलके रससे (समसृक्ष्महि) संयुक्त हुआ हूं (पयस्वान्)

जलवान् (आगमम्) आया हूं (तम्) इस प्रकार (मा) मुझको (वर्चसा) कान्ति (च) और (प्रजया) पुत्रादिक (च) और (धनेन) सुवर्णादि धनसे (सङ्सृज) संयुक्त करो ॥ २२ ॥

भावार्थ-मैं इतने काल जलमें स्थित होकर विलक्षण शीतयुक्त हुआ हूं और इतने समयतक शरीरमें जल रहा है अग्ने ! इस अवस्थामें तुम्हारे निकट प्रार्थना करते हैं कि इस कार्यके फलसे हमको यथेष्ट ब्रह्मतेज प्रजा और धनकी प्राप्ति हो ॥ २२ ॥

विशेष-स्नान करनेसे उपरोक्त गुण शरीरमें प्राप्त होते हैं ॥ २२ ॥

कण्डिका २३-मंत्र १।

एधोऽस्येधिषीमहिं समिदसि तेजोऽसि तेजो मयिं धेहि॥ समाववर्त्ति पृथिवी समुषाः समु सूर्य्यः समु विश्वमिदञ्जगत् ॥ वैश्वानरज्योतिर्भूयासं विभून्कामान्व्यश्नवै भूः स्वाहा ॥ २३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एधोसीत्यस्य प्र० ऋषिः । प्राजापत्या बृहती छं० । समिद्देवता । समिद्ग्रहणे वि० । (२) ॐ समिदसीत्यस्य प्र० ऋ० । प्राजा० बृह० छं० । समिद्देवता । समिधाहवनीयाधाने वि० । (३) ॐ समाववर्तीत्यस्य प्र० ऋ० । ब्राह्म्युष्णिक्छं० । अग्निर्देवता । घृतलेपने वि० । (४) ॐ वैश्वानरेत्यस्य प्र० ऋ० । ब्राह्म्यु० छं० । अग्निर्दे० । होमे वि० ॥ २३ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे आहुति प्रदानके निमित्त हाथमें समिध ग्रहण करै [का० १९।५।१९] **मन्त्रार्थ**-हे समिध ! तुम (एधः) दीपक अर्थात् दीप्ति करनेवाली हो तुम्हारे प्रसादसे (एधिषीमहि) धनादि वृद्धिको प्राप्त हूं १ । **विधि**-(२) दूसरे मंत्रसे यह समिध आहवनीयके ऊपर देनेमें उद्यत होकर धारण करै. **मन्त्रार्थ**-हे समित् ! तुम (समित्) भलीप्रकार दीप्ति करनेवाली (असि) हो (तेजः) तेजरूप (असि) हो (मयि) मुझमें (तेजः) तेज (धेहि) स्थापन करो २ । **विधि**-(३) तीसरे मंत्रसे इसको घृतसे लिप्त करै [का० १९।५।२०] **मन्त्रार्थ**-(पृथिवी) पृथ्वी (समाववर्ति) प्रतिक्षण आवर्तनयुक्त है (उषाः) उषाकाल (सम्) आवृत्ति करते हैं (सूर्यः) सूर्य (उ) भी (सम्) आवर्तन

करते हैं (इदम्) यह (विश्वम्) सम्पूर्ण (जगत्) संसार (उ) भी (सम्) भ्राम्यमाण अर्थात् नश्वर है अर्थात् कुछभी स्थिर नहीं है ३। विधि-(४) चौथे मंत्रसे यह अग्निमें हवन करै। मन्त्रार्थ-(वैश्वानरज्योतिः) सम्पूर्ण कामना लाभके निमित्त मैं सब प्राणियोंके हितकारी परमात्माकी ज्योतिको (भूयासम्) प्राप्त हूं (विभून्) महान् (कामान्) मनोरथोंको (व्यश्नवै) प्राप्त होऊं (भूः) सत्तामात्र ब्रह्मके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति दी जाती है भली प्रकार गृहीत हो॥ २३॥ [१०]

आशय-तात्पर्य यह ब्रह्मके सिवाय जगत् अनित्य है उसीको प्राप्त हो यह प्राणी अमर होता है अथवा भूमि सूर्यादि सब चलायमान हैं ब्रह्म अचल है॥२३॥

कण्डिका २४-मन्त्र १. अनु० ३।

अ॒भ्याद॑धामि स॒मिध॒मग्ने॑ व्रतपते॒ त्वयि॑। व्र॒तञ्च॑ श्र॒द्धां चोपै॒मीन्धे॒ त्वा॑ दीक्षि॒तो अ॒हम्॥ २४॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अभ्यादधामीत्यस्य अश्वतराश्वी ऋषिः। निच्यृदनुष्टुप्छन्दः। अग्निर्दे०। समिद्धोमे वि०॥ २४॥

विधि-(१) सौत्रामणिके आरंभमें आदित्येष्टि समापन करनेके उपरान्त यागसिद्धिके निमित्त आहवनीय दक्षिणाग्नि विहरणके उपरान्त अभ्याधान और ब्रह्मवरण कार्य पूर्ण करनेके उपरान्त यजमान यहांसे तीन मंत्र पाठ करकै तीन समिध आहवनीय अग्निमें हवन करै [का० १९। १। १२] मंत्रार्थ-(व्रतपते) कर्मके पालक (अग्ने) हे अग्ने! (समिधम्) यह समित् (त्वयि) तुममें (अभ्यादधामि) स्थापन करता हूं यज्ञमें (दीक्षितः) दीक्षित हुआ (अहम्) मैं (व्रतम्) कर्म (च) और (श्रद्धाम्) श्रद्धाको (उपैमि) प्राप्त होता हूं (च) और (त्वा) तुझको (इन्धे) दीप्त करता हूं अर्थात् तुम्हारे प्रसादसे यह व्रत सम्पन्न हो और इसके फल विषयमें हमारे विश्वासमें न्यूनता न हो॥ २४॥

कण्डिका २५-मन्त्र १।

यत्र॒ ब्रह्म॑ च क्ष॒त्रं च॑ स॒म्यञ्चौ॒ चर॑तः स॒ह॥ तं लो॒कं पु॒ण्यं प्र॒ज्ञेषं॒ यत्र॑ दे॒वाः स॒हा॒ग्निना॑॥ २५॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यत्रेत्यस्य अश्वतराश्वी ऋषिः। अनुष्टुप्छं०। अग्निर्देवता। वि० पू०॥ २५॥

मन्त्रार्थ-(यत्र) जिस लोकमें (ब्रह्म) ब्राह्मण जाति (च) और (क्षत्रम्) क्षत्रियजाति (च) भी (सह) साथ (सम्यञ्चौ) एक मतसे मिलेहुए (चरतः)

विचरते हैं (यत्र) जहां (देवाः) देवता (अग्निना) अग्निके (सह) साथ निवास करते हैं (तम्) उस (पुण्यम्) पवित्र (लोकम्) स्वर्गलोकको (प्रज्ञेषम्) प्राप्त करूं ॥ २५ ॥

कण्डिका २६-मन्त्र १ ।

यत्रेन्द्रश्च वायुश्च सम्यञ्चौ चरतः सह ॥ तँल्लोकम्पुण्यम्प्रज्ञेषं यत्र सेदिर्न विद्यते ॥ २६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यत्रेन्द्र इत्यस्य अश्वतराश्वी ऋषिः । निच्यदनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २६ ॥

मंत्रार्थ-(यत्र) जिस लोकमें (इन्द्रः) इन्द्र (च) और (वायुः) वायु देवता (च) भी (सह) साथ (सम्यञ्चौ) एकमन होकर (चरतः) विचरतेहैं (यत्र) जहां (सेदिः) अन्नप्राप्तिजनित दुःख (न) नहीं (विद्यते) है (तम्) उस (पुण्यम्) पवित्र (लोकम्) लोकको (प्रज्ञेषम्) मैं प्राप्तहोऊं ॥ २६ ॥

कण्डिका २७-मंत्र १ ।

अँशुना ते अँशुः पृच्यताम्परुषा परुः ॥ गन्धस्ते सोममवतु मदाय रसो अच्युतः ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अंशुनेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । सुरा देवता । सुरासंसर्जने वि० ॥ २७ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे सुरासंसर्जनकरै (मिलावै) १९ । १ में सूत्रका अर्थ कर चुकेहैं । मंत्रार्थ-हे महौषधिरस ! (ते) तुम्हारे (अंशुः) भाग (अंशुना) सोमके भागसे मिलित हों (परुः) तुम्हारा पर्व (परुषा) सोमके पर्वसे (पृच्यताम्) मिलै (तव) तुम्हारी (गन्धः) सुगन्धि तथा (अच्युतः) अविनाशी (रसः) रस (मदाय) हर्षप्राप्तिके निमित्त (सोमम्) सोमको (अवतु) आलिंगन करो अर्थात् सोमसे मिलै ॥ २७ ॥

कण्डिका २८-मन्त्र १ ।

सिञ्चन्ति परि षिञ्चन्त्युत्सिञ्चन्ति पुनन्ति च ॥ सुरायै बभ्र्वै मदे किन्त्वो वदति किन्त्वः ॥ २८ ॥

ऋष्याद-(१) ॐ सिञ्चन्तीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । सुरा देवता । पूतसुरादाने वि० ॥ २८ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे पवित्र किया आसव ग्रहण करै [का० १९ । २ । ६]

मन्त्रार्थ-(बभ्रै) बलकी धारक वा कपिलवर्ण (सुरायै) महौषधियोंके रसपानसे (मदे) प्रसन्नतामें स्थित हुआ इन्द्र (किन्त्वः) तुम किसके (किन्त्वः) तुम किसके हो इस प्रकार (वदति) कहता है इस कारण उसको पात्रमें ऋत्विजलोग (सिञ्चन्ति) सींचते हैं (परिषिञ्चन्ति) दूधसे सींचते हैं (उत् सिञ्चन्ति) ग्रहोंसे सींचते हैं (च) और गोवाल पवित्र सुवर्णादिसे (पुनन्ति) पवित्र करते हैं ॥ २८ ॥

कण्डिका २९-मंत्र १ ।

धानावन्तङ्करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम् ॥ इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः ॥ २९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ धानावन्तमित्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । गायत्री छन्दः । इन्द्रो देवता । धानाहोमे वि० ॥ २९ ॥

विधि-(१) यह मंत्र श्रौत स्मार्त कर्मके धानाहोममें विनियुक्त है और प्रातः सवनमें पुरोडाशका पुरोनुवाक्यभी है । मंत्रार्थ-(इन्द्र) हे इन्द्र ! (प्रातः) प्रातःकाल (नः) हमारे (धानावन्तम्) धानोंसे युक्त (करम्भिणम्) दही और सत्तू (अपूपवन्तम्) मालपुएआदिसे युक्त (उक्थिनम्) स्तुतियुक्त पुरोडाशको (जुषस्व) सेवनकरो [ऋ० ३ । ३ । १७] ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०-मन्त्र १ ।

बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम् ॥ येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवन्देवाय जागृवि ॥ ३० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ बृहदिन्द्रायेत्यस्य नृमेधपुरुषमेधावृषी । बृहती छं० । इन्द्रो देवता । सामगाने वि० ॥ ३० ॥

विधि-(१) अध्वर्युद्वारा भेजा हुआ ब्रह्मा इस मंत्रसे सामगान करै [का० १९ । ५ । २] मन्त्रार्थ-(मरुतः) हे ऋत्विजो ! (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (वृत्रहन्तमम्) अतिशय पापनाशक वा वृत्रअसुरनाशक (बृहत्साम) बृहत् सामको (गायत) गानकरो (ऋतावृधः) यज्ञकी वृद्धिकरनेवाले देवता वा ऋत्विजोंने (येन) जिस सामगानसे (देवाय) इन्द्रके निमित्त (देवम्) दीप्यमान (जागृवि) जागरणशील अविनाशी (ज्योतिः) तेजको (अज-

नयन्) प्राप्त कराया अर्थात् सामगानसे इन्द्र तेजस्वी होता है [ऋ० ६ । ६ । १२] ॥ ३० ॥

सरलार्थ-जिस देवताके प्रभावसे यह दीप्यमान वृत्रहन्तम (मेघ और अन्धकारनाशक) जागरणशील कभी नीचे कभी ऊपर निरन्तर अपने कार्यमें जाग्रत (ज्योतिः) सूर्य सृजनहुई है उसी परम ऐश्वर्यवान् देवताकी प्रीतिके उद्देशसे (ऋतावृधः) सत्य सम्वाददेनेवाले वा यज्ञ बढानेवाले वा मरुद्गण वायु वा ऋत्विग्गण निरन्तर बृहत्सामगान करते हैं ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१-मन्त्र १ ।

अध्वर्योऽअद्रिभिः सुतꣳ सोमं पवित्रऽआनय ॥ पुनाहीन्द्राय पातवे ॥ ३१ ॥ [८]

ऋष्यादि-(१) ॐ अध्वर्य इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । इन्द्रो देवता । दुग्धाभिमंत्रणे वि० ॥ ३१ ॥

विधि-(१) इस मंत्रको पढकर ब्रह्मानामक ऋत्विक् दुग्धको अभिमंत्रितकरै मन्त्रार्थ-(अध्वर्यो) हे अध्वर्यु ! तुम (अद्रिभिः) ग्रावाद्वारा (सुतम्) अभिषुत (सोमम्) सोमको (पवित्रे) कम्बलमें पवित्रमें (आनय) लाओ (इन्द्राय) इन्द्रके (पातवे) पान करनेके निमित्त (पुनाहि) पवित्र करो [ऋ० ७ । १ । ८] ॥ ३१ ॥ [८]

कण्डिका ३२-मंत्र १ । अनु० ४ ।

यो भूतानामधिपतिर्यस्मिँल्लोकाऽअधि श्रिताः ॥ यऽईशे महतो महाँस्तेन गृह्णामि त्वामहं मयि गृह्णामि त्वामहम् ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ योभूतानामित्यस्य कौण्डिन्य ऋषिः । पंक्तिश्छन्दः । ग्रहो देवता । ग्रहग्रहणे वि० ॥ ३२ ॥

विधि-(१) अभिषेकसे पहले [सीसेन तन्त्रम् १९ । ८०] इत्यादि सोलह मंत्रसे ३२ ग्रह ग्रहण कियेथे, और उन्हींके संस्रवसे यजमानको अभिषेक किया अब यह कण्डिका और अगली आधी कण्डिका पाठ करके अध्वर्यु ३२ वा ग्रह ग्रहण करै [का० १९ । ४ । २४ । मन्त्रार्थ-(यः) जो परमात्मा (भूतानाम्)

चार प्रकारके जरायुआदिका (अधिपतिः) पालन करनेवाला है (यस्मिन्) जिस आत्मामें (लोकाः) भूरादि लोक (अधिश्रिताः) अधिश्रित हैं (महान्) सबसे उत्कृष्ट (यः) जो (महतः) महत्तत्व अर्थात् तत्त्वगणोंका (ईशे) नियन्ता है हे ग्रह ! उसी परमात्माके नियोगानुसार (अहम्) मैं (तेन) उस परमात्माकी कृपासे (त्वा) तुझको (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं (मयि) परमात्मभावको प्राप्त हुए मेरे विषय (अहम्) मैं (त्वा) तुझको (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं अर्थात् हमारे प्रति उसकी यही प्रेरणा है ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३–मंत्र १ ।

उपयामगृहीतोस्यश्श्विभ्यान्त्वासरस्वत्यैत्त्वेन्द्रा यत्त्वासुत्रामणऽएषतेयोनिरश्श्विभ्यान्त्वासरस्व त्यैत्त्वेन्द्रायत्त्वासुत्राम्णे ॥ ३३ ॥

मंत्रार्थ–उपयामगृहीतोसि इस मंत्रकी व्याख्या अध्याय १० मं० २ में होगई । वि० पू० ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४–मन्त्र १ ।

प्राणपामेऽअपानपाश्चक्षुष्पाश्श्रोत्रपाश्चमे ॥ वाचोमेविश्वभेषजोमनसोसिविलायकः ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ प्राणपाम इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । ग्रहो देवता । हुतशेषभक्षणे वा आघ्राणे वि० ॥ ३४ ॥

विधि–(१) सशस्त्र ग्रह होमके उपरान्त ऋत्विग्गण इस कण्डिका और पर कण्डिकात्मक दो मंत्र पाठ करके हुतशेष सूंघें वा भक्षण करै [का० १९।५। ९] मन्त्रार्थ–हे ग्रह वा हे परमात्मन् ! तुम (मे) मेरे (प्राणपाः) प्राणोंकी रक्षा करनेवाले (अपानपाः) अपान वायुकी रक्षा करनेवाले (चक्षुष्पाः) नेत्रोंकी रक्षा करनेवाले (च) और (मे) मेरे (श्रोत्रपाः) श्रोत्र इन्द्रियकी रक्षा करनेवाले (मे) मेरे (वाचः) वागिन्द्रिय (विश्वभेषजः) सम्पूर्ण ओषधोंमें प्रधानके (च) और (मनसः) मनके (विलायकः) विषयोंसे निवृत्त करकै आत्मामें स्थापन करनेवाले (असि) हो अर्थात् सब इन्द्रियोंके साथ मनका संयोग करनेवाले हो ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५-मंत्र १।

अ॒श्विन॑कृतस्य॒ते॒सर॑स्वतिकृतस्येन्द्रे॑ण सु॒त्राम्णा॑ कृ॒तस्य॑॥उप॑हूत॒ऽउप॑हूतस्य भक्षयामि ॥३५॥[४]

ऋष्यादि-(१) ॐ अश्विनकृतस्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । उपरिष्टाद्बृहती छं० । ग्रहो देवता । वि० पू० ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ-(उपहूतः) हे ग्रह ! आज्ञा पायाहुआ मैं (अश्विनकृतस्य) अश्विनीकुमारसे संस्कार किये (सरस्वतिकृतस्य) सरस्वतीसे प्रस्तुत किये (सुत्राम्णा) रक्षा करनेवाले (इन्द्रेण) इन्द्रद्वारा (कृतस्य) संस्कार किये वा देखे (उपहूतस्य) ऋत्विजोंद्वारा आह्वान किये (ते) तुझको (भक्षयामि) भक्षण करताहूं ॥३५॥ [४]

[साध्वर्यवं समाप्तम्]

[अथ हौत्रम्.]

कण्डिका ३६-मंत्र १। अनु० ५।

स॒मिद्ध॒ऽइन्द्र॒ऽउ॒षसा॒मनी॑के पु॒रो॒रुचा॑ पूर्व॒कृद्वा॑वृधा॒नः ॥ त्रि॒भिर्दे॒वैस्त्रि॒ꣳश॒ता वज्र॑बाहुर्ज॒घान॑ वृ॒त्रं वि दुरो॑ ववार ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ समिद्धइन्द्र इत्यस्य आङ्गिरस ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । इन्द्रो देवता । आप्रियः प्रियाजयाज्यपाठे वि० ॥ ३६ ॥

विधि-(१) यहांसे लेकर ग्यारह मंत्रोंसे ऐन्द्रनामक प्रथम पशुसम्बन्धी आप्रिय प्रियाजयाज्य करै [का० १९ । ६ । १२] मन्त्रार्थ-(समिद्धः) भले प्रकारसे दीप्त (उषसाम्) उषाकालके (अनीके) मुख अर्थात् प्रातःकालमें (पुरोरुचा) आगे चलनेवाले प्रकाशसे (पूर्वकृत्) सूर्य रूपसे पूर्वदिशाको प्रकाश करनेवाले (त्रिभिः) तीन (त्रिशता) तीस अर्थात् तैंतीस (देवैः) देवताओंके साथ (वावृधानः) वृद्धिपानेवाले (वज्रबाहुः) हाथमें वज्रधारी (इन्द्रः) इन्द्रने (वृत्रम्) वृत्रासुर वा मेघको (जघान) ताडन किया (दुरः) मेघोंके स्रोतों वा दैत्यके पुरके द्वारोंको (विवार) शून्य किया वा खोला ॥ ३६ ॥

सरलार्थ-पूर्व दिशाके पति वज्रधारी इन्द्र उषाकालमें पूर्व दिशामें प्रकाश करते उदय होते और क्रमसे वर्धमान होकर मध्याह्नमें सम्यक् प्रदीप्त होते, अपने सहचर ३३ देवताओंकी सहायतासे वृत्रका वध करकै सब द्वार खोलते हैं. रूपक. ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७–मन्त्र १।

नराशꣳसः प्रतिशूरो मिमानस्तनूनपात्प्रतियज्ञस्य धाम॥ गोभिर्वपावान्मधुना समञ्जन्हिरण्यैश्चन्द्री यजति प्रचेताः॥ ३७॥

ऋष्यादि–(१) ॐ नराशंस इत्यस्य आङ्गिरस ऋषिः। त्रिष्टुप्छन्दः। तनूनपाद्देवता। वि० पू०॥ ३७॥

मन्त्रार्थ–(नराशंसः) ऋत्विजोंसे स्तुति किया हुआ अथवा जहां वैठकर ऋत्विक् स्तुति करते हैं यज्ञरूप (शूरः) शूरतादिगुणयुक्त (यज्ञस्य) यज्ञके (धाम) स्थानको (प्रतिमिमानः) जान्ता हुआ (तनूनपात्) जाठराग्निरूपसे शरीरका रक्षक वा सृष्टिके विस्तारकरनेवाले मरीचिका पौत्र कश्यपका पुत्र अथवा भोगकी विस्तारकरनेवाली गौका पौत्र घृतरूप (गोभिः) पशुसम्बन्धी (वपावान्) वपनाक्रियासे युक्त (मधुना) मधुवत् स्वादिष्ठ घृतसे (समञ्जन्) व्यक्त करता हुआ वा हविभक्षण करता यजमान (हिरण्यैः) सुवर्णादिद्रव्योंसे (चन्द्री) वहुत सुवर्णवाला (प्रचेताः) विशेषज्ञानी कर्मका ज्ञाता यजमान (प्रतियजति) प्रतिदिन इन्द्रका यजन पूजन करता है॥ ३७॥

सरलार्थ–मनुजगणोंद्वारा सद्यःप्रशंसित शूर जाठराग्निरूपसे शरीररक्षक यज्ञकी प्रधान सम्पत्ति अग्निदेवताको अवलम्बन करके प्रचेता 'ज्ञानवान् यजमान' इस यज्ञको गौआदिके घृतद्वारा सम्वृद्ध और मधुआदिद्वारा संसिक्त और सुवर्णादिद्वारा कान्तिमान् करते यज्ञकार्य निर्वाह करते हैं॥ ३७॥

प्रमाण–"नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्ति" इति [निरुक्त ८। ६]॥ ३७॥

कण्डिका ३८–मंत्र १।

ईडितो देवैर्हरिवाँ २ऽअभिष्टिराजुह्वानो हविषा शर्द्धमानः॥ पुरन्दरो गोत्रभिद्वज्रबाहुरायातु यज्ञमुप नो जुषाणः॥ ३८॥

ऋष्यादि–(१) ॐ ईडित इत्यस्य आङ्गिरस ऋषिः। त्रिष्टुप्छन्दः। अग्निर्देवता। वि० पू०॥ ३८॥

मन्त्रार्थ–(देवैः) देवताओंसे (ईडितः) पूजित (हरिवान्) हरिनामक घोडोंसे युक्त (अभिष्टिः) सम्पूर्ण यज्ञोंसे स्तुतिको प्राप्त (हविषा) हविद्वारा

(आजुह्वानः) ऋत्विजोंसे बुलायाहुआ (शर्धमानः) अतिबलवान् "शर्धइति बलनाम" [निघं० २ । ९ । ७] (पुरन्दरः) शत्रुओंके नगर विदीर्ण करनेवाला (गोत्रभित्) असुरकुलनाशक (वज्रबाहुः) वज्रधारी देवता (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञको (उपजुषाणः) सेवन करताहुआ (आयातु) आगमन करो ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मंत्र १ ।

जुषाणोबर्हिर्हरिवान्नऽइन्द्रः प्राचीनर्ठसीदत्प्रदिशांपृथिव्याः ॥ उरुप्रथाः प्रथमानर्ठस्योनमादित्यैरक्तंवसुभिः सजोषाः ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ जुषाण इत्यस्याङ्गिरस ऋषिः । निच्यृत्त्रिष्टुप्छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ-(हरिवान्) अश्वोंसे युक्त (उरुप्रथाः) महाकीर्तिमान् (सजोषाः) प्रीतिमान् (इन्द्रः) इन्द्रदेवता (पृथिव्याः) पृथ्वीके अर्थात् देवयजन भूमिके (प्रदिशा) प्रदिशामें निर्मित प्राचीनवर्हि शालाको लक्ष्य करके (आदित्यैः) बारह आदित्य (वसुभिः) आठ वसुओंसे (अक्तम्) युक्त होकर (प्रथमानम्) विस्तीर्ण (स्योनम्) सुखरूप (बर्हिः) कुशासनको (जुषाणः) सेवन करताहुआ (नः) हमारे (प्राचीनम्) यज्ञस्थानमें (सीदतु) बैठो अर्थात् अपक्ववान् तनु सुखको विस्तार करो ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०-मंत्र १ ।

इन्द्रन्दुरः कवष्ष्योधावमानावृषाणंयन्तुजनयः सुपत्नीः ॥ द्वारोदेवीरभितोविश्रयन्ताठंसुवीराबीरम्प्रथमानामहोभिः ॥ ४० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रमित्यस्य आङ्गिरस ऋषिः । निच्यृत्त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ४० ॥

मंत्रार्थ-(कवष्याः) जहांसे वायुके गमनागमनका मार्ग है अर्थात् झिलमिलि देनेकी समान जिनमें मनुष्य शब्दकरते हैं (दुरः) यज्ञगृहके द्वार (वृषाणम्)

मनोरथ वर्षानेवाले (वीरम्) शूर (इन्द्रम्) इन्द्रको (यन्तु) प्राप्त हों जिस प्रकार (धावमानाः) धावमान होती आदरयुक्त (सुपत्नीः) श्रेष्ठ साध्वी (जनयः) यजमानकी स्त्री तथा (सुवीराः) सुन्दर वीर ऋत्विजयुक्त (महोभिः) तेज वा उत्सवोंसे (प्रथमानाः) विस्तारको प्राप्त (द्वारः) द्वार (देवीः) दिव्यगुणोंसे युक्त (अभितः) सब ओरसे (विश्रयन्ताम्) खुलैं वा विस्तृत हों ॥ ४० ॥

सरलार्थ–उत्सव पूर्ण विख्यात वीरगण 'ऋत्विजोंसे' अधिष्ठित कवष्य द्वार-देवी भली प्रकारसे उद्घाटित हो अर्थात् खुलो, और जिसप्रकार साध्वी स्त्री पर-देशसे आये पतिके प्रति धावमान होकर आलिंगन करती है यहभी इसी प्रकार धावमान होकर वीरफलवर्षी इन्द्र देवताको आलिंगन करैं ॥ ४० ॥ [झिल-मिलि झरोखा ।]

कण्डिका ४१–मंत्र १ ।

उषासानक्ता बृहती बृहन्तम्पयस्वती सुदुघे शूरमिन्द्रम् ॥ तन्तुन्ततम्पेशसा संवयन्ती देवानान्देवं यजतः सुरुक्मे ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ उषासानक्तेत्यस्याङ्गिरस ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । उषासानक्ते देवते । वि० पू० ॥ ४१ ॥

मंत्रार्थ–(बृहती) बडी (पयस्वती) जलवती (सुदुघे) सुन्दर दोहनवाली (ततम्) विस्तारवान् (तन्तुम्) सूत्रकी समान (पेशसा) विचित्र रूपसे (संव-यन्ती) संग्राथित करनेवाली अर्थात् रूपसे इन्द्रको युक्त करनेवाली (उषासानक्ता) सूर्यकी प्रभा और रात्रि (बृहन्तम्) महान् (शूरम्) शूर पराक्रमी (देवानाम्) देवताओंके (देवम्) देवता (इन्द्रम्) इन्द्रको (सुरुक्मे) सुन्दर दीप्तिमें(यजतः) युक्त करती हैं, अर्थात् तन्तुवायपत्नी जिस प्रकार पटके निमित्त विस्तृत किये तन्त्रमें तन्तुको विचित्र प्रकारसे बुन्ती है. इसी प्रकार दिवारात्रिनिविष्टचित्तसे महान् इन्द्र देवताको यज्ञतंत्रमें वयन करै लगाले [ऋ० ७।८।९] ॥ ४१ ॥

कण्डिका ४२–मंत्र १ ।

दैव्या मिमाना मनुषः पुरुत्रा होताराविन्द्रम्प्रथमा सुवाचा ॥ मूर्द्धन्यज्ञस्य मधुना दधाना प्राचीनञ्ज्योतिर्हविषा वृधातः ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ दैव्येत्यस्याङ्गिरस ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । होतारौ देवते । वि० पू० ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ–(पुरुत्रा) वहुत प्रकारसे (मिमानाः) यज्ञरचना करनेवाले (मनुषः) मानुष होताके (प्रथमा) पहले (सुवाचा) सुन्दर वचनवाले (यज्ञस्य) यज्ञके (मूर्धन्) प्रधान अंग शिरोभागमें (इन्द्रम्) इन्द्रको (दधाना) धारण वा स्थापन करते (दैव्या) देवसम्बन्धी (होतारः) होता वायु और अग्नि (प्राचीनम्) पूर्व दिशामें वर्तमान (ज्योतिः) आहवनीय अग्निको (मधुना) मधुर (हविषा) हविसे (वृधातः) वढाते हैं ॥ ४२ ॥

सरलार्थ–मनुष्यजातिसे वहुत पूर्व उत्पन्न विख्यात अग्नि और वायु देवता इस यज्ञमें होतृत्व स्वीकार करते यज्ञके प्रधान स्थलमें इन्द्र देवताको धारणपूर्वक मधुर हविर्हवनद्वारा प्राचीन ज्योतिको वढाते हैं ॥ ४२ ॥

कण्डिका ४३–मंत्र १ ।

तिस्रोदेवीर्हविषावर्द्धमानाऽइन्द्रञ्जुषाणाजनयोन पत्नीः ॥ अच्छिन्नन्तन्तुम्पयसासरस्वतीडादेवी भारतीविश्वतूर्त्तिः ॥ ४३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ तिस्र इत्यस्याङ्गिरस ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । देव्यो देवताः । वि० पू० ॥ ४३ ॥

मंत्रार्थ–(देवीः) दीप्यमान (विश्वमूर्तिः) सर्वगामिनी (सरस्वती) वागधिष्ठात्री (भारती) भारती धारण पोषण करनेवाली (इडा) शुभगुणोंसे स्तुतियोग्य (तिस्रः) तीनों (वर्धमानाः) पुष्टियुक्त (पत्नीः) साध्वी (जनयः) स्त्रियोंकी (न) समान (इन्द्रम्) इन्द्रको (जुषाणाः) सेवन करती (देवीः) देवियें (पयसा) दुग्ध और (हविषा) हविसे (तन्तुम्) यज्ञको (अच्छिन्नम्) विघ्नरहित करो ॥ ४३ ॥

कण्डिका ४४–मन्त्र १ ।

त्वष्टादधच्छुष्ममिन्द्रायवृष्णेऽपाकोचिष्टुर्यशसेपुरूणि ॥ वृषायजन्वृषणम्भूरिरेतामूर्द्धन्यज्ञस्य समनक्तुदेवान् ॥ ४४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्वष्टेत्यस्याङ्गिरस ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । त्वष्टा देवता । वि० पू० ॥ ४४ ॥

मंत्रार्थ-(अपाकः) अतिप्रशंसनीय "पाक इति प्रशस्यनाम" [निघं० ३ । ८ । ८] जिससे अधिक और प्रशंसनीय नहीं (अचिष्टः) अर्चनशील सबओर गमनकरनेवाला (वृषा) मनोरथोंकी वर्षा करनेवाला (भूरिरेताः) बड़ा वीर्यवान् सम्पूर्णका उत्पन्न करनेवाला (त्वष्टा) त्वष्टा देवता "त्वष्टा त्वक्षतेः करोत्यर्थस्व" इति [निरु० ८ । १३ ।] (यशसे) यशके निमित्त (वृष्णे) सेचनकरनेवाले (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (पुरूणि) बहुत (शुष्मम्) बलको (दधत्) धारण करते (वृषणम्) वृषधर्मसम्पन्न इन्द्रको (यजन्) पूजन करते हुए (यज्ञस्य) यज्ञके (मूर्धन्) शिरोभाग आहवनीयमें (देवान्) देवताओंको (समनक्तु) भोजन कराओ वा तृप्त करो ॥ ४४ ॥

सरलार्थ-इन त्वष्टा देवताने यशस्वी और वर्षणमें समर्थ इन्द्र देवताको यथेष्टबलशाली किया है, इसकी अपेक्षा अधिक वा समान प्रशंनीय और कोई नहीं है, यह सर्वत्रगामी है इन्होंने इन्द्रको वर्षाकार्यमें नियुक्त करके जलवर्षणमें सम्पन्न किया है, यह समस्त चराचरके एक मात्र सृजनकर्ता है, वह त्वष्टा परमात्मा यज्ञके मूर्धासदृश है; यह आहवनीय स्थानमें देवताओंको तृप्त करै ॥ ४४ ॥

कण्डिका ४५-मंत्र १ ।

वन॒स्पति॒रव॑सृष्टो॒ न पाशै॒स्त्मन्या॑ सम॒ञ्जञ्छ॑मि॒ता न दे॒वः ॥ इन्द्र॑स्य ह॒व्यैर्ज॒ठरं॑ पृणा॒नः स्वदा॑ति य॒ज्ञं मधु॑ना घृ॒तेन॑ ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वनस्पतिरित्यस्याङ्गिरस ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । वनस्पतिर्देवता । वि० पू० ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ-(वनस्पतिः) यूप (देवः) देवता (शमिता) यज्ञके (न) समान (अवसृष्टः) आज्ञादिये हुएकी (न) समान (पाशैः) पाशोंसे (त्मन्या) आत्मामें (समञ्जन्) युक्तकरते तथा (हव्यैः) हविद्वारा (इन्द्रस्य) इन्द्रके (जठरम्) उदरको (पृणानः) पूर्णकरते (मधुना) मधुरस (घृतेन) और घृतद्वारा (यज्ञम्) यज्ञको (स्वदाति) आस्वादन करता है ॥ ४५ ॥

सरलार्थ-वनस्पति (यूप) देवता शमिताकी समान सोत्साह अपनेमें पाश बन्धन स्वीकार करके हविद्वारा इन्द्र देवताका जठर परितृप्त करते मधु और घृतादिद्वारा यज्ञको परितृप्त करैं ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६–मंत्र १ ।

स्तोकानामिन्दुम्प्रतिशूरऽइन्द्रोवृषायमाणोवृषभ स्तुराषाट् ॥ घृतप्प्रुषामनसामोदमानाःस्वाहादेवाऽअमृतामादयन्ताम् ॥ ४६ ॥ [११]

ऋष्यादि–(१) ॐ स्तोकानामित्यस्याङ्गिरस ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । स्वाहाकृतयो देवताः । वि० पू० ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ–(शूरः) शूर वीरतादियुक्त (वृषायमाणः) शत्रुओंके प्रति गर्जनेवाला (वृषभः) वर्षा करनेवाला (तुराषाट्) शत्रुओंका तिरस्कार करनेवाला (इन्द्रः) इन्द्र और (स्वाहा) स्वाहाकार (घृतप्रुषा) घृतके विन्दुसेभी (मनसा) मनमें (मोदमानाः) प्रसन्न होते (अमृताः) मरणधर्मरहित (देवाः) देवता (स्तोकानाम्) घृतविन्दुसम्वन्धी (इन्दुम्) सोमके प्रति (मादयन्ताम्) तृप्तहो ॥ ४६ ॥ [११]

कण्डिका ४७–मन्त्र १ । अनु० ६ ।

आयात्विन्द्रोवसऽउपनऽइहस्तुतःसधमादस्तुशूरः ॥ वावृधानस्तविषीर्यस्यपूर्वीर्द्यौर्न्नक्षत्रमभिभूतिपुष्यात् ॥ ४७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ आयात्वित्यस्य वामदेव ऋषिः । भुरिक्पंक्तिश्छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ४७ ॥

विधि–(१) " पुरोडाशके याज्य और अनुवाक्य है [का० १९।६।१३] ४७ याज्यानुवाक्य ४८ पुरोनुवाक्य ४९–५२ पुरोनुवाक्य ७ कहाते हैं । "

मन्त्रार्थ–(यस्य) जिस इन्द्रके (पूर्वीः) पूर्व कालमें (तविषीः) किये हुए कर्म वा वृत्रवधादि पराक्रम (द्यौः) स्वर्गकी (न) समान कहे जाते हैं "तविषीति वलनाम तवतेर्वृद्धिकर्मणः" इति [निरु० ९।२५] और जो (अभिभूतिः) तिरस्कार न होनेवाले हमारे (क्षत्रम्) क्षत्रतेजको (पुष्यत्) पुष्ट करता है (शूरः) वह शूर (स्तुतः) स्तुति करनेसे (वावृधानः) वृद्धिको प्राप्त हुआ (इन्द्रः) इन्द्र (नः) हमारी (अवसे) रक्षा करनेको (उप) समीप (आयातु) आओ (इह) इस यज्ञमें (सधमात्) देवताओंके साथ भोजन करनेवाले (अस्तु) हो ॥ ४७ ॥

सरलार्थ–जिस इन्द्रके पूर्वमें किये सम्पूर्ण कार्य द्युलोकपर्यन्त कीर्तित होते हैं जो अपराजित क्षत्र धर्मका पोषण करनेवाला है वह वर्धमान विक्रान्त इन्द्र देवता हमको अनुगृहीत करनेको इस यज्ञमें आओ और दूसरे आये हुए देवताओंके साथ भोजन करो [ऋ० ३ । ६ । ५] ॥ ४७ ॥

कण्डिका ४८–मंत्र १ ।

आनऽइन्द्रो॑दूरादान॑ऽआसाद॑भिष्टिकृदव॑सेयासदु॒ग्रः ॥ ओजि॑ष्ठेभिर्नृ॒पति॒र्वज्र॑बाहुꣳसु॒ङ्गेसु॒मत्सु॑ तु॒र्वणिः॑पृतु॒न्यून् ॥ ४८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ आन इत्यस्य वामदेव ऋषिः । निच्यृत्त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रो दे० । वि० पू० ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ–(अभिष्टिकृत्) मनोरथोंका पूरण करनेवाला (उग्रः) उत्कृष्ट (ओजिष्ठेभिः) अतितेजस्वी बलोंसे युक्त (नृपतिः) मनुष्योंका पालन करनेवाला (वज्रबाहु) वज्रधारी (सङ्गे) एक संग्राममें (समत्सु) तथा बडे संग्रामोंमें (पृतन्यून्) शत्रुओंको (तुर्वणिः) मारनेवाला (इन्द्रः) इन्द्र (नः) हमारी (अवसे) रक्षा करनेको (दूरात्) दूरसे स्वर्गसे (अयासत्) आओ (नः) हमारे (आसात्) निकट स्थानसे भी (आ) आओ [ऋ० ३ । ६ । ३] ॥ ४८ ॥

प्रमाण–"आसादित्यन्तिकनाम" [निघं० २ । १६ ।] "सङ्गः समिदिति द्वे संग्रामनामनी" [निघं० २ । १७] ॥ ४८ ॥

सरलार्थ–जो देवता सामान्य संग्राम वा दुर्जय बहुतराष्ट्रविप्लवादिमें राजधर्म अवलम्बनपूर्वक अमितबल प्रकाश करके वज्रबाहु होकर शत्रुओंका पक्ष दलन करते हैं वह उग्रमूर्ति इन्द्रदेवता दूर हो वा निकट हो हमको अनुगृहीत करनेके निमित्त इस यज्ञमें आओ और आकर हमारे अभीष्ट सिद्ध करो ॥ ४८ ॥

कण्डिका ४९–मन्त्र १ ।

आनऽइन्द्रोहरि॑भिर्य्यात्वच्छा॑र्वाचीनो॑वसेराध॑से च ॥ तिष्ठा॑तिवज्रीमघवा॑विरप्शीमँय्यज्ञमनु॑ नोवाजसातौ ॥ ४९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आन इत्यस्य वामदेव० ऋषिः । पंक्तिश्छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ४९ ॥

मन्त्रार्थ-(मघवा) परिपूर्ण धनवान् (विरप्शी) महान् (वज्री) वज्रधारी (इन्द्रः) इन्द्र देवता (नः) हमारी (अवसे) रक्षाके निमित्त (च) और (राधसे) धन देनेके निमित्त (अर्वाचीनः) सन्मुख होता हुआ (हरिभिः) हरित वर्ण वा हरिनाम अश्वोंद्वारा (अच्छ) अच्छे प्रकार सन्मुख (आयातु) आओ और आकर (नः) हमारे (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञको (अनुवाजसातौ) अन्नके सम्भागनिमित्त (तिष्ठति) स्थितहो अर्थात् धन और रक्षा दोनोंकी हम आशा करते हैं [ऋ० ३ । ६ । ३] ॥ ४९ ॥

कण्डिका ५०-मंत्र १ ।

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रꣳहवेहवे सुहवꣳशूरमिन्द्रम् ॥ ह्वयामि शक्रम्पुरुहूतमिन्द्रꣳस्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः ॥ ५० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्रातारमित्यस्य गर्ग ऋषिः । विराट् त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ-(त्रातारम्) रक्षा करनेवाले (इन्द्रम्) इन्द्रको (ह्वयामि) आह्वान करता हूं (अवितारम्) पालन करनेवाले (इन्द्रम्) इन्द्रको (हवे हवे) प्रत्येक आह्वान वा यज्ञमें (सुहवम्) सुखसे आह्वानयोग्य (शूरम्) शूर (इन्द्रम्) इन्द्रको आह्वान करताहूं (शक्रम्) समर्थ (पुरुहूतम्) बहुतोंसे आह्वान किये (इन्द्रम्) इन्द्रको आह्वान करताहूं (मघवा) धनवान् (इन्द्रः) इन्द्र (नः) हमको (स्वस्ति) कल्याण (दधातु) करै [ऋ० ४ । ७ । ३२] ॥ ५० ॥

सरलार्थ-हमारी रक्षा करनेवाले पोषक भलीप्रकारसे आह्वानके योग्य पात्र विक्रान्त सर्वसमर्थ ऐश्वर्यवान् बहुतोंसे आहूत इन्द्रदेवताको हम प्रतिकार्यमेंही आह्वान करते हैं वहभी हमारे सम्पूर्ण कार्योंमें कल्याण करै ॥ ५० ॥

कण्डिका ५१-मंत्र १ ।

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ २ ऽअवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः ॥ बाधतान्द्वेषो ऽअभयङ्कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥ ५१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्र इत्यस्य गर्ग ऋषिः । भुरिक्पंक्तिश्छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ५१ ॥

मंत्रार्थ-(सुत्रामा) भली प्रकार रक्षक (स्ववान्) धनवान् (विश्ववेदाः) सर्वज्ञ (इन्द्रः) इन्द्र (अवोभिः) अन्नोंद्वारा (समृडीकः) सुखकारी (भवतु) हो (द्वेषः) हमारे दुर्भागको (बाधताम्) दूरकरो (अभयम्) अभयको(कृणोतु) करो हम (सुवीर्यस्य) श्रेष्ठ धनके (पतयः) स्वामी (स्याम) होवैं अथवा सुन्दर पुत्रवाले होवैं ॥ ५१ ॥

कण्डिका ५२-मंत्र १ ।

तस्यंवुयꣳसुमतौयुज्ञियस्यापिंभुद्रेसौमनुसेस्याम ॥ सुत्रामास्ववाँ २ ऽइन्द्रोऽअस्म्मेऽआराच्चिद्द्वेषं÷ सनुतर्युयोतु ॥ ५२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तस्येत्यस्य गर्ग ऋषिः । पांक्तिश्छं० । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ५२ ॥

मंत्रार्थ-(वयम्) हम (तस्य) उस (यज्ञियस्य) यज्ञसम्पादन करनेवाले इन्द्रकी (सुमतौ) सुमतिमें (स्याम) प्राप्तहौं (भद्रे) कल्याणरूप (सौमनसे) श्रेष्ठ मनमें (अपि) भी स्थित हों अर्थात् इन्द्र हमारी सुमति और कल्याणयुक्त मनको सम्पादन करै (सः) वह (सुत्रामा) भलीप्रकार रक्षक (स्ववान्) धनवान् (इन्द्रः) इन्द्र (अस्मे) हमसे (आरात्) दूरस्थितभी (चित्) जो कुछ (द्वेषः) दुर्भाग्य हो उसको (सनुतः) अन्तर्हित करके (युयोतु) पृथक् करे " सनुतरिति निर्णीतान्तर्हितनाम " :[निघं० ५ । २५ । ३१] [ऋ० ४ । ७ ३२] ॥ ५२ ॥

कण्डिका ५३-मंत्र १ ।

आमुन्द्रैरिन्द्रुहरिभिर्युाहिमुयूररोमभिः॥ मात्त्वाकेचिन्नियंमुन्विन्नपाशिनोतिधन्वेवुताँ २ ऽइंहि॥५३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आमन्द्रैरिन्द्रेत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । बृहती छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ५३ ॥

मंत्रार्थ-(इन्द्रः) हे इन्द्र ! तुम (मन्द्रैः) गंभीर शब्दवाले (मयूररोमभिः) मोरोंकी समान रोमवाले (हरिभिः) अपने घोडोंद्वारा (आयाहि) यहां आइये (केचित्) कोई भी दुष्ट आते हुए (त्वा) तुमको (मा) न (नियमन्) बाधादे (न) जिस प्रकार (पाशिनः) पाशधारी व्याधे (विम्) पक्षीको पकडते हैं इस प्रकार तुम उनके वशीभूत न होना जो वे विघ्न करैं तो (तान्) उनको (धन्व) मरुभूमिकी (इव) समान (अतीहि) अतिक्रमण कर आओ अर्थात् जैसे मरुभूमिको त्याग कर जाते हैं इस प्रकार अतिक्रमण कर गमन करो [ऋ० ३ । ३। ९] ॥ ५३ ॥

कण्डिका५४-मंत्र १ ।

एवेदिन्द्रंवृषणंवज्रंबाहुंवसिष्ठासोऽअभ्यर्चन्त्यर्कैः ॥ सनंस्तुतोवीरवंद्धातुगोमंद्यूयम्पातस्वस्तिभिःसदानः ॥ ५४ ॥ [८]

ऋष्यादि- (१) ॐ एवेदिन्द्रमित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ-(वसिष्ठासः) वसिष्ठके अपत्य अथवा अतिशय ब्रह्मविचारतत्पर महर्षिगण (एव) इसी प्रकार (इत्) ही (अर्कैः) मन्त्रोंद्वारा (वृषणम्) कामनाओंकी वर्षा करनेवाले (वज्रबाहुम्) हाथमें वज्रालिये (इन्द्रम्) इन्द्रको (अभ्यर्चन्ति) अर्चन करते हैं (सः) वह (स्तुतः) स्तुतिको प्राप्त हुआ (वीरवत्) पुत्रयुक्त (गोमत्) गोआदि पशुयुक्त धन (नः) हममें (धातु) स्थापन करै (यूयम्) हे ऋत्विजो ! तुमभी (स्वस्तिभिः) अनेक कल्याणोंद्वारा (सदा) निरन्तर (नः) हमारी (पात) रक्षा करो [ऋ० ५।३।७] ॥ ५४ ॥ [८]

कण्डिका ५५-मंत्र १ । अनु० ।

समिद्धोऽअग्निरश्विनातप्तोघर्म्मोविराट्सुतः ॥ दुहेधेनुःसरस्वतीसोमंꣳशुक्रमिहेन्द्रियम् ॥ ५५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ समिद्ध इत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । आप्रियपाठे वि० ॥ ५५ ॥

विधि-(१) यहांसे आदि ले बारह मंत्र आप्रिय कहाते हैं [का० १९।६।१५]

मन्त्रार्थ-(अश्विना) हे अश्विनीकुमारो ! (अग्निः) अग्नि (समिद्धः) प्रदीप्त हुआ (घर्मः) प्रवर्ग्य (तप्तः) तप्त हुआ (विराट्) अनेक प्रकारसे राजमान सोम (सुतः) अभिषव कियागया (धेनुः) तृप्त करनेवाली धेनुरूपा (सरस्वती) सरस्वती देवीने (इह) इस यज्ञमें (शुक्रम्) शुद्ध (इन्द्रियम्) इन्द्रियोंको बलदायक (सोमम्) सोमको (दुहे) दुहा ॥ ५५ ॥

कण्डिका ५६-मंत्र १ ।

तनूपाभिषजासुतेश्विनोभासरस्वती ॥ मध्वार जाᳬसीन्द्रियमिन्द्रायपथिभिर्वहान् ॥ ५६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तनूपेत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । विराडनुष्टुप्छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ-(तनूपा) शरीरके रक्षक (भिषजा) वैद्य (उभा) दोनों (अश्विना) अश्विनीकुमार और (सरस्वती) सरस्वती देवी (मध्वा) मधुसे (रजांसि) लोकोंको पूर्ण करती है "लोका रजांस्युच्यन्ते" इति [निरु० ४ । १९] (सुते) सोमके अभिषव होनेपर उसे (पथिभिः) मार्गोंमें (इन्द्राय) इन्द्रकी (इन्द्रियम्) इन्द्रियवृद्धि करनेके निमित्त (वहान्) वहन करते हैं ॥ ५६ ॥

कण्डिका ५७-मंत्र १ ।

इन्द्रायेन्दुᳬसरस्वतीनराशᳬसेननग्नहुम् ॥ अधातामश्विनामधुभेषजम्भिषजासुते ॥ ५७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रायेत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ-(सरस्वती) सरस्वतीने (नराशंसेन) यज्ञके साथ (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (इन्दुम्) सोम (नग्नहुम्) महौषधियोंके कंदको धारण किया और (भिषजा) वैद्य (अश्विना) अश्विनीकुमारोंने (सुते) अभिषुत होनेपर (मधु) इस मधुर (भेषजम्) ओषधीको (अधाताम्) धारण किया ॥ ५७ ॥

कण्डिका ५८-मंत्र १ ।

आजुह्वाना सरस्वतीन्द्रायेन्द्रियाणि वीर्यम्॥ इडाभिरश्विना विषᳪ समूर्जᳪ सᳪ रयिन्दधुः ॥ ५८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आजुह्वानेत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । निच्यृदनुष्टुप्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ-(आजुह्वाना) इन्द्रको आह्वान करती (सरस्वती) सरस्वती देवी (अश्विनौ) और अश्विनीकुमारोंने (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (इन्द्रियाणि) चक्षुरादि इन्द्रिय और (वीर्यम्) सामर्थ्यको (सन्दधुः) स्थापन किया (इडाभिः) पशुओंके सहित (इषम्) अन्न (ऊर्जम्) दहीआदि रस और (रयिम्) धनको (सम्) स्थापन किया "पशवो वा इडा" इति [१ । ८ । १ । १२] श्रुतेः ॥ ५८ ॥

कण्डिका ५९-मन्त्र १ ।

अश्विना नमुचेः सुतᳪ सोमᳪ शुक्रम्परिस्रुता ॥ सरस्वती तमाभरद्बर्हिषेन्द्राय पातवे ॥ ५९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अश्विनेत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ५९ ॥

मंत्रार्थ-(अश्विना) अश्विनीकुमारोंद्वारा (परिस्रुता) महौषधियोंके रसके सहित (सुतम्) अभिषुत (शुक्रम्) पवित्र (सोमम्) सोमको (नमुचेः) नमुचिअसुर वा पापसे (सरस्वती) सरस्वतीने हरण किया (तम्) उसको (इन्द्राय) इन्द्रकी (पातवे) रक्षाके निमित्त वा पानके निमित्त (बर्हिषा) कुशोंपर (आभरत्) धारण किया ॥ ५९ ॥

कण्डिका ६०-मन्त्र १ ।

कवष्यो न व्यचस्वतीरश्विभ्यान्न दुरो दिशः ॥ इन्द्रो न रोदसी उभे दुहे कामान्त्सरस्वती ॥ ६० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ कवष्य इत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ-(अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमारोंके सहित (सरस्वती) सरस्वतीने (न) और (इन्द्रः) इन्द्रने (उभे) दोनो (रोदसी) द्यावा पृथ्वी (न) और (कवष्यः) छिद्रयुक्त (व्यचस्वतीः) अवकाशयुक्त (दुरः) यज्ञीय द्वार (न) और (दिशः) सब दिशाओंसे (कामान्) कामनाओंको (दुहे) दुहा ॥ ६० ॥

कण्डिका ६१-मंत्र १।

उषासानक्तमश्विना दिवेन्द्रꣳ सायमिन्द्रियैः ॥ सञ्जानाने सुपेशसा समञ्जाते सरस्वत्या ॥ ६१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उषासानक्तमित्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ६१ ॥

मंत्रार्थ-(सरस्वत्या) सरस्वतीके सहित (अश्विना) अश्विनी कुमार (सञ्जानाने) एकमत होकर (सुपेशसा) सुन्दर रूपवाले (उषासा) सूर्यप्रभा और (नक्तम्) रात्रि (दिवा) दिनमें अर्थात् प्रभात कालमें और (सायम्) सन्ध्याकालमें (इन्द्रम्) इन्द्रको (इन्द्रियैः) सामर्थ्योंसे (समंजाते) संयुक्त करतेहैं अर्थात् सुरूपा और सम्यक् विदित उपासानक्त देवता यह दोनों अश्विनीकुमार और सरस्वतीदेवी दिनके प्रारंभसे सन्ध्यापर्यन्त एकवाक्यसे इन्द्रको अनुरक्त करते हैं ॥ ६१ ॥

कण्डिका ६२-मंत्र १।

पातन्नोऽअश्विना दिवा पाहि नक्तꣳ सरस्वति ॥ दैव्या होतारा भिषजा पातमिन्द्रꣳ सचा सुते ॥ ६२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पातन्न इत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ६२ ॥

मन्त्रार्थ-(अश्विना) हे अश्विनीकुमारो ! (दिवा) दिनमें (नः) हमारी (पातम्) रक्षाकरो (सरस्वति) हे सरस्वती ! तुम (नक्तम्) रात्रिमें (पाहि) रक्षाकरो (दैव्या) हे देवसम्बन्धी (होतारा) होताओं ! (भिषजा) वैद्य अश्विनीकुमारो ! (सुते) सोमके अभिषुत होनेमें (सचा) एकहोकर (इन्द्रम्) इन्द्रकी (पातम्) रक्षा करो ॥ ६२ ॥

कण्डिका ६३—मंत्र १ ।

तिस्रस्त्रेधासरस्वत्त्यश्विनाभारतीडा ॥ तीव्रम्परिस्रुतासोममिन्द्रायसुषुवुर्म्मदम् ॥ ६३ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ तिस्र इत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ६३ ॥

मंत्रार्थ—(त्रेधा) तीन प्रकारसे स्थित अर्थात् मध्यस्थानमें स्थित (सरस्वती) सरस्वती द्युस्थानमें (भारती) भारती पृथ्वी स्थानमें (इडा) इडादेवी (तिस्रः) यह तीनो (अश्विना) अश्विनीकुमारद्वारा (परिस्रुता) महौषधियोंके रससे युक्त (तीव्रम्) अधिक (मदम्) हर्षकरनेवाले (सोमम्) सोमको (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (सुषुवुः) अभिषवण करते हुए ॥ ६३ ॥

कण्डिका ६४—मंत्र १ ।

अश्विनाभेषजम्मधुभेषजन्नःसरस्वती ॥ इन्द्रेत्त्वष्टायशःश्रियꣳरूपꣳरूपमधुःसुते ॥ ६४ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ अश्विनेत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ६४ ॥

मंत्रार्थ—(सुते) सोमके अभिषव होनेपर (नः) हमारे (इन्द्रे) इन्द्रमें (अश्विना) अश्विनीकुमारने (भेषजम्) महौषधी (सरस्वती) सरस्वतीने (मधु) मधुरूप (भेषजम्) औषधी (त्वष्टा) त्वष्टादेवताने (यशः) कीर्ति (श्रियम्) लक्ष्मी (रूपंरूपं) अनेक प्रकारके रूप (अधुः) स्थापन किये ॥ ६४ ॥

कण्डिका ६५—मंत्र १ ।

ऋतुथेन्द्रोवनस्पतिःशशमानःपरिस्रुता ॥ कीलालमश्विभ्याम्मधुदुहेधेनुःसरस्वती ॥ ६५ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ ऋतुथेन्द्र इत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । वि० पू० ॥ ६५ ॥

मंत्रार्थ—(वनस्पतिः) प्रयाज देवता (इन्द्रः) इन्द्र (शशमानः) स्तुतिको प्राप्त होता हुआ (ऋतुथा) ऋतु ऋतु अर्थात् समय २ पर (परिस्रुता) महौष-

धियोंकें रसके साथ (कीलालम्) अन्नके रसको (इन्द्रः) इन्द्रके निमित्त देता- हुआ तथा (अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमारोंके सहित (सरस्वती) सरस्वतीने (धेनुः) धेनुरूप होकर इन्द्रके निमित्त (मधु) मधुको (दुहे) दुहा अर्थात् प्रतिऋतुमें स्तुतिको प्राप्त होकर वनस्पतिदेवताने इन्द्रके निमित्त परिस्रुतसहित अमृत क्षरण किया, और अश्विनीकुमारोंके सहित सरस्वतीने गोरूप होकर मधु क्षरण किया ॥ ६५ ॥

कण्डिका ६६–मन्त्र १।

गोभिर्न्नसोमंमश्विनामासरेणपरिस्रुता॥समंधातᳯ सरस्वत्त्यास्वाहेन्द्रेसुतम्मधु ॥ ६६ ॥ [१२]

ऋष्यादि–(१): ॐ गोभिरित्यस्य विदर्भिर्ऋषिः। अनुष्टुप्छं०। अश्विसरस्वतीन्द्रा दे०। वि० पू० ॥ ६६ ॥

मन्त्रार्थ–(अश्विना) हे अश्विनीकुमारो ! तुम (सरस्वत्या) सरस्वतीकें सहित (गोभिः) दूधघृतादिद्वारा (परिस्रुता) महौषधियोंके रससे (सुतम्) अभिषुत (मधु) मधुर (सोमम्) सोमको अथवा मधु और सोमको (इन्द्रे) इन्द्रके निमित्त (समधातम्) आरोपण करो (स्वाहा) श्रेष्ठ होम हो अथवा हे स्वाहावृ- त्तियो ! प्रयाज देवता तुम सरस्वतीके साथ अभिषुत मधुको धारण करो ॥ ६६ ॥ घृत मधु और दूध मिलाकर पान करनेसे तथा सोमरसपानसे बहुत बलकी रूपकी वृद्धि होती है वैद्योंद्वारा महौषधिरस निर्माण होता है इसको आसव कहते हैं ॥ ६६ ॥ [१२]

कण्डिका ६७–मंत्र १. अनु० ९।

अश्विनाहविरिन्द्रियन्नमुचेर्द्धियासरस्वती॥ आ शुक्रमासुराद्वसुमघमिन्द्रायजभ्रिरे ॥ ६७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अश्विनेत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः। भुरिगनुष्टुप्छन्दः। अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः। याज्यायाज्यपाठे विनि० ॥ ६७ ॥

विधि–(१) यहांसे आगे *यागमें तीन मंत्र याज्य और पुरोनुवाक्य कहाते हैं प्रथमको छोडकर दूसरा याज्य दूसरेको छोडकर तीसरा याज्य तीसरेको छोडकर

प्रथमा याज्य यथा अश्विनेति ६७ अनुवाक्य, यमश्विनेति ६८ याज्य, सारस्वतयागमें यमाश्विनेति अनुवाक्य ६८ तमिन्द्र ६९ मिति याज्य, और ऐन्द्रयागमें तमिन्द्रमिति ६९ अनुवाक्य अश्विनेति ६७ याज्य कहलाते हैं [का० १९ । ६ । १६ । १७] मन्त्रार्थ–(अश्विना) अश्विनीकुमार और (सरस्वती) सरस्वतीने (धिया) बुद्धिपूर्वक (नमुचेः) नमुचिनामक (आसुरात्) दैत्यसे (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (शुक्रम्) शुद्ध (हविः) हवि (इन्द्रियम्) वलकारक (मघम्) और पूजनीय (वसु) धनको (आजभ्रिरे) आहरण किया ॥ ६७ ॥

कण्डिका ६८–मंत्र १।

यमश्विना सरस्वती हविषेन्द्रमवर्द्धयन् ॥ स बिभेद बुलम्मुघन्नमुचावासुरे सचा ॥ ६८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यमित्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । भुरिगनुष्टुप्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । वि० पू० ॥ ६८ ॥

मंत्रार्थ–(अश्विना) अश्विनीकुमार (सरस्वती) और सरस्वतीने (सचा) एकमत होकर (यम्) जिस (इन्द्रम्) इन्द्रको (हविषा) हविसे (अवर्द्धयन्) बढाया (सः) वह इन्द्र (आसुरे) असुर (नमुचौ) नमुचिके साथ होकर अर्थात् नमुचि असुरके सहित विवाद करके (वलम्) वल (मघम्) महनीय मेघको (विभेद) विदीर्ण करता हुआ "वृणोतेर्बल" इति [निरु० ६ । २] अर्थात् नमुचिको विदारण कर इन्द्रने वर्षा की ॥ ६८ ॥

कण्डिका ६९–मंत्र १ ।

तमिन्द्रम्पशवः सचाश्विनोभा सरस्वती ॥ दधाना ऽअभ्यनूषत हविषा युज्ञ ऽइन्द्रियैः ॥ ६९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ तमिन्द्रमित्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । निच्यृदनुष्टुप्छंदः अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । वि० पू० ॥ ६९ ॥

मन्त्रार्थ–(पशवः) कर्मके अंगभूत पशु (उभा) दोनो (अश्विना) अश्विनीकुमार (सरस्वती) सरस्वती (सचा) साथ होकर (यज्ञे) यज्ञमें (तम्) उस (इन्द्रम्) इन्द्रको (हविषा) हविद्वारा (इन्द्रियैः) बलोंको (दधानाः) धारण करते (अभ्यनूषत) स्तुति करते हुए ॥ ६९ ॥

कण्डिका ७०–मंत्र १ ।

यऽइन्द्रऽइन्द्रियन्दधुः सविता वरुणो भगः ॥ स सुत्रामा हविष्पतिर्यजमानाय सश्चत ॥ ७० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ य इन्द्र इत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । याज्यानुवाक्यपाठे वि० पू० ॥ ७० ॥

विधि–(१) यहांसे आगे पुरोडाशयागके तीन मंत्र याज्य और पुरोनुवाक्य कहातेहैं य इन्द्रे ७०, सविता ७१, इन्द्रके अनुवाक्य, वरुणः क्षत्रम् ७२ सावित्रके, यइन्द्रे ७० यह वरुणका है [का० १९ । ६ । १८] मन्त्रार्थ–(ये) जो (सविता) सविता देवता (वरुणः) वरुण (भगः) भग देवता (इन्द्रे) इन्द्रमें (इन्द्रियम्) बलको (दधुः) स्थापन करते हुए (सः) वह (हविष्पतिः) हवियोंका स्वामी (सुत्रामा) भली प्रकार रक्षक इन्द्र (यजमानाय) यजमानके निमित्त (सश्चत) इष्टदानसे सुखकरो ॥ ७० ॥

कण्डिका ७१–मन्त्र १ ।

सविता वरुणो दधद्यजमानाय दाशुषे ॥ आदत्त नमुचेर्वसु सुत्रामा बलमिन्द्रियम् ॥ ७१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ सवितेत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । इन्द्रसवितृवरुणा देवताः । वि० पू० ॥ ७१ ॥

मन्त्रार्थ–(सुत्रामा) भली प्रकार रक्षा करनेवाले इन्द्रने (नमुचेः) नमुचि असुरसे (वसु) धन (बलम्) बल (इन्द्रियम्) इन्द्रियसामर्थ्य (आदत्त) ग्रहण की (सविता) सविता देवता (वरुणः) वरुणदेवता (दाशुषे) हवि देनेवाले (यजमानाय) यजमानके निमित्त धन और बल (दधत्) धारण करतेहुए अर्थात् देतेहुए ॥ ७१ ॥

कण्डिका ७२–मंत्र १ ।

वरुणः क्षत्रमिन्द्रियम्भगेन सविता श्रियम् ॥ सुत्रामा यशसा बलन्दधाना यज्ञमाशत ॥ ७२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ वरुण इत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । इन्द्र-सावितृवरुणा देवताः । वि० पू० ॥ ७२ ॥

मन्त्रार्थ–(क्षत्रम्) क्षतसे त्राणकी सामर्थ्य (इन्द्रियम्) बल (भगेन) भाग्य ऐश्वर्यके साथ (श्रियम्) लक्ष्मीको (यशसा) यशके साथ (बलम्) सामर्थ्यको (दधानाः) यजमानमें स्थापन करते हुए (सविता) सविता देवता (सुत्रामा) और इन्द्र (यज्ञम्) इस सौत्रामणि यज्ञको (आशत) उपभोग वा व्याप्त करते हैं। वरुण क्षत्र और इंद्रिय, सविता प्रिय ऐश्वर्य, और इन्द्र यश और बलको स्थापन करता है ॥ ७२ ॥

कण्डिका ७३–मं० १ ।

अश्विनागोभिरिन्द्रियमश्वेभिर्वीर्य्यम्बलम् ॥ हविषेन्द्रँ सरस्वतीयजमानमवर्द्धयन् ॥ ७३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अश्विनेत्यस्य विदर्भिर्ऋ० । निचृदनुष्टुप्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । याज्यानुवाक्यपाठे वि० ॥ ७३ ॥

विधि–(१) यहांसे आगेके तीन मंत्र हविके याज्य और अनुवाक्य हैं ७३ । ७४ मंत्र यागमें पुरोनुवाक्य. याज्यमें ७४ । ७५ मंत्र. सारस्वत योगमें ७६ । ७६ मंत्र हैं [का० १९ । ६ । १९] मन्त्रार्थ–(अश्विना) दोनों अश्विनीकुमार (सरस्वती) सरस्वती देवी (गोभिः) गौआदि पशुओंसे (इन्द्रियम्) इन्द्रियोंकी सामर्थ्य (अश्वेभिः) अश्वोंसे वा दक्षिणारूप अश्वोंसे (वीर्यम्) वीर्य (बलम्) मानसबलको (हविषा) हविद्वारा (इन्द्रम्) इन्द्रको (यजमानम्) और यजमानको (अवर्द्धयन्) बढाते हुए तृप्ति होना इन्द्रकी वृद्धि है, धन पुत्र पशुकी पुष्टि यजमानकी वृद्धि है ॥ ७३ ॥

कण्डिका ७४–मन्त्र २ ।

तानासत्त्या सुपेशसाहिरण्ण्यवर्त्तनीनरा ॥ सरस्वतीहविष्म्मतीन्द्रकर्म्मसुनोवत ॥ ७४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ तानासत्येत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । निचृदनुष्टुप्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । वि० पू० ॥ ७४ ॥

मन्त्रार्थ–(ता) वे दोनों (हिरण्यवर्तिनी) सुवर्णमार्गमें विचरनेवाले (सुपेशसा) सुन्दर रूपवाले (नरा) नराकार (नासत्या) अश्विनीकुमार (हविष्मती) हविवाली (सरस्वती) सरस्वती तथा (इन्द्र) हे इन्द्र! तुम (कर्मसु) सौत्रामणि यज्ञमें (नः) हमारी (अवत) रक्षा करो अथवा (इन्द्रकर्मसु) ऐश्वर्यवान् यजमानके यागानुष्ठान कर्ममें प्रवृत्त हम ऋत्विजोंकी रक्षा करें ॥ ७४ ॥

कण्डिका ७५–मंत्र १ ।

ता भिषजा सुकर्म्मणा सा सुदुघा सरस्वती ॥ स वृत्रहा शतक्रतुरिन्द्राय दधुरिन्द्रियम् ॥ ७५ ॥

ऋष्यादि–(१)ॐताभिषजेत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः। अनुष्टुप्छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ७५ ॥

मंत्रार्थ–(ता) वे (सुकर्मणा) सुन्दर कर्मवाले (भिषजा) दोनों वैद्य और (सा) वह (सुदुघा) साधुदोहा कामदुहा (सरस्वती) सरस्वती और (सः) वह (वृत्रहा) वृत्रनाशक (शतक्रतुः) इन्द्र (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् यजमानके निमित्त (इन्द्रियम्) इन्द्रियसामर्थ्यको (दधुः) स्थापन करते हुए अथवा कल्पान्तरके इन्द्र इस इन्द्रमें सामर्थ्य देते हुए ॥ ७५ ॥

कण्डिका ७६–मन्त्र १ ।

युवꣳ सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा ॥ विपिपानाः सरस्वतीन्द्रं कर्म्मस्वावत ॥ ७६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ युवमित्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । विराडनुष्टुप्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । पुरोनुवाक्यजपे वि० ॥ ७६ ॥

विधि–(१) यह मंत्र रसग्रह और पयोग्रहके पुरोनुवाक्य है [का० १९।६।२०]

मन्त्रार्थ–(अश्विना) हे अश्विनीकुमार और (सरस्वती) हे सरस्वती देवी! (युवम्) तुम (सचा) एकमत होकर (नमुचौ) नमुचि (आसुरे) असुरमें वर्तमान (सुरामम्) महौषधियोंके रस संयुक्त ग्रहको लेकर (विपिपानाः) विविध प्रकारसे पान करते (कर्मसु) इस यज्ञकर्ममें (इन्द्रम्) इन्द्रको (अवत) रक्षा करो अथवा ऐश्वर्यवान् यजमानकी रक्षा करो ॥ ७६ ॥

कण्डिका ७७-मंत्र १।

पुत्रमिवपितरावश्विनोभेन्द्रावथुःकाव्यैर्दृᳪसनाभिः ॥ यत्सुरामंव्यपिबःशचीभिःसरस्वतीत्वा मघवन्नभिष्णक् ॥ ७७ ॥

मंत्रार्थ-ॐपुत्रमिवेति इसकी व्याख्या १०।३४ में होगयी यह ग्रह याज्य है॥७७॥

कण्डिका ७८-मंत्र १.

यस्मिन्नश्वासऽऋषभासऽउक्षणोवशामेषाऽअवसृष्टासऽआहुताः ॥ कीलालपेसोमपृष्ठायवेधसेहृदामतिञ्जनयचारुमग्नये ॥ ७८ ॥

ऋष्यादि-(१) यस्मिन्नित्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । जगती छं० । अग्निर्देवता । पुरोनुवाक्यजपे वि० ॥ ७८ ॥

विधि-(१) स्विष्टकृत् यागके पुरोनुवाक्य [का० १९।६।२१] मंत्रार्थ-(कीलालपे) अन्नरसके पान करनेवाले (सोमपृष्ठाय) सोमकी आहुतिवाले (वेधसे) शुभमति करनेवाले (अग्नये) अग्निके निमित्त (हृदा) हृदयसे (मतिम्) बुद्धिको (चारुम्) समीचीन (जनय) प्रगट करो अर्थात् अग्निके निमित्त मनबुद्धि शुद्ध करो (यस्मिन्) जिस शुद्ध व्यवहारमें (अश्वासः) घोडे (उक्षणः) सेचनमें समर्थ (ऋषभासः) वृषभ (वशा) वन्ध्या (मेषाः) मेष (अवसृष्टासः) सुशिक्षित करे छोडे (आहुताः) ग्रहण किये जाते हैं आशय यह कि शिक्षा कर कार्यमें लाये जाते और नवीन ग्रहण कर सिखाये जाते हैं ॥ ७८ ॥

अथवा-(यस्मिन्) जिस अग्निमें (अश्वासः) घोडे (उक्षणः) सेचनमें समर्थ (वृषभासः) वृषभ वा वृषभकी तुल्य बली (वशा) वन्ध्या (मेषाः) मेष (अवसृष्टासः) पडतेही (आहुताः) होम होजाते अर्थात् भस्म होजाते हैं. आशय यह कि अग्नि स्थावर जंगमके भस्म करनेमें समर्थ है भस्म करनाही इसका शुद्ध व्यवहार है अपने स्वभावमें कपट नहीं रखता है ॥ ७८ ॥

कण्डिका ७९-मंत्र १।

अहाव्यग्ने हविरास्येतेस्त्रुचीवघृतञ्चम्वीवसोमः ॥

वाजसनिꣳ रयिमस्मे सुवीरं प्रशस्तं धेहि यशसं बृहन्तम् ॥ ७९ ॥ [१३] शतम् ॥ १२०० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अहाव्यग्न इत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः। भुरिक्पंक्तिश्छन्दः। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ ७९ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (ते) तुम्हारे (आस्ये) मुखमें (हविः) हवि (अहावि) सब ओरसे हवन करते हैं (इव) जिसप्रकार (स्रुचि) स्रुवमें (घृतम्) घी और (इव) जिस प्रकार (चम्वि) अधिषवण चर्ममें (सोमः) सोम सदा स्थित रहता है इस प्रकार नित्य मैंने तुम्हारे मुखमें हवि दी है (अस्मे) हममें (वाजसनिम्) अन्नभाग (सुवीरम्) वीर पुत्र (रयिम्) धन (प्रशस्तम्) सब लोकमें प्रशंसित (बृहन्तम्) बडे लोकप्रसिद्ध (यशसम्) यशको (धेहि) दीजिये [ऋ० ८।४।२२] ॥ ७९ ॥ [१३]

कण्डिका ८०-मंत्र१. अनु० ९ ।

अश्विना तेजसा चक्षुः प्राणेन सरस्वती वीर्यम्। वाचेन्द्रो बलेनेन्द्राय दधुरिन्द्रियम् ॥ ८० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अश्विनेत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । विराडनुष्टुप्छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । प्रतिगरकरणे वि० ॥ ८० ॥

विधि-(१) तेतीस ग्रहसादनके उपरान्त अध्वर्युके सामने स्थित होकर होता प्रतिगर क्रिया करै और यह ग्यारह मंत्रात्मक शस्त्रव्यवहार करै अध्वर्यो 'शोंसा सोवो ३ म्' इसप्रकार आहवविशिष्ट ऋक् पाठ करनेको प्रतिगर क्रिया कहते हैं यह प्रतिगर पहले और ग्यारहवें मंत्रमें तीनवार इसी प्रकार आहव होती है और बीचकेभी नौ मंत्रोंमें प्रारंभमें इसी प्रकार आहव करना होता है [का० १९ । ७ । १] मन्त्रार्थ-(अश्विना) दोनों अश्विनीकुमारोंने (तेजसा) तेजके सहित (चक्षुः) नेत्र (सरस्वती) सरस्वती देवीने (प्राणेन) प्राणोंके सहित (वीर्यम्) सामर्थ्य (इन्द्रः) इन्द्रने (वाचा) वाणीके (बलेन) सामर्थ्यसे (इन्द्रियम्) इन्द्रियबल (इन्द्राय) यजमानके निमित्त (दधुः) स्थापन किया है ॥ ८० ॥

कण्डिका ८१-मंत्र १.

गोमदू षुणासत्याश्वावद्यातमश्विना॥ वृर्त्तीरुद्रा नृपाय्यम् ॥ ८१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ गोमदित्यस्य गृत्समद ऋषिः । गायत्री छन्दः । अश्विनौ देवते । आह्वकार्ये वि० ॥ ८१ ॥

मन्त्रार्थ-(नासत्या) हे सत्यव्यवहारयुक्त (अश्विना) हे अश्विनीकुमारो ! (रुद्रा) हे दुष्टोंके रुवानेवाले (उ, सु,) अवश्यही तुम (गोमत्) गौओंसे युक्त (अश्वावत्) अश्वोंसे युक्त (वर्ती): वर्तमान मार्गमें (नृपाय्यम्) इस सोमरसपान योग्य यज्ञमें (यातम्) गमन करो अर्थात् यजमानने गौ अश्वोंका दान किया है तुम यहां आगमन करो [ऋ० २।८।८] ॥ ८१ ॥

कण्डिका ८२-मंत्र १.

नयत्परोनान्तरऽआदधर्षद्वृषण्वसू ॥ दुःशंसो मर्त्यो रिपुः ॥ ८२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नयत्पर इत्यस्य गृत्समद ऋषिः । गायत्री छं० । अश्विनौ देवते । वि० पू० ॥ ८२ ॥

मन्त्रार्थ-(वृषण्वसू) हे वृष्टिरूप धनवाले अथवा वर्षासे लोकोंको स्थापन करनेवाले फल देनेवाले दोनों अश्विनीकुमार (यत्) जो (दुःशंसः) अपवाद वा निन्दा करनेवाला (रिपुः) शत्रु (मर्त्यः) मनुष्य (परः) अपने सम्बन्धसे रहित हो वा (अन्तरः) अपना सम्बन्धी हो (न) वह अपने सम्बन्धका न पराया हो वह हमको वा इन्द्रको (न) नहीं (आदधर्षीत) धर्षणा करसके अर्थात् सम्बन्ध वा असम्बन्ध जो कोई हमारा शत्रु हो उसको तुम धर्षणा करो वह धर्षणा न करसकै [ऋ० २।८।८] ॥ ८२ ॥

कण्डिका ८३-मंत्र १.

तानऽआवोढमश्विना रयिम्पिशङ्गसन्दृशम् ॥ धिष्ण्या वरिवोविदम् ॥ ८३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तान इत्यस्य गृत्समद ऋषिः । गायत्री छं० । अश्विनौ देवते । वि० पू० ॥ ८३ ॥

मन्त्रार्थ-(धिष्ण्या) हे सबके धारण करनेवाले वा अग्निरूप अथवा धैर्यशील (अश्विना) अश्विनीकुमारो (ता) वे तुम (नः) हमारे निमित्त (पिशङ्गसदृशम्) पीतवर्ण सुवर्ण (वरिवोविदम्) धनप्राप्तिकरानेवाला अथवा धनका हेतु (रयिम्) धन (आवोढम्) प्राप्तकराओ धनसेही धनकी वृद्धि होती है इस कारण ऐसे धनकी प्रार्थना है [का० २ । ८ । ८] ॥ ८३ ॥

कण्डिका ८४-मन्त्र १ ।

पा॒व॒का न॒: सर॑स्वती॒ वाजे॑भिर्वा॒जिनी॑वती ॥ य॒ज्ञं व॑ष्टु धि॒याव॑सुः ॥ ८४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पावकेत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्रीछन्दः । सरस्वती देवता । वि० पू० ॥ ८४ ॥

मंत्रार्थ-(पावका) पवित्रकरनेवाली (वाजेभिः) अन्नोंद्वारा (वाजिनीवती) अन्नयुक्त अथवा कर्मधना, यज्ञक्रियाकी अधिष्ठात्री (धियावसुः) बुद्धिके कर्म रूप धनवाली (सरस्वती) सरस्वतीदेवी (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञको (वष्टु) इच्छा करो अथवा हमको इस यज्ञमें अन्न दान करतें वाञ्छा करो [ऋ० १ । १ । ६] ॥ ८४ ॥

कण्डिका ८५-मंत्र १ ।

चो॒द॒यि॒त्री सू॒नृता॑नां॒ चेत॑न्ती सुमती॒नाम् ॥ य॒ज्ञं द॑धे॒ सर॑स्वती ॥ ८५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ चोदयित्रीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्रीच्छन्दः । सरस्वती देवता । वि० पू० ॥ ८५ ॥

मंत्रार्थ-(सूनृतानाम्) सत्य और प्रिय वचनोंकी अथवा वेदत्रयी-शब्दोंकी (चोदयित्री) प्रेरण करनेवाली (सुमतीनाम्) सुबुद्धियोंकी (चेतन्ती) प्रगट करती हुई (सरस्वती) सरस्वती देवी (यज्ञम्) यज्ञको (दधे) धारण करती है [ऋ० १ । १ । ६] ॥ ८५ ॥

कण्डिका ८६-मन्त्र १ ।

म॒हो अर्ण॒: सर॑स्वती॒ प्र चे॑तयति के॒तुना॑ ॥ धियो॒ विश्वा॒ वि रा॑जति ॥ ८६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ महोंअर्ण इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्री-च्छं० । सरस्वती देवता । वि० पू० ॥ ८६ ॥

मन्त्रार्थ-(सरस्वती) सरस्वतीदेवी (केतुना) कर्म वा प्रज्ञासे (महो) बड़े (अर्णः) जलको (प्रचेतयति) प्रेरणकरती है अर्थात् सब भूमियोंमें वृष्टि कराती है (विश्वाः) सम्पूर्ण प्राणियोंकी (धियः) बुद्धियोंको (विराजति) प्रदीप्त करती है उसकी हम स्तुति करते हैं अर्थात् सरस्वती देवी सब प्राणियोंकी बुद्धिमें विराजमान होकर प्रज्ञाकी सहायतासे मानस समुद्रको सचेतन करती है [ऋ० १ । १ । ६] ॥ ८६ ॥

कण्डिका ८७-मंत्र १ ।

इन्द्रायाहिचित्रभानोसुताऽइमेत्त्वायवः ॥
अण्वीभिस्तनापूतासः ॥ ८७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रायाहीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्री छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ८७ ॥

मन्त्रार्थ-(चित्रभानो) अनेक प्रकारकी कान्तिवाले अथवा अनेक प्रकारकी किरणोंवाले [सूर्यकी किरणोंसे अनेक प्रकारके रंग प्रतिफलित होतेहैं] (इन्द्र) हे ऐश्वर्यवान इन्द्र ! (आयाहि) इस स्थानमें आओ (इमे) यह (त्वायवः) तुम्हारी इच्छाकरनेवाले (अण्वीभिः) अंगुलियोंसे (तना) दशापवित्रसे (पूतासः) पवित्रहुए (सुताः) अभिषुत सोम तुम्हारे निमित्त ही रक्षित किये हैं [ऋ० १ । १ । ५] ॥ ८७ ॥

प्रमाण-"अण्वीत्यंगुलीनाम" [निघं० २ । ५] ॥ ८७ ॥

कण्डिका ८८-मंत्र १ ।

इन्द्रायाहिधियेषितोविप्रजूतःसुतावतः ॥ उप
ब्रह्माणिवाघतः ॥ ८८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रायाहीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्री छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ८८ ॥

मन्त्रार्थ-(इन्द्र) हे इन्द्र ! (धिया) अपनी बुद्धिसे (इषितः) प्रेरित हुए तुम (विप्रजूतः) श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे सेवित (आयाहि) आगमन करो (सुतावतः) सोमके अभिषव करनेवाले यजमानकी (ब्रह्माणि) हवियोंके (उप) समीपमें (वाघतः) ऋत्विज वर्तते हैं "वाघत इति ऋत्विङ्नामसु" [निघं०३।१८]॥८८॥

सरलार्थ—मेधावीगणोंसे अनुगत हे इन्द्र ! अभिषवकारी ऋत्विजगणोंके मंत्रबलसे तुम अनन्यप्रेरित होकर इस स्थानमें आगमनकरो [ऋ० १ । १ । ५] ॥ ८८ ॥

कण्डिका ८९—मंत्र १ ।

इन्द्रायाहितूतुजानऽउपब्रह्माणिहरिवः ॥ सुतेदधिष्वनश्चनः ॥ ८९ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ इन्द्रायाहीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्री छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ८९ ॥

मन्त्रार्थ—(हरिवः) हरिनामक अश्ववान् ! (इन्द्र) हे इन्द्र ! (तूतुजानः) शीघ्रता करते हुए तुम "तूतुजान इति क्षिप्रनाम" [निघं० २ । १५] (ब्रह्माणि) हवियोंके (उप) प्रति अथवा ऋत्विग्गणोंके मंत्रबलसे अनुरुद्ध होकर शीघ्रतासे (आयाहि) आगमन करो और आकर (सुते) सोमके अभिषुत होनेपर (नः) हमारे (चनः) सोमरूप अन्न और हविको (दधिष्व) उदरमें धारण अर्थात् भक्षण करो [ऋ० १ । १ । ५] ॥ ८९ ॥

कण्डिका ९०—मन्त्र १ ।

अश्विनापिबताम्मधुसरस्वत्यासजोषसा ॥ इन्द्रः सुत्रामावृत्रहाजुषन्ताᳬसोम्यम्मधु ॥ ९० ॥ [११]

इति वाजसनेयिश्रीशुक्लयजुस्संहितापाठेविंशोऽध्याय ॥२० ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ अश्विनेत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । निच्यृदनुष्टुप्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ९० ॥

मन्त्रार्थ—(सरस्वत्या) सरस्वतीके साथ (सजोषसा) प्रीतिमान् (अश्विना) अश्विनीकुमार (मधु) मधुर स्वादिष्ठ सोमको (पिबताम्) पान करें (सुत्रामा) भलीप्रकार रक्षाकरनेवाला (वृत्रहा) वृत्रासुरघाती (इन्द्रः) इन्द्र (मधु) मधुर रसयुक्त (सोम्यम्) सोममय हविको (जुषन्ताम्) सेवन करें ॥ ९० ॥ [११]

विशेष—सौत्रामणि यज्ञमें अश्विनी कुमार और सरस्वतीकी महिमा विशेष रूपसे वर्णन कीहै इसका आशय यह विदित होता है कि वैद्यद्वारा जो महौषधि-

योंका रस है जिसमें इस प्रकारकी औषधी पडीहों जो बुद्धिबल और तेजको बढानेवाली तथा मंत्रोंद्वारा संपादनकीगई हों, उसी रसको वेदमंत्रोंमें सुरानामसे कथन किया है, इस सुरासे दूसरे मद्यका बोध नहीं है, इन औषधियोंके रस सेवनप्रकार देखनेसे अज्ञानतावशही लोग मद्यका कथन कर देते हैं, परन्तु यदि सुरानिर्माणविधि देखी जाय तौ यह लौकिक सुरा नहीं है किन्तु वह पदार्थ है कि जिसके द्वारा देवेन्द्र सब प्रकारके इन्द्रिय बल बुद्धिसे सम्पन्न हुए थे ॥ ९० ॥

प्रमाण-"स वा एष आत्मैव यत्सौत्रामणी तस्मात्सा निरुक्ता निरुक्तो ह्यात्मा लोको वयोधास्तस्मात्सोऽनिरुक्तोऽनिरुक्तो हि लोक आत्मा वै यज्ञस्य सौत्रामणी बाहू ऐन्द्रश्च वयोधाश्च" इति श्रुतेः [१२ । ९ । ३ । १६ । "पवित्राभिस्त्रिसंयुक्ताभिः पितॄनेव तत्पितृलोके प्रीणाति" इति श्रुतेः [१२ । ९ । ३ । १५] भाव-इस आत्माकाही नाम सौत्रामणि है इससे अन्तःकरणके दोष शान्त होतेहैं पितरोंको अक्षय सुख होताहै फिर जन्म नहीं होताहै "पितॄनेव तन्मर्त्यान्तसतोऽमृतयोनौ दधाति" इति श्रुतेः [१२ । ९ ।३ ।१२।] तथा पशुओंको भी जन्मरहित होना इस कर्मसे कियाजाताहै "पशूनेव तन्मर्त्यान्तसतोऽमृतयोनौ दधाति" इति श्रुतेः [१२ ९ । ३ । ११ ।] इस प्रकार यह सौत्रामणि वारंवार जन्मकी भी चिकित्सा है एक अर्थ अध्यात्म पक्षमें भी लगता है ॥ ९० ॥

इति श्रीमाध्यन्दिनीयायां वाजसनेयिसंहितायां पंडितज्वालाप्रसादमिश्रकृतभाषा टीकायां सेकासन्यादिहौत्रान्तो विंशोऽध्यायः ॥ २०

शुभमस्तु । समाप्ता चेयं पूर्वविंशतिः ।

इति पूर्वार्धं समाप्तम् ।